भारतीय जनता का इतिहास और संस्कृति

श्रेण्य युग

प्राक्कथन लेखक

क० मा० मुंशी

प्रधान सम्पादक

आर० सी० मजुमदार

सहायक सम्पादक

ए० डी० पुसलकर
और
ए० के० मजुमदार

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली वाराणसी पटना मद्रास

अनुवादक शिवदान सिंह चौहान
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद द्वारा प्रवर्तित

©भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद

मोतीलाल बनारसीदास
मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
शाखाएँ : चौक, वाराणसी २२१ ००१
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
६ अपर स्वामी कोइल स्ट्रीट, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४

प्रथम हिन्दी संस्करण : दिल्ली, १९८४

मूल्य : रु० १५० (सजिल्द)
१२० (अजिल्द)

श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७
द्वारा प्रकाशित तथा श्री शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५,
फेज़ १, नारायणा, नई दिल्ली ११००२८ द्वारा मुद्रित ।

सहयोगी लेखक

आर० सी० मजुमदार
एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० ए० एस०, एफ० बी० बी० आर० ए० एस०
निदेशक, सम्पादक मंडल, हिस्टरी आफ दि फ्रीडम मूवमेन्ट,
भारत सरकार, नयी दिल्ली

डी० सी० सरकार
एम० ए०, पी-एच० डी०
सुपरिन्टेन्डेन्ट फार एपिग्राफी, गवर्नमेन्ट आफ इंडिया,
ऊटकमंड; पूर्वंत: कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय
इतिहास ग्रौर संस्कृति विभाग के व्याख्याता

के० ए० नीलकंठ शास्त्री
एम० ए०
मैसूर विश्वविद्यालय में इंडोलाजी के प्रोफेसर; इसके पहले
मद्रास युनिर्वासिटी में इतिहास के प्रोफेसर

ग्रार० साथियानाथय्यर
एम० ए०
अन्नामलाई विश्वविद्यालय में इतिहास ग्रौर राजनीति के प्रोफेसर

जी० वी० देवस्थली
एम० ए०, बी० टी०, पी-एच० डी०
एच० पी० टी० कालेज, नासिक में संस्कृत के प्रोफेसर

एम० ए० महेंडले
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, संस्कृत विभाग, दक्कन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना

एच० डी० वेलंकर
एम० ए०
सह-निदेशक, भारतीय विद्या भवन, इसके पहले विल्सन कालेज,
बम्बई में संस्कृत के प्रोफेसर

के० ग्रार० श्रीनिवास आयंगार
एम० ए०, डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ग्रंगरेजी विभाग, आन्ध्र युनिर्वासिटी, वाल्टेयर

यू० एन० घोषाल,
एम० ए०, पी-एच० डी०
पूर्वंत: प्रेसिडेन्सी कालेज, कलकत्ता में इतिहास के प्रोफेसर

नलिनाक्ष दत्त
एम० ए०, बी० एल०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० (लन्दन)
कलकत्ता विश्वविद्यालय में पालि के प्रोफेसर

जे० एन० बनर्जी
एम० ए०, पी-एच० डी०
कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के कारमाइकेल प्रोफेसर

ए० डी० पुसलकर
एम० ए०, एल० एल० बी०, पी-एच० डी०
सहायक निदेशक तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय संस्कृति विभाग, भारतीय विद्या भवन

ए० एम० घटागे
एम० ए०, पी-एच० डी०
कर्नाटक कालेज धारवाड़ में अर्धमागधी के प्रोफेसर

टी० एम० पी० महादेवन
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, दर्शनविभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

एच० डी० भट्टाचार्य
एम० ए०
पूर्वतः अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग, ढाका युनिवर्सिटी तथा आनरेरी युनिवर्सिटी प्रोफेसर, भारतीय दर्शन और धर्म, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

यू० सी० भट्टाचार्य
एम० ए०
पूर्वतः प्रेसिडेन्सी कालेज, कलकत्ता में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर

एस० के० सरस्वती
एम० ए०
लाइब्रेरियन, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, पूर्वतः कलकत्ता विश्वविद्यालय में इतिहास के व्याख्याता

नीहाररंजन राय
एम० ए०, डी० लिट्० और फिल० (लीडेन)
कलकत्ता विश्वविद्यालय में भारतीय कला और संस्कृति के बागीश्वरी प्रोफेसर

प्राक्कथन (प्रथम संस्करण)

डा० क० मा० मुंशी

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिल्द २ की भारी माँग के कारण, जिसका दूसरा संस्करण प्रथम संस्करण के तुरन्त बाद ही प्रकाशित करना पड़ा, थोड़ा विलम्ब हो गया है। अब यह योजना बनायी गयी है कि जिल्द ४ और ५ एक साथ प्रकाशित किये जायें। भवन आशा करता है कि वे जून १९५४ तक बाजार में आ जायेंगे।

प्रस्तुत जिल्द में भारतीय इतिहास के सन् ३२० ई० से, जब गुप्त साम्राज्य की नींव पड़ी, लगभग ७४० ई० तक के, जब कन्नौज के यशोवर्मन् की मृत्यु हुई, कालखंड को विषय बनाया गया है। इस कालखंड को आसानी से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : प्रथम ३२० ई० से ल० ४६७ ई० तक, जब सम्राट् स्कन्दगुप्त की मृत्यु हुई और द्वितीय ४६७ ई० से ल० ७४० ई० तक।

I

यह कालखंड, जिसे उचित ही भारत का 'श्रेण्य युग' कहा गया है, जीवन के सभी क्षेत्रों में वसन्तकालीन प्रस्फुटन का काल था। इस काल की रचनात्मक प्रवृत्ति ने, परवर्ती सदियों में, राष्ट्रीय चित्त के विकास को विशिष्टता और समृद्धि प्रदान की। आठवीं शताब्दी के लगभग मध्य में, पश्चिम में शाही प्रतिहारों, पूर्व में पालों और दक्षिण में राष्ट्रकूटों के उदय के साथ सुस्पष्ट रूप से द्वितीय कालखंड की शुरुआत हुई जिसका विवेचन इसके बाद की जिल्द में किया गया है।

साम्राज्यों का उदय, ह्रास और पतन होता है, समुदाय और राष्ट्र संघटित और विघटित होते हैं; वे या तो सामूहिक चित्त, दृष्टिकोण और संकल्प का विकास करते हैं अथवा इनमें से किसी एक या दूसरे को, और अन्ततः सब कुछ, गँवा बैठते हैं। पहली स्थिति में वे एक सुस्पष्ट व्यक्तित्व विकसित करते हैं, दूसरी में वे इसे नष्ट कर देते हैं और समाप्त हो जाते हैं।

अखंड काल प्रवाह के भीतर से देखने पर मानव-समष्टि का संघटन और विघटन ही इतिहास के आधारभूत पैटर्न का निर्माण करते हैं। पर उनका अध्ययन करने के लिए उन्हें खंडों में बाँट कर देखना आवश्यक है, जैसा इस जिल्द में किया गया है। यदि इस प्रकार का अध्ययन कोई अर्थ रखता है तो हमें इस खंड को और साथ ही प्रवहमान धारा की दिशा को हमेशा ध्यान में रखना होगा।

जैसा मैंने पहली जिल्द के प्राक्कथन में कहा था, "जो कुछ घटित हो चुका है उसे सुरक्षित रखना, लिपिबद्ध करना और समझना ही पर्याप्त नहीं है; भारतीय जीवन के

भीतर कार्यशील महत् शक्तियों की प्रकृति और दिशा को कूतना भी आवश्यक है जिससे उनके निर्दिष्ट लक्ष्य को सही ढंग से समझा जा सके।

समस्त भारतीय इतिहास में, एकीकरण की प्रक्रिया में, दो युगपत् धाराएँ विद्यमान दिखाई पड़ती हैं। इनमें से एक अपने स्रोत के लिए आर्य संस्कृति की ऋणी है और उस संवेग (मोमेन्टम) के बल पर परिचालित है जो उस संस्कृति के मूल्यों में निहित है; दूसरी आर्य संस्कृति के ढाँचे के भीतर ही उसके रूप और अन्तर्वस्तु को (यद्यपि मूल बातों को नहीं) किंचित् परिवर्तित करती हुई, तथा निरन्तर एक लययुक्त पैटर्न बुनती हुई, देश की प्राचीन द्रविड़ और अन्य अनार्य संस्कृतियों की जीवन धारा से ऊपर उठती है। पहली धारा शक्ति और समन्वयन प्रदान करती है, दूसरी ओज और वैविध्य। पर दोनों के लयात्मक सामंजस्य के फलस्वरूप ही भारत को युग-युग से शक्ति, दृढ़ता और मिशन की भावना प्राप्त होती रही है।

भारतीय विलयन की पृष्ठभूमि में निर्मित सामंजस्य को प्रतीकित करने वाले तथ्य हैं : ~~वह श्रद्धा भाव जो निगम (वैदिक परम्परा) और आगम (द्रविड़परम्परा) दोनों को समर्पित है; वैदिक होम और द्रविड़ पूजा दोनों का समान आनुष्ठानिक महत्त्व; आर्यीय विष्णु और अनार्यीय शिव की अविच्छेद्य ईश्वरता~~। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि आर्यधर्म के संस्थापक और प्रवक्ता महर्षि व्यास तथा जगत् गुरु श्रीकृष्ण, जिनका सन्देश ही इसका मूल धर्मग्रन्थ है, ~~दोनों उच्चवंशीय आर्य पिताओं तथा अनार्य माताओं के पुत्र हैं~~।

वैदिक संस्कृति, वैदिक आर्यों की संस्कृति, ज्यों-ज्यों देशभर में फैलती गयी, त्यों-त्यों इसके भीतर अधिकाधिक संख्या में लोग आते गये। ~~प्रत्येक परवर्ती युग में धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा संस्थानों में आमूल परिवर्तन हुए~~। पर केन्द्रीय विचारों और मौलिक मूल्यों की शक्ति कभी भी इतनी गुम न हुई कि सम्पूर्ण विघटन पैदा हो जाए। कुछ कालखंडों में, बहरहाल, दोनों धाराओं ने, यदि सभी नहीं तो, कतिपय स्तरों पर सामंजस्य की स्थापना की; जीवन-शक्ति अप्रतिरोध्य ओज में परिवर्तित हो गयी; जातीय स्मृति और परम्परा की जमीन से पूर्ण पोषण प्राप्त किया गया। इस प्रकार के कालों में भारत में गुप्तों के युग की तरह, महान् युग का उदय हुआ। दूसरी तरफ, जब ये दोनों धाराएँ बाहरी या भीतरी कुसामंजस्य के कारण एक दूसरे को सहारा देने में चूकीं, तब दोनों के बीच विरोध अनिवार्य हो गया; विकास की ओजस्विता समाप्त हो गयी; विघटन शुरू हो गया, जैसे ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में जबकि महमूद गजनवी के आक्रमणों ने उत्तरी भारत के कुछ हिस्सों को आक्रान्त कर दिया; विस्तार का युग समाप्त हो गया और प्रतिरोध का युग आरम्भ हुआ।

II

~~भारत का विकास मगध प्रभुत्व के काल में हुआ, जिसका विवेचन इस ग्रन्थमाला की दूसरी जिल्द में किया गया है~~। ~~इस विकास की शुरुआत ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी~~

में भारतीय इतिहास के उष:काल से हुई। पर इसके बहुत पहले, भारतीयों ने, जिन्होंने आर्य जीवन-पद्धति अपना ली थी, अपने लिए एक समान जीवन-पद्धति विकसित कर ली थी; और परम्परा द्वारा परिरक्षित तथा स्मृति द्वारा सक्रियमाण उनकी एकता की भावना हर पीढ़ी में पुनः प्राप्त होती रही, और सामूहिक क्रिया द्वारा अभिव्यक्त हुई। अपनी संस्कृति के मौलिक मूल्यों को जीवन-शक्ति से सम्पन्न करके उन्होंने ओजस्वी सामंजस्य की स्थापना की जो प्रत्येक युग की स्थितियों के फलस्वरूप आवश्यक हो जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान प्राचीनतम काल से ही समाज के सर्वोत्तम तत्वों ने एक प्रमुख लक्ष्य—ऋत धर्म की सम्पूर्ति—विकसित कर लिया था, जिसने उन्हें खुद को एक सुनिर्दिष्ट ओजस्वी सामाजिक अंग-रचना (organism) में संकलित होने की क्षमता प्रदान कर दी।

युएह-चिस के आक्रमण के साथ मगध काल का अवसान हो गया। उत्तरी और पश्चिमी भारत में विघटन प्रारम्भ हो गया जो कुषाण-साम्राज्य के, जिसकी स्थापना कुषाणों ने की थी, भंग होने से और भी तेज हो गया। संगठन की प्रक्रिया को बौद्ध-धर्म से भी बाधा पहुँची, जो मूलत: यहां की जातीय स्मृति और जातीय परम्परा से जुड़ा हुआ नहीं था और कई बातों में तो उनका विरोधी भी था। किन्तु यह एक प्रसरणशील आन्दोलन था और स्वभावत: विदेशियों को आकृष्ट करता था; भारत में इसने राष्ट्रीय चित्त और संस्कृति को प्रेरणा द्वारा नहीं, वरन् संघात द्वारा उद्दीप्त किया। हाँ, शुंगों और सातवाहन विजेताओं ने जरूर ही इससे शक्ति प्राप्त की।

ईसा की तीसरी शताब्दी तो और भी धुँधलके में लिपटी हुई है। पर, **भागवत पुराण** के अनुसार, उत्तरी भारत विघटन के काल से गुजर रहा था। चम्पावती और मथुरा में नाग शासन करते थे; सौराष्ट्र और अवन्ती में आभीरों का शासन था; आबू और मालवा के क्षेत्र के शासक संस्कृति-हीन 'म्लेच्छवत्' थे। सिन्ध में, चन्द्रभागा के तट पर, काश्मीर में, कुन्ती के देश में शूद्र, व्रात्य और म्लेच्छ शासन करते थे। 'भागवत पुराण' के रचयिता के अनुसार ये शासक आध्यात्मिक शक्ति से हीन, धर्म और सत्य की उपेक्षा करने वाले तथा घृण्य और क्रोधी—'फल्गुदा: तीव्रमन्यव:'—थे। उसकी एकमात्र आशा नये शासकों मगध के विश्वस्फणि और नर्मदा के तट पर शासन करने वाले ब्राह्मण शासक विन्ध्यशक्ति में निहित थी।

पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि चौथी शताब्दी के आरम्भ तक विघटन की शक्तियाँ अपना वेग खो बैठीं। दक्षिणी भारत में पुरानी शक्तियों को नये रूप और नयी दिशाएँ प्राप्त हो रही थीं।

अनिश्चित स्थितियों के बावजूद भारत विदेशियों की नजर से मुक्त था। जातीय स्मृति गर्व के साथ उन कालों को पीछे मुड़कर देख रही थी जब मान्धाता और भरत जैसे चक्रवर्ती सम्राट् समस्त विश्व पर हावी थे। विश्वव्यापी चर्च द्वारा समर्थित विश्व-सम्राट् की धारणा, जो मध्यकालीन यूरोप में प्रचलित थी, इस (चक्रवर्ती) अवधारणा से आधारभूत रूप में भिन्न थी। **चक्रवर्ती धर्म** का राजनीतिक और सैनिक प्रतिरूप

था; 'महावाराह' की तरह वह धर्म का उद्धारक तथा **धर्मशास्त्र** के मौलिक विधान का समर्थक था; परशुराम की भाँति वह राजाओं की निरंकुशता का दमनकर्त्ता राज्योच्छेत्ता था । वह केवल आर्यावर्त के **चक्रवर्ती** के रूप में विश्व-विजय करने में समर्थ था ।

यह प्रचलित अवधारणा **वायु पुराण** में इस प्रकार वर्णित है :

"प्रत्येक युग में विष्णु के अंश के रूप में चक्रवर्ती जन्म लेते हैं । वे पुराकाल में होते रहे हैं और भविष्य में भी बार-बार होते रहेंगे । सभी तीनों युगों में—भूत, वर्तमान और भविष्य में—यहाँ तक कि त्रेता युग में भी अन्य चक्रवर्ती हुए हैं और होते रहेंगे ।

"शक्ति, धर्म, आनन्द और ऐश्वर्य, ये अमूल्य निधियाँ इन शासकों को अनायास उपलब्ध होंगी । वे निर्द्वन्द्व रूप से ऐश्वर्य, बाहुल्य, धर्म, मनोकामना, यश और विजय का भोग करेंगे ।

"वे अपने प्रभुत्व, दानशीलता और संयम द्वारा, फल-प्राप्ति की दृष्टि से, ऋषियों से भी अधिक शक्तिमान् होंगे । और वे अपनी शक्ति और आत्म-संयम से देवताओं, दानवों और मनुष्यों से आगे रहेंगे ।"

आर्यों की पुण्यभूमि, आर्यावर्त की अवधारणा, एक जीवित अवधारणा थी; क्योंकि यह उन पूर्वजों के प्रति अटल श्रद्धा की भावना से गर्भित थी जो उसे महान् और शाश्वत रूप में जीवित रखने के लिए जीवित रहे और मरे ।

विष्णु पुराण ने भारतीय मानस की शाश्वत आशा को अभिव्यक्त किया : "यहाँ तक कि देवगण भी गाते हैं: 'वे भाग्यशाली हैं, जो भारत-भूमि में निवास करते हैं, जो स्वर्ग और मोक्ष के लिए राजमार्ग के समान है; क्योंकि वे देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं ।"

भारत में **धर्म** की अवधारणा प्रमुखतः आर्यावर्त से सम्बद्ध थी । **कर्मभूमि** भारतवर्ष धर्मक्षेत्र था और यह आसमुद्र हिमालय तक फैला हुआ था । कदाचित् सामान्य चित्र में आर्यावर्त की सीमाएँ धर्मशास्त्रों में निर्धारित सीमाओं से पार, बहुत दूर तक, व्याप्त थीं । आर्यावर्त वह क्षेत्र था जहाँ आर्य फले-फूले और जहां म्लेच्छ, यदि वे हावी भी हुए तो, ज्यादा दिन नहीं टिक सके । यह वह आर्यावर्त था जिसकी कोई भौगोलिक या राजनीतिक सीमा नहीं थी । मनु के महान् व्याख्याकार मेधातिथि ने कई शताब्दियों बाद इस विचार को अभिव्यक्ति दी : "पुण्यवान् राजा म्लेच्छों के देश पर भी विजय प्राप्त कर सकता है, वहाँ **चातुर्वर्ण्य** की स्थापना कर सकता है, म्छेच्छों को आर्यावर्त में चांडालों का दर्जा दे सकता है तथा उस देश को आर्यावर्त के समान ही यज्ञ के लिए उपयुक्त बना सकता है ।"

III

चौथी शताब्दी के आरम्भ में, दक्षिण-भारत में, शक्तिशाली पल्लव राजा शिवस्कन्दवर्मन् ने अश्वमेध-यज्ञ किया । सन् ३२० ई० के लगभग गुप्त साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम ने उत्तरी भारत में **चक्रवर्ती** के आदर्श को पुनरुज्जीवित किया ।

लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी से उसके विवाह के फलस्वरूप सम्भवतः लिच्छवी राज्य मगध राज्य में मिल गया जिसके बाद वह दूर-दूर तक के विजय-अभियान में जुट गया। इसके सौभाग्यवश उस समय उत्तरी भारत में साम्राज्यिक प्रभुत्व के लिए कोई दूसरा प्रतिस्पर्धी नहीं था और न ही उत्तर-पश्चिम से देश को किसी विदेशी आक्रमणकारी का खतरा था।

द्वितीय सम्राट् समुद्रगुप्त ने, जो ई० स० ३३५-३८० में हुआ, एक ऐसे दुर्दमनीय सैनिक संगठन की नींव डाली जिसमें सम्भवतः नौसेना भी थी। अपनी इस विशाल स्थायी सेना के द्वारा उसने छोटे मोटे राजाओं तथा गंगा की तराई में अवस्थित अशक्त गण-राज्यों को समाप्त कर दिया। हरिद्वार से लेकर असम की सीमाओं तक का क्षेत्र एक सुसम्बद्ध स्वदेश के रूप में समेकित हो गया, जिस पर वह एक ऐसी पद्धति से स्वयं शासन करता था जो थोड़े उपयुक्त हेर फेर के साथ देश के अनेक भागों में अपना ली गयी और जो कुछ रूपों में ब्रिटिश काल तक बनी रही। समुद्रगुप्त का यज्ञाश्व, जिसके पीछे उसकी सेना चलती थी, देश के अधिकांश भागों में शासन करने वाले राजाओं से कर वसूलता था तथा उत्तर-पश्चिम के शाहंशाही राजाओं से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने में योग देता था। जिस समय उसने अश्वमेध यज्ञ किया और प्रचुर मात्रा में दान किया उस समय वह अपनी शक्ति के चरम उत्कर्ष पर था।

राजनीतिक दृष्टि से यह भारत में संघटन का युग था। तीन सौ से अधिक वर्षों के विखंडन और विदेशी प्रभुत्व के बाद उत्तरी भारत पुनः एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न शक्तिशाली नरेश के अधीन एकीकृत हुआ। समुद्रगुप्त एक प्रतिभाशाली सेनानी, दूरदर्शी राजनेता, सुसंस्कृत मनुष्य और कला एवं साहित्य का संरक्षक था। वह जनसमुदाय की प्रचंड रचनात्मक प्रेरणा का, जो परम्परा और जातीय स्मृति से जीवन-शक्ति ग्रहण करती हुई एक नया आकार और शक्ति प्राप्त कर रही थी, प्रतीक और शिल्पी बन गया।

समुद्रगुप्त के बाद उसका 'तनिक-भी-न-कम' प्रतिभाशाली पुत्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय, जो विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, तथा जो गुप्त सम्राटों में महानतम माना जाता है, राजगद्दी पर बैठा। उसके राज्य-काल में, जो ई० सन् ३७६ से ४१४ के बीच रखा जाता है, देश से विदेशी शासन का अन्तिम अवशेष भी समाप्त हो गया और पाटलिपुत्र का नियन्त्रण बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक स्थापित हो गया। नर्मदा के दक्षिण का क्षेत्र दो मित्र शक्तियों—वाकाटकों और पल्लवों—द्वारा शासित था जो गुप्त सम्राटों के समान ही धर्म को विजयी बनाने में उत्साही थे। वाकाटक विन्ध्यशक्ति के उत्तराधिकारियों का क्षेत्र बुन्देल खंड से हैदराबाद तक फैला हुआ था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की एक पुत्री का विवाह उनमें से एक के साथ हुआ था और उसने तीस वर्षों तक प्रतिशासक (रीजेन्ट) के रूप में शासन किया था; और इस राजवंश के समाप्त होने तक वाकाटक गुप्तों के साथ अधीनस्थ मैत्री में जुड़े रहे। पल्लव, जिनका दक्षिण पर

असन्दिग्ध अधिकार था, गुप्तों के साथ तब भी मैत्री सम्बन्ध निभाते रहे जब वे उनके नेतृत्व में नहीं रह गये थे ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के नेतृत्व में गुप्त गरुड़ध्वज हिन्दुकुश के पार बल्ख तक फहराता था। उसके राज्य में सर्वव्यापी नैतिक बोध से संयुक्त शान्ति, प्राचुर्य और शक्ति का बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रस्फुटन के साथ एकीकरण हो गया, और परवर्ती पीढ़ियों के मन में यह उच्चतम राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के प्रतीक रूप में स्थापित हो गया।

IV

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त (ई० सन् ४१५-४५५) और बाद में उसका पोता स्कन्दगुप्त (ई० ४५५-४६७), जिसने आक्रमणकारी हूणों को करारी शिकस्त दी, गद्दी पर बैठे। इन दोनों ने अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित और समेकित साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया। गुप्त शासन के ये एक सौ पचास वर्ष उचित ही भारत का "स्वर्णिम बसन्त" माने जा सकते हैं ।

गुप्त सम्राटों ने धर्म को उसके सभी पक्षों के साथ ऊपर रखा और परिणामस्वरूप उसकी अन्तर्वस्तु समृद्ध हुई तथा उसका क्षेत्र व्यापक बना। उनके अन्तर्गत एक सर्वव्यापी जीवन-विधान ने, यद्यपि वह वैदिक काल से ही विद्यमान था, रूप ग्रहण किया जो मुख्य रूप में आज भी कायम है। उन्होंने इससे प्रेरणा ली और ऐसा करके उन्होंने जनता को भी अपने साथ कर लिया। वेद समस्त ज्ञान और प्रेरणा के स्रोत हैं, इस विश्वास के फलस्वरूप ऐतिहासिक नैरन्तर्य और चैतन्य एकता सुरक्षित रही। इस विश्वास के चौखटे में मिथक परम्पराएँ और धार्मिक अनुष्ठान, भाषा और साहित्य, आचार संहिताएँ, जीवन के आदर्श और तरीके संघटनकारी शक्ति बन गये। पुराणों के माध्यम से, जिनमें धार्मिक आख्यानों, नदियों, पर्वतों, नगरों, राजवंशों, और देवतुल्य नायकों तथा महात्माओं के गीत गाये गये हैं, अतीत एक गौरवपूर्ण रिक्थ बना रहा जो भविष्य को नवीन ओज से अनुप्रेरित करता रहा।

इस युग में धर्मशास्त्र सर्वाधिक शक्तिशाली संघटनकारी शक्ति हुए। उन्होंने आर्य समाज को आधार तथा सामाजिक सामंजस्य की प्रणाली प्रदान की; उत्तराधिकार और दीवानी तथा फौजदारी न्याय के कानून निर्धारित किये एवं जन्म से मृत्यु तक की सभी प्रमुख अवस्थाओं के नियमन के लिए विधान बनाये। उन सबमें मनुस्मृति को समस्त देश में, न केवल उत्तरी बल्कि दक्षिणी भारत में भी, सर्वाधिक पवित्र माना गया। तमिल राज्यों ने इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया; तमिल साहित्य के एक प्राचीनतम क्लासिक पर इसके महत् प्रभाव की स्पष्ट छाप है ।

सिद्धान्ततः, धर्मशास्त्रों के अनुसार, सामाजिक ढांचा चार सामाजिक वर्गों, **चातुर्वर्ण्य** में विभक्त था; वस्तुतः यह ऐसे समुदायों की क्रम-परम्परा थी जो प्रत्येक द्वारा लब्ध सांस्कृतिक स्तर के मुताबिक वर्गीकृत थी, और बीच में ऐसे वर्ग थे जो जातीय विलयन के

परिणाम थे। बाहरी व्यक्तियों को इसमें प्रवेश करने तथा इससे लाभान्वित होने की अनुमति तो थी पर इतनी तेजी से नहीं कि सामाजिक सन्तुलन ही नष्ट हो जाय।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति से भिन्न लोगों को भी जीवन-मान में आरोहण के लिए मौका दिया जाता था, पर उतनी तीव्रतापूर्वक नहीं कि विद्यमान सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता ही खतरे में पड़ जाए।

वैदिक आर्यों से उत्तराधिकार रूप में प्राप्त सामाजिक व्यवस्था की आधार-शिला पितृसत्तात्मक परिवार था। पिता परिवार का स्वामी था, माता गृहलक्ष्मी; परिवार के सभी सदस्य, असहाय सदस्य भी, इस सुरक्षित शरण-स्थल के भागीदार थे। अतः पति और परिवार के प्रति पत्नी की निष्ठा अनिवार्य थी। परिवार में पत्नी की स्थिति का बड़ा सुन्दर वर्णन कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में कण्व द्वारा शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उपदेश के रूप में हुआ है जो अन्यत्र दुर्लभ है :

> शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
> पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
> भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
> यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥
> (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ४, श्लो० १८)

(अर्थात् यहाँ से पति के घर पहुंचकर घर के बड़े बूढ़ों की सेवा करना। अपनी सौतों से सखियों जैसा प्रेम रखना। पति निरादर भी करें तो क्रोध करके उनसे झगड़ा मत कर बैठना। दास दासियों को बड़े प्यार से रखना और अपने सौभाग्य पर बहुत ऐंठना मत। जो स्त्रियाँ घर में इस प्रकार चलती हैं वे ही सच्ची गृहिणी होती हैं और जो इसका उलटा करती हैं वे खोटी स्त्रियाँ तो अपने कुल की **नागिन** होती हैं।)

विभिन्न जातियों का विवाह द्वारा मिश्रण सापेक्ष स्वतन्त्रता-पूर्वक होता था, अनुलोम विवाह बहुत सामान्य था, प्रतिलोम विवाह भी कम नहीं होते थे।

धर्मशास्त्रों का पालन तलवार की नोक पर नहीं कराया जाता था। यहाँ तक कि निम्नवर्ग और आप्रवासी वर्ग के लोग भी अपने पुराने रीतिरिवाजों और लोकाचारों को त्याग देते थे और धर्मशास्त्रों द्वारा निर्धारित सामाजिक प्रथा को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार भारत का आर्यीकरण शासकों के आदेश या उच्च वर्गों के सामूहिक दबाव से नहीं, वरन् उन लोगों की स्वेच्छा-पूर्ण स्वीकृति से हुआ जिन्होंने अनुभव किया कि धर्मशास्त्र की गत्यात्मकता, युग के लिए, सामाजिक, आत्मिक और सांस्कृतिक उत्थान के लिए, सर्वोत्तम स्थितियाँ प्रदान करती है।

संस्कृत, जो एक जीवन्त भाषा थी, अपने ढांचे में नमनीय और अभिव्यक्ति में समृद्ध; तथा जिसकी साहित्यिक उपलब्धि अत्यन्त समृद्ध, वैविध्यपूर्ण और सुन्दर थी—**धर्म** का जीवन्त मूर्त रूप और शक्तिशाली संघटनकारी शक्ति थी। संस्कृत में, धुर दक्षिण तक में, अभिलेख लिखे जाने लगे। इसमें अभिव्यक्त कोई नया विचार या नयी

साहित्यिक श्रेष्ठ रचना सभी बौद्धिक केन्द्रों का ध्यान आकृष्ट करती थी। उदाहरणार्थ कालिदास की, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन था, कृतियाँ उसकी मृत्यु के कुछ ही वर्ष बाद सारे देश में साहित्यिक सौष्ठव का आदर्श बन गयीं।

गुप्त सम्राटों के अन्तर्गत **महाभारत** को एक संघटनकारी मनोवैज्ञानिक शक्ति के रूप में अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ। इसने **भारतवर्ष** के गर्वपूर्ण और आनन्दमय पुरुषत्व को अमर कर दिया तथा राजदरबारों, विद्यालयों और समाज के लिए यह समानरूप से प्रेरणा का स्रोत बना।

प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक उत्थान उस केन्द्रीय विचारधारा पर आधारित था जिसके मूल में धर्म था। इसका मनुष्य की कर्मशीलता, संयम और तपस्या में अखंड विश्वास था। विश्वास और धर्मग्रन्थ-वचनों की अपेक्षा व्यक्तिगत अनुभव और आत्म-सिद्धि (Becoming) पर अधिक बल दिया जाता था; इसकी प्राप्ति तब होती थी जब व्यक्ति अपनी सीमाओं से ऊपर उठ जाता था, इस जीवन में ही ब्रह्मत्व की प्राप्ति कर लेता था। वैविध्यपूर्ण धार्मिक विश्वासों और सामाजिक दृष्टिकोण के बीच धर्म महाव्रतों के—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पालन पर भी, विकास के लिए जरूरी सोपान के रूप में, जोर देता था। सम्मान का पात्र होने के लिए समस्त आचरण का नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से, जो इस आदर्श की पूर्ति में सहायक होते हैं, नियन्त्रण और समन्वय आवश्यक था।

चारों गुप्त सम्राटों ने—निश्चय ही, अधम रामगुप्त को छोड़कर—**चक्रवर्ती** के आदर्शों को बनाये रखने के साथ ही राज्य को भी शक्तिशाली, दृढ़, गत्यात्मक और सुखी बनाया। वसुबन्धु और नायन्मारों के मीमांसात्मक विचार; कालिदास के श्रेष्ठ काव्य और नाटक; वराहमिहिर के खगोलशास्त्रीय आविष्कार; दिल्ली का लौहस्तम्भ; इमारती मन्दिरों के निर्माण का प्रारम्भ; प्रारम्भिक अजन्ता भित्तिचित्रों का कलात्मक सौन्दर्य; वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का उदय; **महाभारत** का पूरा होना और **वायु** तथा **मत्स्य** पुराणों की रचना इसी युग की घटनाएँ हैं। यह साम्राज्य केवल विजयों और प्रशासनिक निपुणता पर आधारित नहीं था; इसकी महानता इसके समग्र दृष्टिकोण में निहित है। इसकी शक्ति उतनी ही फौजी ताकत पर आधारित थी जितनी भीतरी व्यवस्था और आर्थिक प्राचुर्य पर; इसकी जीवनी शक्ति का रस प्राचीन परम्परा और जातीय स्मृति की जड़ों से खींचा जाता था, जिसे उन्होंने कायम रखा, पुनर्व्याख्या की और भरपूर बनाया। मध्य देश और मगध में क्षत्रिय वंश-समूहों का उदय और राज्य के प्रति उनकी अटल स्वामिभक्ति साम्राज्यिक प्रासाद का इस्पाती ढांचा था। साम्राज्य की भव्यता शासकों के व्यक्तित्व में लिपटी कोई अलग चीज नहीं थी। जनता अपनी परम्परागत जीवन-पद्धति में कुछ उदात्त और भव्य पाकर उसे अपने शासकों की महानता में प्रतिबिम्बित देखती थी। धुर दक्षिण के वाकाटक और पल्लव, जो देश में दो अन्य प्रमुख राजशक्ति थे, गुप्तों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे

तथा अत्यन्त उदारतापूर्वक धर्म के आख्याता और सम्पादक ब्राह्मणों की व्यवस्था को स्वीकार करते थे।

गुप्त सम्राट् आश्चर्यजनक राष्ट्रीय लहर के प्रतीक बन गये। भारत के इस स्वर्ण युग में जीवन जितना सुखी और हमारी संस्कृति जितनी रचनात्मक थी, उतनी और कभी नहीं।

V

ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के मध्य में मानव जाति के इतिहास में ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह एक घटना घटी। बिलकुल लावा की धार की तरह हूण अपने मूल स्थान कैस्पियन सागर के उत्तरी तटों से फूटे और यूरोप तथा एशिया पर छा गये। बेघर और बेकानून, वे अपने घोड़ों की पीठ पर ही सोते जागते बढ़ने लगे। उनकी भयानक चीखें जहाँ भी सुनाई पड़तीं वहाँ हाहाकार मच जाता। इन्होंने संसार के समस्त सभ्य समुदाय को भयंकर प्रलयकारी युद्धों में झोंक दिया; और जहाँ भी उन्हें मौका मिला, उन्होंने दानवी क्रूरता के साथ लोगों को कत्ल किया तथा मार्ग में पड़ने वाले नगरों, गाँवों, खेतों और अन्य वस्तुओं को नष्ट किया, जलाया तथा उजाड़ डाला। यूरोप में हूण अत्तिल ने शक्तिशाली रोम साम्राज्य तक का पतन करा दिया।

४५५ ई० के आसपास हूण भारत में प्रवेश करने लगे। पर सम्राट् स्कन्दगुप्त ने उन्हें मार भगाया। बारह वर्ष बाद स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गयी। साम्राज्य की सीमा-चौकियाँ, जो कमजोर हो गयी थीं, आक्रमणकारियों का प्रतिरोध नहीं कर सकीं। बर्बर आक्रमणकारी फारस को पार करके उत्तर-पश्चिम में कुषाण शासकों को नष्ट करते हुए भारत में प्रवेश करने लगे।

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद, लगता है, उत्तराधिकार के लिए संघर्ष शुरु हो गया जो साम्राज्य को, इस संकट की घड़ी में, कमजोर बनाने का कारण बना। ई० सन् ५०० से ५७० के बीच उत्तराधिकार-क्रम से पाँच सम्राट्, जिनमें नरसिंह गुप्त बालादित्य भी था, साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों पर डांवाडोल रूप में अधिकार बनाये रहे। गुप्त साम्राज्य अभी भी, अपने अपकर्ष के बावजूद, एक जादू फूंकने वाला नाम था। पर, साम्राज्य के सुसम्बद्ध आन्तरिक भाग के घेरे के बाहर के अनेक हिस्से स्वतन्त्र हो गये। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद सौराष्ट्र में, जो साम्राज्य का एक प्रान्त था, जनरल मैत्रक लगभग स्वतन्त्र हो गया।

ई० सन् ५१२ तक तोरमाण के नेतृत्व में हूण उत्तरी भारत को रौंदते हुए मध्य भारत में सागर जिले के एरण तक पहुँच गये थे। तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने, जो आतंक की जीतीजागती मूर्ति था, पंजाब से ग्वालियर तक अग्नि और हत्याकाण्ड का भयानक दृश्य पैदा कर दिया और ५२५ ई० तक एक विशाल क्षेत्र का स्वामी बन बैठा।

पर जल्द ही उत्तरी भारत इस बर्बर आघात के धक्के से मुक्त हो गया और मिहिरकुल का प्रतिरोध आरम्भ हो गया। जो दस्तावेज नष्ट होने से बच गये हैं वे

इतने अस्पष्ट और खंडित हैं कि उनसे इस मुक्ति-संग्राम की प्रकृति और व्यापकता का ठीक ठीक पता नहीं लगता। पर दो महान् मुक्तिदाताओं के नाम शेष रह गये हैं।

यशोधर्मन् विष्णुवर्धन, जो सम्भवतः गुप्त साम्राज्य का कोई पूर्व-सामन्त था, हूणों से भयंकरतापूर्वक लड़ा। उसकी द्रुत विजयों ने मिहिरकुल की प्रगति रोक दी और उसके प्रति लोगों की निष्ठा दृढ़ की। मालवा, जिसके अन्तर्गत आधुनिक गुजरात का मध्य भाग समाविष्ट था—जो कभी गुप्तसाम्राज्य का एक प्रान्त था—स्वतन्त्र होने के बाद यशोधर्मन् के अधिकार-क्षेत्र का हिस्सा बना, और बताया जाता है कि हिमालय से लेकर गंजाम जिले तक के क्षेत्र पर उसने विजय प्राप्त की थी।

मिहिरकुल को अपने पूर्वी अभियानों में भी कम भारी मुंह की नहीं खानी पड़ी। इस चुनौती को मध्यदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) पर शासन करने वाले एक अर्ध-स्वतंत्र सामन्त ईशानवर्मन् मौखरी ने स्वीकार किया। उसने पूर्व में हूणों की प्रगति रोक दी और कई मुठभेड़ों में उन्हें बुरी तरह पराजित किया।

पूर्वी साम्राज्य के शासक सम्राट् नरसिंह गुप्त बालादित्य ने इस हूण पर अन्तिम प्रहार किया और उसे उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित अपने क्षेत्र पर उलटे पांव लौटने पर मजबूर कर दिया, जहाँ हिउएन-त्सांग के अनुसार, उसके भाई ने गद्दी पर कब्जा कर लिया था। तब मिहिरकुल काश्मीर पर टूट पड़ा जिस पर उसने कब्जा कर लिया और कुछ ही दिनों के बाद मर गया।

यशोधर्मन् विष्णुवर्धन एक उल्का की तरह चमका और अन्धकार में विलीन हो गया। ई० सन् ५३३ में मालवा पर मौखरी विजेता ईशानवर्मन् के गवर्नर का शासन था। दो वर्ष बाद नरसिंह गुप्त बालादित्य के पुत्र कुमार गुप्त तृतीय ने मालवा पर पुनः शाही अधिकार स्थापित किया और अपने को "तीन समुद्रों का स्वामी" घोषित किया पर साम्राज्य तेजी से क्षयित होता गया और यद्यपि लगभग ५५० ई० तक मैत्रकों द्वारा गुप्त प्रभुसत्ता स्वीकार की जाती रही और ५६९ तक कलिंग में मानी जाती रही, पर यह स्पष्ट है कि सम्राट् बूढ़ा शेर हो चुका था।

महान् उद्धारक ईशानवर्मन् ने सम्भवतः यशोधर्मन् के उत्तराधिकारियों को गद्दी से उतार दिया था, आन्ध्र के शूलिकों पर विजय प्राप्त की थी और कुमार गुप्त तृतीय की मृत्यु के बाद मध्य देश और मालवा तक का निर्विरोध स्वामी बन गया था। वह गौड़ों को परेशान किये रहा और अपनी नींव कन्नौज में पोखता की, जो उसके बाद से लगभग पाँच शताब्दियों तक उत्तरी भारत की शाही राजधानी बना रहा। ईशानवर्मन् का उत्तराधिकारी सर्ववर्मन् (ई० सन् ५७६-५८०) भी अपने राजवंश के गौरव को बनाये रहा।

हूण जैसे आये थे वैसे ही गुम हो गये। गुप्त साम्राज्य बिलकुल कमजोर होकर भंग हो गया; पराक्रमी मौखरी विजयी हुए। पर उनके उदय के साथ भारतीय इतिहास का एक नया अध्याय शुरू हुआ। कन्नौज नयी व्यवस्था के प्रतीक रूप में प्रकट हुआ।

भारत का सुनहला युग समाप्त हो गया, मगध की सैनिक सर्वोच्चता समाप्त हो गयी। इस उथल-पुथल के बीच से कई नये राजवंश प्रकटे : कन्नौज के मौखरी, थानेश्वर के पुष्यभूति, वलभी के मैत्रक और बादामि के चालुक्य। पुराने राजवंशों में केवल कांची के पल्लव उन्नतिशील रहे। पश्चिम में, आज के राजस्थान के योद्धा वंश, जो ब्राह्मण पूर्वजों के वंशज थे, और आबू पर्वत के क्षेत्र में निवास करते थे न जाने किस अन्धकार से एक सुसम्बद्ध राजवंश के रूप में प्रकट हुए जिनके अग्रणी प्रतिहार थे।

VI

अपने जीवनीकार बाणभट्ट और उत्साही हिउएन-त्सांग की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियों के चलते श्रीहर्ष को उसके प्राप्य से अधिक महत्त्व मिल गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने मध्यदेश की एकता को सुरक्षित रखा पर उसे बादामि के पुलकेशिन-द्वितीय के हाथों भारी मुंह की खानी पड़ी और वलभी के मैत्रकों से सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। जिन क्षेत्रों पर उसने विजय प्राप्त की वे न तो उसके पूर्ववर्ती गुप्तों के साम्राज्य के समान और न परवर्ती प्रतिहारों के समान व्यापक थे; न ही वह अपने पीछे कोई साम्राज्य छोड़ गया।

चीनी तीर्थयात्री के विवरणों से ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष न केवल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था वरन् ब्राह्मण धर्म के प्रति उसमें एक स्पष्ट विरोध भाव भी था। पर मुद्राएँ, जो उसके बड़े भाई को बौद्ध बताती हैं, उसका वर्णन एक निष्ठावान् शैव के रूप में करती हैं।

गुप्तों के विपरीत, श्रीहर्ष कोई नवीन संघटनात्मक प्रेरणा जागृत करने में समर्थ नहीं हुआ। अपनी बड़ी सेना की सहायता से सम्राट् ने दूर दूर तक विजय प्राप्त की, शानदार उत्सव मनाये, उदारतापूर्वक दान दिये; उसका व्यक्तित्व ऊँचा था, पर उसने अपने पीछे कोई उत्तराधिकारी या वंश-परम्परा नहीं छोड़ी; उसकी मृत्यु के साथ ही उसने जो इमारत खड़ी की थी वह भहरा गयी। कन्नौज के इस आकस्मिक पतन के कारण न केवल उन परिस्थितियों में ढूंढ़े जा सकते हैं, जिन्होंने श्रीहर्ष को सर्वोच्चता प्रदान की, वरन् उसके व्यक्तिगत चरित्र में भी। मध्यदेश के पुराने क्षत्रिय घराने, जिन्होंने गुप्त साम्राज्य का समर्थन किया, वे या तो अशक्त हो चुके थे या विरोधी थे; श्रीहर्ष उनमें कोई नयी आशा या शक्ति का संचार नहीं कर सका। कन्नौज और थानेश्वर मित्र राज्य होने के बावजूद एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे। जब शशांक के हाथों कन्नौज के अस्तित्व पर खतरा पैदा हुआ तब श्रीहर्ष, एक सैनिक अनिवार्यता के रूप में, दोनों राज्यों के सम्मिलित शासक के रूप में बुलाया गया। पर दोनों राज्यों पर उसकी पकड़ व्यक्तिगत थी; दोनों राज्यों के वंशवाले सम्भवतः एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि जहाँ गुप्त साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त-प्रथम अपने प्रयत्न में सफल रहा, वहाँ श्रीहर्ष को असफलता मिली। वह एक उभयनिष्ठ वंश क्रम की स्थापना नहीं कर पाया जो उसके अभियान को आगे बढ़ाता।

अपने जीवन के शिखर पर श्रीहर्ष एक कट्टर बौद्ध था। इस बात की पूरी सम्भावना है कि वह अपने मन्त्रियों, तथा समाज के श्रेष्ठ ग्रौर स्वाभिमानी नेताग्रों से अलग थलग रहने लगा था। वह पुरानी सामाजिक व्यवस्था में पुनः जीवन-रक्त प्रवाहित नहीं कर पाया, क्योंकि वह उसकी लालसा ग्रौर तड़प से अपने को एकाकार नहीं कर सका, न ही वह चक्रवर्ती-परम्परा को पुनर्जीवित कर सका। परम्परागत शक्ति पर आधारित सैनिक शक्ति की स्थापना का रहस्य उसे ज्ञात नहीं था; न ही जन समुदाय ने श्रीहर्ष की विजयों को अपनी विजय समझा। बौद्ध-धर्म के अन्तरराष्ट्रीयतावाद ने देश की जमीन में मूलबद्ध ठोस एकता के निर्माण को असम्भव बना दिया। वह विजय प्राप्त कर सका; पर निर्माण नहीं कर सका। इस प्रकार गुप्तों की राह उसके लिए बन्द थी।

उसने जिस साम्राज्य की स्थापना की वह देखते देखते समाप्त हो गया। श्रीहर्ष के बाद उसके दौहित्र धरसेन चतुर्थ ने, जो अपेक्षाकृत वलभी के छोटे राज्य का शासक था, सम्राट् की आडंबरी उपाधि धारण की। श्रीहर्ष की मृत्यु के पचास वर्षों के भीतर ही यशोवर्मन् ने, जो एक शक्तिशाली शासक ग्रौर भवभूति का आश्रयदाता था, कन्नौज को उसका गौरव प्रदान किया—पर केवल थोड़े दिनों के लिए।

पर ई० सन् ५५० ग्रौर ७५० के बीच भारत की शक्ति ग्रौर ग्रोज दक्षिण में दिखायी पड़े। जबकि मौखरी अपने साम्राज्य की स्थापना, जिसकी राजधानी कन्नौज में थी, कर ही रहे थे, चालुक्य वंश का पुलकेशिन्-प्रथम (५५० ई०) बम्बई के बीजापुर जिले में एक राज्य की स्थापना कर चुका था जिसकी राजधानी वातापि, आधुनिक बादामि, में थी। छठी शताब्दी के लगभग अन्त में, उसके पुत्र कीर्तिवर्मन् ने गोदावरी के उत्तर में शासन करने वाले राजाग्रों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

सन् ६२० ई० में पुलकेशिन्-द्वितीय ने, जिसने पहले ही कांची के पल्लवों को हरा दिया था, श्रीहर्ष के आक्रमण को नाकाम कर दिया ग्रौर "९९९ गाँवों वाले तीन महाराष्ट्रों का स्वामी" विरुद धारण किया। उसने वेंगी, आधुनिक गोदावरी जिले को अपने राज्य में मिला लिया ग्रौर अपने भाई विष्णुवर्धन को पूर्वी किनारे पर उसका गवर्नर नियुक्त किया। चार वर्ष बाद विष्णुवर्धन वस्तुतः स्वतन्त्र हो गया। ग्रौर उसने पूर्वी चालुक्य राजवंश की स्थापना की। पुलकेशिन् ने अपने योद्धाग्रों ग्रौर हाथियों की सहायता से, 'जो मदमत्त होकर विजय की ग्रोर अग्रसर होते थे', दक्षिणापथ के साम्राज्य की स्थापना की। लगभग दो शताब्दियों के शासन के बाद, जिसके दौरान चालुक्यों ने देश को महान् स्थायित्व प्रदान किया, उनका स्थान राष्ट्रकूटों ने लिया।

महान् पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन्-प्रथम (ई० सन् ६००-६३०) ने एक बार पुलकेशिन् द्वितीय तक को हरा दिया ग्रौर उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया। यद्यपि चालुक्यों ने जल्दी ही इस हार का बदला ले लिया, पर पल्लव धुर दक्षिण में अत्यन्त शक्तिशाली राजा बने रहे।

चार सौ से अधिक वर्षों की—ई० सन् ३२० से ७५० तक—अवधि के दौरान भारत सु-सम्बद्ध सरकारों द्वारा प्रशासित रहा। इस काल में राजनीतिक अभिरुचि मुख्यतः उत्तरी भारत के इतिहास में केन्द्रित है। इसका प्रमुख कारण गुप्त साम्राज्य की शक्ति और विस्तार है। पर देश को स्थायित्व प्रदान करने और संघटनकारी शक्तियों के पोषण में चालुक्यों और पल्लव राजाओं के योगदान को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए।

VII

अफगानिस्तान (जो उस समय हिन्दू राज्य था) से लेकर नर्मदा तक भारत के उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्र की स्थिति बिलकुल डांवाडोल थी। मिहिरकुल की मृत्यु के कुछ ही वर्षों के भीतर कदाचित् एक नयी और ओजपूर्ण प्रेरणा भी दिखाई पड़ती है; धर्म को पुनरुज्जीवित करने की, इसे नयी जिन्दगी से जोड़ने की, नयी स्थितियों के अनुकूल मूल्यों के प्रचार की; न केवल आक्रान्त देशों में वरन् भारत के अन्य भागों में भी, विशेषकर दक्षिण में। गुप्तकाल में निर्मित जीवन की नींव देश के बहुत बड़े भूभाग में अविचलित रही; कदाचित् इसका पैटर्न, जल्द ही, परिवर्तन का शिकार बना।

इस नयी प्रेरणा के कुछ पहलू, जिनका मूल स्रोत दक्षिण में था, आसानी से निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। पुराण, जिनमें से कुछ गुप्तकाल में लिखे या संशोधित किये गये थे, इस नयी प्रेरणा की देववाणी थे। वे केवल धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते थे। उन्होंने सुदूर अतीत के गौरव को पुनरुज्जीवित किया; उन्होंने देश के नये स्थानों को उद्दीपनकारी पवित्रता से मंडित किया तथा भारतवर्ष की एकता का निर्माण किया; उन्होंने नयी स्थितियों के प्रकाश में पुराने मूल्यों की पुनर्व्याख्या भी की और उन्हें नयी शक्ति प्रदान की।

शैवधर्म, जो गुप्त साम्राज्य के उदय के बहुत पूर्व ही एक लोकप्रिय सम्प्रदाय बन चुका था, एक अत्यन्त ओजस्वी संघटनात्मक आन्दोलन बन गया। पशुपति के रूप में शिव की पूजा उतनी ही पुरानी है जितना मोहनजोदारो। यह नया सम्प्रदाय, जिसे शंकराचार्य ने "लकुलेश पाशुपत" कहा, सारे देश में फैल चुका था। वह धर्म का सर्वाधिक प्रभावी समर्थक और बौद्ध तथा जैन धर्म का भयंकर विरोधी था।

यद्यपि गुप्त सम्राट् विष्णु के उपासक थे, पर शिव की उपासना अधिक लोकप्रिय थी। हूण राजा मिहिरकुल, कतिपय प्रारम्भिक कुषाण राजाओं की तरह शिव का भक्त था; इसी प्रकार श्रीहर्ष के परिवार के अधिकांश सदस्य शिव के पुजारी थे; यही बात वलभी के मैत्रकों तथा दक्षिण के अधिकतर शासकों पर, मय वाकाटकों के, लागू थी। पल्लव राजवंश का महान् शासक महेन्द्रवर्मन् अपना धर्म बदलकर शैव बना और उसने अपने राज्य में शिव के भव्य मन्दिर बनवाये। कांची इस सम्प्रदाय का महान् केन्द्र बन गया और महेन्द्रवर्मन् के उत्तराधिकारियों ने अपने को शैवमत से सम्बद्ध पुनर्जागरण से एकाकार कर दिया। अनेक शैव नायन्मारों ने, जो इस काल में फले-

फले, वेदान्त तक को शैवमत के प्रसंग में प्रयुक्त किया। मानिक्कवाचकर का तिरूवाचकम् तमिल भाषा में सर्वोच्च शैव आगम बन गया।

VIII

गुप्त सम्राट् अपने धार्मिक दृष्टिकोण में बहुत उदार थे; उन्होंने बौद्ध-धर्म को न केवल स्वीकार किया वरन् अन्य धर्मों की भाँति उसे भी मुक्तहस्त दान देकर प्रोत्साहित किया। सामान्य बौद्धमतावलम्बी धर्मशास्त्र के विधिविधानों द्वारा नियन्त्रित समाज के अभिन्न अंग थे। अतः जब शैव मत और वैष्णव मत शक्तिशाली संघटनात्मक शक्तियाँ बन गये, बौद्धमत, जो बहुत करके एक विरोधात्मक आन्दोलन था और कभी भी संघटनात्मक शक्ति नहीं रहा, जनता से अपना प्रभाव खोता गया। धीरे-धीरे इसकी अन्तर्वस्तु हिन्दू धर्म के निकट पहुँचती गयी। इसके आध्यात्मिक शून्यवाद ने, भक्तिआन्दोलन से आमना-सामना होने पर, कम से कम आपने बाहरी रूप में, निकट पहुँचने का प्रयास किया और अन्ततः हिन्दू धर्म के व्यापक घेरे में समाहित हो गया; और बाद में जब बुद्ध विष्णु के अवतार मान लिये गये तब तो प्रतिस्पर्द्धी के रूप में इसका अलग अस्तित्व भी समाप्त हो गया। हां, एक सम्प्रदाय के रूप में यह कुछ और शताब्दियों तक कायम रहा।

ई०सन् ५०० के बाद भक्ति पन्थ ने धार्मिक आन्दोलनों को भावनात्मक तत्त्व से युक्त किया, जो शताब्दियों तक, भारतीय जीवन में अतीव महत्त्व की वस्तु रहा। इसने स्थायी मूल्यों के निर्माण में योग दिया जिन्होंने "प्रतिरोध के युग" को, जो तुर्कों के साथ आये प्रलयकारी संकट के बाद आया, शक्ति प्रदान की। तमिलनाडु के आलवार सरलहृदय भक्त थे; वे अपने देवताओं को प्यार करते थे और उनसे प्रणय-निवेदन करते थे तथा अपनी अनुभूतियों को इस ऋजुता से अभिव्यक्त करते थे जो संवेगात्मक वस्तु और उत्कट विश्वास की दृष्टि से विश्व के धार्मिक साहित्य में अद्वितीय है।

संस्कृत अब भी धर्म और अनुष्ठान की, राजतन्त्र ज्ञान और विज्ञान की, सामाजिक आचरण का नियमन करने वाले विधि-ग्रन्थों की, साहित्य, चिन्तन, कविता और नाटक की भाषा बनी रही। यह आपसी सम्पर्क का राष्ट्रीय माध्यम थी। संस्कृतभाषी संसार एक था। अखिल भारतीय संस्कृत भाषा के ही फलस्वरूप परवर्ती शताब्दी में मालावार के एक ब्राह्मण, शंकराचार्य, ने अपने अत्यन्त लघु जीवन-काल में धार्मिक संस्थाओं का संगठन करने, देश की चिन्तनात्मक विचारधारा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और समस्त देश में एक सर्वव्यापी धार्मिक और बौद्धिक आन्दोलन का उद्घाटन करने में सफलता प्राप्त की।

महाभारत, रामायण और पुराण सार्वदेशीय एकता के स्रोत बने रहे। पौराणिक साहित्य सरल और प्रत्यक्ष प्रभावी रहा; प्रभाव के रूप में इसके विकास का माप इस साहित्य के मत्स्य और वायुपुराणों के लघु वृत्तान्तों से लेकर समृद्ध और भव्य भागवत तक के (जो पुनः दक्षिण की देन है) विकास द्वारा की जा सकती है। कथा अत्यन्त

शक्तिशाली, शिक्षात्मक और संघटनकारी शक्ति हो गयी। पौराणिक नये युग के धर्म प्रचारक और सामाजिक उत्थान के अभिकरण बन गये जो अनुयायियों के सतत वर्धमान वृत्त को आर्य संस्कृति के दायरे में लाने में सफल हुआ।

उत्तर भारत में उच्च वर्ग के लोग जो बोलियाँ बोलते थे, वे संस्कृत से बहुत दूर नहीं थीं। पर दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ, संस्कृत द्वारा प्रभावित और समृद्ध होने के बावजूद, स्वतन्त्र रूप में विकसित होती रहीं। भारोपीय मूल से इतर बोलियाँ बोलने वाले तत्त्व भी उच्च वर्गों में बड़ी संख्या में प्रवेश करने लगे। इस प्रकार सांस्कृतिक प्रभाव केवल संस्कृत द्वारा नहीं फैला, वरन् विकासमान बोलियों के माध्यम से भी जनसमूह में परिस्रवित हुआ, जो संस्कृत की सर्वोच्चता स्वीकार करते हुए एकीकरण की सहायक शक्तियाँ बनीं।

विदेशियों को आत्मसात् करने और आर्येतर जातियों के (जिन्हें इसमें स्थान मिला) आर्यीकरण की आवश्यकता के फलस्वरूप चातुर्वर्ण्य को तीव्र तनाव से गुजरना पड़ा। परिणामस्वरूप इसमें कुछ परिवर्तन हुए जिससे समाज का ढाँचा बदला। **वर्णाश्रम** ने—यद्यपि इसका रूप अभी स्पष्ट नहीं था—परम्पराश्रित जातियों के संगठन का, चार-स्तरीय सामाजिक व्यवस्था का नहीं, रूप ग्रहण किया। इस प्रकार समाज विचारधारा की वह ताजगी खो बैठा जो भारत के **द्विजों** ने इसे, मूलतः एक वर्ग के रूप में, प्रदान की थी। परवर्ती शताब्दियों का इतिहास बताता है कि किस प्रकार जैसे-जैसे सामाजिक ढाँचा कठोर होता गया, सांस्कृतिक और सामाजिक एकता के लिए **चक्रवर्ती** की राजनीतिक मान्यता लुप्त होती गयी और लोगों का प्रसरणशील दृष्टिकोण समाप्त हो गया।

एकीकरण की प्रक्रिया में अत्यन्त प्रशिक्षित और प्रयोजन-युक्त अभिकरण के रूप में प्रमुख रोल ब्राह्मणों ने अदा किया: विद्वान् और शिक्षक, साहित्यकार और धार्मिक गुरु; यज्ञविद्या के विशेषज्ञ स्वामी; पाशुपताचार्य जिनसे लोग डरते थे, आदि का राजाओं पर व्यापक प्रभाव था। वे मन्दिरों और मठों की स्थापना करते थे जो नवीन शक्तिशाली सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों के केन्द्र थे। स्मार्त ब्राह्मण न केवल भाष्यकार, टीकाकार और विधिकार थे, वरन् धर्म के प्रतिपादक भी थे। ब्राह्मणों का प्रभाव पूरे देश में था। उन्होंने शनैः शनैः लाखों पिछड़े वर्ग के लोगों को ऊपर उठाया तथा अपने भीतर शामिल किया। उनकी प्रेरणा से समुदाय ऊपर उठे और व्यक्ति का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नयन हुआ।

इस अवधि में शिक्षा-पद्धति में पूर्ववर्ती युग से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। नालन्दा जैसे विश्वविद्यालय स्थापित हुए, जो महान् विद्याकेन्द्र थे।

IX

जैसा पहले कहा जा चुका है, आर्यावर्त की चेतना के तीन पक्ष थे; आर्यावर्त **धर्मक्षेत्र** था जहाँ म्लेच्छ के लिए कोई जगह नहीं थी, सामाजिक आधार **चातुर्वर्ण्य** था, जो इसका शाश्वत विधान था; **चक्रवर्ती** दोनों का रक्षक था। भारत में म्लेच्छ निवास नहीं कर

सकता, यह भावना मूलबद्ध और सक्रिय थी; उतना ही सक्रिय यह विश्वास था कि भारतवर्ष में धर्म सर्वप्रधान है। **चक्रवर्ती** की धारणा अवश्य ही स्पष्टतः अपना अर्थ खो बैठी; **धर्म** सारे देश को अपने दायरे में बनाये रखने के कर्त्तव्य से नहीं जुड़ पाया। विजय के लिए लड़े गये युद्ध अपना आध्यात्मिक महत्त्व खो बैठे। प्राचीन काल की तरह अब वे एक गतिशील जनसमुदाय और संस्कृति की अभिव्यक्ति नहीं रहे; अब युद्ध केवल राज्य विस्तार अथवा, अधिकतर, पड़ोसी राजाओं के आक्रमणकारी इरादों को बेकार करने के लिए लड़े जाने लगे। जन समुदाय और संस्कृति एक थे; स्मृति-विधिविधान सार्वभौम **धर्म** था पर चातुर्वर्ण्य अपने ही अधिकार से एक सामाजिक पैटर्न बन गया। परिणामस्वरूप आर्यावर्त की चेतना जातीय स्मृति में विलीन हो गयी।

अब क्षत्रिय समुदाय मध्यदेश की, एक सांस्कृतिक परम्परा से शासित, सुसंगठित सैनिक जाति नहीं रहा। इसमें अनेक विदेशी, आदिवासी तथा अन्य आर्येतर समूह अन्तःप्रविष्ट हो गये, जो अब तक **धर्म** के अभ्यस्त नहीं हुए थे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच अन्तर्विवाह विरल हो गये। क्षत्रिय युद्धव्यवसायी हो गये और किसी कठोर बौद्धिक प्रशिक्षण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करने लगे।

द्विज जातियों का अलग-अलग मुहरबन्द डिब्बों में अलगाव तथा सामाजिक विलयन की कठिनाई विघटनकारी तत्त्व हो गये।

वंश-परम्परा के कन्धों पर ही साम्राज्य का निर्माण सम्भव होता है। इस प्रकार की सुसम्बद्ध वंश-परम्परा प्रारम्भिक सम्राटों के काल में, गुप्त साम्राज्य की स्थापना में सहायक हुई थी; एक समान उद्देश्य के निमित्त, जिसमें जनता भी हिस्सेदार थी, महत्त्वाकांक्षी पड़ोसी राजाओं अथवा उद्दंड सामन्तों के विरुद्ध, सम्राट् के प्राधिकार की रक्षा में, चाहे वह कितना भी कमजोर या असहाय क्यों न हो, इसकी दिलचस्पी थी। सामाजिक ढाँचे में हुए परिवर्तन ने ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दीं जिनमें ऐसी वंश-परम्परा, जो संस्कृति में सजातीय तथा आर्यावर्त की राजनीतिक एकता में विश्वास रखकर आगे देखने वाली हो, अस्तित्व में नहीं आ पायी।

अभिलेखों में प्राप्त रूढ़िगत प्रशस्तियों के बावजूद ऐसे विजेता लगातार अन्धकार से उभरते रहे जिन्होंने धर्म से ज्यादा राजशक्ति की परवाह की।

गुप्तों के बाद बड़े पैमाने पर विजय प्राप्त करना दिनोंदिन कठिन होता गया। पुरा काल से सेना चार खंडों में बंटी होती थी; गजसेना, घुड़सेना, पैदल सेना और रथसेना। विवेच्य काल में, जैसा **हर्षचरित** और हिउएन-त्साँग के विवरणों से ज्ञात होता है, युद्ध में रथों का प्रयोग बहुत कम होता था। राजा अधिकांशतः हाथी पर चढ़कर युद्ध के लिए प्रस्थान करता था, और जो राजा विजय का आकांक्षी होता था उसे भारी संख्या में हाथी रखने होते थे। घुड़सेना का प्रयोग भी बड़े पैमाने पर होता था, पर सामान्यतः सामन्त सरदार घोड़े रखते थे जो अपने पैदल सिपाहियों के समान उन्हें भी युद्ध के समय लड़ाई के मैदान में लाते थे। सामान्यतः सेना में क्षत्रिय सामन्त सरदार होते थे जिनकी अपनी जागीर होती थी, अपनी क्षेत्रीय

अनुरक्ति होती थी और शास्त्रों तथा परम्पराओं द्वारा निर्धारित अपनी सम्मान-संहिता होती थी। शक्तिशाली नेतृत्व में वे शूरवीर हो सकते थे, भाड़े के सैनिक नहीं। वे सामान्यत: जागीरों द्वारा पुरस्कृत किये जाते थे और उनके नेता प्रायः रिश्ते में शासक राजकुल से जुड़े होते थे। युद्ध में भी छोटा-मोटा राजा "परस्पर सम्बन्धित अधिपतियों के मुखिया" से अधिक कुछ नहीं था। अत: जब तक किसी विजेता के पास समर्थ गजसेना के लिए पर्याप्त साधन तथा उसकी अपनी वेतनभोगी सेना नहीं होती, उसे व्यवहारतः अपने सामन्त सरदारों पर निर्भर होना पड़ता और इस स्थिति में वह **चक्रवर्ती** बनने का शायद ही स्वप्न देखता।

लघु राज्यों के युग से चली आती हुई एक पुरानी परम्परा के अनुसार विजेता को इस बात की छूट नहीं थी कि वह किसी दूसरे राज्य के शासक राजवंश का तख्ता पलट दे और उसे अपने राज्य में मिला ले। अत: उसे ऐसे स्वामिभक्त सरदार की तलाश करनी पड़ती थी जो विजित क्षेत्र के प्रमुख क्षत्रिय घरानों की स्वामिभक्ति पर अधिकार रखता था। क्षत्रिय शनैः शनैः अपने निजी क्षेत्र में मूलबद्ध हो गये थे। विजित क्षेत्र के सफल विलयन का अनिवार्य परिणाम था स्थानीय सरदारों का उन्मूलन तथा विजेता और उसके राजवंश के सामन्त सरदारों द्वारा उनका स्थान लेना। इसका मतलब था विजित क्षेत्रों में विजेता के सामन्त सरदारों के बीच जागीरों का पुनर्वितरण, जिससे उन्हें एक नयी और अनुकूल जमीन में फिर से जड़ जमाने के लिए तैयार होना पड़ता; साथ ही विजेता में, अपनी निजी सैन्य क्षमता को कमजोर बनाये बिना, अपने शक्ति के उपकरण के रूप में नये बसे सरदारों के भरण-पोषण की क्षमता अपेक्षित थी। विवेच्य काल में ये तत्त्व राज्यों के राजनीतिक समेकीकरण के प्रतिकूल कार्यरत दिखाई पड़ते हैं।

अनेक विजेताओं ने इन तत्त्वों की उपेक्षा करने का प्रयास किया, पर अधिकांश असफल रहे। समुद्रगुप्त इसमें इसलिए सफल हुआ कि उसने उत्तरी भारत के छोटे राज्यों को निर्दयतापूर्वक समूल नष्ट कर दिया; साथ ही वह मध्यदेश के सैनिकवर्ग पर भरोसा कर सकता था। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत छोटी छोटी इकाइयों में बंट गया। भारत की मानवीय परम्परा में क्रूर विजेताओं को छोड़कर शायद ही किसी ने किसी क्षेत्रिय राजवंश को समूल उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया; परिणामस्वरूप क्षत्रियों की क्षेत्रीय अनुरक्ति बढ़ती गयी; और अपने संरक्षकों के साथ ब्राह्मणों में भी, जो उन पर आश्रित थे, क्षेत्रीय निष्ठा विकसित होती गयी। राज्य छोटे हो गये, और लघु-राज्य-मनोवृत्ति राष्ट्रीय मानस का अंग बन गयी।

विवेच्य काल में एकमात्र अपवाद प्रतिहार, चाहमाण और चालुक्य वंशों का उद्भव था, जो वैवाहिक सम्बन्धों तथा परम्परा से घनिष्ठतः सम्बद्ध थे; गुर्जर देश के परमार तथा अन्य योद्धा वंश या तो इन तीन शाखाओं की उपशाखाएँ थे अथवा

कालक्रम में इनकी क्रम परम्परा में समाहित हो गये। यही कारण था कि प्रतिहार साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हुए।

इस वातावरण में बड़े पैमाने पर होने वाले युद्धों तथा उनसे उत्पन्न बड़े पैमाने पर जनसंख्या के विस्थापन का सवाल ही नहीं उठता। विभिन्न समुदाय अपने क्षेत्र में अपनी जड़ें जमाते रहे।

X

तीसरा समुदाय वैश्यों का था जो—कम से कम उत्तर भारत में—ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्ग का ही था; स्वयं श्रीहर्ष वैश्य था; पर उसकी बहन बलभी के क्षत्रिय राजा ध्रुवसेन-द्वितीय बालादित्य से ब्याही थी। पर वे सामाजिक संगठन के गत्यात्मक तत्त्व थे। विभिन्न समुदायों के सदस्यों के बीच सांस्कृतिक प्रलब्धियों की अधिक समानता थी। विदेशी व्यापार तथा वाणिज्य की आवश्यकताओं के फलस्वरूप वे भारतीय और अभारतीय दोनों प्रकार के सामान्य जनों के निकट सम्पर्क में आते थे इसलिए वे स्वाभाविक रूप से अपनी रुचि और दृष्टिकोण में कम नाजुक मिजाज थे। देश के अनेक भागों में वे बौद्ध और जैन मत से, जिनकी सामान्य जनता के प्रति सहानुभूति थी, अधिक प्रभावित थे।

चौथा समुदाय, जो शूद्रों का था, निम्न जाति के लोगों का नहीं था; उसे "शेष" कहना अधिक संगत है। वे धर्म के उद्धार्य थे तथा समाज के अनिवार्य अंग थे; वे हेय दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। उनकी देखभाल आवश्यक समझी जाती थी। शूद्रों और अन्य वर्णों के सदस्यों के बीच विवाह-सम्बन्ध हुआ करते थे। सम्राट् श्रीहर्ष के ब्राह्मण मित्र बाण का एक भाई शूद्र विमाता से उत्पन्न था।

देश के सामाजिक संगठन में सक्रिय गतिशीलता के फलस्वरूप कोई एक वैवाहिक सम्बन्धों वाला समुदाय, जो मूलतः आर्यीकृत समाज का अंग नहीं होता था, अपेक्षित सांस्कृतिक अनुशासन से गुजरते हुए, निम्न से उच्चतर सामाजिक अवस्था, आर्यीकृत वर्ग, में शामिल हो सकता था। एक जाति-व्यवस्था से दूसरी जाति-व्यवस्था में, अथवा आदिवासी या विदेशी वर्ग से स्वीकृत जातियों में समुदायों का प्रवेश कठिन नहीं था। अन्तर्विवाहों के फलस्वरूप खून की मुक्त मिलावट होती थी और सांस्कृतिक विचारों की अलंघ्य दरार नहीं बनने पाती थी। केवल जब कोई निम्न समुदाय ऊँची जाति का दरजा प्राप्त कर लेता था, जो एक सामान्य बात थी, तब उस समुदाय या परिवार के लिए ब्राह्मण या क्षत्रिय से अपेक्षित उच्च सांस्कृतिक स्तर को प्राप्त करना, जबतक कई पीढ़ियाँ न बीत जाएँ, कठिन होता था।

गुप्तों ने जो धर्मशास्त्र-समर्थित प्रशासन-तन्त्र कायम किया तथा जिसे पूरे देश में मान्यता प्राप्त हुई वह बाद में भी कायम रहा। परवर्ती शताब्दियों में प्रशासन गुप्तकाल में निर्धारित अधिनियमों से अधिक दूर नहीं हटा और आज भी अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में कुछ परिवर्तनों के साथ कायम है।

व्यावहारिक रूप में प्रशासन एक ही वर्ग के लोगों के हाथ में रहा तथा युगों पुरानी परम्परा और सामाजिक आचरण विषयक सामान्यतः स्वीकृत नियमों से अनुशासित रहा। इसकी कार्यकुशलता राजकीय दवाव से उतनी नहीं कायम रही जितनी समुदाय के मान्य सदस्यों के प्रबुद्ध विचारों से, जिनका मार्गदर्शन क्षेत्रविशेष के अगुआ ब्राह्मण और क्षत्रिय करते थे।

XI

विवेच्य काल के प्रायः अन्त में भारतीय रंगमंच पर अरब प्रकट हुए, पर उनके उल्का सदृश उत्थान में पहली वार इन 'विश्व विजेताओं' की प्रगति अवरोधित हुई। थाना, भड़ौंच और देवल के विरुद्ध उनका नौसेना-आक्रमण नाकाम कर दिया गया। खैबर दर्रा के जरिये, जिसके रक्षक उस समय काबुल के हिन्दू राज्य थे, उनका भारत में प्रवेश का प्रयास विफल हो गया। यद्यपि बड़ी कठिनाई से थोड़े समय के लिए (ई० सन् ७००-७१४) काबुल और जाबुल पर एक प्रकार की अरब अधिराजता स्थापित हो गयी थी, पर आगामी डेढ़ शताब्दी तक वे अपनी स्वायत्ता प्रायः अक्षुण्ण बनाये रहे।

अरबों ने बोलान दर्रे से भी भारत में प्रवेश करने की कोशिश की, पर किकान अथवा किकानान के शक्तिशाली जाट कई वार पराजित होकर भी झुके नहीं और वह दर्रा आक्रमणकारियों के लिए बन्द रहा।

तब अरबों ने मकरान समुद्र तट से आगे बढ़ने का प्रयास किया। उनकी सेना प्रचुर पैमाने पर सुसज्जित थी; सुदूर सीरिया तक से सेनाएँ बुलायी गयी थीं। सिन्ध अभी गृहयुद्ध से मुक्त ही हुआ था; वहाँ के शासक दाहर ने सम्भवतः इस आक्रमण से कुछ ही वर्ष पहले दक्षिणी सिन्ध पर नियन्त्रण स्थापित किया था। युद्ध का साजो-सामान लाने वाले अरब बेड़े का प्रतिरोध नहीं के बराबर हुआ। नेहरून और सिविस्तान ने, जो दक्षिणी सिन्ध के दो प्रधान मजबूत गढ़ थे, आक्रमणकारियों के लिए अपने दरवाजे खोल दिये। बौद्धों का देशद्रोही चरित्र, एक वर्ग के लोगों का सामान्य अन्धविश्वास, और राजकीय सत्ता को अनधिकृत हड़प लेने वाले परिवार के प्रति राजभक्ति का अभाव, इन सबने मिलकर परिणाम में कोई सन्देह नहीं रहने दिया। सन् ७१२ ई० में सिन्ध विजित हो गया।

सिन्ध की विजय अरबों की सैनिक श्रेष्ठता का परिणाम नहीं थी; वस्तुतः भारतीय जमीन पर यह उनकी पहली और अन्तिम उपलब्धि थी। इस विजय के बाद जहाँ भी उनका आमना सामना शक्तिशाली भारतीय राज्यों से हुआ, उनका विजय का सिलसिला टूट गया। ई० सन् ७२५ के आस-पास एक अरब सेना, जो उत्तर भारत पर आक्रमण के लिए भेजी गयी थी, शाही प्रतिहारों की पंक्ति के नागभट्ट प्रथम के हाथों बुरी तरह पराजित हुई। दूसरी सेना, जो लाट (दक्षिणी गुजरात) में प्रवेश कर गयी थी, नवसारी के निकट हुई लड़ाई में पुलकेशिन् अवनिजनाश्रय द्वारा

नेस्तनाबूद कर डाली गयी। दो शताब्दियों तक निरन्तर दबाव डाले रहने के बावजूद नवीं और दसवीं शताब्दियों में अरबों के पास मंसूर और मुलतान के केवल दो छोटे-छोटे राज्य बच रहे। जब हम अरबों की भारत में इस महत्वहीन उपलब्धि की तुलना मध्य-पूर्व के समकालीन राज्यों में, यूरोप में, फारस पर उनकी चकाचौंध उत्पन्न करने वाली जीतों से करते हैं तो यह भारतीयों की श्रेष्ठ सैनिक शक्ति और राजनीतिक संगठन के लिए एक प्रशंसा की बात सिद्ध होती है।

अन्त में प्रधान सम्पादक डा० आर० सी० मजुमदार और सहायक सम्पादक डा० ए० डी० पुसलकर को, उनके अथक तथा एकनिष्ठ परिश्रम के लिए, तथा इस जिल्द के निमित्त विद्वत्तापूर्ण लेख देने वाले विद्वानों को अपना धन्यवाद अर्पित करता हूं। एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के ग्रन्थालयी प्रो० एस० के० सरस्वती को भी मैं धन्यवाद देता हूं जिन्होंने फोटोग्राफ तैयार करने तथा उन्हें प्रकाशन के निमित्त सही प्रकार से व्यवस्थित करने में बड़ा कष्ट उठाया है; साथ ही पुरातत्त्वविज्ञान, नयी दिल्ली के महानिदेशक; पुरातत्त्वविज्ञान, हैदराबाद के निदेशक; इंडियन म्युजियम, कलक़त्ता; मथुरा म्युजियम, मथुरा; सारनाथ म्युजियम, सारनाथ; प्रोविन्शियल म्युजियम, लखनऊ; ग्वालियर म्युजियम, ग्वालियर; प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई; वरेन्द्र रिसर्च म्युजियम, राजशाही (बंगलादेश); करांची म्युजियम, करांची, कालमन्न गेलरीज, लन्दन; बरमिंघम म्युजियम ऐंड आर्ट गैलरी, बरमिंघम; म्युजियम आफ फाइन आर्ट्स, बोस्टन; और हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के अधिकारियों को, जिन्होंने इस जिल्द के विभिन्न चित्रों के फोटोग्राफ प्रदान किये हैं, मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। उनके द्वारा प्रदत्त सामग्री का विवरण अलग "आभार" शीर्षक पृष्ठ में दिया गया है। मैं विशेष रूप से एसोशिएटेड एडवर्टाइजर्स ऐंड प्रिंटर्स लि०, बम्बई का ऋणी हूं जिन्होंने इतने कम समय में इस जिल्द का मुद्रण किया है; और भारतीय विद्या भवन और प्रेस के कर्मचारियों का भी जिन्होंने बड़ी सावधानी और उत्साह के साथ इसकी छपाई और तैयारी की देखभाल की है। कृष्णार्पण ट्रस्ट के बोर्ड के अध्यक्ष श्री घनश्यामदास बिड़ला और अन्य सदस्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मुझे शब्द नहीं मिल रहे हैं जिन्होंने इन जिल्दों के निर्माण में उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दी है।

विषय-सूची

पृष्ठ

१. प्राक्कथन : क. मा. मुंशी ... ७
२. आभार ... ४३
३. भूमिका : प्रधान सम्पादक ... ४५
४. नक्शों की सूची ... ५५
५. प्लेटों की सूची ... ५६
६. संकेत चिह्न ... ६०

परिच्छेद : १

गुप्तवंश का उदय

आर. सी. मजुमदार, एम. ए., पी-एच. डी., एफ. बी. बी. आर. ए. एस. निदेशक, सम्पादक मंडल, हिस्टरी ऑफ दि फ्रीडम मूवमेन्ट इन इंडिया, भारत सरकार।

१. उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास ... १
२. चन्द्रगुप्त प्रथम ... ३
३. गुप्तकाल ... ५

परिच्छेद : २

गुप्त साम्राज्य का उदय

आर. सी. मजुमदार

१. समुद्रगुप्त का राज्यारोहण ... ७
२. समुद्रगुप्त की विजयें ... ८
३. श्रीलंका के साथ राजनीतिक सम्बन्ध ... १२
४. समुद्रगुप्त का साम्राज्य ... १३
५. समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व ... १४

परिच्छेद : ३

साम्राज्य का विस्तार और सुदृढ़ीकरण

आर. सी. मजुमदार

१. रामगुप्त ... १७
२. चन्द्रगुप्त द्वितीय ... १८

उसके विजयाभियान ... २०
विक्रमादित्य परम्परा ... २१
उसके सिक्के ... २३
फा-हिएन का विवरण ... २४
३. कुमारगुप्त प्रथम ... २५
४. स्कन्दगुप्त ... २७
हूण आक्रमण ... २८

परिच्छेद : ४

साम्राज्य पर संकट

आर. सी. मजुमदार

१. पुरुगुप्त ... ३२
२. बुधगुप्त ... ३३

परिच्छेद : ५

साम्राज्य का विघटन

आर. सी. मजुमदार

१. राज-परिवार में कलह ... ३७
२. हूण ... ३८
तोरमाण और मिहिरकुल ... ३९-४१
३. यशोधर्मन् तथा अन्य विद्रोही सामन्त ... ४४

परिच्छेद : ६

गुप्त साम्राज्य का पतन

आर. सी. मजुमदार

१. नरसिंह गुप्त ... ४७
२. अंतिम दो गुप्त सम्राट् ... ४९

परिच्छेद : ७

गुप्त काल में उत्तर भारत की छोटी रियासतें

आर. सी. मजुमदार

१. शक या पश्चिमी क्षत्रप ... ५२
२. कुषाण ... ५७
परवर्ती कुषाण ... ६१
किदार कुषाण ... ६४

परिच्छेद : ८

गुप्त साम्राज्य के विघटन के बाद का उत्तरी भारत

(ईसा की छठी शताब्दी)

आर. सी. मजुमदार

१. वलभी ... ६८
२. राजपुताना के गुर्जर ... ७२
३. नान्दीपुरी के गुर्जर ... ७४
४. मौखरी ... ७६
५. परवर्ती गुप्त ... ८२
६. बंगाल ... ८७
७. नेपाल ... ९२
८. कामरूप ... १००
९. ओडिसा ... १०५

परिच्छेद : ९

हर्षवर्धन और उसका काल

आर. सी. मजुमदार

I. थानेश्वर का राज्य ... १०९
II. हर्ष और कन्नौज ... ११२
III. हर्ष के सैन्य अभियान ... ११६
  १. वलभी ... ११७
  २. पुलकेशिन् के युद्ध ... ११९
  ३. सिन्ध ... १२०
  ४. पूर्वी अभियान ... १२१
  ५. हर्ष के अभियानों का तिथिक्रम ... १२२
IV. हर्ष के साम्राज्य का विस्तार ... १२५
V. हर्ष का मूल्यांकन ... १२८
VI. चीन से हर्ष का सम्बन्ध ... १३६

परिशिष्ट

राज्यवर्धन की मृत्यु ... १३६

परिच्छेद : १०

ई० सन् ६५०-७५० के बीच उत्तरी भारत

आर. सी. मजुमदार

१. चीनी धावा ... १४१
२. मगध के परवर्ती गुप्त ... १४३

३. कन्नौज का यशोवर्मन् ... १४६
४. काश्मीर ... १५०
५. नेपाल ... १५४
६. कामरूप ... १५८
७. बंगाल ... १६१
८. ओडिसा ... १६४
९. वलभी ... १६७
१०. राजपुताना और गुजरात ... १७४
　(i) गुर्जर प्रतिहार ... १७४
　(ii) नान्दीपुरी का गुर्जर राज्य ... १७७
　(iii) गुहिलौत ... १७९
　(iv) चाप ... १८३
　(v) मौर्य ... १८४
　(vi) चाहमान ... १८५
　(vii) गौण राज्य ... १८६
११. पश्चिमी सीमा स्थित सिन्ध तथा अन्य राज्य ... १८७
१२. अरब आक्रमण ... १८९
　(i) काबुल और जाबुल ... १९०
　(ii) सिन्ध ... १९२
　(iii) पश्चिमी भारत ... १९३
　(iv) उत्तर-पश्चिमी भारत ... १९६
　(v) सिंहावलोकन ... १९८

परिच्छेद : ११

गुप्त युग में दक्षिणापथ

डी. सी. सरकार, एम. ए., पी-एच. डी.

सुपरिन्टेन्डेन्ट फार एफिग्राफी, गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया, ऊटकमंड; इसके पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के व्याख्याता

क. मध्यवर्ती दक्षिणापथ

I. वाकाटक ... २०३
　१. वाकाटक परिवार की मुख्य शाखा ... २०४
　२. वत्सगुल्म के वाकाटक ... २११
II. नल ... २१५

ख. पश्चिमी दक्षिणापथ

I. भोज ... २१८
II. त्रैकूटक ... २१६
III. कलचुरि ... २२१
  १. कृष्णराज और शंकर गण ... २२२
  २. बुद्धराज ... २२४
  ३. नन्न और तरलस्वामिन् ... २२५
IV. प्रारम्भिक राष्ट्रकूट ... २२६
  १. उत्पत्ति ... २२६
  २. मानपुर के राष्ट्रकूट ... २२७
  ३. बरार के राष्ट्रकूट ... २३०

ग. पूर्वी दक्षिणापथ

I. आन्ध्र ... २३१
  १. आनन्द ... २३१
  २. शालंकायन ... २३३
  ३. विष्णुकुंडी ... २३५
II. कलिंग ... २४०
  १. पितृभक्त ... २४१
  २. माठर ... २४२
  ३. वसिष्ठ ... २४३
  ४. नयी शक्तियों का उदय ... २४४
  ५. पूर्वी गंग ... २४४
III. दक्षिण कौशल और मेकल ... २४७
  १. शरभपुरीय ... २४९
  २. दक्षिण कोशल के पाण्डुवंशी ... २५०
  ३. मेकल के पाण्डुवंशी ... २५२

परिशिष्ट

विष्णुकुंडियों की वंशावली और तिथिक्रम ... २५३

लेखक के. ए. नीलकंठ शास्त्री, एम. ए.
मैसूर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर ऑफ इंडोलोजी,
इसके पहले मद्रास विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर

परिच्छेद : १२

चालुक्य

डी. सी. सरकार

I. बादामि के चालुक्य ... २५८
  १. उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास ... २५८
  २. पुलकेशिन् प्रथम और कीर्तिवर्मन् प्रथम ... २६२
  ३. मंगलेश ... २६४
  ४. पुलकेशिन् द्वितीय ... २६६
  ५. विक्रमादित्य प्रथम ... २७२
  ६. विनयादित्य और विजयादित्य ... २७७
  ७. विक्रमादित्य द्वितीय और कीर्तिवर्मन् द्वितीय ... २७९
  ८. बादामि के चालुक्य राज्य का अन्त ... २८१
II. पूर्वी चालुक्य ... २८२

परिच्छेद : १३

दक्षिण भारत के राजवंश

आर. साथियानाथय्यर, एम. ए.

प्रोफ़ेसर, इतिहास और राजनीतिविभाग, अन्नामलाइ विश्वविद्यालय

I. पल्लव ... २८९
  १. उत्पत्ति ... २८९
  २. प्रारम्भिक इतिहास ... २९१
  ३. सिंहविष्णु और महेन्द्रवर्मन्-प्रथम ... २९३
  ४. नरसिंहवर्मन्-प्रथम और परमेश्वरवर्मन्-प्रथम ... २९५
  ५. नरसिंहवर्मन्-द्वितीय और परमेश्वरवर्मन्-द्वितीय ... २९७
  ६. नन्दिवर्मन्-द्वितीय पल्लवमल्ल ... २९७
II. उड्यूर और रेनाण्डु के चोल ... २९८
III. कलभ्र ... ३००
IV. पांड्य ... ३०२
V. पश्चिमी गंग ... ३०३
VI. कदम्ब ... ३०६
VII. बाण ... ३०९
VIII. आलुप ... ३१०
IX. कोंग देश और केरल ... ३१०

परिशिष्ट

पल्लवों की वंशावली और तिथिक्रम

डी. सी. सरकार

१. पल्लवों का उदय ... ३११
२. प्राकृत अभिलेखों के पल्लव ... ३१२
३. संस्कृत सनदों से ज्ञात काँची के पल्लव ... ३१३
४. पल्लवों की सगोत्री शाखा ... ३१५
५. महेन्द्रवर्मन् और उसके उत्तराधिकारी ... ३१६
६. नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल ... ३१८

परिच्छेद : १४

श्रीलंका

डी. सी. सरकार ... ३२२

परिच्छेद : १५

साहित्य

I. संस्कृत ३३०

ले. जी. वी. देवस्थली, एम. ए., बी. टी., पी.-एच. डी.
संस्कृत के प्रोफेसर, एच. पी. टी. कालेज, नासिक

१. पुराण—ले. एम. ए. महेन्डले, अन्तिम तीन पैराग्राफों के लेखक आर. सी. मजुमदार ... ३३१
२. धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ... ३३८
३. दर्शन ... ३३९
४. कालिदास (प्रथम पैराग्राफ और अन्तिम चार पैराग्राफ आर. सी. मजुमदार द्वारा लिखित) ... ३४२
५. नाटक ... ३४८
    (i) भवभूति ... ३४८
    (ii) श्रीहर्ष ... ३४९
    (iii) भट्ट नारायण और अन्य ... ३५१
६. काव्य ... ३५२
७. नीति कथाएँ और प्रेमाख्यान (प्रथम दो पैराग्राफ आर. सी. मजुमदार द्वारा लिखित) ... ३५५
८. काव्यशास्त्र और छन्दशास्त्र (अन्तिम दो पैराग्राफ प्रो. एच. डी. वेलंकर द्वारा लिखित) ... ३५९

९. कोश-कला ... ३६०

१०. व्याकरण ... ३६१

११. चिकित्साशास्त्र (अन्तिम पैराग्राफ आर. सी. मजुमदार द्वारा लिखित) ... ३६२

१२. खगोलशास्त्र (आर. सी. मजुमदार) ... ३६३

१३. विविध (आर. सी. मजुमदार) ... ३६६

१४. उपसंहार ... ३६७

II. प्राकृत ३६७

एच. डी. वेलंकर, एम. ए.

सहनिदेशक, भारतीय विद्या भवन, इसके पहले विल्सन कालेज, बम्बई में संस्कृत के प्रोफेसर
(प्रथम और अन्तिम दो पैराग्राफ आर. सी. मजुमदार द्वारा लिखित)

III. तमिल ... ३६९

के. आर. श्रीनिवास आयंगार, एम. ए., डी. लिट्.,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, अँगरेजी विभाग, आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर

१. नायन्मार और आलवार ... ३७०

२. शैव सन्त ... ३७१

  (i) अप्पर या तिरुनावुक्करशु नायनार ... ३७२

  (ii) सम्बन्दर ... ३७३

  (iii) माणिक्कवाचकर ... ३७४

  (iv) सुन्दरर ... ३७५

  (v) अन्य शैव सन्त ... ३७५

३. आलवार ... ३७६

  (i) प्रथम चार आलवार ... ३७७

  (ii) नम्मालवार ... ३७८

  (iii) पेरियालवार और आण्डाल ... ३८१

  (iv) कुलशेखर ... ३८२

  (v) तिरुप्पान, तोण्डरडिप्पोडि और तिरुमंगई ... ३८३

  (vi) इडैयनार तथा अन्य ... ३८४

परिच्छेद : १६

राजनीतिक सिद्धान्त और प्रशासनिक संगठन

यू. एन. घोषाल, एम. ए., पी-एच. डी.,
पहले प्रेसिडेन्सी कालेज, कलकत्ता में इतिहास के प्रोफेसर

I. राजनीतिक सिद्धान्त ... ३८६
(क) सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का उद्गम ... ३८६
(ख) सामाजिक व्यवस्था का कानून और राज्य का कानून ... ३८८
(ग) लौकिक शासक का अपनी प्रजा से सम्बन्ध ... ३९०
(च) राजनीति और आचारशास्त्र का सम्बन्ध ३९४
II. प्रशासनिक संगठन—उत्तरी भारत ... ३९४
१. गुप्त सम्राट्, उनके समकालीन और परवर्ती ... ३९४
२. हर्ष, उसके समकालीन और उत्तराधिकारी ... ४०१
III. प्रशासनिक संगठन—दक्षिणी भारत ... ४०५
१. दक्षिणापथ के राजवंश ... ४०५
२. तेलुगु, तमिल और कन्नड़ क्षेत्रों के राजवंश ... ४०७

परिच्छेद : १७

विधि तथा विधि-संस्थाएँ

यू. एन. घोषाल

१. न्यायालय ... ४०९
२. न्याय-प्रणाली ... ४११
३. दीवानी और फौजदारी कानून ... ४१३

परिच्छेद : १८

धर्म और दर्शन

क. सामान्य समीक्षा—आर. सी. मजुमदार ... ४१८
ख. बौद्ध धर्म—नलिनाक्ष दत्त, एम. ए., बी. एल., पी. आर. एस., पी.-एच. डी., डी. लिट्. (लन्दन) कलकत्ता युनिवर्सिटी में पालि के प्रोफेसर ... ४२२
I. हीनयान ... ४२२
II. महायान ... ४२२
१. महायान का आचारशास्त्र ... ४२३
२. विहार का जीवन ... ४२४
३. महायान सिद्धान्त ... ४२५

४. बुद्ध की अवधारणा ... ४२७

५. बोधिसत्त्व की अवधारणा ... ४२७

III. उपासना के रूप ... ४२९

IV. हीनयान और महायान का भौगोलिक विभाजन ... ४३०

V. चार दार्शनिक सम्प्रदाय ... ४३१

१. वैभाषिक ... ४३१

२. सौत्रान्तिक ... ४३३

३. माध्यमिक ... ४३४

४. योगाचार ... ४३७

VI. ऐतिहासिक सर्वेक्षण ... ४४२

(अन्तिम दो पैराग्राफ के लेखक यू. एन. घोषाल)

VII. प्रतिमा-निर्माण कला— जे. एन. बनर्जी, एम. ए., पी-एच. डी., कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के कारमाइकेल प्रोफेसर ... ४४६

VIII. धर्मेतर पालि साहित्य—ए. डी. पुसलकर, एम. ए., एल. एल. बी., पी-एच. डी. ... ४४८

१. निदान कथा ... ४४८

२. टीकाएँ ... ४४९

(i) बुद्धघोष ... ४४९

(ii) बुद्धदत्त ... ४५३

(iii) आनन्द ... ४५४

(iv) धम्मपाल ... ४५४

(v) उपसेन ... ४५५

(vi) कस्सप ... ४५५

(vii) धम्मसिरि और महासामि ... ४५६

३. पालि वृत्त ... ४५६

(i) दीपवंश ... ४५६

(ii) महावंश ... ४५७

४. व्याकरण ... ४५८

५. सामान्य पुनरीक्षण ... ४५८

ग. जैन धर्म

ए. एम. घटागे, एम. ए. पी-एच. डी, प्रोफेसर
ऑफ अर्धमागधी, कर्नाटक कालेज, धारवाड़

I. जैन धर्म का प्रसार ... ४५९

१. उत्तर भारत ... ४५६
२. दक्षिणापथ ... ४६१
३. दक्षिण भारत ... ४६३
II जैन आगम ... ४६५
III. मूर्ति-निर्माण कला, ले. जे. एन. बनर्जी ... ४६६

घ. वैष्णव सम्प्रदाय

डी. सी. सरकार

१. विष्णु के अवतार ... ४७०
२. श्री या लक्ष्मी, विष्णु की पत्नी ... ४७५
३. पुरालेखीय अभिलेखों में विष्णु-सम्बन्धी पुराणकथाएँ ... ४७६
४. वैष्णव धर्म तथा अन्य मत ... ४७७
५. सुदूर दक्षिण में विष्णु-पूजा ... ४७८
६. मूर्ति-निर्माण कला—ले. जे. एन. बनर्जी ... ४७९

ङ. शैव मत

टी. एम. पी. महादेवन, एम. ए., पी-एच. डी.,
अध्यक्ष, दर्शन विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

१. उत्तर भारत और दक्षिणापथ ... ४८२
२. दक्षिण भारत ... ४८३
३. मूर्ति-निर्माण कला—जे. एन. बनर्जी ... ४८६
च. गौण धार्मिक सम्प्रदाय ... ४९२

एच. डी. भट्टाचार्य, एम. ए.
पूर्वतः अध्यक्ष, दर्शन विभाग, ढाका विश्वविद्यालय
तथा आनरेरी युनिवर्सिटी प्रोफेसर, भारतीय दर्शन
और धर्म, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
(प्रतिमा-निर्माण कला विषयक अंशों के लेखक
डॉ. जे. एन. बनर्जी)

१. ब्रह्मा ... ४९२
२. सूर्य ... ४९३
३. शक्ति ... ४९५
४. वैष्णव देवता ... ५०३
५. इतर देवी-देवता ... ५०५

छ. पश्चिमी देशों से आये नये धार्मिक सम्प्रदाय ... ५०७
आर. सी. मजुमदार
१. मुसलमान ... ५०७
२. ईसाई बस्तियाँ ... ५१५
ज. दर्शन-शास्त्र का सामान्य विकास ५१८
यू. सी. भट्टाचार्य, एम. ए.
पूर्वतः दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर, प्रेसिडेन्सी कालेज, कलकत्ता
I-II. न्याय-वैशेषिक ... ५१९
III-IV. सांख्य-योग ... ५२०
V-VI मीमांसाद्वय ... ५२२

परिच्छेद : १९

कला

एस. के. सरस्वती, एम. ए.
ग्रन्थालयी, एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता; इसके
पहले इतिहास के व्याख्याता, कलकत्ता विश्वविद्यालय

क. वास्तुकला

I. गुफा वास्तुशिल्प ... ५२६
१. चैत्य हाल ... ५२६
२. संघाराम ... ५२९
३. ब्राह्मणधर्मी गुफाएँ ... ५४४
४. जैन गुफाएँ ... ५५४
II. इमारती भवन ... ५५६
१. मन्दिर ... ५५६
(i) पहली श्रेणी के मन्दिर ... ५५९
(ii) दूसरी श्रेणी के मन्दिर ... ५६२
(iii) तीसरी श्रेणी के मन्दिर ... ५६८
(iv) नागर और द्रविड़ शैलियाँ ... ५७५
२. मठ और स्तूप ... ५७६

ख. मूर्तिकला

नीहाररंजन राय, एम. ए., डी. लिट्. और
फिल. (लीडेन)
भारतीय कला और संस्कृति के वागीश्वरी प्रोफेसर,
कलकत्ता विश्वविद्यालय
I. मूलभूत विशेषताएँ ... ५७८
II. गुप्तकालीन मूर्तिकला का विकास—मथुरा और सारनाथ ५८०

III. मूर्तिकला के प्रारम्भिक निकाय (चौथी से सातवीं शताब्दी) ... ५८२
  १. उत्तर भारत ... ५८२
  २. पूर्वी भारत ... ५८५
  ३. दक्षिणापथ ... ५८६
IV. मूर्तिकला के परवर्ती निकाय (सातवीं शताब्दी) ... ५८९
  १. मध्य और पूर्व भारत ... ५८९
  २. मालवा और राजपूताना ... ५९१
  ३. दक्षिणापथ ... ५९१
  ४. दक्षिण : मामल्लपुरम् और कांचीपुरम् ... ५९५
V. वानस्पतिक और ज्यामितीय सजावटी नक्काशी ... ५७९
VI. सामान्य समीक्षा ... ५९९

ग. चित्रकला तथा अन्य कलाएँ

नीहाररंजन राय

I. चित्रकला ... ६०१
  १. क्षेत्र और स्वरूप ... ६०१
  २. वर्त्तमान अवशेष ... ६०४
  ३. तकनीक ... ६०५
  ४. अजन्ता : गुफा सं० १६, १७ और १९; गुफा सं० १ और २ ... ६०५
  ५. बाघ : गुफा सं० ४ और ३ ... ६०९
  ६. बादामि : गुफाएँ ३ और २ ... ६१०
  ७. शिट्टण्णवाशल : काँचीपुरम् : तिरुमलयपुरम् ... ६११
II. मृण्मूर्त्तियाँ ... ६१३
III. मिट्टी के बरतन ... ६१६
IV. सिक्के और मुहरें आदि ... ६१८
V. अन्य कलाएँ ... ६१९

परिच्छेद : २०

सामाजिक स्थिति

यू. एन. घोषाल

I. भूमिका ... ६२०
II. सामाजिक विभाजन ... ६२०
  १. चतुर्वर्ण ... ६२०
  २. निम्न जातियाँ ... ६२२

३. आदिवासी जनजातियाँ ... ६२३
४. दास ... ६२४
III. विवाह ... ६२४
IV. स्त्रियों की स्थिति ... ६२८
१. स्त्रीशिक्षा ... ६२८
२. आदर्श पत्नी ... ६२९
३. कुलटा पत्नी ... ६३२
४. विधवा ... ६३३
५. वेश्या (गणिका) ... ६३५
६. स्त्रियों की सामान्य स्थिति ... ६३५
V. जन-जीवन ... ६३६
१. सामान्य स्वरूप ... ६३६
२. जीवन स्तर ... ६३७
३. प्रसाधन और व्यक्तिगत स्वास्थ्य ... ६४०
४. खान-पान ... ६४१
५. प्रचलित अन्धविश्वास ... ६४२
६. नगर जीवन ६४२

परिच्छेद : २१

शिक्षा

यू. एन. घोषाल

१. सामान्य पर्यवेक्षण ... ६४७
२. गुरु और शिष्य ... ६४७
३. उच्च शिक्षा केन्द्र ... ६४९
४. पाठ्यक्रम ... ६५०

परिच्छेद : २२

आर्थिक परिस्थितियाँ

यू. एन. घोषाल

१. कृषि ... ६५४
२. उद्योग ... ६५७
३. अन्तर्देशीय व्यापार ... ६६१
४. विदेशी व्यापार ... ६६३
५. व्यापार की वस्तुएँ ... ६६४
६. पूँजी और श्रम ... ६६६

(i) मजदूरी सम्बन्धी कानून ... ६६६
(ii) श्रम और पूँजी के पारस्परिक सम्बन्धों का कानून ६६७
७. जमानत और बिना जमानत के कर्ज ... ६६७
(i) कर्ज की किस्में ... ६६७
(ii) ब्याजसम्बन्धी कानून ... ६६८
(iii) ऋणदाता और ऋणी के सम्बन्ध ... ६६९
८. शिल्पीसंघ और साझेदारी ... ६६९
(i) शिल्पीसंघों का संगठन-विधान ... ६७०
(ii) शिल्पी-संघों की रूढ़ियाँ या संविदाएँ ... ६७०
(iii) शिल्पी-संघ के सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य ... ६७१
९. लोगों की सामान्य आर्थिक अवस्था .. ६७२

परिच्छेद : २३

बाहरी दुनिया से सम्पर्क

आर. सी. मजुमदार

१. चीन—तांग काल तक ... ६७४
२. चीन—तांग काल ... ६८४
३. मध्य एशिया ... ६९४
४. अफगानिस्तान ... ६९८
५. तिब्बत ... ७००
६. सुदूर पूर्व के अन्य देश ... ७०२
७. पाश्चात्य देश ... ७०४
(i) व्यापारिक और राजनीतिक सम्पर्क ... ७०४
(ii) पश्चिम पर भारत का प्रभाव ... ७०७

परिच्छेद : २४

दक्षिण-पूर्व एशिया में सांस्कृतिक और औपनिवेशिक विस्तार

ले. आर. सी. मजुमदार

I. दक्षिण-पूर्व की समुद्र-यात्रा ... ७१०
II. हिन्द-चीन ... ७११
१. कम्बोदिया ... ७११
२. चम्पा ... ७१३
३. बर्मा और स्याम ... ७१५
४. मलय प्रायद्वीप ... ७१७

III. ईस्ट इंडीज ... ७१९
- १. सुमात्रा ... ८१९
- २. जावा ... ७२०
- ३. बोर्नियो ... ७२१
- ४. बाली ... ७२२

IV. दक्षिण-पूर्वी एशिया में हिन्दू सभ्यता ... ७२२

ग्रन्थ-सूचियों की तालिका ... ७२५

सामान्य ग्रन्थ सूची ... ८०७

तिथिक्रम ... ७६१

वंशावली ... ७६८

अनुक्रमणिका ... ८२३

प्लेट ... १–४३

नक्शे ... १–४

आभार

हम निम्नलिखित संस्थाओं और व्यक्तियों के, उनके नामों के सामने अंकित चित्रों को प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करने के लिए, ऋणी हैं। इस सौजन्य के लिए अपना हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करने के साथ ही हम यह भी जोड़ना चाहते हैं कि चूंकि इन चित्रों का कापीराइट सुरक्षित है, अतः बिना सम्बद्ध प्राधिकारी से अनुमति लिये इनका पुनः प्रस्तुतीकरण वर्जित है।

(१) आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली: सं० १-३४, ४३, ४७, ४८, ५०, ५२, ५५-५६, ५९-६०, ६२-६४, ६६, ६८-७४, ७६-८५, ८७, ८९-९८, १०३-१०५
(२) इंडियन म्युजियम, कलकत्ता : सं० ३५, ५३, ८६
(३) मथुरा म्युजियम, मथुरा : सं० ३६
(४) सारनाथ म्युजियम, सारनाथ : सं० ३७, ४६, ६७
(५) कॉलमन गैलरीज, लन्दन : सं० ३८-३९
(६) प्रोविन्सियल म्युजियम, लखनऊ : सं० ४०-४२
(७) हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी : सं० ४४
(८) ग्वालियर म्युजियम, ग्वालियर : सं० ४५, ५१, ७५
(९) म्युजियम ऑफ फाइन आर्ट्स, बोस्टन : सं० ४९
(१०) कराची म्युजियम, कराची : सं० ५४
(११) प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, बम्बई : सं० ६५, ८८
(१२) वरेन्द्र रिसर्च म्युजियम, राजशाही (बंगला देश) : सं० ५७, ६१
(१३) बर्मिघम म्युजियम ऐन्ड आर्ट गैलरी, बर्मिघम : सं० ५८
(१४) प्रो० एस० के० सरस्वती, कलकत्ता : सं० ९९-१०२

रंगीन चित्र, सं० ९१ और ९२ यज्दानी के **अजन्ता,** खंड १, प्ले. XXV, और खंड III, प्ले. LXVIII से, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद की अनुमति से, पुनर्मुद्रित किये गये हैं।

हम प्रो० एस० के० सरस्वती, कलकत्ता के भी आभारी हैं जिन्होंने चित्र सं० ९१ और ९२ को छोड़कर शेष सभी चित्रों के लिए फोटोग्राफ (जिनमें पाठ रेखाचित्र भी शामिल हैं) प्रदान कर प्रकाशन में सहायता दी है।

परिच्छेद १९ के पाठ रेखाचित्र (text figures) निम्नलिखित प्रकाशनों से, उनकी कृपापूर्ण अनुमति से, पुनर्मुद्रित किये गये हैं। इनका भी कापी राइट इनके प्रकाशकों के पास सुरक्षित है।

(१) बर्गेस, जे०, रिपोर्ट आन दि बुद्धिस्ट केव टेम्पुल्स ऐन्ड देयर इंस्क्रिप्शन्स (आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया, जिल्द IV) लन्दन, १८८३ : सं० १ और ४

(२) बर्गेस, जे०, रिपोर्ट आन दि एलोरा केव टेम्पुल्स ऐन्ड दि ब्राह्मनिकल ऐन्ड जैन केव्स ऑफ वेस्टर्न इंडिया (आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया, जिल्द V) लन्दन, १८८३ : सं० ९-११

(३) फर्गुसन, जे०, तथा बर्गेस, जे०, केव टेम्पुल्स आफ इंडिया, लन्दन, १८८०, सं० १४-१५, १७-१८

(४) फर्गुसन, जे०, ए हिस्टरी आफ इंडियन ऐन्ड ईस्टर्न आर्चिटेक्चर (द्वितीय संस्करण) लन्दन, १९१०; जिल्द १ : सं ८ जिल्द II; सं० १३

(५) पारमेन्टियर, एच०, L' Art Architectural Hindoue dans I' indeeten Extreme-Orient. पेरिस, १९४८; सं० २,६,२०

(६) मार्शल, एच. L' Architecture Comparee dans I' Inde et I' Extreme-Orient. पेरिस, १९४४; सं० ३

(७) इंडिया सोसाइटी, लन्दन : दि बाघ केव्स इन दि ग्वालियर स्टेट, लन्दन, १९२७ : सं० ५-७

(८) लौंगहर्स्ट, ए० एच०, पल्लव आर्चिटेक्चर : खंड II (मेम्वायर्स आफ दि आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, सं० ३३); सं० १२

(९) बनर्जी, आर० डी०, दि शिव टेम्पुल्स ऐट भूमरा (मेम्वायर्स आफ दि आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, सं० १६); सं० २३

(१०) डीज, ई०, डी कुन्स्ट इन्डीन्स पोट्सडाम, एन० डी० : सं० १९

(११) मार्शल, जे० तथा फाउचर ए०, दि मोनुमेन्ट्स आफ साँची, कलकत्ता, १९३९ : सं० २१

(१२) कन्निघम, ए०, आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, जिल्द X : सं० २५; जिल्द XXI : सं० २२

(१३) आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, एनुअल रिपोर्ट्स १९०७-०८ : सं० २४ १९०८-०९ : सं० २६; १९०९-१० : सं० २७

भूमिका

पिछली जिल्द में वर्णित इतिहास का काल-खंड घोर अव्यवस्था और उलझन के बीच समाप्त हुआ। मौर्यों का महान् साम्राज्य और तज्जन्य राजनीतिक एकता लुप्त हो गयी तथा विदेशी हमलावरों के झुंड, जिनका भारत के एक बड़े भूभाग पर आधिपत्य था, क्रमशः अपनी राजनीतिक शक्ति खो बैठे। इस राजनीतिक अस्त-व्यस्तता के बीच से कुछ नये लोग और राज्य प्रकट हुए। किन्तु व्यवस्थापन की जगह अव्यवस्था ही इस काल का सामान्य क्रम मालूम पड़ता है। मौर्यकाल में जहाँ प्रचुर मात्रा में अभिलेख उपलब्ध होते हैं वहाँ इस काल में बहुत कम ऐतिहासिक सामग्री मिलती है, इतनी कम कि तीसरी शताब्दी ई० को, जिसके साथ जिल्द दो समाप्त होती हैं, कुछ इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के समस्त परिसर में घोर अंधकार-पूर्ण काल बताया है।

प्रस्तुत जिल्द के साथ हम एक ऐसे काल में प्रवेश करते हैं, जो इसके ठीक पूर्ववर्ती काल से लगभग इन सभी बातों में आश्चर्यजनक वैपरीत्य प्रस्तुत करता है। इसके राजनीतिक इतिहास का मुख्य विषय गुप्त साम्राज्य की स्थापना है जो अपने पूर्ण उत्कर्ष में एक बार फिर लगभग समस्त उत्तर भारत में एकता, शान्ति और समृद्धि का वाहक बनता है। यह मौर्य साम्राज्य की तुलना में कम विस्तृत था। पर उसकी तुलना में ज्यादा टिकाऊ था, और हम इसके क्रमिक विकास का अधिक विस्तार में अध्ययन कर सकते हैं। इस काल में ऐतिहासिक अभिलेख संख्या में और गुणात्मक दृष्टि से अधिक वैविध्यपूर्ण हो जाते हैं। तृतीय शताब्दी का अन्धकार दूर हो जाता है और हम पूर्ण प्रकाश में पहुँच जाते हैं।

इससे भी महत्त्व की बात यह है कि हम प्रथम बार भारत के राजनीतिक इतिहास की, एक निश्चित तिथिक्रमीय पृष्ठभूमि में, स्पष्ट रूपरेखा प्राप्त करते हैं जो आजतक अखंडित बनी हुई है।

इस जिल्द का आरम्भ इस कहानी से होता है कि किस प्रकार गुप्तनाम के एक छोटे सरदार के उत्तराधिकारियों ने एक साम्राज्य की, जो पुराकालीन भारत से लेकर तबतक पुष्पित-पल्लवित किसी भी साम्राज्य से विशाल था, स्थापना की, उसे कायम रखा और अन्त में खो दिया। यह कहानी प्रथम छह अध्यायों में वर्णित है। अपने दो शताब्दी से अधिक के शासन काल के दौरान गुप्तों ने लगभग समूचे उत्तरी भारत पर अपनी हुकूमत कायम कर ली। बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक उनका

शाही फरमान माना जाता था। इस राजवंश ने अनेक सुयोग्य नरेश पैदा किये, जो समर्थ प्रशासक और सफल सेनापति दोनों ही थे। इनमें से एक, समुद्रगुप्त, ने दक्षिण में मद्रास तक (यदि और आगे तक नहीं) अपनी विजय-पताका फहरायी। उसे एक प्रसिद्ध यूरोपीय इतिहासकार द्वारा उचित ही "भारतीय नेपोलियन" कहा गया है। उसका बेटा, चन्द्रगुप्त, सम्भवतः सिन्धु नदी के पार, बल्ख तक पहुँच गया और शक-सरदारों को हरा कर, जो तीन सौ से अधिक वर्षों से गुजरात पर शासन कर रहे थे, भारत में विदेशी प्रभुत्व के अंतिम अवशेष को मिटा डाला। चन्द्रगुप्त के पोते स्कन्दगुप्त को हूण -आक्रमण की भयानक अग्नि-परीक्षा से गुजरना पड़ा। उस समय हूण, जो अपनी राक्षसी क्रूरता के लिए प्रसिद्ध थे, मानवता के अत्यन्त भयानक शत्रु थे। उन्होंने एशिया और यूरोप पर आग और तलवार की बौछार कर दी। उनका नेता अत्तिल "रावेना और कुस्तुन्तुनियाँ दोनों राजदरबारों को समान रूप से अवज्ञापूर्ण चुनौती भेजने में समर्थ" था। लगभग उसी समय, जबकि दोनों रोमन साम्राज्य उनके सामने दुबके हुए थे, हूण भारत की सीमा पर प्रकट हुए। किन्तु, गुप्त सम्राट् ने उन्हें ऐसी करारी शिकस्त दी कि लगभग आधी शताब्दी तक वे सिन्धु नदी को पार करने की हिम्मत नहीं कर सके। बाद में जब वे फिर प्रकट हुए, उस समय गुप्त साम्राज्य चरमरा रहा था; लेकिन पुराने दिनों की वीरतापूर्ण परम्परा अब भी भारतीयों को अनुप्राणित कर रही थी और कम से कम तीन समकालीन शासकों ने, जिनमें अन्तिम महान् गुप्त सम्राट भी था, हूणों को पराजित करने का दावा किया है। इन तीनों नायकों ने हूणों का सामना एक साथ मिलकर किया या अकेले यह हम नहीं जानते; पर यह निश्चित है कि छोटी-मोटी सफलताओं के बाद हूण भारत में कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति नहीं रह गये, भारत की सुरक्षा के लिए खतरे की बात तो दूर रही। तत्कालीन संसार के इतिहास के प्रसंग में विचार करने पर इन यायावर बर्बर जातियों पर निश्चित रोक का श्रेय गुप्त साम्राज्य को देना होगा।

गुप्त शासक युद्ध और शान्ति दोनों कलाओं में प्रवीण थे। उन्होंने प्रशासन की एक कार्यकुशल पद्धति कायम की जो परवर्ती युगों के लिए आदर्श बनी। उन्होंने जनता को शान्ति और समृद्धि प्रदान की जिसकी विदेशी यात्रियों तक ने भाव-विह्वल शब्दों में प्रशंसा की है। उनके शासन काल में भारत में बौद्धिक कार्यकलापों का आश्चर्यजनक प्रस्फुटन तथा संस्कृति का अद्वितीय विकास हुआ जिसका विस्तृत वर्णन बाद में किया जाएगा। यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि गुप्त शासकों द्वारा स्थापित राजनीतिक पद्धति और उनमें से कुछ का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण परिवर्तन के लिए उत्तरदायी था। गुप्त युग अधिकांशतः गुप्त साम्राज्य की उपज था। गुप्त-साम्राज्य अन्ततः नष्ट हो गया किन्तु उसकी महानता की स्मृति सदियों तक बनी रही। दूसरी प्रतिध्वनि प्रचलित लोक-गाथाओं में सुनाई पड़ती है जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध विक्रमादित्य की लोक कथा है। गुप्तों के पहले कोई विक्रमादित्य नाम का राजा था यह विवादास्पद है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं

कि इस लोक-कथा की सजीवता और प्रेरणा का आधार गुप्त राजाओं का चरित्र और उपलब्धियाँ हैं, जिनमें से कम से कम तीन ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। अपने महान् समकालीन शालिवाहन के समान लोककथा नायक विक्रमादित्य को एक व्यक्ति की अपेक्षा शासक-समूह का प्रतीक मानना चाहिए। विक्रमादित्य सम्बन्धी लोककथाओं के चक्र को, जो अनेक शताब्दियों तक भारतवर्ष की मनबसी परम्परा रही है, गुप्त युग के गौरव के प्रति, जिसकी यह देन था, एक उपयुक्त प्रशस्ति माना जा सकता है। शाही गुप्तों का इतिहास कतिपय समकालीन राजवंशों को, जिनका स्थानीय महत्त्व था, छाया में डाल देता है। इनका वर्णन दो स्वतन्त्र अध्यायों (८ और ९) में किया गया है। इनमें से एक, वाकाटकों, को स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल की काल्पनिक अटकलबाजी के कारण अनपेक्षित महत्त्व मिल गया। यहाँ तक कि बीस खंडों में नियोजित भारतवर्ष के विस्तृत इतिहास के हाल में प्रकाशित एक खंड में इस युग को 'वाकाटक गुप्त युग' कहा गया है। सच पूछें तो वाकाटकों का राजनीतिक प्रभाव मुश्किल से कभी भी दक्कन के पार फैल सका, और पर्याप्त समय तक उनका राज्य आदि गुप्त साम्राज्य की जागीर नहीं तो उपांग तो था ही। यही बात अधिकाँश अन्य राज्यों के बारे में भी कही जा सकती है जिन्हें नाममात्र की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इनमें से शायद ही किसी को गुप्तों के प्रभाव-क्षेत्र के बिल्कुल बाहर माना जा सकता है।

जिन राज्यों ने गुप्त साम्राज्य के समक्ष घुटने टेक दिये उनमें गणतन्त्रीय अथवा कुलतंत्रीय राजवंशों द्वारा प्रशासित राज्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। बुद्ध काल से ही, यदि और पहले से नहीं, ये गणतन्त्र भारतीय राजनीतिक प्रणाली के विशेष अंग थे। और उनमें से कुछ, जैसे लिच्छवी, शाक्य और मालव ने तो भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका पूरी की। स्वाधीनता की गणतन्त्रीय परम्परा से युक्त इन राज्यों का अस्तित्व साम्राज्यवाद की आँखों में खटकता रहता था। मौर्य साम्राज्य ने कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यवादी नीति के अनुसार उनका सफाया कर दिया था। पर ये राजकुल पुनः प्रकट हो गये और इस बात के संकेतों का अभाव नहीं है कि उनमें से अनेक ने विदेशी हमलावरों के खिलाफ, जिनका भारत में आधिपत्य स्थापित हो गया था, संघर्ष में पूर्ण हिस्सा लिया था। किन्तु गुप्त साम्राज्य ने उन सबका बिलकुल सफाया कर दिया। उनमें से कुछ ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली और कुछ दिनों तक मातहत राज्यों के रूप में बने रहे। किन्तु गुप्त साम्राज्य के विकास के साथ धीरे धीरे उनका अस्तित्व समाप्त हो गया, जो फिर लौटा नहीं। भारतीय राजनीति में एक हजार से अधिक वर्षों तक की सक्रियता के बाद इस गणतन्त्रीय प्रथा के विघटन के अन्तिम चरण का स्पष्ट रूप से पता लगाना सम्भव नहीं। लेकिन यह निश्चित है कि उनके अन्तिम रूप से उन्मूलन का प्रधान कारण गुप्त साम्राज्य था।

गुप्त साम्राज्य का इतिहास हमें छठी शताब्दी ई० तक ले आता है, जब भारत

एक बार फिर कई स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया। इसके बाद प्रतिभासम्पन्न सैनिक वीरों की एक लम्बी परम्परा सामने आती है जो गुप्तों की पकड़ से छूटे हुए साम्राज्य को पुनः स्थापित करने का विफल प्रयास करते हैं। सातवीं शताब्दी में यशोधर्मन्, शशांक और हर्षवर्धन ने तथा आठवीं शताब्दी में यशोवर्मन् और ललितादित्य—इन सब ने इस दिशा में विशिष्ट सफलता प्राप्त की और एक विशाल क्षेत्र पर अपनी हुकूमत कायम की। किन्तु उनके साम्राज्य उनके साथ ही समाप्त हो गये। इस बीच राजनीतिक इतिहास की प्रमुख धारा दक्कन और दक्षिण भारत की ओर मुड़ती है जहाँ चालुक्य और पल्लवों ने सुदीर्घ शक्तिशाली साम्राज्य कायम किये। सातवीं शताब्दी ई० के दूसरे चरण में भारत के तीन प्राकृतिक विभाजन, अर्थात् उत्तर भारत, दक्कन और दक्षिण भारत, तीन सुनिर्धारित साम्राज्य क्षेत्र में विकसित हुए जो क्रमशः हर्षवर्धन, चालुक्य राजा पुलकेशिन् और पल्लव शासक महेन्द्र वर्मन्-प्रथम और नरसिंह वर्मन्-प्रथम के अधीन थे। इनमें से पहले और दूसरे तथा दूसरे और तीसरे के बीच प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष इस काल के इतिहास का मुख्य विषय है। पुलकेशिन् के तेजपूर्ण राजनीतिक और सैनिक जीवन ने अवश्य ही उसके दोनों पड़ोसियों की ईर्ष्या और प्रशंसा भाव दोनों को उद्दीप्त किया होगा। उसने हर्षवर्धन को एक करारी शिकस्त दी जिसमें उसे सदा के लिए विन्ध्य पर्वत के दक्षिण क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने की योजना से विरत करने के लिए बाध्य कर दिया। अपने पल्लव प्रतियोगी महेन्द्रवर्मन् I के खिलाफ चालुक्य राजा की सफलता और भी सम्पूर्ण थी। कुछ समय के लिए पल्लव राज्य इसकी विशाल शक्तिशाली सेना के समक्ष धराशायी हो गया किन्तु चालुक्य सम्राट् को चौंधिया देने वाली प्रगति नरसिंह वर्मन् I के द्वारा बीच में ही अवरुद्ध कर दी गयी जिसने अपने पिता की हार और अपमान का पूरा बदला ले लिया। पासा पूर्णतः पलट गया। पल्लव शासक ने दक्कन को रौंद डाला। महान् नरेश पुलकेशिन् हार गया और मारा गया और तेरह वर्षों तक उसका राज्य उस अवांछित शत्रु के समक्ष मुँह के बल पड़ा रहा। यह संघर्ष दूसरी शताब्दी तक चलता रहा जब तक कि दीर्घकालीन युद्ध के दबाव से थककर चालुक्य राजवंश का पराभव नहीं हो गया। लगभग इसी समय के साथ प्रस्तुत खंड समाप्त हो जाता है। किन्तु इस राजवंश ने कृष्णा और गोदावरी के मुहानों के बीच पूर्वी समुद्रतट पर एक प्रशाखा कायम कर ली थी जिसने पूर्वी चालुक्यों के नाम से इस राजवंश के नाम और यश को तबतक जीवित रखा जबतक कि दो शताब्दी बाद मुख्य धारा अथवा एक सगोत्री शाखा द्वारा चालुक्य शक्ति पुनः स्थापित नहीं हो गयी। पल्लवों का दक्षिण भारत पर अधिकार उस समय तक बना रहा, जिसका वर्णन इस खंड में नहीं है और वे तब तक अन्तिम रूप से नहीं उखड़े जब तक कि विस्मृति के गर्त से चोल नहीं प्रकट हुए और दसवीं शताब्दी में एक बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गये।

आधुनिक छात्र को भारतीय इतिहास के उत्तर गुप्तकाल में हर्षवर्धन पूर्ण रूप से छाया हुआ मालूम पड़ता है। प्रारम्भिक यूरोपीय लेखकों ने अज्ञानवश उसे अन्तिम

साम्राज्य-निर्माता के रूप में प्रस्तुत करने का फैशन जारी किया। और उनके आधुनिक लेखकों ने इसका अन्ध भाव से अनुगमन किया है, जिनके पास इस भद्दी ऐतिहासिक भूल के लिए कोई जबाब नहीं है। किन्तु भारत के आई० सी० एस० इतिहासकार वी० ए० स्मिथ ने तो हद ही कर दी है। उनके मत से हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत का इतिहास "छोटे मोटे राज्यों का अव्यवस्थित आख्यान मात्र" है और इसका एकमात्र महत्त्व इससे प्राप्त होने वाले इस निष्कर्ष से है कि "जब भी भारत किसी सर्वोच्च सत्ता के नियन्त्रण से मुक्त होता है, उसकी यही दशा होती है और उसकी यही दशा होगी यदि वह अपने उपकारी तानाशाही के हाथ से, जिसके लौह-पंजों में वह जकड़ा हुआ है, मुक्त कर दिया जाए"। वी० ए० स्मिथ ने जो नसीहत पेश करने की कोशिश की है, उसपर अब गम्भीरता पूर्वक विचार करने की जरूरत नहीं रह गयी है, क्योंकि उनका मत अब वास्तविक घटनाक्रम की कठोर कसौटी पर कसा जा चुका है। हमारा अधिक सम्बन्ध इस ऐतिहासिक टिप्पणी के औचित्य पर विचार करना है कि हर्षवर्धन का साम्राज्य हिन्दू भारत में अन्तिम था जिसके बाद यहाँ का सुसंगठित राजनीतिक जीवन पूर्णतः समाप्त हो गया। सर्वप्रथम तो ललितादित्य और सम्भवतः यशोवर्मन् ने भी एक ऐसे साम्राज्य पर शासन किया जो हर्षवर्धन के साम्राज्य से किसी भी रूप में हीन था, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। तत्पश्चात् पालों और प्रतिहारों के साम्राज्य भी, जिसका दूसरी जिल्द में वर्णन किया जायगा, असन्दिग्ध रूप से विस्तार में ज्यादा बड़े और अधिक दीर्घजीवी थे और उनमें से दूसरा तो कहीं ज्यादा सुसंगठित भी था। और भी बाद में चन्देल यशोवर्मन् तथा कल्चुरी गंग और कर्ण जैसे वीर जन्मे, जिनके साम्राज्य यद्यपि हर्षवर्धन के साम्राज्य की तरह स्वल्पायु थे, पर सम्भवतः उससे कम विस्तृत नहीं थे। चूँकि के० स्मिथ अपने मन्तव्य के दायरे में दक्कन और दक्षिण भारत को भी समेटते हैं अतः हम ध्रुव और गोविन्द III के शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्य का, विक्रमादित्य VI के परवर्ती चालुक्य साम्राज्य का और राजेन्द्र चोल के महान् चोल साम्राज्य का भी नाम ले सकते हैं जो गंगा के मुहाने से लेकर कुमारी अन्तरीप तक और बंगाल की खाड़ी से पार के क्षेत्रों तक फैला हुआ था। इस प्रकार के उदाहरणों के रहते हुए हर्षवर्धन को भारत का—यहाँ तक कि उत्तर भारत का भी—अन्तिम साम्राज्य-निर्माता कहना और उसे ऐसे कार्य-निष्पादन का श्रेय देना जो उसके परवर्ती शासकों की शक्ति से बाहर था, इतिहास की विडम्बना है।

तथ्य यह है कि हर्षवर्धन की प्रसिद्धि का प्रधान कारण उसकी अन्तर्भूत महानता उतनी नहीं है जितना हिउन-त्सांग और बाणभट्ट का साक्ष्य। इतिहासकारों को हर्षवर्धन के इन अत्युत्साही मित्रों द्वारा किया हुआ उसके चरित्र और उपलब्धियों का प्रशस्ति-वर्णन उपलब्ध था जबकि प्राचीन भारत के बारे में जानकारी बहुत कम थी। वे इतिहासकार नुक्ताचीनी करने की मनःस्थिति में नहीं थे और उन्होंने, इन लेखकों के द्वारा हर्षवर्धन के बारे में जो कुछ भी कहा गया था, उसे उसी रूप में स्वीकार कर

लिया जैसा वह ऊपर से दिखाई पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके जीवन और उपलब्धियों का बहुत ही अतिरंजित चित्र अबतक इतिहास के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। इस जिल्द के नवें परिच्छेद में सभी उपलब्ध प्रमाणों के आलोचनात्मक उपयोग द्वारा उसके सही इतिहास को पुनर्निर्मित करने की कोशिश की गयी है। हर्षवर्धन का उदाहरण हमें शिक्षा देता है कि जहाँ सामान्यतः नायक इतिहास का निर्माण करते हैं, कभी कभी इतिहास भी नायकों का निर्माण करता है।

आश्चर्यजनक रूप से, जबकि इतिहासकारों ने हर्षवर्धन के बारे में एक दरबारी कवि और मित्र आख्याता की कही हुई बातों को बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया है, वहाँ वे यशोवर्मन् के दरबारी कवि वाक्पति और कश्मीर के महान् इतिहासकार कल्हण द्वारा वर्णित क्रमशः यशोवर्मन् और ललितादित्य की विजयों के बारे में अनपेक्षित रूप से सन्देहशील रहे हैं। यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि इन दोनों के विवरण हर्ष सम्बन्धी विवरण से कम विश्वसनीय हैं, और कतिपय प्रख्यात इतिहासकारों द्वारा उनके साथ इस भेदभाव पूर्ण वर्ताव के औचित्य को साबित करना कठिन है। वी० ए० स्मिथ, जो हर्षवर्धन की विजय और साम्राज्य का ब्योरेवार तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करता है, जिसका औचित्य पूर्वग्रह युक्त स्रोतों से भी हमेशा सिद्ध नहीं होता, यशोवर्मन् की विजयों के बारे में एक शब्द नहीं कहता और ललितादित्य के सुदूर देशों में सैनिक अभियानों का, अस्पष्ट और सामान्य शब्दों में, अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख करता है। अतः यदि हमें उत्तर भारत के हिन्दू राज्य की अन्तिम अर्धसहस्राब्दी की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं को, उनके सही परिप्रेक्ष्य में, समझना है तो हमें वी० ए० स्मिथ और उसके अनुयायियों द्वारा प्रस्तुत हर्ष के परवर्ती काल के समूचे ऐतिहासिक दृष्टिकोण को पूर्णतः बदलना होगा।

जहाँ तक इस जिल्द का सम्बन्ध है, भारत के राजनीतिक इतिहास में मुख्य दिलचस्पी गुप्त साम्राज्य के विकास, ह्रास और पतन तथा परवर्ती कालीन इतिहास के पुनरुत्थान में केन्द्रित है। यद्यपि इसमें विन्ध्य प्रदेश के पार के भारत का इतिहास गौण रूप में आया है, किन्तु उसका अपना महत्त्व है जिसपर विशेष रूप से जोर देने की आवश्यकता है। चालुक्यों और पल्लवों ने गुप्तों के कार्य को योग्यतापूर्वक आगे बढ़ाया। उन्होंने दक्कन और दक्षिण भारत में वही राजनीतिक एकता कायम की, जो उत्तर भारत में गुप्तों की सर्वाधिक मूल्यवान देन थी। यहाँ से इन तीन क्षेत्रीय इकाइयों का संघ राजनीतिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाने लगा, जो परवर्ती युगों में भी पूर्णतः नजरों से ओझल नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त हम चालुक्यों और पल्लवों के अन्तर्गत उस महत्त्वपूर्ण पुनर्जागरण का और भी विकास देखते हैं जिसका प्रारम्भ गुप्तों ने किया था तथा जो उस समूचे युग का चरित्र है, जो बाद में गुप्तयुग के नाम से विख्यात हुआ।

गुप्तकाल, जो इस जिल्द का विषय है, लाक्षणिक शब्दों में भारतीय इतिहास का 'सुनहला युग', 'श्रेण्य काल' आदि कहा गया है और ये संज्ञाएँ पूर्णतः सार्थक हैं। इसी

काल में कला, विज्ञान और साहित्य के अधिकांश क्षेत्रों में भारतीय मनीषा अपने चरम बिन्दु पर पहुँची तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति विकास के ऐसे अद्वितीय स्तर पर आरूढ़ हुई, जिसने परवर्ती युगों पर अपनी गहरी छाप डाली। इस दावे के ब्योरेवार विवरण के लिए पाठक इस जिल्द को, विशेषकर परिच्छेद १५ एवं १६ को, पढ़ सकते हैं। यहाँ कुछ मोटे तथ्यों को ही प्रस्तुत कर देना पर्याप्त होगा। इस काल में संस्कृत साहित्य का—गद्य, कविता और नाटक तीनों क्षेत्रों में समान रूप से—उच्चतम विकास हुआ। यह कालिदास का युग था, जो आज भी कवि और नाटककार के रूप में न केवल अद्वितीय हैं बल्कि दूसरों की पहुँच के बाहर भी। यह दंडी, सुबन्धु और बाणभट्ट का भी काल था, जो संस्कृत गद्य के महानतम लेखक हैं। षड्दर्शन ने, जो कुछ विद्वानों के अनुसार मानवीय ज्ञान को भारत की महानतम बौद्धिक देन है, प्रायः इसी काल में अन्तिम रूप ग्रहण किया। इसी काल में वसुबन्धु जैसे बौद्ध दार्शनिक उत्पन्न हुए। संस्कृत के महान् कोशकार अमर भी इसी युग की देन हैं। विज्ञान के क्षेत्र में आर्यभट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त जैसे चमकते सितारे उत्पन्न हुए जिनकी गणित एवं खगोलशास्त्र विषयक कृतियाँ आज भी प्राचीन विश्व में विज्ञान को भारत की महानतम देन मानी जाती हैं। इस तथ्य को स्मरण रखना मात्र पर्याप्त होगा कि आर्यभट इस तथ्य का आविष्कार करने वाला पहला व्यक्ति था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है एवं सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। इस सिलसिले में अंकप्रक्रिया की दशमलव पद्धति के युगान्तरकारी आविष्कार का उल्लेख भी किया जाना चाहिए जिसने गणितीय गणनाओं की प्रक्रिया में क्रान्ति उत्पन्न कर दी और जो आज सारे संसार में प्रयुक्त होती है। जहाँ तक तकनीकी विज्ञान का सम्बन्ध है, दिल्ली के निकट मेहरौली का महान् लौह स्तम्भ धातु विज्ञान की विजय का प्रतीक है।

गुप्तकाल ने कला के क्षेत्रों में भी गौरवपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल कीं। सारनाथ की प्रस्तर पर अंकित आकृतियाँ और अजन्ता के रंगीन चित्र सारे संसार में उत्कृष्ट कला-कृतियाँ मानी जाती हैं। इस कला को उचित ही 'क्लासिकी' कहा गया है क्योंकि इस काल की प्रस्तर मूर्तियों और चित्रों ने वह प्रतिमान स्थापित किया जो परवर्ती युगों के लिए समान रूप से आदर्श और स्पर्धा की वस्तु रहा। वे आज भी भारतीय कला की सुन्दरतम देन के रूप में विद्यमान हैं, जिनकी आधुनिक संसार ने, उचित ही, प्रशंसा की है।

और अन्त में, यह वह युग था जो तीस करोड़ हिन्दुओं के लिए इस कारण स्मरणीय है कि इसी युग में उस ब्राह्मण धर्म का विकास हुआ जो आज भी माना जाता है। इसी काल में 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों महाकाव्यों का अन्तिम विकास पूरा हुआ। इसी काल में बौद्ध धर्म और जैन धर्म जैसे असनातनी धार्मिक सम्प्रदायों के मूल्य पर वैष्णव और शैव जैसे धार्मिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। विशाल पौराणिक साहित्य ने, जो इस काल में उदित हुआ या जिसने कम से कम निश्चित

आकार धारण किया, वैदिक युग को समाप्त कर दिया और जिसे आज हिन्दू धर्म कहा जाता है तथा जो एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन का चरमोत्कर्ष है जिसके पीछे भारतीय जनता की समृद्ध रिक्थ है, उसे ठोस भूमि पर खड़ा किया।

राजभाषा के रूप में प्राकृत के स्थान पर संस्कृत की प्रतिष्ठा और संस्कृत साहित्य की सभी शाखाओं के चरम विकास ने संस्कृत भाषा को प्रमुख स्थान दिया, जो शिक्षित भारतीयों की राष्ट्रभाषा बन गयी। इसने सांस्कृतिक एकता के माध्यम का काम किया जिसने जाति और भाषा के वैविध्य तथा परवर्ती काल में प्रान्तीय स्पर्धाओं एवं संघर्षों के बावजूद भारतीय जनता पर एक अमिट छाप छोड़ी है। यह सांस्कृतिक एकता अद्भुत राजनीतिक उतार चढ़ाव और विदेशी प्रभुत्व के बावजूद जीवित रही है और आज भारतीय गणराज्य में राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता का निश्चित आधार बनी हुई है।

गुप्तयुग में यह सांस्कृतिक एकता भारत की प्राकृतिक भौतिक सीमाओं के पार तक फैली थी और इसके घेरे में हिन्दुकुश और हिमालय के पार का विशाल क्षेत्र तथा बंगाल की खाड़ी और हिन्दमहासागर के पार का एक विशाल क्षेत्र था। पूर्ववर्ती जिल्द में बाहरी संसार से भारत के सम्बन्ध की शुरुआत का वर्णन किया जा चुका है। विवेच्यकाल में एशिया की मुख्य भूमि और ईस्टइंडीज के विभिन्न भागों में, जैसे बर्मा, स्याम, मलाया, प्रायद्वीप, अनाम, कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा, बाली और बोर्नियो में उन्नतिशील हिन्दू राज्य उदित हुए। उनके शासक अपने को भारतीय उपनिवेशवादियों के उत्तराधिकारी मानते थे और इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने इस क्षेत्र पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त की। यहाँ तक कि मध्य और पूर्वी एशिया में भी, जहाँ हमें भारतीय उपनिवेशवादियों के राजनीतिक प्रभुत्व का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, भारत का सांस्कृतिक प्रभाव बहुत ज्यादा था। गुप्तयुग में चीन में भारतीय धर्म-प्रचारकों का कार्यकलाप इन दोनों स्वतन्त्र देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों के इतिहास में प्रायः अद्वितीय माना जा सकता है। हमारे पास इस सांस्कृतिक प्रभाव के तिब्बत, कोरिया, जापान और यहाँ तक कि पूर्व में फिलीपीन द्वीपों तक और उत्तर में उस विशाल क्षेत्र तक, जो मध्य एशिया होते हुए चीन से भारत को आने वाले मार्ग की भूमि के साथ फैला हुआ है, प्रसार के स्पष्ट और ब्योरेवार प्रमाण हैं। इस प्रकार उस बृहत्तर भारत के अस्तित्व का सम्भव हुआ जो भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की गरिमा को द्योतित तो करता ही है, गुप्तयुग को भी दीप्ति प्रदान करता है।

बौद्धिक श्रेष्ठता, जो गुप्तयुग की विशेषता है, नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रतीकित है। इस महान् विद्याकेन्द्र का नाम और यश एशिया के सुदूरतम कोनों तक फैला हुआ था और इस विशाल महादेश के सभी भागों से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन के लिए आते थे। यह महान् अन्तरराष्ट्रीय संस्कृति का, जिसका भारत संसार-स्वीकृत केन्द्र था, प्रतीक था। यह संस्कृति, इस काल में, भारत और अन्य एशियायी देशों, विशेषकर चीन, के बीच निरन्तर बढ़ते हुए सम्बन्धों से विकसित हुई। इन देशों के साथ भारत

के मैत्रीकरण सम्बन्ध के जो ब्योरे उपलब्ध हैं, जिनका विस्तृत विवरण २३वें अध्याय में दिया गया है, वे एशियायी संसार के सांस्कृतिक अन्तरराष्ट्रीयतावाद का उद्घाटन करते हैं, जो अभूतपूर्व था।

ऊपर दिये गये तथ्य गुप्त काल के लिए अक्सर प्रयुक्त अभिधान भारत का पेरिक्लीय युग (Periclean Age of India) के औचित्य को प्रमाणित करते हैं। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में एथेन्स की सर्वतोमुखी महानता, जो प्रभाव की दृष्टि से न केवल स्वयं में, बल्कि सम्पूर्ण मानवता की प्रगति के सन्दर्भ में भी, महान थी, गुप्तकालीन भारत से, उचित ही, तुलनीय है। पेरिक्लीय एथेन्स की ही तरह गुप्तों के द्वारा उद्घाटित संस्कृति का नया युग उनकी राजनीतिक संस्कृति के समाप्त हो जाने पर भी दीर्घकाल तक जीवित रहा। गुप्त शासन छठी शताब्दी ईसवी के मध्य या उत्तरार्ध में समाप्त हो गया, पर गुप्त काल इसके बाद की दो शताब्दियों तक विद्यमान रहा, ऐसा माना जा सकता है। कालिदास की आत्मा और प्रतिभा कुछ दूर तक भवभूति और भारवि में जीवित रही, जबकि बाणभट्ट ने गद्यकाव्य के महान् लेखक के रूप में दंडी और सुबन्धु को पीछे छोड़ दिया। अलंकारवादी भामह तथा कुमारिल और प्रभाकर जैसे दार्शनिकों ने साहित्य की इन शाखाओं की उच्चतम परम्परा को कायम रखा। सारनाथ की मूर्तिकला और अजन्ता की चित्रकला के शिल्प और आदर्श ने कलाकारों को प्रेरणा दी और उन्होंने एक या दो शताब्दियों तक इस परम्परा को जीवित रखा। यहाँ तक कि गुप्तों की साम्राज्यिक परंपरा भी पूर्णतः आँख से ओझल नहीं हुई और साम्राज्यिक एकता को पुनर्जीवित करने के लिए बार-बार प्रयत्न हुए, यद्यपि जो सफलता मिली वह सदा ही अल्पकालीन रही। पुनश्च, जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, राजनीतिक एकता के विचारों का अधिक सफलतापूर्वक अनुगमन दक्कन और दक्षिण भारत में चालुक्यों और पल्लवों द्वारा हुआ। इतना ही नहीं, पौराणिक धर्म का विकास तथा बौद्ध और जैन धर्म पर इसकी विजय, साथ ही कला और साहित्य का अद्वितीय विकास समान रूप से गुप्त और चालुक्य पल्लव-काल की विशेषताएँ थीं।

इस प्रकार यद्यपि गुप्तों ने सम्पूर्ण भारत पर शासन नहीं किया, न ही इस जिल्द में वर्णित सम्पूर्ण काल तक उनका शासन रहा, फिर भी इस काल के लिए 'गुप्तयुग' का अभिधान बिल्कुल सटीक है, क्योंकि गुप्तशासकों के कार्यकलाप और तज्जन्य सांस्कृतिक पुनर्जागरण इस सम्पूर्ण काल के दौरान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात रही और आज भी अधिकतर भारतीयों के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।

पिछली जिल्दों में सम्पादक द्वारा अपनायी गयी नीतियों और सिद्धान्तों तथा उसके सामने उत्पन्न कठिनाइयों के बारे में जो कुछ कहा जा चुका है उसमें और कुछ जोड़ने की जरूरत नहीं है। केवल व्यक्तिवाचक नामों की वर्तनी में किये गये कुछ परिवर्तनों की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। चूँकि भारत स्वतन्त्र हो चुका है अतः कुछ भौगोलिक नामों की अँगरेजीनुमा वर्तनियाँ जैसे मथुरा के लिए

'Muttra' गंगा के लिए 'Ganges' यमुना के लिए 'Jumna' और सिन्धु के लिए 'Indus' त्याग दी गयी हैं। पर इस नयी वर्तनी पद्धति का पूरा उपयोग नहीं हो सका है, क्योंकि इसके प्रचलन के पूर्व ही लगभग सभी अध्याय लिखे जा चुके थे। पर कुछ माने में इस नयी वर्तनी-पद्धति के प्रयोग से एक शुरुआत की जा सकी है। यह अनिवार्य है कि कुछ समय तक पुरानी और नयी वर्तनियाँ साथ-साथ चलें और एकरूपता का अभाव हो, जैसा इस खंड में दिखाई पड़ेगा। इस छोटे से ब्यौरे के अतिरिक्त इस महान् राजनीतिक घटना ने इस जिल्द की तैयारी में कोई और प्रभाव नहीं डाला है। विशेष रूप से यह समझना होगा कि इस जिल्द में, साथ ही पूर्ववर्ती दो जिल्दों में भी, जो प्रकाशित हो चुकी हैं, भौगोलिक और राजनीतिक पारिभाषिक शब्द, विशेषकर राज्यों के सन्दर्भ में, ब्रिटिश भारत में प्रचलित अवस्थाओं पर लागू होते हैं।

परिच्छेद १६, १७ और २२ लेखक द्वारा संशोधित किये गये हैं तथा परिच्छेद ८ के खंड ७ और परिच्छेद १० के खंड ५ में नेपाल का विवरण नव अन्वेषित अभिलेखों के प्रकाश में सुधारे गये हैं। इन्हें छोड़कर, और जहाँ तहाँ हलके संशोधनों के अलावा, प्रस्तुत जिल्द १९५४ में प्रकाशितं जिल्द ३ का पुनर्मुद्रण है।

अन्त में इस अवसर पर डॉ० पुसलकर तथा इस जिल्द के अन्य लेखकों के प्रति अपनी गहरी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इसके साथ ही मैं भारतीय विद्या भवन की ओर से, तथा अपनी ओर से, पुरातत्त्व विभाग, भारत सरकार के महानिदेशक को चित्रों के लिए ब्लाक तथा फोटोग्राफ उपलब्ध कराने के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। इनका कापीराइट पुरातत्त्व विभाग को है और बिना उसकी अनुमति लिये किसी को भी किसी चित्र को पुनर्मुद्रित नहीं करना चाहिए।

नक्शों की सूची

१. भारत : गुप्त युग

२. हिउएन-त्सांग द्वारा वर्णित भारत

३. दक्षिण भारत (ई० सन् ३२०-१०००)

४. दक्षिण-पूर्व एशिया

प्लेट-सूची

प्लेट	चित्र	विवरण
I	१	अजन्ता, गुफा XIX : अग्रभाग
	२	अजन्ता, गुफा XXVI : भीतरी हिस्सा
II	३	एलोरा, विश्वकर्मा गुफा : अग्रभाग
	४	एलोरा, विश्वकर्मा गुफा : भीतरी हिस्सा
III	५	अजन्ता, गुफा XIX : भीतरी हिस्से का ब्योरा
	६	अजन्ता, गुफा I : भीतरी हिस्सा
IV	७	अजन्ता, गुफा I : अग्रभाग
	८	अजन्ता, गुफा XXIV : स्तम्भ
V	९	औरंगाबाद, गुफा I : भीतरी हिस्सा
	१०	बाघ, गुफा IV : भीतरी हिस्सा
VI	११	बाघ, गुफा V भीतरी हिस्सा
	१२	एलोरा, गुफा II : भीतरी हिस्सा
VII	१३	एलोरा, तीन थाल गुफा : अग्रभाग
	१४	एलोरा, इन्द्र सभा गुफा : अग्रभाग
VIII	१५	बादामि, गुफा III : बाराम्दा
	१६	एलोरा, रामेश्वर गुफा : बाराम्दा का स्तम्भ
IX	१७	एलोरा, धूमर लेणा गुफा : भीतरी हिस्सा
	१८	एलिफैन्टा, गुफा : भीतरी हिस्सा
X	१९	राजगीर, मनियार मठ : वृत्ताकार वेदी का एक हिस्सा
	२०	साँची, मन्दिर सं० XVII : निकट दृश्य
XI	२१	तिगावा, कंकाली देवी मन्दिर : सामने का दृश्य
	२२	नाचना कुठारा, पार्वती मन्दिर : सामने का दृश्य
XII	२३	नाचना कुठारा, पार्वती मन्दिर : द्वारपथ
	२४	एहोले, लाड खान मन्दिर : एक तरफ से देखने पर

XIII	२५	मामल्लपुरम्, शिला काट कर बनाये गये रथ
	२६	एहोले, मेगुति मन्दिर : सामान्य दृश्य एक कोने से देखने पर
XIV	२७	मामल्लपुरम्, धर्मराज रथ : निकट दृश्य
	२८	देवगढ़, दशावतार मन्दिर : सामने का दृश्य
XV	२९	मीरपुर खास : दक्षिण पश्चिम से देखने पर
	३०	भीतर गाँव, ईंट निर्मित मन्दिर : निकट दृश्य
XVI	३१	बोध-गया, महाबोधि मन्दिर : सामान्य दृश्य
	३२	सिरपुर, लक्ष्मण का ईंट निर्मित मन्दिर : निकट दृश्य
XVII	३३	सारनाथ, धामेख स्तूप : निकट दृश्य
	३४	सारनाथ, धामेख स्तूप : अलंकरण के ब्योरे
XVIII	३५	बोधगया, बोधिसत्त्व, निर्माण काल वर्ष ६४
	३६	मथुरा, बुद्ध
	३७	सारनाथ, धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध
XIX	३८	मथुरा, शिव का सिर
	३९	मथुरा, शिव का सिर
	४०	गढ़वा, स्तम्भ
	४१	गढ़वा, स्तम्भ
	४२	गढ़वा, स्तम्भ
XX	४३	मनकुवार: बुद्ध
	४४	वाराणसी, भारत कला भवन, कार्तिकेय
XXI	४५	ग्वालियर, अप्सरा
	४६	सारनाथ, शिव का सिर
	४७	मन्दोर, गोवर्धनधर कृष्ण
	४८	खोह, मुखलिंग
XXII	४९	बेसनगर, गंगा
	५०	देवगढ़ : अनन्तशायी विष्णु
	५१	पठारि, कृष्ण (?) का जन्म
XXIII	५२	देवगढ़, दशावतार मन्दिर : पीठिका पर निर्मित मूर्तियाँ
	५३	कोसाम : शिव पार्वती
	५४	मीरपुर खास : ब्रह्मा

XXIV	५५	उदयगिरि : वराह
	५६	चंडीमउ, 'किरातार्जुनीय' दृश्य मंडित स्तम्भ का अंश
XXV	५७	बिहारैल : बुद्ध
	५८	सुलतानगंज; बुद्ध
	५९	राजगीर, मणियार मठ : नागिनी
XXVI	६०	दह पर्वतिया; नदी देवी
	६१	महास्थान : मंजुश्री
	६२	दह पर्वतिया : नदी देवी
XXVII	६३	एहोले : अनन्त विष्णु उभार
	६४	कान्हेरी : अवलोकितेश्वर उभार
XXVIII	६५	परैल : शैव मूर्तिकला
	६६	अजन्ता : शिला काटकर निर्मित बुद्ध की आकृति
	६७	सारनाथ : प्रलम्बपाद की मुद्रा में बैठे बुद्ध
XXIX	६८	बादामि : मूर्तियों की वल्लरी
	६९	बादामि : मूर्तियों की वल्लरी
	७०	बादामि : नरसिंह
	७१	बादामि : महिषमर्दिनी
XXX	७२	पाहारपुर : राधाकृष्ण (?)
	७३	पाहारपुर : युद्धरत बन्दर और राक्षस
XXXI	७४	भागलपुर : पक्षी युक्त महिला
	७५	ग्वालियर : स्त्री की आवक्ष मूर्ति
	७६	मध्य भारत : एक स्त्री की आकृति का निचला हिस्सा
XXXII	७७	साँची : अवलोकितेश्वर
	७८	फाथपुर (कांगड़ा) : बुद्ध
	७९	एलोरा : कल्याण सुन्दर
XXXIII	८०	एलोरा : नरसिंह
	८१	औरंगाबाद, गुफा IX : नृत्य दृश्य
XXXIV	८२	एलोरा, रावणानुग्रह
	८३	मामल्लपुरम् : गंगावतरण
XXXV	८४	मामल्लपुरम् : महिषमर्दिनी

	८५	एलिफैन्टा : महेशमूर्ति
XXXVI	८६	भीतरगाँव : अनन्त पर विष्णु को प्रदर्शित करने वाली मृण्मूर्तियों का फलक
	८७	मामल्लपुरम् : रथ पर मूर्ति युक्त फलक
	८८	मीरपुर खास : पुरुष आकृति प्रदर्शित करने वाला मृण्मूर्ति फलक
XXXVII	८९	अजन्ता, गुफा XVI : मरणासन्न राजकुमारी
	९०	अजन्ता, गुफा II : राजमहल का दृश्य
XXXVIII	९१	अजन्ता, गुफा I : महान् बोधिसत्त्व
XXXIX	९२	अजन्ता, गुफा XVII : अप्सराएँ
XL	९३	बाघ : संगीतकारों का दल
	९४	बादामि, गुफा III : शिव और पार्वती
XLI	९५	अजन्ता, गुफा I : एक मार-कन्या
	९६	शित्तण्णवाशल : नृत्यरत अप्सरा
XLII	९७	महास्थान : प्रेमरत युग्म का प्रदर्शन करनेवाला मृण्मूर्ति गोलाकार फलक
	९८	अहिच्छत्र : पार्वती का सिर (मृण्मूर्ति)
XLIII	९९	राजघाट : साँढ़ की आकृति और अभिलेख युक्त ताम्र मुद्रा-साँचा
	१००	उपर्युक्त साँचे से निर्मित प्लास्टर ऑफ पेरिस
	१०१	राजघाट : सिंह की आकृति और अभिलेख युक्त ताम्र मुद्रा-साँचा
	१०२	उपर्युक्त साँचे से निर्मित प्लास्टर ऑफ पेरिस
	१०३	बसाढ़ : अभिलेखित मिट्टी का मुद्रांकन
	१०४	भीटा : अभिलेखित मिट्टी का मुद्रांकन
	१०५	बसाढ़ : अभिलेखित मिट्टी का मुद्रांकन

संकेत-चिह्न

अमर	अमरकोश.
अ० हि० इ०	अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, ले० वी० ए० स्मिथ, चौथा संस्करण, आक्सफोर्ड, १९२४.
अ० हि० वै० से०	अर्ली हिस्टरी ऑफ दि वैष्णव सेक्ट, ले० एच०सी० राय चौधरी, दूसरा संस्करण, कलकत्ता १९३६.
अ० इ० ओ० का०	ऑल इंडिया ओरिएंटल कॉन्फरेन्स.
आ० ओ०	आक्टा ओरिएंटालिया, लीडेन.
आ० गृ०	आश्वलायन गृह्यसूत्र.
आप०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र.
आ० मे० वा०	आशुतोष मेमोरियल वॉल्यूम.
आ० स० इ०	आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट्स.
आ० स० क०	आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, सर अलेक्जांडर कनिंघम की रिपोर्ट.
आ० स० वे० इ०	आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया.
आ० सं० सी०	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना.
आ० सू०	आचारांग सूत्र.
इ० आ० ले०	इंडियन आर्ट ऐंड लेटर्स, लन्दन.
इ० ऐं०	इंडियन ऐंटिक्वेरी.
इ० क०	इंडियन कल्चर, कलकत्ता.
इ० ड्रा०	दस इंडिशे ड्रामा, ले० स्टेन कोनोव, बर्लिन, १९२०.
इ० फि०	इंडियन फिलॉसाफी, ले० एस० राधाकृष्णन्.
इम्प० इंस० ब० स्टे०	इम्पार्टेन्ट इंस्क्रिप्शंस ऑफ दि बड़ौदा स्टेट, ले० ए० एस० गद्रे, बड़ौदा, १९४३.
इ० रे० त०	ए रेकर्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रेलीजन ऐंज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐंड दि मलय आर्किपेलागो, ले० इ-त्सिंग, जे० तकाकासु द्वारा अनूदित, आक्सफोर्ड, १८९६.
इ० स्टु०	इंडिशे स्टुडीन, ए० वेबर द्वारा सम्पादित.
इ० हि० इ० जा०	इम्पीरियल हिस्टरी ऑफ इंडिया, ले० के० पी० जायसवाल, लाहौर, १९३४.

इ० हि० कां०	इंडियन हिस्टरी कांग्रेस.
इ० हि० क्वा०	इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता.
ई० इ०	ईपिग्राफिआ इंडिका.
उत्तर	भवभूति कृत "उत्तररामचरित".
ऋतु	कालिदास कृत "ऋतुसंहार".
ए० इ० इ० सि०	एन्शियन्ट इंडिया ऐंड इंडियन सिविलाइजेशन, ले०पी० मैस्सन-आवरसेल और अन्य, लन्दन, १९३४.
ए० इ० गु०	एज ऑफ दि इंपीरियल गुप्ताज, ले० आर० डी० बनर्जी, बनारस, १९३३.
ए० इ० हि० ट्रे०	एन्शियन्ट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशन, ले० एफ० इ० पार्जिटर, आक्सफोर्ड, १९२२.
ए० ओ० रि०	एनॉल्स ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास युनिवर्सिटी.
ए० भ० ओ० रि० इ०	एनॉल्स ऑफ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना.
ए० हि० डे०	एन्शियन्ट हिस्टरी ऑफ दि डेक्कन, ले० G. Jouveau Dubreuil, पांडिचेरी १९२०.
ए० रि०	एनुअल रिपोर्ट.
ओ० त्सा०	ओस्टासियाटिशे त्साइट्स ख्रिफ्ट.
क० रा० त०	कल्हण कृत राजतरंगिणी.
का० इ० इ०	कार्पस इंस्क्रिप्सियोनम इंडिकारम.
कात्या०	कात्यायन स्मृति (निर्देशक पी० वी० काणे द्वारा सम्पादित कात्यायन स्मृति सारोद्धार, बम्बई, १९३३ से दिये गये हैं ।)
कात्या० एडि०	एडिशनल वर्सेज ऑफ कात्यायन ऑन व्यवहार. ले०के० वी० रंगास्वामी आयंगार (पी० वी० काणे को समर्पित भारतविद्या के अध्ययन की एक जिल्द, पूना, १९४१).
काद०	बाण की कादम्बरी (पृष्ठों के निर्देश एम० आर० काले द्वारा सम्पादित तृतीय संशोधित संस्करण, बम्बई, १९२८ के हैं।)
का० प्ले०	कापर प्लेट.
काम०	कामन्दक नीतिसार (कामन्दक कृत नीतिसार).
का० मा०	काव्यमाला, नि० सा० प्रे० बम्बई.
का० शा०	कामरूप शासनावली.
का० हि० ध० शा०	हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, ले० पी० वी० काणे.

कुमा०	कालिदास कृत कुमारसम्भव.
कुषा० स० क्वायंस	कुषानो-सस्सानियन क्वायंस, ले० इ० हेर्त्सफेल्ड, मे० आ० स० इ०, नं० २४, कलकत्ता, १९३०.
कै० क्वा० इ० म्यू०	कैटलग ऑफ दि क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता.
के० गु० डा०	कैटलग ऑफ दि क्वायंस ऑफ दि गुप्ता डाइनेस्टीज ऐंड ऑफ शशांक, किंग ऑफ गौड़ इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, ले० जान एलेन, लन्दन, १९१४.
कैट० म्यू० म०	कैटलग ऑफ दि आर्क्योलॉजिकल म्यूजियम ऐट मथुरा ले० जे० पी० एच० फोगेल, इलाहाबाद, १९१०.
कौटि०	कौटिल्य का अर्थशास्त्र.
क्रा० इ० स्क०	इंडियन स्कल्प्चर, ले० स्टेला क्राम्रिश, कलकत्ता, १९३३.
गा०ओ०सी०	गायकवाड्स ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा.
गाइल्स	दि ट्रैवेल्स ऑफ फा-हिएन (३९९-४१४ ई०); और रेकर्ड ऑफ दि बुद्धिस्टिक किंग्डम्स, एच० ए० माइल्स द्वारा पुनरनूदित, कैम्ब्रिज, १९२३.
गु० ए०	गुप्त एरा.
गे० इ० लि०	गेशिख्ते डेर इंडिशेन लिटराटूर, ले० एन० विंटरनित्स, ३ जिल्द, लाइप्त्सिग, १९०५, १९०९, १९२०.
गौत०	गौतम धर्मशास्त्र.
चु० व०	चुल्लवग्ग (अनु० एस० बी० ई०; XX).
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्.
ज० आ० रि० सो०	जर्नल ऑफ दि आसाम रिसर्च सोसाइटी.
ज० आ० हि० रि० सो०	जर्नल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, राजामुन्ध्री.
ज० इ० सो० ओ० आ०	जर्नल ऑफ दि इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट, कलकत्ता.
ज० इ० हि०	जर्नल ऑफ इंडियन हिस्टरी, मद्रास.
ज० ए०	जर्नल एसियाटिके, पेरिस.
ज० ए० सो० ब०	जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता.
ज० ओ० रि०	जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास.
ज० क० हि० रि० सो०	जर्नल ऑफ दि कलिंग हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसाइटी, बालांगीर.
ज० ग्रे० इ० सो०	जर्नल ऑफ दि ग्रेटर इंडिया सोसाइटी, कलकत्ता.

ज० डि० ले०	जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता युनिवर्सिटी.
ज० नु० सो० इ०	जर्नल ऑफ दि नुमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इंडिया, बम्बई.
जा० पा० टे० सो०	जर्नल ऑफ दि पालि टेक्स्ट सोसाइटी.
ज० प्रो० ए० सो० ब०	जर्नल ऐंड प्रोसीडिंग्स ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता.
ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०	जर्नल ऑफ दि बम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई.
ज० बि० ओ० रि० सो०	जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी, पटना.
ज० बि० रि० सो०	जर्नल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना.
ज० म० यु०	जर्नल ऑफ दि मद्रास युनिवर्सिटी.
ज० मा० ब्रा० रा० ए० सो०	जर्नल ऑफ दि मलायान ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी.
ज० यु० ब०	जर्नल ऑफ दि युनिवर्सिटी ऑफ बम्बे, बम्बई.
ज० यू० पी० हि० सो०	जर्नल ऑफ दि यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी.
ज० रा० ए० सो०	जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, लन्दन.
ज० रा० ए० सो० ब० (ले०)	जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, लेटर्स, कलकत्ता.
जि० सो० ए० इ०	जि योर्नाले डेल्ला सोसिएटा एशियाटिक इतालियाना.
डा० का० ए०	डाइनेस्टीज ऑफ दि कली एज, ले० एफ० ई० पार्जिटर, आक्सफोर्ड, १९१३
डा० हि० ना० इ०	डाइनेस्टिक हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इंडिया, ले० एच० सी० राय; दो जिल्द, कलकत्ता, १९३१, १९३६.
डे० हि० इ०	डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू इकानाग्राफी, ले० जे० एन० बनर्जी, कलकत्ता, १९४२.
ताकाकासु (या रेकर्ड)	ईत्सिग कृत ए रेकर्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रेलीजन ऐज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐंड दि आर्किपेलागो, जे० ताकाकासु द्वारा अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८९६.
तारा	तारानाथ, गेशिख्ते डेस बुद्धिस्मुस इन इंडीज़, ए० शीफ्नेर द्वारा जर्मन अनुवाद.
तै० आर०	तैत्तिरीय आरण्यक.
त्रि० स० सी०	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज.

त्सा० ड्वा० मो० गे०	त्साइटश्रिफ्ट डेर ड्वाट्सेन मोर्गेन लैंडिशेन गेसेलशाफ्ट.
दश०	दंडी कृत **दशकुमारचरित** (पृष्ठों के निर्देश एम० आर० काले द्वारा सम्पादित तीसरे संशोधित संस्करण, बम्बई, १९२६ के हैं।)
दिव्या०	दिव्यावदान.
नागा०	हर्ष कृत **नागानन्द**.
ना० स्मृ०	नारद स्मृति (जे० जौली द्वारा सम्पादित).
नि० सा० प्रे०	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई.
नुमि० क्रा०	नुमिस्मैटिक क्रॉनिकल.
न्यू० इ० ऐं०	न्यू इंडियन ऐंटिक्वेरी, बम्बई.
न्यू० इ० सी०	न्यू इम्पीरियल सीरीज.
न्यू० हि० इ० पी०	न्यू हिस्टरी ऑफ दि इंडियन पीपुल, जिल्द VI, आर० सी० मजुमदार और ए० एस० अल्टेकर द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९४६.
पंच०	पंचतन्त्र.
परा०	पराशर स्मृति.
पा०	पाणिनि.
पा० टे० सो०	पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन.
पा० लि० सी०	पालि लिटरेचर ऑफ सीलोन, ले० एम० एच० बोडे, लन्दन, १९०९.
पा० हि० ऐं० इ०	पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ ऐंशिएंट इंडिया, ले० एच० सी० रायचौधरी, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, १९३८.
पुरा०	पुराण.
प्रतिमा	भासकृत **प्रतिमा नाटक**.
प्रिय	हर्षकृत **प्रियदर्शिका**.
प्रो० आ० स० ई० वे० स०	प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वेस्टर्न सर्किल.
प्रो० इ० हि० का०	प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इंडियन हिस्टरी कांग्रेस.
प्रो० ओ० का०	प्रोसीडिंग्स ऑफ दि आल इंडिया ओरिऐंटल कान्फरें
फा० आ० स्मि०	हिस्टरी ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलो ले० वी० ए० स्मिथ, आक्सफोर्ड, १९११.
फा० ट्रै० ले०	रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्टिक किंग्डम्स, बीइंग ऐ एकाउन्ट ऑफ दि चाइनीज मॉंक फा-हिएन्स ट्रैवेल जे० एच० लेगे द्वारा अनूदित, आक्सफोर्ड १८८६.
ब० ग०	बम्बे गजेटियर.

ब० स० सी०	बम्बे संस्कृत सीरीज.
बि० इ०	बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता.
बि० बु०	बिब्लियोथिका बुद्धिका, सेंट पिटर्सबर्ग.
बि० सं० ड्रा०	बिब्लियोग्राफी ऑफ दि संस्कृत ड्रामा, ले० एम० शुइलर (Schuyler) न्यूयार्क, १९०६.
बील (या लाइफ)	दि लाइफ ऑफ हिउएनत्सांग, ले० शमन हुई ली सैमुअल बील की भूमिका आदि के साथ, लन्दन, १९१४.
बु० क० आ० ले०	बुलेतें द ल कमिशियों आर्क्योलोजीक द लेंदोशिन.
बु० डे० का० रि० इ०	बुलेटिन ऑफ दि डेक्कन कालेज, पोस्ट ग्रेजुएट ऐंड रिसर्च इंस्टिच्यूट, पूना.
बु० ल० फ्रा० द० ओ०	बुलेतें द ल कोल फ्राँसे दक्स्त्रेम ओरियें, हनोई.
बु० स्ताँ०	हिस्टरी ऑफ बुद्धिज्म, ले० बुस्ताँ, ई० ओबेरमिलर द्वारा अँगरेजी अनुवाद, हिडेलबर्ग, १९३२.
बृ० सं०	वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता.
बौध	बौधायन धर्मसूत्र.
ब्रा० इ० आ०	इंडियन आर्किटेक्चर; बुद्धिस्ट एंड हिन्दू, ले० पर्सी ब्राउन, बम्बे, १९४२.
भ० लिस्ट०	ए लिस्ट ऑफ इंस्क्रिप्शंस ऑफ नार्दर्न इंडिया, ले० डी० आर० भंडारकर (ई० इ० XIX-XXIII का परिशिष्ट).
भारतकौमुदी	स्टडीज इन इंडालोजी इन ऑनर ऑफ डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी, दो भाग, इलाहाबाद, १९४५, १९४७.
भा० वि०	भारतीय विद्या, बम्बई.
म० को० हि० सो०	पेपर्स ऑफ दि महाकोशल हिस्टारिकल सोसाइटी.
मनु	मनुस्मृति.
म० पुरा०	मत्स्य पुराण.
म० मू० क०	मंजुश्री मूलकल्प—गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रि० स० सी०.
म० व०	महावग्ग (अनुवाद से० बु० ई०, XIII-XVII).
महा०	महाभारत.
मा० रि०	माडर्न रिव्यू, कलकत्ता.
मार्क० पुरा०	मार्कण्डेय पुराण.
मार्टिन	क्वायंस ऑफ दि किदार कुषाणाज (ज० रा० ए०

	सो० बं० ले० III नुम० सप्ली; XLVII, पृ० २ ५०) ले० एम० एफ० सी० मार्टिन.
मालती	भवभूति कृत **मालतीमाधव.**
मालवि०	कालिदास कृत **मालविकाग्निमित्र.**
मी० सूत्र०	मीमांसा सूत्र.
मृ०	शूद्रक कृत **मृच्छकटिक.**
मुद्रा०	विशाखदत्त कृत **मुद्राराक्षस.**
मे० आ० स० इ०	मेम्वायर्स ऑफ दि आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया.
मेगा०	मेगास्थनीज.
मेघ०	कालिदास कृत **मेघदूत.**
मेम्बा०	मेम्वाँ कम्पोजे एलकोक दल ग्राँद दीनेस्तीताँ स्यु रेलिज्यो एमिनें किएलेरें शर्शे ग्रॅं ल्वाॅं दाँ लँपे दौसि पा इत्सिग त्रादुइ : ऑफ्राँस पा एदुअ शह्वान्न, पेरिस १८९४.
मे० आ० रि०	मैसूर आर्क्योलॉजिकल रिपोर्ट.
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति.
या० ट्रै० वा० (या वाटर्स)	ऑन यान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, ले० टी० वाटर्स लन्दन, १९०८.
रघु०	कालिदास कृत **रघुवंश.**
रत्नावली	हर्षकृत **रत्नावली.**
रामा०	रामायण.
रेकर्ड (या ताकाकासु)	इत्सिग कृत "ए रेकर्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रेलीजन ऐ प्रेक्टिस्ड इन इंडिया एण्ड दि मलय आर्किपेलागो, जे० ताकाकासु कृत अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८९६.
लजेताात	लजेतात इन्दुइजे देंदोशीन ए देदोनेसी, पेरिस, १९४८.
लाइफ (या बील)	दि लाइफ ऑफ हिउएनत्सांग, ले० शमन हुई ली सैमुअल बील द्वारा लिखित भूमिका आदि के सा लन्दन, १९१४.
वा० का०	वात्स्यायन कृत **कामसूत्र.**
वाटर्स (या यु० ट्रै० वा०)	ऑन युवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, ले० टी० वाटर्स, लन्दन, १९०८.
वारमिंगटन	दि कामर्स बिट्वीन दि रोमन इम्पायर ऐंड इंडिया ले० ई० एच० वार्मिंगटन, कैम्ब्रिज, १९२८.
वि०	विष्णु स्मृति.
विज्ञा०	विज्ञानेश्वर.

वि० पुरा०	विष्णु पुराण.
बृहस्पति स्मृति	बृहस्पति स्मृति (पृष्ठों के निर्देश के० बी० रंगास्वामी द्वारा सम्पादित वृहस्पति स्मृति रिकंस्ट्रक्टेड, बम्बई, १९४२ के हैं।)
वैशि०	वैशिष्ठ धर्मसूत्र.
वै० शै०	वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रेलीजस सिस्टम्स, ले० आर० जी० भंडारकर, स्ट्रास्सबर्ग, १९१३.
शकु०	कालिदास कृत 'शकुन्तला'.
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण.
शिक्षा०	शान्तिदेव कृत शिक्षासमुच्चय, सी० बेंडाल द्वारा सम्पादित, सेंट पीटर्सबर्ग, १८७७, १९०२.
सक्से० सात०	सक्सेसर्स ऑफ दि सातवाहन्स इन दि लोवर डेक्कन, ले० डी० सी० सरकार, कलकत्ता, १९३९.
सं० ड्रा०	संस्कृत ड्रामा.
सं० पो०	एस० के० डे० कृत संस्कृत पोएटिक्स.
सले० इंस्क्रि०	सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बीयरिंग आन इंडियन हिस्टरी ऐंड सिविलाइजेशन, जिल्द I, ले० डी० एस० सरकार, कलकत्ता, १९१२.
सा० इ० इ०	साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस.
सि० जे० सी०	सिंधी जैन सीरीज.
सी० इ० स्ट०	सीनो इंडियन स्टडीज, कलकत्ता.
से० बु० ई०	सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, आक्सफोर्ड.
से० बु० हि०	सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दूज, इलाहाबाद.
स्मृ० चं०	देवण्णभट्ट कृत 'स्मृतिचन्द्रिका' एल० श्री निवासाचार्य द्वारा सम्पादित, मैसूर, १९१४-२१.
स्व० (या स्वप्न)	भास कृत 'स्वप्नवासवदत्त'.
ह० ए०	हर्ष एरा.
ह० च०	हर्षचरित ई० बी० कावेल और एफ० डब्ल्यू० द्वारा अँगरेजी अनुवाद, लन्दन, १९२७.
हर्ष	हर्षचरित (पाठ).
हा० ओ० सी०	हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज.
हि० अ० लि०	हिस्टरी ऑफ अलंकार लिटरेचर, ले० वी० पी० काणे, बम्बई, १९२३.
हि० इ० इ० आ०	हिस्टरी ऑफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, ले० ए० के० कुमारस्वामी, लन्दन, १९२७.

हि० इ० ई० आ०	हिस्टरी ऑफ इंडियन ऐंड ईस्टर्न आर्चिटेक्चर, ले० जे० फर्गुस्सन, द्वितीय संस्करण, जे० बर्गेस और आर० पी० स्पियर्स द्वारा संशोधित, लन्दन, १९१०.
हि० इ० ई० डा०	हिस्टरी ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, ईलियट और डाउसन द्वारा सम्पादित.
हि० इ० जा०	हिस्टरी ऑफ इंडिया, ए० डी० १५०-३५०; ले० के० पी० जायसवाल, लाहौर, १९३३.
हि० इ० लि०	हिस्टरी ऑफ इंडियन लिटरेचर, ले० एम० विंटरनित्स, श्रीमती एस० केटकर द्वारा अंगरेजी अनुवाद, कलकत्ता युनिवर्सिटी, प्रेस.
हि० क०	हिस्टरी ऑफ कन्नौज, ले० आर० एस० त्रिपाठी.
हि० क्ला० सं० लि०	हिस्टरी ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, ले० एम० कृष्णमाचारियर, मद्रास, १९३७.
हि० त्सा० बी०	बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, सैमुअल बील द्वारा हिउएनत्सांग की चीनी पुस्तक से अनूदित, लन्दन, १९०६.
हि० ना० ई० इ०	हिस्टरी ऑफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया, ले० आर० जी० बसाक, कलकत्ता, १९३४.
हि० पा० लि०	हिस्टरी ऑफ पालि लिटरेचर, ले० बी० सी० लॉ, २ जिल्द, लन्दन, १९३३.
हि० बं० आर०	हिस्टरी ऑफ बंगाल, जिल्द I, आर० सी० मजुमदार द्वारा सम्पादित, ढाका, १९४३.
हि० सं० पो०	हिस्टरी ऑफ संस्कृत पोएटिक्स.
हि० सं० लि०	हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर.
हिस्टा० इ०	हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शंस ऑफ साउथ इंडिया, ले० आर० बी० सेवेल.
है० आ० सी०	हैदराबाद आर्क्योलॉजिकल सीरीज.

कुछ अन्य संकेत चिह्न

चि०	चित्र (figure).
छ०	छन्द (verse).
जि०	जिल्द (volume).
नु० स०	नुमिस्मैटिक सप्लिमेन्ट (Num. Suppl.).

नुमै० क्रा०	नुमिस्मैटिक क्रानिकल (Num. Chr.).
न्यू० सी०	न्यू सीरीज (N. S.).
प० पृ०	परवर्ती पृष्ठ (ff.) या (f.).
पा० टि०	पाद टिप्पणी.
पू० पु०	पूर्वोद्धृत पुस्तक (OP. Cit.).
पू० ले०	पूर्वोद्धृत लेखक (Loc. Cit.).
प्ले०	प्लेट.
मैनु०	मैनुस्क्रिप्ट.
लग०	लगभग (Circa).

परिच्छेद : १

गुप्त वंश का उदय

कुषाण साम्राज्य की समाप्ति के बाद राजनीतिक विघटन का जो दौर शुरू हुआ, वह चौथी शताब्दी ई० के आरम्भ तक चलता रहा। यद्यपि पश्चिमी पंजाब में अभी भी कुषाण शासन कर रहे थे, पर इससे आगे, पूर्व में, उनका आधिपत्य समाप्त हो गया था। गुजरात और मालवा के एक हिस्से पर शकों का शासन था, लेकिन उनकी शक्ति तेजी से क्षीण हो रही थी। शेष उत्तर भारत अनेक छोटी-छोटी रियासतों और स्वायत्त जनजातीय राज्यों में बँटा हुआ था। अब इस युग को एक ऐसे महान सैनिक नेता की प्रतीक्षा थी जो एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण कर सके। और शीघ्र ही गुप्त वंश नामक एक छोटे से राजपरिवार में ऐसे नेता का उदय भी हो गया।

१. उत्पत्ति और आरम्भिक इतिहास

गुप्त वंश की उत्पत्ति और उसका आरम्भिक इतिहास एक प्रकार से अज्ञात है, यद्यपि प्राचीन भारतीय इतिहास में यह कुल-नाम विलकुल अपरिचित नहीं है। प्राचीन अभिलेखों, विशेषकर शुंग और सातवाहन काल के अभिलेखों में गुप्त कुल या वंश की रानियों और "गुप्त" से अन्त होनेवाले पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये सभी किसी पूर्वज गुप्त कुल से संबंधित थे अथवा विभिन्न परिवार थे, जिन्होंने बिना किसी ऐसे सम्बन्ध के "गुप्त" नाम धारण कर लिया था, यद्यपि इनमें दूसरा मत ही अधिक सम्भव जान पड़ता है। वास्तविकता जो हो, चौथी शताब्दी ईसवी में जिस गुप्त वंश ने राज किया, उसका "गुप्त" नाम के किसी प्राचीन वंश या कुल के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

गुप्त काल के अभिलेखों में इस वंश के जिन प्रथम तीन शासकों का उल्लेख हुआ है, वे हैं : **महाराज** श्रीगुप्त, उनके पुत्र **महाराज** श्री घटोत्कचगुप्त और फिर उनके भी पुत्र **महाराजाधिराज** श्री चन्द्रगुप्त। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि तीसरे शासक को **महाराजाधिराज** की उपाधि दी गयी है, जबकि उसके पिता और दादा सिर्फ **महाराज** ही कहे गये हैं। इससे यह माना जा सकता है कि चन्द्रगुप्त अपने पूर्वजों के मुकाबले में अधिक शक्तिशाली शासक था और उसने अपने पैतृक राज्य का विस्तार किया था।

प्रथम दो राजाओं के बारे में गुप्तकालीन अभिलेखों में उनके नामों और पदवियों के सिवा और कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए हमें इस बात का कोई निश्चित पता नहीं है कि उनकी ठीक हैसियत या प्रतिष्ठा क्या थी और वे किस प्रदेश पर शासन करते थे।

महाराज की पदवी तो प्रायः सामन्त लोग भी अपने नाम के आगे जोड़ लेते थे और ऐसा अनुमान किया गया है कि गुप्त और घटोत्कच दोनों ही किसी अधिराज शासक के अधीन थे। लेकिन उस जमाने के ऐसे किसी अधिराज शासक का हमें पता नहीं है। दूसरी तरफ यह हमें ज्ञात है कि उन दिनों स्वतन्त्र शासक भी **महाराज** की पदवी धारण करते थे।[1] इसलिए वह असम्भव नहीं है कि गुप्त नरेश भी वास्तव में स्वतन्त्र रहे हों, हालाँकि उनका राज्य बहुत बड़ा न रहा हो।

यह राज्य कहाँ स्थित था, इस पर चीनी यात्री ई-त्सिंग के एक प्रासंगिक उल्लेख से कुछ प्रकाश पड़ता है। ई-त्सिंग ने ६७१-६९५ ई० के बीच भारत की यात्रा की थी। उसने श्रीगुप्त नामक किसी राजा का उल्लेख किया है जिसने चीनी तीर्थयात्रियों के लिए एक मन्दिर बनवाया था और उसके खर्च के लिए चौबीस गाँव दान किये थे। कुछ विद्वानों के अनुसार यही राजा गुप्त वंश का संस्थापक था और यह मन्दिर मगध में था। इस प्रकार वे गुप्त राज्य की स्थिति मगध में ही मानते हैं। लेकिन इस मत को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। पहली बात यह है कि ई-त्सिंग श्रीगुप्त का काल अपने समय के पाँच सौ साल पहले बताता है, जबकि गुप्त वंश का संस्थापक ई-त्सिंग के लिखने से चार सौ या अधिक से अधिक साढ़े चार सौ साल पहले का हो सकता है। इनमें संगति तभी स्थापित हो सकती है जब हम यह मान लें कि ई-त्सिंग के द्वारा दिया गया काल 'पाँच सौ वर्ष' एक गोल-मटोल समय है। यह बात असंगत नहीं लगती, विशेषकर यदि हम यह याद रखें कि "चीनी यात्री ने यह वक्तव्य बुजुर्गों द्वारा प्राचीन काल से चली आती हुई परम्परा के आधार पर दिया था।"[2] इसलिए ई-त्सिंग ने जिस राजा का उल्लेख किया है उसे हम, कम से कम कामचलाऊ मान्यता के रूप में ही सही, गुप्त वंश के संस्थापक श्रीगुप्त से अभिन्न मान ले सकते हैं।

फिर भी यह मत संगत नहीं प्रतीत होता कि इस राजा ने चीनियों के लिए जो मन्दिर बनवाया था, वह मगध में स्थित था। चीनी तीर्थयात्री ने इस मन्दिर की जो स्थिति और दूरी बतायी है, उससे अनुमान होता है कि यह मन्दिर उत्तरी और मध्य बंगाल की पश्चिमी सीमा पर स्थित था। इस सम्बन्ध में उसने जो अन्य विवरण दिये हैं, उनसे भी इसकी पुष्टि होती है। इसलिए हम यह राय कायम कर सकते हैं कि श्रीगुप्त के राज्य में बंगाल का भी एक भाग शामिल था।[3]

---

[1] लिच्छवी (नेपाल), मग, भारशिव और वाकाटक शासकों की मिसालें यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि **महाराज** पदाधिकारी व्यक्ति अनिवार्यतः सामन्त ही नहीं होता था।

[2] कॉ. गु. डा. xv, xix.

[3] इस प्रश्न पर हि. बे. आर. ६९-७० और ज.बि.रि.सो. xxxviii, ४१०-४२८ में विस्तार से विचार किया गया है। प्रस्तावित मत के विरुद्ध प्रो. जगन्नाथ का तर्क (इ. हि. क्वा. xxii, २८) बील द्वारा किये गये चीनी उद्धरण के अशुद्ध अनुवाद (इ. ए., १८८१, पृ. ११०-११) पर आधारित है। बील द्वारा संशोधित अनुवाद उसके 'लाइफ आफ हिउएन-त्साँग' के अनुवाद की भूमिका (पृ. xxxvi) में देखा जा सकता है।

हमें श्रीगुप्त के बेटे और उत्तराधिकारी घटोत्कच के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। लेकिन यह दिलचस्प बात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की बेटी वाकाटक रानी प्रभावती गुप्ता[1] के दो अभिलेखों में घटोत्कच को प्रथम गुप्त राजा बताया गया है। इसके अतिरिक्त हाल में ही रीवाँ[2] में मिले एक अभिलेख में भी गुप्त वंश का पूर्वानुक्रम घटोत्कच तक ही लिया गया है। यह बताना कठिन है कि घटोत्कच को किस आधार पर कम से कम मध्य भारत और दक्कन के कुछ भागों में गुप्त वंश का संस्थापक माना जाने लगा था; लेकिन इन उल्लेखों से इतना तो जान पड़ता ही है कि घटोत्कच कुछ दृष्टियों से एक उल्लेखनीय शासक था।

२. चन्द्रगुप्त प्रथम

लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि घटोत्कच के बेटे और उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में ही गुप्त कुल की समुन्नति एवं प्रसिद्धि हुई। इसका स्पष्ट संकेत गुप्त वंश के अभिलेखों में उसके नाम के आगे "**महाराजाधिराज**" की श्रेष्ठ पदवी के प्रयोग से मिलता है। उसके चलाये सोने के सिक्कों से यह बात और भी प्रमाणित होती है। इन सिक्कों के एक तरफ चन्द्रगुप्त और उसकी रानी कुमारदेवी के नाम और आकृतियाँ अंकित हैं, और दूसरी तरफ सिंह पर सवार देवी की आकृति है, जिसके नीचे लिच्छवि नाम अंकित है।

कुमारदेवी लिच्छवि राजकुमारी थी। स्पष्ट है कि उसके साथ चन्द्रगुप्त के विवाह को विशेष महत्त्व दिया गया था। इन सिक्कों के अलावा, यह इससे भी प्रमाणित होता है कि गुप्त वंश के अभिलेखों में दी गई वंशावली में उनका पुत्र समुद्रगुप्त हमेशा "लिच्छवियों की बेटी का पुत्र" कहकर उल्लेखित है, जबकि गुप्त वंश के जिन दूसरे आठ या दस शासकों का उल्लेख इन्हीं अभिलेखों में मिलता है, उनमें से किसी के भी मातृवंश का जिक्र नहीं है। वी० ए० स्मिथ ने इस पर यह सुझाव दिया है कि इस विवाह-संबंध से चन्द्रगुप्त उस राजसत्ता का उत्तराधिकारी बना, जो पहले उसकी पत्नी के रिश्तेदारों के हाथ में थी, और इस प्रकार वह मगध और उसके पास-पड़ोस के देशों में सबसे शक्तिशाली बन गया एवं अधिराज की स्थिति पा गया। इसके विपरीत, एलेन (Allen) का विचार है कि "गुप्तों को अपने लिच्छवि रक्त पर शायद इसलिए गर्व नहीं था कि इस रिश्ते से उन्हें कुछ भौतिक लाभ प्राप्त हुए थे, बल्कि इसलिए कि लिच्छवि एक प्राचीन वंश था।" लेकिन यह सन्दिग्ध है कि उन दिनों समाज में लिच्छवियों की कोई ऊँची प्रतिष्ठा थी।

---

[1] पूना का. प्ले. इंस्क्रि., इ. ई.xv, २१, रिथपुर का. प्ले. इंस्क्रि., ज. प्रो. ए. सो. ब., NS, XX, ५८; देखिए आगे परि. ११, क-१; वाकाटक कुल.

[2] समरी आफ पेपर्स रेड ऐट दि ट्वेल्फ्थ आल इंडिया ओरिएंटल कान्फरेंस (भाग-११, पृ० ३९)। इस पुस्तिका के अनुसार इस अभिलेख में "**घटोत्कच सद्वंश**" का प्रयोग मिलता है। लेकिन जिस शब्द को '**सद्वंश**' पढ़ा गया है, वह वास्तव में 'तद्वंश' है। डा. छाबड़ा ने, जो इस विवरण का सम्पादन कर रहे हैं, पुराने पाठ में संशोधन किया है।

उन दिनों मनु संहिता का निश्चय ही बहुत आदर था और उसके अनुसार लिच्छवी एक प्रकार से पतित क्षत्रिय (व्रात्य क्षत्रिय) थे। इसलिए यही अधिक संभव लगता है कि चन्द्रगुप्त, प्रथम का विवाह-सम्बन्ध सामाजिक की अपेक्षा राजनीतिक दृष्टि से लाभकर था।

हालाँकि हम यह मान सकते हैं कि गुप्त वंश को अपनी राजनीतिक महत्ता अधिकांशतः लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने से ही मिली थी, लेकिन इसे अधिक निश्चित रूप से सिद्ध करना, जैसा वी० ए०स्मिथ ने किया है, कि गुप्त वंश अपने उत्कर्ष के लिए किस सीमा तक लिच्छवियों का ऋणी था, बहुत कठिन है। क्योंकि हमें लिच्छवियों की शक्ति या राजनीतिक प्रतिष्ठा का कुछ भी ठीक पता नहीं है, और यह भी नहीं मालूम है कि उन दिनों उनका राज्य कहाँ स्थित था। जैसा पहले[1] बताया जा चुका है, गौतम बुद्ध के युग में लिच्छवी वंश वैशाली के गणतांत्रिक राज्य पर शासन करता था। जिस समय की हम बात कर रहे हैं, उस समय नेपाल की घाटी में लिच्छवी वंश का राज था।[2] हमें यह ज्ञात नहीं कि कुमारदेवी का लिच्छवी परिवार वैशाली का था, या नेपाल का, या किसी दूसरे राज्य का। यह मत कि वे मगध पर राज करते थे, बहुत सन्देहजनक प्रमाणों पर आधारित है। कुल मिलाकर यह मानना ही अधिक संगत होगा कि लिच्छवी वंश उत्तर बिहार, यानी वैशाली और नेपाल के बीच किसी क्षेत्र, में राज करता था। बहुत कुछ सम्भावना इस बात की है कि लिच्छवी और गुप्त पड़ोसी राज्यों पर राज करते थे और कुमारदेवी से विवाह हो जाने के बाद चन्द्रगुप्त प्रथम के प्रभुत्व में ये दोनों राज्य मिलकर एक हो गये हों। स्पष्ट है कि इस सुखद संबंध की स्मृति में, जिसने नये राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा में इतनी संवृद्धि की थी और जो भविष्य के लिए भी इतना शुभकारी सिद्ध हुआ, चन्द्रगुप्त और उसकी लिच्छवी रानी[3] ने संयुक्त रूप से सोने के सिक्के जारी किये हों।

चन्द्रगुप्त प्रथम के बारे में हमें इतने कम तथ्यों का पता है कि उसके इतिहास का पुनर्निर्माण इस तरह की कामचलाऊ परिकल्पनाओं से ही किया जा सकता है। यह अनुमान करना भी संगत होगा कि उसका अधिराज्य इतना बड़ा था कि वह **महाराजाधिराज** की पदवी अपना सका और उसके पुत्र के लिए यह संभव हुआ कि वह विजय-अभियान पर निकले और एक शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाले। पुराणों[4] में आये ए लेखांश के आधार पर आमतौर पर यह माना जाता है कि चन्द्रगुप्त साकेत (अवध) प्रयाग (इलाहाबाद) और मगध (दक्षिण बिहार) पर राज करता था। लेकिन इ

---

[1] जिल्द ii, पृ. ६ प. पृ. (अंगरेजी संस्करण)

[2] परि. viii नेपाल

[3] ज. रा. ए, सो. ब. ले., iii, नु. स., पृ १०५, प. पृ.; ज. इ. हि. vi, विशेषां पृ. १०, प. पृ.। यह मत कि ये सिक्के समुद्रगुप्त ने जारी किये थे (कै. गु. डा. xiv) अब विद्वा को मान्य नहीं रहा।

[4] डा. का. ए., ५३ पा. टि. ८; इ. हि. क्वा., xxi. १४१; न्यू. हि. इ. पी. १३४-५

लेखांश के पाठ और उसके अर्थ की अनिश्चितता के अतिरिक्त हम निश्चित रूप से यह भी नहीं कह सकते कि उसका संकेत चन्द्रगुप्त प्रथम के काल से ही है। इसलिए, हालाँकि किसी निष्कर्ष पर पहुँचना संभव नहीं है पर उसके बेटे के सामरिक अभियानों को देखते हुए, हम यह मान ले सकते हैं कि चन्द्रगुप्त का राज्य समूचे बिहार, बंगाल और अवध के कुछ भागों तक फैला हुआ था।

यह आम ख्याल है कि ३२० ई० की २६ फरवरी[1] से शुरू हुए विख्यात गुप्त-संवत् का प्रवर्तन चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राज्यारोहण या राजतिलक की स्मृति में किया था।[2] हालाँकि यह मत बहुत ही सम्भाव्य है, लेकिन इसके पक्ष में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, और हम इस संभावना को बिलकुल रद्द नहीं कर सकते कि इस संवत् का प्रवर्तन गुप्त-वंश के सबसे महान् शासक और गुप्त-साम्राज्य के संस्थापक समुद्रगुप्त के राजतिलक की स्मृति में हुआ था। प्रारम्भिक गुप्त राजाओं का काल-क्रम इस तिथि के सन्दर्भ में ही निश्चित किया जा सकता है। अगर हम यह मान लें कि चन्द्रगुप्त प्रथम सन् ३२० ई० में गद्दी पर बैठा तो हम गुप्त और घटोत्कच का राज्यकाल इस तारीख और सन् २७० ई० के बीच रख सकते हैं। इसके विपरीत यदि हम ३२० ई० को समुद्रगुप्त के राजतिलक की तिथि मानें तो हमें गुप्त का राज्यकाल पीछे हटाकर २५० ई० के लगभग मानना होगा। यह तिथि ई-त्सिग के वक्तव्य से अधिक मिलती है। उसने गुप्त का राज्यकाल अपने समय (लगभग ७०० ई०) से ५०० साल पहले बताया है।

गुप्त राजाओं के आरम्भिक इतिहास की जानकारी इतनी अस्पष्ट और अनिश्चित है कि इस विषय में और अधिक अटकल से काम न लेना ही बुद्धिमानी की बात है। मसलन यह सुझाव कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने "शकों को निकाल बाहर किया और मगध प्रान्त को तीन सदियों की गुलामी और विदेशी दमन से मुक्त करके स्वतंत्रता प्रदान की।" लेकिन हमारे पास एक भी ऐसा प्रमाण नहीं है कि शक शासकों से चन्द्रगुप्त का कभी भी कोई युद्ध हुआ हो, या उसने शकों के विरुद्ध कभी किसी "स्वतंत्रता-संग्राम" का नेतृत्व किया हो। यह भी एक निराधार अनुमान है कि गुप्त और घटोत्कच कुषाणों के अधीन छोटे जमींदार या "सामन्त" थे।[3] 'इससे भी अधिक भ्रामक यह प्रयत्न है कि

---

[1] या दिसम्बर २०, ३१८ ई.। तुलनीय अ. हि. इ. ३ २८०; ज. राँ. ए. सो. ब. ले., viii ४१.

[2] वी. ए. स्मिथ के अनुसार चन्द्रगुप्त ३०८ ई. से कुछ पहले गद्दी पर बैठा था, लेकिन उसने अपने अभिषेक की स्मृति में नया संवत् ३२० ई. में चलाया। गद्दी पर बैठने और राज्याभिषेक में इतना लम्बा विलम्ब क्यों हुआ, इसका कारण अस्पष्ट है, विशेषकर जब यह माना जाता है कि चन्द्रगुप्त ने कुमारदेवी से ३०८ ई. में या उसके लगभग विवाह किया था। (अ. हि. इ. ३ २७९-८०)। डा. एच. सी. रायचौधरी के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम सन् ३२० में गद्दी पर बैठा था और "अपने जीवन काल के किसी चरण में (पा. हि. ऐ. इ. ५ ५३०) कुमारदेवी से विवाह करके उसने अपनी स्थिति मजबूत बना ली थी।

[3] ए. इ. गु., पृ. १-५.

कौमुदी महोत्सव[1] नाटक के आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम का इतिहास पुनर्निर्मित किया जाए। इस नाटक में मगधराज सुन्दरवर्मन के दत्तक पुत्र एवं मागध सेनापति निन्द्य चण्डसेन का वर्णन है कि उसने बर्बर लिच्छवियों से मिलकर अपनें दत्तकी पिता तथा मगधराज को हराया, उनकी हत्या की और इस तरह मगध की गद्दी हथिया ली। यह कहना कि चण्डसेन ही चन्द्रगुप्त प्रथम था, और इस तरह परवर्ती काल के एक नाटक में वर्णित रोमांटिक घटनाओं के आधार पर उस काल के इतिहास का निर्माण करना जो तत्कालीन अभिलेखों की सामग्री से बिल्कुल मेल नहीं खाता, बिल्कुल ऊटपटाँग है। गुप्तों के आरम्भिक काल के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण में चन्द्रगुप्त प्रथम की अपने बेटे समुद्रगुप्त द्वारा हत्या का विशद चित्र खींचने की भी कोशिश की गयी है। लेकिन **भविष्योत्तर पुराण** के उस कथांश को, जिसमें यह और ऐसी ही दूसरी घटनाएँ वर्णित हैं, बड़ी आसानी से 'आज के जमाने की जालसाजी' सिद्ध किया जा सकता है।[2]

ऐसे अस्पष्ट, अटकलपच्चू और मनगढ़न्त मतवादों पर गम्भीर विचार एक सुलझे हुए इतिहास में अनावश्यक है। अभी तो हमें उतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा, जितना कुछ आरम्भिक गुप्त काल के बारे में हमें निश्चित रूप से ज्ञात है, या इस बारे में जितना कुछ हम तर्कसंगत रूप से अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार हम उस युग की स्थिति के सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

ईसा की तीसरी सदी के अन्त में भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। इनमें दोनों तरह के राज्य थे : राजतंत्रीय और अराजतंत्रीय। इनमें से दो राज्य, लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमारदेवी और गुप्त के पौत्र और घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के विवाह से, संयुक्त हो गये। इस प्रकार चन्द्रगुप्त-प्रथम एक बहुत कुछ विस्तृत प्रदेश पर राज करने लगा, जिसके अन्तर्गत सम्भवतः पूरा बिहार, उत्तर प्रदेश और बंगाल के कुछ इलाके भी थे। उसने अपनी बढ़ी हुई शक्ति और राज्यसीमा को संकेतित करने के लिए अपने पिता और दादा की पदवी **महाराज** की जगह **महाराजाधिराज** की उच्च पदवी धारण कर ली और सम्भवतः सन् ३२० ई० में अपने राजतिलक दिवस को स्मरणीय बनाने के लिए एक नये संवत् का प्रवर्तन भी किया।

---

[1] **कौमुदी-महोत्सव** नाटक के आधार पर जायसवाल ने गुप्तों के उद्भव और आरम्भिक इतिहास की जो रूपरेखा तैयार की है (ए. भ. ओ. रि. xii, ५०; ज. बि. ओ. रि. सो. xix, ११३) उसे हालाँकि कुछ विद्वानों ने समर्थन दिया है (ज. बि. ओ. रि. सो. xxi. ७७; xxii. २७५) किंतु अधिकतर दूसरे विद्वानों ने ठीक ही अस्वीकार दिया है। (आयंगार कमेमोरेशन वाल्यूम, ३५६-३६२ इ. क. ix, १००, इ. हि. क्वा. xiv, ५८२; टॉमस कमेमोरेशन वॉल्यूम, ११५; ज. आ. हि. रि. सो. vi, १३६)

[2] न्यू. हि. इ. पी., vi, १३३, पा. हि. २; ज. बि. रि. सो., xxx १ प. पू.; इ. हि. क्वा. xx, ३४५।

परिच्छेद : २

गुप्त साम्राज्य की स्थापना

१. समुद्रगुप्त का राज्यारोहण

चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमारदेवी का पुत्र समुद्रगुप्त अपने पिता का उत्तराधिकारी बना। उसके एक पदाधिकारी, हरिषेण द्वारा लिखित इस राजा की एक लम्बी प्रशस्ति उपलब्ध है, जो इलाहाबाद[1] में अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के जीवन चरित एवं व्यक्तित्व का विस्तृत वर्णन है। महान मौर्य सम्राट अशोक के अलावा हमें प्राचीन भारत के अन्य किसी भी राजा के बारे में ऐसा ब्यौरेवार वर्णन प्राप्त नहीं होता। इस अभिलेख की सहायता से हम समुद्रगुप्त की उन असाधारण सामरिक विजयों का वर्णन कर सकते हैं, जिन्होंने गुप्त साम्राज्य की बुनियाद डाली। इलाहाबाद की प्रशस्ति के आरम्भ में ही इस बात का सजीव वर्णन मिलता है कि भरे राजदरबार में चन्द्रगुप्त प्रथम ने किस प्रकार अपने पुत्र समुद्रगुप्त का आलिंगन कर लिया और गद्गद कंठ से घोषणा की : "तुम परम योग्य हो, इस सारे संसार पर राज्य करो।" कवि ने इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने दिया है कि राजदरबार बहुत तनावपूर्ण वातावरण में हुआ था, और हालाँकि उपस्थित जनों में से अधिकांश ने मुक्त कंठ से जयनाद करके इस राजघोषणा का स्वागत किया पर राज परिवार के अन्य प्रतिस्पर्धी उम्मीदवारों में इससे बहुत क्षोभ और असन्तोष भी पैदा हुआ था। साधारणतया इस राजघोषणा का यह अर्थ लगाया जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को सार्वजनिक रूप से राजगद्दी का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। लेकिन कवि ने उसके मुँह से जो शब्द कहलाये हैं, उनका यदि वाच्यार्थ लें तो उसका मतलब होगा कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने पुत्र के पक्ष में यथाविधि गद्दी त्याग दी थी।[2]

जो भी हो, समुद्रगुप्त को उसके पिता ने जानबूझकर भावी राजा चुना था और इससे स्पष्ट है कि राजगद्दी के इच्छुक दूसरे राजकुमारों को गहरी निराशा हुई। सम्भव है कि

---

[1] का. इ. इ. iii, सेले. इंस्क्रि. २५४।

[2] सारे पद्यांश का विवेचन करने के बाद डा. छावड़ा भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। उन्होंने इस पद्यांश का नया पाठ और नई व्याख्या भी प्रस्तुत की है। चन्द्रगुप्त प्रथम के वाक्य का, जो ऊपर उद्धृत किया गया है, उन्होंने इस प्रकार अनुवाद किया है : "आओ, आओ! तुम समस्त पृथ्वी की रक्षा करो।" (इ. क., xiv, १४१)

इस पर कुछ उपद्रव भी हुआ हो और यह भी नामुमकिन नहीं है कि जब समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठा हो तो उसे अपने भाइयों के विद्रोह का भी सामना करना पड़ा हो। समुद्रगुप्त के सिक्कों से मिलते-जुलते कुछ सिक्कों पर किसी राजा काछ का नाम भी मिलता है। यह मत पेश किया गया है कि काछ शायद समुद्रगुप्त का सबसे बड़ा भाई था और उसने उसके विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया था।[1] लेकिन यह पूरी तरह निश्चित नहीं है और कुछ लोगों का मत है कि समुद्रगुप्त का ही मूल नाम काछ था। लेकिन जो भी उपद्रव हुए हों, समुद्रगुप्त ने उनको दबा दिया और शीघ्र ही उसने अपनी स्थिति मजबूत और निरापद बना ली।

२. समुद्रगुप्त की विजयें

समुद्रगुप्त का शासन काल विशेषकर उन सामरिक अभियानों के लिए प्रसिद्ध है, जो उसने भारत के विभिन्न भागों में स्वयं किये। इलाहाबाद की प्रशस्ति के लेखक ने उसके एक सौ युद्धों में प्रदर्शित रणकौशल का जिक्र किया है, जिसके फलस्वरूप उसके सारे शरीर में घावों के निशान बन गये थे। जिन देशों को जीतकर उसने अपने अधीन किया, उनकी लम्बी सूची से अनुमान किया जा सकता है कि इस वक्तव्य को केवल कवि का भावपूर्ण उद्गार या अतिरंजित गुणगान ही नहीं मानना चाहिए।

उत्तर भारत के अनेक राजाओं को, जिनमें से नौ के नाम विशेष रूप से गिनाये गये हैं, समुद्रगुप्त की आक्रामक नीति का भरपूर वार झेलना पड़ा था। इन राजाओं को परास्त और नष्ट करके, उसने उनके राज्यों को गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया था। उनमें से दो, नागसेन और गणपतिनाग नागकुल के राजा थे, जिन्होंने पद्मावती (पदम पवाया; यह पुराने ग्वालियर राज्य में नरवार से २५ मील उत्तर-पूर्व में है), विदिशा (भिलसा) और मथुरा[2] में तीन राज्य स्थापित किये थे। दो और राजा, अच्युत और चन्द्र वर्मन थे, जो क्रमशः अहिच्छत्र (बरेली के निकट) और पश्चिमी बंगाल (बाँकुड़ा जिला) पर राज करते थे। शेष पाँच राजाओं—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, नन्दिन और बलवर्मन के राज्य कहाँ अवस्थित थे, इसका अभी तक पता नहीं चला है।[3] लेकिन इस प्रकार जीते

---

[1] ए. भ. ओ. रि. इ. ix, ८३।

[2] इलाहाबाद के अभिलेख में जिन राजाओं और राज्यों का जिक्र हुआ है, उनकी शिनाख्त के लिए देखिए एलन, स्मिथ, आयंगार और रायचौधरी की पुस्तकें, जिनका पुस्तक के अन्त में सामान्य सन्दर्भ के अन्तर्गत उल्लेख हुआ है। साथ ही निम्न सामग्री भी देखें :

(i) वी. ए. स्मिथ, ज. रा. ए. सो., १८९७, पृष्ठ ८७ प. पृ.
(ii) फ्लीट, ज. रा. ए. सो., १८९८, पृ. ३६८।
(iii) डी. आर. भण्डारकर इ हि. क्वा. I.२५२ प. पृ.
(iv) आर. सथियानथैयर, स्टडीज इन दि एंसिएंट हिस्टरी ऑफ टोंडामंडलम् (पृ. ११३-१६)

[3] डा. डी. सी. सरकार का सुझाव है कि रुद्रदेव को पश्चिमी क्षत्रप रुद्रदामन द्वितीय या उसके पुत्र रुद्रसेन तृतीय से अभिन्न माना जा सकता है, और नागदत्त सम्भवतः उत्तरी बंगाल का राजा था और गुप्त साम्राज्य के उपराजाओं का पूर्वज था, जिनके नामों के अन्त में दत्त लगता था (प्रो. इ. हि. का., ७८)।

हुए इलाकों से, जिनका शासन सीधे समुद्रगुप्त के हाथ में था और सीमान्त पर स्थित उन रियासतों और जनजातीय राज्यों की सूची से, जो उसको कर देते थे, उसके आदेशों का पालन करते थे और जिनके सामन्त दरबार में स्वयं उपस्थित होकर सम्राट का अभिवादन करते थे, हम उसके राज्यक्षेत्र की कल्पना कर सकते हैं। इनमें से तीन राज्य, समतट, कामरूप और नेपाल तो सुप्रसिद्ध हैं और दक्षिण-पूर्वी बंगाल, ऊपरी आसाम और नेपाल से मेल खाते हैं। चौथा, डवाक का राज्य, शायद आसाम के नगांउ जिले में स्थित था। पाँचवाँ, कर्तृपुर आज के जालन्धर जिले के कर्तारपुर का नाम था और कुछ विद्वानों के अनुसार कुमाऊँ का कतुरिया राज, गढ़वाल और रुहेलखंड के इलाके भी शामिल थे। लेकिन यह मत अभी सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता।

उक्त अभिलेख में समुद्रगुप्त द्वारा अधिकृत अधिराज्यों के सीमान्त पर स्थित इन पाँच करद राज्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इनके साथ ही जिन सामन्ती जनजातीय राज्यों का जिक्र है, और जो शायद सीमान्त पर ही स्थित थे, उनकी संख्या नौ थी और उन्हें आसानी से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में मालव, आर्जुनायन, यौधेय और माद्रक आते हैं। मालव उन दिनों पूर्वी राजपूताना के क्षेत्र में बसते थे, जो आजकल मारवाड़, टोंक और कोटा का क्षेत्र है। यौधेय जिस क्षेत्र में बसते थे, उसे आज भी जोहियवर कहते हैं। यह बहावलपुर राज्य की सीमा पर सतलज नदी के दोनों किनारों पर बसा है। एक समय यौधेयों का इलाका यमुना नदी तक फैला हुआ था और उसके अन्तर्गत भरतपुर भी शामिल था। माद्रक जनजाति रावी और चिनाव के बीच के इलाके में वसती थी और उनकी राजधानी का नाम साकल था, जिसे आजकल स्यालकोट कहते हैं। आर्जुनायनों के इलाके का निश्चित पता नहीं चलता, लेकिन जैसा आम विश्वास है, इन जन-जातियों के नाम भौगोलिक क्रम से ही अभिलिखित हैं, अतः आर्जुनायनों का प्रदेश जयपुर के निकट अनुमानित किया जा सकता है।

दूसरे वर्ग की पाँच रियासतों में से केवल सनकानीक जाति के क्षेत्र के बारे में ही कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह भिलसा के निकट था। हमें ज्ञात है कि आभीरों की अनेक बस्तियाँ यत्र-तत्र फैली हुई थीं। लेकिन यहाँ संकेत शायद मध्य भारत में स्थित उनकी अहिरवाड़ नाम की बस्ती से है, जो भिलसा और झाँसी के बीच थी। शेष तीन रियासतें, अर्थात् प्रार्जुन, काक और खरपरिक कहाँ थीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, लेकिन यह माना जा सकता है कि वे भिलसा के उत्तर और पूर्व में, किन्तु उससे अधिक दूर नहीं, स्थित थीं। क्योंकि यह निश्चित है कि मध्यप्रदेश के सागर जिले में स्थित एरान, जो भिलसा से करीब पचास मील उत्तर-पूर्व में है, समुद्रगुप्त के राज्य में शामिल था।

अब अगर हम समुद्रगुप्त द्वारा अधिकृत अधिराज्यों के सीमान्तों पर स्थित करद रियासतों की भौगोलिक स्थिति पर गौर करें तो हमें उस क्षेत्र का अन्दाज हो सकता है, जिसके शासन की बागडोर सीधे समुद्रगुप्त के हाथ में थी। पूर्व में उसके अधिकृत राज्य के अन्तर्गत दक्षिण-पूर्व के सुदूर निचले भाग को छोड़कर पूरा बंगाल शामिल था।

इसकी उत्तरी सीमा हिमालय के गिरिपादों के साथ-साथ चलती थी। पच्छिमी सी पंजाब में मद्रों के क्षेत्र तक फैली थी और उसके अन्तर्गत लाहौर और करनाल के बीच पूर्वी जिले शामिल थे। करनाल से यह सीमा यमुना के साथ-साथ चम्बल नदी के संग स्थल तक जाती थी और वहाँ से दक्षिण की ओर एक कल्पित रेखा के अनुसार सी भिलसा तक पहुँचती थी। दक्खिनी सीमारेखा भिलसा से जबलपुर होती हुई विन्ध पर्वतमाला के साथ-साथ चलती थी। कहा जाता है कि समुद्रगुप्त ने सारे "अटवि-राज्यों (वन-प्रदेश के राज्यों) को जीत लिया था; सम्भवत: यहाँ तात्पर्य उन पहाड़ी क्षेत्रों है, जो घने जंगलों से आच्छादित हैं और जबलपुर से पूरब में जिनका विस्तार है।

साम्राज्य-विस्तार के लिए समुद्रगुप्त के सामरिक अभियान केवल उत्तर भारत त ही सीमित नहीं थे। उसने एक या कई बार दक्षिण भारत पर भी आक्रमण किये थे औ कम से कम बारह राजाओं को परास्त किया था। हारे हुए राजाओं में कोसल (दु रायपुर, बिलासपुर और सम्बलपुर के जिले) का राजा महेन्द्र, महाकान्तार (जो सम्भवत उड़ीसा में जेपोर राज्य के वन-प्रदेशों में स्थित था) का राजा व्याघ्रराज, पिष्टपुर (गोदा-वरी जिले का पिठापुरम) का राजा महेन्द्रगिरि, वेंगी (आधुनिक पैड़वेगि जो एलो से सात मील उत्तर में कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में है) का राजा हस्तिवर्म (शालंकायन नरेश), पालक्क (जिला नेल्लोर) का राजा उग्रसेन और कां (चिंगलपेट जिले का कांजीवरम्) का राजा विष्णुगोप (पल्लव नरेश) थे। शा विशाखापट्टम जिले के एरण्डपल्ल का राजा दमन था और देवराष्ट्र का राजा कु था।[1] बाकी चार राजाओं, कौराल के मण्टराज, कोट्टर के स्वामिदत्त,[2] अवमुक्त नीलराज और कुस्थलपुर के धनंजय की ठीक शिनाख्त अभी नहीं की जा सकती।

हालाँकि इन चार दक्खिनी राज्यों के क्षेत्रों का पता करना सम्भव नहीं है, फिर भी यह स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त अपने विजय-अभियान में मध्यप्रदेश के पूर्वी और दक्खिन भागों से गुजरता हुआ उड़ीसा पहुँचा था और वहाँ से पूर्वी समुद्र तट के साथ-साथ बढ़क

---

[1] एरण्डपल्ल और देवराष्ट्र की सही शिनाख्त का बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। फ्लीट क्रमश: एरण्डोल (खानदेश में) और महाराष्ट्र के रूप में उनकी शिनाख्त की और कहा कि पू समुद्रतट तक अपना विजय-अभियान पूरा करने के बाद समुद्रगुप्त पच्छिम के दक्खिनी पठार से गु था। यह मत आमतौर पर तब तक मान्य रहा जब तक डुब्रिउल ने एरण्डपल्ल को गंजाम जिले में दे देवराज को विशाखापट्टम जिले में नहीं ठहराया। (ए. हि. डे. ५८, १६०) अब आमतौर पर डुब्रि की शिनाख्त ही मानी जाती है और यह मत कि समुद्रगुप्त महाराष्ट्र गया था, अमान्य हो ग है। इधर कुछ विद्वानों ने पुन: फ्लीट के पुराने मत का भी समर्थन किया है। (ए. भ. ओ. रि. xxvi, १३८)

[2] डॉ. सालेटोरे ने मद्रास के बेल्लरी जिले के कुडलिगी तालुक में स्थित कोट्टूर को ही प्रा कोट्टर बताया है। (ए. भ. ओ. रि. इ. xxvi, १२०) यह फ्लीट के पुराने मत से मेल खाता जिसका जिक्र इससे पहले के फुटनोट में किया गया है किन्तु ऐसा कोई निश्चित प्रमाण नहीं मि कि समुद्रगुप्त पश्चिम में इतनी दूर तक गया था, इसलिए यही बेहतर है कि गंजाम या विशाखाप के कोठूर को ही प्राचीन कोट्टूर माना जाय (पा. हि. ऐं. इ. ४ ४५३)।

पल्लव राज्य तक, शायद मद्रास के शहर से भी आगे तक, पहुँच गया था।[1] समुद्रगुप्त ने इन दक्खिनी राज्यों के शासकों को हराकर कैद किया था। लेकिन बाद में सम्भवतः उन्हें मुक्त करके निजी सामन्तों की हैसियत से अपनी-अपनी रियासतों पर हुकूमत की इजाजत दे दी थी।[2]

समुद्रगुप्त की दिग्विजय में शायद और भी कुछ सामरिक अभियान शामिल हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में हम निश्चित कुछ भी नहीं कह सकते। फिर भी, इतना तो स्पष्ट है कि पच्छिमी और उत्तर-पच्छिमी भारत के शक्तिशाली राजा तक, मिसाल के लिए पच्छिमी मालवा या काठियावाड़ में राज्य करने वाला शक राजा और पच्छिमी पंजाब और अफगानिस्तान का कुषाण (या राजे) जो देवपुत्र-शाहि-शाहानुशाहि कहलाते थे, समुद्रगुप्त का प्रभुत्व मानते थे।[3] समुद्रगुप्त से उनके सम्बन्धों का वर्णन करने वाला पद्यांश कुछ अस्पष्ट और अनिश्चित है, किन्तु यह सही माना जा सकता है कि वे लोग महान सम्राट के कृपापात्र बनने के लिए उसके दरबार में स्वयं हाजिर होते थे, उससे अपनी बेटियों के विवाह का प्रस्ताव करते थे और सम्राट के सिक्के अपने यहाँ चलाने की इजाजत माँगते थे या आवेदन करते थे कि शाही फरमान जारी करके उन्हें अपने-अपने क्षेत्र का स्वामित्व सौंपा जाय। उनमें जी-हुजूरी की यह प्रवृत्ति सामरिक पराजय का परिणाम थी या उससे भी बड़े किसी दुर्भाग्य से बचने के लिए यह केवल एक कूटनीतिक दिखावा भर था, नहीं कहा जा सकता। कुषाण किस्म के कुछ सिक्कों पर समुद्र और चन्द्र अंकित मिले हैं और पच्छिम के कुछ शक राजा गुप्त किस्म के सिक्के इस्तेमाल करते थे। ज़ाहिर है कि वास्तव में सीमान्त के राज्यों पर भी, जो अभी तक विदेशी शासकों के हाथ में थे, गुप्त सम्राटों का कुछ हद तक प्रभुत्व हो चला था। समुद्रगुप्त सम्बन्धी अभिलेखों में शक और कुषाण राजाओं के साथ उसके सम्बन्धों का जो जिक्र है, उसे भी बिल्कुल निराधार नहीं मानना चाहिए।

---

१. श्री साथियानाथैयर (पू. पु.) तथा कुछ दूसरे विद्वान महाकान्तार की काँकर और बस्तर से, केरल की चेरल से (पूर्वी गोदावरी जिले में नुगुर तालुक), कोट्टूर की टूनी (पूर्वी गोदावरी जिला) के निकट के कोट्टरु से, एरण्डपल्ल की पच्छिमी गोदावरी जिले के चेन्तलपुडि तालुक में एर्रगुण्टपल्ल से और देवराष्ट्र सतारा जिले की खानपुर तहसील में स्थित इसी नाम के स्थान से शिनाख्त करते हैं। साधारणतया स्वीकृत मत के विपरीत उनका कहना है कि समुद्र गुप्त उड़ीसा, गंजाम और विशाखापट्टम से नहीं गुजरा, बल्कि वह सबसे पहले पूर्वी समुद्रतट पर स्थित पिष्टपुर (पिठापुरम) पहुँचा और उसने पच्छिमी-दक्खिन पर भी विजय प्राप्त की।

२. जे. डुब्रिउल की राय है (पू. पु. पृ. ६०-६१) कि समुद्रगुप्त जब कृष्णा नदी तक बढ़ता गया तो वहाँ उसे पूर्वी दक्खिन के राजाओं के संघ का मुकाबला करना पड़ा। वहाँ से खदेड़ दिये जाने पर उसने उड़ीसा के समुद्रतट पर जीते हुए प्रदेश भी छोड़ दिए और घर वापस लौट गया। यह उनकी कपोल कल्पना है जो इलाहाबाद के अभिलेख में दिए गए स्पष्ट वक्तव्यों से सीधे खंडित हो जाती है।

३. ब्यौरे के लिए देखिए परिच्छेद-७।

३. श्रीलंका के साथ राजनीतिक सम्बन्ध

इस अभिलेख में सुदूर सिंहल (लंका) तथा अन्य द्वीपों तक को शकों और कुषाणों की तरह अधीन राज्यों के वर्ग में रखा गया है। अगर हम यह बात याद रखें कि सिंहल तथा हिन्द महासागर के अन्य द्वीपों में भारतीयों के उपनिवेश थे और उन पर गुप्त संस्कृति की गहरी छाप भी है, तो यह बात नामुमकिन नहीं लगती कि उनमें से कुछ द्वीपों ने मुख्य भूमि के सबसे बड़े और शक्तिशाली साम्राज्य से सम्बन्ध स्थापित किये हों और कीमती उपहार भेजकर या किसी और प्रकार से अपना आदर प्रकट करके उसके महान सम्राट को खुश रखना राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी समझा हो। इसलिए, **प्रशस्ति** में इन सारे द्वीपों के शासकों की ओर से अर्पित की गई श्रद्धांजलि को केवल आलंकारिक मानकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बल्कि सम्भव है कि यह उनके वास्तविक सम्बन्ध पर आधारित हो, हालाँकि इससे अधिक उसके सही रूप का निर्णय नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक सिंहल द्वीप की बात है, सौभाग्य से हमारे पास समुद्रगुप्त से उसके राजनीतिक सम्बन्ध का स्वतंत्र प्रमाण भी है। एक चीनी ग्रन्थांश से हमें ज्ञात होता है कि सिंहल के राजा मेघवर्ण (३५२-३७९ ई०) ने दो भिक्षुओं को बोधगया के पवित्र स्थानों की यात्रा करने के लिए भेजा था, लेकिन वहाँ पर ठहरने का उचित प्रवन्ध न होने के कारण उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अतः सिंहल के भावी यात्रियों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए मेघवर्ण ने वहाँ पर एक बौद्ध विहार स्थापित करने का फैसला किया। उसने कीमती उपहार देकर समुद्रगुप्त के पास एक शिष्टमंडल भेजा और उससे बोधगया में सिंहली यात्रियों के लिए एक बौद्ध विहार और विश्राम गृह बनाने की अनुमति माँगी। समुद्रगुप्त ने खुशी से अनुमति दे दी और मेघवर्ण ने बोधि-वृक्ष के उत्तर में एक शानदार बौद्ध विहार का निर्माण कराया। ह्वेन-त्सांग के समय तक यह विहार एक भव्य संस्था के रूप में विकसित हो गया था। वहाँ १००० बौद्ध भिक्षु एवं श्रमण रहते थे। ह्वेन-त्साँ ने वहाँ की इमारतों की विशालता और कलात्मक सजावट का विस्तृत वर्णन किया है। इस बौद्ध विहार की स्थापना का पुराना इतिहास बताते हुए ह्वेन-त्साँग कहता है कि सिंहल का राजा "भारत के राजा को खिराज के रूप में अपने देश के सारे हीरे-जवाहर भें करता था।" सम्भव है कि समुद्रगुप्त के दरबारियों ने इन कीमती उपहारों को खिरा समझा हो और बौद्ध विहार बनाने की प्रार्थना को "शाही फरमान जारी करके अप क्षेत्र का स्वामित्व सौंपा जाय" जैसा आवेदनपत्र समझा हो। समुद्रगुप्त की अधीन स्वीकार करने वाले नरेश इसी रूप में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित किया करते थे; जिनमें सिंह भी शामिल कर लिया गया है। इस श्रेणी में लगभग इसी आधार पर और भी राज्यों शामिल किया जा सकता है। पड़ोसी राजाओं में अपनी बेटियों के पाणिग्रहण का प्रस्ता करने की प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित थी। समुद्रगुप्त की असाधारण कीर्ति देखते हुए, यह असम्भव नहीं लगता कि पड़ोस के शक और कुषाण राजाओं ने उससे मै करने की चेष्टा की हो और उसे स्वयं भेंट-मुलाकात से या विवाह-सम्बन्धों के जरि

सुदृढ़ बनाने की कोशिश की हो। यह भी स्वीकार्य है कि गुप्त साम्राज्य की सीमा से बाहर स्थित कमजोर राज्यों के शासक समुद्रगुप्त के साथ राजनयिक सम्बन्ध रखते हों और जानबूझकर विभिन्न तरीकों से उसको खुश करने की कोशिश करते हों, जो उनके राजपद और समान स्थिति के लिए चाहे जितना अपमानजनक क्यों न हो, लेकिन इससे सिद्धान्ततः उनकी स्वतन्त्र हैसियत में कमी नहीं होती थी। फिर भी, जब तक अन्य स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध न हों, जैसा उपर्युक्त शक और कुषाण राज्यों के बारे में हमारे पास हैं, तब तक यह मानना कठिन है कि ये सारे शासक किसी भी तरह खुलेआम गुप्त सम्राट की प्रभुता स्वीकार करते थे और समुद्रगुप्त के शाही फरमान द्वारा मान्यता पाकर ही अपनी रियासतों का उपभोग जागीरों के रूप में करते थे।

४. समुद्रगुप्त का साम्राज्य

उपर्युक्त विवेचन हमें समुद्रगुप्त के साम्राज्य के स्वरूप और विस्तार के सही-सही और ब्यौरेवार वर्णन का मौका देता है। ऐसे सही ब्यौरे प्राचीन भारतीय इतिहास में विरल हैं। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत काश्मीर, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी राजस्थान, सिन्ध और गुजरात को छोड़कर सारा उत्तर भारत था। उसके अन्तर्गत छत्तीसगढ़ की उच्चभूमि और उड़ीसा शामिल थे। दूर दक्षिण में चिंगलपेट तक, सम्भवतः उससे भी आगे तक, पूर्वी समुद्र तट से लगा हुआ इलाका भी शामिल था। इन विशाल क्षेत्रों में उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर, जिसकी सीमाएँ ऊपर निर्धारित की जा चुकी हैं, समुद्रगुप्त अपने राज-कर्मचारियों द्वारा सीधे शासन करता था। दक्षिण को छोड़कर और सब दिशाओं में यह इलाका करद राज्यों की एक शृंखला से घिरा था। इनके पार पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में शक और कुषाण मंडल थे। इनमें से शायद कुछ गुप्त साम्राज्य की प्रभुता स्वीकार करते थे, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे सब उसके प्रभाव-क्षेत्र में आते थे। दक्षिण के पूर्वी समुद्र तट की रियासतें और कृष्णा नदी के पार तमिल देश का पल्लव राज्य भी सामन्तीय ही थे, जबकि सिंहल तथा हिन्द महासागर या हिन्देशिया के अन्य द्वीपों के राजे गुप्त सम्राट के प्रति विनम्र और सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण रखते थे। इस प्रकार इलाहाबाद प्रशस्ति के शब्दों में सारी पृथ्वी समुद्रगुप्त की बलवान भुजाओं में बँधी हुई थी।

यह मत उचित है कि समुद्रगुप्त के साम्राज्य का सुदृढ़ीकरण एक निश्चित सोची-विचारी नीति पर चलने का परिणाम था। सम्भव है कि वह एक अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने की राजनीतिक दूरदृष्टि से प्रेरित हुआ हो, लेकिन फिर शीघ्र ही उसे अहसास हो गया हो कि तत्काल सारा देश तो दूर, उसके अधिकांश भाग पर भी सीधा शासन कायम करने का विचार अव्यावहारिक होगा। इसलिए उसने पहले अड़ोस-पड़ोस के राज्यों का दमन करके एक केन्द्रीय राज्यक्षेत्र कायम किया, जिसका शासन सीधे उसके नियन्त्रण में था। इस प्रकार उसने एक ऐसी साम्राज्यिक सत्ता कायम की, जो इतनी शक्तिशाली थी कि छोटी-छोटी रियासतों की विघटनात्मक प्रवृत्तियों से

भारत की आन्तरिक शान्ति को भंग होने से रोक सकी लेकिन उसने अपनी सीमा से बाहर के सारे राज्यों को सीधे अपने नियन्त्रण में लेने की कोशिश नहीं की। ऐसा करने से उसकी सारी शक्ति ही खर्च नहीं होती, बल्कि इसके गम्भीर और खतरनाक परिणाम भी निकल सकते थे जैसा कि हर युग के भारतीय इतिहास से जाहिर है, सीमान्त की रियासतों को हराकर जीत लेना मुश्किल काम है और जीत लेने के बाद उन्हें अपने अधिकार में रखना और भी ज्यादा मुश्किल है। ताबेदारी की नीति से उन्हें हमेशा के लिए अपना दुश्मन बना लेने के बजाय—यह नीति केन्द्रीय प्रदेश के एक सीमित क्षेत्र में ही बरती गयी थी—उसने समझौते और मेलमिलाप की नीति पर चलकर धीरे-धीरे उन्हें अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की। उसने उन्हें आन्तरिक मामलों में पूरी स्वायत्तता दी, केवल भारतीय राजनीति में किसी प्रकार की कलह या फूट पैदा करने की राजनीतिक सुविधा से वंचित कर दिया। शायद पश्चिमी सीमान्त के राज्यों को भी मध्यवर्ती राज्यों के रूप में कायम रखा गया था, ताकि विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध साम्राज्य की प्रतिरक्षात्मक शक्ति मजबूत रहे। यह समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों का दायित्व था कि वे उसकी रखी ठोस बुनियादों पर साम्राज्य का विस्तार करें। साम्राज्य की स्थिति मजबूत बनाने के बाद, केन्द्रशासित प्रदेश, पूरब और पच्छिम दोनों दिशाओं में, धीरे-धीरे बढ़ाया गया, जिससे समूचे उत्तर भारत पर, चटगाँव से लेकर काठियावाड़ तक, गुप्त सम्राट द्वारा नियुक्त गवर्नर (अधिपति) शासन करने लगे।

५. समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व

समुद्रगुप्त का विशाल साम्राज्य अनेक वर्षों के सामरिक अभियानों का परिणाम था। हमारे पास इन अभियानों का कोई खास या ब्यौरेवार विवरण नहीं है, और यह मान लेने की भी जरूरत नहीं है कि जिन रियासतों को उसने हथियाकर अपने राज्य में मिला लिया था या जिन्हें अपने अधीन करके वह कर वसूलता था, उन सबसे अलग-अलग युद्ध भी किया था। फिर भी उसका प्रभुत्व मानने वाले राज्यों की विशाल संख्या को स्मरण कर हमारे हृदय में उसकी वीरता और सामरिक प्रतिभा के प्रति प्रशंसा का भाव पैदा न होना असम्भव है। उत्तर भारत के नौ राज्यों का नामोनिशान तक मिटा देने के लिए उसमें असाधारण साहस और सामरिक कौशल का होना जरूरी था। दक्खिन में, केन्द्र से इतने सुदूर प्रदेशों तक और इतने अज्ञात और अशरण्य जंगली प्रदेशों में अभियान चलाना उच्चकोटि के नेतृत्व और संगठन की क्षमता के बगैर संभव नहीं था। पूर्व के समुद्री तट के साथ-साथ आगे बढ़ते जाने का कारण यह भी हो सकता है कि भूमि पर उसकी फौजी कार्रवाइयों में उसका समुद्री बेड़ा भी सहायक था। समुद्र में स्थित अनेक द्वीपों पर उसके अधिकार से ही यह ध्वनित होता है कि उसके पास समुद्री बेड़ा जरूर था। उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। समुद्रगुप्त से पहले या बाद के किसी भी इतिहासकालीन भारतीय शासक के लिए अपनी सार्वभौमिक प्रभुसत्ता मनवाने के लिए

इस परम्परा-मान्य यज्ञ के आयोजन का इतना अधिक औचित्य नहीं रहा। वी० ए० स्मिथ ने उसे "भारतीय नैपोलियन" माना है, जो सर्वथा ठीक है।

सेनापति और राजनेता, दोनों रूपों में प्रखर प्रतिभाशाली समुद्रगुप्त में हृदय और मस्तिष्क के ऐसे अनेक गुण भी थे, जो जीवन के शान्तिपूर्ण कार्यकलाप के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। इलाहाबाद शिलालेख के अनुसार वह विद्या का महान् संरक्षक ही नहीं बल्कि स्वयं भी एक महान् कवि और संगीतकार था। उसकी काव्य रचनाएँ, जिनके कारण उसे "कवि सम्राट" की उपाधि मिली थी, सुरक्षित नहीं रह सकीं, लेकिन हमें उसके संगीत प्रेम का एक आकर्षक साक्ष्य उपलब्ध है। उसके चलाये हुए सोने के सिक्कों में कुछ ऐसे हैं, जिसमें यह महान् सम्राट एक चौकी पर पालथी लगाये अपने घुटनों पर रखी वीणा बजाता हुआ दिखाया गया है। इन अनूठे किस्म के सिक्कों पर सम्राट की आकृति निस्सन्देह वास्तविक जीवन से ली गयी है और यह इस बात का प्रमाण है कि उसे संगीत से असामान्य प्रेम था और वह उसमें निपुण भी था। इस राजकीय अभिलेख में उसके व्यक्तिगत गुणों की जो प्रशस्तियाँ हैं वे मात्र रूढ़िगत या दरबारी प्रशंसाएँ नहीं, बल्कि वास्तविकता पर आधारित हैं।[1] बौद्ध अभिलेखों से ज्ञात होता है कि एक गुप्त राजा साहित्य का महान् संरक्षक था और उसने प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु को अपना मन्त्री नियुक्त किया था। वसुबन्धु की तारीख निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, लेकिन अगर उसकी मृत्यु चौथी शताब्दी ईसवी के मध्य में हुई, जैसा आमतौर पर माना जाता है,[2] तो हमें यह मान लेना चाहिए कि समुद्रगुप्त ही उसका संरक्षक था। इससे यह प्रकट होता है कि वह वास्तव में साहित्य का संरक्षक था, जिसका इलाहाबाद के शिलालेख में विशेष रूप से हवाला दिया गया है। इस अभिलेख में उसकी दानशीलता और दयालुता पर भी जोर दिया गया है। हमें बताया गया है कि उसकी दानशीलता ने श्रेष्ठ कविता और समृद्धि के सनातन अन्तर्विरोध को मिटा दिया था और उसने पराजित नरेशों को उनकी धन-सम्पत्ति लौटा दी थी। समुद्रगुप्त धार्मिक विधि-विधानों का पालन करता था, धार्मिक ग्रन्थों में उसकी पूरी आस्था थी। वह सनातन ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था और उसने ब्राह्मणों को लाखों गायें दान में दी थीं। कहा जाता है कि उसने

---

[1] डा. राधाकुमुद मुखर्जी ने समुद्रगुप्त के शिलालेखों और सिक्कों पर अंकित प्रशस्तियों के आधार पर "समुद्रगुप्त की बहुमुखी प्रतिभा और चरित्र" का सविस्तार विवेचन किया है इ. क. (ix ७७)। लेकिन उनमें प्रयुक्त अभिव्यक्तियों को बिना जाँचे-परखे बिल्कुल सत्य मान लेना सर्वथा उचित नहीं होगा।

[2] तकाकासु के अनुसार वसुबन्धु का जीवन-काल लगभग सन् ४२० से ५०० ई. था। (ज. रा. ए. सो १९०५, पृ. ४३ प. पृ.) इसके विपरीत एम. पेरी ने दावा किया (बु. ल. फ्रा. द. ओ. xi ३३९ प. पृ.) कि वसुबन्धु चौथी शताब्दी ई० में हुआ था और चौथी शताब्दी के मध्य के कुछ बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी थी। यही मत आमतौर पर ठीक माना जाता है। तकाकासु ने इसका विरोध किया और फिर अपने पुराने मत की पुष्टि की। (इंडियन स्टडीज़ इन ऑनर आफ सी. वी. रमन, पृ. ७९ प. पृ) तत्सम्बन्धी अन्य मतों के लिए देखिए अ. हि. इ. ३, ३२८ प. पृ.।

अश्वमेध यज्ञ की परम्परा को पुनर्जीवित किया था, जो बहुत दिनों पहले ही बन्द हो चुकी थी। हो सकता है कि यह वक्तव्य बिलकुल सही न हो, क्योंकि उसके काल से कुछ पहले तक भारतीय राजा-महाराजा अश्वमेध यज्ञ करते आये थे। लेकिन इसमें कोई सन्दे नहीं कि उसके राज्यकाल में ब्राह्मण-धर्म की प्राचीन महिमा और प्रभाव को पुनर्जीव मिला जो अशोक के समय से, जब उसने बौद्ध मत को भारत का प्रमुख धर्म घोषित किया क्षीण हो चला था। नव-ब्राह्मणवाद का यह सिद्धान्त कि "राजा मानव रूप में एक महान देवता होता है," इलाहाबाद के अभिलेख में प्रतिफलित है। उसमें किये गये वर्णन के अनुसार समुद्रगुप्त "पृथ्वी पर निवास करने वाला देवता है, जो मर्त्यलोक का वासी होने के कारण ही मानव धर्मों और रीतिरिवाजों का पालन करता है।"

इसमें सन्देह नहीं कि समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व असाधारण और अद्वितीय-प्राय था और उसने भारत के इतिहास में एक नये युग का समारम्भ किया। इसलिए उसकी विक्रमांक[1] उपाधि भी बिलकुल ठीक ही थी। स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने पुराण प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य के अनुकरण पर ही ऐसा किया था। उसके द्वारा जारी किये गये अनेक प्रकार के सोने के सिक्के उसके जीवन और शासनकाल के विलक्षण स्मारक चिह्न हैं। वे न केवल उसके साम्राज्य की शक्ति, समृद्धि और वैभव का संकेत देते हैं, बल्कि हम उनसे समुद्रगुप्त की शक्ल-सूरत का अन्दाज भी लगा सकते हैं और उसके असाधारण व्यक्तित्व को समझने की अन्तर्दृष्टि भी पाते हैं। तीन प्रकार के सिक्के उसे सैनिक वेशभूषा में प्रदर्शित करते हैं। एक सिक्के में वह पूरे लिबास में, हाथों में तीर कमान लिये खड़ा है, और उसके किनारे पर यह प्रशस्ति अंकित है, "पृथ्वी की दिग्विजय के उपरान्त, यह अपराजेय सम्राट अपने सुकृत्यों द्वारा स्वर्गलोक पर भी विजय प्राप्त करता है।" एक दूसरे सिक्के में वह हाथ में परशु लिये खड़ा है और उस पर अंकित प्रशस्ति भी सर्वथा उपयुक्त है: "हाथ में कृतान्त (यमराज) का परशु धारण करने वाला, अविजित राजाओं को पराजित करने वाला अपराजेय विजेता।" तीसरे सिक्के में राजा को पगड़ी और धोती पहने दिखाया गया है वह दायें हाथ में धनुष लिये और बायें हाथ से कान तक प्रत्यंचा खींचे खड़ा है, और अपने पैरों के नीचे एक बाघ या चीते को कुचल रहा है, जो तीर की चोट खाकर पीछे की ओर गिरते हुए दिखाया गया है। प्रशस्ति में हवाला दिया गया है कि राजा के शरीर में व्याघ्र जैसा शौर्य था।" साफ जाहिर है कि राजा की ये आकृतियाँ वास्तविक जीवन से ली गयी हैं। चौथे सिक्के पर अंकित आकृति भी, जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं, और जिसमें राजा धोती पहने वीणा बजा रहा है, दैनन्दिन जीवन से ही ली गयी है। इस किस्म के सिक्कों पर सिर्फ समुद्रगुप्त का नाम है, उसकी सैनिक विजयों का कोई उल्लेख नहीं है पाँचवें प्रकार का सिक्का अश्वमेध यज्ञ की स्मृति में जारी हुआ था। इन सिक्कों के ए

---

[1] इसका अनुमान "श्री विक्रमह" की उस प्रशस्ति से है जो हाल में प्राप्त उसके एक सि पर अंकित है (ज. नु. सो. इ. v १३६)। लेकिन कुछ विद्वान् इस अनुमान को सही मानते।

तरफ एक चंचल घोड़ा बलि के खम्भे के सामने खड़ा प्रदर्शित है और उलटी तरफ सम्राज्ञी की आकृति अंकित है। इस प्रकार के सिक्कों पर अंकित प्रशस्ति इस प्रकार है: "महाराजाधिराज, जिसने अश्वमेध यज्ञ किया, पृथ्वी की रक्षा करने के उपरान्त स्वर्ग पर विजय पाता है।" इस प्रकार ये पाँच तरह के सिक्के राजा की सामरिक तथा शान्तिपूर्ण अभिरुचियों के प्रतीक हैं। सिक्कों पर अंकित आकृति द्वारा राजा की शक्ल-सूरत का जो अन्दाज हो सकता है, वह अन्य प्रकार से बनी धारणा के अनुरूप ही है : लम्बा कद, पुष्ट देह, बलिष्ठ गठीली भुजाएँ और चौड़ी छाती।

समुद्रगुप्त के सोने के सिक्कों की कारीगरी गुप्तकाल में कला की आश्चर्यजनक प्रगति की मिसाल है। इसीलिए इस काल को भारत का श्रेण्य (क्लासिक) युग कहना सर्वथा उपयुक्त है। प्राप्त सामग्री के आधार पर समुद्रगुप्त के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह उस आनेवाले युग की भौतिक और बौद्धिक शक्ति का प्रतीक था, जिसे अधिकांशत: उसने स्वयं सिरजा था। उसके सिक्कों और उत्कीर्ण लेखों से हमारी कल्पना में एक ऐसे स्वस्थ और बलिष्ठ शरीरवाले राजा की शक्ल उभरती है, जिसकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ उसकी शारीरिक शक्ति और पराक्रम के अनुरूप थीं, और जिनसे आर्यावर्त (उत्तरी भारत) में एक नये युग का प्रवर्त्तन हुआ था। पाँच शताब्दियों के राजनीतिक विघटन और विदेशी आधिपत्य के बाद भारत फिर नैतिक, बौद्धिक और भौतिक प्रगति के शिखर पर पहुँचा था। यही वह स्वर्ण युग था जिसने आनेवाली भारतीय पीढ़ियों को प्रेरणा दी और जो एक साथ ही उनके आदर्श और निराशा का केन्द्र बना।

सम्भवत: समुद्रगुप्त ने काफी लम्बे समय तक राज किया। सन् ३८० ई० में या उससे कुछ पूर्व ही उसकी मृत्यु हुई। पर उसके राज्यारोहण की तारीख ठीक से निश्चित नहीं की जा सकती। अगर उसने गुप्त संवत् का प्रवर्त्तन किया था, तो वह अवश्य ही सन् ३२० ई० में गद्दी पर बैठा होगा। लेकिन यदि, जैसा आमतौर पर माना जाता है, गुप्त संवत् का प्रवर्त्तन उसके पिता के राजतिलक की स्मृति में किया गया था, तो समुद्रगुप्त के राज्यारोहण की तारीख सन् ३४० या ३५० ई० मानी जा सकती है। कुछ विद्वान् इस तिथि का अनुमान सन् ३२५ और ३३५ ई० के बीच करते हैं। लेकिन चन्द्रगुप्त का राज्यकाल इतना स्वल्प था कि ऐसा मानने की कोई संगति नजर नहीं आती।[1]

---

[1] यह कम विचित्र नहीं लगता कि वे लोग भी, जो चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तारीख ३२० ई. मानते हैं और कुमारदेवी से उसका विवाह इस तारीख के बाद होना बताते हैं, समुद्रगुप्त के राज्यारोहण की तारीख ३२५ और ३३५ ई. के बीच स्वीकार करने में संकोच नहीं करते (देखिए पा. हि. ऐं. इ. ४ ४४५, ४४७)। पर तब तो राज्यारोहण के समय समुद्रगुप्त की आयु ४ या १४ वर्ष के बीच में रही होगी, और यह विश्वास करना कठिन लगता है कि उसके पिता ने इतनी छोटी आयु के बालक को अपना उत्तराधिकारी चुना था, जबकि राजगद्दी के अनेक दूसरे दावेदार मौजूद थे।

परिच्छेद : ३

साम्राज्य का विस्तार और सुदृढ़ीकरण

१. रामगुप्त

गुप्त वंश के आगामी इतिहास का वर्णन करने से पहले हमें उस विचित्र घटना पर विचार कर लेना चाहिए जो समुद्रगुप्त की मृत्यु के तुरत बाद ही घटित हुई बतायी जाती है। विशाखदत्त के नाटक **देवी चंद्रगुप्त** का कथानक इसी घटना पर आधारित है। अभी इस नाटक की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है, लेकिन दूसरी पुस्तकों में उद्धृत इसके अवतरणों से हमें उसमें वर्णित घटनाओं की एक झलक मिल जाती है। परवर्ती काल की कुछ साहित्यिक कृतियों और शिलालेखों में भी इन अवतरणों के अनुपूरक हवाले प्राप्त होते हैं। इन सबको जोड़कर हम इस नाटक की मूल कथावस्तु को इस प्रकार पुनर्गठित कर सकते हैं :

"समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र रामगुप्त गद्दी पर बैठा। रामगुप्त की रानी का नाम ध्रुवदेवी था। शक राजा से युद्ध करते हुए रामगुप्त दुश्मन की फौज से इस तरह घिर गया और ऐसी कठिन स्थिति में पड़ गया कि उसे अपनी प्रजा की रक्षा के लिए शक राजा को अपनी रानी ध्रुवदेवी को समर्पित करने के लिए राजी होना पड़ा। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने इस अपमानजनक कृत्य के खिलाफ प्रतिवाद किया और यह प्रस्ताव रखा कि ध्रुवदेवी के छद्मवेश में वह दुश्मन के शिविर में जाकर शक राजा की हत्या करेगा। यह चाल कामयाब हो गयी और चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य और उसके गौरव की रक्षा की। इस घटना ने सर्वसाधारण और ध्रुवदेवी की नजर में चन्द्रगुप्त को बहुत ऊंचा उठा दिया और इसी अनुपात में रामगुप्त का चरित्र और सम्मान उनकी नजर में गिर गया। दोनों भाइयों में मनमुटाव पैदा हो गया और शायद बड़े भाई की ओर से अपनी जान खतरे में देखकर चन्द्रगुप्त ने पागल हो जाने का बहाना किया। आखिरकार, किसी अज्ञात उपाय से वह रामगुप्त की हत्या करने में सफल हो गया और न केवल उसने राजगद्दी पर ही कब्जा किया बल्कि उसकी विधवा रानी से भी विवाह कर लिया।"

इस विचित्र रोमान्टिक घटना को किस हद तक ऐतिहासिक समझा जाए, इसका निर्णय करना कठिन है। गुप्तकालीन अभिलेखों में रामगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं मिलता और उनसे जाहिर होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने पिता समुद्रगुप्त के बाद तुरत गद्दी पर बैठा था। हमारे पास गुप्त काल के बहुत से सिक्के हैं, लेकिन उनमें से किसी पर भी

रामगुप्त का नाम अंकित नहीं है।[1] इन तथ्यों से स्वभावतः रामगुप्त नाम के किसी राजा का कभी कोई अस्तित्व था, यह भी सन्दिग्ध लगता है। और इस कहानी में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिन्हें सबल और असंदिग्ध प्रमाण के बिना स्वीकार करना कठिन है। राज हथियाने के लिए भाई की हत्या करना असाधारण घटना नहीं है, किन्तु राजहन्ता के साथ भाई की विधवा रानी का विवाह हमारी नैतिक और सामाजिक शिष्टाचार सम्बन्धी मान्यताओं के प्रतिकूल है। इसके अलावा, यह मानना भी कठिन है कि समुद्रगुप्त के शक्तिशाली साम्राज्य का उत्तराधिकारी किसी भी शक-राजा द्वारा इतनी बुरी तरह परास्त हो गया था कि उसके सामने अपनी सेना या राज्य को बचाने का कोई चारा ही नहीं रहा या कि किन्हीं भी विपरीत परिस्थितियों में फँसकर वह एक ऐसा कृत्य करने के लिए राजी हो गया, जो किसी भी देश या युग में अत्यन्त जघन्य समझा जाता। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, यह विश्वास करना कठिन है कि इस नाटक का कोई ऐतिहासिक आधार है। इसके विपरीत इस बात के स्वतन्त्र प्रमाण उपलब्ध हैं कि इस तरह की परम्परा सातवीं शताब्दी के करीब मौजूद ही नहीं थी, बल्कि सारे देश में व्यापक रूप से मान्य हो चुकी थी, इसलिए हम इसे कपोलकल्पित कहकर तिरस्कृत भी नहीं कर सकते। इसलिए हमें रामगुप्त की ऐतिहासिक पात्रता के बारे में अपने निर्णय को स्थगित रखकर उसके विचित्र किन्तु घटनापूर्ण शासन काल को नजर अन्दाज कर देना चाहिए।[2]

२. चन्द्रगुप्त द्वितीय

समुद्रगुप्त कई बेटे और पोते छोड़कर मरा था। लेकिन हमें निश्चित रूप से उसके केवल एक ही बेटे का नाम मालूम है, जो उसकी पटरानी दत्तदेवी से पैदा हुआ था। पितामह के नाम पर उसका नाम चन्द्रगुप्त द्वितीय रखा गया था, लेकिन उसका नाम देवगुप्त भी था, जिसके अन्य रूप देवराज और देवश्री आदि थे। हमें उसकी दो रानियों,

---

[1] इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि रामगुप्त के कुछ सिक्के (चौथी शताब्दी ई.) हाल में भिलसा के निकट तथा कुछ और स्थानों पर मिले हैं (ज. नु. सो. इ. XII, १९३ प. पृ.)। हो सकता है कि यह रामगुप्त मालवा का कोई स्थानिक राजा रहा हो।

[2] इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने विचार-विमर्श किया है, उनमें से निम्न के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

एस. लेवी (ज. ए. CCIII, १९२३, पृ० २०१ प. पृ.), आर. सरस्वती (इ. ए., LII, १९२३, पृ. १८१ प. पृ.), अ. स. अल्टेकर (ज. बि. ओ. रि. सो., XIV, २२३ प. पृ., XV, १३३ प. पृ.), आर. डी. बनर्जी (ए. इ. गु., २६ प. पृ.), डा. डी. आर. भंडारकर (मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम १८९ प. पृ.), का. प्र. जायसवाल (ज. बि. ओ. रि. सो., XVIII, १७ प. पृ.), विंटरनित्स (आयंगार कमेमोरेशन वाल्यूम, ३५९ प. पृ), स्टैन कोनो (ज. बि. ओ. रि. सो. XXIII, ४४४ प. पृ.), वी. वी. मीरासी (इ. हि. क्वा. X, ४८ प. पृ.; इ. ए. LXII, २०१ प. पृ.); एन. दास गुप्ता (इ. क. IV, २१६ प. पृ.); विभिन्न मतों के विस्तृत विवेचन के लिए पढ़िए न्यू. हि. इ. पी. परि. VIII, खण्ड १।

ध्रुवदेवी और कुबेरनागा, के नाम ज्ञात हैं। उसके नाम के पहले "परमभागवत" विशेषण के प्रयोग से स्पष्ट है कि वह वैष्णव धर्म का कट्टर अनुयायी था।

कुछ लोगों का मत है कि समुद्रगुप्त ने स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय को अपना उत्तराधिकारी चुना था। लेकिन यह मत एक वाक्यांश की सन्दिग्ध व्याख्या पर आधारित है, अतः इसे सुनिश्चित नहीं माना जा सकता। ऊपर रामगुप्त सम्बन्धी जिस सन्देहात्मक घटना का विवेचन किया गया है, उसके अलावा ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे इस बात का संकेत मिलता हो कि समुद्रगुप्त की मृत्यु और चन्द्रगुप्त द्वितीय के राजतिलक में समय का कोई अन्तराल था।

सन् ३८० ई० के शिलालेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासकीय वर्ष का भी उल्लेख है, जिसे कुछ लोगों ने **प्रथम** (पहला) और दूसरे कुछ लोगों ने **पंचम** (पाँचवाँ) पढ़ा है। इसके अनुसार उसके राज्यारोहण की तिथि या तो सन् ३८० ई० होगी या सन् ३७६ ई०। दूसरी तिथि ही अधिक सम्भव लगती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु सन् ४१३ और ४१५ ई० के बीच हुई थी। इस प्रकार उसने लगभग तैंतीस साल से भी ज्यादा लम्बी अवधि तक राज किया था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय को अपने पिता का रणकौशल विरासत में मिला था, और वह पश्चिम दिशा में एक विजय अभियान के लिए गया था। उसके मुख्य शत्रु गुजरात और काठियावाड़ प्रायद्वीप के शक राजा थे। इस अभियान का ब्यौरा तो मालूम नहीं है लेकिन ऐसे संकेत मिले हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को अपने सामन्तों और मंत्रियों समेत लम्बे काल तक मालवा में रहना पड़ा था। यह बात तीन शिलालेखों से सिद्ध है : पहला शिलालेख उसके "युद्ध और शान्ति मंत्री" वीरसेन का है, जो भिलसा के पास उदयगिरि पहाड़ी पर मिला है। दूसरा शिलालेख चन्द्रगुप्त के एक सामन्त सनकानीक **महाराज** का है। यह भी उसी स्थान पर मिला है और इस पर गुप्त संवत् ८२ (सन् ४०१-०२ ई०) की तिथि पड़ी है। तीसरा शिलालेख एक फौजी अफसर आम्रकार्दव का है, जो साँची में प्राप्त हुआ है, जिस पर गुप्त संवत् ९३ (सन् ४१२-१३ ई०) की तिथि है। चन्द्रगुप्त को इस अभियान में पूर्ण सफलता मिली थी। शक राजा रुद्रसिंह तृतीय को उसने परास्त ही नहीं किया था, बल्कि उसकी रियासत भी अपने राज्य में मिला ली थी। उसके सिक्के पर मिलने वाली तिथि शक संवत् की ३१० और ३१९ के बीच पड़ती है (उसका इकाई चिह्न मिट गया है)—अर्थात् सन् ३८८ और ३९७ के बीच। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक मुद्राओं की नकल में गुप्त संवत् का जो सिक्का जारी किया था उसपर सबसे पहले की तारीख ९० + × है (इकाई का चिह्न मिट गया है) जो सन् ४०९ ई० के बाद पड़ती है। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चिमी अभियान को हम ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पहले दशक में रख सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप तीन सौ वर्षों से भी ज्यादा लम्बे राज के बाद पश्चिमी शक क्षत्रपों की पाँत टूट गई और पश्चिमी भारत से विदेशी शासन के अन्तिम चिह्न भी मिट गये। यह बात असम्भाव्य नहीं है कि रामगुप्त सम्बन्धी

उपरोक्त उपाख्यान में शक राजा से चन्द्रगुप्त के युद्धों के जो साहित्यिक हवाले दिये गये हैं, उनमें इस विजय की ही अनुगूँज हो।

इस शानदार विजय से, गुप्त सम्राट ने भारत से उन विदेशियों का प्रभुत्व ही नहीं मिटा दिया, जो सबसे ज्यादा लम्बी अवधि तक यहाँ राज करते रहे थे, बल्कि उसने गुप्त साम्राज्य में काठियावाड़ और गुजरात के सम्पन्न प्रान्त भी मिला लिये। गुप्त साम्राज्य अब बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक फैल गया। बहुत दूर तक पश्चिमी दुनिया से होने वाला भारतीय व्यापार भी गुप्त साम्राज्य के नियंत्रण में आ गया और इस प्रकार उसका पाश्चात्य सभ्यता से निकट सम्पर्क स्थापित हो गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय के कारनामे उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की याद दिलाते थे, जिसके बारे में भारत के पुरावृत्त में कहा गया था कि उसने चार सौ साल पहले भारत-विजय करने वाले प्रथम शक राजाओं को हराकर देश से निकाल दिया था।[1] सम्भवत: इस पुराण-कथा-पुरुष के अनुकरण में ही चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी "विक्रमादित्य" उपाधि धारण की थी और यही शायद उसके पिता ने भी की थी। यह उपाधि सामरिक शौर्य के कारण ख्यात भारत के शक्तिशाली शासकों के लिए विशेष गौरव की निशानी बन गयी थी।

यह भी सम्भव है कि विक्रमादित्य नाम के साथ जुड़ी कुछ किंवदन्तियाँ, विशेषकर उसकी उदारता और विद्याओं का संरक्षण संकेतित करने वाली कथाएँ, इस ऐतिहासिक राजा के कारनामों से ही सम्बन्धित हों। यह विश्वास करने के लिए भी पर्याप्त सामग्री मिलती है कि प्रसिद्ध कवि कालिदास, जिसे विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से प्रधान माना जाता है, सचमुच चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा का कवि था। हालाँकि इन परम्पराओं से यह बात असंदिग्ध है कि कृतज्ञ भावी पीढ़ियों के मन में चन्द्रगुप्त के नाम के प्रति कितनी गहरी श्रद्धा रही है, फिर भी यह मान लेना संगत नहीं कि विक्रमादित्य की पुराण कथा मूलत: इसी ऐतिहासिक पुरुष के कारनामों पर आधारित थी। उसकी असन्दिग्ध लोकप्रियता के बावजूद इस दावे को सिद्ध करना कठिन है, हालाँकि उपर्युक्त कारणों से अनेक विद्वान् ऐसा भी मानते हैं।[2]

यह प्राय: निश्चित ही है कि चन्द्रगुप्त और भी कई सामरिक अभियानों में सफल रहा था। चन्द्रगुप्त के एक पुश्तैनी मन्त्री शाब ने अपने अभिलेख में कहा है कि सम्राट "दिग्विजय के लिए" निकला था। कहा जाता है कि उसके एक सेनापति आम्रकार्दव ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर अपार ख्याति प्राप्त की थी। किन्तु इन अभियानों के स्वरूप और परिणामों के बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास एक लौहस्तम्भ पर किसी राजा चन्द्र के फौजी कारनामे उत्कीर्ण हैं। हालाँकि यह विश्वस्त रूप से प्रमाणित नहीं है कि यही राजा 'चन्द्र' दरअसल चन्द्रगुप्त

---

[1] पीछे देखिए, जिल्द II, पृ १५४-५७

[2] जिल्द II, पृ. १५६ प. पृ.; और भी देखिए अ. हि. इ. ४ ३२० प. पृ.

द्वितीय था, लेकिन अनेक विद्वान् ऐसा भी मानते हैं।[1] अगर हम दोनों को एक ही मान लें, तो हमें यह भी मानना होगा कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने साम्राज्य की पूरबी और पच्छिमी सीमाओं से बाहर सफल सामरिक अभियान किये थे। उत्कीर्ण लेख के अनुसार उसने "वंग के विरोधी राजाओं के संघ को पराजित किया था और युद्ध करते हुए सिन्धु नदी की सात धाराएँ पार करके वाह्लिक राज्य को हराया था।" वंग से तात्पर्य पूर्वी बंगाल से है, लगभग वही समतट नामक प्रदेश, जो समुद्रगुप्त के साम्राज्य में सीमान्त का करद राज्य था। हमें ज्ञात नहीं कि बंगाल में कोई विद्रोह हुआ था या यह युद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय की शाही आक्रामक नीति का परिणाम था, जिसके अनुसार वह उस प्रदेश को अपने द्वारा सीधे प्रशासित राज्य में मिलाना चाहता था। जो भी हो, लेकिन सम्भवतः इस युद्ध के परिणामस्वरूप ही यह प्रदेश गुप्त साम्राज्य में आ गया था, क्योंकि हमें निश्चित रूप से ज्ञात है कि छठी शताब्दी के आरम्भ में इस प्रदेश का शासक एक गुप्त राजा ही था।

वाह्लिक दूसरा देश था, जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने "सिंधु नदी के सात मुहाने पार करके" जीता था। यह देश निश्चय ही हिन्दूकुश पर्वत के पार का बल्ख (बैक्ट्रिया) प्रदेश था। खेद की बात है कि किसी भी भारतीय राजा द्वारा देश की सीमा से बाहर किये गये इस एकमात्र उल्लिखित आक्रमण के बारे में हमें और कोई निश्चित विवरण नहीं मिलता। यहाँ भी, शायद, इस अभियान का उद्देश्य वही था, जो पूर्वी बंगाल पर आक्रमण का था। जैसा पहले बताया जा चुका है[2] इस प्रदेश पर राज करने वाले कुषाण राजाओं में से कुछ ने, समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। इसलिए या तो उन्होंने विद्रोह का झंडा उठाया था या चन्द्रगुप्त उनके ऊपर अपने आधिपत्य का और भी अधिक सुदृढ़ आधार चाहता था। अगर हम दिल्ली के लौहस्तम्भ पर उत्कीर्ण चन्द्र की पहचान चन्द्रगुप्त द्वितीय से करें, तो हमें यह भी मानना होगा कि उसकी विजयी सेनाएँ पूरब में भारत की अन्तिम सीमाओं तक जा पहुँची थीं और पश्चिमोत्तर में हिन्दूकुश पार कर गयी थीं। और यदि हम यह भी याद रखें कि उसने पश्चिमी मालवा, गुजरात और काठियावाड़ के शक राज्यों को भी जीता था, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य की परिधि को हर दिशा में विस्तारित कर उसे देश की अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया था। इस प्रकार उसने अपने पिता द्वारा शुरू किये हुए काम को पूरा किया था।

चन्द्रगुप्त ने कुछ शक्तिशाली राज परिवारों से विवाह सम्बन्ध भी स्थापित किये थे। उसने नागवंश की राजकन्या कुबेरनागा से शादी की थी, जिससे उसकी बेटी प्रभावती गुप्ता का जन्म हुआ था। इस बेटी का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था।

---

[1] चन्द्र की शिनाख्त और वाह्लिक (जिसे कुछ लोग ब्यास नदी की घाटी में, काश्मीर की सीमा पर स्थित बताते हैं)प्रदेश की स्थिति के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का अध्ययन करने के लिए देखिए ज. रा. ए. सो. ब. ले. ix १७६ प .पृ.; उसमें दिए गए हवालों के अलावा देखिए ई. इ. XIV, ३६७; ज. आ. हि. रि. सो. X ८६; ज. इ. हि. XVI १३।

[2] देखिए पृष्ठ ६-७।

नाग और वाकाटक राज्यों की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि शक और कुषाण राजाओं के विरुद्ध अपने अभियान में चन्द्रगुप्त को उनसे बहुत बड़ी सहायता मिली होगी, जबकि उनका विरोध उसके लिए भारी तरद्दुद बन जाता। इसलिए यह सोचना निराधार नहीं होगा कि ये दोनों विवाह-सम्बन्ध जानबूझ कर, एक राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किये गये थे।

कुन्तल के शक्तिशाली कदम्ब राजा काकुत्स्थवर्मन[1] के एक शिलालेख से हमें ज्ञात है कि उसकी बेटियाँ गुप्तों और दूसरे राजाओं को ब्याही गयी थीं। यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि कुन्तल राजकुमारी से चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह हुआ था या उसके पुत्र का। लेकिन इससे एक तथ्य का फिर इशारा मिल जाता है कि आरम्भ से ही गुप्त राजाओं की यह नीति रही थी कि भारत के शक्तिशाली और प्रसिद्ध राज परिवारों के साथ विवाह सम्बन्धों द्वारा राजनीतिक सन्धियाँ कायम रखी जाएँ।

उसके पूर्वजों ने अब तक केवल सोने के सिक्के जारी किये थे, लेकिन चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी और ताँबे के सिक्के भी चलाये। चाँदी के सिक्कों का सम्मुख भाग पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों की नकल पर था। जाहिर है कि ये सिक्के उनसे जीते हुए प्रदेशों में चलाने के लिए ही जारी किये गये थे। लेकिन शक क्षत्रपों के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर अंकित चैत्य की आकृति गरुड़ में बदल दी गयी। गरुड़ विष्णु का वाहन है, जिसकी आकृति कट्टर विष्णुभक्त समुद्रगुप्त के सिक्कों पर भी मिलती है। ताँबे के सिक्के कम से कम नौ किस्मों के थे। उन पर भी एक ओर सम्राट की आकृति है और दूसरी ओर गरुड़ की।

चन्द्रगुप्त के सोने के सिक्के अपने पिता के सिक्कों के समान ही श्रेष्ठ और शानदार हैं, और उनकी ही तरह उसके व्यक्तित्व और उसके शाही बल तथा वैभव पर प्रकाश डालते हैं। अपने पिता के सिक्कों में उसने कुछ ऐसे परिवर्तन किये, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसे चीते या बाघ की जगह सिंह का वध करते हुए दिखाया गया है और इस भेद को "सिंह-विक्रम" (सिंह का बल रखने वाला), मुद्रालेख से उभारा गया है। आमतौर पर अनुमान किया जाता है कि ये सिक्के गुजरात पर उसकी विजय के प्रतीक हैं, जहाँ के वनों में उन दिनों सिंहों की बहुलता थी। चौकी पर बैठी आकृति वाले सिक्कों में उसे अपने पिता की तरह वीणा-वादन करते हुए नहीं दिखाया गया है, बल्कि वह अपने हाथ में एक फूल पकड़े हुए है और मुद्रालेख में "रूपाकृति" शब्द अंकित है। इस नये किस्म की आकृति से स्पष्ट है कि वह बौद्धिक तथा शारीरिक श्रेष्ठता एवं कलात्मक अभिरुचि की दृष्टि से भी सम्पन्न था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुछ नयी किस्म के सिक्के भी चलाये। एक में वह अपनी तलवार की मूठ पर बायाँ हाथ रखे खड़ा है और एक बौना अनुचर उसके सर पर छत्र लगाये खड़ा है—शायद यह उसके सार्वभौम प्रभुत्व के दावे का प्रतीक है।[2] एक और सिक्के में वह

---

[1] काकुत्स्थवर्मन ही इस नाम का शुद्ध रूप है। वैसे कदम्बों के विवरणों में आमतौर पर इसको काकुस्थवर्मन लिखा गया है। हमने सर्वत्र शुद्ध रूप का ही प्रयोग किया है।

[2] इ. हि. क्वा., xxiii ११३.

पूरी तरह सजे-धजे घोड़े पर सवार है। ये और सिंह के शिकार के दृश्य वाले सिक्के उसके व्यक्तिगत शौर्य और सामरिक शक्ति के उपयुक्त प्रतीक हैं, जो कि, जाहिर है, उस बौद्धि और कलात्मक स्वभाव के प्रतिकूल नहीं है, जिसका संकेत चौकी पर हाथ में फूल था बैठी मुद्रा से मिलता है। एक सिक्के में, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही बताया जाता है, कि जिसके बारे में सन्देह है, राजा को एक मूर्ति, संभवतः विष्णु की मूर्ति, के आगे दाहिन हाथ फैलाकर देवता के प्रसाद के रूप में मिठाई के तीन टुकड़े लेते हुए दिखाया गया है।

चीनी यात्री फा-हिएन, जिसने चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में सन् ४००-४११ ई० के बीच लगभग दस वर्षों तक भारत का भ्रमण किया था, इस देश के बारे में एक दिलचस्प दस्तावेज छोड़ गया है। दुर्भाग्य से, उसने भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में कुछ नहीं लिखा है, यहाँ तक कि उसने इस महान् सम्राट के नाम तक का जिक्र नहीं किया, हालांकि विशाल गुप्त अधिराज्य में भ्रमण करते हुए उसने कम से कम पाँच साल गुजारे थे। फिर भी यहाँ के लोगों के जीवन के बारे में उसने जो भी थोड़ा-सा लिखा है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। "मध्यवर्ती राज्य" के बारे में, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधिराज्य का केन्द्रीय भाग था, वह कहता है : "लोगों की संख्या बहुत बड़ी है और वे सुखी हैं। उन्हें अपनी जमीन-जायदाद दर्ज नहीं करानी पड़ती और न मजिस्ट्रेटों के यहाँ हाजिरी बजा कर उनके नियम-कानून पालने पड़ते हैं। सिर्फ उन लोगों को ही, जो सरकारी जमीन पर खेती करते हैं, अपनी पैदावार (सिर्फ एक हिस्सा) देनी पड़ती है। वे अगर उस जमीन को छोड़कर जाना चाहते हैं तो चले जाते हैं, अगर उस पर रहना चाहते हैं तो रहते हैं। सिर काटने या शारीरिक यन्त्रणा देने वाले (दूसरे) दण्डों के बिना ही राजा उन पर शासन करता है।" फा-हिएन ने कहीं भी उस अराजकता की ओर संकेत नहीं किया, जिसके कारण दो शताब्दियों के बाद ह्वेन-त्सांग को कई बार मुसीबतें उठानी पड़ी थीं। अपराधियों को दिये जाने वाले जिन नरम दण्डों का वह जिक्र करता है, वे दूसरे चीनी यात्री द्वारा उल्लिखित कठोर और निर्मम दण्डों से सर्वथा विपरीत हैं। कुल मिलाकर फा-हिएन के संक्षिप्त विवरण से चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य में व्याप्त सुख, शान्ति और समृद्धि का हमें थोड़ा सा अनुमान हो जाता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में गुप्त साम्राज्य का सुदृढ़ीकरण हुआ था। उस शानदार बौद्धिक पुनरुत्थान के बारे में, जो कला, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्रों में अभूतपूर्व उत्कर्ष का परिचायक है और जो गुप्त काल की विशिष्ट उपलब्धि है, इस पुस्तक के अन्य भाग में विस्तार से लिखा गया है। लेकिन यह स्मरण रखना जरूरी है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय ही मुख्य रूप से इस युग के निर्माता थे। उनकी विजयों के फलस्वरूप ही वह व्यापक शान्ति स्थापित की जा सकी थी, जिसके परिवेश में संस्कृति और सभ्यता की प्रगति सम्भव हो सकी। अतः यह उचित ही है कि गुप्त राज को भारत का "स्वर्ण युग" या "क्लासिकी युग" के विशेषणों से अभिहित किया जाता है।

---

१. ज. नु. सो. इ. x. १०३

समुद्रगुप्त ने विजय-अभियान शुरू किया। उसके बेटे चन्द्रगुप्त द्वितीय पर इसे पूरा करने का दायित्व आया। इसने न सिर्फ सीमान्त पर स्थित जनजातियों के गणतन्त्रों और छोटी-छोटी रियासतों को अपने साम्राज्य में मिला लिया वरन् उनसे परे के विदेशी शक और कुषाण जातियों के राज्यों को भी जीतकर अपने अधिकार में ले लिया। उसने अपने पुत्र के लिए विरासत के रूप में जैसा शान्तिपूर्ण और सुगठित साम्राज्य छोड़ा था, वह निश्चय ही एक महान सेनापति, योग्य राजमर्मज्ञ एवं शानदार व्यक्तित्व के लम्बे और कठिन प्रयास का सुफल था। अगर यह सच है, जैसा आमतौर पर विश्वास किया जाता है, कि कृतज्ञ भावी पीढ़ियों के हृदय में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की स्मृति दीर्घकाल तक जीवित रही, जबकि उसके विख्यात पिता समुद्रगुप्त को लोग जल्द ही भूल गये, तो इसका उत्तर खोजने के लिए दूर भटकने की जरूरत नहीं है। अक्सर लोग सम्पूर्ण भवन की भव्य अधिरचना से अधिक प्रभावित हो कर उसके स्थपति (आर्कीटेक्ट) को भवन का नक्शा तैयार करने वाले और कठिन परिश्रम करके उसकी नींव रखने वाले से ज्यादा श्रेय देते हैं। सौ युद्धों का विजेता समुद्रगुप्त इतिहास का कथानायक है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने, जिसने राजनीतिक महानता और सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के नये युग को पूर्णता तक पहुँचाया, लोगों के दिल में अपनी जगह बनायी।

३. कुमारगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त, जो उसकी पटरानी ध्रुवदेवी की कोख से जन्मा था, गद्दी पर बैठा।[1] उसके बारे में सबसे पहली ज्ञात तिथि सन् ४१५ ई० है और सन् ४५५ ई० में उसकी मृत्यु हुई थी। इस प्रकार उसने ४० वर्ष या उससे भी अधिक वर्षों की लम्बी अवधि तक राज किया।

तब तक गुप्त साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। कुमारगुप्त ने कोई सैनिक अभियान चलाया हो, यह मालूम नहीं है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि अपने पिता की विरासत के रूप में उसे जो विशाल साम्राज्य मिला, उसने उसको ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा। उसने भी एक अश्वमेध यज्ञ किया और महेन्द्रादित्य की उपाधि धारण की। उसने कार्तिकेय को अपना प्रमुख देवता बनाया, जिसके नाम (कुमार) पर स्वयं उसका नाम रखा गया था। उसने एक नये किस्म का सोने का सिक्का जारी किया, जिसकी एक तरफ कार्तिकेय को मोर पर सवार दिखाया गया है और दूसरी ओर कुमारगुप्त को मोर को चारा चुगाते हुए दिखाया गया है। उसने चाँदी के सिक्कों पर भी गरुड़ की जगह मोर अंकित करवाया।

---

[1] भंडारकर के इस मत को स्वीकार करना कठिन है (इ. क., xi., २३१) कि कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त दोनों एक ही राजा के नाम हैं। जगन्नाथ के इस मत को भी मानना कठिन है (इ. क. xii , १६७) कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद गोविन्दगुप्त गद्दी पर बैठा था और उसने कुमारगुप्त से पहले राज किया था।

कुमारगुप्त के अनेक प्रान्तीय शासकों और सामन्तों के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनसे प्रशासन व्यवस्था के विकास और साम्राज्य की शक्ति और स्थायित्व पर प्रकाश पड़ता है। यह विश्वास करने का कारण है कि कुमारगुप्त का दीर्घ शासनकाल आमतौर पर शान्ति और समृद्धि का काल था और सारा साम्राज्य उसके पिता और पितामह की सैन्य विजयों से प्राप्त लाभों का भरपूर उपभोग करता रहा था।

कुमारगुप्त के राज्यकाल के अन्त में किसी शत्रु के आक्रमण से साम्राज्य की शान्ति को गहरा आघात पहुँचा था, लेकिन वह दुश्मन कौन था, इसका अभी तक निश्चित पता नहीं चला है। आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि पुष्यमित्र नाम की एक जनजाति ने विद्रोह का झंडा उठाया था, लेकिन इस नाम का पाठ अनिश्चित है।[1] दुश्मन (एक वचन या बहु वचन में) चाहे जो भी रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह बहुत शक्तिशाली था और उसकी प्रगति साम्राज्य के लिए गम्भीर खतरे का कारण बन गयी थी। एक तत्कालीन उत्कीर्ण लेख में स्पष्ट लिखा है कि शत्रु (दुश्मनों) के पास "धन और जन के अपार साधन थे" और "अपने परिवार के बर्बाद ऐश्वर्य की पुनः प्रतिष्ठा के लिए" युद्ध के दौरान युवराज स्कन्दगुप्त को पूरी एक रात नंगी धरती पर सोकर काटनी पड़ी थी। काव्य-कल्पनाओं और स्पष्टतः अतिरंजनाओं के बावजूद इस वक्तव्य से मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि गुप्त सम्राट को युद्ध में भयंकर क्षति उठानी पड़ी थी और उसके साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने का खतरा पैदा हो गया था। ऐसे संकट की घड़ी में युवराज स्कन्दगुप्त ने दुश्मन को करारी शिकस्त देकर युद्ध का पलड़ा पलट दिया। जिस कवि ने इस शिलालेख को पद्यबद्ध किया था, वह कहता है कि स्कन्दगुप्त की इस वीरतापूर्ण सफलता के गीत हर क्षेत्र में "हर्षित मन से बालक-बूढ़े सभी गाते हैं।" इन प्रशंसात्मक पंक्तियों में चैन और राहत की जो भावना ध्वनित है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि आसन्न संकट कितना भयंकर था। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि क्रमशः चार पदों में कवि ने तीन बार "गुप्त परिवार के ध्वस्त ऐश्वर्य" और स्कन्दगुप्त द्वारा उसकी पुनः प्रतिष्ठा का उल्लेख किया है। इससे यह तो रेखांकित हो ही जाता है कि संकट कितना गम्भीर था और स्कन्दगुप्त ने देश को उससे मुक्ति दिलायी थी; लेकिन वह संकट दरअसल क्या था, यह अभी तक अज्ञात है।

कुमारगुप्त का शासनकाल आमतौर पर दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण घटनाओं से विहीन माना जाता है। लेकिन उसके चरित्र और उसके कारनामों का सही-सही जायजा लेने के लिए हमें कुछ उल्लेखनीय ब्यौरों को, जिनकी आमतौर से उपेक्षा की जाती है, अवश्य महत्त्व देना चाहिए। इस काल के अनेक शिलालेखों में सिर्फ एक ही सैनिक अभियान का

---

[1] यह सूचना भिटारी के शिलालेख से मिली है। फ्लीट ने उस निर्णायक शब्द क "पुष्य-मित्रांश्-च" पढ़ा, लेकिन उसने नोट किया कि नाम का दूसरा अक्षर बिगड़ गया है (का. इ. इ. iii, ५४, ५५ पा. टि. २)। डा. एच. आर. दिवेकर ने सुझाया कि इस समासयुक्त शब्द क "युधि-अमित्रांश्-च" पढ़ना चाहिए (ए. भ. ओ. रि. इ. ९९ प. पृ.)। विष्णुपुराण में पुष्यमि नाम की एक जन जाति का उल्लेख मिलता है जो नर्मदा के उद्‌गम प्रदेश में बसती थी।

उल्लेख मिलता है, जो उसके शासन काल के अन्तिम दिनों में चलाया गया था। उन सब में इस बात का प्रचुर संकेत मिलता है कि उसके व्यक्तिगत नियन्त्रण में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक शान्ति थी और उसका प्रशासन अत्यन्त सुदृढ़ था। केवल सुदृढ़ और उदार शासन व्यवस्था ही इतने विशाल साम्राज्य को नियन्त्रण में रख सकती थी। उसकी मृत्यु के फौरन बाद हूणों और दूसरे दुश्मनों को मार भगाया गया। इससे भी साम्राज्य की सेना के युद्धकौशल का प्रमाण मिलता है। कुमारगुप्त ने इस सेना को चालीस वर्ष के लम्बे शान्तिकाल में ज्यों का त्यों सुगठित बनाये रखा, यह उसके लिए कम श्रेय की बात नहीं थी। कुल मिलाकर सम्भव लगता है कि कुमारगुप्त के व्यक्तित्व और प्रशासन के कारण ही ऐसा हुआ था, जिसका पूरा श्रेय प्रायः आधुनिक इतिहासकार कुमारगुप्त को नहीं देते। उसका राज्यकाल आमतौर पर एक ऐसे काले पर्दे की तरह समझा जाता है, जिसकी पृष्ठभूमि में उसके दो पूर्ववर्ती और एक परवर्ती उत्तराधिकारी सितारों की तरह चमकते हैं। हमारे विचार में कुमारगुप्त के साथ यह अन्याय है और यथार्थ ऐतिहासिक सत्य से पूरी तरह मेल नहीं खाता।

४. स्कन्दगुप्त

अपने सफल अभियान (सन् ४५५-५६ ई०) से स्कन्दगुप्त के लौटने से पहले ही वृद्ध सम्राट कुमारगुप्त की मृत्यु हो गयी थी। उपर्युक्त राजकीय अभिलेख में वर्णन किया गया है कि स्कन्दगुप्त ने किस प्रकार लौटकर अपनी माँ को अपनी महान् विजय की सूचना दी थी। आँसू बहाती माँ ने अपने पुत्र का उसी तरह स्वागत किया था जिस तरह देवकी ने अपने पुत्र कृष्ण का स्वागत किया था। इस सुपरिचित कथा की ओर जो संकेत है, उसके पीछे शायद प्रतीत अर्थ से अधिक अर्थ अभिप्रेत हो। यह सुझाव पेश किया गया है कि देवकी[1] दरअसल राजमाता का नाम था। लेकिन यह तुलना शायद परिस्थितियों की समानता के आधार पर की गयी थी, न कि कृष्ण और स्कन्दगुप्त की माताओं के सामान्य नाम के कारण।[2]

यह विचित्र बात है कि परवर्ती काल के राजकीय अभिलेखों में दी गयी गुप्तों की राजवंशावली की सूची में स्कन्दगुप्त का नाम छोड़ दिया गया है। यह भी उतनी ही विचित्र बात है कि स्वयं स्कन्दगुप्त के शिलालेख में, हालाँकि उन पटरानियों का नाम दिया गया है जो उसके तीन पूर्वजों की माताएँ थीं, उसकी अपनी माँ का कोई हवाला नहीं है। इसके अलावा एक राजकीय अभिलेख में, जो स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के फौरन बाद ही तैयार किया गया था, वर्णन किया गया है कि किस तरह "प्रभुसत्ता की देवी ने, खुद अपनी मर्जी से, पति के रूप में उसका वरण किया, जबकि क्रमशः उसने अन्य सारे राजकुमारों को छोड़ दिया था।" यही विचार शायद एक किस्म के सिक्के पर भी अंकित है, जिसमें तीर और कमान से लैस राजा को गरुड़ के सामने खड़ा दिखाया गया है, जबकि

---

[1] हिस्ट. इ. ३४६, पा. हि. ऐं. इ. ५ ५७३, पा. टि. ३

[2] बी. सी. ला., जिल्द I ६१८; ई. इ. xviii, २४२

उसके परे राजा की ओर मुँह किए खड़ी एक नारी की आकृति है, जिसके बायें हाथ मे कमल का फूल है और दायें हाथ में एक अस्पष्ट-सी वस्तु है, जो शायद एक पट्टिका हो। यत्र-तत्र बिखरे इन प्रमाणों से यह संकेत हो सकता है कि स्कन्दगुप्त की माँ शायद कुमारगुप्त की पटरानी नहीं थी और गद्दी का वैध उत्तराधिकारी न होने के कारण स्कन्दगु को शायद एक या अनेक प्रतिद्वन्द्वियों से लड़ना पड़ा था।[1] मिसाल के लिए, यह सम्भ है कि दूर प्रदेश में होनेवाले युद्ध में फँसे स्कन्दगुप्त की अनुपस्थिति का लाभ उठाक उसका सौतेला भाई पुरुगुप्त अपने पिता की मृत्यु होते ही गद्दी पर बैठ गया हो, औ विजय प्राप्त करके लौटे स्कन्दगुप्त ने उसे फौरन गद्दी से हटा दिया हो। लेकिन स्मर रहे कि यद्यपि यह एक सम्भाव्य घटना है, पर इसे प्रमाणित तथ्य नहीं कहा जा सकता।

चाहे गद्दी के लिए कोई युद्ध हुआ हो या न हुआ हो, लेकिन स्कन्दगुप्त अधिक सम तक शान्तिपूर्वक राज नहीं कर पाया। गद्दी पर बैठते ही उसे दुश्मनों से लोहा लेना पड़ा। तत्कालीन अभिलेखों में शत्रु राजाओं से उसके युद्धों का हवाला मिलता है, जिनमें से कुछ को म्लेच्छ कहा गया है, लेकिन इन युद्धों का ब्यौरा नहीं दिया गया है। निश्चित रूप से हमें सिर्फ यही मालूम है कि अपने राज्यकाल में किसी समय उसे हूणों के आक्रमण का मुकाबला करना पड़ा था, जो योरप और एशिया के लिए एक प्रबल शक्ति और आतं बन गये थे। हूणों के इतिहास का ब्यौरेवार वर्णन अलग से किया जायगा। यहाँ सि

---

[1] इस परिकल्पना के समर्थन में ज. प्रो. ए. सो. व., xvii, २५३ प. पृ. में तर्क दिए गए हैं। विस्तार से उनकी आलोचना पा. हि. ऐं. इ. ४८२ प. पृ. में की गयी है। आलोचना का उद्देश्य य सिद्ध करना है कि प्राप्त तथ्यों से अनिवार्यतः यह निष्कर्ष नहीं निकलता; दूसरे शब्दों में, इसे प्रमाणित तथ्य नहीं माना जा सकता। 'लेकिन ऐसा दावा कभी नहीं किया गया। इस बात का स्प संकेत कर दिया गया था कि यह केवल एक अस्थायी परिकल्पना है। इसके अलावा यह आलोच दिये गये तर्कों के वास्तविक मर्म को भी नहीं छूती। जैसे, भिटारी शिलालेख में स्कन्दगुप्त की माँ नाम शामिल न होने की बात को सिर्फ यह कहकर टाल दिया गया है कि "कभी-कभी राजाओं की के नाम छोड़ दिये जाते थे," और यह कि "शिलालेखों में राजाओं की साधारण रानियों का नाम शामि न करने का कोई नियम नहीं था।" इन वक्तव्यों से लगता है कि तर्क के मर्म को कतई नहीं सम गया। अर्थात् कुमारगुप्त प्रथम की **महादेवी** (पटरानी) का नाम शामिल न करना, जो तत्काल सम्राट की माँ थी, जब कि **इसके विपरीत** उसी अभिलेख में पूर्ववर्ती सम्राटों की माताओं के ना का उल्लेख करना, ऐसी बात नहीं है जिसे महत्त्वपूर्ण न समझा जाय। यह ठीक है कि जिन त के आधार पर यह परिकल्पना की गई है, उन सबको दूसरे ढंग से भी समझाया जा सकता है। अ ऐसा न होता तो इस मत को केवल परिकल्पना ही न कहा जाता बल्कि प्रमाणित तथ्य म लिया जाता। लेकिन आलोचना में एक भी ऐसा तर्क नहीं पेश किया गया, जिससे जाहिर हो उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह परिकल्पना सम्भाव्य और संगत नहीं लगती। विशेष रूप से घटोत और प्रकाशादित्य द्वारा राजगद्दी हासिल करने के बारे में और कोई सन्तोषजनक स्पष्टीक अभी तक नजर नहीं आता। बंसखेड़ा और मधुवन की पट्टिकाओं की जो मिसाल दी गई है (पा. हि. ऐं. इ. ४, ४८३) उससे हमारा तर्क खंडित नहीं हो जाता। क्योंकि इन पट्टिकाओं में राज्यवर्धन माँ का नाम उल्लिखित है, और चूँकि हर्षवर्धन को उसका अनुज (छोटा भाई) बताया गया है, इस अलग से उसकी माँ का नाम देना अनावश्यक था। (देखिए, पा. हि. ऐं. इ. ५, ५७२ प. पृ.)।

इतना कहना ही काफी होगा कि पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूणों की एक शाखा ने, जो एफ्थेलाइट्स या श्वेत हूण के नाम से प्रसिद्ध है, आमू दरिया की घाटी पर कब्जा कर लिया था और फारस और भारत दोनों पर उनके आक्रमणों का संकट छा गया था। उन्होंने गान्धार के राज्य पर कब्जा करके वहाँ अपने एक राजा को गद्दी पर बैठाया जो क्रूर और प्रतिशोधी था तथा अत्यन्त बर्बर और नृशंस आचरण करता था। सम्भव है कि हूण भारत की सीमा के अन्दर भी बढ़ आये हों और गुप्त साम्राज्य के लिए भयानक खतरा बन गये हों। स्कन्दगुप्त ने दुश्मनों से साम्राज्य की एक बार तब रक्षा की थी, जब वह युवराज था। इस नये खतरे ने, जो शायद पहले से कहीं बड़ा था, एक बार फिर उसके शौर्य और सैन्य बल को कठिन परीक्षा की कसौटी पर परखा। लेकिन उसने इस बार भी उतनी ही बड़ी सफलता प्राप्त की। हूणों से उसके युद्ध का वर्णन करने वाली कविता से, जिसका पाठ बुरी तरह टूट-फूट गया है, साफ जाहिर है कि यद्यपि युद्ध बड़ा भयंकर था, लेकिन स्कन्दगुप्त ने उन पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। हूणों की पूर्ण पराजय का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उसके बाद लगभग आधी शताब्दी तक गुप्त साम्राज्य उनकी लूटपाट से मुक्त रहा।[1]

यह एक महान् सफलता थी, जिसके कारण इतिहास में भारत रक्षक के रूप में स्कन्दगुप्त का नाम अमर रह सकता है। तत्कालीन घटनाओं के सन्दर्भ में ही उसके इस महान् कार्य का पूरा महत्त्व समझ में आ सकता है। स्कन्दगुप्त के गद्दी पर बैठने से कुछ समय पूर्व हूणों ने योरप पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था और इन बर्बरों के आगे शक्तिशाली रोमन साम्राज्य भी काँपने लगा था। हूणों का नेता अत्तिल, जिसकी मृत्यु सन् ४५३ ई० में हुई, "रावेन्न और कुस्तुनतुनिया, दोनों के राजदरबारों को एक साथ ही चुनौती भेजने की" सामर्थ्य रखता था। स्कन्दगुप्त से पराजित होने के कुछ दिनों बाद

---

[1] एलन को सोमदेव कृत कथासरित्सागर में दी गयी राजा विक्रमादित्य की कथा में हूणों पर समुद्रगुप्त की विजय की प्रतिध्वनि लगती है। उसके अनुसार उज्जैन के राजा महेन्द्रादित्य का बेटा विक्रमादित्य पिता के सिंहासनत्याग के बाद गद्दी पर बैठा। उसने म्लेच्छों को बुरी तरह हराया, जो उन दिनों पृथ्वी को रौंद रहे थे। (कै. गु. डा., xlix पा. टि. १)

एक बौद्ध पुस्तक "चन्द्रगर्भ परिपृच्छा" के अनुसार "कोशाम्बी में जन्मे राजा महेन्द्रसेन का एक बड़ा प्रतापी पुत्र था। वह जब बारह वर्ष का हुआ तो महेन्द्र के राज्य पर तीन विदेशी ताकतों—यवन, पल्हिक और शकुन—ने मिलकर आक्रमण किया। उन्होंने गान्धार और गंगा के उत्तरी प्रदेशों पर कब्जा कर लिया था। महेन्द्रसेन के किशोर पुत्र ने दो लाख सैनिक लेकर दुश्मनों के तीन लाख सैनिकों का मुकाबला किया। राजकुमार ने दुश्मन की सेना को तितर-बितर करके लड़ाई फतह की। युद्ध से लौटने पर पिता ने उसे राजमुकुट पहनाकर कहा : "अब से तुम इस राज्य पर शासन करो।" उसने स्वयं गद्दी छोड़कर धार्मिक जीवन अपना लिया। इसके बाद भी लगातार बारह साल तक नया राजा इन विदेशी दुश्मनों से युद्ध करता रहा और अन्त में उसने "तीनों राजाओं को पकड़कर उनका बध कर डाला।" विद्वानों ने सुझाया है कि इस कथा में स्कन्दगुप्त और हूणों के युद्ध का विवरण दिया गया है (इ. हि. इ. जा. ३६)। लेकिन इन कथाओं में दिये गये विवरणों पर बहुत अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

ही हूणों ने फारस पर कब्जा कर उसके बादशाह का कत्ल किया। हूणों के गिरोह जहाँ गये, आग और तलवार से तबाही और बर्बादी फैलाते गये और उन्होंने अत्यन्त समृ एवं सुरम्य नगरों को तहस-नहस कर वीरान बना दिया। अगर इन सब बातों का स्मर रखें तो हम सहज ही हूणों पर स्कन्दगुप्त की महान् विजय का वास्तविक महत्त्व सम सकते हैं। हूणों से मुक्ति पाने पर उसके विशाल साम्राज्य में लोगों ने सर्वत्र चैन की सां ली होगी, और जैसा एक तत्कालीन अभिलेख में लिखा है; स्कन्दगुप्त का यशोगान ब और बूढ़े सभी समान रूप से करते थे। एक क्रूर और बर्बर दुश्मन की बला से भारत की सुरक्षा के लिए इस वीरोचित करतब के बाद स्कन्दगुप्त के लिए अपने पितामह की तरह विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना सर्वथा उचित ही लगता है।

इन दुष्कर सैनिक अभियानों के चलते अवश्य ही साम्राज्य के आर्थिक साधनों प भारी बोझ पड़ा होगा, और यह बात स्कन्दगुप्त के सिक्कों में झलकती है। उसके सोने सिक्के अपेक्षया बहुत थोड़े हैं और अधिकांशतः एक ही प्रकार के हैं। इस बात का, औ सोने में मिलावट का, शायद यही कारण था कि उसके राज्यकाल में लगातार युद्धों क दबाव बना रहने से अर्थ-व्यवस्था पर बहुत ज्यादा बोझ पड़ गया था। खुशी की बात कि हमारे पास इस बात के प्रमाण भी मौजूद हैं कि उसके राजकर्मचारियों ने साम्राज्य सुदूरतम भागों में भी लोक उपयोग के अनेक कार्य पूरे करवाये थे। काठियावाड़ जूनागढ़ के पास गिरनार की पहाड़ी पर खुदे एक शिलालेख में उसके प्रान्तीय शास पर्णदत्त ने ऐसे कार्यों का हवाला दिया है। इसमें गिरनार की पहाड़ी पर स्थित उ विशाल झील का उल्लेख किया गया है, जिससे आसपास के एक बड़े कृषिक्षेत्र में नह के जरिये सिंचाई के लिए पानी पहुँचाया जाता था। पहाड़ियों के बीच में एक प्राकृति गर्त पर बाँध बना कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस झील का निर्माण कराया था। स्कन्दगुप्त राज्यकाल के पहले ही वर्ष में अतिवर्षा से यह बाँध टूट गया और पड़ोस के सारे इलाके बर्बाद हो जाने का खतरा पैदा हो गया। लेकिन प्रान्तीय शासक पर्णदत्त, उसके बे चक्रपालित और स्थानीय मजिस्ट्रेट ने इस नुकसान को पूरा करने के लिए फौरन कार कदम उठाये और बाँध का पुनर्निर्माण किया। इसके पास ही मिले एक और अभिले से पता चलता है कि तीन सौ साल पहले भी ऐसा ही संकट पैदा हुआ था और शक रा रुद्रदामन ने उस बाँध की मरम्मत करवायी थी। इस प्रकार एक ही स्थान पर मि दो अभिलेखों से इस महान् जलाशय का साढ़े सात सौ साल पुराना दिलचस्प इतिह मालूम होता है।

पर्णदत्त का शिलालेख बड़ी सुन्दर शब्दरचना है और उससे एक उदार और लो प्रिय शासक के ओजस्वी प्रशासन द्वारा संगठित शक्तिशाली साम्राज्य की तस्वीर हमा मन में उभरती है। गुप्त साम्राज्य, जो अब अक्षरशः बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सा तक विस्तृत था, निर्विवाद रूप से एक ऐसे शासक के अधिकार में था, जिसके आदेशों पालन उसके प्रान्तीय शासक पूरे मन से करते थे। अपने विशाल साम्राज्य के एक छो से दूसरे छोर तक, वह स्वयं ही इन प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति करता था। इस साम्रा

की जड़ें इतनी मजबूत थीं कि वे आन्तरिक आघातों के बावजूद स्थिर रहीं, और उग्र तथा दुर्जेय हूण भी इसकी सुरक्षा-व्यवस्था तोड़ने में असमर्थ रहे। करीब एक शताब्दी तक यह साम्राज्य आर्यावर्त्त की एकता, अखंडता और स्वतन्त्रता के प्रतीक रूप में कायम रहा। जिस कवि ने (४६० ई० में) सौ राजाओं के सम्राट स्कन्दगुप्त के शान्तिपूर्ण राज्यकाल का वर्णन किया है, शायद उसने तत्कालीन परिस्थितियों का अतिरंजित चित्र नहीं प्रस्तुत किया। हमारे लिए यह सोचना सर्वथा उपयुक्त है कि इस विशाल साम्राज्य के शान्तिपूर्ण और समृद्ध वातावरण में सांस्कृतिक प्रगति का जो नया दौर शुरू हुआ उसे युग की अपूर्व भौतिक शक्ति और वैभव का संरक्षण मिला। ४६७ ई० में जब स्कन्दगुप्त की मृत्यु हुई तो उसे अपने महान् पूर्वजों द्वारा निर्मित शक्तिशाली साम्राज्य को ज्यों का त्यों छोड़ने का परम संतोष था।

परिच्छेद : ४

साम्राज्य पर संकट

अपनी जानकारी की वर्तमान स्थिति में स्कन्दगुप्त के बाद के गुप्त सम्राटों इतिहास का कोई स्पष्ट विवरण, या केवल निश्चित रूपरेखा भी, तैयार करना हमारे लि संभव नहीं है। हमें कई राजाओं के नाम मालूम हैं, लेकिन उनकी तिथियों या एक-दूस से उनके रिश्तों का निश्चित रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता। ज्ञात तथ्यों का कि ऐसे रूप में समन्वय नहीं किया जा सकता जो पूर्णतः सन्तोषजनक या कम से कम गम्भी कठिनाइयों से मुक्त कहा जा सके। अधिक से अधिक इन तथ्यों की ऐसी अस्था पुनर्रचना की जा सकती है जो सर्वाधिक युक्तिसंगत और कम से कम आपत्तिजन प्रतीत हो।[1]

१. पुरुगुप्त

परवर्ती गुप्त सम्राटों की राजकीय वंशावली में सम्राटों के अनुक्रम में कुमारगुप्त बाद सीधे पुरुगुप्त का नाम दिया गया है और स्कन्दगुप्त के नाम की एकदम उपेक्षा गयी है। पुरुगुप्त कुमारगुप्त प्रथम और पटरानी अनन्तदेवी का बेटा था, और जैसा प कहा जा चुका है, उसने शायद अपने पिता की मृत्यु के बाद राजगद्दी के लिए दावा कि था। लेकिन उसने, चाहे थोड़े समय के लिए ही सही, उस वक्त राज किया था, या अ भाई स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गद्दी पर अधिकार कर लिया था; इसमें सन्देह नहीं वह किसी न किसी समय गद्दी पर अवश्य बैठा था। उसके बाद गुप्त सम्राटों की परम्परा उसके दो पुत्रों, बुधगुप्त और नरसिंह गुप्त, और फिर नरसिंह गुप्त की सन्ता द्वारा चली, न कि स्कन्दगुप्त की सन्तान द्वारा।

लेकिन सिक्कों और शिलालेखों से ऐसे अनेक गुप्त राजाओं के नाम ज्ञात होते जिनका गुप्त परिवार में क्या स्थान है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। एक नाम कुमारगुप्त द्वितीय है, जो सन् ४७४ में राज कर रहा था, जबकि स्कन्दगुप्त

---

[1] इस विषय पर विभिन्न मतों का अध्ययन करने के लिए देखिए सामान्य सन्दर्भ (General References) के अन्तर्गत बताई गई पुस्तकें तथा निम्नलिखित सामग्री भी :

i. पन्नालाल का लेख, हिन्दुस्तान रिव्यू, जनवरी १९१८

ii. आर. सी. मजूमदार का लेख, इ. ऐ. १९१८, पृ. १६१-६७, इ. क. x, १७२; ज. यू. पी सो, xviii ७०।

iii. एन. एन. दासगुप्ता का लेख, बी. सी. लॉ, जिल्द I, १६७।

मृत्यु को अभी सात बरस भी नहीं हुए थे। सम्भव है कि वह स्कन्दगुप्त का बेटा रहा हो, जिसे गद्दी से उतार कर या जिसकी मृत्यु के बाद, बुधगुप्त गद्दी पर बैठा हो। लेकिन साथ ही यह भी सम्भव है कि वह बुधगुप्त का ही बड़ा भाई हो। ऐसे ही कुछ और राजा भी हैं, जिनके अस्तित्व के बारे में सिक्कों और शिलालेखों से अनुमान होता है और जो लगभग इसी काल में राज करते थे। इससे लगता है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद अनेक प्रतिद्वन्द्वी गुट गद्दी के दावेदार बनकर उठ खड़े हुए थे, लेकिन उस समय की घटनाओं की कोई पक्की जानकारी हमारे पास नहीं है।

२. बुधगुप्त

पुरुगुप्त और उसकी पटरानी चन्द्रदेवी के पुत्र बुधगुप्त के गद्दी पर बैठने के बाद अस्पष्टता समाप्त हो जाती है। बुधगुप्त सन् ४७७ ई० में गद्दी पर बैठा और उसने बीस साल या उससे कुछ अधिक समय तक राज किया। उसके गद्दी पर बैठने से पहले चाहे जितनी आन्तरिक गड़बड़ी रही हो, लेकिन वह अपने विशाल साम्राज्य में शान्ति, सुव्यवस्था और सुदृढ़ प्रशासन कायम करने में सफल रहा। उसके मालवा और बंगाल के प्रान्तीय शासकों के विवरणों से इस बात का सबूत मिलता है कि साम्राज्य की अखंडता लगातार कायम रही थी, हालाँकि सुदूर प्रान्तों में उसकी शक्ति और सत्ता के क्षीण होने के अशुभ लक्षण प्रकट होने लगे थे।

पश्चिम में मैत्रक परिवार काठियावाड़ प्रायद्वीप का पुश्तैनी शासक बन गया था। इस परिवार का संस्थापक और गुप्त सम्राट का एक सेनापति, भटार्क, काठियावाड़ का शासक नियुक्त किया गया था। राजधानी थी वलभी। फिर उसका पुत्र धरसेन इस पद का उत्तराधिकारी बना। दोनों अपने को **सेनापति** कहते थे। लेकिन अगले प्रान्तीय शासक द्रोणसिंह ने, जो भटार्क का छोटा बेटा था, **महाराज** की पदवी धारण कर ली। परिवार के राजकीय अभिलेखों में यह दावा किया गया है कि सम्राट ने स्वयं अपने हाथों एक विशिष्ट समारोह के बीच उसे इस उपाधि से विभूषित किया था। जिस सर्वोपरि शासक का हवाला दिया गया है वह शायद सम्राट बुधगुप्त रहा होगा। इस प्रकार प्रान्तीय शासक के बजाय द्रोणसिंह एक सामन्ती नरेश बन गया और हालाँकि उसका परिवार अभी भी मौखिक रूप से अपने को सम्राट के अधीन बताता था, लेकिन वलभी के मैत्रक अपना स्वाधीन राज्य कायम करने की दिशा में काफी आगे बढ़ गये थे।

बुन्देलखंड (नागोद और जसो राज्य) में परिव्राजक महाराज राज करते थे। उनके नाम के आगे यह विशेषण इसलिए लगाया जाता था कि वे एक राजवंशी तपस्वी (परिव्राजक) के वंशज थे। इस परिवार के महाराज हस्तिन ने (सन् ४७५-५१७ ई०) बुधगुप्त का हवाला दिये बगैर ही भूमि के पट्टे लिखना शुरू किया, जिनमें गुप्त साम्राज्य की प्रभुसत्ता का केवल साधारण-सा हवाला रहता था।

परिव्राजक राज्य की सीमा से लगी हुई एक और रियासत थी, जिसकी राजधानी का नाम उच्चकल्प था। इस परिवार के राजा जयनाथ ने वर्ष १७४ और १७७ में भूमि

के पट्टे बाँटे थे। शायद यह गुप्त संवत् की तिथियाँ हैं जो ईसवी के सन् ४९३ और ४९६ बराबर पड़ती हैं।[1] इस रियासत की भौगोलिक स्थिति और उसके द्वारा गुप्त संवत् प्रयोग किये जाने से ऐसा लगता है कि वह कभी गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत रही हों लेकिन चूँकि जयनाथ के पट्टों में गुप्त साम्राज्य की प्रभुसत्ता का एक बार भी हवा नहीं दिया गया है, इसलिए सम्भव है कि सन् ४९३ ई० के करीब यह रियासत गु साम्राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर हो गयी हो।

बुन्देलखंड की इन दोनों रियासतों के उत्तर और पूरब में पांडुवंश नाम के ए राज परिवार का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। कालंजर[2] (उत्तर प्रदेश के बाँदा जिल में प्राप्त एक शिलालेख से पता चला है कि इस परिवार का एक राजा उदयन शा पाँचवीं शताब्दी ई० के अन्त में वहाँ राज करता था। यह वही राजा उदयन था, जिस परपोते तीवरदेव ने दक्खिनी कोसल में एक नये राज्य की स्थापना की थी।[3] एक अ पांडुवंश या पांडु परिवार का ताँबे का अनुदान पत्र बघेलखंड के रीवाँ राज्य में प्रा हुआ है। उसमें चार राजाओं के नाम उल्लिखित हैं।[4] इनमें से पहले दो के नाम के आ कोई राजकीय उपाधि नहीं दी गयी है, लेकिन अगले दो, नागवल और उसके पुत्र भरत (उर्फ इन्द्र) को न केवल **महाराज** कहा गया है, बल्कि उनके नाम के पहले **परम माहेश्व** **परम ब्रह्मण्य** आदि विशेषण भी लगाये गये हैं। ये चारों राजा शायद ईसा की पाँच शताब्दी में हुए थे। यह साफ जाहिर है कि इस काल के उत्तरार्ध में इस परिवार ने या आंशिक रूप में स्वाधीनता प्राप्त कर ली थी।

इलाहाबाद और रीवाँ राज्य में प्राप्त दो ताम्रपत्रों से एक और सामन्त महारा लक्ष्मण का पता चलता है।[5] दोनों पर गुप्त संवत् की १५८ तारीख पड़ी है। इस प्रक **महाराज** लक्ष्मण सन् ४७७-७८ ई० में बुधगुप्त के राज्यकाल में अपनी रियासत पर रा कर रहा था, उसकी राजधानी का नाम जयपुरा था, जिसकी भौगोलिक स्थिति की अ तक शिनाख्त नहीं हुई है। अपने ताम्रपत्र में चूँकि वह गुप्त प्रभुसत्ता का कोई हवा नहीं देता, इसलिए शायद वह एक स्वाधीन राजा था, या कम से कम व्यवहार-रूप स्वाधीन था।

इसी तरह महाराज सुबन्धु ने १६७ में, नर्मदा तट पर स्थित प्राचीन नगर माहि (मान्धाता या महेश्वर) में भूमि सम्बन्धी एक पट्टा जारी किया था। अगर इस ति को गुप्त संवत् का वर्ष मान लिया जाय, जैसा आमतौर पर माना जाता है, तो वह बुध का समकालीन था।[6]

---

[1] का. इ. इ. iii ११७, १२१; ई. इ. xxiii १७१

[2] ई. इ. iv २५७

[3] ई. इ. vii. १०४

[4] भारत-कौमुदी, १. २१५; ई. इ. xxvii १३२

[5] ई. इ. ii, ३६४; आ. स. इ. १९३६-७, पृ० ८८

[6] ई. इ. xix, २६१. प्रो० मीराशी इसे कलचुरी संवत् की तिथि बताते हैं और उनका कि सन् ४१६-१७ ई० में सुबन्धु एक स्वाधीन राजा था (इ. हि. क्वा. xxi ८२-८३)।

यह भी उल्लेखनीय है कि उत्तर बंगाल के जिस प्रान्तीय शासक को कुमारगुप्त प्रथम के राज में केवल **उपरिक** कहा जाता था, बुधगुप्त के राज में उसके नाम के आगे **महाराज** का विशेषण जोड़ा गया। यमुना और नर्मदा के बीच के प्रान्त का शासक भी बुधगुप्त के समय में **महाराज** कहलाता था। यहाँ तक कि इस प्रान्तीय शासक के अधीन काम करने वाला एरन के क्षेत्र का शासक भी **महाराज** कहा जाता था।

इन मिसालों से जाहिर है कि ऊपर से देखने में चाहे गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ संकुचित न हुई हों और पूरब में बंगाल की खाड़ी से लेकर पच्छिम में अरब सागर और दक्खिन में नर्मदा तक उसका अधिकार क्षेत्र माना जाता रहा हो, लेकिन वास्तव में उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा काफी घट चुकी थी तथा काठियावाड़ और बुन्देलखण्ड जैसे सुदूर प्रान्तों ने एक प्रकार से स्वाधीन राज्यों का दरजा प्राप्त कर लिया था। बुधगुप्त के सिक्कों का अध्ययन करने से भी इस बात की पूरी तरह से तसदीक हो जाती है। उसके सोने के सिक्के विरल हैं और अब तक सिर्फ दो-तीन सिक्के ही मिले हैं।[1]

इस गिरावट का कारण आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की परिस्थितियों में खोजना चाहिए। कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त की मृत्यु के तुरत बाद गद्दी के लिए होने वाले संघर्ष और गृहयुद्ध की सम्भावना का पहले जिक्र किया जा चुका है। ~~मन्दसौर में मिले एक उत्कीर्ण लेख में सन् ४३६ और ४७२ ई० के समय को गड़बड़ी का समय बताया गया~~ है; जिसमें अनेक राजाओं ने राज किया। लेकिन यह संकेत बहुत अस्पष्ट है।

विदेशी आक्रमणों के भी कुछ संकेत मिले हैं। ~~कहा जाता है कि इस जमाने में कोसल, मेकल और मालवा के राज्यों पर वाकाटक नरेश नरेन्द्रसेन ने अपना आधिपत्य कायम कर लिया था~~। इसका अर्थ है कि गुप्त साम्राज्य पर दक्षिण से आक्रमण हुआ था। नरेन्द्रसेन के राज्यकाल की तिथि का निश्चित पता नहीं है, लेकिन उसे बुधगुप्त का समकालीन माना जा सकता है। शायद उसके आक्रमण के कारण बुंदेलखंड और बघेलखंड में गुप्त साम्राज्य के आधिपत्य का ह्रास हो गया हो, जिसका हम पहले जिक्र कर चुके हैं। जिन हूणों को स्कन्दगुप्त ने हरा दिया था, वे फिर लौट कर शायद बुधगुप्त के जमाने में ही आक्रमण करने लगे थे। लेकिन उनके आक्रमणों की तिथियाँ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं। इसलिए हालाँकि हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है, फिर भी हम यह आसानी से अनुमान कर सकते हैं कि आन्तरिक कलह और विदेशी आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य को जर्जर बना दिया था।

बुधगुप्त के सम्बन्ध में अन्तिम ज्ञात तारीख सन् ४९५ ई० है, लेकिन उसकी मृत्यु ायद ५०० ई०[2] के निकट या कुछ दिनों बाद ही हुई थी। उसकी योग्यता का ठीक

---

[1] एलेन के अनुसार (कै. गु. डा., चु. व.) बुधगुप्त के सिर्फ चाँदी के सिक्के ही मिलते हैं। किन एक किस्म के सोने के सिक्के, जिन्हें एलेन पुरुगुप्त के सिक्के बताता है (वही, का. इ. इ.), ायद बुधगुप्त के थे (इ. क. I. ६९१-२); इसके अलावा हाल में बुधगुप्त के दो सोने के सिक्के भी मले हैं (ज. नु. सो. इ. x, ७८; XII. ११२.)।

[2] इ. ए. XVIII, २२७, लेकिन सिक्के पर अंकित ८० के चिह्न का पाठ, जिससे यह तारीख ी गई है, अत्यन्त अनिश्चित है (इ. ए. xiv ६८)।

अन्दाज लगाना मुश्किल है। इसमें सन्देह नहीं कि उसका राज्यकाल गुप्त साम्राज्य अवनति का पहला चरण था, लेकिन यह अनिवार्यत: उसकी अपनी अक्षमताओं परिणाम नहीं था। शायद, अगर पूरे तथ्यों का और भी पूर्णता से पता चल सके तो मालूम होगा कि उसे इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने कम से कम अपने रा काल में तो आने वाली बर्बादी की उस अनिवार्य प्रक्रिया को रोका था जिसने उसकी मृ के फौरन बाद शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य के ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर दिया। जो हो, लगता है कि शायद वही अन्तिम गुप्त सम्राट था जिसकी प्रभुसत्ता समुद्रगुप्त औ चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य की सीमाओं के अन्दर आमतौर स्वीकारी गयी थी। उसके राज्यकाल में साम्राज्य को संकट की घड़ी से गुजरना था और हालाँकि वह उससे क्षत-विक्षत हुए बिना नहीं निकल सका, लेकिन अखंडित में और ऊपरी तौर पर अपने गौरव को सुरक्षित रखे हुए वह यह संकट झेल गया बुधगुप्त की मृत्यु के समय साम्राज्य की इमारत देखने में तो अभी भी शानदार लगती लेकिन उसमें यत्र-तत्र दरारें नजर आने लगी थीं।

परिच्छेद : ५

साम्राज्य का विघटन

१. राज-परिवार में कलह

बुधगुप्त की मृत्यु के बाद झंझटों का दौर शुरू हुआ। राजगद्दी के परस्पर विरोधी दावेदारों के कारण पैदा हुई आन्तरिक फूट के प्रमाण मिलते हैं, जिसका परिणाम साम्राज्य का बँटवारा था। हूणों के नये और पहले से कहीं अधिक सफल हमलों ने इस परिस्थिति को और भी बिगाड़ दिया था। घटनाएँ किस क्रम से घटित हुईं या उनकी एक-दूसरे पर ठीक-ठीक क्या प्रतिक्रिया हुई, यह बताना तो कठिन है, लेकिन एक व्यापक सन्दर्भ में हम इतिहास की मोटी रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं।

राजकीय वंशसूची के अनुसार बुधगुप्त के बाद उसका भाई नरसिंह गुप्त गद्दी पर बैठा। उसके बाद उसका बेटा और फिर उसका पोता गद्दी पर बैठे। इन तीनों सम्राटों का राज्यकाल कुल मिलाकर लगभग ५०० ई० से ५७० ई० तक है। लेकिन हमें दो और गुप्त राजाओं के विवरण प्राप्त हैं, जिन्होंने इस काल के आरम्भ में शासन किया था। इनमें से पहले का नाम वैन्यगुप्त है, जिसके बारे में त्रिपुरा जिले में प्राप्त सन् ५०७ का सिर्फ एक ही विवरण उपलब्ध है। उसके सोने के सिक्कों और शाही मुहर[1] से अनुमान होता है कि वह गुप्तों के शाही खान्दान का ही रहा होगा, लेकिन उपर्युक्त गुप्त सम्राटों से उसका क्या रिश्ता था, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। यह भी सम्भव है कि उसका राज्य सिर्फ बंगाल तक सीमित रहा हो और उसने बहुत थोड़े दिनों तक ही वहाँ राज्य किया हो।

दूसरे राजा भानुगुप्त के बारे में भी एरन (मध्य प्रदेश का सागर जिला) में प्राप्त सन् ५१० ई० के एक उत्कीर्ण लेख से ही हमें कुछ जानकारी प्राप्त हुई है, क्योंकि उसका कोई सिक्का या मुहर अभी तक नहीं मिली है। उत्कीर्ण लेख में यह विवरण अंकित है कि गोपराज नाम का एक सामन्त किस प्रकार "प्रतापी राजा, गौरवशाली भानुगुप्त, जो पृथ्वी का सबसे बड़ा वीर पुरुष था", के साथ एक प्रसिद्ध युद्ध में लड़ा था। गोपराज इस युद्ध में मारा गया था और उसकी पत्नी उसके साथ चिता में बैठकर सती हो गयी थी। एक छोटे से स्तम्भ पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है, जो दरअसल **सती** का शिला-स्मारक था।

---

[1] वैन्यगुप्त के सोने के सिक्कों, अभिलेखों और शाही मुहरों के लिये देखिए : इ. हि. क्वा. vi ४०; ix. ७८४, ६८६; xix; २७५। इस सुझाव के विषय में कि वह पुरुगुप्त का बेटा था, देखिए, इ.हि. क्वा. xxiv. ६७.

भानुगुप्त के नाम से ही यह असन्दिग्ध है कि वह गुप्त कुल का कोई शासक था लेकिन लगभग एक ही समय में दो शासक, वैन्यगुप्त और भानुगुप्त गुप्त साम्राज्य पूरबी और पच्छिमी प्रान्तों में कैसे थे, इसका अनुमान करना कठिन है; विशेषकर ज हम जानते हैं कि गुप्तवंश की राजकीय सूची में इन दोनों का कहीं जिक्र नहीं है, बलि इस सूची के अनुसार इस समय एक तीसरा व्यक्ति नरसिंह गुप्त राज्य कर रहा था, इसका सिर्फ एक ही युक्तिसंगत स्पष्टीकरण हो सकता है कि उस समय गद्दी के कई दावेदा थे, जिनमें से कुछ ने साम्राज्य के विभिन्न भागों में अपना आधिपत्य जमा लिया था औ कुछ समय तक वहाँ डटे रहे थे।

वह प्रसिद्ध युद्ध, जिसमें एरन के क्षेत्र में भानुगुप्त और गोपराज ने भाग लिया था, बहुत सम्भव है, हूण राजा तोरमाण के विरुद्ध लड़ा गया था। क्योंकि हमें ज्ञात है कि लगभग उन्हीं दिनों उस महान हूण सरदार ने इस क्षेत्र को जीता था। लेकिन अगर हम यह मान भी लें कि भानुगुप्त तोरमाण से लड़ा था, तो भी हमें यह नहीं मालूम कि उसने हूणों के आक्रमण से प्रान्त की रक्षा करने के लिए युद्ध किया था या हूणों के कब्जे से प्रान्त को छुड़ाने के लिए। दोनों स्थितियों में, उसे कितनी सफलता या असफलता मिली, उसका भी हमें पता नहीं है। इस प्रकार अभिलेख में किये गये उसकी बहादुरी के गुणगान के बावजूद, भानुगुप्त का चरित्र स्पष्ट नहीं हो पाता और हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि गुप्त साम्राज्य के इस अंधकार युग में उसने क्या भूमिका अदा की थी।

हमें नरसिंह गुप्त के आरम्भिक काल का ठीक पता नहीं है। वह अपने भाई बुधगुप्त के बाद गद्दी पर बैठा था और उसने **बालादित्य** की उपाधि धारण की थी। वैन्यगुप्त या भानुगुप्त के साथ उसका क्या रिश्ता था, यह अज्ञात है और हम इस सम्भावना को भी त्याज्य नहीं मान सकते कि वह उन दोनों की मृत्यु के बाद ही गद्दी पर बैठा था। उसको सिर्फ एक ही महान सफलता का श्रेय दिया जा सकता है। वह थी, तोरमाण के बेटे मिहिरकुल को युद्ध में बुरी तरह परास्त करना, लेकिन विघटन की शक्तियाँ पहले से ही सक्रिय थीं और भयानक उपद्रवों से साम्राज्य की बुनियादें हिलने लगी थीं, जिससे वह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया। नरसिंह गुप्त का इतिहास प्रस्तुत करने से पहले, इन विघटनकारी शक्तियों पर दृष्टिपात कर लेना जरूरी है।

२. हूण[1]

ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में चीन के सीमान्त पर खानाबदोश हूण जाति के कबीले रहते थे। अपने पड़ोस के यूह-ची नाम के एक अन्य खानाबदोश कबीले से झगड़े

---

[1] हूणों के बारे में साधारण विवरण के लिए देखिए :

(i) शव्हान्न—दकुमाँ स्यु ले तुकीन ओसिदाँतो, पृ० २२३ प. पृ.

(ii) सर ऑरेल स्टाइन—द व्हाइट हून्स ऐंड किन्ड्रेड ट्राइब्स इन दि हिस्टरी आफ दि इन्डियन नार्थ-वेस्टर्न फ्रंटियर (इ. ऐ., १९०५, पृ० ७३ प. पृ.)।

के परिणामस्वरूप, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है,[1] ईसा की पहली शताब्दी में शकों और कुषाणों ने भारत पर विजय अभियान शुरू किया और कुछ भाग जीते भी। वाद में यूह-ची की तरह हूण भी पच्छिम की तरफ वढ़ गये, और दो मुख्य शाखाओं में बँट गये, जिनमें से एक शाखा तो वोल्गा नदी की ओर चली गई और दूसरी आमू दरिया की तरफ। पहली शाखा की कार्यवाहियों का सम्बन्ध रोमन इतिहास से है, इसलिए उन पर यहाँ विचार करना अनावश्यक है। आमू दरिया की घाटी के हूणों ने जुआन-जुआन कबीले का प्रभुत्व खत्म कर दिया और ईसा की पाँचवीं शती के मध्य में वे अत्यन्त शक्तिशाली ताकत वन गये। अपने शासक के खान्दान के नाम पर वे ये-था, हेफ्थेलाइट या एफ्थेलाइट कहलाने लगे। यूनानी विवरणों में उनको श्वेत हूण कहा गया है।

आमू दरिया की घाटी से श्वेत हूणों के गिरोह ईरान और भारत, दोनों ओर बढ़े। हिन्दूकुश पार करके उन्होंने गान्धार पर कब्जा कर लिया, लेकिन स्कन्दगुप्त ने उन्हें इससे आगे नहीं वढ़ने दिया और सन् ४६० ई० के करीब उन्हें वुरी तरह पराजित किया। लेकिन ईरान उनका मुकावला नहीं कर पाया और सन् ४८४ ई० में हूणों ने ईरान के शाह को हरा कर उसकी हत्या कर दी। इस सफलता से हूणों की शक्ति और प्रतिष्ठा को बहुत बल मिला और ईसा की पाँचवीं शती के अन्त तक वे अपनी राजधानी वल्ख से एक विशाल साम्राज्य पर शासन करने लगे।

ईसा की पाँचवीं शती के अन्त में या छठी शती के शुरू में हूणों के एक सरदार तोरमाण ने पंजाब से आगे वढ़कर पच्छिमी भारत पर कब्जा कर लिया, यहाँ तक कि एरन (मध्य प्रदेश का सागर जिला) भी उसके राज्य में आ गया। उसने एरन की विजय बुधगुप्त की मृत्यु से अधिक दिनों वाद नहीं की होगी, क्योंकि तोरमाण के राज्य में एरन प्रदेश का स्थानीय शासक उस सामन्त का छोटा भाई था, जो बुधगुप्त के राज्य में वहाँ का स्थानीय शासक था। तोरमाण को आमतौर पर हूण सरदार माना जाता है और हालाँकि इस वात का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, लेकिन यह सच भी हो सकता है।[2] उसके सिक्के उसके विदेशी होने का प्रमाण देते हैं और उनसे पता चलता है कि उत्तर प्रदेश के कुछ भाग, राजस्थान, पंजाब और काश्मीर, उसके राज में थे। सम्भव है कि वह गान्धार के हूण-शासक के खान्दान का हो, और भारत में अपने राज्य का विस्तार करने के लिए वहीं से आया हो। लेकिन हमारे पास उसके बारे में बहुत कम निश्चित जानकारी है। एक जैन

(iii) गिर्शमन—ले शियोनित एफ्तलोत

भारत में हूण सरगर्मियों के लिए देखिए इ. ए. xv, २४५, ३४६; इ. हि. क्वा. iii. १; न्यू. इ. ए. iv ३६; हूण सिक्कों के वारे में देखिए, ज. ए. सो. ब. १८६४, भाग I पृ. १६१ प. पृ.; हूणों की प्राचीनता और ईरान में उनकी सरगर्मियों के वारे में देखिए, भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, ६५।

[1] वाल्यूम II, पृ. १२० प. पृ. (अंगरेजी संस्करण)।

[2] तोरमाण की कौम के वारे में देखिये, न्यू. इ. ए. iv, ३६; इ. हि. क्वा. vii, ५३२।

कृति के अनुसार वह जैन धर्म का अनुयायी बन गया था और पंजाब में चन्द्रभागा (चिना के तट पर पव्वैया में रहता था।[1]

तोरमाण के बाद उसका बेटा मिहिरकुल उसका उत्तराधिकारी बना। वह श ५१५ ई० में गद्दी पर बैठा। ह्वेन-त्सांग के अनुसार उसकी राजधानी का नाम सा या स्यालकोट था और वह भारत पर राज्य करता था।

काश्मीर के इतिवृत्त[2] राजतरंगिणी में मिहिरकुल का जिक्र करते हुए कहा गया कि वह एक शक्तिशाली राजा था, जिसका काश्मीर और गान्धार दोनों पर शासन और उसने दक्षिण भारत और लंका पर भी विजय प्राप्त की थी। उसका वर्णन क हुए कहा गया है कि वह अत्यन्त निरंकुश और हिंस्र प्रवृत्ति का राजा था। उसकी क्रू की हृदयविदारक कहानियाँ विस्तार से बयान की गयी हैं। **राजतरंगिणी** में और तोरमाण का जिक्र आया है, जिसे मिहिरकुल से बहुत बाद का बताया गया है— में लगभग अठारह और राजाओं के नाम आते हैं। इस तोरमाण का चरित्र उस सरदार से बिलकुल नहीं मिलता, जिसके बारे में हमें अन्य स्रोतों से भी जानकारी मिल है, हालाँकि एक का जीवनकाल दूसरे के जीवनकाल से मिलता-जुलता नजर आता है इसके विपरीत, **राजतरंगिणी** में वर्णित मिहिरकुल की क्रूरता की कहानियाँ ह्वेन-त्सां द्वारा वर्णित कहानियों से मेल खाती हैं। लेकिन उसके राज्य की जो तारीख बतायी है, वह बहुत पहले की है। इसलिए हम इन शासकों के बारे में ऐतिहासिक जानकारी लिए **राजतरंगिणी** को विश्वसनीय स्रोत नहीं मान सकते।

इस काल में हूणों की शक्ति और उनका प्रभाव कितना था, इस बारे में संग-युं विवरण से, जो ५२० ई० में गान्धार के हूण राजा के दरबार में चीन का राजदूत हम काफी सही अन्दाज लगा सकते हैं। यह बताने के बाद कि उसके समय से दो पीढ़ि पहले हूणों ने इस राज्य को जीत कर उस पर अपनी हुकूमत कायम की थी, वह उस रा के बारे में, जिसके दरबार में वह राजदूत बनकर गया था, लिखता है:

"इस राजा (या कुल) का स्वभाव क्रूरतापूर्ण है और प्रतिशोध की भावना से उ रित है और वह अधिक से अधिक बर्बरतापूर्ण अत्याचार करता है। उसे बुद्ध के धर्म जरा भी विश्वास नहीं है, बल्कि वह दानवों का उपासक है। अपनी शक्ति पर ही भरो करके उसने की-पिन (काश्मीर) राज्य की सीमाओं को विवादग्रस्त बताकर, उससे ठान लिया है और उसके सैनिक तीन साल से इस युद्ध में लगे हुए हैं। इस राजा के प ७०० हाथी हैं.... राजा लगातार अपनी सेना के साथ सीमा पर डटा है और एक भी अपने राज्य में लौट कर नहीं आया।......" इससे कुछ दिनों बाद की ता

---

[1] इस जैन कृति का नाम कुवलयमाला है, जिसकी रचना शक संवत् ७०० (७७८ ई में हुई थी। इसकी कथावस्तु का संक्षेप देखिए: ज. बि. ओ. रि. सो. xiv, २८; तथा इ. हि. क्वा. xxxiii. २५३।

[2] इ. २८९ प. पृ. iii १०२ प. पृ.।

[3] ह्वेन-त्सांग. बी. I., xv सी.।

का एक विवरण अलेक्जेंड्रिया के यूनानी कोस्मस का लिखा हुआ मिलता है, जिसका उपनाम इन्डीकोप्लूस्टीज (भारतीय नाविक) था। उसने अपनी पुस्तक **क्रिश्चियन टॉपोग्राफी**[1] में, जिसका लिखना उसने शायद ५३५ ई० में शुरू किया था और जो ५४७ ई० तक अपने अन्तिम रूप में समाप्त नहीं हुई थी, एक स्थान पर लिखा है। 'भारत में ऊपर की ओर, यानी उत्तरी सीमा से परे, श्वेत हूण रहते हैं। उनमें एक है जो गोल्लस कहलाता है, जो अपने साथ दो हजार हाथियों और असंख्य घुड़सवारों की फौज लेकर चलता है। वह भारत का स्वामी है और वह लोगों पर अत्याचार करके उनसे जबरन खिराज वसूल करता है।' उसके बारे में कुछ कहानियाँ बयान करके, वह आगे लिखता है : "फिसान नदी भारत के सब देशों को हूणों के देश से अलग करती है।" सौभाग्य से इस लेखक ने अन्यत्र एक स्थान पर लिखा है कि "फिसान नदी और सिन्धु नदी एक ही हैं।" यह विवरण जिस तारीख का हवाला देता है, उसे हम सन् ५२३ और ५३५ ई० के बीच की मान सकते हैं।

आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि उपर्युक्त विवरण में जिस राजा गोल्लस का जिक्र किया गया है, वह वास्तव में मिहिरकुल ही था, जिसका नाम मिहिरगुल भी लिखा गया है। यह भी सम्भव है कि सुंग-युन गान्धार में कुछ दिन पहले जिस राजा से मिला था, वह भी मिहिरकुल ही था। यह बात उल्लेखनीय है कि इन दोनों विवरणों में हूण राज्य का क्षेत्र सिन्धु नदी से पश्चिम में बताया गया है, हालाँकि कोस्मस के अनुसार भारतीय राजे हूण राजा की प्रभुसत्ता मानते थे और वह उनसे जबरन खिराज वसूल करता था। लगता है कि परिस्थिति में यह तबदीली सुंग-युन के बाद हुई थी, जिस बीच हूण राजा की फौज में भी ७०० से बढ़कर २,००० हाथी हो गये थे।

अगर हम इस अनुमान को स्वीकार करके चलें तो हमारे लिए यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उचित होगा कि प्रारम्भिक सफलता के बावजूद, जो उसे एरन (मध्य प्रदेश) तक ले आई थी, तोरमाण की शक्ति क्षीण होने लगी थी। उसे पीछे हटना पड़ गया था और हूणों का अधिकार सिन्धु नदी से पार के क्षेत्र तक ही सीमित हो गया था। यह शायद उस युद्ध के कारण हुआ हो, जिसमें बुधगुप्त ने अपने दुश्मन को पराजित किया था और जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है। लेकिन यह सब अस्पष्ट और अनिश्चित है और हम किसी निश्चित उपसंहार पर नहीं पहुँच सकते। खैर, तोरमाण के अन्त के बारे में हम चाहे जो सोचें, इसमें सन्देह नहीं है कि उसके पुत्र मिहिरकुल ने एक बार फिर अपने बाप के इरादों को पूरा करने की कोशिश की। सभी प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि मिहिरकुल एक शक्तिशाली निरंकुश राजा था, जिसने उत्तर भारत के अधिकांश भाग को अपनी सेनाओं से रौंद कर अपने कब्जे में ले लिया था। उसके राज्यकाल के पन्द्रहवें साल के एक उत्कीर्ण लेख से (सन् ५३० ई०) पता चलता है कि कम से कम ग्वालियर तक उसका अधिकार-क्षेत्र फैला हुआ था, और सम्भवतः इससे आगे के क्षेत्रों

---

[1] अंगरेजी में अनूदित। अनुवादक, जे. डब्ल्यू. मैकक्रिंडिल (लन्दन, १८९७)

में भी उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार की जाती थी। जैसा हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, ह्वेन-त्सांग के अनुसार उसने समस्त भारत पर अपना कब्जा जमा लिया था। कोस्मस ने भी लिखा है कि उसके समय में हूण राजा सारे भारत का स्वामी था। लेकिन हूण बहुत दिनों तक अपनी सफलता का उपभोग नहीं कर सके और मिहिरकुल को भी भारत के दो राजाओं, यशोधर्मन और नरसिंह गुप्त के हाथों अन्ततः परास्त होना पड़ा।

यशोधर्मन ने, जिसके चरित्र पर आगे विचार किया जायगा, दावा किया है कि "उसके चरणों में तो वह (प्रसिद्ध) राजा मिहिरकुल भी अपना माथा टेकता था, जिसने स्थाणु (भगवान शिव) के अलावा अपनी जिन्दगी में पहले कभी किसी और के आगे माथा नहीं टेका था (और) जिसकी भुजाओं में बँध कर हिम के पर्वत (हिमालय) का यह गर्व भी खंडित हो गया था कि वह एक अलंघ्य दुर्ग है।" हिम के पर्वत का हवाला शायद सूचित करता है कि मिहिरकुल काश्मीर और उसके इर्दगिर्द के इलाके पर शासन करता था। स्मरण रहे कि सुंग-युन ने भी लिखा था कि हूण राजा काश्मीर से युद्ध कर रहा था। इससे अनुमान होता है कि मिहिरकुल जब भारत के आन्तरिक भागों की ओर बढ़ रहा था, मालवा के महत्त्वाकांक्षी शासक यशोधर्मन ने उसका मुकाबला किया था। जाहिर है कि मिहिरकुल इस युद्ध में हार गया था, लेकिन उसका राज्य या उसकी शक्ति का विनाश नहीं हुआ था। इसके शायद कुछ दिन बाद ही जब यशोधर्मन का पतन हुआ तो मिहिरकुल फिर अग्रभाग में आ गया।

उन दिनों साम्राज्य की गद्दी पर शायद नरसिंह गुप्त बालादित्य राज कर रहा था। वह कुछ समय तक तो यशोधर्मन के सफल आक्रमण से अभिभूत हो गया था, और मिहिरकुल ने साम्राज्य की शक्ति के इस अस्थायी ह्रास का स्पष्टतः लाभ उठाकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। ह्वेन-त्सांग के अनुसार नरसिंह गुप्त को विवश होकर मिहिरकुल को खिराज देने की अपमानजनक स्थिति स्वीकार करनी पड़ी। मिहिरकुल की जबर्दस्त ताकत और बौद्धों पर उसके अत्याचारों का वर्णन करने के बाद ह्वेन-त्सांग एक लम्बी कहानी में बयान करता है कि किस प्रकार बालादित्य ने उस पर विजय प्राप्त की। संक्षेप में कहानी इस प्रकार है :

"मगध का राजा बालादित्य-राज बौद्ध मत का पूर्ण सम्मान करता था। जब उसे मिहिरकुल के क्रूर अत्याचारों का पता चला तो उसने सख्ती से अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा शुरू कर दी और खिराज देने से इन्कार किया। मिहिरकुल जब उसके राज्य पर चढ़ आया तो बालादित्य ने ससैन्य एक टापू में शरण ली। मिहिरकुल ने अपनी सेना के मुख्य अंश को अपने छोटे भाई की कमान में छोड़ा और नावों पर चढ़ कर उस टापू में अपनी टुकड़ी सहित जा उतरा। लेकिन बालादित्य की सेना ने एक संकीर्ण दर्रे से गुजरते हुए मिहिरकुल को घेर कर कैद कर लिया। बालादित्य ने मिहिरकुल को प्राणदंड देने का निश्चय किया, लेकिन अपनी माँ के आग्रह पर उसे रिहा कर दिया। मिहिरकुल ने लौटकर देखा कि उसके भाई ने पहले से ही वापस जा कर गद्दी हथिया ली है। उसने भाग कर काश्मीर में शरण माँगी और पाई भी। फिर उसने वहाँ भी विद्रोह की आग

सुलगा दी और वहाँ के राजा को मार कर खुद काश्मीर के सिंहासन पर बैठ गया। इसके बाद उसने गान्धार के राजा की हत्या करके उसके समूचे राजपरिवार को मौत के घाट उतार दिया। इसने बौद्ध-स्तूपों और संघारामों का विध्वंस किया और गान्धार की सारी दौलत लूट कर वापस लौटा। लेकिन एक साल के अन्दर ही उसकी मृत्यु हो गयी।"

चूँकि ह्वेन-त्सांग ने मिहिरकुल को "कई शताब्दियों पहले" का राजा बताया है, इसलिए आमतौर पर उसका यह विवरण भी सन्देहास्पद है। इसके अलावा भी इस कहानी में दिये गये ब्यौरों पर विश्वास करना कठिन है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सम्भवत: भारत के काश्मीर और निश्चय ही गान्धार प्रदेश हूण-साम्राज्य के अन्तर्गत आ चुके थे, और ह्वेन-त्सांग का यह कहना कि मिहिरकुल ने इन प्रदेशों को नये सिरे से जीता था, एकदम गलत है। बालादित्य के हाथों मिहिरकुल की पराजय और कैदी की हालत में उसके सामने पेश होने की लम्बी कहानी, और विशेषत: जिस ढंग से यह सब हुआ, उसमें निस्सन्देह काफी अतिरंजना है, लेकिन इन त्रुटियों के बावजूद और किसी अन्य सन्तोषजनक परिकल्पना के अभाव में, हम अस्थायी रूप से मान सकते हैं कि बालादित्य ने मिहिरकुल को परास्त करके हूणों के हमलों से गुप्त साम्राज्य को बचाया था। शायद यही कारण था कि दो शताब्दियों बाद तक एक वीर योद्धा के रूप में बालादित्य का नाम और यश जीवित रहा। मिहिरकुल की पराजय ने, लगता है, भारत में हूणों के आधिपत्य को सदा के लिए समाप्त कर दिया था, क्योंकि यद्यपि कुछ हूण बस्तियाँ, यहाँ तक कि छोटी-छोटी हूण रियासतें, बाद में भी मिलती हैं, लेकिन हूण फिर कभी भारतीय इतिहास में महान राजशक्ति या उपद्रवी तत्त्व के रूप में नहीं उभर सके।

इस प्रसंग में, मौखरियों ने हूणों को जो शिकस्त दी थी, उसका भी उल्लेख जरूरी है। उनके दुश्मन परवर्ती गुप्तों के एक विवरण में मौखरियों के उन गर्वीले हाथियों की पंक्ति का हवाला मिलता है, "जिन्होंने युद्ध में हूणों की फौज के पाँव उखाड़ दिए थे।" सम्भवत: यह विजय मौखरी राजा ईशान वर्मा ने प्राप्त की थी और वह गुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त के एक सामन्त की हैसियत से उसके साथ ही मिहिरकुल के विरुद्ध लड़ा था। लेकिन, यह भी नामुमकिन नहीं है कि स्वाधीन मौखरी राजा ईशान वर्मा या उसके बेटे शर्व वर्मा ने एक बार फिर हूणों को परास्त किया हो। यह निश्चित है कि मौखरियों ने हूण राजाओं के अनुकरण में सिक्के जारी किए थे और वे उन प्रदेशों पर राज करने लगे थे, जो पहले हूणों के कब्जे में थे।

भारत में हूणों की शक्ति का ह्रास केवल उनके सरदारों, तोरमाण और मिहिरकुल की पराजय के कारण ही नहीं हुआ था, बल्कि इसका मुख्य कारण शायद यह था कि आमू दरिया की घाटी में स्थित उनकी केन्द्रीय सत्ता को तुर्कों और ईरानियों की संयुक्त सेनाओं ने ५६३ और ५६७ ई० के बीच नष्ट कर दिया था। इससे पूरब की दुनिया में हूणों की शक्ति हमेशा के लिए समाप्त हो गई।

३. यशोधर्मन् तथा अन्य विद्रोही सामन्त

तोरमाण और मिहिरकुल के नेतृत्व में हूणों के आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य के विघट में, जिसकी बुधगुप्त की मृत्यु के बाद से ही शुरुआत हो गयी थी, और भी योग दि था। सामन्तों, यहाँ तक कि राज्य के बड़े पदाधिकारियों ने भी धीरे-धीरे अपनी सत्त और अधिकार बढ़ा लिये और अन्त में खुद ही स्वाधीन राजा बन बैठे। इस काल के पुरालेखों में अक्सर चारों ओर होने वाली लड़ाइयों के हवाले मिलते हैं, जिनसे साफ जाहि है कि यह उपद्रवों और उत्तेजनाओं का युग था। हूणों के अलावा, हमें कम से कम ए और विदेशी आक्रमण का पता है। दक्षिण के वाकाटक राजा हरिषेण ने मालवा प आक्रमण किया था और मालवा और गुजरात पर अपना आधिपत्य जमा लिया था।

हूणों और वाकाटकों के आक्रमणों के कारण मालवा का प्रान्त एक अरसे से बड़े उपद्रवों के बीच से गुजर रहा था और इस क्षेत्र में गुप्त सम्राटों का आधिपत्य जरूर ह कमजोर पड़ गया था। इस स्थिति का फायदा उठाकर स्थानीय सामन्त यशोधर्मन ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली और कुछ ही दिनों में वह इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने न सिर्फ हूणों के सरदार मिहिरकुल को युद्ध में हराया, बल्कि गुप्त सम्राट को भी चुनौती दी।

यशोधर्मन के आरम्भिक इतिहास का कुछ पता नहीं है। जाहिर है कि ईसा के पाँचवीं शती के मध्य में[1] मालवा या उसके एक भाग पर शासन करने वाले सामन्त परिवार के साथ उसका कोई सम्बन्ध था। लेकिन यशोधर्मन के अचानक उत्थान से ए शताब्दी पहले तक के इस परिवार के पूर्व इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। उसके सैनिक विजय के बारे में हमें जो कुछ ज्ञात है वह मंदसौर[2] में प्राप्त पत्थर के दो स्तम्भों प अलग-अलग खुदे एक ही अभिलेख पर आधारित है। इस राजकीय प्रशस्ति में दाव किया गया है कि यशोधर्मन की प्रभुसत्ता उस विशाल क्षेत्र में मानी जाती थी, जो उत्त में हिमालय, दक्षिण में महेन्द्र पर्वत (गंजाम जिला), पूरब में ब्रह्मपुत्र नदी और पश्चि में समुद्र से घिरा था। बताया गया है कि उसने उन देशों तक को जीत लिया था, जिन्हों गुप्तों या हूणों के आगे भी समर्पण नहीं किया था। और आगे, जैसा पहले उल्लेख कि जा चुका है, लिखा है कि प्रसिद्ध राजा मिहिरकुल भी उसके चरणों में माथा टेकता था

दिग्विजय के इस सामान्य और रूढ़ वर्णन को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया ज सकता और हमारे लिए यह सोचना उचित नहीं होगा कि यशोधर्मन उत्तर भारत क एकछत्र सम्राट था। लेकिन साथ ही एक सार्वजनिक अभिलेख में इस तरह का साहसपू

---

[1] यह इस बात से प्रमाणित होता है कि इस सामन्त परिवार के नरवर्मन को औलि पुकारा जाता था (ई. इ., xxvi. १३०) और यशोधर्मन को औलिकर खान्दान का बत जाता है।

[2] का. इ. इ. iii, १४२, सेले, इंस्क्रि. ३९३। कुछ सूचना मंदसौर में ही प्राप्त एक अभिलेख में भी दी गयी है। (का. इ. इ. iii १५०; सेले. इंस्क्रि. ३८६)।

दावा भी शायद न किया जाता अगर उसका कोई आधार न होता, और हमें इस बात पर सन्देह नहीं करना चाहिए कि यशोधर्मन एक महान विजेता था। विशेषकर हम इस बात पर तो विश्वास कर ही सकते हैं कि उसने मिहिरकुल को हराया था। शायद, इससे भी आगे बढ़कर हम यह मान सकते हैं कि उसने मिहिरकुल को हराकर और मालवा को हूणों के आधिपत्य से मुक्त करके ही सर्वप्रथम ख्याति और लोकप्रियता पायी थी। इस प्रकार उसे जो शक्ति और प्रतिष्ठा मिली उससे शायद वह और भी विजय-अभियानों में सफल हुआ, जिनकी कीमत मुख्यतः गुप्तों को चुकानी पड़ी थी। लेकिन उसके साम्राज्य की सीमाओं का ठीक-ठीक निर्णय करना सम्भव नहीं है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि वह अन्तिम रूप से न तो गुप्त साम्राज्य को नष्ट कर सकता था, न मिहिरकुल की शक्ति को ही। ५३० और ५४० ई० के बीच वह एक उल्कापिंड की तरह आकाश में उठा और उसके साथ ही उसका साम्राज्य नष्ट भी हो गया।

यशोधर्मन के राजविद्रोह के फौरन बाद, या शायद उसके एक अनिवार्य परिणाम के रूप में, गुप्त साम्राज्य के केन्द्रीय प्रदेशों में भी अनेक सामन्ती रियासतें उठ खड़ी हुईं। उनमें से मौखरी और "परवर्ती गुप्त" सबसे शक्तिशाली थे और आगे चल कर उन्होंने भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी पूरी की। उनके इतिहास का विस्तृत ब्यौरा अलग से प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना उल्लेख ही पर्याप्त है कि मौखरी, जो पहले सामन्तों के रूप में बिहार और उत्तर प्रदेश में शासन करते थे, धीरे-धीरे उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में इतने शक्तिशाली हो गये कि शायद उन्होंने छठी शताब्दी के मध्य में एक स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया। गुप्त सम्राटों से अलग करने के लिए ही मालवा और मगध में राज करने वाले गुप्तों को "परवर्ती गुप्त" कहते हैं। मौखरियों की तरह "परवर्ती गुप्त" भी आरम्भ में शायद गुप्त सम्राटों के सामन्त थे और शायद उन्होंने गुप्त साम्राज्य की रक्षा के लिए युद्ध में भी भाग लिया था। लेकिन बाद में, वे भी स्वाधीन शासक बन बैठे। शायद उन्हीं दिनों पहले मौखरियों ने भी यही किया था।

इन्हीं दिनों या इससे कुछ पहले, वंग, अर्थात् दक्षिण और पूर्वी बंगाल, ने भी गुप्तों की अधीनता त्याग दी। पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि वैन्यगुप्त सन् ५०६-७ ई० में पूर्वी बंगाल पर **महाराज** की उपाधि से शासन करता था। यद्यपि उसने बाद में सम्राट होने का दावा किया था, लेकिन यह बिलकुल सम्भव है कि उसका वास्तविक अधिकार-क्षेत्र बंगाल तक ही सीमित रहा हो। अगर ऐसा है तो हम इस समय से बंगाल में एक स्वतंत्र राज्य का अस्तित्व मान सकते हैं। जो भी हो, स्थानीय शासकों के अन्तर्गत वंग का महत्त्व इतना बढ़ गया कि वहाँ के शासकों ने **महाराजाधिराज** की उपाधि धारण कर ली और उन्होंने गुप्त सम्राटों की तरह सोने के सिक्के भी जारी किये।

गौड़देश (पच्छिमी बंगाल) के लोगों ने भी प्रमुखता प्राप्त कर ली थी और कहा जाता है कि एक मौखरी सामन्त ने उनको परास्त किया था। "परवर्ती गुप्तों" ने भी समुद्र तट के किसी दुश्मन के खिलाफ युद्ध किया था। इन दोनों हवालों में शायद बंगाल के उपर्युक्त राजाओं की ओर संकेत किया गया हो और मौखरियों या "परवर्ती गुप्तों" ने

मिलकर या अलग-अलग रूप में गुप्त सम्राटों की ओर से, जो नाममात्र के लिए ही सही उनके अधिराज थे, वंग के विरुद्ध अभियान चलाये हों।

इन नयी उभरती हुई ताकतों के उलझे हुए इतिहास से मालूम होता है कि यशोधर्मन अधिक समय तक किसी स्थायी आधार पर या लम्बे काल के लिए अपनी सत्ता कायम नहीं रख सका। यह सम्भव है कि तत्काल के लिए चकाचौंध उत्पन्न करने वाली उसकी सामरिक सफलताओं से औरों को भी उसकी मिसाल की नकल करने की प्रेरणा मिली हो। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य के सामन्तों में आमतौर पर विद्रोह की आग भड़क उठी और यशोधर्मन शायद पहला सामन्त था जो इस आग में, जो खुद उसके कारनामों से चारों ओर फैली, जलकर खाक हो गया।

परिच्छेद : ६

गुप्त साम्राज्य का पतन

१. नरसिंह गुप्त

पिछले परिच्छेद में वर्णित घटनाओं से स्पष्ट हो गया होगा कि नरसिंह गुप्त के गद्दी पर बैठने के समय, या उसके फौरन बाद ही, आन्तरिक झगड़ों, विदेशी आक्रमणों और प्रान्तीय क्षत्रपों तथा सामन्तों के सफल विद्रोहों ने गुप्त साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को लगभग पूरा कर दिया था। एक विशाल क्षेत्र के अधिराज के रूप में सम्राट का नामोल्लेख अवश्य किया जाता था, लेकिन वास्तव में उसका हुक्म मगध और उसके आस-पास के छोटे इलाके तक ही चलता था। यशोधर्मन की विजयों का क्या परिणाम हुआ था, इसका ठीक-ठीक निर्णय तो नहीं किया जा सकता, लेकिन इतना जरूर निश्चित है कि गुप्त साम्राज्य किसी तरह इस आघात को झेलने में समर्थ रहा। पुरालेखों, मिसाल के लिए सन् ५२६ और ५४५ ई० के बीच वलभी में बाँटे गये १४ पट्टों (भूमि अनुदान पत्रों) की जाँच करने से पता चलता है कि उस समय तक कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ था, क्योंकि इन सभी पट्टों में **परमभट्टारक** या अधीश्वर के प्रति स्वामिभक्ति प्रकट की गयी है। निश्चय ही यहाँ संकेत गुप्त सम्राट से है, क्योंकि इस प्रकार की नामिक स्वामिभक्ति, जिसके पीछे कोई वास्तविकता नहीं है, केवल परम्परा पालन की खातिर किसी पुराने प्रतिष्ठित राजवंश के प्रति ही प्रकट की जाती थी। यशोधर्मन जैसी नयी राजशक्ति मात्र सांकेतिक स्वामिभक्ति से सन्तोष नहीं कर सकती थी; उसे तो पूरा समर्पण चाहिए था या कुछ नहीं। इसके अलावा उत्तर बंगाल में, सन् ५४३ ई० में जारी किये गये एक भूमि अनुदान पत्र में भी एक गुप्त सम्राट का ही (जिसका नाम मिट गया है) जिक्र किया गया है, न कि यशोधर्मन का। इसके अलावा, यशोधर्मन यद्यपि गंजाम जिले तक अपने अधिकार-क्षेत्र का दावा करता है, लेकिन हाल में ही उड़ीसा में खालीकोट जिले के सुमंडल गाँव में मिले एक शिलालेख[1] से पता चलता है कि गुप्त संवत् २५० (सन् ५६९-७० ई०) तक कलिंग में गुप्तों की प्रभुता थी। इन सब तथ्यों से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यशोधर्मन की सैन्य सफलता केवल तात्कालिक महत्त्व की थी और वह गुप्त साम्राज्य के राजनीतिक मानचित्र में कोई विशेष परिवर्तन नहीं कर पायी थी।

---

[1] इस अभिलेख का ई. इ. xxviii, ७९ में सम्पादन किया गया है।

लेकिन इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि यशोधर्मन ने गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठा और सत्ता को करारी चोट पहुँचायी थी। उसने उन सब विघटनकारी शक्तियों को बल प्रदान किया था, जो पहले से ही काम कर रही थीं। हूण नरेश मिहिरकुल ने मौके से फायदा उठाकर फिर से हमले शुरू कर दिये थे। अगर ह्वेन-त्सांग पर विश्वास करें, तो मिहिरकुल ने स्वयं नरसिंह गुप्त द्वारा शासित प्रदेशों पर हमला करके उसे खिराज देने पर मजबूर कर दिया था।

गुप्त सम्राट के लिए एक हूण सरदार को अपना अधिराज मान लेना अत्यन्त अपमानजनक रहा होगा। यह अपमानजनक स्थिति मिहिरकुल की क्रूरता और उसके अत्याचारों से और भी असह्य हो गयी होगी। आखिरकार स्कन्दगुप्त का स्वाभिमानी वंशज इस स्थिति को ज्यादा दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर पाया और उसने अपने राज्य की सीमा से इस बर्बर विजेता को निकाल बाहर करने का वीरतापूर्ण प्रयत्न किया। शायद मौखरी और दूसरे सामन्तों ने भी इस प्रशंसनीय कार्य में, जो गुप्त सम्राटों के लिए देश सेवा का अन्तिम प्रयत्न था, उसकी पूरी मदद की। नरसिंह गुप्त ने इस कार्य में किस प्रकार पूर्ण सफलता प्राप्त की, ह्वेन-त्सांग के विवरण के आधार पर हम उसका वर्णन पहले कर चुके हैं, लेकिन हम यह मान कर चले हैं कि ह्वेन-त्सांग ने जिस बालादित्य का जिक्र किया है, वह नरसिंह गुप्त बालादित्य ही था। चीनी यात्री ने उसको बौद्ध धर्म का महान् संरक्षक और नालन्दा में एक बौद्ध मठ (**संघाराम**) का निर्माता भी बताया है।

नालन्दा में प्राप्त ईसा की लगभग आठवीं शती के एक उत्कीर्ण लेख में भी "दुर्दमनीय शक्ति के एक महान् राजा बालादित्य" का जिक्र आया है, जिसने तमाम दुश्मनों को परास्त करने और सारी पृथ्वी का उपभोग करने के बाद "नालन्दा में एक असाधारण मठ" का निर्माण किया था। इस प्रकार दो प्राचीन परम्परा-सूत्रों ने उस महान् राजा की स्मृति को सुरक्षित रखा है, जिसका नाम बालादित्य था और जो समान रूप से अपनी वीरता और नालन्दा में बौद्ध मठ निर्माण करने के लिए प्रसिद्ध था। सर्वाधिक ग्राह्य यही मत लगता है कि यह बालादित्य और कोई नहीं नरसिंह गुप्त बालादित्य ही था, लेकिन इसे नितान्त निश्चित तथ्य नहीं माना जा सकता।[1]

---

[1] नरसिंह गुप्त के सिक्कों से पता चलता है कि उसने बालादित्य की उपाधि धारण कर थी। इसलिए कुछ लोग उसे मगध के राजा बालादित्य से अभिन्न मानते हैं, जिसने ह्वेन-त्सांग अनुसार, मिहिरकुल को परास्त किया था। इस कृति में प्रदत्त अन्तिम तीन गुप्त सम्राटों का इति इसी अभिन्नता की स्वीकृति पर आधारित है। लेकिन कुछ विद्वान इस मत को स्वीकार नहीं कर उनका कहना है कि नरसिंह गुप्त का राज्यकाल सन् ४७४ ई० से पहले ही समाप्त हो गया और वे उसके पुत्र कुमारगुप्त को उस नाम के उस राजा से अभिन्न मानते हैं, जिसका उल्लेख वर्ष के ही एक उत्कीर्ण लेख में मिलता है (देखिए पृष्ठ ३२)। डॉ० रायचौधरी ह्वेन-त्सांग के बाल दित्य को भानुगुप्त से अभिन्न मानते हैं। (पा. हि, ऍं. इ. ५, ५९६-९७)

२. अन्तिम दो गुप्त सम्राट

नरसिंहगुप्त अन्तिम महान् गुप्त सम्राट था। उसके बाद उसका बेटा कुमारगुप्त तृतीय और फिर उसका पोता विष्णुगुप्त गद्दी पर बैठे।[1] उन्होंने नरसिंह गुप्त के सिक्कों की किस्म के ही सोने के सिक्के चलाये, और, उसकी ही तरह उन्होंने भी अपने नामों के पीछे क्रमशः **क्रमादित्य** और **चन्द्रादित्य** की उपाधियां भी लगायीं। उन दोनों का राज्य काल अनुमानतः सन् ५३५ और ५७० ई० के बीच था। उनके सिक्कों में मिलावट की मात्रा लगातार बढ़ती गयी, जो इन दोनों शासकों के राज में गुप्त साम्राज्य के तेजी से पतन का स्पष्ट प्रमाण पेश करते हैं। लेकिन यह तथ्य कि उन्होंने सोने के सिक्के जारी किये थे, साबित करता है कि गुप्त साम्राज्य का ताना-बाना अभी तक पूरी तरह छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था। इस निष्कर्ष की पुष्टि उन तीनों तथ्यों से भी होती है, जिनका हम पहले हवाला दे चुके हैं; पहला यह कि उत्तर बंगाल के एक उत्कीर्ण लेख में सन् ५४३ ई० में भी किसी गुप्त सम्राट को अधिराज माना गया है; दूसरा यह कि वलभी के शासक अपने (गुप्त) अधिराज के प्रति सन् ५५० ई० तक अपनी स्वामिभक्ति प्रदर्शित करते रहे थे; और तीसरा यह कि कलिंग में गुप्तों का अधिराज्य सन् ५६९ में भी माना जाता था।

ह्वेन-त्सांग ने बालादित्य को मगध का राजा बताया है, और मौखरियों और "उत्तर-कालीन गुप्तों" के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसको दृष्टि में रखते हुए, यह वर्णन गुप्त सम्राट का ही लगता है। मगध से बाहर उसके साम्राज्य में शायद कलिंग और उत्तरी बंगाल के प्रदेश ही बाकी रह गये थे। जहां एक तरफ हम दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी बंगाल में स्वाधीन राजाओं की चर्चा सुनते हैं, वहां दूसरी तरफ सन् ५४३ में, उत्तर बंगाल के एक अनुदान-पत्र में हम देखते हैं कि एक गुप्त राजा का अधिराज के रूप में आह्वान किया गया है। दुर्भाग्य से उसके नाम का पहला भाग नष्ट हो गया है, लेकिन वह 'विष्णु" भी हो सकता था, जो अन्तिम गुप्त सम्राट था। इस सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है कि अपने इस आखिरी शासन-क्षेत्र से गुप्तों का अधिकार कब मिट गया। मगध के केन्द्र में स्थित गया जिले में प्राप्त एक भूमि-अनुदान-पत्र सन् ५५१-५२ ई० का है, जिसे नन्दन नाम के एक व्यक्ति ने, जो **कुमारामात्य महाराज** कहलाता था, जारी किया था। चूँकि इस अनुदान-पत्र में किसी भी गुप्त शासक का हवाला नहीं दिया गया है, इसलिए हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सन् ५५० ई० के लगभग मगध में भी, अधिकांशतः गुप्तों की प्रभुसत्ता खत्म हो चुकी थी। लेकिन नन्दन की **कुमारामात्य** की उपाधि से जाहिर

---

[1] नालन्दा में मिली एक मुहर से विष्णुगुप्त के अस्तित्व और गुप्तों की वंशावली में उसके स्थान का पता चलता है (ई. इ. XXVI, २३५; इ. हि. क्वा. XIX. ११९) कुमारगुप्त तृतीय के, जो कुमारगुप्त द्वितीय से भिन्न था, सिक्कों के बारे में जानने के लिए देखिए ज. बि. रि. सो. XXXIV, भाग III-IV, पृ. २०-२२।

होता है कि अठारहवीं शती के अवध के वजीरों की तरह, वह भी तब तक गुप्तों के प्रति अपनी स्वामिभक्ति से खुलकर इन्कार करने का साहस नहीं कर पाया था। कुछ गुप्त सम्राट इसके बाद भी एक चौथाई शती तक शासन करते रहे थे, यह बात कलिंग में, कम से कम सन् ५६९ ई० तक, उनकी प्रभुता चलते रहने से साबित सी लगती है।

वस्तुतः, अनेक दृष्टियों से गुप्त साम्राज्य के पतन और मुगल साम्राज्य के पतन में अद्भुत समानता दीखती है। दोनों का पतन मुख्य रूप से राज परिवार के आन्तरिक झगड़ों और सामन्तों और प्रान्तीय क्षत्रपों के विद्रोहों के कारण हुआ था, हालाँकि विदेशी आक्रमण ने भी इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में योग दिया था। आमतौर पर इतिहासकारों का विश्वास है कि हूण-आक्रमण ही गुप्त साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण था। लेकिन इस मत को स्वीकार करना कठिन है। ईसा की पाँचवीं शती में आदि से अन्त तक हूणों के आक्रमण के विरुद्ध भारत के प्रवेश द्वार सफलतापूर्वक बन्द रखे गये थे। पहले तोरमाण और फिर मिहिरकुल की अस्थायी सफलताओं के बावजूद काश्मीर और अफगानिस्तान को छोड़कर, भारत की राजनीति में हूणों की भूमिका कभी सर्वोपरि महत्ता नहीं पा सकी थी। ऐतिहासिक प्रमाणों की संगति तो इसी मत से बैठती है कि हूणों ने गुप्त साम्राज्य को उतनी सांघातिक चोट नहीं पहुँचाई थी, जितनी यशोधर्मन जैसे महत्त्वाकांक्षी सामन्तों ने। हूणों ने बड़े पैमाने पर लूटमार तो मचाई थी, लेकिन उनकी व्यापक सफलताओं का जोर जल्द ही खत्म हो गया था। इसके विपरीत **यशोधर्मन** ने जो फूट की दरार डाली थी, वह तब तक फैलती गयी जब तक साम्राज्य का शक्तिशाली ढांचा टूट कर उस गह्वर में डूब नहीं गया।

सामान्य सन्दर्भ

जे. एफ. फ्लीट—**कार्पस इंस्क्रप्सनम इंडिकारम,** जिल्द III (प्रारम्भिक गुप्त राजाओं और उनके उत्तराधिकारियों के अभिलेख), कलकत्ता, १८८८।

डी. सी. सरकार—**सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग ऑन इंडियन हिस्टरी एँड सिविलाइजेशन,** जिल्द I, कलकत्ता, १९४२।

जे. एलन—**कैटेलग ऑफ दि क्वायंस ऑफ दि गुप्ता डाइनेस्टीज एँड ऑफ शशाँक, किंग आफ गौड़,** लन्दन, १९१४।

व्ही. ए. स्मिथ—**अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया,** अध्याय ११ और १२।

आर. डी. बनर्जी—**दि एज ऑफ दि इम्पीरियल गुप्ताज,** बनारस, १९३३।

आर. जी. बसाक—**दि हिस्टरी आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया,** कलकत्ता, १९३४।

एस. के. आयंगर—स्टडीज इन गुप्ता हिस्टरी, ज. इ. हि. VI पूरकांक।

वाकाटक गुप्ता एज—आर. सी. मजुमदार और ए. एस. अल्टेकर द्वारा सम्पादित (**न्यू हिस्टरी आफ दि इंडियन पीपुल,** जिल्द–VI), इस पुस्तक के पृ. सं. ४८०-८ पर गुप्त अभिलेखों की सूची दी हुई है।

एच. सी. रायचौधरी—पोलिटिकल हिस्टरी ग्राफ ऐंशिएन्ट इंडिया (पाँचवां संस्करण), कलकत्ता, १९५० ।

ग्रार. एन. दांडेकर—ए हिस्टरी ग्राफ दि गुप्ताज, पूना, १९४१ ।

टिप्पणी :

इस जिल्द के ग्रन्त में प्रदत्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में महत्त्वपूर्ण ग्रभिलेखों की सूची दी गयी है ।

परिच्छेद : ७

गुप्त काल में उत्तर भारत की छोटी रियासतें

गुप्त साम्राज्य के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय शक और कुषाण राज्यं का भी उल्लेख किया गया है। महान् सम्राट समुद्रगुप्त ने दोनों पर अपना प्रभुत्व स्थापि कर लिया था और उसके बेटे ने अन्ततः शक राज्य को जीत कर अपने साम्राज्य में मिल लिया था। इन दोनों वंशों के आरम्भिक इतिहास का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। और इस परिच्छेद में हम यत्किंचित् उपलब्ध जानकारी के आधार पर गुप्त साम्राज्य जमाने में उनके इतिहास का खाका आसानी से खींच सकते हैं।

१. शक या पश्चिमी क्षत्रप

पश्चिमी क्षत्रपों के सामन्त प्रदेश पर, जिसमें मालवा, गुजरात और काठियावा प्रायद्वीप शामिल थे, लगभग दो सौ वर्षों से चष्टन-वंश राज करता आया था। लेकि ईसा की चौथी शताब्दी के आरम्भ में, जब रुद्रसिंह द्वितीय ने गद्दी के वैध उत्तराधिकारी निकालकर, सन् ३०४ या ३०५ ई० में, खुद गद्दी पर कब्जा कर लिया तो यह वंश-परम्प टूट गयी। उसके बाप, स्वामी जीवदामन की कोई उपाधि नहीं थी, लेकिन सम्भव है वह पुराने राजकुल की किसी नयी शाखा का ही सदस्य हो; फिर भी उस राजकुल उसके रिश्ते का हमें कोई निश्चित पता नहीं है।[२]

उत्तराधिकार में इस परिवर्तन के साथ साथ हमें दो अन्य महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्या देना चाहिए, जिनका इस राज्य के इतिहास पर प्रभाव पड़ा था। पहली बात यह कि तो रुद्रसिंह द्वितीय ने, जिसने गद्दी पर अनधिकार कब्जा किया था, और न उसके पु और उत्तराधिकारी यशोदामा (**यशोदामन्**) द्वितीय ने ही महाक्षत्रप की उपा

---

[१] जिल्द II, परि. VII-IX.

[२] यह ऐतिहासिक विवरण मुख्यत: पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों पर आधारित है। रैप्सन अपनी पुस्तक "कैटेलग ऑफ दि क्वायंस आफ दि आन्ध्र डाइनेस्टी, दि वेस्टर्न क्षत्रपाज, एट्सेट्रा" इन सिक्कों का अध्ययन किया है। रैप्सन ने अपनी भूमिका में सिक्कों का वर्णन करने के साथ (पृ. ६३-१९४) उनसे प्राप्त ऐतिहासिक जानकारियों को भी सहेजा है (पृ. xcvii-clvii)। अलग से बताया गया है तो समझना चाहिए कि इस परिच्छेद में सिक्कों के बारे में जो भी वक्तव्य वे सब इसी पुस्तक पर आधारित हैं।

धारण की थी। दोनों ही "क्षत्रप" की उपाधि से सन्तुष्ट रहे, जो अपेक्षाकृत निचले दर्जे की थी। इस बात को दृष्टि में रखते हुए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि प्रायः शुरू से ही राज्य की प्रमुख राजनीतिक सत्ता नियमित रूप से किसी न किसी महाक्षत्रप के हाथों में रहती थी। "क्षत्रप" उपाधि उसके उत्तराधिकारी की होती थी, जो राज्यकार्य में उसका सहायक होता था। दूसरी बात यह कि रुद्रसिंह द्वितीय और उसके पुत्र के राज्यकाल के बाद, जो सन् ३०५ ई० से ३३२ ईसवी तक कायम रहा, सोलह बरस की अवधि में हमें पश्चिमी क्षत्रपों के कोई भी सिक्के नहीं मिले हैं।

इन तथ्यों से जाहिर है कि यह काल संकटपूर्ण था, हालाँकि यह रियासत जिन संकटों से गुजरी, उनके स्वरूप और कारणों पर हम अधिक प्रकाश डालने में असमर्थ हैं।[1] साँची के नजदीक कानाखेड़ा से प्राप्त एक उत्कीर्ण लेख इस मामले पर कुछ प्रकाश डालता है। इसके विवरण में शक नन्द के पुत्र **महा दंड नायक**[2] शक श्रीधर वर्मा, अपने राज्य काल के १३वें वर्ष में किये गये किसी पुण्य कार्य का हवाला है। एरन से प्राप्त एक दूसरे शिलालेख में, जिस पर उसके शासनकाल के २७वें वर्ष की तारीख अंकित है, उसे **राजन्** तथा **महाक्षत्रप**[3] दोनों उपाधियों से पुकारा गया है। पहले अभिलेख में भी एक तारीख दी गई है, जो सम्भवतः शक संवत् की है, जिसे २४१ पढ़ा गया है। यह पाठ असन्दिग्ध नहीं है, लेकिन इसे स्वीकार करने पर हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि **महाक्षत्रप** श्रीधर वर्मा ने रुद्रसिंह द्वितीय को वैध अधिराज मानने से इन्कार किया था और ३०६ या ३०७ ईसवी में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था, अर्थात् रुद्रसिंह के गद्दीनशीन होने के एक या दो वर्ष के भीतर ही। इससे यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि रुद्रसिंह

---

[1] इस उत्कीर्ण लेख का सम्पादन सबसे पहले आर. डी. बनर्जी ने किया था (ई. इ. XVI, २३०), जिन्होंने इसको जीवदामन का विवरण कहा था। एन. जी. मजूमदार ने इसका नए सिरे से सम्पादन किया (ज. प्रो. ए. सो. व. XIX, ३३७)। उन्होंने ठीक ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि इसमें जीवदामन का तो कहीं हवाला भी नहीं है और इस अभिलेख में दरअसल श्रीधर वर्मा का विवरण दिया गया है और इस पर उसके राज्य काल के तेरहवें वर्ष की तारीख पड़ी है। डा. बनर्जी ने इस तारीख को २०१ पढ़ा था, लेकिन श्री मजूमदार की राय में डा. बनर्जी ने जिस चिह्न को २०० समझा था, वह दरअसल अन्तरिम विराम चिह्न है। उन्होंने बताया कि इस चिह्न से कुछ आगे चलकर अंकों के तीन चिह्न हैं। इनमें से पहला चिह्न स्पष्ट नहीं है, इसलिए उन्होंने कामचलाऊ तौर पर उसे २०० मान लिया। अन्य दोनों चिह्न स्पष्टतः ४१ हैं।

[2] **महा दंड नायक** का अर्थ न्यायाधीश या सेनापति भी हो सकता है। यहां पर शायद दूसरा अर्थ ही अधिक उपयुक्त है।

[3] यह शिलालेख भी उसी स्तम्भ पर खोदा गया है, जिस पर गोपराज का मरणोत्तर शिलालेख अंकित है (देखिए पृ. ३७) यह अभिलेख अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। लेकिन महामहोपाध्याय वी. वी. मिराशी ने जयपुर में इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस के १४वें अधिवेशन में इसका विवरण पेश किया था (देखिए 'समरी आफ पेपर्स', पृ. १६) उन्होंने इस बात से इन्कार किया है कि कानाखेड़ा में श्रीधरवर्मा का जो विवरण प्राप्त हुआ है उस पर शक संवत् की तारीख है, और मुख्यतः इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि वह शायद सौराष्ट्र के क्षत्रप-परिवार का नहीं था।

द्वितीय ने हिंसात्मक तरीकों से गद्दी हासिल की थी, जिससे गृहयुद्ध या आन्तरिक संघर्ष शुरू हो गये थे, जिनके फलस्वरूप पश्चिमी क्षत्रपों के हाथ से मालवा निकल गया था। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद शिलालेख से हमें मालूम है कि चौथी सदी ईसवी के मध्य में मालवा में कई जन-जातियों के छोटे-छोटे राज्य थे और इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उस वक्त शक क्षत्रपों का इस प्रान्त पर कहीं भी अधिकार था।

इस प्रकार के विद्रोह शायद राज्य के और भी भागों में हुए हों, और यह आन्तरिक झगड़ा ही शायद रुद्रसिंह द्वितीय और उसके पुत्र यशोदामा द्वितीय की, जो कभी **महाक्षत्रप** की उपाधि धारण नहीं कर पाया, शक्ति और सत्ता के क्षीण हो जाने का मुख्य या कम से कम एक कारण रहा हो।

सन् ३३२ और ३४८ ई० के बीच, इस वंश के सिक्कों का न होना यह जाहिर करता है कि इस अवधि में राजनीतिक कठिनाइयाँ कम होने की बजाय और ज्यादा बढ़ गयी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि रुद्रसिंह का वंश गद्दी से हटा दिया गया और सन् ३४८ ई० में या उसके कुछ बाद ही **महाक्षत्रप** स्वामी रुद्रसेन तृतीय ने गद्दी पर कब्जा कर लिया। उसके सिक्कों पर उत्कीर्ण प्रशस्तियों में उसे **महाक्षत्रप** स्वामी रुद्रदामन द्वितीय का पुत्र बताया गया है, लेकिन उसके पिता का एक भी सिक्का अभी तक नहीं मिला है। इसलिए यह रुद्रदामन इस उपाधि का मात्र दावेदार था या सचमुच उसे राजसत्ता प्राप्त थी, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। पुराने राजकुल से इस नये राजकुल का अगर कोई रिश्ता था तो क्या था, यह अभी तक अज्ञात है। शायद उसने एक सुदृढ़ आधार पर अपना शासन कायम कर लिया था और एक हद तक पुरानी प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर ली थी, जैसा **महाक्षत्रप** की उपाधि के पुनः प्रयोग से जाहिर होता है। लेकिन अगर ऐसा था, तो यह सफलता अल्पकालीन ही थी। क्योंकि, जहाँ शक संवत् २७० से लेकर २७३ (अर्थात् ३४८ से ३५१ ई०) तक रुद्रसेन तृतीय के हर वर्ष जारी किए गये चाँदी के सिक्के मौजूद हैं, वहां इसके बाद के वर्षों के सिक्के नहीं मिलते। फिर तो सन् ३६० में ही नये सिक्के जारी हुए लगते हैं।[1] यहाँ फिर नये सिक्कों का जारी न होना राजनीतिक उपद्रवों का सूचक हो सकता है, हालाँकि ऐसे नकारात्मक प्रमाण पर ही निर्भर करना बिल्कुल निरापद नहीं है।

यह कहा जा सकता है कि ईसा की चौथी शती के पूर्वार्ध में पश्चिमी क्षत्रप जिन मुसीबतों में लगातार फँसे रहे, वे विदेशी आक्रमणों के कारण भी पैदा हुई थीं, जिन्हें शायद आन्तरिक झगड़ों से प्रोत्साहन मिला था। इस शती के पूर्वार्ध में हम केवल उन दो ताकतों का ही अनुमान कर सकते हैं—वाकाटक और ईरान के सशानिद का—जो आक्रमण कर

---

[1] रैप्सन (पू. पु. cxliv) का कहना है कि २७३ के वाद और २८६ से पहले रुद्रसेन तृतीय के चाँदी के सिक्के थे ही नहीं। लेकिन तवसे शक संवत् २८२ और २८४ के रुद्रसेन तृतीय के कुछ सिक्के प्राप्त हो गए है। (न्यू. सी. XLVII. पृ. ९६, ९७) स्वयं रैप्सन ने २८०-८५ की तारीख के सीसे के सिक्कों का हवाला दिया है (पृ. १८७), लेकिन उन पर किसी शासक का नाम नहीं है।

सकती थीं। वाकाटकों का तत्कालीन शासक प्रवरसेन निस्सन्देह एक शक्तिशाली राजा था और वह इस वंश का एकमात्र ऐसा शासक था जिसने सम्राट की उपाधि धारण की थी। यह भी असम्भव नहीं है कि उसने इस क्षेत्र में अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के लिए राजगद्दी के लिए झगड़ने वाले किसी एक दल की सहायता की हो या उसका साथ दिया हो, लेकिन वाकाटक अभिलेखों में ऐसी किसी कोशिश का हवाला नहीं मिलता। सशानिदों के वारे में भी ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि उन्होंने इस काल में भारत की राजनीति में कोई हस्तक्षेप किया हो और हमें उनके इतिहास का जो भी ज्ञान है, उससे इसकी सम्भावना और भी नजर नहीं आती। इनके अलावा इस सम्बन्ध में अगर हम किसी तीसरी ताकत के वारे में सोच सकते हैं, कम से कम चौथी शती के उत्तरार्ध को सामने रखकर, तो वह सिर्फ गुप्त साम्राज्य है। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद शिलालेख में इसका स्पष्ट संकेत है कि शक क्षत्रपों पर एक प्रकार से सम्राट का राजनीतिक प्रभुत्व था। सम्भव है कि शक क्षत्रपों ने विना लड़े उसका राजनीतिक प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया हो और एक लम्वे काल तक यह लड़ाई चली हो। तत्काल इसका कोई निर्णायक परिणाम नहीं निकला, लेकिन शक राजा को अवश्य ही मुंहकी खानी पड़ी थी, जिससे शायद उसकी हुकूमत कमजोर हो गयी और आन्तरिक उपद्रव उठ खड़े हुए। सन् ३३२ से ३४८ ई० और फिर ३५१ से ३६० ई० के बीच नये सिक्के जारी न किये जाने के पीछे यह परिस्थिति ही मुख्य कारण थी। हम फिर से याद दिला दें कि एक विवेचन के अनुसार शक-क्षत्रपी दरअसल अधीन राज्यों की कोटि में आती थी, जिसे गुप्त सम्राटों के सिक्कों का इस्तेमाल करना पड़ता था।[1] पश्चिमी क्षत्रपों द्वारा नये सिक्कों का ढालना शायद इसी कारण बन्द हुआ हो, लेकिन इसे एक अस्थायी निष्कर्ष ही समझना चाहिए।[2]

रुद्रसेन तृतीय द्वारा सन् ३६० से ३९० ई०[3] तक नियमित रूप से प्रति वर्ष नये सिक्के जारी करने से जान पड़ता है कि उसने एक हद तक फिर अपनी सत्ता और प्रतिष्ठा कायम कर ली थी। लेकिन ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उसके राज्य काल के अन्तिम दिनों में फिर उपद्रव शुरू हो गये थे। सिक्कों से पता चलता है कि सन् ३८२ ई० में (और फिर शायद ३८४ ई० में भी) उसकी वहन के बेटे स्वामी सिंहसेन ने **महाक्षत्रप** की उपाधि धारण कर ली थी। इसलिए, या तो कुछ समय के लिए रुद्रसेन

---

[1] समुद्रगुप्त सम्वन्धी विवरण में इस वात पर पहले विचार किया जा चुका है।

[2] डॉ. डी. सी. सरकार ने किंचित् विस्तार से यह परिकल्पना पेश की है। उन्होंने यह प्रस्ताव भी किया है कि रुद्रदेव को, जो आर्यावर्त के उन नौ राजाओं में से एक था, जिन्हें समुद्रगुप्त ने समाप्त कर दिया था, शक क्षत्रप रुद्रदामन द्वितीय या उसके पुत्र रुद्रसेन तृतीय से अभिन्न समझना चाहिए (प्रो. इ. हि. का. VII. ७८)।

[3] रैप्सन ने ३०० के बाद रुद्रसेन तृतीय का कोई सिक्का नहीं देखा। लेकिन सोनपुर में जो खजाना गड़ा हुआ मिला है, उसमें रुद्रसेन तृतीय के दो सिक्के हैं, जिनमें से एक (३) १२ की तारीख है और दूसरे पर ३१०+x की। इन दोनों के इकाई चिह्न मिट गये हैं (न्यू. सी. XLVII. ९६)।

तृतीय को उसके भानजे ने गद्दी से उतार दिया था या फिर गृहयुद्ध छिड़ गया था, जिसके परिणामस्वरूप कम से कम कुछ वर्षों के लिए राज्य का बंटवारा हो गया था। ऐसा सिर्फ एक ही सिक्का मिला है जो स्वामी सिंहसेन के पुत्र रुद्रसेन चतुर्थ के शासक होने का प्रमाण देता है, लेकिन चूँकि उस पर कोई तारीख नहीं है, इसलिए यह कहना कठिन है कि वह एक मात्र शासक था या अपने नाना रुद्रसेन तृतीय का प्रतिद्वन्द्वी शासक था। जो भी हो इसके बाद शीघ्र ही हम एक नये राजा रुद्रसिंह तृतीय को महाक्षत्रप की पदवी ग्रहण किये पाते हैं। उसकी तारीख ३१x है (सिक्कों पर से तिथि चिह्न इकाई का अंक मिट गया है) जो सन् ३८८ और ३९८ ई० के बीच का कोई भी वर्ष हो सकता है। इन सिक्कों में रुद्रसिंह तृतीय को **महाक्षत्रप** स्वामी सत्यसिंह का पुत्र कहा गया है। स्वामी सत्यसिंह का एक भी सिक्का नहीं मिला है, इसलिए हम नहीं जानते कि वह सचमुच शासक था या किसी प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले में **महाक्षत्रप** पदवी का दावेदार ही था। पूर्ववर्ती शासकों के साथ उसका क्या रिश्ता था, इसका भी कुछ पता नहीं चलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् ३६० से ३८० ई० तक के बीस वर्षों के संक्षिप्त शान्तिपूर्ण काल के बाद पश्चिमी क्षत्रपों का राज्य पुनः आन्तरिक झगड़ों में उलझ गया। सन् ३८० ई० में या इससे कुछ पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय के गद्दी पर बैठने से भी शायद इन राजनीतिक उपद्रवों का सम्बन्ध हो,क्योंकि इस राज्य पर नया सम्राट लालच भरी नजर गड़ाये हुए था। रामगुप्त वाले प्रसंग को हम सच मानें या न मानें, यह एक आक्रामक एवं साम्राज्यिक और विस्तारक नीति का ही परिणाम था कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भारत भूमि से विदेशी शासन के इस अन्तिम चिह्न को मिटाकर अपने बढ़ते हुए साम्राज्य को पश्चिम में प्राकृतिक सीमाओं तक फैलाने का निश्चय किया।[1]

दुर्भाग्य से हमें उस सामरिक अभियान का बहुत कम पता है जिसने तीन सौ वर्षों से इस प्रदेश में राज करते आने वाले शक क्षत्रपों की पाँत के अंतिम शासक स्वामी रुद्रसिंह तृतीय को समाप्त किया। **हर्ष-चरित** में वर्णित उस घटना को, जिसमें चन्द्रगुप्त एक स्त्री के वेश में जाकर शक राजा की हत्या करता है, लोग आमतौर पर रुद्रसिंह तृतीय के साथ उसके अन्तिम युद्ध से सम्बन्धित मानते आये हैं। लेकिन इस साधारण तथ्य को एक बड़ी घटना के रूप में उभारा गया है, जो रामगुप्त और ध्रुवदेवी के गिर्द विकास करती है और जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।[2] पश्चिमी क्षत्रपों के इतिहास की यहां जो रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है, वह यदि सही मानी जाय, तो यह बात सम्भावना के दायरे में आती ही नहीं कि वे कभी इतने शक्तिशाली हो गये थे कि गुप्त साम्राज्य की ताकत को चुनौती दे सकते थे और उन्हें इतनी अपमानजनक शर्तें मानने के लिए मजबूर कर

---

[1] पश्चिमी क्षत्रपों के विरुद्ध चन्द्रगुप्त के अभियानों के बारे में पुरालेखों में प्राप्त प्रमाणों पर आधारित उक्त सम्राट का विवरण प्रस्तुत करने के दौरान हम विवेचन कर चुके हैं।

[2] देखिए पृ. १८-१६ ।

सकते थे; ऐसी शर्तें तो हमारी जानकारी में कभी किसी राजा ने दूसरे राजा के सामने पेश नहीं कीं।

सौराष्ट्र (काठियावाड़ प्रायद्वीप) को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पूर्णतः किस वर्ष जीता, उसका विवेचन हम उक्त सम्राट का विवरण देते समय पहले ही कर चुके हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि पश्चिमी क्षत्रपों का पतन आन्तरिक झगड़ों तथा अन्य उपद्रवों के कारण हुआ था, या कम से कम इन झगड़ों ने, जो ईसा की चौथी शती में लगातार और विशेषकर अन्तिम दो दशकों में चलते रहे थे, पतन की प्रक्रिया को तेज तो कर ही दिया था। हालाँकि वे इतिहास के मंच से गायब हो गये, लेकिन वे अपने विशिष्ट प्रकार के सिक्के छोड़ गये जिन्हें उनके बाद मामूली सी तब्दीली के साथ गुप्त सम्राटों ने लगभग दो सौ वर्षों तक जारी रखा।

२. कुषाण

महान कुषाण सम्राटों के इतिवृत्त के बारे में अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका है, और यद्यपि विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि कनिष्क सन् ७८ ई० में गद्दी पर बैठा था या सन् १२८ ई० में लेकिन देखा जाय तो इन दोनों में से किसी भी तिथि के पक्ष में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[1] इसलिए यह कहना भी सम्भव नहीं है कि सौ वर्ष तक राज्य करने के बाद महान् सम्राट कनिष्क के वंश का अन्त वासुदेव की मृत्यु के साथ किस तारीख को हुआ। प्रचलित धारणा के अनुसार हम अस्थायी रूप से इस तारीख को सन् १८० और २३० ई० के बीच मान कर इस परिच्छेद में कुषाणों के परवर्ती इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते रहे हैं।

हमारी जानकारी का मुख्य आधार चीनी इतिहास में प्राप्त कुछ संक्षिप्त हवाले और कुषाणों के वे सिक्के हैं जो भारत में विशेषकर पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रान्त में बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं।[2]

चीनी लेखक मा-त्वान-लिन के अनुसार वेम कड़फिजीज के सेनापतित्व में उत्तर भारत पर विजय पाने के बाद कुषाण बहुत समृद्ध और शक्तिशाली हो गये और उनकी यह स्थिति द्वितीय हानवंश (सन् २२१ से २६३ ई०) के समय तक कायम रही।[3] एक

---

[1] इस बात पर पहले भी विचार किया जा चुका है। (देखिए जिल्द II, पृ. १४३-४६, अंग्रेजी संस्करण)। सबसे नया मत बी. गिर्शमैन ने पेश किया है। उनका कहना है कि कनिष्क सन् १४४ में गद्दी पर बैठा था (CC XXXIV, ५६)।

[2] इस काल से संबंधित चीनी सूत्रों और कुषाण सिक्कों से प्राप्त सारी सूचनाओं को जमा करके श्री एम. एफ. सी. मार्टिन ने प्रकाशित किया है। (देखिए ज. रा. ए. सो. ब. ले. मुद्रा विशेषांक XLVII, पृ. २३-५०।) आगे हम इस लेख का हवाला 'मार्टिन' के रूप में देंगे।

[3] मार्टिन, पृ. २५।

दूसरे चीनी लेखक यू-हुश्रान का कहना है कि सन् २३९ ई० के लगभग की-पिन (काश्मीर ता-हिया (बैक्ट्रिया, बल्ख), काश्रो-फू (काबुल) श्रौर तिएन-चू (भारत) कुषाणों श्राधिपत्य में थे।[2] इसके श्रतिरिक्त श्रन्य प्रमाण भी मौजूद हैं जिनसे मालूम होता है इस काल में भी हिन्दूकुश के पार तक कुषाणों का राज था।[3] लेकिन शीघ्र ही ईरान नयी स्थापित सशानिद हुकूमत से उनका युद्ध छिड़ गया। यहां श्रार्देशिर के नेतृत्व में वंश के एकाएक उत्थान की विस्तृत चर्चा करना जरूरी नहीं है।[4] इतना वताना ही का है कि सन् २२४ ई० में पार्थिया के महान् शाह श्रर्तबानुस पंचम को हराने के बाद श्रार्देशि पार्थियन साम्राज्य के पश्चिमीं प्रान्तों को भी जीत लिया श्रौर फिर ईरान के शाह की उपाधि धारण कर ली। इसके बाद उसने पूर्व की दिशा में श्रनेक सामरिक श्रभि सफलतापूर्वक चलाये श्रौर सीस्तान, श्राधुनिक खुरासान, मर्व श्रौर बल्ख श्रादि श्र प्रदेशों पर कब्जा कर लिया।[5] यह भी दावा किया गया है कि पंजाब श्रौर कावुल घा के कुषाण शासक श्रौर तूरान (क्वेटा के दक्षिण में कुज्दर) श्रौर मकरान के राजा श्रार्देशिर को श्रपना श्रधिराज मानते थे[6] यद्यपि यह कुछ सन्दिग्ध सा लगता है।

---

१. की-पिन की शिनाख्त के लिए श्रागे देखिए परिच्छेद २३।

२. यह तथा श्रन्य चीनी प्रमाण, जिनमें महान-कुषाणों के गौरव काल का तीसरी शती ई हवाला दिया गया है, कुषाण-इतिवृत्त से सम्बन्धित मेरे लेख में विवेचित हैं। (ज. डि. ले. १ पृ. ७१ प. पृ.)।

३. इस बात को सशानिद सिक्के, जिन पर श्रागे विचार किया जाएगा, स्पष्टतः प्रमा करते हैं।

४. देखिए 'कैम्ब्रिज ऐंशिएंट हिस्टरी', जिल्द XII. पृ. १०९-१४। हेर्त्सफेल्ड ने भी श्रपने कुशा सस्सानियन क्वायंस (मे. श्रा. स. इ. सं. ३८) पृ. ३२ प. पृ. में सशानिदों के इतिहास की सं रूपरेखा प्रस्तुत की है। इस पुस्तक में दिया गया विवरण इन्हीं दो श्रधिकारी विवरणों पर श्राधा हैं। राजाश्रों के नामों के हिज्जे 'कैम्ब्रिज ऐंशिएंट हिस्टरी' के श्रनुसार दिए गए हैं।

५. हेर्त्सफेल्ड, कुश-सस, क्वायंस, पृ. ३२.

६. हेर्त्सफेल्ड के 'पैकुली' पृ. ३६ प. पृ के श्राधार पर कैम्ब्रिज ऐंशिएंट हिस्टरी, XII, पृ. में यह बात कही गई है। लेकिन हेर्त्सफेल्ड श्रपने बाद के लेख 'कुशानो सस्सानियन क्वायंस' पृ. में श्रार्देशिर की विजय का वर्णन करते हुए इस बात को नहीं दुहराता। यह दावा ताबारी(Taba के वक्तव्य पर श्राधारित है जिसमें वह कहता है कि उपर्युक्त विजय के बाद जब श्रार्देशिर ने शहर में पड़ाव डाला, उस समय कुषाण, तूरान श्रौर मकरान के राजाश्रों के दूत उससे भेंट श्राए श्रौर उन्होंने उसके प्रति श्रपनी स्वामिभक्ति प्रकट की। वी. ए. स्मिथ को इस बात की एक सिक्के में मिली, जो पासन के शासक शीलद का है (उसके बारे में इस पुस्तक में श्रागे जाएगा)। इस सिक्के के पृष्ठ भाग में फिर से उसी चिह्न का ठप्पा लगाया गया है, जो श्रार्देशिर सिक्कों पर मिलता है श्रौर फरिश्ता के उस विवरण में भी इस बात की पुष्टि मिलती है कि उसने बताया है कि श्रार्देशिर ने भारत पर चढ़ाई की श्रौर उसकी फौज सरहिन्द के निकट तक गई। लेकिन वह (कन्नौज के) भारतीय राजा से खिराज श्रौर सम्मान प्राप्त करके लौट (ज. रा ए. सो., १९२०, पृ. २२१ प. पृ.)।

वल्ख और उसके पड़ोसी क्षेत्रों में कुषाण रियासतों पर सशानिदों के प्रभुत्व का प्रमाण सशानिद गवर्नरों (प्रान्तीय शासकों) के सिक्कों से मिलता है।[1] शपुर प्रथम (२४१-७२) के राज्यकाल में उसका छोटा भाई पीरोज गवर्नर था और उसकी उपाधि थी, 'कुशान शाह' (कुषाणों का राजा)। सन् २५२ ई० में यह उपाधि वदल कर 'कुशान शाहंशाह' (कुषाण राजाओं का राजा) कर दी गयी, जो इस वात की सूचक है कि इस शाहजादा गवर्नर के अधिकारों में वृद्धि हो गयी थी। अगले ३० वर्षों तक साम्राज्य का यह उत्तराधिकारी गवर्नर के पद पर आसीन रहा। स्मरण रहे कि सशानिद गवर्नरों द्वारा जारी किए गये सिक्के महान् कुषाण राजा वासुदेव के सिक्कों से काफी मिलते-जुलते थे और जाहिर है कि वे उनकी नकल थे।

वहराम द्वितीय, जो अपने वाप के राज्यकाल में कुशान-शाह (गवर्नर) था, २७६ ई० में गद्दी पर वैठा और उसका भाई होरमज्द कुशान-शाह वन गया। सन् २८३ ई० में होरमज्द ने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह किया। इसमें शकों और कुषाणों, दोनों ने उसका साथ दिया। वहराम ने विद्रोह कुचल दिया और सारे शकस्तान (सीस्तान) पर कब्जा कर लिया और उसने अपने वेटे वहराम तृतीय को शकान-शाह या शक प्रान्तों का गवर्नर नियुक्त किया। सशानिद साम्राज्य की गद्दी के उत्तराधिकारी का यह विशेषाधिकार था कि वह सवसे महत्त्वपूर्ण प्रान्त का गवर्नर होता था। इस प्रकार कुषाण प्रान्त की महत्ता कम हो गयी। इस तथ्य को इस वात से और भी वल मिला कि आगे कुषाण प्रदेश के गवर्नर से सोने के सिक्के जारी करने का अधिकार छीन लिया गया। इसके वाद सोने के सिक्के सिर्फ शाहंशाह, राजाओं के महान् राजा, के नाम से ही जारी किये जाने लगे।

प्रो० हेर्त्सफेल्ड का दावा है कि वहराम द्वितीय ने पूर्व की दिशा में वहुत वड़े क्षेत्र जीते थे और उसके शासन में सशानिद साम्राज्य के अन्तर्गत न सिर्फ खुरासान (वल्ख समेत), शकस्तान, तूरान और मकरान के प्रदेश शामिल थे, वल्कि सिन्धु प्रदेश के मध्य और निचले भाग, कच्छ, काठियावाड़ और मालवा के प्रदेश भी शामिल थे।[2] यह मत पैंकुली उत्कीर्ण लेख पर आधारित है, जिसमें उन स्वतंत्र राजाओं और अधीन सामन्तों की सूची दी गयी है जो शपुर प्रथम के वेटे नरसीह को बधाई देने गये थे, जब उसने शाहंशाह वहराम द्वितीय के विरुद्ध सफल विद्रोह करके सन् २९३ ई० में गद्दी पर कब्जा कर लिया था। यह उत्कीर्ण लेख खंडित अवस्था में है और काफी टूटा फूटा है, लेकिन हेर्त्सफेल्ड, जिसने उसका सम्पादन किया है, उसमें खुदे कई नामों को पढ़ने में सफल हुआ है और उसने इससे कई दिलचस्प निष्कर्ष निकाले हैं। स्वाधीन राजाओं में हमें कुशान-शाह का नाम मिलता है और अधीन राजाओं में परदन (पारदस), मकुरन (मकरान) और आभीर सामन्तों के नाम मिलते हैं। इसके वाद हर किस्म के क्षत्रपों का हवाला दिया गया है, जैसे जुरदियन के क्षत्रप बगदर और बोरस्पिसिन का क्षत्रप मित्र-(अल) असेन। हेर्त्सफेल्ड इन दोनों नामों को सौराष्ट्र के क्षत्रप भागदत्त और भारुकच्छ के क्षत्रप मित्रसेन के रूप में

---

[1] हेर्त्सफेल्ड, कुश-सस. क्वायंस।

[2] हेर्त्सफेल्ड-पैंकुली, पृ. ३५-५१।

स्वीकार करता है। अभिलेख में अभागे शाहन्शाह वहराम द्वितीय के एक दोस्त रा अवन्दिकन वजवत (अ)व्य का हवाला मिलता है, जिसे हेर्त्सफेल्ड अवन्ती का क्ष मानता है।

जुरदियन और बोरस्पिसिन की सौराष्ट्र और भारुकच्छ के रूप में पहचान करने बात को सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता और अगर इस पाठ को सही मान भी लिया जा तो हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अवन्ती का क्षत्रप किसी भी रूप सशानिदों का अधीन राजा था। इसलिए पश्चिमी भारत पर सशानिदों के प्रभुत्व की बा बहुत ही समस्यात्मक है। अगर आभीर का पाठ सही मान लें तो सम्भवतः सशानिदों प्रभुत्व सिन्धु घाटी के निचले भाग और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों तक फैला था। लेकि चूँकि आभीर खानाबदोश कबीले के लोग थे, जो यत्र-तत्र बस्तियाँ बसाकर रहते थे, इसलि उनके किसी स्थायी क्षेत्र का निर्णय करना कठिन है। कुल मिलाकर, हालाँकि हम स्वीकार कर सकते हैं कि वहराम द्वितीय ने (सन् २७६-२९३ ई०) में सिन्धु घाटी निचले प्रदेश तक अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था और अन्दरूनी भाग की भारती रियासतों के साथ उसका मैत्रीपूर्ण राजनीतिक आदान-प्रदान होता था, लेकिन यह अनुमा करने का कोई उचित आधार नहीं है कि काठियावाड़, गुजरात और मालवा उसके अधी राज्यों में से थे।

यह बात भी दिलचस्प है कि पैकुली के अभिलेख में कुशानशाह का हवाला स्वाधी राजाओं की कोटि में दिया गया है। जाहिर है कि इससे मतलब काबुल की घाटी औ पंजाब के कुषाण शासक से है। महान् कुषाण सम्राट वासुदेव की मृत्यु के बाद भी इ दोनों क्षेत्रों में कुषाण राज्य अविच्छिन्न बना रहा, इसका प्रमाण बहुत से सिक्कों से मिलत है। ये सिक्के महान् कुषाण सम्राटों, कनिष्क, हविष्क, और वासुदेव के सिक्कों के भ्रष्ट और खोटे रूप हैं। इसलिए जिन शासकों ने ये सिक्के जारी किए थे, उन्हें 'परवर्ती महान् कुषाण' के नाम से पुकारा जाता है। उनमें से कुछ के पुराने नाम हैं, जैसे कनिष्क (जिसे कनेष्को के रूप में लिखा गया है) और वसु या वासुदेव। ये सिक्के अफगानिस्तान में मिल हैं और बैक्ट्रिया और सीस्तान में भी। यह बात और साथ ही यह तथ्य कि कम से क दो शासकों, कनिष्क और वासुदेव ने, जिन्होंने ये सिक्के जारी किये थे, शाओननोशाओ (परम शासक) की साम्राज्यिक उपाधि धारण करली थी, जाहिर करता है कि वे महान् शाही-कुषाण परिवार के प्रतिनिधि थे और उनके हाथ में पर्याप्त अधिकार थे। इन तीनों राजाओं को ऐतिहासिक क्रम में भी रखने की कोशिश की गयी है; अर्थात् कनिष्क द्वितीय, वासुदेव द्वितीय और वसु (या-वासुदेव तृतीय) के क्रम में और उनके इतिहास के सूत्र फिर जोड़े गये हैं।[1] लेकिन इसमें विशेष सफलता नहीं मिली है।

---

[1] डा. आर. डी. बनर्जी ने इन राजाओं के इतिहास की जो पुनः प्रस्तुति की है, वह केवल सिक्कों से सम्बन्धित अनेक कल्पित सिद्धांतों पर आधारित है बल्कि मनपसंद ढंग से गोंडोफरी

इनके अलावा, एक परवर्ती तिथि के कुषाण किस्म के सोने के सिक्के भी बड़ी संख्या में पंजाब और उसके पड़ोस के क्षेत्र में मिले हैं। ये सिक्के ईसा की चौथी शती के हैं और उन पर अनेक शासकों के नाम अंकित हैं, जैसे स्य (या सस्य), शयथ, सित, सेन, (या सेण) भद्र, बचर्ण और पासन। न तो इन शासकों की राष्ट्रीयता का हमें पता है और न अनेक शासकों के सिक्कों पर अंकित शाक और शीलद जैसे शब्दों का अर्थ ही स्पष्ट है। सम्भवत: ये शासक शाक और शीलद कुलों के कुषाण थे। उपर्युक्त शासकों में से पहले चार शाक-कुल के थे और अन्तिम तीन शीलद कुल के। ये सिक्के जिन स्थानों पर मिले हैं, उन स्थानों का नाम पता ठीक से दर्ज नहीं किया गया, लेकिन शाक सिक्कों का एक खजाना पेशावर के निकट मिला था। इससे सूचित होता है कि गान्धार पर उनका आधिपत्य था।[1]

दो अन्य राजाओं, पेरय और किरद के सिक्कों से पता चलता है कि गडहर या गदखर नाम का कोई और कुल या कबीला भी था। सुझाव दिया गया है कि इन सिक्कों को "लघु-कुषाणों" (जिनका बाद में उल्लेख किया जायगा) ~~के सिक्कों की कोटि में रखना चाहिए, न कि शाक और शीलद के सिक्कों की कोटि में~~। लेकिन यह विश्वास करने का पर्याप्त आधार मौजूद है कि ईसा की चौथी शताब्दी में पंजाब पर इस कबीले ने भी राज किया था।

पूर्वोक्त सूचनाओं के आधार पर हम "परवर्ती-कुषाणों" के इतिहास की रूपरेखा कुछ इस रूप में तैयार कर सकते हैं :—

महान् कुषाण साम्राज्य सन् २३० या २४० ई० के कुछ ही बाद छिन्न-भिन्न हो गया, जो शायद वासुदेव या उसके बाद के किसी कनिष्क या वासुदेव के राज्य काल के अन्त की सूचक तिथि है। और कारणों के अलावा सशानिदों की बढ़ती ताकत भी उनके पतन का मुख्य कारण थी। प्रथम सशानिद शाहन्शाह आर्देशिर (२२४-२४१ ई०) ने हिन्दूकुश

की तारीख निश्चित करने से भ्रष्ट हो गई है (उसे कनिष्क से १०० वर्ष बाद बताया गया है)। इस तारीख को आमतौर पर अमान्य ठहराया गया है। इन सिक्कों पर अंकित विभिन्न अक्षरों या अक्षर समूहों का अर्थ अभी तक एक रहस्य बना हुआ है। डा. वनर्जी का कहना है कि ये अक्षर अधीन सामन्तों के नामों और उन नगरों या प्रान्तों के नामों के प्रथमाक्षर हैं जहाँ की टकसालों में ये सिक्के ढाले गए थे। यह मत संगत लगता है लेकिन इसे निश्चित नहीं कहा जा सकता। कोष्ठकों में दिए गए अंश जोड़ कर इन नामों की पूर्ति करना—जैसे महि (धर), विरु (धक), गा (न्धार), खु (द्रक), पु (ष्कलावती), न (गरहार), आदि, निश्चय ही अत्यन्त सन्देहजनक हैं (देखिए कनिंघम, लेटर इन्डो-सीथियंस नुमै. क्रा. १८९३, पृ. ११९)।

[1] "परवर्ती कुपाणों" (और हूणों) के सिक्कों के अधिकारी विद्वान् कनिंघम हैं। उनकी पुस्तक 'लेटर इंडो सीथियंस' आरम्भ में एक लेखमाला के रूप में १८९३ और १८९४ के 'नुमिस्मेटिक क्रानिकल' में प्रकाशित हुई थी। वी.ए. स्मिथ ने इन लेखों का सारांश तथा इस विषय से सम्बन्धित अन्य हवाले प्रकाशित किये थे (देखिए, ज. ए. सो. ब. LXIII १८१९, पृ. १७७ प. पृ. और इसके साथ ही देखिए के, क्वा. इ. म्यू. ८५ प. पृ. तथा मार्टिन) (पू. पु.)। आर. डी. वनर्जी ने ज. प्रो. ए. सो. ब. IV, ८१ प. पृ. में कुछ नामों के पाठ का संशोधन किया और इस पुस्तक में वह संशोधित रूप ही स्वीकार किया गया है

के उस पार की कुषाण रियासतों को जीत लिया था और यद्यपि कुषाण राजे उन प शासन करते रहे, लेकिन उन्हें सशानिद शाहंशाह का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा था उसके गवर्नर ने, जो साधारणतया गद्दी का उत्तराधिकारी युवराज होता था, "कुशान-शाह (या कुषाण राजाओं का राजा) की गर्वपूर्ण उपाधि धारण कर ली और उसने वासुदेव सिक्कों जैसे ही सोने के सिक्के जारी किये थे।

एक चीनी सूत्र से ज्ञात होता है कि महान् कुषाणों के राजा पोशियाओ ने सन् २३० ई० में अपना राजदूत चीन के सम्राट के दरबार में भेजा था।[1] सम्भव है कि यह वासुदेव के नाम का चीनी रूपान्तर हो और शायद सशानिदों की बढ़ती ताकत के कारण ही उसने चीनी सम्राट से मदद मांगी हो। लेकिन जहाँ तक ज्ञात है, वहाँ से उसे कोई सहायता नहीं मिली, या जो भी सूरत हो, वह सशानिद शाहंशाहों के आक्रमण को नहीं रोक सका। फिर भी, हालाँकि बल्ख उसके हाथ से निकल गया था, कुषाणों का परम शासक, जिसकी राजधानी शायद पेशावर में थी, कुषाण राज्य के अन्य भागों पर शासन करता रहा। लेकिन उसकी सत्ता और प्रतिष्ठा पहले से काफी कमजोर हो गयी। इस स्थिति का लाभ उठाकर एक के बाद दूसरे भारतीय राज्यों ने भी अपनी स्वाधीनता स्थापित कर ली, यहां तक कि पंजाब और उसके पड़ौसी क्षेत्रों के कुषाण गवर्नरों ने भी ऐसा ही किया। शीलद, शा और गडहर कुलों के शायद दो या उससे अधिक वंश थे जो पंजाब में अलग अलग रियासतों के मालिक थे। पश्चिम में सशानिद शाह लगातार और अधिक ताकतवर होते गये होरमज्द ने जब अपने भाई वहराम द्वितीय के (सन् २८३ ई०) खिलाफ बगावत की, त कुषाणों और शकों ने भी उसका साथ दिया। सशानिदों के प्रभुत्व से मुक्ति पाने की उनकी यह अतिसाहसिक कोशिश थी। लेकिन विद्रोह कुचल दिया गया और वहराम द्वितीय ने सारा सीस्तान, मकरान, और सिन्धु घाटी का निचला भाग जीत लिया। उसने बल्ख क्षेत्र की कुषाण रियासतों पर भी अपना आधिपत्य मजबूत कर लिया।

बैक्ट्रिया, सीस्तान और सिन्धु घाटी के प्रदेश के अपने अधिकार से निकल जाने के बाद भी कुषाण राजा का काबुल घाटी पर आधिपत्य बना रहा। पैकुली के उत्कीर्ण लेख में जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है, उसका एक स्वतन्त्र राजा (सन् २९३ ई०) के रूप में हवाला दिया गया है। उसकी महत्ता पर इस बात से भी प्रकाश पड़ता है कि सशानिद शाहंशाह (३०२-०९ ई०) ने काबुल की घाटी के कुषाण राजा की बेटी से शादी की थी। लेकिन बाद में, चौथी शती के मध्य में, काबुल की घाटी सशानिद साम्राज्य का अंग बन गयी थी। पर्सिपोलिस में मिले एक उत्कीर्ण लेख में, जिस पर सन् ३१०-११ ई० की तारीख पड़ी है, शपुर द्वितीय (३०९-३७९ ई०) के बड़े भाई शपुर शकान्शाह का हवाला मिलता है, जिसकी पदवियाँ इस प्रकार गिनायी गयी हैं—"शाहे शकस्तान, वजीरे आल सिन्ध, शकस्तान और तुखारिस्तान" और जिसके साथ शकस्तान का "वजीरे तालीम

---

[1] कॉ. इ. इ., II. lxxvii.

[2] अ. हि. इ.^{3} २७४।

सीस्तान का क्षत्रप और दूसरे आला हाकिम चलते थे। पर्सिपोलिस के ही एक अन्य उत्कीर्ण लेख की तिथि शायद शपुर द्वितीय का ४७वाँ राज्य काल है, अर्थात् सन् ३५६ ई०, हालांकि यह अंक असंदिग्ध नहीं है। इसे स्लोक ने अर्थात् "क़ाबुल के आला काजी सिल्यूकस" ने लिखा था जो, इस अभिलेख के अनुसार, शपुर शकान्शाह को अपने से बड़ा शाह मानकर उसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रकट करता है। इससे जाहिर है कि काबुल भी उस समय शकान्शाह के अधिकृत प्रदेशों में से एक था। अगर यह तारीख सही पढ़ी गयी है तो काबुल लगभग ३५६ ई० में जीता गया था।[1]

इस प्रकार महान् कुषाणों के अन्तिम सम्राट वासुदेव की मृत्यु से एक सौ साल बाद तक "परवर्ती कुषाण" काबुल की घाटी पर राज करते रहे। हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि शपुर द्वितीय के राज्यकाल में उनको अन्तिम रूप से परास्त कर दिया गया था या वे काबुल घाटी के निचले भाग और पंजाब के एक भाग में किसी तरह अपना अस्तित्व कायम रखे हुए थे। लेकिन यह दूसरा मत ही ज्यादा सम्भव लगता है और शायद कबीलों के नये स्थान-परिवर्तनों के फलस्वरूप कुषाणों के नये गिरोह इस प्रदेश में आ गये, जिससे इस राज्य को नयी ताकत मिली थी।

इस नये स्थान-परिवर्तन का उल्लेख चीनी वृत्तान्तों में मिलता है। "वी-शू" अर्थात् वी वंश (३८६-५५६ ई०) के इतिवृत्त में इस बारे में लिखा है :[2]

"ता-युएह-ची (अर्थात महान् कुषाण) के राज्य की राजधानी लोऊ-कीन-ची (बल्ख) है। उत्तर की दिशा से उन्हें जुआन-जुआन का खतरा था, जिन्होंने कई बार हमला करके उनकी लूटमार की थी। इसलिए वे अपना स्थान छोड़कर पश्चिम की दिशा में चले गये और पो-लो (बल्कान, जो आमू दरिया की पुरानी तलहटी के उत्तर में है, जहां वह क्रास्नोवोद्स्क के पूर्व में कैस्पियन सागर में गिरती है) के नगर में बस गये। उनके राजा की-तो-लो ने, जो एक वीर योद्धा था, एक फौज तैयार की। फिर वह पर्वतों (हिन्दूकुश) को पार करके दक्षिण की ओर बढ़ गया और उसने उत्तरी भारत पर हमला किया, जहां पर कान-थो-लो (गान्धार) से उत्तर की पाँच रियासतों ने उसके आगे समर्पण कर दिया . . . .

"हयुंग-नू द्वारा पीछा किये जाने पर की-तो-लो पश्चिम की तरफ हट गया और उसने अपने बेटे को फू-लेउ -चा (पेशावर) में अपनी राज सत्ता कायम करने का आदेश दिया। इसलिये इन लोगों को "लघु-युएह-ची" (लघु कुषाण) पुकारा जाता है।"

मा-त्वान-लिन की विश्वकोश जैसी व्यापक कृति में भी इस घटना का संक्षिप्त हवाला मिलता है, जो इस प्रकार है :

---

[1] इन दोनों उत्कीर्ण लेखों का विवरण पढ़ने के लिए देखिए हेर्त्सफेल्ड की पुस्तक 'कुश-सस वायंस', पृ. ३५-३६। ३६वें पृष्ठ पर दिये इस वक्तव्य में कि दूसरे उत्कीर्ण लेख की तारीख "शपुर प्रथम की ४७ (?) साल है, जिसके अंक चिह्न काफी मिट गये हैं", जाहिर है कि गलती से शपुर द्वितीय की जगह शपुर प्रथम छप गया है।

[2] मार्टिन. पृ. २४-२६।

"लघु-युएह्-ची की राजधानी फू-लेउ-चा है। उनका राजा की-तो-लो का बेटा; उसे इस नगर का आधिपत्य उसके बाप ने दिया था, जब जुआन-जुआन के हमलों मजबूर होकर उसे पश्चिम की दिशा में जाना पड़ गया था।"

उत्तर-पश्चिमी भारत में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे सिक्के मिले हैं, जिन पर आ लिपि में "किदार कुषाण शा" अंकित है।[1] अधिकतर विद्वान् इस शासक को चे वृत्तान्तों के राजा की-तो-लो से अभिन्न मानते हैं।[2] किदार के चाँदी के सिक्के सशा सिक्कों की किस्म के हैं और उनकी सशानिद सिक्कों से तुलना करने से महत्त्वपूर्ण नि निकलते हैं। श्री मार्टिन, जिन्होंने इन सिक्कों का विशेष अध्ययन किया है, निम्न निष पर पहुँचे हैं, यद्यपि जब तक अधिक सकारात्मक प्रमाण नहीं मिलते तब तक अस्थायी निष्कर्ष ही मानना चाहिए :—

(१) किदार के बाद पिरो और वरह्रान गद्दी पर बैठे थे, इसलिए कि उ सिक्कों में निकट साम्य है।

(२) किदार आरम्भ में सशानिद साम्राज्य का एक सामन्त था; बाद में वह स्वत हो गया। पिरो के राज्य काल में सशानिदों ने पुनः अपना प्रभुत्व कायम लिया।

(३) किदार और उसके दोनों उत्तराधिकारियों, पिरो और वरह्रान को की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में रखना चाहिए।

इन प्राक्कल्पनाओं के आधार पर "लघु-कुषाणों" के इतिहास की किंचित ब्यौरे रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

रोमन फौज के एक अफसर अम्मिआनस से, जिसने मेसोपोटामिया में शपुर द्वितीय विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था, हमें ज्ञात होता है कि सन् ३५० से ३५८ ई० तक सशानिद अपने साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर कुछ कबीलों के साथ युद्ध में फँसा था। इन कबीलों सबसे महत्त्वपूर्ण कबीला चीओनाइट्स था, जिसने हमला करके बैक्ट्रिया और युसैनी कब्जा कर लिया था। युसैनी, दरअसल कुसेनी या कुषाण का भ्रष्ट रूप है। सन् ३५८ में शपुर ने इन कबीलों के साथ शान्ति-सन्धि कर ली और "रोम के खिलाफ इन्त की जंग" छेड़ दी। जिस फौज को लेकर उसने मेसोपोटामिया में अमीदा के रो किले पर घेरा डाला था, उसमें उसके नये दोस्तों चीओनाइट्स और कुषाणों के सैनि दस्ते भी थे।[3]

---

[1] मार्टिन, पृ. ३९. पा. टि. १, पृ., ६१ में निर्दिष्ट प्रमाण भी देखें।

[2] वी. ए. स्मिथ इन दोनों को अभिन्न मानने के विरुद्ध था और उसका विश्वास था कि कारीगरी से गढ़े गये किदार-कुषाण सिक्के सन् ३०० या ३५० ई. के थे और शाक, शौलद गडहर सिक्कों के समकालीन थे, जिनका उल्लेख पहले किया गया है। (ज. ए. सो. ब., LXI १८२-८३)।

[3] मार्टिन पृ. ३०; हेर्त्सफेल्ड कुश-सस. पृ. ३६।

यह बिल्कुल सम्भव है कि रोमन लेखक जिस कबीले को चिओनाइट्स का नाम देता है और चीनी लेखक जिसे जुआन-जुआन नाम से पुकारता है, वे दरअसल एक ही थे। तब तो इसका मतलब यह होगा कि चौथी शती के मध्य में कुषाण राजा किदार को इस कबीले के आक्रमण के सामने बल्ख छोड़कर हटना पड़ा और काबुल घाटी पर कब्जा करना पड़ा। कबीलों के इन स्थान-परिवर्तनों के कारण शपुर द्वितीय को मजबूर होकर ३५० ई० में फौज लेकर अपने साम्राज्य के पूर्वी सीमान्त की ओर बढ़ना पड़ा। उसने कुषाणों और चिओनाइट्स इन दोनों से युद्ध किया और आखीर में सन् ३५८ ई० के लगभग उनसे सन्धि कर ली। दोनों ने शायद सशानिद शाह को अपना अधिराज मान लिया और रोम के विरुद्ध युद्ध में अपने अधिराज की मदद के लिए सैनिक दस्ते भेजे। लेकिन बाद में किदार ने अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर ली, जैसा उसके सिक्कों से सूचित होता है। सिक्कों से प्राप्त प्रमाणों के अलावा बाईजैन्टियम के आर्मेनिआई इतिहासकार फास्टोस के विवरण से भी इस बात की पुष्टि होती है। उसके विवरण से लगता है कि सन् ३६७-६८ ई० में कुषाणों ने सशानिदों को दो बार बुरी तरह हराया था और एक बार तो शपुर द्वितीय को मैदान छोड़कर भागने के लिये मजबूर कर दिया था।[1]

इस प्रकार किदार ने फिर एक बार काबुल घाटी में स्वतन्त्र कुषाण वंश की स्थापना की। चीनी वृत्तान्तों के अनुसार किदार ने उत्तरी भारत पर हमला किया था, जहाँ गान्धार के उत्तरी भाग में स्थित पांच रियासतों ने उसके आगे समर्पण कर दिया था। इस बात के पूरे आशय को समझना कठिन है लेकिन हो सकता है कि किदार के अधिकृत प्रदेशों में अफगानिस्तान और सिन्धु घाटी का उत्तरी भाग शामिल रहा हो। उसके (या उसके बेटे के) प्रान्तीय शासकों के नामों का भी उनके सिक्कों से पता चलता है, जैसे वारो शाही, पिरोच, भास और बुद्धवल[2] चूँकि किदार चौथी सदी ईसवी के उत्तरार्ध में हुआ था, इसलिए सम्भवतः वह कुषाण राजा का समकालीन था, जिसे इलाहाबाद स्तम्भ के अभिलेख में **देवपुत्र शाही शाहानु शाही** कहा गया है। सम्भवतः समुद्रगुप्त इस समय तक पंजाब में कुषाणों के छोटे-छोटे राज्यों पर अपना प्रभुत्व-स्थापित कर चुका था, क्योंकि एक गडहर सरदार[3] के सिक्के पर उसका नाम अंकित है। इसलिए

---

[1] मार्टिन, पृ. ३२।

[2] मार्टिन पृ. ३३ प. पृ., ४१ प. पृ.।

[3] कनिंघम ने जिन तीन किस्म के गडहर सिक्कों का उल्लेख किया है, उनमें से दो किस्म के सिक्कों का ऊपर जिक्र किया जा चुका है, अर्थात् जिन पर पेरय और किरद नाम अंकित हैं। तीसरे किस्म के सिक्के के बारे में, जिस पर समुद्र का नाम अंकित है, श्री आर. डी. बनर्जी का यह मत है: "इस सिक्के में और समुद्रगुप्त के सिक्के में इतना अधिक साम्य है कि यह कहना सम्भव है कि कम से कम गडहर कबीला महान् विजेता समुद्रगुप्त का प्रभुत्व मानता था और उनके सिक्कों पर उसका नाम अंकित था।" (पू. पु., ९३)। एक ऐसे ही सिक्के का वर्णन स्मिथ ने किया है, जिस पर चन्द्रगुप्त (?) का नाम है। (ज. रा. ए. सो., १८९३, पृ. १४५)।

राजनीतिक दृष्टि से किदार के लिए गुप्त सम्राट के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना जरूरी था, क्योंकि पश्चिम में उसकी स्थिति कोई अधिक सुरक्षित नहीं थी। सशानि बादशाहों के अलावा, जो स्वभावत: अपनी प्रभुसत्ता को फिर से स्थापित करना चाह थे, किदार को बैक्ट्रिया के शासक कबीलों के विरोध का भी सामना करना पड़ा था चीनी विवरणों के अनुसार आखिरकार उनके हमलों ने उसे पश्चिम पर धावा बोलने लिए मजबूर कर दिया। स्पष्ट है कि उसे उम्मीद थी कि यह अभियान लम्बा चले इसलिए वह राजधानी को अपने बेटे के हवाले कर गया था; दूसरे शब्दों में कहा जा सक है कि सम्भवत: अपनी अनुपस्थिति में वह अपने बेटे को रीजेन्ट नियुक्त कर गया था।

जिस कबीले के विरुद्ध किदार को फौज लेकर धावा बोलना पड़ा था, उसका ना मा-त्वान-लिन ने जुआन-जुआन लिखा है और वी-शू में ह्यूंग-नू दिया गया है। लेकि चूंकि ह्यूंग-नू ईसा की पाँचवीं शती के मध्य से पहले अपनी सत्ता कायम नहीं कर सके थे इसलिए शायद पहला नाम ही सही है। हम किदार के फौजी अभियान के परिणाम स्वयं उसके बारे में और कुछ नहीं जानते।

वह अपने जिस बेटे को पीछे छोड़ गया था और जो उसके बाद गद्दी पर बैठा था उसका नाम पिरो था। पूर्व में गुप्त साम्राज्य और पश्चिम और उत्तर-पश्चिम सशानिद और जुआन-जुआन जैसे शक्तिशाली दुश्मनों से घिरे होने के कारण उस स्थिति बड़ी खतरनाक थी। सशानिदों ने, जाहिर है, यह देखकर कि वह उत्तर-पश्चि में जुआन-जुआन कबीले से उलझा हुआ है, मौके से फायदा उठाया और आर्देशिर द्विती (सन् ३७९-३८३ ई०) ने कम से कम एक जिला तो फिर वापस जीत ही लिया, जिस प उसने तारिक को क्षत्रप नियुक्त किया। शपुर तृतीय (३८३-३८८) ने कुछ और जि दुबारा जीत लिये और आखिरकार पिरो से अपनी प्रभुसत्ता मनवा ली। पिरो उत्तराधिकारी वरह्रान भी सशानिदों का अधीन राजा बना रहा; सिक्कों से चौथी श के तीसरे चतुर्थांश में भारत की सीमा पर पुनः बढ़ते हुए सशानिदी प्रभाव की पुष्टि होती है

---

१. शव्हान्न (दकुमाँस्यु ल तोक़ीन आॅक्सिदाँत, पृ. २२३) का निश्चित मत है कि श्वेत जुआन-जुआन कबीले के अधीन थे और ईसा की पाँचवीं शती के मध्य तक प्रमुखता नहीं प्राप्त सके। मार्टिन का यह मत (पृ. ३५ प. पृ.) कि उन्होंने सन् ४०० ई० से पहले ही पेशावर आक्रमण किया था, सन्दिग्ध प्रमाण पर आधारित है। फा-हिएन के जिस वक्तव्य का उसने उद्ध दिया है, वह गुमराह करने वाला है, क्योंकि फा-हीन ने एफ्थेलाइट राजा का उल्लेख नहीं कि है, जैसा कि मार्टिन गाइल्स (Giles) की साख पेश करके दावा करता है, बल्कि उसने तो युएह कबीले के एक राजा के नाम का जिक्र किया है, जिसे लेगे (Legge) कनिष्क मानता है (फाहि पृ. ३४)। इस बारे में हम जो भी सोचें लेकिन किसी अधिकारी विद्वान् ने यह नहीं कहा युएह्-शी और एफ्थेलाइट हूण एक ही कबीले के नाम हैं। रही यह बात कि हूणों ने सशानिद चौथी शती के सिक्कों की नकल की थी, तो यह कोई कायल करने वाला तर्क नहीं है, क्योंकि आक्रमणकारी अक्सर पुराने सिक्कों की भी नकल कर लेते थे।

२. मार्टिन, पृ. ३४-३५, ३७-३८।

सिक्कों से यह जाहिर होता है कि वहराम चतुर्थ (सन् ३८८-३९९ ई०) के बाद भारत की सीमा पर सशानिदों का प्रभुत्व समाप्त हो गया था।[१] यह सुझाव पेश किया गया है कि लगभग इसी समय हूणों के आक्रमण शुरू हो गये थे, जिनके कारण ऐसा हुआ और काबुल की घाटी में "लघु कुषाणों" की सत्ता का चिराग भी बुझ गया, जिससे कुषाणों को भाग कर सिन्धु घाटी के उत्तरी भाग के पर्वतीय क्षेत्रों और काश्मीर में शरण लेनी पड़ी। लेकिन यह मत कि हूणों ने पाँचवीं शती के आरम्भ में ही गान्धार पर अपना राजनीतिक आधिपत्य जमा लिया था, पर्याप्त प्रमाणों पर आधारित नहीं है।[२]

किदार ने जिस राजवंश की स्थापना की थी वह आगे भी राज करता रहा, इसकी पुष्टि उत्तर-पश्चिमी भारत में मिले सिक्कों से होती है।[३] इन सिक्कों पर न सिर्फ उन राजाओं के नाम अंकित हैं, जिन्होंने उन्हें जारी किया था, बल्कि उन पर कुषाण राजा की पोशाक से आवृत शाही आकृति की भुजाओं के नीचे एक खड़ी रेखा के रूप में किदार या उसका संक्षेप 'किद' भी अंकित है। इन "लघु-कुषाण" राजाओं के सोने के सिक्के एक विस्तृत भू-भाग में मिले हैं—पंजाब से लेकर पूर्व में कन्नौज और कोसम तक। अभी सन् १९२५ ई० में उनके एक दर्जन सिक्के यू० पी० के हरदोई जिले में मिले हैं।[४] जिन कुषाण राजाओं के नाम सिक्कों पर अंकित हैं, वे इस प्रकार हैं: कृतवीर्य, सर्वयश, भास्वन, प्रकाश, कुशल और सलोणवीर।[५] लगता है कि ये सिक्के कई शताब्दियों तक चलते रहे थे, जिसके बाद उन्हें उन सिक्कों की शृंखला में मिला दिया गया था, जिन्हें काश्मीर में कारकोटक या नागवंश ने ईसा की सातवीं शती में ढलवाया था।[६] इतने लम्बे काल तक इस मुद्रा का प्रचलन और इतने बड़े क्षेत्र में इसके सिक्कों का मिलना यह जाहिर करता है कि शायद कई राजवंश इसका प्रयोग करते रहे थे। लेकिन इस बारे में हमारी जानकारी इतनी कम है कि इन राजाओं को विभिन्न राजवंशों की सूची में रखना और इतिवृत्तात्मक क्रम से या भौगोलिक स्थान-क्रम से उनका निर्णय करना बिल्कुल असम्भव है। काबुल की घाटी और पंजाब में फैली विभिन्न कुषाण रियासतों का ईसा की पाँचवीं शती के मध्य में श्वेत-हूणों ने अपने पैरों के नीचे रौंद डाला और उन्होंने सन् ४६० ई० के करीब गान्धार में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इसके बाद कुषाणों की शक्ति एक बार फिर उभरी या नहीं, इसका निर्णय इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर है कि तोरमाण और मिहिरकुल जैसे परवर्ती शासक वास्तव में हूण थे या कुषाण। यह भी संभव है कि दोनों कबीले जाति की दृष्टि से संमिश्रित ही थे और इसी बीच एक नयी कौम के रूप में उनका विलय हो गया था, जो भारत में आमतौर पर हूण नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. वही।
२. देखिए पा. टि. १, पृ, ६६।
३. सन्दर्भ के लिए देखें पा. टि. १. पृ. ६१।
४. ज. प्रो. ए. सो. ब., XXX. मुद्रा विशेषांक XLV. ७७।
५. वही। यही वह नाम है जिसे पहले गलती से शिलादित्य पढ़ा गया था।
६. मार्टिन, पृ. २३।

परिच्छेद : ८

गुप्त साम्राज्य के विघटन के बाद का उत्तरी भारत

(ईसा की छठी शताब्दी)

गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद आधी शताब्दी तक उत्तर भार राजनीतिक विघटन की सामान्य तस्वीर बना रहा—अनेक स्वतन्त्र राज्य सत्ता के लि और, अगर सम्भव हो तो, दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए संघर्ष करते रहे इनमें से अधिकांश राज्य गुप्त साम्राज्य के ही विच्छिन्न टुकड़े थे। इनमें से मैत्रक, कल्चुरी गुर्जर, मौखरी और परवर्ती-गुप्तों द्वारा शासित रियासतें और नेपाल, बंगाल, आसा और उड़ीसा के राज्य प्रमुख थे। साम्राज्य की सीमाओं से बाहर उत्तर-पश्चिम में काश्मी और थानेश्वर के राज्य और दक्षिण-पूर्व में दक्षिणी कलिंग के राज्य प्रमुख हो गये थे ईसा की सातवीं शती के आरम्भ में जाकर ही थानेश्वर में एक ऐसा शक्तिशाली राज पैदा हुआ, जो फिर से एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हुआ और जो, चा एक सीमा तक और अल्पकाल के लिए ही सही, उत्तर भारत को फिर से उसी एकता सूत्र में बांध सका, जो गुप्त सम्राटों के काल में सम्भव हो सकी थी। इसलिए पुनः भार सम्राटों के इतिहास का मुख्यसूत्र पकड़ने से पहले यह जरूरी है कि हम छठी शती इन राज्यों के इतिहास का अलग-अलग पुर्ननिरीक्षण कर लें।

१. वलभी

गुप्त साम्राज्य के खंडहर पर जो नये राज्य उठ खड़े हुए, उनमें वलभी का राज्य सबसे ज्यादा स्थायी साबित हुआ। यह पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार भटा के, जो मैत्रक कुल[2] का था और गुप्तों का एक सेनापति और सौराष्ट्र या काठियावाड़

---

[1] कल्चुरियों के इतिहास के लिए देखिए, परि. XI. बी. III.

[2] वलभी राजाओं के शिलालेखों के आरम्भिक अंश के त्रुटिपूर्ण अनुवाद के कारण बहुत दि तक गलती से यह समझा जाता रहा कि "भटार्क ने मैत्रकों के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया था हुल्त्स ही वह पहला विद्वान् था जिसने बताया (ई. इ. III, ३२०) कि इस पद के सही अन्व अनुसार वास्तव में इसका अर्थ यह है कि भटार्क स्वयं मैत्रकों के कुल या कबीले का था, न कि कि वह उनसे लड़ा था। अब इस मत को सभी स्वीकारते हैं। फ्लीट तथा अन्य विद्वानों ने मैं और मिहिरों को अभिन्न बताया है और उनका मत है कि ये सूर्योपासक एक विदेशी जाति के

गवर्नर था, वंशजों ने पाँचवीं शती ईस्वी के अन्त तक पहुँचते अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। भटार्क और उसके बेटे धरसेन तक इस कुल के सामन्त तो अपने को **सेनापति** ही कहते रहे, लेकिन उनके उत्तराधिकारियों ने **महाराज** और **महासामन्त महाराज** की पदवियाँ धारण कर लीं। कहा जाता है कि तीसरे राजा द्रोणसिंह को, जो धरसेन का छोटा भाई था, खुद उसके अधिराज गुप्त सम्राट, सम्भवतः बुधगुप्त, ने **महाराज** की श्रेणी एवं पदवी से विभूषत किया था।[1] द्रोणसिंह और उसके छोटे भाई और उत्तराधिकारी **महाराज** ध्रुवसेन ने गवर्नर की तरह नहीं बल्कि स्वतन्त्र राजाओं की तरह पट्टे (भूमि के अनुदान-पत्र) बांटे थे, लेकिन उनमें सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति का उल्लेख यह साबित करता है कि उन्होंने अभी तक अन्तिम रूप से गुप्तों की अधीनता का जुआ उतार कर नहीं फेंका था।

इस राज्य की स्थापना की तिथि का निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। इस वंश की ओर से सबसे पहला पट्टा (भूमि अनुदान-पत्र) सन् ५०२ ई० में **महाराज** द्रोणसिंह ने जारी किया था। चूँकि उसका बाप भटार्क और भाई धरसेन पूर्ववर्ती थे, इसलिए द्रोणसिंह के गद्दी पर बैठने की तिथि सन् ४७५ ई० से पहले सम्भव नहीं हो सकती; कारण, सन् ४५५-५६ ई० में पर्णदत्त सौराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त हुआ था। इसलिए भटार्क की नियुक्ति की तिथि हम अस्थायी रूप से सन् ४६५ और ४७५ ई० के बीच मान सकते हैं।[2]

ये सरकारी अनुदान-पत्र वलभी से जारी किये गये थे, जो निश्चय ही राजधानी रही होगी। गिरिनगर (आधुनिक जूनागढ़) से, जहां स्पष्टतः, पर्णदत्त का मुख्यालय था, कब और किन परिस्थितियों में राजधानी को हटा कर वलभी ले जाया गया, यह बताना

थे। फ्लीट ने तो यहां तक सुझाया है कि मैत्रक हूणों के उस "विशिष्ट कुल या कबीले के लोग थे जिसमें तोरमाण और मिहिरकुल पैदा हुए थे।" (का. इ. इ. III, भूमिका, १२) अन्य विद्वानों ने उसका मत स्वीकार कर लिया है (इ. हि. क्वा. १९२८, पृ. ४५७; ज. प्रो. ए. सो. व. १९०९, पृ. १८३)। लेकिन इस मत का, जो मूलतः उक्त त्रुटिपूर्ण अनुवाद से प्रेरित था, कोई वास्तविक आधार नहीं है। (देखिए इ. क. V. ४०८-०९)।

[1] देखिए पृ. ३३। यह मान लेने का कोई संगत कारण नजर नहीं आता कि द्रोणसिंह का अधिराज तोरमाण या यशोधर्मन इन दोनों में से कोई एक था, या गुप्त सम्राट के अलावा अन्य कोई शासक था। (इस बात के विचार-विमर्श के लिए देखिए इ. क. V. ४०९)।

[2] सौराष्ट्र में प्रचलित लोक-परम्परा के अनुसार स्कन्द गुप्त के कमजोर शासन में उसके गेहलोति जाति के **सेनापति** भटार्क ने, जिसके पूर्वज अयोध्या पर राज करते थे और जिन्हें गुप्तों ने अपदस्थ किया था, सौराष्ट्र में आकर अपना राज्य स्थापित किया था। इसके दो साल बाद स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गई। तब **सेनापति** ने सौराष्ट्र का राजा बन करके वलभी नगर की नींव डाली। (पूरी कहानी के लिए देखिए, इ. ए. II. ३१२)। लेकिन पुरालेखों से प्राप्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि **सेनापति** भटार्क ने कभी भी राजा की पदवी नहीं धारण की थी। यह इस बात का सबूत है कि ऐसी कहानियों पर कितना कम भरोसा किया जा सकता है। यह मत कि भटार्क ने खुद अपने नाम के सिक्के जारी किये थे, सिक्कों पर अंकित प्रशस्तियों के त्रुटिपूर्ण विवेचन पर आधारित है। (ज. रा. ए. सो. व. ले. III मुद्रा. परिशिष्टांक पृ. ९९)।

कठिन है। यह सुझाया गया है कि सुदर्शन झील का बांध टूट जाने का हर समय खत रहता था, इसलिए राजधानी हटायी गयी।[1] यह सच है कि ऐसे अभिलेख मौजूद हैं, बताते हैं कि दो बार पहले भी ऐसी दुर्घटना हो चुकी थी; एक बार सन् १५० ई० में औ दूसरी बार सन् ४५५ ई० में, लेकिन राजधानी को गिरिनगर से हटा कर, इतनी दूर जाने का यही पर्याप्त कारण नहीं हो सकता।

इसके अलावा वलभी कितना बड़ा राज था और कहाँ तक फैला हुआ था, यह अनिश्चित है। इस समय वलभी नगर के स्थान पर पूर्वी काठियावाड़ प्रायद्वीप की पुरा भावनगर रियासत में वल नामक स्थल है। (२०°५२′ उत्तर, ७१°५७′ पूर्व। शु के राजाओं ने जिन गाँवों के अनुदान-पत्र बाँटे थे, वे सब इस स्थल के इर्द-गिर्द ही वसे हैं लेकिन चूँकि भटार्क सौराष्ट्र का गवर्नर था, इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उस उत्तराधिकारियों ने जिस राज्य की स्थापना की थी, मोटे तौर पर उसके अन्तर्गत सा सौराष्ट्र था।

इस राजवंश के असामान्य रूप से बहुत बड़ी संख्या में अभिलेख मिले हैं, जिन आधार पर उसके राजाओं की वंशावली और उनके इतिवृत्त का काफी प्रामाणिक लेखा-जोखा तैयार किया जा सकता है। लेकिन इन विवरणों में इसके अलावा ऐतिहासि दिलचस्पी की और अधिक कोई बात नहीं है। उदाहरण के लिए, ध्रुवसेन प्रथम के जा किए हुए सोलह भूमि अनुदान-पत्र मिले हैं, लेकिन उनमें ऐतिहासिक महत्त्व की एक घटना का उल्लेख नहीं है।[2] हमें सिर्फ इतना और मालूम होता है कि वह भी, चाहे ना मात्र को ही सही, किसी अन्य अधिराज के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करत था, शायद गुप्त सम्राट के प्रति, और यह कि उसने गुप्त संवत् २०६ से २२६ (सन् ५२ से ५४५ ई०) तक राज किया। ध्रुवसेन के बाद उसका छोटा भाई महाराज धरपट्ट ग पर बैठा, लेकिन उसके बारे में अभी तक कोई अभिलेख नहीं मिला है। धरपट्ट के बा उसका बेटा महाराज गुहसेन गद्दी पर बैठा, जिसकी ज्ञात तिथियां गुप्त संवत् २४० (२३७) और २४८ (सन् ५५६ या ५५९ से ५६७ ई०) हैं। यह उल्लेखनीय है कि गुहसे के भूमि-अनुदान-पत्रों में "परमभट्टारक-पादानुध्यात" जैसे विशेषण का, जिसका प्रयो ध्रुवसेन प्रथम ने किया था, परित्याग कर दिया गया है। इससे जाहिर होता है कि मैत्र राजा अब किसी अधिराज के प्रति नाम मात्र के लिए भी अपनी अधीनता का संकेत नहं करते थे और अप्रत्यक्ष रूप से इस अनुमान की भी पुष्टि होती है कि पहले वह अधिरा गुप्त सम्राट ही था, क्योंकि ऐसे किसी दूसरे अधिराज की कल्पना कर असम्भव है जिसका प्रभुत्व सन् ४७५ से ५५० ई० तक तो रहा किन्तु उसके बा खत्म हो गया। गुप्त सम्राटों के वंश का सन् ५५० और ५७० ई० के बीच अन्ति

---

[1] इ. क. V. ४१३-१४।

[2] इन शिलालेखों में ध्रुवसेन को विभिन्न पदवियों से मंडित किया गया है, जैसे महासाम महाराज, महाप्रतिहार, महादंडनायक, महाकार्ताकृतिक आदि।

रूप से खात्मा हुआ था, जैसा पहले जिक्र किया जा चुका है। इससे यह बात पूरी तरह साफ हो जाती है कि गुहसेन के समय से वलभी के अभिलेखों में क्यों किसी अधिराज का हवाला नहीं मिलता। शायद इसी कारण इस परिवार के बाद के अभिलेखों में, जो शिलादित्य प्रथम (सन् ६०५ ई०) के समय से उपलब्ध हैं, अनुदानों में दी गयी परम्परा-निर्दिष्ट राज-वंशावली गुहसेन से शुरू होती है; यह भटार्क का वंशज था, और इन दोनों के बीच के सारे राजाओं के नाम बिलकुल छोड़ दिये गये हैं।

गुहसेन के बाद उसका बेटा और फिर उसका पोता, धरसेन द्वितीय और शिलादित्य-प्रथम धर्मादित्य, गद्दी पर बैठे। ज्ञात तिथियों के अनुसार धरसेन द्वितीय का समय सन् ५७१ से ५९० ई० तक और शिलादित्य प्रथम का समय सन् ६०६ से ६१२ ई० तक है। एक मात्र मिले ताम्रपत्र[1] से पता चलता है कि सामन्तों का एक परिवार था (जो गारुलक कहलाता था), जिसमें **सेनापति** वराहदास प्रथम, उसके दो बेटे भट्टिसूर और वराहदास द्वितीय और उसका बेटा सिंहादित्य थे। इनमें से अन्तिम तीन की पदवी **सामन्त-महाराज** थी। पदवी में यह परिवर्तन खुद मैत्रक सामन्तों की पदवी में परिवर्तन से साम्य रखता है। यह अनुदान-पत्र सिंहादित्य ने सन् ५७४ ई० में जारी किया था, इस प्रकार वह धरसेन द्वितीय का सामन्त था। इस अनुदान-पत्र में लिखा है कि वराहदास द्वितीय ने काठियावाड़ प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर स्थित द्वारका के राजा को हराया था। यह सम्भव है कि वराहदास अपने अधिराज (गुहसेन या धरसेन) की ओर से लड़ा हो। मैत्रकों ने इस युद्ध द्वारा अपना आधिपत्य सौराष्ट्र के पश्चिमी भाग के अन्त तक, जो अभी तक स्वतन्त्र था, बढ़ा लिया था, या यह युद्ध एक स्थानीय सामन्त के विद्रोह का ही आभास देता है, कहना कठिन है। पहली बात ही अधिक सम्भाव्य लगती है, क्योंकि एक अभिलेख में धरसेन द्वितीय **महाधिराज**[2] की पदवी धारण किये मिलता है, और यह दावा सम्भवतः राज्य-सीमा के विस्तार पर ही आधारित है।

इसी समय के आसपास वलभी राज्य का विस्तार हुआ था, इसका संकेत ह्वेन-त्सांग के एक वक्तव्य से भी मिलता है।[3] मो-ला-पो का वर्णन करते हुए वह उसके राजा शिलादित्य का उल्लेख करता है, जो उससे ६० वर्ष पहले वहाँ राज करता था। इसके अनुसार शिलादित्य का राज्य-काल ५८० ई० के लगभग बैठता है। तारीखों में मामूली फर्क होने के बावजूद मो-ला-पो के राजा शिलादित्य और वलभी के राजा शिलादित्य प्रथम धर्मादित्य की अभिन्नता एक प्रकार से निश्चित सी है, क्योंकि चीनी यात्री वलभी के समकालीन राजा को मो-ला-पो के राजा शिलादित्य का भतीजा बताता है। और हम

---

[1] ई. इ. XI. १७।

[2] वाला प्लेट आफ यीअर, २६६ (इ. ए. VI. II.) अनुदान-पत्र के पाठ में राजा की साधारण पदवियां गिनाई गई हैं, जैसे **महासामन्त महाराज**, लेकिन राजा के हस्ताक्षर में उसे **महाधिराज** कहा गया है।

[3] या. ट्रै. वा. II. २४२।

निश्चित रूप से जानते हैं कि ध्रुवसेन द्वितीय, जो सन् ६४० ई० में वलभी का राजा था, शिलादित्य प्रथम का भतीजा था।

अगर हम इस पहचान को मान लें तो हमें यह भी मानना चाहिए कि राजा शिला एक विशाल क्षेत्र पर राज करता था। मो-ला-पो कहाँ था, इस बारे में मतभेद होने बावजूद, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नाम मालवा का ही चीनी रूपान्तर है और इस अन्तर्गत पश्चिमी मालवा का पर्याप्त भाग शामिल था।[1] इसलिए हम यह मान सक हैं कि छठी शती ईसवी के अन्त में वलभी का राज्य पश्चिमी भारत में सबसे अधि शक्तिशाली था।

ह्वेन-त्सांग ने राजा शिलादित्य की बड़ी प्रशंसा की है। कहा है कि वह ऐ “राजा था जिसमें शासन-प्रबन्ध चलाने की महान् योग्यता और असाधारण दयालु और ममता थी।” उसने एक बौद्ध मन्दिर बनवाया था जिसकी “बनावट और सजाव अत्यन्त कलात्मक” थी, और जिसमें दुनिया के सभी हिस्सों से बौद्ध भिक्षुओं को निमन्त्रि किया जाता था। सिक्कों से प्राप्त विवरणों से हम जानते हैं कि शिलादित्य का उपना धर्मादित्य था, और चीनी यात्री ने उसके चरित्र का जो वर्णन किया है, वह इससे मे खाता है।

२. राजपूताना के गुर्जर

ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में गुर्जरों की ख्याति और प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने गुप्त साम्राज्य के पतन का लाभ उठाकर अपनी रा नीतिक सत्ता कायम कर ली थी। उनका सबसे प्रमुख राज्य राजपूताने के मध्य जोधपुर के पास स्थापित किया गया था और यह प्रदेश उनके नाम पर गूजरत्ना कहला लगा, जो गुजरात का ही भिन्न रूप है। जिस राज्य को आज गुजरात कहा जाता है वह इस नामसे बहुत बाद में प्रसिद्ध हुआ था। इन दो महत्त्वपूर्ण प्रदेशों के अलावा, औ भी कई क्षेत्र हैं जिनका नाम इस जाति से सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए पंजाब में क जगहों के नाम उनसे सम्बन्धित हैं, जैसे गुजरांवाला, गुजरात और गुजर-खान अठारहवीं शती में सहारनपुर का जिला भी गुजरात कहलाता था, और ग्वालियर रा के एक उत्तरी जिले का नाम आज भी गुजरगढ़ है।

इन स्थानों के नाम सूचित करते हैं कि देश के विभिन्न भागों में गुर्जरों के अने उपनिवेश थे। आजकल गुर्जरों की जनसंख्या जिस प्रकार विभिन्न राज्यों में बंटी हुई उससे भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। हम आज के गूजरों को पुराने गुर्जरों आधुनिक प्रतिनिधि मान सकते हैं। पश्चिमी हिमालय, पंजाब, उत्तर प्रदेश औ पश्चिमी राजपूताना में उनकी काफी बड़ी संख्या मिलती है और सिन्धु नदी के पार पहा

---

[1] अ. हि. इ. ३२३-२६।

क्षेत्र में भी वे मिलते हैं। गुजरात के अधिकांश लोग गुर्जर हैं, लेकिन सातपुरा पर्वतों के दक्षिण में गुर्जर नहीं मिलते।[1]

गुर्जरों की उत्पत्ति का प्रश्न तीखे विवाद का विषय रहा है। कई विद्वानों का मत है कि गुर्जर एक विदेशी जाति के लोग थे जो हूणों के साथ भारत में आये थे, और धीरे-धीरे पंजाब से राजपूताना होते हुए गुजरात तक उनका पहुँचना इस बात से सिद्ध है कि इन क्षेत्रों में अनेक स्थान आज भी उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका कहना है कि गुर्जर मूलतः एक देश का नाम था, जिसके निवासी स्वभावतः गुर्जर कहलाते थे। यह सुझाया गया है कि जिन विभिन्न भौगोलिक इकाइयों को आजकल गुजरात कहते हैं (अथवा सम्बन्धित नामों से पुकारते हैं) वे शुरू शुरू में एक बड़े समरूप देश के ही भाग थे, जिसे गुर्जरदेश कहते थे। यह अपने ही राजा के अन्तर्गत था और यद्यपि उसके कुछ अलग अलग भागों ने अपना पुराना नाम सुरक्षित रखा है, दूसरे भाग अपने पुराने नाम [redacted] खो चुके हैं।[2] लेकिन इस मत को आमतौर पर विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। कारण, इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि प्रतिहारों के शक्तिशाली साम्राज्य का कोई संयुक्त भौगोलिक नाम था या कि भारत के अन्य भागों से अलग कोई समरूपी वैशिष्ट्य था। उस साम्राज्य के दौरान तथा उसके बाद भी उसके अनेक भागों के अपने विशिष्ट नाम पूर्ववत् चलते आये हैं। गुर्जरों के नाम पर बसे विभिन्न इलाकों और गूजर जाति के लोगों का भौगोलिक विभाजन निस्सन्देह रूप से इस मत का समर्थन करता है कि गुर्जर मूलतः एक कौम का ही नाम था और देशों या क्षेत्रों का नाम उस कौम के नाम पर ही पड़ा था। इस मामले में मालवों की मिसाल गुर्जरों से एकदम मिलती है। यद्यपि हम पर्याप्त निश्चय के साथ कह सकते हैं कि मूलतः गुर्जर एक कौम का नाम था, लेकिन हमारे पास ऐसा कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि वे विदेशी थे और ऐतिहासिक काल में हूणों, कुषाणों या किसी अन्य विदेशी गिरोह के साथ भारत में आये। छठी शताब्दी ईसवी में यकायक उनके उत्कर्ष ने और उनके कुछ राजवंशों द्वारा अपनी मिथकीय उत्पत्ति के बारे में गढ़े हुए किस्सों ने इस मत को काफी आकर्षक और रंगीन बना दिया है। लेकिन इन पर निश्चित प्रमाणों की तरह भरोसा नहीं किया जा सकता और हम बिल्कुल ऐसी ही मिसालें कल्चुरियों और चंदेलों के बारे में भी दे सकते हैं। समग्रतः हमें इस प्रश्न को तब तक खुला छोड़ रखना चाहिए जब तक और अधिक निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाते।[3]

---

[1] इन पहले दो पैराग्राफों में जिन विषयों की चर्चा की गयी है, उनका विस्तृत विवेचन हवाले देकर ज. डि. ले. X. १ प. पृ. में किया गया है। स्वात के उत्तरी भाग में गूजरों की बस्तियों के बारे में देखिए, स्टाइन की पुस्तक 'ऑन अलेक्जांडर्स ट्रैक टु दि इंडस', पृ. १५०-५१।

[2] ज. डि. ले. X. १ प. पृ.। के. एम. मुंशी, 'द ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश', भाग III. पृ. १ प. पृ.। इ. हि. क्वा. X. ३३७, ६१३, XI. १६७; XIII. १३७; इ. क. I. ५१०; IV. ११३; ज. बि. ओ. रि. सो. XXIV. २२१।

[3] हाल में ही, इस प्रश्न पर प्रस्तुत लेखक ने समग्र रूप से के. एम. मुंशी डायमंड जुबिली वाल्यूम, भाग II, पृ. १-१८ में विचार किया है।

अबतक ज्ञात गुर्जरों के सर्वप्रथम राज्य की स्थापना ईसा की छठी शताब्दी में राजपूताने की आधुनिक जोधपुर रियासत में, हरिचन्द्र[1] ने की थी। हरिचन्द्र ब्राह्मण था और वेद और शास्त्रों का ज्ञाता था। उसकी दो पत्नियां थीं। उसकी ब्राह्मण पत्नी के पुत्र प्रतिहार ब्राह्मण कहलाये, जब कि उसकी क्षत्रिय पत्नी के पुत्र प्रतिहारों के राजवंश के संस्थापक बने। यह उल्लेखनीय है कि उसकी क्षत्रिय पत्नी भद्रा तो रानी कही गयी है, जबकि उसकी ब्राह्मण पत्नी के नाम के आगे ऐसा कोई राजकीय विशेषण नहीं लगा है। ऐसा लगता है कि अपने आरम्भिक जीवन में हरिचन्द्र ब्राह्मणों के शान्तिपूर्ण पेशे से संलग्न रहा; लेकिन गुप्त साम्राज्य, मिहिरकुल और यशोधर्मन के साम्राज्यों के पतन के बाद जब उत्तर भारत में साहसिक सैनिक अभियानों के लिए अनुकूल परिस्थितियां पैदा हो गयीं तब उसने शास्त्र को एक तरफ रखकर शस्त्र उठा लिए, जैसा उससे पहले और बाद में भी बहुतों ने किया है। वह अपने अभियान में सफल रहा और एक राज्य की स्थापना की। रानी भद्रा से उसके चार बेटे थे; भोगभट, कक्क, रज्जिल और दद्द। उन्होंने मांडव्यपुर (मन्दौर, जो जोधपुर से पाँच मील उत्तर में है) को जीत कर उसकी किलाबन्दी की। वही शायद उनकी राजधानी बना। हरिचन्द्र के चारों बेटों के वर्णन में कहा गया है कि उनमें से हरेक पृथ्वी के स्वामित्व में समर्थ था, जिसका शायद यह मतलब है कि हरेक अलग अलग रियासतों पर राज करता था, लेकिन पहले दो बेटों के बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। तीसरा बेटा रज्जिल, मांडव्यपुर का राजा था। उसके बाद उसका बेटा नरभट गद्दी पर बैठा और उसके बाद नरभट का बेटा नागभट, जिसने अपनी स्थाई राजधानी मेडन्तक में कायम की। (जो शायद जोधपुर से ७० मील उत्तर पूर्व में बसे मेड़ता का नाम था।) हरिचन्द्र और उसके उपर्युक्त तीन उत्तराधिकारियों का राज्य काल सम्भवतः सन् ५५० और ६४० ई० का समय है। अगले दो सौ वर्षों तक इस वंश की आठ पीढ़ियों के दस राजाओं ने राज किया। उनके इतिहास का विवरण अगले परिच्छेद में दिया जायगा।

३. नान्दीपुरी के गुर्जर[2]

राजपूताने के इस राज्य के अलावा भड़ोंच के इलाके में एक और रियासत थी जिस पर गुर्जर सामन्तों का राज था। इस राजवंश के सबसे पहले चार अभिलेख, जिनकी तिथि ६२९ ई० और ६४१ ई० के बीच है, एक राजा दद्द-द्वितीय प्रशान्तराग ने जारी किये थे, जो वीतराग जयभट का बेटा और दद्द-प्रथम का पोता था। इन अभिलेखों से लगता है कि उसकी रियासत उत्तर में माहि नदी से दक्षिण में किम नदी तक और पश्चिम

---

[1] आगे का विवरण प्रतिहार बाउक के जोधपुर में प्राप्त शिलालेखों पर आधारित है (ई. इ. XVIII. ८७ प. पृ.) और भी देखिए ज. डि. ले. X. १ प. पृ.।

[2] ब. ग. १. भाग II. पृ. ३१३; भ. लिस्ट. सं. १२०९-१३।

में समुद्रतट से लेकर पूर्व में मालवा और खानदेश की सीमाओं तक फैली हुई थी। चूँकि ये सारे अनुदान-पत्र नान्दीपुरी से जारी किये गये थे, इसलिए शायद वही उसकी राजधानी थी। ब्युलर (Bühler) इस नगर को भड़ोंच से अभिन्न मानते हैं और भगवान लाल इन्द्र जी उसकी शिनाख्त नान्दोड से करते हैं, जो राजपिपला राज्य में करजन नदी के किनारे स्थित है।[1]

चूंकि दद्द-प्रथम के बारे में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उसने गुर्जर राजाओं के परिवार में जन्म लिया था, और उसका समय निश्चित ही ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश रहा होगा, इसलिए यह संगत लगता है कि उसे मुख्य गुर्जर वंश के संस्थापक हरिचन्द्र के सबसे छोटे पुत्र दद्द से अभिन्न मान लिया जाय। जैसे पहले उल्लेख किया जा चुका है, हरिचन्द्र के बेटों के बारे में कहा गया था कि उनमें से हरेक पृथ्वी का भार वहन करने में समर्थ था, और यह बिल्कुल सम्भव है कि रज्जिल तो जोधपुर के निकट वाले राज्य पर शासन करता था, जबकि उसके अन्य भाइयों ने अपने अलग अलग राज्य स्थापित कर लिए थे। भड़ोंच की रियासत के अलावा, हमें मालूम है कि आगे चल कर मालवा में भी एक गुर्जर राज्य था, जिसकी राजधानी अवन्ति थी, और चूंकि उसके राजा अपने को प्रतिहार कहते थे, इसलिए यह सम्भव है कि वे राजा हरिचन्द्र के ही वंशजों में से हों। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि दद्द प्रथम खुद पश्चिम में इतनी दूर तक वढ़ता चला गया था, क्योंकि हमें यह नहीं मालूम कि बीच के विशाल क्षेत्र को भी क्या गुर्जरों ने जीत लिया था। इसके अलावा, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे जिस इलाके पर इस राजवंश का शासन था, वह कलुचरी राजा शंकरगण और बुधराज के आधिपत्य में था। इसलिए अगर हम यह मानते हैं कि ईसा की छठी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में दद्द प्रथम ने दक्षिणी राजस्थान में इस राज्य की स्थापना की थी, तो हमें यह भी मानना चाहिए कि उससे या उसके बेटे से यह राज्य छिन गया था या वे कलचुरी राजाओं के अधीन सामन्त बन गए थे। इसलिए सम्भावना इस बात की है कि दद्द प्रथम ने दक्षिणी राजस्थान में कहीं एक राज्य कायम किया था और जब कलचुरियों का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, तब उसके बाद ही उसने या उसके बेटे ने भड़ोंच और उसके इर्द-गिर्द के इलाके पर कब्जा किया था। यह भी असम्भव नहीं है कि गुर्जरों ने कलचुरियों को हराने के लिए पुलकेशिन से सहायता मांगी हो और खुद अपने आप उसके आगे समर्पण किया हो। शायद इस तरीके से गुर्जरों ने सन् ६१० ई० के कुछ बाद ही गुजरात में अपने इलाकों पर कब्जा किया और फिर अन्ततः मालवा या उसका अधिकांश भाग भी उनके हाथ में आ गया।

कहा जाता है कि दद्द प्रथम ने कुछ विरोधी नागों को भी हराया था; यह सम्भव है कि नाग कबीले की किसी शाखा को उनके किसी क्षेत्र से निकालकर उसने वहाँ अपना

---

[1] ब. ग. I. भाग II. पृ. ३१४, पा. टि: ६. इन्द्र जी का मत आमतौर पर विद्वानों को मान्य है।

राज्य कायम किया हो। दद्द और उसके उत्तराधिकारी सामन्त कहलाते थे और उन अनुदान-पत्रों में उनके नाम के आगे कोई राजकीय पदवी नहीं दी गयी है। दूसरी ओ इन अनुदान-पत्रों में किसी परम शासक का भी उल्लेख नहीं है। इसका यह अर्थ निका जा सकता है कि उनकी स्वामिभक्ति या तो राजपूताना के गुर्जर शासकों के मुख्य परिवा के प्रति थी या चालुक्य राजाओं के प्रति।

४. मौखरी

मौखरी एक अत्यन्त प्राचीन परिवार या कुल का नाम है। शायद पाणिनि को इस नाम का पता था। गया में इस कुल की एक मौर्यकालीन मिट्टी की मुहर प्राप्त हुई है राजपूताने की कोटा रियासत में मिले सन् २३९ ई० के एक अभिलेख में एक मौख सेनापति का उल्लेख है। पत्थर के चार यूपों (वलि-स्तम्भों) पर उत्कीर्ण चार अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ईसा की तीसरी शती में इस इलाके में मौखरियों के अनेक परिवार थे बाद में जब उनको राजसत्ता प्राप्त हो गयी तो उन्होंने दावा किया कि वे उस अश्वप की सन्तान हैं, जिसका महाभारत में जिक्र है कि वह मध्य पंजाब के मद्र प्रदेश का रा था। इससे स्पष्ट है कि अतीत काल में भी मौखरी कुल के लोग उत्तर भारत दूर-दूर तक फैले हुए थे।

ईसा की छठी शताब्दी में एक मौखरी परिवार गया के प्रदेश में राज करता था। गया जिले की बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में प्राप्त तीन अभिलेखों से हमें मौख वंश के तीन राजाओं के वंश का पता चला है। ये नाम हैं यज्ञवर्मन्, उसका बेटा शार्दूलवर्मन् और उसका भी बेटा अनन्तवर्मन्। ये तीनों राजा गुप्त सम्राटों के सामन्त थे। अनन्तवर्मन्, जिसके राज्य काल में ये तीनों शिलालेख उत्कीर्ण किये गये थे, गुप्त साम्राज्य के पतन काल में हुआ था, क्योंकि अभिलेखों में किसी परम शासक या अधिराज का हवाला नहीं दिया गया, यद्यपि उनमें उसके पितामह को सामन्त कहा गया है। इसके अतिरिक्त इस राजवंश के बारे में और कुछ ज्ञात नहीं है और हम उनके राज्यकाल को ईसा की छ शताब्दी के पूर्वाध या उससे भी कुछ पहले अनुमानित कर सकते हैं।

मौखरियों की और शाखा के बारे में, जो अन्ततः अधिक शक्तिशाली बन गयी थी, अनेक मुहरों और शिलालेखों से पता चला है। राजकीय मुहरों में इस शाखा के राजाओं की वंशावली इस प्रकार दी हुई है :

१. **महाराज** हरिवर्मन—जयस्वामिनी
२. **महाराज** आदित्यवर्मन—हर्षगुप्ता
३. **महाराज** ईश्वरवर्मन—उपगुप्ता
४. **महाराजाधिराज** ईशानवर्मन्—लक्ष्मीवती

---

१. ई. इ., XXIII, ४२; XXIV, २५१।

५. महाराजाधिराज शर्ववर्मन्—इन्द्रभट्टारिका
६. महाराजाधिराज अवन्तिवर्मन्—
७. महाराजाधिराज सु . . .

पहले तीन राजाओं और बाद के राजाओं की उपाधियों में जो फर्क है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि ईशानवर्मन् के राज्यकाल में इस वंश की सत्ता और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी थी। इस वंश के सारे शिलालेख, छोटी छोटी मुहरों को छोड़कर, और उनके सारे सिक्के आजकल के उत्तर प्रदेश की सीमा में ही प्राप्त हुए हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि उनकी राजसत्ता का केन्द्र यह प्रदेश ही था। सौभाग्य से ईशानवर्मन् के समय की एक तिथि उपलब्ध है, जो आमतौर पर सन् ५५४ ई० के बराबर समझी जाती है। इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ईशानवर्मन् के तीन पूर्वज गुप्त सम्राटों के सामन्त थे और ईसा की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में, या सम्भवतः उससे कुछ पहले, हुए थे। इसका अर्थ यह हुआ कि मौखरी खानदान के लोग दक्षिणी बिहार और उत्तर प्रदेश में बुधगुप्त के समय से सामन्तों के रूप में शासन करते आये थे और ईसा की छठी शती के आरम्भ में गुप्त साम्राज्य के पतन से उनको स्वाधीन होने का मौका मिल गया। हालाँकि हमारे पास इन मौखरी राजाओं द्वारा दूर दूर तक चलाये गये फौजी अभियानों के अस्पष्ट संकेत मौजूद हैं, लेकिन ईशानवर्मन् के राज्य काल से पहले के उनके इतिहास के बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते। उसके विवरणों में दावा किया गया है कि उसने आन्ध्र, शूलिक और गौड़ों को हराया था। शायद इसमें संकेत क्रमशः विष्णुकुण्डीन,[1] उड़ीसा के सुल्कि[2] और बंगाल के किन्हीं शासकों[3] की ओर है। इन विजयों से उसके व्याएक फौजी अभियानों और अतुल शक्ति की सूचना मिलती है। इसलिए ईशानवर्मन् का महाराजाधिराज की पदवी अपना लेना उचित ही था। अपने खानदान में वह पहला व्यक्ति था जिसने यह शाही पदवी अपनायी और अपने सिक्के जारी किये। इसलिए, बहुत कुछ यह भी सम्भव है कि वह पहला मौखरी राजा था, जिसने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और अपने खानदान की सत्ता कायम की। चूँकि उसके काल की एक तिथि सन् ५५४ ई० है, इसलिए एक ओर उसका उत्थान और दूसरी ओर गुप्त साम्राज्य का पतन एक साथ घटित हुए और वे इस घटना के कारण या परिणाम हो सकते हैं, या कुछ हद तक दोनों ही।

“परवर्ती गुप्तों” ने, जो लगभग इसी समय, और इन्हीं परिस्थितियों के कारण, आगे आ गये थे, मौखरियों की शक्ति को चुनौती दी। गुप्त साम्राज्य की बची-खुची सत्ता पर कब्जा करने के लिए दोनों में एक लम्बी अवधि तक संघर्ष होता रहा, जिसका वर्णन

---

[1] देखिए परि. XI. ग. १ (२)।

[2] देखिए जिल्द IV. परि. IV. III. ३।

[3] सम्भवतः पृष्ठ ८७-८८ पर उल्लिखित राजागण।

आगे किया जायगा। इस युद्ध में कुमारगुप्त, और शायद दामोदर गुप्त से भी मौख राजा ईशानवर्मन् हार गया था।

ईशानवर्मन् के बाद मौखरियों के इतिहास के बारे में बहुत कम ज्ञात है। आगे चलक "परवर्ती गुप्तों" के साथ उनके युद्ध का हवाला दिया जायगा। हालाँकि ऐसा नहीं लग कि मौखरियों को कोई बड़ी सफलता मिली हो, लेकिन कुछ प्रमाणों से ज्ञात होता है कि अगले दो राजाओं, शर्ववर्मा और अवन्तिवर्मा ने मगध पर या उसके एक भाग पर क कर लिया था। ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में मौखरी राजा काफी ताकतवर र होंगे। ऐसा इस बात से ही जाहिर नहीं होता कि इन दोनों राजाओं ने भी महाराजाधिरा की पदवियां धारण की थीं, बल्कि **हर्ष चरित** में बाणभट्ट ने उनकी प्रशंसा में जो शब्द लि हैं. उनसे भी यही प्रकट होता है। बाणभट्ट का कहना है कि "मौखरी सब राजवंशों श्रेष्ठ हैं और अवन्तिवर्मा उस जाति का गौरव है।"[1] अगर कविजनोचित अतिशयोक्ति की सम्भावना को ध्यान में रखें, विशेषकर यह वह मौका था जब उसके संरक्षक का परिवार मौखरियों के साथ विवाह-सम्बन्ध में बंधनेवाला था, तो भी बाणभट्ट की प्रशस्ति असन्दिग्ध रूप से यह तो जाहिर करती ही है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के आरम्भ त मौखरी शासकों की बड़ी प्रतिष्ठा और शक्ति थी। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि बाण ने अपनी दूसरी कृति कादम्बरी में बड़े गर्व से लिखा है कि मौखरी राजा उसके गुरु के चरण पूजते थे।[2]

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, ईशानवर्मन् या उसके पुत्र शर्ववर्मन ने हूणों युद्ध किया था और उन्हें हराया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शर्ववर्मन् और उसका पुत्र अवन्ति वर्मन्, दोनों ही बड़े शक्तिशाली राजा थे, और एक विस्तृत क्षेत्र पर राज करते थे। लेकिन इस क्षेत्र की सीमाओं का मोटा अन्दाज भी पेश करना कठिन है। उनके सिक्कों और शिलालेखों के प्राप्ति स्थानों से अगर निर्णय करें तो उनके राज्य की सीमाए मोटे तौर पर वर्तमान उत्तर प्रदेश की सीमाओं से मेल खाती थीं। उसमें मगध के भी कुछ हिस्से थे। यह मत कि मध्य प्रदेश के निमाड़ जिले का असीरगढ़ "दक्षिण में मौखरी राज्य का सीमान्त गढ़ था" मान्य नहीं लगता।[3] इस उपपत्ति का भी कि पश्चिम में

---

[1] कॉवल एण्ड थॉमस. ह. च. १२२।

[2] मंगलाचरण का चौथा पद।

[3] टी. जी. अरावमुथन का तर्क है कि "असीरगढ़ का किला मौखरियों ने जीत लिया था क्योंकि "और कोई सुझाव इस बात का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता कि शर्ववर्मन् की मुह असीरगढ़ कैसे पहुँच गयी।" ('कावेरी, मौखीरज ऐंड संगम एज' पृ. ९६-९७) : लेकिन यह बा सभी जानते हैं कि मुहर जैसी छोटी छोटी सुवाह्य वस्तुएँ ही नहीं, बल्कि बड़े बड़े ताम्रपत्रों भी आसानी से उठाकर सुदूर स्थानों तक ले जाया जा सकता है। इसके अलावा इसमें भी सन्दे है कि मुहर सचमुच असीरगढ़ में ही मिली थी। फ्लीट का कहना है कि मुहर की एक छा असीरगढ़ में एक बक्स के अन्दर बन्द मिली थी, जो **महाराजा** सिन्धिया की सम्पत्ति था। मुहर बारे में उसका कहना है : "प्रकाशित विवरणों से यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि मूल मुहर

मौखरियों का राज्य सतलज तक फैला हुआ था, पर्याप्त आधार नहीं है।[1] लगता है कि कन्नौज मौखरी राज्य की राजधानी थी, कम से कम अवन्तिवर्मन और उसके बेटे के जमाने में, लेकिन इसका भी हमारे पास कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है।[2]

ईशानवर्मन्, शर्ववर्मन् और अवन्तिवर्मन् के अनेक सिक्के मिले हैं, जिन पर उनकी तारीख भी अंकित है। दुर्भाग्य से उनके संख्यात्मक चिह्न इतने अनिश्चित हैं कि विभिन्न विद्वानों ने उनका एक दूसरे से सर्वथा भिन्न पाठ सुझाया है।[3] इसलिए इन पाठों के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचना कठिन है। कुछ विद्वानों ने ईशानवर्मन्, शर्ववर्मन् और अवन्तिवर्मन् के सिक्कों पर क्रमशः २५७, २३४ और २५० की तारीखें पढ़ी हैं, जबकि दूसरे विद्वानों ने इन्हीं चिह्नों को २५७,२५८ और २६० पढ़ा है। अगर हम उन्हें सही मान लें और समझ लें कि ये तारीखें गुप्त संवत् के अनुसार हैं तो ईसवी सन् के हिसाब से ईशानवर्मन् की तारीख ५७७-७८ ई० होगी और अवन्तिवर्मन् की तारीख ५७९-८० होगी। अन्तिम तारीख को अस्थायी रूप से स्वीकार किया जा सकता है और यह सत्य से वहुत दूर नहीं है। क्योंकि **हर्षचरित** से यह निष्कर्ष निकालना विल्कुल

कभी मिली थी या सिर्फ उसकी छाप ही मिली थी।" इस प्रकार असीरगढ़ में जो चीज मिली थी, वह मुहर नहीं थी, वल्कि महाराजा सिन्धिया का एक वक्स था, जिसके अन्दर मुहर की छाप रखी थी। चूंकि उस समय असीरगढ़ सिन्धिया के राज में था, इसलिए हम आसानी से यकीन कर सकते हैं कि उत्तर भारत में फैले उसके राज्य के किसी दूसरे भाग से वह वक्स वहाँ ले जाया गया था। इसलिए यह मानने का कि असीरगढ़ कभी मौखरियों के राज्य का हिस्सा था, कोई आधार नहीं है।

[1] यह मत काँगड़ा जिले में सतलज के दायें तट पर काफी आगे जाकर बसे निरमन्द गाँव (३१° २५′ उत्तर, ७७° ३८′ पूर्व) (काँ. इ इ. III. २८८) में मिले एक ताम्रपत्र पर आधारित है। इस ताम्रपत्र में **महाराज** शर्ववर्मन् द्वारा इस स्थल के पड़ोस के एक मन्दिर को दान में भूमि देने का हवाला है। अगर यह शर्व-वर्मन् अपने नामराशि मौखरी राजा से अभिन्न है, तो स्पष्ट है कि इस मौखरी राजा ने इस क्षेत्र तक अपना आधिपत्य बढ़ा लिया होगा। लेकिन दोनों नामों में साम्य होने के अलावा और कोई प्रमाण उनकी अभिन्नता के पक्ष में उपलब्ध नहीं है। फिर भी, यह असम्भव वात नहीं है कि हूणों के विरुद्ध अपने अभियान में आगे बढ़ता हुआ मौखरी राजा इस स्थान तक जा पहुँचा हो। उस सूरत में हमें यह अनुमान करना पड़ेगा कि उत्तर प्रदेश और काँगड़ा के बीच में पड़ने वाले थानेश्वर राज्य का शासक या तो मौखरी राजा के अधीन था या दोनों अपने सामान्य दुश्मनों, अर्थात् हूणों के विरुद्ध संयुक्तरूप से लड़े थे। लेकिन हम सिर्फ नाम की समानता पर आधारित एक सन्दिग्ध अभिन्नता का सहारा लेकर इतने महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। देखिए, प्रो. ओ. को. XV. २९८।

[2] बाण ने राज्यश्री की कहानी का जिस तरह वर्णन किया है उससे यह काफी हद तक मुमकिन है कि कन्नौज उसके ही राज्य की राजधानी था। ह्वेन-त्साँग ने हर्षवर्धन की जो कहानी वताई है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस सारे प्रश्न पर डॉ. त्रिपाठी ने विस्तार से विचार किया है। (कन्नौज, पृ० ३२-३५)।

[3] इन सभी पाठों का संक्षेप और उनका विवेचन डॉ. त्रिपाठी ने प्रस्तुत किया है। (कन्नौज, पृ. ५५ प. पृ.)।

संगत होगा कि अवन्तिवर्मन् की मृत्यु हो चुकी थी और सन् ६०६ ई० से कुछ पहले उसका बेटा ग्रहवर्मन् गद्दी पर बैठा था। अगर हम सन् ५७६ ई० को ईशानवर्मन् निधन तिथि मान लें तो उसने सन् ५५० से ५७६ ई० तक राज किया होगा, शर्ववर्मन् का राज्य काल बहुत छोटा रहा होगा, सिर्फ सन् ५७६ से ५८० ई० तक। प्रकार हम अस्थायी रूप से निम्नलिखित कालक्रम अनुमानित कर सकते हैं :

ईशानवर्मन्	सन् ५५०-५७६ ई०[1]
शर्ववर्मन्	सन् ५७६-५८० ई०
अवन्तिवर्मन्	सन् ५८०-६०० ई०

अवन्तिवर्मन् के उत्तराधिकारी के बारे में कुछ अनिश्चितता है। बाण के हर्षचरि में राजा प्रभाकरवर्धन् अपनी रानी से कहता है : "अवन्तिवर्मन् का ज्येष्ठ पुत्र ग्रहवर्म हमारी पुत्री से विवाह करना चाहता है।"[2] आगे चलकर बताया गया है कि राजकुमा राज्यश्री से पाणिग्रहण का प्रस्ताव लेकर ग्रहवर्मन् का विशेष दूत आ गया है।[3] इन हवाले से स्पष्ट हो जाता है कि अवन्तिवर्मन् का ज्येष्ठ पुत्र ग्रहवर्मन् राज्यश्री से विवाह करने पहले ही सन् ६०६ ई० या उससे कुछ पहले गद्दी पर बैठा था।[4]

लेकिन नालन्दा मुहर[5] के अनुसार अवन्तिवर्मन् का पुत्र और उत्तराधिकारी निश्च ही ग्रहवर्मन् नहीं है। यद्यपि मुहर टूटी-फूटी अवस्था में है, जिससे पूरा नाम नहीं प जाता, लेकिन उस पर अंकित नाम का प्रथमाक्षर निश्चित रूप से "सु" है और दूसरा शायद "व" या "च" है। किसी प्रकार भी यह ग्रहवर्मन् के नाम का प्रथमाक्षर नहीं हो सकता। इससे एक कठिन समस्या पैदा हो जाती है। मुहर में ग्रहवर्मन् का नाम न होने से, निश्चय ही, पूरी तरह यह तो सिद्ध नहीं होता कि ग्रहवर्मन् ने कभी राज नहीं किया या कि वह अपने पिता का उत्तराधिकारी नहीं बना, और बाण के स्पष्ट कथन के आधार पर हम इन मतों को अस्वीकार कर सकते हैं। तब इसका मतलब यह होगा कि राज

---

[1] हर्ष के शिलालेख से ज्ञात होताहै कि ईशानवर्मन् का एक बेटा सूर्यवर्मन् था, लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं मिला कि वह कभी गद्दी पर बैठा था। इस राजकुमार को सिरूर के शिलाले में उल्लिखित इसी नाम के राजा से अभिन्न मानना ठीक नहीं लगता, क्योंकि इसका पर्या आधार नहीं है। (देखिए ई. इ. XXIV. २८४ जहाँ विभिन्न मतों का पूरे विस्तार से हवाला दिया गया है।)

[2] कॉवेल ऐंड थॉमस, ह. च. पृ. १२२-२३।

[3] कॉवेल ऐंड थॉमस, ह. च., पृ. १२३।

[4] इस बात में सन्देह किया गया है कि ग्रहवर्मन् कभी गद्दी पर बैठा भी था। (ई. इ. XXIV २८४ पा. टि. ८) लेकिन **हर्षचरित** से उद्धृत उपरोक्त वाक्य और साथ ही बाद के कुछ हवाले इस विषय में निश्चित और स्पष्ट हैं।

[5] ई. इ. XXIV. २८४-८५।

"सुव" (?)......जिसने वह मुहर जारी की थी, ग्रहवर्मन् का छोटा भाई था और उसके बाद गद्दी पर बैठा था।[1] लेकिन यह अनुमान भी उससे विपरीत है जो ग्रहवर्मन् के बाद कन्नौज के इतिहास के बारे में आमतौर पर मान्य है। लेकिन इस समस्या पर हर्षवर्धन के सन्दर्भ में विचार किया जायगा। मौखरियों का इतिहास हम ग्रहवर्मन् और राज्यश्री के विवाह की उस सुखद घटना से समाप्त कर सकते हैं, जिसका बाण ने इतना चित्रात्मक वर्णन किया है।

इस विवाह को ठीक इसलिए समझा गया कि उसने "पुष्पभूति और मुखर जैसे दो प्रतापी वंशों को एकता के सूत्र में बांध दिया।"[2] लेकिन उस समय शायद ही कोई इस अभागे सम्बन्ध के परिणामों की पूर्व कल्पना कर सकता था, क्योंकि ऐसे बहुत कम उदाहरण हैं जिनमें दो राज्य परिवारों के बीच हुए विवाह-सम्बन्ध में इतनी भयंकर ट्रैजेडी हुई हो और साथ ही उन्हें इतना गौरव और बल प्राप्त हुआ हो।

सामान्य सन्दर्भ

अभिलेख और मुद्राएं :—

(१) फ्लीट—का. इ. इ. III. अंक ४७-५१।
(२) हर्ष इन्स.—ए. इ. XIV. ११०।
(३) नालन्दा सील—ए. इ. XXIV. २८४।

आधुनिक पाठ्य ग्रन्थ

१. आर० एस० त्रिपाठी, **हिस्टरी ऑफ कन्नौज**, अध्याय II.
२. आर० जी० बसाक, **हिस्टरी ऑफ नॉर्थ ईस्टर्न इंडिया**, अध्याय V.
३. ई० पायर्स, **दि मोखरीज**।

---

[1] 'मंजुश्री-मूल-कल्प' से जाहिर होता है कि ग्रह (वर्मन्) के बाद सुव्र (?) गद्दी पर बैठा था, जो शायद वही नाम है जो नालन्दा मुहर पर अंकित है (सुव ?)। **मंजुश्री-मूल-कल्प** के अनुसार इस राजवंश का पतन हो गया और सुव्र के पश्चात् उसका राजत्व छिन गया। (पृष्ठ ६२६)।

ईशान-सर्व पंक्तिश्च ग्रह-सुर्व-तथापरः
ततस्ते लुप्तराजानः भ्रष्टमर्याद सर्वदा।

जायसवाल ने पहली पंक्ति को इस प्रकार संशोधित किया है :

"ईशान-सर्वावन्तिश्च ग्रह-सुव्रत (ा) थ = आपरः, और इस प्रकार "सुव्रत" को ग्रह (वर्मन्) का उत्तराधिकारी माना है। इ. हि. इ. जा. पृ. २७,४५. लेकिन इसमें छंदो भंग हो जाता है। डॉ. एन. पी. चक्रवर्ती का सुझाव है कि मुहर के अन्तिम भाग को इस प्रकार पढ़ना चाहिए:—श्री-सुच (न्द्रवर्मा मौखरिः) (ई. इ. XXIV. २८४, पा. टि. ६)।

[2] कॉवेल ऐंड टॉमस, ह. च. पृ. १२८।

मौखरियों के बारे में व्यक्त विचारों के लिए, जो अत्यन्त अपर्याप्त प्रमाणों आधारित हैं और इसी कारण जिनपर ऊपर विचार नहीं किया गया है, देखें न्यू० इ० II; ३५४; प्रो० ओ० का०, VII. ५६६, वुल्नर कमे० वॉल्यूम, पृ० ११६।

५. "परवर्ती गुप्त"

अनेक दृष्टियों से "परवर्ती गुप्तों" का इतिहास भी मौखरियों के इतिहास से मि जुलता है। वे भी आरम्भ में गुप्त सम्राटों के सामन्त थे, और लगभग उसी समय वे स्वतन्त्र हुए और प्रतिष्ठा प्राप्त की जब मौखरी। गया के नजदीक अफ्सड[1] में प्राप्त अभिलेख में "परवर्ती गुप्तों" की वंशावली इस प्रकार दी गयी है :—

(१) कृष्ण गुप्त
(२) हर्ष गुप्त
(३) जीवित गुप्त
(४) कुमार गुप्त
(५) दामोदर गुप्त
(६) महासेन गुप्त
(७) माधव गुप्त
(८) आदित्य सेन

हालांकि इनमें से किसी के नाम के आगे कोई राजकीय पदवी नहीं जोड़ी गयी तथापि कृष्ण गुप्त को **नृप** (राजा) कहा गया है तथा उसके अन्य उत्तराधिकारियों के भी ऐसे ही विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

हम निश्चित रूप से नहीं जानते कि इस वंश के किस सदस्य ने सबसे पहले अ आपको स्वतन्त्र राजा के रूप में स्थापित किया था। अफ्सड के शिलालेख में साम और रूढ़ पद्धति से पहले तीन राजाओं की सैन्य सफलताओं का बखान किया गया तीसरे राजा के बारे में कहा गया है कि उसने अपनी सेना लेकर हिमालय पर्वत और स तट पर चढ़ाई की थी। लेकिन उसमें ऐसी कोई बात नहीं कही गयी है जिससे यह स हो सके कि "परवर्ती गुप्तों" ने ये अभियान अपने सम्राट के सामन्तों की हैसियत से च थे या स्वतन्त्र राजाओं की हैसियत से। लेकिन पहली बात ही अधिक सम्भव लगती

अगले राजा कुमार गुप्त के बारे में अधिक ब्यौरे उपलब्ध हैं। उसने मौखरी र ईशान वर्मन् को हराया था, जिसके बारे में कहा गया है कि वह "राजाओं में चन्द्रमा समान था। कुमार गुप्त की विजय ने अवश्य ही उसके परिवार की उन्नति का मार्ग प्र किया था। जब हम इस बात को याद करते हैं कि सन् ५४३ ई० के बाद कहीं

---

[1] का. इ. इ. III. २००।

अभिलेख में हमें एक भी गुप्त सम्राट का हवाला नहीं मिलता, तो हमें यह भी मान लेना चाहिए कि कुमार गुप्त के समय से, यदि पहले से नहीं, "परवर्ती गुप्तों" ने व्यवहारतः एक स्वतंत्र सत्ता प्राप्त कर ली थी। युद्ध में कुमार गुप्त की सफलता महान् भी थी और स्थायी भी, यह इस बात से सिद्ध है कि अफ्सड के अभिलेख में उसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह अपने अभियान में प्रयाग तक बढ़ता चला गया था, जहाँ जाकर उसकी मृत्यु हो गयी और उसके पुत्र दामोदर गुप्त ने मौखरियों को एक बार फिर हराया, हालांकि उस युद्ध में वह या तो मारा गया या गम्भीर रूप से घायल हो गया।[1]

इन दावों को गलत समझने का कोई कारण नहीं है, विशेषतः जबकि मौखरियों के विवरणों में अपने इन दुश्मनों पर विजय प्राप्त करने का कोई दावा नहीं किया गया। दामोदर गुप्त ने जिस मौखरी राजा को हराया था, वह ईशान वर्मन् था या उसका बेटा, यह बताना मुश्किल है। लेकिन इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उस समय तक 'परवर्ती गुप्तों' ने मालवा में भी और गुप्त साम्राज्य के पूर्वी भागों में भी अपनी सत्ता काफी मजबूत कर ली थी, क्योंकि दामोदर गुप्त का बेटा महासेन गुप्त अपनी विजयवाहिनी को लेकर लौहित या ब्रह्मपुत्र नदी तक जा पहुँचा था और वहाँ उसने कामरूप या आसाम के राजा सुस्थित वर्मन् को हराया था।

"परवर्ती गुप्तों" के मूल निवास के बारे में अनिश्चितता होने के बावजूद, जिसका जिक्र हम बाद में करेंगे, जहाँ तक महासेन गुप्त के राज्य की व्याप्ति का प्रश्न है, हमें इस बारे में अपेक्षाकृत अधिक विचारणीय सामग्री उपलब्ध है। "हर्षचरित" में महासेनगुप्त को मालवा का राजा कहा गया है,[2] और ब्रह्मपुत्र के तट पर उसकी विजय का उल्लेख अफ्सड में मिले शिलालेख में भी है। इसलिए, हमें मानना चाहिए कि चाहे थोड़े समय के लिए ही सही, वह मालवा से लेकर बंगाल तक के प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमाने में सफल हुआ था। इसी काल में मगध और उसके पड़ोसी क्षेत्र पर होने वाले दो विदेशी आक्रमणों का उल्लेख यहाँ जरूरी है। महाकूट स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार चालुक्य

---

१. फ्लीट कृत इस अंश का अनुवाद, जिससे जाहिर होता है कि राजा (दामोदर-गुप्त) युद्ध में मारा गया था, अधिकतर विद्वानों को मान्य है। लेकिन श्री के. सी. चट्टोपाध्याय का कहना है कि उक्त लेखांश में दामोदर गुप्त की मृत्यु का हवाला नहीं दिया गया, बल्कि सिर्फ उसके मूर्छित हो जाने और फिर से उठ पड़ने का, अर्थात पुनः चेतना प्राप्त कर लेने का, उल्लेख है (डी. आर. भंडारकर वाल्यूम, पृ. १६१ प. पृ०)। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि उक्त शिलालेख दामोदर गुप्त की विजय सूचित करता है न कि उसकी पराजय, जैसा डॉ. बसाक का विचार है (हि. ना. इ., १२३)।

२. कुमार गुप्त और माधव गुप्त, जो राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की सेवा में नियुक्त थे, मालवा के राजा के बेटों के रूप में उल्लिखित हैं (कॉवेल ऐंड टॉमस, ह. च. ११६)। चूंकि माधव गुप्त की पहचान उसी नाम के परवर्ती गुप्त राजा से की गई है, इसका अर्थ यह हुआ कि उसका बाप महासेन गुप्त मालवा का राजा था।

राजा कीर्तिवान् ने, जिसका राज्यकाल सन् ५६७ से ५९७ ई० है, औरों के अलावा, वंग और मगध के राजाओं को भी हराया था।[1] तिब्बत के वृत्तान्तों से भी हमें ज्ञात कि उसका शक्तिशाली राजा स्रोण ब्त्सन, जिसका राज्यकाल सन् ५८१ से ६०० है, अपने विजय-अभियानों में मध्य भारत तक गया था। मध्य भारत शब्द तब बि और कभी कभी उत्तर प्रदेश का सूचक था।[2] इन अभियानों की ठीक तारीख औ ब्यौरों के बारे में निर्णय करना कठिन है और न यही निश्चित है कि यह बात को गर्वोक्ति है या ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है।[3] यह बात नामुमकिन नहीं है कथित तिब्बती और चालुक्य राजाओं के विजय अभियानों का पहला आघात वास्त में मौखरियों ने झेला और इस जीत ने महासेन गुप्त के लिए ब्रह्मपुत्र तक धावा बोलने मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसके विपरीत, अगर हम यह मान कर चलें कि महासेनगु वास्तव में मगध और उत्तरी बंगाल का राजा था, और अगर सचमुच ये युद्ध हुए थे, उनमें उसकी हार की भी सम्भावना है।

लेकिन हम चाहे जिस मत को स्वीकार करें, इसमें कोई सन्देह नहीं कि महासेन गु जिसने एक सीमा तक गुप्त सम्राटों के पुराने गौरव का पुनरुत्थान किया था, जल्द ही बु दिनों का शिकार हो गया। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं,[4] वलभी के मैत्रक राजा शिलादि प्रथम ने पश्चिमी मालवा का अधिकांश भाग जीत लिया था, और सन् ५९५ ई० उज्जयिनी पर कलचुरी राजा शंकरगण का आधिपत्य हो गया था।[5] इस प्रकार शक्तिशाली दुश्मनों के पाट में दबकर महासेन गुप्त मालवा पर से अपना आधिपत् खो बैठा। साथ ही, उसकी मुसीबत का फायदा उठाकर शशांक ने, जो शायद महासेन गुप्त का सामन्त था, गौड़ (उत्तर और पश्चिमी बंगाल) में अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली।

इसके बाद महासेन गुप्त के भाग्य का जिसकी शानदार जीवन-यात्रा का इतना दुखद अन्त हुआ था, निश्चित पता नहीं है। उसके दो बेटों, कुमारगुप्त औ माधवगुप्त को थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन के दरबार में, जिसकी मां के नाम महासेन गुप्ता से ही जाहिर है कि शायद वह राजा महासेन गुप्त की बहन थी, शरण मिल गयी। दोनों तरुण राजकुमार प्रभाकरवर्धन के दोनों बेटों राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के परिच नियुक्त कर दिये गये।

यह विश्वास करने का पर्याप्त आधार है कि एक देव गुप्त नाम का व्यक्ति माल

---

[1] इ. ए. XIV. ७।

[2] लेवी, नेपाल, II. १४७ प. पृ.।

[3] फ्लीट बंगाल और बिहार जैसे सुदूर राज्यों की विजय के सम्बन्ध में कीर्तिवर्मन् दावे को कोरी गर्वोक्ति मानता है। (बंबे गजे. जिल्द I, भाग II, पृ. ३४६)।

[4] देखिए पृ. ७१-७२।

[5] आगे देखिए, परिच्छेद XI. (ii)।

या उसके एक भाग का राजा बन गया था ।[1] हर्षवर्धन के अभिलेखों में इस नाम के एक राजा का उल्लेख है, जो विरोधी राजाओं के समूह में प्रमुख व्यक्ति था और जिसके कुटिल षड्यन्त्रों को राज्यवर्धन ने विफल किया था । **हर्षचरित** के अनुसार भी राज्यवर्धन ने मालवा के उस राजा को हराया था, जिसने उसकी बहन के राज्य पर आक्रमण किया था और जो स्वयं उसके राज्य के लिए खतरा बन गया था। चूँकि उन दोनों तरुण राजकुमारों के बारे में जिनके नाम के आगे "गुप्त" लगता था, और जो राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के परिचर नियुक्त किए गए थे, यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि वे मालवा के राजा के बेटे थे, और इस प्रकार चूँकि यह निश्चित है कि मालवा के राज्य पर गुप्तों का राज था, हमारे लिए हर्षवर्धन के शिलालेखों में उल्लिखित देवगुप्त को 'हर्ष-चरित' के कुटिल राजा से, जिसे राज्यवर्धन ने हराया था, अभिन्न मानने की जोरदार गुंजाइश है।[2]

महासेन गुप्त से देव गुप्त का क्या रिश्ता था, यह अज्ञात है । जाहिर है कि महासेन गुप्त की हार और मृत्यु के बाद, उसके दोनों तरुण बेटों ने (बड़े बेटे की आयु उस समय १८ वर्ष से कम थी) आकर प्रभाकरवर्धन के दरबार में शरण ली थी, और देवगुप्त ने, जो शायद इस खान्दान की किसी गौण शाखा का सदस्य था, मालवा में फिर से गुप्तों का आधिपत्य जमा लिया था ।[3] चालुक्य राजा मंगलेश द्वारा सन् ६०२ ई० से कुछ पहले कलचुरियों की पराजय ने भी शायद देवगुप्त के लिए फिर से राज्य प्राप्त कर लेने में आसानी पैदा की थी ।[4] उत्तर दिशा में किम नदी तक या केवल मही नदी तक भी चालुक्य राजा की फौजों के पहुँच जाने से मालवा तथा उसके पड़ोसी क्षेत्रों के राजनीतिक वातावरण में अवश्य ही जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई होगी और देवगुप्त ने इस मौके का फायदा उठाकर मालवा का राज्य फिर चालुक्यों से छीन लिया होगा । ऐसा लगता है कि उसने वास्तव में शशांक को एक स्वतन्त्र राजा के रूप में मान्यता दे दी थी और उसके साथ मैत्री कर ली थी। यह भी नामुमकिन नहीं है कि महासेन गुप्त के पतन में खुद देवगुप्त का हाथ रहा हो, हालाँकि इस मत के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता।

इस राजवंश के परवर्ती इतिहास का अलग परिच्छेद में वर्णन किया जायगा । लेकिन यह वंश मूलतः किस क्षेत्र पर राज्य करता था, इस विवादग्रस्त प्रश्न पर यहाँ विचार कर लेना सुविधाजनक होगा । जैसा बाद में दिखाया जायगा, महासेन गुप्त का

---

[1] डॉ. त्रिपाठी ने सुझाव पेश किया है कि उस समय आज के पूर्वी मालवा को ही मालवा कहते थे, जो भिलसा जिले का क्षेत्र है (कन्नौज, पृ. ४६) । लेकिन डा. डी. सी. गांगुली का तर्क है ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे उस समय के मालवा को इस संकुचित रूप में देखा जाय । (ज. बि. ओ. रि. सो. XIX. ३९९-४००) ।

[2] डॉ. गांगुली इस मत का विरोध करते हैं (पू. पु. ४०७ पा. टि.) । लेकिन डॉ. एच. सी. रायचौधरी ने इसका समर्थन किया है । (पा. हि. ऐं. इ. ६०७) ।

[3] यह सुझाया गया है कि देवगुप्त महासेनगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था, लेकिन यह सुझाव बहुत ही सन्दिग्ध लगता है (ज. रा. ए. सो. पृ. ५६२; पा. हि. ऐं इ.[6] पृ. ६०८, पा. टि. १) ।

[4] आगे देखिए परिच्छेद XI (ii) ।

पोता आदित्यसेन मगध का राजा था, और उसके उत्तराधिकारियों ने भी मगध पर राज किया था। अफ्सड में प्राप्त आदित्यसेन का शिलालेख इस पूरे राजवंश का, प्रा से लेकर उसके राज्यकाल तक का, विवरण देता है और उसमें इस बात का कहीं सं नहीं है कि वे लोग कहीं और से आये थे। इसलिए हम यह मान ले सकते हैं कि मगध राज्य पर यह राजवंश शुरू से ही राज करता आया था। दूसरी ओर, यह सुझाव किया गया है कि आरम्भ से लेकर महासेन गुप्त तक तो इस वंश के सभी राजा माल पर शासन करते आये थे, फिर इसके बाद ही उसके उत्तराधिकारियों ने आकर मगध राज करना शुरू किया था।[1] इस मत के पक्ष में मुख्य तर्क यह है कि राज्यवर्धन औ हर्षवर्धन के दोनों परिचरों, कुमारगुप्त और माधवगुप्त को **हर्षचरित** में मालवा के रा का पुत्र बताया गया है। आमतौर पर इस माधवगुप्त को परवर्ती गुप्तों के नाम के राजा से अभिन्न समझा जाता है, जो महासेन गुप्त का बेटा था और अफ अभिलेख में इस बात का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया गया है, जिससे हर्ष के उसके निकट सम्बन्ध का संकेत मिलता है। अगर इस शिनाख्त को सही मान लें हमें यह भी मानना चाहिए कि महासेन गुप्त मालवा का राजा था। लेकिन इससे सिद्ध नहीं होता कि वह मगध का शासक नहीं था। कारण, यदि वह विजय करता हु अपनी फौजें लेकर ब्रह्मपुत्र के तट तक जा पहुँचा था, तो अवश्य ही मगध और उसके आधिपत्य में थे। सबसे अधिक सम्भावना इसी बात की है कि जब उसके हाथ उपर्युक्त पूर्वी क्षेत्रों का राज्य छिन गया तब उसने भागकर मालवा में शरण ली। यद्य इस बात को निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता, लेकिन दूसरी ओर इस अ मान के विरुद्ध कि वह मालवा का शासक था और उसने ब्रह्मपुत्र तक के सारे पूर्वी प्रदे को जीत लिया था, अधिक आपत्तियां उठायी जा सकती हैं। यह ध्यान देने की बात कि कामरूप के एक शिलालेख में गौड़ की सेनाओं की एक विजय का उल्लेख है महासेन गुप्त के अभियान के शायद फौरन बाद की ही घटना है। इसलिए यह मान लें उचित है कि महासेन गुप्त को गौड़ का राजा माना जाता था न कि मालवा का। चूं शशांक को भी, जिसने महासेनगुप्त के फौरन बाद गौड़ और मगध पर राज किया गौड़ का ही राजा माना जाता है, इसलिए यही अधिक सम्भाव्य है कि महासेन मगध और गौड़ पर राज्य करता था, जो शशांक ने उससे जीत लिये थे। हाला किसी भी ठीक निर्णय पर पहुँचना कठिन है, लेकिन यह बहुत संगत लगती है कि पर गुप्तों का राज मगध और गौड़ पर था और मालवा उनके अधीन राज्यों में से था। शब्दों में, उनके हाथों में गुप्त साम्राज्य के वे क्षेत्र आये थे जो अलग से स्वतन्त्र रा नहीं बन पाये थे, अर्थात् वे गुप्त साम्राज्य के रिक्थभागी थे।

किन्तु इसका अनिवार्य रूप से यह अर्थ नहीं है कि "परवर्ती गुप्त" गुप्त सम्राटों ही वंशज थे। नाम के अन्त भाग से साम्य, कुमार गुप्त और देव गुप्त जैसे कुछ साम

---

[1] ज. बि. ओ. रि. सो. XIX. ४०२।

नाम और यह तथ्य कि गुप्त साम्राज्य के पतन के फौरन बाद ही 'परवर्ती गुप्तों' ने उसके एक भाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया था—ये सब तथ्य निस्सन्देह ऐसी धारणा के पक्ष में हैं, और यह सुझाव पेश भी किया गया है कि 'परवर्ती गुप्तों'' के वंश का संस्थापक कृष्णगुप्त और गोविन्दगुप्त, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का बेटा था, दरअसल अभिन्न थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के बारे में हमें बसाढ़ में मिली मुहर और शिलालेख से पता चला है। लेकिन इस शिनाख्त के पक्ष में काफी प्रमाण नहीं मिलते। बल्कि इसके विपरीत, हमें स्मरण रखना चाहिए कि "परवर्ती-गुप्तों" के अभिलेखों में ऐसे किसी रिश्ते का जरा भी संकेत नहीं मिलता। इस पर विश्वास करना कठिन है कि "परवर्ती गुप्तों" के दरबारी कवि, अगर उनके आश्रयदाताओं का महान्-गुप्तों का वंशज कहलाने का जरा भी दावा होता, अपने संरक्षकों के गुणगान में उनको गौरवान्वित करने का यह मौका हाथ से निकल जाने देते।

६. बंगाल

गुप्त साम्राज्य के खंडहरों पर बंगाल में दो स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ।[1] पहला राज्य, जिसके अन्तर्गत दक्षिणी और पूर्वी बंगाल था और पश्चिमी बंगाल का भी एक हिस्सा था, ईसा की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थापित हुआ था। तांबे पर उत्कीर्ण छः अनुदान-पत्रों ने इस राजवंश के तीन राजाओं के नाम सुरक्षित रखे हैं; गोपचन्द्र, धर्मादित्य और समाचारदेव। लेकिन उनके बारे में और कुछ नहीं ज्ञात हो सका है। उन तीनों ने **महाराजाधिराज** की उपाधि धारण की थी और उनमें से कम से कम एक ने—समाचारदेव—सोने के सिक्के भी जारी किये थे, जिनमें से एक किस्म के सिक्के अन्तिम गुप्त सम्राटों के सिक्कों से मिलते हैं।

वैन्यगुप्त और गोपचन्द्र, इन दोनों के अनुदान-पत्रों में किसी **महाराज** विजयसेन का यह जिक्र है कि वह बड़ा प्रभावशाली सामन्त और उच्च पदाधिकारी था। सम्भव है कि दोनों में एक ही व्यक्ति का हवाला हो, हालांकि इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। लेकिन अगर हम इस अभिन्नता को मान लें, तो हम यह राय कायम कर सकते हैं कि वैन्यगुप्त के फौरन बाद ही निचले बंगाल में गुप्त सम्राटों का आधिपत्य खत्म हो गया था, और सन् ५०७ ई० के कुछ बाद ही गोपचन्द्र ने वहां एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था।

जैसा पहले बताया जा चुका है, उत्तरी बंगाल पर गुप्त सम्राटों का आधिपत्य सन् ५४३ ई० तक बना रहा था। उन्होंने निचले बंगाल को फिर से जीतने का कोई प्रयत्न किया था या नहीं, इस बारे में हमें निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। लेकिन समुद्र तट के लोगों से हुए जीवित गुप्त के युद्ध और ईशानवर्मन् की इस गर्वोक्ति से, कि उसने गौड़ों को "समुद्र में शरण लेने के लिए मजबूर कर दिया था," शायद उस प्रयत्न

---

[1] हवालों सहित पूरे विवेचन के लिए देखिए ह. ब. आर. ५१ प. पृ.।

का संकेत मिलता है, जो साम्राज्य की ओर से उन्होंने इस प्रान्त को फिर से, चाहे मात्र के लिए ही सही, अधिकार में लाने के लिए किया था, क्योंकि वास्तविक राज तो शायद उस समय तक मौखरियों या 'परवर्ती गुप्तों' के हाथ में जा चुकी थी।

लेकिन नये स्थापित राज्य ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखी। गोपचन्द्र ने कम कम १८ साल तक राज किया और उसके बाद सम्भवतः धर्मादित्य और समाचारदेव पर बैठे, लेकिन एक दूसरे से उनके रिश्तों, उनकी तारीखों या उत्तराधिकार के क्रम के में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं मालूम है। समाचारदेव ने, जिसने कम से कम १४ तक राज किया था, जाहिर है कि गुप्त सम्राटों की परिपाटी के अनुसार नरेन्द्रादित्य उपाधि धारण कर ली थी। इन तीनों राजाओं का काल सन् ५२५-५७५ ई० के है। पूर्वी बंगाल के विभिन्न भागों में बड़ी संख्या में मिले उनके सिक्कों से, जो गुप्त सम्रा के सिक्कों की भोंडी और खोटी नकल हैं, इस प्रदेश में होने वाले और अनेक राजाओं अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, जिन्होंने, स्पष्टतः, बाद में राज किया होगा। जिन राजा ने ये सिक्के जारी किये थे, उनमें, एक हद तक निश्चित रूप से, सिर्फ दो ही राजा के नाम पढ़े जा सकते हैं। ये नाम हैं—पृथुवीर और सुधन्यादित्य। ये सब ईसा की और सातवीं शताब्दी के हो सकते हैं, लेकिन यह ज्ञात नहीं है कि वे किसी पुराने राजवं के थे या नहीं। और न हम यह जानते हैं कि चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन और तिब्ब राजा स्त्रोण ब्त्सन के सफल फौजी अभियानों से उनके भाग्य पर कितना असर पड़ा था

नये राज्य को हम वंग कह सकते हैं। क्योंकि इस समय से ही गौड़ और नाम से बंगाल के दो प्रमुख राजनीतिक भागों को अभिहित किया जाने लगा था मोटे तौर पर, उत्तरी और पश्चिमी बंगाल के प्रदेश को गौड़ कहते थे और दक्षि और पूर्वी बंगाल को वंग कहते थे, हालांकि इन नामों का कभी कभी शिथिल में प्रयोग किया जाता था और उनकी सीमाएं भी समय समय पर बदलती रह थीं। लेकिन पूर्वी बंगाल के पुराने नाम **समतट** का प्रयोग बंद नहीं हुआ था ह्वेन-त्सांग के अनुसार नालंदा विश्वविद्यालय का तत्कालीन कुलपति शीलभद्र समत के ब्राह्मण राजकुल का वंशज था। इस राजकुल का उपर्युक्त राजाओं से कोई सम्बन्ध या नहीं, इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

गुप्त साम्राज्य के फौरन बाद गौड़ में राजनीतिक परिस्थितियां क्या थीं, इसक कुछ पता नहीं है। जैसा पहले सुझाया गया है, शायद वहाँ महासेन गुप्त के समय त "परवर्ती गुप्तों" का राज था, जो छठी शती ईसवी के अन्त में उभरे थे। और जैसा ह देख चुके हैं, महासेन गुप्त के राज्य का अन्त एक विकट भँवर में फंसकर हुआ था औ उसके बाद शशांक ने गौड़ में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी।

शशांक के प्रारम्भिक जीवन[1] के बारे में, और उसने किन परिस्थितियों में गौड़ क गद्दी पर कब्जा किया था, हमारे पास कोई निश्चित सूचना नहीं है। पहाड़ी पर स्थि रोहतासगढ़ के किले की एक शिला में काटकर बनाये मुहर के साँचे में "श्री महासाम

---

[1] वही, ५६ I, ७१ प. पृ०।

शशांक" का नाम अंकित है। आमतौर पर यह माना जाता है कि यह शशांक गौड़ के राजा शशांक से अभिन्न था। अगर इस अभिन्नता को मान लें तो हमें यह भी मानना चाहिए कि शशांक ने शायद महासेनगुप्त के अधीन एक सामन्त की हैसियत से अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ की।[१] इस मत का भी पर्याप्त आधार नहीं है कि वह नरेन्द्र गुप्त के नाम से भी प्रसिद्ध था, और यह विश्वास करने का कोई औचित्य नहीं है कि उसका गुप्तों से कोई रिश्ता था। और इससे भी कम औचित्य इस अनुमान में है कि वह महासेनगुप्त का बेटा या भतीजा था।[२] वाणभट्ट और ह्वेन-त्सांग दोनों ने ही शशांक का उल्लेख गौड़ के राजा के रूप में किया है। उसकी राजधानी कर्णसुवर्ण की अभी तक निश्चित रूप से शिनाख्त नहीं हो सकी है, लेकिन रांगामाटि के खंडहर, जो मुर्शिदाबाद के जिले में बरहामपुर से छः मील (दस किलोमीटर) दक्षिण-पश्चिम में हैं, शायद उसकी राजधानी के ही अवशेष हैं।[३]

शशांक के उत्थान से कुछ पहले, मानवंश ने मिदनापुर और गया जिले के बीच के पहाड़ी क्षेत्र में एक राज्य कायम कर लिया था। धीरे धीरे समय के साथ इस मानवंश ने उड़ीसा तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया।[४] इस राजकुल का एक राजा या सामन्त शम्भुयश सन् ५८० ई० में और सम्भवतः ६०३ ई० में भी उड़ीसा पर राज करता था। शशांक ने सम्भवतः इस राजा या इसके उत्तराधिकारी को हराकर दंडमुक्ति, उत्कल और कंगोद के क्षेत्रों को, जो मोटे तौर पर आज मिदनापुर और उत्तरी और दक्षिणी उड़ीसा से मेल खाते हैं, अपने अधिकार में कर लिया था। इन क्षेत्रों पर शासन करने वाले उसके पदाधिकारियों और सामन्तों के विवरण हमें प्राप्त हैं। कंगोद या दक्षिणी उड़ीसा पर शासन करने वाला शैलोद्भव वंश कम से कम सन् ६१९ ई० तक तो शशांक की प्रभुता मानता रहा था, लेकिन बाद में उसने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली, जिसका एक सुदीर्घ इतिहास रहा।

इस प्रकार शशांक ने न केवल गौड़ को ही 'परवर्ती गुप्तों' के चंगुल से छुड़ाया, बल्कि उसने दक्षिण में अपना प्रभुत्व गंजाम जिले के महेन्द्रगिरि पर्वत तक फैला लिया। इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि बंगाल में उसका आधिपत्य कहां तक था, लेकिन यह बात तर्कसंगत लगती है कि उसने दक्षिण पर चढ़ाई करने और पश्चिम में उससे भी बड़ा फौजी अभियान चलाने से पहले, जो उसके जीवन की सबसे असाधारण घटना है, सारे बंगाल पर अवश्य ही अपना आधिपत्य कर लिया था। इस फौजी अभियान में उसने

---

[१] यह मत कि वह मौखरियों का सामन्त था (ई. हि. क्वा. XII. ४५७) इस धारणा पर आधारित है कि शशांक के गद्दी पर बैठने के समय तक 'मगध पर मौखरियों का आधिपत्य था। यह बात, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बहुत ही सन्दिग्ध है।

[२] पा. हि. ऐं. इ.^{४} ५१४ पा. टि. ३।

[३] ज. ए. सो. ब. LXIII (१८९४), भाग I. १७२।

[४] इसी परिच्छेद में आगे चलकर देखिए, उड़ीसा के अन्तर्गत।

सबसे पहले पूरा मगध, और शायद बनारस भी, जीत लिया और उसके बाद मौखरि पर चढ़ाई की, जिसके कारण उसे थानेश्वर के पुष्पभूतियों के साथ युद्ध में फँसना पड़ा।

मौखरी और पुष्पभूति वंशों के साथ शशांक के युद्ध का विवरण वाणभट्ट हर्षचरित में सुरक्षित है। इसके बारे में आगे चलकर विस्तार से लिखा जायगा। यह हम केवल कुछ साधारण निष्कर्षों की ओर संकेत करेंगे, जो इस वृत्तान्त से निकाले ज सकते हैं।

ऐसा लगता है कि कन्नौज के राजा ग्रहवर्मन् के खिलाफ शशांक ने मालवा के रा देवगुप्त के साथ गठबन्धन किया था। मौखरी राजागण ईशानवर्मन् के समय ही गौड़ के दुश्मन थे और वे कई पीढ़ियों से "परवर्ती गुप्तों" से कटु-संघर्ष करते आये थे गौड़ के राजा शशांक ने, शायद इसी कारण, मालवा के "परवर्ती गुप्त" राजा से मौखरि के खिलाफ, जो दोनों के दुश्मन थे, एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया। मौखरी राजा राज्यश्री के विवाह का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि थानेश्वर और कन्नौज के रा की मैत्री अधिक पक्की होने से मौखरियों की शक्ति बढ़ गयी। अतः शशांक और देवगु के गठबंधन को एक प्रकार से दूसरे गठबंधन का प्रतितोल समझना चाहिए। हालां इस सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरा उपलब्ध नहीं है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि शशां और देवगुप्त अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल रहे। उन्होंने कन्नौज पर चढ़ाई की, रा ग्रहवर्मन् की हत्या कर दी, नगर पर कब्जा कर लिया और राज्यश्री को कैद कर लिया ये सब महत्त्वपूर्ण घटनाएँ इतनी तेजी से घटीं, शायद इतने कम समय में, कि सह विश्वास करना मुश्किल लगता है। इस शानदार और परिपूर्ण सफलता का शायद ए कारण यह भी था कि इस संकट के मौके पर संक्षिप्त-सी बीमारी के बाद थानेश्वर राजा प्रभाकर वर्धन की मृत्यु हो गई थी। यह नामुमकिन नहीं है कि शशांक औ देवगुप्त ने जानबूझ कर इस मौके पर मौखरी राज्य पर हमला करने की योजना बना थी, क्योंकि वे जानते थे कि थानेश्वर से तत्काल कोई सैनिक सहायता नहीं पहुं सकती। शायद इसी उद्देश्य से उन्होंने कन्नौज पर अचानक धावा बोल दिया था जाहिर है कि मौखरी इस अचानक हमले से आश्चर्यचकित रह गये थे, क्योंकि जब त मौखरी राजा सचमुच युद्ध में मारा नहीं गया, और उसका राज्य दुश्मन के कदमों पराजित होकर बिछ नहीं गया तब तक थानेश्वर में इस आक्रमण की भनक तक न लगी।

शायद ग्रहवर्मन की पराजय और मृत्यु के फौरन बाद ही देवगुप्त ने शशांक को कन्नौ की व्यवस्था ठीक करने तक के लिए पीछे छोड़ कर खुद थानेश्वर पर चढ़ाई करने लिए कूच कर दिया। मार्ग में वह थानेश्वर के नये राजा राज्यवर्मन के हाथों मारा ग जो अपनी बहन की रक्षा के लिए फौज लेकर तेजी से कन्नौज की तरफ आ रहा था लेकिन राज्यवर्धन की सफलता अल्पकालीन सिद्ध हुई। शीघ्र ही उसे शशांक का मुकाब करना पड़ा और वह उसके हाथों मारा गया। उसकी फौज इस विपत्ति से अपनी रक्षा क में असमर्थ होकर थानेश्वर की तरफ पीछे हट गयी, और सारी परिस्थिति पर शशांक

कब्जा मजबूत हो गया। इस बीच राज्यश्री जिसे गौड़ आक्रमण के समय कान्यकुब्ज में कैद करके रखा गया था, गुप्त नाम के एक सामन्त की मदद से मुक्त हो गयी। लेकिन राज्यवर्धन की मृत्यु की खबर सुनकर उसने खाना-पीना छोड़ दिया और विन्ध्य पर्वत के जंगलों में मारी-मारी घूमने लगी। जब हर्षवर्धन को इस बात की खबर लगी तो उसने गौड़ राजा से शाश्वत प्रतिकार की शपथ ली और उससे लड़ने का आदेश देकर अपनी फौज भेज दी। लेकिन वह खुद अपनी बहन की तलाश में निकल पड़ा। राज्यश्री जब पूर्णतया हताश होकर चिता पर बैठने ही वाली थी कि हर्षवर्धन भी वहाँ जा पहुँचा। और इस प्रकार अपनी बहन की रक्षा करने के बाद हर्षवर्धन ने लौटकर गंगा के तट पर अपनी सेना का नेतृत्व संभाल लिया। बाणभट्ट का वर्णन अचानक यहीं समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार जहाँ तक बाणभट्ट की कथा का सम्बन्ध है, वह शशांक को अपनी कीर्ति के चरम शिखर पर छोड़ देता है। वह हमें सिर्फ इतना ही बताता है कि हर्षवर्धन ने उसके विरुद्ध लड़ने के लिए सेना भेजी थी। लेकिन विन्ध्यपर्वत के जंगलों से लौटकर जब हर्ष ने सेना का नेतृत्व स्वयं संभाल लिया, तब उसके बाद क्या हुआ, इसका हमें कोई संकेत नहीं मिलता। एक मध्यकालीन बौद्ध वृत्तान्त **"मंजुश्री-मूल-कल्प"** में शशांक के विरुद्ध हर्ष के एक सैनिक अभियान का उल्लेख है, जिसमें कहा गया है कि वह बढ़ता हुआ उत्तरी बंगाल तक पहुँच गया था, लेकिन अपने दुश्मन को अधिक क्षति पहुँचाये बगैर ही उसे वापिस आना पड़ा था। पर इस वृत्तान्त की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

शशांक से लड़ाई के मैदान में हर्षवर्धन का कभी मुकाबला हुआ था या नहीं, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। लेकिन लगता है कि हर्ष उसकी ताकत को किसी उल्लेखनीय सीमा तक कम नहीं कर सका था। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, सन् ६१९ तक दक्षिणी उड़ीसा के राजा शैलोद्भव ने शशांक का परमशासक के रूप में उल्लेख किया है। ह्वेन-त्सांग का अपना बयान भी यही है कि मृत्यु से पहले शशांक मगध का अधिकारी बन चुका था। उसकी मृत्यु शायद सन् ६३७-३८ ई० से बहुत पहले की घटना नहीं है, क्योंकि उस वर्ष मगध में यात्रा करते हुए ह्वेन-त्सांग ने उल्लेख किया था कि अभी कुछ दिन पहले ही शशांक ने गया में बोधिवृक्ष को कटवा दिया था और पड़ोस के एक बौद्ध विहार से बुद्ध की मूर्ति हटाने का आदेश दिया था। शशांक द्वारा बौद्धों पर किये गये अत्याचारों की कहानियों को स्वतन्त्र प्रमाण के बिना सच नहीं माना जा सकता। इसके अलावा शशांक की राजधानी में बौद्ध धर्म की जिस समृद्ध अवस्था का वर्णन ह्वेन-त्सांग ने किया है, वह इस मत से मेल नहीं खाता कि शशांक में धार्मिक कट्टरता थी और उसने बौद्धधर्म का दमन किया था।

हालाँकि हमारे पास शशांक के चरित्र और उसकी सफलताओं के सही लेखा-जोखा के लिए पर्याप्त तथ्य नहीं हैं, तो भी उसे बंगाल का प्रथम महान् राजा मानना चाहिए। उसने गौड़ को केवल एक स्वतन्त्र राज्य ही नहीं बनाया बल्कि सारे दक्षिणी बिहार और उड़ीसा पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यहां तक कि उसने उत्तरी भारत के साम्राज्य पर कब्जा करने का भी साहसपूर्ण प्रयत्न किया था। इस प्रकार उसने

उस नीति की बुनियाद डाली, जिस पर आगे चल कर पाल वंश ने अपना विशाल साम्राज्य खड़ा किया। अगर बाणभट्ट या ह्वेन-त्सांग की तरह कोई मित्र उसका भी जीवन-चरित्र लिखता तो शायद शशांक भी आगे आनेवाली पीढ़ियों की दृष्टि में हर्षवर्धन के समान ही गौरवशाली राजा जान पड़ता। लेकिन जो स्थिति है उसमें उसका नाम और यश काल के गर्त में विलीन हो गया है और उसके बाद की पीढ़ियां उसे केवल राज्यवर्धन के कायर हत्यारे और बौद्ध धर्म का क्रूर दमन करने वाले राजा के रूप में ही जानती हैं।

७. नेपाल

काश्मीर के अलावा भारत प्रायद्वीप में नेपाल ही एक ऐसा क्षेत्र है, जिसके पास अपने स्थानीय वृत्तान्त मौजूद हैं, जिनमें आदिकाल से उसके इतिहास का वर्णन मिलता है। ये वृत्तान्त, जिन्हें **वंशावली** कहते हैं, ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों स्रोतों से प्राप्त हुए हैं, और उन पर अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने काम किया है।[1] उनका दावा है कि जबसे भगवान् मंजुश्री ने एक जलाशय को खाली करके नेपाल की उर्वर घाटी में परिवर्तित किया, तबसे लेकर त्रेता, द्वापर और अब कलियुग तक के उन सभी राजाओं के नाम और उनके राज्य-काल की तिथियाँ, जिन्होंने इस देश पर राज्य किया था, इन वृत्तान्तों में दर्ज हैं। उन पौराणिक कथाओं को अलग कर, जिनका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है, हम क्रमशः गोपालों (ग्वालों), आभीरों, और किरातों के राज्यवंशों तक पहुँचते हैं। ये शायद उस समय की याद दिलाते हैं, जब देश में पशुपालकों के छोटे-छोटे गिरोह और पहाड़ी कबीले राज करते थे। किरातों के बाद एक राज्यवंश आया, जिसकी स्थापना निमिख ने की थी, और विभिन्न इतिवृत्तों के अनुसार जो राम के सूर्यवंश का, या कुरु के चन्द्रवंश का था। कहा जाता है कि इस वंश का अन्तिम राजा कलियुग के १२३४ (या १२३९) वर्ष में राज करता था। इसके बाद नेपाल पर दीर्घ काल तक लिच्छवि वंश के शासक राज करते रहे।

लिच्छवि एक प्रसिद्ध और प्राचीन राजवंश है, और उसके द्वारा वैशाली में स्थापित किए गये गणतन्त्रीय या कुलतन्त्रीय राज्य के इतिहास का पहले वर्णन किया जा चुका है। लेकिन हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि नेपाल के लिच्छवि शासक वैशाली के लिच्छवियों से किसी रूप में सम्बन्धित थे या नहीं। अजातशत्रु ने जब वैशाली पर कब्जा किया था, उसके बाद पांच छः सौ साल तक का वैशाली का इतिहास बिल्कुल अज्ञात है। स्मरण रहे कि लिच्छवि और मल्ल, उत्तरबिहार के ये दोनों गणतन्त्रीय कुल, जिनको बौद्ध और जैन साहित्य में इतनी प्रमुखता दी गयी है, और जिनका मनु-संहिता में व्रात्य क्षत्रियों के रूप में और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक विशिष्ट प्रकार के संघ के रूप में उल्लेख हुआ है, ये दोनों नेपाल में ईसवी सन् के आरम्भिक दिनों से साथ-साथ रहते आये थे। यह

---

[1] आगे देखिए—सामान्य सन्दर्भ ग्रन्थ।

सम्भव है कि इन दोनों ने, तथा और अनेक कबीलों ने, उन कालों में, जब भारत पर होने वाले विदेशी आक्रमणों या आन्तरिक युद्धों से उत्पन्न राजनीतिक गड़बड़ी फैली थी, नेपाल की पहाड़ियों में जाकर शरण ली हो। ईसा की आठवीं सदी के पशुपति मन्दिर के उत्कीर्ण लेख[1] के अनुसार सुपुष्प ने, जो लिच्छवियों का सुदूर वंशज था और इस कुल का मूल पुरुष और नायक था, पुष्पपुर में जन्म लिया था, जो सम्भवत: पाटलिपुत्र का सूचक है। कहा जाता है कि इस सुपुष्प के बाद २३ राजा गद्दी पर बैठे और तब प्रसिद्ध राजा जयदेव पैदा हुआ। फिर ग्यारह और राजाओं के शासन के बाद वृषदेव राजा बना।

वृषदेव तक पहुँच कर हम ठोस ऐतिहासिक भूमि पर पहुँच जाते हैं, क्योंकि इस राजा और इसके अगले पांच उत्तराधिकारियों के नाम सिर्फ **वंशावलियों** में ही नहीं, बल्कि अभिलेखों में भी मिलते हैं। वृषदेव बहुत ही धर्मपरायण बौद्ध था और उसने अनेक **विहार** बनवाये थे। उसके बाद उसका बेटा शंकरदेव उत्तराधिकारी बना। एक अभिलेख के अनुसार वह एक महान् और समृद्ध राजा था। वंशावलियों के अनुसार उसने पशुपति मन्दिर के लिए धर्मादा बाँध दिया था और पटन में एक ब्राह्मण के लिए मठ बनवाया था। शंकरदेव के बेटे और उत्तराधिकारी धर्मदेव ने भी एक विशाल राज्य पर शासन किया। कहा जाता है कि उसने शिव के नन्दी की एक विशाल मूर्ति पशुपति मन्दिर को भेंट की थी और स्वयम्भूनाथ की स्थापना की थी।

धर्मदेव के बेटे और उत्तराधिकारी मानदेव के बारे में अपेक्षया अधिक ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त है। चंगुनारायण मन्दिर[2] (काठमाँडू से ५ मील उत्तर पूर्व) के एक स्तम्भ लेख में धर्मदेव की मृत्यु का विस्तृत वर्णन मिलता है। विधवा रानी राज्यवती ने अपने पति के साथ चिता में भस्म हो जाने का संकल्प किया। लेकिन उसके पुत्र मानदेव ने कहा कि अगर वह अपने को चिता में भस्म करेगी तो वह इससे पहले ही अपने प्राण दे देगा। इससे रानी ने अपना संकल्प त्याग दिया और अपने बेटे के साथ मिलकर पति का दाह संस्कार किया।

तब राजा ने अपनी माँ से यह कहा :

"मेरे पिता ने पृथ्वी को (विजय-) स्तम्भों से सुशोभित किया था, जो यूपों (बलि-स्तम्भों) से मिलते हैं। क्षात्र धर्म में दीक्षित होने के कारण मैं अपने दुश्मनों को कुचलने के लिए सेना लेकर पूर्व की दिशा में जाऊँगा और (वहाँ) उन राजकुमारों के हाथ में शासन की डोर पकड़ाऊँगा जो मेरे आज्ञाकारी और स्वामिभक्त होंगे।"

अपनी माँ की अनुमति प्राप्त करके मानदेव सेना लेकर पूर्व की दिशा में गया और वहाँ के उपद्रवी सामन्तों को दबा कर उन्हें अधीनता स्वीकारने के लिए विवश कर दिया। वह फिर पश्चिम की दिशा में सेना लेकर गया, और वहां के एक सामन्त के दुष्कर्मों की कहानियाँ सुनकर उसने अपने मामा को लिखा : "अगर वह अपने आप आत्मसमर्पण न

---

[1] इन्द्र जी सं० XV. ग्नोली (सं० LXXXI)।

[2] इन्द्र जी सं० १; पूरा पाठ लेवी ने दिया है (सं० १)और ग्नोली (सं० १)।

करे, तो उसे बलपूर्वक विवश करना चाहिए। आज ही आप गंडकी नदी पार कर आगे बढ़ें और मैं सैंकड़ों घोड़ों और हाथियों के साथ आपकी सेना के पीछे आऊँगा। उस उस मल्ल सामन्त को युद्ध में हराकर अपना संकल्प पूरा किया।

यह दिलचस्प विवरण नेपाल के इतिहास पर तीव्र प्रकाश डालता है। सबसे पह इससे ज्ञात होता है कि मानदेव से पहले भी लिच्छवियों की सत्ता केवल नेपाल की घा तक ही, अर्थात् केवल बाग्मती घाटी में काठमांडू के इर्द गिर्द इलाके तक, सीमित न थी, बल्कि पूर्व में सप्त कुसी नदी की घाटी और पश्चिम में सप्त गंडकी नदी की घा तक फैली हुई थी। जाहिर है कि पश्चिम की मल्ल जाति और पूर्व की पहाड़ी जाति या शायद किरात जाति के लोग आये दिन उपद्रव मचाते रहते थे, क्योंकि उन्हें केन्द्री सत्ता के जुए के नीचे रहना पसन्द नहीं था, इसलिए उन्हें अनुशासन में रखने के लिए ह समय सचेत रहना पड़ता था और अक्सर सेना भेजकर उपद्रवकारियों को दबाना पड़ था। फिर भी यह स्पष्ट है कि एक केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता कायम करने का विचा जिसके अन्तर्गत लगभग आज के नेपाल का सारा क्षेत्र हो, उस समय भी लिच्छवियों आकांक्षित लक्ष्य था और कभी कभी वे इस लक्ष्य की पूर्ति में बड़ी सीमा तक सफल हुए थे।

मानदेव के अभिलेख की तारीख ३८६ है। यह विक्रम संवत् की तारीख है या संवत् की, या गुप्त संवत् की, इस प्रश्न पर विद्वानों में गहरा मतभेद है। विक्रम, और गुप्त संवतों के अलावा विभिन्न विद्वानों ने एक विशिष्ट लिच्छवि संवत् का अनुमान किया है, जिसका प्रवर्तन उनके अनुसार सन् ११० ई० में हुआ था।[1] इस ता के सम्बन्ध में गुप्त संवत् का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और विक्रम संवत् भी मुमकि नहीं लगता। इसलिए विकल्प केवल बाकी दो संवतों के बीच है और इस समय अधिक विद्वानों का मत यही है कि यह तारीख शक संवत् की है। तब ऐसी स्थिति में, मान के अभिलेख की तारीख सन् ४६४ ई० होगी। और चूंकि मानदेव के एक और अभि पर संवत् ४२७ की तारीख है (—सन् ५०५ ई०) इसलिए अनुमानतः मानदेव का का काल सन् ४६० और ५०५ ई० के बीच माना जा सकता है।

फिलहाल मानदेव की तिथि का प्रयोग अवश्य ही नेपाली तिथिक्रम के मूल अव के रूप में करना चाहिए, क्योंकि उसके शासन के पूर्व की किसी घटना की तिथि से

---

[1] फ्लीट का आग्रह है कि इसे गुप्त संवत् माना जाए। (कॉ. इ. इ. III, भूमि पृ. १७७ प. पृ.) इन्द्र जी (इ. ऐ XIII, ४११ प. पृ.) इसको विक्रम संवत् बताते हैं। डॉ. जी. बसाक के अनुसार पहले की तिथियां तो विक्रम संवत् की हैं और शिवदेव की तिथियां संवत् की हैं (हि. ना. इ. २७४)। लेवी ने एक विशिष्ट लिच्छवि संवत् की अवधारणा और विकल्प के रूप में शक संवत् को स्वीकार करने की वकालत की है (नेपाल III. ४६ ७३ प. पृ.)। प्रस्तुत लेखक ने इस प्रश्न पर पहले बी. सी. लॉ. वाल्यूम, भाग I, पृ. ६२६ प. में समग्र रूप से विचार किया था, इधर फिर इस प्रश्न पर 'जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसा कलकत्ता' में विचार किया है।

अवगत नहीं हैं। चूँकि वंशावलियों के अनुसार मानदेव लिच्छवि वंश का बीसवाँ राजा था, इसलिए नेपाल में लिच्छवि राज्य अनुमानतः ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में स्थापित हुआ था। मानदेव से पहले भी एक प्रबल राजनीतिक शक्ति के रूप में लिच्छवियों का अस्तित्व था, इसकी जानकारी हमें चन्द्रगुप्त प्रथम से एक लिच्छवि राजकुमारी के विवाह की सूचना से मिलती है, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है।[1] यह लिच्छवि राजकुमारी नेपाल के राजघराने की बेटी थी या किसी तरह उससे सम्बन्धित थी या नहीं, इस बारे में हम कुछ नहीं जानते। लेकिन यह निश्चित बात है कि नेपाल के लिच्छवि शासक समुद्रगुप्त को अपना अधिराज मानते थे। नेपाल पर गुप्त साम्राज्य का प्रभुत्व किस रूप में था और कितने दिन तक चला, इसका पक्का निर्णय करना सम्भव नहीं है। लेकिन यह तथ्य कि नेपाल के लिच्छवि गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद ही एक प्रमुख शक्ति के रूप में सामने आये, शायद संयोग मात्र नहीं है। हम मान सकते हैं कि वे या तो गुप्त सम्राटों के अधीन थे या गुप्त सम्राटों ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक रखा था और गुप्त साम्राज्य के पतन ने उन्हें आगे बढ़कर समूचे नेपाल का अधीश्वर बनने का सुनहरा मौका दिया। इस कार्य का आरम्भ शायद धर्मदेव ने ही कर दिया था, जिसे उसके बेटे मानदेव ने सफलता पूर्वक पूरा कर दिखाया। यहां पर यह भी ध्यान देना चाहिए कि ब्राह्मण धर्म और संस्कृत साहित्य की सर्व प्रधानता, जो गुप्त काल का मुख्य स्वर है, वही नेपाल का भी मुख्य स्वर था, जैसा मानदेव और उसके उत्तराधिकारियों के उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है।

मानदेव ने एक विहार की स्थापना की थी, जिसे मान-विहार कहते थे,[2] और शायद उसी ने राज भवन मान गृह का भी निर्माण करवाया था, जहां से उसके उत्तराधिकारी राजकीय अनुदान-पत्र जारी किया करते थे। यह भी सुझाव दिया गया है कि वे सिक्के भी जिन्हें मानांक कहते थे और नेपाल की मानेश्वरी देवी का भक्ति सम्प्रदाय भी उसके नाम से जुड़े हुए हैं। नेपाल में ठाकुरियों के एक मान घराने[3] के रूप में उसका नाम आज भी जीवित है।

मानदेव के शासन काल में लिच्छवियों का राज्य नेपाल की घाटी से बाहर पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में दूर दूर तक फैल गया था, और उसके अन्तर्गत शायद गंडकी से पश्चिम के इलाके भी शामिल थे। मानदेव के बाद महीदेव गद्दी पर बैठा और

---

[1] देखिए पृ. ३-४।

[2] मानदेव-विहार का यग वहल के शिलालेख में उल्लेख है (लेवी सं० XX) अंशुवर्मन के समय के हरिगाँव के प्रस्तर पट्ट में भी एक मान-विहार का उल्लेख है (लेवी सं० १४) उससे भी सिद्ध होता है कि मानदेव, शिवदेव और अंशुवर्मन् से पहले हुआ था, न कि बाद में। यही निष्कर्ष उस राजभवन के मानगृह नाम से भी निकलता है, जहां से शिवदेव अपने अनुदान पत्र जारी करता था।

[3] नेपाल, II. १०५-११।

उसके बाद वसन्तदेव। चूँकि मानदेव की अन्तिम ज्ञात तारीख ४२७ है, और ४२८ वसन्तदेव गद्दी पर बैठ चुका था, इसलिए महीदेव का राज्य काल कुछ महीनों से अधि का नहीं रहा होगा। वसन्तदेव ने कम से कम २६ साल तक राज किया, संवत् ४५ (–सन् ५३२ ई०) तक। उसके और शिवदेव के बीच कम से कम दो और शासकों राज किया था। उनके नाम हैं रामदेव (संवत् ४६९ या सन् ५४७ ई०) और गणदे (संवत् ४८२ और ४८९ या सन् ५६०, ५६७ ई०) : पशुपति मन्दिर का अभिलेख, जो इस काल के नेपाल के राजाओं की पूरी वंशावली देता है, दुर्भाग्य से अधिक उपयोग का नहीं रहा, क्योंकि वसन्तदेव के अभिलेखों के बाद के अक्षर उधड़ या गल चुके हैं। इस पंक्ति में जो अक्षर बचे हैं, उनसे केवल यही संगत निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वसन्तदेव के कुछ बाद एक राजा हुआ था, जिसका नाम नरेन्द्रदेव था, जिसके बाद शिवदे गद्दी पर बैठा।

एक **वंशावली** के अनुसार वसन्तदेव के उत्तराधिकारी को आभीरों ने हरा दिया था और नेपाल पर उनके तीन सामन्तों के राज के बाद ही लिच्छवि राजा शिवदेव उन्हें निकाल कर अपने पूर्वजों के राज्य पर पुनः अधिकार कर सका था। इस परम्परा में कुछ सचाई भी हो सकती है।

लेकिन हमें अनेक अभिलेखों से यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि ईसा की सातवीं शती के आरम्भ या छठी शती के उत्तरार्ध में नेपाल में द्वितन्त्रीय राज्य था, जैसा अभी कुछ दिन पहले तक वहां चलता आया था। लिच्छवि राजा शिवदेव नाममात्र का ही राजा था और राज्य की सारी सत्ता धीरे धीरे उसके **महासामन्त** अंशुवर्मन् के हाथ में चली गयी थी। ऐसा लगता है कि ईसा की छठी शताब्दी के अन्त में राज्य पर आभीरों ने आक्रमण किया था, जो जीतने के बाद कुछ दिनों तक वहाँ शासन करते रहे। आखिरकार, शिवदेव के शासनकाल में आभीरों को मार भगाया गया। सम्भव है कि आभीरों से मुक्ति पाने के लिए किये गये इस युद्ध में **महासामन्त** अंशुवर्मन् ने प्रमुख भाग लिया हो और उसने अपने आप को एक महान सेनापति सिद्ध किया हो, क्योंकि शिवदेव के सभी अनुदान-पत्रों में अंशुवर्मन् के शौर्य और रणकौशल के सामने आभीरों के मुँह की खाने का उल्लेख किया गया है। अपने देश से विदेशी आक्रमणकारियों को निकाल बाहर कर उसने जो लोकप्रियता और महान सेनानी की ख्याति प्राप्त कर ली थी, उससे राजकीय क्षेत्रों में उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी, और उसको धीरे धीरे देश का वास्तविक शासक[1] बन जाने का अवसर मिल गया। यह भी नामुमकिन नहीं कि उसने लिच्छवि राजा की बेटी से विवाह करके अपनी स्थिति और भी मजबूत बना ली होगी। उसने अपने रहने के लिए कैलाशकूट भवन चुना, जबकि पुराना मान-गृह उपाधिधारी लिच्छवि राजाओं का ही निवासस्था

---

[1] लेवी ने अंशुवर्मन् और शिवदेव के परस्पर सम्बन्ध के बारे में कई सुझाव पेश किये हैं (नेपाल, III. ७७), लेकिन जब तक उनके अनुदान-पत्रों की तारीखों के प्रश्न का अंतिम फैसला नहीं हो जाता, तब तक किसी निश्चित परिणाम तक पहुँचना कठिन है।

स्थान बना रहा । ह्वेन-त्सांग ने अंशुवर्मन का एक प्रतिभाशाली और विद्वान शासक के रूप में उल्लेख किया है । कहा जाता है कि उसने एक व्याकरण की रचना की थी और उसकी ख्याति दूर दूर तक फैल गयी थी ।[1]

वंशावलियों के अनुसार, महान् सम्राट विक्रमादित्य ने अंशुवर्मन् के शासन काल से ठीक पहले ही नेपाल पर विजय प्राप्त करके, वहां अपना संवत् चलाया था । हर्षवर्धन की नेपाल विजय की बात में इसका प्रच्छन्न संकेत देखा गया है और अंशुवर्मन् के अनुदान-पत्रों पर पड़ी ३२ और ४५ की तिथियों को हर्ष संवत् की तारीखें माना गया है ।[2] इस हिसाब से अंशुवर्मन का शासन काल सन् ६३८ से ६५१ ई० होना चाहिए । हालाँकि यह मत सर्वमान्य हो गया है, फिर भी यह कठिनाइयों से मुक्त नहीं है । सबसे पहले, ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि हर्षवर्धन ने कभी नेपाल को जीता था । दूसरे, ह्वेन-त्सांग ने अंशुवर्मन का भूतपूर्व राजा के रूप में उल्लेख किया है, जिससे जाहिर होता है कि वह सन् ६४२-६४३ से पहले ही गुजर गया था, जबकि सम्भवतः ह्वेन-त्सांग ने इस देश के बारे में अपनी अन्तिम सूचनाएँ एकत्र कीं । इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि सन् ६४३ ई० में जब एक चीनी राजदूत नेपाल की यात्रा पर गया तो उसने पाया कि राजा नरेन्द्रदेव वहां की गद्दी पर था तथा उसके और अंशुवर्मन के बीच दो और राजा शासन कर चुके थे । इसलिए अंशुवर्मन के अनुदान-पत्र की तारीख को हर्ष संवत् की तारीख नहीं माना जा सकता । हाल में ही, प्रस्तुत परिच्छेद के लेखक ने कुछ नये अभिलेखों के आधार पर, जिनका पता उपर्युक्त विद्वानों को नहीं था, यह मत प्रकट किया है कि इस अनुमान को एक प्रकार से निश्चित तथ्य के रूप में मान लेना चाहिए कि मानदेव और उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में दर्ज तारीखें शक संवत् हैं और यह कि, जब इस संवत् काल के ५०० वर्ष बीत गये, तब इस अंक में से सैंकड़े का शून्य निकालकर इसे लिखा जाने लगा था । इस हिसाब से अंशुवर्मन के अनुदान-पत्र की तारीख वास्तव में शक संवत् की ५३२ से ५४५ (सन ६१० से ६२३ ई०) होनी चाहिए ।

लेवी का सुझाव है कि अंशुवर्मन के अनुदान-पत्र की तारीख को एक तिब्बती संवत् के हवाले से समझना चाहिए, जिसका प्रवर्तन सन् ५९५ ई० में हुआ था ।[3] इस सम्बन्ध

---

[1] हि. त्सां. वी., II. ८१ ।

[2] इकाई के अंक का पाठ अस्पष्ट है, लेकिन हर सूरत में तारीख ४० के बाद की ही होनी चाहिए ।

[3] नेपाल, II, १५२-५३ । ज. ए., १८९४, भाग II, पृ. ५५ प. पृ. शुरू में लेवी का मत था कि अंशुवर्मन के अनुदान-पत्र की तारीख को उस संवत् के हवाले से समझना चाहिए जो उसके गद्दी पर बैठने की स्मृति में चलाया गया था । लेकिन बाद में उसने दो आधारों पर इस मत का परित्याग कर दिया :

(i) कि उस राजा का कोई विवरण ३०वें साल से पहले की तारीख का नहीं है ।

(ii) कि ३० की तारीख वाला अभिलेख अंशुवर्मन के राज्याभिषेक का सूचक लगता है । लेकिन ये आपत्तियां महत्त्वपूर्ण नहीं हैं (देखिए बी. सी. लॉ. वाल्यूम, भाग १, पृ. ६४०) ।

में हम चाहें जो सोचें, लेकिन इसमें सन्देह नहीं है कि इस काल में नेपाल तिब्बत के रा नीतिक प्रभाव में आ चुका था।[1] सन् ५८० और ६०० ई० के बीच उस पहाड़ी प्रदेश आपस में लड़ने वाले कुलों को एक शक्तिशाली शासक ग्नाम-रि-स्रोण-ब्त्सन ने अ झंडे के नीचे एकजुट किया। उसके बेटे और उत्तराधिकारी स्रोङ-ब्त्सन-साम के बारे जिसने तिब्बत में भारतीय सभ्यता का प्रचार किया था, कहा जाता है कि उसने आसा और नेपाल को जीतकर अपने राज में मिला लिया था और आधे जम्बुद्वीप (भारत पर भी उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। उसने अंशुवर्मन् से उसकी बेटी के पाणिग्रह का प्रस्ताव किया और अंशुवर्मन इन्कार करने का साहस नहीं कर सका। दो साल बा और निश्चय ही सन् ६४१ ई० से पहले, तिब्बत के राजा ने चीन पर आक्रमण किया औ लगभग त्सेचुआन तक उस देश को लूटा पाटा। उसने सन्धि की एक शर्त के अनुसा एक चीनी राजकुमारी की मांग की और चीनी सम्राट को मजबूर होकर अपनी एक बे की शादी इस बर्बर राजा के साथ करनी पड़ी। इस प्रकार तिब्बत, चीन और भार दोनों के सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत आ गया और इन दो शादियों से उसे अपार ला हुआ। लेकिन अंशुवर्मन व्यवहारतः तिब्बती राजा का आश्रित बन गया था। इस बा से यह विश्वास करना और भी कठिन हो जाता है कि अंशुवर्मन् पर हर्षवर्धन का को प्रभाव था या कि उसका संवत् वहां कभी प्रचलित रहा होगा। इसके विपरीत, नेपा पर तिब्बत का राजनीतिक आधिपत्य हो जाने के कारण यही अधिक सम्भव लगता कि नेपाल में जो नया संवत् प्रचलित हुआ, वह तिब्बती स्रोत से आया था। लेवी के अ सार यह तिब्बती संवत् नेपाल में शायद सन् ५९५ में प्रचलित हुआ था, जिसका प्रवर्त या तो सोङ-ब्त्सन-स्गम-पो के जन्म की स्मृति में किया गया था या उसके बाप के राजग पर बैठने की स्मृति में। लेकिन चूँकि तिब्बत में ऐसे किसी स्थानीय संवत् के प्रवर्तन बात अज्ञात है इसलिए लेवी का मत संदिग्ध ही बना रहेगा।

सामान्य संदर्भ

नेपाल का इतिहास मुख्यतः वंशावलियों और अभिलेखों पर आधारित है।

१. नेपाल की **वंशावलियों** और इसके सामान्य इतिहास के लिए द्रष्टव्य :

(१) **किर्कपैट्रिक—ऐन एकाउंट ऑफ दि किंग्डम आफ नेपाल बीइंग दि सब्स्ट ऑफ ऑब्जरह्वेशंस मेड ड्यूरिंग ए मिशन टु दैट कन्ट्री इन दि ईयर १७९** लन्दन, १८११।

---

[1] नेपाल पर तिब्बत के राजनीतिक प्रभुत्व का वर्णन लेवी ने अधिकारी विद्वानों के हवाले देकर किया है। (नेपाल II, १४६-५४) डॉ. बसाक इस पर विश्वास नहीं करते नेपाल कभी भी तिब्बत के अधीन था। (हि. ना. इ. २९५) लेकिन लेवी ने जो प्रमाण ए किए हैं, डॉ. बसाक उनके बारे में बिलकुल खामोश हैं। डॉ. बसाक लेवी के इस मत की पूरी उपेक्षा करते हैं कि अंशुवर्मन् के संवत् का मूल स्रोत तिब्बत था।

(२) डी. राइट—**हिस्टरी ऑफ नेपाल ट्रांसलेटेड फ्रॉम दि पार्वतीय,** कैम्ब्रिज, १८७७।

(३) सी. बेंन्डॉल—**कैटेलग ऑफ दि बुद्धिस्ट संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ऐट कैम्ब्रिज।** कैम्ब्रिज, १८८३।

(४) भगवानलाल इन्द्रजी—सम कंसीडरेशंस ऑन दि हिस्टरी ऑफ नेपाल [इ. ए. XIII (१८८४) पृ. ४११-२८]

(५) ल नेपाल, एस. लेवी कृत, जिल्द I, II—१९०५; III—१९०८ (पाद टिप्पणियों में नेपाल के रूप में सन्दर्भित)।

(६) बेंडॉल—दि हिस्टरी ऑफ नेपाल ऐंड सराउडिंग किंग्डम (ई. सन् १०००-१६००) ज. ए. सो. ब. LXII (१९०३)।

वंशावलियाँ अपेक्षया हाल की रचनाएँ हैं। उनका बौद्ध पाठ एक ऐसे भिक्षु की कृति है जो उन्नीसवीं शती के आरम्भ में पटना के महाबुद्ध मठ में रहता था। डी. राइट (D. Wright) की देखरेख में इसका अनुवाद ब्रिटिश दूतावास के एक हिन्दुस्तानी मुंशी ने किया था। उसका ब्राह्मणीय संस्करण भी, जिसे ही वर्तमान गुर्खा हकूमत प्रामाणिक मानती है, उन्नीसवीं शती में रचा गया था, और जिस पाठ का उपयोग लेवी (Levi) ने किया था, उसका संकलन देव पटन में रहने वाले एक ब्राह्मण सिद्धिनारायण ने सन् १८३४ ई० में किया था। दोनों पाठ पारबतीय (या खस) भाषा में लिखे हुए हैं, जिसका प्रचलन गुर्खा विजय के बाद नेपाल की घाटी में किया गया था।

दोनों **वंशावलियों** का मूल स्रोत एक ही है। ब्राह्मणी संस्करण में बौद्ध संस्करण से भिन्न कुछ नहीं जोड़ा गया, केवल बौद्ध धर्म को गौरवान्वित करने वाली कहानियाँ और किंवदंतियाँ निकाल दी गयी हैं। अतीत में भी वंशावलियों का अस्तित्व था, इसकी पुष्टि जयदेव के पशुपति मन्दिर पर उत्कीर्ण लेख और प्रतापमल्ल के अभिलेख (जिस पर नेपाल संवत् के अनुसार ७७८ वर्ष की तारीख है) से होती है। लेकिन कोई प्राचीन पांडुलिपि अभी तक प्राप्त नहीं हुई। अठारहवीं शती के अन्त में कर्कपैट्रिक (Kirkpatrick) को जो **वंशावली** सुनायी गयी थी, वह आजकल उपलब्ध उन्नीसवीं शती की उपर्युक्त वंशावलियों से ज्यादा प्रामाणिक थी। बेंडॉल (Bendale) ने खोजकर तीन पाण्डुलिपियां प्राप्त कीं, जो सम्भवत: तेरहवीं शती के अन्त में रची गयी थीं, और जिनमें कुछ राजाओं की, उनके राज्यकाल के समेत, सूची दी गयी है। उनमें से दो नेवारी भाषा में लिखी हुई हैं और एक टूटी-फूटी गलत संस्कृत में।

२. नेपाल के अभिलेखों का सम्पादन निम्न कृतियों में किया गया है :

(i) पंडित भगवानइन्द्रजी और डॉ जी ब्युलर—इंस्क्रिप्शंस फ्राम नेपाल, इ. ऐ. IX (१८८०), पृ. १६३ प. पृ.। (इसमें २३ अभिलेखों का सम्पादन किया गया है, जिनका हवाला "इन्द्रजी सं०..." से दिया जाता है।)

(ii) **नेपाल**, जिल्द III (इसमें भी २३ अभिलेखों का सम्पादन किया ग है, जिनका हवाला "लेवी सं० . . ." से दिया जाता है।

(iii) बेंडॉल—**जर्नी इन नेपाल**, पृ० ७२ प. पृ० (चार अभिले जिनका हवाला "बेंडॉल सं० . . ." के रूप में दिया जाता है संख्या १, इ. ए. XIV, ६८ में भी प्रकाशित हुआ था।

डॉ० आर० जी० बसाक (हि. ना. इ. २४२ प. पृ०) ने इन सभी अभिलेखों एक संयुक्त सूची और उनका संक्षिप्त सार भी दिया है। लेकिन न तो यह सूची है और न सर्वथा सही ही। उदाहरण के लिए उन्होंने "लेवी नम्बर्स IV ऐंड V" बिल्कुल छोड़ दिया है और यह उल्लेख करना भूल गये हैं कि "इन्द्रजी नं० १" लेवी ने (नं० १) के रूप में फिर से सम्पादन किया था, जिसमें उन्होंने उन महत् पूर्ण पंक्तियों को भी जोड़ दिया था, जो जमीन में दबी होने के कारण नजर से छि हुई थीं, और इसलिए इन्द्रजी ने जिनको छोड़ दिया था।

३. **आधुनिक कृतियां**—

(१) फ्लीट—**कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकारम**, जिल्द III, पृ० १७७–९१
(२) आर. जी. बसॉक—**हिस्टरी आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया**
(३) आर. सी. मजुमदार—दि क्रोनोलॉजी आफ दि अर्ली किंग्स आफ नेप
(बी. सी. लॉ. वॉल्यूम, पार्ट I, पृ० ६२६ प. पृ०)

८. कामरूप

लगभग तीन शताब्दियों तक, सन् ३५० ई० से लेकर ६५० ई० तक कामरू राज्य पर एक ही वंश ने राज किया था। इस वंश के लोग अपने को उस नरका की सन्तान बताते थे, जिसका उल्लेख महाकाव्यों और पुराणों में हुआ है कि विष्णु (अपने वाराह अवतार के रूप में) और पृथ्वी के संयोग से पैदा हुआ ईसा सातवीं शताब्दी में प्रचलित एक किंवदन्ती के अनुसार नरक और उसके भगदत्त तथा उसके परिवार के दूसरे राजाओं ने पुष्पवर्मन् के सत्तारूढ़ होने पहले तीन हजार साल तक कामरूप पर राज किया था। पुष्पवर्मन के साथ प्रकार से कामरूप का ऐतिहासिक काल शुरू होता है। ~~नरकासुर के वंशज होने बात से सूचित होता है कि राजवंश अनार्य जाति का था~~, हालाँकि उसने सना ~~ब्राह्मण-धर्म अपना लिया था~~। यह उल्लेखनीय बात है कि ईसा की लगभग शताब्दी में गिलगित पर राज करने वाले शाही राजा भी अपने आप को भगदत्त कुल का बताते थे।[1] शायद यह भगदत्त वही है जो पौराणिक नरकासुर का

---

[1] इस वंशावली का पूरा विवरण भास्कर-वर्मन् के ताम्रपत्र में, जो निधनपुर में हुआ था (ई. इ. XII. ७३; XIX, ११५ प. पृ.—२४५ प. पृ.) और नालन्दा में

था। लेकिन हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते कि इन शाही राजों और कामरूप के राजवंश में कोई सम्बन्ध था।

इस युग के पुरालेखों और साहित्यिक अभिलेखों तथा विवरणों में पुष्यवर्मन् और उसके बारह उत्तराधिकारियों के नाम सुरक्षित हैं, जिन्हें वंश क्रम से निम्न तालिका में रखा गया है :

१. पुष्य वर्मन्
२. समुद्र वर्मन्=दत्तदेवी (या दत्तवती)
३. बल वर्मन्=रत्नवती
४. कल्याण वर्मन्=गंधर्ववती
५. गणपति वर्मन्=यज्ञवती
६. महेन्द्र वर्मन्=सुव्रता
७. नारायण वर्मन्=देववती
८. भूति वर्मन्=विज्ञानवती
(या महाभूत वर्मन्)
९. चन्द्रमुख वर्मन्=भोगवती
१०. स्थित वर्मन्=नयनदेवी
(या स्थिति वर्मन्) (या नयनशोभा)
११. सुस्थित वर्मन्=श्यामादेवी
(या सुस्थिर वर्मन्) (या ध्रुवलक्ष्मी)

१२. सुप्रतिष्ठित वर्मन् १३. भास्कर वर्मन्

राजकीय मुहरों में (मे. आ., सं. इ., सं. ६६, पृ. ६९-७०; ज. बि. ओ. रि. सो., V ३०२ प. पृ.; VI, १५१ प. पृ.) मिलता है। **हर्षचरित** में भी इसका आँशिक उल्लेख है। निर्णयसागर संस्करण, पृष्ठ २२०; अंगरेजी अनुवाद, कॉवेल ऐंड टॉमस, पृ. २१७) विभिन्न स्रोतों में दिये राजा-रानियों के नामों में थोड़ा सा भेद है। उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण भेदों को उपर्युक्त वंशावली-तालिका में कोष्ठकों में सूचित किया गया है।

भास्कर वर्मन्, जिसके नाम के साथ यह सूची समाप्त हो जाती है, हर्षवर्धन समकालीन था और ईसा की सातवीं शती का पूर्वार्ध उसका राज्यकाल था। इस प्रक पुष्य वर्मन् लगभग ३५० ई० में या उससे कुछ पहले गद्दी पर बैठा होगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि समुद्रगुप्त के अधीन राज्यों में काम भी था।[1] इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि वहाँ की मौखिक परम्परा भी काम में एक ऐतिहासिक राजवंश के उद्भव की तारीख लगभग इस काल में ही बताती हमारा यह अनुमान संगत होगा कि यह राजवंश अपने उत्थान या महत्त्व के लिए कि न किसी महान् सम्राट द्वारा प्रदत्त संरक्षण के प्रति ऋणी होगा। मिसाल के लि यह सम्भव है कि महान् गुप्त सम्राट ने सीमान्त प्रदेशों की वफादारी पक्की करने सुज्ञात नीति के अनुसार उन अनेक छोटे-छोटे स्थानीय सरदारों में से, जिन्होंने काम का इलाका आपस में बाँट रखा था, किसी एक को चुनकर उसे अपने अधीन कामरूप का राजा नियुक्त कर दिया हो। पुष्य वर्मन् से बाद के राजा और रानी नामों की भी शायद यही व्याख्या हो सकती है। समुद्र वर्मन् और दत्तदेवी के निश्चय ही गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त और उसकी रानी दत्तदेवी के नामों के अनुकरण हैं, क्योंकि राजा और रानी दोनों के नामों में ऐसा साम्य केवल संयोगवश ही सम्भ नहीं है। अगर हम यह नहीं सोचते कि गुप्त सम्राट का वास्तविक नाम अज्ञान अस्पष्टता के कारण कामरूप के राजाओं की वंशावली में दर्ज कर दिया गया था, हमें यह मानना चाहिए कि पुष्य वर्मन् ने अपने अधीश्वर और संरक्षक के प्र स्वामिभक्ति और आदर की भावना से प्रेरित होकर ही अपने पुत्र और बहू के नाम महान् गुप्त सम्राट और सम्राज्ञी के नामों पर रखे होंगे। यह दूसरी बात ही सही लग है और गंग राजाओं[2] के इतिहास में इसकी मिसाल भी मिलती है।

इस वंश की जो मुहर नालन्दा में मिली है, उसमें पुष्य वर्मन् को प्राग्ज्योतिष स्वामी कहा गया है, और पहले तीन राजाओं के नामों के आगे महाराजाधिराज पदवी भी लगायी गयी है। चूँकि ये तीनों राजा निश्चित रूप से प्रारम्भिक गुप्त सम्रा के समकालीन थे, इसलिए हम उनकी इन ऊंची पदवियों को अधिक महत्त्व नहीं सकते और न यह मान सकते हैं कि वे बड़े ताकतवर राजा थे। इस राज्य पर सम्राटों का पूर्ण प्रभुत्व था, यह बात इससे प्रमाणित है कि पाँच सौ साल तक वहाँ संवत् ही चलता रहा था। इसके अलावा, उस समय कामरूप या प्राग्ज्योतिष के रा की सीमा में आसाम की समूची घाटी भी नहीं थी, क्योंकि इलाहाबाद के शिलालेख कामरूप के अतिरिक्त एक डवाक राज्य का भी उल्लेख है, जिसका क्षेत्र विद्वानों ने

---

[1] देखिए पृ. ८।

[2] गंग राजा अय्य वर्मन् ने, जिसे पल्लव राजा सिंहवर्मन् ने गद्दी पर बैठाया अपने पुत्र का नाम माधव सिंह वर्मन् रखा था।

जिले में कपिलि नदी की घाटी में निर्धारित किया है।[१] सन् ४२८ ई० में उस डवाक राज्य का अस्तित्व था, इसका अनुमान उसके दूतावास के चीनी विवरण से भी प्राप्त होता है, जो उस साल क-पि-लि के राजा ने भेजा था। यह नाम कपिलि नदी से व्युत्पन्न है, और सूचित करता है कि डवाक का राज्य इस नदी की घाटी में स्थित था।[२] इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चौथी और पाँचवीं शताब्दी में कामरूप गुप्तों के अधीन एक छोटा सा राज्य था। लेकिन हमें इस राज्य के पहले छः शासकों के नामों के अतिरिक्त और कुछ भी मालूम नहीं है। राजकीय मुहर के अनुसार सातवें राजा नारायण वर्मन् या उसके पूर्ववर्ती राजा ने दो बार अश्वमेध यज्ञ किये थे।[३] इससे जाहिर होता है कि उसके राज्य काल में इस घराने की शक्ति बढ़ गयी होगी। सम्भव है कि उसने ईसा की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में गुप्त सम्राटों की अधीनता से मुक्ति प्राप्त कर ली हो।[४]

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि अगले राजा भूति वर्मन् के काल में कामरूप एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। पुराने डवाक राज्य को ही नहीं, बल्कि सुर्माघाटी (सिलहट जिला) को भी कामरूप राज्य में शामिल कर लिया गया था। कपिलि की घाटी में एक शिला पर उत्कीर्ण संक्षिप्त अभिलेख में कहा गया है कि **महाराजाधिराज** भूति वर्मन् ने अश्वमेध यज्ञ किया था। यह राजा सम्भवतः ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में हुआ था।[५]

---

१. देखिए पृ. ८

२. ज. रा. ए. सो., १९२०, पृ. २२७ प. पृ.।

३. यह स्पष्ट नहीं है कि "दो अश्वमेध यज्ञों का कर्त्ता" से मतलब उस राजा से है जिसका नाम इस विशेषण से पहले आता है या बाद में।

४. उन दिनों गुप्त साम्राज्य जिन राजनीतिक परिस्थितियों में से गुजर रहा था, (जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है : परिच्छेद ६) उनको देखते हुए इसकी सम्भावना पैदा हो गयी थी। लकिन डॉ. एन. के. भट्टसलि का यह मत कि गुप्त साम्राज्य का पतन 'कामरूप के वर्मन् राजाओं के आक्रमणों' के कारण हुआ था, (इ. हि. क्वा., XXI. २४) निराधार है।

५. भास्कर वर्मन् के निधनपुर में मिले ताम्रपत्र से हमें ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में भूति वर्मन् ने २०० ब्राह्मणों को जागीरें बांटी थीं, लेकिन चूंकि अनुदान-पत्र खो गया था, इसलिए भास्कर वर्मन् ने दोबारा अनुदान-पत्र जारी किया था। कुछ जागीरों की स्थिति विद्वानों के अनुसार उत्तरी बंगाल में पायी गयी है, लेकिन वे सिलहट के क्षेत्र में थीं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। (इस विषय पर विभिन्न मतों को जानने के लिए देखिए, उन विद्वानों की पुस्तकें जिनका भंडारकर की 'लिस्ट आफ इंस्क्रिप्शंस', सं. १६६६ में उल्लेख हुआ है; तथा साथ ही देखिए ज. रा. ए. सो. ब. ले., I. ४१९ प. पृ.; इ. क. II. १५३ प. पृ.; इ. हि. क्वा., VII. ७४३ प. पृ.)।

भूति वर्मन् का एक संक्षिप्त विवरण कपिलि घाटी में प्राप्त हुआ है (ज. आ. रि. सो., VIII ३३; ई. इ. XXVII, १८)। अनुमान था कि उस पर गुप्त संवत् की एक तारीख थी (वर्ष २३४ या २४४), लेकिन सम्भवतः उस पर कोई तारीख नहीं है। (ई. इ. XXX. ६४)।

'हर्षचरित' में भास्कर वर्मन् के राजकुल का विवरण हर्षवर्धन के दरबार में भे गये उसके एक राजदूत से कराया गया है। वह राजदूत पौराणिक राजाओं में नरक भागदत्त आदि का हवाला देने के बाद भूति वर्मन् से लेकर भास्कर वर्मन् तक उसके परवर्तियों का उल्लेख करता है। इससे शायद यह सूचित होता है कि भूति वर्मन् इस राजवंश की महानता का संस्थापक था। भूति वर्मन् के बारे में जो कुछ ऊपर क गया है, उससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। जाहिर है कि गुप्त साम्राज्य पतन का लाभ उठाकर उसने अपने राज्य की स्वतन्त्र सत्ता कायम की थी — अगर उसके बाप ने पहले ही ऐसा नहीं कर लिया हो — और गुप्त साम्राज्य के अंश डवाक और सु घाटी को मिलाकर अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। यह भी सम्भव है उस समय कामरूप का राज्य पश्चिम में उत्तर बंगाल की करतोया नदी तक फैला हुआ था, जो इसकी प्राचीन सीमा रही है। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य के खंडहर पर कामरू का स्वतंत्र और शक्तिशाली राज्य उठ खड़ा हुआ था।

भूति वर्मन् के बेटे के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, लेकिन उसके पोते स्थित व के बारे में कहा जाता है कि उसने दो बार अश्वमेध यज्ञ किये थे। उसके बेटे सुस्थि वर्मन् की, जो मृगांक भी कहलाता है, **हर्षचरित** में बड़ी प्रशंसा की गयी है और उस नाम के आगे **महाराजाधिराज** की पदवी भी लगी है, जबकि भूति वर्मन् को सि **महाराज** कहा गया है। लेकिन सुस्थित वर्मन् के बारे में सिवाय इसके और कुछ न मालूम है कि "परवर्ती गुप्त" राजा महासेन गुप्त से उसका युद्ध हुआ था।[1] और जिस वह हार गया था। इस अनबन का कारण अज्ञात है, लेकिन सम्भव है कि गुप्त सम्राट के हाथ से निकले हुए क्षेत्रों को फिर से जीतने के लिए परवर्ती गुप्तों की तीव्र इच्छा परिणामस्वरूप यह दुश्मनी पैदा हुई हो। शायद "परवर्ती गुप्तों" और कामरूप राजाओं में यह दुश्मनी कुछ काल पहले से ही चली आ रही थी, और जैसा हम आ चलकर देखेंगे, अगली पीढ़ी तक चलती रही थी। लगता है कि महासेन गुप्त अप सेना लेकर ब्रह्मपुत्र के तट तक बढ़ता चला गया था और वहाँ उसने युद्ध में ए महान् विजय प्राप्त की थी। लेकिन इसका कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला।

स्थित वर्मन् के बाद उसका बड़ा बेटा सुप्रतिष्ठित-वर्मन् गद्दी पर बैठा। और उसका भाई भास्कर वर्मन् गौड़ के राजा से युद्ध में हार गये और उसके द्वा कैद कर लिये गये लेकिन कुछ दिनों के बाद शायद अपनी वफादारी का वचन देने प वे मुक्त हो गये।[2] जैसा पहले सुझाया जा चुका है, विजयी गौड़ राजा महासेन गु ही रहा होगा।[3] सुप्रतिष्ठित वर्मन् के बाद उसका अनुज भास्कर वर्मन् गद्दी पर बैठा

---

[1] देखिए, पृ. ८३।

[2] हाल में ही दूबी में मिले भास्कर वर्मन् के ताम्रपत्र से यह बात ज्ञात हुई है। (ई. XXX. २८७) इससे यह स्पष्टतः प्रमाणित है कि सुप्रतिष्ठित वर्मन् गद्दी पर बैठा था, य **हर्षचरित** में उसका नाम छोड़ दिया गया है।

[3] देखिए पृ. ८६। यह भी नामुमकिन नहीं है कि यह गौड़ राजा शशांक हो।

अपने समय की राजनीति में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, जिसका वर्णन बाद के परिच्छेद में किया जाएगा।

६. उड़ीसा

उड़ीसा के गुप्तकालीन इतिहास के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस बात का अनुमान दिलचस्प होगा कि आखिर समुद्रगुप्त, अपनी फौज के साथ दक्षिण के पूर्वी तट तक कोसल (छत्तीसगढ़) के पहाड़ी इलाके से होकर क्यों गया था, और उसने पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा का आसान रास्ता क्यों नहीं अपनाया था? उड़ीसा अगर उसके साम्राज्य का अंग था, तब तो इस प्रश्न का उत्तर और भी मुश्किल है, और यह विश्वास करना कठिन है कि वह सुदूर दक्षिण तक पहले उड़ीसा को जीते बिना ही चला गया। जो भी हो, हमें किसी ऐसे राजवंश का पता नहीं है जो चौथी और पाँचवीं सदी में उड़ीसा पर राज्य कर रहा था और हम इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि उड़ीसा उन क्षेत्रों के अन्तर्गत था, जिनका शासन-प्रबन्ध सीधे गुप्त सम्राटों के हाथ में था।

ईसा की छठी शताब्दी के मध्य में उड़ीसा के दक्षिणी भाग पर एक सामन्त परिवार का शासन था। उड़ीसा में खल्लीकोट के पास एक गाँव में, जिसका नाम सुमंडल है, एक अभिलेख मिला है।[1] उससे पता चलता है कि गुप्तों के साम्राज्य में, गुप्त संवत् के २५० वें वर्ष में (सन् ५६९-५७० ई०) कलिंग पर राजा पृथ्वी-विग्रह शासन करता था और उसके अधीन एक नरेश **महाराज** धर्मराज था, जिसका प्रधान कार्यालय खल्लीकोट के निकट पद्मखोली में था। इससे साबित होता है कि गुप्त साम्राज्य के अन्तिम दिनों में भी उड़ीसा गुप्त सम्राटों[2] को अपना परम शासक स्वीकार करता रहा। यह बात और इसके साथ ही यह तथ्य भी, कि इस अभिलेख में तथा गंजाम में मिले गुप्त संवत् ३०० (सन् ६१९ ई०) में अनुदान-पत्र में, जिसका आगे चलकर जिक्र किया जायेगा, गुप्त संवत् का ही प्रयोग किया गया है, इस मत की पुष्टि करते हैं कि कुछ समय तक उड़ीसा गुप्त साम्राज्य का अविच्छेद्य अंग था।

दुर्भाग्य से पृथ्वी-विग्रह या उसके कुल के बारे में हमें और कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसका यह दावा कि वह कलिंग पर राज करता था, अन्य राजाओं द्वारा किये गये ऐसे दावों के साथ मेल नहीं खाता, जिनका परिच्छेद ११ (ग II) में जिक्र किया गया है। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि उसका अधिकार क्षेत्र कलिंग के उत्तरी भाग तक ही सीमित था।

गुप्तों का आधिपत्य और उसके साथ ही पृथ्वी-विग्रह और उसके परिवार का राज सन् ५७० ई० के फौरन बाद ही समाप्त हो गया होगा क्योंकि ईसा की छठी

---

[1] देखिए, पृ. ४७।

[2] देखिए, पृ. ४६।

शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हम उड़ीसा के उत्तरी और दक्षिणी भागों में मान और शैलोद्भव परिवारों को राज करते हुए पाते हैं। इसमें जरा भी संदेह कि गुप्त साम्राज्य के पतन से इन परिवारों का उत्थान हुआ था।

मान परिवार के उत्थान की कहानी हजारीबाग जिले में प्राप्त अभिलेख[1] में है, जिसमें कहा गया है कि वे तीन भाई थे उदयमान, श्रीधौतमान और अजित तीनों व्यापारी थे, व्यापार की खातिर ही अयोध्या से ताम्रलिप्ति गये थे। वहाँ कमाने के बाद, घर वापस लौटते समय, वे कुछ दिनों तक एक गाँव में ठहरे, उसी क्षेत्र के किसी गाँव में जहाँ यह अभिलेख मिला है। मगध के राजा आदि की कृपा से, जिसका इस क्षेत्र पर राज था, उदयमान इस गाँव का शासक बन और उसने अपने अधीन अपने दोनों भाइयों को पड़ोस के दो गाँवों का शासक दिया। इस प्रकार गया और मिदनापुर जिलों के पहाड़ी क्षेत्र में एक छोटी सी रि पैदा हो गयी। इस रियासत की स्थापना की तारीख अज्ञात है, लेकिन ईसा की या आठवीं शती में जब यह परम्परागत विवरण अंकित किया गया तब तक उद की परवर्ती कई पीढ़ियाँ राज कर चुकी थीं।

ईसा की छठी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में उड़ीसा के अधिकांश भाग पर मान वंश का राज्य था, जो सम्भवत: उपरोक्त मान परिवार से अभिन्न था। उसके राजा शम्भु यशस्[2] के दो अभिलेखों से, जिन पर २६० और २८३ की तारीखें हैं, पता चलता है कि वह उत्तरी और दक्षिणी तोसली पर राज करता था, जिसके अन्त बलसौर से लेकर पुरी तक, सारा उड़ीसा आता था। दोनों तारीखें गुप्त संवत् की उनके अनुसार शम्भु यशस् का राज्यकाल सन् ५८० और ६०३ ई० के बीच है शम्भु यशस् स्वयं मानकुल का सदस्य था, या केवल उनके अधीन एक शासक था, इ निर्णय नहीं किया जा सकता। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मान वंश का उड़ीसा पर आधिपत्य था और उसके शासक शाही पदवियाँ भी धारण करते थे।[4]

लगभग उन्हीं दिनों, जब उड़ीसा के अधिकांश भाग पर मानवंश राज कर रहा कंगोद पर शैलोद्भव वंश[5] का राज था। यह राज्य चिल्काझील या उससे भी उत्तर से लेकर गंजाम जिले के महेन्द्रगिरि पर्वतों तक फैला हुआ था और पश्चि

---

[1] ई. इ., II, ३४३। कुल-नाम मान और माण दोनों रूप में लिखा गया है।

[2] ई. इ., IX, २८५; XXI,I. १९८।

[3] ज. रा. ए. सो. ब. ले, XI. ४ प. पृ.।

[4] मान भूमि जिले को शायद इन मान शासकों ने ही नाम दिया होगा। बाद के विवरणों राजाओं का उल्लेख मिलता है। कर राजा शान्तिकर द्वितीय ने सिंहमान की बेटी से विवाह कि और ईसा की बारहवीं शती के दो विवरणों में दो मान राजाओं के नामों का उल्लेख मिल (ई. इ., II, ३३३)

[5] शैलोद्भवों के पूरे विवरण के लिए देखिए ज. आ. हि. रि. सो. X. १ प. पृ.।

उन पहाड़ियों तक पहुँचता था जो कुछ दिन पहले मौजूद कालाहांडी रियासत की पश्चिमी सीमा हैं। शैलोद्भवों का इतिहास अनेक अभिलेखों से ज्ञात है। इस राजवंश का संस्थापक रणभीत (या अरणभीत) ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था और शायद उसने भी गुप्तसाम्राज्य के पतन से हुई अराजकता और गड़बड़ी का लाभ उठाकर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। उसके बाद उसके तीन राजा क्रमशः गद्दी पर बैठे — उसका बेटा सैन्यभीत (प्रथम) माधवराज, पोता अयशोभीत और परपोता सैन्यभीत (द्वितीय) माधवराज (द्वितीय)। इनमें अन्तिम राजा सन् ६१९ ई० से कुछ पहले ही गद्दी पर बैठा था। मानवंश से इन राजों का क्या रिश्ता था, इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। यह नामुमकिन नहीं है कि कुछ समय तक वे मान शासकों का प्रभुत्व मानते रहे हों, क्योंकि दक्षिणी तोसली में वह प्रदेश भी शामिल था, जहाँ कंगोद स्थित था। लेकिन हमें यह ज्ञात नहीं है कि शम्भु यशस् का राज पूरे तोसली पर था या केवल उसके उत्तरी भाग पर।

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं है कि मान और शैलोद्भव, इन दोनों के राज्य कुछ दिन में ही शशांक के कब्जे में आ गये। हमें उन फौजी अभियानों का कुछ भी पता नहीं है, जिनके द्वारा शशांक इन राज्यों का स्वामी बना था। लेकिन सैन्यभीत (द्वितीय) माधवराज (द्वितीय) के सन् ६१९ ई० के एक अभिलेख से जाहिर होता है कि वह तब तक शशांक का सामन्त (अधीन शासक) बन चुका था। शशांक ने उड़ीसा में मान वंश का आधिपत्य समाप्त कर वहाँ अपना प्रशासन चलाने के लिए सोमदत्त नाम का पदाधिकारी नियुक्त किया। बाद में इस सोमदत्त का पद बढ़ाकर उसे **सामन्तमहाराज** बना दिया गया और वह उत्कल (उड़ीसा) और दंडभुक्ति (मिदनापुर जिला) इन दोनों क्षेत्रों पर शशांक के गवर्नर के रूप में शासन करने लगा। सोमदत्त के बाद कम से कम उत्कल प्रदेश में उसकी जगह पर भानुदत्त शासन करने लगा, लेकिन उसके अभिलेखों से यह स्पष्ट नहीं है कि वह शशांक को अपना अधिराज मानता था।

जैसा पहले लिखा जा चुका है शशांक की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उड़ीसा आजाद हो गया। इस जमाने में ही ह्वेन-त्सांग ने इस क्षेत्र की यात्रा की थी, और उसने कंगोद राज्य के बारे में निम्न विचार प्रकट किए थे :

"इस देश की सीमाओं के भीतर पहाड़ियों के किनारे, दसियों छोटे-छोटे नगर हैं जो समुद्र तटवर्ती पहाड़ियों के किनारे किनारे बसे हैं। ये स्वतः ऊँचे और मजबूत हैं जो सैनिक बहादुर और साहसी हैं, वे अपनी ताकत के जोर से पड़ोसी क्षेत्रों पर भी राज करते हैं, जिससे उनका कोई प्रतिरोध नहीं कर पाता।"

इस वक्तव्य से लगता है कि शैलोद्भव सिर्फ स्वाधीन ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने पड़ोस के क्षेत्रों को भी अपने काबू में कर लिया था। शैलोद्भव राजा सैन्यभीत (द्वितीय) माधवराज (द्वितीय) के विवरणों से भी इस बात की पुष्टि होती है। सन् ६१९ ई० में जारी किये गये उसके एक अनुदान-पत्र में अधिराज के रूप में शशांक का नामोल्लेख किया

गया है। लेकिन एक दूसरे अनुदान-पत्र में, जिस पर कोई तारीख नहीं दी गयी है, राज के रूप में शशांक का कोई उल्लेख नहीं है। राजा ने कंगोद के जयस्कंधावार अनुदान-पत्र जारी किया था और समूचे कलिंग पर अपनी सर्वोपरि प्रभुसत्ता का किया था। यह कुछ हद तक अतिरंजित हो सकता है, लेकिन सम्भव है कि उड़ी अधिकांश भाग उसके हाथ में आगया हो क्योंकि ह्वेन-त्सांग ने उ-चा या उड़्का, जो उड़ी मेल खाता है, शक्तिशाली या महत्त्वपूर्ण राज्य के रूप में उल्लेख नहीं किया; और राजनीतिक हैसियत के बारे में तो वह बिल्कुल खामोश रहा है। जो भी हो उत्कल कंगोद अधिक समय तक अपनी स्वाधीनता का उपभोग नहीं कर सके। शशांक की के बाद तुरन्त हर्षवर्धन ने पूरब की दिशा में अपना अभियान शूरू कर दिया सन् ६४३ ई० तक ये दोनों राज्य जीत लिये।

परिच्छेद : ९

हर्षवर्धन और उसका काल

I. थानेश्वर का राज्य

स्थाण्वीश्वर (आधुनिक थानेश्वर) का राज्य कब अस्तित्व में आया, यह अज्ञात है। बाणभट्ट[1] के अनुसार यह श्रीकंठ देश में स्थित एक नगर और इर्द-गिर्द के जिले दोनों का नाम था, और इस राज्य की स्थापना पुष्पभूति ने की थी। बाण ने इस राजा[2] का विस्तृत और किंचित् चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, लेकिन और किसी स्रोत से उसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। बाण ने राजा पुष्पभूति के तत्काल बाद वाले उत्तराधिकारियों के बारे में कुछ नहीं कहा है। उसने ऐतिहासिक विवरण राजा प्रभाकरवर्धन से शुरू किया है, जो उसके कुल में पैदा हुआ था।[3]

लेकिन राजकीय मुहरों और अभिलेखों में कुछ और राजाओं के नाम सुरक्षित मिले हैं, जिनके आधार पर निम्न वंश-क्रम तालिका तैयार की गयी है :

महाराज नरवर्धन = वज्रिणी देवी

|

महाराज राज्यवर्धन = अप्सरो देवी

|

महाराज आदित्यवर्धन = महासेन गुप्ता देवी

|

परमभट्टारक महाराजाधिराज
प्रभाकरवर्धन = यशोमती देवी

|

परमभट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्धन — परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्धन

---

[1] ह. च., पृ. ७९ प. पृ.

[2] ह. च., पृ. ८३ प. पृ.।

[3] ह. च., पृ. १०१ प. पृ.।

बाणभट्ट के **हर्षचरित** से हमें ज्ञात होता है कि प्रभाकर वर्धन प्रतापशील कहलाता था। उसका एक दूसरा पुत्र भी था जिसका नाम कृष्ण था और एक बेटी जिसका नाम राज्यश्री था।[1]

उपर्युक्त वंशावली से साफ जाहिर है कि पहले तीन राजा केवल **महाराज** कह थे और प्रभाकर वर्धन ही सबसे पहले **महाराजाधिराज** कहलाया था। चूंकि बाण अनुसार सन् ६०६ ई० में, हर्ष के गद्दी पर बैठने से कुछ समय पहले ही, प्रभाकर की मृत्यु हुई थी, इसलिए हम उसके राज्यकाल का आरम्भ लगभग सन् ५८० ई मान सकते हैं। अगर उसकी मां महासेन गुप्ता देवी को "परवर्ती गुप्त" राजा मह गुप्त की बहन मान लें, जैसा नामों के साम्य से बिल्कुल सम्भव लगता है, तो भी उसकी तारीख के बारे में इसी निर्णय पर पहुँचते हैं।

इसका यह अर्थ हुआ कि थानेश्वर का राज्य छठी शती ईसवी के अन्तिम चतुर्था पहले अधिक शक्ति या महत्त्व प्राप्त नहीं कर सका था। इस समय से पहले का उ इतिहास या उसकी पद-स्थिति बिल्कुल अज्ञात है। उसके पहले तीन राजा, जो शा सन् ५०० और ५८० ई० के बीच हुए थे, केवल सामन्त नरेश मात्र भी हो सकते हैं, या तो हूणों के अधीन थे या गुप्त सम्राटों के, या विभिन्न समयों में दोनों के। इ भी काफी सम्भावना है कि कुछ दिनों तक वे मौखरियों के भी अधीन रहे हों, क गुप्त साम्राज्य के अन्त और हूणों की पराजय के तत्काल बाद ही उन्होंने महारा **धिराज** की उपाधि का दावा नहीं किया था, जैसा मौखरियों ने किया था। उ यह उपाधि ईशान वर्मन् की मृत्यु के कुछ समय वाद ही धारण की, जब मौखरियों शक्ति काफी क्षीण हो गयी थी। इस मत की पुष्टि उस वक्तव्य से भी होती है, बाणभट्ट ने राजा प्रभाकर वर्धन के मुँह से कहलवाया है, कि "मौखरी सभी रा के सिरमौर हैं, शिव के पद-चिह्नों की तरह जिन्हें सारी दुनिया पूजती है।"[2] अनुमान किया जा सकता है कि ईशान वर्मन् की मृत्यु के बाद ही इस राजवंश की म बढ़ी थी और "परवर्ती गुप्तों" की एक राजकुमारी से आदित्यवर्धन का विवाह उनकी सत्ता और महत्ता दोनों के उत्थान का निश्चित कदम सावित हुआ था। वह फिर भी, यह सब अनुमान मात्र है, और जब तक ठोस प्रमाण नहीं मिलते, कोई नि मत नहीं पेश किया जा सकता।

प्रभाकर वर्धन के राजगद्दी पर बैठने के बाद, थानेश्वर का इतिहास एक नि रूप अख्तियार कर लेता है। इसका श्रेय उसके समकालीन विद्वान् बाणभट्ट जिसने हर्ष का जीवन चरित (**हर्षचरित**) लिखा है।

---

[1] ह. च., पृ. १०१, ४०, ११६। बाण ने स्पष्ट कहा है (पृ. १०६) कि रानी यशोवती (और अभिलेखों में जिसे यशोमती कहा गया है) के केवल तीन बच्चे थे। इसलिए कृष्ण किसी रानी से पैदा हुआ होगा।

[2] देखिए पृ. ७४।

हालांकि बाण ने प्रभाकरवर्धन के बारे में कई अध्याय लिखे हैं, लेकिन ऐतिहासिक ष्टि से महत्त्वपूर्ण सिर्फ छः विशेषणात्मक पद ही हैं, जिनमें राजा के गुणों का वर्णन रते हुए कहा गया है कि वह "हूण-मृगों के लिए मृगराज (सिंह) है; सिन्धु के राजा लिए उत्तप्त ज्वर है; गुर्जर राजा की निद्रा में विघ्न डालने वाला है, गन्धार नरेश से घ्राणशक्ति वाले हाथी के लिए पित्त-ज्वर है, लाटों के कौशल का संहारक है, मालवा ी भाग्यदेवी जैसी कोमल लता के लिए परशु है।"[1] यह काव्यात्मक वर्णन हमें सन्देह-नक स्थिति में डाल देता है कि उसने सचमुच इन राजाओं में से किसी को युद्ध में राया था या कि वह उनके लिए सिर्फ एक खतरा बन गया था। हूणों के बारे में बाद में ताया गया है कि अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले उसने अपने बड़े बेटे राज्यवर्धन को ौज लेकर लड़ने के लिए उत्तरा-पथ भेजा था। लेकिन इस अभियान का क्या परिणाम नकला, यह अज्ञात है। शायद युद्ध नहीं हुआ, क्योंकि पिता की सांघातिक बीमारी के ारण राज्यवर्धन को अचानक वापस बुला लिया गया था। उपर्युक्त नपी-तुली एवं भावपूर्ण शब्दावली में बाण का संकेत हूणों के विरुद्ध इस अभियान की ओर है या किसी र्ववर्ती अभियान की ओर, यह हम नहीं जानते। ऐसा लगता है कि हूणों का राज्य हमालय के पद-गिरि प्रदेश से दूर नहीं था, और हम उसे उत्तर पंजाब में स्थित मान कते हैं।

जिन दूसरे राज्यों का उल्लेख किया गया है — सिन्धु, गन्धार, लाट और मालव नके नाम सुपरिचित हैं। उन दिनों मालवा पर मैत्रकों का राज था या कलचुरियों ा या देवगुप्त का, इसका निश्चित पता नहीं है। इसलिए गुर्जर राज से यहाँ तात्पर्य जपूताने का गुर्जर राज्य समझना चाहिए, जिसे उन दिनों गुर्जरत्रा कहते थे और जिसकी थापना हरिश्चन्द्र[2] ने की थी। सम्भवतः इस परिवार की एक शाखा लाट अर्थात दक्षिणी जरात पर राज कर रही थी।[3]

बाण ने जिन विरोधी राज्यों के नाम गिनाये हैं, उनको दो वर्गों में बांटा जा सकता अर्थात उत्तर और पश्चिम में हूण, गन्धार और सिन्धु तथा दक्षिण में लाट, मालव र गुर्जर। लेकिन यह विश्वास करना कठिन है कि प्रभाकरवर्धन अकेला ही इन सब ज्यों पर आक्रमण कर सकता था, विशेषकर सिन्धु (सिन्ध नदी की निचली घाटी) ौर लाट पर, जो पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में बहुत दूर पर स्थित थे। सम्भावना स बात की हो सकती है कि उसने दो राज्य-संघों से युद्ध किया हो, या उनके साथ सके दुश्मनी के सम्बन्ध हों। अगर हम मान लें कि इन दोनों संघों के सदस्य राज्यों

---

[1] यहां अंगरेजी अनुवाद पृष्ठ १०१ पर दिये गये कॉवेल (Cowell) के अनुवाद से किंचित न्न है। गुर्जर, जैसा आगे नोट किया गया है, गुजरात का पर्याय नहीं है और **पाटव** का अर्थ यहाँ ौशल" लगाया गया है, न कि अराजकता।

[2] देखिए पृ. ७४।

[3] इस पर मैंने ज. डि. ले. X . १ प. पृ. में विस्तार से विचार किया है। साथ ही, ऊपर देखिए ७२ प. पृ.।

की सीमाएँ उसके राज्य की सीमा से जुड़ी हुई थीं, तो उसके राज्य की सीमाएं प्रकार अनुमानित की जा सकती हैं : पूर्व में यमुना (या गंगा) और पश्चिम में नदी तक और उत्तर में हिमालय और दक्षिण में राजपूताना तक।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हूणों पर आक्रमण करने के लिए जब राज्य फौज लेकर कई मंजिल आगे बढ गया था, तब उसे अचानक अपने पिता की वीमा खबर मिली और वह तुरन्त राजधानी को लौट आया। उसके पिता की इस बीम हो चुकी थी और उसकी माँ यशोमती वैधव्य के कलंक से बचने के लिए सरस्वती पर चिता में जलकर सती हो गयी थी। शोक से व्याकुल होकर उसने छोटे भाई पक्ष में राजगद्दी त्याग देने और संन्यास का जीवन बिताने का निश्चय किया। हर्ष भी प्रभुसत्ता का भार उठाने के लिए तैयार नहीं हुआ और उसने भी भा समान ही संन्यास ग्रहण करने का फैसला किया।

लेकिन कन्नौज से गम्भीर समाचार लेकर एक दूत के पहुँचने पर ये सब बदल गये। दूत ने खबर दी कि प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के फौरन बाद — दर मौखरी दरबार में यह खबर पहुँचने के दिन ही — मालवा के राजा ने ग्रहवर्मन की कर डाली है। उसने रानी राज्यश्री तक को गिरफ्तार करके कन्नौज में कैद कर है और सुनने में आया है कि वह थानेश्वर पर भी चढ़ाई करने की योजना बना है। यह खबर सुनते ही राज्यवर्धन ने जल्दी से दस हजार घुड़सवारों की फौज की और राज्य की देखभाल की खातिर अपने भाई हर्षवर्धन को वहीं छोड़कर मा के राजा से लड़ने के लिए कूच कर दिया। राज्यवर्धन ने बड़ी आसानी से मालव फौज को परास्त करके तितर बितर कर दिया, लेकिन वह "गौड़ के राजा की विनयशीलता के फुसलावे में आ गया, जिसने धोखे से राज्यवर्धन का कत्ल कर दि

II. हर्ष और कन्नौज

इस दुर्घटना की खबर जब हर्ष को मालूम हुई तो उसने गौड़ के राजा श बदला लेने की प्रतिज्ञा की। उसने कहा, "मैं शपथ उठाता हूं कि निश्चित दि अन्दर अगर इस पृथ्वी को गौड़ों से खाली नहीं कर सका. . . .तो एक पतंगे की मैं अपने पापी शरीर को तेल से प्रज्ज्वलित आग की लपटों में झोंक दूंगा।"[2] अनुसार उसने दिग्विजय का संकल्प किया, यहाँ तक कि उसने अपने मंत्री को दिया कि वह सारे भारत में यह घोषणा प्रसारित करवा दे कि सारे राजा

---

१. ह. च., पृ. १७८. देखिए परिशिष्ट।

२. ह. च., पृ. १८७. ह्वेन-त्सांग के अनुसार हर्ष ने कहा था; मेरे भाई के दुश्मनों को अ सजा नहीं मिली, पड़ोसी देशों को अभी तक अधीन नहीं बनाया गया, जब तक यह काम पूरा नहीं मेरा दाहिना हाथ कौर उठाकर मेरे मुँह में नहीं देगा। (बील I, २१३)।

उसका प्रभुत्व स्वीकार करें या उससे युद्ध करें।[1] फिर कुछ दिनों के बाद शुभ लग्न में, हर्ष "चारों दिगन्तों को जीतने के लिए अपने अभियान पर निकल पड़ा।"[2]

वह अभी कुछ दूर ही गया होगा कि उसके शिविर में उससे मिलने के लिए हंसवेग आया। हंसवेग प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा का, जो कुमार या भास्कर वर्मन् दोनों नामों से प्रसिद्ध था, विशेष दूत था।[3] दूत ने बताया कि उसके स्वामी की प्रतिज्ञा है कि वह शिव के अतिरिक्त और किसी के आगे मस्तक नहीं टेकेगा इसलिए वह हर्ष से स्थायी मैत्री चाहता है। हर्ष ने सहर्ष यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उसने भास्कर वर्मन् से मिलने की इच्छा प्रकट की। हंसवेग ने उत्तर दिया कि उसका स्वामी कुछ ही दिनों में वहाँ पहुँच जायेगा।[4] इस मैत्री के बारे में बाण ने हालाँकि और कुछ नहीं लिखा, लेकिन यह अनुमान संगत लगता है कि गौड़ के राजा शशांक के विरुद्ध, जो भास्कर वर्मन् का पड़ोसी था और इस समय दोनों का सामान्य दुश्मन था, इस मैत्री का आधार सुरक्षात्मक था। इस कूटनीतिक कदम का क्या परिणाम निकला, इस पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

हर्ष अपनी फौज लेकर आगे बढ़ता जा रहा था कि उसकी भेंट भण्डि से हो गई। भण्डि राजवर्धन की फौज के बचे हुए सैनिकों और मालव राजा से लूटे हुए माल, फौजी सामान और बन्दी सैनिकों के साथ लौट रहा था। उससे अपने भाई की मृत्यु का पूरा ब्यौरा सुनने के बाद हर्ष ने अपनी बहन राज्यश्री के बारे में पूछा। भण्डि ने उत्तर दिया कि उसने अफवाह सुनी है कि कैद से छुटकारा पाकर राज्यश्री अपने सेवकों और सेविकाओं के साथ विन्ध्यपर्वत के जंगल में चली गयी है। उसकी खोज करने के लिए भेजी गयी टोलियाँ अभी तक वापस नहीं लौटी हैं।[5] यह सुनकर हर्ष ने भण्डि को आदेश दिया कि वह उसकी फौज को लेकर गौड़ पर चढ़ाई करे और वह खुद अपनी बहन की खोज में निकल पड़ा। कुछ दिनों में वह विन्ध्य के जंगलों में जा पहुँचा और बहन की खोज में लगातार घूमते-फिरते वह उस स्थान पर जा पहुँचा जहाँ राज्यश्री चिता में बैठकर अपने को भस्म करने की तैयारी कर रही थी। इसके बाद हर्ष अपनी बहन को साथ लेकर अपनी फौज के शिविर में लौट आया, जो गंगा के तट पर पड़ाव डालकर विश्राम कर रही थी।

बाण की कहानी, जिससे उपर्युक्त ब्यौरा लिया गया है, अचानक यहीं पर समाप्त हो जाती है, और इसके पश्चात् हर्ष के जीवनचरित का ब्यौरा काल-क्रम या घटनाक्रम

---

[1] ह. च., पृ. १८७।

[2] ह. च. पृ. १९७।

[3] ह. च., पृ. २११; या. टॄ., वा., I. ३४८ मूल पाठ में "कुमार" नाम का भी उल्लेख है (पृ. २१४), लेकिन अंगरेजी के अनुवादकों से यह नाम छूट गया है।

[4] ह. च., प. २२३, २८०।

[5] ह. च., पृ. २२४।

के अनुसार उपलब्ध नहीं होता। उसके शेष जीवनचरित के बारे में जानने का पास एक मात्र स्रोत चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग का विवरण है, जिसने सन् ६३० से ६४४ ई० तक सारे भारत का भ्रमण किया था और जिसका हर्षवर्धन ने विशेष सम्मान से सत्कार किया था।

ह्वेन-त्सांग के विवरण में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि वह हर्षवर्धन उसके दो पूर्वजों को कन्नौज का राजा बताता है, और थानेश्वर के राज्य से उनका सम्बन्ध था, इसका कहीं जिक्र नहीं करता। उसने विस्तार से वर्णन किया है कि रा वर्धन की मृत्यु के बाद किस प्रकार महामंत्री पो-नी[1] का आदेश पाकर मंत्रि हर्ष से सिंहासनारूढ़ होने की प्रार्थना की। फिर बताया गया है कि हर्ष ने गंगातट स्थापित अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति के पास जाकर उनकी अनुमति मां बोधिसत्व ने संकेत किया कि कर्ण-सुवर्ण के राजा ने बुद्ध-धर्म को उलट दिया है आदेश दिया कि वह बौद्धमत के गौरव को पुनरुज्जीवित करने के लिए ही सिंहा सँभाल ले। लेकिन बोधिसत्व ने उससे कहा कि वह वास्तविक गद्दी पर कब्जा न और न महाराज की उपाधि धारण करे। यह आदेश पाकर हर्षवर्धन कन्नौज का रा बना और उसने शिलादित्य की तरह राजपुत्र की उपाधि धारण की।[2]

उपर्युक्त बातों से लगता है कि चीनी यात्री का विवरण बहुत अस्पष्ट और नि है। क्योंकि अपने भाई की मृत्यु के समय कन्नौज के राज्य से उसका कोई स नहीं था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ह्वेन-त्सांग के वक्तव्य में थानेश्वर गद्दी पर हर्षवर्धन के बैठने की घटना का वर्णन है। क्योंकि यह बाण के बहुत ही स्पष्ट और सुव्यक्त कथन से मेल नहीं खाता कि हर्ष ने अपने भाई की की खबर सुनते ही बिना ननुनच किए प्रभुसत्ता अपना कर हत्यारे से बदला लेने शपथ ली थी।[3] बोधिसत्व के अन्तिम आदेश में निहित तात्पर्य को भी तथ्य रू नहीं माना जा सकता, क्योंकि हर्षवर्धन सचमुच ही गद्दी पर बैठा था और राज उपाधियों का प्रयोग करता था।

लेकिन शायद ह्वेन-त्सांग के वक्तव्य में हमें उस स्थिति की अनुगूँज मिलती जिस स्थिति में हर्षवर्धन को कन्नौज की गद्दी पर बैठना पड़ा था। ह्वेन-त्सां वर्णन से यह स्पष्ट है कि सन् ६३६ ई० के लगभग जब वह कन्नौज पहुँचा था, समय हर्षवर्धन वहां का केवल राजा ही नहीं था, बल्कि कन्नौज इतने दिनों से उ अपनी राजधानी बन चुकी थी कि थानेश्वर से उसके प्रारम्भिक जीवन का स

---

[1] आमतौर पर पो-नी को भण्डि से अभिन्न माना जाता है। लेकिन जैसा डॉ. त्रिपाठी ने किया है, (हि. क., पृ. ७५ पा. टि. १), अगर कन्नौज की राजगद्दी के सन्दर्भ में इस प्रश्न को जाय, जैसा कि किया जाता है, तो यह शिनाख्त सम्भव नहीं है।

[2] या. ट्रै. वा. I. ३४३।

[3] देखिए त्रिपाठी, हि. क. पृ. ६८।

अब अतीत काल का केवल एक स्मृति-प्रसंग बन गया था। हमें यह ज्ञात नहीं है कि हर्ष कन्नौज पर कब और कैसे राज करने लग गया था, लेकिन आमतौर पर यह माना जाता है कि ग्रहवर्मन् कोई उत्तराधिकारी छोड़कर नहीं मरा था और जब उसकी रानी राज्यश्री ने राज्य का कार्यभार संभालने से इन्कार कर दिया तो महामंत्री पो-नि के प्रस्ताव पर जैसा ह्वेन-त्सांग ने लिखा है, कन्नौज के मंत्रियों ने हर्ष से गद्दी पर बैठने की प्रार्थना की। हर्ष ने, कुछ हिचकिचाने के बाद, बोधिसत्व के आदेश पर यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। आरम्भ में उसने कन्नौज के राजा की उपाधि नहीं धारण की, बल्कि केवल एक संरक्षक या रीजेन्ट की तरह काम करता रहा, लेकिन कुछ समय के बाद, जब उसकी स्थिति मजबूत हो गयी तो उसने अपने आपको कन्नौज का अधिराज (परम भट्टारक) घोषित कर दिया और बाजाब्ता अपने संयुक्त राज्य की राजधानी थानेश्वर से हटाकर कन्नौज में स्थापित कर ली।[1]

घटनाओं का यह काल्पनिक पुर्ननिर्माण मुख्य रूप से इस अनुमान पर आधारित है कि ग्रहवर्मन् अपना कोई अधिकारी छोड़कर नहीं मरा था। लेकिन नालन्दा में मिली एक मुहर से जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, यह सिद्ध होता है कि ग्रहवर्मन् के अलावा भी अवन्तिवर्मन् का एक बेटा था, जिसने ग्रहवर्मन् के बाद शासन किया था। जैसा बाण ने स्पष्ट लिखा है ग्रहवर्मन् अवन्तिवर्मन् का ज्येष्ठ पुत्र था। हम इस मुहर से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ग्रहवर्मन् के बाद उसका कोई छोटा भाई गद्दी पर बैठा होगा। इससे उस अनुमान का आधार नहीं रह जाता है कि कन्नौज की गद्दी खाली थी, इसलिए हर्ष वर्धन को अर्पित की गई थी।

इसके अलावा, नेपाल के अभिलेख में एक मौखरी राजा भोग वर्मन् का उल्लेख है, जो सम्भवतः राजा अंशुवर्मन् का भानजा और राजा शिवदेव द्वितीय का श्वसुर था। उसके बाप का नाम शूरसेन था और सन् ६३७-६३८ ई० के एक राजकीय अनुदान-पत्र में उसे दूतक बताया गया है। डा० बसाक[2] का अनुमान है कि शूरसेन कोई मौखरी राजा था, जिसने हर्ष की मृत्यु के बाद शायद कन्नौज पर राज किया होगा। लेकिन नालन्दा की मुहर के अनुसार वह ग्रहवर्मन् का वारिस हो सकता है, विशेषकर इसलिए कि मुहर पर भी उसका नाम "सु" से ही शुरू होता है। जो भी हो, इतना तो निश्चित लगता है कि ग्रहवर्मन् की मृत्यु के बाद कन्नौज में कोई मौखरी शासक हुआ था और इस सीधे वर्णन से कि गद्दी खाली थी और हर्ष को अर्पित कर दी गयी, हम सन्तोष नहीं कर सकते।

हर्षवर्धन के जमाने में भी कुछ प्रमुख मौखरी नरेश नेपाल में रहते थे। इस तथ्य से इस अनुमान का समर्थन नहीं होता कि कन्नौज की गद्दी पर हर्षवर्धन का शांतिपूर्ण अधिकार बना रहा। यह घटना रहस्यमय है और ह्वेन-त्सांग की कहानी भी, जो

---

[1] देखिए त्रिपाठी, हि. क., पृ. ७४ प. पृ.।

[2] हि. ना. इ. २९० और भी देखिए, इ. हि. क्वा. XI, ३२०।

या तो उसके अज्ञान का परिणाम है या जानबूझकर सही तथ्यों को छिपाने के लि गयी है, आसानी से स्वीकार्य नहीं हो सकती। फाङ्-ची नाम की चीनी कृति में क गया है कि हर्ष अपनी विधवा बहन के साथ मिलकर शासन प्रबन्ध चलाता, निश्चय ही इसमें संकेत कन्नौज के प्रति है और इससे शायद यह भी जाहिर होता आरम्भ में हर्ष अपनी बहन के नाम पर कन्नौज की सरकार का प्रबन्ध चलाता जिसके हक का उसने अन्य दावेदारों के मुकाबले में समर्थन किया था। बाद में सरे-आम कन्नौज का राजमुकुट अपना लिया और प्रभुसत्ता के पूरे अधिकार ग्रहण लिये। जैसा बाद में दिखाया जाएगा, यह शायद सन् ६१२ ई० की घटना है।

III. हर्ष के सैन्य अभियान

दुर्भाग्य से हर्ष के राज्यकाल के प्रारम्भिक दिनों के बारे में बहुत कम सूचनाएं हैं। जैसा पहले लिखा जा चुका है, उसकी फौज शशांक के विरुद्ध लड़ने के लिए रही थी, इसी बीच वह अपनी बहन की तलाश में चला गया और फिर बहन को के बाद गंगा के तट पर अपनी फौज के शिविर में लौट आया। लेकिन यह अभि किस तरह आगे बढ़ा और इसका क्या परिणाम निकला, इस बारे में हमें किसी भी से कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। डाक्टर त्रिपाठी ने[1] अपनी कल्पना से बाण की अधूरी कहानी को पूरा करने की जो कोशिश की है, उसके पक्ष में कहने को शायद कुछ प्रमाण मिलें। उन्होंने एक मार्मिक चित्र खींचा है कि किस प्रकार "हर्ष की के पहुँचने पर, शशांक ने यह सोचा कि, "अक्लमन्दी से काम लेने में ज्यादा बहादु और वह बड़ी कुशलता से अपनी फौज को पीछे हटाता चला गया।" लेकिन दुर्भा इस अटकलबाजी का कोई आधार नहीं है। कौन जाने कि वह कन्नौज की गद्दी ग्रहवर्मन् के किसी छोटे भाई को बैठा गया हो, और शशांक के वापस जाने के बा हर्ष ने उसे गद्दी से उतार कर कन्नौज पर अधिकार किया हो।

हालाँकि गद्दी पर बैठने के तत्काल बाद हर्ष के द्वारा शशांक के विरुद्ध अभि की प्रगति या उसके परिणाम के बारे में हमें कुछ खास नहीं मालूम है, लेकिन सन्देह नहीं कि हर्ष ने कई सैनिक अभियान किये थे, जिनके कारण वह उत्तर का सबसे शक्तिशाली शासक बन गया था। दुर्भाग्य से हमें उसके सैनिक अभियान बारे में बहुत कम मालूम है, क्योंकि ह्वेन-त्सांग, जो इस विषय में हमें सबसे प्राम जानकारी दे सकता था, इन अभियानों के बारे में शायद ही कहीं संकेत करता है जहाँ भी कोई ऐसा संकेत है वह अस्पष्ट और सामान्य सा है। इसलिए हर्ष की के ब्यौरे पेश करना सम्भव नहीं है, यहाँ तक कि काल-क्रम से उनका उल्ले असम्भव है। बहुत ही कम सामग्री या जानकारियों के आधार पर हम उन रा

---

[1] हि. क., पृ. ७३-७४।

और देशों के नाम ही ले सकते हैं, जिनसे कि उसने युद्ध किया था, और वता सकते हैं, कि उन युद्धों का क्या परिणाम निकला था।

हम हर्ष के संघर्षमय सैन्य जीवन को कम से कम चार चरणों में बाँट सकते हैं, जिनमें उसे (१) वलभी और गुर्जर नरेश, (२) चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय, (३) सिन्धु देश और (४) मगध, गौड़, ओड्र और कंगोद आदि पूर्वी देशों के राजाओं से मुकावला या युद्ध करना पड़ा।

१. वलभी[1]

शीलादित्य प्रथम धर्मादित्य के राज्य काल में वलभी के उत्थान और महान् शक्तिशाली राज्य बन जाने का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।[2] शीलादित्य ने कम से कम सन् ६१२ ई० तक राज्य किया था। उसके बाद उसका छोटा भाई खरग्रह और फिर उसका पुत्र धरसेन तृतीय गद्दी पर बैठा। इन दोनों राजाओं के वारे में हमें सिर्फ इतना ही ज्ञात है कि वे क्रमशः सन् ६१६ ई० और ६२३ ई० में शासन कर रहे थे और यह कि धरसेन तृतीय के काल में वलभी राज्य के अन्तर्गत उत्तरी गुजरात भी शामिल था।

धरसेन तृतीय के वाद उसका छोटा भाई ध्रुवसेन द्वितीय वालादित्य सन् ६२९ ई० से कुछ पहले ही गद्दी पर बैठा। उसके राज्य काल में ही ह्वेन-त्सांग भारत आया था, और उसके विवरण से हमें पता चलता है कि यह राजा, जिसका नाम उसने इस ढंग से लिखा है कि पढ़ने में ध्रुवपटु या ध्रुवभट्ट से मिलता है, हर्ष वर्धन का दामाद था। ह्वेन-त्सांग का कहना है कि यह राजा तुनुकमिजाज और छिछले दिमाग का था, लेकिन बौद्ध धर्म में उसकी सहज आस्था थी। हर्ष ने प्रयाग में जो बौद्ध सम्मेलन बुलाया था, उसमें और सम्भवतः सन् ६४३ ई० के शुरू में कन्नौज में बुलाये गये बौद्ध सम्मेलन में भी वह उपस्थित था।

ध्रुवसेन द्वितीय ने निश्चित रूप से कम से कम सन् ६४०-६४१ ई० तक राज किया था। फिर उसका बेटा धरसेन चतुर्थ वारिस हुआ। इस राजवंश के इतिहास में पहली बार इसी राजा ने **महाराजाधिराज** की उपाधि धारण की। उसकी ज्ञात तारीखें सन् ६४६ और ६५० ई० हैं।

उपर्युक्त पाँचों राजे हर्ष वर्धन के समकालीन थे। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, शीलादित्य प्रथम मालव का राजा था। ह्वेन-त्सांग ने मो-ल-पो का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह एक स्वतन्त्र राज्य है, जिसका अपने पड़ोस की कई रियासतों पर आधिपत्य है। लेकिन ध्रुवसेन द्वितीय के सन् ६४०-६४१ ई० के एक अनुदान-पत्र से पता चलता है कि उसके अधिकार में उस समय भी मालव का कम से कम एक हिस्सा

---

[1] वलभी और गुर्जर राजाओं के अभिलेखों के बारे में तारीखवार देखिए भ. लिस्ट सं. १३३० पृ.। ह्वेन-त्सांग के विवरण के लिए देखिए, या ट्रै. वा. II. २४६।

[2] देखिए, पृ. ७२।

तो था ही। चूँकि ह्वेन-त्सांग उस प्रदेश से होकर लगभग इसी समय गुजरा इसलिए उसके विवरण में यह फर्क क्यों है, इसका अनुमान करना कठिन है। सिर्फ इ ही अंदाज किया जा सकता है कि दोनों में लगातार संघर्ष चलता रहता था, कि कभी एक, तो कभी दूसरा विजयी होता था। लेकिन कुल मिलाकर हम यह अनु कर सकते हैं कि हर्ष वर्धन के राज्य काल के अधिकांश भाग में वलभी एक शक्ति और स्वतन्त्र राज्य था, जिसका उत्तरी गुजरात और मालव के एक भाग पर आधिपत्य था।

भड़ौंच के गुर्जर राजाओं के अभिलेखों में उल्लेख मिलता है कि दद्द द्वितीय वलभी के राजा को, जिसे विख्यात और महान् सम्राट हर्षदेव ने पराजित किया संरक्षण देकर (या विपत्ति से उबार करके) महान कीर्ति अर्जित की थी।[1] इससे प्रमाणित होता है कि हर्षवर्धन और वलभी के राजा के बीच संघर्ष हुआ था। लेकि इस आकस्मिक संकेत के अलावा हमारे पास इस युद्ध की और कोई सूचना नहीं है। युद्ध की परिस्थितियाँ और ब्यौरेवार घटनाएँ सभी कुछ बिल्कुल अज्ञात हैं। हम के इतना ही संगत नतीजा निकाल सकते हैं कि वलभी के राजा के विरुद्ध हर्ष को आर में कुछ सफलता अवश्य मिली, लेकिन बाद में दद्द द्वितीय या शायद कुछ और राजाओं की मदद से उसने अपनी स्थिति फिर मजबूत बना ली। यह मत वि निराधार है कि वलभी को हर्ष ने जीत लिया था और वहाँ का राजा उसका अ शासक बन गया था।[2]

यह अचम्भे की बात लगती है कि एक छोटी सी गुर्जर रियासत हर्ष के वि वलभी के राजा को संरक्षण देने में समर्थ हुई। यह पहले बताया जा चुका है कि भ का शासक गुर्जर परिवार दरअसल उत्तरी राजपूताने के राज्य के मुख्य शासक परि की ही एक शाखा था। इसलिए यह माना जा सकता है कि उन्होंने मिलकर कार्य कि था, और या तो दद्द द्वितीय ने गुर्जर राजा की सिर्फ मदद की थी या गुर्जर रा वलभी के राजा की ओर से उसकी कोशिशों में मदद की थी। लेकिन वलभी की शायद अकेले गुर्जर राजाओं ने ही नहीं की थी।

हम पहले बता चुके हैं कि लाट, मालव और गुर्जर ये सभी प्रभाकरवर्धन विरोधी थे और उसके उत्तराधिकारियों की भी मालव से दुश्मनी चलती रही इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि ये तीनों राज्य भी हर्षवर्धन के वि थे। दूसरी ओर एहौले के अभिलेख के अनुसार ये तीनों राज्य हर्ष के समकालीन पुलकेशिन् द्वितीय के अधीन थे। उन्होंने स्वयं अपनी ओर से यह अधीनता स्वीकार थी, जिससे साफ जाहिर है कि वे किसी अन्य शक्ति से अपना बचाव करना चाहते

---

[1] इ. ऐ. XIII ७७-७९।

[2] त्रिपाठी, हि. क., पृ. १०९., डा. डी. सी. सरकार का मत है कि वलभी का राजा हर्ष के एक मित्र शासक था। प्रो. ओ. का. XI. ५२५)।

[3] ई. इ. VI प. १०. पा. टि. ५।

यह शक्ति कल्चुरियों[1] की थी या हर्ष की, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। खैर जो भी हो, इन तीनों की हर्ष और पुलकेशिन द्वितीय के राज्यों के मध्यवर्ती राज्यों के समूह की हैसियत थी और इसलिए वे हर्ष के आक्रामक मंसूबों के खिलाफ पुलकेशिन द्वितीय के संरक्षण पर निर्भर कर सकते थे।

मालव और वलभी के पराजित राजाओं का पक्ष लेने के कारण भड़ौंच के राजा दद्द को हर्ष का कोपभाजन बनना पड़ा था या इन सब राजाओं ने शुरू से ही अपने सामान्य शत्रु के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बना रखा था हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते। लेकिन यह सहज ही कल्पनीय है कि स्पष्टतः या प्रच्छन्न रूप से हर्ष और दद्द द्वितीय के झगड़े के कारण ही हर्ष वर्धन और पुलकेशिन द्वितीय के बीच संघर्ष छिड़ा था।

२. पुलकेशिन से युद्ध

हर्ष और पुलकेशिन द्वितीय के बीच होने वाले युद्ध को पुलकेशिन के उत्तराधिकारियों और आधुनिक इतिहासकारों ने एक स्मरणीय घटना माना है। लेकिन तत्कालीन अभिलेखों में उसे इतना महत्त्व नहीं दिया गया। खुद पुलकेशिन के अभिलेख[2] में केवल इतना ही कहा गया है कि युद्ध में हर्ष के हाथी मारे गये जिससे वह भयभीत हो गया। ह्वेन-त्सांग ने कहा है कि हर्ष ने यद्यपि अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी, लेकिन वह पुलकेशिन को नहीं हरा सका। वह कहता है कि हर्ष ने "पाँच देशों से सैनिक भर्ती किये हैं और सब देशों के श्रेष्ठतम नेताओं को एकत्र किया है और वह खुद फौज की कमान अपने हाथों में लेकर इन लोगों का दमन करने के लिए गया है, लेकिन अभी तक वह उनकी सेनाओं को नहीं हरा सका।"[3] इससे जाहिर है कि हर्ष ने आक्रामक नीति अपनायी थी, और इससे यह ध्वनि निकलती है कि दुश्मन पर विजय पाने में वह असफल हुआ था, न कि यह कि वह स्वयं हार गया था। पुलकेशिन के उत्तराधिकारी हर्ष के विरुद्ध इस सफलता को निस्सन्देह और ही रूप में देखते थे। वे हर्ष की हार को न सिर्फ अपने लिए विशेष गर्व की बात समझते थे, बल्कि यह भी दावा करते थे कि पुलकेशिन ने "समस्त उत्तरापथ के युद्ध वीर स्वामी हर्षवर्धन को परास्त करके **परमेश्वर** की उपाधि अपना ली थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुलकेशिन के उत्तराधिकारियों ने युद्ध के परिणाम को अपने पक्ष में अतिरंजित करके देखा था और वे आधुनिक इतिहासकार भी, जिनका मत है कि इस चालुक्य राजा ने हर्ष को बुरी तरह हराया था, युद्ध के परिणाम को अतिरंजित करके देखते हैं।

---

[1] आगे देखिए, परिच्छेद ११, ख. III.

[2] ई. इ. VI. पृ. १०।

[3] हि. त्सां. बी. II. २५७।

हम नहीं जानते कि यह युद्ध किस स्थान पर लड़ा गया था। वी॰ ए॰ स्मिथ के के पक्ष में, जिसे आजकल आमतौर पर माना जाता है,[१] कोई प्रमाण नहीं है कि नं के तट पर पुलकेशिन ने पहाड़ी दर्रों की रक्षा इतने मजबूत ढंग से की थी कि हर्ष हार कर पीछे हटना पड़ा और नर्मदा नदी को अपनी दक्षिणी सीमा मानना प ऐहोले के अभिलेख में लाटों, मालवों और गुर्जरों को पुलकेशिन के अधीन राज्य गया है और ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि उनमें से किसी ने कभी हर्ष अधीनता स्वीकार की हो। ह्वेन-त्सांग ने भी मालव और बुन्देलखंड में स्वतंत्र रा का उल्लेख किया है। इसलिए यह स्वीकार करना कठिन है कि दक्षिण में हर्ष साम्राज्य नर्मदा तक फैला हुआ था, और यह बात असम्भव नहीं है कि वास्तवि युद्ध इससे काफी उत्तर के किसी स्थान पर लड़ा गया हो।[२]

३. सिंध

ये दक्षिणी अभियान, जिनके दौरान हर्ष ने वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय, भड़ौंच दद्द द्वितीय और राजा पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध किया था, असफल रहे थे, और सिन्ध के विरुद्ध अपने अभियान में ही हर्ष कोई सफलता पा सका। अलंकारिक शब्दा में बाणभट्ट ने हर्ष का जिक्र करते हुए लिखा है कि उसने सिन्धु के राजा का क निकाल दिया और उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली।[३] सिन्ध प्रभाकर वर्धन के विरुद्ध था, और यह सम्भव है कि हर्ष ने उसके विरुद्ध सैनिक अभियान चलाया हो लेकिन ह्वेन-त्सांग के विस्तृत वर्णन से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता जिस समय वह वहाँ गया, उस समय सिन्ध एक शक्तिशाली और स्वतंत्र राज्य

---

[१] ब. ग. I. भाग II, पृ. ३५०, अ. हि. इ.^{3} ३५०, आर. मुकर्जी, हर्ष, पृ. ४३।

[२] कुछ विद्वानों का मत है कि हर्ष सुदूर दक्षिण तक अपनी सेना लेकर चला गया था और उसने पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन् प्रथम से युद्ध किया था। यह मत गड्डेमाने अभिलेख पर आधारित है सातवीं शताब्दी ईसवी का माना जाता है, और जिसमें बेडा सरदारों के विरुद्ध लड़ते हुए एक सत्यांक की मृत्यु का उल्लेख है, जब शीलादित्य ने दक्षिण पर आक्रमण किया था और महेन्द्र भाग हुआ था। लेकिन जैसा प्रस्तुत परिच्छेद का लेखक पहले ही संकेत कर चका है—(इ. हि. क्वा. V. कि इस अभिलेख के शीलादित्य और महेन्द्र क्रमशः युवराज श्री आश्रय शीलादित्य (पुलकेशिन का एक बेटा) और पल्लव महेन्द्र वर्मन् द्वितीय से अभिन्न हैं, जो दोनों सातवीं शताब्दी ईसवी के में हुए थे। इसके अलावा हर्षवर्धन के दरबारी कवि मयूर के एक श्लोक से उद्धरण देकर यह साबित जाता है कि उसके संरक्षक ने अंग, कुन्तल, चोल, मध्यदेश और काँची के विरुद्ध युद्ध में सफलता की थी। लेकिन कवि ने कल्पना की है कि पृथ्वी उसके संरक्षक की पत्नी है और अंग आदि शब्दों दूसरे अर्थ में भी प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य उस पत्नी के शरीर, केश, वस्त्र, वक्ष और कमर इसमें सन्देह नहीं कि यह काव्य-कल्पना का उदाहरण है, जिसमें लेखक के काम-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान तो पता चलता है, लेकिन जिसका भूगोल या इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है।

[३] ह. च. पाठ. पृ. ९१।

और अगर हर्ष ने उस पर चढ़ाई की थी, तो जाहिर है कि उसका कोई फल नहीं निकला था।

४. पूर्वी अभियान

अब हम हर्षवर्धन के पूर्वी भारत में किए गए सैनिक अभियान का जिक्र करेंगे, जिसमें उसने शानदार सफलता प्राप्त की थी। 'ह्वेन-त्सांग की जीवनी'[1] (लाइफ आफ हिउएन त्सांग) से हमें पता चलता है कि सन् ६४३ ई० में जब चीनी यात्री राजा भास्कर वर्मा के निमंत्रण पर कामरूप गया था, उस समय तक हर्ष ने कंगोद और उड़ीसा पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया था और वह गंगा के किनारे राजमहल के पास के जंगल में पड़ाव डालकर ठहरा हुआ था। इससे जाहिर है कि इस तारीख से पहले हर्ष ने भारत के पूर्वी भाग में कई अभियान सफलतापूर्वक चलाए थे, जिनके दौरान उसने मध्यवर्ती क्षेत्रों को अपने कब्जे में ले लिया था। चीनी विश्व-कोशकार मा-त्वान-लिन के वक्तव्य से भी हर्ष के पूर्वी अभियान पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार शीलादित्य ने सन् ६४१ ई० में मगध के राजा की पदवी अपनायी थी।[2] ह्वेन-त्सांग के वक्तव्य से भी सिद्ध है कि इस तारीख से पहले हर्ष ने मगध की विजय नहीं की थी। सन् ६३७-६३८ ई० में मगध के इलाके से गुजरते हुए उसने नोट किया था कि शशांक ने हाल ही में गया के बोधिवृक्ष को कटवा दिया था और उसके कुछ दिनों बाद ही उसकी मृत्यु हो गई थी, इसके बाद मगध के राजा पूर्णवर्मा ने, जो अशोकराज खानदान का अन्तिम राजा था, एक हजार गायों के दूध से बोधि वृक्ष की जड़ सींच कर उसे फिर से पनपा लिया था।

शशांक की मृत्यु की तारीख अज्ञात है। उसकी अन्तिम ज्ञात तारीख सन् ६१९ ई० है और वह पहले ही, लेकिन सन् ६३७ से ज्यादा पहले नहीं, मरा था; तभी तो ह्वेन-त्सांग ने उसे हाल की ही घटना बताया है।[3] इसका मतलब है कि बाणभट्ट ने हर्ष के मुँह से चाहे जितनी डींगें हँकवाई हों, और जल्द से जल्द भाई की हत्या का बदला लेने की गम्भीरतम शपथ का जिक्र किया हो, लेकिन तथ्य यह है कि शशांक के विरुद्ध हर्ष की एक नहीं चली। सम्भव है कि उसकी मृत्यु के बाद ही उसने मगध पर विजय प्राप्त की हो और वह शशांक के राज्य के अन्य प्रदेशों को जीतता हुआ कंगोद तक जा पहुँचा हो। सम्भव है कि उसने बंगाल को भी जीत लिया हो, जो मगध और उड़ीसा के बीच में पड़ता है। लेकिन यह सब हर्ष गद्दी पर बैठने के तीस साल बाद ही कर सका था।

---

[1] बील का अनुवाद, पृ. १७२, १५९।

[2] एट्टिंगसन, हर्षवर्धन, पृ. ५४, अनुच्छेद VI में यह वक्तव्य उद्धृत किया गया है।

[3] "हाल में ही शशांक ने बोधि-वृक्ष कटवा दिया।" (या. ट्रै. वा. II. ११५) और कुछ दिनों बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। (बील II. १२२)।

इस बात का निश्चित रूप से पता नहीं है कि हर्ष ने कभी भी शशांक से युद्ध कि था । इसके पक्ष में केवल **मंजुश्री मूलकल्प** के एक अंश का हवाला दिया जाता जिसके अनुसार हर्ष ने अपनी सेना लेकर शशांक की राजधानी पुंड्र पर चढ़ाई की, उसको हराकर आदेश दिया था कि वह अपने राज्य की सीमा से बाहर न जाये फिर हर्ष उस देशमें सम्मान और सत्कार प्राप्त करके (या न प्राप्त करके) लौट गया मध्यकाल के इस बौद्ध इतिवृत्त में दिए गए इस अस्पष्ट एवं धुँधले वक्तव्य को हासिक दृष्टि से किस हद तक प्रामाणिक माना जा सकता है, यह कहना कठिन अगर इसे ऐतिहासिक तथ्य मान भी लें, तो भी हर्ष के इस पहले अभियान का स्थायी परिणाम नहीं निकला था। हर्ष लौट आया और जैसा कि ह्वेन-त्सांग ने साक्षी है, शशांक ने फिर से मगध पर कब्जा कर लिया। यह तथ्य कि कम से कम ६१९ तक, और सम्भवतः उसके भी कई साल बाद तक, शशांक साम्राज्यिक उपाधियों साथ बंगाल, दक्षिणी बिहार और उड़ीसा पर राज करता रहा था, सिद्ध करता है शशांक के विरुद्ध हर्ष को अपनी आरम्भिक कोशिशों में, जिनका हर्ष-चरित और मंजु **मूलकल्प** में जिक्र किया गया है, कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली थी।

यह भी अज्ञात है कि भागीरथी से पूर्व या पद्मा नदी से उत्तर के बंगाल भी हर्ष कभी अपना आधिपत्य जमा सका था या नहीं । इस बात के समर्थन में ह पास कोई सामग्री नहीं है, जबकि इसका निश्चित प्रमाण मौजूद है कि भास्कर व जो कामरूप का राजा और हर्ष का मित्र था, इस प्रदेश या उसके अधिकांश भाग स्वामी था ।[2] यह सम्भव है कि हर्षवर्धन के पूर्वी अभियान में उसने काफी सहा की हो, और जीत की लूट से बंगाल का एक भाग उसे भी मिला हो । लेकिन हम सम्भावना को भी नजर अन्दाज नहीं कर सकते कि थोड़े से समय के लिए हर्ष बंगाल का अधिराज बन गया और उसकी मृत्यु के बाद ही भास्कर वर्मा ने पद प्राप्त किया ।

५. हर्ष के अभियानों का तिथिक्रम

हर्ष को गद्दी पर बैठने के फौरन बाद ही अपने सैनिक अभियान शुरू कर देने प हालाँकि उसका तात्कालिक लक्ष्य तो अपने भाई की हत्या का बदला लेने केलिए शशां को सजा देना था, लेकिन बाणभट्ट के वर्णन से लगता है कि उसने **दिग्विजय** की तैयारी की थी । ह्वेन-त्सांग के एक वक्तव्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कुछ विस्तृत ब्यौरा मिलता है। उसके विवरण का सारांश यह है : "शीलादित्य ने शा की बागडोर हाथ में लेते ही एक विशाल सेना का संगठन किया (जिसमें ५,००० हा २,००० घुड़सवार और ५०,००० पैदल सैनिक थे) और अपने भाई की हत्या का बद

---

[1] श्लोक ७१९-२०, ७२६, इस पूरे अंश पर हि. ब. आर. ६४ में विस्तार से विचार किया गया

[2] देखिए परिच्छेद १०, अनुच्छेद ६ ।

लेने के लिए तथा पड़ोसी देशों पर आधिपत्य कायम करने के लिए निकल पड़ा। पूर्व की दिशा में बढ़ते हुए उसने उन देशों पर आक्रमण किया, जिन्होंने उसका आधिपत्य स्वीकार करने से इन्कार किया था। वह लगातार युद्ध में लगा रहा और छः साल में उसने भारत के पाँच राज्यों पर आक्रमण किया।[1] इस प्रकार अपने राज्य का विस्तार करके उसने अपनी फौज का भी विस्तार किया जिससे उसकी सेना में ६०,००० हाथी और १,००,००० घुड़-सवार सैनिक हो गये। इसके बाद वह शान्तिपूर्वक, एक बार भी हथियार उठाये बिना, तीस साल तक राज करता रहा।[2]

इस वक्तव्य के अनुसार हर्ष ने अपने सारे युद्ध सन् ६०६ और ६११-६१२ ई० के बीच लड़े थे और वह सन् ६११-६१२ से लेकर ६४१-६४२ ई० तक शान्ति-पूर्वक राज करता रहा था। जाहिर है कि पूर्व में उड़ीसा और कंगोद के विरुद्ध उसका अभियान जिसका ह्वेन-त्सांग ने जिक्र किया है, और मगध पर उसका आक्रमण सन् ६४१ ई० के बाद के उसके सैनिक अभियानों के दूसरे दौर की घटनाएँ हैं। इस प्रकार ह्वेन-त्सांग के वक्तव्य में कोई आन्तरिक विसंगति नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों का मत है।[3] इसके विपरीत, अगर हम डा० फ्लीट का यह मत स्वीकारें कि पुलकेशिन से हर्ष का युद्ध सन् ६०८-६०९ ई० में हुआ था, तो उससे भी इस वक्तव्य की पुष्टि होती है।[4]

लेकिन उस काल की अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए यह सोचना तर्कसंगत नहीं लगता कि हर्ष लगातार ३० साल तक शान्तिपूर्वक राज करता रहा, हालाँकि इस अवधि से पहले और बाद में उसे विकट युद्ध करने पड़े थे। इसके अलावा मा-त्वान-लिन ने स्पष्ट लिखा है कि सन् ६१८ और ६२७ ई० में हर्ष ने विकट युद्धों में भाग लिया था।[5] इसलिए ह्वेन-त्सांग के कथन पर आँख मूँद कर विश्वास नहीं किया जा सकता और न उसके आधार पर हर्ष के सैनिक अभियानों का कालक्रम ही निश्चित किया जा सकता है। सन् ६४३ ई० से पहले हर्ष से ह्वेन-त्सांग की मुलाकात नहीं हुई थी और उससे हर्ष के प्रारम्भिक जीवन के बारे में गलत सूचनाएँ मिली थीं, जैसा हर्ष के गद्दी पर बैठने के बारे में उसके उलझे हुए वक्तव्य से पता चलता है, जिसका हम पहले विवेचन कर चुके हैं। जहाँ तक फ्लीट के मत का सम्बन्ध है, वह सन् ६१२ ई० के एक विवरण पर आधारित है जिसमें पुलकेशिन् को **परमेश्वर** कहा गया है, लेकिन इससे यह अनुमान करना कि हर्ष को परास्त करने के बाद पुलकेशिन् ने यह उपाधि धारण की थी, सन्तोषजनक नहीं है। खुद पुलकेशिन् के अभिलेखों के अनुसार उसने यह उपाधि

---

[1] एक दूसरे पाठ के अनुसार : "हर्ष ने पाँच भारतीय राज्यों पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया।" (या. ट्रै. वा. ३४३, हि. त्सां. बी. I. २१३)।

[2] बील ने इसका अनुवाद भिन्न ढंग से किया है (I. २१३), जिससे अर्थ निकलता है कि हर्ष ३० सालों तक युद्ध करता रहा था।

[3] त्रिपाठी, हि. क. पृ. १२७।

[4] ब. ग., जिल्द I, भाग II, पृ. ३५१।

[5] ज. रा. ए. सो., न्यू. सी IV. पृ. ८६; ज. ए. सो. ब. VI. ६८।

अपने अनेक विरोधी राजाओं को हराकर अपनायी थी और यह बात सिर्फ उसके उत्त धिकारियों के अभिलेखों में मिलती है कि उसने हर्ष पर विजय प्राप्त करने के यह उपाधि ग्रहण की थी। हर्ष और पुलकेशिन के बीच सन् ६३४-६३५ ई० से पहले हुआ होगा, जैसा कि उस वर्ष की तारीख के उत्कीर्ण अभिलेख में दर्ज है जो ऐहोल मिला है, लेकिन कितना पहले यह कहना कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने सन् ६२० औ ६३० ई० के बीच विभिन्न तारीखें सुझाई हैं।[1]

अगर हम यह मान लें कि वलभी के राजा से युद्ध करने के कारण पुलकेशिन हर्ष की दुश्मनी हुई थी, तो वलभी से युद्ध की तारीख भी इससे पहले की होगी। से लड़ने वाले वलभी के राजा की शिनाख्त इस तारीख पर ही निर्भर है। आम रा यह है कि वलभी का यह राजा ध्रुवसेन था, जिसे ह्वेन-त्सांग हर्ष का दामाद बता है। यह भी कहा गया है कि ध्रुवसेन द्वितीय इतनी बुरी तरह हारा था कि उसे सन्धि की याचना और विजेता की बेटी से शादी करनी पड़ी। इसके विरोध में यह मत प्रक किया गया है कि "यह सम्भाव्य नहीं कि एक विजेता हारे हुए राजा से अपनी बेटी विवाह का प्रस्ताव करे, जिसमें उसकी हेठी जाहिर हो।[2] लेकिन जैसा पहले दिखा जा चुका है, बुरी तरह हारने का अनुमान निराधार है और ऐसे उदाहरण विरल न हैं, जब दो राजाओं की दुश्मनी आपस में विवाह-सम्बन्ध जोड़कर खत्म की गई हो इसलिए यह असम्भव नहीं है कि ध्रुवसेन द्वितीय ही वलभी का राजा था, जिसे आरम में हर्ष ने पराजित किया था, लेकिन जिसे गुर्जर राजा दद्द द्वितीय ने बचा लिया था वैसे, यह दिलचस्प बात स्मरणीय है कि सन् ६२९ और ६४१ ई० के दद्द द्वितीय अभिलेखों में इस बात का जरा भी संकेत नहीं मिलता कि उसने वलभी के राजा मदद की थी। सिर्फ बाद में उसके उत्तराधिकारियों द्वारा प्रचारित अभिलेखों में ही उस सफलता का यशोगान किया गया है। एक छोटे से सामन्त द्वारा हर्ष के आक्रमण सफलतापूर्वक मुकाबला करना इतनी बड़ी घटना है कि दद्द के अभिलेखों में उस उल्लेख तक न होना विचारणीय बात है। कुछ लोगों का मत है कि दद्द ने औरों साथ मिलकर और पुलकेशिन के एक सामन्त की हैसियत से ही हर्ष का मुकाब किया था, और चूंकि युद्ध का वार मुख्यतः पुलकेशिन ने झेला था, इसलिए दद्द द्विती अपने परम-शासक के जीवन-काल में अपनी सफलता का श्रेय खुद नहीं ले सकता था। लेकिन दूसरे विद्वानों का मत है कि वलभी के राजा से हर्ष का युद्ध सन् ६४१ ई० बाद हुआ था और उसका विरोधी धरसेन चतुर्थ था। वे यह भी बताते हैं कि धरसे द्वारा साम्राज्यिक उपाधियों का प्रयोग एक प्रकार से हर्ष की सत्ता को सीधी चुनौ थी और इसलिए हर्ष को मजबूर होकर वलभी के राजा के खिलाफ युद्ध की घोष

---

[1] इस युद्ध की तारीख के बारे में परिच्छेद १२ में विस्तार से विवेचन किया गया है। साथ देखिए त्रिपाठी (हि. क., पृ. १२५); ए. भ. ओ. रि. इ. XIII ३००; प्रो. इ. हि. का. III. ११

[2] प्रो. इ. हि. का. III. ५९६-९७।

[3] ई. इ. XXIV. १७९।

करनी पड़ी थी।[1] यह तर्क किया जा सकता है कि इसका मतलब तो नाना और नाती का युद्ध हुआ। लेकिन इतिहास में यह कोई अनोखी घटना नहीं है, और फिर यह भी सम्भव है कि धरसेन हर्ष की बेटी की बजाय किसी और रानी की कोख से पैदा हुआ हो। इस मत की मुख्य खामी यह है कि इसमें युद्ध की तारीख सन् ६४४ ई० से बाद की पड़ती है, जब सम्भवतः पल्लवों से युद्ध में पुलकेशिन हार गया था और वह इस स्थिति में नहीं था कि वलभी के राजा या गुर्जर राजा दद्द द्वितीय की कोई मदद करता। अन्ततः इस युद्ध की तारीख और वलभी के राजा का नाम, ये दोनों बातें फिलहाल अनिर्णीत छोड़नी पड़ेंगी।

ह्वेन-त्सांग के वक्तव्य और बाणभट्ट की कहानी दोनों से लगता है कि हर्ष के और सभी सामरिक अभियानों से पहले उसका पूर्वी अभियान हुआ था। लेकिन यह अभियान बाद के उस अभियान से भिन्न था, जिसके दौरान उसने सन् ६४१ और ६४२ ई० में मगध, उड़ीसा और कंगोद जीते थे। उसके आरम्भिक सामरिक अभियानों का स्वरूप और उनमें उसे प्राप्त सफलताएँ अभी अज्ञात हैं।

IV. हर्ष के साम्राज्य का विस्तार

इस प्रकार संक्षेप में हर्ष के सामरिक अभियानों का विवेचन करने के बाद अब हम यह अन्दाज लगायेंगे कि उसके साम्राज्य की सीमाएँ कहाँ तक थीं। इस विषय का विवेचन इस कारण कठिन हो गया है कि पहले के विद्वानों ने कमजोर और अधूरे तथ्यों के आधार पर ही बड़े अतिरंजित अनुमान लगाये हैं। भारतीय इतिहास का अध्ययन तब अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था और लोग प्राचीन भारतीय इतिहास के बारे में प्राप्त थोड़े से तत्कालीन तथ्यों को विवेचनात्मक दृष्टि से नहीं देखते थे, अतः उस समय के विद्वानों ने ह्वेन-त्सांग और बाणभट्ट के अस्पष्ट और उलझे हुए वक्तव्यों को भी तत्परतापूर्वक मान कर यह कल्पना की थी कि हर्ष एक महान् सम्राट था और हिन्दू भारत का अन्तिम साम्राज्य-निर्माता था। यह गलत धारणा हाल तक चलती आयी है। प्रस्तुत लेखक ने ही शायद सबसे पहले इसकी सच्चाई को चुनौती दी थी। अतः यह सन्तोषप्रद बात है कि विद्वानों का दृष्टिकोण धीरे-धीरे सही दिशा में बदल रहा है।[2] फिर भी पुराने पूर्वाग्रह बड़ी मुश्किल से टूटते हैं, इसलिए इस विषय पर अधिक विस्तार से विचार करना अपेक्षित है।

हर्ष के साम्राज्य की सीमाओं का अनुमान करने के लिए हमें संक्षेप में ह्वेन-त्सांग के वर्णन के आधार पर उस समय के उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थिति का

---

[1] प्रो. इ. हि. का. III. ५९८।

[2] देखिए ज. बि. ओ. रि. सो., १९२३, पृ. ३११ प. पृ.। इसमें व्यक्त मत का साधारणतया डा. त्रिपाठी ने समर्थन किया है। (हि. क., पृ. ७८ प. पृ.)।

सर्वेक्षण करना चाहिए। चीनी यात्री जिन जिन राज्यों की सीमा से होकर गुजरा उन सबका उसने संक्षिप्त विवरण दिया है। वह बौद्ध-धर्म का उपासक था और मुख्यतः धार्मिक महत्त्व के स्थानों और घटनाओं का ही वर्णन किया है, लेकिन स्थानों पर उसने राज्यों की राजनीतिक हैसियत का भी जिक्र किया है। इससे विवरण का ऐतिहासिक महत्त्व है, जो उसके पूर्ववर्ती चीनी यात्री फाहिएन के वि का नहीं है। कुछ स्थानों की निश्चित पहचान करने में कठिनाई होने के बावजूद, ह्वेन-त्सांग का अनुगमन करते हुए उस राजनीतिक भारत का सिंहावलोकन सकते हैं, जिसे उस महान चीनी यात्री ने सन् ६३० ई० से लेकर, जब वह का (अफगानिस्तान में) पहुँचा था, सन् ६४४ ई० तक, जब वह दोबारा सिन्धु पार करके अपने देश को लौट रहा था, देखा था।

कापिश उन दिनों हिन्दूकुश पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित एक शक्तिशाली था। इसके क्षत्रिय राजा के शासन के अन्तर्गत लन-पो (लगमन), नगर (जलालाबाद) और गन्धार तक थे, और फ-ल-न (बन्नू) अधीन राज्य थे। नदी के पश्चिम में बस एक ही और महत्त्वपूर्ण राज्य था, जिसका नाम उदयन यह स्वात घाटी के ऊपरी भाग में स्थित था।

सिन्धु नदी से पूर्व में काश्मीर ही सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य था। तक्षशिला, उरशा, पन-नु-त्सो और राजपुर के प्राचीन राज्य, जिनके अन्तर्गत पूरा पश्चिमी उत्तर-पश्चिमी पंजाब आ जाता था, उस समय काश्मीर राज्य के अंग थे। प्रकार काश्मीर का राज्य सिर्फ पूरे काश्मीर को ही नहीं घेरता था, बल्कि पंजाब का भी बड़ा हिस्सा शामिल था। पंजाब के सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य का नाम चे था, जो शायद टक्क का चीनी रूपान्तर है। इसकी राजधानी स्यालकोट के थी, और इसका क्षेत्र पूर्व में ब्यास से लेकर पश्चिम में सिन्धु नदी तक फैला हुआ मुल्तान और उसके उत्तर पूर्व का एक दूसरा देश पो-फ-तो (परबत), दोनों टक्क के अधीन राज्य थे।

ह्वेन-त्सांग ने पूर्वी पंजाब और उत्तर-पूर्व के पहाड़ी क्षेत्रों के चार राज्यों का जिक्र किया है। ये राज्य थे चि-न-पुह-ति, जालन्धर, कुलूत और लेकिन उनकी राजनीतिक हैसियत के बारे में उसने कुछ नहीं लिखा। यह सम्भव कि वे हर्ष के साम्राज्य में शामिल रहे हों। "दी लाइफ आफ हिउएन त्सांग' (त्सांग की जीवनी) में जालन्धर के एक राजा का उल्लेख है, जिसने लौटते समय यात्री की हिफाजत के लिए एक सैनिक दस्ता भेजा था और यद्यपि इसके बाद इस हिफाजती दस्ते में एक विशाल हाथी भी जोड़ दिया था और चीनी यात्री के व्यय के लिए धन भी भेजा था, लेकिन इसका यह मतलब नहीं, जैसा कुछ विद्वानों विचार है कि उस राज्य पर हर्ष का भी यत्किंचित् प्रभुत्व था।

यमुना के पूर्व में जिन राज्यों के शासकों का उल्लेख है, उनके नाम हैं मो-ति- सु-फ-ल-न-कु-त-लो (सुवर्णगोत्र), नेपाल और कामरूप। पहला

पश्चिमी रुहेलखंड में था, जिस पर एक शूद्र राजा का राज था। दूसरा राज्य हिमालय में था। उस पर स्त्रियों का राज था, और वह नारी-राज्य ही कहलाता था। अन्य दो राज्य तो सुविदित हैं, उन पर बाद में विस्तार से विचार करेंगे। फिर उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के अनेक राज्यों का उल्लेख है, लेकिन उनकी राजनीतिक हैसियत के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। हम यह संगत मान सकते हैं कि इनमें से अधिकतर राज्य हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत थे।

मध्य भारत में तीन राज्य थे बुन्देलखंड, ग्वालियर और उज्जैन (पूर्वी मालव) जिन पर ब्राह्मण राजाओं का शासन था। पश्चिमी भारत में सबसे शक्तिशाली राज्य मो-ल-पो (या पश्चिमी मालव) था, जिसका पड़ोस की तीन रियासतों, अर्थात् कच्छ या खेंड, आनन्दपुर और सुराष्ट्र पर प्रभुत्व था। और भी पश्चिम में चलकर वलभी, भड़ौंच, गुर्जर और सिन्धु के राज्य थे। पि-तो-शिह्-लो और अ-फन-तु की रियासतें सिन्धु राज्य के अधीन थीं, जिसका सिन्धु घाटी के निचले भाग पर राज्य था।

ह्वेन-त्सांग के स्पष्ट विवरण पर आधारित उत्तर भारत के महत्त्वपूर्ण राज्यों के इस विस्तृत ब्यौरे से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हर्ष के साम्राज्य में उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल और उड़ीसा से बाहर कोई क्षेत्र नहीं था। लेकिन एम० एटिंगसन (Ettinghausen) पणिक्कर, जिन दो आधुनिक विद्वानों ने हर्ष का जीवन-चरित लिखा है, के अनुसार हर्ष पूरे उत्तर भारत का सम्राट था। विशेष रूप से पणिक्कर ने कामरूप से काश्मीर और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक फैले हर्ष के साम्राज्य का वर्णन किया है। वी० ए० स्मिथ का अनुमान इतना अतिवादी नहीं है। वे काश्मीर, पंजाब, सिन्ध, राजपूताना और कामरूप को हर्ष के साम्राज्य में शामिल नहीं करते, क्योंकि ह्वेन-त्सांग ने स्पष्ट शब्दों में इनको स्वतन्त्र राज्य कहा है, यहाँ तक कि उसने इनके अधीनस्थ राज्यों का भी उल्लेख किया है।

लेकिन वी० ए० स्मिथ के वक्तव्य को भी गम्भीर नहीं समझा जा सकता। उनका यह विश्वास कि वलभी का राजा हर्ष का अधीन सामन्त था, निराधार है। उनका अनुमान वहाँ सम्भावना की सीमा पार कर जाता है जब वह मालव, गुजरात, कच्छ और काठियावाड़ के प्रायद्वीप को भी हर्ष के साम्राज्य का अंग बताते हैं, क्योंकि ह्वेन-त्सांग ने मो-ल-पो के राज्य को माही नदी के पूर्व में बताया है और कहा है कि वह एक शक्तिशाली राज्य था और स्पष्ट शब्दों में बताया है कि आनन्दपुर (अहमदाबाद जिला) क-इ-त (कच्छ और कैरा जिला) और सु-ल-च (काठियावाड़ प्रायद्वीप) की रियासतें उसके अधीन थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मो-ल-पो अधीन राज्यों समेत पश्चिमी मालव का सूचक है और वलभी के अन्तर्गत दक्षिणी राजस्थान का सारा पश्चिमी क्षेत्र आ जाता था। इसके अलावा, ह्वेन-त्सांग ने मालव से पूर्व के तीन राज्यों का वर्णन किया है जो मोटे तौर पर पूर्वी मालव (जिसकी राजधानी उज्जैन थी), बुन्देलखंड और ग्वालियर के बराबर हैं और कहा है कि इन पर विप्र राजाओं का

राज था। इससे स्पष्ट है कि यमुना से दक्षिण में हर्ष का आधिपत्य बहुत दू नहीं था।

यमुना के पश्चिम में भी हर्ष का साम्राज्य किसी रूप में जालन्धर से आगे नहीं हो सकता। उत्तर में काश्मीर निश्चय ही एक स्वतन्त्र देश था। और हाल में कुछ लोगों का मत है कि नेपाल भी हर्ष के साम्राज्य में था, लेकिन इसके पक्ष में ठोस प्रमाण नहीं है। वैसे यह जरूर सम्भव है कि उसने हिमालय की तराई में इलाके जीत लिये हों।[1] और पूर्व में, जैसा पहले देख चुके हैं, ऐसा कोई प्रमाण उप नहीं है, जिससे जाहिर हो कि उत्तरी, दक्षिणी या पूर्वी बंगाल, कहीं पर भी हर्ष प्रभुत्व स्वीकार किया गया हो या कामरूप हर्ष के अधीनस्थ राज्यों में से रहा हो।

इस विस्तृत जाँच-पड़ताल के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए म हैं कि आरम्भ में हर्ष का साम्राज्य केवल कन्नौज और थानेश्वर के राज्यों तक सीमित था, हालाँकि उसने उत्तर और पश्चिम में कुछ छोटी-छोटी रियासतों को साम्राज्य में मिला लिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसका राज्य पूर्वी पं और उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था। फिर अपने राज्य काल के अन्तिम दिनों में मगध को अपने साम्राज्य में मिला लिया था और उड़ीसा और कंगोद तक विजय क हुआ पहुँच गया था। लेकिन यह मालूम नहीं है कि इन दोनों राज्यों को और मध्यवर्ती प्रदेश को भी उसने अपने साम्राज्य में मिलाया था या नहीं।

हर्ष के साम्राज्य की यह सीमा आमतौर पर अनुमानित सीमा से बहुत संकीर्ण बंगाल की सन्देहजनक स्थिति को छोड़कर देखें तो इस समय तक उपलब्ध जानक के आधार पर यह कहना असम्भव है कि हर्ष का आधिपत्य किसी विशाल क्षेत्र फैला हुआ था। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि जिन स्थानों पर उसके सिक्के और अभि प्राप्त हुए हैं और वह इलाका जहाँ उसके द्वारा प्रवर्तित संवत् निस्सन्देह रूप से प्रच था, उपर्युक्त क्षेत्र की सीमा के भीतर ही स्थित हैं।

V. हर्ष का मूल्यांकन

यह अनुमान करना बिल्कुल गलत होगा, जैसा कुछ विद्वानों का मत है, कि हिन्दू काल का अन्तिम महान् साम्राज्य-निर्माता है और उसकी मृत्यु उत्तर भारत राजनीतिक एकता स्थापित करने की सफल कोशिशों की समाप्ति का सूचक दरअसल अगली पाँच शताब्दियों में उत्तर भारत में कई नये साम्राज्य उठे और गिरे

---

[1] बाणभट्ट का कहना है (ह. च., पृ. ७६) कि हर्ष बर्फीले पहाड़ों में स्थित एक दुर्गम देश से क वसूल करता था। बूलर (इ. ऐ. XIX. ४०) और उसका अनुकरण करके कई विद्वानों ने इस दुर्गम को नेपाल बताया है, जबकि लेवी (नेपाल, II, १४५-४६) और एट्टिंगसन (हर्षवर्धन, पृ. ४ विचार है कि उसका संकेत तुखार (तुषार) देश की ओर है।

[2] देखिए, त्रिपाठी (हि. क. पृ. १०४) और प्रो. इ. हि. का., VI. ४८)।

किसी भी दृष्टि से हर्ष के साम्राज्य से कम नहीं थे और उनमें से कुछ तो—जैसे प्रतिहारों का साम्राज्य—हर्ष के साम्राज्य से बड़े और अधिक टिकाऊ भी थे। इसलिए, यद्यपि यह मानना तो व्यर्थ है कि भारतीय इतिहास में हर्षवर्धन का राज्यकाल किसी भी रूप में एक विशिष्ट युग या युगान्तर है, लेकिन हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि वह एक महान् शासक, वीर सेनापति, कला और साहित्य का उदार संरक्षक तथा उदात्त भावनाओं और श्रेष्ठ व्यक्तित्व वाला मनुष्य होने के नाते हमारी प्रशंसा और श्रद्धा का पात्र है।

हर्षवर्धन जिस समय थानेश्वर की गद्दी पर बैठा, वह इस राज्य के इतिहास का सबसे संकटपूर्ण काल था। कन्नौज को, जो उसका पड़ोसी और मित्र राज्य था, एक ताकतवर दुश्मन ने पैरों तले रौंद डाला था और उसका इरादा थानेश्वर पर भी चढ़ाई करने का था। इस मुसीबत से छुटकारा पाने की कोशिश में थानेश्वर के राजा को अपने प्राण गंवाने पड़े। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में एक के बाद दूसरे राजा की मृत्यु ने इस तरुण राजा की स्थिति को और भी मुश्किल बना दिया था। उसके सामने कठिन कार्य थे, खासतौर पर अगर हम यह स्मरण रखें कि सीमावर्ती राज्यों से उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे, और उनमें से एक के विरुद्ध तो फौजी कार्रवाई भी चल रही थी। यह तथ्य कि हर्ष ने न सिर्फ इन सब कठिनाइयों पर काबू पा लिया, बल्कि उसने थानेश्वर के छोटे से राज्य को उत्तर भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बना दिया, उसकी सैन्य कुशलता और योग्यता का प्रमाण है। गुप्त साम्राज्य के पतन से विघटन की जिन शक्तियों को प्रोत्साहन मिला था, जिन्होंने एक साम्राज्य-निर्माता के कार्य को विशेष रूप से कठिन बना दिया था और हर्ष को उत्तर भारत में पैदा हो जाने वाले अनेक छोटे-छोटे राज्यों से युद्ध करना पड़ा। उसे उस महान् सम्राट से भी लोहा लेना पड़ा, जिसने दक्षिणापथ और दक्षिण भारत में उसकी ही मिसाल पर चलकर सफलता प्राप्त की थी। हर्ष के सैनिक अभियानों को समान रूप से सफलता नहीं मिली, लेकिन छोटी-मोटी असफलताओं के बावजूद उसने एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया था और एक महान् विजेता होने की ख्याति प्राप्त कर ली थी। उत्तर भारत में उसके प्रभुत्व को कोई चुनौती नहीं दे सकता था और वे सब राजा भी, जो उसको अपना अधिराज नहीं मानते थे, उससे भय खाते थे और उसकी कृपा दृष्टि और मैत्री के लिए उत्सुक रहते थे। यह इस बात से साफ जाहिर है कि उसके द्वारा आयोजित धार्मिक अनुष्ठानों में शामिल होने के लिए राजाओं की पांत लग जाती थी। यह बात विशेषकर उस कहानी से भी जाहिर है जो ह्वेन-त्सांग ने इस महान् सम्राट से अपनी पहली मुलाकात के बारे में बयान की है। उस समय हर्ष उड़ीसा के अभियान से लौटकर अपने कजंगल के शिविर में (राजमहल के निकट) ठहरा हुआ था। यह सुनकर कि ह्वेन-त्सांग कामरूप में है, उसने राजा भास्करवर्मन् के पास अपना दूत भेजा कि वह चीनी श्रमण को फौरन उसके पास भेज दे। भास्करवर्मन् ने उत्तर भेजा : "वह (हर्ष) मेरा सर ले सकता है, लेकिन वह अभी मेरे धर्म-गुरू (ह्वेन-त्सांग) को नहीं ले सकता।" यह उत्तर पाते ही हर्ष ने

एक संक्षिप्त सन्देश भेजा : "बूल के हाथ अपना सर भेज दो।" अपनी वेवकूफी से घबराकर भास्करवर्मन् ने गलती का प्रतिकार करने के लिए फौरन ह्वेन-त्सांग को साथ लेकर व्यक्तिगत रूप से हर्ष के दरबार में हाजिर होने का फैसला किया। कहानी को अक्षरशः सत्य मानने की जरूरत नहीं है। फिर भी इससे जाहिर है कि स्वतंत्र राजाओं का भी कितना आदर और सम्मान प्राप्त था।

हर्ष को यद्यपि एक महान् और शक्तिशाली सम्राट तो मानना ठीक है, लेकिन उसके युद्ध-कौशल और राजनीतिकता का सही-सही मूल्यांकन कठिन है। देखने में उसके है कि कन्नौज की गद्दी पर बैठते ही उसकी भावी सफलता के द्वार खुल गये थे उसका कार्य आसान हो गया था। हम नहीं जानते कि उसने उस गद्दी को पाने के लिए किन साधनों का प्रयोग किया था, और हम यह भी नहीं कह सकते कि आरम्भिक सफलताओं में सौभाग्य, कूटनीति या सैन्य-कौशल का कितना हाथ था। उसके फौजी अभियानों की बात, तो हम जानते हैं कि उसके दुश्मनों में सिर्फ दो ही कोटि के शक्तिशाली राजा थे, पुलकेशिन और शशांक। एक ने उसको हरा दिया और दूसरे के विरुद्ध वह निश्चय ही कोई सफलता नहीं पा सका था। उसके अन्य दुश्मनों की, जैसे सिन्ध और वलभी के राजा की शक्ति का तुलनात्मक अन्दाज लगाने के हमारे पास बहुत कम जानकारी है। और यह मत कि हर्ष दक्षिण भारत तक करता चला गया था, बिल्कुल निराधार है।[2]

दो बाहरी प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अपने समय की राज में हर्षवर्धन का कितना ऊँचा स्थान था। चालुक्य अभिलेखों में कहा गया है कि पुलकेशिन ने गौरवशाली हर्षवर्धन को हराकर, जो सारे उत्तर भारत का युद्धवीर स्वामी "**परमेश्वर**" की उपाधि धारण की थी। हालाँकि **सकलोत्तरापथ-नाथ** का वाच्यार्थ ल यह नहीं मान लेना चाहिए कि हर्ष सारे उत्तर भारत का स्वामी था, लेकिन दक्षिण के अभिलेखों से यह तो निश्चय ही जाहिर होता है कि अपने समय की राजनीति में का सर्वोच्च स्थान था।

दूसरे, हर्ष के गद्दी पर बैठने की स्मृति में एक संवत् का प्रवर्त्तन किया गया जिसका सम्भवतः उसकी मृत्यु के बहुत बाद तक प्रचलन रहा था। कुछ अभिलेख, पर २९८ वर्ष की तारीख पड़ी है, और एक, जिस पर ५६३ (या ५६२) वर्ष की ता पड़ी है, इस संवत् के बताये जाते हैं।[3] हालांकि इस सम्वत् को हर्ष के नाम के जोड़ने की एक भी मिसाल नहीं मिलती, लेकिन अल्बेरूनी के कुछ वक्तव्यों से प्रचलन का अनुमान किया गया है। अल्बेरूनी[4] ने उल्लेख किया है कि मथुरा

---

[1] लाइफ, पृ. १७२।

[2] देखिए, त्रिपाठी, हि. क., पृ. १२१. ऊपर देखिए, पृ. १२०, पा. टि. २।

[3] देखिए भ. लिस्ट, १८९ प. पृ.; त्रिपाठी, हि. क., पृ. १२३।

[4] सचाउ का. अनुवाद, जिल्द II, पृ. ५।

ौज में श्रीहर्ष का सम्वत् प्रचलित है जिसका प्रवर्त्तन विक्रम संवत् से ४०० साल ले हुआ था, अर्थात् लगभग ४५८ ई० पू० में । फिर उसने लिखा कि उसने काश्मीर तिथि-पत्र में पढ़ा कि हर्ष विक्रमादित्य से ६६४ वर्ष वाद हुआ था । इस हिसाब से के गद्दी पर वैठने की तारीख ६०६ ई० होती है, जो कि अब भी विद्वानों को मान्य । अल्बेरूनी ने आगे लिखा कि हर्ष के नाम पर दो संवत् प्रचलित थे, जिनमें वाद ला संवत्, जिसका प्रवर्तन हर्षवर्धन ने किया था, इसी तारीख से शुरू होता था । किन हर्षवर्धन सन् ६०६ ई० में गद्दी पर वैठा था, इस तथ्य का 'ह्वेन-त्सांग की वनी' (लाइफ आफ ह्वेन-त्सांग)[1] में दिये गये एक वक्तव्य से मेल वैठाना कठिन जिसका आशय यह है कि जव सन् ६४३ ई० में हर्ष ने प्रयाग में अपने राज्यकाल छठा पंचवर्षीय उत्सव मनाया था, तव वह ३० वर्ष या कुछ अधिक दिनों तक राज र चुका था । दोनों में संगति तभी वैठ सकती है जब हम इस तीस वर्ष की अवधि का रम्भ कन्नौज की गद्दी पर वैठने की तारीख से लगायें, जो इस हिसाब से सन् ६१२ ई० ।[2] जो भी हो, यह सूचित कर देना जरूरी है कि हमारे पास ऐसा कोई विश्वसनीय ाण नहीं है, जिससे आमतौर पर स्वीकृत इस धारणा की पुष्टि होती हो कि न् ६०६ ई० में हर्षवर्धन थानेश्वर की गद्दी पर वैठा था और इस तारीख से उसका वत् जोड़ा जाता था ।[3]

ह्वेन-त्सांग ने हर्ष का जो विशद चित्र खींचा है, उसके अनुसार वह एक तेजस्वी र कर्मठ शासक था, जो हर समय गतिशील रहता था । या तो वह सैनिक अभियानों भाग लेता, या अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करता रहता, जहां सब के साथ न्याय करता, योग्य व्यक्तियों को सम्मानित करता और लोगों के वहार या आचरण की गलतियों को सुधारता था । उसके पास एक विशाल स्थायी ना थी और उसकी संख्या के बारे में ह्वेन-त्सांग का अनुमान काफी दिलचस्प है । रम्भ में तो कहा गया कि उसकी फौज में ५,००० हाथी २,००० घुड़-सेना और ०,००० पैदल सेना थी । लेकिन वाद में हाथियों और घोड़ों की तादाद क्रमशः बढ़ाकर ०,००० और १,००,००० कर दी गयी है ।[4] यह संख्या अविश्वसनीय लगती है और

---

[1] बील का अनुवाद, पृ. १८३ ।

[2] वी. ए. स्मिथ के अनुसार सन् ६१२ ई० तक 'हर्ष ने साहसपूर्वक खुलकर यह दावा नहीं किया कि वह थानेश्वर का राजा है । स्मिथ का सुझाव है कि उस समय तक हर्ष 'अपने आप को अपनी बहन अपने दिवंगत भाई के नावालिग वेटे की ओर से रीजेन्ट ही समझता था ।' (अ. हि. इ.[3] ३३८) लेकिन कहना कि थानेश्वर की गद्दी पर उसकी वहन का कोई हक था, विल्कुल अनर्गल बात है । और जैसा ले वताया जा चुका है, वाण के विवरण से इस वात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भाई की मृत्यु के रन वाद वह थानेश्वर का राजा वन गया था ।

[3] प्रस्तुत लेखक ने इस प्रश्न पर विस्तार से विवेचन किया है । (इ. हि. क्वा., १८३); और देखिये, वही, ३२१ तथा इ. हि. क्वा. XXVIII.

[4] हि. त्सा. वी. I. २१३ ।

अगर इसी अनुपात में पैदल सेना की संख्या में भी वृद्धि की गयी होती तो उसकी दस लाख के करीब होती। चन्द्रगुप्त मौर्य की फौज में भी, जिसका राज्य हर्ष के से कहीं बड़ा था, सिर्फ ३०,००० घुड़-सेना, ९,००० हाथी और ६,००,००० पैदल थी। ह्वेन-त्सांग का वक्तव्य निश्चय ही सन्देहास्पद है। घुड़-सेना को विशेष दिया जाता था, इसका संकेत वाणभट्ट ने भी किया है, क्योंकि उसने लिखा फारस, अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर प्रान्त से घोड़े खरीदकर लाये जाते थे, जो भी घोड़ों की अच्छी नस्ल के लिए प्रसिद्ध हैं।[1]

हर्ष ने युद्ध और शान्ति की कलाओं में समान रूप से अपने आपको श्रे शासक साबित किया था। वह कलम भी उतनी ही कुशलता से चला सकता था, कुशलता से तलवार। उसके लिखे तीन नाटक **रत्नावली, प्रियदर्शिका** और ना उपलब्ध हैं, जो इस शाही लेखक की सर्जनात्मक प्रतिभा के प्रमाण हैं। इन कृति उसे समकालीन और परवर्ती पीढ़ियों से श्रेष्ठ कवि के रूप में सम्मान और ख्याति हुई।[2] इसके अलावा, वह विद्या और ज्ञान का महान संरक्षक था, और वाणभट्ट, तथा अन्य कवि और साहित्यकार उसके दरबार की शोभा थे। ह्वेन-त्सांग ने का सामान्य विवरण देते हुए लिखा है कि साम्राज्य की आमदनी चार भागों दी जाती है। एक भाग प्रशासन और सरकार द्वारा किये जाने वाले धार्मिक अ पर खर्च किया जाता है। एक भाग श्रेष्ठ सार्वजनिक सेवाओं का प्रबन्ध करने अनुदान के रूप में दिया जाता है, एक भाग श्रेष्ठ बौद्धिक उपलब्धियों को करने के लिए खर्च किया जाता है और एक भाग विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को योग्यताएं बढ़ाने के लिये अनुदान के रूप में बांटा जाता है।[3] अगर यह चित्र सरकार का है जिस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं, तो इससे स्पष्ट सम्राट की ओर से विद्या और ज्ञान को संरक्षण प्राप्त था और इस बात की अन्य से भी पुष्टि होती है। 'ह्वेन-त्सांग की जीवनी' (लाइफ आफ ह्वेन-त्सांग एक कहानी है कि सौराष्ट्र से मगध में आकर बसने वाले जयसेन नाम के एक गृहस्थ की अपार विद्वत्ता और ज्ञान से हर्ष इतना प्रभावित हुआ कि उसने जयसे उड़ीसा के अस्सी बड़े-बड़े कस्बों का राजस्व दान करने का प्रस्ताव किया। यह स्वीकार नहीं किया गया, लेकिन इससे सिद्ध होता है कि विद्वानों के प्रति हर्ष उदार था और उनका कितना ध्यान रखता था। हर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय

---

[1] वाण ने देखा कि हर्ष का अस्तबल राजा के मनपसन्द घोड़ों से भरा था। ये घोड़े वना कम्बोज, भरद्वाज, सिन्ध और फारस से लाये गये थे। (ह. च., पृ. ५०)

[2] हर्ष ने ये नाटक स्वयं लिखे थे या नहीं, इस बारे में सन्देह प्रकट किये गये हैं। डा. इसकी पूर्ण विवेचना की है (हि. क., पृ. १८५) तथा हर्ष की साहित्यिक कार्यवाहियों के सन्द किये हैं। (पृ. १८२) देखिये आगे परि. XV.

[3] वा. ई. वा. I. १७६।

[4] बील का अनुवाद, पृ. १५४।

हान संरक्षक था, जो उन दिनों सारे बौद्ध-जगत में विद्या का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण न्द्र था। ह्वेन-त्सांग से हमें ज्ञात होता है कि हर्ष ने नालन्दा में एक शानदार बौद्ध-वहार और कांसे का मन्दिर बनवाया था।[1] ई-त्सिंग का कहना है कि "शीलादित्य बड़ा ाहित्य-प्रेमी है" और यह कि उसने न सिर्फ बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा को पद्य द्ध किया है (अर्थात् नागानन्द) "बल्कि कलाकारों से नृत्य और अभिनय के साथ से मंचित भी करवाया है"।[2]

बाणभट्ट की आलंकारिक प्रशस्तियों और ह्वेन-त्सांग की अतिरंजनाओं को यान में रखें, तो भी उनके वर्णनों में इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हर्ष हमुखी प्रतिभा का शासक और शानदार व्यक्तित्व का आदमी था। यह स्वाभाविक कि ह्वेन-त्सांग ने हर्ष के धार्मिक विश्वासों और कार्यों का विस्तार से वर्णन किया । कोई भी व्यक्ति इस चीनी यात्री की विशालकाय पोथियों को पढ़कर और बौद्ध-र्म के प्रति उसके उत्साह को देखकर, जो धर्मान्धता की सीमा छू लेता है, हैरान रह ायेगा। बौद्धधर्म के प्रति उसमें इतनी अन्ध भक्ति थी कि वह आँखों के आगे अलौकिक टनाएँ भी घटती हुई बयान करता है। उसने भारत में हर चीज को बुद्धधर्म के चश्मे देखा और अन्य धर्मों से उसकी नैसर्गिक श्रेष्ठता को वह तर्क से परे की बात समझता ा। हर्ष के धार्मिक कार्यों के बारे में ऐसे व्यक्ति के विवरण को तनिक संकोच के साथ ी स्वीकार करना चाहिए। अगर हर्ष के उत्कीर्ण अभिलेखों एवं पुरालेखों के आधार पर निर्णय करें, जैसा अन्य लोगों के बारे में हमने किया है, तो हर्ष को एक निष्ठावान् और र्मप्राण शैव मानना चाहिए। उसकी राजकीय मुहरों में उसके तीन पूर्वजों को सूर्योपासक ौर उसके भाई को बौद्ध बताया गया है; और खुद उसको शैव मत का अनुयायी कहा या है। इस बात की पुष्टि उन दोनों अभिलेखों से भी होती है, जो हमें उपलब्ध हैं। सके बावजूद ह्वेन-त्सांग के विवरणों से मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि हर्ष न सर्फ बौद्ध धर्म का निष्ठावान् अनुयायी था, बल्कि वह जानबूझकर दूसरे धार्मिक म्प्रदायों का, जिनमें शैव भी आते हैं, अनादर करता था, मानो वे निम्नकोटि के धर्म । उदाहरण के लिए ह्वेन-त्सांग ने उस महान् उत्सव का वर्णन किया है, जिसका र पाँचवें साल हर्ष प्रयाग में गंगा और यमुना के संगम पर आयोजन करता था, जब पने **पूर्वजों की रीति के अनुसार**, वह पिछले पांच साल में एकत्र हुआ अपना सारा धन ान कर देता था। लेकिन हमें बताया गया है कि अवकाश प्राप्त विद्वानों, दूसरे धर्मों के कान्तवासी साधकों और लावारिस गरीबों को दान करने से पहले, वह बुद्ध की मूर्ति र सबसे कीमती हीरे-जवाहर चढ़ाता था और दूर-दूर से आये हुए बौद्ध भिक्षुओं को पहार देता था।[3] यह दान इतने बड़े पैमाने पर किया जाता था कि देश का सारा

---

[1] लाइफ, पृ. १५९, या. ट्रै. वा. II. १७१।

[2] इ. रे. त. १६३-६४।

[3] या. ट्रै. वा. I. ३६४।

अगर इसी अनुपात में पैदल सेना की संख्या में भी वृद्धि की गयी होती तो उसकी दस लाख के करीब होती। चन्द्रगुप्त मौर्य की फौज में भी, जिसका राज्य हर्ष के से कहीं बड़ा था, सिर्फ ३०,००० घुड़-सेना, ९,००० हाथी और ६,००,००० पैदल थी। ह्वेन-त्सांग का वक्तव्य निश्चय ही सन्देहास्पद है। घुड़-सेना को विशेष दिया जाता था, इसका संकेत बाणभट्ट ने भी किया है, क्योंकि उसने लिखा फारस, अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर प्रान्त से घोड़े खरीदकर लाये जाते थे, जो भी घोड़ों की अच्छी नस्ल के लिए प्रसिद्ध हैं।[1]

हर्ष ने युद्ध और शान्ति की कलाओं में समान रूप से अपने आपको अ शासक साबित किया था। वह कलम भी उतनी ही कुशलता से चला सकता था, जि कुशलता से तलवार। उसके लिखे तीन नाटक **रत्नावली, प्रियदर्शिका** और ना उपलब्ध हैं, जो इस शाही लेखक की सर्जनात्मक प्रतिभा के प्रमाण हैं। इन कृति उसे समकालीन और परवर्ती पीढ़ियों से श्रेष्ठ कवि के रूप में सम्मान और ख्याति हुई।[2] इसके अलावा, वह विद्या और ज्ञान का महान संरक्षक था, और बाणभट्ट, तथा अन्य कवि और साहित्यकार उसके दरबार की शोभा थे। ह्वेन-त्सांग ने का सामान्य विवरण देते हुए लिखा है कि साम्राज्य की आमदनी चार भागों में दी जाती है। एक भाग प्रशासन और सरकार द्वारा किये जाने वाले धार्मिक अनु पर खर्च किया जाता है। एक भाग श्रेष्ठ सार्वजनिक सेवाओं का प्रबन्ध करने के अनुदान के रूप में दिया जाता है, एक भाग श्रेष्ठ बौद्धिक उपलब्धियों को पु करने के लिए खर्च किया जाता है और एक भाग विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को योग्यताएं बढ़ाने के लिये अनुदान के रूप में बांटा जाता है।[3] अगर यह चित्र है सरकार का है जिस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं, तो इससे स्पष्ट सम्राट की ओर से विद्या और ज्ञान को संरक्षण प्राप्त था और इस बात की अन्य से भी पुष्टि होती है। 'ह्वेन-त्सांग की जीवनी' (लाइफ आफ ह्वेन-त्सांग एक कहानी है कि सौराष्ट्र से मगध में आकर बसने वाले जयसेन नाम के एक गृहस्थ की अपार विद्वत्ता और ज्ञान से हर्ष इतना प्रभावित हुआ कि उसने जयसेन उड़ीसा के अस्सी बड़े-बड़े कस्बों का राजस्व दान करने का प्रस्ताव किया। यह स्वीकार नहीं किया गया, लेकिन इससे सिद्ध होता है कि विद्वानों के प्रति हर्ष उदार था और उनका कितना ध्यान रखता था। हर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय

---

[1] बाण ने देखा कि हर्ष का अस्तबल राजा के मनपसन्द घोड़ों से भरा था। ये घोड़े वना कम्बोज, भरद्वाज, सिन्ध और फारस से लाये गये थे। (ह. च., पृ. ५०)

[2] हर्ष ने ये नाटक स्वयं लिखे थे या नहीं, इस बारे में सन्देह प्रकट किये गये हैं। डा. इसकी पूर्ण विवेचना की है (हि. क., पृ. १८५) तथा हर्ष की साहित्यिक कार्यवाहियों के सन्द किये हैं। (पृ. १८२) देखिये आगे परि. XV.

[3] या. ट्रै. वा. I. १७६।

[4] बील का अनुवाद, पृ. १५४।

हान संरक्षक था, जो उन दिनों सारे बौद्ध-जगत में विद्या का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण न्द्र था। ह्वेन-त्सांग से हमें ज्ञात होता है कि हर्ष ने नालन्दा में एक शानदार बौद्ध-वहार और कांसे का मन्दिर बनवाया था।[1] ई-त्सिंग का कहना है कि "शीलादित्य बड़ा ाहित्य-प्रेमी है" और यह कि उसने न सिर्फ बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा को पद्य द्ध किया है (अर्थात् नागानन्द) "बल्कि कलाकारों से नृत्य और अभिनय के साथ से मंचित भी करवाया है"।[2]

वाणभट्ट की आलंकारिक प्रशस्तियों और ह्वेन-त्सांग की अतिरंजनाओं को यान में रखें, तो भी उनके वर्णनों में इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हर्ष हमुखी प्रतिभा का शासक और शानदार व्यक्तित्व का आदमी था। यह स्वाभाविक कि ह्वेन-त्सांग ने हर्ष के धार्मिक विश्वासों और कार्यों का विस्तार से वर्णन किया । कोई भी व्यक्ति इस चीनी यात्री की विशालकाय पोथियों को पढ़कर और बौद्ध-र्म के प्रति उसके उत्साह को देखकर, जो धर्मान्धता की सीमा छू लेता है, हैरान रह ायेगा। बौद्धधर्म के प्रति उसमें इतनी अन्ध भक्ति थी कि वह आँखों के आगे अलौकिक टनाएँ भी घटती हुई बयान करता है। उसने भारत में हर चीज को बुद्धधर्म के चश्मे देखा और अन्य धर्मों से उसकी नैसर्गिक श्रेष्ठता को वह तर्क से परे की बात समझता ा। हर्ष के धार्मिक कार्यों के बारे में ऐसे व्यक्ति के विवरण को तनिक संकोच के साथ ी स्वीकार करना चाहिए। अगर हर्ष के उत्कीर्ण अभिलेखों एवं पुरालेखों के आधार पर निर्णय करें, जैसा अन्य लोगों के बारे में हमने किया है, तो हर्ष को एक निष्ठावान् और र्मप्राण शैव मानना चाहिए। उसकी राजकीय मुहरों में उसके तीन पूर्वजों को सूर्योपासक ौर उसके भाई को बौद्ध बताया गया है; और खुद उसको शैव मत का अनुयायी कहा या है। इस बात की पुष्टि उन दोनों अभिलेखों से भी होती है, जो हमें उपलब्ध हैं। सके बावजूद ह्वेन-त्सांग के विवरणों से मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि हर्ष न सर्फ बौद्ध धर्म का निष्ठावान् अनुयायी था, बल्कि वह जानबूझकर दूसरे धार्मिक म्प्रदायों का, जिनमें शैव भी आते हैं, अनादर करता था, मानो वे निम्नकोटि के धर्म ों। उदाहरण के लिए ह्वेन-त्सांग ने उस महान् उत्सव का वर्णन किया है, जिसका र पाँचवें साल हर्ष प्रयाग में गंगा और यमुना के संगम पर आयोजन करता था, जब पने **पूर्वजों की रीति के अनुसार**, वह पिछले पांच साल में एकत्र हुआ अपना सारा धन ान कर देता था। लेकिन हमें बताया गया है कि अवकाश प्राप्त विद्वानों, दूसरे धर्मों के कान्तवासी साधकों और लावारिस गरीबों को दान करने से पहले, वह बुद्ध की मूर्ति र सबसे कीमती हीरे-जवाहर चढ़ाता था और दूर-दूर से आये हुए बौद्ध भिक्षुओं को पहार देता था।[3] यह दान इतने बड़े पैमाने पर किया जाता था कि देश का सारा

---

१. लाइफ, पृ. १५९, या. ट्रै. वा. II. १७१।

२. इ. रे. त. १६३-६४।

३. या. ट्रै. वा. I. ३६४।

सार्वजनिक और व्यक्तिगत खजाना खाली हो जाता था, लेकिन दस दिनों के विभिन्न देशों के राजाओं द्वारा दिये गये उपहारों से खजाना फिर भर जाता विवरण ह्वेन-त्सांग के अन्य वक्तव्यों के अनुरूप ही है, और निःसन्देह अतिरंजना ही नहीं है, बल्कि सच्चाई को विकृत भी किया गया है ।

इससे भी ज्यादा विलक्षण विवरण कन्नौज में आयोजित हर्ष की धर्म है ।[1] जिसमें अपने प्रसिद्ध मेहमान के साथ भास्कर वर्मन् और करीब २० (या दूसरे राजाओं ने भाग लिया था । कन्नौज में सौ फुट ऊँची एक विशेष मीनार गई थी जिस पर राजा के कद की बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित की गयी थी । शानदार ढंग से सजे हुए हाथी पर रखी बुद्ध की एक छोटी प्रतिमा को सारे अपने घेरे में एक विशाल जलूस के साथ ले जाते थे । हाथी की बायीं तरफ के वेश में हर्ष हाथ में छत्र थामे रहता, और दायीं ओर ब्रह्मा के वेश में हुए भास्करवर्मन् चलता था । विशेष रूप से निर्माण की गई एक वेदी के कर हर्ष सबसे पहले इत्रों से सुगन्धित जल में बुद्ध की प्रतिमा को स्नान करा उसे स्वयं अपने कन्धे पर उठाकर मीनार के अन्दर ले जाता, जहाँ उस पर मोतियों और जवाहरों से टंकी दस्रियों सैकड़ों और हजारों रेशमी पोशाकें इस पूजन के बाद एक विशाल दावत होती । दावत के बाद सारे राजा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायी एक सभा में एकत्र होते और आम और गहन विषयों पर विचार विमर्श करते, फिर हर्ष राजसी शान-शौकत से में विश्राम के लिए लौट जाता । यह कार्यक्रम लगातार २१ दिनों तक चलता

कहना व्यर्थ है कि विचार-विमर्श के लिए बुलाई गई इस सभा में का व्यक्तित्व और दूसरों के मुकाबले में सबसे ऊँचा दिखाया गया है। इस सदस्यों का चयन हर्ष खुद करता था, और उसमें राजाओं और उनके दो सौ के अलावा १,००० प्रसिद्ध बौद्ध श्रमण और ५०० ब्राह्मण तथा अन्य धर्मों के होते थे। ह्वेन-त्सांग को "विचार-विर्मश का अध्यक्ष" नियुक्त किया गया, विषय चुनने के बाद उसने कहा कि जो कोई उसके तर्क में गलती निकाल देगा अपना सर भेंट कर देगा । पाँच दिनों तक उसको चुनौती देने का किसी ने साह किया । फिर हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों ने उसकी हत्या करने का षड्यन्त्र इस पर हर्ष ने एक फरमान जारी किया कि अगर कोई चीनी यात्री को "आघात या छूएगा भी" तो उसे फौरन मौत की सजा दी जायेगी । फिर उसने घोषणा की कोई उसके विरुद्ध बोलेगा, उसकी जबान काट ली जाएगी ।" इसमें फिर आ कोई बात नहीं कि इसके बाद "गलत मत के अनुयायी वहाँ से उठकर चले बहस में किसी ने हिस्सा नहीं लिया ।

---

१. वा. ट्रै. वा. I. २१८; लाइफ. १७७ ।

२. लाइफ में राजाओं की संख्या १८ बतायी गयी है

लेकिन ऐसा लगता है कि हत्या कन्नौज की धार्मिक सभा के वातावरण में मंडरा रही थी। हमें बताया गया है कि विधर्मियों में हर्ष के प्रति गहरा आक्रोश था और उन्होंने हर्ष की हत्या करने की योजना बनायी थी, क्योंकि यद्यपि "बौद्धों को तो भेंट-उपहार देते हुए उसने अपना खजाना खाली कर दिया था, लेकिन उन लोगों से सीधे मुँह बात भी नहीं की थी।" सभा के आखिरी दिन उस महान् मीनार में अचानक आग लग गयी और इससे जो अफरा-तफरी मची, उसके बीच एक विधर्मी छुरा लेकर हर्ष की ओर दौड़ा। वह आदमी पकड़ लिया गया और इसने कबूल किया कि उसे विधर्मियों ने धन देकर तैनात किया था और उन्होंने जानबूझकर मीनार में आग लगायी थी, ताकि अफरा-तफरी के बीच उसे सम्राट की हत्या करने का मौका मिल जाये। हर्ष ने पांच सौ ब्राह्मणों से, जो सभी बड़े विद्वान थे, पूछताछ की और उन्होंने कबूल किया कि इस षड्यन्त्र में उनका हाथ था और बताया कि उन्हें श्रमणों "से ईर्ष्या थी, जिनका सम्राट इतना आदर और सम्मान करता था।" सम्राट ने षड्यन्त्र के नेताओं को सजा दी और उन ५०० ब्राह्मणों को भारत सीमान्त प्रदेशों में निर्वासित कर दिया।

इस प्रकार कन्नौज की इस विचित्र सभा का समापन हुआ। सारे दृश्य पर ह्वेन-त्सांग का विशाल व्यक्तित्व छाया हुआ दीखता है, और उसके मुकाबले में हर्ष एक छोटा और दयनीय व्यक्ति नजर आता है। बौद्ध धर्म का कट्टर पक्षधर और अपने प्रसिद्ध मेहमान का अंध भक्त होने के कारण, हर्ष अपने राजकीय कर्त्तव्यों और उस धर्म के प्रति अपनी आस्था को भी भूल गया, जिसे सरकारी तौर पर उसने स्वीकार किया था और जिसे उसकी प्रजा के अधिकतर लोग मानते थे। ब्राह्मण-धर्म के एक देवता के वेश में राजा के बुद्ध की मूर्ति को लेकर चलने से निश्चय ही उन लाखों लोगों की धार्मिक भावनाओं को गहरी ठेस पहुँची होगी जो इस उत्सव को देखने के लिए राजधानी आये होंगे। इसके अलावा यह भी विचित्र बात है कि धार्मिक विषयों पर बहस करने के लिए कोई सभा बुलाई जाय, जिसमें ह्वेन-त्सांग प्रमुख वक्ता हो और फिर सार्वजनिक रूप से घोषणा कर दी जाये कि जो भी ह्वेन-त्सांग के विरुद्ध एक भी शब्द कहेगा, उसकी जबान काट ली जायेगी। स्पष्ट है कि इस सभा का परिणाम पूर्व निश्चित था—ह्वेन-त्सांग एकान्त में अध्यक्ष की कुर्सी सुशोभित करता रहा और बहस में भाग लेने के लिए किसी ने अन्दर कदम भी नहीं रखा। ह्वेन-त्सांग हमारे सामने अपने संरक्षक और नायक रूप की कुछ इस तरह की ही तस्वीर पेश करता है, लेकिन हम सन्देह कर सकते हैं कि हर्ष क्या सचमुच इतनी बड़ी मूर्खता कर सकता था।

ह्वेन-त्सांग के विवरण से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि बौद्ध धर्म के प्रति हर्ष में गहरी आस्था थी, और उसने चीनी यात्री की विद्वत्ता, धर्मनिष्ठा और भक्ति के कारण उसको बहुत सम्मानित किया था। लेकिन शायद इस बात को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देना होगा, अगर हम यह विश्वास करने लगें कि हर्ष ने अपना पुराना धर्म बाजाब्ता छोड़ दिया था और बौद्ध मत के प्रति उसका उत्साह और ह्वेन-त्सांग के प्रति उसकी श्रद्धा इतनी अधिक हो गई थी कि उसके कारण वह दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों

और उनके श्रद्धास्पद नेताओं का खुला अनादर नहीं तो उनकी उपेक्षा अवश्
करने लगा था।

VI. चीन से हर्ष के सम्बन्ध

ह्वेन-त्सांग से हर्ष की आत्मीयता का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकला।
ने चीनी सम्राट की शक्ति और प्रतिष्ठा का जो वर्णन किया, उससे हर्ष अवश्
प्रभावित हुआ और इस कारण उसने सन् ६४१ ई० में अपना राजदूत[1] चीनी
के दरबार में भेजा। मा-त्वान-लिन ने इसका निम्नलिखित विवरण सुरक्षित रखा है

"(सन् ६४१ ई० में) शीलादित्य ने मगध के राजा की उपाधि धारण की और
पत्र देकर सम्राट के पास अपना राजदूत भेजा। इसके बदले में, सम्राट ने
होआई-किंग को राजदूत के रूप में शाही पत्र देकर भेजा, जिसमें शीलादित्य को (
की प्रभुसत्ता स्वीकार करने का) निमंत्रण था। शीलादित्य आश्चर्यचकित रह गया।
उसने अपने पदाधिकारियों से पूछा कि क्या आदिकाल से लेकर आजतक कभी
चीनी राजदूत भारत आया था। "कभी नहीं", उन्होंने एक स्वर से उत्तर दिया।
पर राजा उठकर बाहर गया, सम्राट के फरमान को हाथ में लेकर घुटनों के वल
अपने सर पर रख लिया।"

एट्टिंगसन (Attinghausen) ने हर्ष के इस विनीत भाव से यह अनु
लगाया है कि हर्ष किसी बहुत बड़ी मुसीबत में फंस गया होगा और उसे चीन की
की सख्त जरूरत रही होगी। इस तरह का निष्कर्ष बिल्कुल अनावश्यक है।
वृत्तान्तकारों का हमेशा से यह रवैया रहा है कि वे किसी भी राजदूत द्वारा भेंट
गए उपहारों को अधीनस्थ राजाओं द्वारा दी गई खिराज के रूप में पेश करते हैं,
इसमें आश्चर्य नहीं कि हर्ष ने चीनी राजदूत के प्रति जो विनम्रता और सम्मान दिखा
था, उसको उन्होंने चीनी सम्राट की अधीनता स्वीकार करना समझा हो। यह विश्व
करना असम्भव है कि हर्ष सचमुच चीन जैसे सुदूर देश से किसी प्रकार की मदद
की आशा रखता हो, जिसके बारे में ह्वेन-त्सांग से भेंट होने से पहले उसकी जानक
नहीं के बराबर थी।

सन् ६४३ ई० के अन्तिम दिनों में ली-इ-पिआओ और वांग-हिउएन त्से के ने
में चीन से एक दूसरा दूत-मण्डल मगध पहुँचा। वे अपने साथ चीनी सम्राट के पास

---

[1] राजदूतों के विवरण के लिए देखिए एट्टिंगसन, हर्षवर्धन, पृ. ५४-५७; डा. पी.
बागची ने चीन के राजदूतों की गणना करते समय त्यांग-होअई-किंग के नेतृत्व में आने वाले दूत-
का उल्लेख नहीं किया है, और उन्होंने ली-ए-प्याओ के नेतृत्व में आने वाले दूत-मण्डल को पहला
माना है, जिसे चीनी सम्राट ने हर्ष के राजदूत के बदले में भेजा था। (इंडिया एंड चाइना, पृ. ८२)
दो चीनी राजदूतों के नाम ली-यी-पाओ और वांग-हिउआन-त्सो लिखा है और दूसरे राजदूत के
पहुँचने की तारीख सन् ६४७ ई० बतायी है। (सिनो-इंडियन स्टडीज, I, ६९)।

गये शीलादित्य का एक ब्राह्मण दूत भी लाये। उसे शायद ह्वेन-त्सांग से भेंट होने के तत्काल बाद ही हर्ष ने चीन भेजा होगा। यह दूत-मण्डल मगध के राजा के नाम (चीनी विवरणों में हर्ष को इस नाम से ही पुकारा जाता था) चीन के सम्राट का उत्तर लेकर आया था। इस दूत-मण्डल का भी उसी तरह सम्मानपूर्वक स्वागत सत्कार किया गया, जिस तरह पहले राजदूत का किया गया था।

अभी वांग-हिउएन त्से लौटकर चीन पहुँचा ही था कि उसे फिर हर्ष के दरबार में भेज दिया गया। यह तीसरा राजदूत शायद तब भेजा गया था जब चीनी सम्राट को भारतीय राजा के बारे में ह्वेन-त्सांग द्वारा दी गई विस्तृत विज्ञप्तियाँ या सन्देश प्राप्त हो गये थे। ह्वेन-त्सांग सन् ६४५ ई० में लौटकर चीन पहुँच गया था।

वांग हिउएन त्से ने सन् ६४६ ई० में भारत के लिए प्रस्थान किया। उसके साथ उसका सहकारी तस्यांग-चेउ जेन था। लेकिन जब ये लोग हिन्दुस्तान पहुँचे तो उस समय सम्राट का देहान्त हो चुका था। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सम्भवतः हर्षवर्धन की मृत्यु ६४७ के आरम्भ में या ६४६ के अन्तिम दिनों में हुई थी। उसकी मृत्यु की ठीक तारीख या उसकी परिस्थितियों और उसके बाद की घटनाओं के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है और किसी भी भारतीय अभिलेख से इस पर प्रकाश नहीं पड़ता।

हर्षवर्धन के किसी भी उत्तराधिकारी का पता नहीं चलता। उसके साथ ही विख्यात पुष्पभूति कुल और उस शक्तिशाली साम्राज्य का सदा के लिए अन्त हो गया, जिसका उसने अपने अपार जीवट और योग्यता से निर्माण किया था।

परिशिष्ट

राज्य-वर्धन की मृत्यु

राज्यवर्धन की मृत्यु के बारे में वाणभट्ट का विवरण,[1] जिसका सारांश पहले दिया जा चुका है, अस्पष्ट और अपूर्ण है, और एक पूर्वाग्रहयुक्त रचना के सारे दोष उसमें मिलते हैं। मिसाल के लिए उसने मालव या गौड़ के उन राजाओं के नाम तक का उल्लेख नहीं किया है, जिन्होंने थानेश्वर के राजवंश पर इतनी मुसीबतें ढायी थीं। गौड़ का राजा शशांक था, इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि ह्वेन-त्सांग ने लिखा है कि शशांक ने राज्यवर्धन की हत्या की थी। हर्षवर्धन के अभिलेखों में देवगुप्त तथा दूसरे राजाओं का उल्लेख है, जिन्हें राज्यवर्धन ने हराया था। चूंकि अपने स्वल्प राज्यकाल में राज्यवर्धन ने जिन राजाओं को हराया था, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मालव का ही राजा था, इसलिये यह अनुमान करना बिल्कुल संगत होगा कि हर्ष के अभिलेखों का देवगुप्त और मालव का राजा एक ही व्यक्ति के सूचक हैं।

---

[1] ह. च., पृ. १७७-७८, २२४, २५०।

[2] इस विषय पर अन्य मतों को जानने के लिए देखिए इ. हि. क्वा. XXXII ४३१; XXXIII, २३५।

बाण की कहानी के पहले भाग से यह ध्वनि निकलती है कि अकेले देवगुप्त ने ग्रहवर्मन् को हराया और मार डाला तथा राज्यश्री को कैद में कर लिया। लेकिन श्री की कैद के सम्बन्ध में "गौड़ उपद्रव" का एक अप्रासंगिक उल्लेख और दे की मृत्यु के फौरन बाद शशांक और राज्यवर्धन के बीच युद्ध का प्रसंग ऐसा जिसको समझना तब तक सम्भव नहीं है, जबतक हम यह न मान लें कि मौखरि विरुद्ध मालव और गौड़ में कोई गठबन्धन हुआ था।

इस गुट द्वारा कन्नौज-विजय के विवरण में अनेक बातें अस्पष्ट हैं। इस गु प्रारम्भिक चरणों के बारे में, जिसका अन्त ग्रहवर्मन् के लिए इतना विनाशकारी हुआ था, कोई ब्यौरा उपलब्ध नहीं है। साथ ही गुप्त नाम का वह सामन्त कौन जिसने राज्यश्री को कैद से छुड़ाया था, इसका भी कोई संकेत नहीं मिलता। न हमें बताया गया है कि राज्यश्री ने सुदूर विन्ध्याचल की पहाड़ियों में जाकर छिपने का नि क्यों किया, जबकि वह आसानी से अपने मायके थानेश्वर जा सकती थी।

इसके बाद की घटनाओं को भी समझना आसान नहीं है। इतने शक्तिश दुश्मनों के खिलाफ लड़ने के लिए राज्यवर्धन इतनी थोड़ी फौज लेकर ही क्यों आ अपने दोस्त शशांक को साथ लिए बिना ही देवगुप्त ने आगे बढ़कर राज्यवर्धन अकेले मुकाबला क्यों किया? क्या राज्यवर्धन को मालूम था कि शशांक की सेना में ही है और अगर मालूम था तो वह नई कुमक का इन्तजार किए बिना ही, अपनी ब खुची फौज को लेकर इस नये दुश्मन से लड़ने के लिए क्यों आगे बढ़ा?—इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना कठिन है।

ऐसी ही अनिश्चितता राज्यवर्धन की मृत्यु की कहानी के चारों ओर भी व्याप्त है बाण का कहना है शशांक राज्यवर्धन को फुसलाकर अपने घर ले गया और जिस स वह अकेला और निहत्था था, उस वक्त उसने धोके से उसकी हत्या कर दी। बाण ने यह नहीं बताया कि ये प्रलोभन किस प्रकार के थे कि राज्यवर्धन अपने संरक्षकों पीछे छोड़कर अपने दुश्मन के घर में अकेले जाने के लिए राजी हो गया था। बाण एक परवर्ती टीकाकार शंकर ने इन प्रलोभनों की व्याख्या करते हुए बताया है शशांक ने एक जासूस के जरिये राज्यवर्धन को अपनी बेटी ब्याहने का प्रस्ताव भेजा और इस फुसलावे में आकर जब अभागा राज्यवर्धन दुश्मन के शिविर में आयोजि दावत में हिस्सा ले रहा था कि गौड़ के राजा ने छद्मवेश में आकर उसकी हत्या कर दी अनर्गल होने के साथ ही यह व्याख्या बाण के इस स्पष्ट वक्तव्य से भिन्न है, जि उसने कहा है कि राज्यवर्धन की मृत्यु उस समय हुई थी, जब वह अपने दुश्मन के में अकेला और निहत्था था।

ह्वेन-त्सांग ने बिलकुल भिन्न कहानी पेश की है। उसने कहा कि शशांक अ मंत्रियों से राज्यवर्धन के सिलसिले में अक्सर कहा करता था कि अगर "सीमान्त रा का शासक नेक और गुणी हो, तो वह केन्द्रीय राज्य के दुर्भाग्य का कारण बन जाता है इस पर शशांक के मंत्रियों ने राज्यवर्धन को एक सभा में बुलाकर उसकी हत्या कर दी

एक और स्थान पर ह्वेन-त्सांग ने हर्ष के मंत्रियों के इस कथन का उद्धरण दिया है कि "अपने (राज्यवर्धन के) मंत्रियों की गलती के कारण, उसने अपने आपको दुश्मनों के हाथ में पड़ जाने दिया, और इससे राज्य को अपार क्षति पहुँची है, लेकिन इसमें आपके मंत्रियों का कसूर था।"

अन्तिम बात कि हर्षवर्धन के अभिलेखों में यह स्पष्ट कहा गया है कि अपने वचन को पूरा करने की खातिर राज्यवर्धन ने दुश्मन के घर में अपने प्राण दिये थे।

इन विभिन्न किस्म के विवरणों से ऐसा लगता है कि हालाँकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि शशांक ने ही राज्यवर्धन की हत्या की थी, लेकिन यह मानना न्यायोचित या संगत नहीं है कि विश्वासघात करके यह हत्या की गई थी। बाणभट्ट और ह्वेन-त्सांग दोनों के मन में शशांक के प्रति कटुता थी, यह उनकी रचनाओं से जाहिर है, इसलिए उन्होंने जो दोषारोपण किये हैं उन पर बहुत संयत दृष्टि से सोचना चाहिए। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि तत्कालीन तीनों विवरणों में, जिनमें राज्यवर्धन की हत्या का उल्लेख हुआ है, इस हत्या के कारणों या ब्यौरों के बारे में एकदम मौन साध रखा गया है। इस तथ्य पर जोर देना व्यर्थ है कि समकालीन लेखकों ने शशांक के विश्वासघात का उल्लेख किया है, क्योंकि शिवाजी और अफजल खान के प्रसंग में मुस्लिम और मराठा इतिवृत्तों में जो परस्पर विरोधी ब्यौरे मिलते हैं, उनसे यह बात रेखांकित हो जाती है कि समकालीन प्रमाणों पर, विशेषकर जब वे पक्षपातपूर्ण और पूर्वाग्रही स्रोतों से प्राप्त हों, निर्भर करना खतरनाक है। जो भी हो, जब तक प्रमाण उपलब्ध न हों, तब तक इस प्रश्न पर अपना निर्णय स्थगित रखना ही बेहतर होगा।[1]

सामान्य सन्दर्भ

१. समसामयिक साहित्यिक कृतियाँ
  - (क) बाणभट्ट—**हर्षचरित** (सन्दर्भ कॉवेल और टॉमस के अँगरेजी अनुवाद तथा पुस्तक के निर्णय सागर के संस्करण से दिये गये हैं)।
  - (ख) ह्विउएन-त्सांग का विवरण, बील (**बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दि वस्टर्न वर्ल्ड**) और वाटर्स (**ऑन युवान च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इंडिया**) द्वारा अनूदित।
  - (ग) **लाइफ आफ ह्विउएन त्सांग**, बील द्वारा अनूदित।

२. राजमुद्राएँ
  - (क) बंसखेरा कॉपर सील (कॉ. इ. इ. III. २३१)।
  - (ख) नालन्दा सील्स (ए. ह. XXI, ७४, मे. आ. स. इ., ६६, पृ. ६८)।

---

[1] इस प्रश्न के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए हि. ब. आर. पृ. ७१ प. पृ.; इ. हि. क्वा., XXIII. ५१।

३. अभिलेख
- (क) बंसखेरा कॉपर-प्लेट, डेटेड ईयर २२ (ए. इ. IV. २०८)।
- (ख) मधुबन कॉपर-प्लेट, डेटेड ईयर २५ (ए. इ., I. ६७)।

४. आधुनिक कृतियाँ
- (क) आर. मुकर्जी—**हर्ष**।
- (ख) एम. एल. एट्टिंघॉसेन—**हर्षवर्धन**।
- (ग) के. एम. पनिकर—**श्री हर्ष ऑफ कन्नौज**।
- (घ) आर. एस. त्रिपाठी—**हिस्टरी ऑफ कन्नौज** (अध्याय III-VIII)।

परिच्छेद : १०

सन् ६५०-७५० ई० के बीच का उत्तरी भारत

१. चीनी धावा

आमतौर पर यह सोचा जाता है कि हर्ष की मृत्यु के बाद सारा उत्तर भारत अराजकता और गड़बड़ी के दौर में फँस गया था। लेकिन हर्ष के साम्राज्य की सीमाओं के बारे में ऊपर जो कहा जा चुका है, उसे दृष्टि में रखकर इस अनुमान को काफी बदलना पड़ेगा। क्योंकि यह सोचने का कोई आधार नहीं है कि उसके साम्राज्य के बाहर उत्तर भारत में राज्यों की जो एक बड़ी संख्या थी, उन पर हर्ष की मृत्यु का कोई विशेष प्रभाव पड़ा होगा। सम्राज्य के विघटन से, निस्सन्देह, अनेक छोटी-छोटी स्वतंत्र रियासतें उठ खड़ी हुई होंगी और इस संक्रान्ति काल में निश्चय ही काफी झगड़े और उपद्रव पैदा हो गये होंगे, यहाँ तक सम्भव है कि सत्ता के प्रतिस्पर्धी दावेदारों के बीच युद्ध भी हुए हों। किसी भी भारतीय अभिलेख से इस काल की स्थिति पर प्रकाश नहीं पड़ता। लेकिन चीनी राजदूत वांग-ह्यू न-त्से के विवरण में, जो हर्ष की मृत्यु के फौरन बाद भारत पहुँचा था,[1] इस काल के इतिहास के कुछ विचित्र ब्यौरे सुरक्षित हैं। चीनी लेखकों की बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहने और आत्मप्रशंसा करने की आदत से यद्यपि हम परिचित हैं, पर इस विवरण में तो इस प्रवृत्ति ने पुराने सारे रिकार्ड तोड़ दिये हैं, जिससे यह विवरण गम्भीर इतिहास की बजाय रोमांस या परलोक की कहानी जैसा लगता है। संक्षेप में इसका साराँश इस प्रकार है :[2]

---

[1] देखिये पृ. १३७।

[2] इस विवरण के विभिन्न पाठ एस. लेवी ने ज. ए. १९००, पृ. २९७ प. पृ. में प्रस्तुत किये हैं। डॉ. पी. सी. वागची ("सिनो इंडियन स्टडीज, I. ६९) और इ. शव्हान्न ने ("दकुमां स्यु ल तुकीन ओसिदाँतो" की अतिरिक्त टिप्पणी, पृ. १६) इसका सारांश दिया है। गद्दी पर अवैध कब्जा कर लेने वाले का नाम ति-न-फु-ति बताया गया है, जिसे तीरभुक्ति का चीनी रूपान्तर समझा जाता है। इससे जाहिर है कि वह कोई स्थानीय राजा था, न कि सम्राट का उत्तराधिकारी। लेवी ने चा-पुआ-हो-लोकी शिनाख्त डवाक से की है (नौगांग जिला, देखिए, ऊपर पृ. ९) जो इसी दिशा में संकेत करता है। कीन-तो-वेई नदी को गंडवती के बराबर माना गया है जो सम्भवतः गंडकी का ही भिन्न रूप है। ऊपर दिए गए सारांश में, विभिन्न पाठों के ब्यौरों में जो भेद हैं, उनका उल्लेख नहीं किया गया। सारे प्रश्न पर आलोचनात्मक दृष्टि से J.A.S.L. XIX. ३७ प. पृ. में विचार किया गया है।

"चीनी दूत मण्डल के भारत में पहुँचने से पहले ही, हर्षवर्धन की मृत्यु हो गयी और उसके मंत्री अ–ल–न शुऐन (अर्जुन या अरुणाश्व ?) ने, जो तीरभुक्ति (?) राजा था, राजगद्दी पर अनधिकार कब्जा कर लिया था। इस अनधिकारी राजा ने चीनी राजदूत पर आक्रमण किया, जिसके पास कुल ३० अनुरक्षक घुड़सवार थे। वांग-हिउए त्से हार गया और भारतीय राजाओं ने भेंट के रूप में उसे जो कीमती वस्तुएं दी उनको लूट लिया गया। वह रात के अन्धेरे में अकेला भाग निकला और सहाय माँगने के लिए तिब्बत गया। तिब्बत के राजा स्रोङ-ब्त्सन स्गम-पो ने उसे चुने हु १२०० सैनिक और नेपाल के राजा अंशुवर्मन् ने उसे ७००० घुड़सवार सैनिक दिये इन सैनिकों को लेकर, बदला लेने के लिए कटिबद्ध वांग-ह्वेन-त्से ने बढ़कर मध्य भा की राजधानी चा-पुओ-हो-लो पर आक्रमण किया और तीन दिन के घेरे के बाद पर कब्जा कर लिया। भयंकर नर-संहार हुआ। हारे हुए नागरिकों में से तीन हजार सर काट लिए गये और दस हजार को नदी में डुबो दिया गया। अनधिकारी अर्जुन भा खड़ा हुआ। उसने फिर अपने तितर-बितर हो गये सैनिकों को जुटाकर मुकाबला किया उसे परास्त करके गिरफ्तार कर लिया गया और उसके एक हजार सैनिकों के सर का लिये गये। रनवास के संरक्षक-सैनिकों ने कीन–तो–वेई नदी तक दुश्मन को पहुं से रोका। उन्हें मार भगाया गया। अनधिकारी राजा की पत्नियाँ और बच्चे दुश्मन हाथ में आ गए, जिसने १२,००० कैदी और हर किस्म के ३०,००० पालतू जानवर हथिया लिये। इस पर सारा भारत थर-थर काँपने लगा और ५८० परकोटा वा नगरों ने आत्म-समर्पण करने की इच्छा प्रकट की। पूर्वी भारत के राजा कुमार (भास्क वर्मन्) ने विजेता को बड़ी तादाद में रसद और युद्ध सामग्री भेजी। इस महान वि के उपरान्त वांग-हिउएन-त्से सन् ६४८ ई० में चीन लौट गया और अपने साथ कैदी रूप में अनधिकारी राजा अर्जुन को भी ले गया, जो अपनी मृत्यु तक चीन में रहा अ जिसे मरने पर सम्मानित किया गया। चीनी सम्राट ता-ई-त्सोंग के मकबरे को जा वाले मार्ग पर उसकी मूर्ति स्थापित की गयी।

निश्चय ही यह एक महान् चमत्कार था। सिर्फ आठ हजार सैनिकों को ले जिन्हें पड़ोस के राजाओं से उधार लिया गया था, वांग-हिउएन-त्से ने अपने देश से इत दूर आकर, उस महान राजा को चुनौती दी, जो हर्ष की गद्दी पर बैठा था; उसने युद्ध लड़े और हरेक में बड़ी आसानी से पूर्ण विजय प्राप्त की, और करीब १३,० सैनिक कत्ल कर दिये और १२,००० कैद कर लिये और जिसका हिसाब नहीं दिया उनकी संख्या इससे अलग है। उसने दुश्मन की राजधानी पर सिर्फ तीन दिन की घे बंदी के बाद ही कब्जा कर लिया, और परकोटा (शहरपनाह) वाले ५८० नगरों उसके आगे आत्म समर्पण कर दिया, निश्चय ही डर के मारे, यद्यपि उसकी फौज मुख्यतः घुड़सवार दस्ते ही थे। और यह सब काम, यहाँ तक कि चीन को वापस लौट भी, कुल एक साल या कुछ अधिक के अन्दर ही पूरे हो गये। ऐसे चमत्कार आसानी और अक्सर, नहीं हुआ करते, और इस सारे मामले पर मन में सन्देह उठना उ

ही है। जो भी हो, उसने एक अजेय सूरमा के रूप में अपनी जो तस्वीर खींची है, उससे कोई निष्कर्ष निकालना असम्भव है। सम्भावना इस बात की लगती है कि हिमालय की तराई वाले क्षेत्र में वांग-हिउएन-त्से की पार्टी पर मामूली से किसी स्थानीय सामन्त ने हमला किया और उसे लूट लिया, और वांग ने कुछ नेपाली और तिब्बती सैनिकों की मदद से उस पर प्रत्याक्रमण किया। यह भी बिल्कुल सम्भव है कि हर्ष की मृत्यु के बाद राजनीतिक विघटन की प्रक्रिया चल पड़ी हो और किसी शक्तिशाली या वैध उत्तराधिकारी के अभाव में महत्त्वाकांक्षी सामन्तों और राजाओं में हर्ष के विशाल साम्राज्य पर कब्जा करने के लिए झगड़े शुरू हो गये हों। खुद वांग ने भी शायद किसी एक दावेदार का समर्थन किया हो और इस तरह अपने लिए दुश्मन पैदा कर लिए हों। किसी प्रकार की उत्तेजना के बिना यह कल्पना करना मुश्किल है कि हर्ष का एक मंत्री, जिसने गद्दी पर अनधिकार कब्जा कर लिया था, उसके कैम्प पर अचानक आक्रमण क्यों करता। हमले का कोई कारण नहीं बताया गया है और यह उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि यह वारदात उत्तरी बिहार की नेपाल-सीमा पर हुई थी, न कि कन्नौज के आसपास, जो हर्ष की राजधानी था। इसका भी कोई कारण नजर नहीं आता कि मरने के बाद भारतीय राजा को क्यों सम्मानित किया गया, जबकि वह चीनी राजदूत पर हमला करने का दोषी था। कुल मिलाकर, वांग हिउएन त्से की कहानी का ऐतिहासिक मूल्य नगण्य है, सिवा इसके कि उससे सूचित होता है कि हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तरी बिहार और पड़ोस के क्षेत्रों में अराजकता और गड़बड़ी फैली हुई थी। थानेश्वर और कन्नौज के राज्यों का क्या हुआ, हमें पता नहीं, लेकिन इस अनुमान का कोई आधार नहीं है कि हर्ष की मृत्यु के बाद सारे उत्तर भारत में राजनीतिक उथल-पुथल मच गयी थी।

हालाँकि हर्ष के साम्राज्य के विघटन का विस्तृत ब्यौरा पेश करना सम्भव नहीं है, पर यह स्पष्ट है कि उसके विभिन्न भागों में करीब दो या तीन शक्तिशाली राज्य उठ खड़े हुए थे। पहले हम उनके इतिहास की संक्षिप्त रूप-रेखा तैयार करेंगे, फिर उन राज्यों के इतिहास पर दृष्टि डालेंगे जो उसके साम्राज्य की सीमा से बाहर थे।

२. मगध के परवर्ती गुप्त

हर्ष के साम्राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तराधिकारी राज्य मगध था। हर्ष की मृत्यु के कुछ दिनों के बाद ही हम मगध पर "परवर्ती गुप्तों" को राज करते हुए पाते हैं। हर्ष के मित्र महासेन गुप्त का बेटा माधव गुप्त उस समय मगध का राजा था और इस खानदान के विवरणों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इसके बाद यह राजवंश मगध के शक्तिशाली राज्य पर करीब एक शताब्दी तक राज करता रहा। अफ्सड में मिला शिलालेख,[1] जो माधवसेन के बेटे आदित्यसेन के शासनकाल में उत्कीर्ण

---

[1] का. इ. इ. III. २०२।

हुआ था, इस वंश का सबसे पहला विवरण है, जिसमें आरम्भ से लेकर उस समय का उस वंश का इतिहास अंकित है। इसमें इस बात का उल्लेख नहीं है कि महा गुप्त के बाद इस वंश का राज खत्म हो गया था, हालाँकि यह निश्चित तथ्य है कि लम्बे अरसे तक, जब मालव पर देवगुप्त राज करने लगा था, मगध पर इस वंश आधिपत्य समाप्त हो गया था और उस अवधि में पहले शशांक, फिर पूर्णवर्मन् अन्त में हर्षवर्धन ने मगध पर राज किया था। इस बीच लगातार माधव गुप्त उसका बड़ा भाई कुमार गुप्त थानेश्वर के दरबार में राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के उनके अनुचर के रूप में, रहे थे। **हर्षचरित** में एक अप्रासंगिक उल्लेख है कि हर्षवर्धन कुमार का अभिषेक (राजा के रूप में) किया था।[1] इस कुमार की कामरूप के भास्कर वर्मन् के रूप में पहचान की गयी है। लेकिन चूंकि भास्कर वर्मन् एक स्वतन्त्र था और हर्ष वर्धन से पहले गद्दी पर बैठा था, इसलिए इस मत को स्वीकार नहीं किया सकता।[2] सम्भावना इस बात की है कि कुमार गुप्त को हर्ष ने एक स्वतन्त्र राजा के पर नियुक्त किया होगा। अगर यह अनुमान सही है तो हमें मानना चाहिए कि माधव अपने भाई का उत्तराधिकारी बना, यद्यपि अफ्सड के शिलालेख में इसका उल्लेख है। दूसरी ओर यह भी उतना ही सम्भव है कि हर्ष की मृत्यु के बाद जब सत्ता के आपाधापी मची तो उस समय माधव गुप्त या उसका भाई मौका पाकर मगध का बन गया हो। जैसा पहले लिखा जा चुका है,[3] उसके पूर्वज शायद पहले मगध के रहे थे, इसलिए माधव गुप्त ने एक प्रकार से अपने पूर्वजों के राज्य को ही फिर से कर लिया था।

गद्दी पर बैठने के समय माधव गुप्त की उम्र काफी अधिक रही होगी और उ राज्य काल भी शायद बहुत छोटा रहा हो। उसके बाद उसका बेटा आदित्यसेन पर बैठा। इस खानदान का सिर्फ यही एक राजा है, जिसके बारे में हमें कुछ ब्यौरे हैं। उसकी बेटी का विवाह मौखरी राजा भोगवर्मन् से हुआ था, जो नेपाल के अंशु वर्मन् की बहन का बेटा था। भोग वर्मन् की बेटी वत्सदेवी, जो आदित्यसेन दौहित्री थी, नेपाल के राजा शिवदेव की रानी बनी। नेपाल के सरकारी अभिलेख इन विवाह-सम्बन्धों का स्पष्ट उल्लेख यह सूचित करता है कि पूर्वी भारत के राजनी और सामाजिक जीवन में परवर्ती गुप्त राजाओं को ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इस तथ्य पुष्टि इस बात से भी होती है कि आदित्यसेन ने **महाराजाधिराज** की पदवी धारण थी। देवघर (संताल परगना) के एक मन्दिर पर उत्कीर्ण शिलालेख[4] में चोल दे उसकी विजय और उसके द्वारा किये गये कई यज्ञों का उल्लेख है, जिनमें ती अश्वमेध यज्ञ थे। इस शिलालेख के अक्षर बहुत बाद के हैं और लगता है कि वे आ

---

[1] हर्षचरित (निर्णय सागर) पृ. ९१।

[2] मकर्जी, हर्ष, पृ. ४४, त्रिपाठी, हि. क. १०४।

[3] देखिए पृ. ८६।

[4] का. इ. इ. III. पृ. २१३, पा. टि.।

में भागलपुर के नजदीक मन्दार पहाड़ी पर खोदे गये अभिलेख की नकल हैं। इस अभिलेख की प्रामाणिकता पर भरोसा करना कठिन है, और सिर्फ इसी अभिलेख के आधार पर यह मान लेना उचित नहीं होगा कि आदित्य सेन ने सचमुच चोल देश पर चढ़ाई की थी। दुर्भाग्य से उसके राज्य काल की और किसी विशेष घटना का विवरण अंकित नहीं है, सिवाय इसके कि उसकी पत्नी कोणदेवी ने कुछ मन्दिरों की नींव रखी थी।

आदित्यसेन के संक्षिप्त विवरण में उसकी तारीख ६६ पढ़ी गयी है,[1] जिसे हर्ष संवत् की तारीख से जोड़ा गया है। इस प्रकार वह सन् ६७२ ई० में राज कर रहा था। लेकिन तारीख का पाठ अनिश्चित है, और इससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह सातवीं सदी ई० के तीसरे चतुर्थांश में गद्दी पर वैठा था।

हमें आदित्यसेन के तीन उत्तराधिकारियों के नाम ज्ञात हैं, देव-गुप्त, विष्णु-गुप्त और जीवित-गुप्त।[2] वे सभी शाही पदवी धारण किये रहे और जाहिर है कि वे काफी शक्तिशाली शासक रहे, लेकिन हमें उनके बारे में अधिक मालूम नहीं है। विष्णु-गुप्त ने करीब १७ साल[3] तक राज किया था, और जीवित-गुप्त ने शायद अपने राज्य का विस्तार गोमती तट के उस क्षेत्र तक कर लिया था, जो पहले मौखरी राज्य का हिस्सा था।

जीवित-गुप्त के किसी भी उत्तराधिकारी का पता नहीं चलता और परवर्ती गुप्त वंश का अन्त कव और कैसे हुआ, यह भी अस्पष्ट है। कन्नौज के यशोवर्मन् ने जब आठवीं शती के दूसरे चतुर्थांश में पूर्व की ओर अपना विजय-अभियान शुरू किया, तो उसने गौड़ और मगध पर एक ही राजा को शासन करते हुए पाया।[4] यह सुझाव पेश किया गया है कि यह राजा और कोई नहीं वल्कि जीव वर्मन् है जिसकी यशोवर्मन् के हाथों हार और मृत्यु का वर्णन गौड़-वहो (गौड़ के राजा की हत्या) काव्य में हुआ है। लेकिन चूँकि इस काव्य में शासक को स्पष्ट शब्दों में गौड़पति कहा गया है और स्वयं काव्य का नाम गौड़-वहो है, अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि यशोवर्मन् का दुश्मन गौड़ का राजा था, जो मगध पर भी शासन करता था, न कि यह मगध का राजा, जोकि निस्सन्देह जीवित गुप्त था, जिसका आधिपत्य गौड़ तक व्याप्त था। हर सूरत में, हमें यह मानना चाहिए कि आठवीं शताब्दी ई० के दूसरे चतुर्थांश से पहले ही "परवर्ती गुप्तों की सत्ता का अन्त हो गया था, और उनके अन्तिम शासक जीवित गुप्त को या तो गौड़ के राजा ने परास्त किया था या कन्नौज के यशोवर्मन् ने।

---

[1] वही, २१०।

[2] वही, २१५।

[3] ई. इ. XXVI. २४१।

[4] यह वहुत सन्दिग्ध है। देखिए हि. ब. आर., पृ. ६४-६५

३. कन्नौज का यशोवर्मन्

हर्षवर्धन ने कन्नौज नगर को साम्राज्य की राजधानी की हैसियत दी थी। उसकी मृत्यु के बाद उसके इतिहास पर आधी शताब्दी तक एक अभेद्य कुहासा-सा हुआ नजर आता है। और जब यह कुहासा छँटता है तो हम कन्नौज की गद्दी शक्तिशाली राजा यशोवर्मन् को बैठा हुआ पाते हैं। इस राजा के प्रारम्भिक खानदान का हमें कुछ पता नहीं है, उसके प्रसिद्ध राजकवि वाक्पति ने अपने विजय-अभियानों का यशोगान करते हुए प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना जो इस राजा के जीवन और शासन-काल के बारे में हमारी जानकारी का मुख्य है। वाक्पति के काव्य का नाम "गौड़-वहो (गौड्वध)[1] है। इससे जाहिर है कि के राजा की हार और मृत्यु की कहानी ही इस कृति का मुख्य विषय है, लेकिन घटना के बारे में तो केवल काव्य के अन्त में संकेत मात्र किया गया है, बाकी यशोवर्मन् की अन्य विजयों का वर्णन है। इस काव्य में वर्णित तथ्यों को संक्षेप में प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

"वर्षाऋतु के समाप्त होने पर यशोवर्मन् अपनी सेना लेकर विजय यात्रा पर पड़ा। सोन नदी की घाटी से गुजर कर वह विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँचा और वहाँ विन्ध्यवासिनी देवी (काली का एक रूप) को प्रसन्न करने के लिए बलि चढ़ाई। बढ़ने पर उसका मुकाबला मगध के राजा से हुआ जो भयग्रस्त होकर भाग खड़ा लेकिन उसके साथ के सामन्त राजाओं को अपने आचरण पर शर्म आयी और यशोवर्मन् से लड़ने के लिये लौट पड़े। घमासान युद्ध हुआ और रणभूमि दुश्मनों रक्त से लाल हो गयी। यशोवर्मन् ने मगध के राजा का पीछा किया और उसका कत्ल कर दिया। इसके बाद यशोवर्मन् समुद्र तट की ओर बढ़ा और वंग के पर विजय प्राप्त की। वंग का राजा बड़ा शक्तिशाली था और उसके पास हाथियों की बड़ी संख्या थी, लेकिन उसने आत्मसमर्पण करके यशोवर्मन् की स्वीकर कर ली।

"विजयी सूरमा इसके बाद दक्षिणा-पथ के राजा का समर्पण स्वीकार करके पर्वत पार करता हुआ आगे बढ़ा। फिर वह समुद्र तट पर पहुँचा जहाँ रावण को अपनी बाँह में उठाये बाली बड़े आराम से घूमता था। इसके बाद ने पारसिकों पर धावा बोल दिया और एक लम्बे और भीषण युद्ध के बाद उनको कर दिया। उसने उन प्रदेशों पर खिराज बाँध दी, जिन्हें पश्चिमी घाटों ने दुर्गम रखा है। फिर वह नर्मदातट पर पहुँचा और समुद्र तट से होता हुआ मरु प्रदेश (पूताना) से गुजरा। वहाँ से वह श्रीकंठ गया, जो थानेश्वर के इर्द-गिर्द का जिला

---

[1] इस काव्य-ग्रन्थ का संपादन एस. पी. पंडित ने किया है, और अपनी विद्वत्तापूर्ण उन्होंने यशोवर्मन् के इतिहास का विवेचन किया है। मिस्टर एन. बी. उत्लीकर ने इस काव्य दूसरा संस्करण निकाला। उसमें भी बाद के मतों का विवेचन करते हुए विद्वत्तापूर्ण भूमिका दी

रुक्षेत्र से गुजरते हुए वह उन युद्ध-स्थलों पर गया जिनका वर्णन महाभारत में मिलता है। इसके बाद यशोवर्मन् अयोध्या गया। फिर मन्दर पर्वत के निवासियों का आत्मसमर्पण स्वीकार करके उसने हिमालय की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार दिग्विजय करके यशोवर्मन् अपनी राजधानी कन्नौज लौट आया, और न पराजित राजाओं को, जो उसके साथ चलने के लिए मजबूर किये गये थे, फिर पने-अपने राज्यों में भेज दिया।"

यह विचित्र बात है कि दिग्विजय के इस वर्णन में गौड़ के राजा का कहीं भी ल्लेख नहीं है, न उसके वध का ही जिक्र है, यद्यपि काव्यग्रन्थ का नाम 'गौड़-वहो' (गौड़वध) है। इस घटना का बड़े अप्रासंगिक रूप से काव्य के लगभग अन्त में, सिर्फ क ही श्लोक में, हवाला दिया गया है। एक पुराने टीकाकार हरिपाल के अनुसार शोवर्मन् ने मगध के जिस राजा को हराकर कत्ल कर दिया था, वही गौड़ का राजा ा। यह अधिक से अधिक केवल एक अनुमान है।[1] लेकिन इससे भी काव्य के शीर्षक का औचित्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इस घटना विशेष का वर्णन करने वाले श्लोकों की ख्या नगण्य है, दरअसल और किसी राजा के वारे में जितने श्लोक हैं, उनसे भी वे हुत कम हैं।

जैसा सारांश से जाहिर है, यशोवर्मन् की विजयों का वर्णन अत्यन्त रूढ़ ढंग का , और इस बात को ऐतिहासिक तथ्य मानना कठिन है कि उसने उत्तर और दक्षिण उन सभी क्षेत्रों को जीत लिया था, जिनका वर्णन इस काव्य में किया गया है। किन हमारे पास थोड़ा-सा स्वतंत्र प्रमाण भी मौजूद है, जो आमतौर पर पूर्वी इलाके उसकी विजय-गाथा की पुष्टि करता है। नालन्दा में प्राप्त एक अभिलेख[2] में शोवर्मन् को अधिराज कहा गया है, जिसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि मगध र उसका आधिपत्य था। इसलिए हम इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि उसने अपनी सेना लेकर वंगाल पर चढ़ाई की होगी और गौड़ के राजा को हराया होगा।

यशोवर्मन् की दक्षिण-विजय की कहानी ऊपर से देखने पर संभाव्य नहीं लगती। लेकिन शायद उसका कोई आधार हो। पुलकेशिन् द्वितीय के परपोते, चालुक्य राजा विजयादित्य के अभिलेखों में एक राजा से युद्ध होने का उल्लेख है। उस राजा का नाम नहीं दिया गया है, लेकिन उसका **"सकलोत्तरा-पथ-नाथ"** कहकर वर्णन किया गया है। यह युद्ध विनयादित्य के राजकाल में हुआ था, सम्भवतः उसके अन्तिम दिनों में सन् ६९५ ई० के लगभग। चालुक्य राजा ने दुश्मन को हरा दिया और गंगा और यमुना के प्रतीक, पालिध्वज और उसकी शाही शक्ति के अन्य राजचिह्न छीन लिए। गंगा और यमुना का हवाला शायद यह सूचित करता है कि युद्ध गंगा-यमुना के

---

[1] देखिए हि. व. रा., पृ. ९४-९५।

[2] ई. इ. XX. ३७ विभिन्न मतों और निष्कर्षों के लिए देखिए भंडारकर्स लिस्ट सं० २१०५ में दिये गये हवाले।

दोआब में हुआ था । युद्ध की तारीख और स्थान तथा पराजित राजा की सक **पथ-नाथ** उपाधि को ध्यान में रखते हुए, उसकी शिनाख्त यशोवर्मन् से करना नहीं है । चालुक्य अभिलेखों में युद्ध-विजय का जो व्यौरा दिया गया है, उसको सत्य मान लेना जरूरी नहीं है । क्योंकि यह विश्वास करने का अच्छा आधार है कि युवराज विजयादित्य किसी उत्तरी अभियान में दुश्मन द्वारा कैद कर लिया ग इस प्रकार हो सकता है कि दोनों ही पक्षों ने अपनी विजय का दावा कि और अगर उत्तरापथ-नाथ को यशोवर्मन् से अभिन्न मान लिया जाय तो ह दरबारी कवि द्वारा रची गयी यशोगाथा का कारण आसानी से समझ सकते हैं।

अब रही पश्चिम में उसकी विजय की बात, तो इसकी थोड़ी सी अस्पष्ट ही होती है । अब यह आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है कि यशोवर्मन् मध्य भारत के राजा इ-शा-फु-मो से अभिन्न है, जिसने अपने मंत्री, बौद्ध श्रमण सिन (बुद्धसेन) को सन् ७३१ ई० में चीन दरबार में भेजा था ।[2] काश्मीर ललितादित्य ने सन् ७३६ ई० में अपना राजदूत चीन भेजा था और शायद उस पत्र में यशोवर्मन् को अपना मित्र बताया था ।[3] यह अनुमान किया जा सकता इन दोनों राजाओं ने अरबों और तिब्बतियों के खिलाफ, जो भारत में घुसपैठ थे, चीन से मदद मांगी हो ।[4] अगर यह मत सही है तो हमें मानना पड़ेगा कि यशोर्वमन् ने अपनी सत्ता दूर दूर तक कायम कर ली थी । जैसा बाद में दिखाया अरबों ने सिन्ध जीत लेने के बाद कन्नौज के विरुद्ध सेना भेजी थी, जिसे कोई नहीं मिल सकी । यशोवर्मन् द्वारा पारसिकों की हार का संकेत शायद सिन्ध के विरुद्ध उसकी विजय से है ।

यद्यपि यशोवर्मन् ने ललितादित्य के साथ मिलकर विदेशी हमलावरों की रक्षा का उदात्त लक्ष्य अपनाया था, लेकिन दोनों शीघ्र ही एक दूसरे बन गये । दोनों की साम्राज्य स्थापना की प्रबल महत्त्वाकांक्षा ही शायद इस वास्तविक कारण थी, चाहे अन्य परिस्थितियों ने उसे बढ़ावा दिया हो । राज से ज्ञात होता है कि ललितादित्य और यशोवर्मन् में लम्बे अरसे तक रहा । पहले तो एक सन्धि के बाद युद्ध जल्दी ही बन्द हो गया, लेकिन जब बाज का मसौदा तैयार किया गया तो ललितादित्य के मन्त्री ने इस मसौदे पर

---

[1] इ. हि. क्वा. XX. १८३; ३५६-५७. इ. ए. IX, पृ. १२५ प. पृ.; १३० प.

[2] शव्हान्न (तुकीन, अडिश्नल नोट्स, पृ. ५३, पा. टि. २) और डॉ. पी. सी. बाग इंडियन स्टडीज, I. ७१) ने राजदूत का यह नाम दिया है, लेकिन अन्य विद्वानों ने उसका ना (संघभद्र) बताया है ।

[3] स्टाइन—'राजतरंगिणी' का अनुवाद, IV. १३४, टिप्पणी ।

[4] डॉ. बागची (पू. पु). का विचार है कि यशोवर्मन् ने चीनी सम्राट से अपील की वह काश्मीर से उसके झगड़े के बीच में हस्तक्षेप करे ।

[5] IV. १३२ प. पृ. ।

कट की, क्योंकि उसके शीर्षक 'यशोवर्मन् और ललितादित्य के बीच स्वीकृत शान्ति-न्धि' में यशोवर्मन् को प्राथमिकता दी गयी थी, न कि उसके अधिपति को। दोनों में एक भी अपनी बात से टलने को तैयार नहीं था, और यद्यपि ललितादित्य के नरल "युद्ध की लम्बी अवधि से उद्विग्न हो उठे थे, तो भी उसने फिर से युद्ध शुरू करा या। 'राजतरंगिणी' में युद्ध के परिणाम का निम्न श्लोकों में इस प्रकार वर्णन किया या है :[1]

"यशोवर्मन्, जिसका यश-कीर्त्तन कवि वाक्पति और विख्यात भवभूति किया रते थे, हारने के बाद खुद एक चारण की स्थिति में पहुँच गया जिसे उसका (ललितात्य का) गुणगान करना पड़ता था।

"और कहने की जरूरत क्या है? कान्यकुब्ज का राज्य यमुना के तट तक उसके धिपत्य में, उसके घर के आँगन की तरह, था!

'यशोवर्मन् से. . . गुजरते हुए उसकी सेना आराम से पूर्वी महासागर तक हुँच गयी।"

पहले दो श्लोकों से लगता है कि यशोवर्मन् पूरी तरह हार गया था और उसका ाज्य छिन गया था। तीसरे श्लोक से यह सूचित होता है कि यशोवर्मन् का ाम्राज्य पूर्वी महासागर तक फैला हुआ था और यह सारा इलाका यशोवर्मन् की राजय के परिणाम स्वरूप ललितादित्य के हाथ आ गया था। यशोवर्मन् हार तो गया ा, लेकिन यह सन्दिग्ध है कि उसका वध भी किया गया था। कल्हण ने अप्रासंगिक प से कहा है कि ललितादित्य ने यशोवर्मन् को "जड़ से उखाड़ फेंका।"[2] लेकिन सका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि उसका वध किया गया था। उसका वध हुआ ो या नहीं, लेकिन ललितादित्य ने उसकी शक्ति और सत्ता पूरी तरह नष्ट कर दी ौर वह इतिहास के मंच से गायब हो गया।

यशोवर्मन् की तारीख का निश्चित पता नहीं है, लेकिन हम सन् ७०० और ७४० ई०[3] वीच उसके राज्य काल का अनुमान कर सकते हैं। अगर, जैसा ऊपर सुझाया या है, उसकी शिनाख्त उस **उत्तरापथ-नाथ** के रूप में की जा सके, जिसे चालुक्य राजा वनयादित्य ने हराया था, तो उसके गद्दी पर वैठने की तारीख सन् ६९० ई० के आस-ास मानी जा सकती है।

---

[1] IV. १४४-४६।

[2] IV. १४०।

[3] इस विषय पर अन्य मतों का विवेचन **गौड़-वहो** (द्वितीय संस्करण) की भूमिका में किया या है।

४. काश्मीर

प्राचीन भारत के राज्यों में सिर्फ़ काश्मीर ही ऐसा राज्य है जिसके पास काल से लेकर अपना लिखित इतिहास मौजूद है। यह कृति, जिसका नाम राजत हैं, ईसा की बारहवीं शताब्दी में कल्हण ने लिखी थी। हालाँकि कल्हण को इ लेखन के तरीकों का पूरा ज्ञान था और उसका दृष्टिकोण भी आश्चर्यजनक आधुनिक था, लेकिन उसके पास अपने इतिहास के प्रारम्भिक काल के बारे में विश्वसनीय सामग्री नहीं थी। नतीजा यह है कि उसकी कृति का यह भाग इ की जगह पौराणिक आख्यानों और किम्वदन्तियों से भरा पड़ा है, और यद्य वहाँ कनिष्क, तोरमाण और मिहिरकुल जैसे ऐतिहासिक नाम भी मिलते हैं, सारी कहानी इतनी अस्पष्ट और काल्पनिक है कि उसे गम्भीर इतिहास नहीं मा सकता। कल्हण ने तिथिक्रम की जो विधि अपनायी है, उसके हिसाब से गुप्त की सारी अवधि गोनन्द-वंश का एक अकेला राजा ही घेर लेता है, जिसके कहा गया है कि उसने ३०० वर्षों तक राज किया था। एक ही राजा के इतने राज्यकाल की बात स्पष्ट है कि इस बीच का वास्तविक इतिहास उपलब्ध न अगले दो भाइयों के राज्यकालों की — जो ८० वर्ष तक चले — प्रामाणिक सन्दिग्ध है।

लेकिन इसके बाद के इतिहास का विस्तृत वर्णन, जो एक नये राजवंश होता है, काफी प्रामाणिक समझा जा सकता है। इस राजवंश की शासन-अव जो कालानुक्रम अपनाया गया है, उसमें सिर्फ ३० साल की ही गलती साबित अगर हम स्मरण रखें कि यह घटनाएँ लेखक से करीब पाँच सौ साल पहले की यह गलती आश्चर्यजनक रूप से मामूली लगती है और उसके वर्णन की प्रामा को काफी हद तक बढ़ा देती है।

इस नये राजवंश की, जो कारकोट या नागवंश के नाम से प्रसिद्ध है, दुर्लभवर्धन ने की थी। उसने गोनन्द-वंश के अन्तिम राजा बालादित्य की से विवाह किया था, और चूँकि बालादित्य का कोई बेटा नहीं था, इसलिए दुर्ल (सन् ६२७ ई० में) उसके बाद गद्दी पर बैठा। उसके ही राज्य काल में ह्वे काश्मीर पहुँचा था। चीनी यात्री ने काश्मीर का लम्बा विवरण लिखा है, उसमें ऐतिहासिक महत्त्व के तथ्य बहुत कम हैं। बहरहाल, उसके द्वारा हमें ज्ञात है कि पाँच दूसरे राज्य, अर्थात तक्षशिला (जिला रावलपिंडी), सिंहपुर (न पहाड़ों का क्षेत्र), उरशा (हजारा या एबटाबाद जिला), पुन–नु–त्सो (पुंछ) राजपुर (रजौरी) भी काश्मीर के अधीन थे। इसलिए हम कह सकते हैं कि दुर्ल न सिर्फ काश्मीर पर ही बल्कि पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी पंजाब के भी कुछ पर राज करता था।

दुर्लभवर्धन और उसके बेटे तथा उत्तराधिकारी दुर्लभक के बारे में हमें ऐतिहासिक महत्त्व का और कोई तथ्य मालूम नहीं है। इन्होंने क्रमशः ३६ और ५० वर्षों तक राज किया था।

दुर्लभक के बाद उसका बड़ा बेटा चन्द्रापीड गद्दी पर बैठा। सन् ७१३ ई० में इस राजा ने चीन के सम्राट के पास अपना राजदूत भेजकर उससे अरबों के खिलाफ मदद मांगी थी। जैसा आगे जिक्र किया गया (§१२) इसी तारीख के लगभग मुहम्मद-इब्न-कासिम काश्मीर की सीमाओं तक पहुँच गया था। हालाँकि चन्द्रापीड को चीन से कोई सहायता नहीं मिली, लेकिन वह अरब आक्रमण के विरुद्ध अपने राज्य की हिफ़ाजत करने में सफल हुआ था। अरब नेता के वापस बुलाये जाने और उसके बाद जल्द ही मर जाने से काश्मीर को चैन की साँस लेने का थोड़ा समय मिल गया। चीनी इति-वृत्तों के अनुसार चीनी सम्राट ने सन् ७२० ई० में चन्द्रापीड को राजा की पदवी दी थी। इसका शायद यही अर्थ हो सकता है कि चीनी सम्राट ने चन्द्रापीड को राजा मान लिया था।

राजा चन्द्रापीड अपनी धर्मनिष्ठा और न्यायशीलता के लिए प्रसिद्ध है। कल्हण ने लिखा है कि राजा ने जब एक मन्दिर बनवाने का निश्चय किया तो एक चर्मकार ने अपनी झोंपड़ी छोड़ने से इन्कार कर दिया, जो मन्दिर के प्रस्तावित स्थान पर थी। जब राजा को इस बात की सूचना दी गयी तो उसने अपने अफसरों को ही दोषी ठहराया न कि चर्मकार को। वह चिल्लाया मन्दिर का निर्माण बंद कर दो या किसी और स्थान पर बनाओ।" चर्मकार स्वयं राजा के पास गया और उसने निवेदन किया, "जन्म से ही यह झोंपड़ी मेरे लिए एक मां की तरह रही है, जो मेरे अच्छे और बुरे दिनों की साक्षी है। आज मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि इसे ढाह दिया जाय।" फिर भी वह इस शर्त पर अपनी झोंपड़ी छोड़ने के लिए राजी हो गया, "अगर महाराज मेरी झोंपड़ी में आकर मुझसे कायदे के अनुसार माँगें।" यह सुनते ही राजा चर्मकार की झोंपडी में गया और उसे खरीद लिया। इस राजा का शासन-काल इस प्रकार के न्याय और मानवीय करुणा के कृत्यों से भरा हुआ था, और कहा जा सकता है कि वह अपनी ही न्याय भावना का शहीद बना था। उसने एक बार एक ऐसे ब्राह्मण को सजा दी, जिसने जादू टोना करके एक दूसरे ब्राह्मण की हत्या की थी। यह ब्राह्मण इस सजा के विरुद्ध अपने मन में गहरे रोष की भावना पालता रहा, और राजा के छोटे भाई तारापीड के उकसाने पर उसने चन्द्रापीड के विरुद्ध जादू टोने का प्रयोग किया। इस प्रकार कुल साढ़े-आठ साल राज करने के बाद ही इस शानदार और उदात्तमना राजा की मृत्यु हो गयी। तब अपने भाई का कातिल तारापीड काश्मीर की गद्दी पर बैठा। उसके शासन काल के चार साल क्रूर और रक्त-रंजित कृत्यों से भरे थे। उसके बाद उसका छोटा भाई ललितादित्य मुक्तापीड गद्दी पर बैठा, जो इस राजवंश का सबसे महान् राजा था।

ललितादित्य सन् ७२४ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा था। उसे "नये-नये की विजय करने का बड़ा चाव था और उसने अपना जीवन मुख्यत: सैनिक अभि में ही बिताया था।" जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है, उसने यशोवर्मन् के साथ बन्धन किया था और तिब्बतियों को हराया था। यशोवर्मन् की तरह और शायद मिलते-जुलते कारणों से ही, उसने भी सन् ७३३ ई० में चीनी सम्राट के पास दूत मण्डल भेजकर उससे तिब्बत के विरुद्ध मिलकर लड़ने का आग्रह किया था।[1] सम्राट ने दूत-मण्डल का सम्मानपूर्वक स्वागत किया और काश्मीर के राजा को मित्र स्वीकारा[2] लेकिन उसे चीन से कोई भी फौजी मदद नहीं भेजी गयी। वह इस मदद के बिना भी ललितादित्य न सिर्फ तिब्बतियों को हराने में कामयाब बल्कि उसने अपने राज्य की उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसने वाले कम्बोज और तुर्क जैसे पहाड़ी कबीलों को भी हराया।

लेकिन ललितादित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियान यशोवर्मन् के विरुद्ध जिसका हवाला पहले दिया जा चुका है। इस जीत के फलस्वरूप ललितादित्य न कन्नौज का स्वामी बना, बल्कि मान्यता की दृष्टि से अपने दुश्मन के जीते हुए क्षेत्रों का भी अधिराज बन गया। कल्हण के अनुसार इस अधिकार को कारगर व्यवहारत: मनवाने के लिए ललितादित्य ने दिग्विजय के लिए कूच किया, जिसका विस्तार से वर्णन किया है। यशोवर्मन् को हराने के बाद, वह पूर्वी महासागर और बढ़ा और कलिंग तक जा पहुँचा। गौड़ के राजा ने शायद बिना लड़े ही अधीनता स्वीकार कर ली थी, क्योंकि उसने ललितादित्य की सेना में लड़ने के अपने हाथी भेजे थे। कर्णाट से गुजरते हुए, जिसकी रानी रट्टा ने उसको श्रद्धा अर्पित की थी, ललितादित्य कावेरी के तट पर पहुँचा और वहाँ उसने कुछ द्वीपों को जीत लिया। पश्चिम की ओर मुड़कर उसने सप्त-कोंकणों को रौंद डाला और द्वा तक जा पहुँचा (काठियावाड प्रायद्वीप के पश्चिमी छोर पर); फिर वह अवन्ति अनेक दूसरे राज्यों को जीतता हुआ उत्तर पश्चिम के पहाड़ी प्रदेशों तक गया। उसने काम्बोज, तुखार (तुर्क) भोट्ट (तिब्बती), दरद प्रदेशों और मम्मुनि नाम के राजा को हराया। प्राग्ज्योतिष, स्त्री-राज्य और उत्तर कुरु आदि का भी उल्लेख है वास्तविक नाम न होकर रूढ़ एवं पौराणिक नाम हैं।

यह कहना मुश्किल है कि इस रूढ़ि-सम्मत विवरण को किस हद तक ऐतिहा दृष्टि से सही माना जाए। अपनी विजय-यात्रा के दौरान ललितादित्य पूर्व में बंगाल गया था, इसकी पुष्टि तो उस कहानी से, जो कल्हण ने आगे चलकर कही है, और

---

[1] १. देखिए शव्हान्न (तुकीन, पृ. १६६-६८, २०९); डा. पी. सी. बागची के अनुसार सन् ७ में चीन और काश्मीर के बीच राजकीय पत्र-व्यवहार हुआ है। (सीनो-इंडियन स्टडीज. I. ७१) इसका हवाला ललितादित्य के राज्यकाल से है।

[2] २. चीन के सरकारी इतिहास में कहा गया है: "सम्राट ने मुक्तापीड को काश्मीर के रा उपाधि प्रदान की।" (वही)।

से बुद्ध की प्रतिमा लाने की बात के अप्रासंगिक उल्लेख से हो जाती है। लेकिन इस तथ्य की पुष्टि करने वाले प्रमाणों के अभाव में यह विश्वास करना कठिन है कि उसने दक्षिणापथ या दक्षिण भारत पर भी विजय प्राप्त की थी। यह सम्भव है कि मम्मुनि, जिसे कहा जाता है कि उसने तीन बार हराया था, कोई अरब शासक रहा हो। जैसा आगे चलकर बताया जाएगा कहा जाता है कि अरब काश्मीर की सीमा तक पहुँच गये थे और उन्होंने कांगड़ा पर कब्जा कर लिया था। इसलिए अधिक सम्भावना इस बात की है कि ललितादित्य ने उनका मुकाबला इस क्षेत्र में ही किया होगा। यह तथ्य, कि इस क्षेत्र में अरबों को एक भी स्थायी सफलता नहीं मिल सकी, सिद्ध करता है कि ललितादित्य ने उन्हें पूरी तरह हरा दिया था और पंजाब को उनकी लूटमार से मुक्त कर दिया था। काम्बोज, तुर्क, दरद और तिब्बतियों पर, जो काश्मीर राज्य के चारों ओर फैले हैं, ललितादित्य की प्रसिद्ध विजयों का विवरण भी काफी हद तक सही कहा जा सकता है। फिर भी निश्चित रूप से कोई दावा नहीं किया जा सकता।

यद्यपि पुष्टि करने वाले प्रमाण अप्राप्य हैं, और हमें ललितादित्य के विजय-अभियानों के स्वरूप और विस्तार के बारे में अपना निर्णय स्थगित रखना पड़ेगा, लेकिन ऐसा कोई उचित कारण नहीं है कि इस सारी बात को एक काल्पनिक कहानी मान लिया जाए। स्मरण रहे कि यहाँ हमारे सामने रूढ़िसम्मत ढंग से वर्णित एक काव्य-मात्र नहीं है, बल्कि एक ऐसे इतिहासकार द्वारा प्रस्तुत किया गया तथ्यों का वक्तव्य है कि जिसके निर्णय की गम्भीरता और ऐतिहासिक सत्य के प्रति जागरूकता स्वयं कृति से प्रमाणित है। एक दरबारी इतिहासकार में एक हद तक पक्षपात और घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर व्यक्त करने की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए और यह जानते हुए भी कि कल्हण जिन घटनाओं के बारे में लिख रहा था, वे उसके समय से चार शताब्दियाँ पहले घटित हुई थीं और उनकी पूरी जानकारी उसे उपलब्ध नहीं थी, हम ललितादित्य को एक महान् विजेता से कम नहीं मान सकते। उसकी विजयों ने काश्मीर राज्य को, गुप्त सम्राटों के दिनों के बाद, कम से कम तत्काल के लिए भारत का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य बना दिया था। इसलिए आश्चर्य नहीं कि काश्मीरी लोग कई शताब्दियों तक अपने महान् सम्राट की विजयों का उत्सव मनाते रहे, जिसे वे अतिरंजना में विश्व-सम्राट कहना पसन्द करते थे।

ललितादित्य ने अपने शक्तिशाली साम्राज्य के अपार साधनों का अपने देश को सुन्दर नगरों से सुशोभित करने और नगरों को सुन्दर इमारतों, मठों, मन्दिरों और देवमूर्तियों से सजाने के लिए उपयोग किया। उसका बनवाया मार्तण्ड का मन्दिर इनमें सबसे प्रसिद्ध है, जिसके अवशेष आज भी काश्मीर की प्राचीन वास्तुकला के सर्वश्रेष्ठ नमूने हैं।

राजतरंगिणी के लेखक कल्हण ने इस प्रसिद्ध राजा का भव्य चित्र खींचा है। लेकिन दो घटनाएँ इस महान् सम्राट के चरित्र पर अमिट धब्बा लगाती हैं। एक बार शराब के नशे में धुत होकर उसने प्रवरपुर नाम के नगर को आग लगाकर खाक कर देने का

हुक्म दिया था, यद्यपि नशा उतरते ही उसे इस बात पर पश्चात्ताप हुआ और जानकर खुशी हुई कि उसके मंत्रियों ने उसके आदेश का पालन नहीं किया था। घटना अधिक वीभत्स है, उसने गौड़ (बंगाल) के राजा को काश्मीर आने निमंत्रण भेजा और वादा किया कि वह उसकी सुरक्षा का जिम्मा लेगा, और विष्णु परिहासकेशव की मूर्ति को अपने वादे का जामिन बनाया। इसके उसने गौड़ के राजा का ज़र ख़रीद गुण्डों से कत्ल करवा दिया। इस जघन्य विश्वा घात का कारण खोजना जितना मुश्किल है, उतना ही इसको माफ करना भी मुश्कि है। इस कहानी का परिणाम बेहद दिलचस्प है। कत्ल किए हुए राजा के कुछ स्वामिभ अनुयायी बंगाल से चलकर काश्मीर पहुँचे और उन्होंने उस मंदिर को घेर लिया, जि देवता को जामिन बनाया गया था। पुजारियों ने मंदिर के द्वार बन्द कर दिये, लेकि उन्होंने जबर्दस्ती दरवाजे खोल लिए। बंगाली वीर अन्दर घुसकर विष्णु रामस्वा की मूर्ति के पास पहुँचे और गलती से उसे परिहासकेशव की मूर्ति समझकर उन्हों उसे गिराकर चूर-चूर कर दिया। इस पर काश्मीरी सैनिकों ने, जो उसी स राजधानी से घटनास्थल पर पहुँचे थे, उन बंगाली वीरों को काटकर टुकड़े-टुकड़े दिया। कल्हण ने बंगालियों के इस छोटे से, लेकिन धुन के पक्के, दल की वीरता उचित श्रद्धांजलि अर्पित की है। "कितनी लम्बी यात्रा पूरी करनी पड़ी थी, और स्वामी के प्रति कितनी गहरी भक्ति थी? स्वयं स्रष्टा भी वह काम नहीं कर स था, जो गौडों ने उस अवसर पर करके दिखा दिया। रामस्वामी का मंदिर आज खाली पड़ा है, जबकि गौड़वीरों की कीर्ति सारे संसार में व्याप्त है।"

३६ वर्षों तक राज करने के बाद सन् ७६० ई०[1] में ललितादित्य की मृत्यु गयी। उसके बाद कई कमजोर राजा गद्दी पर बैठे, जो इस वंश की सत्ता प्रतिष्ठा को कायम रखने में सर्वथा असमर्थ रहे। इनमें से, लगता है, उसके जयापीड ने, एक बार खोयी हुई प्रभुता को फिर से पाने की गम्भीर कोशिश की लेकिन उसे विशेष सफलता नहीं मिली। फिर भी यह राजवंश नवीं शताब्दी के म तक काश्मीर पर राज करता रहा।

५. नेपाल

सन् ६२३ ई० में अंशुवर्मन् की मृत्यु के बाद नेपाल में एक अरसे तक अराजक फैली रही। चार अभिलेखों से पता चलता है कि ४८ और ५९ (सन् ६२६

---

[1] **राजतरंगिणी** में दिए गए तथ्यों के अनुसार ललितादित्य ने सन् ६९५ से ७३२ ई. तक किया था। लेकिन चीनी प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए कनिंघम ने सुझाव दिया कि कल्हण ने इस के राजाओं की जो तारीखें दी हैं, उन्हें २५ से ३१ साल आगे करके मानना चाहिए। अब यह मत आम पर स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रश्न पर एस. पी. पंडित ने विस्तार से विचार किया है, और उन मान्यता है कि कल्हण की तारीखें सही हैं। (देखिए, **गौड़-वहो**, उनके द्वारा सम्पादित संस्करण भूमिका)।

६३७ ई० के बीच जिष्णु गुप्त, जो अंशुवर्मन् के पद का उत्तराधिकारी बना, सारे नेपाल पर शासन करता रहा था। नाम के अन्तिमांश से लगता है कि वह शायद अंशुवर्मन् से सम्बन्धित नहीं था, हालांकि दोनों ने एक ही संवत् का प्रयोग किया है और दोनों एक ही भवन अर्थात् कैलाशकूट भवन में रहते थे। लेवी ने जिष्णु गुप्त को किशनू गुप्त से अभिन्न माना है, जो तीन आभीर सरदारों में से एक था, जिसका उल्लेख वंशावली[1] में हुआ है। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि जिष्णु गुप्त ने इस पद पर अनधिकृत कब्जा किया था। अंशुवर्मन् के एक अभिलेख में, जिसकी तारीख ३९ है, युवराज उदयदेव का उल्लेख है। गद्दी का यह वारिस शायद लिच्छवि खान्दान का था। लेकिन या तो वह अंशुवर्मन् से पहले ही मर गया या फिर जिष्णु गुप्त ने उसे गद्दी से हटा दिया। जिष्णु गुप्त ने अपने नाम के सिक्के चलाये, लेकिन उसने मानगृह में लिच्छवियों की गद्दी पर पहले ध्रुवदेव और फिर भीमार्जुनदेव को बैठाकार लिच्छवियों के अधिराजत्व का मिथ्याडम्बर बनाये रखा।

जिष्णुगुप्त के बाद उसका बेटा विष्णुगुप्त गद्दी पर बैठा, हालाँकि लिच्छवि भीमार्जुनदेव के अधिराज होने का धोखा फिर भी दिया जाता रहा। विष्णु गुप्त की ज्ञात तारीखें ६४ और ६५ (सन् ६४२-४३ ई०) हैं, और लगता है कि उसे जल्द ही गद्दी से उतार दिया गया होगा। क्योंकि हम देखते हैं कि सन् ६४३ ई० में नेपाल की गद्दी पर लिच्छवि खानदान का नरेन्द्रदेव बैठ चुका था। नेपाल के इतिवृत्तों में उसका प्रमुख स्थान है, क्योंकि नेपाल की घाटी के संरक्षक संत मत्स्येन्द्रनाथ के साथ उसका नाम अन्तरंग रूप से जुड़ा हुआ है। चीनी स्रोतों से हमें उसके बारे में कुछ दिलचस्प सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनका कहना है कि नरेन्द्रनाथ के पिता को उसके छोटे भाई ने गद्दी से उतार दिया था, नरेन्द्रदेव भागकर तिब्बत चला गया, और फिर तिब्वत के राजा की मदद से उसने अपने बाप की गद्दी फिर से प्राप्त कर ली। इसके परिणामस्वरूप वह तिब्वत के राजा के अधीन एक सामन्त बन गया।[2]

नरेन्द्रदेव के राज्य-काल में ही सबसे पहले, सन् ६४३ ई० या उससे कुछ बाद में,[3] एक चीनी दूत-मंडल नेपाल आया। राजा ने चीनी राजदूत ली-प्याओ और उसके दल का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। फिर यह दूत-मंडल हर्षवर्धन के दरबार में

---

[1] नेपाल II. १५७ प. पृ.।

[2] देखिए 'हिस्टरी आफ दि तांग डाइनेस्टी' में नेपाल का विवरण। चे-किया-फान-चे का लेखक भी, जिसका संकलन सन् ६५० ई. में किया गया था, कहता है कि नेपाल वास्तव में तिब्बत के अधीन राज्य था (ज. ए. १८९४, भाग II, पृ. ६४-६५ प. पृ.)।

[3] नेपाल II, १६४। अन्यत्र (वही, I. १५६) लेवी का कहना है कि नरेन्द्रदेव ने चीनी दूत-मंडल का सन् ६४३ ई० में या तो मगध जाते हुए या मगध से लौटते हुए स्वागत किया था। लेवी का यह वक्तव्य कि सन् ६४३ ई० में नरेन्द्रदेव गद्दी पर बैठ चुका था उसके इस मत के विपरीत है कि सन् ६४५ ई० में जिष्णुगुप्त के उत्तराधिकारी को गद्दी से उतार कर वैध राजवंश के राजा नरेन्द्रदेव ने पुनः गद्दी प्राप्त कर ली (नेपाल II. १६२)।

पहुँचने के लिए नेपाल से चल पड़ा। सन् ६४७-६४८ ई० में वांग हिउएन त्से स्मरणीय दूत-मंडल भी नेपाल से होकर गुजरा था और फिर चीनी राजदूत ने जल्द लौटकर उस भारतीय राजा के विरुद्ध, जिसने हर्ष की गद्दी पर अनधिकार कब्जा लिया था और चीनी राजदूत के साथ दुर्व्यवहार किया था, नेपाल की सहायता मां थी। इस घटना का पहले ही विस्तार से वर्णन किया जा चुका है।[1] नरेन्द्रदेव चीनी राजदूत को ७,००० घुड़-सवार सेना देकर मदद की, और उसके राज्यकाल में के साथ लगातार मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बने रहे। उसके वक्त में चीनी यात्री बड़ी संख्या नेपाल आये और उसने सन् ६५१ ई० में चीनी सम्राट के दरबार में अपना राज भेजा। चीनी वृत्तान्त में नेपाल को सम्राट के अधीन एक शान्तिप्रिय, सभ्य औ समृद्ध देश बनाया गया है।[2]

अंशुवर्मन् के परवर्ती काल का जो विवरण **वंशावलियों** में दिया गया है, व पुरालेखों में दिए गए विवरण से इतना भिन्न है कि दोनों में संगति बैठाना एक असम्भव है। पशुपति मन्दिर के शिलालेख में कहा गया है कि नरेन्द्रदेव के बा उसका बेटा शिवदेव और उसके बाद शिवदेव का बेटा जयदेव गद्दी पर बैठा था इसी अभिलेख से हमें पता चलता है कि शिवदेव की रानी वत्सदेवी मौखरी रा भोगवर्मन् की बेटी और मगध के राजा आदित्यसेन की दौहित्री (बेटी की बेटी) थी यह भोगवर्मन् अंशुवर्मन् की बहन का बेटा था, और चूँकि नरेन्द्रदेव अंशुवर्मन् क मृत्यु के २५ वर्षों के भीतर राज्य का शासक बन गया था, अतः शिवदेव और वत्सदे का विवाह न केवल कालानुक्रम की योजना में फिट बैठ जाता है, बल्कि इसे गद्दी परस्पर विरोधी दावेदारों के बीच एक राजनीतिक समझौते के रूप में भी देखा सकता है। नरेन्द्रदेव ने ३० वर्षों की लम्बी अवधि तक राज किया था और उस ज्ञात तिथियाँ ६९ से १०३ (सन् ६४७ से ६८१ ई०) तक हैं। १०९ (सन् ६८ ई०) से पहले ही उसका देहान्त हो गया होगा, जो उसके बेटे और उत्तराधिका शिवदेव की, जिसने कम से कम १२५ (सन् ७०३ ई०) तक राज किया था, सब पहली ज्ञात तिथि है। शिवदेव के बेटे और उत्तराधिकारी जयदेव की सिर्फ एक तारीख ज्ञात है—१५९ (अर्थात् सन् ७३७ ई०)।

इस प्रकार आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में नेपाल पर लिच्छवि वंश के दो राजा शिवदेव और जयदेव, ने राज किया। इस काल में तिब्बत के राजा सचमुच ब शक्तिशाली थे और इसमें सन्देह नहीं कि नेपाल पर उनका प्रभुत्व स्वीकार कि जाता था, लेकिन सम्भवतः वे राज्य के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करते थे शिवदेव के एक अनुदान-पत्र में, जिसकी तारीख ६१९ वर्ष (अर्थात् सन् ६९७ ई है, तिब्बत को दी जानेवाली भोट्ट-विष्टि या कौर्वी (बेगारी) का उल्लेख कि गया है।[3]

---

[1] देखिए पृ. १४१ प. पृ.।

[2] चीनी दूत-मंडलों का विवरण जानने के लिए देखिए, नेपाल I, १५५ प. पृ.।

[3] नेपाल, II. १७३ प. पृ.।

जयदेव ने गौड़, ओड्र, कलिंग, कोसल तथा अन्य देशों के राजा श्री हर्षदेव की बेटी राज्यमती से विवाह किया। श्री हर्षदेव भागदत्त की वंश-परम्परा में पैदा हुआ था। इस राजा हर्ष की अभी तक ठीक-ठीक शिनाख्त नहीं की जा सकी है। भागदत्त के वंश के हवाले से लगता है कि उसका सम्बन्ध आसाम से था, लेकिन यह निश्चित नहीं है।[1]

जयदेव ने **पर-चक्र-काम** (दुश्मनों के राज्यों की इच्छा रखने वाला) की उपाधि धारण की थी। पशुपति मन्दिर के अभिलेख का एक श्लोक ऐसा है जिसके दो अर्थ निकलते हैं, एक अर्थ में राजा के व्यक्तिगत सौन्दर्य का वर्णन है, और दूसरे में यह ध्वनि है कि राजा ने या तो अंग, कामरूप, काँची, और सौराष्ट्र को जीत लिया था या उन पर उसका आधिपत्य स्वीकार किया जाता था। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस दूसरे अर्थ को ऐतिहासिक तथ्य मान लिया है,[2] लेकिन इसको केवल कविसुलभ अतिरंजना मानना ही बेहतर होगा।

हम जिस काल का सिंहावलोकन कर रहे हैं, वह एक प्रकार से जयदेव के शासन-काल के अन्त तक चलता है। लेकिन यहाँ पर संक्षेप में नेपाल की सभ्यता और संस्कृति का उल्लेख कर देना उचित होगा। ह्वेन-त्सांग[3] ने यहाँ के लोगों के बारे में लिखा है कि उनका व्यवहार कृत्रिम और विश्वासघाती है, और उनका स्वभाव कठोर और खूंखार है, जिसमें सत्य या मर्यादा का कोई लिहाज नहीं है। फिर उसने आगे कहा है कि ये लोग अशिक्षित हैं, लेकिन कलाओं में निपुण हैं और देखने में उनकी शक्ल-सूरत कुरूप और भद्दी है। यह वर्णन उन पहाड़ी कबीलों पर ज्यादा लागू होता है, जो नेपाल के साधारण निवासी थे। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ की आबादी में एक सुसंस्कृत और सभ्य वर्ग भी था। इसका प्रमाण वहाँ पर बड़ी संख्या में पाये गये उन अभिलेखों में मिलता है, जो चौथी या पाँचवीं और आठवीं शती के बीच के हैं। उनसे साफ जाहिर है कि भाषा, साहित्य, कला, धर्म और सामाजिक विचारों की दृष्टि से नेपाल भारत का अभिन्न अंग था और उसकी संस्कृति से पूरी तरह शराबोर था। भारत के साथ उसके राजनीतिक और सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त गहरे और निकट के थे और उसके अन्दर तब तक तटस्थता की उस भावना का विकास नहीं हुआ था, जो बाद के कालों में उसकी विशेषता बन गयी। वह ब्राह्मण और बौद्ध, इन दोनों धर्मों का शक्तिशाली केन्द्र था और भाग्य के विचित्र उलटफेरों के बावजूद आज भी प्राचीन भारतीय संस्कृति के चिह्न सुरक्षित हैं।

---

१. हि. व. आर. ८५। गिलगित में भागदत्त परिवार के राज्य के बारे में देखिए—ई. इ. XXX. २२७।

२. हि. ना. इ. ३०१ में डॉ. बसाक। लेकिन लेवी का विचार है कि यह श्लोक केवल कवि-सुलभ अतिशयोक्ति है। (नेपाल II. १७०) इन्द्रजी भी इस श्लोक को कोई राजनीतिक महत्व नहीं देते।

३. हि. त्सा. बी., II, ८०-८१.

६. कामरूप

भास्करवर्मन् के गद्दी पर बैठने तक कामरूप के इतिहास की रूपरेखा हम प्रस्तुत कर चुके हैं।[1] ईसा की चौथी शताब्दी से जो राजवंश कामरूप पर लगा शासन करता आया था, भास्करवर्मन् उस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा है। हम चुके हैं कि उसने किस प्रकार हर्षवर्धन से राजनयिक गठबंधन किया था। इसका का शायद यह था कि शशाँक की शक्ति बढ़ रही थी, जो दोनों का सामान्य दुश्मन था बाणभट्ट ने उसके राजदूत हंसवेग से जो शब्द कहलवाये हैं, उनसे इस मत की पु होती है। हंसवेग ने अपने स्वामी के बारे में कहा कि उसका यह 'दृढ़ निश्चय है कि किसी व्यक्ति के आगे मस्तक नहीं झुकायेगा', भगवान शिव के अलावा। और महत्त्वाकाँक्षा की पूर्ति का एक साधन था, हर्ष से दोस्ती गाँठना। हर्ष ने भी भास्कर वर्मन् द्वारा प्रस्तावित 'अक्षय मैत्री' को स्वीकार करते हुए कहा, "मित्र के रूप में मुझ प्राप्त करके भगवान शिव के अलावा उसे किसी और के आगे मस्तक झुकाने की ज़रू क्या है ?[2] ये वक्तव्य जाहिर करते हैं कि भास्कर वर्मन् को डर था कि कोई राजा पर अपना प्रभुत्व न जमा ले, और उसने इस विषम स्थिति से बचने के लिए हर्ष दोस्ती की थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके मन में ऐसा डर पैदा करनेवाला शा केवल शशांक ही हो सकता था।

इस दोस्ती के व्यावहारिक परिणाम क्या निकले, इसके बारे में कुछ भी नहीं है। हर्ष के सैनिक अभियानों में विशेषकर शशांक के विरुद्ध, भास्करवर्मन् ने सैनिक सहायता दी थी या नहीं, हम नहीं कह सकते। लेकिन ऐसा लगता है कि अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में सफल रहा था, अर्थात् उसके राज्य को शशांक किसी और से कोई क्षति नहीं पहुँची थी। सम्भवतः शशांक की मृत्यु के वाद उसे दोस्ती से कुछ और भी लाभ प्राप्त हुए हों, क्योंकि भास्करवर्मन् का, कम से कुछ सालों के लिए, बंगाल के एक बड़े हिस्से पर कब्जा हो गया था। ह्वेन-त्सां विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जिन दिनों ह्वेन-त्सांग नालन्दा में ठहरा हुआ था, भास्करवर्मन् ने विश्ववि के कुलपति शीलभद्र के पास अपना दूत इस प्रार्थना के साथ भेजा कि वह चीन महान् श्रमण को उसके यहाँ भेज दें। शीलभद्र ने इस प्रार्थना को एक बार टाल दि यहाँ तक कि दूसरी बार भी उस पर ध्यान नहीं दिया। भास्करवर्मन् ने इस पर होकर शीलभद्र को धमकी दी कि अगर चीनी श्रमण को फौरन नहीं भेजा गया वह अपनी सेना और हाथियों से लैस होकर आयेगा और नालन्दा विश्वविद्यालय रौंदकर धूल में मिला देगा। धमकी का आकांक्षित प्रभाव पड़ा। ह्वेन-त्सांग काम

---

[1] देखिए पृ. १००-१०५।

[2] हर्ष चरित, अनुवादक कॉवेल ऐंड टॉमस, पृ. २१७।

गया और वहाँ एक महीने तक ठहरा। अब हर्षवर्धन के क्रुद्ध होने की बारी थी, क्योंकि उसने भी चीनी श्रमण से मिलना चाहा था, लेकिन उसकी प्रार्थना की उपेक्षा की गयी थी। उसने भास्करवर्मन् के पास दूत भेजा और "उसे आदेश दिया कि वह चीन के श्रमण को तुरन्त भेज दे।" भास्करवर्मन् ने उत्तर दिया, "वह मेरा सर ले सकता है, लेकिन चीनी श्रमण को नहीं ले सकता।" हर्ष को बड़ा गुस्सा आया और उसने एक संक्षिप्त संदेश भेजा, "सर भेज दो, ताकि मेरा दूत उसे लेकर फौरन मेरे पास पहुँच जाये।" भास्करवर्मन् बेहद घबरा गया और उसने अपने २०,००० हाथियों और जहाजी बेड़े को, जिसमें ३०,००० नौकाएँ थीं, फौरन लैस हो जाने का आदेश दिया। फिर वह ह्वेन-त्सांग के साथ नाव में बैठकर गंगा के मार्ग से कजंगल पहुँचा जहाँ हर्ष ठहरा हुआ था। इस विनय भाव से हर्ष प्रसन्न हो गया और दोनों में फिर मेल हो गया। भास्करवर्मन् भी हर्ष के साथ उस महान् उत्सव में भाग लेने के लिए गया, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। उसने प्रयाग में होने वाली छठी पञ्चवर्षीय धार्मिक उत्सव सभा में भी भाग लिया।[1]

ह्वेन-त्सांग ने हर्षवर्धन और भास्करवर्मन् के बीच जिस विचित्र झगड़े का उल्लेख किया है, वह सच है तो हमें मानना होगा कि दोनों राजाओं के पारस्परिक सम्बन्धों में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था। अब यह बराबर की दोस्ती नहीं थी बल्कि कुछ ऐसे किस्म की दोस्ती थी जो एक शक्तिशाली, उद्धत राजा और उसके किसी कमजोर पड़ोसी के बीच में होती है। लेकिन न तो इस कहानी से और न इस तथ्य से कि भास्करवर्मन् ने हर्ष के धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लिया था, यह निष्कर्ष निकलता है कि भास्करवर्मन् हर्षवर्धन का सामन्त था, या किसी भी रूप में उसकी राजनीतिक अधीनता स्वीकार करता था। अपनी और अपने पुराने दोस्त की शक्ति और प्रतिष्ठा में इतने बड़े फर्क को ध्यान में रखते हुए, भास्करवर्मन् ने निस्सन्देह सोचा होगा कि अप्रसन्न करने वाला कोई काम न करके उसे हर्ष को खुश रखना चाहिए, लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि किसी भी सीमा तक वह अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता खो बैठा था या कि हर्ष उस पर अपने प्रभुत्व का दावा कर सकता था।[2]

इसके विपरीत ह्वेन-त्सांग की कहानी से यह अर्थ निकलता है कि बंगाल पर भास्कर वर्मन् का कुछ हद तक राजनीतिक प्रभुत्व था। अगर ऐसा न होता तो उसकी इस धमकी का अर्थ समझना मुश्किल हो जाता कि वह फौज भेजकर नालन्दा को खाक में मिला देगा, या कि उसने अपना बेड़ा और फौज लेकर गंगा के मार्ग से यात्रा क्यों की थी। इस मत की इस बात से भी पुष्टि होती है कि उसने शशांक की पुरानी राजधानी कर्ण-सुवर्ण में स्थित अपनी विजयी सेना के शिविर से एक भूमि-अनुदान-पत्र

---

[1] लाइफ, १७१-७२।

[2] प्रो. इ. हि. का., VI. ४८।

जारी किया था।[1] इस अनुदान-पत्र पर कोई तारीख नहीं है और यह तर्क जा सकता है कि हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद ही बंगाल उसके कब्जे में आया था। चूँकि और सारे तथ्य हर्ष के जीवन-काल से सम्बन्धित हैं, इसलिए, यह अधिक है कि हर्ष की मृत्यु से पहले ही भास्करवर्मन् ने बंगाल पर कब्जा कर लिया शायद शशांक के साम्राज्य का दो हिस्सों में बंटवारा किया गया था, जिसके पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और कंगोद हर्ष के हिस्से में आये थे और बाकी भास्करवर्मन् के हिस्से में। लेकिन इस स्वल्प जानकारी के आधार पर कोई नि मत प्रकट नहीं किया जा सकता।

इसके बाद वांग हिउएन त्से के विचित्र अभियान के सिलसिले में हमें फिर भा वर्मन् का नाम सुनायी देता है।[2] वांग जब उस मंत्री की शक्ति को पूरी तरह कर चुका, जिसने अनधिकृत रूप से हर्ष की गद्दी पर कब्जा कर लिया था, तब भा वर्मन् ने उसके पास भारी तादाद में रसद और फ़ौजी सामान भेजा था। हर्ष की के बाद जो विचित्र राजनीतिक घटनाएँ घटी थीं, उनमें कामरूप के राजा का भी हाथ था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तिब्बत के राजा ब्सन-स्गम-पो ने, जिसे वांग-हिउएन त्से के अभियान ने भारतीय राजनीति में लिया था, कहा जाता है कि आसाम जीत लिया था।[3] इसमें सत्य का कुछ अंश हो है, जैसा कि हम प्राप्त अभिलेखों से निर्णय कर पाते हैं, क्योंकि तीन सौ ज्यादा समय तक कामरूप पर राज करने के बाद भास्करवर्मन् के साथ ही पुष्य के वंश का अन्त हो गया, और कामरूप के राज्य पर शालस्तंभ नाम के किसी राजा का अधिकार हो गया।[4] यह असम्भव नहीं है कि पुराने राजवंश का तिब्बती आक्रमण के कारण हुआ हो, यद्यपि इस बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता। हमें शालस्तम्भ के दो एक उत्तराधिकारियों के नाम तो मा लेकिन उनके इतिहास का कुछ पता नहीं है। इस राजवंश के एक राजा की, जि और हर्षवर्मन् दोनों नामों से पुकारा जाता था, भागदत्त-वंश के राजा हर्षदेव के शिनाख्त की गयी है, जिसका नेपाल के अभिलेख में जिक्र है कि वह (जयदेव की

---

[1] ई. इ. XII. ६५।

[2] देखिए पृ. १४२।

[3] लेवी, नेपाल, II. १४८।

[4] रतनपाल के बरगांव में प्राप्त ताम्र-पत्र के V. ९ (ज. ए. सो. ब. १८९८ पृ. ९९) की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि शालस्तम्भ किसी दूसरे राजवंश का था। वनमाल (ज. ए IX. ७६६) और बलवर्मन् (ज. ए. सो. ब. १८९७, पृ. २८५) के ताम्रपत्रों के आधार पर यह किया गया है कि शालस्तम्भ भी नरक और भागदत्त के वंश का था (का. शा. १९; इ. हि. क्वा. पृ. ८४४) लेकिन पहले के V.७ और दूसरे के V.९ ताम्रपत्रों में क्रमशः प्रालम्भी और शालस्तम्भ का हवाला दिया गया है, न कि यह कि खुद शालस्तम्भ नरक का वंशज था। पहले ताम्रपत्र का यह है कि शालस्तम्भ से लेकर हर्ष तक के राजाओं का वंश प्रालम्भ से भिन्न था। (देखिए डा. हि I. २४१-४२)।

राज्यमती का पिता था और गौड़, उड्र, कलिंग, कोसल तथा अन्य देशों का राजा था।[1] यह शिनाख्त तब तक सन्देहजनक बनी रहेगी, जबतक इस हरीश या हर्ष की इन सफलताओं के बारे में स्वतंत्र प्रमाण नहीं मिल जाते। भारत में और भी राज-वंश भागदत्त से अपनी वंश-परम्परा का आरम्भ मानते थे,[2] और यह सन्दिग्ध है कि हर्ष इस पदवी का सचमुच हकदार था।[3] कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि भास्करवर्मन् की मृत्यु के बाद की शताब्दी को कामरूप के इतिहास में अन्धकार-युग समझना चाहिए।

७. बंगाल

शशांक की मृत्यु के बाद की शताब्दी के बंगाल का इतिहास अत्यन्त अस्पष्ट है। फिर भी, यह निश्चित है कि उस महान् राजा (शशांक) ने जो राजनीतिक एकता स्थापित की थी, वह इस शताब्दी में बंगाल ने खो दी और वह अनेक स्वतन्त्र राज्यों में बंट गया। शशांक की मृत्यु के कुछ ही समय बाद, सन् ६३८ ई० में बंगाल की यात्रा करते हुए ह्वेन-त्सांग ने ऐसे पाँच राज्यों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं, कंजगल, पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण, ताम्रलिप्ति और समतट।[4] पहले राज्य में राजमहल के गिर्द का इलाका था, दूसरे में उत्तर बंगाल, तीसरे-चौथे में पश्चिमी बंगाल और पाँचवें में पूर्वी बंगाल के क्षेत्र थे।

मंजुश्री मूलकल्प में भी शशांक के बाद बंगाल के राजनीतिक विघटन की ओर संकेत किया गया है। उसमें गौड़ तन्त्र, अर्थात् गौड़देश की राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ परस्पर अविश्वास का बोलबाला है, और गृह-युद्ध छिड़ गया है, जिसके दौरान एक राजा ने सप्ताह भर राज़ किया, तो दूसरे ने महीना भर और फिर एक गणतंत्र की स्थापना की गयी। इसके बाद शशांक के बेटे ने गद्दी पर कब्जा कर लिया, लेकिन वह सिर्फ आठ महीनों तक ही राज कर पाया।[5] यह अराजकता और अनिश्चितता या तो हर्ष और भास्करवर्मन् के आक्रमणों का कारण थी या परिणाम, जिन्होंने, बंगाल के विभिन्न हिस्सों पर एक समय तक राज किया था, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं।

शीघ्र ही गौड़ या पश्चिमी बंगाल में जंयनाग ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली। उसने शशांक की राजधानी और बाद में भास्करवर्मन् द्वारा शासित कर्णसुवर्ण से

---

[1] इ ऐ., IX. १७९; ज. रा. ए. सी., १८९८, पृ. ३८४-८५; डा. हि. ना. इ. I. २४१. ऊपर देखिए, पृ. १५७।

[2] उदाहरण के लिए उड़ीसा का कर-वंश। चित्राल पर भी भागदत्त वंश के हीं एक परिवार का राज था (इ. हि. क्वा. XIV. ८४१; भा. वि. IV. १११)।

[3] देखिए, पृ० १६० की पादटिप्पणी सं. २।

[4] हि. त्सा. बी., II. १९३; या. ट्रै. वा. II, १८२।

[5] इ. हि. इ. जा. ५१।

एक भूमि-अनुदान-पत्र जारी किया था।[1] जयनाग की तारीख निश्चित रूप से नहीं है, लेकिन वह भास्करवर्मन् की मृत्यु के कुछ दिनों बाद ही हुआ होगा। उसने उस राजा के जुए से कर्ण-सुवर्ण और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्र को मुक्त होगा। जयनाग ने **महाराजाधिराज** की पदवी धारण की थी, और अपने सिक्के जारी किये थे, जिससे जाहिर हैं कि वह एक शक्तिशाली राजा था अधिकार दूर-दूर तक माना जाता था, लेकिन उसके राज्य का क्षेत्र कहाँ तक था, यह निश्चित करना कठिन है।

हम नहीं जानते कि जयनाग का उत्तराधिकारी कौन था या उसकी मृत्यु के गौड़ के राज्य का क्या हुआ। कुछ लोगों का मत है कि उसका राज्य परवर्ती शासकों[3] के हाथ में चला गया था, लेकिन इसका हमारे पास कोई नहीं है।

वंग या पूर्वी बंगाल के बारे में हमें कुछ अधिक सूचनाएँ प्राप्त हैं। ह्वेन के अनुसार ईसा की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस क्षेत्र पर ब्राह्मण राजा करते थे, और शीलभद्र, जो नालन्दा विश्वविद्यालय का कुलपति था, इस कुल सदस्य था।[4] इस राजवंश को एक बौद्ध परिवार ने पदच्युत कर गद्दी अपने कर ली थी। उसके चार राजाओं के नाम हमें ज्ञात हैं—खड्गोद्यम, जात देवखड्ग और राजराजभट। इनमें से हरेक अपने पूर्ववर्ती का बेटा था। इ-त्सि समतट के जिस राजा राजभट का उल्लेख किया है, उसकी शिनाख्त निश्चय ही वंश के राजराजभट से की जा सकती है। यह भी बिल्कुल सम्भव है कि इस ने पूर्वी भारत के जिस राजा देववर्मा का जिक्र किया है, वह दरअसल खड्ग राजा देवखड्ग ही हो। इस तथा अन्य प्रमाणों से सूचित होता है कि सातवीं के उत्तरार्ध में इस खड्गवंश का पूर्वी बंगाल और दक्षिणी और मध्य बंगाल के काफी हिस्सों पर राज था।[5]

ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बंगाल को कई विदेशी आक्रमणों का करना पड़ा। शैलवंश के एक राजा ने उत्तरी बंगाल पर कब्जा कर लिया। में यह राजवंश हिमालय के क्षेत्र में राज करता था। बाद में इसने पूर्व और की दिशा में फैलना शुरू किया और काशी, विन्ध्यप्रदेश और उत्तर बंगाल में शाखाएँ स्थापित हो गयीं। लेकिन इनमें से किसी भी क्षेत्र में उनके शासन के में कुछ ज्ञात नहीं है।

---

[1] ई. इ. XVIII. ६०।

[2] डा. आर. जी. बसाक के अनुसार जयनाग शशांक से पहले हुआ था (हि. ना. इ. १४७) विस्तृत विवेचन के लिए देखिए हि. ब. आर., ८०।

[3] हि. ना. इ. १२८।

[4] या ट्रै. वा., II. १०९।

[5] हि ब. आर. ८६।

बाद में, सन् ७२५ ई० के बीच यशोवर्मन् ने पश्चिमी और पूर्वी बंगाल दोनों को जीत लिया। अगर, जैसा पहले लिखा जा चुका है,[1] मगध और गौड़ एक ही राजा के अन्तर्गत थे, तो हमें मानना चाहिए कि गौड़ ने मगध पर कब्जा किया था, न कि मगध ने गौड़ पर। क्योंकि, अगर ऐसा न होता तो यशोवर्मन् की विजयों का वर्णन करने वाले उस महान काव्य के **गौड़-वहो** (गौड़वध) नाम का कोई औचित्य नहीं हो सकता था।[2]

यशोवर्मन् की विजय अल्पजीवी ही साबित हुई, लेकिन गौड़ को काश्मीर के राजा ललितादित्य का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा था।[3] बाद में गौड़ ने स्वतंत्रता पा ली, लेकिन सारा उत्तरी और पश्चिमी बंगाल छोटे छोटे राज्यों में बँट गया। राजतरंगिणी के अनुसार जब ललितादित्य के पोते जयापीड से काश्मीर की गद्दी छिन गई, तब वह उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन के नगर में (बोगरा के निकट) चला गया। जयापीड ने जयन्त की बेटी से विवाह किया, पाँचों गौड़ राजाओं को युद्ध में हराया और अपने श्वसुर जयन्त को उन सबका अधिराज बना दिया।[4]

नेपाल के अभिलेख में, राजा जयदेव[5] के श्वसुर हर्ष को गौड़ और दूसरे देशों का स्वामी कहा गया है। इस हर्ष को चूँकि भागदत्त के वंश का बताया जाता है, इसलिए आमतौर पर अनुमान किया जाता है कि वह कामरूप का राजा था। लेकिन यह बिलकुल निश्चित नहीं है, क्योंकि भागदत्त के वंशज होने का दावा करने वाले राजा सिर्फ कामरूप ही नहीं बल्कि उड़ीसा तथा दूसरे क्षेत्रों पर भी राज करते हुए पाये गये हैं। हमारे पास इस बात का और कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है कि कामरूप या उड़ीसा के किसी राजा का इस काल में गौड़ पर आधिपत्य था, और हम नहीं जानते कि हर्ष द्वारा "गौड़ेश्वर" उपाधि स्वीकारने के पीछे वास्तव में कितना औचित्य था।[6]

---

[1] देखिये पृ. १४५ प. पृ.।

[2] हि. ब. आर., ९४।

[3] देखिए पृ. १५२-५३।

[4] क. रा. त IV. ४०२-४६८। यह सारी घटना इतिहास के बजाय रूमानी कहानी लगती है; इसे ऐतिहासिक मानना कठिन है। चूँकि जयापीड ललितादित्य की मृत्यु से १९ वर्ष बाद गद्दी पर बैठा था, इसलिए यह घटना सन् ७८० ई० के बाद की ही हो सकती है, जैसा कि पूर्वकथित तिथि को नोट किया जा चुका है। (पृ. १५३) लेकिन कुछ विद्वान् ललितादित्य की मृत्यु की तारीख सन् ७३२ ई० को ही मानते हैं (पृ. १५३) इस हिसाब से जयापीड सन् ७५१ ई० में गद्दी पर बैठा था। गौड़ देश की राजनीतिक स्थिति का जो वर्णन कल्हण ने किया है, वह इस तारीख के ज्यादा अनुकूल लगता है। लेकिन हर सूरत में इस वर्णन के अन्दर गौड़ के राजनीतिक विघटन की स्मृति सुरक्षित है।

[5] देखिये पृ. १५७, १६०।

[6] हि. ब. आर. ८५, भारत के विभिन्न भागों में भागदत्त के वंशज होने का दावा करने वाले राजपरिवारों के बारे में देखिये, भा. वि., VI. १११।

पुरालेखों से हमें समतट के दो राजाओं की सूचना मिलती है—जीवधार श्रीधारण, जो रातवंश के थे । इनके अलावा पूर्व-बंगाल के कुछ और के नाम भी मिलते हैं, जैसे लोकनाथ, जयतुंगवर्ष आदि, जो लगभग उस समय करते थे, लेकिन हमें उनके परस्पर सम्बन्धों, उनके पद या उनकी राज्य-सीम बारे में कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है ।[1] तिब्बती श्रमण तारानाथ ने पूर्व में एक चन्द्रवंश का उल्लेख किया है, जिसके दो अन्तिम राजाओं, गोविन्द ललितचन्द्र ने शायद आठवीं शती के आरम्भ में राज किया था ।[2]

यद्यपि शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल के राजनीतिक इतिहास की रूप खींचना सम्भव नहीं है, फिर भी उपर्युक्त तथ्यों से इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक विघटन से उत्पन्न व्यापक अराजकता और अनिश्चितता की स्थितियाँ सन् ६५०–७५० ई० की अवधि में बंगाल में लगातार छायी रहीं । औ तारानाथ ने बड़े मार्मिक ढंग से कहा है, इसका परिणाम यह निकला कि गौड़ में इस बीच एक भी शक्तिशाली राजा नहीं हुआ, बल्कि हर क्षत्रिय महाजन, और व्यापारी अपने अपने घर में एक राजा था ।[3] एक समकालीन अभिलेख समय के बंगाल की राजनीतिक परिस्थिति को **मात्स्यन्याय** कहा गया है, जो अरा की ऐसी स्थिति का सूचक है, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को खा और जहाँ जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होती है ।[4] शशां मृत्यु के बाद एक शताब्दी तक बंगाल इस दुर्दशा में ग्रस्त रहा ।

८. ओडिसा

हर्ष की विजय के बाद भी कंगोद पर शैलोद्भव वंश के राजा शासन कर अयशोभीत से शुरू होने वाले इस खान्दान के बारे में, जो सैन्यभीत के परि पैदा हुआ था, कई विवरण प्राप्त हैं । अयशोभीत के बेटे का नाम सैन्यभीत था । हम पहले देख चुके हैं[5] इस परिवार के तीन राजाओं ने, जिनके नाम क्रमशः सै प्रथम (माधवराज प्रथम), अयशोभीत और सैन्यभीत द्वितीय (माधवराज द्वि हैं, छठी शताब्दी के उत्तरार्ध और सातवीं शताब्दी के आरम्भ में राज किया कुछ विद्वानों का[6] विचार है कि राजाओं के ये दोनों समूह दरअसल अभि

---

[1] इ. हि. क्वा., XXIII. २२१ ।

[2] हि. ब. आर., ८८-८९ ।

[3] हि. ब. आर. १८३ ।

[4] हि. ब. आर. ९७ ।

[5] इस राजवंश के आरंभिक इतिहास के बारे में ऊपर देखिए पृ. १०५ प. पृ. ।

[6] एन. जी. मजुमदार (ई. इ. XXIV. १५१); एन. पी. चक्रवर्ती (ई. इ., XXI
आर. डी. बनर्जी, ओड़िसा I, १३० ।

किन इस मत के विरुद्ध दो आपत्तियाँ हैं। दूसरे समूह के राजाओं में अयशोभीत को न्यभीत का बेटा बताया गया है। यह सन्देहजनक बात लगती है कि एक सरकारी वरण में राजा के बेटे को बेटा न बताकर उसके परिवार में पैदा हुआ व्यक्ति ताया जाय। दूसरी आपत्ति यह है कि पहले समूह के राजाओं के अक्षरों की बनावट रवर्ती काल की है। लेकिन हाल में ही इस परिवार का एक विवरण प्राप्त हुआ है (नं० २)[1] जिसके अक्षर दूसरे समूह के राजाओं द्वारा प्रयुक्त अक्षरों से ज्यादा भिन्न हीं हैं। इस बात ने निस्सन्देह, दोनों समूहों के राजाओं को अभिन्न मानने वाले मत को जबूत किया है, लेकिन अभी इस मामले को अनिश्चित ही समझना चाहिए, और कुछ विद्वानों[2] का मत है कि राजाओं के ये दोनों समूह एक दूसरे से भिन्न थे और पहले समूह के राजाओं ने दूसरे समूह के राजाओं के बाद कंगोद पर राज्य किया था।

दोनों मतों के अनुसार क्रमशः दो भिन्न कालानुक्रमों की तालिकाएँ इस प्रकार होंगी :

I

१. रणभीत (ल० सन् ५५० ई०)
२. सैन्यभीत प्रथम माधव राज प्रथम (ल० सन् ५७५ ई०)
३. अयशोभीत प्रथम (ल० सन् ६०० ई०)
४. सैन्यभीत द्वितीय माधवराज द्वितीय (ल० सन् ६१५ ई०)

II

ऊपर के क्रम के साथ जारी रहते हुए

५. अयशोभीत द्वितीय (नं० ४ के परिवार में उत्पन्न)
६. सैन्यभीत तृतीय माधववर्मन (जिसे श्रीनिवास भी कहते थे)

जिन लोगों का यह कहना है कि उपरोक्त ५ और ६ संख्या के राजा ३ और ४ संख्या के राजाओं से भिन्न थे, वे उनका सातवीं, आठवीं या नवीं शताब्दी ई० में होना तक बताते हैं। लेकिन जो लोग दोनों समूहों को अभिन्न बताते हैं, वे कुदरतन उनकी तारीख गंजाम में मिले ताम्र-पत्र के आधार पर निश्चित करते हैं, जिसके अनुसार सैन्यभीत द्वितीय (सं० ४ और ६) सन् ६१९ में शशांक के अधीन एक सामन्त राजा

---

[1] विब्लियोग्राफी, लिस्ट आफ इंस्क्रिप्शिंस।

[2] आर. जी. वसाक (हि. ना. इ. १७०; ई. इ. XXIII. १२६-२७); कीलहार्न (ई. इ VII. १२०) और हवालों के लिए देखिए, ज. आ. हि. रि. सो. X. ५।

था। इस राजा द्वारा जारी किये गये एक अन्य ताम्र-पत्र (नं० २) की तारीख है, और इसको हर्ष के संवत् के हवाले से पढ़ें तो यह तारीख सन् ६५६ ई० होगी प्रकार इस राजा का राज्यकाल चालीस वर्ष से अधिक रहा होगा। उपर्युक्त ति तथा कई अन्य विवरणों से भी ज्ञात होता है कि यह राजा बड़ा शक्तिशाली था, उसने अनेक यज्ञ किये, जिनमें अश्वमेध यज्ञ भी था। तत्पश्चात् उसका बेटा अयशो द्वितीय (या तृतीय) माधवराज गद्दी पर बैठा, जिसने २६ साल तक राज कि उसने वाजपेय अश्वमेध और दूसरे यज्ञ भी किये। इस राजा ने कटक भुक्ति भूमि-अनुदान पत्र बाँटे। और अगर यह क्षेत्र आधुनिक कटक के गिर्द का इलाक़ा तो जाहिर है शैलोद्भवों का राज्य उत्तर में महानदी तक फैला हुआ था, जो कांगो परम्परागत सीमा से बाहर है। इससे अनुमान होता है कि शैलोद्भवों ने या तो वर्धन की मृत्यु के तत्काल बाद, या कुछ दिनों के अन्दर ही, अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी और अपने राज्य का विस्तार भी कर लिया था।

अयशोभीत द्वितीय (या तृतीय) के बाद मानभीत धर्मराज गद्दी पर उसके शासन-काल में एक सर्वनाशी गृहयुद्ध हुआ। राज-परिवार के एक सदस्य माधव ने विद्रोह किया और गद्दी पर कब्जा कर लिया, लेकिन धर्मराज ने फासिक के स्थान पर हरा दिया। माधव ने तब राजा त्रिवर से गठजोड़ किया, विन्ध्याचल के पादगिरि में दोनों पराजित हो गये। कुछ विद्वानों ने राजा त्रि सोमवंशी राजा महाशिव गुप्त तीवरदेव[1] से अभिन्न माना है, लेकन चूंकि शैलोद्भव और सोमवंशी राजाओं के वंशानुक्रमों की तिथियाँ वेहद अनिश्चित हैं, इ यह शिनाख्त सन्देहास्पद है। जो भी हो, राजा धर्मराज को इस बात का श्रेय है कि उसने विद्रोह को कुचल ही नहीं दिया, बल्कि दुश्मनों को विन्ध्याचल तक भी दिया।

तेक्कलि के एक अकेले अनुदान-पत्र में उन तीन राजाओं के नामों का उल्ले जो धर्मराज के बाद गद्दी पर बैठे थे, लेकिन उनके बारे में और कोई ब्यौरा ज्ञात है। इन राजाओं के नाम इस प्रकार हैं: (१) धर्मराज का बेटा द्वितीय रणक्षोभ, (अल्लवराज, मध्यमराज द्वितीय का चचेरा भाई, मध्यमराज तृतीय, अल्लवराज बेटा।[2] यह कहना मुश्किल है कि इन राजाओं ने कितने दिनों तक शासन कि इसका निर्णय पूर्ववर्ती राजाओं के वंशानुक्रम की तिथियों पर निर्भर करता है। हम राजाओं के दोनों समूहों को, जिनका जिक्र ऊपर किया गया है, अभिन्न मान

---

[1] ज. आ. हि. रि. सो. X. ४। यह शिनाख्त तीवरदेव की तारीख पर निर्भर करती है जि 'मेकल के पांडुवंशी "शीर्षक के अन्तर्गत परि. XI, ग. III, में विचार किया गया है।

[2] यह वंशावली उससे कुछ भिन्न है, जो म. म. एच. पी. शास्त्री ने वतायी है, जिन्होंने तेक्क के अनुदान-पत्र का सम्पादन किया है। (ज. ब. ओ. रि. सो. IV. १६५), क्योंकि मैंने ऐनुअल रिपोर्ट साउथ इंडियन एपिग्रैफी १९३५-३६, पृ. ६४-६५ को अधिक प्रामाणिक माना है।

ह राजवंश आठवीं शताब्दी के मध्य तक शासन करता रहा था और फिर हम यह नुमान कर सकते हैं कि उनसे कर-वंश ने गद्दी छीनी होगी, जो आठवीं शताब्दी के त्तरार्ध और नवीं शताब्दी के आरम्भ में कंगोद के शासक थे। अगर इस अभिन्नता ो स्वीकार न किया जाये तो हमें अनुमान करना होगा कि कर-वंश के राजाओं ने सन् २५ और १००० ई० के बीच राज किया।

अन्त में उन परिकल्पनाओं का हवाला देना जरूरी है, जो शैलोद्भव वंश के बारे की गयी हैं। मध्य प्रदेश के बालाघाट जिले में रघोली नाम के स्थान पर भूमि-नुदान का एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमें शैलवंश नाम के एक राजकुल का, जिसकी थापना श्रीवर्धन प्रथम ने की थी, विवरण अंकित है। उसके बेटे पृथुवर्धन ने गुर्जरों के श को रौंद डाला था। इसी परिवार में संवर्धन पैदा हुआ, जिसके एक बेटे ने पौण्ड्र (उत्तरी बंगाल) जीत लिया और दूसरे बेटे ने काशी पर कब्जा कर लिया। इस दूसरे के टे जयवर्धन प्रथम ने विन्ध्यप्रदेश जीत लिया, और वहाँ पर उसके बेटे श्रीवर्धन द्वितीय और पोते जयवर्धन द्वितीय ने राज किया। **महाराजाधिराज और परमेश्वर** इनकी दवियाँ थीं और बालाघाट का जिला इनके राज्य में शामिल था। राय बहादुर हीरालाल का, जिन्होंने इस अनुदान-पत्र का सम्पादन किया है,[1] विचार है कि शैलवंश सम्भवतः शैलोद्भव वंश से अभिन्न था। उन्होंने यह भी सुझाव दिया है कि शैलवंश दरअसल गंगवंश की एक शाखा था। ये दोनों अनुमान सही हो सकते हैं, लेकिन इनको निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

यह सुझाव भी दिया गया है कि शैलेन्द्र वंश, जिसने आठवीं शताब्दी में मलाया ायदीप और मलाया द्वीप-समूह में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी, और जो सम्भवतः कलिंग से जाकर वहाँ पर बस गया था, शैलों या शैलोद्भवों से सम्बन्धित था।[2] लेकिन इसको भी केवल एक प्राकल्पना ही समझना चाहिए, जिसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

९. वलभी

हम पहले देख चुके हैं[3] कि धरसेन चतुर्थ ने, जो सन् ६४४ ई० में वलभी की गद्दी र बैठा था, शाही पदवियाँ धारण की थीं और वह अपने आपको **चक्रवर्ती** कहता था। इसके कारण उसमें और हर्षवर्धन में दुश्मनी हो गयी थी, तथा उसे मजबूर होकर नान्दीपुरी के राजा दद्द द्वितीय के यहाँ शरण लेनी पड़ी थी[4]—यह हम निश्चित रूप से नहीं जानते। लेकिन उसके दो भूमि-अनुदान-पत्र, जिन पर सन् ६४८ ई० की तारीख

---

[1] ई. इ., IX. ४१।

[2] आर. सी. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, I. २२६।

[3] देखिये, पृ. ११७।

[4] देखिये, पृ. ११८।

है, भरुकच्छ (भड़ौंच) से जारी किये गये थे, जो गुर्जरों के राज्य में था। चूंकि ये गई जमीनें खेटक–**विषय** (खैरा जिला) में, गुर्जरों की राज्य-सीमा से बाहर थीं, इन दान-पत्रों से यह अन्तिम रूप से सिद्ध नहीं होता कि धरसेन ने गुर्जर राज्य लिया था। आमतौर पर यह माना जाता है कि धरसेन उन दिनों जब उसने ये पत्र जारी किये थे, अपने दोस्त गुर्जर राजा का मेहमान था। लेकिन शायद यह सम्भव है कि वह किसी विजय-अभियान के दौरान भड़ौंच पहुँचा था, क्योंकि शिविर के नाम के आगे "विजयी" उपसर्ग लगाया गया था।[1] राजनीति में नाम की चीज क्षणिक ही होती है, और यह आश्चर्य की बात नहीं होगी यदि का राजा इतनी जल्द ही गुर्जर राजा की मदद के अहसान को भूल गया हो। पर उसका कब्जा बहुत थोड़े समय तक ही रहा होगा, क्योंकि इसके बाद अनेक तक उस पर गुर्जर राजा शासन करते रहे थे।

यह उल्लेखनीय है कि वलभी के बाद के विवरणों में भी शीलादित्य तृ पहले के राजाओं में से अकेले धरसेन चतुर्थ को ही शाहंशाही पदवियों से मंडित गया है, और **चक्रवर्ती** की उपाधि तो किसी भी दूसरे राजा को नहीं दी गयी। वलभी के इतिहास में धरसेन चतुर्थ का शासन-काल एक महत्त्वपूर्ण युग माना जा है, और उसने अवश्य ही राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ायी होगी। महाकवि उसके ही दरबार में रहता था। लेकिन धरसेन का शासन-काल थोड़े दिनों का क्योंकि वह सन् ६५३ ई० से पहले ही मर गया था। उसकी मृत्यु के बाद कुछ तक गड़बड़ी का दौर चला होगा, क्योंकि हम देखते हैं कि परवर्ती राजा बड़े क्रम से गद्दी पर बैठते और उतरते रहे। यह स्थिति वंशावली की निम्न ता स्पष्ट हो जायगी, जिसमें कोष्ठकों के अन्दर के अंकों में धरसेन चतुर्थ के उत्तराधि का कालानुक्रम सूचित किया गया है। जिन्होंने शासन नहीं किया उनके नाम टाइप में दिये हैं और जिन राजाओं की तारीखें ज्ञात हैं, उन तारीखों को में दिया गया है।

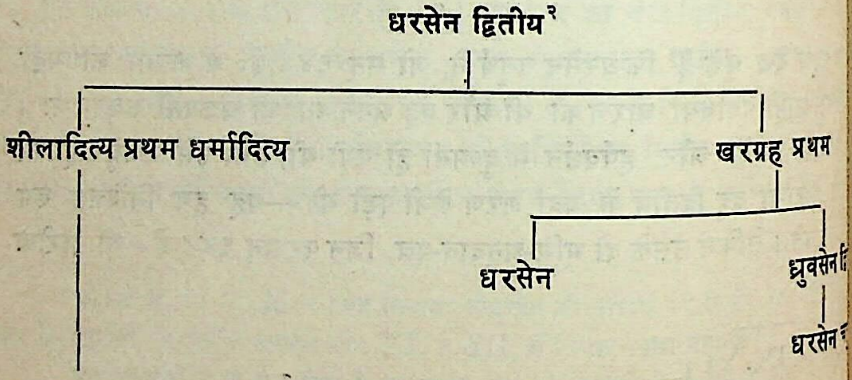

---

[1] इ. हि. क्वा., XX. ३५८.।

[2] देखिये पृ. ७१ प. पृ.।

देरभट

शीलादित्य द्वितीय

(२) खरग्रह द्वितीय धर्मादित्य
(सन् ६५६ ई०)

(१) ध्रुवसेन तृतीय
(सन् ६५१-६५३)

(३) शीलादित्य तृतीय
(सन् ६६२-६८४ ई०)

धरसेन चतुर्थ के बाद गद्दी का पुनः शीलादित्य के परिवार के अधिकार में आना, और फिर वहाँ भी स्वाभाविक क्रम का उलट जाना, ये दोनों बातें आन्तरिक गड़बड़ी की सूचक हैं, जिसका क्या रूप था, हम नहीं जानते। लेकिन शीलादित्य तृतीय के गद्दी पर बैठने के बाद राज्य में पुनः स्थायित्व आ गया।

निस्सन्देह शीलादित्य तृतीय बड़ा शक्तिशाली राजा था। धरसेन चतुर्थ की तरह उसने भी शाही पदवियाँ अपना लीं और गुर्जर राज्य को हराकर अपने कब्जे में ले लिया। क्योंकि सन् ६७६ ई० में उसने कुछ ऐसी जमीनों के अनुदान-पत्र बाँटे थे, जो भरुकच्छ-विषय (जिले) में थीं। इस बार भी गुर्जर प्रदेश पर वलभी का अधिकार अल्पकालिक ही सिद्ध हुआ, क्योंकि गुर्जरों ने उसे फिर वापस छीन लिया। इस कार्य में शायद पश्चिम के चालुक्यों ने भी गुर्जरों की मदद की थी।

राष्ट्रकूट वंश के अभिलेखों में एक स्थान पर चालुक्यों द्वारा हराये गये दुश्मनों में हर्ष और वज्रट के नामों का उल्लेख मिलता है। इससे साफ जाहिर है कि हर्षवर्धन की तरह वज्रट भी एक बड़ा शक्तिशाली राजा था, और उसको हराकर चालुक्यों ने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। दुर्भाग्य से इस वज्रट के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सन् ६८५ ई० के एक चालुक्य विवरण के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय के एक बेटे धराश्रय-जयसिंह ने मही और नर्मदा नदियों के बीच के प्रदेश में वज्जड की पूरी सेना को नष्ट कर दिया था। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि यह राजा वज्जड, राष्ट्रकूट विवरण के राजा वज्रट से अभिन्न है। चूँकि वह मही और नर्मदा के बीच के प्रदेश में हराया गया था, इसलिए वह सम्भवतः वलभी का राजा शीलादित्य तृतीय ही था, जिसने गुर्जर प्रदेश पर कब्जा कर लिया था, क्योंकि सन् ६८५ ई० या इससे कुछ पहले इस क्षेत्र में किसी अन्य शक्तिशाली राजा की कल्पना करना मुश्किल है। वलभी के अभिलेखों में वज्रट का नाम नहीं मिलता, लेकिन चूँकि शीलादित्य तृतीय के बाद के वलभी के सभी राजाओं का वज्रट नाम है, इसलिए यही संभव है कि उनमें से हरेक का एक व्यक्तिगत नाम भी था।[1]

---

[1] इ. हि. क्वा. XX. १८१, ३५३।

अगर हम इस अभिन्नता को स्वीकार कर लें तो, ऐसा लगेगा कि जब शीलादि तृतीय ने गुर्जरों पर कब्जा कर लिया तो उन्होंने अपने चालुक्य अधिराज से मद लिए अपील की होगी । चालुक्य राजा भी अपनी सीमाओं तक वलभी की स्थापित हो जाने के प्रति उदासीन नहीं रह सकता था, इसलिए उसने वलभी राजा को गुर्जर प्रदेश से बाहर खदेड़ देने के लिए अपनी सेना भेज दी। धरा जयसिंह ने, जो इस सेना का सेनापति था, जाहिर है, अपना कार्य सफलतापूर्वक किया था ।

वलभी के शासक और चालुक्यों के बीच युद्ध की अनुगूंज कुछ विद्वानों के अनु उस **विरगल** में सुरक्षित मिलती है, जो मैसूर के सगर तालुक के गद्देमने गांव प्राप्त हुआ है । यह **विरगल** किसी पेत्तणि सत्यांक की मृत्यु की स्मृति में लिखा था, जो शीलादित्य का एक सेनानायक था और राजा महेन्द्र से युद्ध में वीरगति प्राप्त हुआ था । इस राजा महेन्द्र की शिनाख्त महेन्द्र वर्मन् (द्वितीय) पल्लव से गयी है, जो सन् ६५० ई० के लगभग गद्दी पर बैठा था । यह सुझाव दिया गया है वलभी के राजा शीलादित्य तृतीय ने महेन्द्र वर्मन् द्वितीय को युद्ध में बुरी तरह ह था और उससे चालुक्य राज्य के उन क्षेत्रों को अपने कब्जे में कर लिया था, जि कुछ ही समय पहले पल्लवों ने चालुक्य राजा से जीता था ।[1] लेकिन जैसा ऊपर नि जा चुका है,[2] इस **विरगल** के राजा शीलादित्य की शिनाख्त चालुक्य युवराज श्री आ शीलादित्य से करनी चाहिए, न कि वलभी के राजा शीलादित्य से या हर्षवर्धन जिनमें से किसी के कर्नाटक पर चढ़ाई करने के बारे में कोई तथ्य ज्ञात नहीं है।

यह तथ्य कि शीलादित्य तृतीय उर्फ वज्रट का उल्लेख हर्ष-वर्धन के नाम के किया गया है, यह सूचित करता है कि वलभी के शीलादित्य की कितनी बड़ी शा और प्रतिष्ठा थी। यही कारण है कि उन चारों राजाओं ने शाहंशाही पदवियां अ ली थीं, जिनके नाम शीलादित्य (चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम) हैं और जो शी दित्य उर्फ वज्रट के उत्तराधिकारी थे। वे पिता-पुत्र के रूप में एक-दूसरे से सम्ब थे, और उनमें से अन्तिम, जो ध्रुभट (अर्थात ध्रुवभट्) के नाम से भी प्रसिद्ध है ७६६-७६७ ई० में वलभी का शासक था। यद्यपि इन राजाओं की शाही पदवियां उ महत्ता और शक्ति की सूचक हैं, लेकिन हमें इन राजाओं के बारे में जो सन् ६१ ७७० ई० तक राज करते रहे थे, कुछ भी ज्ञात नहीं है।

शायद शीलादित्य पंचम के शासन-काल में अरबों ने वलभी पर आक्रमण कि था। अरब-आक्रमण का ब्यौरा एक अलग परिच्छेद में दिया जाएगा। यहां के इतना कहना ही काफी होगा कि सिन्ध के अपने अड्डे से निकल कर अरबों ने राजस्था गुजरात और काठियावाड़ प्रायद्वीप के अधिकांश भाग को रौंद डाला था, और

---

[1] मोरेस "दि कदंब कुल" पृ. ६४-६६ ।

[2] देखिये पृ. १२० पा. टि २ ।

उज्जयिनी तक बढ़ते चले गये थे। यद्यपि आरम्भ में उन्हें उल्लेखनीय सफलता मिली थी, लेकिन उनकी घुसपैठ का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला, और अन्ततः लाट के चालुक्य राजा और मालव के प्रतिहार राजा ने उनको पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया। ये आक्रमण सम्भवतः सन् ७२५ और ७३५ ई० के बीच हुए थे।

वलभी के अभिलेखों में अरब-आक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन भड़ौंच के गुर्जर राजा जयभट चतुर्थ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने वलभी नरेश के नगर में ताजिकों (अरबों) को हराया था, जिन्होंने असंख्य लोगों पर मुसीवत के पहाड़ ढाये थे।[1] यह भी सम्भव है कि इस संकट की घड़ी में भी, जैसा पहले भी हुआ था, गुर्जरों ने ही वलभी नरेश की मदद की हो।

यद्यपि अरबी हमलावर काठियावाड़ प्रायद्वीप से पीछे हट गये, फिर भी वलभी नरेश का यह सौभाग्य नहीं हुआ कि वह शान्ति से राज करे। सन् ७३८ ई० में एक अभिलेख में जाईकदेव को साम्राज्यिक पदवियों सहित सौराष्ट्र-मण्डल का अधिपति वताया गया है, जिसका शासन भूमिलिका (आधुनिक भुमलि, पोरबन्दर इलाका) में भी था। इस विवरण की प्रामाणिकता पर सन्देह किया गया है,[2] लेकिन हमें अन्य स्रोतों से भी मालूम है कि लगभग इसी समय काठियावाड़ का दक्षिणी-पश्चिमी भाग वलभी के राज्य से वाहर था और सैन्धवों के शासन में वहाँ एक नये राज्य की स्थापना हो गयी थी, जिसके इतिहास का वर्णन पुस्तक के अगले भाग में किया जाएगा।

इसके अतिरिक्त और भी कई झंझटें पैदा हो गयी थीं। पहले चालुक्यों के और फिर अवन्ती के प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों[3] के आगे बढ़ने से वलभी राज्य के लिए एक जबर्दस्त खतरा पैदा हो गया था, हालाँकि इन राज्यों से आठवीं शताब्दी में उसका ठीक ठीक सम्बन्ध क्या था, यह अज्ञात है।

शीलादित्य सप्तम वलभी का अन्तिम ज्ञात राजा है। सन् ७६६-७६७ ई० में वह गद्दी पर मौजूद था, लेकिन इस परिवार की सत्ता इसके कुछ दिन बाद ही समाप्त हो गयी थी। वलभी का नगर भी शायद इसी समय या इससे कुछ पहले नष्ट कर डाला गया था।

ब्युलर (Bühler) ने सन् १८७२ ई० में लिखा: "वलभी का विध्वंस एक ऐसी घटना है, जिसके गिर्द रहस्य से भी ज्यादा कोई अज्ञात चीज मंडरा रही है।[4] इस रहस्य का भेद आज भी नहीं खुल पाया है।

---

[1] ई. इ. XXIII. १५१, पा. टि. ७; १५४, पा. टि. १।

[2] इ. ऐ. XII. १५५; ब. ग. जिल्द १. भाग १. ८७, १३७।

[3] इन राज-वंशों के इतिहास का विवेचन करते समय इस प्रश्न पर विचार किया जाएगा।

[4] इ. ऐ., I. १३०।

जैन **हरिवंश** के एक प्रसिद्ध लेखांश से हमें ज्ञात होता है कि सन् ७८३ ई सौराष्ट्र पर वराह या जयवराह का राज था।[1] इसलिए यह निश्चित है कि सन् और ७८३ ई० के बीच किसी समय भी मैत्रक वंश की सत्ता का अन्त हो गया था

चूँकि वलभी के राजा की अन्तिम ज्ञात तिथि और वराह की एक मात्र ज्ञात के बीच सत्रह साल का अन्तराल है, इसलिए सम्भव है कि वराह ने या उसके पू ने वलभी राज्य का तख्ता उलट दिया हो। हमें इस वराह के बारे में और कुछ मालूम है, यद्यपि हरिवंश के लेखांश से संकेत मिलता है कि वह एक स्वतन्त्र राजा फिर भी यह असम्भव नहीं है कि वह किसी अन्य शक्तिशाली राजा के अधीन सामन्त राजा रहा हो। उदाहरण के लिए यह सुझाव दिया गया है कि वह शायद चा का राजा और धरणिवराह का पूर्वज था, जो सन् ९१४ ई० में प्रतिहार के सामन्त की हैसियत से काठियावाड़ प्रायद्वीप पर शासन करता था।[2] हम हैं कि इस तारीख से कुछ पहले सौराष्ट्र पर चालुक्य परिवार के दो राजाओं ने हारों के सामन्त की हैसियत से राज किया था। इस परिवार का संस्थापक था। वह उस बलवर्मन् के पितामह का पितामह था जिसने ८९३ ई० में पत्र जारी किया था। इसलिए कल्ल आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रहा हो यह असम्भव नहीं कि लगभग इसी समय सौराष्ट्र में इस सामन्त परिवार स्थापित किया गया हो।

जैसा आगे देखा जायेगा, आठवीं शताब्दी के मध्य में भड़ौंच के पड़ोसी राज्य पर चाहमान वंश का शासन था, जो प्रतिहार साम्राज्य के संस्थापक प्रथम के अधीन था। इसलिए यह निष्कर्ष असंगत नहीं होगा कि प्रतिहार वलभी के राज्य को नष्ट करके उपर्युक्त चाप और चालुक्य जैसे एक या सामन्त परिवारों को उस राज्य का शासन चलाने के लिए स्थापित कर दिया मैत्रक राजाओं के पतन का यह सबसे संगत कारण मालूम देता है।

वैसे, आम धारणा यह है कि अरबों ने वलभी के राज्य को नष्ट कर दिया यह धारणा मुख्यत: अलबेरुनी की एक कहानी पर आधारित है। इसमें कहा है कि वलभी के एक धनी और सम्पन्न नागरिक का अपने राजा से झगड़ा हो था और वह उसके क्रोध से बचने के लिए भागकर सिंध के अरब शासक के पहुँचा। उसने अरब शासक को धन भेंट करने का वादा किया और प्रार्थना की कि वह वलभी के विरुद्ध अपनी नौ-सेना भेजे। अत: अरब शा रात के वक्त वलभी पर आक्रमण किया तथा राजा और उसके लोगों को कत्ल नगर को नष्ट कर दिया।[4]

---

[1] ई. इ, VI. १९५-९६।

[2] इ. ऐ., XII. १९३।

[3] ई. इ., IX. १ प. पृ.।

[4] अलबेरुनीज इंडिया, सचाउ का अनुवाद, I. १९२।

यह लोक-वार्ता के क्षेत्र की कहानी लगती है और इसके सभी ब्यौरों को सही नहीं माना जा सकता। लेकिन इसमें किसी ऐतिहासिक घटना की क्षीण अनुगूँज भी हो सकती है। अरबों ने सन् ७२५-७३५ ई० के बीच वलभी पर आक्रमण किया था और उसे एक विषम स्थिति में डाल दिया था, इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। सिन्ध के अरब इतिहासकारों ने अभिलेखित किया है कि सन् ७५८ ई० में खलीफा मंसूर ने अमरु-विन-जमाल को एक जहाजी बेड़ा लेकर बरद के (पोरबंदर की गिरिमाला का नाम) समुद्री तट पर भेजा था। सन् ७७६ ई० में भेजा गया दूसरा बेड़ा नगर पर कब्जा करने में सफल रहा, लेकिन चूँकि सैनिकों में बीमारी फैल गयी, इसलिए वे वापस लौट गये और इस आक्रमण का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला। कुछ विद्वान् इस विवरण में अलबेरुनी की कहानी की पुष्टि देखते हैं और उनका विचार है कि बरद दरअसल वलव या वलभी का ही गलत रूप है।[1] लेकिन यह बड़ी सन्दिग्ध बात है, क्योंकि इससे अधिक प्रामाणिक विवरण में शहर को नष्ट करने या राज-सत्ता को समाप्त करने का कोई जिक्र नहीं है। कुल मिलाकर, यह सम्भव है कि एक या कई अरब-आक्रमण वलभी के पतन का कारण बने हों, लेकिन इस सम्बन्ध में अभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।

अरबों के जहाजी बेड़े की ताकत के बारे में हमारी जो भी जानकारी है उससे तो यह बात असम्भव लगती है कि वे किसी भारतीय राजा की भारी मदद के बिना केवल समुद्री आक्रमण से ही वलभी की शक्ति का तख्ता उलट सकते थे। अलबेरुनी की कहानी को अगर जरा भी महत्त्व देना हो तो हमें यह मानना चाहिए कि वलभी का नाश या तो किसी आन्तरिक क्रान्ति के कारण हुआ था या किसी भारतीय ताकत के आक्रमण के फलस्वरूप जिसमें अरबों ने भी मदद की होगी। लेकिन चूँकि ऐसी किसी जीत का अरबों ने दावा नहीं किया है इसलिए वलभी के पतन में अगर उनका कोई हिस्सा था भी तो वह शायद ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं था।

यह सुझाव दिया गया है कि काठियावाड़ के दक्षिण-पश्चिम में स्थित भूमिलिका का राज्य, जिसका हम पहले जिक्र कर चुके हैं, वलभी का दुश्मन था और उसने मैत्रकों से युद्ध किया था, यहाँ तक कि उसने मैत्रकों के विरुद्ध अरबों की मदद भी की थी। इस मत के समर्थन में बताया गया है कि इस राज्य के शासक अनुमानतः जेठव कुल के थे, जो दसवीं शताब्दी तक राज करता रहा, जब कि मैत्रक आठवीं शताब्दी के बाद ही इतिहास के मंच से गायब हो गये।[2]

लेकिन ये सारे अनुमान तब तक बेमानी हैं, जब तक यह निश्चित रूप से सिद्ध न हो जाए कि मैत्रकों की सत्ता अरबों के आक्रमण से नष्ट हुई थी।

---

[1] इ. हि. क्वा., IV. ४६७, पा. टि. ४. लेकिन अगले भाग में देखिए, सैन्धवों का इतिहास।

[2] संकालिया, आर्क्योलॉजी आफ गुजरात, पृ. ३१।

अलबेरुनी की कहानी में, कौन जाने, सिर्फ सन् ७२५-७३५ ई० के अरब आ की ही अनुगूँज हो, और अगर मान भी लिया जाए कि दक्षिणी-पश्चिमी काठियाव राजा जाईक ने विश्वासघात करके मैत्रकों के खिलाफ अरबों की मदद की थी, त हम मैत्रकों के विनाश का इसे कारण नहीं मान सकते। लेकिन यह दिलचस्प बा कि शीलादित्य पंचम और उसके उत्तराधिकारियों के अनुदान-पत्र वलभी से बल्कि खेटक या अन्य स्थानों से जारी किये गये हैं। इस प्रकार यह सम्भव है वलभी नगरी को अरबों ने सन् ७२५-७३५ ई० के आक्रमणों में विध्वस्त कर दिय जैसा कि अलबेरुनी ने उल्लेख किया है। लेकिन यह निश्चित है कि मैत्रकवंश राज्य पर आगे भी लगभग आधी शताब्दी तक राज करता रहा।

१०. राजपूताना और गुजरात

आजकल हम जिस प्रदेश को राजपूताना कहते हैं, प्राचीन काल में उसका यह नहीं था। दसवीं शताब्दी में इस पूरे इलाके को या इसके अधिकांश भाग को गुर्ज के नाम से पुकारा जाता था, जो गुजरात का पुराना और संस्कृत नाम है। जैसा ऊपर देख चुके हैं[1] गुर्जरों ने छठी शताब्दी ई० में ही राजपूताने में एक या ए ज्यादा राज्य स्थापित कर लिये थे, और ह्वेन-त्सांग ने इस क्षेत्र के गुर्जर रा यात्रा की थी, जिसका उसने कु-चे-लो या गुजरात नाम लिखा है। इसलिए यह है कि छठी या सातवीं शताब्दी में ही राजपूताना को गुर्जरत्रा का नाम दे दिया हो। यद्यपि हम इतने अतीत में इस प्रदेश का राजपूताना नाम तो नहीं खोज लेकिन हम देखते हैं कि उस समय भी वहाँ ऐसे अनेक कुल और कबीले बसे हुए आगे चलकर राजपूतों के नाम से प्रसिद्ध हो गये। इन कबीलों के नाम प्र गहिलौत, चापोत्कट और चाहमान थे।

(I) गुर्जर-प्रतिहार

हरिश्चन्द्र ने जिस राजवंश की स्थापना की थी, और जिसके प्रारम्भिक इ का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं,[2] वह प्रतिहार के नाम से प्रसिद्ध है। एक और हार परिवार आठवीं शताब्दी में सत्ताधारी बन गया था। ये दोनों प्रतिहारवं ही गुर्जर कबीले के थे और गुर्जर प्रतिहार कहलाते थे। प्रतिहार-सम्राटों के सामन्त राजा का सचमुच यही नाम मिलता है।

सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की विक्षुब्ध राजनीति में गुर्जरों ने क्या भूमिका नि थी, इसका उल्लेख हर्षवर्धन और पुलकेशिन के सम्बन्ध का विवेचन करते

---

[1] देखिये पृ. ७२ प. पृ

[2] देखिए, पृ ७४।

किया जा चुका है। यह सम्भव है कि इस काल के विवरणों में जिन गुर्जरों का जिक्र आता है, वे राजपूताने के गुर्जर राज्य के सूचक हों, जिसके अधीन दक्षिणी गुजरात में एक सामन्त-राज्य हो, जिसके प्रारम्भिक इतिहास का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।[1]

इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि ह्वेन-त्सांग ने जिस गुर्जर राज्य का वर्णन किया है, उस पर हरिचन्द्र के उत्तराधिकारियों का शासन था। चीनी यात्री ने एक नौजवान गुर्जर राजा का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसका बुद्ध के धर्म में पक्का विश्वास था और वह अपनी बुद्धिमानी और साहस के लिए प्रसिद्ध था। वह शायद नागभट के बेटे तात से अभिन्न रहा हो, जिसके बारे में परिवार के एक अभिलेख में कहा गया है कि जिन्दगी को चंचला (बिजली) की तरह तिरोगामी और क्षणभंगुर समझकर उसने अपने छोटे भाई भोज के पक्ष में गद्दी छोड़ दी थी और खुद एक मठ में जाकर सच्चे धर्म की रीतियों का पालन करने लगा था।

ह्वेन-त्सांग ने गुर्जर राज्य की राजधानी का नाम पि-लो-मो-लो लिखा है। इसकी शिनाख्त भिल्लमाल, आधुनिक भिनमाल से की गयी है। लेकिन चूँकि उसने इसे वलभी से ३०० मील उत्तर में बताया है, इसलिए इस राजधानी के लिए हमें और उत्तर में नजर डालनी चाहिए, और बालमेर शायद उसका सही स्थान हो। भिल्लमाल का नाम प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य बलगुप्त से जुड़ा हुआ है, जो **भिल्लमालकाचार्य** के नाम से पुकारा जाता था। चूंकि ब्रह्मगुप्त ने अपना महान् ग्रन्थ **ब्रह्मस्फुट–सिद्धान्त** चाप-वंश के राजा व्याघ्रमुख के संरक्षण में लिखा था, इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि भिल्लमाल चाप-वंश के राजाओं की राजधानी था। लेकिन यह निष्कर्ष संगत नहीं है, क्योंकि कोई महान् विद्वान् विदेशी राजा के संरक्षण में भी अपना ग्रन्थ लिख सकता है। इसलिए हम चाहे गुर्जर राजधानी के रूप में ह्वेन-त्सांग के पि-लो-मो-लो की शिनाख्त भिल्लमाल से कर लें, लेकिन हम चापों को गुर्जरों से अभिन्न नहीं मान सकते, जैसा कि कुछ विद्वानों ने किया है।[2]

राजा तात और उसके तीन उत्तराधिकारियों ने अनुमानतः सन् ६४० से लेकर ७२० ई० तक राज किया था। तात के विषय में जो कहा गया है, उसके अलावा इन सबके बारे में हमें और कुछ भी ज्ञात नहीं है। लेकिन तात का पर-पोता शीलुक एक महत्त्वपूर्ण राजा था। कहा जाता है कि उसने वल्ल और स्त्रवणी के बीच की सीमा निर्धारित करवा दी थी और भट्टी राजा देवराज को हरा कर प्रमुखता पायी थी। इससे जाहिर है कि शीलुक ने अपने पड़ोसियों के विरुद्ध कुछ सफलता पाकर अपने राज्य का विस्तार किया था। अगर स्त्रवणी को तबन से अभिन्न मान लें, जिसका अरब लेखकों ने उल्लेख किया है, और जिसमें शायद राजपूताने से उत्तर-पश्चिम के पंजाब का एक भाग था, तो शीलुक का राज्य मोटे तौर पर आधुनिक जोधपुर और बीकानेर के राज्यों से मेल खाता है। भट्टी राजा देवराज शायद जेसलमेर

---

[1] देखिए पृ. ७४ प. पृ।

[2] देखिए इ. हि. क्वा., XV, ५९५।

के भट्टी कुल का था । शीलुक ने उसे हराकर राजपूताने पर अपना प्रभुत्व स्था किया था ।

शीलुक को वल्ल **मंडल-पालक** कहा गया है । यह शायद राज्यों के एक सूचित करता है, जिसका वही प्रधान था । ऊपर नोट किया जा चुका है,[1] कि के कई पुत्रों द्वारा स्थापित किये गये अनेक गुर्जर राज्य थे । उनमें से एक गुर्जर लाट, अर्थात् दक्षिणी गुजरात में था, जिसकी राजधानी नांदीपुरी थी । ऐसा ही एक राज्य शायद अवन्ती में था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, क्योंकि आठवीं के आरम्भ में उस पर एक प्रतिहार राजा नागभट का शासन था । इसमें कोई नहीं कि उसका परिवार जोधपुर के प्रतिहार कुल के साथ अंतरंग रूप से सम्ब था । सम्भवतः विजय की जिस लहर ने गुर्जरों की एक शाखा को दक्षिणी गुजरा पहुँचाया था, उसी लहर ने उनकी दूसरी शाखा को मालवा में अपना राजवंश स्था करने का अवसर दिया था, और कलचुरियों को इन दोनों क्षेत्रों में उनके आगे हटना था । वल्ल **मंडल-पालक** की उपाधि से सूचित होता है कि शीलुक शायद इस राज्य संघ का प्रधान था, जिसका राजपूताना, मालवा और गुजरात के क्षे पर आधिपत्य था ।

जिस समय अरबों ने राजपूताना और गुजरात को रौंदते हुए उज्जयि धावा किया था, उस समय वहाँ शीलुक या उसका उत्तराधिकारी राजा था । के गुर्जर राजा को अरबों ने हरा दिया, लेकिन अवन्ती के प्रतिहार राजा नागभट आक्रमण का भयंकर आघात झेलकर भी हमलावरों को पीछे धकेल दिया । आक्रमणकारियों से पश्चिमी भारत की रक्षा करने का पूरा श्रेय नागभट को है, वह चालुक्य राजा अवनिजनाश्रय—पुलकेशिराज के साथ कीर्ति का सहभागी है, अरबों को दक्षिण में घुसने से रोक दिया था ।[2]

अरब आक्रमण ने अनेक छोटी-छोटी रियासतों को नष्ट या कमजोर पश्चिमी भारत की राजनीतिक स्थिति में निश्चय ही भारी परिवर्तन ला दिया अवन्ती के प्रतिहारों की विजय उस दुःखद पृष्ठभूमि में हुई थी, जिसमें और विशेषकर जोधपुर के उस गुर्जर परिवार को भयंकर पराजय का सामना कर था, जो अब तक सारे गुर्जर-राज्यों का प्रधान था । निस्सन्देह इस विजय से की प्रतिष्ठा बढ़ी और यह स्वाभाविक ही था कि वह अपना प्रभुत्व मनवाने के और भी साहसिक कदम उठाता । यह भी स्वाभाविक है कि छोटी छोटी रियासतों ने उसके इस दावे का समर्थन किया क्योंकि वह अपने आपको उनका रक्षक सिद्ध कर चुका था ।

---

[1] देखिए पृ. ७४ ।

[2] देखिए भ. लिस्ट, नं. १२२० ।

गुर्जर राज्यों की इस दु:खद और पस्त हालत का इससे भी अनुमान होता है कि शैलवंश के राजा पृथुवर्धन ने दावा किया कि उसने गुर्जर प्रदेशों को अपने पैरों के नीचे रौंद डाला था।[1]

गुर्जर राज्यों के संघ पर शीलुक के परिवार का प्रभुत्व आठवीं शताब्दी के मध्य में समाप्त हो गया। यह बदली हुई परिस्थिति परिवार के अभिलेख में पूरी तरह प्रतिबिम्बित है। शीलुक की सैन्य सफलताओं का वर्णन करने के बाद उसमें कहा गया है कि उसका बेटा और पोता, जिन्होंने शीलुक के बाद राज किया था, बड़े शान्तिप्रिय स्वभाव के राजा थे और उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिन गंगा के तट पर पूजापाठ में बिताये थे।

अब राजा नागभट की हैसियत सबसे ऊँची हो गई थी और उसके उत्तराधिकारियों ने प्रतिहारों को शक्ति और गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। उनका इतिहास अगले भाग में प्रस्तुत किया जायेगा।

(II) नान्दीपुरी का गुर्जर-राज्य

दद्द प्रथम के गुर्जर राज-परिवार के अन्तर्गत दक्षिणी गुजरात की इस छोटी सी रियासत ने इस काल के दौरान लगातार अपना अस्तित्व बनाये रखा। अभिलेखों से दद्द द्वितीय के, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, निम्न उत्तराधिकारियों के नाम प्राप्त होते हैं :[2]

दद्द द्वितीय—प्रशान्तराग
|
जयभट द्वितीय
|
दद्द तृतीय—बाहुसहाय
|
जयभट तृतीय
|
अहि रोल
|
जयभट चतुर्थ

दद्द द्वितीय ने, जिसकी ज्ञात तिथियाँ सन् ६२९ और ६४१ ई० हैं, हर्ष के मुकाबले में वलभी के राजा को संरक्षण दिया था, लेकिन इससे उसके राज्य की इस शक्तिशाली पड़ोसी के लोभ से रक्षा नहीं हो सकी। जैसा पहले लिखा जा चुका है, वलभी

---

[1] ई. इ. IX पृ. ४१। ऊपर देखिए पृ. १६७।
[2] ई. इ. XXIV. १७८. देखिए पृ ७५।

राजाओं ने कम से कम दो बार, करीब ६४८ ई० में और ६८५ ई० में राज जीतकर अपने कब्जे में कर लिया था। इस दूसरे मौके पर चालुक्यों ने वल राजाओं को मार भगाया था। शायद उन दिनों दद्द तृतीय नान्दीपुरी में राज रहा था। उसने बाहुसहाय की पदवी धारण की, जिसका अर्थ है कि उसकी भुजाएँ ही उसकी सहायक हैं। कहा जाता है कि उसने पूर्व और पश्चिम के बलशाली राजाओं से युद्ध किया था। पश्चिमी राजा निस्सन्देह वलभी का शास था। पूरब का राजा, जिसके साथ उसने शायद पश्चिमी चालुक्यों के एक साम हैसियत से युद्ध किया था या तो यशोवर्मन्[1] था या अवन्ती का प्रतिहार राजा।

गुर्जर चारों दिशाओं में शक्तिशाली राजाओं से घिरे हुए थे। चालुक्यों ने धीरे दक्षिणी गुजरात में एक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया था, जिसकी राज नवसारिका (नवसारी) थी। लगता है कि इस राज्य की उत्तरी सीमा नर्म फैली हुई थी। गुर्जर रियासतें शायद चालुक्यों को अपना अधिराज मानती थीं जैसा ऊपर लिखा गया है, उन्होंने चालुक्यों की मदद से वलभी के रा मार भगाया था।

जयभट चतुर्थ के राज्य पर जब अरबों का आक्रमण हुआ, तो उसने अपनी रक्षा शायद चालुक्य राजा अवनिजनाश्रय-पुलकेशिराज की मदद से की थी, अरबों का पूरी तरह ध्वंस कर दिया था। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं,[2] जयभट ने में अरबों को हराने का श्रेय खुद लिया है, लेकिन शायद यहाँ भी उसने चालु सामन्त की हैसियत से ही युद्ध किया था।

कहते हैं कि राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र प्रथम ने, जो पश्चिमी चालुक्यों का एक था, चालुक्य राजा की बेटी से खेटक में राक्षस-विवाह किया था। दूसरे शब्दों राजकुमारी को जबरन उठा ले गया और उससे विवाह कर लिया। चूँकि खेट शिनाख्त गुजरात के कैरा नगर से की गयी है, अतः इस वक्तव्य से सूचित होता सन् ७२५ ई० के लगभग, चाहे थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो, गुजरात भाग पर चालुक्यों ने कब्जा कर लिया था। इस प्रकार अरबों से मुक्ति पाकर चालुक्यों के चंगुल में फँस गये। पर कुछ दिनों बाद ही चालुक्यों को बाहर निका राष्ट्रकूटों ने इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया और कहा जाता है कि इन्द्र के बेटे दन्तिदुर्ग ने लाट और सिन्धु जीत लिये थे। लेकिन राष्ट्रकूट राज्य भी अल्प ही सिद्ध हुआ और आठवीं शताब्दी ई० के मध्य तक अवन्ती के प्रतिहारों ने इस पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। सन् ७५६ ई० में भड़ौंच पर एक चा राजा का शासन था, जो नागावलोक का सामन्त था। इस नागावलोक की प अवन्ती के प्रतिहार राजा नागभट प्रथम से की गयी है।[3] यह निश्चित रूप से

---

[1] देखिए पृ. १४८।

[2] देखिए पृ. १७०।

[3] ई. इ., XII. २०१।

कहा जा सकता कि नान्दीपुरी के गुर्जरों ने इस नये परिवार की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार किया था, या कोई और कारण था, जिससे उन्हें अवन्ती के प्रतिहारों का कोपभाजन बनना पड़ा, और इस बात का कोई संगत कारण नहीं बताया जा सकता कि अवन्ती के प्रतिहारों ने अपने ही कुल के एक राज-परिवार को गद्दी से हटाकर एक बाहरी परिवार को क्यों चुना। नान्दीपुर के गुर्जर परिवार का अन्तिम ज्ञात राजा जयभट चतुर्थ था और उसकी एक ही ज्ञात तिथि सन् ७३५ ई० है।

(III) गुहिलौत

मेवाड़ के गुहिल-पुत्रों या गुहिलौतों को ठीक ही राजपूत कुलों का चूड़ामणि समझा जाता है। इस नाम के गिर्द अनेक मध्यकालीन अनुश्रुतियाँ गुँथ गयी हैं। ये रूमानी कहानियाँ और चारण-परम्पराएँ इतने विविध प्रकार की हैं कि उनके आधार पर इस परिवार के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना असम्भव हो गया है। इसके अलावा आधुनिक लेखकों में भी इस प्रश्न पर काफी मतभेद है। प्रस्तुत पुस्तक में स्थानाभाव के कारण इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है। यहाँ केवल विश्वसनीय पुरालेखों के आधार पर इस परिवार के उद्भव और आरम्भिक इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाएगा।

इस परिवार की सम्पूर्ण वंशावली पहली बार अटपुर के शिलालेख में दी गयी है, जिसकी तारीख सन् ९७७ ई० है। इसमें गुहदत्त से लेकर शक्तिकुमार तक के २० राजाओं के नाम दिये गये हैं। अगर हम हर राजा के शासन-काल की औसत अवधि २० साल मानें तो अनुमानतः गुहदत्त छठी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुआ होगा। इस तारीख की पुष्टि शील (शीलादित्य) और अपराजित के अभिलेखों से होती है, जो इस सूची में पाँचवें और छठे नम्बर के राजा थे। क्रमशः उनकी तारीखें विक्रमी संवत् ७०३ (=६४६-६४७ ई०) और विक्रमी संवत् ७१८ (=६६१-६६२ ई०) हैं। इससे चारणों के इतिवृत्तों की यह परम्परा निर्मूल सिद्ध हो जाती है कि गुह, जो इस परिवार का संस्थापक था, वलभी के अन्तिम राजा शीलादित्य का बेटा था, क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि शीलादित्य ने सन् ७६६ ई० तक राज्य किया था।

गुहिलौत शासकों में सबसे प्रसिद्ध नाम बप्पा रावल का है। अटपुर के शिलालेख में उसका नाम नहीं आता, लेकिन तेरहवीं शताब्दी के बाद के सभी परवर्ती अभिलेखों में दी गई वंशावली के शीर्षस्थान पर उसी का नाम मिलता है। इस शृखंला के प्रारम्भिक विवरणों के अनुसार बप्पा आनन्दपुर का रहने वाला था, हारित-रासि नाम के ऋषि के चरणों में बैठकर उसने तपस्या की थी और उसके वरदान से वह चित्रकूट (चित्तौड़) का राजा बना था। बाद के विवरणों में कहा गया है कि हारित-रासि से वरदान प्राप्त करके उसने मोरी वंश के राजा मनुराज से चित्तौड़ जीत लिया और रावल की उपाधि धारण कर ली।

विभिन्न इतिवृत्त इस बात पर सहमत हैं कि बप्पा आठवीं शताब्दी के हुआ था। टॉड के अनुसार उसने सन् ७२८ ई० में चित्तौड़ पर कब्जा किया सन् ७६४ में गद्दी त्याग दी थी। पंडित ओझा ने इन दोनों घटनाओं की तारी ७३४ और ७५३ ई० दी हैं। अन्य विद्वानों ने भी इन सीमाओं के भीतर तारीखें सुझायी हैं।

बप्पा की तारीख से यह स्पष्ट है कि वह गुहिलौत राजवंश का संस्थापक सकता और वह अटपुर की सूची में उल्लिखित प्रथम राजा गुहदत्त से दो के बाद हुआ था। इसलिए पंडित ओझा ने बप्पा की शिनाख्त उस सूची के राजा कालभोज से की है और डाक्टर भंडारकर ने नवें राजा खोमाण या प्रथम से। मेवाड़ के इतिहास और परम्परा में खुम्माण की प्रसिद्धि को देखते दूसरा मत ही अधिक मान्य होना चाहिए।[1] बप्पा रावल प्रत्यक्षतः एक व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं। इन दोनों शब्दों में से हरेक के कई कई अर्थ सुझाये और यह सम्भव है कि यह पदवी एक से अधिक राजाओं के नाम के आगे गई हो।[2]

यद्यपि कहा जाता है कि बप्पा आनन्दपुर का निवासी था और उसने चित्तौ लिया था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुहिलौत मेवाड़ पर बहुत पहले से राज आ रहे थे। सबसे पहले उनकी सत्ता का केन्द्र नागहृद (नाग्दा) था और शताब्दी में यह केन्द्र हटकर आघाट (अहर) में चला गया। पुरालेखों से प्रमाण नहीं मिलता कि इस परिवार की राजधानी चित्तौड़ थी, और पन्द्रहवीं ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि बप्पा भी नागहृद में राज करता मेदपाट (मेवाड़) में था। फिर भी यह परम्परा, कि बप्पा ने चित्तौड़ जीत नये राज्य की स्थापना की थी, शायद बिल्कुल निराधार नहीं है। यह सम्भव उन दिनों मौर्य या मोरी चित्तौड़ पर राज कर रहे हों, जब सन् ७२५ और के बीच अरबों ने देश के इस भाग को रौंद डाला था।[3] मौर्य शायद इन में हार गये थे और बप्पा ने, जो पड़ोसी राज्य का सामन्त था, और जिसने हमलावरों का अधिक सफलता से मुकाबला किया था, चित्तौड़ के किले पर लिया हो। टाड ने चारण-परम्परा के आधार पर कहा है कि बप्पा ने म्लेच्छों, अ-हिन्दू विदेशी हमलावर गिरोहों को, जिन्होंने मोरी राज्य पर हमला निकालकर चित्तौड़ पर कब्जा किया था, और इसमें शायद अरबों के विरुद्ध उसके युद्ध की अनुगूँज हो। यह नामुमकिन नहीं है कि छोटी-सी गुहिल रियासत पर भी ने धावा किया हो और बप्पा ने फिर से उसे स्वतन्त्र किया हो। ऐसी सूरत में ही वह गुहिलौत राज्य का संस्थापक कहलाने का अधिकारी है।

---

[1] बनर्जी, राजपूत स्टडीज, पृ. २५।

[2] प्रो. इ. हि. का., III. ८१७. पा. टि।

[3] देखिए पृ. १७०।

गुहिलौतों के इतिहास को हम संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं : छठी शताब्दी ई० के मध्य, गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद, गुहदत्त नाम के सामन्त ने पुराने उदयपुर राज्य के पश्चिमी भाग में एक छोटी सी रियासत कायम कर ली थी। इस रियासत पर लम्बे अरसे तक उसके वंश के राजा, जिन्हें उसके नाम पर गुहिल या गुहिल-पुत्र कहते थे, शासन करते रहे, यद्यपि उनके बारे में कुछ उल्लेखनीय हमें ज्ञात नहीं है। सन् ७२५ और ७३८ ई० के बीच जब अरबों ने देश के इस भाग पर आक्रमण किया, उस समय खुम्माण प्रथम ने, जो इस वंश का नवाँ राजा था और बप्पा रावल के नाम से भी प्रसिद्ध था, अरब हमलावरों का सफलतापूर्वक मुकाबला करने में ख्याति प्राप्त की। उसकी सफलता का जितना श्रेय उसकी बहादुरी को है, उतना ही उस प्रदेश की दुर्गम पहाड़ियों को भी है, जिन्होंने आत्म रक्षा में उसकी मदद की। जो भी हो, अरब हमलों से अराजकता और अफरा-तफरी की जो स्थिति बन गयी थी, उसका लाभ उठाकर वह चित्तौड़ और शायद उसके गिर्द के क्षेत्र का स्वामी बन गया। उसने अपने खान्दान की मान-प्रतिष्ठा और राजनीतिक शक्ति इतनी बढ़ा ली कि आगे आनेवाली पीढ़ियां उसको न सिर्फ अपने खान्दान का सबसे महान् शासक मानने लगीं बल्कि उसका वास्तविक संस्थापक भी समझने लगीं। यह भी सम्भव है कि कुछ समय बाद जब चितौड़ इस खान्दान की राजधानी बना तो उस समय लोक-स्मृति अपने उस हीरो के नाम पर केन्द्रित हो गयी, जिसने सबसे पहले इस अभेद्य गढ़ को जीता था। गुहिलौतों के इतिहास में बप्पा रावल का नाम सबसे अधिक श्रद्धास्पद है, और जैसा आमतौर पर होता है, उसके नाम के गिर्द इतनी रूमानी कथाएँ बुन ली गयीं कि वह एक ऐतिहासिक राजा की बजाय पौराणिक कथा-नायक बन गया। बप्पा के नाम के साथ जुड़ी हुई इन अनुश्रुतियों को दोहराना व्यर्थ है, क्योंकि उनके आधार पर ऐतिहासिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

बाद में चलकर गुहिलौत अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय मानने लगे और महाकाव्यों के नायक राम का वंशज होने का दावा करने लगे। किन्तु प्राचीन अभिलेखों में ऐसा कोई सुराग नहीं मिलता। इसके विपरीत कुछ प्राचीन पुरालेखों में गुहिल राजाओं को स्पष्टतः ब्राह्मण बताया गया है। इस खान्दान के संस्थापक गुहदत्त और बप्पा रावल को दो अभिलेखों में, जिनकी तारीख क्रमशः ९७७ और १२७४ ई० है, **विप्र** या ब्राह्मण कहा गया है। एक अन्य अभिलेख में, जो सन् १२८५ ई० का है कहा गया है कि बप्पा ने ब्रह्म (पुरोहिताई) छोड़कर क्षत्र (सैनिक) गौरव अपना लिया था। इसके विरुद्ध पंडित ओझा और सी०वी० वैद्य के तर्कों के बावजूद, हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आरम्भ में गुहिलौत अपने को ब्राह्मण कहते थे, और बहुत बाद की शताब्दियों तक उन्होंने कभी सूर्यवंशी क्षत्रिय होने का दावा नहीं किया था।[1]

---

[1] डा. भंडारकर का विचार है कि गुहिलौत आनन्दपुर के नागर ब्राह्मण थे, जो मूलतः किसी विदेशी कुल के थे। (ज. प्रो. ए. सो. व., १९०९, पृ. १७०)। पंडित और सी. वी. वैद्य ने इस मत का खंडन किया है। इस बहस का सार बनर्जी ने (पू. पु. पृ. ८ प. पृ.) प्रस्तुत किया है। और भी देखिए इ. हि. क्वा. XXVI. २६३; XXVIII. ८३।

उदयपुर पर राज करने वाले गुहिलौत-वंश के अलावा शायद पड़ोस के क्षे इस खान्दान की अन्य शाखाएँ भी राज कर रही थीं। जयपुर से २६ मील दक्षि चत्सु नाम के कस्बे में मिले एक अभिलेख से ऐसी ही एक शाखा का पता च गुहिलौत की इस शाखा की स्थापना सातवीं शताब्दी या छठी शताब्दी के अन्त में भर्तृपट्ट ने की थी, जो इस अभिलेख के अनुसार "परशुराम के समान था, जिसमें और क्षत्र दोनों गुण थे।" इससे साफ जाहिर है कि जिस तरह परशुराम जो ब्राह्मण थे, लेकिन उनका कर्म क्षत्रियों का था, उसी तरह भर्तृपट्ट जाति से और कर्म से क्षत्रिय था। इससे इस मत की पूरी तरह पुष्टि हो जाती है कि गु आरम्भ में ब्राह्मण थे।

इस परिवार का सबसे पहला अभिलेख[1] गुहिल के पुत्र और भर्तृपट्ट की परम्परा के तीसरे राजा धनिक के एक अभिलेख में मिलता है। यह अभिलेख के कस्बे के पास मिला था, जो ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में मालव क केन्द्र था। यह स्थान चत्सु से करीब ५० मील दक्षिण में है और उस पर सन् ८ की तारीख पड़ी है। यह धनिक शायद उस गुहिल-पुत्र धनिक से अभि जिसका सन् ७२५ ई०[2] के एक अभिलेख में जिक्र हुआ है। इस सूरत में, गुहिलौ इस शाखा का जयपुर और उदयपुर में काफी बड़े क्षेत्र पर शासन था।

सन् ७२५ ई० के इस अभिलेख में कहा गया है कि धनिक, **परमभट्टारक** **राजाधिराज परमेश्वर श्री** धवलप्पदेव के, जो शायद मौर्य शासक धवल का ही न सामन्त की हैसियत से धवगर्त्ता पर राज करता था।[3] उदयपुर राज्य के जहाजपुर के वर्तमान नगर धोर से धवगर्त्ता की पहचान की गयी है। इस अभिलेख को इ का प्रमाण माना जाता है कि गुहिलौतों की इस शाखा के राजा उदयपुर के शासकों के अधीन सामन्त थे। इसलिए यह विचार किया जाता है कि शायद इस की मुख्य शाखा के राजा भी मौर्यों के सामन्त हों और जब अरबों के आक्रमण ने के राज्य का खात्मा कर दिया तो बप्पा ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर लेकिन नगर में प्राप्त धनिक के अभिलेख ने इस मत को एक सीमा तक संदिग्ध दिया है, क्योंकि उसमें किसी अधिराज का हवाला नहीं है।

गुहिलौत-खान्दान की इस शाखा का परवर्ती इतिहास हमारे लिए यहाँ प्र नहीं है। हम नहीं जानते कि इसे जयपुर राज्य की सत्ता कब प्राप्त हुई और सन् ७

---

[1] भारत-कौमुदी, I. पृ. २६७।

[2] ई. इ., XX. १२२. डाक्टर भंडारकर ने इस तारीख को ४०७ गुप्त-संवत् (सन् ७ पढ़ा है। लेकिन श्री आर. आर. हालदार इसको २०७ पढ़ते हैं और इसे हर्ष संवत् की तारीख डा. भंडारकर का पाठ अधिक सही लगता है। गुहिल-धनिक हर्ष-संवत् २०७ (सन् ८१३ ई०) सकता था, क्योंकि उससे आगे का चौथा राजा हर्षराज प्रतिहार राजा भोज प्रथम का समका

[3] आगे देखिए 'मौर्य' के अन्तर्गत।

तक इसका गुहिलौतों की मुख्य शाखा से क्या सम्बन्ध था। इसके बाद के जमाने में इन दोनों को प्रतिहार सम्राटों की अधीनता स्वीकारनी पड़ी थी।

(IV) चाप

ये चाप शायद वे ही लोग थे, जिन्हें चापोत्कट या चावोटक कहा जाता था और जो आमतौर पर चावडा या (या चौडा, चौर या चावर) पुकारे जाते थे। गुजरात के इतिवृत्तों[1] के अनुसार सन् ७२० से ९६६ ई० तक इन लोगों ने गुजरात और कच्छ के बीच वढियार में स्थित पाँचाशर पर राज किया था।

इन इतिवृत्तों के अनुसार चापोत्कट राजा वनराज ने, जो पाँचाशर के जयशेखर का बेटा था, प्रसिद्ध नगर अणहिलपाटक (आधुनिक पटन) की सन् ७४६ ई० में नींव डाली थी। यदि इन इतिवृत्तों के अन्य वक्तव्यों को नजर अन्दाज़ कर दें, कि दसवीं शताब्दी में गुजरात के अन्दर चालुक्य-वंश की स्थापना करने वाला मूलराज एक चाप राजकुमारी का बेटा था और उसने अपने मामा की हत्या करके अणहिलपाटक पर कब्जा कर लिया था, तो भी पुरालेखों से आठवीं शताब्दी ईसवी कें पूर्वार्ध में चापों की मौजूदगी साबित हो जाती है। सन् ७३८ ई० के एक अभिलेख में कहा गया है कि अरबों ने कच्छेल्ला, सौराष्ट्र, चावोटक, मौर्य और गुर्जर राजाओं को हराया था। कच्छेल्ला शायद कच्छ के लोगों को सूचित करता है और सौराष्ट्र से तात्पर्य शायद काठियावाड़ प्रायद्वीप से है। इस समय चावोटकों का निवास-स्थान कौन सा था, इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। लेकिन चूँकि अरब पूरब में मालव से और दक्षिण में नवसारी से आगे नहीं वढ़े थे, इसलिए चापों का इलाका राजपूताने या उसके निकट पड़ोस में ही कहीं रहा होगा। सन् ९१४ ई० में काठियावाड़ के पूर्वी भाग पर चाप राजा धरणीवराह का शासन था।[2] चूँकि उसे प्रथम राज विक्रमार्क के बाद चौथा राजा बताया जाता है, अतः यह सम्भव है कि उस स्थान पर यह खान्दान एक शताब्दी या उससे अधिक समय से राज करता आया हो। यह सुझाव दिया गया है कि चाप-वंश का राजा व्याघ्रमुख, जो प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य ब्रह्मगुप्त का संरक्षक था, सन् ६२८ ई० में राज कर रहा था और उसकी राजधानी भिल्लमाल थी। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है,[3] न तो यह मत और न ह्वेन-त्सांग के दिये गये गुर्जर राजधानी के नाम की भिल्लमाल के रूप में शिनाख्त ही निश्चित रूप से स्वीकारी जा सकती है। फलतः, चापों को गुर्जर समझने का कोई औचित्य नहीं है।[4] दरअसल, अरबों ने जिन देशों को हराया था, उनको उपर्युक्त सूची में गुर्जरों से अलग गिनाया गया है।

---

[1] डा. हि. ना. इ., ९२५; संकालिया, **आर्क्योलॉजी ऑफ गुजरात,** ३५-३६।

[2] हड्डाला प्लेट्स (इ. ऐ., XII. १९३)।

[3] ऊपर देखिए पृ. १७४-७५।

[4] यह जैक्सन और इन्द्र जी का मत है (ब. ग. I. भाग I, पृ. १५५)।

इस प्रकार चापों का इलाका दक्षिणी राजपूताने में या उत्तरी गुजरात काठियावाड़ में अनुमानित किया जा सकता है, और हो सकता है कि उनकी अधिक बस्तियाँ रही हों, जिनमें पांचाशर और अणहिलपाटक भी शामिल हों, गुजरात के वृत्तान्तों में हवाला दिया गया है।

(V) मौर्य

जाहिर है कि ये मौर्य वे ही लोग थे जिन्हें मोरी राजपूत कहा जाता था चारणों के इतिवृत्तों के अनुसार चित्तौड़ पर राज करते थे। आज भी परमा एक उपकुल है, जो मोरया या मौर्य कहलाता है।[1] पुरालेखों में प्राप्त विवर सातवीं शताब्दी ईसवी और बाद के काल में, उत्तरी और दक्षिणी भारत के कई पर इस खान्दान के शासकों का होना प्रमाणित होता है।[2] इस नाम से निस्सन्देह भारत के मौर्य-सम्राटों के प्रसिद्ध राजवंश का स्मरण हो आता है और यद्यपि त्सांग ने मगध के पूर्णवर्मन् को सम्राट अशोक का वंशज बताया है, लेकिन उस किसी अन्य मौर्य शासक को उस विख्यात राजवंश से सम्बन्धित मानना कठिन है।

झालरापटन के एक अभिलेख में, जिसकी तारीख सन् ६९० ई० है, मौ उल्लेख है।[3] कोटा राज्य में प्राप्त सन् ७३८-३९ ई० के एक और अभिलेख[4] गया है कि स्थानीय राजा मौर्यवंश के राजा धवल का मित्र था। यह धवल वही धवलप्पदेव है, जिसे साम्राज्यिक उपाधियाँ प्रदान की गयी थीं, और जिस में कहा गया है कि उदयपुर का शासक गुहिल-पुत्र धनिक उसके अधीन एक था।[5] इसलिए हमें उस परम्परा को, जिसका उल्लेख पहले किया गया है, एक तक प्रामाणिक मानना चाहिए, जिसके अनुसार गुहिलौत शासक बप्पा ने मोरी मनुराज से चित्तौड़ जीता था। टॉड ने इस राजा का नाम मान बताया है, और शासक की शिनाख्त चित्तौड़ में मिले एक उत्कीर्ण लेख के कर्ता से की गई है पर सन् ७१३ ई० की तारीख है। इस अभिलेख के बारे में बाद में चर्चा जाएगी।

यह ध्यान देने की जरूरत है कि मान, जो सन् ७१३ ई० में राज करता था, उदयपुर का अन्तिम मौर्य राजा था, तो हम यह नहीं मान सकते कि एक मौर्य

---

[1] ऊपर देखिए पृ. १८०; डा. हि. ना. इ., II. ११५४।

[2] ब. ग., I, भाग II, पृ. २८४।

[3] इसमें मौर्य-कुल के राजा दुर्गगण का उल्लेख है। इस अभिलेख का अभी तक सम्पा हुआ है और इसका इ. ऐ. LVI.२१३ में केवल संक्षिप्त हवाला ही दिया गया है।

[4] इ. ऐ., XIX. ५७।

[5] देखिये पृ. १८२।

के रूप में धवलप्पदेव भी सन् ७३८ ई० में उदयपुर पर राज करता था। इसके अलावा, चूँकि यह धवलप्पदेव गुहिल राजा धनिक का अधिराज था, इसलिए हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि सन् ७३८ ई० से पहले बप्पा ने चित्तौड़ पर कब्जा किया होगा। इसलिए इतनी स्वल्प जानकारी होने की वर्तमान स्थिति में मनुराज और मान को अभिन्न मानना सन्देहजनक लगता है।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, मौर्य अरब आक्रमण के शिकार हो गये थे, और शायद इस तबाही के बाद ही बप्पा ने उनको हराकर चित्तौड़ पर कब्जा किया होगा।

(VI) चाहमान

सन् ७५६ ई० के एक अभिलेख में चाहमान राजाओं की छह पीढ़ियों के नाम दिये गये हैं। इस सूची का अन्तिम नाम भर्तृवड्ढ द्वितीय है, जो नागावलोक का सामन्त था। नागावलोक को आमतौर पर प्रतिहार शासक नागभट प्रथम से अभिन्न माना जाता है।[1] भर्तृवड्ढ भड़ोंच जिले पर राज करता था। और अगर उसके पाँच पूर्वजों ने भी वहीं राज किया था तो हमें मानना चाहिए कि इस क्षेत्र में लगभग ६०० ई० से चाहमान ही राज करते थे। लेकिन यह हमारी इस जानकारी के विपरीत है कि इस क्षेत्र में और इसी काल में वहाँ गुर्जर वंश का राज था। इसलिए अनुमान किया जाता है कि या तो भर्तृवड्ढ द्वितीय के पूर्वज शासक सामन्त नहीं थे या फिर यह शासक-परिवार गुर्जर राजा जयभट चतुर्थ के बाद, जिसकी अन्तिम ज्ञात तारीख ७३५ ई० है, किसी और स्थान से भड़ोंच आया था। अधिक विश्वसनीय परम्पराओं के अनुसार चाहमानों का मूल निवास-स्थान साँभर (शाकम्भरी) झील के आसपास बताया जाता है, यद्यपि चारण इतिवृत्तों में कहा गया है कि प्रथम चाहमान या चौहान राजा नमदा के तट पर माहिष्मती में शासन करता था।[2] यह नामुमकिन नहीं है कि इनमें से किसी क्षेत्र में चाहमान पहले मामूली से जागीरदार रहे हों, और नागभट प्रथम ने भर्तृवड्ढ प्रथम को अपने सामन्त की हैसियत से भड़ोंच पर शासन करने के लिए नियुक्त किया हो।

इस सम्बन्ध में, यह उल्लेखनीय है कि चित्तौड़गढ़ से प्राप्त, सन् ७१३ ई० के एक उत्कीर्ण लेख[3] में चार राजाओं के एक वंश का विवरण दिया गया है। इनके नाम हैं, त्वष्टृ जाति का महेश्वर, भीम, उसका बेटा भोज और उसका बेटा मान। विचित्र संयोग की बात है कि चाहमान शासक भर्तृवड्ढ द्वितीय के प्रथम दो पूर्वजों के नाम भी महेश्वरदाम और उसका बेटा भीमदाम हैं। दोनों के सामान्य नामान्त

---

[1] ई. इ. XII. २०१।

[2] डा. हि. ना. इ., II. १०५२ प. पृ।

[3] भ. लिस्ट, सं. १६।

दाम को अगर छोड़ दें तो दोनों सूचियों में न सिर्फ ये नाम समान हैं, बल्कि तारीखें भी समान हैं। इसलिए यह नामुमकिन नहीं है कि वे एक दूसरे से भी हों। उस सूरत में हमें अनुमान करना होगा कि मूलतः चाहमान सातवीं ई० में चित्तौड़ के आसपास कहीं रहते थे। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने है कि यह कुल मूलतः त्वष्टृ जाति का था और अधिक सत्ता पाने के बाद सदस्यों ने अपने नामान्त में दाम लगाना शुरू किया जो पश्चिमी क्षत्रपों का होता था, और वे अपने आपको चाहमान पुकारने लगे।

टॉड की व्याख्या के अनुसार चित्तौड़गढ़ के अभिलेख से यह अर्थ निकलता सन् ७१३ ई० में इस क्षेत्र पर मालवेश्वर का आधिपत्य था। लेकिन इस पर किया जा सकता है। 'मालवेश्वर' का प्रयोग प्रत्यक्षतः तारीख के सम्बन्ध में गया था, जो यह सूचित करता था कि यह तारीख प्रसिद्ध मालव-संवत् की थी। और उसके तीनों पूर्वज या तो स्थानीय शासक थे, या उच्च-पदाधिकारी। ऊपर देखा जा चुका है, कुछ विद्वान् मान को मौर्य या मोरी शासक मानते हैं बप्पा ने हराया था। यदि इस मत को स्वीकार कर भी लिया जाए तो ऊप अभिन्नता का सुझाव दिया गया है, वह खण्डित नहीं हो जाता। क्योंकि यह अ नहीं है कि चाहमान दरअसल मौर्यों की ही एक शाखा या प्रशाखा हों। लेकि अटकलबाजी में पड़ने की जरूरत नहीं है। भर्तृवड्ढ द्वितीय या उसके पांच पू से किसी के साथ सम्बद्ध एक भी ऐतिहासिक घटना की जानकारी हमें नहीं है।

(VII) गौण राज्य

पुरोलेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सन् ६०० और ७५० ई० के राजपूताने में और अनेक राज्य थे।

एक अभिलेख में,[1] जो सिरोही राज्य में वसन्तगढ़ के स्थान पर पाया गया है जिसकी तारीख सन् ६२५ ई० है, एक स्वतन्त्र राजा वर्मलात और उसके राजा राज्जिल का उल्लेख है। राज्जिल का बाप वज्रभट सत्याश्रय भी इसी राज सामन्त था। राज्जिल अर्बुद पर्वत (आबू पर्वत) की रक्षा करता था और राजधानी का नाम वट था जो निश्चय ही वसन्तगढ़ का पुराना नाम है। वर्मलात इसी नाम के उस राजा से अभिन्न है जिसका प्रधान मंत्री प्रसिद्ध कवि का पितामह था। दुर्भाग्य से इस शासक के बारे में हमें और कुछ नहीं मालूम, यह नामुमकिन नहीं है कि ह्वेन-त्सांग ने, जो इस क्षेत्र से गुजरा था, के नाम से उसके ही राज्य का हवाला दिया हो।

कोटा राज्य के शेरगढ़ में प्राप्त एक अभिलेख[2] में उल्लेख मिलता है कि सन् ई० में एक सामन्त देवदत्त राज करता था। चूँकि उसके तीन पूर्वजों का

---

[1] ई. इ. IX. १९१।

[2] भ. लिस्ट. सं. १२१।

नाग" है, अतः हम अनुमान कर सकते हैं कि आठवीं शताब्दी में, यदि उससे पहले हीं, उस क्षेत्र में किसी नाग खान्दान का शासन था।

११. पश्चिमी सीमा पर स्थित सिन्ध तथा अन्य राज्य

पश्चिमी भारत में सौराष्ट्र और गुर्जर राज्यों के अलावा, सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य न्धु का था। जैसा पहले उल्लेख किया गया है,[1] यह राज्य पुष्पभूति वंश का श्मन था और हर्षवर्धन ने उसको नष्ट कर दिया था। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि ह सातवीं शताब्दी ई० के आरम्भ से ही एक विशाल और शक्तिशाली राज्य बन या था, और यद्यपि हर्ष ने इसके विरुद्ध कुछ सफलता प्राप्त की होगी, लेकिन वह इस र कोई स्थायी प्रभुत्व नहीं कायम कर सका। ह्वेन-त्सांग ने न केवल इसको एक स्वतंत्र राज्य बताया है, बल्कि इसके अधीनस्थ तीन और राज्यों का भी उल्लेख किया है। इन अधीन राज्यों के स्थान का निश्चित पता करना कठिन है, लेकिन सिन्धु और उसके अधीनस्थ राज्यों के अन्तर्गत निश्चय ही मुल्तान से पश्चिम की सारी सिन्धु घाटी का क्षेत्र शामिल था।

सिन्ध का एक स्थानीय इतिवृत्त **चच-नाम**[2] है, जिसमें उसके इतिहास के कुछ दिलचस्प ब्यौरे दिये गये हैं। इस वृत्तान्त के अनुसार सिन्ध का राजा सहिरस एक विशाल क्षेत्र पर, उत्तर में जिसकी सीमा काश्मीर और पश्चिम में मकरान से मिलती थी, शासन करता था।

सिन्ध के उत्तर-पश्चिम में भारत के पश्चिमी सीमान्त पर दो और महत्त्वपूर्ण राज्य थे। उत्तर में कापिश या कावुल या कावुलिस्तान का राज्य था, जिसमें कावुल की घाटी और हिन्दूकुश तक का पहाड़ी इलाका शामिल था। कावुल के दक्षिण में जाबुल या जाबुलिस्तान था, जिसमें हेलमन्द नदी की घाटी का ऊपरी भाग और उसके पूरब और पश्चिम का काफी बड़ा इलाका शामिल था।

ह्वेन-त्सांग के अनुसार कापिश का राज्य बहुत बड़ा था, और उसके अधीन दस रियासतें थीं, जिन पर उसका आधिपत्य था। इन अधीन राज्यों में लम्पाक (लघमन), नगर (जलालाबाद) और गंधार भी थे। जाबुलिस्तान के बारे में हमें विस्तृत ब्यौरा तो उपलब्ध नहीं है, लेकिन वह भी एक अत्यन्त शक्तिशाली राज्य था। सातवीं शताब्दी ई० में ये राज्य राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से भारत के अंग थे। उनकी भाषा, साहित्य और धर्म भारतीय थे और उनके राजाओं के नाम भी भारतीय थे। जाबुल के राजाओं का पदनाम शाहि था और कापिश के राजा अपने आपको क्षत्रिय

---

[1] देखिए, पृ. १११।

[2] इस कृति तथा अन्य अधिकारी कृतियों का विवरण जानने के लिए देखिए, ज. इ. हि., X. परिशिष्टांक, पृ. ११ प. पृ.।

कहते थे। इन दोनों राज्यों की सीमाएँ समय-समय पर वदलती रहती थीं, और कुछ शासक सचमुच बहुत शक्तिशाली हो गये थे। हमें उनके एक राजा बारे में ज्ञात है, जिसके सिक्कों पर सशानिद् पहलवी और भारतीय लिपि में अँकित हैं, जिनके अनुसार वह वहमन (ब्राह्मनाबाद ?) मुल्तान, तुकन, जावुलि और सपरदलक्शन (सपादलक्ष ?), का शासक था। इसी क्षेत्र का, और लगभग काल का, एक दूसरा राजा शाहि तिगिन था, जिसे पहलवी प्रशस्ति में ताकन और सान का और भारतीय लिपि में भारत और ईरान का परमेश्वर कहा गया है। ये शायद काबुल और जाबुल के सीमान्त प्रदेशों के शासक थे, लेकिन उनके निश्चित रूप से और कुछ नहीं मालूम है।[1]

काबुल या जाबुल के इतिहास की कोई सुसम्वद्ध रूपरेखा पेश करना सम्भ है। केवल सिन्ध के बारे में ही हमें स्थानीय **चच-नाम** और अरवी कृतियों के कुछ विस्तृत ब्यौरे उपलब्ध हैं। इनमें दिये गये ब्यौरे प्राय: विश्वसनीय नहीं हैं, उनकी मदद से एक साधारण रूपरेखा तैयार की जा सकती है, जिसे किसी विश्वसनीय समझा जा सके।

इन इतिवृत्तों के अनुसार सहसि राय का बेटा राजा सहिरस एक विशाल पर शासन करता था, जिसकी सीमाएं उत्तर में काश्मीर, पूर्व में कन्नौज और में मकरान तक फैली थीं। यह तथ्य कि हर्षवर्धन ने सिन्ध के राजा से युद्ध कि इस वृत्तान्त को सम्भाव्यता का रंग प्रदान कर देता है। इस विशाल राज्य के केन्द्र पर राजा स्वयं शासन करता था और उसकी राजधानी का नाम अलोर शेष राज्य चार प्रान्तों में विभाजित था; वहाँ पर एक-एक गवर्नर नियुक्त किया था, जो साथ ही एक कर-द सामन्त भी होता था। यह विवरण ह्वेन-त्सां विवरण से काफी मिलता है।

राजा सहिरस निमरुज के, जो फारस का एक सूबा था, राजा से लड़ते-लड़ते रहा, इस राजा ने सिन्ध पर आक्रमण किया था और ओकिरमन तक घुस आया यह घटना भी सम्भवत: सातवीं शताब्दी ई० के आरम्भ की है।

सहिरस के बाद उसका बेटा राय सहसि द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके रा में चच नाम का एक ब्राह्मण अपने ऊँचे पद के कारण बहुत शक्तिशाली हो गया अपने स्वामी की मृत्यु के बाद गद्दी का मालिक बन बैठा।

आरम्भ में प्रान्तीय गवर्नरों ने इस अनधिकारी राजा का प्रभुत्व स्वीकार क इन्कार कर दिया। लेकिन चच ने खुद फौज लेकर उन पर चढ़ाई की और उनके का दमन करके उन सब पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। वह काश्मीर की पहाड़ि

---

[1] रैप्सन, **इंडियन क्वायंस** § १०९ (पृ. ३०-३१): वी. ए. स्मिथ ने इससे कुछ भि प्रकट किया है (कै. क्वा. इ. म्यू. २३४), देखिए, इस वर्ग के अन्य सिक्कों की जानकारी के लिए इ द्वारा उल्लिखित अन्य कृतियाँ।

ओर भी फौज लेकर बढ़ा, और उसने दोनों राज्यों की स्थायी सीमाओं का भी निर्धारण करवाया। प्रत्यक्षतः अरब आक्रमण के कारण फारस में जो गड़बड़ी मची थी, उसका लाभ उठाकर, चच ने मकरान के एक हिस्से पर कब्जा कर लिया और कन्दबिल (कलात के पूरब में) के लोगों को खिराज देने के लिए मजबूर कर दिया।

इस प्रकार **चच-नाम** के अनुसार चच एक बड़ा शक्तिशाली राजा था, लेकिन इस कृति में दी गई सभी बातों को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है। इसमें चच के गद्दी पर बैठने की जो तारीख दी गयी है, अर्थात् सन् ६०२ ई०, वह शायद गलत है। अगर हम ह्वेन-त्सांग के वक्तव्य को सही मानें कि सिन्ध का राजा शूद्र था, तो हमें ब्राह्मण चच के गद्दी पर बैठने की तारीख सन् ६४० ई० के बाद में रखनी होगी। यद्यपि एक अरबी वृतान्त में चच द्वारा गद्दी पर बैठने की तारीख सन् ६२२ ई० बतायी गयी है, जो कि **चच-नाम** में दिये गये अगले शासकों के ब्यौरों से मेल खाती है, लेकिन सन् ६४० ई० से बाद की तारीख इस तथ्य के साथ और भी मेल खाएगी कि उसका बेटा सन् ७०८ ई० में गद्दी पर बैठा था।

चच ने अपने पूर्ववर्ती राजा की विधवा रानी से विवाह किया था और उससे उसके दो पुत्र हुए थे—दहरसियह और दाहर। लेकिन चच के बाद उसका भाई चन्दर गद्दी पर बैठा था। चन्दर के बाद उसका बेटा दुराज और चच का बेटा दाहर गद्दी के प्रतिद्वन्द्वी दावेदार बने। लेकिन दहरसियह ने दुराज को मार भगाया और राज्य चच के दोनों बेटों में बंट गया। फिर दहरसियह की मृत्यु के बाद अकेला दाहर इस संयुक्त-राज्य पर शासन करने लगा।

इस घटना की सम्भावित तारीख ७०० ई० मानी जा सकती है। आठ साल के बाद पड़ोसी रमल के राजा ने आक्रमण किया, लेकिन दाहर ने उसे आसानी से मार भगाया।

दाहर के राज्य-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना अरब आक्रमण थी, जिसने उसे और उसके राज्य को खत्म कर दिया। यह कोई अलग, असम्बद्ध घटना नहीं थी, न अप्रत्याशित ही थी, जैसा कि अक्सर विश्वास किया जाता है, बल्कि भारत पर कब्जा करने की अरबों की निरन्तर कोशिशों का नतीजा था। भारत के इतिहास में इसके अनन्य महत्त्व के कारण अरब-आक्रमण की इस घटना का अलग से और विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

१२. अरब आक्रमण

ईसा की सातवीं शताब्दी में अरबों का सबसे बड़ी सैनिक शक्ति के रूप में अचानक उत्थान विश्व के इतिहास में एक अत्यन्त उल्लेखनीय घटना है। उन एक के बाद दूसरी फौजी सफलताओं का यहाँ विस्तार से वर्णन करने की जरूरत नहीं है, जिन्होंने इस्लाम के उत्थान के बाद शीघ्र ही उन्हें विश्व की महानतम शक्ति बना दिया। लेकिन भारत पर उनके फौजी आक्रमण के स्वरूप और परिणाम को समझने के लिए उसका संक्षिप्त हवाला देना उपयोगी होगा।

सन् ६३२ ई० में पैगम्बर मोहम्मद की मृत्यु के समय उनका लौकिक प्रभु प्रायद्वीप तक ही सीमित था। लेकिन इसके बाद आठ वर्षों के अन्दर ही उत्तराधिकारियों ने सीरिया और मिश्र पर कब्जा कर लिया। उन्होंने सन् ६ ७०९ ई० के बीच सारा उत्तरी अफ्रीका जीत लिया और सन् ७१३ ई० तक उनके कब्जे में आ गया। पैगम्बर की मृत्यु के बाद एक शताब्दी के अन्दर ही मान पश्चिम में फ्रांस के केन्द्र तक पहुँच गये थे, जबकि सन् ७३२ ई० में तु पोयतियर के बीच चार्ल्स मार्तेल ने पश्चिम की ओर उनकी प्रगति रोक दी।

पूर्व की दिशा में भी मुसलमानों ने उतनी ही तेजी से और उतनी ही कामयाबियाँ हासिल कीं। फारस का शक्तिशाली साम्राज्य सन् ७३७ ई० में के युद्ध में बुरी तरह समाप्त हो गया और पाँच वर्षों के अन्दर ही हरात तक सारा फारस बढ़ते हुए अरब-साम्राज्य में मिल गया। सन् ६५० ई० तक साम्राज्य की उत्तरी सीमा आमू दरिया तक पहुँच गयी और उस नदी और के बीच के सारे देश उसमें शामिल कर लिये गये।

यह अनिवार्य था कि इसके बाद अरब अपनी लालचभरी निगाहें भारत डालते। दरअसल, सच तो यह है कि खलीफा उमर (सन् ६३४–४४ ई०) के में ही तीन बार हिन्दुस्तान के विरुद्ध समुद्री बेड़ा भेजा गया था। पहला समुद्री सन् ६३७ ई० में तनह, अर्थात् बम्बई के निकट थाना, के विरुद्ध भेजा ग अगले दो समुद्री बेड़े बरवस (भड़ोंच) और देवल के विरुद्ध, जो सिन्धु नदी के मु एक बंदरगाह था, भेजे गये थे। ये समुद्री आक्रमण दरअसल छापामार का रूप में थे, और शायद असफल रहे थे। उन्हें कम से कम कोई हैरतअंगेज का नहीं मिली थी।

इसके बाद अरब जमीन के रास्ते आये और उनके आक्रमण का पहला सीमान्त के तीनों राज्यों, काबुल, जाबुल और सिन्ध को समान रूप से सहना पहले प्रथम दो राज्यों पर विचार करने के बाद तीसरे राज्य पर विचार सुविधाजनक होगा।

(I) काबुल और जाबुल

सन् ६५० ई० में बसरा के गवर्नर ने एक फौज सिजिस्तान (सीस्तान) को इस क्षेत्र में अरबों को शुरू में कुछ सफलता मिली और वे हेलमन्द नदी के किनारे तक बढ़ते चले आये। लेकिन जल्दी ही उन्हें वापस लौटना पड़ा और उन्होंने जीता था, उसे खो दिया।

खलीफा मुआवियह (सन् ६६१-८० ई०) के जमाने में इस क्षेत्र को जीत जी-जान से कोशिश की गयी। सिजिस्तान के गवर्नर अब्द-अर-रहमान के में एक फौज काबुल की ओर बढ़ी और कुछ महीनों तक घेरा डालने के बाद काबुल पर कब्जा कर लिया। अरब अब काबुल से जबुलिस्तान की ओर ब

विरोधियों को हराकर उन्होंने उस पर भी कब्जा कर लिया। इसक फौरन बाद ही अब्द-अर-रहमान को वापस बुला लिया गया। काबुल और जाबुल के राजाओं ने मौका पाते ही अरबों का जुआ उतार फेंका और अरबों को इन दोनों देशों से खदेड़ भगाया। नये अरब गवर्नर ने यह अभियान फिर से शुरू किया, लेकिन इन दोनों राजाओं के साथ, उनसे धन वसूल करके, उसने सन्धि कर ली।

सन् ६८३ ई० में काबुल ने विद्रोह कर दिया। सिजिस्तान का गवर्नर एक फौज लेकर आया और जुन्जा नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ। अरबों की फौज को पूरी तरह पछाड़ दिया गया। खुद गवर्नर और अमीर वर्ग के सदस्यों की लाशें युद्ध-भूमि में बिछी पड़ी थीं और सैनिक भाग खड़े हुए थे।

जाबुल के राजा ने भी अरबों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी, लेकिन कुछ प्रारम्भिक सफलताओं के बावजूद वह मारा गया और उसकी फौज के पाँव उखड़ गये (सन् ६८५ ई०), लेकिन उसके बेटे और उत्तराधिकारी ने लड़ाई जारी रखी। उसने जब तक अरबों का मुकाबला नहीं किया, जब तक वे उसके देश में काफी भीतर तक नहीं घुस आये फिर उसने सारे पहाड़ी दर्रे और मार्ग बन्द कर दिये और अरब सेनापति को सन्धि करने के लिए विवश कर दिया, जिसके अनुसार उसने धन देकर यह वादा किया कि भविष्य में वह जाबुल पर हमला नहीं करेगा। लेकिन खलीफा ने यह सन्धि नामंजूर कर दी और सेनापति को बरखास्त कर दिया।

इसके फौरन बाद ही अल-हज्जाज ईराक का गवर्नर बना (सन् ६९५ ई०)। उसके सेनापति उबेदुल्ला ने काबुल को दबाने की कोशिश की। काबुल और जाबुल के राजाओं ने मिलकर अरब सेना को कड़ी शिकस्त दी। अरबों की पीछे हटती हुई फौज के सारे रास्ते बन्द कर दिये गये, और यद्यपि वे लड़ते हुए इस घेराबन्दी से बाहर निकल गये, पर उनमें से अनेक भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर मर गये। अपनी फौज की दुर्दशा देखकर शोक से उबेदुल्ला की मृत्यु हो गयी।

अरब फौजों को घोर विपत्ति का सामना करना पड़ा था, और कुछ लेखकों का कहना है कि रक्षा-शुल्क के रूप में एक बड़ी रकम अदा करने के बाद ही उनको घेरे से बाहर निकलने का मौका दिया गया था। इस अपमान का बदला लेने के लिए एक विशाल सेना भर्ती की गयी और बसरा और कुफा के लोगों पर भारी युद्ध-कर लगा कर सेना को लैस किया गया। उसके कमाण्डर अब्द-अर-रहमान ने सन् ६९९ ई० में जाबुल पर चढ़ाई की, उसके राजा को हरा कर देश को खूब लूटा। पिछली हार को ध्यान में रखते हुए वह सावधानी से आगे बढ़ना चाहता था। लेकिन अल्-हज्जाज ने उसको अपनी कार्रवाई तेज करने का आदेश दिया। जब कमाण्डर ने इस पर आपत्ति की तो अल्-हज्जाज ने उसके स्थान पर दूसरा कमाण्डर नियुक्त करने की धमकी दी। इसको अपना अपमान समझ कर अब्द-अर-रहमान ने अल्-हज्जाज और खलीफा के ही विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके ईराक पर चढ़ाई कर दी और बसरा पर कब्जा कर लिया। लेकिन अन्त में शिकस्त खाकर और पीछा करती हुई गवर्नर की

फौज के हाथ गिरफ्तार होने के डर से उसने जाबुल के राजा के यहाँ आ ली । लेकिन जाबुल के राजा ने एक या दो साल के बाद उसका सर क अल्-हज्जाज के पास तोहफे के रूप में भेज दिया । अल्-हज्जाज ने जावुल के सा कर ली और वह इस शर्त पर सात या नौ साल तक जावुल पर हमला न क राजी हो गया कि राजा उसको हर साल खिराज के रूप में एक निश्चित र करता रहेगा । यह सन्धि सन् ७१४ ई० में अल्-हज्जाज की मृत्यु तक चल इसके बाद जाबुल के राजा ने खिराज देने से इन्कार कर दिया और उ लगभग चालीस वर्षों तक अरब उससे कुछ भी वसूल नहीं कर पाये ।

इस प्रकार अरब पचास से अधिक वर्षों तक कावुल और जावुल क आधिपत्य में लेने की लगातार कोशिश करते रहे थे, जिसके दौरान उन्होंने कुछ म सफलताएँ प्राप्त की थीं, पर इसके एवज में उन्हें भारी क्षति भी उठानी पड़ी कोई स्थायी सफलता नहीं पा सके और आखिर में उन्हें यकीन हो गया कि को जीतना उनके वश की बात नहीं है । इसके बाद अरबों ने इन देशों में करना बन्द कर दिया, वे किसी न किसी रूप में अरबों का प्रभुत्व स्वीकार कर इतना ही उन्होंने पर्याप्त समझा । लेकिन यह भी बड़ी कठिनाई से और समय के लिए ही (सन् ७०० से ७१४ ई०) तक प्राप्त हो सका । इसके बाद डेढ़ सौ वर्षों तक काबुल और जाबुल ने अक्षत रूप में अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम

(II) सिन्ध

पहला अरब आक्रमण समुद्री बेड़े के जरिए सिन्धु नदी के मुहाने पर सि बन्दरगाह पर लगभग ६४३ ई० में हुआ था । अरब इतिहासकारों ने इस आ अरबों की विजय का उल्लेख किया है, जबकि **चच-नाम** के अनुसार अरब हार और उनके सरदार को चच के गवर्नर ने देबल की लड़ाई में कत्ल कर दिया था

देबल की पराजय ने खलीफा उमर को दुखद रूप से आश्चर्यचकित कर दि क्योंकि वह सारे संसार में अपनी सेनाओं से सिर्फ जीत की खबरें सुनने का आ इसके बाद उसने स्थल-मार्ग से फौजें भेजने का निश्चय किया और ईराक के ग आदेश दिया कि वह सिन्ध के बारे में उसे पूरी जानकारी पहुँचाये । गवर्नर भेजी कि यह राज्य बहुत शक्तिशाली है और अरबों का आधिपत्य स्वीकार लिए तैयार नहीं है । इस पर खलीफा ने सिन्ध के विरुद्ध फौज भेजने का इरा दिया । उससे अगले खलीफा उथ्मान ने भी अपने गवर्नर से ऐसी ही रिपो सिन्ध पर स्थल-मार्ग से चढ़ाई करने का विचार छोड़ दिया था ।

खलीफा अली के समय में भारत पर आक्रमण करने के लिए सन् ६६० ई० विशाल सेना भेजी गयी । अरब सेना, जिसमें बहुत से अमीर-उमरा और किकान या किकनान तक बिना किसी गम्भीर विरोध का सामना किये ब आयी । किकान बोलान दर्रे के पास एक पहाड़ी राज्य था, जिसके बारे में

लिखा है कि इस राज्य में लोग विशाल पर्वतों और घाटियों के बीच बिना किसी जा के अलग-अलग कुलों और कबीलों में बँटकर पशु-पालकों का जीवन व्यतीत करते । लेकिन **चच-नाम** के अनुसार यह क्षेत्र सिन्ध के केन्द्रीय भाग का अंग था, जिस र राजा का सीधा शासन था। जो भी हो, किकान के लोगों ने डटकर आक्रमण-रियों का मुकाबला किया और अरब फौजों को गहरी क्षति पहुँचाते हुए मार भगाया। रब फौज का कमाण्डर अपने अधिकांश सैनिकों समेत मारा गया (सन् ६६३ ई०)।

इसके बाद किकान ही अरब अभियानों का मुख्य लक्ष्य बन गया। अगले बीस र्षों में सिन्ध के इस सीमान्त प्रदेश पर छः बार हमले किये गये, लेकिन वे किसी भी कार का स्थायी प्रभाव डालने में असमर्थ रहे। इस बीच अरबों ने सिर्फ एक ठोस मयाबी हासिल की कि उन्होंने मकरान जीत लिया।

इसके बाद लगभग बीस वर्षों तक सिन्ध का राज्य अपने सीमान्त प्रदेश पर अरबों आक्रमण से मुक्त रहा। लेकिन सन् ७०८ ई० में ईराक के गवर्नर अल्-हज्जाज ौर सिन्ध के राजा में फिर अनबन बढ़ गयी। श्रीलंका से कुछ मुसलमान औरतों को ज्जाज ले जाने वाले एक जहाज को देबल की बन्दरगाह के पास समुद्री डाकुओं ने कड़ लिया। हज्जाज ने सिन्ध के राजा दाहर को लिखा कि वह औरतों को रिहा र दे, लेकिन दाहर ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए बताया कि उन समुद्री ाकुओं पर, जिन्होंने औरतों को गिरफ्तार किया है, उसका कोई नियन्त्रण नहीं है।

इस बात ने अल्-हज्जाज को सिन्ध के विरुद्ध फौज भेजने का एक बहाना दे दिया। ाम लोगों के इस विश्वास का, कि यह घटना ही अरबों और सिन्ध की दुश्मनी का ूल कारण थी, पर्याप्त आधार नहीं है। जैसा हम देख चुके हैं, यह दुश्मनी बहुत ुरानी थी। देबल की घटना ने तो सिर्फ अल्-हज्जाज के लिए उस देश को जीतने ी खातिर बड़े पैमाने पर कोशिश करने की नई उत्तेजना प्रदान की थी, जो इतने दिनों से अरबों की महान् शक्ति का विरोध करता आया था। आरम्भ में खलीफा इस नये अभियान के लिए अपनी मंजूरी देने में टालमटोल करता रहा, लेकिन आखिरकार अल्-हज्जाज के दुराग्रह के आगे झुककर उसने मंजूरी दे दी। इसके बाद अल्-हज्जाज ने उबेदुल्ला को देबल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। वह लड़ाई हार गया और मारा गया। तब ओमान से समुद्री मार्ग के जरिए एक दूसरी फौज बुदेल के सेनापतित्व में भेजी गयी। बुदेल को नई कुमक दी गई और वह देबल की तरफ बढ़ा। दाहर के बेटे जयसिंह ने आगे बढ़कर उसका मुकाबला किया। सारे दिन घमासान युद्ध हुआ। अन्त में अरब सेना के पाँव उखड़ गये और बुदेल मारा गया।

इसके बाद अल्-हज्जाज ने सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए लम्बी-चौड़ी तैयारियाँ कीं। उसने अपने भतीजे और दामाद मुहम्मद-इब्न-कासिम को नये अभियान का कमाण्डर नियुक्त किया, और उसे बड़े पैमाने पर सिपाही, हथियार और साजो-सामान देकर भेजा। खलीफा से भी उसने पूरी तरह लैस ६००० सीरियाई सैनिक उसको दिलवा दिये।

मुहम्मद देबल पहुँचा और समुद्री-मार्ग से आये घेराबन्दी के भारी साजो की मदद से उसने किला फतह कर लिया। किसी को क्षमा नहीं दी गयी औ दिनों तक देबल में कत्ले-आम जारी रहा। मुहम्मद ने शहर में ४००० अरब शियों को बसाकर, उनके लिए एक मस्जिद भी बनवा दी। देबल बन्दरगाह समय ठीक शिनाख्त करना कठिन है कि वह किस स्थान पर था। कुछ वि अनुसार वह थथह पर स्थित था, जबकि दूसरे विद्वान् उसे घरो की संकरी उत्तरी तट पर, और मीरपुर सक्रो तालुक के घरो गाँव से साढ़े तीन मील प मम्बोर पर बताते हैं।

इसके बाद मुहम्मद देबल से नेरुन की ओर बढ़ा, जो वर्तमान हैदराबाद के बौद्ध श्रमण पहले से ही अल्-हज्जाज के साथ पत्र-व्यवहार करते रहे थे औ उन्होंने खुलेआम रसद-भत्ता देकर मुहम्मद की सहायता की। इसके बाद मुह बिना किसी विरोध का सामना किये ही कई नगरों पर कब्जा कर लि सिविस्तान (सेहवान) की ओर बढ़ा। यहाँ भी, बौद्धों ने अरबों का स्वाग और अपने ही गवर्नर के विरुद्ध उसके साथ समझौता कर लिया, जो लड़ाई में भाग गया। कहा जाता है कि और नगरों के बौद्धों ने भी अरबों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। बौद्धों के इस रवैये का कारण कुछ हद त और रक्तपात के प्रति उनकी घोर जुगुप्सा हो सकती है और कुछ हद तक ए सार्वभौमिक धार्मिक बंधुत्व स्थापित करने का वह आदर्श, जो देश और र सीमाओं से ऊपर हो। भारत पर इस्लाम की विजय होगी, शायद इस प्र प्रचलित भविष्यवाणियों पर लोगों का अन्ध विश्वास भी इस व्यवहार का एक का सकता है। लेकिन यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सारे बौद्धों ने अरबों नहीं दिया था, बल्कि कुछ ने तो उनका मुकाबला भी किया था। इसके विपरीत अबौद्धों ने भी अपने राजा और देश के साथ विश्वासघात किया था।

कुछ प्रमुख सामन्तों ने मुहम्मद की अधीनता स्वीकार कर ली, जो नि पश्चिमी तट के साथ-साथ आगे बढ़ता गया, और दाहर की सेना के सामने प अपना खेमा गाड़ दिया। यहाँ पर मोकह नाम के एक प्रभावशाली सामन्त के सा दाहर से विश्वासघात करके मुहम्मद से जा मिला था, यह समझौता हुआ कि मुहम्मद को सिन्धु पार करने के लिए नावों का बेड़ा देगा और मुहम्मद इसके ब जीते हुए राज्य का काफी बड़ा हिस्सा मोकह को इनाम के रूप में देगा।

मुहम्मद को अल्-हज्जाज से २,००० घुड़सवार सैनिकों की नई कुमक प्रा गयी थी और सिविस्तान के ४,००० जाट योद्धा भी उससे आ मिले थे, जिन्होंने राजा के विरुद्ध विद्रोह किया था, जो दबा दिया गया था। फिर भी मुहम्म महीनों तक सिन्धु के पश्चिमी किनारे पर पड़ाव डाले इन्तजार करता रहा। इ अल्-हज्जाज ने नाराजगी जाहिर की और उसे फौरन नदी पार करके दाहर से का आदेश दिया।

सिन्धु पार करके मुहम्मद उसके पूर्वी तट पर पहुँचा। वहाँ उससे मोकह का ई आकर मिल गया, जो पहले ही दाहर से विश्वासघात कर चुका था। इन दोनों मन्तों की मदद और सलाह से मुहम्मद ने वह झील पार की जो उसकी और दाहर ी फौजों के बीच में पड़ती थी, और फिर राओर के स्थान पर दोनों में घमासान द्ध हुआ। **चच-नाम** के अनुसार, जिसमें इस युद्ध का विस्तार से वर्णन किया गया है, हर बड़ी बहादुरी से लड़ा, और दूसरे दिन अरब फौज के करीब-करीब छक्के छूट ये। इस विवरण के अनुसार "काफिर चारों ओर से अरबों पर टूट पड़े और इतनी हादुरी और मुस्तैदी से लड़े कि इस्लाम की फौज के छक्के छूट गये और घबराहट उसकी पांतें टूट गयीं।" भारतीय राजाओं की प्रथा के अनुसार दाहर अपने हाथी र सवार अपनी सेना का अगली पंक्ति से संचालन कर रहा था। उसे आसानी से शाना बनाया जा सकता था। एक तीर आकर उसकी छाती में घुस गया। राजा ी मृत्यु से उसकी फौज के पाँव उखड़ गये और भगदड़ मच गयी। उसके बेटे जयसिंह पीछे हट कर ब्राह्मनाबाद में शरण ली, और राओर के दुर्ग की हिफाजत का ार वह विधवा रानी पर छोड़ गया। मुहम्मद ने तुरन्त किले पर हमला किया। रानी बहादुरी से मुकाबला किया, लेकिन जब कोई चारा न रहा तो उसने अरबों के हाथ पड़ने के कलंक से बचने के लिए रनवास की अन्य स्त्रियों के साथ आग में कूद कर पने आपको भस्म कर लिया।

राओर पर कब्जा करने के बाद मुहम्मद ब्राह्मनाबाद की ओर बढ़ा। जयसिंह ने ह्मनाबाद और राजधानी अलोर की रक्षा के लिए जबर्दस्त तैयारियाँ कीं और फौज कर आगे बढ़ा ताकि दुश्मन को परेशान कर सके और उसके रसद और कुमक लाने ाले मार्ग को काट सके। यद्यपि उसका वजीर या प्रधान मंत्री भी मुहम्मद से जा मिला था, लेकिन ब्राह्मनाबाद के लोग छः महीनों तक बड़ी बहादुरी से लड़ते रहे, ब उसके कुछ प्रमुख नागरिकों ने दुश्मन से गुप्त-समझौता करके किले का फाटक ोल दिया।

और कई शहरों को जीतने के बाद मुहम्मद ने अलोर पर चढ़ाई की, जो सिन्ध की राजधानी थी। मामूली-सी लड़ाई के बाद ही नगर ने आत्म-समर्पण कर दिया। आस-पास के बाकी शहरों और किलों पर भी कब्जा करने के बाद मुहम्मद ने मुल्तान पर चढ़ाई की, जिसने दो महीनों तक डटकर मुकाबला किया, लेकिन अन्त में विश्वासघात के कारण उसे भी आत्म-समर्पण कर देना पड़ा।

मुहम्मद-इब्न-कासिम निस्सन्देह एक महान जनरल था और उसकी उल्लेखनीय विजयों ने अरबों को भारत में पहली बार अपने कदम जमाने का अवसर दिया था। दुर्भाग्य से, बजाय इसके कि उसके देश में उसकी इन सफलताओं की प्रशंसा होती और उसे पुरस्कृत किया जाता, उसे एक क्रूर नियति का सामना करना पड़ा, और वह भी उन दिनों, जब वह और अधिक विजयें प्राप्त करने में लगा हुआ था। सन् ७१४ ई० में अल्-हज्जाज की मृत्यु ने, और उससे अगले साल खलीफा वलीद की मृत्यु ने, उसके

लिए बुरे दिन ला दिए। नया खलीफा अल्-हज्जाज का दुश्मन था और खान्दान के सदस्यों से बदला लिया। मुहम्मद को आदेश देकर ईराक वापस गया और वहाँ हज्जाज के अन्य दोस्तों और समर्थकों के साथ उसे भी मार डाला गया। **चच-नाम** में दी गयी इस रोमानी कहानी का कोई आधार कि दाहर की दो बेटियों ने, जिन्हें गिरफ्तार करके खलीफा के पास भेजा खलीफा के सामने] मुहम्मद पर यह झूठा आरोप लगाकर उसके कत्ल निकलवाया था कि मुहम्मद ने अपने मालिक के पास उन्हें भेजने से पहले करके उनका कौमार्य भंग कर दिया था।

मुहम्मद के वापस बुलाये जाने और फिर कत्ल कर दिए जाने की बात के सरदारों को अरबों का जुआ उतार फेंकने के लिए फिर उकसा दिया। बेटे जयसिंह ने ब्राह्मनाबाद पर फिर से कब्जा कर लिया। खलीफा ने सिन्ध में करने के लिए हबीब को भेजा। उसने अलोर पर कब्जा कर लिया और छोटे-छोटे नगरों को जीत लिया।

अगले खलीफा उमर द्वितीय (सन् ७१७-७२० ई०) ने सिन्ध के सामन्तों अधीनता में एक प्रकार से पूरी आजादी देने का प्रस्ताव किया। सिर्फ एक कि वे इस्लाम कबूल कर लें। जयसिंह समेत अनेक सामन्तों ने यह शर्त मंजूर लेकिन हिशाम की खिलाफत (सन् ७२४-७४३ ई०) के दिनों में जयसिंह का त्याग करके सिन्ध के गवर्नर जुनैद के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उसे हराकर कैद कर लिया। जयसिंह के साथ ही सिन्ध में हिन्दू राजवंश हो गया।

(III) पश्चिमी भारत

जुनैद ने अब भारत के आन्तरिक भाग पर अरबों का प्रभुत्व कायम करके इब्न-कासिम का काम पूरा करने का निश्चय किया। उसने खुद जाकर और जुर्ज जीत लिये और उसके कमाण्डर मरमद, मंडल, दहनज, बरबस, रौंदते हुए उज्जैन तक बढ़ते चले गये।" इनमें से अधिकांश स्थानों की आसानी से की जा सकती है। मरमद, जाहिर है, मरु-मार को कहा गया है, जो जैसलमेर जोधपुर का क्षेत्र है। बरबस निस्सन्देह भड़ोंच को कहा गया है, और बेलमान बल्लमंडल के लिए इस्तेमाल किया गया है।[1] मलिबह और उज्जैन निस्सन्देह और उसकी राजधानी उज्जयिनी के लिए इस्तेमाल किये गये हैं। इससे जाहिर है कि अरब राजपूताने से होकर पूरब में मालवा और दक्खिन में भड़ोंच तक बढ़ गये थे। एक समकालीन भारतीय अभिलेख से ज्ञात होता है कि अरबों ने

---

[1] देखिए पृ. १७५।

कच्छेलों, सौराष्ट्र, चावोटकों, मौर्यों और गुर्जरों के राजाओं को हराया था और नवसारी[1] तक बढ़ गये थे। इन राज्यों के सम्भाव्य क्षेत्रों को दृष्टि में रखते हुए, हम पाते कि दोनों विवरणों में उल्लेखनीय अनुरूपता है, फर्क सिर्फ इतना है कि अरब इतिवृत्तकार ने सौराष्ट्र को, जो वलभी राज्य को सूचित करता है, शामिल नहीं किया। अरबों के ये आक्रमण सन् ७२४ और ७३८ के बीच हुए थे।

लेकिन अरबों की सफलता अल्पकालिक साबित हुई और उन्हें प्रतिहार राजा नागभट द्वितीय[2] और लाट (दक्षिणी गुजरात) के चालुक्य राजा अवनिजनाश्रय पुलकेशिराज ने हरा दिया। चालुक्य राजा की वीरता से प्रसन्न होकर लोगों ने उसे "दक्षिणापथ-स्तम्भ" और "अजेयों का विजेता"[3] उपाधियों से मंडित किया। नान्दीपुरी के गुर्जर राजा जयभट चतुर्थ का भी दावा है कि उसने अरबों को हराया था।[4] इन दावों के अतिरिक्त, जिनकी समकालीन अभिलेखों में पुष्टि मिलती है, अनेक दूसरे भारतीय राजाओं के बारे में चारण परम्पराओं में कहा गया है कि उन्होंने मलेच्छों को हराया था, और कुछ तो शायद इस काल के अरब हमलावरों का हवाला भी देते हैं।[5] अरब इतिवृत्तों में भी यह स्वीकारा गया है कि जुनैद के उत्तराधिकारी तमिन के जमाने में अरबों के हाथ से ये सारे इलाके छिन गये थे और उन्हें सिन्ध तक ही सीमित हो जाना पड़ा था। लेकिन यहाँ भी उनकी स्थिति डाँवाडोल हो गयी। अरब इतिवृत्तों के अनुसार, "ऐसी जगह तलाश करना, जहाँ कोई मुसलमान भागकर पनाह ले सके, मुश्किल हो गया था", इसलिए सिन्ध के गवर्नर ने झील के उस पार एक शहर आबाद किया, ताकि यह मनसुरा शहर उनकी पनाह-गाह बन सके। इससे साफ जाहिर है कि उमैयदों के अन्तिम दिनों में खिलाफत के अन्दर जो गड़बड़ी का दौर चला था, उससे भारत में भी अरबों की शक्ति का ह्रास हो गया था।

(IV) उत्तर-पश्चिमी भारत

सिन्ध के उत्तर में अरबों के आक्रमणों का कोई ब्यौरा उपलब्ध नहीं है। **चच-नाम** के अनुसार मुहम्मद-इब्न-कासिम मुलतान से फौज लेकर काश्मीर की सीमा तक गया और उसने एक फौज कन्नौज की तरफ भेजी। लेकिन इसके पहले कि वह कोई सफलता प्राप्त कर पाता, खलीफा के हुक्म से उसका कत्ल कर दिया गया। अरब इतिवृत्त मुहम्मद की काश्मीर और कन्नौज पर चढ़ाई का कोई उल्लेख नहीं करते, सिर्फ किरज

---

[1] ए. भ. ओ. रि. इ. X. ३१।

[2] देखिए पृ. १७६-७७।

[3] ए. भ. ओ. रि. इ., X. ३१।

[4] देखिए पृ. १७३।

[5] देखिए, इसी परिच्छेद के पिछले अनुच्छेदों में यशोवर्मन्, ललितादित्य और बप्पा का इतिहास (पृ. १४६ प. पृ., १५१ प. पृ., १७९ प. पृ.)।

पर उसकी जीत का जिक्र करते हैं। चूँकि किरज या कीर देश की कांगड़े की जाती है, इसलिए मुहम्मद अवश्य ही काश्मीर और कन्नौज की सीमाओं पहुँचा था। जुनैद ने दोबारा किरज को जीता लेकिन उसकी सफलता भी अल्प सिद्ध हुई। कन्नौज के राजा यशोवर्मन् और काश्मीर के राजा ललितादित्य लगता है, इस दिशा में अरबों को आगे बढ़ने से रोक दिया था। दोनों सम्राट के पास अपने राजदूत भेजकर अरबों के खिलाफ मिलकर लड़ने किया था और यद्यपि उस ओर से कोई मदद नहीं मिली, फिर भी वे खुद प्रयत्नों से अरबों को हराने में सफल हुए थे।"[1]

इस प्रकार आठवीं शताब्दी ई० के मध्य तक, जबकि इस्लामी जगत में महान् क्रान्ति के परिणामस्वरूप उमैयदों के हाथ से मुख्य सत्ता निकल कर के हाथ में पहुँच गयी थी, भारत में भी इस्लाम की शक्ति और प्रतिष्ठा गिर और केवल सिन्ध के ही कुछ भागों में अरब किसी तरह अपने अस्तित्व को पा रहे थे।

(V) सिंहावलोकन

अब हम भारत के पश्चिमी सीमा-प्रदेशों में हुए अरब आक्रमणों से ऊपर वर्णित मुख्य-मुख्य घटनाओं का आलोचनात्मक दृष्टि से पुनरावलोकन हैं। सभी जानते हैं कि पश्चिम की दिशा से भारत में प्रवेश करने के लिए सेनाओं के सामने सिर्फ चार ही मार्ग खुले हुए हैं। एक समुद्री मार्ग है और मार्ग खैबर दर्रा, बोलान दर्रा और मकरान तट से गुजरते हैं। हम देखते हैं ही अरब इन चारों भागों से भारत के अन्दर घुसने की कोशिश करते आये थे। भड़ोंच और देबल के विरुद्ध सर्वप्रथम समुद्री आक्रमण और फिर इसी दिशा वाले परवर्ती आक्रमणों ने समुद्री मार्ग से भारत में घुसकर कदम जमाने प्रयत्नों की व्यर्थता सिद्ध कर दी थी। स्थल-मार्गों में खैबर दर्रे की हिफाजत और जाबुल कर रहे थे और बोलान दर्रे की हिफाजत किकान या किकानान जाट कर रहे थे। इन राज्यों के साथ अरबों का लम्बा युद्ध, जिसका वर्णन कर चुके हैं, भारत में इन दोनों महान् दर्रों के मार्ग से घुसने के उनके किन्तु निष्फल प्रयास का सूचक है। इन इलाकों के कर्मठ पहाड़ी लोगों ने, जिन्हें दुर्गम पहाड़ियों का कुदरती लाभ प्राप्त था, विश्व के इन विजेताओं का मुकाबला किया और हालाँकि कई बार वे युद्ध में हारे भी, लेकिन उन्होंने मन से मानी। अगर कभी भारत का बिना पक्षपात और बिना पूर्वाग्रह के इतिहास होता, तो इन बहादुर लोगों के वीरतापूर्ण कारनामों को, जिन्होंने दो शताब्दि अरब हमलावरों को भारत में घुसने से रोका, वह मान्यता जरूर दी जिसके वे पात्र हैं।

---

[1] ऊपर देखिए पृ. १४८, १५२।

जब ये तीनों मार्ग कारगर साबित नहीं हुए तो अरबों ने मकरान-तट वाले चौथे मार्ग का प्रयोग किया। यह बताना मुश्किल नहीं है कि अरब इस मार्ग से घुसने में यों सफल हुए, जबकि अन्य मार्गों से आकर पैर जमाने में वे असफल रहे थे। जिन दिनों अरब फौज को युद्ध के साजो-सामान से खूब अच्छी तरह लैस किया गया था और सुदूर सीरिया तक से कुमक मँगायी गयी थी, उन दिनों सिन्ध गृह-युद्धों, आन्तरिक झगड़ों और आधी शताब्दी से होते आने वाले विदेशी आक्रमणों के कारण बिल्कुल अशक्त हो गया था। अपने विरोधी के मुकाबले में राजा दाहर की कूटनीतिज्ञता और सैन्य-कुशलता घटिया किस्म की थी। इस बात को समझना मुश्किल है कि उसने युद्ध-सामग्री और घेराबन्दी का भारी साजो-सामान ढोकर लाने वाले अरब समुद्री बेड़े का मुकाबला क्यों नहीं किया। जाहिर है कि इस काम के लिए उसके पास पर्याप्त जहाजी ताकत नहीं थी। लेकिन इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अरब लगातार भारत की भूमि तक पहुँचने की कोशिश कर रहे थे और इसके लिए मकरान का तट-मार्ग उनके लिए सर्वथा उपयुक्त था, सिन्ध के राजा द्वारा शक्तिशाली समुद्री बेड़ा न तैयार करना, उसमें दूरदर्शिता की कमी का सबूत देता है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि पिछले तीस वर्षों से, सन् ६७० से ७०० ई० तक, दाहर का सिन्ध के दक्खिणी भाग पर अधिकार नहीं था; उस पर शासन करने का अधिकार अरबों के आक्रमण से कुछ साल पहले ही उसे मिला था। यह कारण आंशिक रूप से इस बात पर भी रोशनी डालता है कि नेरुन और सिविस्तान ने, जो दक्खिनी सिन्ध के सबसे ताकतवर गढ़ थे, मुकाबला किये बगैर ही अरबों के लिए अपने फाटक क्यों खोल दिये थे। बौद्धों का देशद्रोही व्यवहार, जनता के एक भाग में प्रचलित अन्ध-विश्वास और राज-परिवार के प्रति जिसने एक पीढ़ी पहले गद्दी पर अनधिकार कब्जा किया था, आम लोगों में किसी भी प्रकार के वफादारी के भाव की कमी, आदि बातें, सामन्तों तथा जनता के विश्वासघात और दुश्मन से जा मिलने का कारण थीं, और उन्होंने दाहर का पक्ष कमजोर कर दिया था।

इन सारे कारणों से, और शायद कुछ और अज्ञात कारणों से भी, सिन्ध का पतन हुआ था। इसलिए, सिन्ध की विजय को इस बात का सूचक नहीं समझना चाहिए कि सामान्यतः अरबों का रण-कौशल भारतीयों से अधिक उच्च कोटि का था। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि सिन्ध की विजय भारत में अरबों की पहली और अन्तिम महान् सफलता थी। इसमें सन्देह नहीं कि सिन्ध के पड़ोस की छोटी-छोटी रियासतों को हराने में जुनैद को तात्कालिक सफलता मिली थी, लेकिन जब उसे उत्तर में काश्मीर और पूरब में कन्नौज या दक्षिण में प्रतिहारों और चालुक्यों के शक्तिशाली राज्यों से लोहा लेना पड़ा, तो उसकी विजयों का जादू टूट गया। यहाँ तक कि कुछ समय के अन्दर ही सिन्ध का भी अधिकांश भाग अरबों के हाथ से निकल गया। अन्ततः तीन शताब्दियों की अनवरत कोशिशों के बाद हम देखते हैं कि भारत में अरबों का प्रभुत्व सिर्फ मनसुरा और मुल्तान की दो छोटी-छोटी रियासतों तक सीमित रह गया था।

जब हम दुनिया के अन्य भागों में उनकी शानदार सैन्य सफलताओं करते हैं, तो भारत में अरबों की अपेक्षया इतनी नगण्य सफलता एक उल्लेख की तस्वीर पेश करती है। इसका कारण निश्चय ही भारत की धार्मिक और विशिष्टताओं में निहित नहीं है, जैसा एँल्फिन्स्टन जैसे पुराने इतिहासकारों करने की व्यर्थ चेष्टा की थी। इसका कारण निस्सन्देह यह है कि उस जमाने देशों की तुलना में भारतीयों की सैन्य शक्ति और राज-व्यवस्था अधिक ऊँचे थी। बाद की घटनाओं की रोशनी में यह बात चाहे जितनी अविश्वसनीय लगे इतिहास का यही स्पष्ट निर्णय है।

सामान्य सन्दर्भ

(४) काश्मीर

कल्हण, **राजतरंगिनी** [(१) एम० ए० स्टाइन, और (२) आर० एस० द्वारा अंग्रेजी में अनूदित]।

(६) कामरूप

राय, एच० सी० **डाइनेस्टिक हिस्टरी ऑफ नॉर्दर्न इंडिया,** जिल्द I, अध्

(७) बंगाल

मजुमदार, आर० सी० (संपा०) **हिस्टरी आफ बंगाल,** अध्याय V.

(८) उड़ीसा (ओडिसा)

वसाक, आर. जी. **हिस्टरी आफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया,** अध्याय VIII.

मजुमदार, आर. सी. "दि शैलोद्भव डाइनेस्टी",

ज. आ. हि. रि. सो., X, १-१५ इसमें विभिन्न मतों विद्वानों के पूर्ण उल्लेख के साथ ब्यौरेवार विवेचन है।

(९) वलभी

I. आधुनिक कृतियां

बम्बे गजेटियर, जिल्द I, खंड १।

संकालिया, एच. डी. **दि आर्क्योलॉजी आफ गुजरात,** पृ० २८–३२।

II लेख

राय, एन. आर. **मैत्रिकाज आफ वलभी,** इ. हि. क्वा. IV, पृ० ४५३-७४

(१०) राजपूताना और गुजरात

(क) गुर्जर-प्रतिहार और नन्दिपुरी के गुर्जर राज्य।

I. आधुनिक कृतियां

बम्बे गजेटियर, जिल्द I, खंड I, परि. III; खंड २, पृ० ३१२ प. पृ०

मुंशी, के. एम, **दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश,** खण्ड III, अध्याय I.

II. लेख

भंडारकर, डी. आर. ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो, XXI, ४०५ प. पृ.; ४१३ प. पृ०।

हार्नली, ए. एफ. आर., ज. रा. ए. सो., १९०४, पृ० ६३९ प. पृ०; १९०५, पृ० १ प. पृ०।

मजुमदार, आर. सी. ज. डि. ले., X. १ प. पृ० (इसमें इस अनुभाग (सेक्शन) में आये कथनों का पूरा निर्देश दिया हुआ है।)

स्मिथ, व्ही. ए. ज. रा. ए. सो. १९०९, पृ० ५३ प. पृ०; २४७ प. पृ०। गुर्जरों और प्रतिहारों के मूल की जानकारी के लिए देखें इ. हि. क्वा. X. ३३७, ५८२-८३, ७६२; इ. क. I. ५१०; इ. हि. क्वा. X. ६१३; XI. १६७; इ. क., IV. ११३; ज. वि. ओ. रि. सो., XXIV. २२१; ए. भ. ओ. रि. इ., XVIII. ३९६; प्रो. इ. हि का., III. ५१३।

(ख) गुहिलौत

I. आधुनिक कृतियां

टॉड, कर्नल जे. **एनॉल्स ऐंड ऐन्टिक्विटीज आफ राजस्थान,**
जिल्द I; एनॉल्स आफ मेवाड़।

वैद्य, सी. वी. **हिस्ट्री आफ मेडीव्हल इंडिया**।

ओझा, पंडित जी एच. **हिस्ट्री आफ राजपूताना।**

बनर्जी, ए. सी. **राजपूत स्टडीज,** अध्याय I.

राय, एच. सी. **डाइनेस्टिक हिस्टरी आफ नार्दर्न इंडिया,** जिल्द II. अध्याय XVIII.

II. लेख

भंडारकर, डी० आर० "गुहिलौत्स", ज. प्रो. ए. सो. ब., १९०९, पृ० १६७ प. पृ०।

राय चौधरी, जी. सी. **डी. आर. भंडारकर वाल्यूम,** पृ० ३११; प्रो. इ. हि. का., III. ८१२; इ. क. III. २१९।

गांगुली, डी. सी. इ. हि. क्वा.,X. ६१३ ।

दत्त, एस. इ. हि. क्वा., IV. ७९७ ।

हलदर, आर. आर. "दि गुहिलाज किंग्स आफ मेवाड़", इ. ए., १९२७।

(१२) अरब आक्रमण

लेख

धर, एस. एन. "दि अरब कंक्वेस्ट आफ सिन्ध" इ. हि. क्वा., XVI. ५१

गनी, एम० ए० "दि ऐड्वेन्ट आफ दि अरब्स इन हिन्दुस्तान "प्रो०ओ०का.,X.

मजुमदार, आर० सी० "दि अरब इनवेजन आफ इंडिया"
ज. इ. हि., X. पूरक अंक।

परिच्छेद : ११

गुप्त-युग में दक्षिणा-पथ

सन् ५४२ ई० के लगभग, बादामि के चालुक्यों के शक्तिशाली कुल के उत्थान से पहले, दक्षिणा-पथ के विभिन्न भागों में, शताब्दियों से, अनेक राजघराने शासन करते आ रहे थे। इन राजघरानों को उनके प्रभाव-क्षेत्रों के अनुसार मध्यवर्ती, पश्चिमी और पूर्वी दक्षिणा-पथ के राज्य-समूहों में बाँट सकते हैं।

क. मध्यवर्ती दक्षिणा-पथ

I. वाकाटक

दक्षिणा-पथ और मध्य भारत के एक भाग में विन्ध्य शक्ति और उसके बहादुर बेटे प्रवरसेन-प्रथम के नेतृत्व में एक महान् शक्ति के रूप में वाकाटकों के उत्थान का वर्णन इससे पहले के भाग में किया जा चुका है।[1] हम देख चुके हैं कि चौथी शताब्दी ई० के पहले चतुर्थांश में जब प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु हुई थी, वह अपने पीछे एक विशाल साम्राज्य छोड़ गया था, जो उत्तर में बुन्देलखंड से लेकर दक्षिण में पुराने हैदराबाद राज्य तक फैला हुआ था।

पौराणिक आख्यानों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्र राजा बने थे। क्या इससे यह सूचित होता है कि प्रवरसेन का साम्राज्य चारों बेटों के बीच बाँट दिया गया था? इसका ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। लेकिन इस अनुमान के पक्ष में थोड़ा सा प्रमाण उपलब्ध है। उत्कीर्ण अभिलेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि प्रवरसेन प्रथम का साम्राज्य कम से कम दो भागों में बाँटा गया था; एक भाग उसके पुत्र गौतमीपुत्र के वंशजों के अधिकार में था, जिसका मुख्यालय नागपुर जिले में था और दूसरा भाग उसके पुत्र सर्वसेन और उसके वंशजों को मिला था, जिसकी राजधानी अकोला जिले में वत्सगुल्म के स्थान पर थी। यह सुझाव दिया जा सकता है कि प्रवरसेन प्रथम के जीवन काल में उसके बेटे विभिन्न प्रान्तों के गवर्नर या वायसराय थे, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद वे या उनके वंशज उन प्रान्तों पर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे होंगे। पौराणिक आख्यानों में प्रवरसेन के जिन दूसरे बेटों का उल्लेख किया गया है, उनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। हालाँकि यह नामुमकिन

---

[1] जिल्द II, (अंग्रेजी संस्करण) पृ. २१७-२२१।

नहीं है कि बाद में उनके द्वारा शासित प्रान्तों को भी गौतमीपुत्र के वंशजों के में मिला लिया गया हो, जो इस राजकुल की मुख्य शाखा का प्रतिनिधित्व करता यह तथ्य कि प्रवरसेन प्रथम के बाद इस कुल के किसी भी राजा को सम्राड वा की पदवी से नहीं पुकारा गया, साम्राज्य के बँटवारे के कारण उसकी शक्ति के का सूचक हो सकता है।

१. वाकाटक परिवार की मुख्य शाखा

ऐसा लगता है कि प्रवरसेन प्रथम का सबसे बड़ा बेटा गौतमीपुत्र था, जि शायद अपने पिता के समय में ही मृत्यु हो गयी थी, क्योंकि वाकाटकों के अभिले उसको कोई राजकीय पदवी नहीं दी गयी। गौतमीपुत्र के बेटे का नाम रुद्रसेन प्रथम था, जो भवनाग की बेटी से उत्पन्न हुआ था और जो अपने पिता गद्दी पर बैठा था तथा जिसके बारे में कहा गया है कि वह महा-भैरव (शि भयंकर रूप) का कट्टर उपासक था। यह नामुमकिन नहीं है कि वह अपने ना के रिश्तेदार कट्टर शिवोपासक भारशिव नागों के प्रभाव में आकर शैव धर्म का अ बन गया हो। वाकाटक विवरणों में भारशिव राजा भवनाग के साथ उ सम्बन्ध को इतनी प्रमुखता दिए जाने से सूचित होता है कि उसे अपने पिता साम्राज्य के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार सुरक्षित करने में अपने रिश्तेदा काफी मदद मिली थी। चूंकि रुद्रसेन के समय का कोई अभिलेख प्राप्त नहीं इसलिए उसके राज्य-काल की घटनाओं या उसके राज्य की सीमाओं के बारे भी ज्ञात नहीं है।

कुछ विद्वान् रुद्रसेन प्रथम को आर्यावर्त्त के राजा रुद्रसेन के अभिन्न मा जिसे समुद्रगुप्त ने सिंहासनच्युत किया था।[2] लेकिन बुन्देलखंड के अनेक भा रुद्रसेन के बेटे और उत्तराधिकारी पृथिवीषेण प्रथम के समय तक वाकाट आधिपत्य था। इसके अलावा, अपने उत्तराधिकारियों की तरह अगर रुद्रसे राजधानी भी दक्षिणापथ के नागपुर जिले में होती तो वह समुद्रगुप्त के सम आर्यावर्त शासक रुद्रदेव से भिन्न होता। यह भी सम्भव है कि मध्य-भारत में स के विजय अभियान से पहले ही वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम हो चुका हो।

रुद्रसेन प्रथम के बाद उसका बेटा पृथिवीषेण प्रथम गद्दी पर बैठा, जो अप की तरह ही महेश्वर (शिव) का उपासक था। उसके वंशजों के विवरणों असामान्य धर्मात्मा पुरुष बताया गया है, और उसे न सिर्फ धर्म-विजयी कहा है, बल्कि 'युधिष्ठिर जैसा आचरण करने वाला पुरुष' भी कहा गया है। उसकी

---

१. देवटेक के शिलालेख को डा. मिराशी रुद्रसेन प्रथम का अभिलेख मानते हैं (का., १९३५, पृ. ६१३-२२)।

२. देखिए पृ. ८।

में एक और उल्लेखनीय बात कही गयी है कि "वह एसा पुरुष था जिसके पुत्र और प्रपौत्र थे और जिसे सौ वर्षों तक अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए धन, सेना और सारे साधन उपलब्ध रहे थे।" इससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि पृथिवीषेण प्रथम शायद सौ वर्ष से अधिक जिया था। लेकिन यह तथ्य, कि उसके पुत्र और उत्तराधिकारी की मृत्यु अपेक्षया छोटी उम्र में ही हो गई थी, इस अनुमान को असम्भव-सा बना देता है। इससे अधिक संगत शायद यह सुझाव है कि पृथिवीषेण के राज्य-काल में (लगभग चौथी शताब्दी का तीसरा चतुर्थांश), विन्ध्य-शक्ति द्वारा संस्थापित वाकाटक साम्राज्य की एक शताब्दी पूरी हो गयी थी।

अभी तक स्वयं पृथिवीषेण प्रथम का कोई विवरण या अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है, लेकिन हमें व्याघ्रदेव के दो अभिलेख मिले हैं, जिनमें उसने वाकाटक वंश के महाराज पृथिवीषेण का सामन्त होने का दावा किया है। उसे पृथिवीषेण प्रथम से अभिन्न मानना चाहिए, यद्यपि कुछ लेखक उसे इसी नाम के दूसरे राजा से अभिन्न मानते हैं।[1] इनमें से एक अभिलेख नचना या पुरानी जसो रियासत में नचने-की-तलाई में मिला है, और दूसरा पहले की रियासत अजयगढ़ के गंज नामक स्थान में; दोनों

---

[1] लगता है कि इन पुरालेखों के अक्षरों की अन्य वाकाटक विवरणों के अक्षरों से ध्यानपूर्वक तुलना नहीं की गयी। नचना और गंज के अभिलेखों की पुरालिपिक विशेषताएँ निस्सन्देह प्रवरसेन प्रथम के प्रपौत्र विन्ध्यशक्ति द्वितीय के बसिम में मिले ताम्र-अनुदान-पत्र से पूर्वकाल की है, अर्थात् उनमें **व** का त्रिकोण रूप है और **त** और **ज** के पुराने रूप हैं। यद्यपि ताम्रपत्रों के अक्षर समकालीन प्रस्तर-लेखों के अक्षरों से ज्यादा विकसित होते हैं, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि नचना और गंज के विवरणों की पुरालिपि इतनी परवर्ती मानी गयी है कि हम व्याघ्रसेन के अधिराज को पृथिवीषेण के प्रथम के बजाय पृथिवीषेण द्वितीय से अभिन्न समझें, जो दरअसल पृथिवीषेण प्रथम के प्रपौत्र का प्रपौत्र था और उससे एक शताब्दी बाद हुआ था। नचना और गंज के अभिलेखों का यह पृथिवीषेण उस नाम का प्रथम वाकाटक राजा था, इसकी पुष्टि एक और प्रमाण से होती है। जैसा रायचौधरी ने बताया है, वाकाटक पृथिवीषेण द्वितीय के पर-दादा के समय से लेकर—अगर इससे भी पहले से नहीं तो—सन् ५८० ई. तक मध्य-भारत के बुन्देलखंड प्रदेश के सामन्तगण वाकाटक राजाओं को नहीं, बल्कि गुप्त सम्राटों को अपना अधिराज मानते थे। इसलिए बुन्देलखंड में सामन्त व्याघ्रदेव और उसके वाकाटक अधिराज पृथिवीषेण का शासन मध्य-भारत में गुप्तों का आधिपत्य स्थापित होने के बाद का नहीं हो सकता, जैसा समुद्रगुप्त के ऐरन वाले और चन्द्रगुप्त द्वितीय (सन् ३७६-४१४ ई.) के उदयगिरि और साँची वाले शिलालेखों से प्रमाणित है। पृथिवीषेण द्वितीय को किसी भी सूरत में सन् ५२८ ई. के बाद नहीं रख सकते, क्योंकि विन्ध्यशक्ति प्रथम के बाद वह वाकाटकों का नवाँ राजा था, और विन्ध्यशक्ति प्रथम को चौथी शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में रखना सम्भव नहीं है। यह तर्कसंगत नहीं लगता कि पृथिवीषेण द्वितीय से पहले के वाकाटकों की आठ पीढ़ियों का समय दो सौ वर्ष से अधिक माना जाए।

लेकिन कुछ विद्वानों का मत इससे भिन्न है (देखिए ज. रा. ए. सो. ब. ले., XII, १ प. पृ.), कभी-कभी व्याघ्रदेव की शिनाख्त उस नाम के उच्चकल्प राजा से की जाती है, जो लगता है कि पांचवीं शताब्दी के मध्य में शासन करता था। आर्यावर्त्त में बुन्देलखंड के व्याघ्रदेव की शिनाख्त इलाहाबाद के शिलालेख में उल्लिखित दक्षिणापथ के शासक व्याघ्रदेव से करना भी असंगत है।

जगहें मध्यभारत के पुराने बुन्देलखण्ड प्रदेश में हैं, जो स्पष्ट है, वाकाटकों के का हिस्सा था। शायद गुप्त-सम्राट समुद्रगुप्त ने सन् ३७६ ई० से कुछ पहले क्षेत्रों पर अपना कब्जा कर लिया था।

पृथिवीषेण प्रथम के बाद उसका बेटा महाराज रुद्रसेन द्वितीय गद्दी पर उसने चन्द्रगुप्त द्वितीय, उर्फ देवगुप्त और उसकी नागवंशी रानी कुवेरनाग की प्रभावती गुप्ता[1] से विवाह किया था। यह विवाह पृथिवीषेण के शासन-काल में था या बाद में, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। लेकिन यह नामुमकिन कि जब वाकाटक राजा को उसके राज्य के मध्य-भारत के क्षेत्रों से निकाल दिया तब उसने दक्षिणापथ की ओर गुप्तों की प्रगति रोकने के लिए यह विवाह-सम्ब किया हो। यह सम्बन्ध वाकाटकों के इतिहास में एक मोड़ का सूचक है। रुद्रसेन द्वि अपनी गुप्तवंशी पत्नी और श्वसुर के प्रभाव में आकर चक्रपाणि (विष्णु) उपासक बन गया। यह मानने का भी कारण है कि इसके बाद गौतमी-पुत्र परि के वाकाटक गुप्त सम्राटों की अधीनता में उनके सामन्त मित्र बन गये थे। शुरू के वाकाटकों की **महाराज** पदवी उनकी पराधीनता की सूचक नहीं थी, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि अनेक अभिलेखों में, जहाँ वाकाटक और गुप्त का साथ-साथ उल्लेख है, वाकाटकों के नाम से पहले तो **महाराज** का विशेषण लगा है, वहाँ गुप्त शासकों के नाम से पहले **महाराजाधिराज** जैसे सम्मानित विशेषण का प्रयोग मिलता है।[2] सम्भवतः गुप्त-सम्राटों को मध्य पश्चिमी भारत के शासकों से, विशेषकर मालव और काठियावाड़ के शकों से करने में अपने दक्षिणी मित्र राज्यों से प्रचुर सहायता मिली थी।

रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु शायद सन् ४०० ई० के कुछ पहले या कुछ बाद हुई थी। लगता है कि वह अपनी पटरानी प्रभावती गुप्ता से उत्पन्न तीन नाबालिग बेटे छोड़कर मरा था। उनके नाम थे दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन

---

[1] मद्रास राज्य के करनूल जिले की श्रीशैल पहाड़ी के **स्थल-माहात्म्य** की एक परम्परा जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त की बेटी राजकुमारी चद्रावती के हृदय में श्रीशैल के देवता के प्रति प्रबल भक्ति उमड़ी कि वह प्रतिदिन उस पर **मल्लिका** पुष्पों का हार चढ़ाने लगी। अक्सर किया जाता है कि यह चंद्रावती दरअसल प्रभावती गुप्ता थी। इस परम्परा का जो भी ऐतिहासिक मूल्य हो, जो प्रत्यक्षतः वहुत सन्दिग्ध है, लेकिन यह शिनाख्त बिल्कुल असंगत है, क्योंकि के बारे में दावा किया जाता है कि वह कट्टर वैष्णव थी, जबकि श्रीशैल का देवता शिव-मल्लिका र्जुन है। इसके अलावा, ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे ज्ञात हो कि कुरनूल कभी भी गौतमीपुत्र वंश के वाकाटकों के राज्य का हिस्सा था।

[2] यह सोचना असम्भव है कि वाकाटकों के सरकारी पदाधिकारी और प्रजागण इन पदवियों में फर्क के प्रति सचेत नहीं थे।

[3] अक्सर यह माना जाता है कि प्रवरसेन द्वितीय का ही दूसरा नाम दामोदरसेन लेकिन यह मत इस कारण स्वीकार्य नहीं है कि हमें यह ज्ञात है कि प्रवरसेन द्वितीय प्रौढ़ में गद्दी पर बैठा था, जब उसकी मां की आयु ८० वर्ष की थी। प्रभावती गुप्ता ने निश्चय ही उम्र तक पहुँचने से बहुत पहले शासन करना छोड़ दिया था।

दिवाकरसेन युवराज था और उसके बालिग होने तक उसकी मां १३ वर्ष तक शासन करती रही। अपर्याप्त जानकारी की वर्तमान स्थिति में यह कहना मुश्किल है कि रुद्रसेन द्वितीय के **अग्रमहिषी** प्रभावती गुप्ता से आयु में बड़ी दूसरी रानियां और **युवराज** दिवाकरसेन से उम्र में बड़े अन्य पुत्र थे या नहीं। यह बताना भी कठिन है कि प्रभावती और उसके बेटों को गद्दी गुप्त सम्राटों से उनके सम्बन्ध के कारण मिली थी। यह प्रश्न भी अनुत्तरित है कि क्या प्रभावती का सबसे बड़ा बेटा अपने बाप से पहले ही मर गया था,[1] या दिवाकरसेन से जो भी बड़ी सन्तानें थीं, वे सब बेटियाँ ही थीं। वैसे यह आम यकीन है कि रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु थोड़े दिन शासन करने के बाद जवानी में ही हो गयी थी। एक अभिभावक के रूप में प्रभावती गुप्ता के इतने लम्बे शासन-काल से स्पष्ट है कि दिवाकरसेन को सोलह वर्ष की उम्र के बाद भी महाराज नहीं बनाया गया था।[2] इसका कारण कुछ विशेष कठिनाइयां हो सकती हैं या फिर प्रभावती गुप्ता का सत्ता-मोह।[3]

पूना में प्राप्त हुए अनुदान-पत्र[4] पर खुद प्रभावती गुप्ता के शासन के तेरहवें साल की तारीख है, जैसा उस पर लगी मुहर में अंकित प्रशस्ति से निर्देशित है। यह अनुदान-पत्र उस रानी ने जारी किया था जो अपने को नन्दिवर्धन या नान्दीवर्धन के "युवराज दिवाकरसेन की मां" कहती थी। लगता है यह नन्दिवर्धन या नान्दीवर्धन यदि पहले से नहीं तो कम से कम रुद्रसेन द्वितीय के समय से वाकाटक-परिवार की इस शाखा की राजधानी थी। कुछ लेखकों ने इस स्थान की शिनाख्त नागपुर से लगभग १३ मील उत्तर में रामटेक के निकट स्थित आधुनिक नगर्धन या नन्दर्धन से की है, और कुछ ने नगर्धन से भी २१ मील उत्तर में स्थित नन्दपुर से की है।[5] अभी

---

[1] जब वह सौ वर्ष से अधिक आयु की हो चुकी थी, तब उसके लिए प्रयुक्त "जीवत-पुत्र-प्रपौत्र" विशेषण इस कथा के खिलाफ जा सकता है। यह ज्ञात नहीं है कि पुरालेखों में पृथिवीषेण के जिन पुत्र और प्रपौत्रों का हवाला है उससे अभिलेखों में उल्लिखित प्रभावती गुप्ता के बेटे ही संकेतित हैं।

[2] यह बात इसलिए असामान्य लगती है कि हम एक आठ वर्ष के बालक को भी वत्सगुल्म के वाकाटकों की गद्दी पर बैठा हुआ देखते हैं। किसी अज्ञात कारण से ही ऐसा हो सकता है कि दिवाकर गुप्त सोलह वर्ष की आयु के बाद भी गद्दी पर नहीं बैठ सका, जैसा कि पल्लवों के युवमहाराज विष्णु गोपवर्मन् के साथ हुआ था। देखिए, ज. रा. ए. सो. ब. ले., XII, ७१ प. पृ., XIII. ७५ प. पृ.।

[3] इस विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने के लिए और वाकाटकों के कालानुक्रम के समग्र प्रश्न का जायजा लेने के लिए, देखिए ज. रा. ए. सो. ब. ले., XII, १ प. पृ.।

[4] यह सुझाव कि प्रभावती गुप्ता के अनुदान-पत्रों का मसौदा "पाटलिपुत्र से बुलाये गए एक पदाधिकारी" ने तैयार किया था, गलत लगता है, क्योंकि उसमें उल्लिखित गुप्तों के वंशानुक्रम में गम्भीर त्रुटियाँ मिलती हैं। देखिए, सक्से. सात., पृ. ८८, टिप्पणी-१।

[5] यह निश्चित है कि नन्दिवर्धन नागपुर से ज्यादा दूर नहीं था। देखिए राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के देवली में प्राप्त अनुदान-पत्र से नागपुर के गिर्द के जिले का नाम नागपुर-नन्दिवर्धन दिया गया है।

तक ऐसा प्रमाण नहीं मिला है, जिससे मालूम हो कि दिवाकरसेन कभी भी महा के रूप में अपने पिता की गद्दी पर बैठा था। प्रभावती गुप्ता के एक अन्य शिला में, जिस पर प्रवरसेन द्वितीय के शासन-काल के उन्नीसवें वर्ष की तारीख पड़ी है, "विख्यात महाराजाओं, दामोदरसेन और प्रवरसेन की मां" कही गयी है। यह अनु पत्र जारी होते वक्त यदि प्रभावती गुप्ता की आयु सौ वर्ष से अधिक हो चुकी तो निश्चय ही **महाराज** दामोदरसेन ने आरम्भ में अपनी मां के, और बाद प्रवरसेन द्वितीय के शासन-कालों के बीच काफी लम्बे अरसे तक राज किया प्रवरसेन द्वितीय के तिरोदी वाले अनुदान-पत्र से ज्ञात होता है कि उसके शासन- के तेईसवें वर्ष में भी प्रभावती गुप्ता जीवित थी।

प्रभावती गुप्ता का दूसरा अनुदान-पत्र भगवान रामगिरिस्वामी के चरणों जारी किया गया था, जिसकी शिनाख्त नागपुर के निकट रामटेक के देवता से की है। शायद वह उस समय रामटेक के मन्दिर की यात्रा पर गयी थी। उसके अभिलेखों में उसे भगवत (विष्णु) भक्त कहा गया है और उसके गोत्र (धारण-गो तथा कुल-नाम (गुप्त) पिता के बताये गये हैं।[2]

चूंकि प्रभावती गुप्ता की मृत्यु उसके वयोवृद्ध भाई कुमारगुप्त (सन् ४१४- ई०) के शासन के अन्त से बहुत पहले नहीं हुई थी, इसलिए प्रवरसेन द्वितीय शासन-काल पाँचवीं शताब्दी के मध्य में माना जा सकता है। प्रवरसेन द्विती शासन-काल के दूसरे वर्ष से लेकर सत्ताईसवें वर्ष तक के अनेक अनुदान-पत्र मिले ये अनुदान-पत्र वर्धा, चिंदवार, सिवनी, नागपुर, बालाघाट, अमरावती और जिलों में प्राप्त हुए हैं और उनमें आमतौर पर अपने प्राप्ति स्थानों (जिलों) भूमियों का ही उल्लेख है। इसलिए प्रवरसेन ने कम से कम २७ वर्ष तक, पूरे बरार पर, उसके कुछ दक्षिणी भाग को छोड़कर, लेकिन मध्य-प्रदेश के पश्चिमी जिलों को मिलाकर, शासन किया था। लगता है कि यह सारा क्षेत्र अपने पूर्वजों से विरासत में मिला था। प्रवरसेन द्वितीय के प्रारम्भिक अनुदान नन्दिवर्धन के नगर से जारी किये गये थे, लेकिन बाद के अनुदान-पत्र एक नये नगर जारी किये गये थे जिसका नाम प्रवरसेनपुर था, जिसकी स्थापना, जाहिर है, कि अपने नाम पर ही की थी। नई राजधानी शायद पुरानी राजधानी से अधिक दूर थी, हालाँकि कुछ विद्वान् वर्धा जिले के पओनर (या पौनार) से उसकी शि करते हैं। प्रवरसेन द्वितीय का तिरोदी अनुदान-पत्र नरत्तंगवारि-स्थान से जारी कि

---

१. इस तथ्य से इस बात की कोई सम्भावना नहीं रह जाती कि दामोदरसेन और प्र द्वितीय एक ही समय में अपने पिता के राज्य के विभिन्न भागों पर शासन करते थे।

२. यह बात प्रमाणपुष्ट है कि प्राचीन भारत में विवाह की लोक-प्रचलित प्रथा में अनिवार्य नहीं था, शायद **सम्प्रदान** की कमी के कारण। (प्रो. इ. हि. का., १९४५ प. पृ.)।

गया था। यह शायद कोई तीर्थ-स्थान था, जिसकी उसने यात्रा की थी। प्रवरसेन के प्रशासन की विशेषता यह थी कि अधीन राज्यों में वायसराय या हाई-कमिश्नर के रूप में नियुक्त पदाधिकारी **सेनापति** कहलाते थे। इनमें से कुछ **सेनापतियों** के नाम, जैसे चित्रवर्मन, नामिदास, कात्यायन, और वप्पदेव, उसके अभिलेखों से ज्ञात हुए हैं। उसके अधीन सामन्त नरेश—शत्रुघ्नराज और उसका पुत्र कोंडराज—शायद अमरावती जिले के भोजकट-**राज्य** के शासक थे, जो **सेनापति** चित्रवर्मन के निरीक्षण में था। छिन्दवाड़ा जिले का आरम्भिक-**राज्य** सेनापति नामिदास के प्रशासन में था, जो सम्भवतः तिरोदि के अनुदान-पत्र का "राज्याधिकृत" (मुख्य मंत्री) नवमीदास ही है। एक अभिलेख में **रजुक** का जिक्र है, जो शायद सम्राट अशोक के अभिलेख का **रज्जुक** ही हो।

अक्सर वाकाटक-परिवार के प्रवरसेन द्वितीय को महाराष्ट्री प्राकृत में लिखे **सेतुबंध काव्य** के रचयिता से अभिन्न माना जाता है। यद्यपि एक दूसरे मत के अनुसार इसका लेखक इसी नाम के एक काश्मीरी राजा को बताया जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि **सेतुबंध** के लेखक से सम्बन्धित कुछ साहित्यिक परम्पराएँ वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय के इतिहास पर, विशेषकर अपने मामा के साथ उसके सम्बन्धों पर, विशेष प्रकाश डालती हैं। राजशेखर की **काव्यमीमांसा**, भोजके **शृंगारप्रकाश** और **सरस्वतीकंठाभरण** तथा क्षेमेन्द्र के **औचित्यविचारचर्चा** में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका अर्थ है कि कुन्तल के राजा ने शासन का कार्य एक व्यक्ति (कुछ लोग उसे विक्रमादित्य मानते हैं) के हाथ में सौंप दिया और भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने लगा। भोज के अनुसार इस श्लोक में कालिदास की वह रिपोर्ट है, जो उसने अपने संरक्षक विक्रमादित्य को दी थी, जिसने उसे कुन्तल के राजा के दरबार में राजदूत बना कर भेजा था। क्षेमेन्द्र का कहना है कि यह श्लोक कालिदास के **कुन्तेश्वरदौत्य** से लिया गया है, जिसे **कुन्तलेश्वरयौत्य** का गलत रूप माना जाता है। बाण के **हर्षचरित** में कहा गया है कि **सेतु** या **सेतुबंध** प्रवरसेन की रचना है। लेकिन बाद की एक कृति, जिसका नाम **भरतचरित** है, इसको **कुन्तलेश** (कुन्तल के राजा) की रचना बताती है। रामदास के अनुसार, जिसने **रामसेतुप्रदीप** नाम से सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में **सेतुबन्ध** की टीका लिखी है, यह काव्य नये-नये गद्दी पर बैठे राजा प्रवरसेन ने लिखा था, जो भोजदेव से अभिन्न था और विक्रमादित्य के कहने पर कालिदास ने इसका संशोधन किया था। इन साहित्यिक परम्पराओं के आधार पर अक्सर बड़े भारी-भरकम निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यह माना जाता है कि वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय सेतुबन्ध का रचयिता था, कि उसका राज्य कुन्तल के नाम से प्रसिद्ध था, कि उसे भोजदेव पुकारा जाता था, क्योंकि वाकाटक भोज-जनपद की एक शाखा थे, और कि अपने राज्य-काल के आरम्भिक दिनों में उसने प्रशासन का कार्य अपने नाना चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के हाथ में सौंप दिया था, आदि। कालिदास, जो श्रुति-परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय, की राजसभा से सम्बद्ध

था, और विदर्भ या बरार के बीच सम्बन्ध का होना सम्भावित है।[१] लेकिन इ अधिकांश निष्कर्षों का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि वे वाकाटक इतिहास के ज्ञात से प्रतिकूल हैं। वाकाटक राजा कुन्तल का शासक था, यह इस बात से ही गलत हो जाता है कि प्रवरसेन द्वितीय ने अपने एक पुत्र का विवाह कुन्तल के राजा की से किया था। यह कुन्तल राज्य निस्सन्देह कन्नड़ क्षेत्र में बनवासि के गिर्द वाले का नाम था।[२] कुन्तल के राजा से इस सम्बन्ध को वाकाटक कितना महत्त्व देते इस बात से जाहिर है कि उसके बेटे के विवरण में कुन्तल राजकुमारी का प्रमुख से उल्लेख किया गया है। कुन्तल की राजसभा में कालिदास के राजदूत की हैसि जाने वाली परम्परा की चाहे जो कीमत हो, लेकिन यह निश्चित है कि पा शताब्दी का कुन्तल राजा कदम्ब-परिवार के अलावा और किसी परिवार का नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि कदम्ब राजा काकुत्स्थ (सन् ४०५-४३५ ई०) ने अपनी एक बेटी का विवाह एक गुप्त राजकुमार से कि था। इसके अलावा, प्रवरसेन जब गद्दी पर बैठा था, उस समय उसकी मां की अस्सी वर्ष से अधिक थी, इसलिए वह खुद भी नौजवान नहीं था और उसके की सम्भवतः बहुत पहले ही मृत्यु हो चुकी थी। प्रवरसेन द्वितीय चन्द्रगुप्त-द्विती उतने प्रभाव में नहीं था, जितना कि आमतौर पर ख्याल किया जाता है। यह बात से सूचित होता है कि उसके पितामह के जमाने में चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रभाव कारण भागवत धर्म (वैष्णव मत) का सर्वत्र प्रसार हो गया था, लेकिन प्रपौत्र लम्बे राज्य-काल में लगातार **परम-माहेश्वर** (महेश्वर या शिव का उपासक) रहा और उसका दावा था "कि शम्भु के वरदान से वह भी उतना ही धर्मा जितना कि कोई सतयुग का व्यक्ति होता था।" यह बात शायद असम्भव नहीं **सेतुबन्ध** का रचयिता प्रवरसेन द्वितीय ही हो, लेकिन इसमें सन्देह इसलिए है कि इस काव्य की कथावस्तु वैष्णव है, जबकि राजा कट्टर शैव था।

प्रवरसेन द्वितीय के वाद उसका बेटा **महाराज** नरेन्द्रसेन गद्दी पर बैठा। उ विवाह कुन्तल के राजा की बेटी अज्झित भट्टारिका से हुआ था। इस कुन्तल राजकु का बाप कदम्बों का राजा काकुत्स्थवर्मन रहा होगा, जिसका कहना है कि उसने बेटियों के विवाह कई महत्त्वपूर्ण राजघरानों के राजकुमारों से किये थे। कहा

---

[१] कालिदास की काव्य-शैली, सातवीं शताब्दी ई. में ही **वैदर्भी-रीति** के नाम से प्रसि गयी थी। यह रोचक और स्मरणीय बात है कि कवि ने अपने **मेघदूत** काव्य में रामगिरि (के निकट, आधुनिक रामटेक) को अमर कर दिया है।

[२] देखिए, सक्से. सात., पृ. २१५-१६। यह मत कि कुन्तल मानपुर के राष्ट्रकूटों के क्षेत्र को सूचित करता है, दरअसल **कुन्तलानाम प्रशासिता** की 'कुन्तल के शासक' में व्याख्या करने पर आधारित है। लेंकिन इस वाक्यांश का वास्तविक अर्थ है कुन्तलों को वाला अर्थात् कदम्ब। (इ. हि. क्वा., XXII, ३०९; XXIII, ६५, ३२०)।

है कि नरेन्द्रसेन के आदेशों का पालन कोसला, मेकला और मालव के राजा करते थे, लेकिन इन राज्यों पर उसका राजनीतिक प्रभाव किस सीमा तक था, इसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है। लगता है कि कोसला और मेकला शायद दक्षिण-कोसल (रायपुर-विलासपुर-सम्बलपुर क्षेत्र) और मेकल (अमरकंटक पहाड़ियों के गिर्द का क्षेत्र) की राजधानियों के नाम थे, और जैसा **कामसूत्र** की एक टीका में संकेत किया गया है, मालव शायद पूर्वी मालवा को कहा गया है। चूँकि ये सारे क्षेत्र गुप्तों के प्रभुत्व में थे, जिनका पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सुदूर सीमान्त-प्रदेशों और अधीन राज्यों पर प्रभाव शिथिल हो गया था, इसलिए वाकाटक राजा का दावा निस्सन्देह अपने शासन-काल की ओर ही संकेत करता है। कोसल, मेकल और मालव के राजाओं के वारे में, जो शायद नरेन्द्रसेन के सामन्त मित्र राजा थे, कुछ भी मालूम नहीं है। लेकिन दक्षिणी कोसल का शासक, लगता है, शरभपुर का राजा था और मेकल का राजा शायद पाण्डुवंशियों में से था। जिस समय ये देश गुप्त-साम्राज्य के प्रभाव-क्षेत्र में थे, उस समय, हूणों के आक्रमण से पहले तक, मालवा गुप्त-साम्राज्य का अभिन्न अंग था। नरेन्द्रसेन के वारे में उसके बेटे के विवरण में कहा गया है कि उसने अपने खानदान की प्रतिष्ठा और सम्पत्ति फिर से हासिल कर ली थी, शायद किसी दुश्मन के हाथ से। इसमें शायद गुप्त-सम्राटों के सामन्तों के विरुद्ध उसकी सफलता की ओर संकेत हो, जिनकी तरह वह और उसके पूर्वज भी गुप्तों के सामन्त मित्र राजा थे।

नरेन्द्रसेन के वाद पृथिवीषेण द्वितीय गद्दी पर वैठा, जो उसका कुन्तल रानी से उत्पन्न पुत्र था। वालाघाट में प्राप्त अभिलेख (अनुदान-पत्र) में पृथिवीषेण को परम-भागवत (विष्णु या भगवत का परम भक्त) कहा गया है। यह बात गुप्तों की फिर से प्रभाव-वृद्धि की सूचक है या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह बात ध्यान देने लायक है कि पृथिवीषेण ने दो वार खानदान की खोयी हुई सम्पत्ति को फिर से वापस कर लेने का दावा किया है। यद्यपि निश्चित रूप से कुछ पता नहीं कि इन दावों में जिन विपत्तियों की ओर संकेत किया गया है, वे किस किस्म की थीं, लेकिन शायद इनमें उन युद्धों की ओर संकेत है जो उसने वत्सगुल्म के हरिषेण और नल-वंश के भवदत्तवर्मन से लड़े थे। पृथिवीषेण का एक अनुदान-पत्र वेम्वार (जिसकी चाँद जिले के वेम्वल से शिनाख्त की गयी है) से और दूसरा शायद पद्मपुर (भंडार जिले का आधुनिक पद्मपुर) से जारी किया गया था। पृथिवीषेण द्वितीय के वाद इस परिवार के इतिहास के वारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

२. वत्सगुल्म के वाकाटक

वत्सगुल्म या वत्स्यगुल्म के नगर का सबसे पहले **महाभारत** और वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लेख मिलता है, जो अपने वर्तमान रूप में वाकाटकों के युग की रचनाएँ हैं। इस नगर का मूल-स्थान बरार के अकोला जिले में आधुनिक बसिम की जगह पर निर्धारित किया गया है। वत्सगुल्म के वाकाटकों का सबसे प्राचीन पुरालेखीय

विवरण बसिम में प्राप्त हुआ **धर्म-महाराज** विन्ध्यशक्ति द्वितीय का अनुदान-पत्र जो **धर्म-महाराज** सर्वसेन का बेटा, प्रवरसेन प्रथम का पोता और वाकाटक-वं संस्थापक विन्ध्यशक्ति प्रथम का पर-पोता था । पुराणों में प्रवरसेन प्रथम के बेटों का उल्लेख है जो राजा बन गये थे, इससे यह अनुमान किया जा सकता है सर्वसेन बसिम के गिर्द वाले क्षेत्र में एक नये राज्य का संस्थापक था । कामसूत्र विदर्भ और वत्सगुल्म में भेद किया गया है, जिससे शायद यह सूचित होता है विदर्भ का राज्य वाकाटकों की मुख्य शाखा के शासन में था और वत्सगुल्म के पर इस परिवार की एक सगोत्र शाखा का राज्य था । वत्सगुल्म से जारी किये विन्ध्यशक्ति द्वितीय के अनुदान-पत्र से, जिस पर उनके शासन-काल के ३७वें वर्ष तारीख है, यह ज्ञात होता है कि उसने नन्दीकट के क्षेत्र में, जिसकी पुराने हैदरा राज्य के नान्दर गाँव से शिनाख्त की गई है, एक गाँव दान में दिया था। इससे ज्ञा होता है कि विन्ध्यशक्ति द्वितीय ने लम्बे काल तक शासन किया था और उसके रा के अन्तर्गत बरार की दक्षिणी सीमा से सटे इलाके, हैदराबाद के उत्तरी जिले शायद आस-पड़ोस के कुछ और क्षेत्र भी थे ।

पुराने हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित अजन्ता की गुफाओं में अभिलेख का टुकड़ा मिला है, जिसके बारे में पहले विश्वास किया जाता था कि पर वाकाटक राजाओं—प्रवरसेन प्रथम, उसके **पुत्र** (जो समझा जाता है कि गलती **प्रपौत्र** की बजाय **पुत्र** अंकित हो गया है) रुद्रसेन प्रथम और उसके भी पुत्र पृथिवी प्रथम के नाम दियें गये हैं । बाद में यह मत पेश किया गया कि वास्तव में यह विव वाकाटकों के बसिम परिवार का है और हमें रुद्रसेन प्रथम और पृथिवीषेण प्रथम जगह इन नामों को क्रमशः सर्वसेन और विन्ध्यसेन पढ़ना चाहिए और बाद वाला सम्भवतः विन्ध्यशक्ति द्वितीय के लिए प्रयुक्त हुआ है । **रुद्रसेन** का **सर्वसेन** के स्थ संशोधन करने पर सन्देह नहीं किया जा सकता लेकिन अभिलेख इतनी जर्जर अव में है और **विन्ध्यसेन** और **विन्ध्यशक्ति** के रूपों में इतना फरक है कि दूसरा संशो संदिग्ध हो जाता है । अगर इस नये पाठ को तरजीह दी जाए, तो इसमें सन्देह कि विन्ध्यसेन को विन्ध्यशक्ति से ही अभिन्न मानना होगा, लेकिन अगर पुराने को स्वीकार किया जाए तो पृथिवीषेण को उस राजा का एक भाई मानना हो अजन्ता के इस अभिलेख में कहा गया है कि इस राजा ने कुन्तल के राजा को ह था । जाहिर है कि वह बनवासि का कोई कदम्ब राजा रहा होगा जो चौथी शता ई० के मध्य में शासन करता था । इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए कि त वल्लि के अभिलेख[1] के अनुसार कदम्ब राजा मयूरशर्मा का आभीरों और त्रैकूट युद्ध हुआ था, जो वाकाटकों के पड़ौसी थे ।

---

[1] प्रोफेसर शास्त्री के इस मत (न्यू. हि. इ. पी., VI. २२८) से सहमत होना है कि इस अभिलेख की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है । मयूरशर्मा के बारे में देखिए परि. XIII, I

अजन्ता के अभिलेख के अनुसार कुन्तल राजा के विजेता के वाद उसका बेटा प्रवरसेन गद्दी पर बैठा, जिसे हम नन्दिवर्धन और प्रवरपुर के प्रवरसेन द्वितीय से अलग करने के लिए वत्सगुल्म का प्रवरसेन द्वितीय पुकार सकते हैं। वत्सगुल्म के इस प्रवरसेन द्वितीय की शायद जल्दी ही मृत्यु हो गयी थी, क्योंकि गद्दी पर वैठने के समय उसके पुत्र और उत्तराधिकारी की उम्र केवल आठ वर्ष की थी। अजन्ता के अभिलेख का जितना हिस्सा सुरक्षित रह गया है, उसके अन्दर इस राजा का नाम पढ़ा नहीं जा सकता, लेकिन उसमें आगे उसके बेटे और उत्तराधिकारी देवसेन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गयी है। उसमें हस्तिभोज का भी उल्लेख किया गया है, जो घटोत्कचों के एक गुफा-लेख के अनुसार देवसेन का मंत्री था। एक अनुदान-पत्र से भी हमें **महाराज** देवसेन का पता चलता है, जो उसने वत्सगुल्म से जारी किया था।

उससे अगला शासक देवसेन का वेटा हरिषेण था, जो वाकाटक परिवार की मुख्य शाखा के राजाओं—नरेन्द्रसेन और पृथिवीषेण द्वितीय—का समकालीन लगता है। यह पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शासन करता था। निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है कि वत्सगुल्म के **महाराजों** और उनके परिवार की दूसरी शाखा के महाराजों में, जो नागपुर जिले से शासन करते थे, परस्पर सम्बन्ध कैसा था। अजन्ता का यह अभिलेख **वराहदेव**[1] नाम के एक कट्टर बौद्ध ने उत्कीर्ण करवाया था, जो राजा हरिषेण का **सचिव** और शायद हस्तिभोज का वेटा था।

ऐसा लगता है कि हरिषेण अपने समय का एक जवर्दस्त और परमप्रतापी राजा था। सम्भवत: अजन्ता के अभिलेख में उसके वारे में कहा गया है कि उसने कुन्तल (कदम्बों का राज्य-क्षेत्र), अवन्ति (पश्चिमी मालवा), कलिंग (श्रीकाकुलम-विशाखापट्टम क्षेत्र के कलिंगाधिपतियों का राज्य-क्षेत्र), कोसल (रायपुर-विलासपुर-सम्बलपुर क्षेत्र), त्रिकूट (उत्तरी कोंकण में त्रैकूटकों का क्षेत्र), लाट (नवसारि-भड़ौंच क्षेत्र), आन्ध्र (कृष्णा नदी के मुहाने का क्षेत्र) तथा अन्य देशों पर, जिनके नाम पढ़े नहीं जा सकते, अपना प्रभुत्व जमा लिया था। हरिषेण का इन उपर्युक्त देशों के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध निर्धारित नहीं किया जा सकता, लेकिन यह विश्वास करना कठिन है कि उसने इनमें से किसी को भी पूरी तरह अपने कब्जे में ले लिया था। लेकिन यह स्मरण रखना दिलचस्प होगा कि कुन्तल के राजा की, जो वाकाटकों के मुख्य परिवार का रिश्तेदार और शायद मित्र भी था, वत्सगुल्म के वाकाटकों से दुश्मनी थी। दक्षिणी कोसल और मालवा के क्षेत्रों पर दोनों घरानों के प्रभुत्व का दावा किया गया है। यह नामुमकिन नहीं है कि हरिषेण की सफलताओं ने अस्थायी रूप से मुख्य शाखा के

---

[1] यह ज्ञात नहीं है कि देवसेन और हरिषेण के जमाने में हस्तिभोज और वराहदेव औरंगाबाद जिले के गवर्नर थे। अजन्ता में ही मिले एक और शिलालेख में, जो शायद हरिषेण के काल का है, सामन्त-शासकों के एक परिवार का उल्लेख मिलता है। हो सकता है कि अजन्ता की कुछ गुफाओं की खुदाई इन पदाधिकारियों और सामन्तों ने करवाई हो।

वाकाटकों की शक्ति पर ग्रहण लगा दिया हो ग्रौर दोनों के आपसी संघर्ष के का छठी शताब्दी ई० के आरम्भ में एक साथ ही दोनों घरानों का तेज़ी से पतन गया हो।

उन वास्तविक घटनाग्रों के कारण ग्रौर स्वरूप के बारे में कुछ भी ज्ञात न जो वाकाटकों के पतन के लिए जिम्मेदार थीं। छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में दक्षि पथ पर चालुक्यों के कब्जे के सिलसिले में उन राज्यों की, जिन्होंने चालुक्यों विरोध किया था, सूची में वाकाटकों का नाम नहीं ग्राता। आरम्भ में चालुक्य सम्र को दक्षिणी मध्यप्रदेश ग्रौर उससे लगे हुए क्षेत्रों के नलों, कोंकण के मौर्यों, उ महाराष्ट्र के कलचुरियों ग्रौर उनसे लगे हुए ग्रन्य प्रदेशों को हराना पड़ा था। नामुमकिन नहीं है कि छठी शताब्दी ई० के मध्य तक दोनों वाकाटक घरानों अधिकांश राज्य नलों के हाथ में आ गया था, जैसा ग्रगले ग्रनुच्छेद में दिखाया जाए एक राष्ट्रकूट राजा मानांक ने जो पाँचवीं शताब्दी ई० के मध्य में सतारा-कोल् क्षेत्र पर राज करता था, दावा किया है कि उसने अश्मक (उत्तरी हैदरावाद), वि (बरार ग्रौर मध्य प्रदेश के कुछ भाग) ग्रौर कुन्तल को हराया था। सम्भव है कि कदम्बों ग्रौर दोनों घरानों के वाकाटकों के साथ उसके युद्ध का संकेत करता हो।[1]

लगता है कि वाकाटक बड़े विद्याप्रेमी ग्रौर साहित्य के संरक्षक थे। श्रीधर के **सदुक्तिकर्णामृत** में उद्धृत कुछ श्लोक युवराज दिवाकर के रचे बताये जाते हैं। युवराज दिवाकरसेन से अभिन्न माना जा सकता है। हम पहले देख चुके हैं कि न वर्धन ग्रौर प्रवरपुर के प्रवरसेन द्वितीय को **सेतुबन्ध** का रचयिता माना जाता है, प यह बात असन्दिग्ध नहीं है। वत्सगुल्म के सर्वसेन को **हरविजय** काव्य का रचि माना गया है। इन मतों का जो भी मूल्य हो इसमें सन्देह नहीं है कि संस्कृत रचना की वैदर्भी-रीति या बरार शैली की ख्याति इसी कारण है कि उसका वि विदर्भ के वाकाटकों के राज दरबार में हुआ था। इस तथ्य से भी इस बात की होती है कि, यद्यपि सातवीं शताब्दी में दण्डी के **काव्यादर्श** की रचना से पहले ही शैली का वैदर्भी-रीति नाम प्रसिद्ध हो गया था, कई शताब्दियों से लेकर छठी श के आरम्भ तक उस देश पर लगातार वाकाटकों का शासन रहा था। इसमें कोई नहीं है कि अजन्ता की कुछ विशाल गुफाएं वाकाटकों के काल में ही, सम्भवतः

---

[1] अश्मक देश की प्राचीन राजधानी का नाम पौदन्य था, जो हैदराबाद राज्य का बोधन नामक स्थान है। साधारणतया इसके अन्तर्गत मूलक, ग्रर्थात् प्रतिष्ठान के गिर्द का (ग्रौरंगाबाद जिले में गोदावरी तट पर ग्राधुनिक पैठन) ग्रौर कभी-कभी कलिंग, विदर्भ अवन्ति-दक्षिणापथ के कुछ क्षेत्र भी ग्रा जाते थे। यह तथ्य कि वत्सगुल्म के वाकाटकों का उत्तरी हैदराबाद के नान्दीकट ग्रर्थात् नान्दर जिला तक फैला हुग्रा था, जो बोधन से ग्र नहीं है, यह संकेत करता है कि उनके राज्य-प्रदेश को शायद ग्रश्मक नाम से पुकारा जाता देखिए, इ. हि. क्वा. XXII, २३३, ३०९; XXIII, ६५, ३२०।

उनके और उनके पदाधिकारियों की देखरेख और संरक्षण में, खोदी गयीं और उनके शानदार भित्तिचित्र अंकित किये गये ।

II. नल-कुल

रिथपुर के ताम्र-पत्र अभिलेख[१] में, जो पुरालिपि-शास्त्र की दृष्टि से छठी शताब्दी के पूर्वार्ध का माना जा सकता है, महाराज भवत्त-वर्मन द्वारा कदम्बगिरि नाम के एक गाँव के दान का विवरण अभिलिखित है। यह गाँव उस समय दान किया गया था, जब वह (शायद अपनी रानी के साथ) प्रयाग (इलाहाबाद) की तीर्थयात्रा पर गया था,[२] जिस स्थान को "गंगा और यमुना के संगम पर भगवान प्रजापति का आशीर्वाद प्राप्त है।" लेकिन यह अनुदान पत्र वास्तव में उस राजा के एक उत्तराधिकारी ने नन्दिवर्धन से जारी किया था। हम जानते हैं कि प्रवरसेन द्वितीय द्वारा प्रवरपुर की स्थापना से पहले यह नगर वाकाटकों की मुख्य शाखा के राजाओं की राजधानी था। कदम्बगिरि की शिनाख्त बरार के यवतमाल जिले के कलम्ब गाँव से की गई है। इससे स्पष्ट है कि जिन क्षेत्रों पर वाकाटकों का राज था, उन पर किसी नये राजवंश का अधिकार हो गया था।

यह नाम भवत्तवर्मन या तो गलत लिखा गया है या **भवदत्तवर्मन्** का प्राकृत रूप है। इस परिवार के एक और अभिलेख और सिक्कों से इस बात की पुष्टि होती है। इस राजा को **नल-नृप-वंश-प्रसूत** कहा गया है और प्रत्यक्षत: वह निषध के प्राचीन राजा नल का वंशज होने का दावा करता था। कहा जाता है कि उसे महेश्वर (शिव) और महासेन (स्कन्द-कार्तिकेय) की कृपा के फलस्वरूप 'राज्यविभव' मिला।[३] राजा के ध्वज पर **त्रि-पताका** का चिन्ह था, जिसकी व्याख्या "तीन सीधी उँगलियाँ दिखाने वाला हाथ" या "त्रिभुजाकार" के रूप में की गयी है। इस अनुदान-पत्र पर राजा के शासन-काल के ग्यारहवें साल की तारीख है, लेकिन कहा जाता है कि यह ग्राम-दान वास्तव में अपने माता-पिता की आत्माओं की शान्ति के लिए **महाराज**

---

[१] ई. इ., XIX, पृ. १०० प. पृ.।

[२] यह अनुदान-पत्र इलाहाबाद के क्षेत्र की किसी राजकुमारी से नल राजा के विवाह के अवसर पर भी जारी किया गया हो सकता है।

[३] **महेश्वर-महासेन-आतिस्रष्ट-राज्य-विभव** का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि राजा ने अपना राज्य और सम्पत्ति भगवान महेश्वर और महासेन को सपर्पित कर दी थी (देखिए ज. क. हि. रि. सो., I, २५१ प. पृ. जहाँ मैंने इस प्रकार के और उदाहरण पेश किये हैं।) एक भिट मुहर पर कुछ ऐसी ही प्रशस्ति महाराज गौतमीपुत्र विंध्यवेधन (तीसरी या चौथी शताब्दी) के लिए भी अंकित मिलती है। यद्यपि नलों के साथ विन्ध्यवेधन का रिश्ता निर्धारित नहीं किया जा सकता, लेकिन वह राजा भी दक्षिण का ही लगता है, क्योंकि उसकी मुहर पर अंकित प्रशस्ति के अक्षरों की बनावट कृष्णा-गुन्टूर क्षेत्र में मिले इक्ष्वाकुओं के उत्कीर्ण लेखों के अक्षरों की बनावट से बहुत मिलती है।

अर्थपति भट्टारक ने किया था, जो अपने **आर्यक** (पितामह) का लाड़ला था। कुछ अर्थपति को भवदत्तवर्मन् की उपाधि मानते हैं लेकिन आमतौर पर उसे भवदत्त के बेटे और उत्तराधिकारी का नाम समझा जाता है। लेकिन यह नामु नहीं है कि भवदत्तवर्मन् वास्तव में अर्थपति का **आर्यक** (अर्थात् पिता रहा हो।[1]

एक और नल-अभिलेख,[2] जो पद्यबद्ध है, पुराने जेपोर राज्य (कोरापुट जिला पौडागढ़ के स्थान पर पाया गया है, जो मध्य-प्रदेश के वस्तर राज्य की सी से अधिक दूरी पर नहीं है। इस पर एक राजा के शासन-काल के बारहवें साल तारीख है, जिसका नाम, लगता है, स्कन्दवर्मन् था, यद्यपि इस नाम के पहले का पाठ असन्दिग्ध नहीं है। इस राजा को नलवंश के राजा भवदत्त का बेटा गया है, जो सम्भवत: रिथपुर के अनुदान-पत्र का भवत्तवर्मन् ही है। स्कन्दवर्मन् बारे में कहा गया है कि उसने परिवार की खोयी प्रतिष्ठा और सम्पत्ति वापस ली थी, और पुष्करी के उजाड़ (शून्य) शहर को फिर से बसाया था। यह जो पौड़ागढ़ क्षेत्र में स्थित लगता है, शायद नल राजाओं की राजधानी था। अभि में इस बात का उल्लेख है कि स्कन्दवर्मन् ने एक विष्णु का मन्दिर (पादमूल) बन था, शायद पौडागढ़ में।

उस दुश्मन की शिनाख्त करने के लिए काफी अनुमान लगाये गये हैं, जिसने नलों हराया था और पुष्करी को उजाड़ दिया था, लेकिन जिसे बाद में स्कन्दवर्मन् ने दिया था। चूँकि नलों और मुख्य शाखा के वाकाटकों में खुली दुश्मनी थी, इस पृथिवीषेण द्वितीय के रूप में इस दुश्मन की शिनाख्त की गयी है, जिसके बारे में दावा कि गया है कि उसने दो बार अपने परिवार की गिरी हुई प्रतिष्ठा पुनर्स्थापित की थी। स्क वर्मन् का दुश्मन, दक्षिण कोसल का पांडुवंशी राजा नल भी हो सकता था, जिसके में चाँद जिले में भंडक के स्थान पर मिले अभिलेख से सूचित होता है कि उसने पश्चिमी मध्य-प्रदेश पर कब्जा कर लिया था।[3] सबसे अधिक सम्भावना इस बात है कि वह दुश्मन शायद चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन् प्रथम (सन् ५६७ - ५९७ ई रहा हो, जो यह दावा करता है कि उसने चालुक्यों के परम्परागत विरोधी नलों हरा कर अपने अधीन किया था, और उनके घरबार (निलय) उजाड़ दिये थे।

एक तीसरा नल अभिलेख उड़ीसा की पुरानी जेपोर रियासत के उमरकोट में स्थित केसरिवेद गाँव[4] में मिला है। इसमें **महाराज** अर्थपति-भट्टारक के

---

[1] देखिए—आगे।

[2] ई. इ. XXI. पृ. १५५ प. पृ.।

[3] मिराशी का विश्वास है कि इस विवरण को गलती से भंडक के साथ जोड़ दिया है, दरअसल यह छत्तीसगढ़ के किसी स्थान में प्राप्त हुआ होगा। (बु. डे. का. रि. इ., VIII, ई. इ., XVI, २२७, एन. २)।

[4] ई. इ., XXIII, १२।

में जारी किया गया अनुदान अभिलिखित है। चूँकि यह पुष्करी से जारी किया गया था, इसलिए लगता है कि अर्थपति स्कन्दवर्मन् के बाद हुआ था, जिसके बारे में कहा गया है कि उसने उजाड़ पुष्करी को फिर से बसाया था। इसलिए यह नामुमकिन नहीं है कि वह स्कन्दवर्मन् का बेटा और उत्तराधिकारी रहा हो।

वस्तर राज्य की कोंदेगाँव तहसील के एदेंग गाँव में सोने के सिक्कों का एक बड़ा ज़खीरा मिला था। इन सिक्कों को जारी करने वाले राजाओं के नाम भवदत्त और अर्थपति थे और एक कोई वराह भी था, जो शायद इस परिवार का ही रहा होगा। पुरालेखीय और मुद्राशास्त्रीय सामग्री से जाहिर होता है कि नलों का राज्य बस्तर-जयपोर क्षेत्र में था। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में उन्होंने वाकाटकों से छीन कर उत्तर की दिशा में अपने राज्य का विस्तार किया था, लेकिन लगता है कि उनके राज्य के उत्तरी भाग शीघ्र ही कोसल के पांडुवंशी राजाओं के हाथ में पहुँच गए थे। लेकिन ऐसा भी कुछ कुछ संकेत मिलता है कि नलों का साम्राज्य और भी बड़े क्षेत्र में फैला हुआ था।

चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम और उसके बेटे के समय के अभिलेखों में नलवाडि-विषय का उल्लेख मिलता है, जो स्पष्ट है, नलों के नाम से सम्बन्धित है। चूँकि उस विषय में स्थित गाँवों की वर्तमान बेलेरी और करनूल जिलों के स्थानों से शिनाख्त की गयी है, इसलिए, लगता है, चालुक्यों के अन्तर्गत नलवाडि उस जिले के कुछ भागों में फैला हुआ था। हो सकता है कि यह क्षेत्र नलों का उपनिवेश रहा हो या नल-साम्राज्य का सबसे दक्षिणी प्रांत, जिस पर आरम्भ में नल राजवंश का कोई वायसराय शासन करता हो। वत्सगुल्म के वाकाटकों और मानपुर के राष्ट्रकूटों के पतन के लिए नल जिम्मेदार है या नहीं, इसका निर्णय वर्तमान स्थिति में पर्याप्त जानकारी न होने के कारण नहीं हो सकता। लेकिन यह बात बिल्कुल नामुमकिन नहीं है कि उनके पतन के लिए वे ही जिम्मेदार हों।

पूर्वी मध्य प्रदेश के रायपुर जिले में रजिम नामक स्थान पर प्राप्त एक प्रस्तर अभिलेख[1] में, जिसे पुरालिपिक आधार पर सातवीं शताब्दी के मध्य का माना जाता है, विष्णु के एक मन्दिर के निर्माण का विवरण दिया गया है, जिसे शायद विलासतुंग ने वनवाया था, और जो प्रत्यक्षत: राजा पृथ्वीराज के पुत्र राजा विरूपाक्ष का उत्तराधिकारी (वेटा) था। ये राजा निषध के राजा नल के वंशज होने का दावा करते थे और सम्भवत: भवदत्तवर्मन् के परिवार के परवर्ती सदस्य थे। ऐसा लगता है कि उन्हीं नलों ने, जिन्हें पांडुवंशियों और चालुक्यों ने बस्तर क्षेत्र में ही सीमित कर दिया था, सातवीं शताब्दी में राजा शिवगुप्त बालार्जुन के बाद, किसी समय दक्षिण कोसल को जीतकर अपनी स्थिति फिर से मजबूत बना ली थी। यह ज्ञात नहीं है कि दसवीं शताब्दी के मध्य में सोमवंशियों के उत्थान तक वे इस प्रदेश पर शासन करते रहे थे या नहीं। यदि

---

[1] ई. इ., XXVI, पृ. ४६ प. पृ.।

ऐसा था तो सम्भवतः विवाह सम्बन्ध के द्वारा वे वाण राजा विक्रमादित्य प्रथम ८७०-८७५ ई०) के रिश्तेदार बन गये थे, जिसने, शायद, अपने रिश्तेदार के यात्रा के अवसर पर बिलासपुर जिले में रत्नपुर से १२ मील दूर स्थित पलि मन्दिर बनवाया था ।

ख: पश्चिमी दक्षिणा-पथ

I. भोज

पुराणों के अनुसार, भोज लोग सम्भवतः मथुरा क्षेत्र के यदु या यादव कु हैहय शाखा के अंग थे । हैहयों के बारे में ज्ञात है कि वे बहुत प्राचीन नर्मदा की घाटी से जाकर बस गये थे, जबकि लगता है कि भोजों ने बरार अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं । वाकाटकों के एक अभिलेख में बरार के अमरावती में भोजकट राज्य का जिक्र है, जिसका नाम स्पष्टतः भोजों पर ही रखा गया कालिदास के **रघुवंश** में भी भोजों को विदर्भ या बरार से सम्बद्ध बताया गया संम्भवतः सम्राट अशोक और खारवेल के अभिलेखों के भोजक लोग विदर्भ में बसे ये भोज ही थे । इन भोजों का एक भाग, लगता है, विदर्भ छोड़कर कों गोआ क्षेत्र में जा बसा था । कुन्तल के चुटु-सातकर्णियों के साथ जो महाभोज सम्बद्ध थे, वे शायद गोआ क्षेत्र के ये भोज ही थे ।[2]

सिरोद में मिला ताम्र अनुदान-पत्र[3] देवराज के, जिसके नाम के आगे राजा कोई पदवी नहीं लगी है, शासन-काल के बारहवें साल में चन्द्रपुर से जारी किया कहा जाता है कि यह राजा भोज-परिवार का था । चन्द्रपुर की, जो शायद राजाओं की राजधानी था, गोआ में आधुनिक चन्दोर से शिनाख्त की गयी है क्षेत्र शायद आरम्भ में कुन्तल राजाओं के प्रभाव में रहा होगा । सिरोद के ग्रं की पुरालिपि को देखते हुए, राजा देवराज को चौथी शताब्दी के अन्त में रख सकता है । अनुमान है कि देवराज की मुहर पर हंस की आकृति है, हालांकि में वह हाथी की आकृति भी हो सकती है ।

बाद में इसी क्षेत्र में एक राजा, महाराज चन्द्रवर्मन् हुआ, जिसने अपने शासन के दूसरे वर्ष में गोआ का ताम्र अनुदान-पत्र जारी किया था ।[4] पुरालिपिक

---

१. ई. इ. XXVI, पृ. ५३ ।

२. पार्जिटर, ए. इ. हि. ट्रै. पृ. १०२, २६९, आदि; रैप्सन, कैंटलग, पृ. xliii, सक्से. सात. पृ. ६४, २२० ।

भोजक शब्द का प्रयोग अक्सर **जागीरदार** के अर्थ में भी किया जाता था । देखिए, (अंग्रेजी संस्करण), पृ. ६९ ।

३. ई. इ., XXIV, पृ. १४३ प. पृ.; XXVI, ३३७, प. पृ. । इस राज परिवार नाम पहले गलती से गोमिन पढ़ लिया गया था ।

४. ए. भ. ओ. रि. इ., XXIII, ५१० प. पृ. ।

र इस अनुदान-पत्र को पाँचवीं शताब्दी का माना गया है। राजा चन्द्रवर्मन् ने गोआ सिवपुर के स्थान पर एक **महाविहार** (बौद्ध-विहार) को कुछ भूमि दान की थी। कि अनुदान-पत्र के आरम्भ में लिखे गये शब्दों को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है, रि उस पर वराह की आकृति उत्कीर्ण है, अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा कता है कि चन्द्रवर्मन् भोजवंश का था।

गोआ और उसके गिर्द के क्षेत्र में हाल में ही अनेक भोज ताम्र-पत्र प्राप्त हुए हैं। रालिपि के आधार पर उन सबको सातवीं शताब्दी ई० का ठहराया गया है। इन भिलेखों से जिन भोज राजाओं का पता चलता है, उनके नाम हैं, पृथिवीमल्ल-वर्मन्, पाली-वर्मन् और अशंकित। अनुदान-पत्र से नत्थी अशंकित की मुहर पर एक हाथी आकृति है। लगता है, वह पश्चिमी घाट के भोजों का राजकीय चिह्न था। थिवीमल्ल-वर्मन्, कापाली-वर्मन् और अशंकित का आपस में एक दूसरे साथ क्या रिश्ता था और पहले के भोज राजाओं, देवराज और चन्द्रवर्मन् से या रिश्ता था, इसका कुछ पता नहीं है।[1]

II. त्रैकूटक

अपरान्त (उत्तरी कोंकण) की त्रिकूट पहाड़ी से त्रैकूटकों का कुल-नाम पड़ा था।[2] पने अभिलेख में एक त्रैकूटक राजा को सचमुच ही अपरान्त का शासक बताया गया । त्रैकूटक राजाओं के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उनका राज्य तटवर्ती क्षेत्र में क्षिण में कान्हेरि से लेकर उत्तर में सूरत जिले तक फैला हुआ था। लेकिन उनके सिक्के र्फ दक्षिणी गुजरात और कोंकण प्रदेश में ही नहीं, बल्कि पश्चिमी घाटों से इस पार राठा देश में भी पाये गये हैं। चूँकि त्रैकूट के सिक्के क्षत्रपों के सिक्कों की नकल पर ाले गये हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि वे उन इलाकों में चलने के इरादे से ढाले

---

[1] ई. इ., XXVI, ३३८ प. पृ., समरी ऑफ पेपर्स सबमिटेड टु दि फिफटीन्थ सेशन ऑफ दि ए. आइ. ओ. सीः, पृ. ९९ आर. एस. पंचमुखी पृथिवीमल्ल-वर्मन् के दोनों अनुदान-पत्रों की ारीखें उसके शासन काल के १३वें और १५वें वर्ष के रूप में पढ़ते हैं, लेकिन एन. एल. राव का ुझाव है कि इन्हें उसके शासन-काल के पहले और २५वें साल के रूप में पढ़ना चाहिए। अशंकित के अनुदान-पत्र के बारे में पी. बी. देसाई का लेख ई. इ. में प्रकाशित हो रहा (चुका) है। पंचमुखी ने किसी भोज राजा अनिर्जित वर्मन् के एक और अनुदान-पत्र का जिक्र किया है, लेकिन एन. एल. राव ने सिद्ध किया है कि यह राजा कोंकण के मौर्य-वंश का था। यह विवादास्पद अनुदान-पत्र कुमार द्वीप से मौर्य **महाराज** अनिर्जित वर्मन् ने अपने शासन काल के २९वें वर्ष में जारी किया था। ऐसा लगता है कि भोजों को हराकर मौर्यों ने कब्जा कर लिया था, जिन्हें बादामि के चालुक्यों ने हराकर अपना आधिपत्य जमा लिया था। यह स्मरण रखना चाहिए कि सातवीं शताब्दी में चालुक्यों के साम्राज्य-विस्तार के मार्ग में भोज लोग बाधक नहीं बने थे, बल्कि मौर्य बाधा बनकर खड़े हुए थे।

[2] पृथ्वीचन्द्र-भोगशक्ति के अंजनेरि वाले अनुदान-पत्र में (ई. इ. XXV, २२५), जिस पर सन् ७०९ ई. की तारीख है, पुरी-कोंकण **विषय** के एक भाग के रूप में एक पूर्व-त्रिकूट **विषय** का उल्लेख मिलता है।

गये थे, जहाँ पहले पश्चिमी क्षत्रपों का राज था और जहाँ के लोग उन परिचित थे। लगता है, त्रैकूटकों का राज्य लगभग उसी क्षेत्र पर था, जिस आभीरों का शासन था। दोनों के कुल-नाम भी मिलते-जुलते हैं। त्रैकूट रा २४८–४९ में प्रवर्तित उस संवत् का ही प्रयोग करते थे, जिसे शायद आभीरों ने था, जैसा हम पहले देख चुके हैं। इसलिए दोनों कुलों में किसी न किसी प्र रिश्ता जरूर रहा होगा। यह नामुमकिन नहीं है कि त्रैकूटक राजा मूलतः किसी खानदान के ही थे, जो आरम्भ में आभीर राजाओं के अधीन सामन्तों की है अपरान्त पर शासन करते हों।

चन्द्रवल्लि के अभिलेख[1] में अलग-अलग उल्लेख करके कहा गया है कि और त्रैकूटकों का कदम्ब राजा मयूरशर्मन् से, जो चौथी शताब्दी के मध्य में करता था, युद्ध हुआ था। इससे शायद यह जाहिर होता है कि त्रैकूटकों ने जो आभीर कुल के सामन्त-शासक थे, आभीर राजाओं के आधिपत्य से निकल कर अ में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। कालिदास द्वारा चौथी या पाँचवीं शता रचित **रघुवंश** में अपरान्त के त्रैकूट राज्य का प्रच्छन्न हवाला मिलता है। पाँचवीं श के उत्तरार्ध में त्रैकूटकों के कब्जे में शायद आभीरों का उत्तरी महाराष्ट्र का गया था, और उन्होंने सम्भवतः उत्तर में गुजरात के भी काफी हिस्सों तक आधिपत्य बढ़ा लिया था।

पुरालेखीय और मुद्राशास्त्रीय प्रमाणों से ऐसे तीन त्रैकूटक **महाराजाओं** के का पता चलता है, जिन्होंने पाँचवीं शताब्दी ई० में राज किया था। ये नाम हैं, इन्द्र उसका बेटा दहरसेन, और उसका भी बेटा व्याघ्रसेन।[2] **महाराज** इन्द्रदत्त के विशेष जानकारी नहीं मिलती, यद्यपि लगता है, वह पाँचवीं शताब्दी के दूसरे च में हुआ था और वह इस कुल की महानता का निर्माता था। उसके बाद उसका बेटा द उसका उत्तराधिकारी बना। उसने आम्रका में अपने विजय-शिविर से वर्ष (सन् ४५५ ई०) में एक ताम्र-अनुदान-पत्र जारी किया था जो सूरत से पचा दक्षिण में पर्दि के स्थान पर मिला है। इस अनुदान-पत्र में दहरसेन को नि वैष्णव बताया गया है। यह भी कहा गया है कि उसने **अश्वमेध-यज्ञ** किया था, सूचित होता है कि त्रैकूटकों ने अपने पड़ौसियों पर, जिनमें आभीर भी शामि विजय प्राप्त की थी।

दहरसेन के बाद उसका बेटा **महाराज** व्याघ्रसेन उसका उत्तराधिकारी बना। सूरत वाला अनुदान-पत्र वर्ष २४१ (सन् ४८९ ई०) में अनिरुद्धपुर से जारी किया था। व्याघ्रसेन, जिसे अपरान्त और अन्य देशों का स्वामी बताया गया है, अपने की तरह ही वैष्णव था। इस राजा के उत्तराधिकारी के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं

---

[1] मै. आ. रि. १९२९, सं. १, पृ. ५० प. पृ.।

[2] उनके सिक्कों पर ये नाम कभी-कभी दहरगण और व्याघ्रगण के रूप में पढ़े जाते हैं।

न्हेरि के ताम्र-पत्र अभिलेख पर जिसमें कृष्णगिरि (अर्थात् कान्हेरि) के **महाविहार** एक बौद्ध चैत्य का निर्माण अभिलिखित है, "वर्ष २४५ (सन् ४९३ ई०)" की तारीख जो "त्रैकूटकों के बढ़ते हुए राज्य" का वर्ष था। यह अनिश्चित है कि यह **महाराज** घ्रसेन के अपने शासन-काल की तारीख है या उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल । धीरे-धीरे गुर्जरों[1] और कलचुरियों के आक्रमणों और अब तक उनकी अधीनता नने वाले मौर्यों और शूरों के उत्थान के कारण त्रैकूटकों के हाथ से उनके राज्य के ाके एक-एक कर निकलते गये।

बनारस में एक ताम्र अनुदान-पत्र[2] प्राप्त हुआ है, जिसे शूर-वंश के राजा हरिराज ने निष्ठुरराज का बेटा और कोभग्रहराज (क्षोमग्रहराज ?) का पोता था, शान्तनपुर ान्तनुपुर ?) से जारी किया था। इसमें आम्रक-नगर में एक भूमि अनुदान अभिखित है, जिसे राजा हरिराज और उसकी रानी के आदेश पर जो उस भूमि की ालिक थी, **महामात्रों के गण** ने दान किया था। इस अभिलेख के अक्षर, जो त्रैकूटकों अभिलेखों की लिपि से मिलते हैं, छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के माने जा सकते हैं। इससे ह नामुमकिन नहीं लगता कि बनारस वाले ताम्रपत्र में जिस आम्रक-नगर का उल्लेख वह दहरसेन के पर्दि में मिले अनुदान-पत्र वाला आम्रक ही हो। अगर यह सुझाव ान्य हो, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि त्रैकूटकों के पतन के बाद सूरत पर र राजा शासन करने लगे थे। यह सम्भव है कि आरम्भ में शूर लोग त्रैकूटकों के नीचे षय-पति रहे हों। उन्हें शायद छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में कलचुरियों ने हरा कर पना आधिपत्य जमा लिया था।[3]

III. कलचुरि

कलचुरियों का पुराना वंशगत नाम कटच्चुरि था, यद्यपि इसके दूसरे भेद भी प्रचलित , जैसे कलत्सूरि, कलचुति, कालच्चुरि, कलचुर्य और कलिचुरि आदि। स्पष्टतः यह एक अ-संस्कृत व्युत्पत्ति का शब्द था और इसका तुर्क शब्द कुलुचुर से साम्य बताया गया है, जो

---

[1] गुर्जरों का सम्भवतः सबसे पुराना अभिलेख वर्ष २९२ (सन् ५४० ई०) का सुनओकल मिला अनुदान-पत्र है, जो मरुकच्छ (भड़ोंच) से **महासामन्त महाराज** संगमसिंह ने जारी किया ा। वह शायद मन्दसौर के औलिकरों का सामन्त था।

[2] **भारतवर्ष** (बंगाली), १३५१, बृ. स., पृ. ४६। लगता है कि इस अनुदान-पत्र को ादाता का कोई वंशज तीर्थयात्रा पर आते समय बनारस लाया होगा। कामरूप के वैद्यदेव के अनुदान-पत्र के स्थानान्तरण की भी ऐसी ही कहानी है, जो कमौली में प्राप्त हुआ था। इस विवरण के बारे में भिन्न मत जानने के लिए देखिए, जे. यू. पी. हि. सो. XVIII, पृ. १६७।

[3] साँची के एक अभिलेख में, जो पाँचवीं शताब्दी के लगभग का है, शायद इस शूर-वंश के ही एक व्यक्ति का उल्लेख है (मोनुमेंट्स आफ साँची, ले. मार्शल ऐंड फाउचर, जिल्द I, पृ. ३८७)।

एक ऊँची पदवी का सूचक है।[१] इससे शायद यह भी सूचित होता है कि कलचु थे और हूणों और गुर्जरों के काफिलों के साथ भारत आये थे।[२] बाद में उनका कि वे हैहय राजा अर्जुन के वंशज थे, जो माहिष्मती के शासक कृतवीर्य का यह सूचित करता है कि वे आकर नर्मदा के तट पर अनूप देश में बस गये थे। शताब्दी के उत्तरार्ध में कलचुरि बड़े शक्तिशाली हो गये थे, जब कि उत्तरी म गुजरात और मालवा के कुछ भागों पर उनका आधिपत्य था। कोंकण के मौ उनका आधिपत्य मानते थे। उन्होंने सन् २४८-४९ ई० से अपना संवत् शुरू कि जो कल्चुरि-संवत के नाम से प्रसिद्ध है, लेकिन उन्होंने इस संवत का प्रयोग नासिक और भड़ोंच के क्षेत्रों पर कब्जा करने के बाद ही शुरू किया था। बात से संकेतित है कि बखनि में मिले अनुदान-पत्र में, जिसे सन् ४८६ माहिष्मती प्रदेश के राजा सुबन्धु ने जारी किया था, गुप्त-संवत् का प्रयोग है। तरह अनूप क्षेत्र के अन्य राजाओं, उदाहरण के लिए स्वामिदास (सन् ३८६ ई०), (सन् ४२६ ई०) और रुद्रदास (सन् ४३६ ई०)[३] के अभिलेखों में भी, जिनके को इन विदेशियों ने हटाकर अपना राज कायम किया था, गुप्त संवत् का ही हुआ था। छठी शताब्दी के अन्त में बादामि के चालुक्यों ने दक्षिण से कलचु राज्य पर आक्रमण किया। दूसरी ओर भड़ोंच के क्षेत्र में गुर्जरों की शक्ति थी। इस उथल-पुथल के जमाने में, लगता है, कलचुरि मालवा में बस गये थे। मैत्रकों के दबाव के कारण उन्हें पूरब की ओर प्रयाण करना पड़ा और आ वे जबलपुर के क्षेत्र में आकर बस गये, जहाँ लम्बे काल तक अपेक्षया गुमनाम में पड़े रहने के बाद वे नवीं शताब्दी के अन्त में एक शक्तिशाली ताकत के फिर उभरे।

१. कृष्णराज और शंकरगण

पुरालेखीय प्रमाणों से तीन कलचुरि राजाओं के एक समूह का पता च जिनके नाम कृष्णराज, उसका बेटा शंकरगण और उसका भी बेटा बुद्धराज थे। के सब भगवान पशुपति या महेश्वर, अर्थात् शिव के अनन्य भक्त थे। इस राज महत्ता कृष्णराज ने कायम की थी, जिसके चाँदी के सिक्के, जिन पर परममाहे **कृष्णराज** की प्रशस्ति और नन्दी की आकृति अंकित है, केवल नासिक में ही

---

१. प्रोसीडिंग्स, इ. हि. का., १९४३, पृ. ४४। **ठक्कुर** (आधुनिक रूप **ठाकुर**) शब्द प्रकार तुर्की उपाधि **तेगिन** से निकला है।

२. ऊपर देखिए पृ. ७४।

३. प्रोफेसर मिराशी से सहमत होना कठिन है, जो इन सब तारीखों को २४८-४९ की तारीखें मानते हैं। इस प्रश्न पर विभिन्न मतों को जानने के लिए देखिए, ए. भ. प्रो. XXV. १५९ प. पृ., इ. हि. क्वा. XXI. ८०, XXII. ६४, XXIII. XXIV. ७५।

बल्कि वम्बई और सल्सेत्ते के द्वीपों में भी मिले हैं। पृथिवीचन्द्र भोगशक्ति के अंजनेरि में मिले अनुदान-पत्र में सन् ७०९ ई० की तारीख है। उसमें इन सिक्कों का **कृष्णराज-रूपक** के नाम से हवाला दिया गया है। जाहिर है कि वे चालुक्य साम्राज्य के उत्तरी भागों में कलचुरियों की राजसत्ता की समाप्ति के वाद भी लम्बे काल तक प्रचलित रहे थे।[1] राजा कृष्णराज का वेटा शंकरगण वड़ा शक्तिशाली राजा था। इस शंकरगण का एक अनुदान-पत्र, जो नासिक जिले के अमोन स्थान पर मिला है और जो वर्ष ३४७ (सन् ५९५ ई०) की तारीख का है, उज्जयनी में स्थित उसके विजय-शिविर में राजा के वासक (निवास-स्थान) से जारी किया गया था। इसके अनुसार राजा ने भोगवर्धन विषय में, जो प्राचीन गोवर्धन (नासिक) जिले का ही नाम हो सकता है, भूमि दान की थी। इस अभिलेख में कल्लवन नाम के स्थान का जिक्र है जो नासिक जिले के **तालुक** आधुनिक कलवन का ही प्राचीन नाम है। इस उज्जयनी की, जहाँ से यह अनुदान-पत्र जारी किया गया था, शिनाख्त उसी जिले (नासिक) में सिन्नर के निकट स्थित उज्जनि से अक्सर की जाती है। लेकिन इस तथ्य को देखते हुए कि शंकरगण के उत्तराधिकारी ने वैदिश, अर्थात् पूर्वी मालवा में स्थित प्राचीन विदिशा, से एक अनुदान-पत्र जारी किया था, यह सम्भव है कि अमोन वाले अनुदान-पत्र के उज्जयनी को पश्चिमी मालवा के इसी नाम के विख्यात नगर से अभिन्न मान लें। इस प्रकार शंकरगण के राज्य में दक्षिण में नासिक जिला और उत्तर में मालवा का कुछ भाग रहा होगा। मन्दसौर के औलिकरों को शायद इस राजा ने हरा दिया था। यह वहुत ही दिलचस्प वात है कि शंकरगण की प्रशस्ति में जो लम्बे-लम्बे पद लिखे गये हैं, वे गुप्त सम्राटों के अभिलेखों में पायी जाने वाली समुद्रगुप्त की प्रशस्तियों की हू-ब-हू नकल हैं। इससे जाहिर होता है कि कलचुरि राजाओं ने (सम्भवतः मालवा गुजरात क्षेत्र में) जो इलाके जीते थे, वे शुरू में गुप्त सम्राटों के अधीन थे।

कलचुरि राजा शंकरगण के बारे में कहा जाता है कि उसने अपनी भुजाओं के बल से राज्य प्राप्त किया था और उसने अनेक राजाओं को, जिनकी गद्दियाँ छिन गयी थीं, फिर उनका राज-पाट वापस कर दिया था। उसने दावा किया है कि वह पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों से घिरे सारे क्षेत्र का स्वामी था, अर्थात् बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक उसका राज था। यद्यपि ये दावे बिल्कुल रूढ़ किस्म के हैं, और उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता, लेकिन इसमें सन्देह नहीं है कि शंकरगण अपने समय के सबसे शक्तिशाली राजाओं में से एक था। यह सम्भव है कि वह गुजरात और काठियावाड़ के कुछ हिस्सों तक कलचुरियों की शक्ति का विस्तार करने में सफल रहा हो।

---

[1] गुर्जर दद्द प्रथम (देखिए पृ. ६६) को अभिलेखों में 'कृष्ण-हृदय-आहित्-आस्पद' कहा गया है। शायद इसमें यह संकेत निहित है कि वह कलचुरि राजा कृष्णराज के अधीन था। (इ. हि. क्वा., XXV. २९०)।

संखेद (बड़ौदा जिला) में प्राप्त हुए ताम्र अनुदान-पत्र में, जो छठी के अन्तिम चतुर्थांश में जारी किया गया था, एक राजा निरिहुल्लक का जिक्र कृष्णराज के पुत्र राजा शंकरगण का (गलती से अनुदान-पत्र में शंकरण लिखा सामंत बताया गया है। इस अभिलेख से सूचित होता है कि गुजरात पर का आधिपत्य हो गया था। शंकरगण के बेटे के एक विवरण से इसकी और जाती है। हो सकता है कि निरिहुल्लक कोई गुर्जर सामन्त हो और भरुकच्छ(के राजा संगमसिंह का वंशज हो, जिसका सुनओकल वाले अनुदान-पत्र में, २९२ (सन् ५४० ई०) का है, जिक्र आया है। सातवीं शताब्दी के पहले चतु इस क्षेत्र पर चालुक्यों का प्रभुत्व हो गया था, यह पुलकेशिन् द्वितीय के इस सूचित होता है कि उसने लाटों, मालवों और गुर्जरों को हराया था।

२. बुद्धराज

सन् ५९५ ई० के कुछ समय बाद ही शंकरगण का बेटा बुद्धराज उसका धिकारी बना। बुद्धराज का बदनेर वाला अनुदान-पत्र, जो वर्ष ३६० (सन् ६०८ का है, वैदिश (अर्थात् विदिशा, पुराने ग्वालियर राज्य में आधुनिक बेसन जारी किया गया था, ताकि वटनगर **भोग** में भूमि दान की जा सके। यह वही है जिसे आजकल वदनेर कहते हैं और जो नासिक जिले के चान्दोर तालुक में है सम्भव है कि बुद्धराज ने सन् ६०८ से कुछ ही पहले पूर्वी मालवा को जीत जिसकी पुरानी राजधानी विदिशा थी। उसने पूर्वी मालवा को परवर्ती गुप्तों के देवगुप्त से जीता होगा, जिसने गौड़ों से मिलकर मौखरियों और पुष्यभूतियों सन् ६०५-०६ ई० के लगभग युद्ध किया था।

चालुक्य राजा मंगलेश (सन् ५९७-९८ से ६१०-११ ई० तक) का दावा उसने शंकरगण के बेटे बुद्धराज को मार भगाया था और कटच्चुरियों का छीन लिया था। कटच्चुरी बुद्धराज के विरुद्ध मंगलेश की विजय का उल्लेख पहले सन् ६०२ के महाकूट स्तम्भ लेख में मिलता है। लेकिन वदनेर वाले अनुदा से सूचित होता है कि सन् ६०८ में नासिक जिले पर कलचुरियों का कब्जा था। जाहिर है कि महाकूट के स्तम्भ लेख की तारीख तक मध्य और उत्तरी महा स्थित कलचुरि राज्य के दक्षिणी भागों पर चालुक्यों का पूरा अधिकार नहीं हो पाया मंगलेश के उत्तराधिकारी ने सन् ६३० ई० में नासिक जिले में एक गांव दान था। बड़ौदा जिले में पद्र के निकट सरस्वनी में बुद्धराज का एक और ताम्र पत्र मिला है। यह वर्ष ३६१ (सन् ६०९ ई०) में जारी किया गया था। इस पत्र के अनुसार उसने मरुकच्छ **विषय** अर्थात् भड़ोंच जिले में भूमि दान की थी।

३. नन्न और तरलस्वामिन्

बहुत दिन पहले बड़ौदा जिले के संखेद नामक स्थान पर एक और ताम्र अनुदान-पत्र मिला था, जिसमें ऐतिहासिक महत्त्व की कोई जानकारी नहीं है, सिवाय इसके कि वह वर्ष ३४६ (सन् ५९४ ई०) में जारी किया गया था। यह अनुमान स्वाभाविक था कि यह अनुदान-पत्र कलचुरि राजा शंकरगण के काल का है, यद्यपि इसके बारे में प्राय: यह सोचा जाता था कि यह किसी गुर्जर विवरण का अन्तिम भाग है। हाल में ही संखेद से कुछ ही दूरी पर मनकनि के स्थान पर एक अनुदान का पहला ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ है, और यह सुझाव पेश किया गया है कि मनकनि और संखेद के दोनों अपूर्ण टुकड़े मिलकर एक पूरे अनुदान-पत्र की शक्ल धारण करते हैं।[1]

मनकनि वाले ताम्र-पत्र से कलचुरियों के इतिहास के बारे में कुछ मूल्यवान् जानकारी हासिल होती है। इसमें एक राजकुमार तरलस्वामी द्वारा, जिसके नाम के आगे कोई राजपदवी या उपाधि नहीं है, मणकणिका ग्राम (आधुनिक मनकनि गाँव) के दान का विवरण दिया गया है। तरलस्वामी को महाराज नन्न का (जिसे णण्ण लिखा गया है) दद्दा से उत्पन्न बेटा बताया गया है, जो स्पष्टत: नन्न की रानी और गुर्जर-वंश के सामन्त दद्द प्रथम का सम्बन्धी हो सकता है। तरलस्वामी को शायद **श्री-सूर्य-भावुक** कहा जाता था और यह सुझाव पेश किया गया है कि वह राजकुमार सूर्य की बहन का पति था। इस राजकुमार सूर्य की शिनाख्त सम्भव नहीं। इस तथ्य के बावजूद कि तरलस्वामी को शिव का उपासक वताया गया है, **श्री-सूर्य-भावुक** से यह अनुमान भी किया जा सकता है कि उसका झुकाव सूर्य-देव की उपासना की ओर था। बहरहाल, इस अभिलेख से सबसे महत्त्वपूर्ण जानकारी यह मिलती है कि **महाराज** नन्न को **कटच्चुरि-कुल-वेश्म-प्रदीप** अर्थात् 'कटच्चुरियों के कुल के घर का दीपक' कहा जाता था। इसका साधारण संकेत यह है कि नन्न कलचुरि कुल का सदस्य था, लेकिन यह संकेत भी हो सकता है कि नन्न की माँ कोई कलचुरि राजकुमारी थी। संखेद-क्षेत्र में नन्न या उसके बेटे तरलस्वामी के शासन की बात से यदि यह मानकर चला जाय कि उसका काल सन् ५९४ ई० था, तो ठीक उसी काल में, उसी क्षेत्र पर, कलचुरि राजा शंकरगण शासन की बात की संगति बिठाना बहुत कठिन मालूम देता है। नन्न क्या शंकरगण का प्रतिद्वन्द्वी था और कुछ समय के लिए गुर्जरों की मदद से गुजरात के इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाने में कामयाव हुआ था? इसके बारे में ज्ञात किन्तु नगण्य तथ्यों के आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

चालुक्य राजा विनयादित्य (सन् ६८३-९६ ई०) का दावा है कि उसने हैहयों को हराया था। उसके बेटे विक्रमादित्य द्वितीय (सन् ७३३-३४ से ७४६ ई० तक) ने

---

[1] इम्पा. इंस. व. स्टे. १: पृ. ४ प. पृ. यह ताम्र-पत्र जॉली नहीं लगता जैसा प्रो. मिराशी का विचार है।

दो हैहय राजकुमारियों से विवाह किया था। ये हैहय, लगता है, और कोई नहीं कलचुरि लोग ही थे, जिनका मालवा के पूर्वी जिले और उसके गिर्द के क्षे राज था।

IV. प्रारम्भिक राष्ट्रकूट

१. उत्पत्ति

राष्ट्रकूटों के वंश-नाम की व्याख्या के सिलसिले में अनेक मत पेश किये गये लेकिन सबसे अधिक मान्य मत यह है कि प्रतिहार, पेशवा तथा ऐसे ही कई राजकीय पदवी-सूचक नामों की तरह यह नाम भी आरम्भ में पदवी-सूचक ही होगा।[1] ऐसे पदाधिकारियों का, जिन्हें **राष्ट्रकूट** कहा जाता था, यह सूचित करने के लिए कि वे एक **राष्ट्र** (जिलों) के प्रधान थे,[2] चालुक्य राजाओं के अनेक अभिलेखों (देखिए, लोहनेर में मिला सन् ६३० ई० का अनुदान-पत्र) और कन्नड़ राष्ट्रकूट परिवारों के अभिलेखों में (देखिए, एलोरा में मिला सन् ७४२ ई० का दान-पत्र) उल्लेख मिलता है। दक्षिणा-पथ में इस प्रकार के शासक नियुक्त करने प्रथा बादामि के चालुक्यों के उत्थान से पहले से चली आ रही थी। चूँकि चलकर चालुक्य अपने को अक्सर खुलेआम चन्द्रवंश के क्षत्रियों से और कभी-कभी रूप से अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं से सम्बद्ध करने लगे थे, इसलिए राष्ट्रकूट राज-परिवार ने नवीं शताब्दी में महाकाव्य-युग एक अन्य पुरातन राज-घराने वंशज होने का दावा करना शुरू कर दिया। सन् ८०८ ई० तक जो कि वनि-दि अनुदान-पत्र की तारीख है, राष्ट्रकूट सम्राटों के राजकवि राष्ट्रकूट परिवार की प्र यदु-कुल से यह तुलना करके ही सन्तोष कर लेते थे कि जिस तरह मुरारि (कृष्ण) के जन्म के कारण यदुवंशी अपराजेय हो गये थे, उसी तरह गोविन्द तृ जन्म के कारण राष्ट्रकूट भी अपराजेय हो गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि यह इसलिए सम्भव हुई, क्योंकि राजा का नाम **'गोविन्द'** था, जो यदुवंश के बा कृष्ण का भी नाम था, और इस तथ्य के कारण भी कि वैष्णव राजागण अक्सर आपको विष्णु-रूप में कृष्ण का अवतार बताते थे। (देखिए, **श्री-पृथिवी-वल्लभ** जिसे राष्ट्रकूट राजाओं ने अपने पुराने चालुक्य अधिराजों की नकल में धारण कर

---

[1] प्रतिहारों और पेशवाओं के इतिहास की रूपरेखा इस पुस्तक के चौथे और आठवें में क्रमशः प्रस्तुत की जाएगी। इस सम्बन्ध में देखिए, पदवियों के पुराने नाम जैसे—राष्ट्रिक (राष्ट्रिक), भोजक (महाभोजक) आदि और आधुनिक कुल-नाम जैसे, देशमुख, पटेल, नियोगी आदि। सरकारी पदवी का कुल-नाम के रूप में स्थिरीकरण इसलिए सम्भव होता प्राचीन भारत में पदाधिकारियों की नियुक्ति अक्सर वंशानुगत आधार पर होती थी और शासक-परिवार स्वतन्त्र राजाओं का दरजा प्राप्त कर लेने के बाद भी पुराने पदवी-नाम नहीं करते थे।

[2] देखिए, **ग्रामकूट,** शब्द 'गाँव का मुखिया'।

था)। लेकिन सन् ८७१ ई० के संजन में मिले अनुदान-पत्र का लेखक तो इन सबसे एक कदम आगे बढ़ गया था। उसने घोषणा की कि भगवान् वीर-नारायण (अर्थात् कृष्ण) ही राष्ट्रकूट-कुल के प्रजनक थे अतः यह कुल यादवान्वय (यादव-वंश) से अभिन्न है। यादवों से अपनी सजातीयता सिद्ध करने का यह प्रयत्न आगे भी जारी रहा, जैसा राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के कर्हद और देवली में मिले अनुदान-पत्रों में अभिलिखित है, जिनमें राष्ट्रकूटों को मूलपुरुष रट्ट का वंशज बताया गया है, जो तुंग पदवीधारी (अर्थात् उच्चकुल का या अभिजात, देखिए, **तुङ्ग-गंग-कुल** आदि) राजाओं के कुल में पैदा हुआ था और यदुवंश की सात्यकि शाखा का था।

पुरालेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी ई० के मध्य में वादामि परिवार के चालुक्यों के पतन से पहले राष्ट्रकूट पदवीधारी व्यक्ति भी थे, और राष्ट्रकूट परिवार भी, जो दक्षिणापथ के विभिन्न भागों पर शासन करते थे। ज्ञात तथ्यों से लगता है कि चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय के अधीन सतारा-रत्नागिरि के क्षेत्र पर एक राष्ट्रकूट, जिसका नाम गोविन्दराज था और जो शिवराज का वेटा था, सन् ७४३ ई० के लगभग शासन करता था। यह ज्ञात नहीं है कि उसी क्षेत्र में इससे पहले ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दियों में राज करने वाले राष्ट्रकूटों से उसका कोई रिश्ता था। एक और राष्ट्रकूट परिवार के वारे में ज्ञात है, जिसने मध्य प्रदेश के वेतूल और एल्लिचपुर जिलों पर सातवीं और आठवीं शताब्दियों में शासन किया था। राष्ट्रकूट परिवारों में सबसे महत्त्वपूर्ण वह था जो प्रारम्भ में दक्षिणापथ के किसी क्षेत्र में, सम्भवतः गुजरात-क्षेत्र के चालुक्य वायसराय के अन्तर्गत शासन करता था। वह परिवार वाद में इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसने वादामि के चालुक्यों को दक्षिणापथ पर अपने आधिपत्य से ही वंचित कर दिया। अक्सर माना जाता है कि उपर्युक्त सारे राष्ट्रकूट परिवार किसी एक ही वंश की विभिन्न शाखाएँ थे। लेकिन यह सुझाव सही नहीं लगता, क्योंकि राष्ट्रकूट नामधारी पदाधिकारियों का उल्लेख दस्तावेजों में ही नहीं मिलता, बल्कि वे वाद के राजाओं की, यहाँ तक कि चालुक्य सम्राटों और राष्ट्रकूट राजाओं की नौकरी में भी हुआ करते थे। इस अनुच्छेद में हम राष्ट्रकूटों के पुराने और अपेक्षया कम महत्त्व वाले परिवारों की चर्चा करेंगे। साम्राज्य की स्थापना करने वाले राष्ट्रकूटों की चर्चा इस पुस्तक के अगले भाग में की जाएगी।

२. मानपुर के राष्ट्रकूट

उण्डिकवाटिका के एक अनुदान-पत्र से एक शासक के बारे में पता चला है, जिसका नाम अभिमन्यु था। वह मानपुर में रहता था और भविष्य का वेटा, देवराज का पोता और राष्ट्रकूट मानांक का परपोता था। यद्यपि यह अज्ञात है कि यह अभिलेख कहाँ मिला था, पर विशेषज्ञों ने इस परिवार के शासकों के अधीन क्षेत्रों का स्थान-निर्धारण करने की दृष्टि से मानपुर की शिनाख्त करने की कोशिश की, जो

जाहिर है, उनकी राजधानी था और मानांक के नाम पर स्थापित किया गया कुछ लेखकों का ख्याल है कि यह नगर वही था, जिसे आजकल मानपुर कहते हैं जो मध्यभारत में रीवाँ राज्य के अन्तर्गत बंधोगढ़ के निकट बसा है। कुछ लि ने यह भी सुझाया है कि राजा मानांक और उसका बेटा देवराज क्रमशः राजा मा और उसके बेटे सुदेवराज से अभिन्न हैं, जो दक्षिणी कोसल के शासक थे जिनकी राजधानी शरभपुर थी। मानपुर और शरभपुर के राजाओं में अ बताना बिलकुल बेमानी है, क्योंकि (१) शरभपुर के किसी भी राजा ने कभी कूट होने का दावा नहीं किया, (२) प्रत्यक्षतः दोनों परिवार दो भिन्न क्षेत्रों दो भिन्न राजधानियों से शासन करते थे, (३) शरभपुरियों की मुहर पर गज-का चिह्न है तो मानपुर के राजाओं की मुहर पर सिंह का और (४) मानपुर राजाओं के अनुदान-पत्र डिब्बानुमा शीर्षरेखा वाली लिपि में नहीं लिखे गये, तरह कि शरभपुर के अनुदान-पत्र लिखे गये हैं। हाल में ही कोल्हापुर के मानपुर के परिवार का एक और अनुदान-पत्र मिला है, जिसे देवराज के बेटे मानांक के पोते अविधेय ने जारी किया था। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि मा का परिवार मराठा देश के दक्षिणी भाग में शासन करता था। मिराशी ने मानपुर सतारा जिले में स्थिति मान से शिनाख्त की है, जिसे अब आम तौर पर मान लि गया है।[1]

इस वंश के संस्थापक राजा मानांक को उण्डिकवाटिका के अनुदान-पत्र में राष्ट्र का आभूषण बताया गया है। सम्भव है कि आरम्भ में वह किसी अन्य राजा का राष्ट्र या प्रान्तीय गवर्नर रहा हो। लगता है कि वह पाँचवीं शताब्दी के मध्य में र करता था। वह कभी वत्सगुल्म के वाकाटकों के अधीन शासक था या नहीं, इ निर्णय नहीं किया जा सकता। लेकिन उसके पोते अविधेय के पाण्डुरंगपल्ली अनुदान-पत्र में मानांक को विदर्भ और अश्मक का विजेता कहा गया है।[2] यह सं है कि विदर्भ और अश्मक के नामों का प्रयोग वास्तव में क्रमशः बरार के वाकाट और वत्सगुल्म के वाकाटकों को सूचित करने के लिए किया गया हो, जिनके बा ज्ञात है कि उन्होंने दक्षिण में कम से कम नान्दीकट तक, अर्थात् प्राचीन अश्मक हैदराबाद के नान्देर जिले तक, राज किया था। इसी विवरण में मानांक को कु को दण्ड देने वाला (**प्रशासिता**) भी कहा गया है, जो निश्चय ही कन्नड़ दे कदम्ब राजा ही थे।[3]

---

[1] ए. भ. ओ. रि. इ., XXV, ४२। यह मत कि इन राष्ट्रकूटों के आधिपत्य में एक वि क्षेत्र था, जिसके अन्तर्गत दक्षिण कोसल, मध्य-भारत और दक्षिणा-पथ के अधिकांश भाग थे, निरर्थक अटकलों पर आधारित है। देखिए, प्रो. इ. हि. का. VII, पृ. ७०, ए. भ. ओ. रि. XXIV. १४९-५५)।

[2] ऊपर देखिए, पृ. २१४।

[3] मिराशी के इस मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त और सन्तोषजनक प्रमाण नहीं मिल मानांक और उसके उत्तराधिकारी स्वयं कुन्तल देश के शासक थे, और **कुन्तलेश्वरदौत्य** में

मानांक के बाद उसका बेटा देवराज[1] उसका उत्तराधिकारी बना। कहा जाता है कि देवराज के तीन बेटे थे। पाण्डुरंगपल्ली का अनुदान-पत्र अविधेय ने जारी किया था, जो देवराज का बेटा था। उसका दूसरा बेटा भविष्य था, जिसके बेटे अभिमन्यु ने उण्डिकवाटिका का अनुदान-पत्र जारी किया था। यह निश्चित नहीं है कि अविधेय ने अपने पिता के तुरन्त बाद शासन किया था या अपने भाई भविष्य के बाद या भतीजे अभिमन्यु के बाद।

मानपुर में रहते हुए, राजा अभिमन्यु ने उण्डिकवाटिका का गाँव, हरिवत्स किले के कमाण्डर जयसिंह की उपस्थिति में, भगवान दक्षिण-शिव के सम्मान में शैव तपस्वी जटाभार को दान किया था। चूँकि यह अभिलेख छठी शताब्दी का माना जा सकता है, इसलिए निस्सन्देह उण्डिकवाटिका के अनुदान-पत्र के जयसिंह को बादामि-परिवार के चालुक्य-वंश के संस्थापक जयसिंह-वल्लभ से अभिन्न मानने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। फिर भी मानपुर के राष्ट्रकूटों से उसके वास्तविक सम्बन्ध का ठीक-ठीक निर्णय करना सम्भव नहीं है, विशेषकर यह देखते हुए कि प्रारम्भिक चालुक्य-विवरणों पर कदम्ब शैली का बड़ा गहरा प्रभाव है। यह ज्ञात नहीं है कि मानपुर के शासकों को अन्ततः प्रारम्भिक चालुक्यों ने हराया था या कोंकण की मौर्य आदि किसी अन्य ताकत ने। यद्यपि परवर्ती चालुक्यों के कुछ अभिलेखों में यह दावा किया गया है कि जयसिंह-वल्लभ ने कृष्ण के बेटे राष्ट्रकूट राजा इन्द्र का तख्ता उलट कर दक्षिणा-पथ पर अपना आधिपत्य जमा लिया था, लेकिन इस वक्तव्य को विद्वान जाली दस्तावेज समझते हैं, जो दसवीं शताब्दी की घटनाओं से प्रभावित होकर तैयार किया गया था जबकि, राष्ट्रकूटों की प्रभुसत्ता कृष्ण तृतीय के उत्तराधिकारियों के हाथ से निकलकर परवर्ती चालुक्य-वंश के हाथ में पहुँच गयी थी। प्रत्यक्षतः इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि बादामि के प्रारम्भिक चालुक्यों के दस्तावेजों में, विशेषकर ऐहोल के अभिलेख में, जहाँ इस परिवार के उत्थान का विस्तृत वर्णन मिला है, जयसिंह वल्लभ को एक साधारण सामन्त दिखाया गया है, जिसे किसी भी बड़ी सफलता का श्रेय प्राप्त नहीं था। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि बादामि परिवार के प्रारम्भिक सदस्यों के विवरणों में, जिन राजाओं और देशों को उन्होंने परास्त किया था उनकी सूची में कहीं भी राष्ट्रकूटों का जिक्र नहीं आता, यहाँ तक कि महाकूट स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख में भी नहीं, जिसमें वस्तुतः इस परिवार की महानता स्थापित करने वाले कीर्तिवर्मन प्रथम की विजयों का अतिरंजित ब्यौरा दिया गया है। इसलिए, यह ज्यादा मुमकिन है कि मानपुर के शासकों को मौर्यों ने या नलों ने परास्त किया होगा, जिन्हें

वाकाटकों के अभिलेख में (ए. भ. ओ. रि. इ. XXV. ३६) जिस स्वामी का हवाला दिया गया है, वह स्वयं वे ही थे। कुन्तल के लिए देखिए, सक्से. सात, २१५-१६. इ. हि. क्वा. XXIII. ६५,३२०।

[1] मिराशी के इस सुझाव को स्वीकार करना कठिन है कि मानपुर के देवराज को गोआ के भोज-वंश के देवराज से अभिन्न माना जाय। (पू. पु. ४३)।

आगे चलकर प्रारम्भिक चालुक्यों ने हराया होगा। राष्ट्रकूट गोविन्दराज, जो शि
का बेटा था और विक्रमादित्य द्वितीय के राज्य-काल में सतारा-रत्नागिरि क्षे
शासन करता था, शायद मानपुर के राष्ट्रकूटों के पुराने घराने का सदस्य रहा है

३. बरार के राष्ट्रकूट

मध्यप्रदेश के बेतुल जिले में तिवरखेड और मुल्ताइ स्थानों पर मिले दो
अनुदान-पत्रों से एक परिवार के चार राजाओं का पतां चलता है। दोनों अनुदा
नन्नराज, उपनाम युद्धासुर ने जारी किये थे, जो स्वामिकराज का बेटा, गोवि
का पोता और दुर्गराज का पर-पोता था। उनके वारे में कहा गया है कि वे रा
वंश के थे। तिवरखेड का अनुदान-पत्र अचलपुर (आजकल के अमरावती जि
एल्लिचपुर) से जारी किया गया था, जो शायद इस परिवार के शासकों की राज
का नाम था। हाल में ही नन्नराज युद्धासुर के संगलूद में जो ताम्रपत्र मिले
पद्मनगर से जारी किये गये थे, जो शायद इन राष्ट्रकूटों की उप-राजधानी का
रहा होगा। लगता है, उत्तरी दक्षिणापथ के बेतुल अमरावती क्षेत्र पर
आधिपत्य था।

नन्नराज के मुल्ताइ वाले अनुदान-पत्र की शब्दों में लिखी तारीख शक
६३१ अर्थात् सन् ७०९ ई० है। तिवरखेड वाले अनुदान-पत्र में तारीख इतने
शब्दों में लिखी गयी है कि उसका कोई सन्तोषजनक अर्थ नहीं निकलता, हालांकि
संशोधन इस तरह कर दिया गया है कि उससे शक संवत् ५५३ सूचित होता है (
६३१ ई०)। लेकिन इस तारीख की अगर दूसरे विवरण की संतोषजनक
लिखी गई तारीख से तुलना करें तो लगेगा कि अपेक्षित शक संवत् ५५३ की
६५३ होना चाहिए, जो सन् ७३१ या ७३२ ई० के बराबर है। संगलूद के ताम्र
की तारीख शक संवत् ६१५ (सन् ६९३ ई०) है। इसलिए हम मोटे तौर पर
सकते हैं कि राष्ट्रकूट नन्नराज युद्धासुर ने लगभग सन् ६९० से ७३५ ई० तक
किया होगा। उसका परदादा दुर्गराज, लगता है, सातवीं शताब्दी कें मध्य में
कर रहा होगा। हो सकता है कि पुलकेशिन द्वितीय ने दुर्गराज को राष्ट्रकूट (प्रा
गवर्नर) नियुक्त किया हो, लेकिन जब पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के वाद बा
के चालुक्यों का परिवार संकटग्रस्त हो गया, उस समय वह स्वतंत्र हो गया हो।
दिलचस्प वात है कि दन्तिवर्मन् प्रथम भी, जो राष्ट्रकूटों के शाही राजवंश का सं
पक था, सातवीं शताब्दी के मध्य में ही शासन करता था और सम्भव है कि उ
पुलकेशिन द्वितीय ने दक्षिणापथ के उत्तरी भाग के किसी जिले का राष्ट्रकूट (गव
नियुक्त किया हो। बादामि के चालुक्यों के घराने के परवर्ती कमजोर सम्रा
जमाने में, यानी आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, राष्ट्रकूटों के ये दोनों परिवार
शक्तिशाली होते गये। ऐसा लगता है कि अचलपुर के राष्ट्रकूट परिवार को दन्ति

(दन्तिवर्मन् द्वितीय) ने, जो राष्ट्रकूटों के एक दूसरे परिवार का था, हरा कर आठवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों का एक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया था।

ग. पूर्वी दक्षिणा-पथ

I. आन्ध्र

१. आनन्द

हम देख चुके हैं कि काँची के पल्लवों ने किस प्रकार तीसरी शताब्दी के ग्रन्त में आन्ध्र देश के केन्द्र-प्रदेश को जीत लिया था। गुन्टूर जिले के गिर्द के क्षेत्र को पल्लवों के चंगुल से मुक्त कराने का श्रेय एक नये राज-परिवार को दिया जा सकता है, जो आनन्द-गोत्र का या ग्रानन्द नाम के किसी ऋषि का वंशज होने का दावा करता था। अभिलेखों से ग्रानन्द-वंश के केवल तीन राजाग्रों के नाम ज्ञात हुए हैं—कंदर, अत्तिवर्मन् ग्रौर दामोदरवर्मन्। इन राजाग्रों का शासन काल चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक समझा जाता है। विद्वानों में आनन्द-वंश के राजाग्रों के वंशानुगत नाम ग्रौर कालानुक्रम के बारे में काफी मतभेद है। ये तीनों राजा जिस राजवंश के थे, उसको कभी कभी कन्दर-परिवार का ग्रानन्द-गोत्र परिवार कहा जाता है। लेकिन इस बात की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि केवल राजा कन्दर के वंशजों को ही कन्दर परिवार का कहा जा सकता है ग्रौर संस्कृत भाषा में **गोत्र** का ग्रर्थ कुल होता है, जहाँ तक ग्रानन्द-वंश के राजाग्रों के कालानुक्रम का संबन्ध है विभिन्न विद्वानों ने उन्हें विभिन्न कालों में छठी ग्रौर सातवीं शताब्दियों में सन् ३७५ से ५०० ई० ग्रौर सन् २९० से ६३० ई० के बीच रखने के ग्रनुमान पेश किये हैं। इस सम्वन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रौर विचारणीय वात यह है कि मत्तेपद वाले दामोदरवर्मन् का अनुदान-पत्र ग्राधा संस्कृत भाषा में ग्रौर आधा प्राकृत भाषा में लिखा गया है, ग्रौर इसलिए वह चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से बाद का नहीं हो सकता, जब संस्कृत ने दक्षिण भारत के पुरालेखीय क्षेत्र से प्राकृत को ग्रपदस्थ कर दिया था। यह विश्वास करने का भी कोई संगत कारण नहीं है कि दामोदरवर्मन् तथा कन्दर ग्रौर अत्तिवर्मन् के बीच समय का लम्बा फासला रहा होगा।

कन्दर नाम संस्कृत के **कृष्ण** नाम का द्रविड़ प्रभाव में भ्रष्ट प्राकृत रूप है। ऐसा लगता है कि राजा कन्दर ने कन्दरपुर का नगर बसाया था, जो आनन्द वंश के राजाग्रों की राजधानी था। यह नगर शायद गुन्टूर जिले में आधुनिक **चेजर्ल** के निकट था। इस स्थान पर प्राप्त एक ग्रभिलेख में कहा गया है कि राजा कन्दर कृष्णवेण्णा (कृष्णा नदी), त्रिकूट पर्वत, कन्दरपुर नगर ग्रौर दो **जनपदों** (प्रान्तों) का स्वामी था। चेजर्ल अभिलेख के त्रिकूट पर्वत की अस्थायी रूप से विष्णुकुण्डिन के अभिलेख में उल्लिखित त्रिकूट-मलय ग्रौर आधुनिक कोटप्पकोंद से शिनाख्त की गयी है जो कवुर के निकट

है । कन्दर के राज्य का एक **जनपद** कन्दरपुर के इर्द-गिर्द वाला जिला रहा है। कन्दर के ध्वज पर **गोलांगुल** की आकृति होती थी, जो बन्दरों की एक जाति है। अनिश्चित है कि आनन्द-राजाओं के ताम्र-अनुदान-पत्रों पर ठपी विरुपित मुहरों पर इसी प्राणी की आकृति है या कुछ और ।

चेजर्ला का अभिलेख दरअसल सत्सभामल्ल का है, जो कन्दर की वेटी का पुत्र था, शायद किसी उपराजा के वंश का था । इस अभिलेख में कन्दर को पृथिवी- की उपाधि और सम्भवत: धान्यकटक (अमरावती क्षेत्र) में कुछ युद्धों में विजयों का श्रेय दिया गया है । यह स्थान आन्ध्रपथ में पल्लवों का सदरमुकाम होने के प्रसिद्ध था । यह बात नामुमकिन नहीं है कि चौथी शताब्दी के मध्य में कन्दर उसके अधीन राजाओं ने पल्लवों को धान्यकटक से निकाल वाहर किया हो ।[1]

राजा अत्तिवर्मन् ने, जिसका नाम द्रविड़ प्रभाव में संस्कृत के हस्तिवर्मन् का प्राकृत रूप है, गोरन्त्ल का अनुदान-पत्र जारी किया था । इस विवरण में अत्तिवर्मन् को शम्भु (शिव) का उपासक और हिरण्यगर्भ **महादान** यज्ञ का बताया गया है । शिव का मन्दिर, जो इस परिवार के पहले राजाओं का भी था, वाकेश्वर नाम के स्थान पर था, जो शायद राजधानी कन्दरपुर के पास में होगा और सम्भव है कि आधुनिक **चेजर्ला** के स्थान पर ही रहा हो ।

आनन्द-राजा दामोदरवर्मन्, जिसने मत्तेपद का अनुदान-पत्र जारी किया भगवान सम्यक् सम्वुद्ध (बुद्ध) का उपासक था । दामोदरवर्मन् द्वारा बौद्ध संरक्षण के सम्बन्ध में यह संकेत कर देना जरूरी है कि चेजर्ला में इस समय कपोतेश्वर का मन्दिर है, उसकी संरचना को देखते हुए विद्वानों का यह विचार है वह मूलत: बौद्धचैत्य था, जो बाद में ब्राह्मण धर्म के प्रयोग के लिए बदल लिया था । आमतौर पर इस मन्दिर को चौथी शताब्दी का माना जाता है और यह आनन्द-वंश के राजाओं की तारीख से ठीक जुड़ जाती है ।

आमतौर पर माना जाता है कि कन्दरपुर की गद्दी पर दामोदरवर्मन् अत्ति से पहले बैठा था । लेकिन उसके वारे में यह वर्णन, कि वह एक ऐसे राजा का था, जिसने हिरण्यगर्भ **महादान** यज्ञ किया था, यह सिद्ध करता है कि अत्तिवर्मन् बेटा था, जिसने हिरण्यगर्भ **महादान** यज्ञ किया था ।

आनन्द-वंश का पतन सम्भवत: पल्लवों से उनके अनवरत संघर्ष का परि था ।

---

[1] चेजर्ला के अभिलेख की पुरालिपि-शास्त्रीय जाँच से यह सुझाया जा सकता है कि अभिलेख का कन्दर अत्तिवर्मन् और दामोदरवर्मन् के बाद हुआ था और इस वंश का कन्दर से भिन्न था ।

२. शालंकायन

टॉलेमी के **जुगराफिया** (भूगोल) में, जिसकी रचना सन् १४० ई० के लगभग हुई थी, सलकैनोइ नाम के लोगों का उल्लेख मिलता है जो माइसौलिया या आधुनिक मसुलिपट्टम क्षेत्र के उत्तर में बसते थे । टॉलेमी के सलकैनोई दरअसल शालंकायन ही हो सकते हैं, जो कृष्णा और गोदावरी नदियों के मुहानों के बीच बसते थे और जिनकी राजधानी वेंगी नगर में थी, जो गोदावरी जिले में एल्लोड़ के निकट आजकल पेद्द-वेंगि के नाम से ज्ञात है । टॉलेमी के अनुसार सलकैनोई का एक महत्त्वपूर्ण नगर वेनागूरॉन था, जो वेंगपुर या वेंगीपुर का ग्रीक रूप हो सकता है । शालंकायन अवश्य ही परवर्ती सातवाहनों की अधीनता स्वीकार करते रहे होंगे, लेकिन उन्हें आन्ध्रपथ के विजेता इक्ष्वाकुओं और पल्लवों के आगे भी समर्पण करना पड़ा था या नहीं, इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता ।

शालंकायनों के सारे अनुदान-पत्र वेंगी के नगर से ही जारी किये गये थे । कौल्लैर का अनुदान-पत्र **महाराज** नन्दिवर्मन ने जारी किया था, जो **महाराज** चण्डवर्मन का ज्येष्ठ पुत्र था। यह राजा प्रत्यक्षतः पेद्द-वेंगि के अनुदान-पत्र के महाराज नन्दिवर्मन् द्वितीय से अभिन्न था, जिसके बारे में कहा गया है कि वह **महाराज** चंडिवर्मन् का बेटा महाराज नन्दिवर्मन् प्रथम का पोता और **महाराज** हस्तिवर्मन् का परपोता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शालंकायन राजा हस्तिवर्मन् वेंगी के इसी नाम के उस राजा से अभिन्न है, जिसे इलाहाबाद के अभिलेख के अनुसार लगभग चौथी शताब्दी के मध्य में सम्राट समुद्रगुप्त ने हराया था । हाल में ही कानुकोल्लु में जो ताम्रपत्र मिले हैं (पहला सेट),[1] उनमें प्राकृत भाषा में एक भूमि-अनुदान का विवरण दिया गया है । यह अनुदान-पत्र नन्दिवर्मन ने, जो सम्भवतः हस्तिवर्मन् का बेटा था, अपने शासन-काल के १४वें वर्ष में जारी किया था । इस नन्दिवर्मन् प्रथम का पोता नन्दिवर्मन् द्वितीय था, जिसे हम पांचवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में रख सकते हैं । कन्तेरु का अनुदान-पत्र (नं० १) नन्दिवर्मन् नाम के एक शालंकायन महाराज ने जारी किया था, लेकिन अनुदान-पत्र में उसके पूर्वजों का उल्लेख नहीं है । फिर भी उसे नन्दिवर्मन् द्वितीय से अभिन्न माना जा सकता है, क्योंकि दोनों के लिए समान उपाधि **परम-भागवत** का प्रयोग किया गया है ।

कन्तेरु ताम्र-पत्र (नं० २) और कानुकोल्लु ताम्र-पत्र (नं० २) से एक महाराज स्कन्दवर्मन् के नाम का पता चलता है । कानुकोल्लु के अनुदान-पत्र के अनुसार वह नन्दिवर्मन् (प्रथम) का पोता और हस्तिवर्मन् (द्वितीय) का बेटा था । चण्डिवर्मन् और नन्दिवर्मन् द्वितीय के साथ उसका क्या रिश्ता था, इसका अभी तक पता नहीं चला है । इस प्रकार हम शालंकायनों की वंशावली इस रूप में पेश कर सकते हैं :–

---

[1] ऐंशिएंट इण्डिया, नं. ५, पृ. ४६-४७ ।

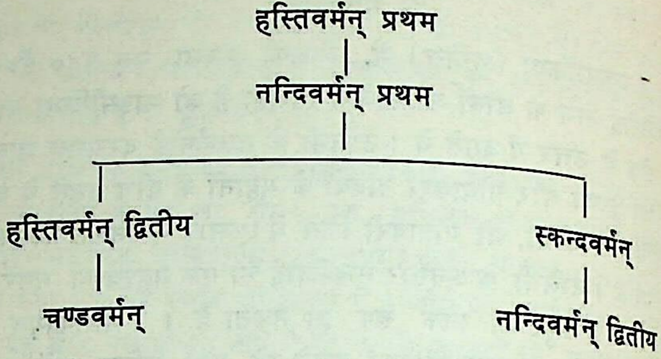

एक और **शालंकायन-महाराज** देववर्मन्, जो महेश्वर (शिव) का उपासक एल्लोर में प्राप्त हुए अपने अनुदान-पत्र से जाने गये हैं जो उनके शासन-काल के साल में जारी किया गया था। एल्लौर का अनुदान-पत्र प्राकृत भाषा में है, नन्दिवर्मन् द्वितीय और स्कन्दवर्मन् के अनुदान-पत्र संस्कृत में हैं, इसलिए देववर्मन् दोनों का पूर्ववर्ती मानना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि उसे हस्तिवर्मन् प्रथम दूसरा बेटा मानना चाहिए, लेकिन इस अनुमान की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। वह वेंगी की गद्दी पर हस्तिवर्मन् का पूर्वज भी हो सकता है और सम्भव उसका काल चौथी शताब्दी का दूसरा चतुर्थांश हो। अनुदान-पत्र में कहा गया **महाराज** देववर्मन् ने अश्वमेध-यज्ञ किया था। इससे सूचित होता है कि वह समुद्रगुप्त के आक्रमण से पहले हुआ था और उसने अपने दुश्मनों को, जिनमें के विजेता पल्लव भी हो सकते हैं, सफलतापूर्वक हराने के बाद शालंकायन की महानता कायम की हो।

यद्यपि व्यक्तिगत रूप से शालंकायन राजाओं ने चाहे शैव या वैष्णव धर्म को पसन्द किया हो, लेकिन वे, सब के सब, भगवान चित्ररथ-स्वामी के उपासक जाहिर है, शालंकायन **महाराजाओं** के कुल-देवता थे। चूँकि चित्ररथ शब्द “सूर्य” है, यह कुल-देवता सूर्य-भगवान भी हो सकते हैं। शालंकायन राजा अनुदान-पत्रों के साथ नत्थी मुहरों पर नन्दी की आकृति है, जो लगता है, कुल-चिह्न था। चूँकि **शालंकायन** शब्द से नन्दी सूचित होता है, जो वाहन है, अतः यह सम्भव है कि शालंकायनों का कुल-चिह्न उनके बिल्कुल असंबद्ध नहीं हो।

पश्चिमी गोदावरी और कृष्णा के जिलों और शायद उससे मिले हुए कुछ पर शालुंकायनों का आधिपत्य था। नेल्लोर-गुन्टूर क्षेत्र के पल्लव राजा सिंहव मंगलूर वाले अनुदान-पत्र (सन् ५०० ई०) में वेंगो (अर्थात् वेंगी) राष्ट्र में दान अभिलेखित है। यह तथ्य शायद यह सूचित करता है कि वेंगी के शालंकायन विरुद्ध पल्लवों ने पाँचवीं शताब्दी के अन्त में सफलता प्राप्त करली थी और विष्णु ने उन्हें अगली (छठी) शताब्दी के शुरू में अन्तिम रूप से हरा दिया था।

३. विष्णुकुंडी

विष्णुकुंडियों का नाम शायद उनके मूल निवास-स्थान के नाम पर पड़ा था, जो कुरनूल जिले में श्रीशैल पर्वत से ६० मील पूर्व और कृष्णा नदी से ५० मील दक्षिण में, आधुनिक विनुकोंड है। विष्णुकुंडी राजाओं की मुहर पर सिंह की आकृति होती थी और वे भगवान श्रीपर्वतस्वामी के उपासक थे, अर्थात् उस देवता के, जिसकी मूर्ति श्रीपर्वत के मन्दिर में थी (आधुनिक नल्लमलुर गिरिमाला जिसमें श्रीशैल की चोटी भी है), और जो विष्णुकुंडियों का कुलदेवता भी था। इस श्रीपर्वतस्वामी को श्रीशैल शिखर के देवता शिवमल्लिकार्जुन से अभिन्न समझना चाहिए या नहीं, इसका निर्णय करना सम्भव नहीं है।

विष्णुकुंडियों की वंशावली के बारे में विद्वानों में मतभेद है। मतभेद इस बात को लेकर है कि चिक्कुल्ल और रामतिर्थम् के ताम्र अनुदान-पत्रों में जिस राजा माधववर्मन् का उल्लेख है, उसका इपुर (पहला सेट) और पोलमुरु के ताम्र अनुदान-पत्रों में उल्लिखित समध्वनिक नाम वाले राजा से क्या रिश्ता था। इन सारे ताम्र-पत्रों में कहा गया है कि इस राजा ने ग्यारह अश्वमेध यज्ञ और एक हजार अन्य प्रकार के यज्ञ किये थे। लेकिन अन्तिम दोनों ताम्र-पत्रों में इतना और जोड़ा गया है कि उसने "हिरण्यगर्भ महादान भी किया था" और इससे "त्रिवरनगर की तरुणियों के हृदयों को आनन्दित किया था"। ग्यारह अश्वमेध यज्ञ और एक हजार अन्य यज्ञ करना कुछ विद्वानों की राय में इतनी अनोखी बात है कि उनका विश्वास है कि इन चारों ताम्र-पत्रों में किसी एक ही राजा का उल्लेख है। लेकिन दूसरे विद्वानों का मत है कि पहले दो ताम्र-पत्रों में जिस राजा का उल्लेख है, वह अन्तिम दो ताम्र-पत्रों में उल्लिखित राजा से भिन्न है और वह उससे बहुत पहले हुआ था।[1] दोनों में से एक या दूसरे मत को मान लेने से

---

[1] जैसा मैंने संकेत किया है; (इ. हि. क्वा. IX. ६५३ प. पृ.) यह विश्वास करना कठिन है कि माधववर्मन् नाम के एक से अधिक विष्णुकुंडी राजा हुए होंगे, जिन्होंने अलग अलग ठीक एक ही संख्या में यज्ञ किये होंगे, अर्थात् ग्यारह अश्वमेध यज्ञ और **एक हजार** अग्निष्टोम (क्रतु)। लेकिन हाल में ही इ. क. XV. पृ. १३ प. पृ. में प्रकाशित एक नोट में प्रो. नीलकान्त शास्त्री ने ग्यारह अश्वमेध यज्ञ आदि करने वाले उपर्युक्त माधववर्मन् को दो बार हुआ बताया है। वह इस दावे की सचाई पर सन्देह तो करते हैं लेकिन यह सुझाव पेश करते हुए लगते हैं कि पहले माधववर्मन् ने तो शायद ये सारे यज्ञ किये थे, लेकिन वाद के दूसरे माधववर्मन् ने शायद परम्परा या प्रथा के अनुसार अपने पूर्वज के कारनामों को खुद अपने कारनामों के रूप में पेश किया हो। हालाँकि पूर्वजों के दावों को खुद अपने दावे वताकर डींग मारने की रूढ़ि के उदाहरण भारतीय इतिहास में अज्ञात नहीं हैं, लेकिन प्रो. शास्त्री का सुझाव पूरी तरह सन्तोषजनक नहीं लगता, क्योंकि इतने यज्ञों के कर्ता माधववर्मन् के किसी भी ज्ञात वंशज ने (अर्थात् इपुर ताम्र-पत्रों के दूसरे सेट को जारी करने वाले उसके पोते माधववर्मन् द्वितीय ने, रामतीर्थम् ताम्र-पत्रों को जारी करने वाले उसके दूसरे पोते इन्द्रवर्मन् ने और चिक्कुल ताम्र-पत्रों को जारी करने वाले उसके परपोते विक्रमेन्द्रवर्मन् द्वितीय ने) स्वयं अपने वारे में कभी यह दावा नहीं किया कि उसने इतने यज्ञ किये थे, बल्कि हरेक ने इसका

इस राजवंश के इतिहास और वंशावली, और साथ ही, पड़ोसी राजाओं सम्बन्धों में वहुत बड़ा फर्क पड़ जाता है। नीचे विष्णुकुंडिन राजाओं की वंशा जो रेखा-चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह इस मत पर आधारित है कि चारों ता में यज्ञ करने वाले एक ही राजा का उल्लेख हुआ है।[1]

विक्रमहेन्द्र (विक्रमेन्द्र-वर्मन् प्रथम), ल. सन् ५०० ई०

महाराज गोविन्दवर्मन् विक्रमाश्रय

महाराज माधववर्मन् प्रथम जनाश्रय ल. सन् ५३५-८५ ई०

देववर्मन् — माधववर्मन् द्वितीय

(राजा) विक्रमेन्द्रवर्मन् द्वितीय — **महाराज राजा** इन्द्र (भट्टारक) वर्मन् ल. सन् ५९०-६२० ई० — **महाराज** विक्रमेन्द्रवर्मन् तृतीय ल. सन् ६२०-६३१ ई०

माव्यण्ण-भट्टार

विष्णुकुंडी परिवार का सबसे पहला ज्ञात राजा विक्रमहेन्द्र (ल. सन् ५०० था, जिसके वारे में हमें उसके पोते के अभिलेखों से पता चलता है। विक्रम नाम का शुद्ध रूप या तो विक्रमहेन्द्र हो सकता है या विक्रमेन्द्र। चूँकि उसके में दो अन्य राजाओं के नाम विक्रमेन्द्र वर्मन् हैं, और परिवार में पहला विक्रमे प्रकार से अज्ञात व्यक्ति है, इसलिए उसे विष्णुकुंडी परिवार का

श्रेय अपने उस पूर्वज माधववर्मन् को दिया है, जिसने अपने पोलमुरु ताम्र-पत्रों में यह दा था कि उसने इतने-इतने यज्ञ किये थे, ठीक उसी संख्या में (जिसका प्रोफेसर शास्त्री के दूसरों ने रूढ़िवद्ध प्रयोग किया है), और जिसने अपने पूर्वजों के नाम गिनाते समय किसी ऐसे का उल्लेख नहीं किया जो उसका नामराशि हो। यज्ञों की विशिष्टता और इस दावे की विशि लगता है कि वह तथ्यों पर आधारित है, उनका वास्तविक स्वरूप चाहे जो रहा हो। प्रो. माधववर्मन् और उसके वंशजों के अभिलेखों में वर्णित अन्तर को इतना ज्यादा महत्त्व दिया है वे इस वात की उपेक्षा कर जाते हैं कि खुद माधववर्मन् के इपुर (नं. १) और पोलमुरु वाले पत्रों के वर्णनों में भी ठीक वैसा ही अन्तर है, और साथ ही उसके पोतों और पर-पोते के के वर्णनों में भी फर्क है। प्रो. शास्त्री ने यह भी ध्यान नहीं दिया कि विष्णुकुंडियों की वंशा उन्होंने जो योजना पेश की है, उसे दरअसल उनसे पहले वी. एस. रामचन्द्रमूर्ति ने ज. आ. सो. X. १९३ में सुझाया था और उस पर मैंने टिप्पणी की थी (वही, XI. १२६ प. शास्त्री की (अर्थात् रामचन्द्रमूर्ति की) योजना के वारे में ज. रा. ए. सो., १९५२, पृ. ८३, समीक्षा में कहा गया था कि वह पूरी तरह सन्तोषजनक नहीं है।

[1] दूसरे दृष्टिकोण को जानने के लिए इस परिच्छेद का परिशिष्ट देखिए।

(विक्रमेन्द्रवर्मन्) प्रथम कहना चाहिए। उसके बाद उसका बेटा गोविन्दवर्मन् विक्रमाश्रय गद्दी पर बैठा था, लेकिन उसका कोई विवरण प्राप्त नहीं हुआ है।

विष्णुकुंडी परिवार की महानता का वास्तविक संस्थापक माधववर्मन् प्रथम जनाश्रय था, जो गोविन्दवर्मन् विक्रमाश्रय का बेटा और उत्तराधिकारी था और उसने सम्भवतः सन् ५३५ से ५८५ ई० तक राज किया था। उसका शासन-काल लगभग छठी शताब्दी ई० के मध्य में शुरू हुआ था; यह इस बात से सूचित होता है कि उसकी वृद्धावस्था और पूर्वी चालुक्य राजा जयसिंह प्रथम (ल. सन् ६३३-६३ ई०) के प्रारम्भ काल के बीच करीब एक पीढ़ी का फर्क है। गोदावरी जिले के रामचन्द्रपुर तालुक में स्थित पोलमुरु गाँव को माधववर्मन् प्रथम ने अपने शासन-काल के ४०वें (या सम्भवतः ४८वें) वर्ष में एक ब्राह्मण शिवशर्मा को दान किया था, जो कर्म-राष्ट्र में कुनलुर गाँव का रहने वाला था। फिर यही गाँव जयसिंह प्रथम ने अपने शासन-काल के पाँचवें साल में शिवशर्मा के बेटे रुद्रशर्मा को दान किया था, जिसके बारे में कहा गया है कि वह असनपुर **स्थान** (गोदावरी जिले में द्रक्षरम के निकट) का निवासी था और पोलमुरु के **अग्रहार** का मालिक था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कि राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को **अग्रहार** उस समय ही दिये जाते थे जब वे **गृहस्थाश्रम** में प्रवेश करते थे, तथा रुद्रशर्मा अपने पिता की मृत्यु के बाद और जयसिंह प्रथम के शासन-काल के पाँचवें वर्ष के पहले तक इस गाँव की सम्पत्ति का उपभोग करता रहा था, और विष्णुकुंडी देश पर पूर्वी चालुक्यों की विजय से उत्पन्न अशान्ति और गड़बड़ी की स्थिति से बचने के लिए भागकर असनपुर **स्थान** में जा बसा था, यह अनुमान करना उचित होगा कि दोनों अनुदानों में लगभग आधी शताब्दी के समय का फर्क था। इसलिए माधववर्मन् के शासन-काल के ४०वें (या ४८वें) वर्ष को छठी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में रखा जा सकता है।

विष्णुकुंडी परिवार के सारे अभिलेखों में सिर्फ **महाराज** माधववर्मन् प्रथम को ही ग्यारह अश्वमेध यज्ञ और एक हजार **अग्निष्टोम** (तथा अन्य यज्ञ) करने का श्रेय दिया गया है। खुद उसके अपने अनुदान-पत्र में उसे इनके अलावा हिरण्यगर्भ **महादान** करने का भी श्रेय दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि ये कार्य उल्लेखनीय सफलताओं के रूप में माने गये थे।

इपुर और पोलमुरु के दोनों अनुदान पत्रों में कहा गया है कि माधववर्मन् प्रथम ने इन कार्यों से त्रिवर नगर की तरुणियों के हृदयों को आनन्दित किया था। यह निश्चय ही वह नगर रहा होगा, जिसे जीतने का दावा विष्णुकुंडी राजाओं ने किया है। नाम से लगता है कि त्रिवरनगर त्रिवर नाम के राजा की राजधानी था और इस राजा को दक्षिण कोसल के पांडुवंशी राजा तीवर से अभिन्न माना जा सकता है, जो छठी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में शासन करता था। पोलमुरु अभिलेख के अनुसार माधववर्मन् ने अपने शासन काल के ४०वें (या ४८वें) वर्ष में पूर्वी क्षेत्र को जीतने के इरादे से गोदावरी पार की थी। आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि इस वक्तव्य में मौखरी

राजा ईशानवर्मन् से उसके युद्ध की ओर अस्पष्ट संकेत है। लेकिन ईशानवर्मन् ने किया है कि उसने सन् ५५३ ई० से पहले एक आन्ध्र राजा को हराया था। माध प्रथम ने वाकाटक परिवार की एक राजकुमारी से विवाह किया था और उससे हुआ था उसका नाम विक्रमेन्द्रवर्मन् (द्वितीय) था।

एक विष्णुकुंडी राजकुमार का, जिसका नाम माधववर्मन् (द्वितीय) था औ देववर्मन् का बेटा और माधववर्मन् प्रथम का पोता था, उसके एक अनुदान-पत्र से चला है, जो इपुर में प्राप्त हुआ है। उस पर शायद उसके दादा (माधववर्मन् के शासन-काल के ४७वें वर्ष की तारीख है। उसमें माधव वर्मन् (द्वितीय) को मलय का स्वामी बताया गया है। सम्भव है कि यह उसके दादा के राज्य का को हो, जिस पर वह उपराजा या वायसराय की हैसियत से शासन करता हो। मलय की शिनाख्त अस्थायी रूप से गुन्टूर जिले के नरसराव पेट तालुक में निकट आधुनिक कोटप्पकोंड से की गयी है, यद्यपि यह अनुदान-पत्र अमरपुर से किया गया था, जो शायद अमरावती से अभिन्न है।

विष्णुकुंडी राजा माधववर्मन् प्रथम जनाश्रय सिर्फ एक प्रसिद्ध विजेता ही था, बल्कि एक ऐसा शासक भी था जो धार्मिक यज्ञ करता था। वह विद्या का संपोषक भी था। छन्दशास्त्र की एक रचना, जिसका शीर्षक **जनाश्रयी छन्दोविचि** सम्भवतः उसके ही नाम पर थी। लगता है कि अनेक परम्पराएँ भी इस वि राजा के साथ सम्बद्ध हो गयी हैं। **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प** में माधव नाम के जिस राजा का उल्लेख है, वह शायद यह माधववर्मन् प्रथम ही रहा होगा। बेजवाड़ा एक तेरहवीं शताब्दी के अभिलेख में बेजवाड़ा के माधववर्मन् नामक राजा का है, जिसने एक गरीब औरत के बेटे की हत्या करने के अपराध में स्वयं अपने पु प्राणदण्ड दिया था। सोलहवीं शताब्दी के एक अभिलेख में विजयनगर के कृष्णदेवराय के एक सेनापति को बेजवाड़ा के राजा माधववर्मन् का वंशज बताया है। इसी शताब्दी के मध्य में लिखित एक काव्य में, जिसका शीर्षक **श्रीकृष्णवि** माधववर्मन् के नेतृत्व में चार राजपूत कुलों के तेलंगाना में स्थानान्तरण का व और उसमें दावा किया गया है कि यह माधववर्मन् विशाखापट्टम में विजयनगर राजवंश का प्रजनक था। तेलुगु देश के रजु या रचवर लोग भी अपने आपको वर्मन् का वंशज बताते हैं। तेलुगु साहित्य में माधववर्मन् सम्बन्धी इस अनुश्रु पद्यबद्ध किया गया है कि वह कन्दार के राजा सोमदेव का मरणोत्तर बेटा था एक ब्राह्मण के नाम हर उसका नाम रखा गया था। वह ब्राह्मण अनुमकोंड (के निकट आधुनिक हन्मकोंड) का रहनेवाला था, जो बाद के जमाने में काकतीय रा की राजधानी बना था। इस अनुश्रुति में कन्दार और कटक के राजाओं के युद्ध उल्लेख किया गया है। इन परम्पराओं का चाहे जो ऐतिहासिक मूल्य हो, निस्सन्देह वे इस बात की ओर तो संकेत करती ही हैं कि सर्वसाधारण के मन पर वर्मन् प्रथम के कारनामों की कितनी गहरी छाप पड़ी थी।

माधववर्मन् प्रथम जनाश्रय के बाद उसका बेटा विक्रमेन्द्रवर्मन् द्वितीय उसका उत्तराधिकारी बना। उसका जन्म माधववर्मन् की वाकाट या वाकाटक परिवार की रानी से हुआ था। सम्भवतः थोड़े दिनों के शासन के बाद ही इस राजा की जगह उसका बेटा इन्द्रवर्मन् या इन्द्रभट्टारक-वर्मन गद्दी पर बैठा। उसने **परममाहेश्वर** की उपाधि अपनायी थी, और लगता है कि उसने सन् ५९० से ६२० ई० तक राज किया था।[1] इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि वह एक प्रसिद्ध विजेता था, लेकिन लगता है, उसके शासन-काल के अन्तिम भाग में विष्णुकुंडी राज्य को उसके दुश्मनों से बहुत बड़ा खतरा पैदा हो गया था। पूरब की दिशा में उसे अपने दुश्मनों के विरुद्ध शानदार सफलता मिली थी, इस बात की पुष्टि रामतीर्थम् वाले उसके ताम्र अनुदान-पत्र से होती है। इस अनुदान-पत्र पर उसके शासन-काल के २७वें वर्ष की तारीख है और इसे पुरणि नदी के संगम के पास के एक स्थान से जारी किया गया था और इसमें प्लकि राष्ट्र (विशाखापट्टम जिला) में, जो कृष्णा और गोदावरी के निचले भाग में स्थित विष्णुकुंडी राज्य के केन्द्रीय क्षेत्र से काफी दूर है, भूमि-दान किया था। **महाराज** प्रभाकर के पुत्र राजा पृथिवीमूल के गोदावरी अनुदान-पत्र के अनुसार, जिसे पुरालिपिशास्त्रीय आधार पर सातवीं शताब्दी ई० के आरम्भ का माना जाता है, इन्द्र नाम के एक **अधिराज** या इन्द्राधिराज नाम के एक सामन्त ने, जिसकी प्रार्थना पर प्रत्यक्षतः यह अनुदान-पत्र विष्णुकुंडी की राज्य-सीमा के अन्दर से जारी किया गया था, अन्य सामन्तों के साथ मिलकर किसी इन्द्रभट्टारक का तख्ता उलटने के लिए युद्ध किया था। यह हवाला निश्चय ही पूर्वी राज्यों द्वारा विष्णुकुंडिन राजा इन्द्रवर्मन् या इन्द्रभट्टारकवर्मन् के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने वाली घटना के बारे में है। यह तथ्य कि इन्द्राधिराज सुप्रतीक हाथी पर चढ़कर (जो उत्तर-पूर्वी भाग में पाया जाता है) दुश्मन के कुमुद हाथी को (जो दक्षिण या दक्षिण-पूर्वी भागों में पाया जाता है) उलट या खदेड़ दिया था, और साथ ही यह तथ्य भी कि इस अनुदान-पत्र के अनुसार विष्णुकुंडी राज्य में स्थित भूमि दान की गयी थी, विष्णुकुंडी राजा की पराजय की ओर संकेत करता है। रामतीर्थम् वाले अनुदान-पत्र में इन्द्रवर्मन् का यह दावा कि उसने अनेक **चतुर्दन्तों** (हाथियों) को, अनेक युद्धों में हराया था, इस युद्ध के ही किसी पहलू की ओर संकेत करता लगता है। इन्द्राधिराज को आमतौर पर गंग-वंश के राजा इन्द्रवर्मन् से अभिन्न माना जाता है, जिसकी सबसे पहली ज्ञात तारीख सन् ६२४ ई० है, लेकिन यह शिनाख्त तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि इन्द्राजीत के बारे में इस अनुदान-पत्र में कहा गया है कि वह मितवर्मन् या मित्रवर्मन् का बेटा था, जो मणलकुडि का एक ब्राह्मण (द्विजाति) था। रामतीर्थम् के अनुदान-पत्र में **दायाद** लोगों का भी हवाला दिया गया

---

[1] इन्द्र वर्मन् और उसके बेटे के काल के बारे में **सक्से, सात,** में जो मत प्रकट किये गये हैं, उनमें से कुछ का इन पृष्ठों में संशोधन कर दिया गया है (देखिए पू. ले. पृ. १३३-३४,३९२)। बानापुर के ताम्र-अनुदान-पत्रों के माधववर्मन् को (ई. इ. XXVII. ३१२ प. पृ.) किसी प्रकार भी विष्णुकुंडी परिवार का नहीं माना जा सकता।

है, जिससे शायद यह सूचित होता है कि विष्णुकुंडी राजा के कुछ रिश्तेदार भी विरुद्ध लड़े थे ।

विष्णुकुंडी राजा इन्द्रवर्मन् के बाद उसका बेटा महाराज विक्रमेन्द्रवर्मन् (सन् ६२०-३१ ई०) उसका उत्तराधिकारी बना। उसने ही अपने शासन-के १०वें वर्ष में चिक्कुल्ल अनुदान-पत्र जारी किया था। यह राजा भगवान् (शिव) का अनन्य उपासक था। यह अनुदान-पत्र लेन्दुलूर से (एल्लोर के पास निक देन्दलुरु), राजा के **वासक** द्वारा जारी किया गया था, और इसमें कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित एक गाँव के दान का विवरण है जो भगवान् सोमगिरीश्व के जो सम्भवतः एक शिव-लिङ्ग है, सम्मान में किया गया था। विष्णुकुंडी राज जो इन्द्रवर्मन् की अनर्थकारी विदेशनीति के बावजूद किसी प्रकार खत्म होने से रह गया था, विक्रमेन्द्रवर्मन् तृतीय के शासन-काल में एक और भयंकर विपत्ति का करना पड़ा। यह विपत्ति वादामि के शक्तिशाली राजा पुलकेशिन द्वितीय के सन् ६३१ ई० के आक्रमण के रूप में आयी थी। चालुक्य राजा के ऐहोल अभि अनुसार, जो सन् ६३४ ई० का है, पुलकेशिन द्वितीय ने कुनाल (एल्लोर की झील) के पानी में स्थित एक द्वीप-दुर्ग पर कब्जा करने के लिए जिस दुश्मन को था, वह विष्णुकुंडी राजा विक्रमेन्द्रवर्मन् तृतीय के अलावा और कोई नहीं हो पिष्टपुर के राज्य और विशाखापट्टम से लेकर नेल्लोर तक के सारे समुद्र-तटीय क्षे कब्जा करके पुलकेशिन द्वितीय के छोटे भाई कुब्ज-विष्णुवर्धन को शासन करने के दे दिया गया। यही पूर्वी चालुक्य वंश का संस्थापक था। कोप्परम अनुदान-पत्र सन् ६३१ ई० में जारी किया गया था, और जिसमें पृथिवीयुवराज (अर्थात् विष्णु द्वारा कर्म-राष्ट्र (नेल्लोर जिले का उत्तरी और गुन्टूर जिले का दक्षिणी भाग पुलकेशिन द्वितीय की उपस्थिति में और उसकी सहमति से हुआ भूमिदान अभि है, विष्णुकुण्डियों और पल्लवों के विरुद्ध चालुक्यों की सफलता की ओर संकेत करता आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि पुलकेशिन द्वितीय ने वेंगी के गिर्द पल्लवों से जीता था और कुब्ज-विष्णुवर्धन ने उस नगर को ही अपना सदरमुकाम कर शासन करना शुरू किया था। लेकिन पुरालेखीय प्रमाणों से सिद्ध है कि शताब्दी के आरम्भ काल में वेंगी का क्षेत्र पल्लवों के नहीं बल्कि विष्णुकुंडि अधिकार में था और पूर्वी चालुक्य वंश के प्रारम्भिक राजा पिष्टपुर से शासन कर न कि वेंगी से।

II. कलिंग[1]

प्राचीन कलिंग देश (मोटे तौर पर महानदी और गोदावरी नदियों के बीच समुद्र-तट प्रदेश) खारवेल[2] द्वारा स्थापित चेदि साम्राज्य के विघटन के बाद छोटे

---

[1] देखिए, आर. सी. मजुमदार की पुस्तक "आउटलाइन ऑफ दि हिस्टरी ऑफ (ढाका युनिवर्सिटा स्टडीज, जिल्द II, नं. पृ. १ प. पृ.) जिसमें सारे अभिलेखों का पूरा हवाला गया है।

[2] जिल्द II (अँगरेजी संस्करण) पृ. २१३ प. पृ.।

अनेक राज्यों में बँट गया था। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख में जहाँ दक्षिणा-पथ के राजाओं पर गुप्त सम्राट की विजय का वर्णन है, वहाँ अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जिनके बारे में खोज के पश्चात् पता चला है कि वे कलिंग के विभिन्न भागों में राज करते थे। ये थे, कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त, पिष्टपुर का राजा महेन्द्रगिरि, एरण्डपल्ल का राजा दमन और देवराष्ट्र का राजा कुबेर।[1] इन राज्यों के इतिहास के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। लेकिन बाद के उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि पिष्टपुर और देवराष्ट्र के राज्यों का अस्तित्व लम्बे काल तक लगातार बना रहा था। पिष्टपुर की शिनाख्त पूर्वी गोदावरी जिले में पिठापुरम और देवराष्ट्र की शिनाख्त विशाखापट्टम जिले के येल्लमंचिल्लि तालुक से की गयी है। इन राज्यों पर पाँचवीं और छठी शताब्दियों में शासन करने वाले राजाओं का पता उनके अनुदान-पत्रों से चलता है। एक शाही नगर, सिंहपुरम (चिक्कोल के निकट आधुनिक सिंगुपुरम) का उल्लेख इनमें से कुछ विवरणों में मिलता है, यद्यपि इलाहाबाद स्तम्भ लेख में उसका कोई उल्लेख नहीं है, और हो सकता है कि वह चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में बसाया गया हो।

१. पितृभक्त

उमवर्मन् नाम के एक **महाराज** ने, जिसने **कलिंगाधिपति** की उपाधि अपनायी थी, सिंहपुर, सुनगर और वर्धमानपुर (विशाखापट्टम जिले के पलकोंड **तालुक** में आधुनिक वदम) जैसे नगरों से अपने अनुदान-पत्र जारी किये थे। उसके शासन-काल के ३०वें वर्ष में जारी किये गये बृहत्प्रोष्ठ वाले अनुदान-पत्र से सूचित होता है कि महाराज उमवर्मन् ने दीर्घकाल तक राज किया था। कहते हैं कि उसके टेक्कलि वाले अनुदान-पत्र से नत्थी मुहर पर पितृभक्त शब्द उत्कीर्ण है। कलिंगाधिपति महाराज चण्डवर्मन्, जिसने अपने शासन-काल के चौथे और छठे वर्ष में क्रमशः तिरित्थन और कोमर्ति वाले अनुदान-पत्र जारी किये थे, **महाराज** उमवर्मन् का बेटा और उत्तराधिकारी था। ये अनुदान-पत्र सिंहपुर नगर से जारी किये गये थे और उन पत्रों की मुहरों पर पितृभक्त शब्द उत्कीर्ण है। ऐसा लगता है कि उम-वर्मन् और चण्ड-वर्मन् का मुख्य नगर सिंहपुर था और उन्होंने **पितृभक्त** का प्रयोग वंशनाम के रूप में किया है। ये दोनों राजा एक-दूसरे के बाद ही हुए थे, यह इस बात से सूचित होता है कि उमवर्मन् की सेवा में हरिदत्त का बेटा मातृवर नाम का जो अफसर नियुक्त था, उसका बेटा रुद्रदत्त महाराज चण्डवर्मन् की सेवा में नियुक्त किया गया था।

इसी परिवार का एक और **महाराज** नंद प्रभंजन वर्मन् था, जिसके चिक्कोल वाले अनुदान-पत्र की मुहर पर भी **पितृभक्त** शब्द उत्कीर्ण है। इस राजा को "समस्त कलिंग

---

[1] ऊपर देखिए पृ. ९-१०।

देश का अधिपति" कहा गया है। उसका अनुदान-पत्र विजयी सारपल्लिका
वासक से जारी किया गया था। यद्यपि नन्द-भंजनवर्मन् को सिंहपुर के पितृभ
सम्बद्ध किया जाता है, लेकिन यह सुझाव देने का लोभ संवरण नहीं किया जा
कि उसके नाम से ऐसा सूचित होता है कि वह नन्दवंश का प्रभंजन-वर्मन् था,
साथ, सम्भव है, वह मातृ-पक्ष से सम्बन्धित रहा हो। हम जानते हैं कि खा
हाथिगुंफा वाले अभिलेख के अनुसार पाटलिपुत्र के नन्द वंश का एक शासक
सम्बद्ध था। नवीं शताब्दी में उड़ीसा के अंगुल धेनकनल क्षेत्र में एक नन्द या
परिवार शासन करता था, और इस परिवार की एक दूसरी शाखा सम्भवतः
काल में कोरपुट जिले के जेपोर नन्दपुर क्षेत्र पर शासन करती थी।

२. माठर

जिन दिनों सिंहपुर नगर से पितृभक्त वंश के लोग कलिंग के मध्यवर्ती
शासन करते थे, उन्हीं दिनों माठर-वंश की राजधानी दक्षिण के पिष्टपुर
थी। माठर राजा **महाराज** शक्तिवर्मन् का रगोलु वाला अनुदान-पत्र, जिसमें
के निकट की एक भूमि के दान का विवरण है, उसके शासन-काल के
पिष्टपुर से जारी किया गया था। राजा की उपाधि "कलिंग का अधिपति"
गयी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पिष्टपुर के माठरों ने कलिंग के मध्य भाग
पितृभक्तों के राज्य का केन्द्रीय क्षेत्र जीत लिया था। इस तथ्य की इस बात
पुष्टि होती है कि एक दूसरे माठर राजा अनन्त-शक्ति-वर्मन् ने — इसे भी "क
अधिपति" कहा गया है — अपने शासन-काल के २८वें वर्ष में सिंहपुर से
अनुदान-पत्र जारी किया था, जो पहले पितृभक्तों की राजधानी थी।
अनन्त-शक्तिवर्मन् दरअसल रगोलु वाले अनुदान-पत्र के फौरन बाद
उत्तराधिकारियों में से था। यह इस बात से सूचित होता है कि शक्ति-वर्मन्
अनुदान-पत्र में जिस पदाधिकारी अर्जुनदत्त को अमात्य कहा गया है, उसे अनन्त
वर्मन् के अनुदान-पत्र में और ऊँची पदवी से मंडित करके **देशाक्षपटलाधिकृत**
अर्जुनदत्त कहा गया है। लगता है कि इस अमात्य को बाद में अमात्य से
सरकारी पद दे दिया गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि अनन्त-शक्ति-व
से वस्तुतः सूचित होता है : 'अनन्त-वर्मन् का बेटा शक्ति-वर्मन्'। यह भी सुझा
किया गया है कि अनन्त-शक्ति-वर्मन् और उसके उत्तराधिकारी शक्ति-वर्मन् के
कालों के बीच शायद एक तीसरा अनन्त-वर्मन् नाम का राजा हुआ था।

ये सारे सुझाव निंगोडी में मिले ताम्र-अनुदान-पत्र[1] से निरर्थक सिद्ध हो
यह अनुदान-पत्र माठर राजा प्रभंजन-वर्मन् ने, जो शक्ति-वर्मन् का बेटा और
वर्मन् का पोता था, सिंहपुर से जारी किया था। इस शक्ति-वर्मन् को

---

[1] ई. इ., XXX, ११२।

शक्ति-वर्मन् से अभिन्न मान सकते है, जिसने रगोलु का अनुदान-पत्र जारी किया था, लेकिन प्रभंजन-वर्मन् का इसी परिवार के अनन्त-शक्ति-वर्मन् के साथ क्या रिश्ता था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। लेकिन, हाल में ही अंधवरम में जो ताम्रपत्र मिले है, उनमें तो शक्ति-वर्मन् को अनन्त-शक्ति-वर्मन् का **आर्यक**, अर्थात् पितामह बताया गया है। इस प्रकार हो सकता है कि अनन्त-शक्ति-वर्मन् प्रभंजन-वर्मन् का बेटा और उत्तराधिकारी रहा हो। निगोडी अनुदान-पत्र के अनुसार शक्ति-वर्मन् कृष्ण-वेण्णा और महानदी के बीच बसने वाले लोगों का राजा बताया गया है, लेकिन इस दावे को अतिरंजित समझना चाहिए।

३. वासिष्ठ

परम-माहेश्वर अनन्त-वर्मन् भी, जिसने श्रृंगवरपुकोट और सिरिपुरम अनुदान-पत्र जारी किये थे, और जो शायद पाँचवीं सदी के अन्त और छठी सदी के शुरू में हुआ था, एक और "कलिंग का अधिपति" था, जिसका **अधिष्ठान** या राजधानी पिष्टपुर थी। यह राजा अनन्त-वर्मन् **महाराज** प्रभंजन-वर्मन् का बेटा था, जो वासिष्ठ कुल का चन्द्रमा और वासिष्ठ **महाराज** गुण-वर्मन् का पोता था। वह देवराष्ट्र का अधिपति था। सिरिपुरम अनुदान-पत्र देवपुर से जारी किया गया था, जो शायद विशाखापट्टम जिले में देवराष्ट्र की राजधानी था। इन तथ्यों से जान पड़ता है कि वासिष्ठ वंश के लोग शुरू में कलिंग के मध्य भाग पर शासन करते थे, लेकिन बाद में पिष्टपुर के माठरों को हराकर, उन्होंने अपनी राजधानी पिष्टपुर में कर ली थी। लेकिन पितृभक्तों से वासिष्ठों के सम्बन्ध के बारे में अभी सिर्फ अनुमान ही लगाये जा सकते हैं, हालाँकि नन्द-प्रभंजन-वर्मन् से प्रभंजन-वर्मन् को अभिन्न मानने का लोभ संवरण करना बहुत कठिन है। अगर इस अभिन्नता को मान लिया जाय तो प्रतीत होगा कि पितृभक्त दरअसल वासिष्ठ-**गोत्र** के थे। लेकिन तथ्य यह है कि अनन्त-वर्मन् के अनुदान-पत्र के साथ नत्थी उसकी मुहर पर पितृभक्त शब्द उत्कीर्ण नहीं है, जिससे यह अभिन्नता सन्देहजनक बन जाती है। कलिंग के वासिष्ठ और माठर परिवार शायद विवाह-सम्बन्धों द्वारा ऐसे अनेक दूसरे राज-परिवारों के राजाओं से सम्बन्धित थे, जो अपने मातृ नामों के अनुसार वासिष्ठीपुत्र और माठरीपुत्र कहलाते थे।

विशाख-वर्मन् नाम का एक राजा, जो "कलिंग का अधिपति" होने का दावा नहीं करता, कोरोपण्ड में मिले अनुदान-पत्र से ज्ञात हुआ है। यह अनुदान-पत्र श्रीपुर से जारी किया गया था, जिसकी शिनाख्त विशाखापट्टम जिले के आधुनिक सिरिपुरम् से की गयी है। प्रतीत होता है कि **महाराज** विशाख-वर्मन् पाँचवीं शताब्दी में हुआ था, लेकिन अपने समय के अन्य राजाओं से उसका क्या सम्बन्ध था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। राजामुन्द्री से करीब २० मील दूरी पर सरभवरम में मिले एक अनुदान-पत्र से किसी "चिकुर के अधिपति" का पता चलता है, जिसका नाम नहीं दिया गया है। लगता है कि वह पिष्टपुर के राजाओं का सामन्त था।

४. नई शक्तियों का उदय

पिष्टपुर और मध्यवर्ती कलिंग, विशेषकर सिंहपुर, के शासकों की परस्पर ही पाँचवीं शताब्दी में कलिंग के इतिहास की सबसे बड़ी घटना है । अधिकांश द्वारा अपने लिए "कलिंगाधिपति" की उपाधि के प्रयोग से सूचित होता है कि समय के हरेक राजा का राजनीतिक आदर्श या लक्ष्य था, जिसे चाहे व्यावहारिक वह प्राप्त न भी कर सका हो । नंद-प्रभंजन-वर्मन् के नाम के आगे कलिंगाधि उपाधि से सम्भवतः यह सूचित होता है कि अधिकांश **कलिंगाधिपति** वस्तुतः के छोटे-छोटे टुकड़ों के ही शासक थे । जिन दिनों मध्य और दक्षिणी कलिंग के अपनी एकछत्र प्रभुता स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहे थे, उन दिनों श्री जिले में एक नये राजवंश की स्थापना की गयी । इस राजवंश को पूर्वी गंगवंश थे । छठी शताब्दी में गंगों ने मध्यवर्ती कलिंग के राजाओं को हरा कर उनके कब्जा कर लिया और सातवीं शताब्दी के शुरू में चालुक्यों ने पिष्टपुर के शास हरा कर उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया । इसके बारे में कुछ ज्ञात नहीं पिष्टपुर के पूर्वकालीन शासकों का **महाराज** रणदुर्जय, उसके बेटे विक्रमेंद्र और भी बेटे पृथिवी-महाराज से क्या रिश्ता था । पृथिवी-**महाराज** ने अपने शासन के ४६वें वर्ष में तन्दिवड अनुदान-पत्र जारी किया था । यह सुझाव पेश क लोभ होता है कि राजा पृथिवीमूल, जो **महाराज** प्रभाकर का बेटा था, और कान्दाली से गोदावरी अनुदान-पत्र जारी किया था, तन्दिवड अनुदान-पत्र के इस **महाराज** का ही पोता रहा होगा । राजा पृथिवीमूल के शासन-काल में या उसके बाद ही पिष्टपुर पर चालुक्यों ने अधिकार कर लिया था ।

५. पूर्वी गंग

प्रारम्भिक गंग शासकों की, जो सम्भवतः मैसूर के गंग-वंश की ही एक शाख राजधानी कलिंग-नगर थी, जो गंजाम जिले का आधुनिक मुसलिंगम् नगर है । उनकी एक उप-राजधानी दन्तपुर में भी थी, जिसे कुछ विद्वान् उसी जिले के दन्तवक्त्र से शिनाख्त करते हैं । यह चिक्कोल के निकट है । गंग-वंश के रा कर्णेश्वर के उपासक थे, जिनका मन्दिर महेन्द्र की चोटी पर था । यह महेंद्र निस्सं है जिसे आजकल महेन्द्रगिरि कहते हैं और जो पूर्वी घाट में गंजाम जिले में स्थि गोकर्णेश्वर के रूप में शिव आरम्भ में गंग-वंश के कुल-देवता थे ।

गंग-वंश का संस्थापक **महाराज** इंद्र-वर्मन् प्रथम था, जिसने **त्रिकलिंगाधि** का दावा किया है । इस त्रिकलिंग की ठीक ठीक शिनाख्त नहीं हो सकी है । विद्वानों का मत है कि यह कलिंग के तीन भागों को सूचित करता है, जबकि कुछ विद्वानों का मत है कि इसका आशय कलिंग के साथ-साथ पड़ोस के दो और दे दसवीं और ग्यारहवीं सदियों के पूर्वी चालुक्यों के अभिलेखों में पूर्वी चालुक्यों के

क्षेत्र का इस प्रकार वर्णन किया गया है "वेंगीदेश के साथ त्रिकलिंग" (**वेंगीदेशम् त्रिकलिंग-सहितम्**)। इसके अलावा यह भी कहा गया है : "वेंगीदेश के साथ त्रिकलिंग का जंगल श्री" (**वेंगीदेशम्-त्रिकलिंगाटवी-युक्तम्**)। इससे प्रतीत होता है कि त्रिकलिंग एक वन-प्रदेश था, जो वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के राज्य और कलिंग नगर के गंग-शासकों के राज्य के बीच में था जो सम्भवतः दक्षिणकोसल के दक्खिन में और महेन्द्रगिरि से थोड़ी दूरी पर स्थित था। यह तथ्य कि कलिंग-नगर और दक्षिण-कोसल के कुछ शक्तिशाली शासक अपने आपको "**त्रिकलिंगाधिपति**" कहलाना पसन्द करते थे, इस बात का सूचक है कि इस उपाधि से प्राचीन कलिंग या कलिंग-क्षेत्र के अनेक देशों पर उनके आधिपत्य का संकेत मिलता है।

महाराज इन्द्र-वर्मन् ने अपने अनुदान-पत्रों पर सिर्फ अपने शासन-काल के वर्ष दर्ज किये हैं। उसके उत्तराधिकारियों ने भी गणना की इस विधि को ही जारी रखा, जिससे गंग-संवत् का प्रवर्तन हुआ। इस संवत् का आरम्भ राजा इन्द्र-वर्मन् के शासन-काल के पहले वर्ष से हुआ था। जो ईसवी सन् के हिसाब से सन् ४९६ (या सम्भवतः सन् ४९६-९८ के बीच)[1] रहा होगा। राजा इन्द्र-वर्मन् ने, जिसकी अन्तिम ज्ञात तारीख गंग-वर्ष ३७ है, इस प्रकार सन् ४९६ से लेकर कम से कम सन् ५३५ ई० तक राज किया होगा। महासामन्त-वर्मन्, जिसके सौम्यवन वाले अनुदान-पत्र[2] पर गंग-वर्ष ६४ (सन् ५६० ई०) की तारीख है, राजा इन्द्र-वर्मन् का निकटतम उत्तराधिकारी था या नहीं, यह निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इससे अगला गंग-शासक महाराज हस्ति-वर्मन् था, जिसे राजसिंह और रणभीत नाम से भी पुकारा जाता था। उसने अपने अनुदान-पत्र गंग-वर्ष ७९ (सन् ५७५ ई०) और गंग-वर्ष ८० (सन् ५७६ ई०) में जारी किये थे। हस्ति-वर्मन् भी सम्भवतः इन्द्र-वर्मन् का ही बेटा था, जिसके बाद इन्द्र-वर्मन् प्रथम का पोता और हस्ति-वर्मन् का बेटा **महाराज** इन्द्र-वर्मन् द्वितीय राजसिंह उत्तराधिकारी बना था। इन्द्र-वर्मन् द्वितीय की ज्ञात तारीखें गंग-वर्ष ८७ (सन् ५८३ ई०) और गंग वर्ष ९१ (सन् ५८७ ई०) हैं। उसका **परम-माहेश्वर** और कलिंगाधिपति के रूप में वर्णन किया गया है। इन्द्र-वर्मन् द्वितीय राजसिंह के बाद शायद महाराज इन्द्र-वर्मन् तृतीय गद्दी पर बैठा था, जिसका सबसे पुराना ज्ञात दस्तावेज गंग-वर्ष १२८ (सन् ६२४ ई०) का है। इस राजा को अक्सर मित्र-वर्मन् के बेटे इन्द्राधिराज से अभिन्न माना जाता है, जिसने विष्णुकुंडी-वंश के राजा इन्द्र भट्टारक या इन्द्र-वर्मन् को हराया था और महाराज प्रभाकर के बेटे **राजा** पृथिवीमूल से गोदावरी अनुदान-पत्र जारी करने की प्रार्थना की थी। लेकिन चूँकि इन्द्राधिराज का बाप मनलकुडि का ब्राह्मण था और वह शायद राज-वर्ग का नहीं था, इसलिए यह अभिन्नता

---

[1] गंग-संवत् के युग के सम्बन्ध में विभिन्न मतों को जानने के लिए देखिए, ई. इ. XXVI, २२६, XXVII, १६२ (तथा पहले में दिए गए हवाले)।

[2] ज. आ. हि. रि. सो., XIII. ६४-६५।

अत्यन्त असम्भाव्य लगती है लगता है। अगला राजा **महाराज** इन्द्र-वर्मन् चतुर्थ बारे में कहा गया है कि वह दानार्णव का बेटा और महेश्वर का अनन्य हालाँकि यह नामुमकिन नहीं है कि इन्द्र-वर्मन् द्वितीय के वाद दानार्णव हो, जिसके बेटे इन्द्र-वर्मन् ने गंग-वर्ष १२८ से लेकर गंग-वर्ष १५४ तक राज फिर भी यह सुझाव देना बेहतर होगा कि इन्द्र-वर्मन् द्वितीय के दो वेटे थे, एक दानार्णव था (जो शायद गद्दी पर नहीं बैठा था) और दोनों ने अपने बेटों अपने बाप के नाम पर रखे थे। इन्द्र-वर्मन् चतुर्थ, जिसने अपने को 'दानार्णव कहकर अपने पूर्वज और नाम-राशि से अपना अलगाव प्रकट किया है, स्थितियों के फलस्वरूप गद्दी पर बैठा था, वे विल्कुल अज्ञात हैं। (Hultzsch) के अनुसार इन्द्र-वर्मन् तृतीय के अन्तिम अनुदान-पत्र की तारीख १३८ (सन् ६३४ ई०) है, जबकि दानार्णव के वेटे इन्द्र-वर्मन् चतुर्थ के अनुदान-पत्र की तारीख गंग-वर्ष १३७ (सन् ६३३ ई०) है। तारीखों के को अगर स्वीकार कर लिया जाय, तो यह अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता दानार्णव के बेटे ने गद्दी के लिए इन्द्र-वर्मन् तृतीय से संघर्ष किया होगा और कार इसमें सफल रहा होगा। इन्द्र-वर्मन् चतुर्थ की अन्तिम ज्ञात तारीख १५४ (सन् ६५० ई०) है।

इसके बाद ज्ञात राजा का नाम है **परम-माहेश्वर** महाराज देवेन्द्र-वर्मन्, अपने को गुणार्णव का बेटा बताया है और दावा किया है कि वह स्वय बल से "सारे कलिंग का अधिपति" बना था। गंग-परिवार के पूर्ववर्ती सदस्यों क्या रिश्ता था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। उसकी ज्ञात तारीखें १८३ (सन् ६७९ ई०) से लेकर गंग-वर्ष १९५ (सन् ६९१ ई०) हैं। अपने पहले गुणार्णव ने भी कुछ दिनों तक शासन किया था या नहीं, यह ज्ञात यद्यपि इन्द्र-वर्मन् चतुर्थ और देवेन्द्र-वर्मन् के बीच २९ वर्षों के अन्तराल इसकी सम्भावना स्वीकार की जा सकती है। **महाराज** देवेन्द्र-वर्मन् के बाद बेटा अनन्त-वर्मन् गद्दी पर बैठा था, जिसने गंग-वर्ष २०४ (सन् ७०० ई०) में अनुदान-पत्र जारी किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा अनन्त-वर्मन् उसका बेटा महाराज नन्द-वर्मन् (इसे इन्द्र-वर्मन् भी पढ़िए) गद्दी पर बैठा था, बारे में उसके सन्त बोम्मलि अनुदान-पत्र से पता चलता है, जिसकी तारीख २२१ (सन् ७१७ ई०) है। **महाराज** अनन्त-वर्मन् का दूसरा बेटा देवेन्द्र-वर्मन् था, जिसने अपने अनुदान-पत्र गंग-वर्ष ५१, अर्थात् २५१ (सन् ७४७ ई०) वर्ष २५४ (सन् ७५० ई०) में जारी किये थे। कलिंग के इस गंग-वर्ष इतिहास की रूपरेखा पुस्तक के अगले भाग में पेश की जायगी।

जिन दिनों प्रारम्भिक गंग-वंश की मुख्य शाखा कलिंग नगर से शासन थी, और शायद दन्तपुर में उसकी उप-राजधानी थी, उन्हीं दिनों इस

एक गौण शाखा श्वेतक, श्वेत या श्वेत्क नाम के नगर से शासन करती थी ।[1] कभी कभी इस नगर का नाम श्चेतक भी पढ़ा जाता है, जिसकी शिनाख्त गंजाम जिले के सोमपेट तालुक में स्थित आधुनिक चिकति से की गयी है । श्वेतक का सबसे पहला ज्ञात राजा महाराज जय-वर्मन् था, जो शुरू शुरू में, शायद कलिंग नगर के राजाओं का एक राणक, अर्थात् सामन्त था । पर्लकिमेदि में मिले दो अनुदान-पत्रों में एक ऐसा है जो गंग-वर्ष १००(सन् ५९६ ई०) के अनुदान-पत्र की मूल-प्रति लगता है, जबकि गंजाम के अनुदान-पत्र की तारीख, जिसे शुरू में इस राजा ने ही जारी किया था, गंग-वर्ष १२०(सन् ६१६ ई०) मालूम देती है । इस विवरण से ज्ञात होता है कि जय-वर्मन् ने कांगोद मण्डल वर्तनि **विषय** में एक गांव दान किया था लेकिन बाद में भौम-कर राजा उन्मत्तकेसरिन की ओर से **राणक** विश्वार्णव ने इस क्षेत्र पर कब्जा कर लिया था और तब राजा विश्वार्णव ने यह अनुदान-पत्र दोबारा जारी किया था ।[2] कलिंग-नगर के गंग राजाओं की तरह श्वेतक के शासक भी शिव-गोकर्णेश्वर के उपासक थे । उनका भी यह दावा है कि उन्होंने सारे कलिंग को अपनी भुजाओं का बल महसूस करवा दिया था । श्वेतक के आरम्भिक राजाओं में दूसरा **महाराज** सामन्त-वर्मन् था, जिसके चिदिवलस अनुदान-पत्र पर गंग-वर्ष १८५ (सन् ६८१ ई०) की तारीख है । उसका दावा है कि वह सारे कलिंग देश का अधिपति था । श्वेतक के **महाराज** चन्द्र-वर्मन् को, जिसका पता उसके विषमगिरि वाले ताम्र-अनुदान-पत्र से चला है, आठवीं या नवीं शताब्दी का माना जाता है । श्वेतक के इन राजाओं का कलिंग नगर के गंग-राजाओं से क्या सम्बन्ध था या श्वेतक के ही परवर्ती राजाओं से, जिनका इतिहास पुस्तक के अगले भाग में बताया जायगा, क्या सम्बन्ध था, इसका कुछ पता नहीं चला । सम्भवतः श्वेतक के प्रारम्भिक शासक कलिंग नगर के राजाओं के नीम-आजाद सामन्त थे ।

III. दक्षिण-कोसल और मेकल

कोसल (जिसे कोशल भी लिखते हैं) या दक्षिण-कोसल, जिसके अन्तर्गत मध्य-प्रदेश और उड़ीसा का रायपुर-विलासपुर क्षेत्र आता था, आर्यों की प्रारम्भिक दक्षिणी वस्तियों में से था । यह तथ्य कि महाकाव्य वर्णित कोसल के राजा दशरथ ने कौसल्या अर्थात् कोसल देश के ही किसी अन्य राजा की बेटी से विवाह किया था, सम्भवतः दक्षिण-कोसल की प्राचीनता का सूचक है । इस देश के नाम से आभास होता है कि इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं ने, जो उत्तर-प्रदेश के वर्तमान फैजाबाद जिले में स्थित अयोध्या के शासक थे (जो कोसल, उत्तर-कोसल या महाकोसल **जनपद** की राजधानी थी), इसे वसाया था । दक्षिण-कोसल की राजधानी का नाम कभी-कभी कोसला भी कहा गया है ।

---

[1] इस वंश के अभिलेखों की सूची और इतिहास के लिए देखिए, ई. इ., XXVII. १०९ ।

[2] इ. हि. क्वा. XII. ४९२ कर-वंश के राजाओं के बारे में देखिए, जि. IV. परि. IV.

दक्षिण-कोसल के प्रारम्भिक इतिहास के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, कुछ पुराणों में कोसला के कुछ राजाओं का हवाला दिया गया है। चीनी मुख्यकर ह्वेन-त्सांग द्वारा दर्ज की गयी कुछ परम्पराओं के अनुसार विख्यात विचारक नागार्जुन, जो सम्भवतः ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ था, कुछ लिए कोसला के पास एक बौद्ध-विहार में रहा था। उन दिनों कोसला सातवाहन राजा शासन करता था। नागार्जुन के समकालीन सातवाहन आमतौर पर गौतमीपुत्र सातकर्णि से अभिन्न समझा जाता है, यद्यपि सातकर्णि द्वारा शासित प्रदेशों की पुरालेखीय सूची में कोसल का कहीं नहीं मिलता। इससे तो बेहतर है कि नागार्जुन के समकालीन राजा को से अभिन्न माना जाय, जो ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में शायद इसी शताब्दी में राजा कुमार-वीरदत्तश्री[1] भी हुआ था, जिसके बारे में गुंजि अभिलेख से पता चला है। चौथी शताब्दी के मध्य में, जब समुद्रगुप्त ने पथ के राजाओं के विरुद्ध अभियान किया था, दक्षिण कोसल पर महेन्द्र नाम राजा शासन करता था। दक्षिण कोसल में गुप्त सम्राटों के सिक्कों के उनके चलाये संवत् के प्रचलन से सूचित होता है कि इस देश के राजा गुप्त अधीनता स्वीकार करते थे और उनके मित्र थे। महाराज भीमसेन द्वितीय ताम्र-अनुदान-पत्र, जो मध्य-प्रदेश के रायपुर जिले के आरंग नामक स्थान पर सुवर्ण नदी (सम्भवतः सोन नदी) से गुप्त संवत् २८२ (सन् ६०१ ई०) में जारी गया था।[2] भीमसेन द्वितीय के इस अभिलेख के अनुसार, जिसकी मुहर पर आकृति उत्कीर्ण है, उसके बाप का नाम दैत्यवर्मा द्वितीय, उसके बाप का नाम प्रथम, उसके बाप का नाम विभीषण, उसके बाप का नाम दैत्य प्रथम और बाप का नाम शूर था और इन सबके नामों के आगे **महाराज** की उपाधि लगती लगता है कि दक्षिण-कोसल के उत्तरी भाग में राजा शूर ने पाँचवीं शताब्दी के में इस राज-वंश की स्थापना की थी, जब गुप्त-वंश साम्राज्य का पतन गया था।

---

[1] ई. इ. XXVII. ४८, जहाँ पर राजा का नाम कुमारवरदत्त पढ़ा जाता है। ज. क. हि. रि. सो. I. २१७-१८।

[2] यद्यपि तारीख में तीन में से पहला अंक-चिह्न स्पष्ट रूप से २०० सूचित करता है, में ही यह सुझाव पेश किया गया है कि यह चिह्न १०० है, इसलिए तारीख २८२ की जगह अंक-चिह्नों से पहले आने वाले शब्दों का **संवत्सर-शते** पर विशेष रूप से जोर देकर यह है कि अगर तारीख २८२ होती तो इससे पहले **संवत्सरशतद्वये** लिखना ही वास्तव में सही लेकिन यह तर्क सन्तोषप्रद नहीं है, क्योंकि तारीखों से पहले अक्सर इस प्रकार लिखा **संवत्सर-शते** ८७२ (नागभट द्वितीय का बुचकल अभिलेख) या **संवत्सर-शते** ५०० का पोंदरु अनुदान-पत्र) आदि। देखिए, ई. इ. IX, ३४२, XXVI, २२८, इ. हि. क्वा. ६३; बु. डे. का. रि. इ. VIII, ५।

१. शरभपुरीय

राजा शूर के परिवार का समकालीन एक और राज-परिवार था, जो अपनी राजधानी शरभपुर से शासन करता था और जिसके राजा अपने आपको **परमभागवत** कहते थे। इस शहर की अभी तक सन्तोषजनक रूप से शिनाख्त नहीं हो सकी है, यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने इसको सम्बलपुर, सारंगढ़, सरवपुर तथा अन्य स्थानों से अभिन्न मानने के सुझाव दिये हैं। लेकिन चूँकि शरभपुर से जारी किये गये सारे अनुदान-पत्र मध्य प्रदेश के सिर्फ रायपुर जिले में ही मिले हैं, इसलिए सम्भावना इस बात की है कि राजधानी का यह नगर इस जिले में ही सिरपुर, अर्थात् प्राचीन श्रीपुर के निकट या उसकी उपनगरियों में ही कहीं रहा होगा, जो बाद में चलकर शरभपुर के शासकों की राजधानी बना था।

ऐसा प्रतीत होता है कि शरभ नाम के एक राजा ने, जो सम्भवतः शरभपुरीय-वंश का संस्थापक था, अपने नाम पर शरभपुर बसाया था। हमें ज्ञात है कि शरभ नाम का सचमुच ही एक राजा हुआ था, जो शरभपुर के उस **महाराज** नरेन्द्र का पिता था, जिसने पिपरदुल और कुरुद के अनुदान-पत्र जारी किये थे।[1] इस शरभ को उस शरभराज से अभिन्न माना जा सकता है, जो गोपराज का नाना और गुप्त-सम्राट भानुगुप्त का सामन्त था तथा ऐरन की लड़ाई में सन् ५१० ई० में मारा गया था।[2] अगर इस शिनाख्त को मान्य समझा जाय तो शरभ और उसके बेटे को पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में रखा जा सकता है जबकि गुप्त सम्राटों का अपने अधीनस्थ सामन्तों पर अधिकार शिथिल होता जा रहा था। शरभपुरीयों के अनुदान-पत्रों से नत्थी उनकी मुहरों से ज्ञात होता है कि गज-लक्ष्मी उनका राज चिह्न था।

छठी शताब्दी के आरम्भ में शरभपुर पर प्रसन्न या प्रसन्नमात्र नाम के एक राजा का शासन था, जिसके कुछ चांदी के सिक्के मिले हैं, जिन पर गरुड़ की आकृति तथा चक्र और शंख के चिह्न उत्कीर्ण हैं। प्रसन्नमात्र के, जो शायद नरेन्द्र का उत्तराधिकारी था, बाद उसका बेटा जयराज (जिसे कभी-कभार महा-जयराज भी पुकारा जाता था) गद्दी पर बैठा। उसने आरंग का अनुदान-पत्र जारी किया था। जयराज का उत्तराधिकारी शायद उसका छोटा भाई मानमात्र था, जिसका दूसरा नाम दुर्गराज (या एक अभिलेख के अनुसार महा-दुर्गराज) था। शरभपुर के राजा मानमात्र को मानपुर के राष्ट्रकूट राजा मानांक[3] से अभिन्न मानने का अनुमान अत्यन्त कमजोर प्रमाणों पर आधारित है, इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता।

राजा मानमात्र-दुर्गराज के बाद शायद उसका बेटा सुदेवराज (या महा-सुदेवराज) उत्तराधिकारी बना था, जिसकी अन्तिम ज्ञात तारीख उसके शासन-काल का वर्ष १०

---

[1] कुरुद का अनुदान-पत्र उसके शासनकाल के २४वें वर्ष का है। (ई. इ. XXXI, २६३)।

[2] देखिए पृ. ३७।

[3] देखिए, पृ. २२७-२६।

है। अपने अन्य पूर्ववर्तियों की तरह सुदेवराज के दो[1] को छोड़कर बाकी सारे अ पत्र शरभपुर से जारी किये गये थे। ये दो अनुदान-पत्र सुदेवराज के शासन- ७वें वर्ष में श्रीपुर से जारी किये गये थे, जिसे शायद सुदेवराज ही ने बसाया था उसकी उप-राजधानी या निवास स्थान था। इन दोनों अनुदान-पत्रों में सुदेवरा महा-दुर्गराज का बेटा बताया गया है, जबकि उसके खरियर वाले अनुदान-पत्र मुहर की प्रशस्ति में उसे मानमात्र का पुत्र और प्रसन्न का प्रपौत्र बताया गया है।

शरभपुरीय वंश का अन्तिम ज्ञात राजा प्रवरराज (या महा-प्रवरराज) मानमात्र का बेटा और शायद सुदेवराज का छोटा भाई था। ठाकुरदिय का पत्र उसने अपने शासन-काल के तीसरे वर्ष में श्रीपुर से जारी किया था। ऐसा होता है कि प्रवरराज ईसा की छठी शताब्दी के मध्य या तीसरे चतुर्थांश में राज था, जिसके उत्तरार्ध में पांडुवंशी राजा दक्षिण-कोसल के शासक बन गये थे। पां राजा तीवर, जिसने श्रीपुर से अपने अनुदान-पत्र जारी किये थे, या उसके बा नन्न ने खुद प्रवरराज को या उसके उत्तराधिकारी को गद्दी से उतारकर श्रीपु कब्जा कर लिया था।

२. दक्षिण-कोसल के पांडुवंशी

दक्षिण-कोसल का पाण्डुवंशीय [जिसे सोमवंशी (सोम = चन्द्र) भी कहा जाता राजा तीवर (जिसे तीवरदेव और महाशिव-तीवरराज भी पुकारा जाता था तारीख के बारे में कोई सर्वसम्मत राय नहीं है।[2] कुछ विद्वानों के अनुसार उसके लेख आठवीं शताब्दी के हैं। लेकिन यह विश्वास करने के कारण मौजूद हैं कि शायद विष्णुकुंडी राजा माधव-वर्मन् प्रथम (सन् ५३५-८५ ई०) और ईशान- बेटे मौखरी राजकुमार सूर्य-वर्मन् (सन् ५५३ ई०) का समकालीन था, और शताब्दी के उत्तरार्ध, सम्भवतः अन्तिम चतुर्थांश में राज करता था। उसने अपने शासन-काल के सातवें और नवें वर्ष में क्रमशः रजिम और बलोद अनु जारी किये थे। इन विवरणों में कहा गया है कि उसने समस्त कोसल (दक्षिण- पर आधिपत्य कायम कर लिया था, जबकि उसकी मुहर पर अंकित प्रशस्ति **कोसलाधिपति** कहा गया है। यह सुझाव देना कि तीवर को **समधिगत-पंचम** (अर्थात् सामन्त) कहा गया है, सर्वथा गलत है, क्योंकि अभिलेखों में स्पष्टतः इस का खुद उसके सामन्तों के लिए प्रयोग किया गया है।

तीवर, जो **परम-वैष्णव** कहलाता था, राजा नन्न का, (जिसे नन्नदेव, और नन्न **राजाधिराज** भी पुकारा जाता था) बेटा, राजा इन्दरबल का पौ

---

[1] ई. इ. XXXI. १०३, ३१४।

[2] पांडुवंशियों की मुहर पर गरुड़ का वैष्णव-धर्मी चिह्न था। उन्होंने इस बारे में सम्राटों का अनुकरण किया हो।

राजा उदयन का परपोता था, जो सम्भवतः पाँचवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में राज करता था। उत्तर-प्रदेश के बाँदा जिले में स्थित कलंजर के शिलालेख में पांडव-वंश के राजा उदयन का उस क्षेत्र के एक प्राचीन राजा के रूप में उल्लेख मिलता है। आमतौर पर उसे इसी नाम के एक शबर राजा से अभिन्न माना जाता है, जिसे पल्लव राजा नन्दिवर्मन् के एक सेनापति ने हराया था (आठवीं सदी) यह मत, जो इस अनुमान पर आधारित है कि पांडुवंशी बहुत बाद में हुए थे, इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि शबर उदयन, जो नेलवेलि (तिन्नेवेल्लि) में पराजित हुआ था, शायद सुदूर दक्षिण का कोई राजा था।

बालार्जुन के सिरपुर अभिलेख में कहा गया है कि उदयन का बेटा इन्द्रबल था। मध्य-प्रदेश के चाँद जिले में भंडक[1] के स्थान पर मिले एक अभिलेख में कहा गया है कि इन्द्रबल के चार बेटे थे। उनमें से एक बेटे राजा नन्न ने, जो शायद शिव का उपासक था, "समस्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त की थी।" नन्न के सबसे छोटे भाई भाव देव ने (जो रणकेसरी और चिन्तादुर्ग भी कहलाता था), जो शायद चाँद-क्षेत्र में नन्न का एक फौजी-शासक था, उस क्षेत्र के किसी प्राचीन राजा सूर्यघोष द्वारा निर्मित, लेकिन उजाड़ पड़े बौद्ध विहार का जीर्णोद्धार किया था। बिलासपुर जिले के खरोद स्थान पर मिला ईशानदेव का एक अभिलेख जो नन्न का तीसरा भाई था, सम्भवतः दक्षिण-कोसल में पांडुवंशियों का सबसे पुराना दस्तावेज है। इससे साफ जाहिर है कि मध्य भारत में दूर दूर तक के विशाल क्षेत्रों पर पाँडुवंशियों का कब्जा था और उन्होंने नन्न के शासन-काल में दक्षिण कोसल पर आक्रमण किया था और तीवर के शासन-काल में उस पर पूरा आधिपत्य जमा लिया था। लेकिन तीवर की उपाधि **कोसलाधिपति** से लगता है कि वह अपने आपको मुख्यतः दक्षिण-कोसल का ही राजा मानता था और यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि बाँदा भी उसके राज्य का एक हिस्सा था। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देना दिलचस्प होगा कि सारंगढ़ के अनुदान-पत्र के अनुसार शरभपुर के राजा सुदेवराज का **सर्वाधिकाराधिकृत** (महामंत्री) इन्द्रबलराज नाम का **महासामन्त** था। अगर इस पदाधिकारी को तीवर के दादा से अभिन्न माना जा सके, तो यह नामुमकिन नहीं होगा कि उदयन का यह बेटा अपने बाप के राज का उत्तराधिकारी नहीं बना था, बल्कि उसने शरभपुर के दरबार में जाकर शरभपुरीयों के यहाँ नौकरी कर ली थी, जिन्हें उसने या उसकी सन्तान ने अन्ततः अपदस्थ करके राजगद्दी पर खुद कब्जा कर लिया था।

---

[1] मिराशी का मत है कि भंडक अभिलेख मूलतः उस स्थान का नहीं था, बल्कि आरंग से लाया गया था (ई. इ. XXVI, २२७) अगर इस सुझाव को माना जाय तो, जाहिर है कि मध्य-प्रदेश के पश्चिमी भाग पर पांडुवंशियों की सत्ता का विस्तार नहीं हुआ था। लेकिन सूर्यघोष को भीमसेन द्वितीय के आरंग अनुदान-पत्र के शूर से अभिन्न मानने का सुझाव सन्तोषप्रद नहीं है।

तीवर के बाद उसका भाई चन्द्रगुप्त उसका उत्तराधिकारी बना।[1] इस अ को अमोघवर्ष के संजन वाले अनुदान-पत्र में उल्लिखित इसी नाम के राजा से राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय (सन् ७९४-८१४ ई०) ने हराया था, अभिन्न सन्दिग्ध है, विशेषत: तीवर की तारीख के बारे में उपर्युक्त सुझाव की दृष्टि से। का बेटा और उत्तराधिकारी हर्षगुप्त था, जिसने सूर्य-वर्मन् की बेटी वासटा से किया था, जो सम्भवत: पूर्वी उत्तर-प्रदेश के कुछ भागों में अपने बाप मौखरि ईशान्-वर्मन् का वाइसराय था। रानी वासटा विष्णु की नैष्ठिक उपासिका थी, उसने श्रीपुर में एक विष्णु-मन्दिर बनवाया था। हर्षगुप्त के बेटे और उत्तराधि बालार्जुन ने शिवगुप्त (या महा-शिवगुप्त) की उपाधि धारण की थी। उसने लम्बे काल तक शासन किया था, क्योंकि उसके एक अनुदान-पत्र पर उसके काल के ५७वें वर्ष की तारीख है।[2] चूँकि लगता है कि वह सातवीं शताब्दी पूर्वार्ध में शासन करता था, उसे शायद चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय ने सन् ई० से कुछ पहले ही हराया होगा, जो उसके ऐहोल अभिलेख की तारीख है। अभिलेख में किसी शिवनन्दी का उल्लेख मिलता है, जो नित्यानन्द का बेटा वाइसराय था। इस नित्यानन्द को प्राय: राजा बालार्जुन से अभिन्न माना जाता इस पाँडुवंश का अन्त कब और कैसे हुआ और उनका परवर्ती सोमवंशियों से ठीक क्या रिश्ता था, जो दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में दक्षिण-को के शासक थे, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। लेकिन पुरा प्रमाणों से जाहिर होता है कि बालार्जुन के शासन-काल के शीघ्र बाद ही नल-वं राजाओं ने दक्षिण-कोसल के पाँडुवंशियों को हराकर उनके राज पर अधिकार लिया था। सम्भव है कि परवर्ती सोमवंशियों[3] के उत्थान से पहले तक दक्षिण पर नलों का शासन रहा हो।

३. मेकल के पाण्डुवंशी

मेकल का प्राचीन देश वर्तमान अमरकंटक गिरिमाला के गिर्द का प्रदेश था मेकल पर्वत-पंक्ति से उसके नाम की व्युत्पत्ति खोजी जा सकती है। इस देश के प्रा इतिहास के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, यद्यपि पुराणों में मेकल के राजा

---

[1] अधभर के ताम्र-पत्रों से सूचित होता है कि तीवर के बाद उसका बेटा नन्न (उसका उत्तराधिकारी बना था : ई. इ. XXXI. २१६।

[2] लोधिया का ताम्र-अनुदान-पत्र। ई. इ. XXVI, ३१६, देखिए, ज. क. हि. रि. २६५। बालार्जुन की मुहर पर, तीवर के गरुड़ की बजाय, बैठे हुए नन्दी की आकृति का है। वैष्णव तीवर से भिन्न बालार्जुन परम-माहेश्वर था।

[3] हाल में ही सारंगढ़ में सुदेव का जो अनुदान-पत्र मिला है, उसको दृष्टि में रखते हु कोसल पर पांडुवंशियों के कब्जे का विवेचन करने वाले 'ए न्यू हिस्ट्री आफ दि इण्डियन (VI, ८६ प. पृ.) के अनुच्छेद में मामूली संशोधन करने की जरूरत है।

उल्लेख मिलता है, जो शायद मेकल देश की राजधानी के नाम को सूचित करता है। पुरालेखीय प्रमाणों से संकेत मिलता है कि पाँचवीं शताब्दी के करीब पाण्डुवंश की एक शाखा मेकल पर राज करती थी। निस्सन्देह ये पाण्डुवंशी मध्य-भारत और दक्षिण कोसल से सम्बन्धित थे।

बुन्देलखंड के रीवां राज्य की सोहागपुर तहसील के बम्हनि नामक स्थान पर मिले एक ताम्र-अनुदान-पत्र[1] में मेकल के चार पाण्डुवंशीय राजाओं के नामों का उल्लेख है। ये राजा हैं : जयबल, उसका बेटा वत्सराज, रानी द्रोणभट्टारिका से वत्सराज का बेटा महाराज नागबल और रानी इन्द्रभट्टारिका से नागबल का बेटा **महाराज** भरत या भरतबल, जिसे इन्द्र (सम्भवतः इन्द्रबल) भी पुकारते थे। जबकि सामन्त जयबल और वत्सराज को **महाराज** की उपाधि का भी श्रेय नहीं दिया गया है, नागबल और भरतबल को **महाराज** के अलावा **परम-माहेश्वर, परम-ब्रह्मण्य** और **परम-गुरु-देवताधि-दैवत-विशेष** कहा गया है। राजा भरतबल की सिर्फ एक ही रानी थी, लोकप्रकाश, जो कोसला की राजकुमारी थी। यह मत कि लोकप्रकाश दक्षिण-कोसल के पाण्डुवंशियों के परिवार की थी, इस दृष्टि से असंगत है कि तब तक दक्षिण-कोसल पर पाण्डुवंशियों ने कब्जा नहीं किया था। अधिक सम्भावना इस बात की है कि वह शरभपुरीय परिवार की रही हो। चूँकि पुरालिपिशास्त्रीय दृष्टि से बम्हनि अभिलेख को पाँचवीं सदी के अन्तिम या सम्भवतः छठी सदी के आरम्भ का माना गया है, इसलिए सम्भव है कि जयबल और वत्सराज गुप्त-सम्राटों के सामन्त रहे हों और नागबल और भरतबल ने पाँचवीं शताब्दी के मध्य में, जब गुप्त साम्राज्य का पतन शुरू हो गया था, गुप्तों का जुआ उतार फेंका हो। लगता है कि नागबल मध्य भारत के राजा उदयन[2] का समकालीन था, जो पाण्डुवंश की ही एक दूसरी शाखा से सम्बद्ध था।

पाँचवीं सदी के तीसरे चतुर्थांश के लगभग वाकाटक राजा नरेन्द्रसेन ने दावा किया था कि कोसल, मेकल और मालव के राजा उसके आदेशों का पालन करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण कोसल के शरभपुरीय और मेकल के पाण्डुवंशी कुछ काल के लिए वाकाटक राजा के अधीन हो गये थे। यह सुझाव कि बम्हनि अभिलेख में इस बात का प्रच्छन्न संकेत मिलता है कि वाकाटक नरेन्द्रसेन भरतबल का अधिराज था, हमें स्वीकार्य नहीं है।

परिशिष्ट

विष्णुकुण्डियों की वंशावली और तिथिक्रम

विभिन्न विद्वानों ने विष्णुकुण्डियों की वंशावली अपने-अपने ढंग से निर्धारित की है। यहाँ यह वाँछनीय है कि इस वंश के राजाओं का सम्भावित क्रम

---

[1] **भारत कौमुदी**, I. पृ. २१५, ई. इ. XXVII, १३२।

[2] देखिए, पृ. २५०-५१।

और हर शासक के राज-काल की निकटतम तारीख का एक वैकल्पिक मत
किया जाए :[१]–

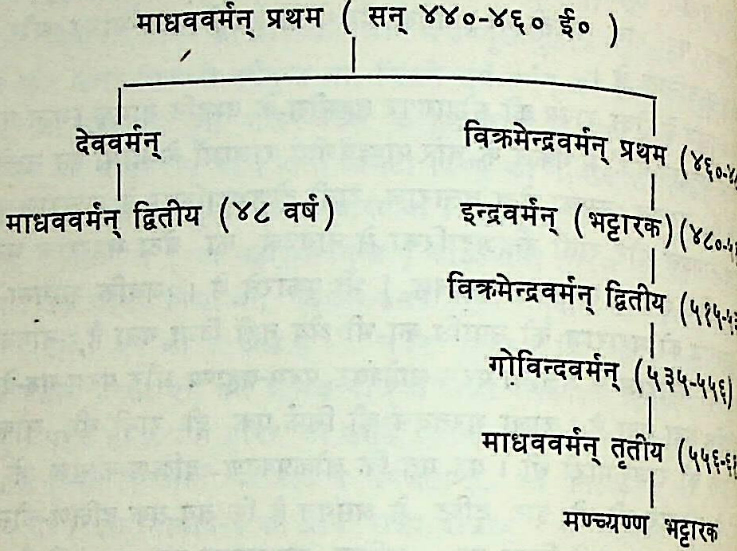
माधववर्मन् प्रथम (सन् ४४०-४६० ई०)
देववर्मन्
माधववर्मन् द्वितीय (४८ वर्ष)
विक्रमेन्द्रवर्मन् प्रथम (४६०-
इन्द्रवर्मन् (भट्टारक) (४८०-
विक्रमेन्द्रवर्मन् द्वितीय (५१५-
गोविन्दवर्मन् (५३५-५५६)
माधववर्मन् तृतीय (५५६-
मण्च्यण्ण भट्टारक

आमतौर पर यह माना जा सकता है कि शालंकायनों और पूर्वी चालु
बीच की अवधि में विष्णुकुण्डियों ने आन्ध्र देश पर शासन किया था। उनके
अधिक से अधिक विशाखापट्टम, गोदावरी, कृष्णा और गुन्टूर जिलों का क्षेत्र
पाँचवीं शताब्दी के मध्य में उन्होंने सत्ता प्राप्त की और माधव-वर्मन् प्रथम

---

[१] डा. डी. सी. सरकार ने जो क्रम सुझाया है (देखिए पृ. २३५ प. पृ.), उसके
उठनेवाली दो महत्त्वपूर्ण आपत्तियों को उसमें नजरअन्दाज किया गया है या उन्हें असंगत
टालने की कोशिश की गयी है। चिक्कुल्ल और रामतीर्थम् के ताम्र-अनुदान-पत्रों का माधव
और इपुर और पोलमुरु के ताम्र-अनुदान-पत्रों के उसी नाम का राजा एक ही व्यक्ति नहीं है
अश्वमेध और अन्य यज्ञों का श्रेय समान रूप से दोनों को दिया गया है, लेकिन इपुर और
के अभिलेखों वाले माधव वर्मन् को इसके अलावा **हिरण्यगर्भ-प्रसूत** और **त्रिवर-नगर-भवन**
युवति-हृदयनन्दन का श्रेय भी दिया गया है। साथ ही पोलमुरु के अनुदान-पत्र को पूर्वी चालु
की स्थापना की तारीख के अधिक निकट रखना जरूरी है, क्योंकि इस वंश के दूसरे रा
पोलमुरु अनुदान-पत्र वाले माधव-वर्मन् के बीच एक पीढ़ी से अधिक का फर्क नही है—जैसा
जयसिंह प्रथम के शासन काल के पाँचवें वर्ष में जारी किए जाने वाले पोलमुरु के ही एक अनु
से जाहिर है। देखिए, ई. इ. XXII. पृ. २०-२१, विशेष रूप से टिप्पणी सं. ३, पृ. २१);
में, यह मानने का कोई संगत कारण नहीं है कि चालुक्यों की विजय के बाद भी वेंगी में विष्णु
का राज चलता रहा था, जैसा सरकार द्वारा सुझाये कालानुक्रम से ध्वनित होता है। विष्णु
ताम्र-अनुदान-पत्रों की तारीखों के बारे में कीलहार्न की अटकलों पर उनकी निर्भरता (पृ.
टिप्पणी २) किसी भी रूप में उन तर्कों से मेल नहीं खाती जो उन्होंने पुरालिपिशास्त्रीय
'सक्से, सात' के पृ. ५७ पर पेश किये हैं। लगता है कि बी. वी. कृष्णराव ने 'अर्ली डाइनेस्टीज़
आन्ध्रप्रदेश', पृ. ४२१) में विष्णुकुण्डियों की वंशावली को सही आधार पर रखा है। हर
शासन-काल की जो तारीखें दी गयी हैं, वे केवल निकटतम ही कही जा सकती हैं।

पहला राजा है, जिसका विवरण हमें प्राप्त है। उसको ११ अश्वमेध और १००० अन्य यज्ञ करने का श्रेय दिया गया है। हमें चाहे इस प्रकार के वक्तव्यों को अक्षरशः सत्य मानने में संकोच हो, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि माधव-वर्मन् प्रथम एक बड़ा शक्तिशाली राजा था। उसकी रानी वाकाटक राजकुमारी थी और उसके पुत्र विक्रमेन्द्र प्रथम को दोनों, वाकाटक और विष्णुकुंडी, कुलों का आभूषण कहा गया है। सम्भवतः वह वाकाटकों की बसिम शाखा के परिवार की थी और अगर देवसेन की बहन नहीं थी तो शायद बेटी थी। इसमें सन्देह नहीं कि 'महावली' देववर्मन् की मृत्यु अपने पिता से पहले ही हो गयी थी, और उसका बेटा छोटी आयु का होने के कारण गद्दी पर नहीं बैठ सकता था। इसलिए देववर्मन् का छोटा भाई विक्रमेन्द्र प्रथम पिता का उत्तराधिकारी बना। सभी अभिलेख उसके बारे में मौन हैं, लेकिन उसके बेटे इन्द्रवर्मन् को, जो इन्द्रभट्टारक भी कहलाता था, एक बड़ा शक्तिशाली शासक बताया गया है, जिसने अनेक विद्यालय खोले और काफी धन दान किया। कहा गया है कि उसके भृकुटि संकोच मात्र से उसके स्वजन डर से भाग जाते थे। शायद इसका संकेत उस घटना की ओर है, जब माधववर्मन् द्वितीय ने, बालिग होने के बाद, राज्य पर अधिकार करने के लिए अपने चचेरे भाई से लोहा लेना तय किया था। जाहिर है कि इस झगड़े का अन्त एक समझौते के रूप में हुआ, जिसके अनुसार माधववर्मन् को पश्चिम के उन पहाड़ी इलाकों के कुछ हिस्सों पर शासन करने की इजाजत दे दी गयी, जिन पर इन्द्रवर्मन् का कब्जा नाम-मात्र के लिए ही था, जैसा एक अनुदान-पत्र से ज्ञात होता है, जिसे माधववर्मन् ने अपने शासन-काल के ४७वें वर्ष में अमरपुर से जारी किया था और जिसमें माधववर्मन् को त्रिकूट मलय का अधिपति कहा गया है। इन्द्रभट्टारक के शासन-काल के २७वें वर्ष में जारी हुए रामतीर्थम् ताम्र-अनुदान-पत्रों से जाहिर है कि तब तक विशाखापट्टम जिले का अधिकांश भाग उसके कब्जे में था, क्योंकि प्लकि-राष्ट्र जहाँ से यह अनुदान-पत्र जारी हुआ था, उस जिले का उत्तरी भाग है। लेकिन जैसा हम पहले लिख चुके हैं[1] उसे अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में अपने विरोधियों के गुट से लड़ना पड़ा था। उसका दुश्मन, निस्सन्देह, कलिंग का गंग-वंशी राजा इन्द्रवर्मन् प्रथम था, जो इस वंश का पहला शासक था। उसने शायद वाकाटक राजा हरिषेण द्वितीय से भी सहायता प्राप्त की, जिसके अजन्ता अभिलेख में उसके जीते हुए प्रदेशों की सूची में आन्ध्र देश शामिल है। यह सम्भव है कि इस युद्ध के परिणामस्वरूप विष्णुकुंडी राजा के हाथ से उसके नामराशि कलिंग के राजा ने उसके राज्य का उत्तरी भाग छीन लिया हो। विष्णुकुंडी वंश के अगले दो राजाओं, विक्रमेन्द्र द्वितीय और गोविन्दवर्मन् विक्रमाश्रय की किसी उल्लेखनीय सफलता का जिक्र अभिलेखों में नहीं मिलता। लेकिन माधववर्मन् तृतीय के बारे में, जो इस वंश का अन्तिम महान् शासक था, कहा गया है कि

---

[1] ऊपर देखिए, पृ. २३६।

हिरण्यगर्भ-प्रसूत था, अर्थात् ऐसा व्यक्ति था जिसने हिरण्यगर्भ का धार्मिक किया, यानी सोने के अंडे में से गुजर कर फिर उसने सोने का अंडा यज्ञ करा पुरोहितों में बांट दिया। उसने पोलमुरु का अनुदान-पत्र ठीक उस वक्त जारी था, जब वह गोदावरी पार करके पूरब की दिशा में दिग्विजयार्थ जा रहा था। है कि यह सामरिक अभियान अपने राज्य के उन इलाकों को वापस जीतने शुरू किया गया था, जो कलिंग के राजा इन्द्रभट्टारक ने पहले से छीन रखे थे। ज्ञात नहीं है कि इस अभियान का क्या परिणाम निकला था। उसके दोनों पत्रों में, जो क्रमश: उसके शासन-काल के ३७वें और ४८वें वर्ष में जारी उसे त्रिवरनगर की युवतियों के हृदयों को आनन्दित करने का श्रेय दिया इसका अर्थ तीवर नाम के उस शहर से लगाया गया है जो महाकोसल के तीवरदेव की राजधानी था, और माधववर्मन् को उस राजा पर विजय प्राप्त का श्रेय दिया गया है।[1] तीवरदेव का शासन-काल सन् ५३०-५५० ई० माना है। लेकिन चूँकि तीवर और माधववर्मन् तृतीय की तारीखें निकटतम आधार पर निर्धारित की गयी हैं, इसलिए कालक्रम में मामूली से फरक सुझाव की स्वीकृति के मार्ग में गम्भीर आपत्ति नहीं समझना चाहिए। या हो है कि यह कामयाबी तीवर के बेटे और उत्तराधिकारी के खिलाफ हासिल की जैसा बी० वी० कृष्णराव ने सुझाया है।[2] लेकिन तीवरदेव कोसल का एक शक्ति राजा था और माधववर्मन् के अनुदान-पत्रों में अतिशयोक्तिपूर्ण गुणगानों में उल्लेखों के अलावा ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिससे इस मत की होती हो कि माधववर्मन् ने कभी भी तीवर के सोमवंशियों पर चढ़ाई की थी। अलावा, त्रिवर और तीवर एक ही नहीं हैं और **त्रिवर-नगर** का अर्थ 'तीन श्रेष्ठ भी हो सकता है। यह भी नामुमकिन नहीं है कि इस अलंकृत अभिव्यक्ति का अधिक और कोई अभिप्राय हो, जैसे यह कि विष्णुकुंडी राज में तीन सम्पन्न जिनमें राजा बारी बारी से ठहरता था। माधववर्मन् की एक उपाधि जना थी, और इस उपाधि के आधार पर ही छन्द-शास्त्र की **जनाश्रयी-छन्दोविचिति** ना एक पुस्तक का श्रेय उसको या उसके शासन-काल को दिया जाता है। माधव नाम के राजा का गुन्टूर जिले के वेल्पुरु में एक टूटा-फूटा प्रस्तर-अभिलेख मिला है संस्कृत भाषा में है और आद्य अक्षरों में उत्कीर्ण है, सम्भव है कि वह इस रा ही हो। इस प्रकार का प्रमाण मिलता है कि विष्णुकुंडी राज्य के विभिन्न पुलकेशिन् द्वितीय के आक्रमण से पहले ही उससे अलग होने लगे थे, क्योंकि आक्रमण के समय हम पाते हैं कि पिष्टपुर का शासक पृथिवी-महाराज एक स्वतंत्र बना हुआ था, जबकि उसके बाप के विक्रमेन्द्र नाम से ही यह बात स्पष्ट है कि

---

१. ई. इ. XXII, पृ. १९ प. पृ.

२. अर्ली डाइनेस्टीज आफ आन्ध्र प्रदेश, पृ. ५२१।

३. १९२५ का ५९१।

कुछ ही दिनों पहले तक विष्णुकुंडियों का एक सामन्त मात्र था ।[1] स्वयं माधववर्मन् या उसका बेटा मण्च्यण्ण ही वेंगी का वह राजा रहा होगा, जिसे पुलकेशिन ने कुणाल (कोलैर झील) की लड़ाई में हराया था । इस लड़ाई के बाद विष्णुकुंडी-वंश के लोग अधीन सामन्तों की हैसियत से कुछ समय तक शासन करते रहे या नहीं, यह सब ज्ञात नहीं है । अपनी ही राजधानी के पास चालुक्यों द्वारा परास्त हो जाने के बाद विष्णुकुंडियों का इतिहास में फिर कभी नाम भी नहीं सुना गया ।

सामान्य सन्दर्भ

जिन पुस्तकों का पहले उल्लेख हो चुका है, उनके अलावा देखिए,

बी. मिश्रा, **ओडिसा अंडर दि भौम किंग्स**;
डी. सी. सरकार, न्यु. हि. इ. पी. का चौथा अध्याय;
ए. एस. अल्टेकर — न्यू. हि. इ. पी. का पाँचवां अध्याय ।

---

[1] ई. इ. XXIII, सं १५, तन्दिवड अनुदान-पत्र ।

परिच्छेद : १२

चालुक्य

I. बादामि के चालुक्य

१. उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास

बादामि (बीजापुर जिला) के शाही चालुक्य, जो प्रारम्भिक पश्चिमी चा नाम से ज्ञात हैं, दक्षिणापथ के विस्तृत क्षेत्रों पर लगभग दो शताब्दियों—छठी मध्य से लेकर आठवीं सदी के मध्य—तक अधिपति बने रहे। इसके बाद उनकी सत्ता राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गयी। चालुक्य वंश की जिन अनेक शाखाओं के विभिन्न भागों पर शासन था, उनमें इन्हीं चालुक्यों की शाखा सबसे पहले अन्य महत्त्वपूर्ण शाखाओं में एक पूर्वी चालुक्यों की शाखा थी, जिसने सातवीं के पूर्वार्ध में पिष्टपुर से राज करना शुरू किया था, और दूसरी वेमुलवाड के की थी, जो राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। तीसरी शाखा कल्याणी के परवर्ती चालु थी, जिन्होंने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रकूटों का तख्ता उलट दिया था

लगता है कि बादामि के चालुक्य किसी स्थानीय कन्नड परिवार के थे, जो होने का दावा करता था। उन्हें गुर्जरों से अभिन्न मानना सही नहीं लगता। उत्तरापथ के चूलिक लोगों से उनका नाम जोड़ा जाता है, जिनके बारे में अ कि वे सोग्दिया (मध्य एशिया) से आये थे और जिनके नाम पर प्राकृत की ए का नाम ही "चूलिका पैशाची" पड़ गया था। लेकिन इस अनुमान की पुष्टि प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सन् ५५३ ई० की तरह अभिलेख में जिन शूलिकों का उ और जिनकी उड़ीसा के शूल्कियों से शिनाख्त की गयी है, उनका चालुक्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

बादामि के चालुक्यों के अभिलेखों में उनके परिवार का नाम चल्क्य, और चलुक्य लिखा गया है ('चालुक्य' बहुत ही कम), जिसमें कभी कभी ल ळ अक्षर का प्रयोग किया गया है। पुलकेशिन द्वितीय के लौहनेर वाले अनुदान- लगता है कि इस नाम का पाठ **चुलुकिकिन** है, लेकिन सम्भव है कि अभिप्राय पाठ ही हो। बाद में, अन्य शाखाओं के अभिलेखों में चालुक्य या कभी-कभी

---

१. ह्विउएन-त्सांग ने पुलकेशिन द्वितीय को "जन्म से क्षत्रिय" बताया है। (वा. इं. २३६)।

ीर सालुक्की के रूपान्तर मिलते हैं जो **सोलन्की** के वहुत नजदीक हैं। अनहिलवाड राजघराने ने इसी का संस्कृतीकरण **चौलुक्य** किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ह नाम किसी पूर्वज के नाम से व्युत्पन्न है, जो शायद चल्क, चलिक या चलुक हलाता होगा। दक्षिणापथ में ऐसे नाम असामान्य नहीं थे; नागार्जुनीकोंडा के एक भिलेख में **चलिकि** का स्कन्दचलिकिरेम्मनक नाम के अन्तर्गत एक हिस्से के रूप में योग है (जिसके अन्त में **अनक** पुंलिग प्रत्यय भी लगा हुआ है)। परवर्ती काल में व इस वंश की उत्पत्ति के बारे में लोग भूल चुके थे, तब परिवार का यह नाम कैसे ड़ा, इसकी मनगढ़ंत व्याख्या पेश की गयी। हन्दरि के अभिलेख के अनुसार, जो क्रमादित्य षष्ठ के जमाने का है, जव ऋषि हारिति-पाँचशिख तर्पण के लिए **चुल्क** शब्द-कोशों का **चलुक** या **चुलुक**, अर्थात् जल-पात्र या उँगलियों को मोड़कर बनाया आ चुल्लु) में जल लेकर देवताओं पर चढ़ा रहे थे, उस समय उनके चुलुक से लुक्यों का जन्म हुआ था। लेकिन **विद्यापति** (राजसभा के मुख्य कवि) बिल्हण अपने 'विक्रमांकदेव चरित' में लिखा है कि चालुक्यों के पूर्वज परम-स्रष्टा ब्रह्मा के चुलुक से उत्पन्न हुए थे, जब इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने एक ऐसा वीर (हीरो) रजना चाहा जो अधर्मियों के लिए आतंक हो। अनहिलवाड के चौलुक्यों या लंकियों का भी विश्वास था कि असुरों के उपद्रवों के डर से ब्रह्मा ने अपने चुलुक से लुक्य नाम के राजा की सृष्टि की थी।

वादामि के चालुक्यों का दावा था कि वे हारीती-पुत्र थे, मानव्य गोत्र के थे; न्हें सप्त मातृकाओं ने दूध पिलाया था, जो मानव-मात्र की माताएँ हैं; भगवान र्तिकेय (स्कन्द महासेन) के वरदान और संरक्षण के कारण उन्हें सारी भौतिक म्पदा प्राप्त हुई थी और उनके वराहलांछन (देखिए, उनकी मुहरों पर वराह की ाकृति) पर दृष्टि पड़ते ही सारे राजा उनके आगे मस्तक झुका देते थे। यह वराह-ांछन उन्हें नारायण या विष्णु ने दिया था। लगता है कि मानव्य गोत्र मातृ-नाम ारीतीपुत्र (जिसे मूल अर्थ भूल जाने पर **हारितिपुत्र** में बदल दिया गया) और ाय हो कार्तिकेय और सप्त-माताओं की पूजा आदि को चालुक्यों ने कदम्बों से उधार लिया था, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि कदम्बों के विरुद्ध चालुक्यों ने किसी वर्ती युग में ही सफलता प्राप्त की थी। शुरू-शुरू में चालुक्यों का परिवार कदम्बों ी अधीनता मानता था या नहीं, इसका वर्तमान जानकारी के आधार पर ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। पहले के ही अभिलेखों में चालुक्यों को स्वामिन् या वामी महासेन (कार्तिकेय) के पवित्र चरणों में ध्यान रमाये हुए या उनका वरदान प्त करते हुए बताया गया है। लेकिन उनके वराह चिह्न और उनके हर विवरण के ारम्भ में वराह अवतार की स्तुति से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक चालुक्यों के कुलदेवता विष्णु थे (इस परिवार में "परम-भागवत्" विशेषण का प्रयोग भी सामान्यतः किया या है), हालाँकि वे जैनों और शैवों के बड़े उदार संरक्षक थे और बाद के कुछ चालुक्य राजाओं ने ये दोनों धर्म अपनाये भी थे। इस परिवार के राजाओं ने **श्री-पृथिवी वल्लभ**

की उपाधि धारण की थी, जिसका अर्थ है, "धन और पृथ्वी का उप वाला" या "लक्ष्मी और पृथ्वी का स्वामी"। इससे यह भी सूचित होता अपने को "विष्णु का अवतार" भी बताते थे।

चालुक्य परिवार के सबसे पहले प्रामाणिक नाम जयसिंह और तत्पुत्र जो छठी सदी के पूर्वार्ध में बीजापुर जिले के बादामि क्षेत्र में पनपे थे। कुछ प्रारम्भिक दस्तावेजों में उनका उल्लेख भी हुआ है, लेकिन दोनों में से एक भी बड़ी सफलता का श्रेय नहीं दिया गया है। जयसिंह (जिसे अक्सर वल्लभ भी कहा गया है) के नाम के आगे वल्लभ या बल्लभेन्द्र (या वल्ल की उपाधि लगी है, जो **श्री-वल्लभ** या **पृथिवी वल्लभ** की तरह ही श्री-पृथिवी- संक्षिप्त रूप है। ऐहोले अभिलेख (V.४) से सूचित होता है कि पृथिवी सारे चालुक्य राजाओं की विशिष्ट उपाधि थी। कहा गया है कि चालुक्य वंश राजाओं के गुजर जाने के बाद जयसिंह गद्दी पर बैठा था। जयसिंह और शासन-काल की घटनाओं के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, हालांकि जब लोग तथ्यों को भूल गये, तब चालुक्य वंश के उत्थान और प्रारम्भिक इतिहास के अनेक किंवदंतियाँ गढ़ ली गयीं। परवर्ती चालुक्य राजा विक्रमादित्य पंचम अनुदान-पत्र में, जो सन् १००९ ई० का है, कहा गया है कि राजा जयसिंह ने वंश के राजा कृष्ण के बेटे इन्द्र को हराकर चालुक्यों की सत्ता दुबारा कायम जिसे पहले कुछ समय के लिए राष्ट्रकूटों ने हथिया लिया था।[1] बादामि दस्तावेजों में ऐसी किसी कामयाबी का जिक्र नहीं मिलता, विशेषत: उस ऐहोल में भी नहीं, जिसमें चालुक्य राज की पहली शती की घटनाओं का विस्तृत इसलिए विद्वानों का विचार है कि कौथेम के अनुदान-पत्र में दसवीं सदी के की घटनाओं का ही प्रतिबिम्बन है। उन दिनों राष्ट्रकूट सत्ता विक्रमादित्य पूर्वजों के हाथ में आ गयी थी। इस मत की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं सकता। लेकिन यह नामुमकिन नहीं है कि चालुक्य परिवार के प्रारम्भिक सम्बन्ध मानपुर के राष्ट्रकूटों के साथ रहे हों। शायद उनका पाँचवीं-छठी दक्षिणी मराठा देश के सतारा-कोल्हापुर क्षेत्र पर भी अधिकार था। चालु जयसिंह-वल्लभ को उस जयसिंह से अभिन्न मानने की इच्छा होती है जो हरि के किले का सेनापति (**कोट्टनिग्रह**, या **कोट्टपाल**) भी था और जिसकी उ मानपुर के राष्ट्रकूट राजा अभिमन्यु ने उंडिकवाटिका गाँव का दान किया था इस अभिन्नता को मानें तो हरिवत्स की स्थिति बीजापुर क्षेत्र में होनी चाहिए समय मानपुर के राष्ट्रकूटों के आधिपत्य में हो भी सकता था और नहीं भी।

---

[1] साथ ही देखिए विक्रमादित्य छठे के येवूर और निलगुंड अनुदान-पत्र और सोनवदे और मिरज अनुदान-पत्र आदि।

[2] देखिए, पृ. २२६।

र कहा है,[1] मानपुर के राष्ट्रकूटों को सम्भवतः मौर्यों या नलों ने हराया था, न कि रम्भिक चालुक्यों ने ।

कल्याणी के परवर्ती चालुक्यों के पुराणेतिहास में चालुक्य वंश की उत्पत्ति मनु या न्द्रमा से मानी गयी है, और उनका मूल-स्थान अयोध्या वताया गया है, जो उत्तर-ोसल की राजधानी थी। कौथेम के अनुदान-पत्र के अनुसार चालुक्य वंश के ४९ ाजाओं ने अयोध्या पर शासन किया था। उसके बाद और सोलह राजाओं ने दक्षिणा-ा पर राज किया। तत्पश्चात् कुछ दिनों तक उनकी सत्ता पर ग्रहण लग गया, जिससे क्ति दिलाकर जयसिंह ने चालुक्य वंश के प्राचीन गौरव का पुनरुत्थान किया। कल्यान भिलेख में, जिसकी तारीख सन् १०२५-२६ ई० है, चालुक्यों की निम्न वंशावली दी ी है: ब्रह्मा, उनका मानस-पुत्र स्वयंभुव-मनु, तत्पुत्र मानव्य, जो मानव्य **गोत्र** के सभी ोगों का प्रजनक है, उसका पुत्र हारिति, उसका पुत्र पांचशिखि हारिति और उसका त्र चालुक्य, जो चालुक्य वंश का प्रजनक है। इसमें सन्देह नहीं कि यह वंशावली **ानव्यसगोत्र और हारितिपुत्र** (हारीतीपुत्र) जैसे विशेषणों की मिथक विस्तृति मात्र । विक्रमादित्य षष्ठ के समय के कुछ दस्तावेजों में कहा गया है कि चालुक्यों की त्पत्ति सोम (चन्द्र) वंश में हुई थी, जिसकी सृष्टि ब्रह्मा के पुत्र अत्रि की आँख से हुई । इसी राजा के जमाने के हन्दरि के अभिलेख में निम्न वंशावली मिलती है: विष्णु ी नाभि से निकले कमल से हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, उसका बेटा मनु था, उसका टा माण्डव्य (देखिए, अन्य विवरणों का मानव्य), उसका पुत्र हारित (जिसे कुछ भिलेखों में माण्डव्य का बाप वताया गया है), और उसका बेटा हारिति पांचशिख, सके चुलुक से चालुक्य उत्पन्न हुए। इसके वाद एक काल्पनिक चालुक्य राजा विष्णु-र्धन विजयादित्य को पेश किया गया है, जिसने अपने दुश्मनों के राज्यों पर कब्जा मा लिया था। उसके वाद अयोध्यापति सत्याश्रय से शुरू होकर, ५९ राजाओं ने वहाँ ाज किया और तत्पश्चात् जयसिंह और उसके सोलह उत्तराधिकारियों ने (दक्षिणा-थ पर) और फिर रट्ट या राष्ट्रकूटों ने पृथ्वी पर शासन किया। इसी पुराण-कथा के ारे, जो एक-दूसरे से पूरी तरह नहीं मिलते, पूर्वी चालुक्यों के परवर्ती अभिलेखों में भी स्तुत हैं, जिनमें चालुक्यों की वंशावली ब्रह्मा से शुरू करके उनके उत्तराधिकारियों ा क्रमवार उल्लेख इस प्रकार है: अत्रि, सोम (चन्द्रमा), बुध, पुरुरवा, आयु, नहुष, याति, पुरु, जन्मेजय .... (इसके वाद चौदह नाम आते हैं), दुष्यन्त, रत ...... (इसके वाद फिर नौ नाम आते हैं) शान्तनु, विचित्रवीर्य, पाण्डु, र्जुन, अभिमन्यु, परीक्षित, जन्मेजय, क्षेमुक, नरवाहन, शतानीक और उदयन। इसके नुसार उदयन के वाद इस वंश के ४९ राजाओं ने क्रमशः अयोध्या पर राज किया। र इसी वंश का विजयादित्य दक्षिणापथ की विजय के लिए आया और उसने पल्लव ाजा त्रिलोचन (एक काल्पनिक व्यक्ति; देखिए, त्रिलोचन कदम्ब का पौराणिक ख्यान) पर आक्रमण किया, लेकिन वह युद्ध में मारा गया। उसकी गर्भवती पत्नी

---

[1] देखिए, पृ. २२६।

ने भागकर मुदिवेमु के अग्रहार में संत विष्णु भट्ट सोमयाजी के आश्रम में
वहाँ उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम विष्णुवर्धन रखा गया। इस
ने पल्लव राजा की एक बेटी से विवाह किया। उसने चालुक्यगिरि (सम्भव
निक पहाड़ी) पर नन्दा-गौरी की उपासना के साथ-साथ कुमार (कार्तिकेय),
और सप्त-माताओं की भी उपासना की। कुछ ही दिनों में उसने अपने परिवा
राज-चिह्न धारण कर लिये, जैसे श्वेत छत्र, एक शंख, पाँच महा-शब्द,
प्रतिढक्क नाम का मृदंग, वराह का प्रतीक, मयूर-पुच्छ, माला, मकर,
मुकुट और गंगा यमुना के चिह्न। कदम्ब, गंग तथा दूसरे राजाओं को हराकर
के सेतुवन्ध से लेकर नर्मदा तक दक्षिणापथ के "साढ़ेसात-लाख देश" का
गया, (राष्ट्रकूटों के राज्य को भी "रट्टप्पाडि-साढ़े-सात-लाख-देश" कहा जा
इस विष्णुवर्धन के बेटे विजयादित्य को पुलकेशिन प्रथम का पिता बनाकर
संभाव्यता का मुलम्मा चढ़ाया गया है, जबकि तथ्य यह है कि पुलकेशिन प्रथ
का बेटा और जयसिंह-वल्लभ का पोता था। विद्वानों ने चालुक्यों के प्रारम्भिक
के इन अस्पष्ट पौराणिक और मिथक तत्त्वों के गड्डमड्ड से गढ़े गये मनगढ़न्त
को अप्रामाणिक और मूल्यहीन समझ कर ठीक ही खारिज कर दिया है।

२. पुलकेशिन् प्रथम और कीर्तिवर्मन् प्रथम

ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश का सबसे पहला स्वतन्त्र शासक रणराग
पुत्र पुलकेशिन् प्रथम (ल० सन् ५३५-६६ ई०) था, जिसका नाम
पोलिकैशिन और पुलिकैशिन आदि रूपों में भी लिखा जाता है और सम्भव
कन्नड-संस्कृत का मिश्रित शब्द हो जिसका अर्थ "व्याघ्र के बालों वाला" है।
परिवार का पहला **महाराज** था और उसे चालुक्य वंश का वास्तविक संस्था
जा सकता है। पुलकेशिन प्रथम के नाम के आगे, **सत्याश्रय** और **रणविक्रम** की
लगायी जाती थीं, और वह **श्रीपृथिवीवल्लभ** या **श्रीवल्लभ** या वल्लभ के ना
विख्यात था। वल्लभ का प्रयोग अक्सर राजा के वास्तविक नाम की जगह
चलिक्य वल्लभेश्वर अर्थात् पुलकेशिन प्रथम के बादामि अभिलेख पर शक सं
(सन् ५४३ ई०) की तारीख है और उसमें उसे हिरण्यगर्भ-प्रसूत (हिरण्यगर्भ
का कर्ता) और अश्वमेध तथा अन्य श्रौत यज्ञों का कर्ता बताया गया है।
मंगलेश के दस्तावेजों में पुलकेशिन प्रथम को केवल हिरण्यगर्भ और अश्वमेध
कर्ता ही नहीं बल्कि अग्निष्टोम, अग्निचयन, वाजपेय, बहुसुवर्ण और पौण्डरीक
भी कर्ता बताया गया है। कहीं-कहीं उसे ययाति, दिलीप आदि पौराणिक
समकक्ष बताया गया है और कहा गया है कि वह मनु के **धर्मशास्त्र**, सारे पुराण
भारत (महाभारत) तथा अन्य **इतिहासों** का ज्ञाता था। पुलकेशिन प्रथम
राजवंश की कन्या दुर्लभदेवी से विवाह किया था। उसके सन् ५४३ ई०
अभिलेख से पता चलता है (देखिए, ऐहोले अभिलेख V. ७) कि राजा

(यह एक असुर का नामराशि है) के किले की नींव रखी थी, जो बीजापुर जिले का आधुनिक कस्बा बादामि है। इससे सूचित होता है कि वह बादामि में अपनी राजधानी से जिस क्षेत्र पर राज करता था, वह वर्तमान बीजापुर जिले के बराबर था। हालाँकि अश्वमेध यज्ञ करने की बात से जाहिर है कि पुलकेशिन ने अपने पड़ोसी राजाओं के विरुद्ध सफलता प्राप्त की थी, जिनमें वह राजवंश भी शामिल था जिसके अधीन वह आरम्भ में था, लेकिन उसे किसी विशेष विजय का श्रेय नहीं दिया गया। इससे जाहिर है कि उसे जो भी सफलताएँ मिली थीं वे सब उसके बेटे और उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन् के कारण हासिल हुई थीं, जो सम्भवतः अपने बाप का प्रधान सेनापति भी था। चिप्लुन अभिलेख में तो वातापि की नींव रखने का श्रेय भी कीर्तिवर्मन् को ही दिया गया है। महाकूट स्तम्भ-लेख में पुलकेशिन प्रथम और कीर्तिवर्मन् दोनों के द्वारा बीजापुर जिले में महाकूट स्थान के देवता महाकूटेश्वर के पक्ष में धर्मस्व बाँधने का भी उल्लेख है।

“महाराज कीर्तिवर्मन् प्रथम की (सन् ५६६-६७ से ५९७-९८ ई०), जिसे कीर्तिराज भी पुकारा जाता था, उपाधियाँ थीं, ‘सत्याश्रय’ और ‘पुरु-रण-पराक्रम’ और उसे वल्लभ या पृथिवी-वल्लभ भी कहते थे। उसने सेन्द्रक परिवार के राजा श्री-वल्लभ सेनानन्द की एक बहन से विवाह किया था। उसकी उपाधि “वातापि का प्रथम निर्माता” से सूचित होता है कि उसने मन्दिर तथा अन्य भवनों से नगर की सजावट शुरू करा दी थी। इस राजा के शासन-काल के बारहवें वर्ष (सन् ५७८ ई०) का एक अभिलेख बादामि की वैष्णव गुफा के बरामदे में भित्ति-स्तम्भ पर मिला है। उसके अनुसार कीर्तिवर्मन् प्रथम के छोटे भाई मंगलेश ने इस गुफा-मन्दिर का निर्माण करने के बाद विष्णु की प्रतिमा-स्थापन के अवसर पर उसके नाम लंजीश्वर गाँव (बादामि के निकट आधुनिक नन्दिकेश्वर) दान किया था। कीर्तिवर्मन् ने बहुसुवर्ण और अग्निष्टोम यज्ञ भी किये थे।

मंगलेश के महाकूट स्तम्भ लेख के अनुसार कीर्तिवर्मन् प्रथम ने वंग, अंग, कलिंग, वट्टूर, मगध, मद्रक, केरल, गंग, मूषक, पाण्ड्य, द्रमिल, चोल्य, आलुक और वैजयन्ती के राजाओं को हराया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दावे में परम्परागत किस्म की **दिग्विजय या चक्रवर्ती क्षेत्र** की विजय की एक डींगभरी अतिशयोक्ति है। कीर्तिवर्मन् के बेटे के एहोले अभिलेख में, जो निश्चय ही अपने बाप की गौरवशाली सफलताओं पर परदा नहीं डालता, कीर्तिवर्मन् के बारे में केवल यह कहा गया है कि वह नलों, मौर्यों और कदम्बों के लिए “प्रलय-रात्रि” के समान था और उसने कदम्ब-कुल के राजाओं का राज्य-संघ तोड़ दिया था। निश्चय ही दोनों में यह वर्णन अधिक विश्वसनीय है। नलों का इतिहास पहले ही बताया जा चुका है। उनका इस जमाने में सम्भवतः दक्कन के विशाल क्षेत्रों पर कब्जा था और उनकी एक बस्ती शायद कुर्नूल-क्षेत्र में भी थी। मौर्य राजा, जो जाहिर है, दक्कन के किसी जिले के मौर्य-गवर्नर के वंशज थे, उन दिनों कोंकण पर शासन करते थे और कदम्बों का राज महाराष्ट्र के उत्तर-कन्नड जिले, मैसूर राज्य के उत्तरी भाग और साथ लगे हुए बेलगाम और धारवार क्षेत्रों तक फैला

हुआ था । छठी शताब्दी के मध्य तक कदम्ब-परिवार की अनेक शाखाएँ इस क्षेत्र के विभिन्न स्थानों पर शासन करती थीं और उसकी मुख्य शाखा की बनवासी या वैजयन्ती में थी, जो उत्तर-कन्नड जिले का आधुनिक वनवासि बादामि के चालुक्यों के अनुदान पत्रों में विशेष रूप से कदम्ब राजधानी प करने का उल्लेख मिलता है, जिनके अनुसार कीर्तिवर्मन् प्रथम ने अपनी कीर्ति वनवासी के विरोधी राजा के देश तथा अन्य नगरों में गाड़ दी थी। नलों, मौ कदम्बों पर उसकी विजय का जिक्र परवर्ती चालुक्यों के विवरणों में किया कीर्तिवर्मन् की इन सफलताओं के कारण, जिनमें से कुछ उसने शायद अपने जमाने में ही प्राप्त कर ली थीं, चालुक्यों का राजनीतिक प्रभाव बम्बई रा महाराष्ट्र) के दक्षिणी भाग और उससे लगते हुए मैसूर और तामिलनाडु कुछ क्षेत्र तक फैल गया था । ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मन् ने कोंकण हिस्सों पर भी कब्जा कर लिया था ।

३. मंगलेश

सन् ५९७-५९८ में कीर्तिवर्मन् प्रथम की मृत्यु हो गयी वह शायद नाबालि छोड़कर मरा था, इसलिए उसका भाई या सौतेला भाई मंगलेश (सन् ५९७- ६१०-६११ ई०)गद्दी पर बैठा । वह मंगलेश, मंगलराज, मंगलीश, और मंगलीश्व से पुकारा जाता था । नये राजा के नाम के आगे पृथिवी-वल्लभ या श्री-पृथिवी के अतिरिक्त रण-विक्रान्त और उरु-रण-विक्रान्त के विशेषण या **विरुद** भी लगा थे । मंगलेश्वर को भी परम-भागवत अर्थात् भागवत(विष्णु)का परम उपास गया है । कटच्चुरियों(कलचुरियों)पर उसकी विजय और रेवती द्वीप पर क उसकी दो बड़ी सफलताएँ थीं, जिनका ऐहोले अभिलेख में जिक्र है और काथेम के अ पत्र में जिसे दोहराया गया है । नेरुर के अनुदान-पत्र और महाकूट के स्तम्भ ले अनुसार शंकरगण के बेटे कलचुरि राजा बुद्ध को १२ अप्रैल सन् ६०२ ई० से पह जब चालुक्य राजा उत्तरी क्षेत्रों पर कब्जा करने के मंसूबे बना रहा था, हराकर सारा राज-पाट और धन-सम्पत्ति हथिया ली थी । लेकिन कलचुरियों के इतिहा वर्णन करते समय हम देख चुके हैं[1] कि बुद्धराज का नासिक जिले पर सन् ६ तक अधिकार रहा था । इसलिए लगता है कि चालुक्यों और कलचुरियों का कुछ समय तक चलता रहा था, जिसके बाद कल्चुरि राज्य पूरी तरह केन्द्री उत्तरी मराठा देश के आधिपत्य में चला गया था । मंगलेश के नेरुर वाले अनुदा में चालुक्य सामन्त स्वामिराज की हत्या का भी उल्लेख है, जो शायद कोंकण पर करता था और अठारह युद्धों में विजय प्राप्त करने के लिए विख्यात था । इस स्वामिराज को कीर्तिवर्मन् प्रथम ने कोंकण का वाइसराय नियुक्त किया था,

---

[1] देखिए, पृ. २२४।

उसने मंगलेश के विरुद्ध युद्ध में पुलकेशिन द्वितीय का साथ दिया था । यह भी नामुमकिन नहीं कि पश्चिमी या अरब सागर के रेवती द्वीप में (अर्थात् रत्नागिरि जिले में स्थित रेडि का किलेबंद अन्तरीप जो वेनगुर्ले के दक्षिण में है) इस स्वामिराज की राजधानी रही हो, जिस पर कहा गया है कि, मंगलेश ने कब्जा कर लिया था और जहाँ का गवर्नर बप्पूर (अर्थात् बटपूर) वंश का इन्द्रवर्मन् बना दिया गया था, जो जाहिर है, उसकी मां का रिश्तेदार था । गोआ के अनुदान-पत्र के अनुसार सत्याश्रय-ध्रुवराज-इन्द्रवर्मन् सन् ६१० ई० या ६११ ई० में इस क्षेत्र के चार **विषयों या मण्डलों** पर शासन कर रहा था और उसका सदर दफ्तर रेवती द्वीप में था । यह उसके शासन-काल का २०वाँ वर्ष था और उसने बादामि के चालुक्य सम्राट की आज्ञा से खेटाहार **देश** में (रत्नागिरि जिले का खेडा तालुक) एक गाँव दान किया था । आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि कीर्तिवर्मन् प्रथम ने इन्द्रवर्मन् को सन् ५९० ई० में कोंकण का वाइसराय बनाया, जो गोआ के अनुदान-पत्र के अनुसार उसके शासन का पहला साल हुआ । लेकिन यह सम्भव है कि वह एक अधीन सामन्त की हैसियत से किसी और क्षेत्र का शासक था और रेवतीद्वीप में उसकी नियुक्ति सन् ५९७-५९८ ई० में, उस स्थान पर मंगलेश का कब्जा हो जाने के बाद, हुई हो । चालुक्य सम्राट उन दिनों कठिन विपत्तियों में फँसा हुआ था, शायद इसी कारण इन्द्रवर्मन् ने खुद अपने शासन-काल की तारीख देकर गोआ का अनुदान-पत्र जारी करने का दुस्साहस किया था ।

मंगलेश के शासन के अन्तिम दिनों में उसके और उसके भतीजे और कीर्तिवर्मन् प्रथम के बेटे पुलकेशिन द्वितीय के बीच गृहयुद्ध छिड़ गया । पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोले अभिलेख के अनुसार इस झगड़े का कारण यह था कि मंगलेश अपने बेटे को गद्दी पर बैठाना चाहता था । इस युद्ध के फलस्वरूप मंगलेश अपनी जान से गया और बादामि की गद्दी पुलकेशिन द्वितीय के हाथ लगी । आमतौर पर मंगलेश के बेटे को, जिसका ऐहोले अभिलेख में नाम नहीं बताया गया है, गोआ के अनुदान-पत्र के सत्याश्रय-ध्रुवराज-इन्द्रवर्मन् से अभिन्न माना जाता है । लेकिन इसके बावजूद, उसकी उपाधि "मूल महान् वप्पूर (बटपूर) वंश का अलंकार" की व्याख्या हम इस अनुमान से कर सकते हैं कि उसकी मां एक वप्पूर राजकुमारी थी । यह तथ्य कि इन्द्रवर्मन् ६१० या ६११ ई० में **महाराज** श्री-पृथिवी-वल्लभ की, जिसे पुलकेशिन द्वितीय से अभिन्न माना जाता है, अधीनता मानता था, इस मत को असम्भाव्य बना देता है कि इन्द्रवर्मन् मंगलेश का बेटा था । पुलकेशिन द्वितीय अपने कट्टर दुश्मन और प्रतिस्पर्धी को कोंकण जिलों के वाइसराय के महत्त्वपूर्ण पद पर शायद ही बर्दाश्त कर पाता । लेकिन पुलकेशिन द्वितीय के शासन के पहले वर्ष की तारीख शक संवत् ५३२ (विगत) है, जबकि गोआ के अनुदान-पत्र की तारीख शक-संवत् ५३२ (जारी या विगत) है, इसलिए सत्याश्रय-ध्रुवराज-इन्द्रवर्मन् के अधिपति **महाराज** श्री-पृथिवी-वल्लभ को मंगलेश से अभिन्न मान लेना भी सम्भावना से परे की बात नहीं है ।

४. पुलकेशिन द्वितीय

महाराज पुलकेशिन द्वितीय (सन् ६१०-६११ ई० से ६४२ ई०), जिसक पोलेकेशिन और पुलिकेशिन रूपों में भी लिखा मिलता है, अपने **विरुद** "सत्याश्र ही सर्वाधिक विख्यात था। उसके नाम के आगे वल्लभ (वल्लभ-राज, वल्लभे पृथिवी-वल्लभ या श्रीपृथिवी-वल्लभ आदि **विरुद** भी लगते थे और उसने अपने के रूप में परमेश्वर की साम्राज्यिक उपाधि भी अपनायी थी। वाद के जमाने में बादामि के चालुक्यों ने **महाराजाधिराज परमेश्वर** और **भट्टारक** (प्राय: परम नहीं) जैसी साम्राज्यिक उपाधियाँ अपनायीं, जिनका उत्तर-भारत में गुप्त सम्रा चलन शुरू किया था, तो उस समय ये सारे **विरुद** भी पुलकेशिन द्वितीय के के आगे जोड़ दिये गये। लोहनेर (नासिक जिला) अनुदान-पत्र में जो सन् ६ का है, उसको परम-भागवत, अर्थात् विष्णु का अनन्य उपासक कहा गया है।

मंगलेश और पुलकेशिन द्वितीय के बीच जब गृह-युद्ध छिड़ गया तब कीर्तिवर्म और मंगलेश ने अपनी भुजाओं के बल से जिन राजाओं और क्षेत्रों को अपने अधी लिया था, आमतौर पर उन सभी ने बादामि के चालुक्यों की अधीनता को अं कर दिया। अपने चाचा की मृत्यु के बाद जब पुलकेशिन द्वितीय गद्दी पर बैठ समय सारे साम्राज्य में अराजकता और गड़बड़ी फैली हुई थी — ऐहोले अभि चित्रात्मक भाषा में, "सारा संसार शत्रुओं के जमघट के अंधकार से आवृत्त था" तक कि बीजापुर-क्षेत्र पर भी, जो चालुक्यों का अपना प्रान्त था, आक्रमण का हो चला था। दो राजा आप्पायिक और गोविन्द अपनी सेनाएँ लेकर भैमरथी (नदी के उत्तरी तट तक पहुँच गये थे। इस प्रकार पुलकेशिन द्वितीय की स्थिति संकट में पड़ गयी थी। उसके सामने दोहरा लक्ष्य था, खुद अपने प्रान्त की दुर्ग रक्षा और अपने आधिपत्य से निकले अधीन राज्यों पर फिर से कब्जा। यह तरु इन दोनों कार्यों को पूरा करने में समर्थ हुआ। उसने भेद-नीति से काम लिया; को अपनी ओर मिलाकर मित्र बना लिया और आप्पायिक को हराकर देशनि दिया। इस गोविन्द की राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग (सन् ७४२-७५७ ई०) के पर शिनाख्त बिलकुल असंगत है, क्योंकि उस परदादा को सातवीं शताब्दी के शुरू रखा जा सकता।

अपने गृह-प्रदेश में स्थिति मजबूत बना लेने के बाद पुलकेशिन द्वितीय ने पड़ोसी देशों को हथियाने के लिए सैन्य अभियानों का सिलसिला शुरू किया। **प्रशस्ति** में उसकी विजयों का विस्तृत वर्णन है। सन् ६३४-३५ ई० में जैन समाधि का निर्माण पूरा होने पर इस **प्रशस्ति** की रचना जैन-कवि रविकीर्ति ने थी, जो भारवि और कालिदास से अपनी समकक्षता का दावा करता है। द पुलकेशिन द्वितीय ने कदम्बों की राजधानी बनवासी पर घेरा डाल कर उ किया। इन कदम्बों को पहले भी उसके पिता ने हराकर अपने अधीन किया फिर उसने दक्षिणी मैसूर के गंगों और अलूपों को, जिनके बारे में अनुमान है

मैसूर के शिमोगा जिले में हुम्ब पर शासन करते थे, हराकर अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया, क्योंकि वे शायद कदम्बों का साथ देते थे। इस युद्ध के बाद लगता है कि गंग राजा दुर्विनीत कोंगणिवृद्ध ने, जो अविनीतकोंगणि का वेटा था, चालुक्य विजेता के साथ अपनी एक वेटी का विवाह कर दिया।[1] कोंकण के मौर्यों को, जिन्हें उसके पिता ने अधीन बनाया था, हराकर पुरी के शहर पर (संकेत या तो गारापुरी, अर्थात् बम्बई के निकट का एलिफेन्टा द्वीप है, या राजपुरी से है, जो जंजीर के निकट है), जो अरब सागर में स्थित था और शायद मौर्यों की राजधानी था, पुलकेशिन के युद्ध-पोतों ने आक्रमण किया और उसे जीत लिया। उससे उत्तर में लाटों, मालवों[2] और गुर्जरों को भी काबू में कर लिया गया। गुजरात क्षेत्र पर पुलकेशिन की विजय का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि वहाँ एक चालुक्य वाइसराय नियुक्त किया गया था। चालुक्य **राजा** विजयराज ने, जो **राजा** बुद्धवर्मराज, उपनाम वल्लभ-रण-विक्रान्त और जयसिंह का पोता था, सन् ६४३ ई० में विजयपुर से एक अनुदान-पत्र जारी किया था, जिसमें जम्बुसरस (भड़ोंच जिले में जम्बुसर) के पुरोहितों और विद्यार्थियों को परियय (सूरत जिले में परिया) नाम के गाँव के दान का विवरण दर्ज है। सेन्द्रक सामन्त पृथिवीवल्लभ निकुम्भाल्लशक्ति (आदित्य शक्ति का वेटा और भानुशक्ति का पोता) के बगुम्र (पुराना बड़ौदा राज्य) वाले अनुदान-पत्र से, जिसकी तारीख सन् ६५५ ई० है, और जिसमें त्रेयण्णाहार **विशय** में (बारदोली में टेन के गिर्द का क्षेत्र) भूमिदान का विवरण है, यह जाहिर होता है कि गुजरात क्षेत्र के चालुक्यों का स्थान सेन्द्रक वाइसरायों ने ले लिया था जो पुलकेशिन द्वितीय की मां के रिश्तेदार थे। इन दोनों अभिलेखों में किसी अधिराज का उल्लेख न करने का कारण यह हो सकता है कि सन् ६४२ ई० में पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के बाद बादामि परिवार का सितारा तत्काल के लिए डूब-सा गया था।

ऐहोले अभिलेख में, इसके बाद, कन्नौज के शक्तिशाली राजा हर्ष के विरुद्ध पुलकेशिन द्वितीय की विजय[3] का और विन्ध्य तथा रेवा (नर्मदा) के क्षेत्रों में चालुक्य राजा के आक्रमणों का वर्णन मिलता है। पुलकेशिन के नेतृत्व में महाराष्ट्र के लोगों द्वारा शीलादित्य हर्षवर्धन के आक्रमण को विफल करने का पता हिउएनत्सांग के विवरणों से भी चलता है। मध्यदेश और दक्षिणापथ के राजाओं में संघर्ष का कारण शायद यह था कि दोनों ही भारत के अपरान्त भाग में वर्तमान गुजरात क्षेत्र पर अपना आधिपत्य कायम करना चाहते थे। लेकिन लाटों, मालवों और गुर्जरों तथा साथ ही वलभी के मैत्रकों ने हर्ष के आक्रमण के डर से पुलकेशिन द्वितीय की सहायता पाने के लिए अपने आप उसकी अधीनता मान ली और इस प्रकार एक विशाल मित्र राष्ट्र-संघ बनने के कारण ही हर्ष की पराज्य हुई, इस मत की पुष्टि उपलब्ध जानकारी के आधार पर

---

[1] Rut cf. pp. 242, 269।

[2] ऊपर देखिए पृ. ११८ प. पृ.।

[3] ऊपर देखिए पृ. ११९ प. पृ.।

निश्चित रूप से नहीं की जा सकती। जयभट तृतीय के नवसारि अनुदान-पत्र अंश में कहा गया है कि गुर्जर राजा दद्द द्वितीय प्रशान्तराग ने (ज्ञात तारी ६२९६-४१ ई०) वलभी के राजा (जाहिर है कि वह ध्रुवसेन द्वितीय ही था) को, **परमेश्वर** हर्ष ने हरा दिया था, शरण (त्राण) देकर ख्याति प्राप्त की थी। प्रकट किया गया है कि गुर्जर सामन्त केवल पुलकेशिन की फौजी मदद से ही दुश्मन की मदद कर सकता था।[1] लेकिन उत्तर भारत के सम्राट पर विजय करने में अगर दद्द द्वितीय का जरा भी अंशदान होता, तो नवसारि अनुदान-पत्र लेखक इस सफलता की खूब डींगें मारता, गुर्जर राजा को सिर्फ हारकर भागे वलभी के राजा को शरण देने का श्रेय देकर चुप न हो जाता। इसके अलावा के राजा ने अगर चालुक्य सम्राट से मदद ली होती तो ऐहोले प्रशस्ति का लेखक पुलके के अधिराज्य में लाटों, मालवों और गुर्जरों के साथ ही शायद मैत्रकों का भी कर देता। जाहिर है कि काठियावाड़ के शासक मैत्रक गण, जिनकी राजधानी थी, मालवों में शामिल नहीं किये जा सकते थे, चाहे मालव पर भी उनका अ क्यों न रहा हो।

कुछ विद्वानों का विचार हैं कि पुलकेशिन द्वितीय ने हर्ष को शक संवत् (विगत) के भाद्र के नये चन्द्र दिन से पहले ही (अगस्त १२, सन् ६१२ ई०, कुछ विद्वानों के अनुसार जुलाई २३, सन् ६१३ ई०) से पहले ही हराया था, चालुक्य राजा के हैदराबाद वाले अनुदान-पत्र की तारीख है।[2] इस अभिलेख के अ हजार युद्धों में भाग लेने वाले राजाओं को हराकर (या एक राजा को हरा पुलकेशिन द्वितीय ने 'परमेश्वर' नाम प्राप्त किया था, जबकि उसके उत्तराधिका के अभिलेखों में कहा गया है कि उसने 'परमेश्वर' नाम "सकल उत्तरापथ के यु अधिपति हर्षवर्धन को हराकर" प्राप्त किया था। लेकिन पुलकेशिन द्वितीय सन् ६११ ई० में गद्दी पर बैठा था और हर्षवर्धन सन् ६०६ ई० में, और दोनों को आरम्भ में अपने पड़ोस के अनेक दुश्मनों से लड़ना पड़ा था। अपने गृह-प्रदेश आप्पायिक और गोविन्द के आक्रमणों से मुक्त और कदम्बों तथा मौर्यों को का किए बिना चालुक्य राजा शायद ही कन्नौज के सम्राट से लोहा लेने के लिए आ पाता। इसलिए यह सम्भाव्य है कि पुलकेशिन द्वितीय नें दुश्मनों से अपने मातृदेश रक्षा और इर्द-गिर्द के क्षेत्रों पर फिर से चालुक्यों की प्रभुसत्ता कायम करने के ही उपनाम के रूप में 'परमेश्वर' की साम्राज्यिक उपाधि अपनायी थी, लेकिन परमे हर्षवर्धन पर विजय के उपरान्त इस उपाधि को अतिरिक्त महत्त्व मिला था। गु पर हर्ष की चढ़ाई और अन्ततः उसकी हार की तारीख निस्सन्देह सन् ६३४-६ पहले की होगी, जब ऐहोले **प्रशस्ति** लिखी गयी थी; यह भी सम्भव है कि यह ता

---

[1] ज. बि. ओ. रि. सो., IX. ३१६, साथ ही देखिए पृ. ११८, १२४ प. पृ.।

[2] ऊपर देखिए, पृ. १२२।

मैत्रक ध्रुवसेन द्वितीय और गुर्जर दद्द द्वितीय के शासन-काल के आरम्भ के बाद की हो, जिसके बारे में ज्ञात सबसे पुरानी तारीख सन् ६२९ ई० है।[1] यह भी ध्यान देने लायक बात है कि पुलकेशिन द्वितीय के लोहेनेर अनुदान-पत्र में, जिसकी तारीख सन् ६३० ई० है, इस विजय की ओर संकेत नहीं किया गया।

जिन विजयों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके कारण पुलकेशिन द्वितीय को तीन महाराष्ट्रकों (महान् राज्यों) की, जिनमें ९९,००० ग्राम थे (इस वाक्य का अर्थ सन्दिग्ध है) प्रभुसत्ता पाने का अवसर मिला। हम यह जानते हैं कि ह्वेन-त्सांग को चालुक्य राज्य का महाराष्ट्र नाम विदित था। पुलकेशिन के साम्राज्य में, जो गुजरात से लेकर दक्षिण में दक्षिणी मैसूर तक विस्तृत था, शामिल तीन राष्ट्रों से अभिप्राय शायद महाराष्ट्र, कोंकण और कर्नाट से है। इसके बाद ऐहोले की **प्रशस्ति** में बताया गया है कि चालुक्य राजा ने किस प्रकार पूर्वी दक्कन की ओर चढ़ाई की, जहाँ कोसलों (सम्भवतः दक्षिण-कोसल के पांडुवंशी), और कलिंगों (सम्भवतः गंजाम जिले में स्थित कलिंग-नगर के गंग-वंशी) को उसने बड़ी आसानी से हराकर काबू में कर लिया। इसके बाद चालुक्य सेना तट-मार्ग से दक्षिण की ओर बढ़ती चली गयी। उसने पिष्टपुर (गोदावरी जिले में पिठापुरम्) और कुनाल (एल्लोर के पास कोल्लेरु झील) द्वीप के किले फतह कर लिये। पिष्टपुर के राज-परिवार को गद्दी से उतार कर पुलकेशिन द्वितीय के "प्रिय छोटे भाई" युवराज कुब्ज विष्णुवर्धन को इस नये राज्य का शासक नियुक्त किया गया। वह प्रसिद्ध पूर्वी चालुक्य-परिवार का संस्थापक बना, जो सन् १०७० ई० तक राज करने के बाद चोल-वंश में समाहित हो गया। लगता है कि एल्लोर-क्षेत्र की रक्षा का प्रयत्न विष्णुकुंडी राजा विक्रमेन्द्र वर्मन् तृतीय ने किया था, लेकिन वह हार गया और आन्ध्र का हृदय-प्रदेश भी चालुक्यों के कब्जे में चला गया। इससे भी और दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन् प्रथम (सन् ६००-६३० ई०) को हराकर उसे अपनी राजधानी काँची (आधुनिक काँजीवरम्) की प्राचीर के पीछे शरण लेने के लिए मजबूर कर दिया। चालुक्य राजा पल्लव-देश के हृदय-प्रदेश तक बढ़ता चला गया था। चाहे उसने सचमुच काँची का घेरा न डाला हो, इस बात की पुष्टि पल्लव अभिलेखों से भी होती है, (उदाहरण के लिए देखिए कसकुदि का अनुदान-पत्र) जिसके अनुसार महेन्द्र-वर्मन् प्रथम ने अपने "मुख्य दुश्मनों को" अर्थात् बादामि के चालुक्यों को,[2] पल्ललूर के युद्ध में, जो काँची के निकट है, एकदम

---

[1] अपने शासन-काल के आरम्भ में हर्षवर्धन अपने ही क्षेत्र में गौड़ राज शशांक जैसे शक्तिशाली दुश्मनों से जूझता रहा। यह बात कि अपने यौवन-काल में ही गद्दी पर बैठे हर्ष ने बहुत बाद में ही वलभी के राज्य पर धावा किया, जबकि वह एक विवाह योग्य बेटी का बाप बन गया था, इससे संकेतित है कि युद्ध की समाप्ति के साथ वलभी के राजकुमार से हर्ष की बेटी का विवाह किया गया। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पृ. १२२-२३ ह्वेन-त्सांग के इस वक्तव्य को सही मानना कठिन है कि हर्ष ने सन् ६१२ के बाद ३० वर्ष तक शान्तिपूर्वक शासन किया था।

[2] कुछ लेखकों का विचार है जिन दुश्मनों की ओर संकेत किया गया है वे गंग थे, चालुक्य

नष्ट कर दिया था। इसके बाद कहा गया है कि पुलकेशिन ने कावेरी पार चोलों, केरलों और पाण्ड्यों से मित्रता स्थापित की। जाहिर है कि यह मित्रता अपने शक्तिशाली पड़ोसी पल्लवों के विरुद्ध तैयार करने के लिए कायम की गयी। हालाँकि अस्थायी तौर पर पल्लवों की शक्ति टूट गयी थी, लेकिन चालुक्य रा सुरक्षित वापस लौटने के लिए अपने पीछे एक बड़ी फौज छोड़े बगैर कावेरी पार की हिम्मत नहीं पड़ी। ऐसा लगता है कि पल्लवों ने लौटते वक्त उसका मार्ग दिया था, लेकिन उन्हें फिर तितर-बितर कर दिया गया। इस प्रकार दिग्विजय के बाद पुलकेशिन द्वितीय अपनी राजधानी वातापि लौट गया। कभी-कभी ऐसा भी जाता है कि ऊपर जिन विजयों का जिक्र हुआ है, उन सब को पूरा करने के बा चालुक्य राजा ने वातापि पर कब्जा किया था और चूँकि वह अपने शासन-का तीसरे वर्ष में, जब सन् ६१३ ई० में हैदराबाद अनुदान-पत्र जारी किया गया था नगर में ठहरा हुआ था, इसलिए ये सारी सफलताएँ इस तारीख से पहले की ही मा जाती हैं। लेकिन यह सुझाव एकदम असंगत है। उसके कोप्परम वाले अनुदान-प सूचित होता है कि पुलकेशिन सन् ६३१ ई० में भी पूर्वी समुद्र तट के क्षेत्र में था।[1] चालुक्य राजा ने अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के बीच फैले हुए क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की थी, यह संकेत सन् ६३० ई० के लोहनेर अनुदान-पत्र गयी उस उपाधि से मिलता है, जिसमें उसे "पूर्व और पश्चिम के सागरों का अधि कहा गया है।

चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग ने सन् ६४१ ई० के लगभग पुलकेशिन द्वारा महाराष्ट्र की यात्रा की थी। उसने जो विवरण दिया है, उसके अनुसार यह राजा क्षत्रिय था और उसकी प्रजा उसके आदेशों को सर आँखों पर लेती थी। योजनाएँ और उसके कार्य विविध प्रकार के थे और उसके कल्याणकारी कार्यों प्रभाव दूर-दूर तक महसूस किया जाता था। इस देश का वृत्त लगभग ५००० ली (८३६ मील) था और राजधानी[2] का वृत्त लगभग ३० ली (करीब ५ मील) था

नहीं। उनके अनुसार पुलकेशिन का विरोधी पल्लव महेन्द्र वर्मन् नहीं, बल्कि उसका बेटा न वर्मन् था। (इ. हि. क्वा. XXVIII, ६०)।

[1] ई. इ., XVIII, २५७ प. पृ.।

[2] इस नगर को उसने भरुकच्छ (भड़ोंच) से १,००० ली. (करीब १६७ मील) ब जबकि वास्तव में भड़ोंच और बादामि के बीच का फासला करीब ४३५ मील है। इसलिए प्रकट किया गया है कि चीनी यात्री ने शायद गोदावरी के किनारे स्थित नासिक का हवाला दि (जो भड़ोंच से करीब १२८ मील के फासले पर है)। वह शायद उन दिनों चालुक्य रा अस्थायी निवास था, जबकि वह हर्षवर्धन के विरुद्ध फौजी कार्रवाइयों का संचालन कर रहा लेकिन यह सुझाव पूरी तरह सन्तोषप्रद नहीं है, क्योंकि हर्ष के विरुद्ध उसकी सैनिक कार्रवाइ उल्लेख सन् ६३४-३५ ई० के एक विवरण में किया गया है, जबकि ह्वेन-त्सांग इसके छः व "महाराष्ट्र" गया था। कहीं ऐसा तो नहीं है कि चीनी यात्री ने प्रारम्भिक राष्ट्रकूटों के रा

इसके पश्चिमी किनारे पर एक बड़ी नदी थी। जमीन नियमित रूप से जोती-बोयी जाती थी और बहुत उपजाऊ थी। वहाँ की जलवायु बहुत गरम थी और लोग, जिनके कद लम्बे थे और जो कठोर और प्रतिशोधी स्वभाव के थे, ईमानदार और सीधे-सादे थे। उन्हें विद्या का शौक था, भला करने वालों के प्रति वे कृतज्ञ थे और अपने दुश्मनों का पीछा नहीं छोड़ते थे। अगर किसी मुसीबतज़दा की मदद करने के लिए उनसे कहा जाता, तो वे मदद करने की जल्दी में अपने आपको भी भूल जाते थे। अगर कोई उनका अपमान करता, तो वे उसका बदला लेने के लिए अपनी जान भी खतरे में डालने को तैयार हो जाते थे। लेकिन बदला लेते वक्त, पहले वे अपने दुश्मन को चेतावनी देते और फिर जब दोनों हथियारों से लैस होते, वे एक-दूसरे पर भाले से वार करते। अगर दुश्मन भाग खड़ा होता तो वे उसका पीछा करते, लेकिन अगर वह आत्मसमर्पण करता तो उसकी हत्या नहीं करते थे। ह्वेन-त्साँग के शब्दों में, "अगर कोई सेनापति युद्ध में हार कर लौटता है, वे उसे दंड नहीं देते, बल्कि उसे पहनने के लिए औरतों के कपड़े भेंट करते हैं, जिससे वह युद्ध में अपनी जान पर खेलने के लिए मजबूर हो जाता है। देश सैंकड़ों सूरमाओं के एक दल का पूरा खर्च उठाता है। हर बार जब इन सूरमाओं को युद्ध के लिए रणक्षेत्र में उतरना होता है, वे शराब पीकर मत्त हो जाते हैं और तब एक-एक सूरमा दस-दस हजार सैनिकों के मुकाबले में डटकर उनको युद्ध के लिए ललकारता है। अगर इनमें से कोई सूरमा किसी व्यक्ति की हत्या कर देता है, तो देश का कानून उसको सजा नहीं देता। हर बार जब वे युद्ध पर जाते हैं, उनके आगे-आगे नगाड़े बजते चलते हैं। इसके अलावा, वे युद्धभूमि में ले जाने से पहले सैंकड़ों हाथियों को भी शराब पिलाकर मतवाला बना देते हैं और खुद भी पहले शराब पीकर एक गिरोह के रूप में दुश्मन पर झपटते हैं और हर चीज को रौंदते हुए आगे बढ़ते हैं, ताकि कोई दुश्मन उनके आगे टिक नहीं पाये। चूँकि राजा के पास ये सूरमा और हाथी हैं, इसलिए वह अपने पड़ोसी राजाओं के साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार करता है।"

इसमें सन्देह नहीं कि पुलकेशिन द्वितीय बादामि-परिवार के चालुक्यों का ही सबसे महान् राजा नहीं था, बल्कि प्राचीन भारत के भी महानतम राजाओं में से था। उसका नाम और यश भारत की सीमाओं से बाहर भी दूर-दूर तक फैल गया था, और फारस के प्रसिद्ध इतिहासकार टबरी के अनुसार, फारस के शाह खुसरू द्वितीय (खुसरू परवेज) ने अपने शासन-काल के ३६वें वर्ष (अर्थात् सन् ६२५-२६) में चालुक्य सम्राट के एक राजदूत का स्वागत किया था।[1] टबरी ने भारतीय राजा का नाम **प्रमेश**, अर्थात् **परमेश** या परमेश्वर लिखा है (पुलकेशिन नहीं लिखा, जैसा कि आमतौर पर अनुमान किया जाता है) जो पुरालेखीय प्रमाणों के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय का उपनाम या दूसरा

की राजधानी ऐल्लोर का हवाला दिया है, जिसे बादामि के चालुक्यों ने अपनी उप-राजधानी बना लिया हो? यह भी ध्यान रहे कि ऐल्लोर के पश्चिम में एक नदी है, जबकि नासिक में कोई नदी नहीं है।

[1] विस्तृत सूचना के लिए देखिए परिच्छेद २३, अनुच्छेद ७।

नाम (देखिए, **परमेश्वर-आपर-नामधेय**) था। यह सुझाव कि परमेश (परमेश्वर) जिसका यहाँ पर एक नाम के रूप में प्रयोग किया गया है, सम्राटों की एक उपाधि के रूप में स्वीकार किया जाय और भारत के राजा से तात्पर्य समकालीन भारतीय सम्राट हो सकता है, जैसे हर्ष (जिसका नाम परमेश्वर नहीं विश्वसनीय नहीं है। यही बात कुछ लेखकों के इस मत के बारे में कही जा सकती अजन्ता की गुफाओं के एक भित्ति-चित्र में फारस के राजदूत को पुलकेशिन् हाथ में खुसरू का उत्तर भेंट करते हुए दिखाया गया है।

पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् प्रथम के राज्य पर पुलकेशिन का आक्रमण तुंगभद्रा के दोनों तटों पर स्थित इन शक्तिशाली राज्यों के परस्पर-संघर्ष का पहलू था। भारत पर अँगरेजों के अधिकार से पहले हर युग में यह संघर्ष चलता था। चालुक्यों से पहले यह संघर्ष कब और किस रूप में चला था, इसकी उपलब्ध नहीं है। लेकिन पुलकेशिन द्वितीय और महेन्द्र वर्मन् प्रथम का यह संघर्ष बीच में अन्तराल देकर, लगातार कई शताब्दियों तक चलता रहा, इन दोनों के हाथ से राजसत्ता छिन जाने के बाद भी।

पल्लवों के विरुद्ध पुलकेशिन् की सफलता क्षणस्थायी ही साबित हुई। सन् ई० के लगभग वह युद्ध में हार गया और सम्भवतः (महेन्द्र-वर्मन् प्रथम के बेटे) राजा नरसिंह-वर्मन् प्रथम के हाथों मारा गया, जिसने पुलकेशिन् के आक्रमण का लेने के लिए बादामि पर चढ़ाई की थी और उस पर कब्जा कर लिया था। के अनेक अनुदान-पत्रों के साक्ष्य के अनुसार, नरसिंह-वर्मन् प्रथम ने राजा अर्थात् पुलकेशिन द्वितीय को बार-बार हराया था, (या, एक अभिलेख के उसने पुलकेशिन की पीठ पर "विजय" का शब्द लिख दिया था, जैसे मानों वह की पट्टी हो, और उल्टे पाँव भागते हुए पुलकेशिन की पीठ पर लिखा यह शब्द दिखायी देता था।) नरसिंह-वर्मन् प्रथम ने पुलकेशिन को परियल, शूरमार तथा और कई स्थानों पर शिकस्त दी थी और बादामि के नगर को करके धूल में मिला दिया था। लंका के **महावंश** नामक इतिवृत्त के अनुसार मानववर्मन् ने पल्लव राजा के दरबार में शरण ली थी, जिसकी मदद उसने अपने राजा वल्लभ, को कुचलने में की थी। पल्लव राजा के इस दावे में, कि उसने को नष्ट करके खंडहर बना दिया था, डींग या अतिशयोक्ति का अंश नहीं है; उसकी वातापिकोण्ड उपाधि से भी सिद्ध होती है और खुद बादामि में मिले एक लेखाँश से भी, जिसमें यह कहा गया जान पड़ता है कि इस नगर को सिंहविष्णु नरसिंह विष्णु (अर्थात् नरसिंह-वर्मन् प्रथम) ने जीता था, जिसका उपनाम महामल्ल

५. विक्रमादित्य प्रथम

बादामि के चालुक्य परिवार के परवर्ती राजाओं के विवरणों से ज्ञात होता है पुलकेशिन द्वितीय के बाद उसका एक छोटा बेटा, विक्रमादित्य प्रथम (सन् ६५५-६८

उसका उत्तराधिकारी बना, जिसने दावा किया कि वह अपने बाप का "प्यारा" बेटा था; लेकिन वह अपने बाप की मृत्यु के कई साल बाद गद्दी पर बैठा था। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के बाद, बादामि और उसके साम्राज्य के कुछ दक्षिणी जिले कई साल तक पल्लवों के कब्जे में रहे थे। इस बीच पुलकेशिन के कई बेटे दुश्मन को वहाँ से निकालने की बेकार कोशिशें करते रहे थे और कुछ प्रान्तों के वाइसराय बिना किसी अधिराज का हवाला दिए (लेकिन बाजाब्ता आजादी घोषित किये बगैर ही) शासन करते रहे थे; शायद इसलिए कि तब पुलकेशिन द्वितीय के अनेक पुत्र एक दूसरे के विरुद्ध गद्दी के दावेदार थे। कैर और बगुम्र के अनुदान-पत्रों से, जिनका ऊपर हवाला दिया गया है,[1] यही जाहिर होता है कि पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु से उत्पन्न होने वाली यह गड़बड़ी सन् ६४३ ई० में या उससे पहले ही शुरू हो गयी थी और कुछ सुदूर प्रान्तों में तो चालुक्यों की प्रभुसत्ता सन् ६५५ ई० तक भी दोबारा पूरी तरह से कायम नहीं हो सकी थी। चूँकि विक्रमादित्य प्रथम और उसके उत्तराधिकारियों की, सरकारी तौर पर जारी की गयी, वंशावलियों में पुलकेशिन द्वितीय और विक्रमादित्य प्रथम के बीच और किसी राजा का नाम नहीं दिया गया है, इसलिए आमतौर पर यही माना जाता है कि सन् ६४२ से लेकर ६५५ ई० तक चालुक्यों की गद्दी खाली रही थी। लेकिन प्रत्यक्षतः, जबकि पल्लवों ने चालुक्यों के समूचे राज्य पर कब्जा नहीं किया था, यह बात स्पष्ट नहीं होती कि पुलकेशिन द्वितीय के बड़े बेटे ने राज्य के किसी अविजित प्रदेश से, या किसी वफादार वाइसराय या मित्र राजा के दरबार से अपने आपको राजा क्यों नहीं घोषित किया था, विशेष रूप से तब जब कि कुछ वाइसरायों ने अपनी स्वतन्त्रता नहीं घोषित की थी। इसलिए, यही सम्भव है कि इस बीच गद्दी के अनेक दावेदार थे, यद्यपि उनमें से कोई भी पल्लवों को बादामि से निकाल बाहर करने में सफल नहीं हुआ था, और न सारे वाइसरायों से अपना अधिकार मनवा सका था। आखिरकार विक्रमादित्य प्रथम, जो शायद आरम्भ में अपने किसी बड़े भाई के पक्ष में लड़ रहा था,[2] और जिसे सम्भवतः अपने नाना गंग राजा दुर्विनीत की मदद भी हासिल थी, बादामि को दुश्मनों से आजाद करने में और अपने लिए राजगद्दी प्राप्त करने में सफल हो गया। गंगों के एक अभिलेख में कहा गया है कि दुर्विनीत ने जयसिंह वल्लभ के (बादामि के चालुक्य-परिवार का संस्थापक) देश में काडुवेत्ति (तात्पर्य है, पल्लव अर्थात् कांँची का पल्लव राजा) को पकड़कर और अपनी बेटी के पुत्र, सम्भवतः विक्रमादित्य प्रथम को गद्दी पर बैठाकर यश प्राप्त किया था।[3] ऐसा प्रतीत होता है

---

[1] देखिए पृ. २६७।

[2] ऐसा प्रतीत नहीं होता कि विक्रमादित्य (प्रथम) शुरू से ही गद्दी का दावेदार था, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह शायद अपने शासन-काल के आरम्भ की तारीख सन् ६४२ ई० लिखवाता न कि सन् ६५५ ई०।

[3] कुछ विद्वानों का कहना है कि दुर्विनीति इस समय से बहुत पहले हुआ था। (देखिए परिच्छेद १३, पृ. ३०५) दुर्विनीति की तारीख के लिए देखिए 'सक्सेसर्स ऑफ सातवाहंस', पृ. २९९-३०२। गदवल के अनुदान-पत्र में विक्रमादित्य की रानी गंगमहादेवी का जिक्र हुआ है। वह दुर्विनीत की पोती हो सकती है।

कि पुलकेशिन द्वितीय के बेटों को अपने रिश्तेदार, पूर्वी चालुक्यों से, जिन्हें विष्णुवर्धन् के शासन काल के अन्तिम सालों में ही बादामि से अपने सम्बन्ध थे, कोई सहायता नहीं मिली थी। पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के बाद गद्दी के दावेदारों में उसका एक "प्यारा" बेटा आदित्य-वर्मन् भी था, जिसके शासन पहले साल के कर्नुल अनुदान-पत्र में उसे **महाराजाधिराज-परमेश्वर** और पृथिवी कहा गया है और उसे अपनी भुजाओं के बल से जीते हुए समस्त संसार शासक बताया गया है। विक्रमादित्य प्रथम द्वारा जारी की गई वंशावली विवरणों से आदित्य-वर्मन् तथा गद्दी के अन्य दावेदारों के नाम खारिज किये एक कारण यह भी हो सकता है कि वे एक ही समय में बादामि से दूर शासन कर रहे हों और गद्दी के लिए उनके दावों की विक्रमादित्य ने या उपेक्षा कर दी हो या उनको चुनौती दी हो। लेकिन परवर्ती चालुक्यों के अनुदान-पत्र के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय के बाद क्रमशः उसका बेटा नेडमरि उसका पोता आदित्य-वर्मन् और तत्पश्चात् उसका परपोता विक्रमादित्य प्र पर बैठे थे और इस श्रुति परम्परा में गलती होने के बावजूद शायद विक्रमादि के उन दोनों भाइयों की स्मृति झलकती है, जिन्होंने राजा होने का दावा कि

विक्रमादित्य प्रथम के एक और बड़े भाई चन्द्रादित्य का पता उसकी पत्नी भट्टारिका के दो अनुदान-पत्रों[1] से चलता है। इन दोनों अनुदान-पत्रों में विक्र को पुलकेशिन का प्यारा बेटा और विरोधी राजाओं का विजेता तथा अपने पू सत्ता का पुनरुत्थापक कहा गया है। इसके अलावा, चूँकि उसका नाम चन्द्रा नाम से पहले रखा गया है, इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्द्रादित्य का सामन्त-राजा का था, यद्यपि दोनों भाइयों के परस्पर सम्बन्ध अच्छे थे। यह करना कठिन है कि विजय भट्टारिका ने जब ये अनुदान-पत्र जारी किये थे, उ चन्द्रादित्य जिन्दा था या नहीं।

तलमंचि और नेरुर अनुदान-पत्रों के अनुसार विक्रमादित्य प्रथम सितम्ब ६५४ के बाद और जुलाई ६५५ के पहले गद्दी पर बैठा था। अपने भाई आदि की तरह उसने भी दावा किया है कि वह पुलकेशिन द्वितीय का "प्यारा" बेटा विक्रमादित्य के नाम के आगे निम्न **विरुद** लगाये जाते थे: सत्याश्रय, रा अनिवारित राजमल्ल। और उसकी उपाधियों में **श्री पृथिवी-वल्लभ** (श्री-व वल्लभ) तो थीं ही, **महाराजाधिराज, परमेश्वर** और कभी कभी भट्टारक साम्राज्यिक उपाधियाँ भी थीं। उसके कुछ वाइसरायों के विवरणों में उसको **माहेश्वर** (शिव का परम उपासक) और नागवर्धन् के जो शायद राजा का अ चरणों में बैठकर चिन्तन-मनन करने वाला बताया गया है। लेकिन तत्

---

[1] ब. ग. पृ० ३६६, एक अनुदान पत्र में प्रयुक्त "स्वराज्य" शब्द का अर्थ "अपने चालुक्यों की) प्रभुसत्ता" लगाना चाहिए। विजय भट्टारिका वस्तुतः प्रसिद्ध कवयित्री विज्जा है, जिसका उल्लेख साहित्यिक परम्पराओं में किया जाता है।

अनुदान-पत्र में श्री मेघाचार्य को राजा का **स्वकीय गुरु** बताया गया है और इसे अन्य अभिलेखों में दिये गये नाम से अधिक प्रामाणिक मानना चाहिए। विक्रमादित्य प्रथम के बारे में, जिसने पल्लवों से साम्राज्य का दक्षिणी भाग वापस जीत लिया था, कहा गया है कि उसने अपनी तलवार और अपने घोड़े चित्रकंठ की मदद से अनेक युद्धों में अपने दुश्मनों पर विजय प्राप्त की थी। आगे कहा गया है कि तीन बार दुश्मनों द्वारा बाधा डालने के बावजूद उसने अपने पिता का राज्य अपने लिए हासिल कर लिया था, और इस प्रकार सारे साम्राज्य पर उसका प्रभुत्व हो गया था। कहा गया है कि उसने सिर्फ जवानी आदेश देकर ही उन देवताओं और ब्राह्मणों के अनुदान-पत्र वापस करवा दिये थे, जिन्हें तीन विरोधी राजाओं ने जब्त कर लिया था। इस प्रकार इस चालुक्य राजा ने अपने अनेक दुश्मनों को, जिनमें उसके कुछ भाई भी हो सकते हैं, हराकर ही अपने पूर्वजों की प्रभुसत्ता और सम्पदा पर अधिकार किया था। हैदराबाद के अनुदान-पत्र से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य प्रथम ने तीन पल्लव-राजाओं, नरसिंह-वर्मन् प्रथम, उसके बेटे महेन्द्र-वर्मन् द्वितीय और उसके पोते परमेश्वर वर्मन् प्रथम से युद्ध किया था। इसमें कहा गया है कि विक्रमादित्य ने नरसिंह की ख्याति धूल में मिलाकर, महेन्द्र की शक्ति नष्ट करके ईश्वर (अर्थात् परमेश्वर-वर्मन् प्रथम) को कूटनीति में मात देकर पल्लवों को पूरी तरह कुचल दिया था। यह भी कहा गया है कि उसने ईश्वरपोतराज (अर्थात् नरसिंह वर्मन् प्रथम) को जीतकर काँची पर काबू किया। गदवल के अनुदान-पत्र में कहा गया है कि उसने महामल्ल (अर्थात् नरसिंह-वर्मन् प्रथम) के परिवार और पल्लव-वंश का नाश कर दिया था। इन वर्णनों से स्पष्ट है कि अपने पिता के हाथ से छिन गये जिलों को वापस करने के लिए विक्रमादित्य प्रथम को कम से कम तीन पल्लव राजाओं से युद्ध करना पड़ा था। यह संघर्ष उसके गद्दी पर बैठने से कई साल पहले से लेकर उसके शासन-काल के आरम्भ के कई साल बाद, एक लम्बे अरसे तक, चलता रहा। बाद के दस्तावेजों में कहा गया है कि उसने पल्लव राजा को हराकर काँची का आत्मसमर्पण स्वीकार किया था, चोल, पांड्य और केरल राजाओं को परास्त किया था, और काँची के उन राजाओं को अपने आगे मस्तक झुकाकर प्रणाम करने के लिए विवश कर दिया था, जो उसके परिवार की अवमानना के जिम्मेदार थे। इस प्रकार विक्रमादित्य प्रथम तीन समुद्रों से घिरे सारे संसार का अधिपति बन गया था; तात्पर्य दक्षिण-भारत से है, जिसे बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिन्द महासागर घेरते हैं, और जिसे कभी कभी दूसरे दर्जे का चक्रवर्ती-क्षेत्र माना जाता था। कुछ अभिलेखों में विक्रमादित्य प्रथम द्वारा जीते हुए लोगों की सूची में कलभ्रों का भी नाम जोड़ा गया है। पुरालेखीय सुरक्षित विवरणों से ज्ञात होता है कि इस चालुक्य राजा को अपने बेटे विनयादित्य और पोते विजयादित्य से अत्यधिक सहायता मिली थी। विनयादित्य का दावा है कि उसने अपने पिता के आदेश पर **त्रै राज्य-पल्लव पति या त्रै राज्य काँची पति** की शक्ति या सेनाओं को आगे बढ़ने से रोक दिया था और सारे प्रान्त में शान्ति स्थापित करके अपने पिता को प्रसन्न कर दिया था; जबकि विजयादित्य के बारे में कहा गया है कि जब उसका पितामह दक्षिण में दुश्मनों से युद्ध कर रहा था, उसने अन्य

सारे दुश्मनों के जमघटे को समूल नष्ट कर दिया था। विनयादित्य की जीत को
के पल्लव राजा और उसके पड़ोसियों, चोल, पाँड्य और केरल के तीनों रा
विरुद्ध सफलता के रूप में पेश किया गया है।[1]

पल्लवों के विवरणों के अनुसार, राजा परमेश्वर वर्मन्-प्रथम ने वल्लभ (
विक्रमादित्य-प्रथम) की सेना को पेरुवलनल्लुर के युद्ध में हराकर, बिना कि
मदद के, चालुक्य राजा को, जिसके पास कई लाख सैनिकों की फौज थी, 'सि
फटा-चिथड़ा लपेट कर' मैदान से भागने के लिए मजबूर कर दिया था। इसके
कहा गया है कि पल्लव राजा ने रणरसिक (विक्रमादित्य-प्रथम) के नगर को,
चालुक्यों की राजधानी बादामि को,[2] बर्बाद कर दिया था। होन्नुर अनुदान-प
अनुसार[3] सन् ६७१ ई० में विक्रमादित्य काँची के पश्चिम में, मल्लियूर-ग्राम में
फौज का पड़ाव डालकर ठहरा था। विक्रमादित्य के **गदवल** वाले अनुदान-पत्र से
होता है कि वह अपने पिता के विजय-अभियान का अनुकरण करके आगे बढ़ता
कावेरी के दक्षिणी तट पर स्थित चोल राजधानी उरगपुर (तिरुचिरापल्ली के
आधुनिक उढैयूर) तक चला गया था, जहाँ २५ अप्रैल सन् ६७४ ई० को उसने
डाला था। इससे जान पड़ता है कि पल्लवों की शक्ति एक बार फिर अस्था
पर अवसन्न हो गयी थी। लेकिन कुछ लेखकों के अनुसार पल्लव राजा ने कुछ
नरेशों के साथ मिलकर, जिनमें पांड्य राजा कोच्चडैयन भी शामिल था, आखि
चालुक्यों को दक्षिणी भारत से निकाल बाहर करने में सफलता प्राप्त कर ली
लेकिन इस जमाने में पांड्य राजा पल्लवों के दुश्मन थे। इसलिए तिरुचिराप
निकट पेरुवलनल्लुर के युद्ध में चालुक्यों को हराने का पूरा श्रेय अकेले पल्लव रा
युद्धकौशल को ही देना चाहिए।

विक्रमादित्य-प्रथम के शासन-काल में उसके छोटे भाई धाराश्रय जयसिंह व
गुजरात क्षेत्र का वाइसराय नियुक्त किया गया था, जिसकी प्रान्तीय राजधानी
नवसारिक (नवसारि) में थी। नासिक के एक अनुदान-पत्र[4] के अनुसार,

---

१. उन विद्वानों से सहमत होना कठिन है जो कहते हैं कि विनयादित्य ने काँची के उ
राजा को हराया था, जिसके शासन के अन्तर्गत तीन राज्य थे, या जिसके राज्य के तीन
भाग थे।

२. कुछ विद्वानों के अनुसार पेरियपुराणम (शिडत्तोण्डर, छन्द ६) से निर्देशित होता है
चालुक्य राजा ने जब पल्लव देश पर चढ़ाई की थी, उस समय परमेश्वर वर्मन् ने अपने
शिडुत्तोण्ड को वातापि पर कब्जा करने के लिए भेज दिया। शायद चालुक्य राजा
विजयादित्य शिडुत्तोण्ड के सेनापतित्व में आयी पल्लव सेना को तितर-बितर करके भागने
रहा था। दुर्विनीत के उत्तराधिकारी गंग राजा भूविक्रम का यह दावा कि उसने पल्लव
(सम्भवतः परमेश्वर-वर्मन्) को मैसूर के तुम्कुर क्षेत्र में विलिन्द के युद्ध में हराया था,
चालुक्य-पल्लव संघर्ष की अवधि की ओर ही संकेत करता है। (इ. हि. क्वा. XXVIII,

३. आरक्यो. सर्वे मैसूर, १९३९, पृ. १३४।

४. इ. हि. क्वा. XX, ३५३ प. पृ.।

तारीख सन् ६६६ या ६८५ ई० है, जयसिंह वर्मन् ने मही और नर्मदा नदियों के बीच राजा वज्जड की समस्त सेना को नष्ट कर दिया था। वज्जड से स्पष्ट है कि यह अर्ध-संस्कृत नाम वजरट (जो शायद शुद्ध रूप में **वज्रभट** होगा) का प्राकृत अपभ्रंश है। राष्ट्रकूट अभिलेखों के अनुसार इस नाम (वजरट) के एक राजा को वादामि के चालुक्य सम्राटों की सेना ने हराया था। इस राजा की शिनाख्त अस्थायी रूप से वलभी के मैत्रक-वंश के राजा शीलादित्य तृतीय (सन् ६६२-८४ ई०) से की गयी है।[1] युवराज श्रयाश्रय शीलादित्य (सन् ६७०-९२ ई०) और उसके पिता धाराश्रय जयसिंह वर्मन् ने शायद विक्रमादित्य प्रथम की, पल्लव राजा महेन्द्र-वर्मन् द्वितीय के विरुद्ध युद्ध में सहायता की थी। गद्देमने अभिलेख में महेन्द्र नाम के एक राजा पर शीलादित्य की विजय का उल्लेख है और एक जेनरल पेत्तणि सत्यांक का हवाला मिलता है, जो वेड राजा के साथ युद्ध करते हुए मारा गया था।[2]

६. विनयादित्य और विजयादित्य

विक्रमादित्य प्रथम के वाद उसका "प्रिय" पुत्र विनयादित्य (सन् ६८१-९६ ई०) गद्दी पर वैठा। उसने शायद अपने पिता की मृत्यु से कुछ साल पहले ही सन् ६८१ ई० में शासन की वागडोर सँभाल ली थी। विनयादित्य के नाम के आगे श्री-पृथिवी-वल्लभ, सत्याश्रय और सम्भवतः राजाश्रय और युद्धमल्ल आदि **विरुद** लगते थे और उसने अपने पिता की साम्राज्यिक उपाधियाँ भी अपना ली थीं। अपने पिता के शासन-काल में कांची और उसके पड़ोस के तीन राज्यों के राजाओं से उसके युद्ध का हवाला पहले ही दिया जा चुका है। खुद उसके और उसके उत्तराधिकारियों के अनेक दस्तावेजों में उसको और भी वहुत सी विजयों का श्रेय दिया गया है। उसने पल्लवों, कलभ्रों, केरलों, हैहयों (कलचुरियों) विलों, मालवों (मलनाडु के मलवरैनों), चोलों, पाँड्यों तथा अन्य लोगों को हराकर दासता की उसी निम्न श्रेणी में रख देने का दावा किया है, जिस हैसियत में आलुवों (आलुपों), गंगों तथा दूसरों को रखा गया था, जो उसके परिवार के वंशानुगत नौकर-चाकर थे। और वाद के अभिलेखों में उसको इस बात का भी श्रेय दिया गया है कि उसने कामेर या कावेर (सम्भवतः कावेरी घाटी में), पारसीक (फारस) और सिंहल (श्रीलंका) आदि **द्वीपों** के राजाओं पर खिराज वाँध दी थी। हालाँकि यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है, लेकिन इस जमाने में सिंहल (श्रीलंका) और फारस में जो गड़वड़ फैली हुई थी, उसको देखते हुए यह असम्भव नहीं है कि श्रीलंका के किसी राजकुमार और फारस के किसी सरदार ने चालुक्य दरवार में आकर शरण

---

[1] ऊपर देखिए, पृ. १६६।

[2] ऊपर देखिए, पृ. १२०. पा. टि.।

ली हो ।[1] यह कहा गया है कि अपने पितामह की तरह विनयादित्य ने उत्तरापथ के अधिपति को, जिसका नाम नहीं बताया गया, हराकर पालिध्वज प्रभुसत्तात्मक चिह्न प्राप्त कर लिये थे। चालुक्य राजा के इस उत्तर-भारतीय शिनाख्त करना कठिन है। इस दुश्मन का नाम न देने से यह भी सूचित हो कि इस पुरालेखीय वर्णनांश का वास्तविक अर्थ शायद यह हो कि चालुक्य उत्तरभारत के कई छोटे-छोटे राजाओं पर विजय प्राप्त की थी।[2]

लगता है कि विनयादित्य के शासन-काल का अन्त दुर्भाग्यपूर्ण था। है कि चालुक्य राजा ने जब उत्तरापथ को जीतने का मन्सूबा बनाया, तो युवराज विजयादित्य ने अपने बाप के सामने (या उसकी उपस्थिति में) राजाओं को हराकर उनसे गंगा और जमुना के प्रतीक, **पालिध्वज**, दोनों **महाशब्द** के बिल्ले, हीरे-जवाहरात, हाथी तथा अन्य वस्तुएँ ले लीं और अपने भेंट कर दीं। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि युवराज विजयादित्य हटते हुए दुश्मनों ने गिरफ्तार कर लिया था। किसी प्रकार कैद से भागकर अपने देश में फैली अराजकता का सफलतापूर्वक दमन किया। इस विवरण संकेत मिलता है कि दुश्मनों के यहाँ पुत्र की गिरफ्तारी के दिनों में राजा की शायद मृत्यु हो गयी थी।

लाट क्षेत्र में वहाँ के वाइसराय धाराश्रय जयसिंह-वर्मन् की उसका बेटा श्र्याश्रय शीलादित्य एक अर्से तक प्रशासन में मदद करता रहा था। एक और वाइसराय सेन्द्रक परिवार का महाराज पोगिल्लि था, जो शासक था, जिस पर पहले कदम्बों का राज था।

विनयादित्य का "प्यारा" बेटा विजयादित्य (सन् ६९६-७३३), अपने बाद गद्दी पर बैठा। उसके विरुद थे : **सत्याश्रय, समस्त भुवनाश्रय** और **वल्लभ**, साथ ही जो साम्राज्यिक उपाधियाँ उसके बाप और उसके परबाबा के आगे लगायी जाती थीं वे सब भी उसके नाम के आगे लगायी जाती थीं। उसे **भट्टारक** (कन्नड़ में भटारा) की जगह **परम भट्टारक** भी कहा जाता था। यह माना जाता था कि विजयादित्य का शासन-काल शान्तिपूर्ण रहा।

---

[1] श्रीलंका में मानववर्मन, जो पल्लव राजा की शरण आया था, पुलकेशिन् खिलाफ लड़ा था। पल्लवों की मदद से उसने राजा हस्तदंष्ट्र द्वितीय को मारकर गद्दी प्राप्त मानववर्मन् ने सन् ६६८ ई० से ७०३ तक राज किया। अतः यह असम्भव नहीं कि प्रतिद्वन्द्वी ने चालुक्य राजा से मदद माँगी हो। उमर की खिलाफत के जमाने में (सन् अरबों ने फारस जीत लिया था लेकिन फारस साम्राज्य के नीम आजाद क्षत्रपों का पूरा में कुछ वक्त लगा था। खुरासान के पारसी उत्प्रवासियों की पहली बस्ती संजान में सन् ७३५ ई० में स्थापित बतायी जाती है। (अ. हि. इ. ४, पृ. ४४४)।

[2] ऊपर देखिए, पृ. १४८ जहाँ पर यह अनुमान पेश किया गया है कि विनयादित्य यशोवर्मन् था।

प्रतीत होता है कि उसका पल्लवों से युद्ध हुआ था। शायद उसने ही आक्रामक नीति अपनायी थी; कारण, उल्चल में जो प्रस्तर-लेख[1] मिला है, और जिस पर उसके शासन-काल के ३५वें वर्ष की तारीख है (अर्थात् सन् ७३०-३१ ई०), उससे ज्ञात होता है कि युवराज विक्रमादित्य ने काँची जीत लेने के बाद पल्लव राजा परमेश्वर-वर्मन् (द्वितीय) पर खिराज बाँध दी थी। जाहिर है कि यह उन तीन अभियानों में से पहला था, जो कहा जाता है कि, विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची के विरुद्ध चलाये थे।[2]

विजयादित्य ने बीजापुर में पट्टडकल के स्थान पर शिव का वह भव्य और शानदार मन्दिर बनवाया था, जिसे विजयेश्वर का नाम दिया था (आजकल उसका नाम संगमेश्वर है)। जैनों के प्रति वह बहुत सहिष्णु था और उसने जैन शिक्षकों को अनेक गाँव दान किये थे।[3] शायद उसकी एक छोटी वहन भी थी जिसका नाम कुंकुम महादेवी था, जिसने लक्ष्मेश्वर में अनेसेज्जेय—बसदि नाम का जैन-मन्दिर बनवाया था। बीजापुर जिले में महाकूट (प्राचीन मकूट) के मन्दिर पर उत्कीर्ण एक लेख में विजयादित्य की प्रेयसी विनापोटि नाम की एक राज-नर्तकी द्वारा, जिसे उसको "हृदय की रानी" कहा गया है, इस मन्दिर को दी गयी भेंटें दर्ज हैं।

विजयादित्य के शासन-काल में सन् ७३१-३२ ई० के लगभग लाट क्षेत्र का वाइसराय जयाश्रय मंगलराज था, जिसका कुल-नाम विनयादित्य और युद्धमल्ल था, जो युवराज श्र्याश्रय शीलादित्य का छोटा भाई था। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटों का वाइसराय परिवार, जिसकी चर्चा बाद में की जायेगी, चालुक्य साम्राज्य के उत्तरी भाग का शासक था।

७. विक्रमादित्य द्वितीय और कीर्तिवर्मन् द्वितीय

विजयादित्य के वाद उसका "प्यारा" बेटा विक्रमादित्य द्वितीय (सन् ७३३-३४ से ७४४-४५ ई०) उसका उत्तराधिकारी बना। उसके **विरुद** थे: सत्याश्रय और श्री-पृथिवी-वल्लभ इसके साथ ही सभी परम्परागत उपाधियाँ भी उसने धारण की थीं। कहते हैं कि उसका एक छोटा भाई भीम था। परवर्ती चालुक्य अपने आपको इस भीम का वंशज कहते थे। विक्रमादित्य की पटरानी का नाम महादेवी था। वह हैहय (कुलचरि) परिवार की लोक-महादेवी थी, जिसने पट्टडकल में लोकेश्वर नाम का महान् शिव-मन्दिर (जिसे आजकल विरूपाक्ष का मन्दिर कहते हैं) बनाया था। राजा ने मन्दिर का निर्माण करने वाले वास्तु-शिल्पी गुंड को, जिसका उपनाम अनिवारिताचार्य

---

[1] देखिए, **एंसिएंट इंडिया** सं. ५, पृ. ५४।

[2] इ. ऐ. X. १६४-६५।

[3] दो जाली अनुदान-पत्रों (कीलहार्न की सूची में नं. २६-३७) में एक जैन गुरु को राजा के पिता का पुरोहित बताया गया है, जिससे जाहिर होता है कि विनयादित्य जैन धर्म का अनुयायी था।

था, सम्मानित करने के लिए मूमे-पेर्जेरिपु पट्ट और त्रिभुवनाचार्य की उपाधि की थी। उसकी दूसरी रानी का नाम राज्ञी त्रैलोक्यमहादेवी था (जो लोक-महादे सह-विपितृज छोटी बहन थी), जिसने लोकेश्वर मन्दिर के निकट ही त्रैलोकेश्व का शिव-मन्दिर बनवाया था।

विक्रमादित्य द्वितीय के जमाने में भी पल्लवों से संघर्ष जारी रहा। कहा जा कि उसने अपने "स्वभाव शत्रु" पल्लवों का समूल नाश करने के इरादे से तुंड (अर्थात् पल्लव राज्य) पर अचानक आक्रमण किया था। यह भी कहा जाता है उसने परमेश्वर-वर्मन् प्रथम के पोते और परमेश्वर-वर्मन् द्वितीय के वारिस राजा नन्दिपोत वर्मन् अर्थात् नन्दिवर्मन् द्वितीय पल्लवमल्ल को युद्धभूमि से भगा बाद उसके **कटुमुख** और **समुद्रघोष** नाम के संगीत-वाद्य और खटवांग (गदा शीर्ष पर खोपड़ी का चिह्न था) **ध्वज**, हाथियों और लाल माणिकों पर कब्जा कर था। इसके बाद उसने कांची में प्रवेश किया, लेकिन उसे वर्वाद नहीं किया, राजसिंहेश्वर के मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों को जो परमेश्वर वर्मन् द्वितीय नरसिंह वर्मन् द्वितीय के बनवाये हुए थे, ढेर का ढेर सोना दान किया। इसके चालुक्य राजा ने पांड्य, चोल, केरल और कलभ्र तथा अन्य राजाओं को ह दक्षिणी सागर के दक्षिण तट पर अपना विजय-स्तम्भ वनवाया। कांची पर विक्रम द्वितीय की विजय का उल्लेख केवल चालुक्य दस्तावेजों में ही नहीं मिलता, कांजीवरम के राजसिंहेश्वर मन्दिर में चालुक्य सम्राट के अभिलेख के एक टुक मौजूदगी से भी प्रमाणित होता है। कहा जाता है कि लोक-महादेवी से उत्पन्न विक्र दित्य का पुत्र कीर्तिवर्मन् द्वितीय भी इस "खान्दानी दुश्मन" के विरुद्ध अभिया शामिल हुआ था। कांची का पल्लव राजा जव खुले मैदान में युद्ध करने में अ रहा, तो उसने भागकर किले में शरण ली। शत्रु की शक्ति नष्ट करने के वाद, चा युवराज ने अनेक हाथी, लाल-माणिक और ढेर का ढेर सोना लूट में प्राप्त किया उसने अपने पिता को भेंट किया।

विक्रमादित्य द्वितीय के नरवन अनुदान-पत्र में, जिसकी तारीख सन् ७४३ ई० चालुक्य राजा द्वारा रत्नागिरि जिले में एक गाँव के दान का विवरण है जिसे अपने सहायक, राष्ट्रकूट शिवराज के बेटे, गोविन्दराज की प्रार्थना पर दिया था। अनुदान-पत्र उस समय जारी किया गया था, जब वह आदित्य वाटिका (सातारा का ऐतवाड) में पड़ाव कर रहा था। यह सामन्त (गोविन्दराज) शायद सात रत्नागिरि क्षेत्र का गवर्नर था। इस तरह आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वादा सम्राटों के कमजोर शासन के कारण दक्षिणापथ के उत्तरी भाग में राष्ट्रकूटों के परिवार धीरे धीरे शक्तिशाली होते जान पड़ते हैं।

विक्रमादित्य द्वितीय के शासन-काल में ताजिकों या अरबों के जबर्दस्त हमले उसके उत्तरी क्षेत्रों के वाइसराय अवनिजनाश्रय पुलकेशिन् ने, जो जयाश्रय मंगल

चालुक्य का छोटा भाई और उत्तराधिकारी था, विफल कर दिया ।[1] इस सफलता के लिए राजा ने अवनिजनाश्रय पुलकेशिन् को **दक्षिणापथ-स्वाधारण** और **अनिवर्तक-निवर्तयितृ** आदि उपाधियों से विभूषित किया । इसके कुछ साल बाद लाट पर राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग ने कब्जा कर लिया । लगता है कि उसने चालुक्यों के वाइसराय परिवार का खात्मा कर दिया था ।

विक्रमादित्य द्वितीय के बाद उसका "प्यारा" बेटा कीर्तिवर्मन् द्वितीय (सन् ७४४-४५ से ७५७ ई०)[2] गद्दी पर बैठा । उसके **विरुद** थे सत्याश्रय और नृपसिंह, तथा वह चालुक्य सम्राटों की **वल्लभ** तथा अन्य सभी उपाधियाँ भी अपनाये हुए था । उसने तुंगभद्रा के तट पर स्थित रामेश्वर **तीर्थ** के लिए अनुदान दिया था ।

८. बादामि के चालुक्य-राज्य का अन्त

परवर्ती चालुक्यों के विवरणों के अनुसार बादामि के चालुक्यों का साम्राज्य कीर्तिवर्मन् द्वितीय के शासन-काल में विघटित हो गया और आठवीं शताब्दी के मध्य में उनकी राजसत्ता राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग के हाथों में चली गयी, जो दन्तिवर्मन् द्वितीय के नाम से भी प्रसिद्ध है । दन्तिदुर्ग के एल्लोर अनुदान-पत्र से, जिसकी तारीख सन् ७४२ ई० है, ज्ञात होता है कि उस समय तक यह राष्ट्रकूट शासक अपने **महासामन्ताधिपति** जैसे गौण पद और **समधिगत पंचमहाशब्द** जैसे विरुद से ही सन्तुष्ट था । लेकिन अनुदान-पत्र में अपने चालुक्य अधिराज का कोई हवाला न देने से ज्ञात होता है कि वह उस समय भी स्वाधीन बनने का आकांक्षी था । लेकिन सन् ७५४ ई० के समंगद वाले अनुदान-पत्र से स्पष्ट है कि उस तारीख तक चालुक्य साम्राज्य के उत्तरी प्रान्तों पर राष्ट्रकूटों का पूरा अधिकार हो चुका था । समंगद के तथा अन्य अभिलेखों में दन्तिदुर्ग के नाम के आगे **महाराजाधिराज परमेश्वर** और **परमभट्टारक** जैसी साम्राज्यिक उपाधियाँ ही नहीं लगाई गयीं, बल्कि उनमें कहा गया है कि उसने वल्लभ, अर्थात् चालुक्य सम्राट कीर्तिवर्मन् द्वितीय को हराकर परम प्रभुसत्ता प्राप्त की थी । दन्तिदुर्ग को उस कर्णाटक सेना का (अर्थात् चालुक्यों की सेना का) विजेता भी कहा गया है, जिसने पहले काँची के अधिपति, केरल, चोल, और पांड्य राजाओं, विख्यात हर्षवर्धन और वजरट को हराया था । दन्तिदुर्ग के इस दावे की, कि उसने काँची के पल्लव राजा को जो निश्चय ही नन्दिवर्मन् द्वितीय ही था, पराजित किया था, पुष्टि इस बात से भी होती है कि पल्लव राजा ने राष्ट्रकूट राजा के नाम पर अपने बेटे का नाम भी दन्तिवर्मन् रखा था (जो पल्लवों की वंशावली में एक अपवाद है) । इतने सुदूर दक्षिण में भी सफलता पाने से लगता है कि राष्ट्रकूटों की सत्ता चालुक्य साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्तों तक फैली थी और कीर्तिवर्मन् द्वितीय, जिसकी सत्ता अब केवल उसके गृह-प्रदेश तक सीमित हो गयी थी, दन्तिदुर्ग का आधिपत्य मानने के लिए मजबूर

---

[1] देखिए, पृ. १७६ ।

[2] कीर्तिवर्मन् द्वितीय के राज्यारोहण की तारीख के लिए देखिए, ई. इ. IX. ०२२ ।

हो गया था । कीर्तिवर्मन् के वक्कलेरि वाले अनुदान-पत्र में, जिसकी २ सितम्बर सन् ७५७ ई० है, धारवार जिले के आधुनिक हंगल-क्षेत्र में एक गाँव का अभिलेख है । उस समय चालुक्य राजा भीमरथी (भीमा) के उत्तरी ठहरा था, जो आधुनिक शोलापुर जिले में है । इससे यह अनुमान हो सकता दन्तिदुर्ग की मृत्यु के फौरन बाद कीर्तिवर्मन् द्वितीय ने अपने परिवार के साम्राज्य पर पुनः अधिकार करने की कोशिश की थी । लेकिन कुछ दिनों के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम ने उसका तख्ता उलट दिया । इसके बारे में कहा कि वह "चालुक्यों की सम्पदा जवर्दस्ती छीनकर लहराते हुए पालिध्वजों की पहने चला गया" और "उसने विशाल वराह को (चालुक्यों का राजचिह्न) युद्ध के लिए पागल होकर उस पर आक्रमण किया था, कावू में करके हिरन के बदल दिया था ।" कुछ अभिलेखों में कहा गया है कि उसने राहप (राहप्प या को जीतकर परम प्रभुसत्ता प्राप्त की थी, जो असंख्य पालि-ध्वजों से अलंकृत चालुक्यों और राहप, इन दोनों के सम्बन्ध में परम-प्रभुसत्ता और **पालि-ध्वज** के से यही निर्दिष्ट है कि चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन् द्वितीय का ही दूसरा नाम था ।

विक्रमादित्य प्रथम और उसके उत्तराधिकारियों का राज्य उत्तर में गुज लेकर दक्षिण में नेल्लोर जिले तक फैला था । लेकिन पल्लवों से उनके संघर्ष ने दक्षिण में निरन्तर उलझाये ही नहीं रखा बल्कि उनकी शक्ति भी क्षीण कर दी इसीलिए उत्तर के प्रान्तों पर उनका कब्जा शिथिल हो गया, जिससे वहाँ के धीरे-धीरे नीम आजाद या अर्ध स्वतन्त्र राजाओं की तरह शासन करने लगे। एक वाइसराय द्वारा चालुक्य सम्राट का तख्ता उलट दिये जाने के मुख्य कारण ये ही

११. पूर्वी चालुक्य

हम पहले देख चुके हैं कि बादामि के राजा पुलकेशिन् द्वितीय का एक छोटा था, जिसका नाम विष्णुवर्धन या कुब्ज-विष्णुवर्धन् था, जिसे पृथिवी-दुवराज (पृथिवी युवराज या पृथिवी-वल्लभ-युवराज) भी कहते थे । वह सन् ६३१ ई० के भग अपने बड़े भाई के साथ पूर्वी तट के देशों के विरुद्ध लड़ने के लिए गया था। ६१७-१८ ई० के सातारा अनुदान-पत्र में विष्णुवर्धन ने अपने आपको युवराज है और बादामि के राजा का 'प्यारा' छोटा भाई होने का दावा किया है। इस के अनुसार इस युवराज ने, जब वह कुरुमरथी में था, कुछ ब्राह्मणों को भीमर दक्षिणी तट पर स्थित अलन्दतीर्थं नाम का गाँव (सातारा से ३५ मील उत्तर अलुन्दह) दान किया था । इससे जाहिर है कि विष्णुवर्धन को पुलकेशिन् द्विती शासन-काल के आरम्भ में ही **युवराज** बना दिया गया था और सन् ६१७-१८ ई करीव वह दक्षिणी महाराष्ट्र में वाइसराय था। **अवन्ति सुन्दरी कथासार** में एक परम्परा में कहा गया है कि काँची का पल्लव राजा सिंहविष्णु (अर्थात्

वर्मन् प्रथम), नासिक क्षेत्र का **नरेन्द्र** विष्णुवर्धन और राजा दुर्विनीत (अर्थात् इस नाम का गंग राजा) समकालीन थे । इससे यह भी सूचित हो सकता है कि **युवराज** विष्णुवर्धन ने कुछ समय तक उत्तरी महाराष्ट्र पर भी वाइसराय की हैसियत से शासन किया था, या कि उसके द्वारा शासित प्रान्त के अन्तर्गत सातारा से नासिक के बीच का सारा क्षेत्र भी था ।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है,[1] सन् ६३१ ई० से कुछ पहले ही पुलकेशिन् द्वितीय ने पिष्टपुर के राजा और विष्णुकुंडी राजा विक्रमेन्द्र-वर्मन् द्वितीय को हराकर विष्णुवर्धन को इन नये विजित प्रदेशों का, जो समुद्र-तट के साथ साथ विशाखापट्टम जिले से लेकर नेल्लोर जिले तक फैले हुए थे, वाइसराय नियुक्त किया था लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि पुलकेशिन् द्वितीय जैसे ही लौटकर बादामि पहुँचा, विष्णुवर्धन ने **महाराज** की पदवी अपना ली और वह वादामि का हवाला दिये बगैर ही एक स्वतन्त्र शासक की तरह राज करने लगा । इस प्रकार वह आन्ध्रदेश के पूर्वी चालुक्य वंश का संस्थापक बन गया । विष्णुवर्धन को, जो विष्णुवर्धन् प्रथम के नाम से प्रसिद्ध है, मकरध्वज, विषमसिद्धि और विट्टरस, जो संस्कृत शब्द विष्णुराज का कन्नड़ रूप है, नामों से भी पुकारा जाता था । उसका राज्य कहाँ से कहाँ तक फैला था, इसका अनुमान कोप्परम् के अनुदान-पत्र तथा उसके उत्तराधिकारियों के अनुदान-पत्रों से होता है । विष्णुवर्धन प्रथम के तिम्मपुरम् और चिपुरुपल्ले वाले अनुदान-पत्रों में, जिन्हें उसने अपनी राजधानी पिष्टपुर से जारी किया था, विशाखापट्टम जिले के प्लकि और डिमिल **विषयों** में भूमि के दान का विवरण दिया गया है । प्लकि विषय प्राचीन नगर चेरुपुर के गिर्द के क्षेत्र को कहते थे, जिसका आधुनिक नाम चितुरुपल्ले है, और जो उसी नाम के **तालुक** का मुख्य नगर है, जवकि डिमिल आजकल का गाँव दमिले है, जो सर्वसिद्धि **तालुक** में है । विष्णुवर्धन ने अपने एक सहायक को, जिसका नाम बुद्धवर्मन् था और जो **चतुर्थ आभिजन** अर्थात् शूद्र जाति का था और दुर्जय-वंश का संस्थापक था, गिरि-पश्चिम क्षेत्र या "पहाड़ी से पश्चिम" के क्षेत्र का गवर्नर नियुक्त किया था । कहते हैं कि इस क्षेत्र में ७३ गाँव थे, जिनकी स्थिति गुन्टूर जिले के सत्तेनपल्ले **तालुक** में बतायी गयी है । विष्णुवर्धन की रानी अय्यण-महादेवी ने विजवाड, अर्थात् विजयवाड (आधुनिक बेजवाडा) में एक जैन-मन्दिर के लिए भूमि का अनुदान-पत्र जारी किया था ।

विष्णुवर्धन प्रथम का एक सेनापति, जिसका नाम कालकम्प था, पट्टवर्धिनी परिवार का था और दद्दर की लड़ाई में मारा गया था । दद्दर कहाँ पर था, इसकी ठीक से शिनाख्त नहीं हो सकी है । एक श्रुति-परम्परा के अनुसार पूर्वी चालुक्य-वंश का संस्थापक बड़ा विद्याप्रेमी था और **किरातार्जनीय** का विख्यात कवि भारवि उसके आश्रय में रहता था ।

---

[1] देखिए पृ० २६६ ।

पूर्वी चालुक्य-वंश के परवर्ती शासकों के विवरणों के अनुसार विष्णुवर्धन ने अठारह साल तक वेंगी देश पर राज किया था। सम्भवत: यह वक्तव्य उस काल ओर संकेत करता है, जब पूर्वी चालुक्यों की राजधानी पिष्टपुर से बदलकर वें चली गयी थी, और वहाँ से भी बदलकर राजमहेन्द्री या राजमहेन्द्रपुर में, जिसे द्वितीय (सन् ९४५-७० ई०) ने बसाया था, जिसका दूसरा नाम राजमहेन्द्र था, गयी थी। चिपुरुपल्ले का अनुदान-पत्र विष्णुवर्धन ने एक चन्द्रग्रहण के अवसर पर किया था, जब वह खुद एक स्वतन्त्र **महाराज** था और **बादामि** के राजा का अ शासक नहीं था। इस अनुदान-पत्र की तारीख उसके अपने शासन-काल के अठा साल के चौथे महीने की पन्द्रहवीं तिथि है। विद्वानों का विचार है कि ईसवी सन् यह तारीख ७ जुलाई सन् ६३२ के बराबर होगी, लेकिन हाल में यह मत भी किया गया कि यह तारीख सन् ६४१ या ६५० ई० में भी पड़ सकती थी। इस प्र विष्णुवर्धन के शासन-काल के इन १८ वर्षों को विभिन्न लेखकों ने सन् ६१५-३३ या ६ ४१ या ६३३-५० ई० सुझाया है। पूर्वी चालुक्य-वंश के परवर्ती शासकों के इस वक्तव्य बावजूद कि विष्णुवर्धन ने १८ साल तक वेंगी देश पर राज किया था, ऐसा प्रतीत हो है कि पिरुपल्ले वाले अनुदान-पत्र में उल्लिखित उसके शासन-काल के १८ वर्षों की ग उसके **युवराज्याभिषेक** के समय से की गयी है, जिसके बारे में हमें ज्ञात है कि वह ६१७-१८ से कुछ पहले ही सम्पन्न हुआ था। वाइसराय या अधीन शासक अनुदान-पत्रों पर अक्सर अपने व्यक्तिगत शासन-काल की तारीख डालते थे, चाहे बीच उनका तबादला एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के लिए क्यों न हो गया हो, यही शायद रेवती-द्वीप के सत्याश्रय-ध्रुवराज-इन्द्रवर्मन् के गोआ वाले अनुदान-पत्र से निर्दिष्ट है, जिसकी तारीख शक-संवत् ५३२ (सन् ६१० या ६११ ई०) है और उसके शासन के २०वें वर्ष में जारी किया गया था जबकि रेवती द्वीप में उसकी निर्यु किसी भी प्रकार मंगलेश (सन् ५९७-९८ से ६१०-११ ई०) द्वारा उस प्रान्त कब्जा करने से पहले नहीं हो सकती थी।[1] जो वाइसराय या अधीन शासक बाद चलकर स्वतन्त्र हो जाते थे, वे आमतौर पर उस दिन से अपने शासन-काल की गि करते थे, जबसे उनके वास्तविक प्रशासन का आरम्भ होता था, न कि अपने स्वतन्त्र शासन की तारीख से। अक्सर इन दोनों स्थितियों के बीच कम या ज्यादा लम्बे तक व्यावहारिक रूप में स्वतन्त्रता या अर्ध-स्वतन्त्रता की स्थिति चलती रहती थी और स्वतन्त्र राज्य की पदवी पाने की कोई निश्चित तारीख नहीं होती थी। विष्णुवर्धन अपने १८ साल चाहे उस तारीख से ही गिने हों जब वह पिष्टपुर का वाइसराय नि हुआ था, तो भी यह तारीख किसी भी रूप में सन् ६२४ या ६३३ ई० से नहीं गि जा सकती, क्योंकि कोप्परम के अनुदान-पत्र के अनुसार, उस क्षेत्र पर सन् ६३०- ई० के करीब कब्जा किया गया था। इसलिए ज्ञात तथ्यों के आधार पर यह अधि

---

[1] ऊपर देखिए पृ० २६५।

संगत लगता है कि उसका शासन-काल सन् ६१५-६३३ ई० तक माना जाय, यद्यपि इसका यह अर्थ होगा कि उसने मरने से पहले आन्ध्रदेश में सिर्फ चार साल ही राज किया था। इस बारे में तब तक कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता जबतक और प्रमाण उपलब्ध न हो जायें। लेकिन इस तथ्य से कि विष्णुकुंडी राजा माधव वर्मन् प्रथम (सन् ५३५-८५) की जरावस्था और विष्णुवर्धन् के उत्तराधिकारी के शासन-काल के आरम्भिक वर्षों के बीच आधी सदी का अन्तराल था,[1] पूर्वी चालुक्यवंश के संस्थापक के बारे में सन् ६२४-४१ या सन् ६३३-५० ई० की तारीखों की पुष्टि नहीं होती।[2]

विष्णुवर्धन प्रथम के बाद उसका बेटा **महाराज** जयसिंह प्रथम (सन् ६३३-६३ ई०) गद्दी पर बैठा। उसे पृथिवी वल्लभ, सर्वसिद्धि और पृथिवी-जयसिंह (अर्थात्-पृथिवी-वल्लभ-जयसिंह) भी पुकारा जाता था। बाद के दस्तावेजों में अमतौर पर कहा गया है कि उसने ३३ वर्ष तक राज किया था, लेकिन कुछ केवल ३० वर्ष ही बताते हैं। यह फर्क शायद इसलिए पैदा हुआ है कि अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में राज्य का प्रशासन वस्तुतः उसके भाई इन्द्रवर्मन् के हाथ में था। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पल्लवों ने सन् ६४२ ई० के लगभग पुलकेशिन् द्वितीय को हराकर उसके साम्राज्य के दक्षिणी भाग पर कब्जा कर लिया था, जिसमें बादामि का राजधानी-नगर भी था। इसके बाद जो लम्बा युद्ध चला, उसमें लगता है कि जयसिंह ने अपने संकटग्रस्त रिश्तेदारों की कोई मदद नहीं की थी।

जयसिंह प्रथम के बाद उसका भाई **महाराज** इन्द्रवर्मन् (सन् ६६३ ई०) गद्दी पर बैठा। उसे इन्द्रराज, इन्दुराज और इन्द्रभट्टारक नामों से भी जाना जाता था और उसके विरुद थे: सिंहविक्रम और त्यागधेनु। इस परिवार के परवर्ती दस्तावेजों के अनुसार, इन्द्रवर्मन् ने केवल एक सप्ताह तक राज किया था, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि अपने भाई जयसिंह प्रथम के आखिरी दिनों में उसके हाथ में बहुत कुछ प्रशासनिक शक्ति थी। उसका एक सामन्त आर्याहू परिवार का एक कोंडीवर्मन् था, जो शायद राजा के बेटे का मित्र था, जिसका नाम भी इन्द्रवर्मन् था।

---

[1] देखिए पृ० २३७।

[2] हाल में एक अनुदान-पत्र मिला है। यह माना जाता है कि उससे कुब्ज-विष्णुवर्धन के शासन काल के आरम्भ की सन् ६२४ ई० वाली तारीख का समर्थन होता है। (देखिए एंशिएंट इण्डिया, जनवरी १९४९, पृ० ४९) डा० **वेंकटरमणयम्** ने अपनी नयी पुस्तक 'दि ईस्टर्न चालुक्याज ऑफ वेंगी', मद्रास, १९५० में इस तारीख को पूर्वी चालुक्यों के शासन-काल के आरम्भ की तारीख माना है, लेकिन उन्होंने यह बिल्कुल ठीक ही कहा है: "फिर भी वह नहीं मान लेना चाहिए कि इससे पूर्वी चालुक्यों के कालानुक्रम की समस्या अन्तिम रूप से हल हो जाती है। हालांकि पहले के चालुक्य अभिलेख इस तारीख से आमतौर पर सहमत हैं, लेकिन कुछ तथ्य इसके विरुद्ध जाते हैं और मन में यह सन्देह पैदा करते हैं कि एक सन्तोषजनक समाधान अभी तक नहीं प्राप्त हुआ।" (पू.पु., पृ० ५६) पूर्वी चालुक्य-वंश की स्थापना की यह तारीख (सन् ६२४) सबसे पहले बी. वी. कृष्ण राव ने सुझायी थी। ज. आ. हि. रि. सो. IX, भाग ४, पृ० १-३२)।

इन्द्रवर्मन का उत्तराधिकारी उसका बेटा विष्णुवर्धन द्वितीय था (सन् ६६३- जिसके विरुद थे : विषमसिद्धि, मकरध्वज तथा प्रलयादित्य। उसने नौ साल त किया। उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के अधिकांश दस्तावेजों में उसे इ का बेटा बताया गया है। लेकिन अपने एक अभिलेख में उसने अपने आपको प्रथम का बेटा कहा है। ऐसा गलती से लिखा गया है, या विष्णुवर्धन द्वितीय को चाचा अपने दत्तक पुत्र की तरह मानता था, यह कहना कठिन है। उसके वाद पुत्र मंगी-युवराज (सन् ६७२-९६ ई०) उत्तराधिकारी बना। वह विजयसिद्धि सर्वलोकाश्रय कहलाता था और उसने २५ साल तक राज किया।

राजा सर्वलोकाश्रय विजयसिद्धि या मंगी-युवराज के अनेक पुत्र थे, जिनमें द्वितीय (सन् ६९६-७०९ ई०) उसका उत्तराधिकारी वना। उसके उपनाम लोकाश्रय और सर्वसिद्धि थे और उसने तेरह वर्ष तक राज किया था। लेकिन नये के भाई विजयादित्य वर्मन् ने, जो आरम्भ में शायद मध्यम कलिंग का वाइसराय था जिसका प्रान्तीय मुख्यालय एलमाँची (विशाखापट्टम जिले के सर्वसिद्धि ताल आधुनिक येल्लमंचिलि) था, **महाराज** की पदवी अपनाकर जयसिंह द्वितीय की अ का जुआ उतार फेंका। विजयादित्यवर्मन् की मृत्यु के बाद मध्य-कलिंग की ग उसका बेटा **महाराज** कोकुलि या कोकिलि वर्मन् बैठा, जिसे अनिवारित और सर्वलो भी कहा जाता था।

जयसिंह द्वितीय की मृत्यु के वाद उसके छोटे सौतेले भाई कोक्किलि या को विक्रमादित्य ने गद्दी पर कब्जा कर लिया। उसका उपनाम विजयसिद्धि था उसने कुल छः महीने तक राज किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने स्वल्प काल में ही उसने अपने नामराशि भतीजे से मध्यम-कलिंग का प्रदेश जीत लिया लेकिन जल्द ही राजा कोकुलि विक्रमादित्य को उसके बड़े भाई विष्णुवर्धन् (सन् ७०९-४६ ई०) ने गद्दी से उतार दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ तक मध्यम-कलिंग पर कोकुलि विक्रमादित्य के बेटे, अपने दादा के नामराशि युवराज, का कब्जा बना रहा था।

विष्णुवर्धन तृतीय ने निम्न उपनाम धारण किये थे : समस्तभुवनाश्रय, त्रिभुवनां और विश्वसिद्धि। उसने ३७ वर्ष तक राज किया। वह मध्यम-कलिंग को जी पुनः अपने राज्य में मिलाने में सफल रहा। शक संवत् ६८४ (सन् ७६२ ई०) तारीख के मुसिनिकोंड अनुदान-पत्र में एक जैन मन्दिर को, जिसे कुब्ज-विष्णुवर्धन रानी अय्यण-महादेवी ने बिजवाड (आधुनिक बेजवाड) में बनवाया था, एक गां दान का विवरण है। यह अनुदान-पत्र राजा विष्णुवर्धन् तृतीय ने जारी किया लेकिन इसको कार्यान्वित उसकी रानी ने किया था। यह मत प्रकट किया गया है विष्णुवर्धन् प्रथम के पुराने अनुदान-पत्र को ही इस अनुदान-पत्र के रूप में दो जारी किया गया था और यद्यपि विष्णुवर्धन् तृतीय ने सन् ७४६ ई० में ही गद्दी दी थी, वह सन् ७६२ ई० तक जिन्दा रहा था। यह भी नामुमकिन नहीं है कि

अनुदान-पत्र को नये सिरे से दोबारा जारी किया गया बताया जाता है, उसे दरअसल उसके उत्तराधिकारी ने जारी किया हो। एक दूसरे अनुदान-पत्र में, जो विष्णुवर्धन तृतीय के शासन-काल के २३वें वर्ष में जारी किया गया था, एक भूमि-दान का विवरण है, जो मधिनदुवराज की बेटी पृथिवीपोथी ने किया था। यह मधिनदुवराज तत्कालीन राजा के पिता मंगी-युवराज के अलावा और कोई नहीं हो सकता। मधिन-दुवराज को पल्लव राजकुमार महेन्द्र वर्मन् तृतीय (परमेश्वर वर्मन् द्वितीय का भाई) से अभिन्न मानना संगत नहीं लगता। यह शब्द **दुवराज** दरअसल संस्कृत शब्द **युवराज** का द्रविड़ रूप है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुवर्धन तृतीय के शासन-काल में पृथिवीव्याघ्र नाम के एक निपाद राजा ने, जिसने अश्वमेध यज्ञ के लिए घोड़ा छोड़ा था[1] पूर्वी चालुक्यों के राज्य के दक्षिणी भाग को, जो नेल्लोर जिले की उत्तरी सीमा से लगता है, अपने कब्जे में कर लिया था। कांची के पल्लव राजा नन्दिवर्मन् द्वितीय के उदयेन्दिरम् अनुदान-पत्र में उसके जेनरल उदयचन्द्र ने दावा किया है कि उसने निषाद राजा को परास्त कर दिया था और उसे **विषय** या विष्णुराज (अर्थात् विष्णुवर्धन तृतीय) के प्रदेश से निकालकर उस क्षेत्र को अपने मालिक के राज्य में मिला लिया था।

विष्णुवर्धन तृतीय के बाद विजयादित्य प्रथम (लगभग सन् ७४६-६४ ई०)[2] गद्दी पर बैठा, जो उसकी पटरानी विजय महादेवी से पैदा हुआ था। विजयादित्य प्रथम के विरुद थे : त्रिभुवनांकुश, विजयसिद्धि, शक्तिवर्मन् और विक्रमराम और उसने

---

[1] इ. ए., VIII. २७३, **वेंकटरमणयम** का मत है (पू० पु०, ७५-७६) कि यह घोड़ा नन्दिवर्मन् द्वितीय ने छोड़ा था और पूर्वी चालुक्यों के एक सामन्त ने, शायद अपने अधिराज की मदद से उसको पकड़ने की कोशिश की थी। उदयेन्दिरम अनुदान-पत्र में वस्तुतः यह लिखा है : **उत्तरस्याम-अपि दिशि प्र (पृ)थिवीव्याघ्रामिधा (ध)-निषद्पतिम् प्रबलायमानम-अश्वमेध-तुरंग मनुसरणमपतम-अनुश्रित्य,** आदि। इसमें कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता कि अश्वमेध-यज्ञ वास्तव में किसने किया था, लेकिन मेरा विचार है कि यह व्यक्ति पृथिवीव्याघ्र या उसका अधिराज रहा होगा, न कि पल्लव राजा। अगर नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल ने अश्वमेध यज्ञ किया होता तो इस अनुदान-पत्र में इस तथ्य को अधिक महत्त्व देकर लिखा गया होता और उसके बाद के पल्लव राजाओं के विभिन्न दस्तावेजों में भी उसका उल्लेख किया जाता। **निषदपति** जिसका प्रयोग पृथिवीव्याघ्र के लिए किया गया है, वह **निषधपति** भी हो सकता है और **निषादपति** भी। यह देखते हुए कि द्रविड़ भाषाओं की प्रवृत्ति अ-महाप्राण उच्चारण की ओर होती है, वह नामुमकिन नहीं है कि यह शब्द निषधपति ही हो। उस सूरत में हमें इस राजा को उस राजपरिवार के साथ जोड़ना होगा जो अपने आपको नल का वंशज कहता था, जो निषदों या निषधों का स्वामी है। रजिम के अभिलेख में एक नल राजा पृथिवीराज का उल्लेख हुआ है, लेकिन ऐसा लगता है कि वह पल्लवमल्ल का समकालीन नहीं, पूर्ववर्ती था।

[2] यह तारीख फ्लीट के बताये कालानुक्रम के अनुसार है। बी० वी० के० राव तथा अन्य विद्वानों ने सन् ७५५-७२ ई० की तारीख सुझायी है। (पू. पु., पृ. ३०-३१ के बीच दी गई तालिका)।

अठारह या उन्नीस वर्ष तक राज किया था । उसके जमाने में दक्षिण की राज महान परिवर्तन हुए । आठवीं सदी के मध्य में **बादामि** के चालुक्य सम्राटों को करके राष्ट्रकूटों ने सत्ता पर कब्जा कर लिया और फिर चालुक्यों के पूर्वी परिवार हमला बोल दिया । राष्ट्रकूटों और पूर्वी चालुक्यों के बीच चलने वाले लम्बे कहानी, जो पूर्वी चालुक्यों के भावी इतिहास की मुख्य घटना है, इस पुस्तक की जिल्द में बयान की जायेगी ।

परिच्छेद : १३

दक्षिण भारत के राजवंश

I. पल्लव

१. उत्पत्ति

पल्लवों की उत्पत्ति के बारे में लगभग आधी शताब्दी से विद्वानों में बहस चलती आ रही है। फिर भी इस विषय पर सबसे नयी पुस्तक के लेखक को खेद-पूर्वक कहना ड़ा है : "पल्लवों की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक एक पहेली बना हुआ है।[1] इस ारे में किसी भी मत की संगति जाँचने के लिए पहले इस समस्या के सारे पक्षों को स्तुत किया जा सकता है। पल्लवों के स्मारकों और अभिलेखों में उनको तोण्ड-ण्डलम् से सम्बद्ध किया गया है, जो उत्तर पेन्नर और उत्तर बेल्लार का क्षेत्र है, जिस पर काँची का शासन था। लेकिन तमिल-परम्परा में अपनी क्षेत्रीय सीमाओं के ाथ पल्लवों का राज्य उस प्रकार ज्ञात नहीं था, जिस प्रकार चोल, पाण्ड्य या केरल राज्य ज्ञात थे। अशोक के स्तम्भ लेखों में पल्लव राज्य का कहीं भी हवाला नहीं िलता। पल्लवों ने सबसे पहले अपने विवरण प्राकृत भाषा में जारी किये थे, और िर कुछ समय के बाद संस्कृत भाषा में; उन्होंने **धर्ममहाराज** और **अश्वमेधयाजिन** की पाधियाँ भी अपना ली थीं। प्रारम्भ में उनकी प्रशासनिक व्यवस्था सातवाहनों की वस्था के आधार पर थी, लेकिन अन्ततः वह कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में दी गयी वस्था से सम्बद्ध हो गयी थी। आरम्भ में वे संगम युग के तमिल शासकों से, जो मिल साहित्य को प्रोत्साहन और संरक्षण देते थे। बिल्कुल भिन्न थे। इसलिए यह नुमान किया जाता है कि तोंड-मंडलम् के पल्लव राजा मूलतः किसी और प्रदेश के निवासी थे। अतः उनके मूल निवास और वहाँ से स्थानान्तरण करके तोंड-मंडलम् में आ बसने के बारे में अनेक मत पेश किये गये हैं।

बी० एल० राइस और बी० वेन्कय्य आदि कुछ विद्वान् पल्लवों को उन पह्लवों ा पार्थियनों से अभिन्न मानते हैं, जिन्होंने सातवाहनों के पतन-काल में शकों के साथ ाकर सिन्धु घाटी और पश्चिमी भारत में बसने के बाद सातवाहनों के पतन-काल में ोंड-मंडलम् पर कब्जा कर लिया था। लेकिन वे काँची क्षेत्र में कैसे आये, इसकी

---

[1] राव, बी० वी० के०, ए हिस्टरी आफ दि अर्ली डाइनेस्टीज ऑफ आन्ध्रदेश, पृ० १३५ ।

कोई वस्तुनिष्ठ व्याख्या नहीं की जा सकती। साथ ही, कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार के महान् कवि और नाटककार राजशेखर ने, जो दक्षिण का निवासी था, और कृतियों का इसलिए भी अत्यधिक मूल्य है कि उनसे प्राचीन भारत के भूगोल पर प्रकाश पड़ता है, पल्लवों को दक्षिण भारत का और पह्लवों को सिन्धु पार का निवासी बताया हैं। इसके अलावा, पल्लवों के विवरणों में पह्लवों का कहीं नहीं आता। शक आदि विदेशी शासक अश्वमेध यज्ञ नहीं करते थे, और यह करना भी कठिन है कि पल्लव नाम धारण करके पह्लव लोग ही अश्वमेध के बन गये। हाल में पल्लवों की पार्थियन उत्पत्ति का समर्थन इस आधार पर है कि काँची के वैकुंठ पेरुमाल मन्दिर की एक मूर्ति के सिर पर हाथी के जैसा मुकुट है, वैसा ही, जैसा हिन्द-बैक्ट्रिया के राजा दमित्रियस के सिक्कों पर लेकिन इस तरह के तर्क से तो नागार्जुनीकोंडा के इक्ष्वाकुओं को भी शक सिद्ध किया जा सकेगा, क्योंकि उस स्थान के स्मारकों) में भी एक "शक-योद्धा मूर्ति मिली है। जूवो दूब्रियो (Jouveau-Dubreuil) के अनुसार रुद्रदामन् का पह्लव मन्त्री सुविशाख काँची के पल्लवों का पूर्वज था। इस विषय पर लिखने नवीनतम विद्वान् ने भी आमतौर पर इस मत का ही समर्थन किया है: "पल्लव के आप्रवासी थे, या ठीक ठीक शब्दों में कहें, दक्षिणा-पथ के कोंकण और प्रदेश से आये थे। कुन्तल और वनवास के मार्ग से दक्षिण भारत में पहुँचे थे।'[1] जायसवाल का विचार है कि पल्लव दरअसल वाकाटकों की एक शाखा थे, दोनों ही भारद्वाज **गोत्र** के ब्राह्मण थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि नागों के एक सामन्त वीरकूर्च के साथ एक नाग राजकुमारी का विवाह हुआ था।[2] विवाह-सम्बन्ध को जूवो द्रब्रियो (Jouveau-Dubreuil) ने भी रेखांकित लेकिन क्या वीरकूर्च सचमुच काँची के पल्लव-वंश का संस्थापक था? यह मत कि राजकुमार ने, जिसकी मां नागी थी, पल्लव राज्य की नींव डाली थी, ऊपर गई समस्या के आधार-वाक्यों को ही खंडित कर देता है। एस० कृष्णास्वामी का विचार है कि पल्लव वास्तव में सातवाहनों के सामन्त थे — उनके साम्राज्य दक्षिणी भाग के पदाधिकारी और गवर्नर आदि। वे पल्लव शब्द को तोण्डयर तोण्डमान (तोण्ड-मण्डलम् के लोग और शासक) के बराबर मानते हैं, और कहना है कि सातवाहन साम्राज्य के पतन के बाद, इन सामन्तों ने पुराने सामन्तों से अलग पल्लवों के एक नये वंश की स्थापना की।"[3]

विद्वानों ने यह मानकर कि काँची के पल्लव तोण्ड-मण्डलम् के लिए विदे जहाँ आकर उन्होंने इतनी ख्याति और प्रभुता प्राप्त की थी, पल्लवों के मूल स्थान की खोज में फारस से लेकर लंका तक के चक्कर काटे हैं। लेकिन प्रस्तुत

---

१. वही, पृ. १७३।

२. हि. इ. जा., पृ. १७९-८३।

३. हि. इ. जा., II. पृ. २५।

की राय में वे मूलतः तोण्डमण्डलम् के ही थे। यह स्थान अशोक के साम्राज्य का एक प्रान्त था और लगभग पचास साल तक इसने मौर्य-प्रशासन की सुव्यवस्था का उपभोग किया था और पुलिन्दवंशी जिसका नाम मौर्य-साम्राज्य के अधीन विभिन्न जातियों की सूची में मिलता है, शायद तोंड-मंडलम् के कुटुम्बों से अभिन्न थे। उनका नाम इस क्षेत्र के दो प्राचीन प्रादेशिक भागों, पुलिनाडु और पुलियूरकोट्टम में प्रतिबिम्बित है। राजसिंह के पायलूर स्तम्भ अभिलेख में ब्रह्मा से लेकर अश्वत्थामा तक के सात मिथिक पूर्वजों के नामों के बाद और अशोक के नाम से पहले पल्लव नाम का उल्लेख हुआ है। इसलिए यह तर्क दिया जा सकता है कि अशोक से पहले वहाँ एक पल्लव राजा मौजूद था। साथ ही, पल्लव शब्द को पलद का रूप-भेद मान सकते हैं। (अशोक के आदेश-पत्रों में कहीं कहीं पुलिन्द को पलद लिखा गया है) और हम उन्हें मौर्य-साम्राज्य के दक्षिणतम प्रदेश के निवासी मान सकते हैं।[1] अशोक की मृत्यु के बाद अपनी स्वतन्त्रता के काल में उन्होंने उसकी परम्परा को अवश्य ही जारी रखा था। ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की पहली शताब्दी तक तोंड-मंडलम् के महत्त्व की साक्षी पतंजलि और पन-कोउ और **मणिमेखलइ** के लेखक हैं। तमिल भाषा में पल्लव का रूपान्तर तोंडय्यर किया गया है। ईसा की दूसरी शताब्दी में करिकाल चोल ने तोंड-मंडलम् का पालार से दक्षिण का एक भाग जीत लिया था, लेकिन इससे काँची में मौर्यों द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था नष्ट नहीं हो सकी। उस शताब्दी में सातवाहनों का तोंडमंडलम् पर आधिपत्य हो जाने से यह व्यवस्था और मजबूत ही हुई। पल्लव सरदार सातवाहनों के सामन्त बन गये और जब सन् २२५ ई० के लगभग सातवाहनों की सत्ता का अन्त हुआ तो पल्लवों ने अपने गवर्नर के पद को स्वतन्त्र राजा के पद के रूप में परिवर्तित कर लिया। शिवस्कन्द वर्मन् पल्लव के मयिडवोलु और हीरहडगल्लि वाले प्राकृत भाषा में लिखे ताम्र-अनुदान-पत्रों से सिद्ध है कि उनकी सत्ता का काँची से लेकर कृष्णा नदी तक विस्तार हो गया था, और सातवाहनों से शिवस्कन्द-वर्मन् पल्लव के निकट सम्बन्धों को देखते हुए यह आश्चर्यजनक बात नहीं लगती कि उसने भी प्राकृत भाषा में ही अपने अनुदान पत्र जारी किये और **धर्ममहाराज** की उपाधि धारण की। काँची के पल्लव मूलतः तोंड-मंडलम के ही थे, इस मत के आधार पर ही उनके मूलनिवास की समस्या से सम्बन्धित तथ्यों की सबसे प्रामाणिक व्याख्या की जा सकती है। और वे तथ्य ये हैं कि उनके सबसे पहले दस्तावेज प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में हैं, तमिल में नहीं, और उनकी परम्पराएँ और प्रशासन-व्यवस्था, कम से कम आरम्भिक-काल में, दक्षिण भारतीय या तमिल प्रकृति की नहीं थी।

२. प्रारम्भिक इतिहास

पल्लवों के अभिलेख तीन प्रकार के हैं। प्राकृत भाषा में ताम्र-पत्र, जो पुरालेखीय आधार पर सन् २५०-३५० ई० के काल के माने जाते हैं; संस्कृत भाषा में ताम्र-पत्र

---

[1] भिन्न मतों के लिए देखिए, पा. हि. एँ, इ., २५८-५९।

जो सन् ३५०-६०० ई० के बीच के हैं; तथा आश्मिक और ताम्र-पत्र जो सदी के हैं। प्राकृत के स्थान पर संस्कृत का, और ताम्र-पत्रों के साथ-साथ पत्थ पटियों का प्रयोग किसी वंश-परिवर्तन के कारण नहीं किया गया है।

पल्लवों की प्रारम्भिक वंशावली और कालानुक्रम के प्रश्नों को लेकर में काफी तीव्र मतभेद है और इस परिच्छेद के परिशिष्ट में इस पर विस्तार से किया गया है। यहाँ केवल इतना बताना ही पर्याप्त होगा कि प्राकृत-भाषा[1] दान-पत्रों में शिवस्कन्द-वर्मन् समेत ऐसे कई राजाओं का नामोल्लेख है, जिन्होंने चौथी सदी के आरम्भ में राज किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक में शिवस्कन्द-वर्मन् ही सबसे महान शासक था और उसका राज्य कृष्णा दक्षिण पेन्नर और बेल्लेरी जिले तक फैला हुआ था। उसने **अश्वमेध** जैसे अनेक धर्मी यज्ञ किये थे और उसकी प्रशासन-व्यवस्था मौर्यों के ढंग की थी; ये तथ्य हीरहडगल्लि ताम्र-अनुदान-पत्र से स्पष्ट हैं।

विष्णुगोप प्राकृत अनुदान-पत्रों और संस्कृत अनुदान-पत्रों वाले राजाओं की कड़ी है। वह दक्षिणा-पथ के उन बारह राजाओं में था, जिन्हें समुद्रगुप्त ने था। **जूवो दूब्रियो** (Jouveau Dubreuil) के इस मत को फिर से स्थापित की निरर्थक कोशिश की जा रही है कि विष्णुगोप ने अन्य राजाओं से मिल समुद्रगुप्त को हराया था। यह मानने के लिए पर्याप्त कारण मौजूद हैं कि का अभियान केवल दण्डस्वरूप था और उसे पूरी सफलता मिली थी। विष्णु समय सन् ३५०-३७५ ई० अनुमानित किया जा सकता था।

संस्कृत-भाषा में लिखे अनुदान-पत्रों में सन् ३५०-५७५ ई० के बीच होने सोलह से अधिक राजाओं के नाम दिये गये हैं। इनमें से कुछ **युवमहाराज** थे, राजा नहीं बन सके। अपेक्षया कुछ बाद के उत्कीर्ण अभिलेखों से ज्ञात होता वीरकूर्च ने एक नाग राजकुमारी से विवाह किया था और गद्दी पर बैठा था; तथ्य का कुछ विद्वानों ने यह अर्थ लगाया है कि वीरकूर्च ने पल्लव-वंश की की थी। लेकिन इस बात का केवल यही अर्थ हो सकता है कि उसने इस सम्बन्ध के जरिए अपनी स्थिति मजबूत की, जो सम्भवतः समुद्रगुप्त के दक्षिणा अभियान के बाद कठिन हो चली थी। उससे अगला राजा स्कन्दशिष्य था, बारे में कहा जाता है कि उसने राजा सत्यसेन से काँची के ब्राह्मणों की घटिका ली थी। इस सत्यसेन को पश्चिमी क्षत्रप सत्यसिंह से अभिन्न माना जाता है सन् ३८८ ई० के लगभग शासन करता था। लेकिन वह पलक्क के उग्रसेन का भी हो सकता था, जो समुद्रगुप्त का विरोधी था। सन् ४३६ ई० में सिंह-वर्मन् गद्दी पर बैठा। उसने करीब ४५० ई० में हरि-वर्मन्[2] (पश्चिमी गंग) का

---

[1] हिस्ट्री, इ. पृ. ३७४-७५।

[2] उसे अय्य (या आर्य) -वर्मन् भी पुकारा जाता था।

किया, ताकि वाणों को हराया जा सके। सिंह-वर्मन् के अनुदान-पत्र काँची से नहीं बल्कि विभिन्न शिविरों से जारी हुए थे। यह तथा इसके साथ वह पुरालेखीय आधार-सामग्री ही, जिसके अनुसार उसके भाई कुमारविष्णु ने काँची पर पुनः कब्जा कर लिया था, उस मत के लिए जिम्मेदार है जो चोल अन्तराल की कल्पना करता है। लेकिन इस पर हम बाद में विचार करेंगे। सिंह-वर्मन् प्रथम के शासन के अन्त से लेकर सिंह-वर्मन् द्वितीय के शासन के अन्त (सन् ५७५ ई०) तक के काल की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस काल की सारी गड़बड़ी का मुख्य कारण यह था कि कलभ्रों ने आक्रमण करके तमिल देश पर अधिकार कर लिया था। फिर भी हम जानते हैं कि काँची ने, जो दक्षिण भारतीय बौद्ध-धर्म का आध्यात्मिक और बौद्धिक महानगर था, अदवण, अड़िगल, आर्यदेव, दिङ्नाग और धर्मपाल को जन्म दिया था। अवश्य ही बुद्ध-वर्मन् और अशोक-वर्मन् जैसे प्रारम्भिक पल्लव राजाओं ने वह राज-विहार स्थापित किया था, जिसका उल्लेख महेन्द्र-वर्मन् प्रथम के **मत्तविलास प्रहसन** में मिलता है।

३. सिंहविष्णु तथा महेन्द्र-वर्मन् प्रथम

सिंह-वर्मन् द्वितीय के पुत्र सिंहविष्णु **अवनिसिंह** (पृथ्वी का सिंह) को हम छठी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में रख सकते हैं। उसके साथ महान् पल्लव युग शुरू होता है, और उसे इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने पल्लवों को राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के शानदार पथ पर अग्रसर किया था। उसे चोल मंडलम् की विजय का श्रेय प्राप्त है। इस सफलता का दावा उसके बेटे और उत्तराधिकारी महेन्द्र-वर्मन् ने नहीं किया। सिंहविष्णु ने अपने अनेक दुश्मनों को हराया था, जिसमें से कलभ्र भी थे। दो अभिलेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि मद्रास से लेकर कुम्भकोणम् तक उसकी प्रभुसत्ता का विस्तार था। उसके पुत्र ने अपनी कृति **मत्तविलास-प्रहसन** में उसका गुणगान किया है। वह **किरातार्जुनीय** के रचयिता महान् संस्कृत कवि भारवि का आश्रयदाता था। महाबलिपुरम् और पत्थर पर उभारी उसकी और उसकी दो रानियों की आकृतियाँ मिलती हैं, और सम्भव है कि इस स्थान को कला का महान् केन्द्र बनाने के लिए उसने ही पहला कदम उठाया हो।

महेन्द्र-वर्मन् प्रथम **विचित्रचित्त** (ल. सन् ६००-६३०), जो सिंहविष्णु का पुत्र था, पल्लव-वंश के महानतम राजाओं में से था। उसके शासन-काल में ही पल्लव-चालुक्य संघर्ष का वह लम्बा दौर शुरू हुआ, जिसके कारण वे एक दूसरे को अपना जन्मजात शत्रु समझने लगे।[1] लगातार चलने वाली यह दुश्मनी उनके आक्रामक इरादों के कारण नहीं थी। प्रत्यक्षतः तो चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय (सन् ६१०-४२ ई०) ही आक्रामक था, लेकिन पल्लवों पर उसके आक्रमण का कारण आसानी से

---

[1] ऊपर देखिए, पृ. २६९।

समझा जा सकता है। उसके सन् ६३४ ई० के ऐहोले उत्कीर्ण लेख में कहा ग कि पल्लवों ने उसकी सत्ता में अभिवृद्धि का विरोध किया था। पल्लवों और कदम्बों निकट-सम्बन्धों के कारण और कदम्बों को उनके भूतपूर्व सामन्तों द्वारा अपदस्थ देने के फलस्वरूप, जो पुलकेशिन् द्वितीय के पूर्वज थे, पल्लवों और चालुक्यों की दुश्मनी के बीज पड़ गये थे। वेंगी पर चालुक्यों की विजय के बाद महेन्द्र-वर्मन् में हार गया। ऐहोले अभिलेख में कहा गया है कि पुलकेशिन् द्वितीय ने पल्लव राजा की सारी शान अपनी फौज की उड़ायी धूल से ढँक दी और उसे कांचीपुर प्राचीर के पीछे गायब होने के लिए मजबूर कर दिया।[1] यह विवरण महेन्द्र-वर्मन् उस विवरण का खण्डन नहीं करता, जिसमें उसने पूल्ललूर (कांजीवरम् के पुल्लुर) के युद्ध में विजय प्राप्त करने का दावा किया है। तो भी, पल्लव राज्य के उत्तरी क्षेत्र ही चालुक्यों के हाथ में चले गये थे। तिरुचिरापल्ली के गुफा-अभि से सूचित होता है कि दक्षिण में महेन्द्र-वर्मन् का राज्य कावेरी तक फैला हुआ जिसे "पल्लवों की प्रिय" नदी कहा गया है।

अपने परिवार के कुछ अन्य सदस्यों की तरह महेन्द्र-वर्मन् को भी उपाधियों बड़ा शौक था। उसके कुछ उपनाम इस प्रकार थे : **चेत्थकारि** (मन्दिर निर्मा **मत्तविलास** (शौक-मौज में रमने वाला) **चित्रकारप्पुलि** (चित्रकारों में शेर) **विचित्रचित्त** । महेन्द्र-वर्मन् ने संत अप्पर के प्रभाव में आकर अपना जैन धर्म दिया और शैव धर्म अपना लिया। उसने अनेक शैलकृत्त मन्दिर बनवाये। मंडगपत्तु (दक्षिण अकात जिला) अभिलेख इस प्रकार शुरू होता है : "यह बिना बिना लकड़ी, बिना धातु और बिना चूने का मन्दिर, जो ब्रह्मा, ईश्वर और का भवन है, राजा विचित्र-चित्त ने बनवाया।"[2] तिरुचिरापल्ली वाले उसके अभि में कहा गया है कि **लिंग** पूजा का समर्थक था और शैलकृत्त मन्दिर बनवाने का था। उसके बनवाये इस तरह के मन्दिर तिरुचिरापल्ली, वल्लभ (चिंगलपुत के नि महेन्द्रवाडि (अर्कोणम् के निकट) और दलवानूर (दक्षिण अकोत जिला) में आज मौजूद हैं। महेन्द्रवाडि में उसने एक प्रसिद्ध जलाशय (तालाब) खुदवाया था। वह शिव और विष्णु की उपासना को प्रोत्साहन देता था, लेकिन उसने पाटलि (कुड्डलूर, दक्षिण अकोत जिला) में एक जैन मन्दिर को तुड़वा दिया था; जब जैन धर्म का अनुयायी था, तब अन्य धर्मों के अनुयायियों का दमन करता था।

महेन्द्र-वर्मन् ने अपना **मत्तविलास प्रहसन** शैव और बौद्ध संन्यासियों की मूर्ख का मजाक उड़ाने के लिए लिखा था। शित्तण्णवाशल (पुदुकोत्तई राज्य) में गुफाओं के जैन-चित्रों[3] में नृत्यों के दृश्य हैं, और यह आमतौर पर माना जाता है

---

[1] ई. इ., VI ११।

[2] वही. XVII, १७।

[3] के. आर. श्रीनिवासन इन चित्रों को कुछ बाद के समय का बताते हैं। (प्रो. इ. हि. VII. १६८-७३)।

महेन्द्र-वर्मन् नृत्य कला का संरक्षक ही नहीं था, बल्कि उसने संगीत कला पर एक पुस्तक भी लिखी थी। उसके **चित्रकारप्पुलि** उपनाम से ही जाहिर है कि वह चित्र कला का संरक्षक था। संगीत से सम्बन्धित कुडिमियामलइ (पुदुकोट्टइ राज्य) का संस्कृत अभिलेख उसके आग्रह पर ही उट्टंकित गया था और ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह खुद भी एक निपुण संगीतकार था। इसके अलावा, उसकी उपाधि **विचित्रचित्त** उसकी बहुमुखी प्रतिभा और महानता का प्रतीक है। तिरुचिरापल्ली में उसकी जो मूर्ति स्थापित की गयी थी, वह अब नहीं मिलती, लेकिन महाबलिपुरम् में शिला पर तक्षित उसकी और उसकी दो रानियों की आकृति मौजूद है।

४. नरसिंह-वर्मन् प्रथम और परमेश्वर-वर्मन् प्रथम

महेन्द्र-वर्मन् प्रथम के बेटे नरसिंह-वर्मन् महामल्ल ने सन् ६३० से ६६८ ई० तक राज किया। उसके उपनाम से जाहिर होता है कि वह या तो बड़ा पहलवान था या बड़ा योद्धा। पल्लवों में वह सबसे महान् राजा हुआ है और उसकी सफलताओं ने उसे दक्षिण भारत में अपने समय का सबसे महत्त्वपूर्ण शासक बना दिया था। उसने काँची के निकट मणिमंगलम् की लड़ाई समेत तीन युद्धों में बादामि या वातापि के सबसे विख्यात चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय को हराया था। इसके बाद उसने आक्रामक नीति अपनाकर चालुक्य राज्य पर चढ़ाई के लिए अपने जेनरल शिडुतोंड नायनार को (जिसे कुछ विद्वान परवर्ती काल में रखते हैं) भेजा। सन् ६४२ ई० में चालुक्यों की राजधानी वातापि पर कब्जा कर लिया गया। पुलकेशिन् द्वितीय की मृत्यु हो गयी और उसके बाद १३ वर्षों तक वहाँ राजनीतिक अराजकता फैली रही। इस बीच लगता है कि चालुक्य साम्राज्य के दक्षिणी भाग पर पल्लवों का कब्जा था।[1] बादामि के मल्लिकार्जुन मन्दिर के पीछे एक शिला पर अपनी सफलताओं का विवरण उत्कीर्ण करवाकर पल्लव जेनरल लूट का अपार सामान लेकर वातापि से लौट गया। इस प्रकार नरसिंह-वर्मन् ने खुद अपने पिता को, और थानेश्वर तथा कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन को, हराने वाले चालुक्य सम्राट पर इतनी शानदार विजय प्राप्त की थी। उसने वातापिकोण्ड (वातापि का विजेता) की उपाधि धारण की, जो सर्वथा उचित थी।

नरसिंह-वर्मन् की दूसरी उल्लेखनीय सफलता थी, सिंहली राजकुमार मानवर्मा को गद्दी पर बैठाने के लिए लंका पर समुद्री बेड़े से चढ़ाई। **महावंश** में इस राजकुमार के दुर्भाग्य की कहानी का वर्णन किया गया है — सन् ६४० ई० के लगभग उसका भागकर काँची आना, चालुक्यों के विरुद्ध अभियान में उसका भाग लेना, काँची में उसके कार्यकलाप, लंका के विरुद्ध पल्लवों के बेड़े के पहले अभियान की असफलता, और अन्त में उनके दूसरे विशाल अभियान की सफलता, जो महाबलिपुरम् से चला था।

---

[1] देखिए पृ. २७३।

नरसिंह वर्मन् ने मल्लइ या महाबलिपुरम् (मद्रास के निकट, सात पगोडे) एकाश्मी पुण्यस्थान (मन्दिर) बनवाये थे जिन्हें रथ कहते हैं। उसने इस प्रसिद्धि दी, यद्यपि वह इस नगर का प्रतिष्ठापक नहीं माना जा सकता।

नरसिंह-वर्मन् प्रथम के शासन-काल में ६४० ई० के लगभग, चीनी यात्री त्सांग काँची गया था, और उसने तोंड-मंडलम् का जो विवरण लिखा है, वह महत्त्वपूर्ण है। काँची नगरी करीब छः मील के वृत्त में वसी थी। वहां बौद्ध विहार थे, जिनमें १०,००० थेरापंथी भिक्षु रहते थे। करीब अस्सी मन्दिरों में अधिकांश-दिगम्बर जैनों के थे। यद्यपि दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म हो रहा था, तोंड-मंडलम् में उसकी स्थिति विशिष्ट थी। ता-तो-पि-तु अर्थात् तोंड के लोग विद्या का आदर करते थे। ... राजधानी के दक्षिण में कुछ दूर पर विशाल बौद्ध-विहार था जो देश के माने जाने लोगों का मिलन स्थल था। कि यह वह राज-विहार था, जिसका उल्लेख मत्तविलास प्रहसन में भी है। यात्री के अनुसार, नालन्दा के विश्वविद्यालय का धर्मपाल काँची निवासी था। काँची के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों का जिक्र पहले ही कर चुके हैं।

नरसिंह-वर्मन् प्रथम के बाद, उसके बेटे महेन्द्र-वर्मन् द्वितीय ने शायद सन् ६६८ से ६७० ई० तक ही शासन किया था, जिसके बाद उसका बेटा वर्मन् प्रथम (सन् ६७०-६९५ ई०) गद्दी पर बैठा। उसका सबसे बड़ा शत्रु राजा विक्रमादित्य प्रथम था, जिसने अपने पिता की हार के बाद परिवार की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करके पल्लव राज्य पर आक्रमण किया था। उसके ई० के गदवाल ताम्र-पत्र अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने काँची पर कब्जा महामल्ल के परिवार का सफाया कर डाला और इस अनुदान-पत्र को जारी समय चालुक्यों का शिविर कावेरी के दक्षिणी तट पर उरगपुर या उडय्यूर में इसके विपरीत, पल्लवों के विवरणों में दावा किया गया है कि अपने दुश्मनों, विक्रमादित्य पर, परमेश्वर-वर्मन् विजयी हुआ था। और हालाँकि विक्रमादित्य फौज में कई लाख सिपाही थे, लेकिन उसको लालगुडी के निकट (तिरुचि जिला) पेरुवलनल्लुर की लड़ाई में हार कर सिर्फ एक फटाचीथड़ा लपेटे पड़ गया था। यद्यपि चालुक्यों के अभिलेखों में दिये गये वक्तव्य[1] को अक्षरशः नहीं माना जा सकता, लेकिन यह तथ्य कि विक्रमादित्य तिरुचिरापल्ली के निकट पहुँच गया था, प्रमाणित करता है कि उसने काँची पर कब्जा कर लिया था। अपने पिता की हार का बदला लेने के अभियान में आमतौर पर सफल रहा। परमेश्वर-वर्मन् शिव का भक्त था और उसने काँची के निकट कूरम में शिवमन्दिर बनवाया था। उसने महाबलिपुरम् की इमारतों में भी कुछ नई जोड़ी थीं।

---

[1] देखिए पृ. २७४-७५, पा. टि.।

५. नरसिंह-वर्मन् द्वितीय और परमेश्वर-वर्मन् द्वितीय

परमेश्वर वर्मन् प्रथम के बाद उसका बेटा नरसिंह वर्मन् द्वितीय राजसिंह (लगभग सन् ६९५-७२२ ई०) गद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल शान्तिपूर्ण था। उसने काँची में कैलासनाथ मन्दिर और महाबलिपुरम् में तट-मन्दिर बनवाया और लगभग २५० उपाधियाँ धारण कीं। उसके मुख्य विरुद थे: राजसिंह (राजाओं में सिंह), शंकरभक्त और आगमप्रिय (प्राचीन वेद-शास्त्रों का प्रेमी)। वह बहुविध रुचियों का आदमी था। उसने अपना राजदूत चीन भेजा था, जिससे उसकी तारीख निश्चित हो जाती है। परिशिष्ट में इस पर विचार किया जायेगा। कुछ विद्वानों का मत है कि संस्कृत का महान गद्यलेखक और अलंकार-शास्त्री दण्डी राजवर्मा के दरबार या राजसिंह के दरबार से सम्बद्ध था, और जो नाटक भास के नाम पर आजकल प्रचलित हैं, वे दरअसल काँची में खेले जाने वाले नाटकों के रंगमंचीय रूप हैं, क्योंकि पुष्पिका में राजसिंह के नाम का उल्लेख है। नरसिंह वर्मन् द्वितीय के बेटे और उत्तराधिकारी परमेश्वर वर्मन् द्वितीय ने शायद सन् ७२२ से ७३० ई० तक राज किया था। अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में उसे चालुक्य युवराज विक्रमादित्य द्वितीय के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। (देखिए परिशिष्ट)

६. नन्दि-वर्मन् द्वितीय पल्लवमल्ल (सन् ७३०-ल. ८००)

अगला राजा नन्दि-वर्मन् द्वितीय पल्लवमल्ल दरअसल सिंहविष्णु के भाई भीम-वर्मन् का वंशज और हिरण्य-वर्मन् का बेटा था। हालाँकि गद्दी पल्लव-परिवार के छोटे भाई के वंशजों के हाथ में चली गयी थी, लेकिन इससे क्रम-भंग नहीं हुआ था और यह कहना उचित नहीं होगा कि नन्दि-वर्मन् नये राजवंश का संस्थापक था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि परमेश्वर-वर्मन् का एक बेटा था, जिसका नाम चित्रमाय था, जो पल्लवों की गद्दी का दावेदार था। इसलिए कुछ विद्वान् सोचते हैं कि परमेश्वर-वर्मन् द्वितीय ने गद्दी पर अनधिकार कब्जा कर लिया था। नन्दि-वर्मन् जिन परिस्थितियों में गद्दी पर बैठा था, उनका विवेचन-परिशिष्ट में किया गया है। काँची के वैकुंठ पेरुमाल मन्दिर की मूर्तियाँ और उनकी व्याख्या करने वाले अभिलेखों तथा कुछेक अन्य पुरालेखीय विवरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि बारह वर्ष के किशोर बालक नन्दि-वर्मन् को वहाँ के जन-साधारण ने अपना राजा चुना था। हालाँकि उसके बाप हिरण्य-वर्मन् की वैधानिक स्थिति स्पष्ट नहीं है, लेकिन नन्दि-वर्मन् निश्चय ही जबरदस्ती कब्जा करके राजा नहीं बना था। महाबलिपुरम् में उसका एक अभिलेख उसके शासन-काल के पैंसठवें वर्ष का है। इसलिए उसने कम से कम सन् ७३० से ७९५ ई० तक राज किया होगा।

पल्लवों, चालुक्यों और पांड्यों के अनेक अभिलेखों से नन्दि-वर्मन् के बहुविध कार्य-कलापों पर गहरा प्रकाश पड़ता है। सन् ७४० ई० के लगभग विक्रमादित्य द्वितीय

चालुक्य ने पल्लव राज्य पर आक्रमण किया, और अपने 'प्रकृत शत्रु' को हराकर पर कब्जा कर लिया। नगर को लूटने और उजाड़ने की बजाय उसने वहाँ के को वे सारी कीमती चीजें लौटा दीं, जो लूट ली गयी थीं। लेकिन नन्दि-वर्मन् ने ही काँची वापस जीत लिया। अवश्य ही चालुक्यों ने उस समय विजय प्राप्त की जब पल्लवों और पांड्यों में युद्ध चल रहा था। गद्दी पर बैठने के फौरन बाद ही पांड्यों द्वारा संगठित एक विरोधी गुट का सामना करना पड़ा था, जो चित्रमाय समर्थक थे। पांड्य राजा राजसिंह प्रथम का दावा है कि उसने नन्दि-वर्मन् के तंजौर क्षेत्र में अनेक सफलताएँ प्राप्त की थीं। नन्दिपुर (कुम्भकोनम के निकट) नन्दि-वर्मन् को घेरकर गिरफ्तार कर लिया गया, लेकिन उसके जेनरल उदयचन्द्र आकर उसे छुड़ा लिया, और उसने चित्रमाय का कत्ल करके तंजौर जिले में विजयें प्राप्त कीं। इस जेनरल को चालुक्य राज्य के पूर्वी क्षेत्र के एक भाग को लेने का श्रेय भी प्राप्त है। राष्ट्रकूटों की सत्ता कायम करने वाले दन्तिदुर्ग ने करके काँची पर कब्जा कर लिया, लेकिन वह नन्दि-वर्मन् से समझौता करके उसके साथ अपनी बेटी रेवा की शादी करके वापस लौट गया। वह दन्ति-वर्मन् की माँ बनी। पश्चिमी गंगों के अभिलेखों में पल्लवों पर उनके राजा श्रीपुर शानदार विजय का वृत्तान्त दर्ज है, जो उसके जीवन की सबसे बड़ी सफलता लेकिन पल्लव विवरणों में कहा गया है कि नन्दि-वर्मन् ने एक गंग राजा से एक हार वसूल किया था, जिसमें एक विशाल रत्न जड़ा था।

नन्दि-वर्मन् ने काँची में मुक्तेश्वर का मन्दिर और शायद वैकुंठ-पेरुमाल मन्दिर भी बनवाया था। उसने कुछ मन्दिर अन्य स्थानों पर भी बनवाये थे। वह धर्मनिष्ठ वैष्णव था। उसके शासन-काल के पुरालेखीय और साहित्यिक अभिलेखों स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य और धर्म के इतिहास में उसके शासन काल का महत्त्व है। तिरुमंगइ आलवार जैसा सन्त और विद्वान उसी के शासन-काल में था। नन्दि-वर्मन् स्वयं एक बड़ा विद्वान था, यद्यपि उसके विवरणों में उसकी लब्धियों को अतिरंजित करके लिखा गया है। नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल के उदयेन्दि के ताम्र-अनुदान-पत्र में एक **अश्वमेध यज्ञ** का भी हवाला दिया गया है। कहा कि उसके जेनरल उदयचन्द्र ने उत्तरी क्षेत्र में एक सामन्त को हराया था। शक्तिशाली शासक बनने की आकाँक्षा से प्रेरित होकर अश्वमेध के घोड़े के भाग रहा था।" लेकिन इस हवाले के आधार पर नन्दि-वर्मन् को **अश्वमेधयाजिन** उचित नहीं है। उसके अपने इतने सारे विवरणों में **अश्वमेध** का कहीं भी कोई हवाला नहीं मिलता। उसके बाद सन् ७९५ ई० के करीब उसका बेटा दन्तिवर्मन् गद्दी पर बैठा।

II. उड़य्यूर और रेनाण्डु के चोल

उड़य्यूर (तिरुचिरापल्ली) के चोलों का चौथी से नवीं सदी तक का बिल्कुल अस्पष्ट है, मुख्यतः इस कारण कि इस बीच उनके देश पर कलभ्रों का

था। पाली का महान् लेखक बुद्धदत्त उड़य्यूर का निवासी था। उसने अपने समकालीन राजा अच्चुतविक्रान्त के बारे में, जो **कलभ्रकुल** का था, लिखा है कि वह कावेरिपटनम् से चोल देश पर राज करता था। वह बौद्ध मत का अनुयायी था। तमिल परम्परा में एक अच्चुत का वर्णन आता है जिसने चेर, चोल और पांड्य राजाओं को कैद कर लिया था। इस आधार पर कि बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालीन थे, हम अच्चुत को पाँचवीं शताब्दी में रख सकते हैं। इस प्रकार संगम-युग के बाद करिकाल चोल के वंशजों को कलभ्रों ने महत्त्वहीन स्थिति में डाल कर तमिल देश के शान्त राजनीतिक वातावरण को क्षुब्ध कर दिया था।

प्रारम्भिक पल्लवों के संस्कृत अनुदान-पत्र काँची से नहीं, बल्कि कृष्णा के दक्षिण में तेलुगु देश के विभिन्न स्थानों से जारी किये गये थे। इसलिए, यह तर्क पेश किया गया है कि करिकाल चोल ने काँची पर कब्जा कर लिया था और पल्लवों को उत्तर की ओर हट जाना पड़ा था। संस्कृत अनुदान-पत्रों का काल इस तरह चोल मध्याकाश का समय था, यह मत तर्कसंगत नहीं है। इस बात के प्रमाण नगण्य हैं कि पल्लवों से काँची छिन गया था और उनके अभिलेखों में ऐसी कोई बात नहीं है, जो इस धारणा का समर्थन करती हो। नन्दि-वर्मन् तृतीय के वेलूरपालय्यम वाले ताम्रपत्रों में कुमारविष्णु द्वारा काँची पर पुनः कब्जा कर लेने का वक्तव्य शायद उत्तराधिकार सम्बन्धी किसी घटना की ओर संकेत करता है या पल्लवों और कलभ्रों के युद्ध के बीच की किसी घटना की ओर। इसके अलावा करिकाल की तारीख संस्कृत अनुदान-पत्रों के काल से बहुत पहले की मानी जाती है।

यद्यपि पल्लवों और पांड्यों ने आखिरकार कलभ्रों को हराकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी, लेकिन चोल अगली कई शताब्दियों तक अँधेरे में पड़े रहे। पल्लवों, पाँड्यों और चालुक्यों के अभिलेखों में चोलों, उनकी फौज और उनके देश आदि का, और तमिल साहित्य तथा उनके राजकुमार-राजकुमारियों का जिक्र है। पांड्यों और पल्लवों की शक्तिशाली राजनीतिक सत्ताओं के बीच उडय्यूर के चोल अपने पूर्वजों के स्थान के गिर्द मँडराते रहे। विवाह-सम्बन्धों के जरिए वे अपनी शक्ति धीरे धीरे बढ़ाते गये और जैन और बौद्ध जैसे शास्त्र-विरुद्ध मतों की बजाय दृढ़तापूर्वक शैव और वैष्णव मतों का समर्थन करते रहे। यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि तंजौर के चोल-वंश के संस्थापक विजयालय ने उड़य्यूर के निकट एक सामन्त की हैसियत से शुरुआत की थी, तेरुनेडुंगलम (त्रिचनापल्ली जिला) के एक अभिलेख में परकेसरि विजयालय चोलदेव के आदेशानुसार एक भूमि अनुदान-पत्र का विवरण दर्ज है।

अपने ह्रास के जमाने में चोल सिर्फ कावेरी क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहे थे। लगता है कि कुछ चोल राजकुमार अन्य क्षेत्रों में जा बसे थे, जिसके परिणामस्वरूप हमें तेलुगु और कन्नड़ देशों में भी छोटे छोटे चोल घराने देखने को मिलते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण घराना कुड्डपह, अनन्तपुर और कुर्नूल जिलों में फैले रेनांड देश के

चोलों का था। उनके आग्मिक अभिलेख तथा साथ ही मालेपाडु (कुड्डपह जि ताम्र-पत्र जो पुण्यकुमार ने जारी किये थे ईसा की सातवीं शताब्दी के माने इन ताम्र-पत्रों में राजाओं की चार पीढ़ियों का उल्लेख मिलता है, अर्थात् नन्दि उसके बेटे सिंह-विष्णु, सुन्दरनन्द और धनंजय-वर्मन् का बेटा महेन्द्रविक्र और उसके बेटे गुणमुदित और पुण्य कुमार, जिसका उपनाम पोरमुखराम था। अपने को चोल महाराज कहते थे और करिकाल चोल के वंशज होने का दावा थे। उनके नाम और उनकी उपाधियाँ पल्लवों और चालुक्यों का स्मरण दि और उनकी मुहर पर केसरी सिंह की आकृति पल्लवों और विष्णु-कुंडियों की मुह बनी आकृति से मिलती है। पुण्यकुमार के वंश ने अनुमानतः एक सौ साल त किया। कुडपह जिले में अपनी स्थिति के कारण उन्होंने अवश्य ही पल्लव-च संघर्ष में प्रमुख भाग लिया। उनकी स्वतन्त्रता, एक प्रकार से, नाममात्र की रही पुण्यकुमार के बाद शायद कुडपह पर से उसके वंश का अधिकार छिन गया और परिवार दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विखर गया।

चोल-महाराजों द्वारा शासित यह रेनांडु देश सम्भवतः ह्वेन-त्सांग द्वारा उल्लि **चु-लि-या** देश है, जो धान्यकटक से १,००० ली (२०० मील) दक्षिण-पश्चिम में "इस देश का वृत्त लगभग २,००० ली (४०० मील) था, और उसकी राज करीब १० ली के वृत्त में बसी हुई थी। यह जंगलों से भरा प्रदेश था, जिसमें थोड़ी बस्तियाँ थीं और वहाँ लुटेरों के गिरोह खुले आम घूमते थे। आबोहवा गरम नम थी। लोग खूंखार और लम्पट स्वभाव के थे और 'तीर्थिकों' में विश्वास करते बौद्ध-मठ उजाड़ और खंडहर पड़े थे और उनमें से कुछेक में ही भिक्षु रहते थे। दसियों देव-मन्दिर थे और दिगम्बरों की बड़ी संख्या थी।"[1]

III. कलभ्र

हम पहले कई बार कलभ्रों और उनके राजा अंच्चुतविक्रान्त का हवाला दे चुके नेडुंजडय्यन पांड्य (सन् ७६५-८१५ ई०) के शासन-काल के तीसरे साल में हुए वेल्विकुडि अनुदान-पत्र में कहा गया है कि पल्यागमुदुकुडुमि-पेरुवलुदि पांड्याधि ने **ब्रह्मदेय** के रूप में वेल्विकुडि गाँव एक ब्राह्मण को दान किया था जो काफी तक उसका उपभोग करता रहा। फिर कलभ्रण नाम के एक कलि राजा ने उस कि भूमि पर कब्जा कर लिया और वहाँ से अधिराजों को निकाल बाहर करके उस गाँव अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद ... पाण्ड्याधिराज कुंडगोण[2] ने कलभ्रों यह क्षेत्र फिर वापस छीन लिया। इस संक्षिप्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता मुदुकुडुमि के बहुत बाद कलभ्रों ने पांड्य देश पर कब्जा किया था। उन्होंने

---

[1] या, ट्रै. वा., II, २२४।

[2] ई. इ., XVII, ३०६।

अधिराजों का तख्ता उलट दिया, यहाँ तक कि ब्रह्मदेय जमीनों पर भी कब्जा कर लिया। इस प्रकार ये लोग बड़े खूखार और क्रूर विजेता थे। उनकी सत्ता का कडुंगोण ने, जिसका काल अनुमानतः सन् ५९० से ६२० ई० तक है, खात्मा कर दिया। पल्लवों और चालुक्यों के अभिलेखों में कलभ्रों के बारे में और भी हवाले मिलते हैं। कहा गया है कि उन पर सिंहविष्णु और नरसिंह-वर्मन् प्रथम और विक्रमादित्य प्रथम और द्वितीय ने विजय प्राप्त की थी।

कलभ्रों की शिनाख्त करना दक्षिण भारत के इतिहास की एक बड़ी कठिन समस्या रही है। उनकी शिनाख्त कोडुम्बालूर के मुत्तरय्यरों से की गयी है (आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी)।[1] दूसरे विद्वान उन्हें कर्नाट मानते हैं, क्योंकि तमिल साहित्य में एक कर्नाट राजा के मदुरा पर शासन करने का जिक्र आया है। तीसरा मत यह है कि कलभ्र दरअसल वेल्लाल जाति के कलप्पलर लोग थे, जिनका तमिल साहित्य और अभिलेखों में उल्लेख मिलता है।[2] लेकिन सबसे सन्तोषजनक अनुमान वह है जिसके अनुसार कलभ्रों को कलवरों[3] से अभिन्न माना जाता है। संगम साहित्य में इस कबीले के जिन सामन्तों का जिक्र आता है उनके नाम हैं : पवत्तिरि का तिड़य्यन, वेंगम या तिरुपति का पुल्लि, जिसे सीमान्त के पशु-चुराने वाले लुटेरों का सरदार कहा गया है। तिरुपति के निकट अपनी बस्तियों से कलवरों को तीसरी सदी की राजनीतिक उथल-पुथल के जमाने में खदेड़ दिया गया होगा; अर्थात् सातवाहनों के पतन और पल्लवों के उत्थान के जमाने में, तथा साथ ही अगली शताब्दी में दक्षिणा-पथ पर समुद्रगुप्त के आक्रमण के समय, जब तोंड-मंडलम् में राजनीतिक अराजकता फैल गयी थी उस समय कलभ्रों के आक्रमण ने पल्लवों, चोलों और पांड्यों को पराभूत किया होगा।

ऊपर दी गयी विविध व्याख्याओं के बावजूद, कलभ्रों को एक रहस्यमय जाति ही मानना चाहिए, जिसने कुछ शताब्दियों तक तमिल देश की राजनीति में खलल डाला था। अच्युतविक्रान्त के कारण चोल-परिवार को विभिन्न स्थानों में बिखर जाना पड़ा। पाण्ड्य देश में ब्रह्मदेय भूमि को भी इन कलभ्र हमलावारों ने धार्मिक नियम-रक्षित नहीं समझा। अन्त में कडुंगोण पांड्य और सिंहविष्णु पल्लव ने उनकी शक्ति नष्ट कर दी। उनके विरुद्ध सातवीं और आठवीं सदी के पल्लव और चालुक्य अभियानों का जिक्र पहले ही किया जा चुका है।

एक मत के अनुसार कलभ्र-वंशी सरदार मुत्तरय्यर और कोडुम्बालूर क्रमशः पल्लवों और पाण्ड्यों के सामन्त थे और जब इन दोनों शक्तियों में संघर्ष छिड़ा तो इन दोनों सरदारों ने विरोधी पक्षों की ओर से युद्ध में भाग लिया था। मुत्तरय्यर परिवार ने पल्लवों के सामन्तों की हैसियत से तंजौर और पुदुकोत्तइ पर आठवीं से

---

[1] ज. इ. हि, VIII, ७४-८०, ई. इ. XV, ४६।

[2] ज. इ. हि., VIII, ७५।

[3] जिल्द II, अंगरेजी संस्करण, पृ. २३३।

ग्यारहवीं सदी तक शासन किया था। एक हवाले से ज्ञात होता है कि पे मुत्तरय्यन द्वितीय ने नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल के राज्याभिषेक के उत्सव में भा था। मुत्तरय्यर की उपाधियों में से एक उपाधि तंजोराधिपति भी थी। वि चोल, जिसने नवीं शताब्दी में एक मुत्तरय्यन से तंजौर जीता था, पल्लवों का था। इस प्रकार कलभ्रों ने जिस चोल राज्य को एक जमाने में नष्ट कर दि उसके ही एक वंशज चोल-सामन्त ने आगे चलकर कलभ्रों के राज्य का खा दिया।

IV. पाण्ड्य

शंगम-युग के बाद, सातवीं से दसवीं सदी के पांड्यों की वंशावली और नि अभी तक निश्चित नहीं हैं। उनके बारे में हमारी जनकारी केवल कुछ ताम्रपत्रों प्रस्तर लेखों पर आधारित है, जिनमें नेडुंजडय्यन का वेल्विकुडि अनुदान-पत्र, रा का जारी किया हुआ एक बड़ा और छोटा ताम्र-पत्र और मद्रास म्यूजियम जटिल वर्मन् के ताम्र-पत्र हैं: आनैमलइ में मिले दो प्रस्तर लेख हैं, एक माड्व का और दूसरा परान्तक का, जिस पर सन् ७७० ई० की तारीख है, और अभिलेख वरगुण द्वितीय का है, जिसकी तारीख सन् ८७० ई० है। क्रमबद्ध वं तैयार करने के लिए कुछ शिनाख्तें करनी पड़ेंगी, विशेषकर नेडुंजडय्यन, मारंज परान्तक, जटिल वर्मन् और वरगुण प्रथम आदि की। आनैमलइ के ७७० ई प्रस्तर-लेख को तेडुंजडय्यन के शासन के आरम्भ काल का माना जा सकता है, जि शायद सन् ७६५ से ८१५ ई० तक राज किया होगा। उसके छः पूर्वजों का काल, यदि प्रत्येक का पच्चीस-पच्चीस साल का रहा हो, कुल १५० वर्ष का होगा इस प्रकार पांड्य वंश की शुरुआत सन् ६०० ई० के लगभग मानी जा सकती और हम अस्थायी रूप से पांड्य राजाओं का कालानुक्रम इस प्रकार नियत कर हैं: कडुंगोण (५९०-६२०), माडवर्मा अवनिशूलामणि (६२०-६४५), शैन्दन (६७०), अरिकेसरि माड़वर्मन् (६७०-७१०), कोच्चडय्यन रणधीर (७१०- और माड़वर्मन् राजसिंह (७४०-७६५)।[1]

कलभ्र-मध्यावकाश से पांड्य देश को कडुंगोण ने छठी सदी के अन्त में किया होगा और उसके उत्तराधिकारियों ने इस कार्य को पूरा किया होगा। त्सांग ने मलकूट या पांड्य देश का इस प्रकार वर्णन किया है: "यह देश समुद्री मो काआगार था। इसके निवासी काले रंग के ... रूखे और उतावले स्वभाव के हैं, वि धर्मों के हैं, संस्कृति के प्रति उदासीन हैं और केवल व्यापार में कुशल हैं।" अनेक बौद्ध मठों के खंडहर थे और कुछेक ही बौद्धभिक्षु थे। मदुरा की प्रा सांस्कृतिक परम्परा का नाश सम्भवतः देश पर कलभ्रों के कब्जे के कारण हुआ हो

---

[1] शास्त्री, के. ए. नीलकण्ठ, दि पाण्ड्यन किंगडम, पृ. ४१।

तीसरे राजा शैन्दन को एक योद्धा और निष्पक्ष व्यक्ति होने का श्रेय दिया गया है और उसकी वाणवण उपाधि से सूचित होता है कि उसने चेरों पर विजय प्राप्त की थी।

अरिकेसरि परांकुश माड़वर्मन् ने नेलवेलि में एक महान् विजय प्राप्त की थी। कुछ विद्वानों ने नेलवेलि को तिन्नैवेल्ली से अभिन्न माना है। उसकी अन्य जीतें, विशेषकर चेर राजा पर उसकी जीत, अभिलिखित है। कहा जाता है कि उसने समुद्र-तट के परवों और कुरुनाडु के निवासियों का "उन्मूलन" कर दिया था। इन सब स्थानों की शिनाख्त करने में कठिनाई होने के वावजूद, यह निश्चित है कि अरिकेसरि के जमाने में पांड्यों ने साम्राज्य निर्माण की ओर कदम उठाया था और पल्लवों के साथ उनका संघर्ष शुरू हुआ था। अरिकेसरि को परम्परागत कूण पांड्य से अभिन्न माना जाता है। संत सम्बन्दर ने उसका जैन-धर्म छुड़वाकर उसे शैव धर्म में दीक्षित किया था और फिर उसने जैनों पर क्रूर अत्याचार किये थे—इस कहानी के अनुसार उसने ८००० जैनियों को शूली पर चढ़ा कर मारा था—निस्सन्देह यह अतिरंजना है। दरअसल इस पांड्य राजा की चोल-वंशी रानी ने संत सम्बन्दर को मदुरा बुलाया था। उससे अगले राजा कोच्चडय्यन रणधीर ने भी आक्रमण नीति जारी रखी और उसने एक आइ सामन्त को मरदूर (तिन्नवेल्ली जिले में अम्वासमुद्रम) की लड़ाई में हराया था। उसकी उपाधि कोंगरकौमान से जाहिर होता है कि उसने कोंगुदेश जीत लिया था और कहा जाता है कि उसने मराठों को मंगलपुरम् या मंगलोर से अपदस्थ कर दिया था।

माड़वर्मन् राजसिंह प्रथम भी बड़ा शक्तिशाली राजा था। नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल से उसके युद्ध तथा अन्य घटनाओं का पहले हवाला दिया जा चुका है।[1]—जैसे कावेरी क्षेत्र पर पांड्यों का कब्जा, नन्दिपुर का घेरा और उस पल्लव राजा की उसके महान् जेनरल उदयचन्द्र द्वारा रक्षा, आदि। इसीलिए राजसिंह ने **पल्लवभंजन** की उपाधि अपनायी थी। कोंगुदेश पर उसकी जीत में कोडुमुडि भी शामिल था। उसने पश्चिमी गंगों की एक राजकुमारी से शादी की थी और चालुक्यों को, सम्भवतः कीर्तिवर्मन् द्वितीय को, हराया था। वेल्विकुडि अनुदान-पत्र में कहा गया है कि राजसिंह ने कूडल (मदुरा), वाँजी (चेरों की राजधानी) और कोली (उड़य्यूर) के राज-प्रासादों और किलों की मरम्मत करवाई थी। कहा गया है कि इस शक्तिशाली पाण्ड्य ने अनेक महादान किये थे, जैसे **गोसहस्र**, **हिरण्यगर्भ** और **तुलाभार** आदि। उसके बाद नेडुंजड्यन उसका उत्तराधिकारी बना, जिसने वेल्विकुडि अनुदान-पत्र जारी किया था।

V. पश्चिमी गंग

पूर्वी गंग, अर्थात् कलिंगनगर के गंग, पश्चिमी गंगों या मैसूर के गंगों से अपनी वंश-परम्परा का मूल वताते थे, जो सम्भवतः नागार्जुनीकोंड के इक्ष्वाकु-परिवार के होने का

---

[1] देखिए, पृ. २९८।

दावा करते थे। यह सुझाव पेश किया गया है कि जिस तरह मयूरशर्मन् कदम्ब ने मयू के दक्षिणी अभियान से उत्पन्न राजनीतिक उथल-पुथल का लाभ उठाया था, उसी कोलार के गंग-वंश की स्थापना करने वाले ने भी। पश्चिमी गंगों की उत्पत्ति में उनके विवरणों में जिन परिस्थितियों का ब्योरा दिया गया है, ऐतिहासिक उनका कोई मूल्य नहीं है। इस वंश के गंग नाम का भी कोई सन्तोषजनक नहीं बताया जा सकता। प्राचीन विवरणों में गंगरिडे या गंगा की घाटी के लोग, गंगरिडे कलिंगे, या कलिंग के गंग का उल्लेख हुआ है। लेकिन दोनों गंग-वंशों गंगा नदी से क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। काण्वायन **गोत्र** के पश्चिमी के प्रदेश को गंगवाडि कहते थे और उनकी उपाधियाँ कोंगुनिवर्मा और धर्ममहा धिराज थीं। उनके अभिलेख ताम्रपत्रों और प्रस्तर लेखों के रूप में मिलते हैं, सन् ६८० ई० से पहले ताम्रपत्रों की अधिकता है और बाद में प्रस्तर लेखों की। उनकी वंशावली की तालिका तैयार करने में आसानी होती है, यद्यपि प्रारम्भिक बारे में कुछ कठिनाइयाँ रहती हैं। फिर भी ताम्र-पत्रों पर आधारित उनके कालक्र तालिका कई दृष्टियों से दोषपूर्ण है, 'यद्यपि कुछ ताम्र-पत्रों से निश्चित ऐतिहा काल-चिह्न प्राप्त होते हैं, जिनमें श्रीपुरुष के शासन-काल के पच्चीसवें वर्ष की ता सन् ७५० ई० दी गयी है। हमने हरि-वर्मन् और पल्लव-राजा सिंह-वर्मन् प्रथम जो काँची की गद्दी पर सन् ४३६ ई० में बैठा था, समकालिकता का भी उल्लेख है। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि पश्चिमी गंगों की सत्ता चौथी शताब्दी उत्तरार्ध में कायम हुई थी।

पश्चिमी गंग-वंश का संस्थापक कोंगुनिवर्मन् या माधव प्रथम था, जिसने ३५० से ४०० ई० तक शासन किया था। कहा जाता है कि एक जैन आचार्य सिंह ने उसकी मदद की थी। माधव द्वितीय (सन् ४००-४३५ ई०) न केवल नीति-का विद्वान् ही था, बल्कि उपनिषदों का भी ज्ञाता था। उसने राज-नर्तकियों के में कामसूत्रकार वात्स्यायन से पहले के सूत्रकार दत्तक के सूत्र की वृत्ति लिखी हरि वर्मन् के शासन-काल में (ल० सन् ४५०-४६० ई०) गंगवाडि की राज तलकाड (तल्काड, तलवनपुर) थी, जो शिव समुद्रम् के निकट कावेरी के किनारे उसका राज्याभिषेक पल्लव राजा सिंह-वर्मन् प्रथम ने किया था, ताकि मिलकर को कुचला जा सके। अवश्य ही वह पल्लवों का सामन्त था। उसने एक ब्राह्मण जिसने शास्त्रार्थ में एक बौद्ध विद्वान् को हराया था, एक गाँव पुरस्कार में दिया अधिकांश गंग जैन धर्म के अनुयायी थे, लेकिन विष्णुगोप, जिसका कुछ अभिलेख उल्लेख नहीं किया गया है, वैष्णव था और राजा से अधिक संत था। माधव (लगभग सन् ४६०-५०० ई०) एक बलिष्ठ राजा था। उसने एक कदम्ब राजकुमारी

---

१. दत्तक-सूत्र दरअसल कामशास्त्र की पुस्तक है, जिसे कभी भी गलती से दत्तक-आचार-ग्रन्थ माना गया है। (देखिए न्यू. हि. इ. पी. IV २४८-४९)

विवाह किया था। वह शिव का उपासक था और उसने ब्राह्मणों, जैनों और बौद्धों को ग्राम दान किये थे। एक पल्लव राजा के द्वारा उसके अभिषेक का अर्थ है कि गंगवाडि पर पल्लवों की प्रभुसत्ता उसके समय तक चली आयी थी। अविनीत (लगभग सन् ५००-५४०) बचपन में ही राजा बना दिया गया। उसकी शिक्षा-दीक्षा प्रकांड जैन विद्वान् विजयकीर्ति द्वारा हुई थी। अविनीत जैनों और ब्राह्मणों को खूब दान देता था। जैन होकर भी वह शिव को पूजता था।

दुर्विनीत (लगभग सन् ५४०-६०० ई०) को गद्दी पर बैठने में कुछ कठिनाइयों से जूझना पड़ा था। उसने पुन्नाड (दक्षिणी मैसूर) और कोंगुदेश जीत लिये और चालुक्यों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये, न कि पल्लवों के साथ। कहा जाता है कि उसने कांची के काडुवेट्टि को हराया था। वह वैष्णव धर्म को पसन्द करता था, यद्यपि जैनों, ब्राह्मणों तथा अन्य धर्मों के लोगों को भी दान देता था। वह कन्नड भाषा का लेखक ही नहीं, बल्कि संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान भी था। वह जैन व्याकरणाचार्य और **शब्दावतार** के लेखक पूज्यपाद[1] का शिष्य था और प्रसिद्ध कवि भारवि का आश्रयदाता भी। दुर्विनीत को अपने आश्रित कवि भारवि के महाकाव्य **किरातार्जुनीय** के १५वें सर्ग की टीका का यशस्वी लेखक माना जाता है लेकिन ए. बी. कीथ जैसे विद्वान् इस टीका को साहित्यिक जॉलसाजी कहते हैं। कहा जाता है कि दुर्विनीत ने स्वयं **शब्दावतार** नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी, और प्राकृत के ग्रन्थ **बृहत्कथा** का संस्कृत में अनुवाद भी किया था। संक्षेप में वह पश्चिमी गंग-वंश का सबसे महान् शासक था। वह एक वीर योद्धा ही नहीं, वरन् विद्वान राजा भी था, जिसने संस्कृत और कन्नड़ में विद्या का प्रसार करने में योग दिया था। उसके उत्तराधिकारी, मुश्कर, श्रीविक्रम, भूविक्रम और शिवमार-प्रथम सातवीं शताब्दी के हैं। चालुक्यों और पल्लवों के संघर्ष में वे कहाँ तक शामिल रहे, यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन चालुक्यों के साथ उनका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था और पल्लवों के साथ शत्रुतापूर्ण। सातवीं शताब्दी के सारे गंग राजा जैन धर्म के अनुयायी थे।

शिवमार प्रथम ने, जो दुर्विनीत का पोता था, शायद सन् ६७० से ७१३ ई० तक राज किया। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी शासक का नाम अनिश्चित है। फिर श्रीपुरुष गद्दी पर बैठा, जो शिवमार का पोता (कुछ के अनुसार बेटा) था। उसने कुछ समय तक एक वाइसराय (उपराजा) की तरह भी शासन किया।[2] अपने वाइसराय-काल में उसने बाण राजा जगदेकमल्ल या मल्लदेव को हराया, जो विक्रमादित्य प्रथम का बेटा था। कोंगुदेश के लिए पल्लवों और पांड्यों में संघर्ष चल रहा था। उस पर पांड्य राजा राजसिंह प्रथम ने कब्जा कर लिया था। उसका विवाह एक गंग राजकुमारी से हुआ था जो सम्भवतः श्रीपुरुष की ही बेटी थी। श्रीपुरुष ने अपनी सबसे बड़ी

---

[1] एस. एस. शास्त्री इसे असम्भव प्राय मानते हैं (अर्ली गंगाज ऑफ तलकाड), पृ. ४५।

[2] एम. वी. कृष्णराव—गंगाज ऑफ तलकुड, पृ. XI, ४६, राइस—मैसूर ऐंड कूर्ग, पृ. ३८।

विजय नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल के विरुद्ध प्राप्त की थी, लेकिन जिस काडुवेट्टि किया था, उसकी हम शिनाख्त नहीं कर पाते। सन् ७६० ई० से लेकर श्री शासन (सन् ७२५-७८८ ई०) के अन्त तक कृष्ण प्रथम के नेतृत्व में राष्ट्रकूट गंगवाडि पर आक्रमण करते रहे, लेकिन इससे वह अनेक नई उपाधियाँ नहीं रुका। इन में **कोण्गुणि राजाधिराज परमेश्वर** जैसी साम्राज्यिक उपाधि उसने अपनी राजधानी बदलकर बंगलौर के निकट मान्यपुर या माण्णे में स्थापि उसने हाथियों पर **गजशास्त्र** नामक ग्रंथ लिखा। गज-युद्ध के बारे में उसकी अच्छी जानकारी थी। कहा जा सकता है कि श्रीपुरुष के लम्बे शासन-काल राज्य सम्पन्नता के शिखर पर जा पहुँचा था जिसे उसके समय में लोग श्री-रा कहते थे।

VI. कदम्ब

काकुत्स्थ-वर्मन् के तालगुण्ड स्तम्भ-लेख में कदम्ब-वंश की उत्पत्ति बताते हु गया है कि उनका नाम कदम्ब-वृक्ष के नाम पर पड़ा है, जो उनके पूर्वजों के मू में बहुतायत से उगता था। कुन्तल प्रदेश (पश्चिमी दक्षिणापथ और उत्तरी मै चूटु-वंश के लोग सातवाहनों के उत्तराधिकारी बने थे। उनकी राजधानी वैजय वनवासि थी। उनके बाद कुन्तल पर पल्लवों ने राज किया और पल्लवों के कदम्बों ने। उनके उद्भव के पौराणिक विवरण हंगल और गोआ के परवर्ती के उत्कीर्ण लेखों से भी मिलते हैं। ये कदम्बों को उत्तर भारत से सम्बद्ध लेकिन वनवासि के कदम्ब कुन्तल प्रदेश के ही देशज लोग प्रतीत होते हैं। उनके नाम और नागों के वंशज होने के दावे से भी स्पष्ट है। उनकी वंशाव निश्चित है, लेकिन कालक्रम अनिश्चित है।

तालगुंड अभिलेख में बताया गया है कि मयूर शर्मन् ने, जो मानव्य का एक शास्त्रनिष्ठ, विद्वान ब्राह्मण था, किन परिस्थितियों में कदम्बों की कायम की थी। वह अपने गुरु वीरशर्मा के साथ **प्रवचनम् निखिलम्** (सारे वेदों अध्ययन करने के लिए पल्लवेन्द्रपुरी (काँची) गया था और वहाँ **घटिका** में हो गया था। वहाँ एक **पल्लवाश्वसंस्थ** से सख्त झगड़ा हो जाने पर उसे क्रोध और उसने क्षत्रियों के मुकाबले में ब्राह्मणों की शारीरिक हीनता और इस कि ब्रह्मसिद्धि (पूर्ण पावनता) भी राजा की खुशी पर निर्भर है, अपनी अफसो प्रतिक्रिया व्यक्त की। इस कहानी का आमतौर पर यह अर्थ लगाया जाता है, मयूर काँची गया था, जो उच्च विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था (सम्भवतः वहाँ एक ब्राह्म विश्वविद्यालय था), लेकिन वहाँ किसी पल्लव-घुड़सवार से झगड़ा हो जाने के उसका उद्देश्य विफल हो गया। लेकिन यह सन्दिग्ध है। पहली बात तो **प्रवचनम् निखिलम्** का मतलब वेदों का सम्पूर्ण अध्ययन है, जबकि वह एक हि अध्ययन पहले ही कर चुका था। दूसरी बात यह है कि **घटिका** से कोई का

च्च-विद्या का केन्द्र संकेतित नहीं होता बल्कि लगता है कि घटिका काँची के ब्राह्मणों ी बस्ती को कहते थे, जिसमें उसने **गुरुकुलवास** के लिए प्रवेश किया था, और सके प्रबन्ध के लिए ही उसके पुराने गुरु साथ गये थे। तीसरी बात यह कि **अश्वसंस्थ** ा अर्थ घुड़सवार नहीं है, बल्कि घुड़सवार जासूस है, और शायद मयूर शर्मन् द्वारा ार-पत्र (पासपोर्ट) सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने के कारण झगड़ा हुआ होगा; योंकि दक्षिणापथ पर समुद्रगुप्त के अभियान के दिनों में, सम्भव है, काँची में ये ियम सख्ती से लागू हुए हों।[1]

लेकिन जो भी हो, मयूर शर्मन् के क्रोध का यह परिणाम निकला कि जिस हाथ वह कुशलता पूर्वक कुश, समिधा, पत्थर, कलछी, घी, हवन सामग्री और स्रुवा आहुति छोड़ने का पात्र) उठाता था, उस हाथ से उसने लपलपाती तलवार उठा ली ो 'पृथ्वी की विजय के लिए लालायित थी'। इसके बाद युद्ध हुआ जिसमें उसने ल्लवों के अन्तपालों (सीमा के रक्षक सैनिकों) को हराकर श्रीपर्वत तक (इसे त्रिपर्वत ी पढ़ें)[2] के जंगल प्रदेश, या श्रीशैलम् (कुर्नूल जिला) पर कब्जा कर लिया। फिर सने महान् वाण को हराया और स्वयं को हराने की पल्लवों की सारी कोशिशें ाकाम कर दीं। पल्लवों ने मजबूर होकर उससे समझौता कर लिया, जिसके अनुसार ह पल्लवों का एक सामन्त शासक बन गया और इस पद पर रहकर उसने पल्लवों ी बहुमूल्य सेवा की। अन्त में पल्लवों से उसे पश्चिमी सागर और अपरान्त की दी प्रेहरा[3] के बीच का इलाका मिला। मयूर शर्मन् के चन्द्रवल्लि प्राकृत भाषा में कीर्ण अभिलेख में उसे अनेक विजयों का श्रेय दिया गया है; तदनुसार उसने आभीर, कूट, पल्लव, पारियात्रिक शाकस्थान, सेइन्दक, पुनाट और मोकरि पर विजय प्राप्त ी थी। उसकी इन विजयों को ध्यान में रखते हुए, बाद के उत्कीर्ण अभिलेखों में ये गये इस दावे में कुछ सच्चाई मानी जा सकती है कि उसने अठारह अश्वमेध यज्ञ ये थे, हलाँकि तालगुंड के पुरालेख में ऐसा कोई दावा नहीं किया गया। पुरालिपिक ाधार पर उसके इस अभिलेख की तारीख सन् २५० से ३०० ई० के बीच निश्चित ी गयी है। अगर यह मत निर्णीत माना जाय तो मयूर शर्मन् की तारीख के बारे में तक स्वीकृत धारणाएँ बदलनी पड़ेंगी। हाल में उसको सन् २५० और ३५० ई० बीच में या इससे भी पहले रखने की कोशिशें की गयी हैं। लेकिन जैसा ऊपर कहा चुका है,[4] कुछ विद्वान चन्द्रावल्लि अभिलेख की प्रामाणिकता सन्दिग्ध मानकर उसे ाली समझते हैं। हर सूरत में इस बात की सम्भावना अधिक है कि मयूर शर्मन् ईसा ी चौथी सदी के मध्य में हुआ था। इस प्रकार हम यह अनुमान कर सकते हैं कि

---

[1] आर. साधिया नायय्यर, स्टडीज इन दि ऐंसिएंट हिस्टरी ऑफ टोण्डमण्डलम्, पृ.४८-५०।

[2] ज. इ. हि., XII., ३५७।

[3] ए. ओ. रि. V. भाग २, पृ. ३।

[4] देखिए, पृ. २१२, टि. १।

दक्षिणापथ पर समुद्रगुप्त के आक्रमण से जो राजनीतिक अराजकता फैली थी, लाभ उठाकर मयूर-शर्मन् ने अपने लिए एक रियासत बना ली थी, जिसकी बनवासि में थी। शायद उसने लगभग सन् ३४० से ३७० ई० तक राज कि

मयूर शर्मन् के बाद उसका बेटा कंग वर्मन् (इसे स्कन्द वर्मन् भी पढ़ा गद्दी पर बैठा, जिसने शायद सन् ३७० से ३९५ ई० तक राज किया था। **धर्ममहाराजाधिराज** की उपाधि धारण की और वंशगत उपाधि शर्मन् से वर्मन् कर दी। लगता है कि उसे विन्ध्यसेन वाकाटक ने हराया था, जिसका दा उसने कुन्तल राज्य को अपने राज्य में मिला लिया था।[2] ऐसा प्रतीत होता है वर्मन् का बेटा भगीरथ (सन् ३९५-४२०) ई० उन दिनों कुन्तल का शासक था, बाद की एक श्रुति-परम्परा के अनुसार, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने सम्भव विवाह सम्बन्ध तय करने के लिए कवि कालिदास को उसके दरबार में राजदूत भेजा था।[3] भगीरथ का एक बेटा रघु (लगभग सन् ४२०-४३० ई०) था और काकुत्स्थ वर्मन् (लगभग ४३०-४५० ई०)[4] काकुत्स्थ-वर्मन् युवमहाराज के प्रसिद्ध था। तालगुंड अभिलेख में गुप्तों तथा अन्य राजाओं के यहाँ उसके सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। लगता है कि उसके शासन-काल में उस सुखी और समृद्ध था। तालगुंड उत्कीर्ण लेख में उसकी महानता का विस्तृत और बताया गया है कि उसके राज्य में यात्री बेखटके आ जा सकते थे, पड़ो में उसका बड़ा आदर सम्मान था, और उसने तालगुंड का महान् खुदवाया था।

शायद काकुत्स्थ वर्मन् की मृत्यु के बाद उसका राज्य उसके दोनों बेटों शान्ति (सन् ४५०-४७५ ई०) और कृष्ण वर्मन् के बीच बँट गया। शान्ति वर्मन् और उत्तराधिकारी मृगेश वर्मन् (लगभग सन् ४७५-४९० ई०) वनवासि करता था। कहा जाता है कि उसने पश्चिमी गंगों और पल्लवों को हराया था। धर्म के प्रति उसका झुकाव था, इसलिए कदम्ब राज्य में जैन धर्म का खू हुआ। सन् ४७५ ई० के लगभग कुमार वर्मन् जो शायद शान्ति वर्मन् का उच्चंगि पर राज करता था। कुमार वर्मन् का बेटा मानधात्रि वर्मन् (लगभ ४९७ ई०) थोड़े समय तक अपनी अनधिकृत सत्ता का उपभोग करता रहा। वर्मन् के बेटे रवि वर्मन् (लगभग सन् ४९७-५३७ ई०) ने अपने दुश्मनों को जिनमें कदम्बों की छोटी शाखा का शासक विष्णु वर्मन् भी था, फिर से गद्दी पर कर लिया। रवि वर्मन् विख्यात और लोकप्रिय शासक था और उसने पश्चिमी विजय प्राप्त की थी। लेकिन उसका बेटा और उत्तराधिकारी हरि-वर्मन् बेहद

---

[1] ज. इ. हि, XII, ३६१।

[2] ऊपर देखिए पृ. २११-१२।

[3] ऊपर देखिए, पृ. २०९-१०।

[4] इस राजा की तारीख के बारे में भिन्न मत जानने के लिए देखिए पृ. २०९-१०।

जा था, और उसने थोड़े दिनों तक ही राज किया (लगभग सन् ४३७-४४७ ई० क) । उसके शासन-काल में ही उसके चालुक्य सामन्त पुलकेशिन् प्रथम ने विद्रोह रके बादामि[1] में अपने वंश की स्थापना की थी। हरि-वर्मन् की अपने परिवार की छोटी शाखा के साथ लड़ाई छिड़ गयी जिसमें वह मारा गया। उसके साथ ही कदम्बों राजवंश की बड़ी शाखा का अन्त हो गया।

कृष्ण वर्मन् प्रथम, (लगभग सन् ४७५-४८५ ई०) जो शांति-वर्मन् का भाई ार कदम्बों की छोटी शाखा का संस्थापक था, कदम्ब राज्य के दक्षिणी भाग में तंत्र राजा बन गया था। उसकी राजधानी त्रिपर्वत शायद हलेबिड में थी। उसने श्वमेध यज्ञ किया था, लेकिन अन्त में उसे पल्लवों ने हरा दिया। उसके बेटे विष्णु- र्मन् (लगभग सन् ४८५-४९७ ई०) का अभिषेक एक पल्लव राजा ने किया था, सका वह शायद सामन्त था। पल्लवों की मदद से वनवासि की गद्दी पर कब्जा रने की कोशिश में वह असफल रहा और युद्ध में मारा गया। उसका उत्तराधिकारी ह-वर्मन् (लगभग ४९७-५४० ई०) शायद बड़ी शाखा के कदम्बों का सामन्त था। ण-वर्मन् द्वितीय (लगभग सन् ५४०-५६५ ई०) ने वनवासि वाली बड़ी शाखा का ला उलटकर एक अश्वमेध यज्ञ किया। उसने एक गंग राजकुमार से अपनी बहन की दी करके अपनी स्थिति मजबूत बना ली। कृष्ण-वर्मन् द्वितीय के बेटे अज-वर्मन् लगभग सन् ५६५-६०६ ई०) को चालुक्य राजा कीर्ति-वर्मन् प्रथम का, जो कदम्बों लिए "प्रलय की रात" के समान था, सामन्त बनना पड़ा। अज-वर्मन् के बेटे भोगि- र्मन्(लगभग सन् ६०६-६१० ई०)ने फिर अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने की कोशिश ी लेकिन पुलकेशिन द्वितीय ने बनवासि पर घेरा डालकर उसे दबा दिया। इस टना का पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोले अभिलेख में जिक्र हुआ है। शायद युद्ध में भोगि- र्मन् और उसके बेटे की मृत्यु के साथ ही कदम्ब-वंश का अन्त हो गया। लगता है कि दम्बों ने सन् ६४२ ई० में पुलकेशिन् द्वितीय की मृत्यु के बाद उत्पन्न होने वाली ड़बड़ी के दौर में पुनः अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम करने की कोशिश की थी, लेकिन न् ६५५ ई० में विक्रमादित्य प्रथम के गद्दी पर बैठते ही परिस्थिति उनके प्रतिकूल गयी। फिर भी दसवीं शताब्दी के अन्त में एक बार फिर कदम्बों की शक्ति का नरुत्थान हुआ।

VII. बाण

वाणों का वंश दक्षिण-भारत के सामन्तों में सबसे महत्त्वपूर्ण था। उनका नाम हावली से सम्बद्ध है जो एक असुर राजा था और बाण उसका बेटा था। उनके पुरा- त्वीय अभिलेख कोलार और उत्तरी अर्काट जिलों में मिले हैं। ये लोग विशेष रूप से ोलार जिले के नन्दगिरि (नन्दि दुर्ग) और अनन्तपुर जिले के पड़िविपुर (परिगि,

---

[1] देखिए, पृ. २६३ प. पृ.।

हिन्दुपुर के निकट) से सम्बद्ध थे। उनका राजचिह्न नन्दी था। हम देख चुके मयूर शर्मन् ने "महान् बाण" को परास्त किया था और पल्लव राजा सिं प्रथम ने गंग-राजा हरि वर्मन् का राज्याभिषेक किया था, ताकि बा कुचला जा सके। विक्रमादित्य द्वितीय[1] के उदयेन्दिरम् और गुडिमल्लम् ताम्र बाणों की वंशावली दी गयी है। उदयेन्दिरम् ताम्रपत्रों में जयनन्दि-वर्मन् को का प्रथम शासक बताया गया है, यद्यपि साथ ही यह भी कहा गया है कि उस भी कई बाण राजकुमार हुए थे। उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह बलशाली और अद्भुत सूरमा था" जो 'आन्ध्र देश के पश्चिम में राज करता उससे पहले के बाण राजा का गुणगान करते हुए कहा गया है कि वह बोधि तरह दयालु था।[2] नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल के शासन के तेईसवें वर्ष के गुडि अभिलेख में विक्रमादित्य नाम के एक बाण राजा का उल्लेख है, जो अवश्य ही मल्लम् के ताम्रपत्रों में उल्लिखित पहले विक्रमादित्य से भिन्न था और जयनन्दि का उत्तराधिकारी भी।[3] बाण वंशधर दरअसल पल्लवों के सामन्त थे, लेकिन उ अभिलेखों में उनके बारे में पर्याप्त सूचनाएँ नहीं मिलतीं। आगे चलकर उ सीमान्त के युद्धों में प्रमुख भाग लिया था।

VIII. आलुप

तुलुव-देश (दक्षिण कन्नड़) पर आलुप राजाओं का शासन था और उ दक्षिण उनकी राजधानी उदयवर में थी। उनका राज्य एक ६,००० प्रान्त था। शिव के उपासक थे। सम्भव यही है कि उनकी सत्ता ईसा की प्रारम्भिक शता अस्तित्व में आयी, क्योंकि टॉलेमी (दूसरी शताब्दी) ने ओलोइखोर (आलुव उल्लेख किया है। पाँचवीं शताब्दी के एक अभिलेख से इस अनुमान की पुष्टि हो है कि दक्षिणी तट पर आलुपों का शासन था। कीर्ति-वर्मन् प्रथम और पु द्वितीय के काल में पश्चिमी चालुक्यों ने उनको जीत लिया था। चालुक्यों के गुणसागर (लगभग सन् ६५० ई०) बनवासि का गवर्नर था। उसका बेटा चि प्रथम (लगभग सन् ६७५-७०० ई०) सबसे पहला महान् आलुप शासक था। उ में गृह-युद्ध छिड़ गया और यद्यपि चित्रवाहन उसको दबाने में सफल रहा, पर सन् ७५० ई० तक चलता रहा।

IX. कोंगुदेश और केरल

कोंगुदेश की, (आनैमलइ से लेकर शेवराय पहाड़ियों तक का प्रदेश, कोयम्बटोर का पूरा और सालेम जिले का अधिकांश भाग) जिसे कुछ विद्वान्

---

[1] ई. इ., III. ७८-७९, XVII, ६-७।

[2] राइस, पू. पु., पृ. २०।

[3] ज. इ. हि., XXIX, १६८।

कि सतियपुत्र से अभिन्न मानते हैं, शंगम-युग में अपनी एक अलग राजनीतिक हैसियत थी, और रोम-साम्राज्य से उसके सक्रिय व्यापारिक सम्बन्ध थे। जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं, उस काल में कोंगुदेश पर पश्चिमी गंगों, पल्लवों और पाण्ड्यों के बराबर आक्रमण होते रहे। अशोक और **शंगम** कालों के बाद, केरल का इतिहास एक प्रकार से अज्ञात है, हालाँकि हम इतना जानते हैं कि उस पर पेरुमलों का **शासन** था। **क्रिश्चियन टोपोग्राफी**[1] के लेखक कॉस्मस इन्दिकोप्ल्यूस्तोज (Cosmas Indicopleustes) ने छठी शताब्दी में मालाबार में ईसाई धर्म के अस्तित्व का उल्लेख किया है।

परिशिष्ट

पल्लवों की वंशावली और तिथिक्रम

१. पल्लवों का उत्थान

ऐसा प्रतीत होता है कि कदम्बों की तरह पल्लवों के नाम की व्युत्पत्ति भी गण-चिह्न या टोटम से है। तालगुंड अभिलेख में, जो ईसा की पाँचवीं शताब्दी का है, उनको क्षत्रिय कहा गया है। लेकिन सम्भवतः उनके अन्दर उत्तर भारत के भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण कुल और दक्षिण के आदिवासी नागकुल का मिश्रण था। इस नाग-कुल का काँची (मद्रास राज्य के चिंगलपेट जिले में आधुनिक काँजीवरम्) के क्षेत्र पर शासन था। उत्तरी और दक्षिणी पेन्नेर के बीच का यह क्षेत्र अरुवानाडु कहलाता था, जिसे टोलमी के भूगोल (Geography, ल. सन् १४० ई०) में शायद अरुआरनोइ लिखा गया है। इस यूनानी भूगोलशास्त्री के अनुसार, उसके समय में अरुआरनोइ पर एक बसरोनाग नाम के राजा का शासन था, जो निस्सन्देह आदिवासी नागकुल का था। एक पुरालेखीय सन्दर्भ उपलब्ध है, जिसके अनुसार पल्लवों के गोत्रर्षि (भरद्वाज) और इस परिवार के ब्राह्मण प्रजनक के एक वशज अश्वत्थामा का विवाह मदनी नाम की एक अप्सरा से हुआ था, जबकि वेलूर पालय्यम के अभिलेख में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वीरकूर्च ने, जो पल्लव परिवार के प्रारम्भिक सदस्यों में से था, राजचिह्न के साथ-साथ एक नाग राजकुमारी का पाणिग्रहण किया था। हालाँकि ये सब पुराणकथाएँ हैं, लेकिन नगों और पल्लवों के सम्बन्ध का अनुमान टालेमी की साक्षी से लगाया जा सकता है। सम्भव है कि सातवाहनों के अन्तर्गत पल्लव आरम्भ में प्रान्तीय गवर्नर रहे हों और फिर नागों को अपदस्थ करके काँची के क्षेत्र में उन्होंने अपनी सत्ता कायम कर ली हो। काँची क्षेत्र पर पल्लवों का स्वामित्व दूसरी शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश के बाद ही हो सकता है जबकि, टोलमी के अनुसार वहाँ पर नागों का राज

---

[1] ऊपर देखिए पृ. ४१।

था। लेकिन स्वतन्त्र सत्ता के रूप में पल्लवों का उत्थान, बहुत सम्भव है, चौथी के मध्य से काफी पहले ही हो चुका हो जब समुद्रगुप्त से "काँची के विष्णुगो संघर्ष हुआ था, जो निस्सन्देह पल्लव-वंश का ही था। इस परिवार के अभिलेख प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण लेख हैं, जो सिंह-वर्मन्, शिवस्कन्द वर्मन् और वर्मन् आदि पल्लव राजाओं के हैं। इन अभिलेखों को भाषा और पुरालिपि पर तीसरी सदी के अन्तिम चतुर्थांश और चौथी सदी के पूर्वार्ध का मान चौथी सदी के उत्तरार्ध में संस्कृत ने प्राकृत को दक्षिण भारतीय पुरालेखन बहिष्कृत कर दिया था। प्राकृत अभिलेखों की जो तारीख बतायी गयी है, ने उससे पहले ही, लेकिन शायद बहुत पहले नहीं, काँची में अपनी सत्ता ली थी। कुछ पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों में इस परिवार को **गोत्रर्षि** भरद्वाज के से ब्रह्मा का वंशज बताया गया है; लेकिन इस वंश के जिन आदि पुरुषों गिनाये गये हैं, वे सब मिथकीय हैं, इसलिए अविश्वसनीय हैं। "त्रिनेत्र पल्लव आख्यान स्पष्टतः लोकवार्ता का अंग है। लेकिन उन परम्पराओं में सत्य निहित हैं, जिनमें कहा गया है कि स्कन्दशिष्य ने सत्यसेन को हराया था, कुमा ने काँची पर कब्जा कर लिया था और बुद्धवर्मन् ने चोलों से युद्ध किया था, इन सबको उन पल्लव राजाओं से पहले की तारीख में नहीं रखा जा सकता, प्राकृत उत्कीर्ण लेखों में जिक्र आया है। बाद के अभिलेखों में वंशावली की जो दी गयी हैं, उनमें, लगता है, पल्लव राजवंश की एक से अधिक वंशावलियों को गड्डमड्ड कर दिया गया है।

२. प्राकृत अभिलेखों के पल्लव

मायिडवोलु अनुदान-पत्र में पल्लव युवराज शिवस्कन्द-वर्मन् के शासन-काल के दसवें वर्ष में काँचीपुर से अन्ध्रापथ के गवर्नर के नाम, जो (कृष्णा जिले का अमरावती) में रहता था, जारी एक आदेश है। हीरहडगल्लि अनुदान-पत्र भी उसी नगर से स्वयं शिव स्कन्दगुप्त के शासन के आठवें वर्ष में हुआ था। वह तब तक अपने परिवार की स्वतन्त्र सत्ता कायम हो जाने के एक **अश्वमेध** यज्ञ कर चुका था। उस समय काँची के पल्लवों के राज्य में कृष्णा भद्रा की घाटियों के विशाल क्षेत्र के साथ ही कुन्तल प्रदेश या कन्नड़ देश और दक्षिण मैसूर का गंग-प्रदेश भी शामिल था। लगता है कि उन्होंने कृष्णा गुन्टूर क्षेत्र इक्ष्वाकुओं से जीता था, जो सातवाहनों के पतन के बाद शक्तिशाली बन और उन्होंने करीब तीन पीढ़ियों तक राज किया था।

शिव-स्कन्द-वर्मन् ने अपने पिता का **बप्प** कहकर हवाला दिया है। इसे प्राकृ शब्द मानना चाहिए, जिसका अर्थ "पिता" होता है, न कि व्यक्ति-नाम के क्योंकि पिता के अर्थ में इस शब्द का अनेक अनुदान-पत्रों में प्रयोग हुआ है और

अभिलेखों में निर्दिष्ट पल्लवों की परम्परागत वंशावली में दिये गये सभी नामों से यह नाम बिल्कुल भिन्न है। सिंह-वर्मन् नाम के पल्लव राजा का प्राकृत अभिलेख अभी हाल में ही गुन्टूर जिले में मिला है। उसकी पुरालिपि इक्ष्वाकुओं के अभिलेखों की पुरालिपि से बहुत ज्यादा मिलती जुलती है, और वह शिवस्कन्द-वर्मन् के अनुदान-पत्रों से पहले का है। यह नामुमकिन नहीं है कि यह सिंह-वर्मन् ही शिवस्कन्द-वर्मन् का पिता हो। जो भी हो, ऐसा लगता है कि सिंह-वर्मन् तीसरी सदी के अन्तिम चतुर्थांश में शासन करता था, और शिवस्कन्द वर्मन् चौथी सदी के पहले चतुर्थांश में।

ऐसा प्रतीत होता कि सिंह-वर्मन् का उत्तराधिकारी राजा स्कन्द-वर्मन् था, जो श्रीविजय-स्कन्द-वर्मन् कहलाता था। उसका जिक्र ब्रिटिश म्यूजियम में रखे गुन्टूर जिले में प्राप्त अनुदान-पत्र में मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि शिवस्कन्द-वर्मन् नाम में शिव एक आदरसूचक विशेषण है, उसी तरह जैसे **श्रीविजय** पूर्वपद है, जो स्कन्द-वर्मन् के नाम के आगे लगाया जाता था, अतः **शिव** स्कन्द-वर्मन् और **श्रीविजय** स्कन्द-वर्मन् एक दूसरे से अभिन्न हैं। लेकिन इस बात को ध्यान में रखते हुए कि दक्षिण भारत में, प्राचीन काल में, शिवस्कन्द और भावस्कन्द जैसे नाम आमतौर पर प्रचलित थे (मिलाइए, आधुनिक तमिल नाम शिवपण्मुखम्) तथा अनुदान-पत्र का मसौदा तैयार करने के जिम्मेदार कर्मचारी इस बात के प्रति कि राजा के नाम के आगे एकमात्र आदरसूचक पूर्वपद शिव लगाने से संदिग्धता उत्पन्न हो सकती है, शायद ही लापरवाह हो सकते थे यह बेहतर लगता है कि हम शिवस्कन्द-वर्मन् और स्कन्द-वर्मन् को एक दूसरे से भिन्न राजा मानें। चूँकि ब्रिटिश म्यूजियम में रखे अनुदान-पत्र में संस्कृत भाषा का प्रभाव अधिक गहरा दिखाई देता है, इसलिए स्कन्द-वर्मन् को शिवस्कन्द-वर्मन् से कुछ बाद की तारीख में रखना ठीक होगा। लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि पूर्व-मध्यकालीन विवरणों ने शिवस्कन्द-वर्मन् को पल्लव-परिवार के अन्य कितने ही स्कन्द-वर्मनों के साथ गड्डमड्ड कर दिया है। ब्रिटिश म्यूजियम के अनुदान-पत्र में स्कन्द-वर्मन् के अलावा युवराज बुद्ध वर्मन् का निर्देश है (जिसका स्कन्द-वर्मन् से क्या रिश्ता था, यह स्पष्ट नहीं है) और बुद्ध वर्मन् के एक बेटे बुद्धयंकुर का भी जिक्र है। यह निश्चित करना संभव नहीं है, कि यह युवराज भी कभी गद्दी पर बैठा था उसके बेटे की तो चर्चा ही क्या।

इससे अगला पल्लव राजा, जिसके बारे में हमें ज्ञात है, विष्णुगोप था, जो चौथी सदी के तीसरे चतुर्थांश में समुद्रगुप्त से लड़ा था। लेकिन प्राकृत अभिलेखों के राजाओं से इस विष्णु गोप का क्या रिश्ता था, यह अनिश्चित है। (देखिए, इस परिच्छेद के अन्त में वंशावली की तालिका सं० १)।

३. संस्कृत सनदों से ज्ञात काँची के पल्लव

बाद की तारीख में काँची से जारी किये गए पल्लव राजाओं के संस्कृत में लिखे दो अनुदान-पत्र उपलब्ध हैं— कुमारविष्णु द्वितीय का चेन्दलुर अनुदान-पत्र और नन्दि-वर्मन् तृतीय उदयेन्दिरम अनुदान-पत्र। इन्हें जारी करनेवाले शासकों के नामों के

साथ-साथ उनके तीन-तीन पूर्वजों के भी नाम दिये गये हैं। इन दोनों में चेन्द अनुदान-पत्र, जिसे कुमारविष्णु द्वितीय ने जारी किया था, अधिक प्राचीन जान पड़ता इसके अनुसार कुमार विष्णु द्वितीय, बुद्ध-वर्मन् का बेटा, कुमारविष्णु प्रथम का या पोता और स्कन्द-वर्मन् का परपोता था। यह ज्ञात नहीं है कि चेन्दलुर अनु पत्र का स्कन्द-वर्मन् ब्रिटिश म्यूजियम वाले अनुदान-पत्र का पल्लव राजा स्कन्द है या कोई दूसरा। यह भी मुमकिन है कि चेन्दलुर अनुदान-पत्र, के कुमारवि और बुद्ध-वर्मन् बाद के एक अभिलेख में सूचित किये गये कुमारविष्णु से, जिसने विजय की थी, और बुद्ध-वर्मन् से, जिसे 'चोल सेना के लिए वड़वानल के कहा गया है अभिन्न हों। लेकिन कुमार-विष्णु ने काँची को अपने ही परिवार के सदस्य से जीता था या चोलों से, जिन्होंने शायद उस पर अस्थायी अधिकार कर था, यह भी अनिश्चित है। कुमारविष्णु किसी भी सूरत में, पाँचवीं सदी के चतुर्थांश के बाद में काँची का शासक नहीं हो सकता था।

उदयेन्दिरम् का अनुदान-पत्र नन्दि-वर्मन् ने जारी किया था। वह स्कन्द तृतीय का बेटा, सिंह-वर्मन् प्रथम का पोता और स्कन्द-वर्मन् द्वितीय का परपोता पल्लव राजा सिंह-वर्मन् प्रथम और उसके बेटे स्कन्द-वर्मन् तृतीय का गंगों के वाले अनुदान पत्र में यह उल्लेख हुआ है कि उन्होंने क्रमशः गंग राजाओं हरि और उसके बेटे माधवसिंह-वर्मन् (प्रत्यक्षतः उसका नामकरण उसके पिता के अधिराज के नाम पर किया गया है, जो उसका नाना भी हो सकता है।) का भिषेक किया था। लगता है कि इस पल्लवसिंह-वर्मन् का उल्लेख जैनकृति विभाग में भी हुआ है। इस पुस्तक के लेखन की तारीख पल्लवों के स्वामी, वर्मन् के शासन-काल का बाईसवाँ वर्ष है, जो शक संवत् के हिसाब से ३८० ४५८ ई०) होता है। इस प्रकार सिंह-वर्मन् ने सन् ४३६ से लेकर कम से कम ४५८ ई० तक राज किया था। इस प्रकार उदयेन्दिरम् अनुदान-पत्र में काँची के राजाओं की जिन चार पीढ़ियों का जिक्र है, उनका समय हम पाँचवीं सदी के चतुर्थांश से लेकर छठी सदी के पहले चतुर्थांश तक मान सकते हैं।

छठी सदी के पहले चतुर्थांश में काँची के पल्लव राजा चंडदंड और कदम्ब रवि-वर्मन् में युद्ध हुआ था। चंडदंड उदयेन्दिरम् वाले अनुदान-पत्र के नन्दि-वर्मन् **विरुद** था या उसके तुरन्त बाद वाले उत्तराधिकारियों का, यह ज्ञात नहीं है। शान्ति वर्मन् नाम के पल्लव राजा के बारे में मालूम है कि वह कदम्ब राजा वर्मन् का अधिराज था, जिसका रवि-वर्मन् ने कत्ल किया था।[2] यह बिल्कुल है कि चंडदंड इस शान्ति-वर्मन् का ही **विरुद** रहा हो।

महत्तर पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन् प्रथम के बारे में, जो सातवीं शताब्दी के गद्दी पर बैठा था, ज्ञात है कि उससे पहले उसके बाप सिंहविष्णु और दादा सिं

---

१. ऊपर देखिए, पृ. २६४-६५।

२. ऊपर देखिए, पृ. ३०६।

ने राज किया था। यह सिंह-वर्मन् काँची का राजा था और उदयेन्दिरम् अनुदान-पत्र के नन्दि-वर्मन् का वंशज था या नहीं, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। पल्लव राजाओं की जो सूची वायलूर वाली वंशावली में मिलती है, वह आरम्भ के राजाओं के बारे में तो बिल्कुल व्यर्थ है लेकिन महत्तर पल्लवों से तुरन्त पहले आने वाले नामों के बारे में उपयोगी हो सकती है; तीन राजाओं के नाम, अर्थात् सिंह-वर्मन् (उदयेन्दिरम वाले अनुदान-पत्र के) नन्दि-वर्मन् और सिंह-वर्मन् के बीच जो महेन्द्रवर्मन् प्रथम का दादा था, सिंह वर्मन् और विष्णुगोप को रखा गया है। लेकिन शान्ति-वर्मन् चंडदंड का नाम न होने से इस सूची का यह हिस्सा भी बेहद सन्दिग्ध बन जाता है। (देखिए, इस परिच्छेद के अन्त में वंशावली की तालिका, सं० २)।

४. पल्लवों की सगोत्री शाखा

प्राकृत अभिलेखों से पता चलता है कि काँची के पल्लव घराने के साथ-साथ उनके राज्य के उत्तरी भाग में पल्लव-परिवार की एक गौण शाखा भी राज करती थी। इस शाखा के शासकों ने, जिनके बारे में उनके संस्कृत अभिलेख से ज्ञात होता है, मोटे तौर पर सन् ३७५ से ५७५ ई० तक राज किया था।

दरसी अनुदान-पत्र, जिसका एक टुकड़ा ही मिल सका है, किसी पल्लव राजा ने दशनपुर (नेल्लोर जिले का दरसी) से जारी किया था। इस राजा के बारे में सिर्फ इतना ही मालूम है कि वीरकूर्च वर्मन् उसका परदादा था। तिथिक्रम से इसके बाद का ओमगोदु अनुदान-पत्र (नं० १) है, जिसे राजा स्कन्द-वर्मन् द्वितीय ने अपने शासन के ३३वें वर्ष में ताम्रापि से जारी किया था। वह वीर-वर्मन् का बेटा, स्कन्द-वर्मन् प्रथम का पोता और कुमारविष्णु का परपोता था, जिसने शिवस्कन्द-वर्मन् की तरह अश्वमेध यज्ञ किया था। यह नामुमकिन नहीं लगता कि उत्तरी पल्लवों के इस वंश की स्थापना काँची के राजा के किसी पल्लव वाइसराय ने उस समय की हो जब समुद्रगुप्त ने काँची के राजा को हरा दिया था। अगर यह ठीक हो तो कुमार विष्णु का अश्वमेध यज्ञ परिवार की खोई हुई सत्ता की, कम से कम पल्लव-साम्राज्य के उत्तरी भाग में ही सही, पुनः स्थापना का सूचक हो सकता है।

स्कन्द वर्मन् द्वितीय का बेटा विष्णुगोप या विष्णुगोप-वर्मन्, शायद अपने बेटे सिंह-वर्मन् के शासन-काल में भी, जब उसने पलक्कड से अपना उरुवुपल्लि अनुदान-पत्र जारी किया था, युवराज के पद पर ही रहा था। **धर्ममहाराज** सिंह-वर्मन्, जिसकी सबसे बाद की ज्ञात तारीख उसके शासन का १०वाँ वर्ष है, आमतौर पर अपने अनुदान-पत्र मेन्मातुर और दशनपुर से जारी करता था। इस परिवार का अन्तिम ज्ञात राजा विष्णुगोप वर्मन् द्वितीय, सिंह-वर्मन् का बेटा था, जिसने चुर या नरसरावपेट वाला अनुदान-पत्र पालोत्कट (पलक्कड) से जारी किया था। छठी शताब्दी के अन्तिम

चतुर्थांश में इस परिवार की जगह शायद महत्तर पल्लव-वंश का राजा सिंह जम गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश के राजाओं के नामों को पूर्व कालीन अभिलेखों में दी गयी काँची के पल्लव राजाओं की परम्परागत सूची से दिया गया है। (इस परिच्छेद के अन्त में देखिए, वंशावली सं० ३)।

५. महेन्द्र-वर्मन् और उसके उत्तराधिकारी

यद्यपि महेन्द्र-वर्मन् प्रथम और उसके उत्तराधिकारियों ने अपने सम अन्य राजाओं की प्रथा के प्रतिकूल, अपने विवरणों पर किसी भी प्रचलित संवत् तारीख नहीं डाली, लेकिन बादामि के चालुक्य राजाओं से, जिनकी तारीखें इनके सम्बन्धों के आधार पर इनका कालानुक्रम सही-सही जाना जा सकता है। ऊपर लिखा जा चुका है, महेन्द्र वर्मन् प्रथम और उसका वेटा नरसिंह-वर्मन् दोनों चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय के समकालीन थे।

नरसिंह वर्मन् ने बादामि पर कब्जा कर लिया। वहाँ एक अभिलेख है, तारीख अनुमानतः उसके शासन का तेरहवाँ वर्ष है। उसने वातापिकोण्ड, "बादामि का विजेता" की उपाधि धारण की थी। सन् ६४२ ई० के लगभग राजा, अर्थात् पुलकेशिन द्वितीय को हराने में लंका के राजकुमार मान-वर्मन् ने राजा नरसिंह वर्मन् कीं सहायता की थी और फिर सन् ६६८ ई० के लगभग वर्मन् की मदद से वह लंका की गद्दी प्राप्त करने में सफल रहा था।

विक्रमादित्य प्रथम के गदवल अनुदान-पत्र से जाहिर होता है (चालुक्यों अन्य अभिलेख भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं) कि पल्लवों को हराने और काँची कब्जा कर लेने के बाद उसने २५ अप्रैल सन् ६७४ ई० को उरगपुर (तिरुचिरा के निकट आधुनिक उडययूर) में पड़ाव डाला था। यह भी कहा गया है कि अपने का खोया हुआ साम्राज्य वापस करने के लिए विक्रमादित्य प्रथम को नरसिंह प्रथम, उसके बेटे महेन्द्र वर्मन् द्वितीय और उसके पोते ईश्वर या परमेश्वर वर्मन् से युद्ध करना पड़ा था। चूँकि नरसिंह वर्मन् सन् ६४२ ई० से कुछ समय (शायद साल) पहले अपने बाप की गद्दी पर बैठा था और उसका पोता परमेश्वर सन् ६७४ ई० में राजा था, और चूँकि मान-वर्मन् का लंका की गद्दी पर सन् ई० से पहले बैठना सम्भव नहीं दीखता, इसलिए नरसिंह वर्मन् प्रथम और वर्मन् द्वितीय का शासन-काल मोटे तौर पर क्रमशः सन् ६३०-६८ ई० और ६६८-७० ई० समझा जा सकता है।

परमेश्वर-वर्मन् प्रथम का दावा है कि उसने विक्रमादित्य (चालुक्य राजा विक्र दित्य प्रथम) को हराकर रणरसिक (विक्रमादित्य प्रथम) के नगर अर्थात् राजधानी बादामि को नष्ट कर दिया था, अतः उसने ये सफलताएँ अवश्य ही ६७४ ई० के बाद ही प्राप्त कीं। परमेश्वर वर्मन् प्रथम के बाद उसका बेटा वर्मन् गद्दी पर बैठा था, जिसके शासन की निश्चित तारीख हमें मालूम है। एक

विश्व-कोश Tśo-fou-yuan Kouei के अनुसार, जो लगभग सन् १०१३ ई० में संकलित किया गया था, चे-ली-ना-लो-सेंग-किया (अर्थात् श्री नरसिंह वर्मन्) ने सन् ७२० ई० में अपना एक राजदूत चीन भेजा था। उसने चीन के सम्राट से ता-चे (ताजिक या अरबों) और तोऊ-पो (तिब्बतियों) आदि को दण्ड देने के लिए प्रस्ताव किया था कि वह अपनी गजसेना और घुड़सेना भेजने को तैयार है। इसके अलावा, उसने चीन के सम्राट से आग्रह किया था कि वह उसकी सेना का कोई उपयुक्त नाम रख दें। कहा जाता है कि चीनी सम्राट इससे बहुत प्रसन्न हुआ था और उसने नरसिंह वर्मन् की सेना को "सद्गुणाकांक्षी सेना" का नाम दिया था।[1] एक और वाक्य-पद के अनुसार कुछ महीनों के बाद चीन के सम्राट ने अपना राजदूत भेज कर एक सनद (ब्रैवे) के द्वारा नरसिंह-पोत वर्मन् को (नाम का यह रूप पल्लवों की एक विशेषता थी। चीनी भाषा में इस का रूपान्तर चे-लि-न-लो-सेंग-किआ-पओ-तो-यमो लिखा है) "दक्षिण भारत के राज्य का राजा" की उपाधि प्रदान की थी। किउ् तांग-चाउ (Kieou-Tāng Chou) के अनुसार दक्षिण भारत के राजा चे-ली-ना-लो-सेन्ग-किया-तो-पा (श्रीनरसिंह पोत वर्मन्) ने उसी साल चीनी यात्रियों के लिए एक बौद्ध विहार का निर्माण करवाया, और चीन के सम्राट ने प्रसन्न होकर उस विहार का नाम "जो सद्गुणों की ओर उन्मुख करे" रखा। इन चीनी हवालों से जाहिर होता है कि पल्लव राजा नरसिंह वर्मन् द्वितीय कम से कम सन् ७२० ई० तक राज करता रहा था। लेकिन इसके बाद शायद वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहा। उसका बेटा और उत्तराधिकारी परमेश्वर वर्मन् द्वितीय भी कम से कम सन् ७३० ई० तक राज करता रहा, क्योंकि चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय का, जो उस समय तक युवराज था, दावा है कि उसने विजयादित्य के शासन के २५वें साल में, या उससे कुछ पहले ही, काँची के राजा पर खिराज बांध दिया था।[2] इसलिए मोटेतौर पर परमेश्वर वर्मन् प्रथम, नरसिंह वर्मन् द्वितीय और परमेश्वर वर्मन् द्वितीय के शासन-काल क्रमशः सन् ६७०-९५ ई० सन् ६९५-७२२ ई० और सन् ७२२-३० ई० अनुमानित किये जा सकते हैं।

सम्भव है कि परमेश्वर-वर्मन् द्वितीय ही काँची का वह राजा हो, जिसका गंग राजा श्रीपुरुष ने विलर्दे के युद्ध में कत्ल किया था। (श्रीपुरुष सन् ७२५ ई० में गद्दी पर बैठा था, लेकिन वह सन् ७८८ ई० में भी राज कर रहा था।) इस गंग राजा का दावा है कि उसने पल्लव छत्र (राज-चिह्न) और परमानड़ि की उपाधि अपने लिए जीत ली थी। वैकुंठ पेरुमाल मन्दिर पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार परमेश्वर वर्मन् की मृत्यु के साथ ही पल्लव राज्य नष्ट हो गया और ऐसी अराजकता फैल गयी कि वहाँ का शासन-भार उठाने के लिए कोई राजी नहीं होता था। तब मात्रों, मूलप्रकृतियों और

---

[1] के. ए. एन. शास्त्री, फॉरेन नोटिसेज ऑफ साउथ इंडिया, पृ. ११६-१७।

[2] विजयादित्य के उल्चल वाले अभिलेख के अनुसार, जो हाल में ही प्राप्त हुआ है, उसके शासन का ३५वाँ वर्ष। (ऐंशिएंट इण्डिया, सं. ५, पृ. ५४)।

दूसरे लोगों का एक शिष्टमंडल महाराज हिरण्य-वर्मन् (पल्लव-परिवार का एक शासक) से मिला। उसने अन्य जागीरदारों और सामन्तों तथा खुद अपने बेटों से कि क्या उनमें से कोई काँची का सिंहासन स्वीकारने को तैयार है, लेकिन सबने कर दिया; सिर्फ हिरण्य वर्मा के १२ वर्षीय बेटे नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल ने ही की गद्दी पर बैठने की इच्छा प्रकट की। इस पर हिरण्य-वर्मन् को राजी किया कि वह अपने बेटे को इस खतरनाक काम के लिए उत्सर्ग कर दे और इस पल्लवमल्ल गद्दी पर बैठा। ये तथ्य श्रीपुरुष के दावे की सचाई की ओर भी करते हैं। (देखिए, इस परिच्छेद के अन्त में वंशावली की तालिका सं० ४)

६. नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल

हम देख चुके हैं कि सन् ७२० ई० में नन्दि-वर्मन् द्वितीय काँची का शासक और उसके बेटे और उत्तराधिकारी परमेश्वर-वर्मन् द्वितीय ने कम से कम सन् ई० तक राज किया था, और वह शायद गंग राजा श्रीपुरुष (राजतिलक तिथि ७२५ ई०) के हाथों युद्ध में मारा गया था। इसलिए नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल किसी भी सूरत में सन् ७३० ई० से पहले शासन शुरू करना नहीं हो सकता।

नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल के राज्याभिषेक की सही-सही तारीख विजयादित्य के विक्रमादित्य द्वितीय (सन् ७३३-४५ ई०) से उसके सम्बन्धों को दृष्टि में रखकर निर्धारित की जा सकती है, जिसका दावा है कि उसने तुंडक देश (पल्लव राज्य) आक्रमण किया था, और अपने प्रकृत शत्रु पल्लव राजा नन्दिपोत-वर्मन् को ह काँची पर कब्जा कर लिया था। चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय द्वारा पल्लवों राजधानी पर किये कब्जे की पुष्टि काँजीवरम् (पुराना काँची) के राजसिंह मन्दिर में मिले एक अभिलेख से भी होती है। नेल्लोर जिले में एक अभिलेख है, जिसकी तारीख नन्दिपोतरशर (नन्दिपोतराज, अर्थात् नन्दि-वर्मन् पल्लवमल्ल) शासन का पन्द्रहवाँ वर्ष है, और जिसके अनुसार कुछ व्यक्तियों ने आज्ञपतियों चालुक्यरशर (चालुक्यराज) के निष्पादकों की हैसियत से आ़लुपरशर (आलुप के आदेश पर तिरुवान्बूर के सुब्रह्मण्य मन्दिर को सोना दान किया था। इसमें सन्देह नहीं कि यह चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय के अलावा और कोई नहीं और आलुप के राजा बादामि के शासकों के सामन्त थे। इस प्रकार नन्दि-वर्मन् शासन का पन्द्रहवाँ साल सन् ७३३-४५ ई० में किसी समय पड़ता है जो विक्रमा द्वितीय का शासन-काल है। इससे जाहिर होता है कि पल्लव मल्ल के गद्दी पर की तारीख सन् ७३०-३१ ई० के बाद की नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि वर्मन् पल्लवमल्ल सन् ७३० ई० में गद्दी पर बैठा था। और चूँकि सबसे अन्तिम ज्ञात तारीख उसके शासन का ६५वाँ साल है, इसलिए उसने कम से

सन् ७९५ ई० तक राज किया था, शायद उससे भी कुछ बाद तक। जो भी हो, नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल का शासन-काल ८०४ ई० से कुछ पहले ही समाप्त हो गया लगता है, जबकि एक राष्ट्रकूट अभिलेख के अनुसार काँची की गद्दी पर उसका बेटा दन्तिग या दन्ति-वर्मन आसीन था।

वंशावली

१. प्राकृत अभिलेखों के पल्लवों की प्रास्ताविक वंशावली

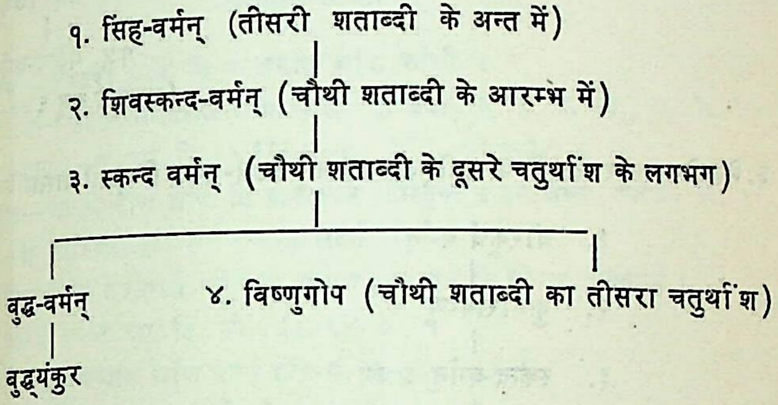
१. सिंह-वर्मन् (तीसरी शताब्दी के अन्त में)
२. शिवस्कन्द-वर्मन् (चौथी शताब्दी के आरम्भ में)
३. स्कन्द वर्मन् (चौथी शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश के लगभग)
बुद्ध-वर्मन्
४. विष्णुगोप (चौथी शताब्दी का तीसरा चतुर्थांश)
बुद्ध्यंकुर

२. संस्कृत अनुदान-पत्रों से ज्ञात काँची के पल्लवों की प्रास्ताविक (tentative) वंशावली

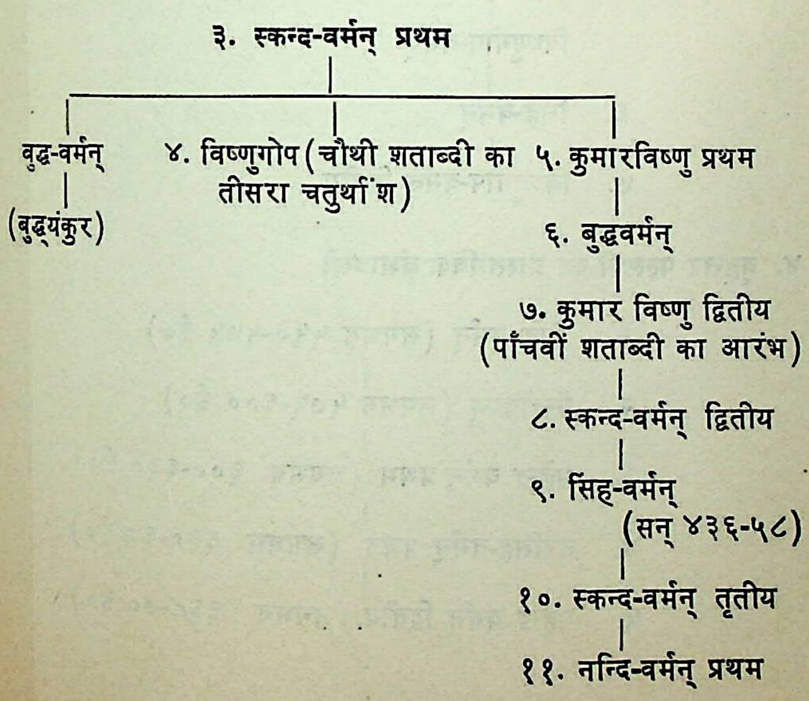
३. स्कन्द-वर्मन् प्रथम
बुद्ध-वर्मन्
(बुद्ध्यंकुर)
४. विष्णुगोप (चौथी शताब्दी का तीसरा चतुर्थांश)
५. कुमारविष्णु प्रथम
६. बुद्धवर्मन्
७. कुमार विष्णु द्वितीय (पाँचवीं शताब्दी का आरंभ)
८. स्कन्द-वर्मन् द्वितीय
९. सिंह-वर्मन् (सन् ४३६-५८)
१०. स्कन्द-वर्मन् तृतीय
११. नन्दि-वर्मन् प्रथम

१२. शान्ति वर्मन्
(छठी शताब्दी का
१३. सिंह-वर्मन् (
सन् ५५०-५७५
१४. सिंहविष्णु (
सन् ५७५-६००
१५. महेन्द्र-वर्मन् प्र
(लगभग सन् ६००-६३०

३. नेल्लोर-गुन्टूर क्षेत्र के पल्लवों (लगभग सन् ३७५-५८५ ई०) की प्रास्ताविक

१. वीरकूर्च वर्मन्
२. कुमारविष्णु
३. स्कन्द-वर्मन् प्रथम
४. वीर-वर्मन् प्रथम
५. स्कन्द-वर्मन् द्वितीय
विष्णुगोप-वर्मन्
६. सिंह-वर्मन्
७. विष्णुगोप-वर्मन् द्वितीय

४. बृहत्तर पल्लवों की प्रास्ताविक वंशावली

१. सिंह वर्मन् (लगभग ५५०-५७५ ई०)
२. सिंहविष्णु (लगभग ५७५-६०० ई०)
३. महेन्द्र वर्मन् प्रथम (लगभग ६००-६३० ई०)
४. नरसिंह-वर्मन् प्रथम (लगभग ६३०-६८ ई०)
५. महेन्द्र वर्मन् द्वितीय (लगभग ६६८-७० ई०)

|

६. परमेश्वर-वर्मन् प्रथम (लगभग ६७०-६७५ ई०)

|

७. नरसिंह-वर्मन् द्वितीय (लगभग ६९५-७२२ ई०)

|

८. परमेश्वर-वर्मन् द्वितीय (लगभग सन् ७२२-७३० ई०)

|

९. नन्दि-वर्मन् द्वितीय पल्लवमल्ल (लगभग सन् ७३०-७९६ ई०)

सामान्य सन्दर्भ

आर. गोपालन—हिस्टरी ऑफ दि पल्लवाज ऑफ काँची ।

के. ए. नीलकंठन—फॉरेन नोटिसेज ऑफ साउथ इण्डिया, न्यू हि. इ. पी., अ. XII ।

एन. वेंकटरामनय्या—ज. ओ. रि., VIII,१–८; XV. ११७-२८ ।

जे. एफ. फ्लीट—डाइनेस्टीज ऑफ दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स इन बम्बे, गजे I. ii. ।

आर. सेवेल—हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शंस ऑफ सदर्न इण्डिया ।

डी. सी. सरकार—दि सक्सेसर्स ऑफ दि सातवाहन्स इन दि लोवर डेक्कान ।

पी. शेषाद्रि शास्त्री—ज. आ. हि. सो., II. ६८-६९ ।

एफ. कीलहार्न—इंस्क्रिप्शंस ऑफ सदर्न इंडिया. ए. इ. VII ।

ए. एस. अल्तेकर—द राष्ट्रकूटाज ऐंड देयर टाइम्स ।

परिच्छेद : १४

श्रीलंका

लम्वकर्ण-कुल के राजा महासेन (सन् ३३४-३६२ ई०)[1] की मृत्यु जिसके इतिहास का वर्णन पहले[2] किया जा चुका है, उसका वेटा श्रीमेघवर्ण का राजा बना। नये राजा ने, जो बड़ा पुण्यशील था, बौद्धों को सन्तुष्ट

---

[1] इस परिच्छेद में कालानुक्रम की जिस योजना का पालन किया गया है, उसके कुछ तफसील जरूरी है। पाली इतिवृत्त **महावंश** (और उसके पूरक **चूलवंश**) और सिंहली वृत्त जैसे **राजावलिय, पूजावलिय, निकायसंग्रह्य** और **राजरत्नाकरय** तथा साथ ही **चरितावलोकन-प्रदीपिका** आदि के विवरणों में अक्सर परस्पर विरोधी तथ्य मिलते हैं उनमें दी गई प्रारम्भिक राजाओं की तरीखों पर ५४४ ई. पू. के बुद्ध-निर्वाण का सम्ब करना, जो उन दिनों लंका में प्रचलित थे, सन्तोषजनक नहीं सावित होता और चीनी स्रोतों से प्राप्त सूचनाएँ और प्रमाण भी उनसे मेल नहीं खाते हैं। गीगर (Geiger) तथ विद्वानों के अनुसंधानों से इस सम्बन्ध में उठने वाली कुछ कठिनाइयाँ दूर हो गयी हैं और (Fleet) का यह सुझाव आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है कि आदिकालीन लंका बुद्ध-निर्वाण की तारीख ४८३ ई. पू. मानी जाती थी। लेकिन फिर भी किसी राजा के शासन को वर्षों की पूर्णीकृत संख्या में ठीक ठीक न बताना या उसकी मृत्यु का उल्लेख शासन-काल के विशिष्ट वर्ष में (महीने और दिन का जिक्र किए वगैर ही) करना, इन इतिवृत्तों में उल्लि राजाओं के निश्चित कालानुक्रम की तालिका तैयार करने के मार्ग में वाधक सिद्ध होते हैं। पृष्ठों में हमने महानाग के शासन-काल तक गीगर द्वारा निर्धारित कालानुक्रम का अनुसरण कि और लमनि सिंगाना के राज्य-काल (नौ वर्ष) का जिक्र नहीं किया है, क्योंकि चूल-वंश में उल्लेख नहीं किया गया और सम्भव है कि वह किसी गौण शाखा का सामन्त राजा रहा हो। इसलिए भी किया गया है कि गीगर की तालिका में मानवर्मन् के राज्यारोहण के बारे में नौ वर्ष गलती आ गयी है, वह सुधारी जा सके। गीगर के अनुसार मानवर्मन् सन् ६७६ ई० में गद्दी पर था, हालांकि किसी भी सूरत में उसका राज्यारोहण सन् ६६८ ई० से वहुत बाद में नहीं हो सकता इस राजा के शासन-काल के बाद हमने हूल्त्श (Hultzsch) द्वारा प्रस्तावित तथा अधिक नीय कालानुक्रम का अनुकरण किया है। हमें यहाँ यह भी बता देना चाहिए कि गीगर ने जगतीपाल की जो तारीख बतायी है, वह निश्चय ही गलत है। दूसरी ओर, हमने हूल्त्श (Hultz द्वारा प्रस्तावित कालानुक्रम में राजा महेन्द्र प्रथम और अग्रबोधि छठे के शासन-काल से आगे के क्रम में सिर्फ एक साल का मामूली संशोधन किया है। यह इसलिए किया है कि महेन्द्र पंचम विजयबाहु के राज्यारोहण की गीगर द्वारा बतायी तारीखें अगर दो साल नहीं तो एक साल पहले लगती हैं।

[2] जिल्द II, पृ. २४१।

कोशिश की और पिता ने जिन बौद्ध-मठों और विहारों को तुड़वा दिया था, उनकी उसने मरम्मत करवाई या उनको नये सिरे से बनवाया। कहा जाता है कि उसके शासन के नवें साल में बुद्ध का दन्त-अवशेष कलिंग से लाकर श्रीलंका के एक बौद्ध विहार में स्थापित किया गया। निस्सन्देह श्रीमेघवर्ण ही चि-मी-किया-पो-मो (गुणजलद) है जिसने वांग-हिउएन-त्से के विवरण हिन्ग-त्चोअन के अनुसार भारतीय राजा सान-मियोड्-तो-लो-क्यु-तो या समुद्रगुप्त के दरबार में दो बौद्धभिक्षु भेजकर गया में एक बौद्ध-विहार बनाने की अनुमति माँगी थी।[1] श्री मेघवर्ण के बाद ज्येष्ठतिष्य गद्दी पर बैठा। वह या तो उसका छोटा भाई था या भाई का सबसे छोटा बेटा, और हाथी दाँत पर नक्काशी के काम में बहुत निपुण था। उससे अगला बुद्धदास था, जो ज्येष्ठतिष्य का बेटा था। वह बड़ा धर्मनिष्ठ राजा था और अपनी प्रजा का अपने बच्चों की तरह पालन करता था। इतिवृत्तों में बुद्धदास को रोगों से मुक्ति दिलाने वाले एक बड़े वैद्य के रूप में पेश किया गया है और कहा गया है कि उसने अपने राज्य के विभिन्न भागों में आम लोगों की चिकित्सा के लिए वैद्य तैनात किये थे। उसके शासन-काल में बौद्ध श्रमण महाधर्मकथिन् ने बौद्ध सूत्रों का सिंहली भाषा में अनुवाद किया था। शायद उसी को चीनी यात्री फा-हिएन ने, जो लंका में सन् ४११-१२ ई० में ठहरा था, अपना समकालीन बताया है और उसका नाम ता-मो-क्यु-ती लिखा है। इन पृष्ठों में जिस कालानुक्रम को अपनाया गया है, उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह बौद्ध भिक्षु राजा बुद्धदास की मृत्यु के बाद तक जिन्दा रहा था। बुद्धदास का उत्तराधिकारी उसका सबसे बड़ा बेटा उपतिष्य बना, जिसके शासन-काल में एक भयंकर अकाल पड़ा और महामारी फैली थी।[2] उपतिष्य की हत्या खुद उसकी रानी ने की जिसने बाद में उसके भाई और उत्तराधिकारी महानामन् (सन् ४०९-३१ ई०) से शादी कर ली। महानामन् के शासन-काल में विख्यात मगध निवासी बौद्ध लेखक बुद्धघोष, श्रीलंका गया था, जहाँ वह कई साल तक रहा। श्रुति-परम्परा के अनुसार बुद्धघोष सन् ४१२-१३ में लंका के तट पर उतरा था। चीनी स्रोतों के अनुसार त्सा-ली-मो-हो-नान (लंका का महानामन्) ने चीन सम्राट के दरबार में सन् ४२८ ई० में एक पत्र भेजा था।

महानामन् ने अभी २२ वर्ष तक राज किया था कि उसके बेटे स्वस्तिसेन ने उसकी हत्या कर दी। लेकिन उसी दिन उसकी सौतेली बहन ने स्वस्तिसेन की हत्या करके

---

१. देखिए पृ. ११ जहाँ गीगर के आधार पर मेघवर्ण की तारीख दी गई है — महावंश पृ. XXXIX.

२. गीगर का विचार है कि पुराने ४८३ ई. पू. वाले संवत् को त्याग कर नये ५४४ ई. पू. वाले संवत् का प्रयोग **चूलवंश** के आरंभिक काल में ही होने लगा था, जिसमें श्रीमेघवर्ण से लेकर उपतिष्य प्रथम के शासन-काल तक का वर्णन है। चारों राजाओं, अर्थात् श्रीमेघवर्ण ज्येष्ठतिष्य द्वितीय, बुद्धदास और उपतिष्य प्रथम ने **चूलवंश** के अनुसार २८,९,२९,४२ वर्ष (कुल मिलाकर १०८ वर्ष) तक राज किया था। लेकिन गीगर का विचार है कि इन चारों राजाओं ने कुल मिलाकर ४७ साल तक ही राज किया था, और उनके शासन-काल को ६१ साल ज्यादा बढ़ा दिया गया है, ताकि पुराने ४८३ ई. पू. वाले संवत् को ५४४ ई. पू. वाले संवत् से मिलाया जा सके।

अपने पति को गद्दी दिलवा दी। यह नया राजा भी जल्दी ही मर गया और की मदद से मित्रसेन राजा बना। गद्दी पर बैठने के कुछ दिनों के वाद ही के दमिल (द्रविड़ या तमिल) ने, जो दक्षिण भारत के समुद्र तट से आया शायद मदुरा के पांड्य राजवंश का सदस्य था, मित्रसेन की हत्या कर दी। लंका के उत्तरी भाग को जीतकर दमिलों ने अपना कब्जा जमा लिया, उस के सामन्त भागकर द्वीप के दक्षिण भाग के रोहण नगर में चले गये। उसके पांच दमिल उत्तराधिकारियों ने २७ साल (सन् ४३७ से ४६० ई०) किया। इसके वाद लंका का एक सामन्त धातुसेन (सन् ४६०-४७८ ई०), जो (मयूर) कुल का था, विदेशियों को निकालकर सारे द्वीप का शासक वन गया। है कि दमिल राजाओं ने बौद्ध धर्म को संरक्षण नहीं दिया था, लेकिन धातुसेन ने पुन: पुरानी व्यवस्था कायम कर दी। उसने अनेकानेक बौद्ध विहार और मठ तालाब खुदवाये और कई किस्म की अन्य संस्थाएँ स्थापित कीं। उसके सबसे काश्यप (सन् ४७८-४९६ ई०) ने अपने पिता से विद्रोह करके उसको गिरफ्तार लिया और गद्दी पर अनधिकार कब्जा कर लिया।[1] १८ साल तक शासन बाद बूढ़े राजा की हत्या कर दी गयी। फिर खुद काश्यप के शासन-काल के में, उसका भाई मौद्गल्यायन, जो भागकर चला गया था, भारतीय सैनिकों दस्ता लेकर श्रीलंका-द्वीप लौट आया और लंका के अनेक लोग उसके झंडे आकर जमा हो गये। फिर जो युद्ध हुआ, उसमें काश्यप मारा गया और मौद्गल्यायन (सन् ४९६-५१३ ई०) श्रीलंका का राजा बना। एक चीनी राजा किया-चे काई-लो-हा-ली-या का जिक्र हुआ है, जिसने सन् ५२७ ई० में दरबार में अपना राजदूत भेजा था। किया-चे से निस्सन्देह काश्यप का नाम होता है, लेकिन यह सुझाया गया है कि यहाँ पर श्रीलंका के जिस राजा का वह बाद के एक राजा शिलाकाल से अभिन्न है।

कहा जाता है कि मौद्गल्यायन ने भारत की ओर से होने वाले आक्रमणों से द्वीप को मुक्त करने के लिए समुद्री तट की सीमा-रक्षक सेना तैनात की थी। धर्मनिष्ठ शासक था, जिसने अपना छत्र और राजचिह्न बौद्धमठ को भेंट करके अपनी आस्था प्रकट की थी। अपने शासन-काल के १७वें वर्ष में मौद्गल्यायन मृत्यु हो गयी और उसका बेटा कुमारदास या कुमारधातुसेन (सन् ५१३-२२ गद्दी पर बैठा। कुछेक लेखकों का विश्वास है कि कुमारदास ने सन् ५१५ अपना राजदूत चीन के दरबार में भेजा था, लेकिन यह एक गलतफहमी पर है। श्रीलंका की एक परवर्ती परम्परा, जिसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, इस जानकी-हरण काव्य के प्रसिद्ध लेखक कुमारदास से अभिन्न बताती है। लेकिन,

---

[1] गद्दी पर काश्यप का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि उसकी माँ उसके बाप की नहीं थी। दरअसल, मौद्गल्यायन गद्दी का वैध दावेदार था।

ने बताया है कि यह काव्य **काशिकावृत्ति** से बाद की रचना है, जो सातवीं सदी के मध्य में रची गयी थी। नौ वर्ष के लगभग राज करने के बाद कुमारदास का बेटा कीर्तिसेन उसका उत्तराधिकारी बना, जिसे कुछ दिनों के अन्दर ही गद्दी से उतारकर उसका मामा राजा वन बैठा। गद्दी पर अनधिकार कब्जा कर लेने वाले इस व्यक्ति का शीघ्र ही उपतिष्य ने (सन् ५२२-२४ ई०) वध किया, जो मौद्गल्यायन का बहनोई था और लम्बकर्ण खानदान का था। दो साल बाद उपतिष्य का विद्रोही बेटा शिलाकाल (सन् ५२४-५३७ ई०) गद्दी पर बैठा। **राजरत्नाकरय** में दी गई एक परम्परा के अनुसार शिलाकाल बुद्ध-निर्वाण से १०८८ वर्ष वाद और लङ्का में बौद्ध धर्म की शुरुआत से ८५२ वर्ष बाद गद्दी पर बैठा था। इस प्रकार प्रतीत होगा कि शिलाकाल बुद्ध-निर्वाण संवत् के १०८९वें वर्ष में राजा बना था, जो सन् ५४५ ई० के बराबर हुआ। कुछ लेखकों का मत है कि एक परम्परा के अनुसार यह तारीख दरअसल वेतुल्ल के धर्म-विधान को (वस्तुत: यह एक वेतुल्ल कृति है जिसका नाम सम्भवत: **धम्मधातु** था) लागू करने की तारीख है, जब शिलाकाल को राज करते हुए १२ साल बीत चुके थे। लेकिन इस संशोधन के वाद भी यह तारीख गीगर के कालानुक्रम के अनुकूल नहीं पड़ती। इसलिए गीगर ने यह अनुमान किया है **राजरत्नाकरय** की परम्परा में ही कोई गलती है। शिलाकाल ने अपने बड़े बेटे मौद्गल्यायन को पूर्वी प्रान्तों का गवर्नर नियुक्त किया और छोटे बेटे दंष्ट्राप्रभूति को मध्य लंका के पहाड़ी क्षेत्र (जिसे मलय कहते हैं), और दक्षिणी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया। शिलाकाल की जब अपने शासन-काल के तेरहवें वर्ष में मृत्यु हुई तो दंष्ट्राप्रभूति ने जबरन गद्दी पर कब्जा कर लिया, लेकिन शीघ्र ही मौद्गल्यायन के हाथों मारा गया, जो फिर अगला राजा बना।

मौद्गल्यायन द्वितीय (सन् ५३७-५५६ ई०) एक प्रतिभाशाली कवि और धर्मनिष्ठ शासक था, जो अपनी प्रजा में बेहद लोकप्रिय था। लगभग २० वर्ष राज करने के वाद उसकी मृत्यु हो गयी और उसका बेटा कीर्तिश्रीमेघ गद्दी पर बैठा। उसने कुछ दिनों तक ही राज किया जिसके दौरान राजमाता ने राज्य का प्रबन्ध गड़बड़ा दिया। इस वात से शह पाकर दक्षिणी श्रीलंका में रोहण नगर के एक विद्रोही अफसर महानाग ने राजा के विरुद्ध चढ़ाई कर दी। कीर्तिश्रीमेघ को मारकर महानाग (सन् ५५६-५९ ई०) राजा वना और उसने अपनी बहन के बेटे अग्रबोधि को **उपराजा** नियुक्त किया। लगभग तीन साल के वाद महानाग की भी मृत्यु हो गई और अग्रबोधि (सन् ५५९-९२ ई०)[1] गद्दी पर बैठा। अग्रबोधि ने अनेक मठ और विहार वनवाये और कुरुन्दुवव और मिहिन्तले के प्रसिद्ध तालाब खुदवाये। उसने अनेक धार्मिक संस्थाएँ और दान-संस्थान भी स्थापित किये। अग्रबोधि ने सिंहल भाषा में काव्य-रचना को

---

[1] सिंहल भाषा के कुछ विवरणों में महानाग और अग्रबोधि के शासन-कालों के बीच नौ वर्षों में एक राजा लमनि सिंगाना का शासन बताया गया है, हमने पादटिप्पणी सं. १ (पृ. ३२२) में दिए गये कारणों से इस राजा का नाम छोड़ दिया है और दोनों के शासन-कालों के बीच के समय को उससे मिला दिया है।

प्रोत्साहन दिया। उसने अपनी बहन के बेटे को, जिसका नाम भी अग्रबोधि **महादिपाद** (गद्दी के उत्तराधिकारी की उपाधि) से विभूषित किया। अपने काल के ३४वें वर्ष में उसकी मृत्यु हो गयी। अग्रबोधि द्वितीय (सन् ५९२-६० ने कन्तलइ और गिरितले के तालाब खुदवाये थे। उसके शासन काल में कलिं एक राजा और उसकी रानी श्रीलंका गये और वहाँ विख्यात बौद्ध दार्शनिक पाल से संसार-त्याग की दीक्षा ली। कलिंग के राजा का श्रीलंका जाना चालुक्य पुलकेशिन द्वितीय द्वारा दक्षिणी कलिंग पर कब्जा कर लेने की घटना का नतीजा था, क्योंकि पुलकेशिन का आक्रमण सन् ६३०-३१ ई० में हुआ था। कहते अग्रबोधि ने अपना राज्य और अपने आपको बुद्ध के स्मृति चिह्न वाले नि समर्पित किया था। अपने शासन-काल के दसवें साल में उसकी मृत्यु हुई।

अगला राजा संघतिष्य था, जो कुछ स्रोतों के अनुसार अग्रबोधि द्विती छोटा भाई था, यद्यपि यह भी सम्भव है कि वह अग्रबोधि की रानी का रिश्तेदार र संघतिष्य के गद्दी पर बैठते ही, अग्रबोधि द्वितीय के एक जेनरल मौद्गल्यायन ने लंका के रोहण नगर में उसकी सत्ता के प्रति विद्रोह कर दिया। युद्ध में सं मारा गया और मौद्गल्यायन तृतीय (सन् ६०२-०८) गद्दी पर बैठा। संघति बेटा ज्येष्ठतिष्य अपनी जान बचाकर भाग निकला। छः साल राज करने के मौद्गल्यायन तृतीय भी एक अन्य विद्रोही के हाथों मारा गया, जिसका नाम शि वर्ण (सन् ६०८-१७ ई०) था, जिसने राजधानी समेत लंका के उत्तरी भा कब्जा जमा लिया। हरेक के प्रति उदारता की नीति अपना कर उसने सब वर्गों के के दिल जीत लिए। लेकिन श्रीनाग नाम का एक जेनरल, जो राजा संघति रानी का भाई था, भागकर दक्षिण लंका चला गया और वहाँ से दमिलों (त की एक बड़ी सेना जमा करके शिलामेघवर्ण द्वारा शासित उत्तरी प्रान्त को जीत लिए लौटा। लेकिन राजा इस सेना को पूरी तरह कुचलने में सफल रहा। किसी अपराध के लिए शिलामेघवर्ण ने बौद्ध श्रमणों की एक बड़ी तादाद को कठोर दी और उनमें से सौ को देश निकाला देकर भारत भेज दिया। नौ साल राज क बाद उसकी मृत्यु हो गई, और उसके बाद उसका छोटा बेटा अग्रबोधि तृतीय (६१७-३२ ई०) गद्दी पर बैठा। उसका उपनाम श्रीसंघबोधि था। यह दिलचस्प स्मरणीय है कि परवर्ती काल में लंका के राजाओं में एक दूसरे के बाद शिलामे और श्रीसंघबोधि उपनाम धारण करने की प्रथा चल पड़ी थी। अग्रबोधि तृती गद्दी पर बैठने के शीघ्र बाद ही ज्येष्ठतिष्य ने, जो अपने बाप संघतिष्य की मृ बाद से पुनः गद्दी प्राप्त करने की योजना बनाता रहा था, लंका के दक्षिणी और जिलों पर कब्जा कर लिया और वह राजधानी—नगर अनुराधपुर की ओर फौज बढ़ा। अग्रबोधि तृतीय को हराकर ज्येष्ठतिष्य तृतीय राजा बन गया। अग्रबोधि तृ भागकर दक्षिण भारत चला गया, लेकिन कुछ महीनों के अन्दर ही वह दमिल सै का एक दस्ता लेकर फिर श्रीलंका वापस पहुँचा। युद्ध में ज्येष्ठतिष्य तृतीय

गया और अग्रबोधि को पुनः उसकी सत्ता मिल गयी। लेकिन ज्येष्ठतिष्य तृतीय का एक जेनरल दंष्ट्राशिव, जिसे उसने किराये के दमिल सैनिक लाने के लिए भारत भेजा था, दक्षिण भारतीय सैनिकों की एक फौज लेकर लौटा और राजधानी पर हमला करने के लिए आगे बढ़ने लगा। अब दंष्ट्राशिव के लिए गद्दी छोड़कर अग्रबोधि तृतीय के भागने की बारी थी और वह भारत चला गया। दंष्ट्राशिव ने दंष्ट्रोपतिष्य का नाम धारण कर लिया। लेकिन अग्रबोधि तृतीय फिर नयी कुमक लेकर वापस लौटा और दोनों प्रतिद्वन्द्वी एक लम्बे अरसे तक लगातार संघर्ष करते रहे, जिससे आम जनता को कठोर दुख झेलने पड़े। अग्रबोधि तृतीय की सन् ७३२ ई० में मृत्यु हो गयी, लेकिन दंष्ट्रोपतिष्य के विरुद्ध उसके छोटे भाई काश्यप द्वितीय (सन् ६३२-४१ ई०) ने संघर्ष जारी रखा। उसने दंष्ट्रोपतिष्य को भागकर भारत जाने के लिए मजबूर कर दिया और फिर भी श्रीलंका में अपनी स्थिति मजबूत बनाने में जुट गया। दंष्ट्रोपतिष्य जब दोबारा दक्षिण भारतीय सैनिकों की एक बड़ी फौज लेकर लौटा तो काश्यप द्वितीय ने उसको युद्ध में मार डाला, यद्यपि दंष्ट्रोपतिष्य का एक बेटा हस्तदंष्ट्र जान बचाकर भारत भाग गया। तदनन्तर काश्यप द्वितीय एक असाध्य बीमारी से ग्रस्त हो गया और उसने प्रशासन का सारा भार अपनी बहन के बेटे मान को सौंप दिया। यह मान रोहण के इक्ष्वाकु परिवार का था। नौ वर्ष के शासन के बाद राजा की मृत्यु हो गयी। उस समय मान दंष्ट्रोपतिष्य द्वारा भारत से लाये गये किराये के दमिल सैनिकों से, जो एक अनुशासनहीन भीड़ की तरह लूटमार कर रहे थे, युद्ध कर रहा था। मान ने अपने पिता दप्पुल को, जो इस बीच रोहण के राज्य का स्वतन्त्र शासक बन गया था, श्रीलंका का राजा बनाकर गद्दी पर बैठाया। लेकिन शीघ्र ही हस्तदंष्ट्र दमिलों का एक नया सैनिक दस्ता लेकर लौट आया। दप्पुल ने भाग कर रोहण में शरण ली, और मान ने पूर्वी प्रान्त में। हस्तदंष्ट्र या दंष्ट्रोपतिष्य द्वितीय ने नौ साल (सन् ६४१-५० ई०) तक राज किया, और उसके बाद उसका छोटा भाई अग्रबोधि चतुर्थ (सन् ६५०-६६ ई०) गद्दी पर बैठा। उसका उपनाम श्रीसंघबोधि था। इस राजा के दरबार में अनेक दमिल सामन्तों को ऊँचे पद प्राप्त थे। वह धार्मिक स्वभाव का आदमी था। वह और उसके पदाधिकारी अपने परोपकारी कार्यों के लिए प्रसिद्ध थे। सोलह साल राज करने के बाद उसकी मृत्यु हो गयी और एक दमिल अफसर ने, जिसका नाम पुस्तकुष्ठ था, हुकूमत पर कब्जा करके दत्त (सन् ६६६-६८ ई०) नाम के एक व्यक्ति को, जो राज-परिवार का था, गद्दी पर बैठा दिया। जब दो साल बाद दत्त की मृत्यु हो गयी तो पुस्तकुष्ठ ने हस्तदंष्ट्र नाम के एक व्यक्ति को गद्दी पर बैठाया। लेकिन इस नये राजा को कुछ महीनों बाद ही मान, मानक या मानवर्मन् (सन् ६६८-७०३ ई०)[1] ने,

---

[1] गीगर ने मानव वर्मन् के गद्दी पर बैठने की तारीख सन् ६७६ ई. बतायी है। लेकिन ऊपर लिखित तथ्य पृ. ३१६ को ध्यान में रखें तो यह बात असंभव मालूम देगी, क्योंकि उसकी सहायता करने वाला नरसिंह वर्मन् प्रथम अप्रैल सन् ६७४ ई. से काफी पहले ही गुजर गया होगा।

जो राजा काश्यप द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र था, कत्ल कर दिया। हस्तदंष्ट्र या
द्वितीय (सन् ६४१-५० ई०) के शासन-काल में वह भागकर कंडुवेट्टि
काडुवेट्टि या पल्लव) राजा नरसिंह-वर्मन् के दरबार में भारत चला गया
नरसिंह-वर्मन् निश्चय ही कांँचीपुर के पल्लव-बंश का नरसिंह-वर्मन् प्रथम
जिसने चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय को सन् ६४२ ई० के लगभग हराया
जिसने सन् ६७४ ई० (जबकि उसका पोता परमेश्वर-वर्मन् प्रथम राज गद्दी पर
था) से कुछ पहले तक राज किया था। मानव-वर्मन् जिन दिनों नरसिंह
दरबार में ठहरा हुआ था, उन दिनों, कहा जाता है कि वल्लभ (अर्थात्
सम्भवतः पुलकेशिन् द्वितीय, पल्लव राजा से युद्ध करने के लिए आया था।
लगता है कि मानव-वर्मन् सन् ६४२ ई० से पहले ही, और अपने पिता काश्यप
की मृत्यु के फौरन बाद ही भागकर पल्लव दरबार में पहुँच गया था। कहा
कि मानव-वर्मन् ने वल्लभ या चालुक्य राजा के विरुद्ध नरसिंह-वर्मन् के युद्ध में,
चालुक्य राजा की पूर्ण हार हुई थी, अपनी अद्भुत वीरता का परिचय दिया
बात से नरसिंह वर्मन् बहुत प्रसन्न हुआ था और उसने मानव-वर्मन् को एक
जिसकी मदद से उसने श्रीलंका पर आक्रमण किया। लेकिन इसके बाद
दंष्ट्रोपतिष्य की सेना पर उसने विजय प्राप्त की थी, यह अभियान असफल
मानव-वर्मन् को एक बार फिर भागकर पल्लव राजा नरसिंह-वर्मन् के दरबार
लेनी पड़ी। वह लंका के चार राजाओं, अर्थात् दंष्ट्रोपतिष्य द्वितीय या हस्तदंष्ट्र
(सन् ६४१-५० ई०), अग्रबोधि-चतुर्थ (सन् ६५०-६६ ई०), दत्त (सन् ६६६-
और हस्तदंष्ट्र द्वितीय (सन् ६६८ ई०) के शासन-काल के दौरान, पल्लव
ही बना रहा। अन्त में नरसिंह वर्मन् दुबारा उसे सेना देकर श्रीलंका भेजने
राजी हो गया। इस बार मानव-वर्मन् श्रीलंका के नाम-मात्र के राजा हस्तदंष्ट्र
और वहाँ के प्रशासक पुस्तकुष्ठ को पूरी तरह हराने में कामयाब हुआ और
६६८ ई० के लगभग लंका की गद्दी पर बैठा। कुछ प्राचीन स्रोतों के
मानव-वर्मन् ने ३५ वर्ष तक राज किया। उसके उत्तराधिकारी उसके बेटे थे—
पंचम (सन् ७०३-७०९ ई०) जिसने छः साल तक राज किया और काश्यप तृतीय
७०९-१६ ई०) जिसने शायद सात साल तक राज किया। काश्यप तृतीय के
में उसका भाई **आदिपाद** की हैसियत से राज्य का शासन चलाता था। महेन्द्र
७१६-१९ ई०) बाद में राजा बना[1] और उसने तीन साल तक राज किया।

---

[1] चूँकि महेन्द्र ने **अभिषेक** का निषेध कर दिया, इसलिए उसे आजीवन "आदिपाद"
ही समझा जाता रहा। **आदिपाद** की उपाधि गद्दी के वारिस को दी जाती थी। अगर कई
होते थे तो राजा का सबसे ज्यादा नजदीकी रिश्तेदार **महादिपाद** पुकारा जाता
उपाधि **युवराज** के समान थी। अक्सर युवराज को **उपराज** की पदवी दी जाती थी, जो
विश्वस्त हैसियत की सूचक थी और उसके साथ अनेक अधिकार भी जुड़े हुए थे, अर्थात्
हिस्सेदारी आदि। लङ्का का उत्तरी भाग राजराष्ट्र (राजा का प्रान्त) कहलाता था, लेकिन

बाद उसका बेटा अग्रबोधि षष्ठ शिलामेघवर्ण (सन् ७१९-५९ ई०) गद्दी पर बैठा। एक चीनी विवरण के अनुसार एक भारतीय श्रमण वज्रबोधि समुद्री मार्ग द्वारा चीन से लौटते समय लंका के तट पर पहुँचा, जहाँ सन् ७१८-१९ ई० में वहाँ के राजा ची-ली-ची-लो, अर्थात् श्रीशिला ने, जो प्रत्यक्षतः श्रीशिलामेघवर्ण का संक्षिप्त रूप है, उसको निमन्त्रित किया। इन पृष्ठों में कालानुक्रम की जो योजना अपनायी गयी है, उसके अनुसार यह राजा अग्रबोधि षष्ठ शिलामेघ भी हो सकता है, यद्यपि गीगर उसे काश्यप तृतीय से, जिसने भी यह उपाधि धारण की थी, अभिन्न मानता है। चीनी स्रोतों से यह भी ज्ञात होता है कि राजा ची-ली-भी-किया, अर्थात् शिलामेघ या शिलामेघवर्ण ने सन् ७४२ ई० और ७४६ ई० में दो बार चीन के दरबार में अपने राजदूत भेजे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजा अग्रबोधि छठा शिलामेघवर्ण था।

सामान्य सन्दर्भ

डब्ल्यू. गीगर—**महावंश (अनुवाद) : चूलवंश (अनुवाद)**
एच. डब्ल्यू. कॉड्रिंगटन — **ए शार्ट हिस्टरी ऑफ सीलोन**
जी. सी. मेन्डिस — **दि अर्ली हिस्टरी ऑफ सीलोन**
हुल्त्श—**कंट्रीब्यूशंस टु सिंहालीज क्रोनोलॉजी,** ज. रा. ए. सो., १९१३, पृ. ५१७

प्रान्त को अक्सर युवराज-राष्ट्र कहा जाता था, जबकि **माया-राष्ट्र** का क्षेत्र (उत्तरी प्रान्त के दक्षिण का प्रदेश) शायद **महादिपाद-राष्ट्र** का नाम था। राजा के छोटे बेटे को अक्सर **मलयराज** (अर्थात् मध्यलङ्का के पहाड़ी इलाके मलय का स्वामी) की पदवी प्रदान की जाती थी।

परिच्छेद : १५

साहित्य

१. संस्कृत

गुप्त-सम्राटों के अन्तर्गत भारत की राजनीतिक एकता और आर्थिक सम्
वातावरण में उन्होंने संस्कृत को जिस दृढ़ता से अपना संरक्षण प्रदान किया,
परिणाम स्वरूप संस्कृत साहित्य ने अपनी समस्त विधाओं और शाखाओं में
की। विवेच्य-काल में पुराणों और स्मृति-साहित्य का पूर्ण विकास हुआ। स
इस काल में ही महाकाव्यों का भी अन्तिम रूप से परिष्कार करके उन्हें वर्तमान
दिया गया। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण विकास लौकिक साहित्य के क्षेत्र में हुआ।
कहना उचित ही होगा कि इस काल ने साहित्य के हर क्षेत्र में श्रेष्ठतम लेखक
किये, यहाँ तक कि खगोल-विद्या और गणित आदि वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी। यह
इस तथ्य से प्रमाणित है कि कालिदास, भवभूति, भारवि और माघ जैसे नाटक
और कवि; दण्डी, सुबन्धु और बाण जैसे गद्य-लेखक; भामह जैसे अलंकार-शा
चन्द्र, वामन और भर्तृहरि जैसे व्याकरणाचार्य; अमर जैसे कोशकार; गौड़
कुमारिल और प्रभाकर जैसे दार्शनिक और आर्यभट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त
ज्योतिषाचार्य आदि सब इस काल में ही हुए थे और इसलिए इसे संस्कृत साहि
"स्वर्ण युग" कहना सर्वथा उपयुक्त होगा। एक समय था जब कुछ विद्वानों का
था कि गुप्तकाल में संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान या पुनर्जागरण हुआ था। इ
को अब शास्त्रीय दृष्टि से सही नहीं माना जा सकता। क्योंकि संस्कृत साहित्य
भी युग में पिछड़ा नहीं था, और गुप्तकाल से पहले की शताब्दियों में भी संस्कृ
प्रभाव लगातार बना रहा था। यह बात भास और अश्वघोष की रचनाओं से प्र
हो जाती है, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है।[1] गुप्तकाल के अभिलेख, वि
कर समुद्रगुप्त का इलाहाबाद स्तम्भ-लेख और वत्सभट्टि (सन् ४३७ ई०) का म
अभिलेख, स्पष्टतः जाहिर करते हैं कि चौथी और पाँचवीं शताब्दी जैसे प्राचीन
में भी अलंकृत काव्य शैली का प्रौढ़ विकास हो चुका था। गुप्तकाल में सं
साहित्य का प्रस्फुटन अवश्य हुआ था, लेकिन पुनर्जागरण नहीं। अब हम सं
साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले विकास का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

---

[1] जिल्द II (अँगरेजी संस्करण), पृ. २५८ पृ. पृ.।

१. पुराण

प्राचीन वैदिक साहित्य में आमतौर पर **पुराण** शब्द का प्रयोग **इतिहास** के सम्बन्ध में किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में इस शब्द का तात्पर्य 'प्राचीन आख्यान' होता था; यह आख्यान किस किस्म का था, इस बात को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। लेकिन शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार पुराण से अपेक्षा की जाती है कि उसमें पाँच विषयों की चर्चा होगी (पंचलक्षण); अर्थात् (१) **सर्ग** या सृष्टि की उत्पत्ति की कहानी, (२) **प्रतिसर्ग** या प्रलय के बाद पुनः सृष्टि की कहानी, (३) वंश या वंशावली, (४) **मन्वन्तर** अर्थात् कालसूचक युगों-महायुगों का क्रम, जिनके आरम्भ में आदि पुरुष मनु मानव-जाति के प्रजनक के रूप में प्रकट हुए थे, तथा (५) **वंशानुचरित** या सूर्यवंश और चन्द्रवंश दोनों के राजवंशों का इतिहास। लेकिन पुराणों के नाम पर हमें जो कृतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें इस परिभाषा का शायद ही पालन किया गया है, क्योंकि उनमें या तो इस निर्धारित सीमा से बाहर की बातें आ गयी हैं या उससे बहुत कम सामग्री है। अगर यह मान लिया जाय कि यह परिभाषा कृतियों के वास्तविक पाठों पर आधारित थी, तो स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होगा कि पुराणों के वर्तमान पाठ कटे-छँटे या संशोधित हैं।

पुराणों में ही कहा गया है कि उनकी संख्या अठारह है। आमतौर पर उनके नाम इस प्रकार बताये गये हैं : **ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव या वायु, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़** और **ब्रह्माण्ड**। पद्म-पुराण में इनका तीन गुणों के आधार पर वर्गीकरण किया गया है और उन्हें तीन प्रमुख देवताओं में से किसी एक से सम्बद्ध बताया गया है। इस प्रकार **विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म** और **वराह, वैष्णव-धर्मी सात्विक पुराण** हैं और उनका पाठ करने से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है; **ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन** और **ब्रह्म पुराण** ब्रह्म-सम्बन्धी राजस पुराण हैं, और उनका पाठ करने वाले को केवल स्वर्ग प्राप्त होता है; और अन्त में **मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव स्कन्द** और **अग्नि** पुराण **शैव-धर्मी तामस पुराण** हैं। आश्चर्यजनक बात यह है कि कहा गया है, इन पुराणों का पाठक सीधे नर्क में जाता है।

सूचियों में प्रथम नाम होने के कारण **ब्रह्म-पुराण** को **आदि-पुराण** माना जाता है। इसकी कथा सूत ने नैमिषारण्य में एकत्र ऋषियों को सुनायी थी। इसके अधिकांश भाग में पवित्र स्थानों और तीर्थों की महिमा का वर्णन है और एक बड़ा भाग कृष्ण-कथा से सम्पूरित है। इसके अन्दर बहुत कुछ वह सामग्री भी है, जो सभी पुराणों में सामान्यतः मिलती है — सृष्टि निर्माण का आख्यान, मनु और उसके वंशजों का आख्यान, सूर्य और चन्द्र राजवंशों के आख्यान और पृथ्वी और नर्क के वर्णन आदि। अन्त में कुछ अध्यायों में श्राद्धों, विभिन्न जाति-धर्मों, आश्रमों तथा विष्णु की उपासना से प्राप्त फलों का वर्णन है।

पद्म-पुराण के दो पाठ उपलब्ध हैं, जिनमें से बंगाली पाठ, जो पाँच खं आन० सं० सी० सं० २८ से अपेक्षया पुराना है, जिसमें छः खंड हैं। सृष्टि वंशावलियों और महिमा-वर्णनों आदि के सामान्य विवरणों के अलावा, इस अनेक दूसरी मिथक कथाएँ और जनश्रुतियाँ भी दी गयी हैं, जिनमें शकुन्तला, राम और ऋष्यशृंग की कथाएँ भी शामिल हैं। इस पुराण में दी गयी **मत्स्य-पुराण** में दी गयी वंशावली से मिलती है। अन्तिम खंड में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। बृहद् संस्करण वाली कुछ पुस्तकों में गणेश और शिव की प्रशस्ति में लिखे अध्याय भी मिलते हैं।

लगता है कि इन तमाम पुराणों में से सिर्फ विष्णु-पुराण में ही मूलपाठ रह पाया है, क्योंकि इसमें एक प्रकार से पुराण की शास्त्रीय परिभाषा का पा गया है। इसमें घोषणा की गयी है कि विष्णु ही सर्वोच्च देवता है, वह जगत मात्र स्रष्टा और पालक है। पहले खंड में सृष्टि के निर्माण तथा देवताओं और का प्रथानुसारी विवरण है। इस खंड में जो आख्यान और मिथक-कथाएं हैं, समुद्र-मंथन की कथा और ध्रुव और प्रह्लाद की कथाएँ विशेष रूप से उल्ले अगले खंड में इस संसार और अपर-संसारों और स्वर्ग-लोकों के विचित्र और काल्पनिक वर्णन किये गये हैं। तीसरे खंड में मनु और **मन्वन्तरों** का विवरण है। में सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावलियाँ हैं, जो वायु-पुराण में दी गयी से मिलती हैं और कलियुग के बारे में एक भविष्यवाणी दी गयी है, जिस अन्तिम खंड में है। पाँचवें खंड में अलौकिक कृष्ण और उसकी अद्भुत ली चर्चा है।

वायु-पुराण में भी जिसका उल्लेख बाणभट्ट ने अपने **हर्षचरित** में किया पाठ बहुत कुछ सुरक्षित लगता है। सामान्य सामग्री के अलावा, उसमें शिव की का बखान करने वाली अनेक कथाएँ हैं, जिससे इसको **शिव-पुराण** भी कहा इसके विपरीत **नारद-पुराण** में विष्णु-भक्ति का प्रतिपादन है और वह बिलकु दायिक रचना है। इसमें सृष्टि-निर्माण या वंशावलियों का सामान्य विवरण भी

इस वर्ग के साहित्य में, **भागवत-पुराण** सबसे ज्यादा लोकप्रिय है, यद्यपि की दृष्टि से यह बहुत बाद की रचना है। भारत में, तथा बाहर भी, इस पु प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया गया है, और कुछ विद्वान् इसे वोपदेव नाम वैयाकरण की रचना मानते हैं। इसमें बारह स्कन्ध हैं, जिनमें से दसवें स्कन्ध का जीवन-चरित है, जो सबसे ज्यादा पढ़ा जाता है। अन्य खंडों में पुराणों की सारी सामग्री है। यह ध्यातव्य है कि सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल और यौ इस पुराण में विष्णु के अवतार बताये गये हैं।

मार्कण्डेय-पुराण, जिसमें मार्कण्डेय ऋषि स्वयं वक्ता की भूमिका पूरी सबसे प्राचीन पुराणों में है। उसके कुछ भागों में विष्णु या शिव किसी की भी का बखान नहीं किया गया है, प्रत्युत वैदिक देवताओं, इन्द्र, अग्नि और सूर्य का

। यह सारा पुराण प्रधानतः एक वर्णनात्मक रचना है और अपेक्षया उन साम्प्रदायिक त्वों से मुक्त है, जो अन्य पुराणों में प्रमुख जान पड़ते हैं ।

अग्नि-पुराण का यह नाम इसलिए पड़ा कि ऐसी परम्परा है कि स्वयं अग्नि ने षि वशिष्ठ को यह पुराण सुनाया था । मूलतः यह एक शैव-धर्मी रचना है, जिसमें ग, दुर्गा और गणेश-भक्ति की चर्चा है । इसमें अन्य विविध विषयों की भी चर्चा — ज्योतिष और खगोल-विद्या, भूगोल और राजनीति, कानून और चिकित्सा शास्त्र, न्दशास्त्र और व्याकरण, विवाह और मृत्यु सम्बन्धी रीति-रिवाज — अतः प्रकृत्या ह पुराण एक प्रकार का विश्वकोश जैसा है ।

भविष्य-पुराण के शीर्षक से शायद कोई सोचे कि इसमें विभिन्न प्रकार की भविष्य-णियां हैं । लेकिन दरअसल इसमें ब्राह्मणधर्मी कर्मकांडों, उपासना-विधियों, जाति पेष के धर्मों या कर्त्तव्यों आदि का ही अधिकतर वर्णन है । इसमें शाकद्वीप में प्रच-त सूर्योपासना के सिलसिले में, जो जरतुष्त्र के सूर्य और अग्निपूजक सम्प्रदाय से म्बन्धित है, भोजक और मग नामके दो सूर्य-पुरोहितों का उल्लेख है ।[1] इसकी जो प्रति पलब्ध है, वह इस नाम का मूल पुराण नहीं है । और जैसा कि टामस आउफरेख्त Thomas Aufrecht) ने सिद्ध किया है, सन् १८९७ ई० में बम्बई के श्रीवेंकट प्रेस **भविष्य-पुराण** का जो पाठ प्रकाशित हुआ था, वह एक 'साहित्यिक धोखा' था ।[2] **पस्तंब धर्मशास्त्र**[3] में **भविष्य-पुराण** का उल्लेख है, इसलिए मूल पुराण चौथी ताब्दी ईसापूर्व की रचना हो सकती है । लेकिन बाद का **भविष्य-पुराण**, जिससे मत्स्य, यु और ब्रह्माण्ड पुराणों ने अपने विवरण नकल किये हैं, ईसा की तीसरी सदी में ही स्तित्व में आया था ।[4] **ब्रह्मवैवर्त-पुराण** में ब्रह्मा को इस जगत् का स्रष्टा बताया गया । दूसरे खंड में दिखाया गया है कि **प्रकृति** पंच देवियों—दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, वित्री और राधा — के रूप में परिवर्तित हो जाती है । यह पुराण कृष्ण भक्ति से म्बन्धित है, इसका पता अन्तिम खंड में जाकर ही लगता है, जहाँ कृष्ण का जीवन-रित दिया गया है । इसका कुछ पता तीसरे खंड से भी चलता है, जहाँ गणेश को ष्ण का अवतार माना गया है ।

पुराण के मूल अर्थ से **लिंग** और **वराह** पुराणों में कोई साम्य नहीं है, और लगता कि ये बाद के किसी युग की रचनाएँ हैं । **लिंग-पुराण** तान्त्रिकों के प्रभाव में रचा या प्रतीत होता है और उसमें **लिंग** के रूप में शिवोपासना का उपदेश दिया गया है । **राह-पुराण** मुख्य रूप से विष्णु की उपासना-विधि का ग्रन्थ है, यद्यपि उसमें शिव, र्गा और गणेश सम्बन्धी आख्यान भी मिलते हैं ।

प्राचीन **स्कन्द-पुराण** शायद हमेशा के लिए विलुप्त हो चुका है । अब केवल उसका

---

१. डी. आर. भंडारकर, ई. इ., IX. पृ. २७९ ।
२. त्सां, इवा मो. गे. LVII, पृ. २७६ प. पृ.।
३. II ९, २४२-४६ ।
४. पार्जीटर, ए. इ. हि. ट्रै., पृ. ५०-५१ ।

नाम ही बाकी है, जिससे अनेक बृहद् ग्रन्थ, जिन्हें उसके विभिन्न खंडों की संहि जाता है, और अनेक माहात्म्य अपने को सम्बद्ध बताते हैं। इनसे ज्ञात होता है **स्कन्द-पुराण** में छः संहिताएँ थीं, जिनमें शिवोपासना की शिक्षा दी गयी थी। प्रसिद्ध काशी खण्ड में बनारस शहर की पवित्रता का वर्णन है और उसके मन्दिरों और तीर्थों की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले आख्यानों का समान गुप्त-लिपि में लिखी हुई इस पुराण की एक मात्र प्राचीन पाण्डुलिपि, जो शताब्दी ई० की है, हर प्रसाद शास्त्री को प्राप्त हुई है, लेकिन वह भी पुराण के तत्त्वों के अनुसार नहीं है।

इसी प्रकार **वामन-पुराण** भी अपने मूल रूप में नहीं है। इसके काफी बड़े में लिंगपूजा का वर्णन है, तथा शिव और उमा, गणेश और कार्तिकेय सम्बन्धी आख्यान हैं। कूर्म-पुराण की चार संहिताओं में केवल एक ही उपलब्ध है। कछुवे (कूर्म) के रूप में विष्णु ने राजा इन्द्रद्युम्न को यह पुराण सुनाया है। सन्देह नहीं कि इसमें पुराण के पाँचों तत्त्व मिलते हैं, लेकिन साथ ही अनेक प्र मिलावटें भी हैं।

मत्स्य-पुराण उन विरल पुराणों में है, जिसमें मूल सामग्री का अधिकांश सुरक्षित है। यह पुराण मत्स्य (मछली) और मनु के बीच एक वार्तालाप के लिखित है। प्रलय के समय इस मत्स्य ने मनु की रक्षा की थी। अन्य पुराणों तरह, इसमें भी अनेक अनुश्रुतियाँ और आख्यान वर्णित हैं। उनमें ययाति और के आख्यान भी हैं। इनके अलावा इसमें विभिन्न मेलों, उत्सवों, धर्म-विधि तीर्थों की महिमा का वर्णन है।

गरुड़-पुराण में विष्णु की उपासना की विभिन्न विधियों पर विशेष जोर गया है। **अग्नि-पुराण** की तरह इसका भी एक तरह से विश्वकोश जैसा इसमें "**रामायण, महाभारत** और **हरिवंश** की विषयवस्तु संक्षेप में दोहराई गयी है इसके विभिन्न खंडों में विश्व-रचना, खगोल-शास्त्र और ज्योतिष, शकुन- हस्त-सामुद्रिक, चिकित्सा, छन्द-शास्त्र, व्याकरण, रत्नपरीक्षा और राजनीति विषयों का परिचय है। याज्ञवल्क्य-धर्मशास्त्र का काफी हिस्सा भी इसमें शामि लिया गया है।"[1] अन्त्येष्टि-क्रिया-विधि और पितर-पूजा तथा साथ ही सती के अन्त्येष्टि यज्ञ आदि की विधियाँ भी बतायी गयी हैं।

मत्स्य-पुराण के अनुसार ब्रह्माण्ड की महिमा का बखान करने के लिए ब्रह्माण्ड पुराण सुनाया था। अनुमान किया जाता है कि इसमें भावी कल्पों विवरण था। लेकिन इस पुराण की जो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, वे इस मेल नहीं खातीं, क्योंकि उनमें केवल पवित्र स्थानों की महिमा का वर्णन और हैं। **अध्यात्मरामायण** को इस पुराण का ही एक अंग माना जाता है। इसमें अद्वैतवाद की शिक्षा दी गयी है और रामभक्ति को मोक्षप्राप्ति का मार्ग माना

---

[1] विंटरनिट्स, हि. इ. लि., I ५७६-७७।

इन पुराणों के अलावा और भी अनेक पुस्तकें हैं, जिन्हें उपपुराण कहा जाता है। उनकी संख्या भी अठारह बतायी जाती है। ये उपपुराण एक प्रकार से स्थानीय धार्मिक-सम्प्रदायों और उपासना-विधियों के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये हैं। इस वर्ग की पुस्तकों में एक **विष्णुधर्मोत्तर** का उल्लेख करना उचित होगा, क्योंकि अल्बरूनी ने अक्सर उसका हवाला दिया है। वह वैष्णव-मत सम्बन्धी एक काश्मीरी रचना है और इसमें प्रथानुसारी सामग्री के अलावा नृत्य, गायन, चित्रकारी और मूर्तिकला आदि ललित कलाओं तथा अन्य अनेक विषयों की चर्चा मिलती है। अन्य बातों के साथ साथ **बृहद्-धर्म-पुराण** में कपिल और बुद्ध के अलावा वाल्मीकि और व्यास भी विष्णु के अवतार कहे गये हैं। **कल्कि-पुराण** में कलियुग की समाप्ति के समय विष्णु की लीलाओं का वर्णन है।

महाकाव्यों की तरह पुराणों के भी मूल लेखक सूत या चारण थे।[1] इसलिए हम देखते हैं कि प्रायः सभी पुराणों का वक्ता या तो सूत लोमहर्षण है या उसका बेटा उग्रश्रवस् (सौति)। बाद में यह कार्य पुजारियों के हाथ में आ पड़ा, जो ढंग से शिक्षित नहीं होते थे, और मन्दिरों या तीर्थों में पूजा-पाठ करके जीविका कमाते थे। मन्दिरों के इन पुजारियों ने पुराणों में जी भर कर ऐसी सामग्री भर दी जिससे उनका स्वार्थ-साधन होता था। इस मिलावटी सामग्री में कुछ का तो बिल्कुल स्थानीय रंग है, जिससे सम्भव है कि "**ब्रह्म-पुराण** दरअसल मूल पुराण का उड़ीसाई रूपान्तर हो, जिस तरह पद्म-पुराण उसका पुष्करी रूपान्तर है और **अग्नि-पुराण** में गया, **वराह-पुराण** में मथुरा, वामन-पुराण में थानेश्वर, **कूर्म-पुराण** में बनारस और **मत्स्य-पुराण** में नर्मदा तट के ब्राह्मणों का रंग मिलता है।"[2] इस प्रकार पुराणों के नाम पर इस समय जो कृतियाँ उपलब्ध हैं, वे किसी हद तक साम्प्रदायिक हैं और किसी खास देवता या उसके पवित्र स्थान के पक्ष में प्रचार करती हैं।

परवर्ती काल में हिन्दू-धर्म के विकास में पुराणों ने जो योग दिया उसका महत्त्व किसी भी प्रकार अतिरंजित करके नहीं बताया जा सकता है। सच तो यह है कि इन

---

[1] पुराणों के मूल रूप के बारे में पार्गिटर (Pargiter) का कहना है कि अधिक सम्भावना इस बात की है कि इनमें (अर्थात् पुराणों में) पहले-पहल प्राचीन कथाएँ, वंशावलियाँ, गाथाएँ आदि रही थीं, जो प्राचीन साहित्य का लोकप्रिय पक्ष था, और जो सम्भवतः मूलरूप में प्राकृत भाषा में थीं। दरअसल मुझे तो ऐसा लगता है कि वे अधिकतर उस प्राचीन साहित्यिक प्राकृत में थीं, जिसका प्रयोग उच्च वर्गों में किया जाता था। किन्तु राजनीतिक प्रत्यावर्तनों के फलस्वरूप जब बोलचाल की भाषाएं समय के साथ संस्कृत से अधिक दूर होती गयीं तो साहित्यिक प्राकृत भी दुर्बोध हो गयी और संस्कृत ही ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म की एकमात्र परिमार्जित भाषा रह गयी। इसलिए इस साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए उसका संस्कृतीकरण जरूरी हो गया .... डा. का. ए. भूमिका, XVII, पा. टि. २। इस मत को जानने के लिए कि पुराण पहले-पहल प्राकृत भाषा में रचे गये थे और बाद में उनका संस्कृत रूपान्तर किया गया था, देखिए पू. पु. पृ. x-xi तथा परिशिष्ट तथा पुसलकर, आचार्य ध्रुव कमेमोरेशन वाल्यूम भाग III, पृ. १०१-१०४।

[2] ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो., सेंटेनेरी मेमोरियल वॉल्यूम, पृ. ७३.

पुराणों से "हमें हिन्दू धर्म के सभी पहलुओं और रूपों के—उसकी देवमाला कल्पनाओं, मूर्तिपूजा, ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद, धार्मिक मेलों और अनुष्ठा उसके आचार-शास्त्र आदि के बारे में जितनी गहरी अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है अन्य कृतियों से नहीं।"[1] ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन **राज-कुलों** की वंशावलियों करने वाले **वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य** और **विष्णु पुराण**[2] सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं अलावा कुछ पुराणों में—और विशेषकर **ब्रह्माण्ड, वायु** और **मत्स्य** में प्रमुख कुलों की वंशावलियाँ भी हैं, लेकिन जो काफी दोषपूर्ण भी हैं। राजाओं और की ये वंशावलियाँ ही प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध एकमात्र ऐतिहासिक हैं, जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है।[3]

शास्त्रीय परम्परा के अनुसार, **अथर्ववेद** और **बृहदारण्यक उपनिषद्** में पुराण दिव्य रचनाएँ हैं। कहा गया है कि पुराणों के मुख्य वक्ता (नेरेटर) ने, लोमहर्षण या उसका पुत्र उग्रश्रवस् है, यह सारी सूचना व्यास के द्वारा स्वयं स्रष्टा से प्राप्त की थी।

यद्यपि वैदिक साहित्य में भी पुराणों का उल्लेख है, लेकिन वास्तविक पु अस्तित्व का पता सूत्रकाल और उसके बाद से ही चलता है। कछ धर्म-सूत्र, जै का धर्म-सूत्र, पुराणों को धर्मशास्त्रों का स्रोत बताते हैं, जबकि **अपस्तंब** ने **पुराण** का हवाला दिया है। ये तथा **महाभारत** में दिये गये हवालों से सूचि है कि ईसवी सन् से बहुत पहले के काल में भी पुराणों का अस्तित्व था।

यह निष्कर्ष, कि पुराणों का वर्तमान पाठ मूल पुराणों से भिन्न है, इस बा निकाला जा सकता है कि पुराण की शास्त्रीय परिभाषा और वर्तमान पुराणों की वस्तु में काफी अन्तर है। एक ओर तो, कुछ पुराणों में, परिभाषा में बताये लक्षणों की अधिकांशतः उपेक्षा की गयी है, दूसरी ओर, परिभाषा से भी सारे में प्राप्त होने वाले एक सामान्य तत्त्व की — अर्थात् शिव या विष्णु और उनके स्थानों की महिमा और जाति-विशेष के भिन्न धर्मों और **आश्रमों** आदि के वर्ण की — उपेक्षा की गयी है।

कुछ विद्वानों का मत है[4] कि आरम्भ में केवल एक ही पुराण था, जिससे पुराणों का विकास हुआ है। यह बात यद्यपि सन्दिग्ध है, तथापि यह अनुमान तर्कसंगत होगा कि ईसवी सन् से पहले पुराण के कई-कई पाठ प्रचलित रहे हैं बाद के कालों में संशोधित, परिवर्धित होकर अपने वर्तमान रूप में हम तक इस संशोधन का मुख्य उद्देश्य उनमें साम्प्रदायिक मतों का परिचय देना था, इस बीच प्रमुखता प्राप्त कर ली थी; साथ ही उनमें हिन्दू कर्मकांड और री

---

[1] विंटरनित्स, हि. इ. लि. I, ५२६।

[2] ए. इ. हि. ट्रै. पृ. ७७। [3] जिल्द I पृ. ४७. प. पृ. (अंगरेजी संस्करण)।

[4] जैक्सन, ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो. सैंटीनरी मेमोरियल वॉल्यूम, पृ. ६७ प. पृ.; ह्वा. मो. गे. ६२, पृ. ३२७; पार्गीटर, ए. इ. हि. ट्रै. पृ. ३३ प. पृ., ४६ प. पृ.।

सम्बन्धी विस्तृत परिच्छेद जोड़ने थे, ताकि धर्मशास्त्रों की तरह उन्हें भी प्रामाणिक माना जाए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस संशोधन का उद्देश्य वैदिक कर्मकांड, रीति-रिवाज और विश्वासों से नये मतों का संयोग करके, सनातन परम्परा के अन्तर्गत वैष्णव और शैव जैसे ईश्वरवादी धर्मों को मिलाना था — विशेषकर जात-पाँत और वर्णाश्रम सम्बन्धी रूढ़िवादी विचारों के साथ। नये साम्प्रदायक धर्मों के उत्थान के साथ इन आचार-विचारों की या तो व्यवहार में उपेक्षा की जाने लगी थी या लोग उनको भूलने लगे थे, क्योंकि ये सारे नये धर्म मूलतः न्यूनाधिक मात्रा में वेद-विरोधी और ब्राह्मण धर्मतत्त्व के विरोधी थे। और यह इसलिए भी किया गया कि यवनों, पार्थियनों, शकों और कुशाणों के, एक के बाद दूसरे, हमलों के कारण हिन्दू आबादी में विदेशी तत्त्वों और लोगों का प्रवेश होता जा रहा था। इसलिए एक नये किस्म के लोकप्रिय धार्मिक साहित्य की आवश्यकता महसूस हुई थी, जो वैष्णव और शैव जैसे परमपन्थी धर्मों को, जहां तक व्यावहारिक हो, पुराने रीति-रिवाजों और धार्मिक विधियों से एकमेल कर सके। इसलिए पुराणों को संशोधित और परिवर्धित किया गया, ताकि वे जनसाधारण के उस बड़े वर्ग के लिए धर्मग्रन्थों का काम दे सकें, जो शिव और विष्णु का अनन्य भक्त था, किन्तु साथ ही वेदों, स्मृतियों या धर्मशास्त्रों के प्रति भी उतना ही आस्थावान् था; विशेषकर वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति जिसे नये धर्मों के प्रभाव में पड़कर बिल्कुल त्यागने के लिए तैयार नहीं था। इस तरह एक नये प्रकार के सम्प्रदायवादियों का वर्ग पैदा हो गया, जिसे स्मार्त शैव या स्मार्त वैष्णव पुकार सकते हैं। उन्होंने ही उस चीज को जन्म दिया था जो आजकल 'हिन्दू धर्म' कहलाता है और उनकी संख्या जितनी ही बढ़ती गयी पुराणों के पाठों में भी उतने ही हेरफेर होते गये और उनकी संख्या भी बढ़ती गयी।

डॉक्टर हाजरा[1] ने बड़ा परिश्रम-साध्य विवेचन करके दिखाया है कि विभिन्न पुराणों में, विभिन्न कालों में, किस प्रकार रूढ़िसम्मत कर्मकांडों और रीति-रिवाजों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न अध्याय जोड़े गये हैं। यद्यपि उनके निष्कर्षों को अन्तिम नहीं माना जा सकता, लेकिन फिलहाल उन्हें सबसे अधिक कामचलाऊ अनुमान के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उनके मतानुसार महत्त्वपूर्ण पुराणों में इस प्रकार के जोड़े गये अध्यायों की सबसे पहली और सबसे बाद की सम्भावित तिथियाँ इस प्रकार हैं:

१. मार्कण्डेय पुराण — ईसवी की तीसरी से पांचवीं सदी। (कुछ हिस्से बहुत बाद के भी हो सकते हैं)।

२. ब्रह्माण्ड और
३. वायु पुराण } — ईसवी तीसरी से पाँचवीं सदी।

---

[1] स्टडीज इन दि पुराणिक रेकर्ड्स आफ हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, परि. II-IV इसमें पुराणों में स्मृति-अध्यायों की कालानुक्रमित तालिका पृ. १७४-१८९ में दी गयी है।

४. विष्णु पुराण — ईसवी की तीसरी से चौथी शताब्दी ।
५. भागवत पुराण—ईसवी की छठी शताब्दी ।
६. मत्स्य पुराण —ईसवी की छठी से सातवीं शताब्दी (कुछ भाग सन् १,०० के लगभग या उसके वाद में भी जोड़े गये हो सकते हैं)।

जैसा डॉ० हाजरा ने संकेत किया है "पौराणिक स्मृति विषयक सामग्री के के दो चरण थे।" पहले चरण में, जो ईसवी की तीसरी से, पांचवीं शताब्दी के है, "पुराणों में हिन्दू कर्मकांड के उन्हीं विषयों की चर्चा होती थी, जो प्रा स्मृतियों के विषय थे, जैसा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में है। दूसरे चरण ईसा की छठी शताब्दी से शुरू होता है, उनमें नये नये विषय भरती किये गये, सम्बन्ध दान-दक्षिणा, तीर्थ स्थानों की महिमा, व्रत, पूजा, मूर्ति-विसर्जन, नक्ष शान्त करने के लिए बलिदान-यज्ञ-आदि से था।"

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि सारे पुराण हमें **जिस रूप में प्राप्त** हैं, वे विभिन्न कालों में लिखे गये थे। उनके लेखन का काल-क्रम निश्चित करना कठिन है। जिन छह पुराणों की तारीखों का ऊपर किया गया है वे सम्भवतः और पुराणों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं, लेकिन चूंकि **ब्रह्माण्ड, विष्णु** और **भागवत पुराणों** में राजवंशों की सूची के अन्तर्गत गुप्तवंश उल्लेख है, अतः उनका अन्तिम परिवर्तित संशोधित रूप ईसा की चौथी सदी का नहीं हो सकता। लेकिन **वायु पुराण** का बाण के **हर्ष चरित** में उल्लेख इसलिए वह ईसा की सातवीं सदी से पहले की रचना है। यही बात शायद मार्क पुराण के बारे में भी सही है, क्योंकि बाण के **चण्डीशतक** और भवभूति के मालती की प्रेरणा शायद इस पुराण के देवी **माहात्म्य** या **चण्डी माहात्म्य** वाले प्रसिद्ध खंड ली गयी थी। और चूंकि अल्बरूनी ने अठारह पुराणों का जिक्र किया है, इसलि पुराणों का सन् १,००० ई० से पहले ही अस्तित्व रहा होगा, हालांकि बाद में भी काट-छाँट और जोड़-तोड़ होती रही होगी।

२. धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र

कुछ धर्मशास्त्रों का हवाला[1] पहले भी दिया जा चुका है, जो विवेच्य काल उससे कुछ पहले ही संकलित किये गये थे। जिस सबसे महत्त्वपूर्ण धर्मशा निश्चित रूप से इस काल की रचना कहा जा सकता है, वह कात्यायन का र है, जिसकी विस्तारपूर्वक चर्चा आगे चलकर कानून और कानूनी संस्थाओं से स परिच्छेद में की जायेगी। यह कृति, जिसकी तारीख ४०० से ६०० ई० मा सकती, है उपलब्ध नहीं है, और हमारी जानकारी केवल उद्धरणों पर ही आधारि

---

[1] देखिए, जिल्द II, पृ. २५४ प.पृ. (अंगरेजी संस्करण)।

ी स्थिति देवल स्मृति की भी है। देवल शायद कात्यायन का समकालीन था। महत्त्व दृष्टि से इनके बाद का धर्मशास्त्र वह है जिसे व्यासकृत बताया जाता है, और ते सन् २०० से ५०० ई० के बीच की रचना माना जा सकता है। इस धर्मशास्त्र में ० श्लोक हैं, जो चार अध्यायों में बांटे गये हैं। अपरार्क और दूसरे लेखकों ने जो रण दिये हैं, उनसे प्रतीत होता है कि व्यास क्रिया-विधि के नियम और **व्यवहारपद** लिखते थे और उनका मत आमतौर पर नारद, कात्यायन और बृहस्पति से मिलता । पराशर स्मृति की जो प्रति उपलब्ध है, और जो किसी पुराने पाठ का संशोधित है, उसके कई श्लोक मनु के श्लोकों से अभिन्न हैं, और उसमें अक्सर मनु के रण दिये गये हैं। नवीं शताब्दी तक इस धर्मशास्त्र को पर्याप्त मान्यता और माणिकता प्राप्त हो गयी थी, इसलिए इसे ५०० ई० से पहले की रचना माना जा ता है। लेकिन **बृहत्पराशर** केवल पराशर की स्मृति का ही बाद में परिवर्धित रूप पुलस्त्य, पितामह और हारीत ने भी सन् ४०० और ७०० ई० के बीच अपने ग्रंथ थे। लेकिन इन लेखकों के बारे म भी हमारा ज्ञान अन्य **धर्मशास्त्रों** में उनके ों से उद्धृत अवतरणों से अधिक नहीं है।

बड़े पैमाने पर भाष्यकारों के व्याख्यात्मक कार्य की शुरुआत इस काल के अन्तिम-ण में ही हो गयी थी, जिसे कम से कम एक महत्त्वपूर्ण भाष्यकार पैदा करने का श्रेय त है। इस भाष्यकार का नाम असहाय था, जिसका नारद-स्मृति पर भाष्य प्रकाशित चुका है। अन्य लोगों की कृतियों में मिलने वाले उसके उद्धरणों से ज्ञात होता है उसने गौतम और मनु की भी टीकाएँ लिखी थीं। मेधातिथि ने असहाय को उद्धृत या है, इसलिए उसे सन् ६०० और ७०० ई० के बीच का माना जा सकता है। इस ल में लिखा गया अर्थशास्त्र का एकमात्र उल्लेखनीय ग्रंथ कामन्दक का **नीतिसार** है। न्दक सम्भवतः ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था।[1]

३. दर्शन

प्रमुख दर्शनों और उनके सिद्धान्तों का परिचय अठारहवें परिच्छेद में दिया गया । सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन करने वाला सबसे प्राचीन उपलब्ध-ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की यकारिका है। ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से अभिन्न मानने की कोशिश की गयी है, ने अपने गुरु के उन विचारों का संशोधन किया था, जो **षष्टितन्त्र** के सत्तर श्लोकों व्यक्त किये गये थे, और जिनकी वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थ **परमार्थसप्तति** में आलोचना थी।[2] इससे तो ईश्वरकृष्ण को वसुबन्धु का समकालीन सिद्ध किया जा सकता है, ईसा की चौथी या पाँचवीं शताब्दी में हुआ था।[3] जो भी हो, वह सन् ५५७-५६९ ई०[3]

---

[1] विंटरनित्स, गे. इ. लि. III, ५२६। इस ग्रन्थ के बारे में विवेचन के लिए देखिए १६।

[2] कीथ, हि. सं. लि., पृ. ४८८।

[3] देखिए पृ. १५ तथा टिप्पणी २।

के बाद का नहीं हो सकता (बल्कि काफी पहले का होना चाहिए) जब के साथ **कारिका** का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इस कृति का भाष्य लिखा था, जिसे **माण्डूक्य उपनिषद** की **कारिकाओं** के लेखक से अभिन्न मान प्रतीत होता है। इस कृति का भाष्य वाचस्पति ने भी लिखा है, जो एक वस्तुपू का विचारक था और ईसा की नवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था।

पतंजलि के **योगसूत्र** का सबसे प्राचीन भाष्य व्यास का है, जिसने उसमें यो की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की है। वह शायद माघ से पहले हुआ था। नवीं मध्य में वाचस्पति ने व्यास के **भाष्य** पर अपनी **तत्त्ववैशारदी** लिखी थी इस एक और महत्त्वपूर्ण भाष्य भोजकृत **राजमार्तण्ड** है (सन् १,००० ई०)।

न्यायसूत्र का सबसे प्राचीन व्याख्याकार पक्षिलस्वामिन् वात्स्यायन था, की चौथी शताब्दी के मध्य का मान सकते हैं, क्योंकि यद्यपि उसने नागार्जुन के का खण्डन किया था, स्वयं उसके विचारों का खण्डन बौद्ध दृष्टिकोण से किया है। प्रारम्भिक बौद्ध नैयायिकों के प्रधान प्रवक्ता इस दिङ्नाग की कृति मूलरूप में उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश तिब्बती भाषा में अनूदि इसलिए आज भी सुरक्षित हैं। दिङ्नाग की तारीख एक प्रकार से सही-सही नि जा सकती है, क्योंकि कहा जाता है कि उसने बौद्ध-धर्म के **महायान** सम्प्रदाय के की शिक्षा वसुबन्धु से ली थी। इसलिए दिङ्नाग ४०० ई० से कुछ पहले हुआ वात्स्यायन के विचारों का समर्थन उद्योतकर ने किया, जो भारद्वाज गोत्र **पाशुपत** था और सातवीं सदी में हुआ था। अपने ग्रन्थ **न्यायवार्त्तिक** में उस दिङ्नाग के आक्रमणों के विरुद्ध वात्स्यायन का समर्थन किया है। उद्योतकर के दिङ्नाग के समर्थन में धर्मकीर्ति ने अपना ग्रन्थ **न्यायबिन्दु** लिखा। वह शायद का समकालीन था।[1] **न्यायबिन्दु** की टीका धर्मोत्तर ने लिखी और फिर इस टीका मल्लवादिन् ने लिखी। इस काल के साहित्य में जैन विचारकों ने भी भा दिवाकर ने,[2] जो एक महान् कवि था और जिसने जैन न्याय पर सबसे पहले रूप में लिखा है, इस काल में अन्य कृतियों के अलावा बत्तीस पदों में न्यायाव का एक अत्यन्त मूल्यवान् प्रबन्ध लिखा। वह एक ओर हरिभद्र और दूसरी ओर के बीच हुआ था, इसलिए हम उसे सातवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हैं। लगभग एक शताब्दी के बाद माणिक्यनन्दी ने **परीक्षामुखसूत्र** की रचना अकलंक के **न्यायविनिश्चय** पर आधारित है।

प्रशस्तपाद का **पदार्थधर्मसंग्रह** केवल कणाद् के **वैशेषिकसूत्र** का भाष्य ही बल्कि उसमें विषय की एक नयी दृष्टि से व्याख्या की गयी है और मूलग्रन्थ नये निकाय जोड़े गये हैं। प्रशस्तपाद पर वात्स्यायन या दिङ्नाग का प्रभा

---

[1] कीथ. हि. स. लि. पृ. ३०८ तथा भूमिका. पृ. xxii।

[2] सिद्धसेन दिवाकर के नाम से प्रसिद्ध। उसकी तारीख और उसकी कृतियों के डा. पी. एल. वैद्य द्वारा पूना से प्रकाशित **न्यायावतार** में उनकी भूमिका।

ता है, इसलिए हम उसे पाँचवीं शताब्दी में रख सकते हैं। प्रशस्तपाद के सारे काकार दसवीं शताब्दी या उसके बाद के हैं। यहां पर चन्द्र का नाम भी उल्लेखनीय जिसका ग्रन्थ **दशपदार्थ-शास्त्र** केवल सन् ६४८ ई० के चीनी रूपान्तर में ही रक्षित है।

जैमिनि का **मीमाँसा-सूत्र**[1] और शबर का लिखा उसका सबसे पुराना भाष्य, जो लब्ध है, क्रमशः चौथी सदी ई० पू० और पहली सदी ई० पू० के माने जाते हैं। किन कुछ विद्वान् उन्हें बाद की रचनाएँ मानते हैं। शबर के बाद हम देखते हैं यह दार्शनिक सिद्धान्त दो मतों में बँट गया, जिनके प्रतिपादक और समर्थक क्रमशः भाकर और कुमारिल थे। आगे चलकर इसमें एक और सम्प्रदाय जुड़ गया, जिसका र्तक मुरारिमिश्र था। कुमारिल आमतौर पर भट्ट के नाम से प्रसिद्ध है और सकी **श्लोकवार्त्तिका**, **तन्त्रवार्त्तिका** और **टुप्टीका** तथा शबर के भाष्य पर उसकी टीका कर से पहले की रचनाएँ हैं, इसलिए हम उसको सातवीं शताब्दी में रख सकते हैं।

दूसरे निकाय का समर्थक प्रभाकर था, जो आमतौर पर **गुरु** के नाम से प्रसिद्ध है। हा जाता है कि वह कुमारिल से पहले हुआ था और उसने अपनी **बृहती** की रचना, शबर के भाष्य की टीका है, ६०० ई० के लगभग की थी। उसके शिष्य लिकनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **प्रकरण-पंजिका** में, जो प्रभाकर-मत का लोकप्रिय का है, धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। **बृहती** पर उसकी टीका का नाम जुविमला है।

वेदान्त-दर्शन के केवल तीन बड़े लेखक इस काल में हुए। गौड़पाद,[2] शंकर के ख्यात परमगुरु (गुरु का गुरु), अद्वैतवादी वेदान्त के प्रथम सुव्यवस्थित प्रतिपादक । आमतौर पर माना जाता है कि वे सातवीं सदी के अन्त में या आठवीं सदी के रम्भ में हुए थे। लेकिन वालेसर (Walleser)[3] ने उसे सन् ५५० ई० के लगभग खा है, क्योंकि गौड़पाद के ग्रन्थ की एक **कारिका** का उद्धरण भवनाथ की **तर्कज्वाला** तिब्बती अनुवाद में मिलता है। **माण्डूक्योपनिषत्-कारिका** के इस लेखक को ईश्वर-ष्ण की सांख्यकारिका के अपने नामराशि भाष्यकार से अभिन्न मानना सन्देहजनक ।[4] इन कारिकाओं में प्रतिपादित विचार-दृष्टि, उनमें प्रयुक्त शब्दावली, बौद्धमत विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग और अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए लात-चक्र द्वारा किये गये स्पष्टीकरण से मन पर यह गहरा प्रभाव पड़ता है कि रिकाओं का लेखक बौद्ध सिद्धान्तों और कृतियों से प्रभावित था। फिर भी, यह तो

---

[1] राधाकृष्णन, इ. फि., II, पृ. ३७६।

[2] उसकी तारीख और कृतियों के बारे में देखिए, विधुशेखर भट्टाचार्य की पुस्तक, गमशास्त्र की भूमिका।

[3] देखिए, राधाकृष्णन, इ. फि., पृ. ४५२, टि. २।

[4] **उत्तर-गीता** के टीकाकार तथा **दुर्गासप्तशती** के लेखक के साथ माण्डूक्य-उपनिषद् रिका के लेखक को भी अभिन्न नहीं माना जा सकता।

सुनिश्चित है कि वह बौद्ध नहीं था। भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** का पहले ही जा चुका है। इस कृति से प्रतीत होता है कि उसके विचार शंकर से मिल उसकी बौद्ध प्रवृत्तियाँ भी अक्सर उभरकर सामने आ जाती हैं।

४. कालिदास

लौकिक साहित्य का विवरण हम कालिदास से शुरू कर सकते हैं, जो के साहित्याकाश का सबसे चमकीला प्रकाशपुंज था, और जिसके प्रका संस्कृत साहित्य आलोकित है। सर्वसम्मति से उसे भारत का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना जाता है, और उसकी कृतियों को हर काल में उच्चकोटि प्रियता और ख्याति प्राप्त रही है। फिर भी, आश्चर्य की बात यह है जीवन के बारे में हमें एक प्रकार से कुछ भी मालूम नहीं है, और न कोई ज्ञान है कि वह कब हुआ था। जैसा प्रायः होता है, अनेक किंवदन्तियाँ और उसके नाम के साथ जुड़ गयी हैं, लेकिन उनका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं अनुसार वह अपने प्रारम्भिक जीवन में एक नितान्त मूर्ख व्यक्ति था, जो वरदान से एक महान् कवि बन गया था और उसकी मृत्यु लंका में एक घर में हुई थी। कहा जाता है कि वह राजा विक्रमादित्य (धार का राजा दरबार के नवरत्नों में से था। लेकिन यह बिल्कुल निश्चित है कि जिन को उसके साथ नवरत्नों में गिनाया जाता है, वे सब उसके समकालीन नहीं अधिकांश विद्वान् उज्जैन के विक्रमादित्य से उसके सम्बन्ध को एक ऐति मानते हैं और **विक्रमोर्वशीयम्** के नायक पुरुरवा का नाम जानबूझकर विक्रम कर देने की बात ने इस विचार को रंगीन बना दिया है। कुछ विक्रमादित्य को उस राजा से अभिन्न मानते हैं, जिसने प्रचलित परम्पराओं के ५८ ई० पू० में शकों को हराकर, विजय की स्मृति में एक नया संवत्—विक्र चलाया था। लेकिन अधिकांश आधुनिक विद्वान् इस बात पर विश्वास नहीं ५८ ई० पू० में कोई विक्रमादित्य नाम का राजा हुआ था, या कि कालि प्राचीन काल में हुआ था। आधुनिक विद्वानों की आम धारणा यह है कि गुप्त सम्राट के दरबार में था, सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबार में, जो वि के नाम से भी प्रसिद्ध है और जिसने शक क्षत्रपों को हराया था और शकारि की उपाधि का अधिकारी था, जो विक्रमादित्य की परम्परा से कालिदास की तारीख के बारे में केवल इतना ही निश्चित तथ्य ज्ञात है अग्निमित्र (१५० ई० पू०) के बाद हुआ होगा, जो उसके एक नाटक का और सन् ६३४ ई० से पहले हुआ होगा, जो एहोल के प्रसिद्ध अभिलेख की जिसमें एक महान् कवि के रूप में उसका उल्लेख किया गया है। और अगर अधिकारी विद्वानों का कहना है, मन्दसौर के अभिलेख (सन् ४७३ ई०) सूचित होता है कि उसका मसौदा तैयार करनेवालों को कालिदास की

ज्ञान था, तो उसकी तारीख की निम्न सीमा सन् ४५० ई० रखी जा सकती है। यह अनुमान कि कालिदास गुप्तकाल में हुआ था, अब सर्वमान्य हो गया है और अनेक तर्कों द्वारा इसका समर्थन किया जाता है; मसलन कि उसने अश्वघोष के नाटकों और वात्स्यायन के कामसूत्र से काफी कुछ उधार लिया है और वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय के काव्य **सेतुबन्ध** का उसने परिष्कार और परिमार्जन किया था, और यह कि उसकी कृतियों में गुप्त सम्राटों के संकेत मिलते हैं।[1] लेकिन ये केवल अटकलें हैं और सन्तोषजनक नहीं लगतीं। यह तर्क तो संगत हो सकता है कि "प्रमाणों की तुलना से जाहिर होता है कि ईसवी की चौथी शताब्दी के अन्त में ही इस कवि की सम्भाव्य तिथि हो सकती है,[2] लेकिन हमें यह स्वीकार करना होगा कि इस अनुमान के पक्ष में जो प्रमाण पेश किये गये हैं, वे न तो निश्चित हैं, न प्रत्यक्ष और न निर्णयात्मक। सबसे निरापद यह मानकर चलना है कि कालिदास १०० ई० पू० और सन् ४५० ई० के बीच कभी भी हुआ होगा।

कालिदास की कृतियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से जाहिर होता है कि वह उज्जैन निवासी ब्राह्मण और ऐसा उदार दृष्टि संपन्न शैव था, जिसे ब्राह्मण-धर्मी ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की पूर्ण जानकारी थी और जो दूर-दूर तक भारत के विभिन्न भागों में भ्रमण करके अपार अनुभव का संग्रह कर चुका था। उसकी कृतियों से लगता है कि उसे सम्पूर्ण वैदिक साहित्य, विभिन्न दर्शन, विशेषत: सांख्य और योग-दर्शन **धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, नाटचशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिःशास्त्र** के विभिन्न ग्रन्थ, यहाँ तक संगीत और चित्रकला आदि ललित-कलाओं की भी पूरी जानकारी थी। उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, राज-सभागत आचरण का पूर्ण परिचय, उसकी सूक्ष्म दृष्टि, उसकी विनम्रता, जिसमें आवश्यक आत्म-सम्मान की भावना की कमी नहीं थी और उसकी काव्य-प्रतिभा उसकी कृतियों में प्रतिबिम्बित हुई है। ये कृतियाँ सहजता और संतृप्ति की भावना से ओतप्रोत हैं, उनमें जीवन की तत्कालीन व्यवस्था के प्रति पूर्ण संतोष का भाव व्यक्त हुआ है।"

कालिदास की सबसे प्रसिद्ध कृति उसका नाटक **शाकुन्तल** है। सामान्य-रूप से माना जाता है कि यह नाटक केवल संस्कृत साहित्य ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य के भी सर्वश्रेष्ठ नाटकों में है। कालिदास ने महाभारत में दी गई शकुन्तला की कहानी के आधार पर इस नाटक की रचना की है, लेकिन उसने मूल-कहानी में साधारण किन्तु

---

[1] इस समस्या के विस्तृत विवेचन और सम्बद्ध हवालों के लिए देखिए (मराठी में) मिराशी की पुस्तक, **कालिदास**, नागपुर १९३४, पृ.९-४१, (इस पुस्तक का हिन्दी में भी अनुवाद हो गया है। दे. **कालिदास**, अनु. पं. हृशीकेश शर्मा, बम्बई द्वि. सं. १९५६) पहली शताब्दी ई. पू. वाले अनुमान के समर्थन में देखिए, प्रो. के. एम. शेम्बनेकर का निबन्ध ज. मु. ब., १, ४ पृ. २३२-४२। डा. के.सी. राजा का कहना है कि विक्रमादित्य से कालिदास का कोई सम्बन्ध नहीं था। उनके अनुसार वह अग्निमित्र का समकालीन था। (ई. हि. क्वा. XVIII. १२८)।

[2] न्यू. हि. ई. पी. VI, पृ. ४०५।

प्रभावोत्पादक परिवर्तन करके और श्रेष्ठ नाटकीय शक्ति के कुछ नये पा घटनाओं का सन्निवेश करके नयी जीवनशक्ति ला दी है। उदाहरण के लिए, में जबकि कण्व को सिर्फ फूल लाने के लिए बाहर गया हुआ दिखाया गया है, ने उन्हें एक युक्ति-युक्त कारण से दूर गया हुआ दिखाया है, ताकि उनका लौटना अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो सके। इसी प्रकार मूल-कथा में हैं कि शकुन्तला स्वयं ही अपने जन्म की कहानी राजा को सुनाती है और उसका प्रणय स्वीकार करने के बदले में उससे कुछ शर्तें मनवाती है। कालि अपनी नाटकीय सूझबूझ से शकुन्तला की सखी अनुसूया द्वारा शकुन्तला के कहानी कहलवाई है (और वह भी शिष्टतापूर्वक), और शर्तें मनवाने वा बिल्कुल ही निकाल दी है, ताकि एक अबोध तरुणी के हृदय में प्रेम की सूक्ष्म, मनोहारी चित्रण किया जा सके। क्रोधी दुर्वासा का शाप, अँगूठी का मछुआरे का दृश्य और नाटक का अन्तिम भाग — ये सब दृश्य जो कालिदास की की सर्जनाएँ हैं, दर्शकों के हृदय में बारी-बारी से द्विधा और राहत के भाव उनका मन मोह लेते हैं। इन नाटकीय संस्पर्शों से कालिदास ने महाभारत ईंट-गारे से कला का एक महान् और शानदार प्रासाद खड़ा किया है। उसने नायक और नायिका को उन भोंडे या असंगत प्रसंगों से मुक्ति दिलायी, जि मूलकथा में उनको अपना कार्य-कलाप पूरा करना पड़ता है, और उनके शालीन और उदात्त गुणों की प्रतिष्ठा की है, जो एक नायक और नायिका क्षित होते हैं, बल्कि साथ ही उसने हमें दुष्यन्त के रूप में एक आदर्श भारतीय और शकुन्तला के रूप में एक सच्ची भारतीय कन्या के जीवन के तीन मह चरणों की सूक्ष्म और अपने सम्मोहन द्वारा नयी भाव भूमि में ले जानेवाली पेश की है। प्रकृति के प्रति एक सस्नेह सहानुभूति इस नाटक की पृष्ठभूमि स्वर है, जिसमें कालिदास ने मनुष्य की भावनाओं के सूक्ष्मतर अंकन, चरित्र कथानक की संयोजना तथा नाटकीय परिस्थितियों की सर्जना में अद्भुत नैपुण्य के साथ साथ अपनी महान् प्रगीतात्मक काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। विश्व के विद्वानों ने इस अपूर्व कृति की नाट्य-शक्ति और उसके काव्य-सौन्दर्य भूरि प्रशंसा की है।

शाकुन्तल से पहले कालिदास दो और नाटकों **मालविकाग्निमित्र** और विक्रमो की रचना कर चुके थे। **मालविकाग्निमित्र** दरबारी-जिन्दगी का एक सुखान्त नाट इसमें राजा अग्निमित्र अपनी रानीकी एक सेविका मालविका से प्रेम करने और अनेक बाधाओंका सामना करने के बावजूद अपने विदूषक मित्र की सहा अपने उद्देश्य में सफल होता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि कालिदास सबसे पहला नाटक[1] था, जैसा इसकी प्रस्तावना से स्पष्ट है, जिसमें कवि ने "नव

---

[1] लेकिन डॉ. दे. इससे सहमत नहीं हैं। देखिए, इ. हि. क्वा. XVI, पृ. ४०३; हि. पृ. १३६।

का पक्ष-समर्थन किया है। अनेक दोषों के होते हुए भी, इस नाटक की संरचना पर कालिदास की काव्य-प्रतिभा और उसके नाट्य-शिल्प की छाप है और इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि वह कालिदास की ही रचना है। **विक्रमोर्वशीयम्** में एक अप्सरा उर्वशी और राजा पुरुरवा की प्रणय-कथा प्रस्तुत की गयी है। मदाम द विल्मन ग्राबोव्स्का (Mme de Willman-Grabowska) का विचार है कि यह कालिदास का अन्तिम नाटक है और "इसमें उसकी कला के ह्रास चिह्न प्रकट होने लगे हैं।"[1] कुछ लोगों का विचार है कि यह नाटक कालिदास ने उस अवसर पर लिखा था जब कुमार गुप्त को युवराज-पद दिया गया था।[2] **ऋग्वेद** और **शतपथ ब्राह्मण** में वर्णित इस प्राचीन आख्यान और उसके **विष्णु** और **भागवत**-पुराणों में मिलने वाले संस्करणों, तथा सम्भवतः **वृहत्कथा** में दी गयी कहानी को भी एक सूत्र में जोड़ कर कालिदास ने उसके अन्दर अपनी कल्पना से निर्मित कुछ घटनाएँ और दृश्य भी सन्निविष्ट किये हैं। इस नाटक में उन्होंने विशेष रूप से चरित्र-चित्रण पर ध्यान केन्द्रित किया है, कथानक पर नहीं, जैसा **मालविकाग्निमित्र** में किया था। लेकिन इस नाटक का सबसे विवादास्पद भाग उसका चौथा अंक है, जहाँ नायक वियोग से व्याकुल होकर छोटे-छोटे मधुर और करुण गीतों में अपनी भावनाएँ व्यक्त करता है। ये गीत अपने आप में अत्यन्त सुन्दर हैं, लेकिन वे नाटकीय कार्य से दर्शक का ध्यान बँटाते हैं और रचना के सम्पूर्ण प्रभाव को कम कर देते हैं। लेकिन यह दोष ही, परवर्ती पीढ़ियों की दृष्टि में, उसका अपूर्व सौन्दर्य है, जिससे कालिदास को इतनी व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई है।[3]

कालिदास की प्रतिभा का चरमोत्कर्ष नाटक और काव्य दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्रदर्शित है। उसके दो महाकाव्य **रघुवंश** और **कुमारसम्भव** और गीत-काव्य मेघदूत सामान्यतः संस्कृत काव्य के श्रेष्ठतम रत्न माने जाते हैं। **कुमारसम्भव** के अठारह सर्गों में शिव-पार्वती के पुत्र कुमार (कार्तिकेय) के जन्म तथा तारकासुर की कथा का वर्णन है। मल्लिनाथ जैसे टीकाकारों ने इस काव्य के केवल आठ सर्गों की ही टीका लिखी है, और उनमें से एक ने स्पष्ट शब्दों में यह विश्वास प्रकट किया है कि पार्वती के शाप के कारण, जो आठवें सर्ग में दिये गये वर्णनों से क्रुद्ध हो गयी थीं, यह काव्य अधूरा ही छोड़ दिया गया था। यह भी साफ जाहिर है कि अगले दस सर्ग काव्य-शक्ति की दृष्टि से काफी निम्नकोटि के हैं, इसलिए उन्हें कालिदास कृत नहीं माना जाता।

---

[1] देखिए, ए. इ. इ. सि. पृ. ३१२, हिलेब्रांट भी विक्रमोर्वशीय को कालिदास का अन्तिम नाटक मानता है। देखिए हिलेब्रांट, **कालिदास**, आइन, फेसुर्ख त्सुसाइनेर लिटरारिशेन वुर्दिगुआना, ब्रेसलन, १९२१, पृ. ८७।

[2] देखिए म. म. मिराशी, **कालिदास**, पृ. ११६।

[3] ए. इ. इ. सि., पृ. ३१३।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने इस काव्य को अधूरा छोड़ दिया था, **कुमारसम्भव** नाम से ही सूचित होता है कि उसमें कम से कम कुमार के वर्णन अवश्य होगा। प्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण में कालिदास ने बड़े कौ परिचय दिया है और काव्य के कुछ स्थल तो अपने सौन्दर्य से मुग्ध कर लेते रति-विलाप का दृश्य, जटिल के छद्मवेश में प्रकट होने वाले शिव से पार्वती का पहले सर्ग में हिमालय का वर्णन और तीसरे सर्ग में अचानक वसन्त का आगमन लेकिन आठवें सर्ग में अपावन (अश्लील) वर्णनों के कारण आनन्दवर्ध काव्यशास्त्रियों द्वारा कवि को कठोर आलोचना का भी शिकार बनना पड़ा है।

रघुवंश में कवि ने अनेक राजाओं के जीवन की घटनाओं के वर्णन क कार्य सम्पन्न किया है, क्योंकि इन राजाओं में यद्यपि कुछ सामान्य गुण थे, कि भी उनमें अपना विशिष्ट व्यक्तित्व भी अपेक्षित था, और यह स्वीकार करना हो उनके सामान्य और विशिष्ट गुणों का वर्णन करने में कालिदास ने अपूर्व प्राप्त की है। महाकाव्य के रूप में **रघुवंश** की श्रेष्ठता सर्वमान्य है और भारती में इस काव्य की महत्ता इस बात में प्रतिबिम्बित है कि कालिदास को मुख्यतः (रघुवंश का लेखक) के रूप में याद किया जाता है। इस काव्य में, जो रामाय कुछ पुराणों पर आधारित है, सूर्यवंश के कुल तीस राजाओं का वर्णन किया जिनमें रघु विशेष रूप से भाग्यवान प्रतीत होता है, क्योंकि केवल उसके पु सुविख्यात राजा नहीं थे, बल्कि, कम से कम अगली तीन पीढ़ियों के वंशज भी राजा हुए थे। शायद इसी कारण कालिदास ने अपने महाकाव्य का नाम रघु पर रखा है। यह काव्य भी, हमें जिस रूप में प्राप्त है, अधूरा है और लम्प कामुक राजा अग्निवर्ण के वर्णन के साथ ही हठात् समाप्त हो जाता है। यद्यपि जाता है कि इसके कुछ सर्ग खो गये हैं, पर यह भी सम्भव है कि कालिदास ने उन्नीस सर्ग ही लिखे हों और बीमारी या मृत्यु के कारण आगे के अंश न लिखे ग **कुमारसम्भव** की तरह इस काव्य में भी अनेक रमणीय और मुग्धकारी स्थल हैं, अज-विलाप सबसे अधिक हृदयस्पर्शी है।

कालिदास के खंड काव्यों में **ऋतुसंहार** उसकी सबसे पहली रचना मानी है, यद्यपि हाल में कुछ विद्वानों ने उसके कालिदास की रचना होने में सन्देह प्रक है।[1] किन्तु काव्यशास्त्रियों और टीकाकारों की उपेक्षा तथा अनेक दृष्टियों से हीनता के कारण उसकी प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं करना चाहिए। उसका

---

[1] कीथ, ज. रा. ए. सो., पृ. १०६६-७०; १९१३, पृ. ४१०-१२; मैकडॉनल, हि. पृ. ३३७, हिलेब्रांट, **कालिदास**, पृ. ६६ प. पृ. तथा कीलहार्न, बुलर, हुल्त्स और फॉन श्रो कालिदास को ही "ऋतुसंहार" का लेखक मानते हैं। वाल्टर, इंडिका, पृ. ६ प. पृ.; नोबेल, मो. गे. ६६, पृ. २७५-८२, ज. रा. ए. सो., १९१३. पृ. ४०१-९, हरिचांद **कालिदास ए** **पोएटि के डि ल' इंडे**, प. २४० प. पृ. तथा अन्य विद्वानों का कहना है कि "ऋतुसंहार" कालिदास नहीं था।

इतना सादा है और उसमें चरित्र-चित्रण आदि के अवसर इतने कम हैं कि स्वाभाविक है कि उसके प्रति लोगों ने विशेष दिलचस्पी नहीं दिखायी। इस काव्य में छह सर्ग हैं, जिनमें षट्ऋतुओं का वर्णन किया गया है और यह वर्णन कवि के सूक्ष्म अवलोकन और प्रकृति प्रेम का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

लेकिन मेघदूत सारे संस्कृत साहित्य में सबसे सुन्दर और मार्मिक लघुकाव्य है। केवल १२१ पद्यों में रचे गये इस काव्य में कवि ने अपनी प्रतिभा की विलक्षण शक्ति और बहुज्ञता का परिचय दिया है। इसमें एक काल्पनिक यक्ष, जिसे उसके स्वामी ने निर्वासित करके अपनी प्रेमिका से दूर कर दिया था, वर्षा के आरम्भ में मेघ पर दृष्टि पड़ते ही विरह से पागल हो उठता है। वह इस मेघ से निवेदन करता है कि वह रामगिरि से उसका संदेश ले जाकर अलकापुरी में उसकी प्रिया तक पहुँचा दे। वह अपने निर्वासन के दिन रामगिरि में व्यतीत कर रहा था। रामगिरि से अलकापुरी तक के मार्ग में आनेवाले विशिष्ट स्थानों का कवि ने विशद वर्णन किया है। कालिदास ने यह काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा है, जिससे हर पद्य में उसने एक-एक पूर्ण चित्र अंकित कर दिया है। इस काव्य को गीति, शोकगीत, यहाँ तक कि एक-स्वरगीत भी कहा गया है। यद्यपि स्थिरदेव ने इसे महाकाव्य मानने का आग्रह किया है, लेकिन वल्लभदेव ने इसे केवल एक खंडकाव्य माना है। रामगिरि की, जहाँ यक्ष निर्वासित था, अब नागपुर के निकट रामटेक की पहाड़ी से शिनाख्त की गयी है। आषाढ़ कृष्ण-एकादशी, योगिनी-माहात्म्य की कहानी इस काव्य के कथानक का आधार बतायी जाती है। हर युग में साहित्यालोचकों ने इस छोटे से काव्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। योरुप के एक आधुनिक लेखक के शब्दों में "मेघ की यात्रा के वर्णन-सौन्दर्य और दुःखी और एकाकी पत्नी के करुण चित्रण की कोई भी प्रशंसा अतिरंजित नहीं कही जा सकती।"[1]

कालिदास की काव्य-कृतियों का तुलनात्मक मूल्यांकन करते हुए इसी आलोचक का कहना है कि "भारतीय साहित्यालोचना कालिदास के काव्यों में अभिव्यंजना की संक्षिप्तता, वस्तु-वैभव, और भावोद्रेक की क्षमता के कारण **मेघदूत** को उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानती आयी है, और यह तारीफ नाजायज नहीं है। ... आधुनिक रुचि कुमारसम्भव को उसके वैविध्य, उसके कल्पना-वैचित्र्य और उसके भावों की हार्दिकता के कारण ज्यादा पसन्द करती है ... यद्यपि **कुमारसम्भव** से किंचित् हीन होने के बावजूद रघुवंश को काव्यशास्त्र द्वारा परिभाषित महाकाव्यों के सर्वश्रेष्ठ भारतीय नमूने के रूप में पेश किया जा सकता है।"[2]

कालिदास "निर्विवाद रूप से भारतीय काव्य-शैली के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार हैं" और "उपमा" के प्रयोग में वह अद्वितीय हैं, जिससे कहावत ही बन गयी है—उपमा

---

[1] कीथ, हि. सं. लि., ८६।

[2] वही, ८६, ८७, ९२।

कालिदासस्य।" उनकी लालित्ययुक्त और सौष्ठवपूर्ण शैली, भाषा का सूक्ष्म परि उनकी सहज सौन्दर्य भावना, उपमा और उत्प्रेक्षा का कुशल प्रयोग, विचार को और औदात्य प्रदान करने की क्षमता और व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति ने उन्हें ए कवि बना दिया है और जैसा उचित ही कहा गया है, उनकी कृतियाँ तब तक रहेंगी, जब तक लोगों में श्रेष्ठ-साहित्य के प्रति अभिरुचि बनी रहेगी।

नाटक और कविता, दोनों में कालिदास सर्वश्रेष्ठ ही नहीं हैं, बल्कि अद्वि हैं। बहरहाल, विवेच्यकाल में और भी अनेक कवि और नाटककार हुए, और कुछ तो निश्चय ही इस महाकवि के अयोग्य उत्तराधिकारी नहीं थे। अब हम में उनका उल्लेख करेंगे।

५. नाटक

(i) भवभूति

नाटक के क्षेत्र में, कालिदास के उत्तराधिकारियों में निस्सन्देह भवभूति, श्रीकण्ठ, कुल-नाम उदुम्बर, सर्वश्रेष्ठ नाटककार है। वह नीलकण्ठ और का पुत्र था। उसका जन्म विदर्भ के पद्मपुर नामक नगर में हुआ था। उसके भट्टगोपाल ने वाजपेय यज्ञ किया था। उसके गुरु का नाम ज्ञाननिधि था। **राजतरंगिणी**[1] के अनुसार भवभूति कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मन् का, जिसे सन् में काश्मीर के राजा मुक्तापीड ललितादित्य ने हराया था, दरबारी **गौड़वहो**[2] से जाहिर होता है कि भवभूति ने अपने आश्रयदाता का पतन नहीं देखा इसलिए वह आठवीं शताब्दी ईसवी के आरम्भ से पहले का नहीं हो सकता। नाटकों में भवभूति ने अपने आपको "पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ" कहा है, जिससे स्पष्ट वह **व्याकरण, मीमांसा** और **न्याय** का पारंगत विद्वान् था। ऐसा प्रतीत होता वह **वेदान्त** और **वेद** का भी ज्ञाता था। एक पांडुलिपि में उसे उम्बेक से दिखाया गया है और कहा गया है कि वह प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट का था। लेकिन श्री कणे इस अभिन्नता को स्वीकार नहीं करते और वे उसका काल सन् ७०० और ७३० ई० के बीच बताते हैं।[3]

भवभूति के तीन नाटकों में दो **रामायण** की कथा पर आधारित हैं और एक सामाजिक नाटक — दस अंकों का एक **प्रकरण** है। **महावीर-चरित** के सात

---

[1] IV, १४४।

[2] श्लोक ७९९।

[3] देखिए कणे (Kane) का. हि. ध. शा. I, पृ. २६३. लेकिन इससे विपरीत पढ़िए **गुरुकुल-पत्रिका**, जिल्द II, भाग ६; "प्रॉब्लेम्स आफ आइडेंटिटी—मंडनमिश्र सुरेश्वर" ले. एस. शास्त्री, साथ ही फेस्टश्रिफ काने में उनका लेख, पृ. ४०५-७। कीथ (सं. ड्रा. पृ. १ भवभूति को "सन् ७०० ई. के लगभग" का बताया है।

में राम के प्रारम्भिक जीवन का चित्रण किया गया है। वहां राम एक वीर योद्धा के रूप में हैं जबकि **उत्तररामचरित** में, जो उसका अन्तिम नाटक था और जिसमें भी सात अंक हैं, **रामायण** के **उत्तरकांड** की कथा का वर्णन किया गया है। उसके तीसरे नाटक **मालती-माधव** में माधव और मालती के प्रेम का, उसके विभिन्न विकास-चरणों में, वर्णन किया गया है। इस नाटक को अक्सर भारत का सुखान्त रोमियो-जूलियट कहा जाता है।[1]

यद्यपि भाषा के लालित्य और सौष्ठव, प्रसाद गुण और प्राञ्जलता में कालिदास अद्वितीय हैं, लेकिन भावाभिव्यंजना, विशेषकर करुण-रस की अभिव्यक्ति में भवभूति उनसे बढ़कर हैं। यद्यपि उसकी शैली ऊबड़ खाबड़ है और उसकी कृतियाँ लम्बे-लम्बे चित्रणों और जरूरत से ज्यादा समस्त पदों से भरी पड़ी हैं, लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि करुण-रस के चित्रण में उस तक कोई लेखक नहीं पहुँच पाता। वह जिस प्रेम का चित्रण करता है, वह शारीरिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक है,[2] और उसकी कृतियों में हास्य का प्रायः अभाव है। संस्कृत-नाटकों में **हास्य** का परम्परागत स्रोत विदूषक होता है। भवभूति एक प्रकार से अकेला नाटककार है, जिसने अपने नाटकों से विदूषक को निर्वासित कर दिया है। उसके नाटकों के गद्य-वार्तालापों में यौगिक वाक्यों की बहुलता के कारण यह अनुमान किया गया है कि उसने अपने नाटक पढ़ने के लिए लिखे थे, खेलने के लिए नहीं।[3] लेकिन यह अटकल निराधार भी हो सकती है।

करुण रस की अभिव्यञ्जना में भवभूति का अग्रगामी अरालपुर का धीरनाग था, जिसने **उत्तररामचरित** की कथावस्तु को लेकर एक छह अंकों का नाटक लिखा था। कहा जाता है कि वह सन् ५०० ई० से पहले हुआ था।

(ii) श्री हर्ष

कालक्रम के अनुसार भवभूति के बाद कन्नौज के सम्राट श्री हर्ष या हर्षवर्धन का नाम आता है, जिसकी जीवन-यात्रा का वर्णन पहले किया जा चुका है।[4] वह स्वयं भी अच्छा कवि था और विद्वानों और साहित्यकारों का महान् आश्रयदाता था। उसके दरबार में बाण, मयूर और दिवाकर जैसे महान् विद्वान् और कवि रहते थे। तीन नाटक, अर्थात् **रत्नावली, प्रियदर्शिका** और **नागानन्द** उसके लिखे हुए बताये जाते हैं। लेकिन खासकर **काव्यप्रकाश** में मम्मट की मात्र एक उक्ति तथा अन्य टीकाकारों द्वारा उसकी व्याख्या के आधार पर सन्देह प्रकट किया गया है कि हर्ष इन

---

[1] क्लिम, **गेशिख्ते डेस ड्रामाज,** III, पृ. १३५; विंटरनित्स, गे. इ. लि.।
[2] देखिए, पृ. २३५, गे. इ. लि. III, पृ. २३६।
[3] वही, पृ. २३२।
[4] देखिए, परिच्छेद ९।

नाटकों का रचयिता था। इस प्रकार हाल (Hall) और ब्युलर (Bübler) तीनों नाटकों को बाण लिखित मानते हैं, जबकि पिशेल उन्हें हर्ष के समकालीन की कृतियां मानते हैं। इसके विपरीत कावेल (Cowell) इन नाटकों को ए लेखक का लिखा हुआ मानने से इन्कार करता है। उसके अनुसार रत्नावली का बाण है, **नागानन्द** का लेखक धावक, और **प्रियदर्शिका** का रचयिता कोई अज्ञात है।[1] लेकिन ये तीनों नाटक एक ही लेखक की रचना हैं, यह बात उनकी प्रस्ताव और उनमें मिलने वाली अन्य सामान्य विशेषताओं से प्रकट है। और न ऐसा ठोस आधार है, जिस पर उन्हें हर्ष के लिखे नाटक न माना जाय, क्योंकि हर्ष आ से ही — अपने आरम्भिक जीवन-काल से ही — एक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रसिद्ध है। स्वयं बाण ने भी अपने आश्रयदाता हर्ष की प्रशंसा में लिखा है कि उसमें नि काव्य-प्रतिभा थी। ई-त्सिंग (सातवीं शताब्दी ई० का अंत) ने अपने विवरण लिखा है कि राजा शीलादित्य (अर्थात् हर्ष) ने बोधिसत्व जीमूतवाहन की क पद्यबद्ध करके रंगमंच पर अभिनीत करवाई थी। दामोदरगुप्त ने अपने कुट्टनी में कहा है कि **रत्नावली** का लेखक एक राजा था।

नागानन्द पाँच अंकों का नाटक है और उसमें जीमूतवाहन की कहानी चित्रित गई है। हालाँकि इसमें बौद्ध रंग मुखर है, लेकिन अगर हम इसके अन्दर गरुड़ गौरी की भूमिका को ध्यान में रखें तो ऐसा लगेगा कि इसका उद्देश्य बौद्ध और धर्मों में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध कायम करना है। साधारणतया सभी मानते हैं कि हर्ष का अन्तिम नाटक है। पहले दो नाटक एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं और कालि के **मालविकाग्निमित्र** का अनुकरण करके लिखे गये हैं, और उनका कथानक भी मिलता है। लेकिन जाहिर है कि **प्रियदर्शिका** लिखते समय तक हर्ष में इतना आ विश्वास आ गया था कि उसने उसके अन्दर गर्भ-नाटक के रूप में एक नया टेक इस्तेमाल किया, अर्थात् नाटक के अन्दर नाटक की टेकनीक, जो संस्कृत नाटक इतिहास में पहली बार प्रयोग में लायी गयी थी, और हर्ष के बाद भी उसका प्रयोग ही किया गया है। दरअसल, समस्त संस्कृत नाटकों में हर्ष के बाद केवल दो नाटककारों ने इस टेकनीक का प्रयोग किया है — भवभूति ने अपने उत्तररामच नाटक में और राजशेखर ने अपने **बालरामायण** नाटक में। इसके विपरीत रत्ना को शास्त्रीय नाट्य-विधान की दृष्टि से संस्कृत का सबसे पूर्ण नाटक माना जाता इसलिए इसको दोनों में से पहला नाटक कहा जा सकता है, और इसकी खूबियों इसके सौन्दर्य का कारण यह हो सकता है कि यह कालिदास की शैली के निकट है और इसमें उसका सफल अनुकरण किया गया है। इसलिए संस्कृ नाटककारों में हर्ष का स्थान **नागानन्द** से जाँचना चाहिए, क्योंकि वह सर्वथा मौ है और उसमें किसी का अनुकरण नहीं किया गया है। लेकिन यह नाटक, त

---

[1] कोनो, इं. ड्रा., पृ. ७४।

कि, तीन हिस्सों को जोड़-जाड़ कर तैयार किया गया है,[1] और दूसरे भाग में हास्य का तर बहुत ऊंचा नहीं है। फिर भी, हर्ष को इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वह इस ाटक की कथा को सजीवता प्रदान कर उसे अपने पाठकों के लिए हृदयग्राही बना का। हर्ष की काव्य-प्रतिभा की शक्ति इन नाटकों के पद्यों से भी परिलक्षित होती है।

(iii) भट्ट नारायण तथा अन्य

शांडिल्य गोत्र का भट्ट नारायण भी इसी काल का नाटककार है। उसका पनाम मृगराज था। विल्सन ने उसकी शिनाख्त इसी नाम के एक ब्राह्मण से की जिसे कन्नौज से आदिशूर ने बंगाल बुलाया था। चूँकि आदिशूर सम्बन्धी अनुश्रुति ा कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, इसलिए भट्टनारायण के समय की जो प्रस्तावित तिथियाँ, राजा आदिशूर की इस या उस व्यक्ति से अभिन्नता के आधार पर, सातवीं ताब्दी के उत्तरार्ध से नवीं शताब्दी के बीच रखी गयी है, उनको कोई महत्त्व नहीं या जा सकता। भट्ट नारायण शायद आठवीं शताब्दी ई० से कुछ पहले हुआ था, क्योंकि ानन्दगुप्त और अभिनवगुप्त ने उसके नाटक से उद्धरण दिये हैं। उसका नाटक णीसंहार छह अंकों में है और वह महाभारत में दी गयी भीम की कहानी पर ाधारित है, जिसमें दुर्योधन द्वारा द्रौपदी का अपमान किये जाने पर भीम ने उसका दला लेने का प्रण किया था। यह वीर रस प्रधान नाटक है और लेखक ने **महाभारत** लिये गये अनगढ़ प्रसंगों से एक अत्यन्त सुन्दर नाटक की रचना करने में अपूर्व ौशल दिखाया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि **रत्नावली** की तरह **वेणीसंहार** भी नाट्य-रचना सम्बन्धी शास्त्रीय नियमों का आद्यन्त पालन किया गया है, और स कारण उसे एक श्रेष्ठ नाटक माना जाता है।[2]

इस काल का एक दूसरा नाटक **रामाभ्युदय** है, जिसकी कोई प्रति अब तक पलब्ध नहीं हुई है। यह नाटक छह अंकों में था और इसे यशोवर्मन् ने लिखा था। समें राम की कहानी वर्णित है। आनन्दवर्धन ने अपने **ध्वन्यालोक** में इसका उल्लेख या है और **दशरूपक, नाट्य-दर्पण, नाटक-लक्षण-रत्नकोश, शृंगार प्रकाश** तथा **ाहित्य दर्पण**[3] आदि ग्रंथों में भी इसका उल्लेख मिलता है। श्री हर्ष की तरह यह वि यशोवर्मन् भी एक राजा था, और सम्भंवतः यह भवभूति के आश्रयदाता शोवर्मन् से अभिन्न था। एक अन्य कवि, पल्लव-राजा महेन्द्र वर्मन् था (सन् ६००-३० ई०) जिसने **मत्तविलास प्रहसन** लिखा है।[4] इसके कुछ बाद के काल में कल्चुरि

---

[1] देखिए, विंटरनित्स, गे. इ. लि., II, पृ. २२८।

[2] देखिए ब्यूलेर, बि. स. ड्रा. भूमिका, पृ. १२।

[3] ऊपर देखिए, पृ.२९४।

[4] श्लोक ७७७।

राजा अनंगहर्ष मात्रराज हुआ, जो नरेन्द्रवर्धन का बेटा था। उसे प्राय: मातृगु
कहा गया है । वह निश्चय ही आठवीं सदी ई० के अन्त में हुआ था,
दामोदरगुप्त ने अपने **कुट्टनीमत** में उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया है। अभि
के उल्लेखों से पता चलता है कि इस राजा ने दो नाटक रचे थे — उदा
जो **रामायण** पर आधारित है और **तापस-वत्सराज** जिसमें उदयन, वासवदत्ता
पद्मावती की कहानी वर्णित है। हम पहले ही कौमुदी-महोत्सव[1] का हवाला दे
जिस पर लेखक का नाम नहीं है। विज्जका को इस नाटक की लेखिका माना
जिसकी शिनाख्त विजय-भट्टारिका से, जो पुलकेशिन द्वितीय के सबसे बड़े
विक्रमादित्य प्रथम के भाई चन्द्रादित्य की पत्नी थी, की गयी है।[2] इस ना
रचनाकाल की अनेक तारीखें सुझायी गयी हैं, जो चौथी सदी से लेकर "आठ
से बाद" तक की हैं, और जो हमारे विवेच्य काल में ही आती हैं, यह नाटक
कोटि का है।

६. काव्य

प्रसिद्ध पाँच महाकाव्यों में से दो — **किरातार्जुनीय** और **शिशुपालवध**
की ही रचनाएँ हैं। इनमें से प्रथम के रचयिता भारवि का कालिदास के साथ ही
अभिलेख (सन् ६३४ ई०) में, और **काशिका-वृत्ति** लगभग (सन् ६५० ई०)
उल्लेख हुआ है। वह शायद बाण से अधिक पहले नहीं हुआ था, लेकिन बाण ने
कहीं जिक्र तक नहीं किया। इसलिए हम उसे छठी शताब्दी के उत्तरार्ध
सकते हैं। अठारह सर्गों के इस महाकाव्य में उसने महाभारत की उस कहानी का
किया है, जिसमें अर्जुन का किरात वेषधारी भगवान् शिव से युद्ध हुआ था।
इस रचना में विचार और भाषा की ओजस्विता तथा उदात्त अभिव्यंजना
होते हैं। इसके साथ ही भारवि ने इसमें चित्रकाव्य की कृत्रिमता उत्पन्न
कोशिश की है, और अनेक प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य भर दिये हैं, जिनकी,
परवर्ती कवियों ने खुलकर और उत्साहपूर्वक नकल की। दूसरे महाकाव्य
पालवध का रचयिता माघ था, जो दत्तकसर्वाश्रय का बेटा और सुप्रभदेव का
उसने अपने काव्य में हर प्रकार से भारवि का समकक्ष बनने का प्रयत्न
सुप्रभदेव को एक राजा का मन्त्री बताया जाता है, जिसका नाम अनेक रूपों
गया है — वर्मलात, वर्मलाख्य, धर्मनाम और धर्मलाभ आदि।

एक राजा वर्मलात का एक अभिलेख (सन् ६२५ ई०) प्राप्त है, जिससे
माघ को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का मान सकते हैं। यह तारीख इस
भी अनुकूल पड़ती है कि माघ ने अपने **शिशुपालवध**[3] में **काशिकावृत्ति** और

---

[1] देखिए, पृ. ६।

[2] देखिए, **कौमुदी-महोत्सव** (शकुन्तला राव द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९५२), पृ.

[3] II. ११२.

न्यास का स्पष्ट उल्लेख किया है और उसे हर्ष के नाटक **नागानन्द** का भी ज्ञान था।[1] उसकी कृति में बुद्ध और उनके उपदेशों की चर्चा से जाहिर होता है कि वह बौद्धों के संसर्ग में काफी समय तक रहा था।[2] माघ के काव्य-कौशल के बारे में परम्परागत मत इन शब्दों में भली प्रकार व्यक्त हुआ है कि "माघ में तीनों गुणों की अवस्थिति है।"[3] माघ की शब्दावली अत्यन्त समृद्ध है और वह काव्य-रचना की विभिन्न युक्तियों का प्रयोग करने में पारंगत था। साथ ही उसकी कविता से उसका गहन पांडित्य भी झलकता है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि काव्य में कृत्रिमता के जिस युग का भारवि ने सूत्रपात किया था, उसे माघ ने एक कदम आगे बढ़ाने में योग दिया।

कम ख्याति के अन्य कवियों में बुद्धघोष का उल्लेख किया जा सकता है, जिसे इसी नाम के प्रसिद्ध पालि विद्वान् बुद्धघोष से अभिन्न नहीं माना जा सकता।[4] उसके महाकाव्य **पद्यचूड़ामणि** के दस सर्गों में बुद्ध के जीवन-चरित्र का वर्णन किया गया है। कल्हण की **राजतरंगिणी** से पता चलता है कि राजा मातृगुप्त के दरबार में एक कवि मेण्ठ था, जिसके काव्य **हयग्रीववध** का एक श्लोक राजशेखर और क्षेमेन्द्र ने उद्धृत किया है और एक राघव ने **शाकुन्तल** की टीका में। मेण्ठ की तारीख मातृगुप्त की तारीख पर निर्भर है, जो प्रवरसेन का पूर्वाधिकारी होने के कारण छठी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुआ प्रमाणित किया जा सकता है। लगभग एक शताब्दी के बाद (लगभग सन् ६७५ और ७७५ ई० के बीच) कुमारदास हुआ, जिसने बीस सर्गों के अपने महाकाव्य **जानकीहरण** में रावण द्वारा सीता हरण की कहानी बयान की है।

उससे कुछ समय पहले भट्टि हुआ था, जिसने वलभी के राजा श्रीधरसेन के आश्रय में अपना **भट्टिकाव्य** रचा था। इसलिए भट्टि की समापक तारीख सन् ६४८ ई० है, जो वलभी के चार श्रीधरसेनों में अन्तिम की ज्ञात तारीख है, या फिर यह तारीख सन् ६५० ई० हो सकती है, जो उसके उत्तराधिकारी की सबसे पहली ज्ञात तारीख है। यह काव्य इस दृष्टि से दिलचस्प है कि इसमें भट्टि ने पाणिनि की **अष्टाध्यायी** में दिये गये व्याकरण के नियमों को दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है और पूरा एक सर्ग **अलंकारों** की व्याख्या में लगाया है। भट्टि और वत्सभट्टि को अभिन्न मानना, या उसे भर्तृहरि से अभिन्न मानना (भर्तृ का प्राकृत रूप भट्टि होता है) बिलकुल निराधार है। वह निश्चय ही माघ से कुछ पहले हुआ था और भामह उसके नाम से परिचित था। इसी परम्परा में, उसके कुछ बाद ही, काश्मीर के कवि भौमक ने अपने काव्य **रावणार्जुनीय** की रचना की थी। सत्ताइस सर्गों के इस काव्य में अर्जुन कार्त्तवीर्य और रावण की कहानी का वर्णन किया गया है, और साथ ही लगभग पूरी **अष्टाध्यायी** को उदाहृत कर दिया गया है। यहाँ पर एक काव्य **घटकर्पर** का उल्लेख भी कर देना चाहिए।

---

[1] देखिए कीथ, हि. सं. लि., पृ० १२४।

[2] देखिए, कृष्णमाचारियर, हि. क्ला. सं. लि., पृ. १५६।

[3] अर्थात् उपमा, अर्थ-गौरव, और पद-लालित्य।

[4] कीथ, हि. सं. लि., पृ. १४३।

इस कविता के २२ पदों में उस सन्देश का वर्णन है जो एक तरुण विरहिणी आरम्भ में मेघ के द्वारा अपने प्रवासी पति के पास भेजती है। इस प्रका कालिदास के मेघदूत से विपरीत स्थिति का वर्णन है, और कुछ लोग इस को मेघदूत से पुरानी मानते हैं। लेकिन आमतौर पर इस मत को स्वीकार न जाता। कुछ लोग इस कविता को, तथा **नलोदय** और **शृंगारतिलक** को भी, का कृत ही बताते हैं, लेकिन इसकी सम्भावना बहुत कम है।

अन्त में हम एक नये वर्ग के काव्यों का जिक्र करेंगे, जिन्हें शतक कहते हैं सौ पदों का काव्य। इनमें सबसे प्रसिद्ध भर्तृहरि के तीन शतक हैं। विभिन्न में इनके पाठ एक-दूसरे से भिन्न हैं। कवि भर्तृहरि[1] को **वाक्यपदीय** के लेखक माना गया है, जिसकी सन् ६५० ई० में मृत्यु हुई थी। हम जानते हैं कि वा का लेखक एक बौद्ध था, जबकि **शतकत्रय** में बौद्धमत की छाया भी नहीं देती। लेकिन कहा गया है कि अनिश्चय के कारण कवि भर्तृहरि की आस्थाएं बदलती रहती थीं, इसलिए वैयाकरण से कवि भर्तृहरि की अभिन्नता अ नहीं है। उसके **शृंगार शतक, नीति शतक** और **वैराग्य शतक** तीनों ही सूक्ष्म, और शक्तिशाली काव्य के श्रेष्ठ नमूने हैं। उनमें इन तीनों विषयों (अर्था विवेकपूर्ण आचरण और सांसारिक सुखों के प्रति विरक्ति) के सामान्य पक्षों पादन हुआ है, तथा स्मरणीय शब्दों में उपदेश दिया गया है कि जीवन में कि व्यवहार करना चाहिए। इसके बाद अमरु का नाम आता है, जो अमरु-श प्रसिद्ध लेखक है। **अमरु-शतक** के भी चार भिन्न संस्करण मिलते हैं, जिनमें ५१ श्लोक ही सामान्य हैं। इन श्लोकों में अमरु या अमरुक ने प्रेम के विभिन्न का, और विशेष रूप से दो प्रेमियों के परस्पर सम्बन्ध का, चित्रण किया है शतक में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं या कुछ शब्दालंकारों की व्याख्या प्र गयी है।[2] लेकिन लगता है कि अमरु को इन दोनों में से किसी के प्रति विशेष थी। बाण के समकालीन कवि मयूर ने भी एक **मयूर शतक** लिखा है, जिसे सू के नाम से भी पुकारते हैं। इसके मुकाबले में बाण ने भी **देवी शतक** की रचना लगभग इसी समय में मातंग दिवाकर नाम का कवि हुआ था, जिसके बारे केवल काव्य-संकलनों से ही पता चलता है, और जिसे **भक्तामर-स्तोत्र** के जैन मानतुंग और शायद **कल्याणमन्दिर-स्तोत्र**[3] के लेखक सिद्धसेन दिवाकर से भी माना जाता है।

---

[1] वही, १७६।

[2] यह बात रोचक लग सकती है कि ज्ञानानन्द की व्याख्या के अनुसार इस शतक के अथवा दार्शनिक दोनों ही अर्थ निकाले जा सकते हैं।

[3] यह संदेहजनक है कि यह शतक **न्यायावतार** के प्रसिद्ध लेखक की कृति हो (सातवीं सदी ई. का अन्तिम चतुर्थांश)। **न्यायावतार** के इस लेखक (सिद्धसेन दिवाकर) स्तोत्र रचे हैं, जिनमें से हरेक में ३२ पद हैं। इसके लेखक और उसकी तारीख आदि के बारे डा. पी. एल. वैद्य द्वारा सम्पादित **न्यायावतार** में उनकी भूमिका।

७. नीति कथाएँ और प्रेमाख्यान

हम आसानी से साहित्य के रूप में नीति-कथाओं के विकास क्रम का निर्धारण र सकते हैं। सबसे पहले कहानियाँ या किस्से मिलते हैं, जो मनोरंजन के लिए कहे ाते थे। फिर उन्हें नैतिक शिक्षा देने या उपयोगी ज्ञान प्रेषित करने के लिए निश्चित प से एक साँचे में ढाला जाता है। अन्त में वे एक साहित्यिक रूप में ढाल दी जाती , जिनमें कहानी गद्य में कही जाती है, और पद्यों का प्रयोग केवल कहानी के मन्तव्य ो उभारने या उसके नैतिक आदर्श को स्मृति में अंकित करने के लिए किया जाता । ऐसी नीति-कथा को कहानी-दर-कहानी की प्रक्रिया से क्रमशः बढ़ाकर संश्लिष्ट ना दिया जाता है। कहानी के विभिन्न पात्रों द्वारा अपने दृष्टिकोण का समर्थन, अन्य ीति-कथाओं की ओर संकेत करने की पद्धति से, सरलता-पूर्वक पूरा किया जाता है, योंकि फिर उनसे यह कहना स्वाभाविक हो जाता है कि वे अपने संकेत को स्पष्ट रके बताएँ।

यद्यपि इस प्रकार के साहित्य के विभिन्न तत्त्व भारत में आरम्भ से ही मौजूद थे, ेकिन पंचतन्त्र से पहले संस्कृत में इस तरह की कोई मिसाल नहीं मिलती। इस कृति ी मूलप्रति ई० सन् की आरम्भिक सदियों की रही होगी, जो खो चुकी है। यह रचना ारे भारत में लोकप्रिय हो गयी थी और दुनिया की अधिकांश भाषाओं में इसका नुवाद किया गया था। इसकी चर्चा हम तेईसवें परिच्छेद में करेंगे। भारत में **पंचतंत्र** े तीन संस्करण उपलब्ध है — (१) उत्तर-पश्चिमी संस्करण, जिसका स्रोत **बृहत्कथा-ञ्जरी** और **कथासरित्सागर** में खोजा जा सकता है; (२) **तंत्राख्यायिका** नाम से दो ाश्मीरी संस्करण और उस पर आधारित दो जैन रूपान्तर; (३) दक्षिण-भारतीय ंस्करण जिससे नेपाली **पंचतंत्र** निकला है और **हितोपदेश** की प्रसिद्ध कहानियां ली यी हैं। **तन्त्राख्यायिका** को छोड़कर, जिसकी तारीख का पता नहीं चल सका है, ंचतंत्र के बाकी सारे वर्तमान संस्करण उस काल के बाद के हैं, जिसका विवरण इस जिल्द में पेश किया जा रहा है। इस प्रकार की एक रचना और है — गुणाढ्य की ृहत्कथा, जो इस काल की मानी जाती है। **बृहत्कथा** शायद पैशाची प्राकृत में लिखी ायी थी। यह सन् ५०० ई० से पहले की रचना नहीं है, यद्यपि कुछ लोग इसे बहुत हले की बातते हैं — यहाँ तक कि ईसवी की पहली सदी तक की। लेकिन यह कोरी टकलबाजी है।[1] यह कृति खो चुकी है और इसके प्राप्त होने की कोई सम्भावना हीं है।

लघु-कथाओं के बाद दण्डी और बाण जैसे महान् लेखकों की अधिक लम्बी, ंश्लिष्ट और कृत्रिम ढंग से वर्णित कथाएँ आती हैं। ये प्रेमाख्यान या तो ऐतिहासिक थ्यों पर आधारित हैं, या बिल्कुल कल्पित हैं। अमर ने[2] इस भेद को ध्यान में रख

---

१. कीथ, हि. सं. लि., पृ. २६८।

२. देखिए, अमरकोश, I, vi. ५-६.

कर ही **आख्यायिका** और **कथा** को दो वर्गों में रखा था, यद्यपि दोनों ही प्रेमा
अन्तर्गत आती हैं। भामह[1] ने इन दोनों में भेद के जो अन्य नुक्ते बताये थे,
मानने से दण्डी ने साफ इन्कार कर दिया और उसने तो यहां तक दावा किया
एक ही वर्ग की कृतियों के सिर्फ दो भिन्न नाम हैं।[2] इसके बाद रुद्रट ने इन
भेद करने की कोशिश की और अन्त में **साहित्य-दर्पण**[3] के लेखक विश्वनाथ
विभिन्न वर्गों की रचनाएँ बताया। विश्वनाथ ने अपने मत के लिए बाण के
को आधार बनाया, जिसने अपने **हर्षचरित** को आख्यायिका और कादम्बरी
कहा है। लेकिन ये प्रयत्न भी व्यर्थ थे, क्योंकि उन्होंने दोनों में फर्क करने के
तर्क दिये, वे इतने सतही थे कि बाद के लेखकों ने इन दोनों में कोई वास्तवि
नहीं माना। इसलिए इस प्रसंग में अमर का मत ही सबसे गम्भीर है। और
कि बाण ने भी उसके मत की ही पुष्टि की थी जब उसने **आख्यायिका** को
"सुखद शैया" से और कथा की तुलना 'उस प्रेयसी वा प्रेमपूर्ण तरुणी से जो उस
की ओर बढ़ रही है' की थी।[4]

इस क्षेत्र के साहित्य में दण्डी[5] का नाम सबसे पहला है। यह मत कि दण्डी
का रहने वाला था, वह पल्लव राजाओं के आश्रय में रहता था, और उसने
रत्नवर्मन् (या राजवर्मन्) का उल्लेख किया है, वह एक पल्लव राजकुमार था,
एक प्राक्कल्पना है और उसका कोई ठोस आधार नहीं है। क्योंकि जिस
आधार पर यह मत व्यक्त किया गया है, वह प्रहेलिका है, इसलिए बिना
निश्चित प्रमाण के इस तरह का कोई भी समाधान एक अटकल से ज्यादा महत्त्व
रखता।

काव्यादर्श और **दशकुमारचरित** का लेखक दण्डी बाण या सुबन्धु से भी
हुआ होगा, इसका अनुमान उसकी अपेक्षाकृत सरल शैली से लगाया जाता
दशकुमारचरित में जिस भौगोलिक स्थिति के ब्यौरे मिलते हैं, वे भी हर्षवर्ध
साम्राज्य से पहले की स्थिति का संकेत देते हैं।[7] उसका **काव्यादर्श**, बहुत सम्भ
कि भामह से पहले की रचना है। परम्परा के अनुसार दण्डी तीन ग्रंथों का
माना जाता है; उनमें से **दशकुमारचरित** शायद युवा दण्डी की रचना है,
काव्यादर्श शायद उसके प्रौढ़ काल की। तीसरी रचना के बारे में पिशेल (Pis

---

[1] देखिए, उसका **काव्यालंकार**, I. २५-२९।

[2] देखिए **"तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता"—काव्यादर्श**, I, २८

[3] देखिए, रुद्रट **काव्यालंकाररसूत्र** XI, २०-२७; **साहित्य-दर्पण**, VI, ३३२-३६।

[4] पढ़िये बाण की **कादम्बरी** की प्रस्तावना के श्लोक ८ और ९।

[5] पढ़िए, डा. दे. का निबंध 'फेस्टश्रिफ्ट काने' में, पृ॰ ११२-४४।

[6] **काव्यादर्श**, III. ११४।

[7] कॉलिन्स, **दि ज्यॉग्राफिकल डाटा आफ दि रघुवंश ऐंड दशकुमारचरित**, पृ.

का मत है कि वह **मृच्छकटिक** है, जबकि कुछ दूसरे विद्वानों का ख्याल है कि वह छन्दोविचिति है, जिसका **काव्यादर्श** में उल्लेख है। **काव्यादर्श** में एक और कृति, कलापरिच्छेद का उल्लेख हुआ है। लेकिन सम्भव है कि **छन्दोविचिति** और कलापरिच्छेद दोनों ही किन्हीं पुस्तकों के नाम नहीं हैं, बल्कि उन परिच्छेदों के शीर्षक हैं, जिन्हें वह अपने **काव्यादर्श** में शामिल करना चाहता था। यह मत कि दण्डी मृच्छकटिक का लेखक था, अत्यन्त सन्दिग्ध है, क्योंकि जिस श्लोक के आधार पर यह मत प्रकट किया गया है, वह न केवल **मृच्छकटिक** और **काव्यादर्श** में मिलता है, बल्कि **चारुदत्त** में भी, जो असन्दिग्ध रूप से भास की कृति है। भोज के शृंगार-प्रकाश'[1] में दिये गये उद्धरणों से लगता है कि दण्डी की तीसरी कृति का नाम द्विसंधान काव्य था जिसमें एक साथ ही भारत के दोनों वीरचरित्रकाव्यों या महाकाव्यों की कथाएँ वर्णित हैं। हमारे यहाँ इस **द्विसन्धान-काव्य** की नकल में लिखे गये काव्यों के, जिन्हें **विलोमकाव्य** कहते हैं और जिनमें कृत्रिम शब्दाडम्बर की उससे भी ज्यादा भरमार रहती है, अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि **दशकुमार-चरित** दण्डी की रचना नहीं है, बल्कि वह **अवन्ति सुन्दरी-कथा** का लेखक है। लेकिन यह मानना कठिन है[2] कि वह पहली कृति का लेखक नहीं है और दूसरी कृति का है। यह सच है कि **दशकुमारचरित** के तीन भागों में से **पूर्वपीठिका** (भूमिका) और **उत्तर-पीठिका** (उपसंहार), ये दो भाग दण्डी की कलम से नहीं लिखे गये। लेकिन इससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि **दशकुमारचरित** का मुख्य भाग भी दण्डी का रचा नहीं होगा।

जैसा नाम से ही जाहिर है, **दशकुमारचरित** में नायक (राजकुमार राजवाहन) और उसके नौ साथी, जो एक दूसरे से बिछुड़ कर भाग्य के विचित्र उलट-फेरों में से गुजरे थे, फिर से मिलने पर, एक दूसरे को अपने अपने विचित्र अनुभव सुनाते हैं। यह तकनीक उन विभिन्न कहानियों को एक सूत्र में पिरो देती है, जिनमें सभी वर्गों और विभिन्न कार्यों में लगे तरह-तरह के स्त्री-पुरुषों का चित्रण हुआ है। यह कृति से दण्डी की चरित्र-चित्रण और जीवन के यथार्थ चित्र खींचने की अद्भुत शक्ति का पता चलता है। उसकी शैली अत्यन्त सरल, सहज और अकृत्रिम है और उसमें व्यंग्य और हास्य की पर्याप्त मात्रा है।

दण्डी के वाद और बाण से पहले सुबन्धु का समय है, जो **वासवदत्ता** का लेखक है। यह रचना सन् ६०८-९ ई० से पहले की है, क्योंकि जिनभद्र का भाष्य इसी वर्ष समाप्त हुआ था, जिसमें **वासवदत्ता** का उल्लेख है।[3] इस प्रकार लगता है कि सुबन्धु बाण का वयोवृद्ध समकालीन था। उसकी **वासवदत्ता** एक बड़ी सुन्दर और मधुर **कथा** है — प्रेम और रोमांस की कहानी — जिसकी तुलना वाण की **कादम्बरी** से की जा सकती है। गद्य के

---

[1] देखिए, कृष्णमाचारी, हि. क्ला. सं. लि., पृ. ४६१, टि. ५।

[2] देखिए, कीथ, हि. सं. लि., भूमिका, पृ. xvi।

[3] प्रो. ओ. का. XIII, भाग II, पृ. ११३-१४।

सभी गुण और दोष दोनों में समान रूप से मिलते हैं। लम्बे, जटिल वाक्य, शब्दों का मोह, अत्यधिक विशेषणों का प्रयोग, जिसमें क्रियापद कई कई स्थगित होता चला जाता है, असामान्य रूप से लम्बे लम्बे समास, ब्यौरों में इतना रम जाने की प्रवृत्ति कि मुख्य कथा और कार्यव्यापार ही उपेक्षित ये कुछ दोष हैं जो बाण की शैली में बताये जाते हैं। लेकिन हमें याद रखना बाण ने मुख्यतः उच्च वर्ग के लिए ही लिखा था और वह भी उस जमाने में (परिभाषा के अनुसार समास-युक्त शैली का परिणाम) अच्छी गद्य-रचना गुण माना जाता था। सरल, प्रसाद-गुण युक्त अंशों की भी बाण की रचनाओं नहीं है। ब्यौरों में रम जाने की प्रवृत्ति तो एक सामान्य भारतीय मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत और यहाँ तक कि प्रकृति के बारे में भी पश्चिम के दृष्टिकोणों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। ब्यौरों की सम्पूर्णता स्वाभाविक गुण है। और अगर वेबर (Weber) ने बाण की कृति की तुल भारतीय जंगल" से की है तो ग्रे (Gray) ने गम्भीर अध्ययन के बाद सुबन्धु को "भारत के अपने वास्तुशिल्प" के समान बताया है, "जहाँ इमारत का सूक्ष्म ब्यौरों से इतना आवेष्ठित होता है कि आँख इमारत की रूपरेखा उस पर की गयी सूक्ष्म और कोमल नक्काशी में ही आश्चर्यचकित होकर है।"[1]

बाण की महानता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जाता है कि बाद के को अपने सिद्धान्त-निरूपण के लिए उसकी कृतियों से पर्याप्त सामग्री इस प्रकार, उसकी कृतियों के आधार पर ही रुद्रट तथा अन्य काव्यशास्त्रियों और **आख्यायिका** का भेद निरूपित किया था। उसकी ही रचनाओं से गद्य की अनेक किस्मों जैसे **कलिका, मुक्तक, चूर्णक** और **पद्यगंधि** आदि किया गया, जबकि दण्डी को इन किस्मों का कोई पता नहीं था। मंजूषा- प्रयोग यद्यपि पुराना था, लेकिन बाण ने उसको नया जीवन प्रदान किया और को एक अविच्छेद्य इकाई में संयोजित कर दिया, जैसा **पंचतन्त्र** आदि में जहाँ तक इस टेकनीक का सम्बन्ध है, वह निश्चय ही दण्डी से एक कदम जिसने **दशकुमारचरित** में पुरानी टेकनीक का विकास करने की ओर नहीं दिया था।

कादम्बरी और **हर्षचरित**, के अलावा जिनमें उसने अपने आश्रयदाता, श्री हर्ष के जीवन का चित्रण किया है, दो ग्रंथ और हैं, जिनका लेखक बताया जाता है — **पार्वती-परिणय**[2] और **चण्डी शतक**। **नलचम्पू** के टीका

---

१. ग्रे, वासवदत्ता, भूमिका, पृ. २७।

२. लेकिन **पार्वती परिणय** दरअसल अभिनव बाण की रचना है, जिसका असली भट्ट बाण था और जो वेमभूपाल का आश्रित कवि था (पन्द्रहवीं शताब्दी ई.)—दे, हि. पृ. २९९. कृष्णमाचारी, हि. क्ला, सं. लि., पृ. २१५, ५४२।

क मात्र हवाले के आधार पर बाण को एक नाटक **मुकुटताडितक** का लेखक होने भी श्रेय दिया जाता है ।

८. काव्यशास्त्र और छन्दशास्त्र

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में सबसे पहला लेखक, जिसकी कृति हमें उपलब्ध है, भट्टि । उसने काव्यशास्त्र पर अलग से कोई ग्रंथ नहीं लिखा, लेकिन उसने अपने प्रसिद्ध व्य **रावणबध** का एक पूरा सर्ग काव्यालंकारों की सोदाहरण व्याख्या में लगाया । उसके **रावण-वध**[1] और भामह के **काव्यालंकार**[2] मे जो निकट साम्य[3] मिलता है, से पहली कृति को ही दूसरी कृति से पूर्व की रचना मानना उचित है । यह बिल्कुल श्चित है कि भट्टि, दण्डी से पहले हुआ था और उसे भर्तृहरि से अभिन्न मानना त है । उसे वत्सभट्टि से अभिन्न बताने के प्रयत्न भी व्यर्थ हैं, क्योंकि इसकी पुष्टि के ए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता । भट्टि ने काव्यालंकारों की जो व्याख्या की उसकी तुलना अगर भामह और दण्डी से करें तो ज्ञात होगा कि उसने स्वतंत्र रूप कार्य किया था और वह इन दोनों महान् लेखकों का जरा भी ऋणी नहीं था ।[4]

दण्डी का **काव्यादर्श** और भामह का **काव्यालंकार** ये दोनों ही काव्यशास्त्र के हान् ग्रंथ हैं, जिन्होंने परवर्ती लेखकों को बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है । दोनों में कौन पहले हुआ और कौन बाद में, इसके बारे में तीखा विवाद चलता आया है । छ लोग भामह को दण्डी से पहले का मानते हैं, और कुछ दण्डी को भामह से पहले । भामह की तिथि सन् ७०० ई० के लगभग निश्चित की जा सकती है और वह यद दण्डी के बाद हुआ था ।[5]

ऐसा अनुमान किया जाता है कि दण्डी और भामह दोनों ने ही छन्दशास्त्र पर भी खा था, लेकिन इसका कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है ।

वराहमिहिर (मृत्यु सन् ५६७ ई०) स्वयं एक बड़ा पद्यकार था और उसने पनी **बृहत्संहिता** और **बृहज्जातक** में प्राचीन संस्कृत के अनेक छन्दों का प्रयोग किया । उसने **बृहत्संहिता** के एक पूरे परिच्छेद[6] में ऐसे लगभग ६० छन्दों के दृष्टान्त किये हैं । इसमें उसने उदाहरणात्मक पदों में ही छन्दों के नाम दिये हैं, लेकिन सने किसी छन्द की परिभाषा नहीं की । प्राकृत के गाथा, स्कन्धक, मागधी और

---

[1] XXII. ३४ ।

[2] II. २० ।

[3] देखिए, कणे, हि. अ. लि., पृ. xxxix; हि. सं. पो., पृ. ११६; दासगुप्त, हि. सं. लि. १२१ ।

[4] देखिए, कणे, दण्डी हि. अ. लि., पृ. xiv प. पृ.; हि. सं. पो. पृ. ७१ ।

[5] भामह और दण्डी की कालानुक्रमिक स्थिति के बारे में देखिए, कणे हि. सं. पो. पृ. ९६-१२५ . गुप्ता, हि. सं. लि. पृ. ५३०-३३; दै., सं. पो. I, पृ. ६४-७०; कीथ, हि. सं. लि. ३७५-७६ ।

[6] परिच्छेद १०३ ।

गीतक जैसे छन्दों का उसे पूर्ण ज्ञान था और वह उनके मूल संस्कृत नाम जो क्रमशः इस प्रकार हैं : आर्या, आर्यागीति, वैतालीय और नरकुटक।

छन्दशास्त्र का इससे बाद का ग्रन्थ विरहांक का **वृत्तजातिसमुच्चय** संस्कृत, प्राकृत (और कहीं कहीं अपभ्रंश) के छन्दों का विवेचन है। इस अधिकांश भाग प्राकृत में लिखा गया था।[1] चार-चार पंक्तियों की द्विप परिभाषा करते समय विरहांक ने बड़ी सावधानी बरती है। हेमचन्द्र के **द्विपदियाँ** काव्य में लुप्तप्राय हो चुकी थीं। जयदेव की तरह और करीब शब्दों में उसने भी अल्पप्राण और महाप्राण अक्षरों द्वारा ध्वनि-लेखा-चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त उसने प्रस्तार के सभी प्रकारों का उल्लेख किया वैदिक छन्दों को बिल्कुल छोड़ दिया है।

६. कोश-कला

तकनीकी क्षेत्र में भी क्लासिकी युग ने विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर समृद्धि में योग दिया है, हालांकि यह दावा नहीं किया जा सकता कि इस नयी और मौलिक दिशा का उद्घाटन हुआ था। इस प्रकार कोश-रचना की भी वैदिक **निघंटुओं** से जोड़ी जा सकती है, यद्यपि अमर के **नामलिंगानुशासन** जिसे साधारणतया **अमरकोश** कहा जाता है, हमें सही अर्थों में कोई कोश नहीं इसके टीकाकारों, क्षीरस्वामी और सर्वानन्द से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र धन्वन्तरि, वररुचि, कात्यायन और वाचस्पति आदि लेखक उस कोशाकार थे और **त्रिकाण्ड, उत्पलिनी** और **माला** पूर्ववर्ती कोश थे। अमर सामग्री केवल **नाममात्रतन्त्रों** और **लिंगमात्रतन्त्रों** से ही नहीं ली, बल्कि आदि के चिकित्सा-कोशों से भी ली है। लेकिन उसकी महानता का अनुमान सकता है, जब हम यह ध्यान में रखें कि पाणिनि के **अष्टाध्यायी** की तरह **अमरकोश** ने भी अपने क्षेत्र की सभी पूर्ववर्ती रचनाओं को तिरोहित कर दिया। परम्परा के अनुसार अमर राजा विक्रमादित्य के दरवार के नवरत्नों में से था। अभी तक इस राजा विक्रमादित्य की असन्दिग्ध रूप से शिनाख्त नहीं कर उसके बारे में कहा जाता है कि अमर "एक कवि था, और निश्चय ही एक और महायान का ज्ञाता था जिसने कालिदास का भी इस्तेमाल किया है।"[2] तारीख अनिश्चित है, लेकिन वह शायद आठवीं सदी ई० से पहले हुआ था।

टीकाकार प्रायः **अमरकोश** को उद्धृत करते आये हैं और उस पर संख्या में टीकाएँ लिखी गयी हैं जिससे **अमरकोश** की लोकप्रियता स्वतः सिद्ध है। सबसे पुरानी और उपलब्ध टीका क्षीरस्वामी की **उद्घाटन** है। क्षीर

---

१. ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो., १९२९,१९३२ में प्रकाशित ।

२. विन्टरनित्स, गे. इ. लि. III, पृ. ४११; कीथ, हि. सं. लि. पृ. ४१३.

राजशेखर और भोज को उद्‌धृत किया है और फिर वर्धमान ने अपनी टीका **गणरत्न-महोदधि** में क्षीरस्वामी को उद्‌धृत किया है। इसलिए उसे ग्यारहवीं शताब्दी ई० में रखना चाहिए। उसने अपने से पहले के जिन टीकाकारों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं गौड़ उपाध्याय और गिरिभोज। **अमरकोश** के अन्य महत्त्वपूर्ण टीकाकारों में एक बंगाल का सर्वानन्द वन्द्यघटीय है, जिसने सन् ११५९ ई० में अपनी **टीकासर्वस्व** लिखी थी और दूसरा सुभूति (या सुभूतिचन्द्र) है, जिसकी टीका **कामधेनु**[1] केवल तिब्बती संस्करण में ही उपलब्ध है, और तीसरा बृहस्पति रायमुकुटमणि (या केवल रायमुकुट) है, जिसने अपनी टीका **पदचन्द्रिका** सन् १४३१ ई० में लिखी थी। बाद की शताब्दियों में भी **अमरकोश** के टीकाकारों में कमी नहीं हुई। इस प्रकार सत्रहवीं सदी में नारायणशर्मा (सन् १६१९ ई०), विद्यावाचस्पति (सन् १६३३ ई०) और मथुरेश विद्यालंकार (सन् १६६६ ई०) ने अमरकोश की टीकाएँ लिखीं, जबकि महादेव, महेश्वर तथा अन्य टीकाकार इससे भी बाद में हुए हैं।

अमर ने वैदिक **निघंटुओं** का अनुकरण करते हुए ग्रन्थ के मुख्य भाग के बाद, जिसमें पर्याय प्रस्तुत किये गये हैं, समध्वनिक शब्दों का एक अनुच्छेद रखा है, हालाँकि इसके अलावा दोनों में और किसी प्रकार का साम्य नहीं मिलता। शायद शाश्वत भी अमर का समकालीन था, जिसके **अनेकार्थ-समुच्चय**[2] में समध्वनिक शब्दों का संयोजन इस प्रकार किया गया है "कि व्याख्या एक पद तक चलती है, आधे पद तक चलती है या चौथाई पद में ही समाप्त हो जाती है और अन्त में अव्यय आते हैं। **अग्नि-पुराण** में दिया गया कोश वस्तुतः **अमरकोश** का ही संक्षिप्त और पुनर्नियोजित रूप है।

धन्वन्तरि का **निघंटु** अपने मूल रूप में निश्चय ही अमरकोश से पहले रचा गया होगा, लेकिन वह जिस रूप में उपलब्ध है, वह बाद की रचना है।"

१०. व्याकरण

संस्कृत व्याकरण[3] की विभिन्न पद्धतियों में से चान्द्र और जैनेन्द्र पद्धतियों का विकास इस युग की देन है। चन्द्र या चन्द्रगोमी, जो चन्द्र पद्धति का संस्थापक है, केवल पाणिनि निकाय के महान् आचार्यों का शिष्य ही नहीं था, बल्कि उसने उनके ग्रन्थों का भरपूर उपयोग करके एक ऐसी पद्धति का विकास करने की कोशिश की जो परम्परागत ब्राह्मणी-प्रभाव से मुक्त हो। वह बौद्ध था और उसका व्याकरण

---

[1] इस टीका की पांडुलिपि प्रो. पी. के. गोडे ने देखी है, ए. भ. ओ. टि. इ., XVI, पृ. ३१३ १. पृ.। सुभूति की तारीख के लिए उनका निबन्ध पढ़िए जो कुप्पूस्वामी शास्त्री कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ. ४७-५१ में प्रकाशित हुआ है। साथ ही, देखिए न्यू इ. ए., II, पृ. ४१४.।

[2] आर. शर्मा (कल्पद्रु कोश, भूमिका, पृ. xxv) का तर्क है कि यह अमरकोश से पुराना है।

[3] इनका सामान्य परिचय प्राप्त करने के लिए देखिए डा. एस. के. बेल्वाल्कर की पुस्तक— सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर।

काश्मीर, तिब्बत, नेपाल और लंका में खूब लोकप्रिय हुआ। इस निकाय का भर्तृहरि ने अपने **वाक्यपदीय** में और सबसे बाद में मल्लिनाथ ने कालिदास के के पच्चीसवें पद की टीका में हवाला दिया है। **काशिका-वृत्ति** (लगभग सन् ६५० में चन्द्रगोमी की कृति का आभार स्वीकार किये बिना ही अनेक सूत्र उधार ले गये हैं। इसके अलावा, वसुरात ने, जो भर्तृहरि का गुरु था और जिसकी मृत्यु सन् ६५० ई० में हुई थी, चन्द्राचार्य को अपना गुरु माना है। इससे चन्द्र की तारीख सन् ६०० ई० के लगभग मानी जा सकती है। लेकिन यह तारीख साल पीछे हटायी जा सकती है, क्योंकि चन्द्र ने अपनी पुस्तक में हूणों पर (गुप्त?) की विजय का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः हूणों पर स्कन्द गुप्त की की ओर संकेत करता है।[1] इस पुस्तक में ३१०० सूत्र हैं, जो चार-चार भागों के अध्यायों में संयोजित किये गये हैं। जैनेन्द्र व्याकरण में, जिसके आधार पर निकाय का जन्म हुआ था, कोई नयी बात नहीं है। उसमें पाणिनि की और उस पर कात्यायन के **वार्त्तिकों** को यथासम्भव संक्षिप्त कर दिया गया है बीच-बीच में कुछ विचक्षण परिवर्तन किये गये हैं। हालाँकि जैनेन्द्र को इसका माना जाता है, लेकिन इस कृति का असली लेखक पूज्यपाद देवनन्दी था, सम्भवतः सन् ६७८ ई० में यह व्याकरण लिखा था।

व्याकरण के क्षेत्र में विवेच्य काल की सारी पुस्तकें टीकाओं के रूप भर्तृहरि ने, जिसकी ई-त्सिंग के अनुसार सन् ६५० ई० में मृत्यु हुई थी, कहा है, पातंजलि के महाभाष्य की टीका लिखी थी, लेकिन यह टीका आज उपलब्ध है। उसकी **वाक्यपदीय** व्याकरण-दर्शन पर तीन खंडों में एक छन्दोबद्ध रचना जयादित्य और वामन ने पातंजलि के ग्रन्थ की प्रसिद्ध **वृत्ति-काशिकावृत्ति** लिखी जिस समय ई-त्सिंग भारत आया (सातवीं शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश), उस चीनी विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करने के लिए आमतौर पर इस पुस्तक इस्तेमाल करते थे। इसके एक से चार तक के खंड जयादित्य के रचे हुए जो शायद पुस्तक को पूरा करने से पहले ही मर गया था और जिसे बाद में पूरा किया था। बौद्ध विद्वान् जितेन्द्रवुद्धि ने **न्यास** नाम से इस **काशिका** की लिखी। माघ ने अपने महाकाव्य **शिशुपालवध** में इस न्यास का स्पष्ट उल्लेख है, इसलिए इसे सन् ७०० ई० की कृति मान सकते हैं।[2]

११. चिकित्सा-शास्त्र[3]

इस काल में चिकित्सा-शास्त्र का एकमात्र महान् लेखक वाग्भट है, जो

---

[1] ऊपर देखिए, पृ. २९ प. पृ.।

[2] यहाँ पर एक नाम और नोट कर सकते हैं — भीमसेन। प्रो. गोडे ने दिखाया है कि ६०० ई से पहले हुआ। वह काफी प्रसिद्ध है और अक्सर उसको उद्धत किया जाता है। न्यू. इ. ए., II, पृ. १०८-१०।

[3] इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, जॉली, **मेडिसिन**; स्वासबर्ग,

और सुश्रुत के बाद इस क्षेत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण लेखक है। शायद इस नाम के दो लेखक थे, जिनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हमें उपलब्ध हैं — एक **अष्टांग-संग्रह** और दूसरा **अष्टांग-हृदय-संहिता**। पहला ग्रन्थ सुश्रुत की तरह गद्य में है, जिसके बीच में कहीं-कहीं पद्य का भी प्रयोग किया गया है और उस पर **वृद्ध वाग्भट** का नाम है। इसके विपरीत दूसरा ग्रन्थ आद्यन्त पद्यवद्ध है और उसके लेखक के रूप में केवल **वाग्भट** का नाम दिया गया है। इस कहावत से कि **वाग्भट** कलियुग के लिए उपयोगी है, जवकि चिकित्सा-शास्त्र के अन्य विद्वान् इससे पूर्व के युगों के लिए उपयोगी थे (लेकिन कलियुग के लिए नहीं), जाहिर होता है कि **वाग्भट** के नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित हैं, वे चरक और सुश्रुत के बाद रचे गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों वाग्भटों में से **अष्टांग-हृदय-संहिता** के लेखक ने दूसरे वाग्भट से बहुत अधिक ग्रहण किया है। वृद्ध वाग्भट, सिंहगुप्त का वेटा और वाग्भट का पोता था और वौद्ध अवलोकित का शिष्य था। ई-त्सिंग ने शायद उसके ग्रन्थ का ही हवाला दिया था, इसलिए उसे सातवीं शताब्दी के आरम्भ का माना जा सकता है। यह निश्चित नहीं है कि छोटा वाग्भट किसी रूप में वृद्ध वाग्भट से सम्वन्धित था, और सम्भवतः वह उससे एक शताब्दी वाद हुआ था, अर्थात् आठवीं शताब्दी के आरम्भ में। यह स्मरणीय है कि इस छोटे वाग्भट ने भी अपने पिता और पितामह का वही नाम बताया है, जो वृद्ध वाग्भट ने। ये दोनों ही वौद्ध मत के थे, और इसलिए स्वाभाविक है कि **अष्टांग-हृदय-संहिता** का भी तिब्वती भाषा में अनुवाद हुआ था।

पशुओं की बीमारियों पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध हस्ति-आयुर्वेद' है, जो पालकाप्य ऋषि और अंग के राजा रोमपाद के बीच संवाद के रूप में लिखा गया है। इसमें हाथियों की विशिष्ट बीमारियों का विस्तार से विवेचन किया गया है। कुछ विद्वान् इसको ईसा-पूर्व पाँचवीं या छठी सदी का ग्रन्थ बताते हैं, लेकिन अधिकतर विद्वान् इसे वहुत बाद का मानते हैं। शायद कालिदास को इस ग्रन्थ का पता था, लेकिन यह निश्चित नहीं है। इसी प्रकार का, घोड़ों की बीमारियों से संवन्धित, एक ग्रन्थ **अश्वशास्त्र** है, जिसका लेखक शालिहोत्र ऋषि को बताया जाता है। इससे वाद के और इसी वर्ग के और भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, लेकिन उनकी तारीख विलकुल निश्चित नहीं है।

१२. खगोल शास्त्र

वराहमिहिर ने, जो छठी शताब्दी ईसवी में हुआ था, अपने ग्रंथ **पंचसिद्धान्तिका** में खगोल-विज्ञान सम्बन्धी उन पाँच ग्रंथों का कुछ विवरण सुरक्षित रखा है, जो उसके

(अंगरेजी अनुवादक — सी.जी. काशीकर, पूना, १९५१); त्सिमेर, **हिन्दू मेडिसिन**, वाल्टीमोर, १९४८; Filliozat, *La Doctrine Classique de la Médicine Indienee; Ses origines et ses parallèles Grecs* Paris, 1949.

[१] हि. व. आर., I, २९५.

जमाने में प्रामाणिक माने जाते थे। इन पाँच ग्रंथों या सिद्धान्तों के नाम इस प्र पैतामह, रोमक, पौलिश, वासिष्ठ और सूर्य । इनमें से पहला पूर्व वैज्ञानिक काल लेकिन अन्य चार सिद्धान्तों में विचार और दृष्टि का अधिक विकसित रूप है । कुछ विद्वानों का मत है कि इन चारों सिद्धान्तों से सूचित होता है कि यूनानी खगोल-विज्ञान पर आधारित नहीं थे, तो कम से कम उसकी जान लाभान्वित अवश्य थे । यह बात दूसरे और तीसरे सिद्धान्त के वारे में निश्चय मालूम देती है, क्योंकि यद्यपि रोमक से रोमनगर का हवाला चाहे न स्वीकार जाए, लेकिन इससे व्यापक अर्थ में रोमन साम्राज्य का संकेत अवश्य मि पौलिश शब्द भी सम्भवतः पाउलस अलेक्जान्द्रिनस के नाम से ही वनाया गया ध्यान देने की जरूरत है कि इन दोनों में यवनपुर की याम्योत्तर-रेखा का हवा गया है । कहा गया है कि **सूर्य सिद्धान्त** को अपने संशोधित रूप में भी, उपलब्ध है, रोमक में सूर्य ने असुर मय को उद्‌घाटित किया था। इस वात को पाश्चात्य मूल या यूनानी प्रभाव का प्रमाण माना जा सकता है । इस प्रकार, कोई संगत सन्देह नहीं किया जा सकता कि भारतीयों को यूनानी खगोल-वि ज्ञान था और वे उससे काफी प्रभावित हुए थे । इन ग्रंथों की विषय-वस्तु पूर्वक छानबीन करने से तथा अन्य तथ्यों को भी दृष्टि में रखने से इस मत होती है।

यद्यपि इन पाँच सिद्धान्तों के नाम के कुछ और ग्रंथ भी हमें उपलब्ध लेकिन वे सारे वराहमिहिर के वाद के हैं और जाहिर है कि अगर ये सचमु नाम से एकदम नये ग्रंथ नहीं हैं तो वे पुराने ग्रंथों के बदले हुए और संशोधित अवश्य हैं । उनके मूलपाठ, जिनमें वराहमिहिर ने संकलन किया है, ईसवी की और पाँचवीं सदी के बीच के हो सकते हैं, यद्यपि कुछ विद्वान् उन्हें इससे प रचनाएँ मानते हैं ।

वराहमिहिर ने और भी कई खगोल-शास्त्रियों का उल्लेख किया है, सिंह, प्रद्युम्न विजयनन्दी; और अन्त में आर्यभट् का जिक्र किया है, जो इ अधिक विख्यात है । इन सबके ग्रंथों में केवल आर्यभट् के ही कुछ ग्रंथ- **दशगीतिकासूत्र और आर्याष्टशत**—इस समय बचे हैं । आर्यभट् शक संवत् ३९ ४७६ ई०)में संभवतः कुसुमपुर या पाटलिपुत्र में पैदा हुआ था । उसका ग्रंथ सन् ४९९ ई० में लिखा गया था । वह पहला विद्वान था, जिसने गणित का विषय के रूप में अध्ययन प्रस्तुत किया था, और मूल क्रिया और घात और आयतन, श्रेढियों और बीजीय सर्वसमिकाओं और एकघातिक अनिर्धारित का निरूपण किया था । आर्यभट् ही पहला विद्वान् था, जिसने कहा कि गोल है । और अपनी धुरी पर घूमती है और चन्द्र और सूर्यग्रहण राहुग्रस्त कारण नहीं, बल्कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ने के कारण होते हैं । इन मतों को आगे चलकर वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने अमान्य ठहराया और

कठोर आलोचना की। आर्यभट् ने π अर्थात् ३ : १४१६ का 'सही-सही मूल्य निकालने में भी सफलता पायी थी।[1]

आर्यभट् के गणित का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उसकी अनोखी अंकन पद्धति है। यह दशमलव स्थानाई पद्धति पर आधारित है, जो प्राचीनकाल के अन्य लोगों को अज्ञात थी, किंतु अब सारे सभ्य-जगत् में प्रचलित है। आर्यभट् ने इस पद्धति का आविष्कार किया था या किसी प्रचलित पद्धति का संशोधन किया था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। बखशली की पाण्डुलिपि को छोड़कर, जिसे कुछ लोग २०० ई० की मानते हैं, इस पद्धति का सबसे प्राचीन प्रयोग **आर्यभटीय** में ही मिलता है, और उसके बाद ही गणित शास्त्र के अन्य सभी ग्रंथों में। सामान्यतः विज्ञान के लिए और विशेषकर गणितशास्त्र के लिए इस पद्धति का आत्यन्तिक महत्त्व है। कुल मिलाकर भारतीय ज्योतिर्विदों में आर्यभट् का बहुत ऊँचा स्थान है और उसके अनेक अनुयायी और टीकाकार हुए हैं।[2]

कालक्रमानुसार अगला प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर था। उसने शक संवत् ४२७ को गणना का आधार बनाया था, इसलिए हम कह सकते हैं कि वह पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हुआ होगा। यह मत कि उसकी मृत्यु शक संवत् ५०९ (सन् ५८७ ई०) में हुई थी, एक पद में दी गई सूचना पर आधारित है,[3] जिसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। उसने ज्योतिष-शास्त्र को तीन शाखाओं में बाँटा, अर्थात् तंत्र (खगोल-विज्ञान और गणित), होरा (जन्म पत्री) और संहिता (फलित ज्योतिष)। इन तीनों शाखाओं के बारे में उसके छह ग्रंथ उपलब्ध हैं। उसके खगोल-विज्ञान संबन्धी ग्रंथ **पंचसिद्धांतिका** का पहले जिक्र किया जा चुका है। फलित-ज्योतिष सम्बन्धी उसकी **बृहत्संहिता** ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की उपयोगी जानकारी का विश्वकोश है, जैसे ग्रहों-उपग्रहों की आकाशीय गति और मनुष्यों पर उनका प्रभाव, भूगोल, वास्तुशिल्प, मूर्ति निर्माण, जलाशय खोदना, बाग लगाना, विभिन्न वर्गों की स्त्रियों और पशुओं की चारित्रिक विशेषताएँ, आभूषण, शकुन, विवाह आदि। विवाह के लिए शुभ-घड़ी का निर्णय करने के सम्बन्ध में उसने अपनी दो कृतियों, **बृहद्विवाहपटल** और **स्वल्पविवाहपटल** में विशेष रूप से विस्तृत विवेचन किया है और एक तीसरी कृति **योगयात्रा** में राजाओं के युद्धों से सम्बन्धित शकुनों का विवेचन किया है। होरा

---

[1] भारतीय ज्योतिष विज्ञान के लिए देखिए, हि. सं. लि., पृ. ५१६ प पृ.। साथ ही देखिए **भारतीय-ज्योतिष शास्त्र**, ले. एस. बी. दीक्षित, द्वितीय संस्करण, पूना, १९३१. आर्यभट् और उसके पूर्ववर्तियों के लिए देखिए — कीथ, पू. पु., ५१७ प. पृ.।

[2] दशमलव प्रणाली की मूल-स्थापना के बारे में विभिन्न मतों को जानने के लिए देखिए 'हिस्टरी ऑफ हिन्दू मैथेमेटिक्स,' ले. डा. दत्त और ए. सिंह (लाहौर, १९३५) तथा साथ ही इ. हि. क्वा. III, ३ प. पृ.; ३५६ प. पृ.।

[3] "**नवाधिकपंचशतसंख्यशाके वराहमिहिराचार्यो दिवंगतः**" दीक्षित द्वारा पू. पु. २११ में उद्धृत।

सम्बन्धी उसके ग्रंथ की चर्चा बाद में की जाएगी। अगला लेखक, जिसको उपलब्ध हैं, ब्रह्मगुप्त है, जिसने शक संवत् ५५० (सन् ६२८ ई०) में ब्रह्मसिद्धान्त की रचना की थी। उसका एक और सुविदित ग्रंथ खण्डखा सम्भव है, शक संवत् ५८७ में रचा गया था। इसी को गणनाओं के लिए बनाया जाता है। लगता है कि उसने ७२ पदों में **आर्या** छन्द में ध्यानग्र ग्रंथ भी रचा था। "ब्रह्मगुप्त के ग्रंथ में गणित के अत्यन्त साधारण रूप ही मि जैसे वर्गमूल, घनमूल, तीन का नियम, ब्याज, श्रेढ़ियाँ, ज्यामिति, जिसमें समकोणिक त्रिभुज और वृत्त के मूल-तत्त्व भी शामिल हैं, ठोस पदार्थों के कलन, छाया-सम्बन्धी समस्याएँ अथवा निर्मेय सकारात्मक और नकारात्मक परिमाण, मात्राएँ, शून्य, करणी, साधारण बीजीय सर्वसमिकाएँ (नियम) और और दूसरे घात के अनिर्धार्य समीकरणों का विस्तारपूर्वक और पहले और दू के साधारण या सामान्य समीकरणों का संक्षेप में विवेचन। इसमें समकेन्द्रिक पर विशेष ध्यान दिया गया है।"

इस बीच जन्म-कुण्डलियों से सम्बन्धित होरा-शास्त्र के अनेक ग्रंथ रचे ग प्रकार, लघु और वृहद् **पाराशरी**, **मलाबार** में प्रचलित जैमिनि का जातक-सू **संहिता**, **नाड़ी ग्रंथ**, **मीनराज-जातक**, जो **यवन जातक** के नाम से भी प्रसि वराहमिहिर के **लघु** और **बृहज्जातक** और उसके बेटे पृथुव्यास का शतपं आदि ग्रंथ हमें उपलब्ध हैं। लेकिन इनमें से अन्तिम दो ग्रंथों को छोड़कर औरों की तारीख ज्ञात नहीं है। वराहमिहिर के इन दोनों ग्रंथों पर यूनानी प्रभाव लक्षित होता है।

१३. विविध

उपर्युक्त विषयों के अलावा, लगता है, और भी अनेक विषयों पर इस ग्रंथ रचे गये थे, लेकिन बाद के जमाने में उन विषयों पर अधिक प्रामाणिक गये, जिससे उनका कोई उपयोग नहीं रहा और वे काल के गर्त में विलीन हो विशेष रूप से, वस्तुशिल्प, संगीत, नृत्य, चित्रकला जैसे विविध विषयों पर भी और सम्भवतः चौर-कला पर भी पुस्तकें लिखी गयीं।

इस अनुमान की पुष्टि वात्स्यायन मल्लनाग के **कामसूत्र** से भी होती है। की भूमिका से प्रतीत होता है कि कामशास्त्र के विषय पर पहले भी कई ले लिखा था, जिनके नाम हमें अन्य स्रोतों से भी ज्ञात हैं, लेकिन जिनके ग्रंथ गायब हो चुके हैं। वात्स्यायन की तिथि अनिश्चित है, लेकिन वह शायद ई चौथी या पाँचवीं शताब्दी में हुआ था, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे इससे प अनुमानित करते हैं। इस पुस्तक में विषय का अत्यन्त व्यापक ढंग से विवेचन है और वह समाज के शिष्टाचार और रीति-रिवाजों पर गहरा प्रकाश डाल

---

१. देखिए, परिच्छेद : २० ।

कामसूत्र जिस शैली में लिखा गया है, उसे सूत्र और भाष्य के बीच की शैली कह सकते हैं और यशोधर (तेरहवीं सदी ई०) की टीका **जयमंगला** के विना आज भी वह आंशिक रूप से दुर्बोध बना रहता।

उपसंहार

क्लासिकी युग में रचे गये संस्कृत साहित्य के इस व्यापक सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि साहित्य के हर क्षेत्र में महान् प्रगति हुई थी। कुछ महत्त्वपूर्ण विज्ञान, जैसे व्याकरण, गणित, खगोल-विज्ञान और फलित ज्योतिष आदि तो इस सृजनात्मक युग में अपने पूर्ण विकास की उस मंजिल तक पहुँच गये थे कि उसके बाद इन क्षेत्रों में स्थायी मूल्य का कोई रचनात्मक कार्य हुआ ही नहीं। इसी प्रकार, इस युग का सौभाग्य था कि ललित साहित्य के क्षेत्र में श्रेष्ठतम रचनाकार पैदा हुए और श्रेष्ठतम ग्रन्थ रचे गये। इस युग में ही कालिदास हुआ, जो कवि और नाटककार के रूप में उत्कृष्ट प्रतिभा का लेखक है। वह न केवल संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ पाँच महाकाव्यों में से दो का रचयिता है, वल्कि उसने संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक और एक लघुकाव्य भी रचा, जिसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई है और जिसका अनेक परवर्ती कवियों ने अनुकरण किया है। **उत्तर-रामचरित** नाटक भी, जो 'शाकुन्तल' के वाद संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है, इस युग में ही रचा गया था। भारवि और माघ जैसे कवियों ने भी इस युग को ही आलोकित किया था। इस युग में ही दण्डी, सुबन्धु और बाण जैसे प्रतिभाशाली और कुशल लेखकों ने संस्कृत की गद्य शैली का भी पूर्ण विकास किया था। पर यह ध्यान देने की जरूरत है कि यद्यपि इस युग ने हर क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पैदा की थीं, पर उसकी समाप्ति तक पहुँचते पहुँचते साहित्य में कृत्रिमता का बोलबाला हो गया था, जिससे साहित्य का ह्रास तो हुआ ही, उसने सच्ची कला का दम भी घोंट दिया। व्यापक रूप से कहा जा सकता है कि यह हिन्दू ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का क्लासिकी या स्वर्ण युग था, जिसकी कलात्मक और वैज्ञानिक साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में गौरवपूर्ण देन है।

II. प्राकृत

अर्ध-मागधी प्राकृत में श्वेताम्बर जैनों के सिद्धान्त-ग्रन्थ, उनके भाष्य और टीकाएँ, महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतों में दक्षिण के दिगम्बर जैनों के धर्मग्रन्थ और पालि में बौद्धग्रन्थों की टीकाएँ — विवेच्य काल में प्राकृत और पालि भाषाओं में बस इतने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये। इनका विवेचन परिच्छेद १८ में किया गया है, इसलिए यहां पर हम केवल उन कतिपय रचनाओं का जिक्र करेंगे, जो धर्म-सिद्धान्त-ग्रन्थों से बाहर की हैं।

सबसे पहले धर्मदास और संघदास की **वसुदेवहिण्डि** जैसी स्वतंत्र धार्मिक कथाओं

का उल्लेख करना उचित होगा। अल्सडोर्फ (Alsdorff)[१] ने दिखाया है कि इस में गुणाढ्य की **बृहत्कथा** के अनेक प्रभाव मिलते हैं। इसी प्रकार एक धार्मिक **तरंगवती-कथा** है, जो अत्यन्त प्राचीन रचना है। **अनुयोगद्वार-सूत्र** में उसका मिलता है, जिसे वलभी की सभा ने आगम-साहित्य का अंग घोषित किया था। लिप्त को इस प्रेमकथा का लेखक बताया जाता है, जिसे **ज्योतिष्करण्डक** नाम प्रकीर्णक का प्राकृत भाष्य लिखने का भी श्रेय दिया जाता है। मलयगिरि ने पर अपनी टीका में इस भाष्य का जिक्र किया है। प्राकृत भाषा में जैन-न्याय जैन-दर्शन पर भी इस काल में ग्रन्थ रचे गये थे। ऐसा एक ग्रन्थ सिद्धसेन का **तर्कसूत्र** है। इसमें १६७ गाथाएँ हैं, जिन्हें तीन परिच्छेदों में बाँटा गया है। यह जैन-न्याय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। **निशीथ-सूत्र** पर लिखे गये अपने **विशेषचूर्णि** में जिनदास ने इसका उल्लेख किया है। एक दिगम्बर कृति षट्खण्डा अपनी टीका **धवला** में वीरसेन ने भी इसका जिक्र किया है।

जब धीरे धीरे साहित्य-रचना के लिए पालि और प्राकृत का अधिकाधिक होने लगा, तो स्वाभाविक है कि उनको अपने शुद्धतर रूप में सुरक्षित रखने की भी पैदा हुई और इस प्रकार उनके व्याकरण लिखे गये। वररुचि का प्राकृ और चण्ड का **प्राकृतलक्षण** सम्भवतः प्राकृत भाषाओं के व्याकरणों में सबसे ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ संस्कृत में हैं और पाणिनि की पद्धति का अनुकरण करके हैं। इसके विपरीत पालि भाषा का व्याकरण **कात्यायनप्रकरण** पालिभाषा में गया है। उसी कात्यायन को इस ग्रन्थ का लेखक माना गया है, जो **अष्टाध्यायी** पर **काशिका-वृत्ति** और **कातन्त्र व्याकरण** के लेखक के रूप में लेकिन पाँचवीं सदी ई० के बुद्धघोष ने **कात्यायन-प्रकरण** का उल्लेख नहीं है, जिससे हो सकता है कि वह काफी बाद की रचना हो।

संस्कृत भाषा और साहित्य के भक्त भी कभी कभी प्राकृत में गीति और दोनों प्रकार के काव्य लिखते थे। स्वयम्भू की छन्द-शास्त्र पर लिखित विभिन्न प्राकृत कवियों की रचनाओं के उद्धरणों में गीतिकाव्य के अनेक होते हैं।[२]

प्राकृत काव्यों में दो विशेष रूप से विचारणीय हैं, अर्थात् **सेतुबन्ध** और **सेतुबन्ध** महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा एक बृहत् काव्य है। यह **रावणवह** (के नाम से भी प्रसिद्ध है और इसमें लंका पर चढ़ाई के समय से लेकर और सीता को वापस लाने तक की घटनाओं का वर्णन है। सबसे पहले (Peterson) ने **हर्षचरित** के पन्द्रहवें पद से यह अनुमान पेश किया था कि काव्य प्रवरसेन का रचा हुआ है। लेकिन यह नामुमकिन नहीं है कि राजा

---

[१] अपभ्रंश-स्तुदीन, लाइप्त्सिग, १९३७.

[१] ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो., १९३५ और ज. यु. ब., नवम्बर, १९३६ में प्रकाशित।

स काव्य के असली लेखक का आश्रयदाता मात्र हो । अगर राजा प्रवरसेन ही इसका खक मान लिया जाए तो भी उसको शिनाख्त करना सम्भव नहीं है । कुछ विद्वान् सकी कश्मीर के राजा प्रवरसेन द्वितीय से शिनाख्त करते हैं, तो कुछ इसी नाम के काटक राजा से ।[1] कुछ लोगों ने इसे कालिदास की रचना बताया है, लेकिन यह तत है । संस्कृत काव्यों की तरह **सेतुबन्ध** भी कृत्रिम शैली में लिखा गया है और समें संस्कृत-काव्यों की सारी विशेषताएँ मिलती हैं ।[2]

गौड-वहो के लेखक वाक्पतिराज ने अपने आपको भवभूति का शिष्य लिखा है । ह कन्नौज के राजा यशोवर्मन् का राजकवि था । यह काव्य सन् ७२५ ई० में लिखा या था और इसे ऐतिहासिक काव्य के बजाय प्रशस्ति काव्य कहना ज्यादा उचित गा । इसमें नायक यशोवर्मन्[3] के कार्यों और उसकी वीरता का वर्णन किया गया । बीच-बीच में कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्यों, ऋतुओं सूर्योदय और सूर्यास्त, गिरि-पर्वतों दियों, मन्दिरों आदि का संस्कृत-महाकाव्यों की शैली में चित्रण है, यद्यपि उसमें नेक मिथिक अनुश्रुतियों का सम्मिश्रण भी है । आमतौर पर वाक्पतिराज की शैली त्रिम श्लेषों और शब्द-चमत्कारों से मुक्त है, यद्यपि लम्बे समासयुक्त वाक्यों की समें कमी नहीं है । ग्राम्य-जीवन का चित्रण करने में वह अद्वितीय है, जिसका चित्रण राने काव्यों में बहुत कम मिलता है । इस काव्य का वर्तमान रूप, जिसमें १२०० द हैं, शायद मूलकाव्य का सारांश मात्र है, जिसमें से कोरे ऐतिहासिक अंशों को नका काव्यात्मक मूल्य नगण्य था, निकाल दिया गया है; या संभवतः यह एक बड़े व्य का संक्षिप्त रूप है, जो कभी अपने सम्पूर्ण रूप में लिखा ही नहीं गया ।

III. तमिल

इस काल का तमिल साहित्य पूरी तरह से दक्षिण भारत के धार्मिक आन्दोलनों प्रभावित था, जिनका विवेचन परिच्छेद १८ में किया जाएगा । यहाँ पर केवल ना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस काल के आरम्भ में यद्यपि जैन और बौद्ध मों का जबर्दस्त प्रभाव था, लेकिन आखिरकार उन्हें शैव और वैष्णव धर्मों के सामने, न्हें संयुक्त रूप में सनातन हिन्दूधर्म कहा जाता है, हार माननी पड़ी ।

छठी और सातवीं सदी से लेकर परवर्ती काल में लगातार हिन्दुओं को अनेक व नायन्मारों और वैष्णव आलवारों में अपने धर्म के प्रतिपादक मिलते गये । हिन्दू र्म को पुनरुज्जीवित करने वाली ये प्रबल शक्तियाँ जैन प्रभावों को मिटाने और ठोस नियादों पर शैव तथा वैष्णव धर्मों के जगमगाते प्रासाद खड़े करने में सफल हुईं । प्रभाव कन्नड़ देश में काफी दिनों तक जिन्दा रहा और उसने कन्नड़ साहित्य के

ऊपर देखिए, पृ. २०९ प. पृ. ।

विंटरनित्स, गे. इ. लि., III ६३ ।

देखिए, पृ. १४६ प. पृ. ।

इतिहास में गौरवशाली अध्याय जोड़ा। यहाँ तक कि तमिल में भी इसके लेखक उसे अपनी रचनाओं से समृद्ध करते रहे; कभी एक व्याकरण से धार्मिक कविता या कभी पद्यबद्ध उपदेशात्मक निबन्ध के जरिए। लेकिन क्षेत्र में हमेशा के लिए शैव और वैष्णव कवियों का ही प्राधान्य हो गया था।

१. नायन्मार और आलवार

शैव नायन्मार और वैष्णव आलवार, दरअसल सरल हृदय भक्त थे, न और धर्मशास्त्र के पंडित। परमात्मा, चाहे उसे शिव के रूप में पाने की जाय या विष्णु के रूप में, एक प्रेमी है, जिसे प्रेम और भक्ति से रिझाया है; वह एक राजा है, जिसकी आज्ञा का पालन सरल श्रद्धा और स्नेह चाहिए। यह परमात्मा स्वयं को दम्भपूर्ण तर्कबुद्धि के आगे प्रकट नहीं करता उस अतृप्त आत्मा के आगे प्रकट होता है, जो अनुभव करती है कि उसके बिना वह जीवित नहीं रह सकती। इस प्रकार धर्म ने एक निमिष में ही तर्कवाद के सारे आवरण उतार कर फेंके और निराशावादी आत्मविनी दयनीयता से भरा दृष्टिकोण त्याग दिया। धर्म एक सरल और मर्मस्प बन गया तथा जीव और परमेश्वर दोनों ने एक दूसरे को खोजने की ताकि दोनों एक दूसरे के साथ हो सकें। अबतक आनन्द के जो द्वार एकदम खोल दिये गये और नीच से नीच और अधम से अधम मर्त्यों ने आन नेत्रों से देखा कि वे पवित्र चहारदीवारी के भीतर निर्भय दाखिल हो सके भगवान् के पितृत्व के भागीदार हो सकते थे। ये नायन्मार और आलवार समान रूप से उत्प्रेरित गायक हों या नहीं, पर यह निश्चित है कि वे सभी भ की सुरा से उन्मत्त प्राणी थे, जिन्होंने अपने करोड़ों समकालीनों के हृदय में प्रणयोन्माद की लग्न जंगा दी थी। उनमें से कुछ उच्च कोटि के कवि और और वे अपनी अक्षय विरासत के रूप में ऐसी भक्ति कविता छोड़ गये बराबरी, परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से, समस्त मानव इतिहास शायद ही कभी हो सकी हो, उससे आगे जाने की बात तो अलग है।

शैव और वैष्णव सन्तों के भक्ति-गीतों के संकलन और सुरक्षण के धार्मिक नेताओं के आभारी हैं — नम्बि-आंडार-नम्बि और श्री नाथमुनि। उपलब्ध शैव प्रार्थना-गीतों को ग्यारह **तिरुमुड़यों** में संकलित किया, सात संकलनों में (जिन्हें संयुक्त रूप से **तेवारम** पुकारा जाता है) और सुन्दरर के गीत हैं, आठवें संग्रह में (जिसे **तिरुवाचकम्** कहते हैं) के गीत हैं, नवें संग्रह में (जिसे तिरु-इशैप्पा पुकारते हैं) फुटकर गीत हैं, में छठी शताब्दी के एक शैव योगी तिरुमूलर के रहस्यात्मक उद्गारों को गया है, और ग्यारहवें और अन्तिम **तिरुमुड़य** में नक्कीरर से लेकर नम्बि- तक के फुटकर भक्ति-गीतों का संग्रह किया गया है। इसी प्रकार श्री

अपने समय तक उपलब्ध सारे वैष्णव प्रार्थना-गीतों को एक विशाल संग्रह में जमा किया, जिसका नाम **नालायिरप्रबन्धम्** है । यह भक्तिकाव्य का विशाल खजाना है । इसमें संकलित चार हजार गीत बारह आलवारों के रचे हुए हैं (जिनमें से एक रहस्यवादी भक्त स्त्री है, जिसका नाम आंडाल है) । इन गीतों में अधिकतर तिरुमंगय-आलवार, नम्मालवार, पेरियालवार, तिरुमलिशइ-आलवार और श्री आंडाल द्वारा विरचित हैं ।

२. शैव संत

दसवें **तिरुमुड़य** के लेखक तिरुमूलर ने अपने काव्य-ग्रंथ में (जिसका नाम तिरुमन्दिरम् है) शैव मत का पति-पशु-पाशम् सिद्धान्त प्रतिपादित किया है । तिरुमूलर का विश्वास था कि पदार्थ को ही नहीं बल्कि आत्मा को भी यथार्थ मानना चाहिए, क्योंकि दोनों की एक दूसरे से बिलकुल स्वतंत्रसत्ताओं के रूप में कल्पना करना असंभव है। इसी प्रकार प्रेम और शिवम् दो भिन्न कोटि के अनुभव नहीं हैं : प्रेम की परिणति शिवम् में होती है और वह उस आनन्दावस्था में विश्राम करता है । मोक्ष पाने के लिए यह जरूरी है कि भक्त अपने लिए एक विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक चुन ले :

अन्धा जो ज्ञानी के पद-प्रदर्शन को ठुकराता है
उसे अन्धा पथ-प्रदर्शक ही मिलेगा
अन्धा अन्धे के साथ अन्धा नाच नाचेगा
और दोनों अन्धे एक साथ खाई में गिर जायेंगे ।

तिरुमन्दिरम् में ३००० मन्त्र हैं और तमिल के शैवों में उसका बड़ा आदर है ।

लगभग एक शताब्दी के बाद माणिक्कवाचकर और वे तीनों महान् शैव समयाचार्य—अप्पर, सम्बन्दर और सुन्दरर—तमिल देश में पैदा हुए जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त करने और परमेश्वर के चरणों में सच्चे मन से आत्म-समर्पण के लिए आह्वान किया था । अब यह आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है कि अप्पर और सम्बन्दर समकालीन थे और सन् ६६० ई० में सम्बन्दर की मृत्यु के बाद अप्पर दो-तीन दशकों तक जीवित रहा था । लेकिन यह विवादग्रस्त है कि माणिक्कवाचकर इन तीनों तेवारम गायकों से पहले हुआ था या बाद में । इस प्रश्न पर अन्तहीन बहस चलती आयी है, लेकिन प्रस्तुत लेखक को ऐसा लगता है कि शायद माणिक्कवाचकर भी अप्पर का समकालीन था । सी. बी. नरायन अय्यर ने जो तारीखें सुझायी हैं, कुल मिलाकर सन्तोषप्रद जान पड़ती हैं: अप्पर (सन् ६००-६८१); सम्बन्दर (सन् ६४४-६६०); माणिक्कवाचकर (सन् ६६०-६९२); और सुन्दरर, जो सन् ७१० और ७३५ ई० के बीच कभी भी १८ साल तक रहा होगा ।”[1]

---

[1] ओरिजिन ऐंड अर्ली हिस्टरी आफ शैविज्म इन साउथ इंडिया, पृ. ४६२ ।

(i) अप्पर या तिरुनावुक्करशु नायनार

अप्पर को उसके वेल्लाळ मां-बाप मरुनीक्कियार के नाम से पुकारते
उसने शैवमत छोड़कर जैन मत अपना लिया, लेकिन फिर वह कट्टर शैव
उसने अनेक मित्रताएँ कायम कीं, जो आजीवन चलती रहीं। उसने बड़ी
जैनियों के ताने-उलाहने बर्दाश्त किये, और एक बार उसने पल्लव राजा को,
था, यह सन्देश भेजा :

हम किसी के दास नहीं, हम मृत्यु से नहीं डरते;
पापहीन, हम नरक की यातनाएँ नहीं झेलेंगे;
गौरवशाली हैं हम कि हमें किसी रोग, किसी बन्धन का पता नहीं,
पीड़ा का ज्ञान नहीं, हम सदा सुखी हैं।

तेवारम में अप्पर के लिखे ३१३ भक्ति-गीत हैं। उनका स्वर और
उनकी विचार-वस्तु और उनका बिम्ब-विधान उसके जीवन की दो
अनुकूलित हैं। चार महान नायनारों में से केवल अप्पर ही अपनी
जीवित रहा था, बाकी तीनों की उम्र कुल मिलाकर भी उससे कम थी।
ने सोफोक्लीज की तरह उसे भी जीवन को अधिक स्थिरता पूर्वक और
में देखने का अवसर दिया था। इसलिए अप्पर के प्रौढ़तम भक्ति-गीतों
प्रौढ़ावस्था की स्निग्धता का रंग घुला हुआ है। इसमें एक ऐसा हृदयग्राही
जो केवल परिपक्व अनुभूति से ही आता है। अप्पर अपने अनुयायियों को
से आश्वस्त करता है:

वह हमारी मां है, हमारा बाप है
वह हमारी बहन है, हमारा भाई है
त्रिलोकी का स्रष्टा है वह,
फूलों की नगरी में बसता है वह,
वह हमारी सहायता करेगा, वह अदृष्ट परमेश्वर।

दूसरी बात यह कि वह जन्म से वेल्लाळ था जिसका खान्दानी पेशा
है। इसलिए अप्पर ने उन निम्नवर्गीय दीन-दुखियों के दिल में फौरन जगह
जो अधिकतर हमारे गाँवों में बसते हैं। वह प्रकृति की विचार-प्रक्रियाओं
किताब की तरह पढ़ सकता था। सारे पशु और पक्षी जैसे उसके सगे
समुद्र, पहाड़ियाँ, जंगल, हरी फसल और घास से लहलहाते खेत, लहराती
नदियाँ, शेर, चीते, बाघ, गीदड़, हरी टाँगों वाले मेढक, कुमुद, नीलपुष्प,
कमल, पौधे, लताएँ, पेड़, झरने और बाढ़ें, पूर्णिमा का शुभ चन्द्रमा,
साँप तक भय खाता है—अप्पर के विदग्ध भक्ति-गीतों के विषय हैं। ऐसी
भक्त ही नहीं किसान भी बोल उठता है :

अगर तुमने सच से जुताई कर बोया है इच्छा का बीज,
अगर तुमने झूठ की छँटाई कर सींचा है सकौशल धीरज।

अगर तुमने भलमनसाहत बर्ती है, दिया है लोगों को प्यार,
तो तुम निश्चय ही शिव-लोक पहुँच कर करोगे शिव जी से भेंट,

निश्चय ही, 'सुन्दर वाणी के सम्राट्' अप्पर के स्वरों में हेमन्त के वैभव का गुण जो हमें साहस और चिर आशा के साथ भविष्य का सामना करने की शक्ति ता है ।

(ii) सम्बन्दर

सम्बन्दर "एक अद्भुत बालक था, जो अपनी तरुणाई में ही चल बसा ।" सने अपनी कुल सोलह साल की अल्प आयु में ही, कहते हैं, १०,००० भक्ति-गीत ने थे, यद्यपि उनमें से केवल ३८४ ही अब तक ज्ञात हैं । सम्बन्दर के गीतों के कृतिम सौन्दर्य और उनके मृदु-माधुर्य को सबने सराहा है । नीचे दिया हुआ गीत, ी उसके उद्गारों में शायद सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है, कहते हैं, उसके मुंह से, जब वह वल तीन साल का बालक था, अपने आप फूट पड़ा था :

सर्प है कुंडल उसका, नन्दी है वाहन
मस्तक पर विराजता है शुभ्र बाल-चन्द्र
देह पर मले भभूत दावानल में भस्म वनों की
पूरे खिले फूलों की माला से अलंकृत है वह
बहुत पहले बुलाया था जब उसको भक्तों ने
वह दौड़ा आया था जगमगाते पिरमपुर में
सबको भेंट दी थी उसने अपनी कृपा
वही तो चोर है जो चुरा ले गया मेरा हिया ।

उसके दो और पद हैं जिनको अक्सर उद्धृत किया जाता है । उनका मुक्त नुवाद इस प्रकार है :

वह उनके लिए नहीं बाट तकेगा जो नहीं करते उसका गुणगान
हम भी उस ईश्वरहीन संगत से रहेंगे दूर
बाप भी मर जाता है, मां भी मर जाती है, फिर अपना भी
आयेगा-समय,
यमराज अपना दंड पकड़े हरेक को उठा ले जाने के लिए
पूर्व-निश्चित घड़ी जोह रहा है,
अभागे प्राणी ! आशा है तुमको यहाँ सदा रहने की, किन्तु
उठा ले जायेगा यमराज तुझे भी
आनन्दातिरेक के भागी हो सकते तुम यदि
चलो तिरुवारूर के पीछे — मृत्यु से डरो नहीं कभी !

(iii) माणिक्कवाचकर

इस महान् सन्त का जीवन-चरित **तिरुविलैयाडल पुराणम्** और बादुवूरर दोनों में दिया गया है। सम्बन्दर की तरह माणिक्कवाचकर के मां-बाप भी ब्रा बाद में वह एक पांड्य राजा का प्रधान मंत्री बना, लेकिन शीघ्र ही उसका खो बैठा। धीरे धीरे उसे ज्ञान प्राप्त हुआ और उसने अलौकिक जीवन के लि आपको उत्सर्ग कर दिया। **तिरुवाचकम्** नाम से उसके भक्ति-गीतों का संग्रह उसकी अपनी आध्यात्मिक आत्मकथा है, और यह आत्मकथा हमें जैसे रहस्य प्रयोगशाला में पहुँचा देती है। इसे पढ़ते हुए, लगता है, जैसे हम इस महान् के अन्तस्तल में झांक रहे हों। डा० जी० यू० पोप ने अत्यन्त मार्मिक अंगरेजी समूचे **तिरुवाचकम्** का अनुवाद किया है, जिसका निम्नगीत, जिसमें माणिक्क का आध्यात्मिक उत्साह प्रकट हुआ है, यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

घास था मैं, झाड़ी भी, कीट, वृक्ष,
भाँति-भाँति के पशु, पक्षी, सर्प,
पत्थर, मानव और दानव था मैं ही।
तेरी जमात में रह सेवा करता रहा।
बलशाली असुरों, योगियों और देवों के रूप धारण कर।
जीवन के इन चल और अचल रूपों में
जन्मा हूँ प्रत्येक योनि में, तंग आ गया हूँ अब, मेरे प्रभु!
डर नहीं है मुझे जोरदार भाले का, टपकते लहू का;
गहनों से सजी बाहों वाली युवतियों की चितवन का,
डर है केवल उनका जो कृतज्ञ होकर चखना नहीं चाहते उसकी कृपा
जिसकी दृष्टि पिघला देती है आत्मा का अन्तरतम
जो पवित्र प्रांगण में नृत्य करता है—मेरा अपरूप रत्न
अकलंकित और शुद्ध — उसका जो नहीं करते नाम-संकीर्तन
ऐसे प्रेमहीन हृदयों को जब देखते हैं हम,
बाप रे! इतना कभी नहीं डर जाते हम।

कहा गया है कि **तिरुवाचकम्** हृदय को पिघला देता है और सारे पाप है; जो इसकी प्रेम-धुनों से विगलित नहीं होता उसका दिल सचमुच पत्थर लगता है कि **तिरुवाचकम्** में तमिल देश के शैवमत का सारतत्त्व व्यक्त हुआ विशेषकर उसका परमेश्वर के आगे आत्म-समर्पण का सिद्धान्त — जो कि उस **तेवारम** में भी अभिव्यक्त नहीं हो पाया, यद्यपि वह वैविध्यपूर्ण और श्रेष्ठ का एक आश्चर्यजनक समुच्चय है। सम्बन्दर के अकृत्रिम और विदग्ध स्वर की रह-रह कर याद आनेवाली प्रेमोच्छल लोरियाँ, अप्पर की घरेलू उपमा बिम्ब, जो प्रौढ़ बुद्धि और अनुभव की साक्षी देते हैं, ये सारे गुण तिरुवाचकम् इक्यावन गीतों में एक ऐसी इकाई में ढल गये हैं, कि वे दोपहर के सूरज

कते हैं और रात की तरह गहन और गम्भीर लगते हैं; और निश्चय ही माणिक्क-चकर, अपनी गम्भीर विनम्रता और सर्वव्यापी मानवता के कारण हमारे सबसे बड़े र निभ्रान्त "परमशक्ति के राजदूतों" में से एक हैं।

(iv) सुन्दरर

सुन्दरर—या सुन्दरमूर्ति नायनार—महान् शैव समयाचार्यों में चौथा और अन्तिम । अपने कुल अठारह साल के अल्प जीवन में उसने दिव्य या अलौकिक की सेवा जितना काम किया वह आश्चर्यचकित कर देता है। कहा जाता है कि उसने सियों हजार भक्ति-गीत रचे थे, लेकिन उनमें से केवल सौ के करीब ही सुरक्षित हैं। अपूर्व सौन्दर्य और रंगों की दीप्ति के प्रति सहज वृत्ति से लिखे गये सुन्दरर के क्ति गीत आज भी हर निष्ठावान् तमिल भक्त की जबान पर हैं और गायकों द्वारा न्दिरों और मठों में गाये जाते हैं। उनमें से एक का मुक्त अनुवाद इस प्रकार है :

मैं उसके सच्चे भक्तों का दास हूँ,
आत्मा के तमाम राजकवियों का दास हूँ,
उन सब का दास हूँ जिनके मन भगवान में बसते हैं,
उन सब का दास हूँ जो तिरुवारूर में निवास करते हैं,
उन पुजारियों का दास हूँ जो दिन में तीन बार भगवान की
पूजा करवाते हैं,
उन योगियों का दास हूँ जो सारे शरीर पर भभूत रमाते हैं,
उन भक्तों का दास हूँ जो तमिलकम की सीमाओं से बाहर हैं,
सदा-सदा के लिए भगवान तिरुवारूर का दास हूँ।

इस प्रकार के उद्‌गार कि "ओ बाल-चन्द्र मुकुटधारी के पागल", "मैं मरूँगा नहीं, फिर पैदा होऊंगा, न पैदा होकर फिर बूढ़ा होऊंगा", "मैंने जब तेरे कुसुम कोमल रणों में प्रेम-विभोर होकर ध्यान किया तो मेरे बंधन सदा के लिए टूट गये," तथा के गीतों में प्राप्त ऐसे दर्जनों उद्‌गार, सुनने पर, स्मृति में हमेशा गूंजते रहते हैं।

(v) अन्य शैव सन्त

ग्यारह तिरुमुड़यों के अलावा, जिनमें केवल नायनारों के भक्ति-गीत संकलित किये हैं, एक **पेरियपुराणम्** भी है, जिसमें उन तिरसठ शैव सन्तों की जीवनियाँ संकलित जो आज भी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। यह एक विशालकाय ग्रन्थ जिसमें चार हजार से अधिक पद हैं। इसके पृष्ठों में तथ्यों और अनुश्रुतियों का क भाव से सम्मिश्रण किया गया है। ये तिरसठ सन्त उस समय की सभी महत्त्वपूर्ण मल जातियों से — राजा, ब्राह्मण, सामन्त, व्यापारी, किसान, गडेरिये, कुम्हार, लाहे, शिकारी, मछुए और अछूत आदि से — आये थे। **पेरियपुराणम्** ने इस प्रकार मिल जनता को पुनः स्मरण दिलाया कि भगवान का प्रेम और मोक्ष जाति-पाँति,

पेशे या जीवन की भौतिक परिस्थितियों से बिल्कुल स्वतंत्र चीजें हैं। इस में तिलकवतियार, पुनितवतियार और मंगैयरक्करशियार जैसी भक्त ना अनेक स्मरणीय चित्र प्राप्त होते हैं। शेक्किळार को **पेरियपुराणम्** का लेख जाता है, जो स्वयं उमापति के **पुराणम्** का विषय है।

३. आळवार

अब हम आळवारों की चर्चा करेंगे। आळवार का अर्थ है: 'ज्ञानी इस प्रकार 'आळवार' ज्ञानी सन्त थे, जो लोगों के हृदय पर आध्यात्मि करते थे। परम्परा के अनुसार आळवारों को क्रमानुसार निम्नलिखित में बाँटा गया है।

(१) **प्राचीन**	पोयकइ आळवार	४२०३ ई०
	भूतत्तार	४२०३ ई०
	पेयाळवार	४२०३ ई०
	तिरुमळिशइ आळवार	४२०३ ई०
(२) **मध्य**	नम्माळवार	३१०२ ई०
	मधुरकवि आळवार	३१०२ ई०
	कुलशेखर आळवार	३०७५ ई०
	पेरियाळवार	३०५६ ई०
	आंडाल	३००५ ई०
(३) **अन्तिम**	तोण्डरदिप्पोडि आळवार	२८१४ ई०
	तिरुप्पान आळवार	२७६० ई०
	तिरुमंगइ आळवार	२७०६ ई०

चूंकि ये परम्परागत तिथियाँ हमें पांच या छह हजार साल पीछे ले अतः वे चाहे जितनी सुनिश्चित दिखाई देती हों, ऐतिहासिक तथ्य के रू कोई भी मूल्य नहीं है। साथ ही, जैसा डा० एस० कृष्णस्वामी आयंगर ने "फिर भी इस परम्परागत क्रम को काफी हद तक ऐतिहासिक कालानुक्रम सकता है।"[1] हमें जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, उनके आधार पर चूंकि आळवारों सही तिथियों का निर्धारण असम्भव है, इसलिए हमें इस व्यापक अनुमान से करना होगा कि आळवार, जहाँ तक सम्भव है, सन् ५०० और ८५० ई० हुए होंगे, इससे पहले या बाद में नहीं, और यह नामुमकिन नहीं है कि कुछ शैव नायनार संत और वैष्णव आळवार वास्तव में समकालीन रहे हों।

---

[1] **ऐन्सिएंट इंडिया ऐंड साउथ इंडियन कल्चर, II, पृ. ७३८।**

आळवार तमिल देश के विभिन्न भागों में पैदा हुए थे। इस सूची में दिये गये पहले चार आळवार पल्लव देश के थे और अन्तिम तीन चोल देश के। कुलशेखर आळवार चेर देश का था और बाकी आळवार पाण्ड्यनाडु के थे, जिनमें से नम्माळवार आळवारों में सबसे महान् माना जाता है और आंडाल को संसार की महानतम नारी रहस्यवादियों में गिना जाता है। इस विभाजन से अक्सर यह नतीजा निकाला जाता है कि वैष्णव आन्दोलन सबसे पहले उत्तर में, पल्लव देश से, शुरू हुआ था और फिर चोल देश में पहुँचा और अन्त में दक्षिण की ओर बढ़कर तिन्नेवेल्ली (तिरुनेल्वेलि जिला), जो महान् नम्मालवार का निवास-स्थान था, तक जा पहुँचा। यह भी उल्लेखनीय है कि तिरसठ नायनारों की तरह ये बारह आलवार भी विभिन्न जातियों और पेशों से आये थे और भगवद्भक्ति में सहयोगी होना ही उनकी सामान्य पहचान थी। अप्पर की तरह नम्मालवार भी जाति का वल्लाल था, तिरुभंगई कल्ल (लुटेरा) परिवार का था, कुलशेखर राजकुमार तापस (योगी) था, पेरियालवार ब्राह्मण था। इससे प्राचीन काल के तमिलों की उदात्त और उदार परम्परा का परिचय मिलता है।

नालायिर प्रबन्धम् में चार हजार पद हैं। उन्हें लगभग बराबर के चार भागों में बाँटा गया है। प्रथम एक हजार पद पेरियाल्वार, आंडाल, कुलशेखर, तिरुमलिशइ, तोण्डर दिप्पोडि, तिरुप्पान और मधुरकवि के लिखे हुए हैं। इस भाग को तिरुमोलि कहा जाता है। दूसरे भाग का नाम पेरियतिरुमोलि है, जिसमें केवल तिरुमंगई के पद ही संकलित हैं। तीसरे भाग का नाम इयाल्पा है, जिसमें प्रथम तीन आलवारों के पद हैं और साथ ही तिरुमलिशइ, नम्मालवार और तिरुमंगइ के पद हैं; चौथे और अन्तिम भाग में, जिसका नाम तिरुवायमोलि है, नम्मालवार के पद हैं। इन चार हजार पदों की अनेक टीकाएँ और व्याख्याएँ मिलती हैं और तमिल वैष्णव आज भी उन्हें रट कर याद करते हैं और मन्दिरों में गाते हैं।

(i) प्रथम चार आलवार

प्रथम तीन आलवारों—पोयकइ, भूतत्तार और पेयालवार ने तिरुमाल की प्रशंसा में वेण्वा छन्द में सौ-सौ पद लिखे हैं। ये कविताएँ विष्णु के विभिन्न अवतारों की लीलाओं के हवालों से अलंकृत हैं, लेकिन आमतौर पर इन कविताओं का मूल स्वर प्रेम है, जिसमें भगवान से मिलन की रहस्य भावना का उद्रेक है। परम्परागत कहानी यह है कि पोयकइ, भूतत्तार और पेयालवार ने, घोर अँधेरे में, संयोगवश एक ही स्थान में शरण ली थी। अचानक उन्होंने एक चौथे व्यक्ति की — एक भास्वर इन्द्रियातीत शक्ति की — उपस्थिति का अनुभव किया जिसने उन्हें अपनी साधारण चेतना से ऊपर उठाकर उन्हें सरस्वती का स्वर प्रदान कर दिया। और जब सुबह हुई तो उन्होंने अपने आनन्दातिरेक को वाणी दी। इनमें से हरेक का एक-एक पद स्वतन्त्र अनुवाद के रूप में दिया जा रहा है।

पोयकइ :

नदी काले उद्वेलित सागर की ओर बहती है,
कमल उगते हुए सूरज की ओर टकटकी बाँधे देखता है,
जीवन मृत्यु के देवता की ओर आकर्षित होता है,
ज्ञान मनोहर कमल से उत्पन्न लक्ष्मी के दिव्य संगी को पाने के लिए
घुमड़ उठता है।

भूतत्तार :

वेद के ज्ञान से तुम्हें पता चलता है कि उसका सार
पुरुषोत्तम-कीर्त्तन है;
अगर तुम वेद नहीं पढ़ सकते, ऐ गरीब लोगो, तो जान लो,
वेदों का नवनीत और कुछ नहीं माधव नाम-कीर्त्तन है।

पेयाळवार :

आज मैंने उस दिव्य पत्नी को अपने नीलवर्ण पति के साथ देखा,
मैंने उसकी भव्य, सुनहरी दीप्ति देखी, तपते सूरज की तरह,
मैंने उसका स्वर्ण-निर्मित चक्र देखा, युद्ध में अप्रतिरोध्य है जो,
मैंने उसका शंख देखा जो दर्शकों का प्यार जीत लेता है।

पहले समूह का चौथा और अंतिम आळवार तिरुमलिशइ, लगता है, बड़ा
और लड़ाका वैष्णव था, जो बौद्ध, जैन या शैव किसी को भी बर्दाश्त नहीं कर
था। वह अपने एकेश्वरवाद में किसी से समझौता करने को तैयार नहीं था।
भगवान् को प्राप्त करने के लिए आत्मानुशासन की निम्न व्याख्या पेश की है:

जब हमारी ज्ञानेन्द्रिय-प्रणालियाँ रोकी और सील-बन्द कर दी जाती हैं,
जब ज्ञान का राजमार्ग विवेक के दीपक से जगमगा उठता है,
जब घनीभूत करुणा हृदय को पिघला देती है और हड्डियों को देती है
तभी पावन चक्रधारी विष्णु के दर्शन हो पाते हैं।

उसकी अनन्य भक्ति और दृढ़ आस्था उसके निम्न दावे से प्रकट होती है:

आज हो, कल हो या भविष्य का कोई दिन,
तुम्हारी कृपा मुझे मिलेगी अवश्य,
तुम्हारे सिवा मैं और किसी के यहाँ नहीं ले सकता शरण,
न तुम ही मुझे छोड़ सकते हो, ओ नारायण!

(ii) नम्माळवार

दूसरे समूह के पाँच आळवारों में नम्माळवार और मधुरकवि की एक साथ
की जा सकती है। नम्माळवार एक उच्चकोटि का रहस्यवादी था; भगवद्प्रेम

में चूर अग्रणी भक्तों में से एक । ब्राह्मण, विद्वान् और संत मधुरकवि ने नम्माळवार को खोज निकाला था, और वह तब तक उस महान् रहस्यवादी कली को अपने स्नेह और निष्ठा से सींचता रहा, जबतक कि उसकी एक एक पंखुड़ी खिलकर संपूर्ण प्रस्फुटित फूल में परिणत नहीं हो गयी और उसने अपना अलौकिक सौन्दर्य भगवान् पर उत्सर्ग नहीं कर दिया । नम्माळवार ने विष्णु के गीत गाये, क्योंकि उसके गुणगान की प्रेरणा एक दुर्दमनीय झंझा की तरह उसके हृदय में उमड़ पड़ी थी, और मधुरकवि उसके कंठ से निकले गीतों को लिखता गया तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित करता गया । नम्माळवार के गीतों की मधुरता, उनकी भावनात्मक गहराई और उनके प्रदीप्त बिम्ब-चित्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है, लेकिन इस प्रशंसा में अतिशयोक्ति नहीं है । उसके गीतों में अपने आपको तुच्छ सिद्ध करने से लेकर अन्तिम आनन्द-मिलन की स्थिति तक के सभी रहस्-संवेदनों का तीखा और मार्मिक स्वर व्यक्त हुआ है । चाहे वह घर लौटने की भावना से पीड़ित आत्मा की तरह चीत्कार कर रहा हो, या अपने परमपिता के पास लौटने के लिए व्याकुल हो, या ऊँचे, गूंजते स्वरों में अपनी भक्ति का उद्घोष कर रहा हो, या उन्मादी की तरह अपना प्रेम-निवेदन कर रहा हो या सिर्फ अलौकिक से अपने आत्म-मिलन के अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन कर रहा हो, नम्माळवार हर भाव को समान रूप से मार्मिक वाणी देने में समर्थ और आत्मा का सर्वश्रेष्ठ राजकवि था । उद्धरण उसके काव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते, लेकिन निम्न पद नम्माळवार की आस्था का मर्म व्यक्त करता है :

> अन्तर्यामी भगवान् सब चीजों में,
> मनुष्य के सब परिपालित धर्मों में है,
> उस तक ज्ञानेन्द्रियों की मदद से पहुँचने की कोशिश व्यर्थ है,
> और वह सिर्फ बुद्धि की पकड़ में कभी नहीं आता;
> उसे अपनी आत्मा के मन्दिर में ढूँढो, जो सारे जीवन
> का स्रोत है,
> उसे अविचल ध्यान से पाने की कोशिश करो, जो सांसारिक
> चिन्तनों से मुक्त हो,
> तभी भगवान् सदा के लिए पाये जा सकते हैं ।

नालायिर प्रबन्धम् में नम्मालवार की देन इतनी बड़ी है कि उसका चौथा भाग सारा का सारा उसके पदों का ही संग्रह है । इस भाग को **तिरुवायमोळि** कहा जाता है । और **तिरुविरुत्तम, तिरुवाशिरियम** और **पेरियतिरुवन्तादि** तीसरे भाग में शामिल किये गये हैं । **तिरुवायमोळि** को दस अनुभागों में बाँटा गया है और हर भाग में दस कविताएं हैं । इन एक सौ कविताओं में ११०२ पद हैं । नम्माळवार की कविता रहस्यवादी अनुभूति की विविध स्थितियों का विश्वकोश है; जो अदृष्ट की खोज के मार्ग में मिलने वाले धुँधलके, गलत मार्ग और अन्धकारभरी रातों के बाद सूर्य की

किरणों के फूट पड़ने और आनन्द के अनन्त उद्रेक का वर्णन करता है। जीव को पाना चाहता है और वह उसे प्राप्त करेगा, क्योंकि ईश्वर ने अपने भक्त के ही चुन लिया है और वह उसके साथ है। कहीं-कहीं जीव की तुलना प्रेम युवतियों से की गयी है, जो अपने स्वामी के प्रेम का अमृत पान करने के कामातुर हैं। प्रेम का प्रतीक बड़े सूक्ष्म तन्तुओं से विशद रूपों में बुना गया है और का सारा **तिरुविरुत्तम** एक प्रेम काव्य के रूप में ढाला गया है। निश्चय ही तिरु रहस्यवादी काव्य का ज्वलंत शिखर है, और इसके सौ पदों में शृंगारिक प्रेम की प्रत्येक छटा को निर्दोष ढंग से, काव्यात्मक रूप में, उभारा गया है। इस कविता का जे. एस. एम. हूपर (J. S. M. Hooper) ने अँगरेजी में अनुवाद है, जिसमें से निम्न उदाहरण दिया जा रहा है। नम्माळवार एक दासी है, जो स्वामी भगवान् विष्णु की भक्ति में विभोर है। वह उसे छोड़कर चला गया है दासी इस समय "आत्मा की अँधेरी रात" में भटक रही है :

"प्रेम की ज्योति बुझने लगी है और उसकी जगह, एक अँधेरा
और रुग्ण पीलापन छाने लगा है;—और रात
एक युग बन गयी है ! यही वह अद्वितीय ऐश्वर्य है,
जो मेरे नेक दिल ने मुझे दिया था, जब उसने चाही और खोजी थी
चक्रधारी कण्णन की तुलसी की शीतल छाँह !...
मैंने उड़ते हुए हंसों और बगुलों से नाक रगड़ कर
अनुरोध किया : "भूलना मत, तुम जो सबसे पहले आये हो,
अगर तुम्हें वहां कण्णन के पास मेरा हृदय दीखे,
ओह, उससे मेरा जिक्र करना और पूछना, "श्रीमान्, अभी तक
तुम अपनी दासी के पास लौट कर नहीं गये ? क्या यह उचित है?...
उपासना के अनेक मार्ग हैं
और विद्वानों के अनेक मत हैं जो आपस में टकराते हैं
और इन अनेक मतों में अनेक भगवानों को पूजा जाता है
जो तूने ही रचे हैं, अपने रूप का विस्तार करके। ओ तू
मेरे अद्वितीय प्रियतम, मैं तुझसे ही प्रेम की घोषणा करती हूँ।"

मधुरकवि तो जैसे उसका जन्मजात शिष्य और अनुयायी था। उसने अपना जीवन नम्माळवार पर उत्सर्ग कर दिया था। अपने **गुरु** की प्रशंसा में उसने जो रचा था, उसे सारे वैष्णव भक्त आज भी गाते हैं। यह केवल ग्यारह पदों का मार्मिक गीत है, जिसका अन्तिम पद इस प्रकार है :

उसने (नम्माळवार ने) वेदों का क्षीरसार अपने गीतों में उड़ेल दिया,
और उसकी करुणा के सहस्रों गीत गाये,

भक्तों की भूख भगवत्प्रेम से मिटाने के लिए :
भगवान की अनुपम कृपा के लिए उनका संकीर्तन करो ।

(iii) पेरियाळवार और आंडाल

पेरियाळवार (जो विष्णु-चित्तर और भट्टपिरान के नामों से भी प्रसिद्ध है) एक ब्राह्मण था, जिसे परम्परा के अनुसार, अपने बाग में जमीन खोदते वक्त एक पेड़ के नीचे शिशु आंडाल पड़ी मिली थी । वह उसे घर उठा ले गया और एक पिता की तरह स्नेहपूर्वक उसका लालन पालन किया । पेरियाळवार का सबसे प्रसिद्ध गीत तिरुपल्लांडु है, जिसे उसने भगवान् विष्णु की आनन्दमयी छवि का साक्षात्कार करने पर लिखा था :

अनेक वर्षों तक, अनेक वर्षों तक,
हजारों हजारों वर्ष तक,
करोड़ों करोड़ों, अरबों अरब वर्ष तक,
ओ मेरे स्वामी, मल्लों के विजेता,
नीलम के वर्ण वाले वृष स्कन्ध,
देदीप्यमान, अतुल बलशाली परमात्मा,
तुम्हारे दीप्त, गुलाबी चरण,
सदा सदा धन्य बने रहे हैं ।

यह बात कि भक्त उस सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान, अनादि अनन्त, ईश्वर के लिए चिन्तातुर रहे, उस परम सत्ता के प्रति उसके सकल मानवीय प्रेम का द्योतक है । चार हजार में से लगभग पाँच सौ भक्ति-गीत पेरियाळवार के हैं । ये गीत अपनी हार्दिकता, पांडित्य, वर्णन-शक्ति और छन्द-प्रयोगों की दृष्टि से अनोखे हैं । **पेरियाळवार** का अधिकांश जीवन श्रीविल्लिपुतुर (रामनाद जिला) में, स्थानीय देवता की सेवा में और **तिरुमोळि** की, जिसमें कल्पना से भगवान् कृष्ण के जीवन का कलात्मक चित्रण किया गया है, रचना में ही बीता था ।

पेरियाळवार की बेटी आंडाल या कोदइ बचपन से ही उस अलौकिक सत्ता की कामना से विभोर रहने लगी थी और उसने अपने अलौकिक प्रेम की वेदना ऐसे मधुर गीतों में व्यक्त की है, जिन्हें तमिल भाषा की सर्वश्रेष्ठ कविता में गिन सकते हैं । वह अपने आपको कृष्ण की एक गोपी के रूप में देखती थी, विदग्ध हृदय और पक्की लगन से उसकी खोज में निरन्तर लगी रहती थी और अंत में श्रीरंगम् पहुँच कर वह उनके साथ मिलन में सफल हुई थी । उसकी दो काव्य-कृतियाँ हैं—**"नाच्चियार तिरुमोळि** और **तिरुप्पावइ** । इनमें से दूसरी कृति अधिक प्रसिद्ध है । यह कृति उसे सन्त तेरेसा, रबिया और मीरा जैसी विश्व की महान् रहस्यवादी नारियों की पंक्ति में बिठा देती है । **तिरुप्पावइ** प्रेम की गत्यात्मक ऊर्जा की शोभा-यात्रा है, उस पर

न्योछावर की गयी सुमनांजलि है, उस पर लिखा एक गीति-निबंध है, अद्भु का प्रीतिभोज है, तमिल के वैष्णव भक्तों, विशेषकर औरतों के हृदय में रखी हुई एक अविनश्वर निधि है। आंडाल और उसकी सखियाँ पौ फटते ही से बरसे ताजे पानी में नहाती हैं और जलूस बनाकर कृष्ण के घर जाती कल्पना से वे फिर एक बार वे ही व्रज की **गोपियाँ** बन जाती हैं, जो कृष्ण अलौकिक प्रेम का अमृत पीने के लिए आतुर रहती थीं। गीत की लय का की लय से, और इस भव्य कथावस्तु से, पूरा सामंजस्य है और यह सौन्दर्य हमारे हृदयों को आन्दोलित कर डालती है। प्रेम-पीड़ित भक्त कृष्ण के प्रेम को से भलीभाँति परिचित है :

जब हम पवित्र देह और मन से आती हैं, सुन्दर पुष्पों को वर्षातीं
हृदय में भक्ति और ओठों पर गीत लिये
उसके चरणों में ध्यान लगातीं—

मायन, उत्तर की मथुरा का बालक
महिमामयी जमुना की पवित्र धारा का शासक;
गोपकुल में उत्पन्न जगमगाता दीपक :
दामोदरन, जिसने अपनी मां का गर्भ
किया आलोकित—अतीत और भविष्य के दुष्ट सन्दर्भ
सब मिट गये तब, जैसे रुई आग की
लपटों में भस्म हुई राख बन जाती।[1]

और उनकी आस्था और भक्ति कोई अनित्य वस्तु नहीं है, वह चिरका स्थायी बनी रहेगी :

"··· केवल आज भर के ही लिए नहीं
हम तेरे दास बन आये हैं; बल्कि ओ गोविन्द,
सदा सदा के लिए, सात सात जनमों के लिए। केवल तेरी ही
सेवा करेंगे हम : हमसे निकाल दो प्रभु,
दूसरे सभी स्नेह-प्रेम ··· ।"[2]

(iv) कुलशेखर

आलवारों के दूसरे समूहों का अन्तिम सदस्य कुलशेखर तिरुवांकुर (ट्रावन का राजा था, जिसकी भगवद्भक्ति ने उसे धीरे धीरे संसार से विमुख कर दिया

---

१. पू. पु., पृ. ५१।
२. पू. पु., पृ. ५७।

अन्ततः उसने गद्दी त्याग कर भगवान् की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। “चार हज़ार पदों में उसकी देन **पेरुमाल तिरुमोलि** है, जिसमें १०३ पद हैं। उनमें से एक का मुक्त अनुवाद इस प्रकार है :

वे सब (सांसारिक लोग) मुझे पागल लगते हैं,
और मैं भी पागल हूँ (वे सोचते हैं)
इस चर्चा से किसको लाभ है ?
मैं तुम्हें टेर रहा हूँ, ओ कृष्ण, ओ रंगनाथ !
तुम्हारे प्रेम में मैं पागल हो गया हूँ !

(v) तिरुप्पान, तोण्डरडिप्पोडि और तिरुमंगई

अन्तिम समूह के तीन आळवारों में, तिरुप्पान ने केवल दस पद लिखे हैं और तोण्डरडिप्पोडि ने कुल पचपन। लेकिन तिरुमंगई ने १३५१ पद लिखे हैं, जो संख्या में नम्माळवार के पदों से भी कुछ ज्यादा हैं। तिरुप्पान ‘अछूत’ जाति का था, लेकिन भगवान् रंगनाथ के प्रति उसकी भक्ति इतनी प्रबल थी कि भगवान् रंगनाथ ने मन्दिर के पुजारी को आदेश दिया कि वह तिरुप्पान को अपने कन्धे पर उठाकर उसके सामने लाये। भगवान् के सामने पहुँचते ही तिरुप्पान के कंठ से एक गान फूट पड़ा और **अमलनादिप्पिरान** इसका नतीजा था। इस कविता का पाँचवाँ पद इस प्रकार है :—

मेरे युग युग के पापों की बोझिल गठरी का नाश करके
उसने मुझे प्रेम में अपनी ओर मोड़ा, और स्वयं मेरे
हृदय में घुस आया,
मैंने यह प्रेम पाने के लिए कोई संयम, साधना नहीं की,
वल्कि मुझे तो रंगनाथ की करुणा ने उबारा है,
जो गले में मोतियों की माला पहने
अपने शुभ्र अंक में लक्ष्मी को बैठाए विराजमान हैं।

तोण्डरडिप्पोडि, जिसका मूलनाम विप्र नारायण था, कुछ दिनों तक एक राजनर्तकी के साथ रहा था और मुसीबत में फंस गया था, लेकिन रंगनाथ ने अन्त में उसकी रक्षा की। इसके बाद उसने अपने जीवन को भगवान् पर उत्सर्ग कर दिया और **तिरुमालइ** और **तिरुप्पल्लि** ये लुच्चि नाम से दो भक्ति-काव्य रचे। निम्न गीत तिरुमालइ से लिया गया है :

अगर मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहे, जैसा वेदों ने कहा है,
तो आधा निद्रा में गँवा देगा, और बाकी पचास भी व्यर्थ जायेंगे—

बचपन, किशोरावस्था, लम्पटता, भूख, बीमारी और बुढ़ापे में,
ओ श्रीरंगम् मन्दिर के वासी ! मैं फिर जन्म नहीं चाहता !

अन्तिम आळवार तिरुमंगई का जीवन लगता है, बड़ा रंगीन और घटनाप उसका जीवन-चरित सन्त पाल जैसा ही था और उसका मिशनरी उत्साह भी ही अपनी ओर बरबस खींचनेवाला था। एक अत्यन्त उर्वर सर्जना का कवि कुशल पद्यकार होने के साथ-साथ तिरुमंगई के गीतों में निर्झर की गति और तथा शब्दों की कुशल सजावट है, किन्तु एक रहस्यवादी कवि के रूप में उसे नम्म की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यहाँ पर तिरुमंगई के एक पद का अनुवाद जा रहा है :

(जब तुम केवट गुह से मिले) तुमने उसे निपट
अनाड़ी, अजनबी या नीच नहीं समझा
बल्कि उस पर दया की, और उस पर अपनी दिव्य कृपा की
वर्षा की,
और कहा : "यह मेरी सहयोगिनी (सीता), हिरन जैसे
नमित नेत्रोंवाली, तुम्हारी भी सहयोगिनी है,
मेरा भाई (लक्ष्मण) तुम्हारा भाई है।" जब वह
(गुह) पीछे रहने को राजी न हुआ तो
तुमने कहा : "तुम मेरे मित्र हो, यहीं निवास करो।"
ये शब्द युगों से गूंजते आये हैं और मेरे हृदय को ले आये हैं।
तेरे नीले सागर के रंग वाले चरणों में, ओ,
वृक्षों से आच्छादित श्रीरंगम् के भगवान !

गुरुपरम्परइ में इन आळवारों के जीवन सम्बन्धी जो विवरण दिये गये हैं तथ्य और कल्पना का इतना मुक्त सम्मिश्रण है कि एक इतिहासकार के लिए मूल्य नगण्य है। इसके बावजूद, **नालायिर प्रबन्धम्** की कविताओं में आध्यात्मिक और उच्चकोटि की काव्यात्मकता के बारे में दो रायें नहीं हो सकतीं।

(vi) इडै़यनार तथा अन्य

अब हम कुछ ऐसे लेखकों का प्रासंगिक रूप में उल्लेख करके, जिन्हें संगम या उत्तर-संगमकाल के कवियों में शामिल नहीं किया गया है, हम इस परि समाप्त कर सकते हैं। इन अ-वर्गीकृत कवियों में एक का नाम इडइक्काडर था, ५४ गीतों का एक काव्य रचा, जो शाब्दिक-चमत्कार के लिए प्रसिद्ध है। एक नाम कल्लाडर है, जो **कल्लाडम** नाम के एक काव्य का लेखक है। एक कवि पेरुन्देवनार है, जिसने **तमिल-महाभारत** की रचना की थी, लेकिन जिसकी पंक्तियां ही सुरक्षित बची हैं। एक दिवाकर था और उसका बेटा पिंगलर, अपने अपने नाम से शब्द-कोश तैयार किये थे। फिर इडै़यनार हुआ, जो

ा प्रसिद्ध लेखक है । वह अपने समय का सबसे बड़ा वैयाकरण था । इसी जमाने में यन-आरितनार हुआ, जो **पुड़प्पोरुलवेण्वामालइ** का सम्पादक था । इनके अलावा मनाचारियर भी हुआ, जो लम्बी जैन कविता का लेखक है, जिसमें दो भाइयों की था वर्णित है । इस बीच अनेक कवयित्रियाँ भी हुईं, जिनकी कविताएँ तीसरे संगम कुछ महान् संकलनों में संगृहीत हैं ।

सामान्य सन्दर्भ

(१) आयंगर, एस० कृष्णस्वामी, **ऐन्सिएन्ट इंडिया ऐण्ड साउथ इंडियन हिस्टरी ड कल्चर**, जिल्द-II ।
(२) अय्यर, सी० व्ही० नारायण, **ओरिजिन ऐण्ड अर्ली हिस्टरी आफ शैविज्म न साउथ इंडिया**
(३) हूपर, जे० एस० एम०, **हिम्न्स आफ दि आलवार्स** ।
(४) आयंगर, एम० श्रीनिवास, **तमिल स्टडीज** ।
(५) किंग्सबरी ऐण्ड फिलिप्स, **हिम्न्स आफ दि तमिल शैवाइट सेन्ट्स** ।
(६) नम्मालवार, **ए स्केच आफ हिज लाइफ ऐण्ड टीचिंग्स** (नटेसन) ।
(७) पिल्लै, एम० एस० पूर्णलिंगम, **तमिल लिटरेचर** ।
(८) पोप, जी० यु०, तिरुवचकम् (अँगरेजी पद्य में) ।

परिच्छेद : १६

राजनीतिक सिद्धान्त और प्रशासनिक व्यवस्था

I. राजनीतिक सिद्धान्त

इस जिल्द में जिस काल का विवरण दिया गया है, उसके राजनीतिक हमारे प्राचीन साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों की कृतियों में बिखरे मिलते हैं। हैं :

१. परवर्ती काल की छन्दोबद्ध स्मृतियाँ, विशेषकर नारद, बृहस्पति कात्यायन की।

२. उपलब्ध पुराण-साहित्य के पहले दौर की कृतियाँ, विशेषकर वायु ब्रह्माण्ड-पुराण और विष्णु-पुराण।

३. आर्यदेव, आर्यशूर और वसुबन्धु जैसे बौद्ध कवियों और दार्शनिकों की इस सूची में हम बुद्धघोष का नाम भी जोड़ सकते हैं।

४. शास्त्रीय संस्कृत साहित्य के इस स्वर्ण-युग के कवियों, नाटककारों गद्य-लेखकों की कृतियाँ। इस सूची में विशाखदत्त, कालिदास, वाण और नामों का उल्लेख किया जा सकता है।

५. राजनीति-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रीय कृतियाँ, जिनका प्रतिनिधित्व ग्रन्थ कामन्दक का **नीतिसार** करता है।

इस काल के मुख्य राजनीतिक विचारों का सारांश भी प्रस्तुत करना है। हम यहाँ केवल उनकी चार शाखाओं पर विचार कर सकते हैं: (क) सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का उद्गम, (ख) सामाजिक व्यवस्था का कानून राज्य-कानून, (ग) लौकिक शासक का अपनी प्रजा से सम्बन्ध और (घ) राजनीति और आचार-शास्त्र का सम्बन्ध।

(क) सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का उद्गम

नारद और बृहस्पति ने राज्य और उसकी संस्थाओं की उत्पत्ति का विवरण दिया है। नारद का कहना है कि अतीत काल में जब कुलपति मनु में सत्ता थी लोग पूरी तरह धर्मनिष्ठ थे और सच बोलते थे। लेकिन जब धर्म उठ गया, तब कानून और कानूनी **व्यवहार** के नियम बनाये गये और उनका करने के लिए, और साथ ही दण्ड-व्यवस्था के लिए, राजा उत्पन्न किया

बृहस्पति ने इससे भी संक्षिप्त विवरण दिया है। इस विवरण में एक ऐसे आदिम राज्य की कल्पना की गयी है, जिस पर कुलपति शासन करता था और चूंकि प्रजा पूरी तरह धर्मनिष्ठ थी, इसलिए नियम-कानून नहीं होते थे; लेकिन जब मानवी शासक के अन्तर्गत आदमी ने पाप करने शुरू किये, तो पुराना समाज एक कानूनी राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। **वायु** और **ब्रह्माण्ड पुराणों** में सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति की दो समानान्तर कहानियाँ मिलती हैं। पहली कहानी में बताया गया है कि वर्तमान मन्वन्तर के अराम्भ में ब्रह्मा ने किस प्रकार ऐसे मनुष्यों की सृष्टि की थी जो पूरी तरह से बराबरी और सुख का उपभोग करते थे, लेकिन जब मनुष्य अपने धर्म से गिरा तो देवताओं ने स्वयं अपने हित में न सिर्फ अपने भरण-पोषण के लिए फसलें उगाना जरूरी समझा, बल्कि इन्सानों को भी चार वर्णों में बांट कर उनके लिए अलग धर्मों और पेशों का विधान करना जरूरी समझा। दूसरा विवरण एक प्रकार से पहले विवरण का पूरक मात्र है। इसमें बताया गया है कि ब्रह्मा द्वारा वेदों और स्मृतियों में दिये गये अलग अलग वर्णों के धर्मों की व्यवस्था और आदेशों की, किस प्रकार, दूसरे सृष्टि-चक्र के आरम्भ में, सप्त-ऋषियों ने घोषणा की और किस प्रकार जब लोग अपने कर्तव्यों की अवहेलना करके आपस में झगड़ने लगे तो मनु ने दो राजा उत्पन्न किये। इसका तात्पर्य यह है कि समाज और राज्य की स्थापना दैवी सत्ता या अर्ध-दैवी प्राणियों ने की थी, ताकि वे मनुष्य के क्रमशः आत्म-पतन और ह्रास के साथ निर्वाह कर सकें। तीसरी जगह, हमें वसुबन्धु के **अभिधर्मकोश** और बुद्धघोष के **विसुद्धिमग्ग** में विश्व और मानव तथा उसकी संस्थाओं के विकास की कहानियाँ मिलती हैं। ये पालि के मूल धर्मग्रंथों में दी गयी कहानियों पर आधारित हैं, किन्तु अपेक्षया अपूर्ण। इन विवरणों में कहा गया है कि ब्रह्माण्डीय युग के आरम्भ में जो 'प्राणी' बसते थे, उनमें देवों जैसे गुण थे, किन्तु वे 'मानवों' में परिवर्तित हो गये। जब उनके पापों के कारण धान्य (चावल) में अपने आप पकने का गुण समाप्त हो गया, तो उन्होंने अपने अपने खेतों की मेंड़ें बांध लीं। जब उनके बीच चोरी तथा बुराइयाँ पैदा हुईं तो उन्होंने एक राजा बनाया जो उनके चावल का एक हिस्सा लेकर, बदले में, उनके खेतों की रक्षा करने लगा। इस विवरण के अनुसार आरम्भ में एक प्राकृतिक अवस्था थी, जिसमें प्राणी पूर्ण सुख का उपभोग करते थे। फिर बताया गया है कि किस प्रकार आत्म-पतन और ह्रास के कारण सामाजिक अनुबन्ध और सरकारी संविदाओं की प्रक्रियाओं के द्वारा उत्तरोत्तर सम्पत्ति और राज्य की संस्थाएँ पैदा होती गयीं।"[1]

---

[1] नारद, भूमिका, पृ. २; वृहस्पति I, १.१ (राज्य की उत्पत्ति की कहानियाँ) = **वायु** VIII १-१७१। **ब्रह्माण्ड**, VIII १-१७२। **वायु**, श्लोक ७-८ = ब्रह्माण्ड ९२ (सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की कहानियाँ)। वसुबन्धु का **अभिधर्मकोश** III ९८, **बुद्धघोष** का **विसुद्धिमग्ग**, परिच्छेद XIII (सृष्टि के विकास की कहाचियाँ)। मूल स्थापनाओं के लिए देखिए **दीघनिकाय** भाग III, पृ. ८४-९५।

(ख) समाज-व्यवस्था का कानून और राज्य का कानून

जहाँ तक समाज-व्यवस्था का संबन्ध है, बाद की स्मृतियों में धर्म के और उसकी प्रामाणिकता सम्बन्धी मनु और याज्ञवल्क्य के विचारों को है और उनकी व्याख्या की गयी है। हम कुछ उद्धरण देकर इस बात का कर सकते हैं। पराशर का कहना है कि वेदों की किसी ने रचना नहीं की, ने वेदों को याद किया था, जिस प्रकार हर सृष्टि-काल में मनु ने स्मृतियाँ इसमें एक प्रकार से वह विचित्र सिद्धान्त-रूढ़ि अन्तर्निहित है, जिसके काल-चक्र की पूर्ति के बाद देवताओं और ऋषियों द्वारा पवित्र धर्मसूत्रों की की जाती है ताकि प्राचीन धर्म-सिद्धान्तों की शाश्वतता का पुराणों और उस सिद्धान्त से सामंजस्य किया जा सके जो सृष्टि के बार-बार निर्माण और का मत पेश करता है। बृहस्पति और पराशर ने पुनः मनु के उस कथन को है (I, ८५-८६) जिसके अनुसार तप, ज्ञान, वलि और दान क्रमशः कृत, त्रेता, और कलि युगों के धर्म हैं। और तो और, इन लेखकों ने हर नये युग-चक्र अलग-अलग धर्म-सिद्धान्तों का प्रमाण पेश किया है। आगे बताया गया है त्रेता, द्वापर और कलि युगों में धर्म की प्राप्ति क्रमशः एक वर्ष, तीन पखवारों और एक दिन में होती है। कृत युग में धर्म सम्पूर्ण था, त्रेता में तीन रह गया, द्वापर में आधा हो गया और कलि-युग में केवल एक चौथाई इन मिसालों से एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है जो धर्म के और मापदंडों की कल्पना पेश करता है, साथ ही यह विचार पेश करता है युग में धर्म की जिस अनुपात से हानि होती जाती है, उसी अनुपात से करने की सुविधा भी बढ़ती जाती है, ताकि उत्तरोत्तर अपनी कम होती हुई के बावजूद मनुष्य धर्म प्राप्त कर सके। अब एक और बात की ओर विश्वामित्र का कहना है कि **आगमों** के ज्ञाता आर्य जिस कार्य का समर्थन धर्म (कानून) है और जिस कार्य को दोषी ठहरायें, वह उसके विपरीत है। महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अन्तर्निहित है कि अन्ततः आप्त लोक-मत ही कानून का है।[1] उपर्युक्त विचार के साथ ही हमें यह भी जोड़ देना चाहिए कि इस स्मृतियों में उन कार्यों की छोटी या लम्बी सूचियाँ भी दी गयी हैं जो वर्जित (कलिवर्ज्य) बताये गये हैं। नियोग की प्राचीन प्रथा की बृहस्पति ने कहा है कि इसका प्रयोग दूसरे लोग नहीं कर सकते, क्योंकि युगों में पुंसत्व का क्रमशः ह्रास होता आया है। लेखक ने स्पष्टीकरण कहा है कि कृत और त्रेता युगों में लोग तप करते थे और उन्हें ज्ञान जबकि द्वापर और कलि युगों में उनकी शक्ति क्षीण हो गयी है।

---

[1] पराशर, I २०-२४, बृहस्पति, II ४ और १४, विश्वामित्र, कृत्यरत्नाकर पृ. ७ (धर्म के प्रमाण और स्रोत)।

उद्धृत एक अज्ञात प्रामाणिक व्यक्ति का कहना है कि ये कार्य इसलिए वर्जित किये ये थे, ताकि विद्वान् और उच्चकोटि के चरित्रवान् व्यक्तियों द्वारा, जिन्होंने यह व्यवस्था बनायी थी, आम लोगों की रक्षा की जा सके, क्योंकि लेखक साहसपूर्वक ह स्वीकार कर सकता है कि अच्छे लोगों की रूढ़ियाँ (समय) वेदों की तरह ही प्रामाणिक होती हैं । पहले उद्धरण में किसी पुरानी स्मृति का तर्क दोहराया गया है, जो प्राचीन काल के लोगों में अधिक पुंसत्व होने के काल्पनिक बहाने के आधार पर अतीत की अनैतिक प्रथाओं को त्यागने का औचित्य संगत मानता है । दूसरे उद्धरण एक मौलिक सिद्धान्त अन्तर्निहित है; वह यह कि सर्वसाधारण के हित में पुरानी थाओं को वर्जित करने वाली अच्छे या नेक लोगों द्वारा स्थापित रूढ़ियाँ (समय) सी प्रकार लागू हैं, जिस प्रकार आगमों के आदेश ।[1]

जहाँ तक राज्य के कानून का सम्बन्ध है, यह उल्लेखनीय है कि बाद की स्मृतियों उसकी उत्पत्ति और उसके अधिकार-क्षेत्र के बारे में पुराने विचारों को ही दोहराया र उनका विकास किया । मिसाल के लिए बृहस्पति ने ऐसे राजा की भूरि भूरि शंसा की है जो धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार मुकदमों की जाँच पड़ताल करता है । सका कहना है कि **प्रतिलोम** जातियों ने आपस में जो प्रथा चला रखी है, साथ ही गम स्थानों में रहने वालों, विभिन्न क्षेत्रों, जातियों और कुटुम्बों आदि में जो प्रथाएँ लती हैं, उनको ज्यों का त्यों कायम रखना चाहिए, नहीं तो प्रजा में असन्तोष ल जाएगा, लोग प्रतिकूल हो जाएँगे और राजा को अपनी सेना और राजस्व दोनों हाथ धोना पड़ जाएगा । लेखक ने अन्त में कहा है कि जो लोग बेहद दकियानूसी र कट्टर प्रथाओं का पालन करते हैं, उनको इस कारण ही राजा प्रायश्चित्त रने के लिए मजबूर नहीं कर सकता, न दंड दे सकता है । इसी भावना से प्रेरित कर कात्यायन ने कहा है, रीति-रिवाज चाहे जो भी हो, उसका किसी विशेष त्र के लोगों द्वारा समर्थन होने से ही प्रचलन होता है । अतः उसकी लिखित रूप में रा रक्षा की जानी चाहिए और उस पर राजकीय मुहर लगानी चाहिए; पवित्र र्मशास्त्रों की तरह उसको निरन्तर मान्यता देनी चाहिए । **नारद-स्मृति** के टीकाकार एक अज्ञात अधिकारी व्यक्ति के मत का उद्धरण दिया है । उसके अनुसार विभिन्न त्रों में प्रचलित रीति-रिवाजों को, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते आये हैं, धर्म सिद्धान्तों आगम ग्रन्थों के आधार पर भंग नहीं करना चाहिए ।[2] पहले उद्धरण में बृहस्पति अनुमोदित सामाजिक समूहों में प्रचलित रीति-रिवाजों और विभिन्न क्षेत्रों और लों में प्रचलित प्रथाओं को वही दरजा दिया है जो कानून को हासिल है, साथ ही

---

[1] बृहस्पति, II २६७-६९; **स्मृति-चन्द्रिका** में दिया गया उद्धरण, पृ. ३०-३१ (कलिवर्ज्य) । य हवालों के लिए देखिए **ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज़** पृ. ३०९ ।

[2] बृहस्पति, I १, १२६-३१ । कात्यायन श्लोक ४६-५०, नारद पर असहाय की टीका, भूमिका, ७ (राज्य के कानून की उत्पत्ति और स्रोत) ।

उसने बिल्कुल विपरीत किस्म के रीति-रिवाजों का पालन करने वालों को आजादी दी है। दूसरे उद्धरण में कात्यायन ने प्रचलित, विशेषकर परंपराओं को पूरी कानूनी मान्यता दी है, और उनके राजकीय अभिलेखन भी पूरी गुंजाइश रखी है। अन्तिम उद्धरण में तो लेखक ने यहाँ तक किया है कि धर्मशास्त्रों और आगमों में चाहे जो भी आदेश दिये गये हों, रीति-रिवाज अलंघनीय हैं।

(ग) लौकिक शासक का अपनी प्रजा से सम्बन्ध

पुरानी स्मृतियों में लौकिक शासक के अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में जो प्रकट किये गये हैं, इस काल की स्मृतियों में उन्हीं को दोहराया गया है और विकास किया गया है। इस प्रकार सत्ता और अधिकारों के मामले में नारद ने को विष्णु से और कात्यायन ने इन्द्र से अभिन्न माना है। बृहस्पति का कहना राजा के शरीर का निर्माण सात देवताओं के आभामंडलों से एक एक भाग किया गया था। नारद का कहना है कि अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों का पालन दौरान राजा पाँच देवताओं के रूप धारण करता है। उपर्युक्त सन्दर्भ में ही ने कहा है कि सारे प्राणी, अगर उन्हें राजा का डर न हो, भोग-विलास में और अपने कर्तव्यों का पालन करना छोड़ देंगे; ऐसे देश में जहाँ राजा नहीं होता वारी, व्यापार और साहूकारी के पेशों का भी अस्तित्व नहीं होता और इसीलिए काल में राजा की सृष्टि की गयी कि वह पृथक् पृथक् वर्णाश्रम-धर्म आदि करने वाले नेता का काम करे। इस प्रश्न पर सबसे अतिवादी दृष्टिकोण हुए नारद ने प्रजा को उपदेश दिया कि राजा चाहे गलत करे या सही, कर्त्तव्य है कि वह उसके आदेशों का पालन करे और अगर राजा अयोग्य भी उसका आदर करे।[1] इन उद्धरणों में लेखकों ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों के राजा की सत्ता और उसके अधिकारों की व्याख्या, उसकी उत्पत्ति, उसके उसके कार्यों के सन्दर्भ में की है और फिर उससे सही निष्कर्ष निकाला है को हर सूरत में राजा की आज्ञा माननी चाहिए।

जहाँ तक इसके पूरक सिद्धान्त, अर्थात् प्रजा के प्रति लौकिक शासक के का सम्बन्ध है, नारद के अनुसार राजा को धर्मशास्त्रों में निर्धारित नियमों के सारी व्यवस्थाओं और आश्रमों की रक्षा करनी चाहिए। लोगों की रक्षा के पैदावार का जो हिस्सा लेता है, उसे नारद ने राजा का **वेतन** बताया है। के अनुसार राजा की सृष्टि तीन कार्य सम्पन्न करने के लिए की गयी थी — निरन्तर रक्षा करने, कंटक दूर करने और ब्राह्मणों को आदर सम्मान देने के

---

[1] नारद, XVIII १३, २४-३९; कात्यायन, श्लोक ८, बृहस्पति, I १, ६-८ के अधिकार)।

[2] नारद, XVIII ५ तथा १७; कात्यायन १५ (लौकिक शासक के दायित्व)।

आरम्भिक पुराणों में राजा की सत्ता के तिहरे आधार और उसके दायित्व को द्धान्तिक स्तर पर और विशिष्ट राजाओं की कहानियों की मिसाल देकर दोहराया या है।[1] इस प्रसंग में निरंकुश अत्याचारी राजा वेन और उसके विख्यात पुत्र और तराधिकारी पृथु की पौराणिक कहानियों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता जो एक प्रकार से समानान्तर तीन पाठों में उपलब्ध है।[2] इनमें कहा गया है कि जा के बिना प्राकृत अवस्था वन्य अराजकता का पर्याय है : इसमें क्रूर और निरंकुश जा वेन तक को अतिमानवीय क्षमताओं का धनी बताया गया है, जबकि उसके बेटे थु के शारीरिक चिह्नों से स्पष्टत: सूचित किया गया है कि वह विष्णु भगवान् का ग था। इसके विपरीत वेन के मुख से यह भी कहलवाया गया है कि केवल राजा ही ी सम्मान का अधिकारी है और प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह हर सूरत में राजा की ज्ञा का पालन करे, ताकि ऋषियों के द्वारा उसे गद्दी से उतार कर उसकी हत्या को चित ठहराया जा सके।

जहाँ तक राजनीति-विज्ञान के लेखकों का सम्बन्ध है, हमें कामन्दकीय **नीतिसार** निम्न वक्तव्य मिलता है : प्रजा की रक्षा राजा पर निर्भर है और उसकी आजीविका सुरक्षा पर निर्भर करती है। राजा के बिना कानून गायब हो जाता है और नून के बिना यह संसार नष्ट हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा का होना जा के लिये सुरक्षा की शर्त है और साथ ही धर्मशास्त्रों के अनुसार राजा सामाजिक वस्था की स्थिरता की भी शर्त है। अन्य उद्धरणों में भी लेखक ने अपने मत का ष्टीकरण किया है। जिस राजा को वयोवृद्ध लोगों का समर्थन प्राप्त है, उसे इस सार की समृद्धि का कारण बताया गया है। राजा अगर अच्छा पदप्रदर्शक नहीं है लोग उसी तरह नष्ट हो जायेंगे, जिस तरह बिना केवट की नाव डूब कर नष्ट हो ती है। जो राजा सन्मार्ग पर चलता है, वह जीवन के तीन लक्ष्यों के साथ स्वयं पने को और अपनी प्रजा को एकाकार कर लेता है, लेकिन जो इससे विपरीत मार्ग र चलता है, वह दोनों के नाश का कारण बनता है।[3] दूसरे शब्दों में जहाँ यह माना या है कि आवश्यक गुणों वाला राजा प्रजा को पूरा संरक्षण और सुख-सुविधा प्रदान रने और राज्य को समृद्ध बनाने में समर्थ होता है, वहाँ यह भी माना गया है कि न गुणों से विहीन राजा प्रजा के सर्वनाश का कारण होता है।

राजा के दायित्व के सिद्धान्त का बौद्ध विचारकों ने अधिक मौलिक ढंग से विवेचन या है। आर्यशूर की **जातकमाला** की एक कहानी का नायक कहता है कि चूँकि सके अनुयायियों ने, जो उसके आदेशों का पालन करने के लिए हमेशा तैयार रहते

---

[1] देखिए, **वायु पुराण** ८८, ४६ और ६९ (राजा कुवलाश्व और मान्धाता की कहानियाँ), र्कण्डेय पुराण २७, २१-५ (रानी मदालसा की कहानी)।

[2] **वायु पुराण** ६२, १०४-६३ = ब्रह्माण्ड पुराण, ६८, १०४-९३ (पहला संस्करण), **विष्णु** राण I १३-११-८ (दूसरा संस्करण) **भागवत** IV १३, १६-२३ (तीसरा संस्करण)।

[3] **नीतिसार** I, ९-१७, II ३४।

हैं, उसके कन्धों पर शासन का भार डाल दिया है, इसलिए उसने उनके स्नेह से प्रेरित होकर, जो वह अपने बेटों के प्रति महसूस करता है, यह भार स्वीकार किया है। उपर्युक्त सिद्धान्त में यह तर्क निहित है कि शासितों करना शासक का नैतिक कर्त्तव्य है, जिसके बदले में उसकी आज्ञा का पालन प्रजा का कर्त्तव्य है। आर्यदेव ने अपने ग्रन्थ **चतुःशतक** में इससे भी ज्यादा मत पेश किया है। एक काल्पनिक राजा से संवाद करते हुए लेखक पूछ तुम किस बात पर गर्व कर सकते हो — तुम जो केवल एक गणदास हो, द्वारा दिये गये पैदावार के) छठे भाग पर पलते (भृत) हो ?[1] उपर्युक्त लेखक ने जनता की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जो राजा और के बीच अर्ध-अनुबंधित सम्बन्ध जैसे एक पुराने स्मृति-सिद्धान्त पर आधारित

यहां पर शास्त्रीय संस्कृत साहित्य के महान् लेखकों के विचारों के बारे कुछ कह देना उचित होगा। **मुद्राराक्षस** नाटक के अन्तिम पद में विशा राजा को विष्णुभगवान का रूप कहा है। इसके विपरीत बाण ने दूसरा ही किया है। **कादम्बरी** में एक बुद्धिमान मन्त्री एक नौजवान राजकुमार से कहता चालाक और मक्कार धूर्तों से अपनी प्रशंसा सुनकर कुछ राजा धोखे में आ और यद्यपि वे भी मर्त्य प्राणी हैं, लेकिन वे अपने बारे में सोचने लगते हैं कि निर्माण दैवी तत्त्वों से हुआ है और अलौकिक प्राणियों की तरह व्यवहार कोशिश में वे सब लोगों की दृष्टि में हास्यास्पद बन जाते हैं।[2] ज्ञातव्य है कि मूर्ख राजाओं को धोखा देने के लिए उनके धूर्त प्रशंसकों की ईजाद के रूप के ईश्वरत्व की अवधारणा के प्रति तिरस्कार व्यक्त किया गया है।

(च) राजनीति और आचार-शास्त्र का सम्बन्ध

राजनीति और आचार-शास्त्र के परस्पर सम्बन्ध पर बहस कौटिल्य के और प्रारम्भिक स्मृतियों के समय से चली आ रही थी और उसे इस काल के ने भी दोहराया। हम आर्यशूर की **जातकमाला** की कहानियों से कुछ उद्ध करके इस बहस का विवरण शुरू कर सकते हैं। इसमें लिखा है कि धर्म का के लक्ष्य की ओर दौड़ने से **राजशास्त्र** में जाकर खो जाता है; लोग राज सम्बन्धित छल-कपट से अपवित्र हुए मार्ग में **काम** की इच्छा लेकर प्रवेश **क्षात्रविद्या** में आचरण के जो नियम बताये गये हैं, वे धर्म से विपरीत हैं, राज कुटिल मार्ग के अनुगामी हैं और निरंकुशता से कलुषित हैं; राजनीति का है कि मन्त्रियों तथा दूसरे लोगों का अस्तित्व राजा की खातिर होता है, न कि का अस्तित्व लोगों की खातिर; जो लोग राजनीति में निपुण हैं उनका कहना

---

[1] **जातकमाला,** पद १५, **चतुःशतक,** श्लोक ७७।

[2] **मुद्राराक्षस** VII १९; **कादम्बरी,** पृ. १७७-७८।

राजा के लिए धर्म के मार्ग पर चलना अनय और व्यसन मात्र है, क्योंकि धर्म स्पष्ट ही अर्थ और काम का विरोधी है ।[1] उपर्युक्त उद्धरणों में बौद्ध-धर्म के प्रारंभिक सिद्धान्त को दोहराया गया है, जिसके अनुसार राजनीति और आचरणशास्त्र को परस्पर-विरोधी माना जाता है। स्थापना यह है कि राजनीति धर्म के विपरीत अर्थ और काम के लक्ष्यों से संचालित होती है और वह दरअसल शासकों के हित में शासितों के निरंकुश और निर्लज्ज शोषण पर आधारित है।

इस सम्बन्ध में हम वाण की प्रसिद्ध प्रेमकथा **कादम्बरी** से एक उद्धरण दे सकते हैं, जिसमें एक नौजवान राजकुमार को, जो गद्दी पर वैठने वाला है, एक बुद्धिमान मन्त्री की नेक सलाह दी गयी है। इस अवतरण में वह मंत्री उन राजाओं की कठोरतम शब्दों में निन्दा करता है, जो कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** को, उसकी निर्मम और क्रूर शिक्षाओं के वावजूद, प्रमाण मानते हैं और विशेषकर जो अर्थ की ही उपासना करते हैं, संहारक विज्ञानों को बढ़ावा देते हैं और धर्मनिष्ठ भाइयों का नाश करने की नीति पर चलते हैं। आगे वह मन्त्री जादू-टोने का पेशा करने वाले उन पुरोहितों की भी कड़ी खवर लेता है, जो ऐसे राजाओं के गुरु और शिक्षक होते हैं; फिर वह उन धोखेबाज मंत्रियों की निन्दा करता है, जो ऐसे राजाओं के सलाहकार वन जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में राजनीति का जो रूप बयान किया गया है, और दुनियादार और क्रूर राजा तथा उनके निर्मम और चालाक सलाहकार व्यवहारतः जिस राजनीति पर चलते हैं, वह घोर भौतिक स्वार्थ, हृदयहीन क्रूरता और अधम अन्धविश्वासों पर आधारित है। इसके साथ हम कवि माघ की एक उक्ति की तुलना कर सकते हैं, जिसमें उसने राजनीति और नग्न आत्म-स्वार्थ की नीति को एक दूसरे से अभिन्न कहा है। अपनी हित-साधना और विरोधी को नुकसान पहुँचाना, उसके अनुसार राजनीति की यही दोहरी विषय-वस्तु है।[2]

नीतिसार से कामन्दक के विचारों का उद्धरण देकर हम इस विषय का समापन कर सकते हैं। आन्तरिक प्रशासन की व्यवस्था का विवेचन करते हुए वह कहता है कि दुष्टों की हत्या करने से राजा को पाप नहीं लगता और इसे वह केवल ऋषिवत् राजाओं की मिसाल देकर ही उचित नहीं ठहराता, वल्कि इस आधार पर भी उचित ठहराता है कि आगमों के ज्ञाता आर्यों का मत ही **धर्म** का प्रमाण है। फिर, युद्ध और शान्ति सम्बन्धी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए वह राजा को अपने शत्रु पर विश्वास करने के विरुद्ध चेतावनी देता है, क्योंकि राजा इन्द्र ने क्या सन्धि-काल में ही अपने शत्रु वृत्रासुर की हत्या नहीं की थी ? आगे तर्क दिया गया है कि बेटा हो या बाप,

---

[1] जातकमाला IX, पद १०, XIX, पद २७, XXIII पद २१, XXVII, पद १७, XXXI, पूर्ववर्ती हवालों के लिए देखिए, **ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज़**, पृ. ४६, १५०-५३।

[2] कादम्बरी, पृ. १७७-७८, शिशुपालवध II, ३०।

गद्दी पर बैठते ही उसमें परिवर्तन हो जाता है (एक दूसरे के प्रति उनकी भा भावना में), इसलिए राजाओं का व्यवहार साधारण लोगों के व्यवहार से भिन्न है। इसके साथ ही लेखक ने, यह घोषणा करते हुए कि राजा युद्ध में ईमानदा नीति पर चले या विश्वासघात की नीति पर, इसका निर्णय तात्कालिक राजनीति को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए, महाभारत के अश्वत्थामा की मिसाल दुश्मन की हत्या करने के सिद्धान्त को भी उचित ठहराया है।[1] यहाँ पर ले कौटिल्य की इस नीति का कि राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नैतिकता बलिदान कर देना चाहिए, कई दृष्टियों से विकास किया है। वह इस नीति को या समाज के हित में ही उचित नहीं ठहराता बल्कि व्यापक सन्दर्भ में रखकर प्रकृति की मूलभूत स्वार्थपरता और राजनीतिक आवश्यकता के आधार पर भी ठहराता है। इसके साथ ही देवताओं और महाकाव्यों के नायकों के आचरण मिसाल बनाकर इसे नैतिक औचित्य भी प्रदान किया गया है। कामन्दक के नि दावा किया जा सकता है कि उसने अपने गुरु कौटिल्य के इस सिद्धान्त की कि राज से नैतिकता को अलग रखना चाहिए, जिस पर **अर्थशास्त्र** के जमाने से ही अमल आया था, खूब जोरदार हिमायत की है।"[2]

(II) प्रशासनिक संगठन—उत्तरी भारत

(१) गुप्त सम्राट्, उनके समकालीन और परवर्ती

गुप्तों ने, जिनके इतिहास का विवरण ऊपर[3] दिया जा चुका है, राजन् (रा की सीधी-सादी पदवी, जिसे प्राचीन काल से भारतीय वंशों के शासक सन्तोष धारण करते आये थे, छोड़ दी और ऐसी भड़कदार उपाधियाँ अपनायीं, जिनका प्र अतीत के विदेशी शासकों ने किया था। इन उपाधियों में सबसे प्रमुख महाराजाधि की उपाधि थी, जो चन्द्रगुप्त प्रथम और उसके बाद के सभी गुप्त राजाओं ने इस की और जिसका उन्होंने अपने अभिलेखों, अनुदान-पत्रों, सिक्कों और मुहरों में किया था। गप्तों के सिक्कों और अभिलेखों में इस उपाधि के अनेक रूप मिलते जैसे **राजाधिराज, परमराजाधिराज, राजाधिराजर्षि** और **राजराजाधिराज**[4]। अलावा गुप्त राजाओं ने अपने नामों के आगे और अनेक **विरुद** लगाये, जिनमें

---

[1] नीतिसार, IX ५-७, XIV ५४-५५, XXXI ५४ तथा ७१।

[2] इस परिच्छेद की विषय-वस्तु का हवालों सहित पूरा विवरण जानने के लिए देखि की पुस्तक **हिस्टरी ऑफ इण्डियन पॉलिटिकल आइडियाज,** बम्बई, १९५९ के परि. XVII-XXII।

[3] देखिए, परिच्छेद १-६।

[4] विभिन्न रूपों के बारे में देखिए, एलेन **कैटलग,** इन्ट्रोडक्शन, cxi, cx III, ३५, ५९, ई. इ. XXI, ८ प. पृ.।

लिए ऐसे अतिमानवीय गुणों का दावा किया गया था, जो उनको देवताओं की कोटि में पहुँचा देते थे। इलाहाबाद स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त के बारे में उल्लेख है कि वह एक देवता है जो पृथ्वी पर निवास करता है, और केवल इस हद तक ही एक मर्त्य है कि वह मनुष्यों के रीति-रिवाजों का पालन करता है। वंशानुक्रम सम्बन्धी परवर्ती विवरणों में भी उसे हमेशा धनद (कुबेर), वरुण, इन्द्र और अन्तक (यम) आदि देवताओं के बराबर कहा गया है जिसके समान शक्तिशाली इस संसार में और कोई नहीं था", और "जो कृतान्त (यम) का परशु था"।[1] उत्तरी बंगाल के अभिलेखों में गुप्त सम्राटों को तिहरी उपाधियाँ दी गयी हैं (**परमदेवता, परमभट्टारक, महाराजाधिराज**)। जरा सा हेरफेर करके **परम देवता** बाद में **परमेश्वर** बन गया, जो परवर्ती काल के सम्राटों की विशिष्ट उपाधि थी। अति-मानवीय गुणों का दावा करने के इसी उद्देश्य से समुद्रगुप्त के जमाने से गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर अंकित प्रशस्तियों में यह लिखा जाने लगा कि पृथ्वी पर अपनी विजयों के साथ ही उन्होंने (अपने नेक कामों से) स्वर्ग का साम्राज्य भी प्राप्त कर लिया था।[2]

सम्राट के बाद ठीक दूसरी श्रेणी में युवराज पदवी मानी जाती थी। गुप्त साम्राज्य में उत्तराधिकार का नियम पुत्र के माध्यम से वंशानुगत होता था, जिसकी था वैदिक काल तक में प्रचलित थी। लेकिन जैसा हम पहले देख चुके हैं,[3] सम्राट् क्सर अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करने के अधिकार का भी प्रयोग करते थे।

गुप्त सम्राटों ने प्रशासन की परम्परागत, नौकरशाही द्वारा चालित, व्यवस्था ारी रखी थी और नाम-पद्धति भी पूर्ववर्ती कालों से या तो ज्यों की त्यों उधार ले ी थी या उसमें थोड़ा परिवर्तन करके उसे अपने समय के अनुकूल बना लिया था। न्त्री, जिसकी पदवी का उल्लेख कौटिल्य के **अर्थशास्त्र**[4] में भी हुआ है, नागरिक ासन का अध्यक्ष होता था। अन्य उच्च अधिकारियों में **महाबलाधिकृत** (प्रधान-नापति), **महादंडनायक** (जेनरल) और **महाप्रतिहार** (मुख्य द्वारपाल या संभवतः जप्रासाद की रक्षक-सेना का प्रधान) होते थे। **महाबलाधिकृत** का पद शायद तवाहन राजाओं के **महासेनापति** जैसा था, और उसके नीचे **महाश्वपति** (घुड़सवार ना का प्रधान अफसर), **भटाश्वपति** (नियमित घुड़सवार सेना का प्रधान अफसर), **हापीलुपति** (हाथियों की सेना का अफसर) **सेनापति** और **बलाधिकृत** जैसे अफसर । **महादंडनायक** का पद कुषाण सम्राटों और तेलुगु देश के इक्ष्वाकु राजाओं के हाँ भी होता था। **दंडनायकों** का नियन्त्रण उसके हाथ में होता था। इसी प्रकार हाप्रतिहार के नियन्त्रण में प्रतिहारों का दल होता था। गुप्त सम्राटों के अभिलेखों

---

[1] इलाहाबाद स्तम्भलेख (*CII*, III, ८) देखिए, वही, पृ. २६, ४३, ५३।

[2] एलेन, **कैटलग**, इन्ट्रोडक्शन cviii प. पृ.।

[3] देखिए पृ. ७।

[4] श्लोक ३।

में पहली बार एक नये और ऊँचे राज-पदाधिकारी का नाम आता है, जिस बाद में भी जारी रहा। वह है, **सांधिविग्रहिक** का पद (शान्ति और युद्ध का या व्यापक रूप से 'विदेश मन्त्री')।[1]

गुप्त साम्राज्य में केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रशासनों के बीच कुमारामा **आयुक्त** नामक पदाधिकारियों द्वारा सम्बन्ध-सूत्र नियमित होता था। कौ और **जातकों** में **अमात्य** का प्रयोग राज-पदाधिकारियों के लिए सामान्यतः गया है और **आयुक्त** (या आयुक्तक) को हम अशोक-स्तम्भलेखों में आये **अर्थशास्त्र** के **युक्तों** से जोड़ सकते हैं। **अमात्य** वर्ग के अफसरों में गुप्तों नये वर्ग या पद की स्थापना की, जिन्हें **कुमारामात्य** पुकारा जाता था। इस केवल साम्राज्य के उच्चाधिकारी ही नहीं होते थे बल्कि सम्राट् और युव व्यक्तिगत स्टाफ के अफसर और जिलाधीश आदि भी होते थे।[2] इसी तरह साम्राज्य के **आयुक्तों** (या आयुक्तकों) को कभी सम्राट द्वारा दूसरे राज जीती हुई धन-सम्पत्ति की वापसी के लिए नियुक्त किया जाता था[3] तो क जिलों या **केन्द्रीय नगरों** का शासन-प्रबन्ध सौंपा जाता था।"[4]

प्रान्तीय शासन के क्षेत्र में गुप्तों ने पुरानी व्यवस्था का ही अनुकरण किया, नामावली में परिवर्तन कर दिया और कुछ साहसपूर्ण सुधार भी किये। ग्राम

---

[1] देखिए, ई. इ., X, ७१ प. पृ. (मन्त्री और **महाबलाधिकृत** के लिए), फ्लीट, इ. III, १०, ब्लाख की सूची में वसाढ़ की मुहर नं. १७, और मार्शल की सूची में (महादं के लिए) भीट मुहर नं. ३२, ४३-४४, (**महाप्रतिहार** के लिए) ब्लाख की सूची में, नं. १६ और १८, (**भटाश्वपति** के लिए) ब्लाख की सूची में वसाढ़ मुहर नं. १८, (ब के लिए) स्पूनर की सूची में वसाढ़ मुहर नं. ५७२ डी, (**महाश्वपति** के लिए), भीट मुहर (**महापीलुपति** के लिए) इ. हि. क्वा. VI, ५३ प. पृ. (**सेनापति** के लिए), भीट मुहर (**दंडनायक** के लिए), वही नं. ४४-५१, (**प्रतिहार** के लिए) वही नं. ५२, (सांधि के लिए) का. इ. इ. III, १०; सातवाहन वंश के **महासेनापति** का उल्लेख ई. इ. VII ८९; XIV १५३, प. पृ. में हुआ है, जबकि कुषाण और इक्ष्वाकु राजाओं के महादं का ई. इ. IX, २४२; XX १४-१८; XXIV २०६ में जिक्र हुआ है। टी. डी. बी. स्पूनर द्वारा वसाढ़ मुहरों का (सूची समेत) विवरण आ. स. इ., १९०३-४ और १ में क्रमशः दिया गया है, जबकि जे. एच. मार्शल द्वारा भीट मुहरों (और सूची) का विवर इ. १९११-१२ में दिया गया है।

[2] देखिए (**कुमारामात्य** के लिए) ब्लाख की सूची में काँ. इ. इ. III, १०, ई. इ. xv, पृ. १३० प. पृ., XXI, ८१, प. पृ. वसाढ़ मुहरें नं. ४, ५, ६, ७, ८, १०; (**आयुक्तकों** के लिए) ई. इ. XV, १३८, XX, १। **महादंडनायक** और कुमारा उपाधियों का अर्थ जानने के लिए देखिए, इस लेखक की पुस्तक **स्टडीज इन इंडियन** **ऐंड कल्चर**, परि. XIII पृ. ४४५ प. पृ.।

[3] काँ. इ. इ. III, ८।

[4] ई. इ., XV, १३८; XX, ६१।

प्रान्त को भुक्ति कहा जाता था, जिसके शासक अफसर को **उपरिक** कहा जाता था। अगर सम्राट् का कोई राजकुमार **भुक्ति** का शासक नियुक्त किया जाता था, तो महाराजपुत्र **देव भट्टारक** कहा जाता था। **उपरिक** एक प्रकार से अशोक के साम्राज्य के प्रादेशिकों और सातवाहन राज्य के **अमात्यों** के समान होते थे। जबकि **महाराजपुत्र** देवभट्टारक अशोक के समय के **कुमार** वायसरायों के समान थे। प्रान्त (भुक्ति) आमतौर पर जिलों में बँटा होता था जिन्हें प्रायः **विषय** कहते थे। इन **विषयों** पर शासन करने वाले अफसरों को **कुमारामात्य, आयुक्त** या **विषयपति** कहा जाता था।[1] गुप्त सम्राटों की प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की नीति की यह विशेषता थी कि आमतौर पर प्रान्तीय गवर्नर ही जिला अधिकारी की (इस काल के उत्तरी बंगाल में प्राप्त अभिलेख के अनुसार) नियुक्ति करता था, हालाँकि इस विवरण में ऐसे किसी अफसर का हवाला नहीं दिया गया।

उत्तरी बंगाल के उपर्युक्त अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि सरकारी भूमि की बिक्री का बुनियादी काम **कुमारामात्य** (या **आयुक्तक** या **विषयपति** या राजकुमार-वायसराय) म्युनिसिपल बोर्ड (**अधिष्ठानाधिकरण**) के सहयोग से करता था, या कभी-कभी जिला कार्यालय (**विषयाधिकरण**) के सहयोग से। वह यह काम कभी कभी **अष्टकुलाधिकरण** गाँव के मुखिया (ग्रामिक), गाँव के परिवारों (कुटुम्बियों) आदि के सहयोग से करता था। जहाँ पूरी मिसालें उपलब्ध हैं, उनसे ज्ञात होता है कि नगरपालिका के मुख्यतः चार सदस्य होते थे; गिल्ड प्रेजीडेन्ट (**नगरश्रेष्ठी**), मुख्य व्यापारी (**सार्थवाह**), मुख्य शिल्पी (**प्रथमकुलिक**) और मुख्य मुंशी (**प्रथमकायस्थ**)।[2] **अष्टकुलाधिकरण** का ठीक-ठीक क्या मतलब था, इसका पता नहीं चलता, लेकिन एक उदाहरण में कहा गया है कि वह गाँव के प्रमुख (महत्तर) जनों की समिति का नाम था, जिसे हम साधारणतया रूरल-बोर्ड के रूप में समझ सकते हैं। खैर, इसका चाहे जो अर्थ हो, उपर्युक्त विवरण से सूचित होता है कि जिला, नगर और गाँव तक के प्रशासन में जनता के प्रतिनिधियों को सम्बद्ध किया जाता था। विशेष रूप से यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य, **प्रथमकायस्थ** को छोड़कर, सार्थवाहों और **कुलिकों** के संघों के प्रतिनिधियों (या अध्यक्षों) के अलावा कोई और होता था। उन दिनों ऐसे शिल्पि-संघ (गिल्ड) सारे उत्तर-बिहार में होते थे। स्थानीय प्रशासन के साथ जनता के प्रतिनिधियों को सम्बद्ध करने का यह प्रयत्न गुप्त सम्राटों

---

[1] गुप्त सम्राटों के राज्य में **उपरिकों** (जो भुक्तियों के शासक थे) और **विषयपतियों** (जो विषयों के शासक थे) के बारे में जानने के लिए देखिए, इ. इ. XV, १३० प. पृ.; ३४७; XX, प. पृ., XXI, ८ प. पृ.।
तीरभुक्ति के **उपरिक** का अपना दफ्तर (अधिकरण) था, जिसका लाख की सूची में दी गयी गढ़ की मुहर नं. २० में जिक्र हुआ है।

[2] इनके हवाले देखिए, ऊपर पा. टि. २, पृ. ३८६ में।

का सबसे साहसपूर्ण प्रशासनिक प्रयोग था। दुर्भाग्य से हमारे पास इसका कोई ब्यौरा नहीं है कि गुप्त साम्राज्य के अन्य प्रान्तों में स्थानीय प्रशासन कि चलता था। लेकिन प्राचीन वैशाली[1] से प्राप्त मुहरों पर अंकित प्रशस्तियों **कुमारामात्याधिकरण** और **वैशाल्याधिष्ठानाधिकरण** का जो हवाला दिया गया है शायद यह सूचित होता है कि गुप्तों के राज्य में डिस्ट्रिक्ट और म्युनिसिपल बोर्ड ही काम करते थे। उत्तरी बंगाल के म्युनिसिपल बोर्ड जिस आधार पर सं उनकी मिसाल से हम अनुमान कर सकते हैं कि उत्तरी बिहार के म्युनिसि आदि का संगठन भी **श्रेष्ठियों, सार्थवाहों** और **कुलिकों** के प्रतिनिधियों को ले गया होगा।

राजनीतिक उदारता और शास्त्रों में निर्धारित साम्राज्य सम्बन्धी नै श्रेष्ठतम परम्पराओं के अनुकूल, गुप्तों ने अनेक विजित राज्यों को (जिनमें रा और गणतन्त्रीय दोनों प्रकार के राज्य थे) अपने अधीन स्वतंत्रता की स्थिति दिया था। हमारे पास सीमा-प्रदेशों के ऐसे राजाओं (**प्रत्यन्त नृपतियों**) और सूची है, जिन्हें समुद्रगुप्त ने हराकर अपने अधीन किया था।[2] परवर्ती आधुनिक बघेलखंड के क्षेत्र में शासन करने वाले परिव्राजक **महाराजा**[3] आ अपने अनुदान-पत्र "गुप्त-सम्राटों के अधिराजत्व में" कहकर जारी करते थे। शासकों की स्थिति परम शासक की तुलना में उनकी अपनी शक्ति पर निर्भर थी। समुद्रगुप्त के शक्तिशाली राज्य-काल में सीमान्त-प्रदेशों के शासकों के साम सम्राट को खिराज देने, आमतौर पर उसके प्रति अपनी आज्ञाकारिता प्रदर्शि और उसके दरबार में हाजिर होकर उसका अभिनन्दन करने के सिवा और कोई नहीं था। इसके विपरीत, यह आश्चर्य की बात है, परिव्राजक-महाराजों ने विवरणों में अपने समय के सम्राट् का एक बार भी उल्लेख नहीं किया,[4] औ दूसरे सामन्त-शासकों[5] ने तो अपने राजकीय अभिलेखों में गुप्तों की प्रभुसत्ता का तक नहीं दिया।

चीनी यात्री फा-हिएन[6] के विवरण में गुप्त-सम्राटों के प्रशासन की प्रवृत्तियों और विशेषताओं की अत्यन्त संक्षिप्त, किन्तु मूल्यवान् झलक मि फा-हिएन ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में उत्तर भारत की यात्रा की थी। विवरण से हमें मालूम होता है कि गुप्तों की शक्तिशाली भुजा सारे 'मध्य रा ऐसी शान्ति और व्यवस्था कायम करने में समर्थ थी कि उस अकेले विदेशी रास्ते में कहीं भी लुटने-पिटने का डर नहीं था। इन सम्राटों को इस बात

---

[1] ब्लाख की सूची में बसाढ़ मुहर नं. २२ और २५।

[2] ऊपर देखिए, पृ. १ प. पृ.।

[3] ऊपर देखिए पृ. ३३।

[4] ऊपर देखिए, पृ. ३३।

[5] ऊपर देखिए, पृ. ३३ प. पृ.।

[6] फा-हिएन, लेगे द्वारा अनूदित, पृ. ४२-४३, ५२, ७९।

प्राप्त है कि उन्होंने अपनी प्रजा की 'गुप्तकालीन शान्ति' का उपभोग करने का अवसर दिया, और इस शान्ति-स्थापना के लिए उन्हें पुलिस-नियन्त्रण और दंड-न्याय के क्रूर तरीकों का इस्तेमाल नहीं करना पड़ा, जिन्होंने मौर्यों के प्रशासन को कलुषित कर दिया था। 'मध्य-राज्य' का विवरण पेश करते हुए फा-हिएन ने कहा है: "उन्हें अपनी घर-गृहस्थी की सूचना दर्ज नहीं करवानी पड़ती, न मजिस्ट्रेटों के सामने जाना पड़ता है, न उनके नियमों का पालन करना पड़ता है··· वे अगर जाना चाहते हैं तो जाते हैं, अगर रहना चाहते हैं तो रहते हैं। उसने फिर आगे लिखा है: "राजा बिना किसी का सर काटे या किसी का अंग-भंग किए ही शासन करता है। अपराधियों पर जुर्म के मुताबिक सिर्फ हल्के या भारी जुर्माने किये जाते हैं। जब हम याद करते हैं कि अतीत काल से हमारे यहाँ जासूसी की प्रथा चलती आयी है और लोगों को कितना कठोर अपराध-निवारक दंड दिया जाता था, तो हम यह स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते कि गुप्त सम्राटों के प्रशासन ने प्राचीन भारत की दंड विधि में मानववादी सुधारों के एक नये युग का सूत्रपात किया था। फा-हिएन के विवरण में गुप्त-प्रशासन के अन्य तत्त्व भी प्रतिबिम्बित हुए हैं। वह कहता है: "राजा के अंग-रक्षकों और परिचारकों आदि सबको नियमित वेतन मिलता है।" इससे साबित होता है कि गुप्त सम्राटों ने अपने सैनिकों को नियमित रूप से निश्चित्त वेतन देने की मौर्यों की दूरन्देश नीति का अनुसरण किया था। गुप्त प्रशासन के अन्य तत्त्वों के बारे में परवर्ती अभिलेखों से कुछ पता चल सकता है। स्कन्द-गुप्त के गिरनार वाले शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि जब उस प्राचीन सुदर्शन झील का, जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य के गवर्नर ने खुदवाया था और अशोक के एक अफसर ने जिसके बाँध का पुनर्निर्माण करवाया था, सन् ४५५ ई० में फिर बाँध टूट गया, तो सौराष्ट्र के मुख्य नगर के गवर्नर चक्रपालित ने एक मजबूत और पक्का बाँध बनवाया। गुप्त सम्राट् विद्या और धर्म के प्रसार के लिए कितनी उदारता पूर्वक दान करते थे, यह इस बात से ही प्रमाणित है कि इस वंश के एक के बाद दूसरे राजा ने नालन्दा विश्वविद्यालय में अनेक मठ स्थापित किये थे।[1]

गुप्त सम्राटों के परोपकारी प्रशासन का ही यह परिणाम था कि उनके शासन काल में लोग खुशहाल और समृद्ध थे। हमारे पास फा-हिएन की बहुमूल्य साक्षी है कि 'मध्य-राज्य' में लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी और वे सुखी थे। साम्राज्य के कुछ भागों में, विशेषकर मगध और सांकाश्य में खुशहाली, अपेक्षया अधिक थी। अपनी उदारता के कारनामों पर और प्रजा के नैतिक और भौतिक स्तर को ऊँचा करने में अपनी सफलताओं पर गुप्त सम्राटों को अकारण ही गर्व नहीं था।[2]

गुप्त साम्राज्य के ह्रास और पतन के साथ ही नये राजवंशों का उत्थान भी हुआ, लेकिन उनमें से कोई भी स्थायी रूप से टिकने वाले साम्राज्य का निर्माण नहीं कर

---

[1] या. ट्रै. वा., II १६४-६५।

[2] तुलना कीजिए, समुद्रगुप्त (कॉ. इ. इ. १११, ८) और स्कन्दगुप्त (वही, ५९) के [illegible] की।

सका । ग्रामतौर पर इन नये राज्यों में गुप्तों की प्रशासनिक परम्पराओं को ही रखा गया । हूण राजा तोरमाण[1] के नीचे, जिसने महाराजाधिराज की उपाधि की थी, एक वाइसराय था, जिसका नाम धन्यविष्णु था, जो एरिकिण विषय प्रदेश में वर्तमान सागर जिला) पर शासन करता था । इस तथ्य से कि मातृविष्णु धन्यविष्णु का बड़ा भाई था और यमुना और नर्मदा के बीच के गुप्तों के अधीन प्रान्तीय गवर्नर था,[2] हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हूण विजेता भी अक्सर पुराने प्रान्तीय प्रशासन को सिर्फ वदस्तूर कायम ही नहीं बल्कि प्राचीन पदाधिकारियों और उनके परिवारों को भी अपने पदों पर कायम देते थे । पश्चिमी मालवा पर **राजाधिराज परमेश्वर** की उपाधि धारण करने करने वाले विष्णुवर्धन[3] ने एक विवरण में एक अभयदत्त का उल्लेख किया है, जो विन्ध्य और पारियात्र (पश्चिमी विन्ध्य) तथा समुद्र से घिरे क्षेत्र का राज (वाइसराय) था । अपने अन्तर्गत अनेक जिलों (देशों) का शासन-कार्य वह अपने मन्त्रियों (**सचिवों**) की सहायता से चलाता था । इससे जाहिर है कि बंगाल में गुप्तों के प्रान्तीय गवर्नरों की तरह विष्णुवर्धन का गवर्नर भी अपने जिलों के शासक नियुक्त करने के लिए स्वतन्त्र था ।[4]

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद आनेवाले गौण राजवंशों में से वलभी[5] के का उल्लेख किया जा सकता है । गुप्त साम्राज्य के उच्च पदाधिकारियों की उपाधियों से शुरू करके, मैत्रकों ने अन्त में सम्राट की पूरी उपाधियाँ धारण कर मैत्रकों के प्रशासन में, जहाँ उस समय की अन्य भारतीय सरकारों के आम तत्त्व थे, वहाँ कुछ अपने विशिष्ट रूप भी थे । केन्द्रीय सरकार के पदाधिकारियों में, नाम उनके विवरणों में दिया गया है, एक **दिविरपति** (जिसके नाम के आगे कभी **संधिविग्रहाधिकृत महासामन्त** की उपाधि भी जोड़ी जाती थी),

---

[1] कॉ. इ. इ. III, १५९ प. पृ.; सले. इंस्क्रि. ३९६-९७ ऊपर देखिए, पृ. ३१९

[2] कॉ. इ. इ. III, ८९, सले. इंस्क्रि. ३२७; देखिए, ऊपर, पृ. ३५ ।

[3] कॉ. इ. इ. III, १५२ प. पृ.; सले. इंस्क्रि, ३८६-९२—विष्णुवर्धन बनाम के बारे में ऊपर देखिए .पृ. ४४ प. पृ. ।

[4] **राजस्थानीय** की एक वाइसराय के रूप में व्याख्या बूलर ने (इ. ए. V, २० के **लोकप्रकाश** का प्रमाण देकर सुझायी थी । प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका समर्थन अभयदत्त द्वारा अपने मन्त्रियों की सहायता से शासित अनेक देशों के बहुत से उल्लेखों से होता है किंचित् व्याख्याएँ हैं—"विदेश सचिव" (त्रिपाठी, हिस्टरी आफ कन्नौज, १३८) तथा "राजनीतिक (पायर्स, दि मौखरीज, १७०) ।

[5] देखिए पृ. ६८ प. पृ. ।

[6] मैत्रकों के पदाधिकारियों की उपाधियों और उनके प्रशासनिक क्षेत्रों में, जिनका नीचे किया गया है, देखिए, ई. इ., I, ८७,; VIII, १०८; XI, ८१ प. पृ.; १७४ XVI, १७ प. पृ., XVII, १०५, प. पृ.; XXI, १७९ प. पृ.; XXII, ११४ इ. इ., III, १६६, इ. ए. XV, १८६ प. पृ. ।

विग्रहाक्षपटलाधिपति और **प्रमातृ** होता था। इसके अलावा, मैत्रकों के अनुदान-पत्रों में न अफसरों की सूची दी गयी है, उनमें **आयुक्तक, कुमारामात्य, द्रांगिक, ध्रुवाधि- रणिक, चौरोद्धरणिक, दंडपाशिक, राजस्थानीय** और **अनुत्पन्नदान-समुद्ग्राहक** शामिल । इस सूची में सांधिविग्रहिक को तो पहचानना आसान है, क्योंकि गुप्तों के विवरणों भी इसी नाम के पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। **दिविरपति**, जैसा नाम से ही ाहिर है, दिविरों (क्लर्कों) का प्रधान था। इस पद की सूचना उच्चकल्प **महाराज** यनाथ'[1] के विवरण से भी प्राप्त होती है, जिनकी तारीख सन् ४९६ ई० है। गुप्तों के मय से केन्द्रीय तथा स्थानीय प्रशासनों में **आयुक्तों** और **कुमारामात्यों** के पद भी सिद्ध हैं। उतना ही प्रसिद्ध **द्रांगिकों**, अर्थात् फौजी चौकियों के कमांडर का पद भी । **चौरोद्धरणिकों** और **दण्डपाशिकों** का पद भी प्रसिद्ध है; ये पुलिस के अफसर होते । **राजस्थानीय** शायद वायसराय होते थे। नये नामों में एक नाम **प्रमातृ** है जिसका त्पर्य शायद उन अफसरों से है जिनका सम्बन्ध जमीन की पैमाइश करनेवाले विभाग था। **ध्रुवाधिकरणिक** प्रत्यक्षतः उन अफसरों को कहते थे, जो किसानों से कर-वसूली काम का निरीक्षण करते थे। और **अनुत्पन्नदान-समुद्ग्राहक** शायद उन अफसरों को हते थे, जिन्हें प्रजा से जबर्दस्ती भेंट वसूल करने का काम सौंपा जाता था।[2] इससे ाहिर होता है कि मैत्रकों की केन्द्रीय सरकार काफी सुगठित थी, जिसमें विदेश मन्त्री ख्य सचिव और चीफ अकाउन्टेन्ट के अलावा पुलिस और कर-विभागों के भी अफसर । मैत्रकों के अन्तर्गत प्रान्तीय प्रशासन भी नियमित आधार पर संगठित था, इसका नुमान निश्चित **पेठों (स्थलियों)** में दान की गयी जमीनों की अवस्थिति से होता । ये पेठ **विषयों** (या **आहरणियों** या **प्रावेश्यों**) के **अन्तर्गत** संगठित थे और **विषय,** क्तियों के अन्तर्गत। लेकिन इन जिलों और क्षेत्रों के अफसरों के नामों का उल्लेख हीं किया गया। मैत्रकों के शासन में यह राज्य खूब सम्पन्न और समृद्ध था, जिसकी ष्टि ह्वेन-त्सांग ने की है। उसने कहा कि यह राज्य "बहुत धनी और सम्पन्न ।"

(२) हर्ष, उसके समकालीन और उत्तराधिकारी

सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में थानेश्वर के राज-परिवार का राजा हर्षवर्धन अपने फल युद्धों और विजयों के कारण उत्तर भारत का सबसे शक्तिशाली शासक बन गया ा।[1] उसने (अपने बाप और दादा की तरह) सम्राट् की **परमभट्टारक महाराजा- धिराज** वाली उपाधि धारण की। हर्ष के साम्राज्य के विस्तार और उसकी सेना की

---

[1] देखिए पृ. ३३।

[2] **प्रमातृ** का अर्थ आध्यात्मिक सलाहकार भी लगाया गया है (बूलर, ई. इ. I, ११८) र "जज" भी (त्रिपाठी, **हिस्टरी आफ कन्नौज**, १४०), **ध्रुवाधिकरणिक** और **अनुत्पन्नदान मुद्ग्राहक** के बारे में देखिए, **हिन्दू रेवन्यू सिस्टम**, २२१-२२२।

[3] देखिए, परिच्छेद ९।

तादाद से परखा जाए तो प्रतीत होता है कि उसका प्रशासन अत्यन्त
लेकिन हमें इसके बहुत कम ब्यौरे प्राप्त हैं। हर्ष के गद्दी पर बैठने से
घटनाओं का वर्णन करते हुए ह्वेन-त्सांग ने बताया है कि किस प्रकार
की हत्या के तुरन्त बाद "कन्नौज के राजनेताओं ने" अपने "प्रमुख नेता वनी(
की सलाह पर हर्ष को राजगद्दी पर बैठने के लिए निमंत्रित किया और
राज-मन्त्रियों ने इस प्रार्थना को स्वीकार करने के लिए उस पर पूरा ज़ोर
इस वक्तव्य से संकेत मिलता है कि हर्ष के राज्यारोहण के समय एक छोटी
बड़ी राज-सभा काम कर रही थी। **हर्ष-चरित** में उसके दरबार के
पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है, उनमें एक **महासंधिविग्रहाधिकृत**, एक महा
और एक **महाप्रतिहार** था। इनसे नीचे के अफसरों में एक सेनापति (
बृहदश्ववार (घुड़सवार सेना का मुख्य अफसर), एक कटुक (शायद दण्ड
प्रबन्ध करने वाला अफसर)[1] और एक **ग्रामाक्षपटलिक** (अर्थात् ग्राम लेखा-
था। हर्ष के अपने भूमि-अनुदान पत्रों में उनके लेखकों के रूप में एक महा
धिकरणाधिकृत-सामन्तमहाराज और एक **महाक्षपटलिक-सामन्त** महाराज
इन अनुदानों को कार्यान्वित करने वाले (दूतक) एक **महाप्रमातार-महा**
उल्लेख मिलता है।[2] उपर्युक्त सूची में **महासंधिविग्रहाधिकृत** **महाबला**
महाप्रतिहार की पदवियों से हम प्राचीन काल से परिचित हैं। उनका क्रमशः
विदेश-मंत्री, प्रधान सेनापति और सम्भवतः राजप्रासाद के रक्षक-सैनिकों का
महाक्षपटलिक लेखा कार्यालय (अकाउन्ट्स दफ्तर) का प्रधान था। कौ
अर्थशास्त्र के समय से **अक्षपटल** का पद चला आ रहा था। **महाप्रमातार** से
कि वह प्रमात्रियों का प्रधान होता था। यह पद वलभी के मैत्रकों के यहां
था। इनमें से कुछ पदाधिकारियों के नाम के साथ **महासामन्त** (या सामन्त म
की उपाधि लगी होने से सूचित होता है कि हर्षवर्धन अपने साम्राज्य का प्रशा
चलाने में अपने सामन्तों की सेवाओं का भी उपयोग करता था। सेनापति
बृहदश्ववार के पदों से स्पष्ट है कि उसकी सेना अलग-अलग कमानों के
संगठित थी। प्रान्तीय प्रशासन के क्षेत्र में हमें उसके भूमि अनुदान-पत्रों में
वर्णनों से पता चलता है कि उसका साम्राज्य विभिन्न **भुक्तियों** (प्रान्तों) में बंटा
था, जो **विषयों** (जिलों) में बँटे हुए थे। **हर्षचरित** के एक पद में स्थानीय
व्यवस्था के अनेक पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जिनकी उपाधियां
भोगपति, आयुक्तक और **प्रतिपालकपुरुष**। इससे सूचित होता है कि उन
प्रशासन की व्यवस्था में काफी अफसर होते थे। **हर्षचरित**[3] में एक ग्रामा

---

[1] **कटक** का अर्थ समझने के लिए देखिये **स्टडीज इन इंडियन हिस्टरी** एंड
४५३।

[2] **ई. इ. I**, ६७ प. पृ०; **IV**, २०८ प. पृ.।

[3] **हर्षचरित**, कावेल और टामस का अनुवाद, पृ० २०६।

ा भी जिक्र है, जिससे जाहिर होता है कि गाँव के आय-व्यय का खाता रखने के लिए नियमित प्रबन्ध किया गया था । हर्ष के शासन की विशेषताओं और मूल प्रवृत्तियों की ान्तरिक जानकारी हमें ह्वेन-त्सांग और बाण के समकालीन विवरणों में मिलती है, यद्यपि ये विवरण एक सीमा तक पक्षपातपूर्ण हैं । हर्ष की दृढ़ न्यायप्रियता, उसका विराम अध्यवसाय और उसके शासन की वदान्यता का चीनी यात्री ने निम्न शब्दों शानदार वर्णन किया है :[1] "वह (हर्ष) एक न्यायी शासक था और अपने दायित्वों निर्वाह में हमेशा मुस्तैद रहता था । नेक कार्यों में पड़कर वह भूख-प्यास और नींद क भूल जाता था ।···राजा का दिन तीन हिस्सों में बँटा हुआ था । इनमें से एक िस्सा वह राज-कार्यों में लगाता था, और दो हिस्से धार्मिक कार्यों में । वह काम से ी थकता नहीं था और दिन तो उसके लिए बहुत छोटा पड़ता था ।" एक दूसरे न्दर्भ में चीनी यात्री ने हर्ष के बारे में कहा है कि वह अत्यन्त "नेक और देशभक्त" क्ति था और "सर्वसाधारण अपने गीतों में उसका गुणगान करते थे ।" अपने ाम्राज्य की सरकारी व्यवस्था को अच्छा बनाने के प्रति उसकी सतर्कता की मिसाल ते हुए ह्वेन-त्सांग ने बताया है कि वह निरीक्षण के लिए अपने राज्य का दौरा रता था, कभी एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं टिकता था, और बरसात के न महीनों में भी कभी विदेश यात्रा पर नहीं जाता था । इतनी सतर्क देखभाल के वजूद वह उतनी पूर्ण शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने में असमर्थ रहा, जितनी त सम्राट कायम करने में सफल हुए थे । अस्सी अन्य यात्रियों के साथ गंगा के मार्ग एक बड़ी नाव में सफर करते हुए ह्वेन-त्सांग को अयोध्या के पूरब में लुटेरों के दल ने कैद कर लिया था और संयोगवश उसी समय भयंकर तूफान आ जाने के रण ही वह उनके चंगुल से अपने को बचा सका था । इसी विवरण में ह्वेन-त्सांग बताया है कि अनेक **स्तूपों** और **मठों** के निर्माण के अलावा हर्ष ने अपने साम्राज्य हर भाग में यात्रियों के लिए विश्राम गृहों का निर्माण करवाया था । इन मठों में से प्रसिद्ध शायद हर्ष का बनवाया नालन्दा का वह मठ रहा होगा, जो ह्वेन-त्सांग अनुसार पीतल की चद्दरों से मढ़ा हुआ था और करीब सौ फुट ऊँचा था । हर्ष की ान्यता और उसके परोपकारी शासन का सबसे शानदार प्रमाण उसकी पंचवर्षीय ाएँ थीं, जिनका आयोजन वह प्रयाग में अपना खजाना लोगों में बाँटने के उद्देश्य करता था । इनमें से छठी और अन्तिम सभा का वर्णन ह्वेन-त्सांग ने एक दर्शक रूप में किया है ।

हर्ष के समकालीन राजाओं में कामरूप के योग्य और भाग्यशाली शासक भास्कर-मन् से अधिक शानदार व्यक्ति और कोई नहीं था ।[2] उसके अभिलेख[3] में जिन

---

[1] इस अनुभाग में दिए गए चीनी विद्वानों के उद्धरणों के लिए देखिए, **या. ट्रै. वा.**, I, ०, १६८-७७, १९९, ३४० प. पृ., ३६४; II. १६४-६५, २४६, बील, **लाइफ**, पृ. ८३, ८६-८९, -८७ ।

[2] देखिए, पृ० १३९ प. पृ० ।

[3] ई. इ., XII. ६५; XIX. ११८ प. पृ. ।

पदाधिकारियों का नाम लेकर उल्लेख किया गया है, उनमें एक आज्ञाशत (राजा की आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए जिम्मेदार अफसर), एक सी (दान की हुई ज़मीनों की सीमाएँ निर्धारित करने वाला अफसर), एक न्या (अदालती अफसर), एक **कायस्थ** (कातिब या मुंशी), एक **शासयिता** (अनु को कार्यान्वित करने का जिम्मेदार अफसर), एक **भाण्डागाराधिकृ** सुपरिन्टेन्डेन्ट) और एक **उत्खेटयिता** (कर-वसूली के लिए जिम्मेदार अफसर) है। दान की हुई जमीनों के इस वर्णन से कि वे चन्द्रपुरी **विषय** (जिले) में इसी विवरण में उस अफसर (नायक) के नाम से, जो उनके लिए जिम्मे सूचित होता है कि उसका राज्य भी जिलों में बँटा हुआ था। यह उल्लेख कि और **अधिकरण** ने राजा का अनुदान-पत्र प्राप्त किया था सूचित करता है कि तरह गुप्त सम्राटों के समय में उत्तर बंगाल में जिला अधिकारी के साथ म्यूनिसिपल) बोर्ड सम्बद्ध होते थे, उसी प्रकार भास्करवर्मन् के राज्य होता था।

हर्ष के समय में प्रशासन-व्यवस्था का भारत में क्या रूप था, इसका विवरण हमें विख्यात चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग की कलम से लिखा हुआ जिसने सन् ६३० और ६४४ ई० के बीच, सुदूर दक्षिण को छोड़कर, भारत सभी भागों की यात्रा की थी। भारत का सामान्य परिचय देते हुए ह्वेन लिखा है कि देश राजनीतिक रूप से लगभग सत्तर राज्यों में बँटा हुआ था। है कि उत्तर में हर्ष और दक्षिण में पुलकेशिन् द्वितीय के महान् साम्राज्यों के बावजूद देश राजनीतिक दृष्टि से एक नहीं था। ह्वेन-त्सांग के समय परम्परागत धारणा प्रचलित थी कि शताब्दियों से राजसत्ता क्षत्रियों के हाथ और इक्की-दुक्की जो मिसालें इसके विपरीत मिलती थीं, उनको संवैधानिक विरुद्ध माना जाता था। क्षत्रियों का उद्देश्य "परोपकार और दया" समझा जा न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में दण्ड-न्याय का गुप्त सम्राटों ने जो सुधार किया था, भी काफी हद तक लागू किया जाता था। स्वीकृत कानून भंग करने पर या विरुद्ध षड्यन्त्र करने पर आजीवन कारावास का दंड दिया जाता था, और अभियुक्त का "सर नहीं काटा जाता था, लेकिन उसे समाज से बहिष्कृत क जाता था।" स्पष्ट है कि राजद्रोह की सजा सातवीं सदी में गुप्त काल से ज्याद थी, जबकि फाह्यान के अनुसार "विद्रोह की दूसरी कोशिश के बाद भी सजा हाथ काट देने से ज्यादा नहीं थी। ह्वेन-त्सांग का कहना है कि सामाजिक और पुत्रोचित कर्तव्यों का उल्लंघन करने पर या तो अंग-भंग की, या निर्वा सजा दी जाती थी। बाकी अन्य अपराधों के लिए केवल जुर्माना भरना पड़ अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में ह्वेन-त्सांग यह देखकर प्रभावित हुआ था कि राज साधारण कर ही वसूल करता था और प्रजा की आजादी पर कठोर नियंत्रण जिससे हर आदमी की सम्पत्ति को पूरा संरक्षण प्राप्त था। वह लिखता है: सरकार उदार हैं, इसलिए सरकारी जरूरतें बहुत थोड़ी हैं। परिवारों को

नहीं किया जाता और न व्यक्तियों से बेगार ली जाती है।" वह फिर आगे कहता : "कराधान चूंकि हल्का है और बेगार बहुत कम ली जाती है, इसलिए हर व्यक्ति पने खान्दानी पेशे में लगा रहता है और अपनी पैतृक जायदाद की देखभाल करता ।" देश के विभिन्न भागों में पाई जाने वाली तत्कालीन स्थिति के ह्वेन-त्सांग द्वारा ये गये विस्तृत विवरण को हम एक प्रकार से भारतीय प्रशासन का सामान्य लेखा- खा मान सकते हैं। उसके विवरण से ज्ञात होता है कि एक ओर यदि गम्भीर और रस्वती से लेकर कपिलवस्तु तक के क्षेत्र उजाड़ और वीरान पड़े थे, तो दूसरी ओर न्यकुब्ज, वाराणसी, चन-चु (सम्भवतः गाजीपुर जिला) पुण्ड्रवर्धन और कर्णसुवर्ण अधिकांशतः हर्ष के साम्राज्य में थे) अत्यन्त सम्पन्न और खुशहाल थे।

सातवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में परवर्ती गुप्तों के शासन में मगध के राज्य ने वार फिर साम्राज्य की महत्ता प्राप्त कर ली।[1] आदित्यसेन से लेकर जीवितगुप्त तीय तक हम देखते हैं कि इन राजाओं की चार पीढ़ियों ने पुनः सम्राट् की तमाम धियाँ धारण कर ली थीं। राजाओं की इन उपाधियों के समकक्ष ही **परमभट्टारिका** देवी जैसी उपाधि उनकी रानियाँ भी धारण करती थीं। उनके विवरणों में इन जाओं के अपने कार्यों या दायित्वों का कोई सीधा हवाला नहीं मिलता, लेकिन में सन्देह नहीं कि वे परम्परागत रूप से अपने सिविल और मिलिटरी प्रशासन के यक्ष का कार्य सम्पन्न करते थे।[2] जीवितगुप्त द्वितीय के अभिलेखों में पदाधिकारियों जिस सूची का उल्लेख किया गया है, उनमें **दूतों** (राजदूतों), **सीमाकर्मकारों** ीमाएं निर्धारित करने वालों) तथा अन्य ज्ञात पदाधिकारियों के नाम हैं। **भुक्तियों** र विषयों के हवालों से सूचित होता है कि प्रान्तों और जिलों के नाम उन्होंने गुप्तों प्रशासनिक परम्परा के अनुकूल जारी रखे थे।

III. प्रशासनिक संगठन—दक्षिण भारत

१. दक्षिणापथ के राजवंश

विदर्भ के क्षेत्र (बरार और उससे लगने वाले इलाके) में वाकाटकों के विख्यात रिवार का तीसरी सदी के उत्तरार्ध में ही उत्थान हो गया था और उनकी सत्ता सदी के मध्य तक अक्षुण्ण रही थी।[3] इन राजाओं की शासन-व्यवस्था की कुछ लेखनीय विशेषताएँ थीं। प्रवरसेन प्रथम ने **धर्माधिराज** की उपाधि अपनायी थी, उचित ही थी; उसने अनेक वैदिक यज्ञ किये थे, जिनमें एक अश्वमेध यज्ञ भी था। के पुत्र और पोते ने भी उसकी मिसाल का अनुकरण किया। प्रवरसेन प्रथम ने

---

[1] देखिए पृ० १४४ प. पृ.।

[2] पायर्स का यह वक्तव्य (द **मौखरिज**, १६९) कि कानून बनाने का अधिकार राजा में हित होता था, बिलकुल गलत है और प्राचीन भारतीय राजतंत्र की ज्ञात परम्पराओं से विपरीत है।

[3] ऊपर देखिए, पृ० २०५ प. पृ.।

सम्राट की उपाधि भी धारण की थी, जबकि उसके उत्तराधिकारियों ने महा विनम्र उपाधि से ही सन्तोष किया। उनके यहाँ एक राजमाता (प्रभाव की भी मिसाल मिलती है, जिसने अपने किशोर पुत्र के लिए राजप (री काम किया था। वाकाटकों की केन्द्रीय सरकार के अफसरों में सेनापति (और **राज्याधिकृत** (मुख्य मन्त्री ?) के नाम मिलते हैं। इनमें सेनापति को अनुदान पत्रों का लेखक दिखाया गया है। सरकारी पूर्व-परम्परा के प्रति की एकान्त निष्ठा का प्रमाण इस बात से मिलता है कि उनके हर अनुदान सामान्य रूप से यह लिखा पाया गया है कि आदाताओं को वे सब छूटें और दी जाएँगी, जो पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा अनुमोदित हैं। वाकाटकों में अपने उत्तराधिकार के अधिकार पर कितना गर्व था, यह उनकी मुहरों पर अंकित से सूचित होता है,—"उत्तराधिकार के मार्ग से राजपद प्राप्त किया।" अभिलेख[1] में कहा गया है कि दान की हुई भूमि का क्षेत्र "सरकारी माप" के है, इससे जाहिर होता है कि भूमि-कर निश्चित करने के लिए जमीन की कोई सरकारी मान निश्चित किया गया था। अपने धर्मदाय पर वाकाटक नियन्त्रण रखते थे, यह बात इसी विवरण में दी गयी एक धारा से स्पष्ट है। इस धारा के अनुसार एक हजार ब्राह्मणों को एक गांव और उससे भूमि दान करते हुए राजा ने आदाताओं द्वारा कुछ गम्भीर किस्म के अपराध पर इस अनुदान को खारिज कर देने का अधिकार अपने पास रखा था।

वातापी के चालुक्य सम्राटों की प्रशासन-व्यवस्था में सामान्यतः उन सारी विशेषताएँ मिलती हैं, लेकिन उसमें कुछ नये उल्लेखनीय तत्त्व भी थे। के परवर्ती राजाओं ने अधिराज की उपाधियां, जैसे **परमेश्वर** (या अधिराज **महाराज** आदि धारण कर ली थीं और किसी-किसी ने तो और भी **महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक** जैसी उपाधियाँ भी धारण की थीं। की केन्द्रीय सरकार के पदाधिकारियों में **महासान्धिविग्रहक** का उल्लेख मि यह गुप्त सम्राटों के **सांधिविग्रहक** का अधिक अलंकृत रूप है। चालुक्यों के दान-पत्रों में दिये गये नामों **विषयपति** (डिस्ट्रिक्ट अफसर) ग्रामकूट (मुखिया) और **महत्तराधिकारी** (जो शायद महत्तरों—गांवों के प्रमुख परिवा समिति का कार्यवाही प्रतिनिधि होता था) का उल्लेख मिलता है। एक बड़े टूटे-फूटे अभिलेख में, जिसकी तारीख सन् ७२५ ई० है, युवराज विक्रमादि महाजनों और **नगरों** तथा अठारह **प्रकृतियों** के पक्ष में विधानों के अनुदान का है।[2] सम्भव है, अन्य नगरों को भी राजसत्ता या उसके प्रतिनिधि से स्वा अनुदान-पत्र प्राप्त हों। इस अभिलेख में सिर्फ सरकारी अफसरों के कर्तव्यों

---

१. का. इ. इ. III, २३६ प. पृ.।

२. ई. इ., XIV, १९० प. पृ. बार्नेट ने **महाजनों, नगरों** और प्रकृ अनुवाद क्रमशः ब्राह्मण परिवारों, नागरिकों और प्रजा के निम्न वर्गों के रूप में किया है।

स्तृत वर्णन नहीं किया गया है, बल्कि उन करों और शुल्कों की (मुद्रा और वस्तुओं रूप में) निश्चित मात्रा भी बतायी गयी है, जो हर परिवार राज्य को और अपने हाँ के तेलियों के संघ को देने के लिए बाध्य था। स्थानीय कर कितनी सावधानी निश्चित किये जाते थे, इसका प्रमाण यह है कि उपर्युक्त कर और शुल्क परिवार ऊंची, मध्यवित्त या निम्नतम कोटि के क्रमिक अनुपात से लगाये जाते थे।

२. तेलुगु, तमिल और कन्नड क्षेत्रों के राजवंश

सातवाहनों के पतन के बाद दक्षिण भारत में जो राजवंश पैदा हुए, उनकी ासन-व्यवस्था उसी प्रकार की थी, जैसी उत्तर भारत में समकालीन राज्यों की, किन उसमें कुछ विशिष्ट तत्त्व भी थे। जबकि बृहत्फलायन, शालंकायन और ष्णुकुण्डी राजवंशों[1] के शासक **राजा** और **महाराजा** की उपाधियों से ही संतुष्ट रहे, रम्भिक पल्लवों के कुछ राजाओं[2] ने अपने आपको **धर्ममहाराजाधिराज** (या र्ममहाराज) कहना शुरू किया जो उनकी ब्राह्मणवादी कट्टरता का सूचक है। उत्तर रत की तरह ही वहाँ भी राजा से नीचे युवराज होता था। प्रारंभिक पल्लवों के तर्गत युवराज (जिसे **युवमहाराज** कहा जाता था) और उसकी पत्नी तक का इतना चा पद था कि वे अपने अधिकार से भूमि-अनुदान-पत्र जारी कर सकते थे और जपदाधिकारियों को इस आशय के आदेश भेज सकते थे।[3] यह सम्भव है कि नुदान-पत्र जारी करते समय युवराज राजा की ओर से राजप (रीजेन्ट) का काम र रहा हो। शालंकायन नन्दिवर्मन् के एक अभिलेख में राज्य के उच्च पदाधिकारियों एक **महादण्डनायक** (कमाण्डर इन चीफ) का उल्लेख किया गया है। राजा द्वारा मि-अनुदान की सूचना जिन अफसरों को दी जाती थी, शालंकायनों के अभिलेखों के नुसार उनमें **देशाधिपति, विषयपति** और **आयुक्तक** होते थे। इनके अलावा **राजपुरुष** होते थे, जिनके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे कौन थे। वव-वर्मन् प्रथम के एक विवरण में **विषयमहत्तरों** और **अधिकारपुरुषों** का भी लेख मिलता है। इसी सन्दर्भ में, प्रारंभिक पल्लवों के अभिलेखों में **अधिकृतों,** युक्तों, **अध्यक्षों, शासनसंचारियों** (संदेशवाहकों) और **नैयोगिकों** का भी उल्लेख लता है। सबसे बड़ी सूची पल्लव राजा शिवस्कन्द-वर्मन् के अभिलेख[4] में मिलती । इसी सूची में राजकुमारों के अलावा, सेनापति (जेनरल), **राष्ट्रिकों** (जिलों के नंर?), **देशाधिकृतों, ग्रामभोजकों** (गांव के जमींदार ?), **अमात्यों, आरक्षाधिकृतों** संरक्षक-सैनिक), **गौल्मिकों** (फौजी चौकियों के प्रधान), **तैर्थिकों** (बाँधों के

---

[1] देखिए, परिच्छेद ९।

[2] देखिए, परिच्छेद १३।

[3] ई. इ. VI, ८६ प. पृ.; VII. १४५ प. पृ.।

[4] ई. इ., I. ५, प. पृ.।

ओवरसियर) **नैयोगिकों**, **भटमनुष्यों** (सैनिक) और **संचरन्तकों** (जासूस)
मिलते हैं। इस सूची में दिये गये नामों में **आयुक्त**, **अध्यक्ष**, **नैयोगिक** औ
आदि तो, जाहिर है, केन्द्रीय तथा स्थानीय दोनों प्रशासनों के पदाधिकारी
इसके विपरीत **देशाधिपति** (या **देशाधिकृत**) और **विषयपति** (या राष्ट्र
है कि क्रमशः प्रान्त (देश) और जिले के शासक अफसर होते थे।
बृहत्फलायनों के विवरणों में जिले को **आहार**, शालंकायनों के विवरणों में
प्रारम्भिक पल्लवों के विवरणों में **राष्ट्र** कहा गया है। इसके अलावा,
विवरणों की तरह, कभी कभी, प्रान्तीय मुख्यालय के अधिकारी अफसर
व्यापृत दिया गया है।[2] दक्षिण-भारत के विवरणों में अब पहली बार
का उल्लेख हुआ है, जो प्रत्यक्षतः जिले के गण्य मान्य लोगों को सूचित करता है
उनका ठीक ठीक विधान और कार्य अज्ञात है। शालंकायनों के अभिलेखों में
प्रभेदों के साथ) का हवाला दिया गया है, जिससे संकेत मिलता है कि
प्रशासन परम्परागत मुखिया के द्वारा ही चलता आ रहा था। कदम्बों[3] की
व्यवस्था भी अपने समय में प्रचलित प्रशासन-व्यवस्था के समान ही थी।
अनुकरण करके उनके राजा भी अक्सर (**धर्ममहाराज**) (या अधिक महत्त्वा
तो **धर्ममहाराजाधिराज**) की उपाधि लगा लेते थे। कदम्बों के केन्द्रीय पदाधि
सेनापति (जेनरल) और **रहस्याधिकृत** का उल्लेख मिलता है। **युक्तों** का
किया गया है, जो केन्द्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों के सदस्य होते थे।[1]
विषय कहा जाता था। कुछ विवरणों में दान की गयी भूमि के वर्णन से अनु
है कि जमीन की पैमायश के लिए वित्तीय सुधार के रूप में **राजमान** का
किया गया था।

---

[1] उदाहरण के लिए यह बताया जा सकता है कि पल्लवों के एक विवरण (ई. इ. VI
प. पृ) में **आयुक्तों** का ग्रामवासी के रूप में हवाला दिया गया है।

[2] ई. इ., VI. ८६ प. पृ.।

[3] देखिए, परिच्छेद १३.

[4] कदम्ब **धर्ममहाराजाओं** और **धर्ममहाराजाधिराजों** के बारे में देखिए, ई.
३७-३८; XVI, २९४ आदि। कदम्बों के **सेनापति** और **रहस्याधिकृत** के बारे में
VI. २४; VII, ३७-३८; ई. इ., VI. १४।

परिच्छेद : १७

विधि और विधि-संस्थाएं[1]

प्राचीन भारतीय विधिशास्त्र के इतिहास में ईसवी की चौथी सदी के आरम्भ से लेकर आठवीं सदी के मध्य तक का काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक ओर तो इस काल में अन्तिम छन्दोबद्ध स्मृतियों के साथ ही न्याय-शास्त्र के अधिकारी प्रवर्तकों की उस दीर्घ परम्परा की समाप्ति हो गयी, जो गौतम और वसिष्ठ की सूक्तियों से शुरू होकर लगभग एक हजार साल तक विकास करती आयी थी, दूसरी ओर इस काल में ही नारद-स्मृति पर असहाय ने अपनी टीका लिखी जिसने **स्मृतियों** के टीकाकारों की उस परम्परा का आरम्भ किया जो अगली शताब्दियों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इस परिवर्तन को हम इस रूप में व्यक्त कर सकते हैं कि इस काल में हिन्दू न्याय का रचनात्मक दौर समाप्त हो गया था और वह अपने आलोचनात्मक दौर में प्रवेश कर रहा था।

इस काल के तीन महान् ग्रन्थ, जो "हिन्दू न्याय और कार्यविधि के क्षेत्र में त्रिक-न्याय" के नाम से प्रसिद्ध हैं, बृहस्पति, नारद और कात्यायन की **स्मृतियाँ** हैं। इनमें केवल **नारद-स्मृति** ही सम्पूर्ण रूप में सुरक्षित है। अन्य दोनों स्मृतियाँ विद्वानों द्वारा परवर्ती ग्रन्थों में दिये गये उद्धरणों को एकत्र करके संकलित की गयी हैं। परवर्ती ग्रन्थों से उद्धरण जमा करके संकलित की गयी स्मृतियों की कोटि में ही व्यास, पाराशर तथा अन्य लेखकों की **स्मृतियाँ** भी आती हैं। व्यापक रूप से इन ग्रन्थों के आधार पर हम विधि और विधि-संस्थाओं के विकास की रूपरेखा तीन शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत कर सकते हैं :

(१) न्यायाधिकरण
(२) न्यायिक कार्य-विधि
(३) कुछ चुनी हुई शाखाओं में अर्थ (दीवानी) और दंड (फौजदारी) विधि।

(१) न्यायालय (अदालतें)

राजा की कचहरी को, जो देश की सर्वोच्च अदालत होती थी, **सभा, धर्मस्थान**

---

[1] स्मृति-साहित्य में प्राप्त विधि और विधि-संस्थाओं के पूरे हवालों के साथ विस्तृत वर्णन के लिए देखिए का. हि. ध. शा. खंड. III में **व्यवहार** अनुभाग के अन्तर्गत (वही, परिच्छेद XI-XXXI), इस परिच्छेद में इस पुस्तक से ही उद्धरण दिये गये हैं।

और **धर्माधिकरण** आदि नामों से पुकारा जाता था। कात्यायन ने इस क
विधान का पूरा विवरण दिया है। एक स्थान पर उसने राजा से अपेक्षा की है कि
विद्वान् ब्राह्मणों, प्रमुख नागरिकों और राजतन्त्र के ज्ञाता मन्त्रियों के सहयोग से मु
का फैसला किया करे। एक दूसरे स्थान पर उसने कहा है कि राजा को न्या
मन्त्रियों, ब्राह्मणों, पुरोहित और कर-निर्धारकों के संग बैठकर मुकदमों का
करना चाहिए। बृहस्पति ने **सभा** के "दस-अंगों" का वर्णन किया है। इस
राजा, मुख्य न्यायाधीश, कर-निर्धारक, लेखाअधिकारी (अकाउन्टेन्ट), मुन्शी
कारिन्दा शामिल किये गये हैं। स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि
न्यायाधीश विधि की घोषणा करता है, राजा दंड का फैसला सुनाता है, कर-नि
झगड़े की जाँच-पड़ताल करते हैं, लेखा-अधिकारी (अकाउन्टेन्ट), रकम गिनता है
झगड़े के कारण का लेखा तैयार करता है, मुन्शी दोनों की ओर की दलीलों,
और फैसलों को दर्ज करता है और कारिन्दा, वादी-प्रतिवादी (मुद्दई-मुद्दा
साक्षियों (गवाहों) और कर-निर्धारकों को कचहरी में हाजिर होने के लिए आह्वान
(सम्मन) जारी करता है।" व्यास ने राजा की कचहरी के उपकरणों का वर्णन
हुए बताया है कि उसमें निम्न व्यक्ति होते हैं: ब्राह्मण, राजा, न्यायाधीश,
अधिकारी (अकाउन्टेन्ट) मुन्शी, कारिन्दा, बैठने के स्थानों का प्रबन्धक और
निर्धारक। इन विवरणों से स्पष्ट है कि राजा, न्यायाधीश (जज), कर-नि
और ब्राह्मणों को लेकर राजा की कचहरी बनती थी, बाकी और लोगों की
केवल सहायकों की होती थी, इससे अधिक कुछ नहीं। विद्वान् ब्राह्मणों की
यह थी कि उन्हें राजा ने नियुक्त किया हो या न किया हो, लेकिन उन्हें मुक
बारे में अपनी राय देने का अधिकार था। कात्यायन ने एक नया सुझाव पेश
कि राजा की कचहरी में कर-निर्धारकों और विद्वान् ब्राह्मणों के साथ-साथ
व्यापारियों को भी शामिल करना चाहिए, क्योंकि व्यापारियों को भी (नि
व्यापार सम्बन्धी मुकदमों में) झगड़े का कारण सुनने और न्याय की व्यवस्था
का अधिकार है। नारद का कहना है कि राजा को न्यायाधीश (जज) के फैसले
स्वीकार करना चाहिए, जबकि कात्यायन ने बड़ी गम्भीरता से सभ्यों (सभाइयों)
बताया है कि सही फैसला करने और राजा को गलत फैसला करने से रोकने
दायित्व उनका है। पूर्ववर्ती **स्मृतियों** की भावना के अनुसार परवर्ती स्मृतियों ने
न्याय-व्यवस्था में कानून के साथ साथ नैतिक और आध्यात्मिक प्रतिबन्ध भी
किये हैं। उनके अनुसार, अन्यायपूर्ण फैसले के पाप में वादी-प्रतिवादी (मु
मुद्दालेह), साक्षी (गवाह), कर-निर्धारक और राजा, सब समान रूप से भागी
हैं। इसके विपरीत कात्यायन ने आश्वासन दिया है कि कर-निर्धारक पाप से
रहते हैं, क्योंकि वे कानून के मुताबिक न्याय का प्रबन्ध करते हैं। इन लेखकों ने
और कर-निर्धारकों पर जो कानूनी प्रतिबन्ध लागू किये हैं, उनके बारे में
विचार करना अधिक सुविधाजनक होगा।

बृहस्पति ने राज्य के न्यायालयों (अदालतों) को चार वर्गों में बांटा है : अर्थात् एक तो वे जो स्थायी रूप से एक ही स्थान पर स्थापित रहते हैं, दूसरे वे जो भ्रमणशील होते हैं; एक, जिनके पदाधिकारी राजा द्वारा नियुक्त होते हैं और राजा की मुहर का प्रयोग करते हैं और दूसरा वह जिसका संचालन स्वयं राजा करता है। नीचे से ऊपर तक के न्यायालयों (अदालतों) की क्रमिक सूची नारद के अनुसार यह थी ; कुल (ग्राम परिषद्), **श्रेणी** (निगम या शिल्पि-संघ), **गण**, एक व्यक्ति जिसे राजा नियुक्त करता था, और स्वयं राजा। ऊपर की सूची से यह ज्ञात होता है कि इनमें से पहले तीन व्यवहारतः पंच-फैसला या मध्यस्थ निर्णय वाले न्यायालय (अदालतें) थे, और केवल आखिरी दो ही राज्य न्यायालय थे।[1]

२. न्याय प्रणाली

न्याय प्रणाली की दृष्टि से इस काल में हिन्दू विधिशास्त्र अपने सर्वोच्च शिखर तक पहुँच गया था। सबसे पहले, नारद के अनुसार कानूनी कार्रवाई चार चरणों में सम्पन्न होती है। ये चरण हैं : "किसी व्यक्ति से अपराध की सूचना प्राप्त होना, फिर यह देखना कि यह सूचना कानून की किस धारा में आती है, वादी-प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दालेह) दोनों के तर्कों (दलीलों) और प्रमाणों पर विचार और अन्त में निर्णय।" इसके विपरीत, बृहस्पति के अनुसार कानूनी कार्रवाई के चार चरण इस प्रकार हैं : अर्जीदावा, बयान, सबूत पेश करना और फैसला। व्यास ने मुकदमे के क्रमशः ये चरण बताये हैं : अर्जीदावा, बयान, फैसले से पहले गिरफ्तारी, सबूत और फिर फैसला।[2]

अर्जीदावे से शुरू करके कात्यायन ने माँग की है कि "जज के सामने पेश होने वाले मुद्दई से झगड़े के स्वरूप और उसे जो क्षति पहुँची है उसके बारे में सवाल पूछने चाहिए। उसके बयान पर गौर करने और कर-निर्धारक तथा ब्राह्मणों की राय सुनने के बाद जज अगर सोचे कि कानून के सामने उसका दावा ठहर सकता है तो उसको चाहिए कि वह मुद्दई को एक मुहरबंद आदेश दे, या मुद्दालेह को अदालत में हाजिर

---

[1] कात्यायन, श्लोक ५५-५९, व्यास श्लोक, ४-५, (राजा के न्यायालय का विधान) बृहस्पति पृ० ९, श्लो० ५७-५८ (४ प्रकार की **सभाएँ**)। बृहस्पति पृ० ७४, श्लो० ८७, पृ० ७५, श्लो. ९० सभा के अंगों के कार्य)। कात्यायन ७१-८१ (**सभ्यों या सभासदों** के कर्त्तव्य)। मूल में दिये गये पारिभाषिक शब्द इस प्रकार हैं : **प्राड्विवाक** (जज) **सभ्य** (कर-निर्धारक) **गणक** (अकाउन्टेन्ट), **लेखक** (मुंशी) और **स्वपुरुष या साध्यपाल** (कारिन्दा)।

[2] नारद, भूमिका, I ३६ (कानूनी कार्रवाई के चार चरण)। बृहस्पति, पृ० २८, श्लो० १-३ (चार-चरण)। व्यास (५ चरण)। मूल पारिभाषिक शब्द इस प्रकार हैं : **आगम, व्यवहारपद, चिकित्सा** और **निर्णय** (नारद); **भाषापाद, उत्तरपाद, क्रियापाद** और **प्रत्याकलित** या **निर्णय** (बृहस्पति अपरार्क और गा. ओ. सी. संस्करण में पृ० २९); **पूर्वपक्ष, उत्तर प्रत्याकलित** और **क्रिया-वाद** (कात्यायन) काणे ने **प्रत्याकलित** का अनुवाद "सभ्यों के बीच सबूत पर बहस या विचार" (पू. पु०, पृ० २९८) किया है।

करने के लिए कारिन्दे को आदेश दे। दावे का मसौदा पहले जमीन पर या लिखना चाहिए और फिर आवश्यक संशोधनों के बाद उसे अन्तिम रूप में कागज पर लिखना चाहिए।" कात्यायन का यह भी कहना है कि दावा सुस्पष्ट होना चाहिए। कोई दावा अगर सार्वजनिक नीति के विरुद्ध है या अगर कई धाराओं का मिश्रण हो और इसलिए उसको एक निश्चित धारा के सम्भव न हो, तो उसे खारिज कर देना चाहिए। अगर मुद्दालेह (जानबूझकर सम्मन की उपेक्षा करे तो वह जुर्म की संगीनी के मुताबिक सजावार होता है। लेकिन जैसा नारद ने कहा है, कुछ वर्गों के लोगों को मृत व्यक्ति, कुलीन घर की स्त्री या गरीब स्त्री आदि शामिल हैं), तथा उन को जो विशेष परिस्थितियों में हैं (जैसे चराई के मौसम में ग्वाले, बुवाई के किसान और काम में लगे हुए शिल्पकार आदि) व्यक्तिगत तौर पर अदालत में होना जरूरी नहीं है। कात्यायन का कहना है कि किसी भी पक्ष के मान्य रिश्तेदार अदालत के सामने उसका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। नारद, बृहस्पति कात्यायन का कहना है कि मुद्दई एक कानूनी प्रक्रिया के द्वारा, जिसे आसेध मुद्दालेह को राजा के कारिन्दे के आगमन तक हिरासत में रख सकता है। के अनुसार मुकदमें के आरम्भ में दो पक्षों से सन्तोषजनक फैसले के लिए वसूल करनी चाहिएँ। कात्यायन का यह भी कहना है कि अगर मुकदमा चलाने मुद्दई का निकट रिश्तेदार न हो या उसके द्वारा नियुक्त न किया गया हो सजा देनी चाहिए।[1]

नारद और पितामह के अनुसार मुद्दई को तो अपना अर्जीदावा पेश करने समय नहीं दिया जाता, लेकिन मुद्दालेह (प्रतिवादी) को झगड़े में लगे मुकदमें के दोनों पक्षों की आर्थिक क्षमता और झगड़े के कारण की अनुपात में उत्तर तैयार करने के लिए समय दिया जा सकता है। लेकिन मामलों में तुरन्त उत्तर की माँग की जानी चाहिए। नारद, बृहस्पति और के अनुसार उत्तर चार प्रकार का हो सकता है: अर्थात् स्वीकार, अस्वीकार, रियायत की प्रार्थना या पुराने निर्णय को बहाल करने की प्रार्थना। कहना है कि दुरूह, आत्म-विरोधी और अपूर्ण जैसे दोषपूर्ण उत्तरों से मुकदमा जा सकता है। एक कठोर नियम यह था कि मुकदमा शुरू हो जाने पर मुद्दई अगर व्यक्तिगत रूप से अपने झगड़े का निबटारा कर लें तो उन्हें दुगुना अदा करना पड़ता था।

नारद और हारीत के अनुसार इन्कार के उत्तर में सबूत पेश करने का मुद्दई का होता है और विशेष रियायत या पुराने फैसले को बहाल करने की करने वाले उत्तर में यह जिम्मा मुद्दालेह का होता है। सारे विद्वान् इस पर

---

[1] बृहस्पति, पृ० २९, श्लो० ९. कात्यायन ८१-९१ [प्रतिभू (एजेन्ट) या प्रतिनिधित्व], बृहस्पति पृ० २२, १३६ प. पृ०, कात्यायन १०४ प. पृ०, (आसेध)।

है कि सबूत दो प्रकार का होता है, अर्थात् मानवीय और दिव्य। मानवीय सबूत में वाह, दस्तावेज और सम्पत्ति आदि आते हैं और दिव्य में विभिन्न प्रकार की सत्य-परीक्षाएँ शामिल हैं। लेकिन नारद और कात्यायन दोनों ने यह चेतावनी दी है कि सत्य-परीक्षाओं का प्रयोग तभी करना चाहिए, जब मानवीय सबूत के साधन उपलब्ध न हों। कात्यायन की एक उल्लेखनीय उक्ति है कि मुद्दई अगर कमजोर आधार पर दावा दायर करने के कारण मुकदमा हार जाए तो फिर वह दुबारा जबूत आधार पर उसी प्रश्न को नहीं उठा सकता है।[1]

मुकदमे का फैसला लिखित दस्तावेज के रूप में दिया जाता था, जिसे **जयपत्र** सफलता का दस्तावेज) कहते थे। बृहस्पति ने राज्य के दस्तावेजों (**राजकीय लेख्य**) ी एक लम्बी सूची में **जयपत्र** को भी शामिल किया है। लेकिन कात्यायन ने **जयपत्र** ा अर्थ उन लोगों के मामलों के फैसलों तक ही सीमित रखा है, जिनके दावे किन्हीं ारणों से मुकदमें के बगैर ही खारिज कर दिये जाते थे। इसके बजाय उसने उन सलों के लिए, जो न्यायिक कार्य-विधि के चारों चरण पूरे करने के बाद दिये जाते , एक विशिष्ट शब्द **पश्चात्कार** (खंडन) का प्रयोग किया है। इस **पश्चात्कार** किस्म फैसले में दोनों पक्षों के वक्तव्य, गवाहों के बयान, अदालत के विचार और फैसला खा जाता था। यह फैसला राजा को स्वयं अपने हाथ से लिखना पड़ता था और स पर अदालत के अन्य सदस्यों के दस्तखत लिए जाते थे।[2]

३. दीवानी और फौजदारी कानून

स्थानाभाव के कारण दीवानी और फौजदारी कानूनों की चर्चा हम मुख्य मुख्य षकों तक ही सीमित रखेंगे। पुराने स्मृति-कानूनों की तरह ही इस काल में भी गमों और मान्य रीति-रिवाजों को कानून की दृष्टि से प्रमाण माना जाता था। त्यायन ने सुझाव दिया कि जन-साधारण के समर्थन से जो रीति-रिवाज और प्रथाएँ चलित हैं तथा जो वेदों के प्रतिकूल नहीं हैं, उन्हें लिखित रूप देकर राजा की मुहर गा देनी चाहिए। पुरानी स्मृतियों में कानून १८ शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया ा। नारद ने इन विभागों को बढ़ाकर १३२ कर दिया। लेकिन बृहस्पति और कात्यायन नों इस बात पर सहमत हैं कि कानूनी कार्रवाई के दो स्रोत हैं; किसी को क्षति हुंचाना या जो देना है, वह अदा न करना। यह व्यापक रूप से दीवानी और जदारी कानूनों के विभाजन का आधार प्रस्तुत करता है।[3]

---

[1] नारद, भूमिका II ४३, बृहस्पति, पृ० ४५, श्लो० १ प. पृ० कात्यायन २११ प. पृ० (सबूत करने के बारे में)।

[2] नारद, भूमिका II ४३; बृहस्पति, पृ० ६४, श्लोक २६, प. पृ०; कात्यायन २५९-६५ र्णय)। **राजकीय लेख्यों** के बारे में देखिए काणे, पू० पु०, पृ० ३१०।

[3] कात्यायन ४८ (रीति-रिवाजों को लिखित रूप देकर राजा की मुहर लगाना)। नारद २०-२५ (कानून के १३२ विभाग)। बृहस्पति, पृ. २ श्लो. ९ प. पृ.; कात्यायन २९ (**व्यवहार के** पक्ष)।

अब हम स्मृति-कानून के अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार कर ये विषय उत्तराधिकार, **स्त्री-धन**, गाली-गलौज और मारपीट, चोरी और शीर्षकों के अन्तर्गत आते हैं। जहाँ तक उत्तराधिकार के कानून का सम्बन्ध काल में जो सबसे उल्लेखनीय विकास हुआ, वह था विधवा को अपने पु की सम्पत्ति का अधिकार देने की दिशा में। स्मरण रहे कि आपस्तम्ब, बौधा मनु जैसे पूर्वकालीन स्मृतिकारों ने पुत्रहीन व्यक्ति के मरने पर उसके उत्तराधि की सूची में उसकी विधवा का नाम छोड़ दिया था। नारद ने भी इसी दोहराया है। लेकिन शंख ने उत्तराधिकार का अधिकार पहले भाइयों को, बाद पिता या विधवा को देने का विकल्प स्वीकार किया है। इस बात को स्वीकृति, कि पुत्रहीन व्यक्ति की विधवा उसकी सबसे प्रमुख उत्तराधि याज्ञवल्क्य और विष्णु के कारण ही सम्भव हुई। उनको प्रमाण मानकर बृहस्पति कात्यायन ने पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के तुरन्त बाद उसकी विधवा को सारी की अधिकारिणी स्वीकार किया है। उसके बाद यह उत्तराधिकार क्रमशः (अविवाहित बेटियों को तरजीह दी जाती है), पिता, माता, भाई और भाई को मिलता है।[1]

स्मृतियों में स्त्री-धन का प्रयोग उसके व्युत्पत्तीय अर्थ में स्त्री की समस्त के लिए नहीं किया गया, बल्कि "स्त्री को कुछ खास अवसरों पर जीवन के चरणों में दी गई कुछ खास किस्म की सम्पत्ति" के पारिभाषिक अर्थ में कि है। **स्त्री-धन** के सम्बन्ध में स्मृति-कानून के पूर्ण विकास का श्रेय कात्यायन वह सर्वप्रथम पुराने लेखकों द्वारा निर्धारित **स्त्री-धन** के छह वर्गों की व्याख्या है; अर्थात् जो स्त्री को **अध्यग्नि** (विवाह-वेदी) के सामने दिया जाता था, को **अध्यावाहनिक** (विदाई या डोली) के समय दिया जाता था, जो प्रीति और जो स्त्री को भाई, मां या बाप से मिलता था। उपर्युक्त छह प्रकार के स्त्री में कात्यायन ने कुछ और प्रकार के स्त्री-धन जोड़ दिये; जैसे वधू मूल्य या शादी के बाद अपने पति या अपने मां-बाप से प्राप्त होने वाला धन (अन्वा विवाहित स्त्री को अपने पति के घर में प्राप्त होने वाला या अविवाहित अ अपने पिता के घर में प्राप्त धन (**सौदायिक**)। परिणामतः "वह सारी (चल या अचल) जो स्त्री को विवाह से पहले, विवाह के समय या विवाह के अपने मां-बाप, परिवार या मां-बाप के रिश्तेदारों और पति और उसके परि (पति द्वारा दी गयी अचल सम्पत्ति को छोड़कर) मिलती है, **स्त्री-धन** के आती है।" लेकिन कात्यायन ने स्त्री द्वारा अपने रिश्तेदारों से प्राप्त होने वा अधिक से अधिक दो हजार **पणों** (चाँदी के सिक्कों) तक सीमित कर दिया है, और

---

[1] नारद xiii, ३०. याज्ञवल्क्य की टीका में विज्ञानेश्वर द्वारा शंख का उद्धरण, I (विधवा के अधिकारों की लुप्ति या परिसीमा) बृहस्पति, पृ. २११, श्लोक ९२ प. पृ.; कात्याय ९२६ (मुख्य उत्तराधिकारी के रूप में विधवा का अधिकार)।

साथ ही स्त्री को भेंट के रूप में अचल सम्पत्ति देना वर्जित कर दिया है। इसके अलावा, कात्यायन ने कहा है कि दस्तकारी आदि के काम से या किसी अजनबी व्यक्ति से भेंट के रूप में स्त्री जो धन प्राप्त करती है, वह **स्त्री-धन** के अन्तर्गत नहीं आता, बल्कि वह उसके पति की मिल्कियत है। स्त्री को अपनी **सौदायिक** सम्पत्ति को (जिसमें अचल सम्पत्ति भी शामिल है), और पति द्वारा दी गई प्रेम-भेटों को भी (अचल सम्पत्ति को छोड़कर) बेचने आदि का पूरा अधिकार है। पति, पुत्र, पिता या माता किसी को भी **स्त्री-धन** लेने या किसी अन्य को देने का अधिकार नहीं है। अगर कोई जबर्दस्ती **स्त्री-धन** हथिया ले तो उसे वह मय सूद के साथ लौटाना पड़ेगा और जुर्माना भी भरना पड़ेगा। जहाँ तक **स्त्री-धन** के उत्तराधिकार का प्रश्न है, नारद ने याज्ञवल्क्य को दोहराते हुए कहा है कि यह उसकी बेटियों का हक है, और अगर बेटियां न हों तो **स्त्री-धन** का उत्तराधिकारी यथा-स्थिति उसका पति या स्त्री के मां-बाप होते हैं। बृहस्पति के अनुसार **स्त्री-धन** की उत्तराधिकारी उसकी सन्तान होती है, जिसमें अविवाहित लड़कियों को तरजीह दी जाती है और विवाहित लड़कियों को केवल नाम-मात्र का हिस्सा दिया जाता है। कात्यायन के अनुसार मां का **स्त्री-धन** उन बहनों को मिलता है, जिनके पति भाइयों के साथ रहते हैं, और बेटियों के अभाव में उसके उत्तराधिकारी बेटे होते हैं।[1]

पुरानी स्मृतियों की तरह बाद की स्मृतियों में भी फौजदारी कानून में नुकसान या हर्जाना वसूल करने की अपेक्षा जुर्म की सजा देने पर अधिक जोर दिया गया है। दूसरे शब्दों में यह वस्तुतः जुर्म का कानून है और इसमें हानि या क्षति के कानून को केवल गौण स्थान ही प्राप्त है।[2]

गाली-गलौज और मानहानि शीर्षक (**वाक्पारुष्य**) के अन्तर्गत नारद और कात्यायन दोनों ने उसके तीन प्रकार बताये हैं: **निष्ठुर, अश्लील,** और **तीव्र** (निंदय)। बृहस्पति ने इसी प्रकार इसके तीन वर्ग बताये हैं; निम्नतम, मध्यम और उच्चतम। इस कोटि के जुर्मों के लिए जुर्माने की राशि उपर्युक्त भेदों पर और दोनों पक्षों की जातियों पर निर्भर करती है। बड़े दुष्कर्मों या पापों का लांछन लगाने वालों को इन लांछनों को सच्चा साबित कर देने पर ही अपराध मुक्त किया जाता है। अन्यथा, वह भी उसी तरह अपराधी माना जाता है, जिस तरह वह आदमी जिसको वह लांछित करता है, और दोष गलत सिद्ध होने पर उसे अधिकतम जुर्माना देना पड़ सकता है।[3]

मारपीट या प्रहार शीर्षक (**दंडपारुष्य**) के अन्तर्गत न सिर्फ किसी व्यक्ति को मारना या उसके अंगों को चोट पहुंचाना ही शामिल है, बल्कि उसके शरीर पर विष्टा

---

[1] कात्यायन, श्लो. ५९४-९२० साथ ही, नारद xiii ८-९, बृहस्पति, पृ. ३००, श्लोक ३१ (स्त्री-धन)।

[2] देखिए, प्रियनाथ सेन, **जनरल प्रिंसिपल्स आफ हिन्दू जूरिस्प्रुडेंस,** ३३५-३३६।

[3] नारद XV-XVI, श्लोक १-३; बृहस्पति, पृ० १६९ श्लो. २-१०; कात्यायन ७६९-७७ (लांछन)।

आदि गंदी चीजें फेंकना भी शामिल है। कात्यायन के अनुसार, इस शीर्षक के अन्त ऐसे अपराध भी आते हैं, जैसे पालतू जानवरों की पीठ पर बेवक्त या भूखे और होने पर सामान ढोना, पवित्र जानवरों से बोझ ढोने का काम लेना और पेड़ आदि। इस प्रकार के अपराधों की सजा, शरीर का कौन सा हिस्सा आहत हुआ चोट कितनी गहरी है और अपराधी किस जाति का है, इन बातों के अनुपात में जाती है। जिस व्यक्ति का नुकसान हुआ है, उसको हरजाना देने की बात इस धा में संकेतित है कि अगर कोई किसी के जानवर की हत्या करता है तो वह मालिक को या तो उसी प्रकार का जानवर लाकर दे या उसकी कीमत अदा करे।

हमारे स्मृतिकारों के अनुसार चोरी (स्तेय) दो प्रकार की होती है: 'प्रत्य और 'प्रच्छन्न'। मनु का अनुकरण करते हुए नारद और बृहस्पति ने "प्रत्यक्ष" की कोटि में उन व्यापारियों को, जो झूठे बाटों और तराजुओं का इस्तेमाल करते जुआड़ियों और नीम हकीमों, जाली वस्तुएँ बनाने वालों, और उन लोगों को शामिल किया है जो जादू-टोने या हाथ देखकर लोगों का भाग्य और शकुन-अपशकु बताने के जरिये जीविका कमाते हैं। कात्यायन ने इस सूची में उन अपढ़-अज्ञा पुरोहितों का नाम भी जोड़ दिया है, जो यज्ञों में ऋत्विक् बन जाते हैं, और अयोग्य शिक्षकों को भी जो शास्त्रों के प्रतिपादक होने का झूठा दावा करते हैं। की सजा के अन्तर्गत अंग-भंग करना, कैद में डालना, जमीन, जायदाद जब्त कर देश निकाला देना या मृत्यु-दंड तक आते हैं। पुरानी स्मृतियों की इस धारा को काल के स्मृतिकारों ने भी दोहराया है कि राजा का कर्तव्य है कि वह चोरी की सम्पत्ति उसके मालिक को लौटा दे, या अगर ऐसा न कर सके तो उसकी उसको अदा करे। इतना ही नहीं, इस काल के स्मृतिकारों ने इस धारा का बढ़ाकर पदाधिकारियों के विभिन्न वर्गों और साधारण जनता तक को उनके होने वाली चोरी के लिए जिम्मेदार ठहराया है।[2]

हिंसात्मक अपराधों (साहस) को हमारे स्मृतिकारों ने चोरी से भिन्न है, क्योंकि हिंसात्मक अपराधों की विशेषता जानबूझकर हिंसा का प्रयोग करना जबकि चोरी का सार उसके छिपाने में है। नारद और बृहस्पति ने साहस की कोटियाँ मानी हैं। "निम्नतम कोटि का **साहस** वह है जिसके अन्तर्गत खेती के औ को नष्ट करना, पौधों की जड़ों और फलों को रौंदना शामिल है। बीच की कोटि **साहस** वह है, जिसके अन्तर्गत कपड़ों, खाने-पीने की वस्तुओं और घर के बर्तनों नष्ट करना शामिल है। सबसे ऊंची कोटि का **साहस** वह है, जिसके अन्तर्गत हथि या जहर के जरिए हत्या करना दूसरों की स्त्रियों के साथ बलात्कार करना

---

१. नारद, XV-XVI, श्लो. ४-५; बृहस्पति पृ. १७३ प. पृ.; कात्यायन, श्लोक ९३ (मारपीट)।

२. नारद परि. V.I.P. बृहस्पति, पृ. १७८, श्लो. १ प. पृ.; कात्यायन श्लो. ८१०-२५ (

र्णित है।" कात्यायन के अनुसार साहस के अन्तर्गत हत्या, हिंसा के साथ डकैती, रे की स्त्री के साथ बलात्कार, कीमती वस्तुओं को क्षति पहुंचाना, देवताओं की मूर्तियों को तोड़ना और मन्दिरों को नुकसान पहुँचाना, नगर की प्राचीर को क्षति पहुँचाना और नालियों के पानी के बहाव में रुकावट डालना आदि शामिल हैं। नारद के नुसार साहस की सजा उसकी कोटि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। ड और क्षति दोनों का मिश्रण कात्यायन की इस धारा में मिलता है कि कीमती स्तुओं को क्षति पहुंचाने या नष्ट करने वाले को केवल जुर्माना ही नहीं देना पड़ता, क उसके मालिक को उसी प्रकार की वस्तु लाकर देनी होती है या उसकी कीमत नी पड़ती है।[1]

इस सम्बन्ध में हम देखते हैं कि बाद की स्मृतियों में अपराधों के एक और वर्ग का विवेचन किया गया है, जो सार्वजनिक न्याय-व्यवस्था के विरुद्ध किये जाते थे। यायन का कहना है कि जो गवाह पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर नहीं देते, उन पर ना किया जाना चाहिए। जो किसी मामले में साक्षी होने पर भी गवाही देने से ार करता है, उसे वह सारा कर्ज चुकाना होगा, जिसके बारे में झगड़ा है और नी ही रकम जुर्माने के रूप में अदा करनी पड़ेगी। जो व्यक्ति झूठा गवाह पेश े उसे देश निकाला दिया जाय। जज और विशेषकर कर-निर्धारक अगर किसी ों के साथ व्यक्तिगत रूप से बातचीत करें, तो उन्हें सजा दी जा सकती है। अगर ई कर-निर्धारक मुकदमे के सब पहलुओं को समझे बगैर ही अपना निर्णय देता है से दुगना जुर्माना देना होगा। कोई कर-निर्धारक अगर अपनी गलती से मुद्दई ो नुकसान पहुंचाता है तो उसे वह नुकसान पूरा करना होगा, यद्यपि कानून की त कायम रखने के लिए, उसका निर्णय बहाल माना जाएगा।[2]

---

[1] नारद XV-XVI, ६ प. पृ.; बृहस्पति, पृ. १८६, श्लो. ३ प. पृ.; कात्यायन श्लो. ८०१ (हिंसा)।

[2] कात्यायन, श्लोक ४०२-०७ (गवाह), वही श्लोक ७०-७९, ८१ (जज और कर-निर्धारक)।

परिच्छेद : १८

धर्म और दर्शन

(क) सामान्य समीक्षा

अनेक साम्प्रदायिक धर्मों के उदय और प्रसार ने, जिनमें बौद्ध, जैन, वैष्णव शैव धर्म उल्लेखनीय हैं—जिनकी चर्चा हम इससे पहले की जिल्द में कर चुके हैं भारत के सम्पूर्ण धार्मिक दृष्टिकोण को मूलतः बदल दिया। वैदिक देवकुल बलियज्ञात्मक उपासना-विधि धीरे धीरे विस्मृत होती गयी और वैदिक देवताओं विशिष्ट आकृतियाँ धुंधली पड़ती गयीं। इन देवताओं में अनेक तो विस्मृति में गये हैं, कुछ के रूप इतने बदल गये हैं कि उनको पहचानना असम्भव हो गया जो थोड़े से बचे हैं, वे केवल आदर और श्रद्धा के पात्र हैं, मन में आध्यात्मिक या धार्मिक उत्साह नहीं जगाते। पुराने विचार बहुत मुश्किल से मरते हैं, और से कुछ वैदिक देवताओं की पूजा करने वाले थोड़े से कट्टरपन्थी लोग आज लेकिन उनकी संख्या दिन-ब-दिन कम होती जा रही है। दीर्घ काल से ये सार्वजनिक रूप से धार्मिक क्रियाशीलता के केन्द्र नहीं हैं। धार्मिक आन्दोलन अमूर्त्त से मूर्त्त की ओर अग्रसर होता है। असंख्य मन्दिरों में, जिनमें से कुछ तो और विशाल आकार के हैं, स्थापित विष्णु, शिव और दूसरे देवताओं की उपासना अस्पष्ट व्यक्तित्व के अगोचर वैदिक देवताओं की बलि-पूजा का लेती है। यहाँ तक कि बौद्धों और जैनों की कठोर और आडम्बरहीन बुद्ध और महावीर के मूर्त्त व्यक्तित्व की उपासना में परिवर्तित हो अवश्यम्भावी शीघ्र ही घटित होती है और इन मुख्य प्रतिमाओं के गिर्द दिव्य पुरुषों का एक समूह जमा हो जाता है।

ये सारे परिवर्तन अपने आप में बहुत बड़े थे, लेकिन ब्राह्मण-प्रधान जो परिवर्तन हुए, वे इन दोनों नास्तिक धर्मों से कहीं ज्यादा बड़े थे। वैष्णव शैव मतों को अपने अन्दर समाहित करके सनातन धर्म ने एकदम नये देवगणों का किया, जिनका इतिहास और जिनके शानदार क्रियाकलापों का गुणगान नये यानी पुराणों में किया गया। इन धर्म ग्रन्थों ने, जिनकी संख्या समय के साथ गयी है, प्रमुखता प्राप्त कर ली और धीरे धीरे उन्होंने वैदिक संहिताओं और ग्रन्थों की जगह आम जनता के हृदय में मुख्य धार्मिक साहित्य का दर्जा कर लिया।

पुराणों के रूप और उनके विस्तार का विवेचन १५वें परिच्छेद में किया गया है। यहाँ पर इतना बताना ही काफी होगा कि हालांकि इन पुराणों में पुरानी सामग्री मिलती है, लेकिन उनमें रूढ़िवादी वर्ग में प्रचलित नये धार्मिक विचारों को बिम्बित करने के लिए उनके संशोधित और विस्तृत संस्करण तैयार किये गये। तः, ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति को ऐसी मान्यता मिली कि वे अन्य सभी ताओं से बड़े मान लिए गये। हालांकि सैद्धान्तिक रूप से ब्रह्मा को मनुष्यों और तक कि देवताओं का भी स्रष्टा माना गया है, लेकिन आम लोगों की उपासना में उसको वस्तुतः कोई बड़ा स्थान नहीं दिया जाता। आरम्भ से ही और शिव को उस पर तरजीह मिलती रही है, जो उन दोनों ईश्वरवादी यों के केन्द्रीय देवता हैं, जिनके उद्‌गम और विकास का हम पहले विवेचन कर हैं। जैसे-जैसे उनकी शक्ति बढ़ती गयी, अन्य देवताओं पर विष्णु और शिव की वाद महत्ता स्थापित होती गयी, यहाँ तक कि अन्य छोटे बड़े देवता उनमें से दूसरे के गौण रूप या सहकारी बनते गये और उनकी प्रतिबिम्बित आभा में ने लगे। लोक-मानस में उनकी छवि को अंकित करने के लिए, और लोगों की ना को जगाने के लिए, पुराणों में इन दोनों महान् देवताओं का गुणगान करने अनन्त कहानियाँ हैं, जिनमें और बातों के अलावा बताया गया है कि किस र इन्द्र और दूसरे वैदिक देवता असुरों से अपनी रक्षा के लिए इनकी शरण में हैं। अक्सर जब असुरगण सारे देवताओं को देवलोक से खदेड़ कर बाहर निकाल हैं और वहाँ अपना एकछत्र अधिकार जमा लेते हैं, उस समय विष्णु या शिव ही असुरों को मार कर वैदिक देवताओं को देवलोक में बहाल करते हैं। पुराणों में देवताओं की कहानियाँ भी शामिल हैं, नये देवताओं से सम्बद्ध पवित्र स्थानों के हैं, और उनमें धूमधाम से उनकी उपासना की विधियाँ भी बतायी गयी हैं तथा तीर्थ-यात्रा, पुण्य-स्नान और ब्राह्मणों को **दान-दक्षिणा** आदि लोकप्रिय धार्मिक एं सम्पन्न करने के नियम बताये गये हैं। यहाँ तक कि सामाजिक कर्तव्यों और ताओं की, जिनमें नैतिक किस्म के विचार भी शामिल हैं, लोक-प्रचलित धार्मिक ओं के अन्तर्गत देवताओं की कहानियों के माध्यम से, पूरी शृंखला पेश की गयी जिनमें अन्योक्तियाँ और नैतिक सूक्तियाँ आद्यन्त ताने-बाने की तरह गुंथी हुई इन लोकप्रिय बातों के अलावा, पुराणों में नये धर्म के बुनियादी दार्शनिक विचारों भी विवेचन मिलता है।

लेकिन, साथ ही, यह भी कहना जरूरी है कि पुराण कहीं भी वेद की णिकता से इन्कार नहीं करते, उनका विरोध करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वे श्रुति या वेदों को सदा ही अपौरुषेय (ईश्वर-कृत) मानते हैं—ये ही धर्म श्वत और भ्रमातीत स्रोत हैं। यद्यपि वास्तविक जीवन में वैदिक धर्म का ज्ञान उसका व्यवहार धीरे धीरे कुछ लोगों तक ही सीमित होता गया, लेकिन वेदों रम श्रेष्ठता की स्वीकृति पुराने और नये के बीच एक सम्बन्ध-सूत्र का काम रही। वैदिक ग्रन्थों का पठन-पाठन उसी श्रद्धा और लगन से जारी रहा

और वैदिक यज्ञ सनातन ब्राह्मण प्रधान धर्म के हमेशा अंग बने रहे। सच तो है कि विवेच्य काल में समस्त भारत में विभिन्न राजवंशों के राजाओं ने वि वैदिक यज्ञ करने का दावा किया है। विशेष रूप से अश्वमेध-यज्ञ सबको और कुछ राजाओं ने तो दस या उससे भी ज्यादा अश्वमेध-यज्ञ करने का किया है।

गौण कोटि के अधिकांश वैदिक कर्मकाण्ड, जैसे संस्कार[1] आदि नये धर्म के भी अभिन्न अंग बने हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण-प्रधान धर्म के उस प बुनियादें, जिसे आज हम हिन्दू धर्म कहते हैं प्रस्तुत विवेच्यकाल में ही पड़ी हालांकि सारे पुराण इस नये विकास का मूलाधार हैं, लेकिन वे उसको समग्र प्रतिबिम्बित नहीं करते। वैष्णवों और शैवों की अपनी शुद्ध साम्प्रदायिक अन्य प्रकार के साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई है और उनके अपने विशिष्ट दर्श विकास हुआ है, जो पुराणों की तरह ही हिन्दू धर्म के अभिन्न अंग हैं। मिसा लिए भगवद्गीता का नाम लिया जा सकता है, जिसमें भागवत मत की (जो चलकर वैष्णव-धर्म के रूप में विकसित हुआ) सबसे प्राचीन और सबसे व्याख्या मिलती है। दूसरी जिल्द के परिच्छेद १९ में गीता में निहित विचारों विवेचन करने के लिए, जिन्हें अब सर्वसम्मति से हिन्दू-जीवन और चिन्तन का आधार माना जाता है, यथेष्ट स्थान दिया गया है। संक्षेप में, हिन्दू धर्म आकृतियों (पैटर्न) की एक ऐसी पच्चीकारी के रूप में विकास कर चुका है, पुराने और नये, उत्कृष्ट और निकृष्ट, धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों का है, जिसमें से कुछ भी निकाला नहीं जाता, बल्कि समाज में प्रवेश करने नये नये तत्त्वों को लगातार जोड़ा ही जाता है।

न्यूनाधिक मात्रा में यही बात बौद्ध धर्म के बारे में भी सच है। उतना ही जनक उसका एक कठोर और अपरिग्रही नैतिकता की प्रारंभिक सरलता से विकास महायान का अत्यन्त संश्लिष्ट रूप धारण कर लेना है, जो आगे चलकर वज्रया उससे भी अधिक संश्लिष्ट पद्धति में परिवर्तित हो गया। यहाँ भी पुराना रूप है, लेकिन परवर्ती रूप उस पर छा गये, जो धीरे धीरे हिन्दू धर्म के नये रूप के आते गये; यहाँ तक कि अन्ततः बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के विस्तृत आंचल में समा और उसके अस्तित्व का कोई चिह्न भी बाकी नहीं रहा।

इस नियति से जैन धर्म अपनी कट्टरता के कारण ही रक्षा कर पाया। धार्मिक पद्धतियों के विपरीत जैन धर्म के विचारों और सिद्धान्तों में कोई विशेष प नहीं हुआ। नये विचारों और नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बदलने की का ही परिणाम था कि जैन धर्म कभी भी उतना लोकप्रिय नहीं हो सका, बौद्ध धर्म इस देश में और इसके बाहर हुआ। लेकिन इस संरक्षणशील कट्टरता के

---

[1] जिल्द I पृ. ४७४ प. पृ. (अंग्रेजी संस्करण)।

जैन धर्म अपने अधिक प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले में, चाहे एक सीमित क्षेत्र में ही ो, इतनी लम्बी उम्र पा सका।

अब हम विवेच्य काल के धार्मिक जीवन की कुछ विशेषताओं का उल्लेख कर ते हैं। सबसे पहली और सबसे बड़ी विशेषता देवताओं की मूर्तियों का व्यापक लन है। इस विषय पर तत्कालीन विचारधारा का सारांश **विष्णुधर्मोत्तर** में इस कार पेश किया गया है :—"(परमेश्वर) की उपासना और उसका ध्यान करना तभी म्भव है (जब उसका) कोई रूप हो। परमेश्वर जिस रूप में अपने को प्रकट करे, उस सी ही धार्मिक रीतियों के अनुसार उपासना करनी चाहिए। चूंकि शरीरधारी मनुष्यों लिए अदृष्ट को मन में धारण करना अत्यन्त कठिन होता है, अतः परमेश्वर ने स्वयं पनी इच्छा से वह (रूप) दिखाया और अन्य देवताओं ने (भी) उसके विभिन्न रूपों में कट होकर उसके (उस) रूप का ही प्रकाश किया। इस कारण मूर्त्तरूपधारी भगवान की ही पूजा होती है। उस रूप में गहरा अर्थ छिपा है।" मुख्य देवताओं, यहाँ तक कि गौण ताओं का मूर्तिकरण इस काल के धार्मिक विकास की एक विशिष्टता है।

दूसरी विशेषता विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों के बीच सहिष्णुता भावना है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ राजाओं के धार्मिक अत्याचारों और दमन के ने भी मिलते हैं। लेकिन आवश्यक नहीं कि ये कहानियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से हमेशा ही हों, जैसा शशांक की मिसाल से सिद्ध है।[1] अगर हम कुछ कहानियों को सच भी लें, तो वे इतनी कम हैं कि उन्हें अपवाद ही कहा जा सकता है। सहिष्णुता की भावना का एक पक्ष यह था कि विष्णु और शिव जैसे विभिन्न देवताओं की एकता त करने की कोशिश की गयी और एक ही मूर्ति के आशय में विभिन्न देवताओं पों की अवस्थिति की गयी। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति की धारणा के मूल ही भावना काम कर रही थी, और बुद्ध को विष्णु का अवतार मानने के मूल में भी भावना थी। ऐसे कई राजवंशों की मिसाल हमारे सामने है, जिनके विभिन्न सदस्य न्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायी थे और ऐसे भी अनेक राजाओं की मिसालें हैं सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा और आदर दिखाते थे। कन्नौज के हर्षवर्धन और उसके र्तियों[2] को इस उदार भावना की बेहतरीन मिसाल के रूप में पेश किया जा सकता है। परिव्राजक और मैत्रक शासकों में भी हमें विभिन्न मतों के अनुयायी मिलते हैं। राजवंशों में देखें तो, गुप्त सम्राट यद्यपि एक ही मत के अनुयायी थे, लेकिन वे सभी ों को अपना संरक्षण देते थे और विभिन्न धर्मों के सदस्यों से अपने उच्च पदाधिकारियों चुनाव करते थे।

इस काल की धार्मिक स्थिति का परिचय देना इसलिए भी कठिन है कि विभिन्न विचारों का इस जमाने में बहुत तेजी से और बहुत ही संश्लिष्ट विकास हुआ और इस प्रकार एक साथ फले-फूले और एक दूसरे को प्रभावित करते रहे कि उसे समझना

---

[1] देखिये, पृ. ९० प. पृ.।

[2] देखिये. पृ. १३३-१३६ प. पृ०।

आसान काम नहीं है । लेकिन अगर हम उपर्युक्त तात्त्विक विशेषताओं को ध्यान रखें और यह भी याद रखें कि पूर्वकाल के पुराने रूप नये रूपों के लिए स्थान खाली पर भी पूरी तरह गायब नहीं हो गये थे, तो आगामी अनुच्छेदों की सहायता से, सारा विषय पिछली जिल्द में प्रयुक्त पद्धति के अनुसार बांटा गया है, हम उस तस्वीर का अनुमान कर सकेंगे ।

(ख) बौद्ध धर्म

I. हीनयान

पहले एक अनुच्छेद में[1] यह दिखाया जा चुका है कि बौद्ध धर्म की हीनयान अनेक सम्प्रदायों में बंट गयी थी । गुप्त काल में इस प्रकार के तीन या चार सम्प्रदा जीवित थे, जो देश के विभिन्न भागों में सक्रिय थे । पुराने अवशेषों की खुदा दौरान अनेक मुहरें, मूर्तियां तथा गुप्तलिपि में लिखित पाण्डुलिपियां और अभि मिले हैं, जिनसे पुराने हीनयान सम्प्रदायों, विशेषकर सर्वास्तिवादी, साम्मितीय वात्सी-पुत्रीय, और थेर या स्थविरवादी निकायों के अपने पूरे उत्साह से जारी रह स्पष्ट प्रमाण मिलता है । ये सम्प्रदाय अपनी विशिष्ट विचारधारा के व्यापक प्रचार उतना जोर नहीं देते थे, जितना अपने मठों को शानदार शैक्षिक विहार या केन्द्र ब पर । इस प्रयत्न में वे राजाओं और अपने धनी अनुयायियों का संरक्षण प्राप्त कर थे । हर सम्प्रदाय के श्रमण अपने विशिष्ट सिद्धान्तों की व्याख्या या अपनी धार्मिक-री और अनुष्ठानों का विस्तरण करने में लगे हुए थे । संक्षेप में युग की भावना सिद्धा के प्रचार से हट कर साहित्यिक कार्यों की ओर उन्मुख हो गयी थी । गुप्त-काल में अ ऐसे विख्यात लेखक पैदा हुए, जिनकी भारतीय टीका-साहित्य और दर्शन शास्त्र देन देश के साहित्यिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । खेद की बात है कि ये अ ग्रन्थ अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं हैं और हमें उनके तिब्बती या चीनी अनुवादों सन्तोष करना पड़ता है ।

II. महायान

हीनयान लेखकों की श्रेष्ठता और हीनयान मठों की सम्पन्नता और शान- के बावजूद बौद्ध धर्म के इस प्राचीन रूप का लोगों पर प्रभाव घटता जा रहा था और उस महायान के नये आन्दोलन के आगे पृष्ठभूमि में पड़ता जा रहा था, जिसने परार्थवादी सिद्धान्तों के कारण, तथा अपने धर्म के द्वार सब के लिए, चाहे वे एकान्त हों या गृहस्थ, खोल कर, लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था । हीनयान तरह महायान ने यह मांग नहीं की कि व्यक्ति जब तक भिक्षु या भिक्षुणी नहीं तब तक उसे धर्म की शरण प्राप्त नहीं होगी, बल्कि उन्होंने हरेक को, यहां तक कि

---

[1] देखिये. जिल्द II. पृ. ३७९ प. पृ. (अंग्रेजी संस्करण) ।

क को बोधिसत्त्व का जीवन आरम्भ करने की इजाजत दी। इस नयी दृष्टि ने हीनयान के पाँव उखाड़ दिये और महायान को एक अखिल भारतीय ही नहीं, बल्कि अखिल एशियाई धार्मिक आन्दोलन बना दिया। इस नये आन्दोलन के इतिहास का वर्णन करने से पहले जरूरी है कि हम उसके नैतिक, सैद्धान्तिक और धार्मिक पक्षों पर विहंगम दृष्टि डाल लें।

१. महायान का आचार-शास्त्र

महायान के आचार-शास्त्र का मूल सिद्धान्त उसका अति-परार्थवाद है, जिसे बोधि-चित्त के विकास और छह **पारमिताओं** (सद्गुणों की पूर्णता) की पूर्ति द्वारा हासिल किया जाता है। अपने अहं को मिटाना सभी भारतीय धर्मों का मूलस्वर रहा है, और यह सिद्धान्त बुद्ध के बुनियादी उपदेशों में से एक था। हीनयानियों ने अपने संघ-जीवन में इस उपदेश को व्यावहारिक रूप दिया था। इसका उद्देश्य मठों और विहारों में रहने वाले भिक्षुओं को अपने प्रकृत आत्म-कल्याण के लिए 'मैं-पन' की सारी चिन्ताओं और परेशानियों से ऊपर उठाना था। अहंमुक्ति की यह भावना ध्यान की साधना द्वारा पैदा की जाती थी, जो उनके मन को यह प्रतीति करने में योग देती थी कि व्यक्ति का शरीर अनेक कलुषों का भंडार है। ये क्रियाएँ हीनयानियों को अपने 'मैं' के बारे में निस्संग बना देती थीं और उन्हें अस्मिता-त्याग की शिक्षा देती थीं। महायानियों को अहं को मिटाने या छोड़ने का यह मार्ग गलत और बिलकुल अपर्याप्त लगा। उन्होंने इस समस्या का बिलकुल नये दृष्टिकोण से समाधान खोजने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि अपने अहं को मिटाना तभी सम्भव है, जब व्यक्ति अपने आपको कई जन्मों तक दूसरों की सेवा में उत्सर्ग करता रहे। एक महायानी के लिए यह शपथ लेना अनिवार्य था कि वह उस समय तक अपने व्यक्तिगत सुख की, व्यक्तिगत रूप से स्वर्ग-प्राप्ति की, यहाँ तक कि व्यक्तिगत निर्वाण की भी कामना नहीं करेगा, जब तक कि वह अन्य तमाम लोगों को सुखी बनाने, उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति कराने और अन्तत: निर्वाण प्राप्त कराने के लिए अपना पूरा योगदान नहीं दे देता। यह परार्थवादी दृष्टिकोण ही एक महायानी की मूल-भावना थी। व्यक्तिगत लाभ का त्याग करके निर्वाण प्राप्त करने की हीनयानियों की पद्धति में महायानी को स्वार्थ की गन्ध आती थी, इसलिए वह उसे स्वीकार नहीं थी।

एक महायानी को सबसे पहले तो यह शर्त पूरी करनी पड़ती थी कि वह दूसरों की सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की शपथ लेता था, जिसे उनके धर्म-ग्रन्थों में बोधि-चित्त का विकास कहते हैं। जब उसमें **बोधि-चित्त** का सम्यक् विकास हो जाता था, तो उसे **बोधिसत्त्व** पुकारते थे। इसके बाद उसका कर्त्तव्य **बोधि-प्रस्थान** करना होता था, ताकि वह छह **पारमिताओं** को पूरा कर सके—अर्थात् **दान** (उदारता), **शील** (नैतिक विचार), **क्षान्ति** (सहिष्णुता), **वीर्य** (मन:शक्ति), **ध्यान** (मन की एकाग्रता) और **प्रज्ञा** (सत्य का ज्ञान)।[1] इन छह सद्गुणों में एक का भी अपने अन्दर पूरी तरह विकास करने

---

[1] इनकी व्याख्या जिल्द II, पृ. ३८६ (अंग्रेजी संस्करण) में की गयी है।

के लिए महायानी से सर्वोच्च त्याग, यहां तक अपने जीवन तक का त्याग, करने की अपेक्षा की जाती थी। एक ही जीवन में इन सारे सद्गुणों को प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं था, इसलिए व्यक्ति को ये सारी **पारमिताएं** पूरी करने के लिए अनेक बार जन्म लेना पड़ता था। गौतम बुद्ध ने भी अनेक जन्मों में ये सारी **पारमिताएँ** पूरी कीं उनमें से कुछ का वर्णन **जातकों** और **अवदानों** में किया गया है। **पारमिताएँ** पूरी करने के साथ साथ एक बोधिसत्त्व से अध्ययन और मनन की भी अपेक्षा की जाती थी, हीनयान भिक्षुओं की तरह ही। फर्क सिर्फ इतना था कि अध्ययन-मनन से वह जो गुण प्राप्त करेगा वे सब, और उसका जीव-प्रेम, उसकी करुणा, उसकी धर्मनिष्ठा व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं थी, बल्कि असंख्य विश्वों के समस्त प्राणियों के लिए यह सार्वभौम परमार्थ-भावना ही हीनयान से महायान के आचार-शास्त्र को करती है।

२. विहार का जीवन

महायान के धर्म-ग्रन्थों में एक भी विनयपिटक, अर्थात् महायान भिक्षु के का नियमन करने वाली आचरण-संहिता नहीं है। **शिक्षासमुच्चय, बोधिचर्यावतार** **बोधिसत्त्व-प्रातिमोक्ष-सूत्र** आदि बाद के ग्रन्थों में साधारण किस्म के कुछ नियम मिलते हैं, लेकिन भिक्षु और भिक्षुणियों द्वारा उनका कठोरतापूर्वक पालन करना नहीं किया गया है। इन ग्रन्थों में अधिकतर बुद्ध और उनके उपदेशों में दृढ़ रखने और दूसरों की भलाई के लिए आत्म-त्याग पर जोर दिया गया है। को अपना आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक (**कल्याणमित्र**) चुनने और धर्मग्रन्थों का करने की सलाह दी गयी है। उन्हें ध्यान का अभ्यास करने के लिए, विशेष रूप से प्रकार के **स्मृत्युपस्थान** के लिए कहा गया है और यह भी सलाह दी गयी है कि वे में जाकर शव की विभिन्न अवस्थाओं पर ध्यान (अशुभ-भावना) करें। उनसे यश, भोजन-वस्त्र की कामना आदि सभी **लोक-धर्मों** का परित्याग करने की अपेक्षा गयी है और उनको सलाह दी गयी है कि वे **मैत्री** और **करुणा** का पालन करें, शिक्षा ग्रहण करें और **वन्दना** और **साधना** का अभ्यास करें। वाद के ग्रन्थों में वस्त्र, व्यवहार और महायानियों द्वारा विशेष रूप से माने गये अपराधों के प्रायश्चित्त के में भी कुछ आदेश दिये गये हैं।[1] इन ग्रन्थों से यह साफ जाहिर है कि अपने संघ- के लिए महायानियों ने हीनयानियों के अनुशासन-नियम अपना लिये थे, केवल कुछ विधियों का संशोधन किया था, जिनका महायान के आदर्शों से मेल नहीं था।

ह्वेन-त्सांग ने लिखा है कि कुछ बौद्ध-मठों में हीनयानी और महायानी ही साथ साथ रहते थे। यह सम्भव नहीं होता अगर चैत्य या विहार में रहने वाले भिक्षु आचार की एक ही धार्मिक नियमावली का पालन न करते होते। ई-त्सिंग ने यान और महायान भिक्षुओं में मांस खाने की बात को लेकर परस्पर-विरोध की

---

[1] एन. दत्त, **आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म,** परिच्छेद ५।

किया है। **लंकावतार-सूत्र** में मांस-भक्षण की बुराइयों के वर्णन में एक पूरा जोड़ा गया है। सम्भवत: ऐसी एक-दो बातों को छोड़कर विनयपिटक के रागत नियमों का महायानी उसी रूप में पालन करते थे, जिस रूप में प्राचीन यानी सम्प्रदायों ने उनको सुरक्षित रखा था और शायद इसी कारण ह्वेन-त्सांग ने भिक्षुओं को स्थविर निकाय का महायानी कहा है। महाबोधि संघाराम (गया) के क्षुओं के बारे में उसका कथन विशेष रूप से दिलचस्प है। वह लिखता है: "इस राम में लगभग १,००० भिक्षु हैं, वे सारे स्थविर स्कूल के महायानी हैं और सभी पिटक के नियमों का पूरी तरह पालन करते हैं।"[1] कलिंग, लंका के अभयगिरि मठ सुराष्ट्र के बारे में भी इसी प्रकार के वक्तव्य हैं। ह्वेन-त्सांग ने स्पष्ट शब्दों में है कि उद्यान के सारे भिक्षु महायानी हैं, लेकिन वे हीनयानी विनयपिटक का पालन हैं।[2] ई-त्सिग ने भी कहा है कि हीनयानी और महायानी दोनों किस्म के बौद्ध शासन की एक ही नियमावली का पालन करने पर सहमत हैं। यह तथ्य कि तिब्बतियों जो महायानी हैं, मूलसर्वास्तिवाद स्कूल के विनय-ग्रन्थ सुरक्षित रखे हैं, इस बात को करता है कि हीनयान के विनय को वे कितने आदर की दृष्टि से देखते थे। **क्रिया-** **जिका**'[3] में एक महायानी भिक्षु को दीक्षित करने के बारे में जो नियम बताये गये हैं, बिलकुल हीनयानी नियमों की तरह हैं। महायानी विनय में बोधि-चित्त लेने के रिक कृत्य या तत्सम्बन्धी रीतियां, अर्थात्—(१) बुद्धों और चैत्यों की उपासना, त्रिरत्न की शरण लेना और अपने पाप स्वीकारना, (३) दूसरों के गुणों का हार्दिक मोदन, तथा (४) अपने अज्ञान को स्वीकार करके बुद्धों से पथ-प्रदर्शन की प्रार्थना अपने गुणों का **बोधि** के लिए उत्सर्ग आदि ही जोड़े गये थे।

महायान सिद्धान्त

यद्यपि हीनयानियों और महायानियों ने संघ-जीवन के सामान्य नियमों को कार कर लिया था, लेकिन दोनों निकायों के सिद्धान्तों और आदर्शों में बहुत बड़ा र था। हीनयानी न्यूनाधिक मात्रा में यथार्थवादी या अर्ध-यथार्थवादी थे, जबकि यानी शुद्ध नकारवादी या आदर्शवादी थे। यह अन्तर **शून्यता** या **अनात्मता** की ख्या पर आधारित था। इस शब्द का प्रयोग बुद्ध ने बार बार किया था, पर कभी की स्पष्ट परिभाषा नहीं की थी। **शून्यम्** या **अनात्मन्** जैसे शब्दों से हीनयानियों अभिप्राय **आत्मा** या व्यक्तिकता जैसे किसी वास्तविक पदार्थ का अनस्तित्व था, पुद्गल-शून्यता) जबकि महायानियों की दृष्टि में इनका अर्थ व्यक्तिकता (**पुद्गल या**) और साथ ही वस्तु-जगत् (धर्म) का अनस्तित्व है। महायानियों का विश्वास कि सच्चे ज्ञान या सत्य की उपलब्धि तब तक सम्भव नहीं है, जबतक दोनों **शून्यताओं** पुद्गल (व्यक्तिकता) और **धर्म** (प्रतीयमान या विचारणीय अस्तित्व) का बोध

---

[1] या, ट्रै. वा., II, १३६।

[2] या, ट्रै. वा. I, २२७।

[3] रा. ए. सो. व., पाण्डुलिपि-पत्र १६०a।

या परिज्ञान नहीं हो जाता । उनका दावा है कि दोनों **शून्यताओं** का बोध उन **आवरणों** को हटाने के बाद ही सम्भव है जो **क्लेशावरण** (अपद्रव्यों का पर्दा) **ज्ञेयावरण** कहलाते हैं । हीनयानी **अर्हत** (पूर्ण साधक) **पुद्गल-शून्यता** की उपलब्धि ही **क्लेशावरण** को हटा पाते हैं । वे संसार के नाना पदार्थों में अभेद और भेद की धा से ऊपर उठकर उन्हें एक पुंज के रूप में देखते हैं । इसको एक उपमा देकर इस समझा सकते हैं कि हीनयानी (**श्रावक**) एक मिट्टी के घड़े और मिट्टी के घोड़े में को नहीं मानते और दोनों को एक ही वस्तु मानते हैं । महायानी (बोधिसत्त्व) इससे कदम और आगे बढ़कर दावा करता है कि केवल इतना ही नहीं है कि घड़े और घो किसी भेद का अस्तित्व नहीं है, बल्कि पदार्थ, अर्थात् **धर्म** (इस प्रसंग में मिट्टी) का अस्तित्व नहीं है । इस **धर्म-शून्यता** का बोध प्राप्त करने से ही **ज्ञेय** (सत्य) को वाला **आवरण** (पर्दा) हटता है और पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि होती है।

इस सिद्धान्त की **प्रज्ञा-पारमिता-समाधिराज, सद्धर्मपुण्डरीक** तथा अ महायान ग्रन्थों में इस प्रकार व्याख्या की गयी है: हीनयानियों का विश्वा कि केवल भिक्षु बन जाने और **बोधिपक्षियधर्म, अष्टांगिकमार्ग** आदि बौद्ध क्रिया (क कांड, में दक्षता प्राप्त कर लेने से ही अपने लक्ष्य को पा सकते हैं। लेकिन महायानि अनुसार तथ्य इससे विपरीत है । **बोधिपक्षियधर्म** और **अष्टांगमार्ग** केवल काम-च व्यवस्थाएँ हैं, जिन्हें बुद्ध ने साधारण और सामान्य बुद्धि के लोगों को धार्मिक जीव प्रति आकर्षित करने के लिए बनाया था और फिर जब एक सीमा तक उनका आध्या विकास हो जाए तब बुद्ध का उद्देश्य उन्हें यह बोध कराना था कि ये सारे कार्य अभ्यास भी काल्पनिक हैं, और अस्तित्वहीन (शून्यम्) हैं, उसी प्रकार जैसे सां व्यक्ति का यह सोचना कि यह उसका बेटा है और यह उसकी सम्पत्ति है। एक मह के दृष्टिकोण में किसी भिक्षु का अपने काषाय वस्त्रों या अपनी ध्यान-प्रक्रियाओं के मोह या निर्वाण की भी इच्छा करना, सत्य की उपलब्धि के मार्ग में बाधक है, प्रकार जैसे सांसारिक व्यक्ति के लिए बेटा, धन या शक्ति की इच्छाएँ बाधक हैं। ग्रन्थों में यह शिक्षा दी गयी है कि महायानी निश्चय ही हीनयानी कर्मों और अ का पालन करे लेकिन वह अपने मन में सदा इस बात के प्रति भी सचेत रहे कि इन सबको उसी प्रकार छोड़ देना है, जिस प्रकार एक व्यक्ति नदी पार करने के बनाये अस्थायी बेड़े को छोड़ देता है । महायान सिद्धान्तों का सार-तत्त्व यह है कि संसार का प्राणी, वह दुनियादार हो या एकान्त साधक, अपनी छह अपूर्ण ज्ञानेन्द्रि प्राप्त भ्रमों की दुनिया में विचरण करता है, और उसकी मुक्ति इस बात का बोध करने में निहित है कि ये भ्रम उतने ही अवास्तविक हैं, जितनी अवास्तविक मृग-मरी या स्वप्न में देखी गयी चीजें । उसे जिस क्षण इस बात का बोध होता है, उसी क्ष अज्ञान के उस परदे (ज्ञेयावरण) को फाड़ कर बाहर निकल जाता है जो सत्य को हुए है, और वह सत्य का साक्षात्कार करता है । **ज्ञेयावरण** को हटाने के लिए, उसे पहले ही **क्लेशावरण**, मोह, घृणा और भ्रम जैसे विकारों के परदे को हटा देना चा

बुद्ध की अवधारणा

महायान के अनुसार सत्यशून्यता (गुणहीन, अस्ति और नास्ति का निषेध), या
ता (एकरूपता अर्थात् परासत्ता), या **धर्मधातु** (प्रतीयमान रूपों की समग्रता, विश्व
सार्वभौमिक तत्त्व) है, जो निर्वाण या बुद्ध से अभिन्न है। हीनयानियों ने पहले बुद्ध की
मानव प्राणी के रूप में कल्पना की थी, फिर कालान्तर में उन्होंने बुद्ध में अतिमानवी
तक कि अतिअलौकिक शक्तियों और गुणों का दावा किया, और उनको समस्त प्राणियों
यहाँ तक कि ब्रह्मलोक के देवताओं से भी श्रेष्ठ मानने लगे। महायानी बुद्ध को शाश्वत
ते थे, जन्म-मरण से परे, सत्य, अस्तित्व का अंत (भूतकोटि) के रूप में इसलिए
नीय है। कालान्तर में महायानियों ने भी बुद्ध के "शरीर" के बारे में कुछ कल्पनाएँ
और इस प्रकार **त्रिकाय** (तीन शरीर) अवधारणा प्रचलित हुई। इसके अनुसार
का वास्तविक काय **धर्म-काय** अर्थात् विश्व या सार्वभौमिक तत्त्व है, जिसका कोई
नहीं है, जो अनन्त और अनित्य है; जिसका न आविर्भाव होता है, न तिरोभाव।
कभी अपने अत्यन्त विकसित भक्तों, विशेषकर आत्मोन्नति की उच्चतर अवस्थाओं
पहुँचे हुए बोधिसत्त्वों के सन्तोष के लिए बुद्ध महान् पुरुषों के समस्त चिह्नों में मंडित
दीप्तिमान् और अलंकृत रूप धारण कर लेते हैं। इस शरीर को **संभोग-काय**
लिए कहते हैं कि अपने अनेक जन्मों में एकत्र पुण्यों और गुणों के परिणाम-स्वरूप यह
बुद्ध को विशेषरूप से प्राप्त होता है। आमतौर पर, साधारण सांसारिक मनुष्यों
प्राणियों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए बुद्ध पार्थिव शरीर धारण करते हैं, जो समस्त
नीय कमजोरियों का शिकार होता है। इसे **रूप-काय** (भौतिक शरीर) या **निर्माण-**
(उत्पन्न शरीर) कहते हैं। महायानियों के अनुसार गौतम बुद्ध वास्तविक बुद्ध
निर्माण-काय हैं। इस प्रकार के अनगिनत **निर्माण-काय** हैं, जो अखिल विश्व के असंख्य
रों की अध्यक्षता करते हैं। गौतम बुद्ध इस **सहा-लोकधातु** संसार के **निर्माण-काय** हैं।

त्रिकाय की इस धारणा ने साधारण लोगों को उपासना और भक्ति के लिए
क्षेत्र प्रदान कर दिया है। इसलिए महायान के अत्यन्त दुरूह सिद्धान्तों के बावजूद,
जनता पर उसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा और समय के साथ साथ महायान के
यायियों की संख्या हीनयानियों से कहीं ज्यादा हो गयी।

मिथक कल्पनाओं के विकास के साथ पाँच ध्यानी बुद्धों, अर्थात् वैरोचन, अक्षोभ्य,
संभव, अमिताभ और अमोघसिद्धि के रूप में एक महायान देवकुल का विकास हो
। इन पाँच ध्यानी बुद्धों के बारे में कहा जाता है कि वे समनुध्यान द्वारा आदि-
से उद्भूत हैं। इनमें से हर बुद्ध एक बोधिसत्त्व और एक देवी से, जिसे तारा पुकारते
सम्बद्ध है।

बोधिसत्त्व की अवधारणा

महायान सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो अपने अन्दर **बोधि-चित्त** का
कर लेता है, **बोधिसत्त्व** है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो **बोधि** (ज्ञान) प्राप्त कर

सकेगा और अन्ततः बुद्ध बन जाएगा । वस्तुतः हर महायानी बोधिसत्त्व होता है इस प्रकार वह एक हीनयानी से भिन्न होता है, जो श्रावक कहलाता है। बोधिसत्त्व और श्रावक में यही फर्क है कि बोधिसत्त्व की कामना अन्ततः बुद्धत्व प्राप्त करने की होती है जबकि श्रावक का लक्ष्य केवल अर्हत्व तक पहुँचना ही होता है।

अपने पूर्ण अहं के त्याग की भावना के कारण बोधिसत्त्व धीरे धीरे आम जनता निगाहों से ऊपर चढ़ते गये, यहां तक कि उनमें से कुछ तो लोगों के पूज्य बन गये। सर्वोच्च ख्याति-प्राप्त देवताओं की कोटि में गिने जाने लगे, जिनके नाम हैं: अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, वज्रपाणि, समन्तभद्र, आकाशगर्भ, महास्थानप्राप्त, भैषज्य और मैत्रेय। ये सारे बोधिसत्त्व आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि ओर पहुंचे हुए व्यक्ति थे और बड़ी आसानी से बुद्ध-पद को प्राप्त कर सकते थे, लेकिन उन्होंने अपने आपको लक्ष्य तक पहुँचने से रोक कर बोधिसत्त्व बने रहना ही पसन्द कि क्योंकि उनका कहना था कि क्योंकि बुद्ध सब गुणों से मुक्त (निर्गुण) होते हैं, इसलिए जीवित प्राणियों की सेवा करने में असमर्थ होते हैं, जबकि बोधिसत्त्वों के रूप में वे प्राणि के दुख दूर करने, उन्हें सुख, मोक्ष और निर्वाण या बुद्ध-पद प्राप्त कराने में सहायता सकते हैं। कालान्तर में इनमें से कुछ बोधिसत्त्वों के गिर्द उसी प्रकार की मिथक कल्पना जोड़ दी गयीं, जैसी ब्राह्मण-धर्म के देवताओं के गिर्द मिथक कल्पनाओं के जाल गये हैं।

अवलोकितेश्वर करुणा का मूर्ति रूप है। वह दयानिधान है और उन सब की सहायता करता है जो मुसीबत में फंसकर उसकी खोज करते हैं।[1] चीनी यात्रियों अनुसार भारत में चौथी सदी से लेकर सातवीं सदी तक अवलोकितेश्वर की उपा व्यापक रूप से प्रचलित थी। पुरातत्त्वीय प्राप्तियों में अवलोकितेश्वर की मूर्ति आमतौर पर हर जगह मिली हैं। इन मूर्तियों की सजावट बड़ी भव्य है और अमिताभ बुद्ध को शिरोवस्त्र धारण किए हुए दिखाया गया है। कुछ मूर्तियों में बोधिसत्त्व के साथ देवी तारा भी दिखाई गई है। देवी तारा ज्ञान (प्रज्ञा) का मूर्त है। उसको तारा इसलिए कहते हैं कि लोग उनकी सहायता से ही दुख के इस को पार कर सकते हैं। उसे देवी **प्रज्ञापारमिता** भी पुकारते हैं, क्योंकि पारमिता पूर्ति करने के बाद ही बोधिसत्त्व अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

दूसरा सबसे लोकप्रिय बोधिसत्त्व चिर-किशोर (कुमारभूत) मंजुश्री है। बुद्धि-विवेक का मूर्तरूप है और कभी कभी उसे लक्ष्मी (=श्रीमहादेवी)[2] या सरस्व या दोनों के साथ जोड़ा जाता है। वह लोगों को विद्या सिखाता है, बौद्ध-धर्म की

---

[१] सद्धर्मपुण्डरीक, परिच्छेद २४ ।

[२] सुवर्णप्रभास, परिच्छेद ९, उसका कार्य भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ प्रदान करना था ।

[३] सुवर्णप्रभास, परिच्छेद ८, सरस्वती देवी का कार्य धर्मोपदेशकों को, जो धारणि, और स्मृति जगाने की शिक्षा देते थे, स्वर विन्यास देना था ।

ता है और भावी बुद्ध मैत्रेय का शिक्षक है। भारत में उसकी पूजा भी उन्हीं दिनों प्रचलित थी, जब अवलोकितेश्वर की पूजा होती थी।

III. उपासना के रूप

चीनी यात्रियों ने समकालीन भारत में प्रचलित उपासना के विविध रूपों का रा प्रस्तुत किया है। फाह्यान ने लिखा है कि बौद्ध भिक्षु सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, और अभिधर्म, विनय और सूत्रों के ज्ञाताओं के लिए **स्तूपों** का निर्माण करते थे। णियाँ आनन्द के **स्तूप** पर चढ़ावा चढ़ाती थीं, क्योंकि उन्हीं के आदेश पर भिक्षुणियों (धर्म) संघ बनाया गया था। विनय के विद्यार्थी और शिक्षक राहुल के स्तूपों पर करते थे। महायानी बौद्ध **प्रज्ञापारमिता** (तारा), मंजुश्री और अवलोकितेश्वर चढ़ावा चढ़ाते थे। ह्वेन-त्सांग ने इससे अधिक ब्यौरे दिये हैं। वह कहता है, "मथुरा शोक के तीन **स्तूप** थे और साथ ही सारिपुत्र, मुद्गलपुत्र, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र, उपालि, और राहुल के अवशेष-चिह्नों पर निर्मित **स्तूप** भी थे। इनके अतिरिक्त मंजुश्री अन्य बोधिसत्त्वों की स्मृति में भी **स्तूप** बनाये गये थे। अभिधर्म के अनुयायी सारिपुत्र समाधि के साधक मुद्गलपुत्र की, सूत्रपिटक के ज्ञाता पूर्ण मैत्रायणीपुत्र की, विनय ज्ञाता उपालि की, भिक्षुणियाँ आनन्द की, विद्यार्थी (श्रामणेर) राहुल की और यानी विभिन्न बोधिसत्त्वों की पूजा करते थे। इन दोनों चीनी यात्रियों के विवरणों से दो शताब्दियों के अन्तर से भारत आये थे, यह साफ जाहिर है कि समूचे गुप्त-काल में और हीनयानी संतों की पूजा हीनयानियों में और बोधिसत्त्वों और प्रज्ञापारमिता या की पूजा महायानियों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। ह्वेन-त्सांग ने कुछ नों पर मैत्रेय की पूजा होते भी देखी थी।

फाह्यान और ह्वेन-त्सांग दोनों ने एक और महत्त्वपूर्ण बौद्ध उत्सव देखा, अर्थात् मूर्तियों का जलूस। फाह्यान ने यह जलूस खोतान और पाटलिपुत्र में था। खोतान के जलूस का वर्णन उसने इन शब्दों में किया है: "चार पहियों के रथ पर बीच में बुद्ध की मूर्ति बैठी हुई थी, जिसके दोनों ओर दो बोधिसत्त्व खड़े थे। को सात कीमती रत्नों, रेशमी पताकाओं और छत्रों से सजाया गया था। गोमती के यान भिक्षु जलूस की अगुवाई कर रहे थे। राजा मूर्ति के आगे साष्टांग प्रणत था र रानियाँ तथा अन्य स्त्रियाँ मूर्ति पर पुष्पवर्षा कर रही थीं। यह अनुष्ठान महीने की पहली तारीख को शुरू और चौदह तारीख को समाप्त हुआ।" ह्वेन-त्सांग ने भी इससे मिलता जुलता ब्यौरा दिया है। ई-त्सिंग ने किसी जलूस का तो उल्लेख नहीं किया, लेकिन मूर्तियों को स्नान कराने के दैनन्दिन नुष्ठान का विस्तृत वर्णन किया है। वह कहता है, प्रतिदिन बुद्ध की प्रतिमा को षित जल तथा अन्य आवश्यक द्रव्यों से स्नान कराना भिक्षुओं का अनिवार्य र्तव्य था।

IV. हीनयान और महायान का भौगोलिक विभाजन

यद्यपि महायान सम्प्रदाय के उत्कर्ष के साथ जनता पर हीनयान सम्प्रदाय का प्र खत्म हो गया, लेकिन उसके अनुयायियों की संख्या बहुत कम नहीं हुई। कुछ हीन मतवादों, विशेषकर सर्वास्तिवाद, का अब भी एक विशाल क्षेत्र पर गहरा प्रभाव सर्वास्तिवादी, जिन्हें बाद में वैभाषिक के नाम से पुकारा जाने लगा, सारे उत्तर में फैले हुए थे, यहां तक कि उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, कश्मीर, फारस, मध्य ए चीन, जावा, सुमात्रा और कोचीन, चीन में भी। स्थविरवादी, जिनमें महि भी शामिल हैं, उज्जयिनी, वलभी, कांची तथा लंका, स्याम और वर्मा में फैले हुए कुछ क्षेत्रों में उनकी जगह पर सम्मितियों का प्रभाव बढ़ गया था। यह एक वौद्ध दाय था, जिसने सातवीं सदी में हर्षवर्धन का संरक्षण पाकर प्रमुखता प्राप्त कर ली महासांधिक गुन्टूर जिले के अपने प्राचीन स्थान में प्रमुख बने रहे, लेकिन उनकी संख्या होती जा रही थी, क्योंकि शायद बुद्धों और वोधिसत्त्वों के बारे में महायानियों से वि साम्य होने के कारण वे महायान सम्प्रदाय में शामिल होते जा रहे थे।

सारे हीनयान और महायान सम्प्रदायों का परस्पर विरोध इतना कटु नहीं कि उन्हें मजबूर होकर एक दूसरे से अलग रहना पड़ता। अनेक विहारों और चैत्यों वे साथ साथ रहते थे, विशेषकर मगध में नालन्दा, विक्रमशिला और पाटलिपुत्र प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रों में।

फाह्यान ने, जो पाँचवीं सदी के आरम्भ में भारत आया था, हीनयान महायान दोनों सम्प्रदायों के बौद्ध भिक्षुओं की मौजूदगी का उल्लेख किया है। लोबनोर, दरद, उद्यान, गन्धार, बन्नू, कन्नौज और कोशाम्बी में हीनयान (सम् सर्वास्तिवाद) का और लंका में हीनयानी स्थविरवाद का एकछत्र प्रभाव देखा था, ज अफगानिस्तान, भिड (पंजाब), मथुरा और पाटलिपुत्र आदि स्थानों में उसने हीन और महायान दोनों के अनुयायी देखे थे। केवल खोतान के बारे में उसका कहना है वहां सारे भिक्षु महायानी थे। बौद्ध सम्प्रदायों के बारे में फाह्यान की सूचना छिट-पुट है लेकिन पाँचवीं सदी में बौद्ध धर्म की तस्वीर पेश करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

फाह्यान के विवरण में जो कमी थी, उसकी पूर्ति ह्वेन-त्सांग के विवरण हो जाती है। उसने सिर्फ इतना ही नहीं बताया कि किसी स्थान विशेष के बौद्ध हीन थे या महायानी, बल्कि यह भी बताया है कि वे किस विशेष बौद्ध सम्प्रदाय के थे। विवरण से पता चलता है कि अनेक स्थान, जो फाह्यान के समय हीनयानी बौद्धों मिलन-स्थल थे, कुछ अपवादों को छोड़कर उसके समय में भी उनके आवास बने थे। भारत की उत्तरी सीमा से बाहर के देश और साथ ही भारत की निचाट उ सीमा पर स्थित देश, जैसे तेंकी, कुची, पोह-लू-का, बल्ख, का-ची, बामियान, (गिलगित सहित), तमसावन और उनके साथ ही स्थानेश्वर, श्रुघ्न, प्रयाग और कौशा एकान्ततः हीनयानियों के केन्द्र थे, विशेषकर सर्वास्तिवादी हीन-यानियों के।

यान ही एक अपवाद था, जहाँ के बौद्ध लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय के थे, जो सांघिकों की एक शाखा है। कपिशा, जालन्धर, मथुरा, साकेत, नेपाल, पुण्ड्रवर्धन, विर मठ (श्रीलंका), कोंकणपुर, महाराष्ट्र उज्जयन, पो-फा-तो और फारस में हीनयान और महायान दोनों मतों के अनुयायी देखे थे। जिन देशों में उसने केवल यानी बौद्ध ही देखे, उनके नाम हैं, लम्प, तक्षशिला, कुल्लू, मगध, उड़ीसा और विदर्भ। ह्वेन-त्सांग के समय में सांमितीय सम्प्रदाय (हीनयान) का महत्त्व अत्यधिक या था। उसने विशोक, अहिच्छत्र, संकास्य, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वाराणसी, ती, कर्णसुवर्ण, मालव, वलभी, हयमुख, आनन्दपुर, सिंध, कच्छ, पि-तो-शि-लो अ-फन-तु (अवन्त) में इस सम्प्रदाय के अनुयायी देखे थे। ये सारे स्थान पहले विरवादियों के प्रिय संगमस्थल थे और सम्भव है कि ये स्थविरवादी **पुद्गल** का न्त स्वीकार करने के बाद सांमितीय बन गये हों। समतट और द्रविड़ (राजधानी पुर) में उसने स्थविर स्कूल के क्रमशः ३० और १०० चैत्य तथा २००० और ,००० भिक्षु देखे। उसका यह वक्तव्य कि उसने बोधगया, कलिंग (राजमहेन्द्री), क कि श्रीलंका में भी महायानी स्थविर देखे थे, कुछ उलझन में डालता है। जैसा कहा जा चुका है, यह सम्भव है कि उसकी दृष्टि में ऐसे भिक्षु रहे हों, जो यद्यपि यान के सिद्धान्तों को स्वीकारते थे, लेकिन स्थविरवादियों के विनय नियमों को भी ते थे। उसने महासंघिकों के बारे में कहा है कि यह सम्प्रदाय धीरे धीरे मिटता जा था और केवल अन्दरब और धनकटक (अमरावती) जैसे अपने प्राचीन केन्द्रों में लता था। यह स्पष्ट है कि भारत में बौद्ध सम्प्रदायों की भौगोलिक अवस्थिति के में फाह्यान और ह्वेन-त्सांग के विवरण काफी मिलते हैं, केवल ह्वेन-त्सांग का रण अधिक व्यापक है।[1]

५. चार दार्शनिक सम्प्रदाय

हीनयान और महायान चार दार्शनिक सम्प्रदायों में बंटे हुए थे। इनमें से दो, षिक और सौत्रान्तिक, हीनयानी थे तो दो, माध्यमिक और योगाचार, महायानी। रभाष्य, श्लोकवार्त्तिक और **सर्वदर्शनसंग्रह** जैसे ब्राह्मणवादी दर्शन की पुस्तकों में न इन चार बौद्ध सम्प्रदायों की ही चर्चा की गयी है, पहले के स्कूलों की नहीं।

वैभाषिक

श्मीर और गन्धार के सर्वास्तिवादियों को वैभाषिक नाम दिया गया है, के उन्होंने मूल सूत्रों की अपेक्षा सर्वास्तिवादियों के मुख्य अभिग्रन्थ, कात्यायनीपुत्र

---

[1] ज. रा. ए. सो., १८९१, पृ० ४१८ प. पृ. ह्वेन-त्सांग के आंकड़े इस प्रकार है :
३२,००० महायानी भिक्षु
६६,००० हीनयानी भिक्षु जिनमें ४४,००० साम्मितीय भिक्षु हैं।
२४,००० हीनयान और महायान दोनों भिक्षु।

के **ज्ञानप्रस्थान** सूत्र (ई० पू० दूसरी सदी) की **विभाषाओं** (भाष्यों) को अधिक
णिक मान लिया था। ये **विभाषाएं** ई० की दूसरी सदी में संकलित की गयी थीं,
कहा जाता है कि अश्वघोष ने उन्हें साहित्यिक संस्कृत में लिखा था। इन विभा
का चीनी भाषा में सन् ३८३-४३४ ई० में अनुवाद किया गया। **विभाषा** के दो सं
हैं, एक बृहद् संस्करण जो २०० भागों में है और एक छोटा संस्करण, जो केवल
भागों में है। प्रो० तकाकुसु के अनुसार बृहद् संस्करण काश्मीरी **विभाषा** का
हो सकता है और छोटा संस्करण गान्धारी **विभाषा** का।

विभाषाओं का मुख्य रूप से कश्मीर में ही अध्ययन किया जाता था और
उनको सुरक्षित भी रखा गया। **वैभाषिक** सम्प्रदाय के अनेक विख्यात शिक्षक हैं
धर्मोत्तर, धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र और बुद्धदेव, जिनमें से हरेक का इस सम्प्र
बाह्यप्रत्यक्षवाद के बारे में अपना-अपना विचार या मत था।[1]

वसुबन्धु (ई० की पांचवीं सदी)[2] गान्धार निवासी था। उसने कश्मीर
संघभद्र के साथ **विभाषाओं** का गम्भीर अध्ययन किया और **अभिधर्मकोश** और
भाष्य की रचना की जिसमें उसने **विभाषाओं** में विवेचित विषयों का संक्षेपण किया
यह **कोश** और उसके **भाष्य** बौद्ध धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थ माने जाने लगे और ही
और महायान दोनों के भिक्षु सामान्य रूप से उनका अध्ययन करते थे। कोश
महत्त्वपूर्ण माना गया कि इसके अध्ययन के लिए चीन में स्कूल (कोश-स्कूल) शुरू
गये, और इसका आज भी चीन और जापान में गम्भीर अध्ययन किया जाता है।
भाषा में इसका अनुवाद परमार्थ ने सन् ५६३-५६७ ई० में किया, फिर दूसरा
ह्वेन-त्सांग ने सन् ६५१-६५४ ई० में किया। परमार्थ ने वलभी में इसका
किया और ह्वेन-त्सांग ने नालन्दा में।

वसुबन्धु के जीवनकाल में, अर्थात् पाँचवीं सदी ई० के लगभग, वार्षगण्य
विन्ध्यावास को साँख्य-शास्त्र समझाया, जिसने अयोध्या जाकर सारे विरोधियों
शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। राजा विक्रमादित्य ने बौद्ध भिक्षुओं को यह
कबूल करने के लिए निमंत्रित किया, लेकिन दुर्भाग्य से उस समय मनोरथ और
दोनों ही देश से बाहर थे। इसलिए वसुबन्धु के एक वृद्ध गुरु बुद्धमित्र को यह
कबूल करनी पड़ी, लेकिन विन्ध्यावास ने उसे हरा दिया। जब वसुबन्धु को
आदरणीय गुरु की हार का पता चला तो उसने अपने आपको अत्यन्त अपमानित
किया और उसने सांख्य मत के खंडनार्थ **परमार्थ-सप्तति** की रचना की। उसके
ग्रन्थ से राजा विक्रमादित्य इतना प्रभावित हुआ कि उसने न केवल वसुबन्धु को पुर
किया, बल्कि युवराज बालादित्य की शिक्षा का भार भी उसे सौंप दिया।[3]

---

[1] तारा., पृ. ६७; एन. दत्त, **अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म**, II., १४५।

[2] आगे देखिये, पृ. ४३६।

[3] ऊपर देखिये, पृ. ४३-४६।

तारनाथ ने केवल एक ही वैभाषिक शिक्षक, गुणप्रभ का जीवन-चरित्र लिखा ो वसुबन्धु का शिष्य था। गुणप्रभ मथुरा के एक ब्राह्मण परिवार में जन्मा और वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ा था। फिर उसने त्रिपिटक और महायान ग्रन्थों का और अध्ययन किया। लगता है कि उसने **विनयपिटक** में विशेष रुचि दिखायी थी हा जाता है कि अग्रपुरी-विहार में रहते हुए, उसने वहां के भिक्षुओं से विनय के ों का कठोर पालन करवाया था। वह उस समय के शासक सम्राट हर्षवर्धन का ात्मिक गुरु था। ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि गुणप्रभ जो मतिपुर के बिहार में ा था, महान् बौद्धिक प्रतिभावान् भिक्षु और प्रगल्भ लेखक था। वह महायान के अपना झुकाव त्याग कर कट्टर वैभाषिक बन गया और आजीवन वैभाषिक बना रहा।[1]

ौत्रान्तिक

वैभाषिकों के बाह्यप्रत्यक्षवाद के विरोध में सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का गन्धार श्मीर में विकास हुआ। इस नाम की व्युत्पत्ति सूत्र या सूत्रान्त से है। ये लोग टक या सूत्रान्तों को ही अन्तिम प्रमाण मानते थे, जिनमें विभाषाओं और यहां कि अभिधर्मों तक को शामिल नहीं किया जाता था। **कोश**[2] में कहा गया है कि यह विनयपिटक का समर्थक (विनयवादी) था और साथ ही दार्ष्टान्तिक भी था, कि वे हर अनुमान के प्रमाण के लिए दृष्टान्त मांगते थे। वैभाषिकों से विपरीत, जो वस्तुओं का अस्तित्व प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर स्वीकार करते थे, सौत्रान्तिकों हना था कि बाह्य वस्तुएँ केवल भ्रम (प्रज्ञप्ति) हैं और उनका अस्तित्व केवल न (बाह्यार्थानुमेयत्व) द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि प्रकार एक व्यक्ति के मोटापे का अर्थ है कि वह पौष्टिक भोजन करता रहा है, प्रकार विचारणा के अस्तित्व में सत्य (ज्ञेय) का अस्तित्व भी अन्तर्निहित है, जिसकी थ जरूरी है। कोश[3] में कहा गया है कि **असंस्कृत,** मिसाल के लिए आकाश या न, कोई वास्तविक पदार्थ (द्रव्य) नहीं है—वह तमाम यथार्थ तत्त्वों का केवल त है। तकाकुसु ने अपने ग्रन्थ "बौद्ध-दर्शन के मूल तत्त्वा" (Essentials of dhist Philosophy)[4] में लिखा है कि सौत्रान्तिकों के अनुसार "कोई पदार्थ नहीं (अनात्म), कोई काल नहीं है (अनित्य), कोई सुख नहीं है (दुःख), केवल है (सुख)।" सैद्धान्तिक शाखा के हीनयानी यह मत स्वीकार करते हैं कि—मात्र (तत्त्वों के सूक्ष्मतम रूप) एक अस्तित्व से दूसरे अस्तित्व में बदल जाते हैं, उसका दावा है कि निर्वाण में स्कन्धमात्रों का अस्तित्व भी समाप्त हो है।

---

[1] या. ट्रै. वा., I, ३२३।

[2] VIII, ३२।

[3] II, १२७।

[4] डब्ल्यू० टी० चाउ और सी. ए. मूर द्वारा सम्पादित, होनोलुलु १९४७, पृ० ७४।

इस मत का मूल प्रतिपादक तक्षशिला-निवासी कुमारलब्ध[1] था। वह प्रसिद्ध शिक्षक था और चार "भारत-मार्तण्डों" में गिना जाता था। अन्य तीन के हैं; अश्वघोष, नागार्जुन और आर्यदेव। कालक्रमानुसार कुमारलब्ध को आर्यदेव वसुबन्धु के बीच में कहीं रखना चाहिए।

सौत्रान्तिक मत का दूसरा महान् प्रतिपादक श्रीलाभ था, जिसका वसुबन्धु अपने **कोश-भाष्य** में उल्लेख किया है। वह कश्मीर का रहने वाला था और शास्त्रज्ञ था। ह्वेन-त्सांग ने अयोध्या में एक चैत्य देखा था जहाँ कुछ दिनों तक श्री रहा था। अवश्य ही वह वसुबन्धु से कई वर्ष पहले हुआ था।

तिब्बती इतिहासकार इस स्कूल के अस्तित्व के बारे में बिल्कुल खामोश रहे प्रो० तकाकुसु का विचार है कि सौत्रान्तिकों का विकास हरिवर्मन् के सत्यसिद्धि से हुआ था, जो सन् २५०-३५० ई० में भारत में प्रचलित था। लेकिन किसी भारतीय ग्रन्थ में हरिवर्मन् या सत्यसिद्धि स्कूल का कोई हवाला नहीं मिल इसलिए यह सन्दिग्ध है कि इस स्कूल का कभी भी भारत में अस्तित्व था।

३. माध्यमिक

माध्यमिक-दर्शन का मान्य प्रवर्तक नागार्जुन था,[2] जो ईसा की पहली शताब्दी लगभग हुआ। उसने अपने ग्रन्थ **मूलमध्यमकारिका** में यह स्थापना की कि एक यथार्थ **शून्यता** है और यथार्थ का कोई भी लौकिक वर्णन सम्भव नहीं है। अधिक से अधि इस सीमा तक ही जाया जा सकता है कि यथार्थ का विचार प्रस्तुत करने के लिए हर या अनुमेय वस्तु का निषेध किया जाय। उसका कहना था कि यह प्रत्यक्ष-जगत् या वास्तविकता पर मिथ्यावधारित अध्यारोपण है, इसलिए प्रत्यक्ष या बाह्य (संसार) और यथार्थ या वास्तविकता (**शून्यता** या **निर्वाण**) में बिल्कुल कोई नहीं है।

नागार्जुन के मत को विकसित करने का भार उसके शिष्य आर्यदेव ने उठा जिसके बारे में पहले कहा जा चुका है कि वह भारत के चार विख्यात विचारकों में से आर्यदेव सिंहल के एक राजा का दत्तक पुत्र था और वह नागार्जुन के बाद नालन्दा संघाराम का संघाध्यक्ष और माध्यमिक स्कूल का आध्यात्मिक गुरु बना। विरोधी शिक्षकों के तर्कों का बार-बार सफलतापूर्वक खंडन करने से उसे अपार ख्याति मिली उसने अनेक प्रबन्ध लिखे, जिनमें से केवल एक ही, **चतुःशतक**, अपने मूल संस्कृत सुरक्षित है। वह एक लम्बे अरसे तक नालन्दा में रहा, फिर अपने जीवन के अं काल में कांची चला गया, जहाँ ईसा की दूसरी सदी के लगभग उसकी मृत्यु हो गयी।

---

[1] आर्यदेव के समकालीन उत्तर को भी सौत्रान्तिक स्कूल के संस्थापकों में अन्यतम माना देखिये, या. ट्रै. वा. II, पृ० २२४।

[2] जिल्द II. पृ० ३८८ प. पृ. (अंग्रेजी संस्करण)।

उसका शिष्य मातृचेत. उत्तर भारत के एक ब्राह्मण परिवार में जन्मा था। वेदों और वेदांगों का प्रकांड विद्वान् तो था ही, तन्त्रों और मन्त्रों का भी ज्ञाता था। महेश्वर का उपासक था और उसकी प्रशंसा में स्तोत्र रचता था। उसने द्वन्द्वात्मक चार पद्धति या तर्कशास्त्र का विशेष अध्ययन किया था। उसका असली नाम काल था, किन उसे मातृचेत या पितृचेत इसलिए पुकारते थे, क्योंकि वह अपने मां-बाप का अत्य-क आदर करता था। अपनी असाधारण प्रतिभा और शास्त्रार्थों में प्राप्त सफलताओं कारण वह दुर्धर्ष काल के नाम से भी प्रसिद्ध था। लेकिन आर्यदेव से शास्त्रार्थ में ने और बौद्ध-धर्म अपना लेने के बाद, वह एक बड़ा उत्साही बौद्ध उपदेशक बन ा। उसने अनेक प्रबन्ध लिखे और हीनयान और महायान दोनों का प्रतिपादन किया। न दिनों राहुलभद्र नालन्दा का संघाध्यक्ष था, उसने वहाँ चौदह गन्धकुटियां (मंदिर) र चौदह विहार बनवाये। उसने तेरह ग्रन्थ रचे हैं, जिनमें से दो स्तोत्र-संग्रह—**वर्णार्हं-स्तोत्र**[1] (४०० पद) और **शतपंचाशत्कनामस्तोत्र**[2] (२५० पद) आज भी प्रसिद्ध हैं। न्दा में इनका गायन हीनयानी और महायानी दोनों प्रकार के भिक्षु करते थे।

राहुलभद्र, जो आर्यदेव का शिष्य था, अपने शिक्षक के बाद नालन्दा का संघा-क्ष बना। वह शूद्र जाति का था और उसके पास अपार धन था। वह अमिताभ बुद्ध उपासक था।

यह ज्ञात नहीं है कि राहुलभद्र के बाद नालन्दा का संघाध्यक्ष कौन बना। नाथ के कथनानुसार राहुलभद्र ने माध्यमिक सिद्धान्त की शिक्षा का कार्य अपने शिष्य लमित्र[3] को सौंपा था, जिसने अपने बाद यह कार्य अपने शिष्य नागमित्र को सौंपा। मित्र का शिष्य संघरक्षित था, जिसे असंग[4] का समकालीन बताया जाता है, और म्भवतः पाँचवीं सदी के आरम्भ में हुआ था। आर्यदेव और संघरक्षित के बीच भग दो शताब्दियों का अन्तर है। लगता है कि इन दो शताब्दियों में माध्यमिक न्त के विकास में किसी ने कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं किया।

इसी प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी[5] षा में अनुवाद करने वाला प्रसिद्ध विद्वान् कुमारजीव माध्यमिक स्कूल का अनुयायी

---

[1] तिब्बती भाषा में इस स्तोत्र के १५० पद सबसे पहले प्रो० एफ० डब्ल्यू० टॉमस ने १९०५ डियन ऐंटिक्वेरी, १९०५ पृ० १४५ प. पृ० में प्रकाशित किये थे, डॉ० हॉर्नली ने अपनी पुस्तक स्क्रिप्ट रीमेन्स इन ईस्टर्न **तुर्किस्तान** पृ० ७५ प. पृ० में मूल संस्कृत पाठ के कुछ अंश प्रकाशित ये।

[2] इस स्तोत्र का राहुल सांकृत्यायन ने ज. वि. ओ. रि. तो, १९३७ में सम्पादन और प्रकाशन या। हाल में डी० आर० शाकलेटन बेली ने इसका सम्पादन किया है। कैम्ब्रिज, १९५१।

[3] तारनाथ, पृ० १०२, ई-त्सिंग (पृ० ६४) ने अपने समय के एक प्रसिद्ध भिक्षु का उल्लेख है, जिसका नाम भी राहुलमित्र था, और जो पूर्वी भारत के भिक्षुओं के प्रधान के रूप में सम्मानित था।

[4] तारनाथ, पृ० १०४.।

[5] देखिये, परिच्छेद २३।

बन गया था और पाँचवीं शताब्दी में उसने चीन में इस विचारदर्शन का व्यापक प्र किया था।[1]

माध्यमिक दर्शन के दो महान् प्रतिपादक बुद्धपालित और भावविवेक संघर के शिष्य थे। उन्हें पाँचवीं सदी के अन्त में रखा जा सकता है, और वे योगाचार स्थिरमति और दिङ्नाग के वयस्क समकालीन थे।

बुद्धपालित दक्षिण के किसी देश में पैदा हुआ था। वह दंतपुर (कलिंग राजधानी) में रहता था और उस क्षेत्र में माध्यमिक दर्शन का प्रचार करता उसने नागार्जुन के **मूल-मध्यमक-सूत्र** का भाष्य लिखा और **शून्यता** का अनुमान करने के लिए नागार्जुन और आर्यदेव की **प्रासंगिक** पद्धति का प्रयोग किया।

भावविवेक दक्षिण में मलयगिरि के एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुआ था। मध्य देश आया और संघरक्षित का शिष्य बन गया। उसने महायान ग्रन्थों का, रूप से नागार्जुन के सिद्धान्तों का, गम्भीर अध्ययन किया। वह फिर दक्षिण लौट और वहाँ उसने पचास बौद्ध मठों के संचालन का कार्य-भार उठा लिया। उसके की संख्या काफी बड़ी थी। बुद्धपालित की मृत्यु के बाद, उसने नागार्जुन के मूल-मध्यम **सूत्र** पर **प्रज्ञाप्रदीप** नाम से एक व्याख्यात्मक प्रबन्ध लिखा। उसने बुद्धपालित की प्रासं पद्धति त्याग दी और उसके कुछ तर्कों का भी खंडन किया, और नागार्जुन के शून्य सिद्धान्त को **स्वातन्त्रिक** (सीधे तर्क) पद्धति से प्रमाणित किया। उसने एक स्वत ग्रन्थ भी लिखा, जिसका नाम **माध्यमिकहृदय** है। इसके साथ ही उसने तर्कज्वा नाम से एक टीका लिखी, जिसमें उसने **स्वातन्त्रिक पद्धति** की व्याख्या की और बोधिस के कार्यों का विवेचन किया। ह्वेन-त्सांग ने लिखा है कि इस पुस्तक में भावविवे न केवल माध्यमिक विरोधी दर्शनों का, बल्कि ब्राह्मणवादी दर्शनों का भी, खंडन कि है भावविवेक के जमाने में ही माध्यमिकों और योगाचारियों में एक तीखी दरार थी, और दोनों पद्धतियाँ महायान की दो भिन्न विचारधाराओं में बंट गयी। दोनों के अनुयायियों में तीखी बहस चल पड़ी, विशेषकर भावविवेक और स्थिरमति शिष्यों में।

माध्यमिक दर्शन का अगला महान् प्रतिपादक चन्द्रकीर्ति था। उसने बुद्धपा की **प्रासंगिक** पद्धति का इतना निकट अनुसरण किया कि कुछ परम्पराओं में उसे पालित का दूसरा अवतार कहा गया है। नागार्जुन के **मूलमध्यमक** पर उसकी टी **प्रसन्नपदा** एक उत्कृष्ट कृति है और मूल संस्कृत में उपलब्ध है। वह दक्षिण के में पैदा हुआ था और उसने बुद्धपालित के शिष्य कमलबुद्धि से माध्यमिक दर्शन का अ किया था। फिर वह नालन्दा का संघाध्यक्ष बना और उसने अनेक टीकाएँ लिखीं छन्दबद्ध प्रबन्ध लिखा, जिसका नाम **समन्तभद्र** है। वह दक्षिण गया और वहां

---

[1] तकाकुसु **एसेंशियल्स आफ बुद्धिस्ट फिलॉसॉफी**, पृ० ९९।

[2] तारनाथ, पृ० १३६।

शास्त्रार्थ में कोंकण के कुछ धर्म-शिक्षकों को हराया, एक बड़ी संख्या में ब्राह्मणों और गृहस्थों को बौद्धधर्म की दीक्षा दी और बड़े-बड़े बौद्ध विहारों की स्थापना की। चन्द्रगोमिन् के साथ बहुत दिनों तक उसकी बहसें चलती रहीं, जो उसका समकालीन था और योगाचार-दर्शन का प्रतिपादक था। उसने चन्द्रगोमिन् के विशाल अध्ययन और विविध विषयों की जानकारी की प्रशंसा की और उसे नालन्दा के संघाराम में एक सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव किया।

चन्द्रकीर्ति के बाद धर्मपाल (सन् ६३५ ई०) नालन्दा का संघाध्यक्ष बना। वह योगाचारी मत का था। फिर कुछ समय के लिए जयदेव[1] संघाध्यक्ष बना। जयदेव का शिष्य शान्तिदेव था, जो चन्द्रकीर्ति के बाद माध्यमिक स्कूल का सबसे प्रसिद्ध लेखक था।

शान्तिदेव (जिसका मूल नाम शान्तिवर्मन् था) सौराष्ट्र के राजा कल्याणवर्मन् का बेटा था। वह भुसुकु के नाम से भी ज्ञात है। उसने विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन किया और एक भिक्षु का जीवन व्यतीत करने के लिए अपनी राजगद्दी त्याग दी। वह मंजुश्री का उपासक था।

वह भी मध्यदेश गया और नालन्दा के जयदेव का शिष्य बन गया। उसने क्षेत्र के पश्चिम में रहनेवाले विधर्मियों की एक बड़ी संख्या को बौद्ध बनाया, जिनमें एक राजा और दक्षिण में श्रीपर्वत के अनेक शिव-भक्त भी थे। उसने तीन ग्रन्थ रचे : **शिक्षासमुच्चय, बोधिचर्यावतार** और **सूत्र-समुच्चय**। इनमें से दो मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं। **शिक्षासमुच्चय** में उसने उन आचार-नियमों का संग्रह किया, जिनका एक बोधिसत्त्व को पालन करना चाहिए, जबकि **बोधिचर्यावतार** में उसने इस बात का चित्रण किया कि एक बोधिसत्त्व किस प्रकार धीरे-धीरे आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ **प्रज्ञापारमिता**, अर्थात् शून्यता की माध्यमिक अवधारणा प्राप्त करता है।

शान्तिदेव के बाद कश्मीर के राजा का भतीजा सर्वज्ञमित्र (आठवीं सदी), नालन्दा का एक प्रसिद्ध शिक्षक बना। वह रविगुप्त का शिष्य था। उसने कश्मीर और तिब्बत में काम किया था और जयदेव का समकालीन था। वह **स्रग्धरास्तोत्र** का लेखक है, जो मूल संस्कृत में उपलब्ध है।

योगाचारी

आमतौर पर धारणा यह है कि नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के प्रवर्तन के बाद ही, अर्थात् तीसरी सदी के लगभग, योगाचार दर्शन का उद्भव हुआ था। इस दर्शन का प्रवर्तक मैत्रेयनाथ था, जिसका इतिहास तारनाथ, बु-स्टॉन और दूसरे विद्वानों ने भावी बुद्ध मैत्रेय के साथ अभिन्न मानकर अस्पष्ट बना दिया है। प्रो० तकाकुसु[2] के अनुसार

---

[1] तारनाथ, पृ० १६२।

[2] **एसेंशियल्स आफ बुद्धिस्ट फिलॉसॉफी**, पृ० ९८.

योगाचार दर्शन का सबसे पहला ग्रन्थ अश्वघोष का **श्रद्धोत्पादसूत्र** है, जो ईसवी पहली शताब्दी के लगभग रचा गया था। लेकिन इस सूत्र की प्राचीनता के बारे आमतौर पर अन्य विद्वान् प्रो० तकाकुसु से सहमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का विचार कि **पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता**[1] योगाचार का प्रथम ग्रन्थ है। बाद में इसे मैत्रेय के **अभिसमयालंकारकारिका** के अनुकूल परिवर्तित कर लिया गया। इन ग्रन्थों के बाद **दशभूमिक-सूत्र, काश्यप-परिवर्त** और **लंकावतार-सूत्र** आदि योगाचार अन्य ग्रन्थ रचे गये। इन ग्रन्थों के भी बाद **संधिनिर्मोचन-सूत्र** रचा गया, जिसने धर्म- के अस्पष्ट आदर्शवाद और असंग द्वारा विकसित विज्ञानवाद में सम्बन्धसूत्र का किया, जिसके अनुसार चित्त ही एक मात्र सत्ता है, उसके अलावा और किसी चीज अस्तित्व नहीं है। बाह्य जगत् मन या चित्त की ही सृष्टि है। माध्यमिकों की योगाचारी भी सिद्ध करते हैं कि शून्यता ही एक मात्र यथार्थ या वास्तविकता है न उत्पन्न होती है, (अनादि या अज), न विसर्जित होती है (अनन्त), और जो वर्णना (अनिर्वचनीय) है। माध्यमिक दर्शन से इसका अन्तर केवल यह है कि योगाचार अनुसार यह वास्तविकता शुद्ध चेतना (**विज्ञप्तिमात्र**) है, जो माध्यमिक निरपेक्षता के विरुद्ध है, क्योंकि वह **शून्यता** का कोई **गुण**, शुद्ध चेतना का गुण भी, स्वीकार नहीं कर

मैत्रेयनाथ सन् २७०-३५० ई० के लगभग अयोध्या में रहता था। विज्ञानवादी विचारों को संगुफित करते हुए कई ग्रन्थ रचे। उसके **अभिसमयालंकार कारिका, मध्यान्तविभाग** और **बोधिसत्त्व-भूमि** मूल संस्कृत भाषा में उपलब्ध है इसलिए सबसे पहले विज्ञानवादी दर्शन के प्रतिपादन का श्रेय मैत्रेयनाथ को देना चाहिए न कि असंग को, जैसा कि कुछ परम्पराओं में किया गया है।

असंग पुरुषपुर (पेशावर) के राज-पुरोहित का पुत्र था। वह पहले महि सम्प्रदाय में शामिल हुआ, जहां पिण्डोल नाम के एक भिक्षु ने पुद्गल-शून्यता हीनयानी विचारधारा से उसका परिचय कराया। क्योंकि इस सिद्धान्त से उसे सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए वह महायान के सत्यों की जानकारी प्राप्त करने के मैत्रेयनाथ के पास गया। मैत्रेयनाथ से वह बहुत प्रभावित हुआ, और उसे प्रेरणा प्राप्त हुई। मैत्रेयनाथ ने उसे अध्ययन के लिए **सप्तदशभूमिशास्त्र** (सन् ४२९ ई० में चीनी भाषा में अनूदित), **महायानसंग्रह, अभिधर्मसमुच्चय** तथा कुछ ग्रन्थ दिये। असंग ने फिर मैत्रेयनाथ की सूक्तियों का संग्रह किया, और उन कार्य-वि का ब्यौरा तैयार किया, जिनका एक योगाचारी भिक्षु को पालन करना चाहिए, अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए उसे जिन आध्यात्मिक चरणों से गुजरना पड़ेगा। सन् ३१०-३९० ई० के बीच अयोध्या में रहा था। उसने इस सिद्धान्त को एक आधार प्रदान किया और इसका भविष्य सुरक्षित करने के लिए अपने छोटे भाई वसु को, जो एक महान् बौद्धिक प्रतिभा का विचारक था, अपना सर्वास्तिवाद का पुराना त्याग कर योगाचार मत का प्रतिपादन करने के लिए राजी कर लिया।

---

[1] एन० दत्त द्वारा सम्पादित और कलकत्ता ओरिएंटल सीरीज में प्रकाशित।

वसुबन्धु आरम्भ में सर्वास्तिवादी था।[1] उसके बड़े भाई असंग ने उसे योगाचार की ओर आकृष्ट कर लिया। नये मत को अपनाने के वाद उसने विज्ञानवाद के दार्श- सिद्धान्तों के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उसका **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि** नवाद का एक महान् ग्रन्थ है। बीस या तीस कारिकाओं में, जो **विंशतिका** और का के नाम से प्रसिद्ध हैं, उसने अपने दृष्टिकोण से विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया। वह केवल एक टीकाकार और दार्शनिक ही नहीं था, बल्कि एक महान् तर्कशास्त्री था। उसके समय में तर्कविज्ञान दरअसल शास्त्रार्थ या बहस (वाद) का एक अंग, इसलिए तर्क-विज्ञान पर लिखी उसकी सभी पुस्तकों के शीर्षक "वाद" शब्द से होते हैं, जैसे **वादहृदय, वादविधि, वादविधान।** इस वात का श्रेय वसुवन्धु के शिष्य नाग को है कि उसने तर्क-विज्ञान को वाद से अलग करके **वाद** के स्थान पर **न्याय** का प्रयोग चालू किया।

नालन्दा के संघाध्यक्ष के पद पर दीर्घकाल तक रह कर वसुवन्धु ने अत्यन्त महत्त्व- कार्य किया। उसके शिष्यों की काफी बड़ी तादाद थी, जिनमें गुणमति, स्थिरमति, नाग, संघदास, धर्मदास, धर्मपाल और विमुक्तसेन के नाम उल्लेखनीय हैं।

गुणमति वलभी का रहने वाला था और उसने अपने जीवन के अधिकांश दिन गुजारे थे। वह नालन्दा आया और वहाँ के प्रसिद्ध शिक्षकों में से एक हो गया। उसका अक्सर स्थिरमति के साथ लिया जाता है, जो उसका समकालीन ही नहीं था, बल्कि में उसके साथ एक ही चैत्य में रहा था। गुणमति ने **अभिधर्मकोश**[2] की एक टीका और मध्व के द्वैतवाद और साथ ही भाव्य (=भावविवेक) सम्वन्धी माध्यमिकों मतों का खंडन किया। उज्जयिनी का महान् विद्वान् परमार्थ इस गुणमति का ही था। उसने गुणमति के ग्रन्थ **लक्षणानुसारशास्त्र** का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

स्थिरमति दंडकारण्य का रहने वाला था। वह गुणमति का शिष्य बना और गुणमति के **शास्त्रों** का अध्ययन किया। उसने हीनयान और महायान दोनों के क सिद्धान्तों का अध्ययन किया और वसुबन्धु के **अभिधर्मकोश, अभिधर्मसमुच्चय** दूसरे ग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं। उसने सारे **राष्ट्रकूट-सूत्रों** को कंठस्थ कर लिया उसके एक ग्रन्थ **काश्यप-परिवर्त** की टीका लिखी। उसने **मध्यान्तविभाग** और न्धु के **त्रिंशिका** पर प्रवन्ध रचे, जो अपने मूल संस्कृत रूप में प्राप्त हो गये हैं।[3]

वसुबन्धु का एक और प्रतिभाशाली शिष्य दिङ्नाग था। वह कांची (कांजी-) के एक ब्राह्मण परिवार में जन्मा किन्तु वस्तिपुत्रीय (=साम्मितीय) सम्प्रदाय भिक्षु वन गया। वसुबन्धु का शिष्य बनने के बाद उसने अपना पुराना मत त्याग

---

[1] ऊपर देखिए, पृ० ४३२, एक वैभाषिक शिक्षक के रूप में।

[2] वाटर्स (II, पृ० १०८) का विचार है कि **कोश** का टीकाकार गुणमति, योगाचारी गुणमति था। **कोश** क्योंकि एक बुनियादी ग्रन्थ था और हीनयानी और महायानी दोनों ही उसका अध्ययन ते थे, इसलिए **कोश** का टीकाकार एक योगाचारी भी हो सकता है।

[3] ज. रा. ए. सो., १९४७, पृ. ५३ प. पृ.।

दिया और विज्ञानवादी बन गया। वह तर्क-विज्ञान का विशेषज्ञ था। इस वि उसने अनेक प्रबन्ध लिखे, जिनमें से **प्रमाणसमुच्चय** सर्वश्रेष्ठ है। उसके दो ग्रन्थ **प्रवेश** और **प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ** मूल संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं। उसके कुछ सन् ५०० ई० में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। ई-त्सिंग ने उसके आठ ग्रन्थों की दी है, जिनका विद्यार्थी तर्क-विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों की तरह प्रयोग करते थे। अपने जीवन का अधिकांश भाग बौद्धिक खंडन-मंडन में व्यतीत किया, और कुमारिलभट्ट और पार्थसारथी मिश्र आदि ब्राह्मणवादी नैयायिकों ने उसके की कड़ी आलोचना की। दिङ्नाग दरअसल मध्यकालीन न्यायशास्त्र का प्रवर्तक उससे पहले के विद्वानों, नागार्जुन, असंग और वसुबन्धु ने, अपने सिद्धान्तों के के लिए तर्कशास्त्र का प्रयोग किया था, लेकिन दिङ्नाग पहला विद्वान् था, या न्याय के स्वतन्त्र विज्ञान के मूल सिद्धान्तों और पद्धतियों का निर्धारण किया। ओडिविस गया और वहां उसने राजा के कोषाध्यक्ष भद्रपालित को वौद्ध-धर्म की दी, जिसने सोलह चैत्यों का निर्माण करवाया। वह शायद पाँचवीं सदी के अन्त छठी शताब्दी में हुआ था। दिङ्नाग के भी अनेक शिष्य थे, जिनमें से शंकर और धर्मपाल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शंकरस्वामी दक्षिण भारत का था और वह **न्यायप्रवेश-तर्कशास्त्र** का लेख जिसका ह्वेन-त्सांग ने सन् ६४७ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया।

धर्मपाल कांची का रहनेवाला था। ह्वेन-त्सांग ने लिखा है कि वह के एक उच्चपदाधिकारी का बेटा था, जबकि तारनाथ का कहना है कि वह एक या मंत्रपाठी का बेटा था और छोटी उमर में ही बौद्ध और ब्राह्मणवादी ग्रन्थों के बड़े हिस्सों का स्मृति से पाठ कर सकता था। वह मध्यदेश आया और दिङ्नाग का बन गया। वह अपनी स्मृति से सौ बड़े-बड़े सूत्रों को जबानी सुना सकता था। **स्तोत्र** और **स्तव** रचे। कुछ समय तक वह गया में धर्म की शिक्षा देता रहा, जहां भावविवेक मिलना चाहता था, लेकिन इसमें सफल नहीं हुआ। धर्मपाल ने (कौशाम्बी के निकट) में शास्त्रार्थों में अनेक हीनयानी शिक्षकों को हराया फिर वह नालन्दा का संघाध्यक्ष बना और उसने योगाचार-दर्शन पर कुछ ग्रन्थ उसने ही धर्मकीर्ति को बौद्ध भिक्षु की दीक्षा दी थी। वह सातवीं सदी के हुआ था और उसके बाद उसका शिष्य शीलभद्र नालन्दा का संघाध्यक्ष वना, ह्वेन-त्सांग ने बौद्धग्रन्थों का अध्ययन किया था।

शीलभद्र समतट के एक राजपरिवार से आया था। वह धर्मपाल का और कुछ ही दिनों में उसने शास्त्रार्थ करने में महान् ख्याति प्राप्त कर ली। दक्षिण भारत के अनेक विद्वानों को दार्शनिक विवादों में हराया और देश के पुरस्कार के रूप में उसे एक गांव का राजस्व दान किया था। इस राजस्व से उसने का निर्माण किया और उसमें रहने वाले भिक्षुओं के खर्च का प्रबन्ध किया। ने अपने इस मित्र और शिक्षक की खुले दिल से तारीफ की है। चीनी यात्री उससे

सदी के मध्य में मिला था। नालन्दा का वह अन्तिम संघाध्यक्ष था, जिसका नाम हमें ज्ञात है। उसके बाद विज्ञानवाद का अगला प्रसिद्ध लेखक हरिभद्र था, जो पाल राजा धर्मपाल के शासन-काल में हुआ था। वह विरोचनभद्र का शिष्य था। यह ज्ञात नहीं है कि शीलभद्र और हरिभद्र के बीच विज्ञानवाद के और कितने शिक्षक हुए थे।

दिङ्नाग का एक शिष्य ईश्वरसेन था, जो शीलादित्य हर्षवर्धन के कुछ बाद हुआ था। उसने धर्मकीर्ति को दिङ्नाग का **प्रमाणसमुच्चय** समझाया था।

धर्मकीर्ति दक्षिण के एक ब्राह्मण परिवार से आया था और सम्भवतः प्रसिद्ध कुमारिल भट्ट का भतीजा था। सोलह या अठारह साल की उम्र में ही वह नास्तिकों के सभी शास्त्रों में पारंगत हो गया था। तब उसे बोध हुआ कि उसके अपने सिद्धान्तों में अनेक त्रुटियां थीं और सारे शास्त्र अपूर्ण थे, जबकि बुद्ध के महान् उपदेश इसके ठीक विपरीत थे। उसको बुद्ध की शिक्षा पसन्द आयी और वह एक **उपासक** बन गया। बुद्ध के प्रति अपनी अनन्य भक्ति के कारण उसे ब्राह्मणों ने धर्म से निकाल दिया। वह मध्यदेश आया जहाँ धर्मपाल ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। उसने अपने शिक्षक ईश्वरसेन से दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** का अध्ययन किया, लेकिन वह कुछ मामलों में अपने शिक्षक से सहमत नहीं हो सका, इसलिए उसने इस ग्रन्थ की एक नयी टीका लिखी। उसने सांख्य-दर्शन के जटिल विषयों का गम्भीर अध्ययन किया और फिर शास्त्रार्थ में नास्तिक शिक्षकों को परास्त किया। कहते हैं कि न्यायशास्त्र के क्षेत्र में उसका योगदान दिङ्नाग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका ग्रन्थ **न्यायबिन्दु** मूल संस्कृत में प्राप्त है। उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **प्रमाणवार्त्तिक** है, जिसकी टीका **प्रज्ञाकारगुप्त**[1] ने लिखी है। शान्तरक्षित ने अपने ग्रन्थ **तत्त्वसंग्रह** में उसके विचारों की आलोचना की है। क्योंकि ई-त्सिंग ने अपने विवरण में धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है, इसलिए उसे सातवीं सदी में ही रखना चाहिए।

स्थिरमति के सबसे अधिक प्रतिभाशाली शिष्यों में से एक चन्द्रगोमी था, जिसने भारतीय व्याकरण-शास्त्र के विकास में उल्लेखनीय योगदान किया है। वह वरेन्द्र में पैदा हुआ था जो पूर्व में है। उसने सारे विज्ञानों का अध्ययन किया था, जिनमें व्याकरण और द्वन्द्वात्मक पद्धति भी थी। स्थिरमति से उसने **सूत्र** और **अभिधर्मपिटक** का अध्ययन किया और दूसरे शिक्षकों से मन्त्र और तन्त्र सीखे। वह तारा और अवलोकितेश्वर का उपासक था। उसने वरेन्द्र के राजा की बेटी से विवाह किया, जिसका नाम तारा था। एक दिन अचानक उसे लगा कि उसकी पत्नी तारा उसकी आराध्यदेवी तारा से भिन्न नहीं है और वह घर छोड़कर चला गया। वह एकान्तवासी बनकर गंगा पार कर ऐसे निर्जन स्थान में जाकर रहने लगा, जो बाद में चन्द्रदीप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस स्थान पर उसने तारा और अवलोकितेश्वर के मन्दिर बनवाये। वह विज्ञानवादी था और इस प्रकार वह चन्द्रकीर्ति का प्रतिद्वन्द्वी था, जो माध्यमिक दर्शन के बुद्धपालित स्कूल का अनुयायी था। ये दोनों विद्वान् कई वर्षों तक सैद्धान्तिक बहसें करते रहे थे। चन्द्रगोमी ने चिकित्सा,

---

[1] राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित।

वास्तु-कला, कोश-कला, व्याकरण, द्वन्द्वात्मक पद्धति, छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र विविध विषयों पर अनेक प्रबन्ध रचे। उसके ग्रन्थ **चान्द्र-व्याकरण** का विद्वानों में सम्मान हुआ। उसने **दशभूमिक, समाधिराज, लंकावतार** और **प्रज्ञापारमिता** ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके सारांश तैयार किये। वह **प्रदीपमाला-शास्त्र,** **विंशक, कायत्रयावतार, तारासाधनशतक, अवलोकितेश्वरसाधनशतक** तथा शि आदि ग्रन्थों का रचयिता है। उसने दक्षिण के देशों का भ्रमण किया सिंहल द्वीप तक गया। उसने अपने जीवन के अन्तिम दिन समुद्र में स्थित धनश्री के पोटल स्थान में बिताये, जहां उसने तारा और अवलोकितेश्वर के मन्दिर बनवाये।

VI. ऐतिहासिक सर्वेक्षण

ऊपर दिखाया जा चुका है कि विभिन्न शिक्षकों की देखरेख में महायान आन्दोलन किस प्रकार आगे बढ़ता गया और किस प्रकार अनुयायियों की अधिक होने के बावजूद हीनयानी सम्प्रदाय को धीरे-धीरे भारत के सीमान्त प्रदेशों धकेल दिया गया और अन्त में उसे अपने उद्‌भव के देश की सीमाओं से बिलकुल चला जाना पड़ा। क्योंकि गुप्त-काल में बौद्ध धर्म की स्थिति की पूरी तस्वीर पेश सम्भव नहीं है, इसलिए चीनी विद्वानों ने जो छिटपुट सूचनाएँ छोड़ी हैं, और ति की परम्पराओं और पुरावशेषों से थोड़ा-सा जो कुछ ज्ञात हुआ है, हमें उसी से करना पड़ेगा।

फा-हिएन भारत में ईसा की पाँचवीं सदी में आया था और उसने बौद्ध की स्थिति का संक्षिप्त सर्वेक्षण किया था। उसने अपनी यात्रा मध्य एशिया के दे आरम्भ की थी, जहां उसने बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार देखा था। मथुरा तक पहुंच मार्ग में उसने असंख्य बौद्ध भिक्षु और बौद्ध चैत्य देखे और यह भी पाया कि अधि जगहों के राजा बौद्ध धर्म के कट्टर अनुयायी थे और भिक्षुओं का समुचित आदर-स करते थे। कुछ राजाओं ने बौद्ध चैत्यों और विहारों का खर्च उठाने के लिए गांव रूप में दे रखे थे। फाहिएन ने इस बात की भूरि-भूरि प्रशंसा की है कि यहां के भिक्षु शासन के सभी नियमों का कठोरता से पालन करते थे और गृहस्थ उपासक बौद्ध-धर्म- और स्तूपों को गहरी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे तथा भिक्षुओं को उदारतापूर्वक देते थे। उसने देखा कि गृहस्थी लोग अपने खर्च से चैत्यों और स्तूपों का निर्माण करते और उनकी पूजा करते थे।

फा-हिएन के विवरण से ऐसा लगता है कि ईसा की पाँचवीं सदी में भी उत्तर भारत में बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का प्रभाव पूरी तरह से व्याप्त था महायान शाखा सिर्फ कहीं कहीं अपना सिर उठाने लगी थी। केवल गया और कपिलव में ही उसने देखा था कि बौद्ध मठ और विहार वीरान और खाली पड़े थे।

फा-हिएन से लगभग दो शताब्दी बाद ह्वेन-त्सांग भारत आया। हमारे ऐसा कोई विश्वसनीय स्रोत नहीं है जिससे हम बीच की इन दो शताब्दियों के शून्य

से भर सकें। **मंजुश्रीमूलकल्प**, तारनाथ की **'हिस्टरी आफ बुद्धिज्म'** (बौद्ध धर्म इतिहास)—और ह्वेन-त्सांग के विवरणों में कुछ परम्पराओं को सुरक्षित रखा है, लेकिन उनको पूर्णतः विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

तारनाथ[1] ने लिखा हैं कि राहुलभद्र के कुछ दिनों बाद बौद्ध धर्म को बुरे दिनों शिकार होना पड़ा। एक तुरुष्क राजा ने मगध को हरा दिया और अनेक चैत्य और र नष्ट कर दिये। नालन्दा के भिक्षुओं को विभिन्न दिशाओं में भाग जाना पड़ा। का राजा तुरुष्क विजेता का जागीरदार बन गया और इस योग्य नहीं रहा कि धर्म की सहायता कर पाता। बाद का एक राजा, जिसे बुद्धपक्ष नाम दिया गया है, का मित्र था। बौद्ध दूतों के जरिए उसने चीन के सम्राट से गठबन्धन किया और के सम्राट से प्राप्त कोश से उसने फारसी आक्रमणकारी की हत्या करके पुनः स्वतन्त्रता कर ली। उसने पुनः नालन्दा के मठ और चैत्यों का निर्माण करवाया।

मंजुश्रीमूलकल्प,[2] में यह परम्परा मामूली से अन्तर के साथ दी गयी है। विदेशी वर का नाम "गोमी" बताया गया है। वह उत्तर से काश्मीर होता हुआ आया था उसने बहुत से बौद्ध चैत्य और विहार नष्ट कर दिये थे और अनेक भिक्षुओं को मरवा था। फिर राजा बुद्धपक्ष ने, जो बौद्ध धर्म का कट्टर भक्त था, पुनः स्तूपों और चैत्यों निर्माण करवाया। उसके बेटे गम्भीर यक्ष ने भी अनेक स्तूप और चैत्य बनवाये, अनेक जलाशय और कुएँ खुदवाये। चूंकि फा-हिएन ने इस विदेशी हमलावर की संकेत नहीं किया, इसलिए बौद्ध धर्म के दमन का यह काल ईसा की छठी शताब्दी होगा, या पांचवीं शताब्दी का अन्त। ह्वेन-त्सांग ने दमन करने वाले केवल ही हमलावर मिहिरकुल का उल्लेख किया है, जिसे बालादित्य ने गिरफ्तार किया [3] वह विदेशी शासक जिंसने बौद्ध मन्दिरों को तुड़वाया था, मिहिरकुल का बाप हो सकता है। ह्वेन-त्सांग ने लिखा है कि शक्रादित्य नालन्दा के चैत्य का था और उसके बेटे बुधगुप्त और राजा तथागतगुप्त ने वहाँ दो चैत्य और थे। ह्वेन-त्सांग की इस साक्षी से प्रमाणित है कि कुछ स्थानीय राजाओं का धर्म के प्रति झुकाव था। उनके नाम बुध और तथागत भी बौद्ध-धर्म में उनकी आस्था सूचक हैं। गुप्तों के अनेक अभिलेखों में उनके राजाओं और सामान्य लोगों के धर्म के प्रति झुकाव का प्रमाण मिलता है।[4]

ह्वेन-त्सांग के विवरण में हमें सातवीं सदी के भारत में बौद्ध-धर्म की स्थिति का ब्यौरा प्राप्त होता है। उसने सन् ६३० से ६४४ ई० तक भारत की यात्रा की। कश्मीर में वहाँ के राजा ने उसका भव्य स्वागत किया था और बौद्ध ग्रन्थों की

---

[1] तारनाथ, पृ० ९५; बुस्टन II, ११९।

[2] त्रि. सं. सी. सं० ८४, भाग III, पृ० ६२०।

[3] देखिए, पृ० ४१-४३।

[4] गुप्तकाल के राजाओं की ओर से बौद्ध धर्म को प्रदत्त संरक्षण के बारे में अन्य प्रमाणों के लिए पृ० ४१, ७२, १५८, १६१ प. पृ।

प्रतिलिपियाँ तैयार करने के लिए उसे बीस पंडित दिये थे, और कुछ भिक्षु भी सहायता के लिए साथ कर दिये थे। दो साल तक वहाँ अध्ययन करने के बाद शाकल (स्यालकोट) के निकट जाकर भिक्षु विनीतप्रभ से, जो एक राजकुमार था, दो साल तक **अभिधर्म पिटक** का अध्ययन किया। फिर ह्वेन-त्सांग कुछ तक भिक्षु जयगुप्त के साथ श्रुघ्न में और कुछ दिनों मतिपुर में मित्रसेन के साथ गुणप्रभ का शिष्य था। वहाँ उसने **विभाषाओं** और **गुणप्रभ** के तत्त्वसन्देश शास्त्र अध्ययन किया। कन्नौज में वह तीन महीनों तक आचार्य वीरसेन के साथ रहा। हयमुख जाकर उसने आचार्य बुद्धदास द्वारा लिखे **विभाषा** के प्रवन्ध का अध्ययन अन्त में वह नालन्दा के संघाध्यक्ष का शिष्य बन गया। उसने विभिन्न राज्यों में, जहाँ वह गया था, रहने वाले भिक्षुओं और बौद्ध चैत्यों की संख्या दी है, और कहीं बौद्ध धर्म के बारे में दिलचस्प ब्योरे और चुटकुले भी जोड़ दिये हैं। वह अपने बौद्ध साहित्य के हीनयान सूत्रों, टीकाओं और अनुशासन नियमों, महायान ग्रन्थों टीकाओं तथा न्यायशास्त्र और निरुक्त के कुछ प्रबन्धों समेत ६५७ 'पू' (भाग) लौटा था।

ह्वेन-त्सांग ने बौद्ध धर्म के प्रति सम्राट हर्षवर्धन[1] के उत्साह का विस्तृत किया है। हर्ष की विधवा बहन राज्यश्री साम्मितीय सम्प्रदाय की भिक्षुणी बन और सम्राट हर्ष के संरक्षण की वजह से साम्मितीय सम्प्रदाय शीघ्र ही पश्चिमी और पूर्वी भारत के कुछ स्थानों में फैल गया था। हर्षवर्धन की आस्था हीनयान इसका सबूत इस बात से भी मिलता है कि उसने मालवा में श्रेष्ठ वास्तु कला मन्दिर बनवाया था और उसमें उन सात बुद्धों की मूर्तियां स्थापित की थीं, हीनयानी भी मानते थे।

यद्यपि ह्वेन-त्सांग ने भारत में बौद्ध-धर्म की स्थिति की बड़ी उज्ज्वल पेश करने की कोशिश की है, लेकिन उसके विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस विकास रुक गया था और कुछ स्थानों में तो सर्व-साधारण के मन से इसका खत्म हो गया था। दरअसल वहाँ से यह धर्म गायब होता जा रहा था। भारत के पश्चिमी भाग में, विशेषकर नगरकोट, गन्धार, उद्यान और तक्षशिला में उसने अधिकतर चैत्य और विहार वीरान और उजाड़ पड़े थे और वहाँ के लोग आम अबौद्ध थे। तक्षशिला के पास सिंहपुर में उसने एक ऐसा स्थान देखा जो श्वेताम्बर का तीर्थ था। इसी प्रकार श्रावस्ती और वैशाली में भी उसने देखा कि बौद्ध धर्म का कम होता जा रहा था, चैत्यों और विहारों में कोई नहीं रहता था और न उनकी की जाती थी, जबकि वैशाली में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय खूब फल-फूल रहा था, पूर्वी भागों, चम्पा और पुण्ड्रवर्धन में भी यही दशा थी। पुण्ड्रवर्धन, समतट और में बहुत से दिगम्बर जैन थे। दक्षिण में धनकटक, चोल देशों और मलकूट में, अनेक चैत्यों में केवल थोड़े से बौद्ध ही रहते थे, जबकि दिगम्बर जैनियों और दूसरे

---

[1] ऊपर देखिए पृ० १३२ प. पृ.।

ने वालों की तादाद ज्यादा थी। ह्वेन-त्सांग ने जिन राजाओं का उल्लेख किया है, उनमें केवल हर्षवर्धन और ध्रुवभट (वलभी का राजा) ही सबसे गृहस्थ बौद्ध और धर्म की उन्नति के लिए सक्रिय रूप से काम करते थे। बाकी सारे राजा ब्राह्मण मानने वाले थे, यद्यपि वे बौद्ध धर्म के प्रति, जो उनके राज्य में दीर्घकाल से चला आ था, यथेष्ट सहिष्णु थे और कभी-कभी उसके प्रति काफी सहानुभूति भी दिखाते थे। विवरण से यह साफ जाहिर है कि ह्वेन-त्सांग के समय में बौद्ध धर्म का प्रभाव-काफी संकुचित हो गया था और अबौद्धों, विशेषकर शिव के उपासकों और दिगम्बर दाय के अनुयायियों की संख्या और उनका प्रभाव बढ़ रहा था। लेकिन ह्वेन-के विवरण से यह भी स्पष्टतः सिद्ध है कि बौद्ध धर्म अपने ह्रास के बावजूद अभी कश्मीर और गन्धार से लेकर द्रविड़ देश तक और गंजाम और समतट से लेकर और वलभी तक सारे भारत के प्रमुख स्थानों में प्रचलित था।

अन्त में संघ-जीवन के बारे में कुछ कहना जरूरी है। गुप्त काल से बहुत पहले बौद्ध और जैन भिक्षुओं और भिक्षुणियों ने ऐसे महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली संघ-जीवन विकास कर लिया था, जिसमें रहनेवाले अपने-अपने धर्मों के अनुशासन-नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करते थे। उस काल में आने वाले चीनी यात्रियों के विवरणों से हमें होता है कि सातवीं सदी में बौद्ध बिरादरी अपने धर्म-सिद्धान्तों द्वारा लागू किये गये बौद्धिक और नैतिक मानदंडों को ऊँचे स्तर पर कायम रखने में पूरा उत्साह दिखाती थी। त्सांग ने भारत का सामान्य विवरण देते हुए लिखा है, "बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां अक्सर सभाओं में एकत्र होते थे, जहाँ बौद्धिक क्षमता की परीक्षा करने और चरित्र को अधिक प्रमुखता देने, अयोग्य व्यक्तियों को निकालने और तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्तियों को आगे बढ़ाने के लिए बहसें होती थीं।" "उन लोगों को, जो दर्शन के विचारों को अलंकृत भाषा में अभिव्यक्त कर सकते थे, प्रमुख स्थान दिया जाता था, बहसों में हारने वाले व्यक्तियों को व्यर्थ समझकर निकाल दिया जाता था।" अलावा विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए भिक्षु-भिक्षुणियों को विभिन्न प्रकार के दिये जाते थे। ई-त्सिंग ने, जो अपने देश (चीन) में भिक्षुओं की अनुशासनहीनता आकर भारत में आने के लिए विवश हुआ था, खान-पान, वस्त्र, चिकित्सा, व्यक्ति-स्वच्छता और सामान्य आचरण के बारे में भारतीय भिक्षुओं द्वारा पालन किए जाने कठोर नियमों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[1] फिर भी मुमकिन है कि कभी-कभी गत रूप से ही नहीं, बल्कि सामान्य रूप से भी भिक्षुओं का आचरण पुराने मान-से कुछ नीचे गिर जाता हो। इसका प्रमाण उस काल के ब्राह्मण-धर्मी साहित्य में

---

[1] या. ट्रै. वा. I. १६२। संघ-जीवन के कठोर अनुशासन के उदाहरण स्वरूप ई-त्सिंग ने उन नियमों का उल्लेख किया है (तकाकुसु, ६३) जिनका पालन ताम्रलिप्ति के एक संघाराम में बौद्ध और भिक्षुणियों को एक दूसरे से भेंट करते समय करना पड़ता था। उसी संघाराम में एक बहुत भिक्षु रहता था, जिसने बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के बाद कभी एक बार भी स्त्री से आमने-सामने की थी, यद्यपि विनय नियमों के अनुसार यह वर्जित नहीं था। (वही, ६४)।

मिलने वाले कुछ संकेतों से ही नहीं, वल्कि स्वयं बौद्ध ग्रन्थों में सीधे उल्लेखों से भी
है।[१] साहित्यिक कृतियों से भी यह स्पष्ट है कि विशेष रूप से वौद्ध और जैन
को आरम्भ से ही दो प्रेमियों के वीच दूतियों के काम के लिए इस्तेमाल किया जाता
गुप्तकाल में भी इस स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।[२]

गुप्तकाल के नाटकों और प्रेम-कथाओं में वौद्ध और जैन भिक्षुओं के
सनातनी ब्राह्मणों की तीव्र घृणा का काफी संकेत मिलता है, जो इन विधर्मियों को
और पशु-बलि द्वारा सम्पन्न होने वाले वैदिक यज्ञों का मजाक उड़ाने वाले
समझते थे।[३] फिर भी, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, गुप्त काल में सभी
आमतौर पर एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करते थे।

VII. प्रतिमा-निर्माण कला

विभिन्न मुद्राओं में बुद्ध की मूर्तियों का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।[४]
जाहिर होता है कि बुद्ध की प्रतिमाओं की पूजा कितनी लोकप्रिय थी।
शयान बुद्ध की विशाल प्रतिमा का गुप्तकाल के आरम्भ में मथुरा के दिन्न ने तत्क्ष
था। इस प्रतिमा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उस काल की, या उसके वाद की,

---

[१] भास के नाटक **चारुदत्त** (अंक ४, पृ० ७४) में ब्राह्मण विदूषक मैत्रेय एक वौद्ध
मुस्कान का उल्लेख करता है, जो रात भर एक परिचारिका से अपने एकान्त मिलन की वात सोच
रहा था। लेकिन **मृच्छकटिक** से यह निन्दात्मक उल्लेख निकाल दिया गया था। इतना ही नहीं,
में एक ऐसे वौद्ध भिक्षु का सहज रूप में उल्लेख मिलता है जो कुछ समय पहले तक सिर की मालिश
करता था और जुआरी था, लेकिन अव नायिका को सुरक्षित स्थान तक ले जाने में मदद करते
उसके शरीर का स्पर्श करने तक से संकोच करता है। **मत्तविलास** प्रहसन में एक दुष्कर्मी वौद्ध
चरित्र-चित्रण किया गया है, उसको अधिक महत्व देने की जरूरत नहीं है, लेकिन इसके विपरीत
पूर्ण है कि **राष्ट्रपालपरिपृच्छा** में (फिनॉट सं० पृ० २८-३३) एक भविष्यवाणी की गयी है कि
का ह्रास हो जाएगा, क्योंकि वौद्ध भिक्षु निर्लज्ज, दुनियादार और पाखंडी वन जाएंगे। और झूठे
की शिक्षा देंगे। इस ग्रंथ का सन् ५८५ और ५९२ ई० के वीच चीनी भाषा में अनुवाद हुआ
सम्भवतः वह इस तारीख से बहुत पहले नहीं रचा गया था।

[२] दश.; पृ० ८५, १६८ (नि. सा. प्रे., १९५१, पृ० ११२, २३२); मालती में

[३] देखिए, **मृच्छकटिक**, अंक ९ (एक सार्वजनिक उद्यान में वौद्ध भिक्षु से भेंट हो
सद्गुणी (धीरललित नायक) चारुदत्त भी अपशकुन समझता है)। हर्ष V. मुद्रा. IV,
दिगम्बर जैन पर दृष्टि पड़ना अपशकुन माना गया है।) जैन साधुओं के प्रति ब्राह्मणों की
दशकुमारचरित, पृ० ७५, (नि. सा. प्रे, १९५१, पृ० ९४) के एक दिलचस्प चुटकुले में बड़ी
वर्णन किया गया है। कहा गया है कि एक गणिका की चालाकी से अपनी सारी धन सम्पत्ति
ब्राह्मण व्यापारी संसार से विरक्त हो जाता है और जैन साधु वन जाता है। वाद में वह पश्चात्ताप
है कि उसने ऐसा जीवन अपना लिया था, "जिसमें पहनने वाले वस्त्र निन्दनीय थे, जो
और यातना झेलने का जीवन है, जिसका फल मृत्यु के वाद सीधा **नरक** में जाना है, क्योंकि इस
हर समय विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा दूसरे देवताओं की निन्दा ही सुननी पड़ती है।"

[४] जिल्द II, पृ० ३९१ प. पृ० (अंग्रेजी संस्करण)।

बहुत कम प्रतिमाएँ ज्ञात हैं। मनकुवर (इलाहाबाद जिला) में बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमा में, जो सन् ४४८-४९ ई० की है, केश-विन्यास आंशिक रूप से मथुरा की परम्परागत शैली में लक्षित है।[1] कुंडलीकृत केश-विन्यास की शैली का इस्तेमाल नहीं किया गया है। गुप्तकाल की बुद्ध प्रतिमा, जिसके अनेक नमूने सारनाथ और उसके आसपास प्राप्त हुए हैं, पूर्ण रूप से विकसित हैं। इसकी विशेषता उसकी सूक्ष्मता, अंगों का स्पष्ट रूपायन, घुंघराले बाल, ऊर्णा की अनुपस्थिति, मुद्राओं का वैविध्य, परिष्कृत रूप से अलंकृत प्रभा-मंडल, एक या दोनों कन्धों को ढकने वाले किन्तु पारदर्शी अंग-वस्त्र, जिससे शरीर का सौन्दर्य झलकता है, और कमल या सिंह की पीठिका, जिस पर अक्सर दान करने वाले व्यक्तियों की आकृतियाँ होती हैं, आदि हैं। इसमें ग्रीक मूर्तियों की सुरम्यता का शायद ही कोई चिह्न दिखायी देता है। बुद्ध-प्रतिमा का यह शास्त्रीय प्रकार, जिसका मथुरा के "पशु" प्रकार से उदात्तीकरण किया गया था, बाद में इस देश में तथा पड़ोसी देशों में भी बुद्ध की प्रतिमा बनाने का प्रमुख आधार बन गया।

सारनाथ के म्यूजियम में गुप्तकाल के अनेक बोधिसत्त्वों की प्रतिमाएँ भी हैं। उनकी आकृतियों से उनकी पहचान की गयी है कि वे अवलोकितेश्वर, मैत्रेय और मंजुश्री की प्रतिमाएँ हैं। अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ अन्य दोनों की अपेक्षा संख्या में ज्यादा हैं। गुप्तकाल के इन बोधिसत्त्वों के प्रतिमांकन में एक दिलचस्प नवीनता स्पष्टतः देखी जा सकती है। उनके मुकुटों पर उनके आध्यात्मिक पिताओं—**ध्यानी बुद्धों, अमिताभ, अमोघसिद्ध** और **अक्षोभ्य**—आदि की सूक्ष्म आकृतियां तराशी गयी हैं। यह विशेषता उनके मध्यकालीन प्रतिरूपों में सामान्यतः पायी जाती है। मथुरा और गन्धार की प्रतिमाओं में यह विशेषता नहीं पायी जाती, हालांकि गन्धार की एक या दो उभार-शैली में अंकित प्रतिमाओं में मिलती है। प्रतिमा-निर्माण सम्बन्धी एक और नवीनता गुप्तकाल में बनी मैत्रेय की प्रतिमाओं में मिलती है, क्योंकि यहां हम उसे मुकुट की वजाय हाथ में नागकेसर के फूल पकड़े हुए देखते हैं।

प्रतिमा-निर्माण कला सम्बन्धी इन नवीनताओं से सूचित होता है कि गुप्तकाल आरम्भ में महायान सिद्धान्तों के अन्दर दूरगामी कोटि के परिवर्तन हो रहे थे—ऐसे परिवर्तन जो उसे शीघ्र ही वज्रयान में परिवर्तित करने वाले थे, जिसने मध्यकालीन बौद्ध धर्म को प्रतिमा-निर्माण कला में आश्चर्यजनक विकास करने की प्रेरणा दी। आरम्भकाल के कुछ भाव, जैसे गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों को अंकित करना, अपेक्षया धीरे-धीरे कम होता जा रहा था, और अपने विविध रूपों में **ध्यानी बुद्धों** और **ध्यानी बोधिसत्त्वों** का अंकन प्रमुख होता जा रहा था। इनका तथा बौद्धदेव-मण्डल में शामिल होने वाले अनेक नये देवताओं का सामान्यतः मध्यकालीन बौद्ध-कला में अंकन किया गया और इन प्रतिमांकित टाइपों का महत्त्व धर्म के मुख्य प्रतिपादकों की आकृतियों के बाद माना जाता था। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि **ध्यानी बुद्धों** की आकृतियों केवल सहायकों के रूप में इस्तेमाल होता था, क्योंकि वे या तो मुकुट में अंकित की

---

[1] जि० II, पृ० ३९४ (अंगरेजी संस्करण)।

जाती थीं या **ध्यानी बोधिसत्त्वों** और उनके विभिन्न रूपों के **प्रभा-मंडल** के ऊपरी यहां तक कि अन्य बोधिसत्त्वों—नर और नारी दोनों—के **प्रभा-मंडलों** में अंकि जाती थीं। बाद में पांच **ध्यानी-बुद्धों** की पंक्ति में वज्रसत्त्व की भी आकृति जोड़ दी उसका बोधिसत्त्व घंटापाणि था।[१] महायान-वज्रयान की सुविस्तृत देव श्रेणियों में देर के बाद आदि बुद्ध का नाम जोड़ा गया, जिससे कालान्तर में अन्य ध्यानी बुद्धों उत्पन्न हुआ माना जाने लगा। महायानी देवकुल की इन तमाम प्रतिमाओं के इस पुस्तक की अगली जिल्द में विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

VIII. धर्मेतर, पालि साहित्य

बौद्ध-धर्म के सूत्र-ग्रन्थों की रचना के बाद व्याख्यात्मक या टीका ग्रन्थों की का दौर शुरू हुआ। धर्मग्रन्थों को ठीक से समझने में कठिनाई के कारण उनकी की जरूरत पड़ी थी। विवेच्य काल में अधिकांश ग्रन्थ श्रीलंका के विद्वान् थेरों (भिक्षु ने रचे थे। भारत के विद्वानों का योगदान अपेक्षया नगण्य था। इस काल को पालि साहित्य का एक ज्वलन्त युग कह सकते हैं।

व्याख्यात्मक कार्य का आरम्भ **सूत्तों** (सूत्रों) से ही शुरू हो गया था, और ग्रन्थों में भी कुछ टीकाएं मिलती हैं। भारत और लंका के भिक्षुओं ने मूल धर्मग्रन्थों गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और उनकी व्याख्याएँ लिखीं। श्रीलंका के बौद्धों के अनुसार **अट्ठकथाएँ** (अर्थों की व्याख्या या भाष्य, टीकाएँ) बौद्धों की संगीति के समय से ही चली आ रही हैं। फिर धर्मग्रन्थों की व्याकरणात्मक और कोशीय-व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। कहानियों और अनुश्रुतियों द्वारा मिसालें उन्हें समझाया गया और पुरानी सामग्री के नमूनों पर नयी सामग्री जोड़कर उसे किया गया। इन कृतियों में संघ-जीवन के उद्भव और विकास के बारे में भी अनुश्रु दी गयी हैं, जिनसे लंका में चैत्यों और संघारामों के प्रारम्भिक इतिहास की तैयार करने में काफी सहायता मिलती है।

१. निदान कथा

धर्म-ग्रन्थों में हमें बुद्ध के वास्तविक जीवन, बुद्ध सम्बन्धी अनुश्रुति और महाकाव्य के विकास का विवरण प्राप्त होता है। लेकिन विभिन्न ग्रन्थों में दी गयी छिटपुट सूचनाओं को एकत्र करके बुद्ध का सुसम्बद्ध जीवन-चरित्र सबसे पहले **कथा** (आरम्भ की कथा) में मिलता है, जो **जातकट्ठवण्णना** से पहले लिखी गयी और उसका एक अंग थी। **निदान-कथा** में तीन खंड हैं—**दूर-निदान** ((सुदूर में आरम्भ), **अविदूर निदान** (अधिक अतीत में नहीं) और सान्तिक

---

[१] बी०टी० भट्टाचार्य, **इंडियन बुद्धिस्ट इकॉनाग्रॉफी**, पृ० XXIV-XXI ए. गेट्टी, **गाइड्स आफ नार्दर्न बुद्धिज्म**।

में)। दूर निदान में, जहाँ बुद्ध के पूर्वजीवनों का विवरण दिया गया है, प्रवाह बार-बार **बुद्धवंश** और **चरियापिटक** के पद्यों से खंडित होता चलता नते वह सीधे तौर पर सम्बन्धित है। **अविदूर निदान** में वर्णन किया गया किस प्रकार तुसित देवताओं ने बार-बार बोधिसत्त्व से पृथ्वी पर पुनः लेने के लिए आग्रह किया। उसमें बोधिसत्त्व के गर्भ में आने से लेकर प्त करने तक की सारी अनुश्रुतियों का उल्लेख है, जो अनेक चमत्कारिक ों से गुम्फित हैं। **सान्तिक निदान** में मुख्य रूप से धर्म में सर्वप्रथम दीक्षित तों का विवरण है। इन तीनों खंडों में दीपंकर बुद्ध से लेकर, जिसको भावी रूप में श्रद्धांजलि अर्पित की गयी है, अनाथ पिण्डिक द्वारा बौद्ध चैत्य को जेतवन न करने तक की बुद्ध की कहानी मिलती है। **निदान-कथा,** जो जातक टीका का अंग है, **ललितविस्तर** और संस्कृत की कृतियों से पहले के बौद्ध आख्यान का त्व करती है।

२. टीकाएँ

द्धघोष :

हावंश'[1] में प्रदत्त जीवन-चरित्र के अनुसार बुद्धघोष बोधगया के निकट एक परिवार में जन्मा था। उसे एक भिक्षु (महाम्मात्र) रेवत ने बुद्ध-धर्म में दीक्षित लंका जाकर उन प्रामाणिक और रुढ़िग्रस्त टीकाओं का अध्ययन करने के लिए किया था, जो भारत में उपलब्ध नहीं थीं। बुद्धघोष राजा महानामन् (सन् ४०९-) के शासन काल में लंका पहुँचा, जहाँ उसने महाविहार केमहापदान कक्ष में ने टीका और थेरवाद की परम्परा सुनी। वहाँ उसने **बिसुद्धिमग्ग** की रचना के फलस्वरूप उसे मैत्रेय बोधिसत्त्व घोषित किया गया। फिर उसने **अट्ठकथा** भाषा से मगधी में अनुवाद किया और उसकी कृति को थेरवाद के शिक्षकों ने न्थ के रूप में सम्मानित किया। श्रीलंका में अपना कार्य समाप्त करके बुद्धघोष को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए फिर अपने जन्म-स्थान को लौट ।

तक इस विवरण को पालि साहित्य के विद्वान्[2] प्रायः सही मानते आये हैं। र्मानन्द कोसाम्बी इस मत को नहीं मानते कि बुद्धघोष गया का निवासी था, या ब्राह्मण था। उनका विचार है कि वह दक्षिण-भारत के तेलुगु देश के तेलंग क्षेत्र था, और वर्मा के तेलंग परिवार का नहीं था, जैसा कि बर्मा की परम्पराओं में त है।[3]

---

[1] महावंश, परिच्छेद ३७।

[2] हि. इ. लि., II, १९०-९१।

[3] विसुद्धिमग्ग, बम्बई १९४०, भूमिका पृ० xiii प. पृ. में लॉ ने बुद्धघोष के जन्मस्थान की मयवरम् से शिनाख्त की है। (बुद्धघोष, पृ० ३४) कोसाम्बी इस स्थान का पता नहीं । (पृ० पु०, पृ० xv)।

बुद्धघोष की कृतियों के बारे में विभिन्न मत प्रचलित हैं। उसने कृतियों के इन नामों का उल्लेख किया है: **विसुद्धिमग्ग**, **समन्त-पासादिका**, **विलासिनी**, **पपंचसूदनी**, **सारत्थप्पकासिनी**, और **मनोरथपूरणी**। गंधवंश में इन्हें **कंखावितरणी**, **परमत्थकथा** और **जातक**, **धम्मपद**, **खुद्दकपाठ**, **सुत्तनिपात** और की टीकाओं का भी लेखक कहा गया है। विन्टरनित्ज़ (Winternitz) जरा भी सन्देह नहीं है कि **अत्थसालिनी**, **सम्मोहविनोदिनी** और **पट्ठानप्पकरण** का लेखक **बुद्धघोष** ही है। उसका विचार है कि **कंखावितरणी** और टीकाओं का लेखक भी शायद बुद्धघोष है, लेकिन **जातक** और **धम्मपद** की भाषा उसकी अन्य कृतियों की भाषा और शैली से इतनी भिन्न है कि बुद्धघोष लेखक मानना कठिन है।[1]

विसुद्धिमग्ग, जिसमें विशुद्धता प्राप्त करने का मार्ग समझाया गया है, का सब से पहला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था। उसमें बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा को सुसम्बद्ध ढंग से प्रस्तुत किया गया है। **बुद्धघोष** ने अगर केवल **विसुद्धिमग्ग** होता, तो भी उसका नाम अमर रहता।[2] यह कृति तीन खंडों में विभक्त है: सान्द्रता (मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया) तथा ज्ञान। इसकी शैली स्पष्ट गुण से युक्त है और अनेक शुष्क सैद्धान्तिक विवेचन प्रासंगिक नीतिकथाओं और से सजीव हो उठे हैं। पिटकों की पुराकालीन सरलता की तुलना में शब्दावली आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध है। यह दिखाते हुए अनेक चमत्कारों किया गया है कि चिन्तन-मनन से किस प्रकार सन्तों को दिव्य और प्राप्त हो जाती हैं।

बौद्धज्ञान के विकास में बुद्धघोष का सबसे महान् योगदान त्रिपिटकों सभी ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ हैं। विनय ग्रन्थों का विवेचन करने **समन्तपासादिका** एक वृहद् पुस्तक है, जिसमें टीका के अतिरिक्त प्राचीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक जीवन का चित्रण करने के सामग्री जुटायी गयी है। लेकिन डॉ० लॉ० (Law) ने इस पुस्तक और (पातिमोक्ख की टीका) को इस आधार पर **विसुद्धिमग्ग** के लेखक से भिन्न बुद्धघोष की कृति बताया है, कि **समन्तपासादिका** में न केवल अधिक प्रौढ़ और बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन मिलता है, बल्कि उसमें **विसुद्धिमग्ग** में के परवर्ती विकसित रूप की झलक भी मिलती है।[3] लेकिन ये तर्क इतने नहीं हैं कि एक भिन्न लेखक का अनुमान किया जाय। चार निकायों पर

---

[1] देखिए विन्टरनित्ज़ हि. इ. लि. II, १९२, किन्तु लॉ ने इन अन्तिम दो बुद्धघोष और चुल्ल बुद्धघोष के एक परवर्ती नामराशि का लिखा हुआ बताया है। (प. पृ०; ६३ प. पृ).

[2] ग्रे. बुद्धघोसुप्पट्टि, भूमिका, पृ० ३१।

[3] बुद्धघोष, पृ. ७५।

दीर्घनिकाय पर **सुमंगलविलासिनी**, **मज्झिम-निकाय** पर **पपंचसूदनी**, **संयुत्त-** पर **सारत्थप्पकासिनी** और **अंगुत्तर-निकाय** पर **मनोरथपूरणी**—पहली में बुद्ध-विश्वकोशीय अपार ज्ञान के श्रेष्ठतम रूप का परिचय मिलता है। इसमें विषयों की जानकारी दी गयी है—सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, भौगोलिक, और दार्शनिक—और अपने समय के खेलों और मनोरंजनों का सजीव चित्र गया है। इसमें एक भिक्षु की दिनचर्या के भी कुछ तथ्य दिये गये हैं। प्रथम गीति (कौंसिल) के विवरण से जाहिर होता है कि वह **चुल्लवग्ग** और पाली के ों को मिलाकर तैयार किया गया है। बुद्धघोष ने **पपंचसूदनी** में उल्लेख किया है शिक्षक अपनी शिक्षा को आसानी से बोधगम्य बनाने के लिए दमिल (तमिल), (तेलुगु) या अन्य स्थानीय बोलियों में तीनों वेदों की शिक्षा देते थे। **सारत्थ-** नी उस समय के भारत और लंका के दैनन्दिन जीवन पर काफी प्रकाश डालती की टीकाओं में हमारे पास बुद्धघोष की **परमत्थजोतिका** (खुद्दकपाठ और पर), **अत्थसालिनी** (धम्मसंगणि पर), **सम्मोहविनोदनी** (विभंग पर) त्थदीपनी या **पंचप्पकरणत्थकथा** (खुद्दक के पाँच ग्रन्थों, अर्थात् धातुकथा, ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान पर) टीकाएँ हैं। बौद्ध मनोविज्ञान के पारि-शब्दों की व्याख्या के अलावा **अत्थसालिनी** में कुछ ऐतिहासिक और भौगोलिक भी प्राप्त होती हैं। भूमिका में अभिधम्म के ग्रन्थों की विषयसूची दी गयी है सम्बन्धी कुछ समस्याओं का विवेचन किया गया है। **अत्थसालिनी** के विवेचन ताजगी और मौलिकता के दर्शन होते हैं, यद्यपि **विसुद्धिमग्ग** की तुलना में शैली इतनी पंडिताऊ नहीं है।[1]

घोष **जातकट्ठवण्णना** (जातक की टीका) का लेखक था, इस बात को डेविड्स[2] (Rhys Davids), ला[3] (Law) और मालालशेखर[4] (Malalsekera) विद्वान् नहीं मानते। फाउसब्योल (Faus boll) के संस्करण वाली जातक ५४७ कथाएँ हैं, जिनमें से हर कथा में (i) एक धर्म-सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने गया है, (ii) कुछ **अतीतवत्थूनी** या अतीत सम्बन्धी कहानियाँ हैं, अर्थात् गद्य-(iii) कुछ **पच्चुप्पन्नवत्थूनी** या वर्तमान सम्बन्धी कहानियां हैं, जिनमें उस अवसर न किया गया है, जब कोई विशेष जातक सुनाया गया था; साथ में **समोधानानि** गया है, जिसमें बताया गया है कि जातक के पात्रों में से कौन वर्तमान पात्रों की अदा कर रहे हैं तथा (iv) कुछ **व्याकरणानि** या टीकाएँ हैं, जो पद के एक शब्द व्याख्या करती हैं। यद्यपि **गाथाएँ** और कथाएँ दोनों ही प्राचीन **अट्ठकथा** पर आधारित

---

[1] "शैली, विषय-वस्तु और भूमिका" को दृष्टि में रखते हुए कोसाम्बी ने सन्देह प्रकट किया है अत्थसालिनी का लेखक है। (पू० पु०, पृ० xiv)।

[2] बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, भूमिका, पृ० LX।

[3] बुद्धघोष, पृ० ६९ प. पृ.।

[4] पा० लि० सी०, पृ० १२६।

थीं पर वे भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रेषित हुईं; परिणामतः **गाथाएँ** तो ज्यों की त्यों, वर्तनीय बनी रहीं, लेकिन गद्य भाग का प्रयोग कथकों की मर्ज़ी पर छोड़ दिया उसी प्रकार जैसे वैदिक आख्यानों के साथ हुआ था।[1] अतीत और वर्तमान की के कार्य-व्यापार जिस पृष्ठभूमि में चलते हैं, उनका अन्तर उल्लेखनीय है। कहानियाँ अधिकांशतः पश्चिमी और उत्तर भारत (गंधाररत्थ) आदि का हवाला हैं, जबकि वर्तमान कहानियों में अधिकतर पूर्वी भारत (मगधरत्थ, कोसलरत्थ का हवाला मिलता है।

यद्यपि विन्टरनित्ज़ (Winternitz), बर्लिनगेम (Burlingame), (Geiger) तथा अन्य विद्वान् बुद्धघोष को **धमपदट्ठकथा** (धम्मपद की का लेखक नहीं मानते, लेकिन डा० ला (Law) ऐसा कोई कारण नहीं देखते पुष्पिका पर अविश्वास किया जाय, जिसमें बुद्धघोष[2] को इस टीका का लेखक गया है। मालालशेखर ने चुल्ल बुद्धघोष को इस ग्रन्थ का लेखक बताया है, यद्यपि सुझाव है कि सिंहली ग्रन्थ **पूजावलीय**[3] की साक्षी पर उसको महान टीकाकार की कृति भी माना जा सकता है। **धम्मपद** की टीका एक बृहद् ग्रन्थ है, जिसमें के पदों की व्याख्या की गयी है, और जिसमें **जातकट्ठवण्णना** की तरह अनेक प्राचीन कथाएँ, छोटे-छोटे उदात्त आख्यान और मनोरंजक परी-कथाएं शामि उसमें जातककथाओं के बार-बार हवाले दिये गये हैं, जातकों के अनेक-पद भी हैं और उसकी अनेक कहानियाँ अनेक जातक कहानियों से मिलती इससे सिद्ध होता है कि जातक की टीका पहले रची गयी थी।[4] धम्मपद में प्रदत्त हर कथा के निम्न आठ भाग हैं: (१) गाथा (पद) जिसका में हवाला है, (२) व्यक्ति या समूह जिसको कहानी सुनायी (३) **पच्चुप्पन्नवत्थु** या वर्तमान की कहानी जो (४) एक या अनेक पदों में जाकर होती है, (५) पद की शब्दानुशब्द टीका, (६) सुनने वाले या सुनने वालों आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हुए, (७) **अतीतवत्थु** या अतीत की कहानी और (८) वत्थु के लोगों की **पच्चुप्पन्नवत्थु** के लोगों से शिनाख्त।[5]

विसुद्धिमग्ग तथा टीकाओं से साफ जाहिर है कि बुद्धघोष असाधारण विद्वान् था और उसका अध्ययन विशाल था। उसके बारे में यह नहीं कहा जा वह एक दार्शनिक था, जिसने कोई नया मार्ग ढूंढ निकाला और बौद्ध दर्शन के मौलिक योगदान किया।[6] वह एक आलोचनात्मक प्रतिभा का विद्वान् था. यह

---

[1] ऊपर देखिए, जि० I, पृ० ३४० (अंगरेजी संस्करण)।

[2] हि. पा. लि. II, पृ० ४५०।

[3] पा. लि. सी., पृ० ९६।

[4] **बुद्धिस्ट लीजेंड्स**, भाग १, पृ० ५७ प. पृ.।

[5] देखिए लॉ, हि. पा. लि. II, पृ० ४४९-५०; साथ में देखिए बर्लिनगेम, बुद्धिस्ट भाग I, पृ० २८-२९।

[6] देखिए, लॉ **लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्धघोष**, पृ० १३५ प. पृ०, विंटरनित्ज़ लि., II, पृ० २०४।

ाहिर है कि अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों की पांडुलिपियों को देखकर वह बड़ी से विभिन्न पाठों को दर्ज करता था। विरल शब्दों के बारे में उसके नोट्स मूल्यवान् हैं और प्राचीन परम्पराओं को दर्ज करने के कारण वह हमारी गहरी का पात्र है। पालि भाषा के विकास में बुद्धघोष का योगदान अद्वितीय है। की पुरानी, अस्वाभाविक, प्रवाहहीन भाषा के स्थान पर...बुद्धघोष अपनी कृतियों में एक समृद्ध शब्दावली वाली भाषा दे गया, जो प्रयोग में अत्यन्त लोच- में अत्यन्त शालीन, कभी-कभी संश्लिष्ट और प्रगल्भ, किन्तु मानव मस्तिष्क समय तक कल्पित समस्त विचारों और धारणाओं को व्यक्त करने में पूरी थी।”[1]

बुद्धदत्त

क्रमानुसार बुद्धघोष का सबसे पहला उत्तराधिकारी बुद्धदत्त ज्ञात होता है। उसे बुद्धघोष का वरिष्ठ समकालीन मानते हैं।[2] लेकिन विन्टरनित्ज़ उसे का लेखक मानता है।[3] उसके सारे ग्रन्थ कावेरी तट पर कह्लदास द्वारा स्थापित में रचे गये थे। उसे **विनय-विनिच्छय, उत्तर-विनिच्छय, अभिधम्मावतार, विभंग, मधुरत्थविलासिनी** और **जिनालंकार** का लेखक बताया जाता है, किन्तु के अनुसार **मधुरत्थविलासिनी** के अलावा उसको किसी और ग्रन्थ का लेखक संदिग्ध है।[4]

से पहली चार पुस्तकों में अधिकांशतः बुद्धघोष की टीकाओं का सारांश है। **मधुरत्थविलासिनी** (या **मधुरत्थप्पकासिनी**) **बुद्धवंश** की टीका है। २५० पदों की एक कविता है, जिसमें शानदार, लययुक्त और उदात्त भाषा जीवन के शब्दचित्र खींचे गये हैं। इसमें कुछ पद आन्तरिक लय से युक्त हैं, अनुप्रास तथा अन्य अलंकारिक युक्तियों की छटा देखने को मिलती है और पूर्ण काव्यशैली और कृत्रिम रचना-पद्धति के दर्शन होते हैं। **जिनालंकार** तिथि और उसके लेखक के नाम के बारे में विद्वानों में तीव्र मतभेद है।[5]

धम्म के सारांश के चार भागों, अर्थात् मन, मानसिक तत्त्व, भौतिक गुण द्वारा व्याख्या करने की बुद्धदत्त की योजना बुद्धघोष की योजना से बेहतर है, जिसके अनुसार पाँच खंडों में यह व्याख्या की गयी है। स्पष्ट है कि ने अपने अग्रणी के प्रयत्नों का पूरा लाभ उठाया था। उसकी शैली उतनी

---

[1] मालालशेखर, पा. लि. सी., पृ० १०३।

[2] देखिए, विनयविनिच्छय, बुद्धघोसुप्पट्टि, ग्रे द्वारा सम्पादित, पृ० ४९-५१।

लशेखर, पा० लि० सी०, पृ० १०५ प., पृ०; लॉ, हि. पा. लि., II, पृ० ३८४ प. पृ०।

हि. इ. लि. II. पृ० २२०।

[5] **पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज**, पृ० ३३।

[6] बुद्धवंस, पृ० ६९, ७२; ग्रे. जिनालंकार, भूमिका, पृ० ७ प. पृ०; हि० इ० लि०, II, पृ०; पा० लि० सी०, पृ० १११-१२।

विवेचनात्मक नहीं है, लेकिन अधिक सजीव और सुचित्रित है, उसका उतना उलझा हुआ, संश्लिष्ट और अस्पष्ट नहीं है और उसकी शब्दावली कहीं ज्यादा समृद्ध है।

(III) आनन्द

आनन्द भी बुद्धदत्त की तरह भारत का ही निवासी था। लगता है कि बुद्धघोष का समकालीन था, क्योंकि उसने उसी बुद्धमित्त के कहने पर अपनी थी, जिसने पहले बुद्धघोष को **पपंचसूदनी** लिखने के लिए राजी किया था की **मूलटीका** या **अभिधम्म-मूलटीका** अभिधम्म की **अट्ठकथाओं** की सबसे पुरानी

(IV) धम्मपाल

कहा जाता है कि धम्मपाल ने, जो भारत के दक्षिण तट पर स्थित का निवासी था, चौदह टीकाएँ लिखी हैं। विचारों में समानता और लेखन-पद्धति देखते हुए लगता है कि वह बुद्धघोष से बहुत बाद में नहीं हुआ था। उसकी (वास्तविक अर्थ का विवेचन) **खुद्दनिकाय** के सात ग्रन्थों की टीका है, जिसकी ने व्याख्या नहीं की थी। धम्मपाल की अन्य टीकाएँ इस प्रकार हैं (८) नेत्ति (९) **विसुद्धिमग्ग** पर **परमत्थमंजूषा** (१०-१३) चार निकायों की बुद्धघोष पर **लीनत्थवण्णना** या **लीनत्थप्पकासिनी** और (१४) **जातकट्ठकथा** पर इसी (**लीनत्थप्पकासिनी**) एक और टीका। अपनी टीकाओं में धम्मपाल ने नियमित योजना का पालन किया है। आरम्भ में दी गई भूमिका में परम्परा दिया गया है कि कविताओं का वह विशिष्ट संग्रह किस प्रकार किया गया बताने के बाद कि हर कविता किस प्रकार, कब और किसके द्वारा रची गई वाक्यांश की व्याख्या करके उसका दार्शनिक अर्थ समझाया गया है।

धम्मपाल का अधिकांश कृतित्व इस बात में निहित है कि उसने सिंहली या तमिल टीका-साहित्य को पंडिताऊ, पालि भाषा में रूपान्तरित इसमें सन्देह है कि बुद्धघोष का समकालीन, किन्तु उससे उम्र में कम, धम्मपाल ग्रन्थों का लेखक हो। सम्भव है कि उसके नामराशि परवर्ती लेखकों की धम्मपाल की रचनाएँ मान ली गयी हों, जिसने बुद्धघोष की टीकाओं को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। अगर उसे नालन्दा के संघाराम के से अभिन्न माना जाए, जो ह्वेन-त्सांग के गुरु का गुरु था, तो उसकी कालतिथि के एक शताब्दी बाद रखनी होगी, पर हार्डी (Hardy) और गीगर मानते हैं कि यह अभिन्नता अभी तक अप्रमाणित है।[1]

---

[1] त्सा, ड्वा. मी. गे. ५१, पृ० १०३ प. पृ. **पालि लिटरेचर ऐंड लेंग्वेज,**

पाल के ग्रन्थों से उसके अपार ज्ञान, व्याख्या-विवेचन की प्रभूत क्षमता और र्णय करने की योग्यता का आभास मिलता है। बुद्धघोष के मुकाबले में उसकी धिक सरल और कम विस्तृत है। यद्यपि धम्मपाल का अध्ययन विशाल था और जानकारी भी काफी विस्तृत थी, किन्तु बुद्धघोष का अध्ययन अधिक व्यापक की जानकारी विश्वकोशीय थी। धम्मपाल टीकाकार और निरुक्तशास्त्री की अधिक बड़ा वैयाकरण और विद्वान् था।

) उपसेन

सिंघे के अनुसार इसी काल में उपसेन भी हुआ था, जो **महानिद्देस** की (जिसका नाम **सद्धम्मप्पजोतिका** है) का लेखक था। यह वास्तव में सिंहली टीकाओं का पालि में अनुवाद मात्र है।[1] इसमें मौलिकता का कोई प्रयत्न नहीं ा. और यह ग्रन्थ बुद्धघोष या धम्मपाल के ग्रन्थों से निम्न कोटि का है। बोधगया अभिलेख[2] में लंका के शिक्षकों में महानाम से पहले के एक उपसेन और उसके एक उपसेन का उल्लेख मिलता है। महानाम का हवाला शायद **महावंस** के में है और उससे पहले के उपसेन का हवाला शायद हमारे इस उपसेन से है। इस इस उपसेन की कालतिथि पाँचवीं सदी होगी। और अगर उसे दूसरे उपसेन न्न माना जाय, तो भी वह हमारे विवेच्य काल में ही आएगा।

) कस्सप

नागतवंस (भविष्य का इतिहास, अर्थात् भावी बुद्ध) १५० पदों का काव्य विषय-वस्तु की दृष्टि से **बुद्धवंस** की उत्तर-कथा है। इसमें भावी बुद्ध मैत्रेय और मकालीन चक्रवर्ती शंख का विस्तृत विवरण पेश किया गया है। **गंधवंस** के इस काव्य का लेखक कस्सप था, जो **बुद्धवंस** का भी लेखक था, और उसकी (**अनागतवंस-अट्ठकथा**) का लेखक उपतिस्स था। विभिन्न कालों में अनेक कस्सप तिस्स हुए हैं, इसलिए इस काव्य की तारीख निश्चित रूप से तय नहीं की जा । विन्टरनित्ज़ (Winternitz) का कहना है कि यह रचना "शायद किसी काल की है, हालाँकि अनेक विद्वानों का ख्याल है कि **अनागतवंश** एक जाली है।"[3] मालालशेखर (Malalsekara) का विश्वास है कि उपतिस्स की **टीका** र्ववर्ती कृति पर आधारित है।[4] यह निश्चित नहीं है कि **अनागतवंस** का **मोहविच्छेदनी**, **विमतिच्छेदनी** (या **विमति-विनोदिनी**) और **बोधिवंस** के लेखक

---

[1] केटलग, पृ. XII, पा० लि० सी०, पृ० ११६ प. पृ. में निर्देशित।

[2] का. इ. इ., III. २४४।

[3] हि. इ. लि., II, पृ० १२०, डी ज्वायसा, **कैटलग ऑफ पालि, सिंहली एंड संस्कृत स्क्रिप्ट्स इन दि टेम्पुल लाइब्रेरीज आफ सीलोन**, पृ० ५।

[4] पा० लि० सी०, पृ० १६१।

से अभिन्न है, यद्यपि गंधवंस[1] में कहा गया है कि इन सब ग्रन्थों का लेखक एक
था। **मोहविच्छेदनी, अभिधम्म** पर प्रबन्ध है और **विमतिच्छेदनी,** विनय पर

(VII) धम्मसिरि और महासामि

धम्मसिरि की लिखी **खुद्दसिक्खा** और महासामि की लिखी मूलसिक्ख
विनय के नियमों का संक्षेप दिया गया है। ये दोनों पुस्तकें अधिकांश में
किन्तु कुछ अनुच्छेद गद्य में भी हैं। उनकी भाषा सरल और आडम्बरहीन है।
इन दोनों पुस्तकों को बुद्धघोष से पहले की बताती है। राइस डेविड्स इस
समर्थन करता है, किन्तु इस प्रश्न पर विद्वानों में बहुत मतभेद है।[2]

३. पालि वृत्त

जहां एक ओर बुद्धघोष और उसके उत्तराधिकारी अनुश्रुतियों के
धर्मग्रन्थों की व्याख्या में लगे हुए थे, वहाँ दूसरी ओर एक दूसरे ही प्रकार की
क्रियाशीलता जारी थी जो इतिवृत्तों के रूप में लंका के इतिहास और बौद्धों के
विकास की मुख्य-मुख्य घटनाओं को दर्ज करने में लगी थी। लंका में इतिहास-
प्रथम प्रयास सिंहली भाषा में **अट्ठकथाएँ** लिखने के रूप में सामने आया,
अनुभाग हैं, जिनके अन्दर धार्मिक इतिहास, अर्थात् लंका-द्वीप में बौद्ध धर्म के
और विकास की कहानी कही गयी है, जो **बुद्धवंस, चरियापिटक** और जातकों में
आख्यानों पर आधारित है। इन अनुभागों में मिथक आख्यानों, अनुश्रुतियों,
और ऐतिहासिक घटनाओं का सम्मिश्रण है और वे लंका में बौद्ध धर्म को सीधे
बुद्ध से सम्बद्ध कर देती हैं। जब हम ऐतिहासिक काल में पहुँचते हैं, तो वहां
तथ्यों के भी चिह्न मिलने लगते हैं। धार्मिक परम्पराओं के अलावा इन
लोक-कथाएँ और चुटकुले भी शामिल किये गये हैं, जिससे वे सूचनाओं का
गयी हैं।

(I) दीपवंस

दीपवंस (द्वीप, अर्थात् लंका का इतिहास) में पहली बार सिंहली
में उपलब्ध परम्पराओं को महाकाव्य का रूप देने की कोशिश की गयी। इसके
का नाम अज्ञात है। लगता है कि उसे पालि भाषा बहुत कम आती थी।
दृष्टि से भी **दीपवंस** एक निम्नकोटि की रचना है। पद्यों के बीच गद्य के अंश भरे
और व्याकरण की गलतियों और छन्ददोषों की तो भरमार है। पुनरावृत्ति दोष के
अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंग छोड़ दिये गये हैं और सारी रचना एक प्रकार से

---

[1] ज. पा. टे. सो., १८८६, पृ० ६१।

[2] ज. पा. टे. सो., १८८३, पृ० xiii प. पृ० ८६-८७; **पालि लिटरेचर** एंड
पृ० ३५-३६; हि. इ. लि., II, पृ० २२१।

अचानक एक विषय से उछल कर दूसरे विषय का वर्णन करने लगता है; उसके अनेक बातें छूट जाती हैं और अक्सर वर्णनों के बीच भाषण शुरु हो जाते हैं, र्णन का प्रभाव नष्ट हो जाता है। **दीपवंस** चौथी सदी के मध्य में राजा महासेन ही रचा गया था, क्योंकि इस राजा के शासन-काल के साथ ही उसका विवरण होता है। इस प्रकार **दीपवंस** बुद्धघोष से पहले की रचना है, जिसने अपने ग्रन्थ में दीपवंस से बार-बार उद्धरण दिये हैं।

महावंस

वंस की तुलना में, जिसमें एक महाकाव्य रचने का बड़ा शिथिल और कमजोर दिखाई पड़ता है, **महावंस** सचमुच उच्चकोटि का महाकाव्य है। इसके अन्दर की रची हुई ऐतिहासिक कृति को", जिसमें "कहीं तो कोरी लफ्फाजी थी जरूरत से ज्यादा संक्षिप्तता थी, और कुछ वातें बार-बार दोहराई गयी थीं", से पुनर्गठित करके और उसमें से इन दोषों को निकालकर प्रस्तुत किया गया नाम को इसका लेखक बताया जाता है, जिसे हम ईसा की पाँचवीं सदी में है। लेखक ने एक अलंकृत काव्य रचने का प्रयास किया है और उसने बड़े अपनी सामग्री, भाषा और छन्द का प्रयोग किया है। महावंस ने विजय और उत्तराधिकारियों की कहानी का विस्तार किया है और दुट्ठगामणी की कहानी स्वतन्त्र महाकाव्य के रूप में विकास किया है। **दीपवंस** की तरह **महावंस** का ३७वें कांड में राजा महासेन की मृत्यु (सन् ६६२ ई०) के साथ ही समाप्त है। महावंस से आगे की कथा **चूलवंस** में मिलती है, जो सुसम्बद्ध रचना नहीं है। समयों पर लिखी हुई विभिन्न लेखकों की रचना है। थेर धम्मकित्ति सदी) **चूलवंस** की परम्परा जारी रखने वाला पहला लेखक था।

धारणाओं के अनुसार **महावंस** दरअसल **दीपवंस** की टीका है। (Oldenberg) का विचार है कि **दीपवंस** और **महावंस** एक ही कहानी न्तर हैं। दोनों में विवरण गौतम की कहानी से शुरु होता है और दोनों एक स्रोत, महाविहार के **अट्ठकथा महावंस** पर आधारित हैं। चमत्कारी घटनाओं, वासों और अतिरंजनाओं तथा साथ ही ऐतिहासिक चेतना और आलोचनात्मक अभाव के वावजूद, हम यह नहीं कह सकते कि इन दोनों कृतियों में ऐतिहासिक कोई सामग्री नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों का विचार है। यह बात कि इन लेखकों की गयी सूचनाएँ कोरी काल्पनिक नहीं हैं, इससे प्रमाणित है कि वे अक्सर परम्पराओं का समर्थन करती हैं। इन विवरणों का बाहरी स्रोतों से भी समर्थन

---

[1] देखिये, विन्टरनित्ज, हि. इ. लि. II, पृ० २११-१२ गीगर (Geiger) के विचार से दीपवंस है, किन्तु विन्टरनित्ज (पू. ले.) को इसमें सन्देह है। फ्लीट (ज. रा. ए. सो., १९०९, महावंस को दीपवंस की "टीका" बताता है, और गीगर (Geiger) ने महावंस, अनु० पृ०; पालि लिटराटर उंड स्प्राखे, (पृ० २४) में उसका समर्थन किया है।

होता है और उनमें दिया गया कालानुक्रम काफी सही है। लेखकों ने उन्हीं बातों किया है, जिन्हें वे ऐतिहासिक तथ्य समझते थे; उनका ऐतिहासिक कालों और उससे पूर्ववर्ती काल का विवरण विश्वसनीय कहा जा सकता है।

४. व्याकरण

कच्चायन द्वारा लिखित **कच्चायन व्याकरण** या **कच्चायनगंध** को सबसे प्राचीन व्याकरण माना जाता है। बुद्धघोष ने क्लासिकी पालि व्याकरण लेखक की व्याकरण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया, होता है कि बुद्धघोष उससे पहले हुआ था। फ्रान्क (Franke) ने सूचित बुद्धघोष और धम्मपाल ने व्याकरण के विलकुल भिन्न नियमों का पालन सम्भवतः बोधिसत्त्व के व्याकरण पर आधारित थे।[1]

कच्चायन ने **काशिकावृत्ति** (सातवीं सदी) के साथ-साथ पाणिनि टीकाओं और शर्ववर्मन् के **कातंत्र** का इस्तेमाल किया था। इसे हम कालतिथि की ऊपरी सीमा मान सकते हैं। कच्चायन को दो अन्य **महानिरुत्तिगंध** और **चुल्लुनिरुत्तिगंध** का भी लेखक बताया जाता है। व्याकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक उपेक्षा करता है, और अपने आप में एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में पालि का है। भाषामूलक सामग्री का भी उसमें विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया गया।

५. सामान्य पुनरीक्षण

कहा जा सकता है कि पालि साहित्य का "आगस्टन काल" उन टीकाओं शुरू हुआ था, जिनका ऊपर जिक्र किया गया है और आरम्भिक इतिवृत्तों— और **महावंस**—की पूर्ति के साथ ही खत्म हो गया था। टीकाओं से सूचित कांचीपुर, कावेरीपट्टण, मदुरा, उरगपुर, और अनुराधपुर पालि बौद्ध-धर्म केन्द्र थे। पालि विवरणों के परवर्ती काल में साहित्यिक रचनात्मकता के नहीं होते। कभी-कभी संस्कृत ग्रन्थों की नकल में एकाध उपयोगी नियम- संकलन किये गये और कुछ काव्य-रचनाएँ भी प्रकाश में आयीं। हमने पालि जो विवरण दिया है, उससे स्पष्ट है कि विविध क्षेत्रों में लौकिक रुचि के इसमें सर्वथा कमी थी। उदाहरण के लिए कथा-साहित्य और नाटक तो ही नहीं गया। न उसमें ज्योतिष, नक्षत्र-विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, गणित, और राजनीति आदि पर ही कोई ग्रन्थ लिखा गया और इनमें से कुछ विषयों थोड़े से ग्रन्थ मिलते हैं, वे बहुत बाद के लिखे हुए हैं।

---

[1] गेओख उंड क्रित, डेर आइन हाइम, पालि-ग्रामाटिक, पृ० २-३।

(ग) जैन धर्म

I. जैन धर्म का प्रसार

उत्तर भारत

ईसा की तीसरी सदी के अन्त तक समस्त भारत में जैन धर्म की जड़ें मजबूत हो थीं। मगध में अपने मूल जन्म-स्थान से शुरू होकर यह धर्म विभिन्न देशों में फैल , अर्थात् दक्षिण-पूरब में कलिंग तक, पच्छिम में मथुरा और मालवा तक, दक्षिण पथ और तमिल देश तक। साथ ही ऐसा लगता है कि स्वयं मगध में इसका बल हो गया था और वह पश्चिम और दक्षिण के देशों में शक्तिशाली होता गया उत्तर में भी कुछ राजाओं का आश्रय पाने में आरम्भिक सफलता हासिल करने के जो आंशिक रूप से उसके तीव्र प्रसार का कारण था, वह उसे खो बैठा, किन्तु के लोगों, विशेषकर व्यापारियों और बैंकरों पर उसका प्रभाव बहुत दिनों तक रहा। उत्तर के राजाओं का समर्थन और आश्रय खोने से इस धर्म को जो नुकसान उसकी पूर्ति दक्षिणपथ के अनेक राजाओं का समर्थन और आश्रय पाकर हो गयी। काल में विन्ध्यपर्वतमाला से दक्षिण के भारत को जैन धर्म का गढ़ कहा जा ता है।

किन्तु जैन-धर्म के प्रसार उसके मूल केन्द्र के परिवर्तन के साथ-साथ इसके संघ के संगठन में भी परिवर्तन हुए। जैनियों का श्वेताम्बर और दिगम्बर इन सम्प्रदायों में बँटवारा तब तक पक्का हो गया था और इस बंटवारे का असर जैन मुनियों पर ही नहीं पड़ा, बल्कि साधारण गृहस्थ अनुयायियों पर भी । यापनीयों[1] जैसे समझौतावादी दृष्टिकोण और विचारों के स्कूल अभी तक मौजूद किन्तु उनको इन दोनों सम्प्रदायों जैसा महत्त्व कभी प्राप्त नहीं हो सका। ये दोनों सम्प्रदाय भी अनेक छोटे-छोटे समूहों—जैसे संघों और गणों के रूप में दक्षिण में कुलों, शाखाओं और बाद में गच्छों के रूप में उत्तर में बँट गये थे। यह इस धर्म विशाल भूभाग में फैल जाने और जैन साधुओं की घुमक्कड़ प्रवृत्ति का स्वाभाविक था। धर्म-संगठन में इस विभाजन का उसके साधारण अनुयायियों पर भी सीमा तक प्रभाव पड़ा और वे भी शायद इन दो सम्प्रदायों के अलावा उनके विभाजनों के अनुसार बँट गये थे।

गुप्त साम्राज्यवाद का युग, जिसमें हिन्दूवाद और संस्कृत के क्लासिकी साहित्य उत्थान हुआ था, जैन और बौद्ध दोनों धर्मों के ह्रास का काल साबित हुआ। जैन-के सम्बन्ध में इस काल के पुरालेखीय विवरणों की कमी और जैन विद्वानों में साहि- रचना के प्रति उदासीनता से साफ जाहिर है कि उन दिनों जैन धर्म कुछ ज्यादा नहीं रहा था। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि चीनी यात्री फाहियान ने विवरण में जैन धर्म का एक बार भी उल्लेख नहीं किया है। इस ह्रास का

---

[1] उपाध्ये, ज. यु. व., I भाग VI पृ० २२४-३१।

कारण राज्याश्रय का अभाव था। किन्तु ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे अनु है कि यह धर्म मध्यवर्गों के बीच पहले की तरह ही लोकप्रिय था। ये गुप्तकाल के दो अभिलेखों से प्राप्त होते हैं।

कुमारगुप्त के शासन-काल के दो अभिलेख हैं; पहला मथुरा में (सन् ४३ है, जिसमें एक महिला द्वारा एक जैन-मूर्ति के दान का उल्लेख है, और दूसरा उदयगिरि में (सन् ४२६ ई०), जिसमें एक व्यक्ति द्वारा पार्श्व की मूर्ति स्थापि का जिक्र है। स्कन्दगुप्त काल के कहोम अभिलेख (सन् ४६१ ई०) में भी उस पाँच जैन पैगम्बरों की मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। इन विवरणों से जाहि गुप्त साम्राज्य में मथुरा, उदयगिरि और ककुभ जैसे दूर-दूर तक बसे स्थानों में जनता जैन धर्म की अनुयायी थी। इन विवरणों से यह भी जाहिर होता है कि पूरब की अपेक्षा पश्चिम में ज्यादा लोकप्रिय था। इसके अलावा, हम देखते हैं धर्म में उपासना का सामान्य रूप जैन पैगम्बरों की मूर्तियों की स्थापना करना और जैनमुनियों का संघ पहले की तरह ही गणों और शाखाओं में बँटा हुआ था।

अपने जन्म-प्रदेश बिहार और उससे पूरब बंगाल में जैन धर्म का प्रभाव समाप्त हो गया था। इसके बाद, पहाड़पुर में मिले ताम्रपत्रों[1] में, जिनकी तिथि ४७८ ई० है, एक व्यक्ति और उसकी पत्नी द्वारा वट गोहाली के जैन-विहार के लिए भूमि-अनुदान का विवरण दिया गया है। इस जैन-विहार का प्रबन्ध बनारस निकाय के निर्ग्रन्थ गुरु गुहनन्दी के शिष्यों के हाथ में था। चौथी-पाँचवीं सदी जैन-विहार शायद उसी स्थान पर था, जहाँ पहाड़पुर (राजशाही जिला) में विशाल मन्दिर के अवशेष खुदाई में निकले हैं। यह उल्लेखनीय है कि इस विहा संस्थापक एक जैनमुनि था, जो बनारस से पूरब की ओर गया था।

गुप्त साम्राज्य के विघटन के बाद के काल की सूचनाएँ हमें ह्वेन-त्सां विवरण में प्राप्त होती हैं, जो सातवीं सदी में भारत आया था। उसने लिखा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के जैनमुनि पश्चिम में तक्षशिला और में विपुल तक मिलते थे, और पूरब में पुंड्रवर्धन और समतट के क्षेत्रों में निर्ग्रन्थ की काफी बड़ी तादाद थी। ब्राह्मण लेखक उस समय जैन मुनियों को जिस हिका नजर से देखते थे, इसका अन्दाज बाण के **हर्षचरित** में नंगे क्षपणक के उल्लेख और के **दशकुमारचरित** में एक गरीब द्वारा जैन धर्म अपना लेने का मजाक उड़ाने वाले से लगाया जा सकता है।

सातवीं और आठवीं सदी के जैनमुनियों और साहित्यकारों के कार्य पर प्रकाश उद्योतन की प्रेम-कथा **कुवलयमालाकहा**[2] से पड़ता है, जो सन् ७७९ में र थी। उसका कहना है कि भारत के उत्तरी भाग में चन्द्रभागा (चिनाब) नदी के

---

[1] ई. इ., XX. ६१ प. पृ.।

[2] ए. भ. ओ. रि. इ., XVI, पृ० ३४-३५।

नाम का एक नगर था, जो यवन राजा तोरमाण की राजधानी थी। इस राजा त्मिक गुरु गुप्त-परिवार का हरिगुप्त था। इसका एक शिष्य देवगुप्त था, जो म्राटों के वंश का राजकुमार था। देवगुप्त का भी एक शिष्य था, जिसका नाम था और जिसकी उपाधि महत्तर थी। अपनी यात्राओं के दौरान शिवचन्द्र में जाकर रहने लगा, जो श्रीमाल के नाम से प्रसिद्ध है। उसका एक शिष्य तक प्रसिद्ध, जैन विद्वान् यक्षदत्त था और बाकी शिष्यों के जत्थों ने घूम घूम कर के सारे गुजरात को जैन धर्म का अनुयायी बना लिया था। उसका एक शिष्य था, जिसने आकाशवप्र में जिन का एक विशाल और भव्य मन्दिर बनवाया उसका शिष्य तत्त्वाचार्य था जो इस प्रेमकथा के लेखक उद्योतन का गुरु था। ने जैन धर्मग्रन्थों की शिक्षा वीरभद्र से ग्रहण की थी, और न्यायशास्त्र तथा अन्य ों की शिक्षा प्रसिद्ध विद्वान् हरिभद्र से प्राप्त की थी। यद्यपि इतिहास से हमें यह में कोई सहायता नहीं मिलती कि ये गुप्तराजा कौन थे, और हूण राजा तोरमाण ने तक जैन धर्म अपना लिया था, लेकिन हम यह आसानी से मान सकते हैं कि उन के छोटे-छोटे राजा और सामन्त जैन धर्म को राजाश्रय देते थे और जैनमुनियों के घूम कर पश्चिमी भारत के विभिन्न भागों में जैन धर्म का प्रचार करते थे।

काल के आरम्भ में काठियावाड़ और गुजरात के क्षेत्र में जैनों की उपस्थिति साहित्यिक, पुरालेखीय और पुरातत्त्वीय खुदाई से प्राप्त प्रमाणों से भी होती किन आगे चलकर राजाओं का संरक्षण और आश्रय पाकर इस धर्म ने ग्यारहवीं रहवीं शताब्दियों में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की, उसके मुकाबले में इस समय वह वर्गों का ही धर्म बना रहा और इन देशों के प्रारम्भिक राजवंशों का उसे विशेष नहीं प्राप्त हुआ। जैन धर्म के प्रचार का अधिकतर कार्य उसके मुनियों ने ही किया न्होंने काफी साहित्य-सृजन भी किया, जो आगे चलकर उनके धर्म-संघ के लिए महत्त्वपूर्ण सावित हुआ।

वीं सदी के दो गुर्जर राजाओं, जयभट प्रथम और दद्द द्वितीय को, उनके पत्रों में "वीतराग" और "प्रशान्तराग" की उपाधियाँ दी गयी हैं—इन शब्दों होता है कि वे शायद जैन-धर्म के समर्थक थे, चाहे उन्होंने स्वयं वह धर्म न भी हो। उत्तरी गुजरात में अणहिल्लपुर के चापोत्कट-वंश के संस्थापक वनराज को परम्परा में जैन धर्म का अनुयायी और संरक्षक माना गया है।

क्षिणापथ

र भारत में यदि जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ, तो विवेच्य काल में के विभिन्न राजवंशों की ओर से उसे अपेक्षया अधिक समर्थन और सहायता ई। फलतः कन्नड़ भाषी क्षेत्रों में जैन धर्म का प्रसार हुआ। दक्षिणापथ के कई कारों, मन्त्रियों और सामन्तों ने जैन धर्म के प्रति झुकाव दिखाया। यद्यपि कई के वारे में यह साबित करना मुश्किल है कि इन राजाओं ने सचमुच जैन धर्म

अपना लिया था, किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण मौजूद हैं कि वे बड़ी इस धर्म को सहायता और संरक्षण देते थे। देश के इस भाग में जैन धर्म और प्रसार का यही मुख्य कारण था।

मैसूर के गंग राजा[1] जैन धर्म से अंतरंग रूप से सम्बद्ध थे।[2] एक परम्परा में, जिसमें समय के साथ अधिकाधिक ब्यौरे जुड़ते गये, गंगवंश के संस्थापक को सिंहनन्दी का शिष्य बताया गया है और दावा किया गया है कि उसके सारे जैनधर्मावलम्बी थे। बाद के एक शासक अविनीत के बारे में कहा जाता है कि विजयकीर्ति ने उसका पालन-पोषण किया था। प्रसिद्ध दिगम्बर लेखक नाम इसी परिवार के एक दूसरे राजा दुर्विनीत से जोड़ा जाता है। इन परम्परा हम चाहे जितना मूल्य दें, लेकिन अविनीत, शिवमार और श्रीपुरुष जैसे के अभिलेख प्राप्त हैं, जिनमें ब्राह्मणों के मन्दिरों को दान देने के साथ मुनियों और जैन-मन्दिरों के निर्माण के लिए प्रदत्त अनुदानों के विवरण भी इन राजाओं का व्यक्तिगत धर्म चाहे जो भी रहा हो, जैन धर्म को उनका समर्थन प्राप्त था, यह साफ जाहिर है।

वैजयन्ती या वनवासी के कदम्ब राजाओं[3] को अक्सर जैनधर्माव जाता है। लेकिन इस वंश के संस्थापक मयूरशर्मा के बारे में परम्परा और अनेक विवरणों में अश्वमेध यज्ञ करने और हिन्दू देवताओं के लिए दान करने से यह ज्यादा सम्भव मालूम पड़ता है कि वे सनातन धर्म के अनुयायी थे।[4] भी जाहिर है कि उन्होंने जैन धर्म के प्रति असाधारण पक्षपात दिखाया था, उनकी प्रजा के अधिकांश लोगों का धर्म था। जो भी हो, हमारे पास ऐसे प्राप्त हैं जिनसे मालूम होता है कि अनेक राजाओं ने जैनमुनियों को, और जैन निर्माण के लिए, अनुदान किया था और जैन-धर्मी विभिन्न सम्प्रदायों की भी सहायता की थी। कदम्ब राजाओं के इन सारे विवरणों से स्पष्ट हो उनका उदार आश्रय पाकर जैन धर्म खूब फल-फूल रहा था और देश के जमींदार और उच्च पदाधिकारी जैन धर्म के कट्टर अनुयायी थे। जैनों के अनेक थे, जैसे निर्ग्रंथ, जो दक्षिण का दिगम्बर सम्प्रदाय था, यापनीय, जो सम्प्रदाय खत्म हो गया, कूर्चक, जो कम विख्यात था, और वैसे ही श्वेतपट भी। मन्दिरों करना, जैन यतियों और मुनियों को भोजन कराना, जिन की मूर्तियों की पूजा जैन-उत्सवों का आयोजन करना, धार्मिक उत्साह दिखाने के ये ही परम्परागत

इस प्रकार का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता कि बादामि के भी कभी जैन धर्म के प्रति झुकाव दिखाया था। दो अप्रामाणिक अनुदान-पत्रों में

---

[1] देखिए पृ० ३०४ प. पृ.।

[2] सालेतोर—**मेडीवल जैनिज्म** पृ० ७ प. पृ०।

[3] देखिए, पृ० ३०६ प. पृ.।

[4] शर्मा, **जैनिज्म ऐंड कर्नाटक कल्चर,** पृ० ९ प. पृ.।

और कीर्तिवर्मन् के दान दर्ज किये गये हैं और कुछ जैन आचार्यों का जिक्र भी है। हमारे पास चालुक्यों के सबसे महान् शासक पुलकेशिन् द्वितीय का एहोल अभि- जहां पुलकेशिन् के आश्रित रविकीर्त्ति ने जिनेन्द्र का मेगुति नामक मन्दिर था। इसके अलावा लक्ष्मेश्वर में ऐसे कई जाली अनुदान-पत्र मिले हैं, जो त्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य जैसे चालुक्य राजाओं द्वारा जारी होने का ते हैं और जिनमें उनके द्वारा जैन आचार्यों को और जैन-मन्दिरों के निर्माण के न देने के विवरण हैं। जैसा डॉ० अल्तेकर[1] ने संकेत किया है उन दिनों ऐसे जाली पत्र तैयार करना तभी सम्भव हुआ होगा जबकि कोई न कोई परम्परा प्रचलित कि ये राजा जैन धर्म के प्रति उदार थे। बादामि में एक जैन गुफा मिली है और में, जिनमें तीर्थंकरों की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। ये गुफाएं चालुक्य काल के दिनों की हैं।

भारत

की आरम्भिक शताब्दियों में दक्षिण भारत में जैन धर्म की क्या स्थिति थी, रे में निश्चित जानकारी प्राप्त करना कठिन है। **महावंश** के इस वक्तव्य का डुकाभय के समय में श्रीलंका में भी निर्ग्रंथ जैन रहते थे, अथवा रामनाद और जिलों की गुफाओं में मिले ब्राह्मी-लिपि के अस्पष्ट विवरणों का तमिल देश के इतिहास की रूपरेखा तैयार करने में कोई महत्त्व नहीं है।[2] किन्तु प्रारम्भिक रचनाओं में प्राप्त सूचनाओं से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि जैन का दक्षिण प्रसार था। यद्यपि विद्वान् इस साहित्य की तारीख के बारे में एक मत नहीं इसमें सन्देह नहीं कि इस साहित्य का काफी भाग जैन लेखकों के प्रयासों का है और इससे स्वभावतः यह सूचित होता है कि जैन धर्म के अनुयायियों की काफी रही होगी, जिनके लिए यह साहित्य रचा गया था। अन्य धर्मों की तरह का भी दावा है कि **तोल्काप्पियम** और **कुरल** के लेखक उसके अनुयायी थे। मूल्यवान् बौद्ध महाकाव्य **मणिमेखलइ** की साक्षी है, जिसमें जैन मुनियों, दिगम्बर जैनों और उनके सिद्धान्तों का काफी सही उल्लेख मिलता है। अन्य ,जैसे **जीवकचिन्तामणि, सिलप्पदिकारम्, नीलकेसि, यशोधरकाव्य** तथा अन्य, ही विषय-वस्तु की दृष्टि से जैन ग्रन्थ हैं, किन्तु उनकी रचना की तिथियाँ हैं। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि वे उस काल में रचे गये थे, जब जैन तमिल देश में व्यापक प्रसार था, और यह काल सातवीं सदी से पहले ही रहा दक्षिण भारत में जैन धर्म को गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा था। परम्परा भी इस बात का समर्थन करती है कि दक्षिण भारत में जैन-धर्म प्रसार था। प्रसिद्ध जैन लेखक समन्तभद्र का सम्बन्ध कांची नगर से था।

---

[1] **द राष्ट्रकूटाज ऐंड देयर टाइम्स,** पृ० ३१०।

[2] आयंगर और राव—**स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म,** पृ० ३२ प. पृ०।

दक्षिण का सबसे पहला प्राकृत लेखक कुंदकुंद है, जिसका दिगम्बर साहित्य में
है। उसे एक राजा शिवकुमारमहाराज से सम्बद्ध बताया जाता है, जो परम्प
सार उसका शिष्य था और यह अनुमान किया गया है कि वह प्राकृत के अनुदान
एक पल्लव राजा था। परवर्ती काल के एक संस्कृत अनुवाद से पता चलता है कि
विद्वान् सर्वनन्दी ने अपना प्राकृत ग्रन्थ **लोकविभाग** सन् ४६८ ई० में लिखा था,
कांची का शासक सिंहवर्मन् था। कुछ लोगों के अनुसार, जिन विदेशियों ने
आक्रमण किया था और जो कलभ्र[1] कहलाते थे, कर्नाटक से आये थे और
अनुयायी थे।

दक्षिण में जैन धर्म के बारे में कुछ अधिक प्रामाणिक और अंतरंग
धर्म-संगठन के इतिहास से प्राप्त हो सकते हैं।[2] दक्षिण के जैन अनुयायी मूल-
म्भिक दल) के सदस्य माने जाते थे। देवसेन ने लिखा है कि पूज्यपाद के शिष्य
ने सन् ४७० ई० में मदुरा में द्रविड़-संघ की स्थापना की थी, जिसने अहिंसा
अधिक व्यापक स्वतन्त्रता दी थी। बाद की एक परम्परा के अनुसार भद्रबाहु
शिष्य अर्हद्बलि के चार शिष्यों, माघनन्दी, जिनसेन, सिंह और देव ने मूलसंघ
गण स्थापित किये, जिनके नाम थे, क्रमशः नन्दिगण, सेनगण, सिंहगण और
अभिलेखों से प्राप्त तथ्य इस परम्परा से पूरी तरह मेल नहीं खाते, और
बँटवारा जिन छोटी-छोटी शाखाओं में हुआ था, जैसे अन्वय और गच्छ (जिनके
और संघों के साथ ही दिये गये हैं) उनको पदानुक्रम से संयोजित करना
है। जो भी हो, जैन यतियों-मुनियों का संघ दक्षिण में व्यापक रूप से संगठि
उसमें स्थान तथा आचार पर आधारित भेद भी थे, जिससे जैन धर्म के व्यापक
अनुमान किया जा सकता है। इसकी पुष्टि ह्वेन-त्सांग के इस वक्तव्य से भी
कि पांड्यों के देश में निर्ग्रन्थ जैनों की एक बड़ी संख्या रहती थी।

शैव और वैष्णव सन्तों के उपदेशों के परिणामस्वरूप, जिन्हें नाय
आलवार कहा जाता था, जैन-धर्म से राजाश्रय छिन गया और सातवीं सदी में
ह्रास शुरू हो गया। परम्परा के अनुसार, प्रसिद्ध पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन्,
में जैन धर्मी था, सन्त अप्पर के उपदेशों से प्रभावित होकर शैव बन गया था।
भक्तिगीतों में जैन धर्म के विरुद्ध तीव्र घृणा की भावना है। इसी प्रकार एक
धर्मोपदेशक तिरुज्ञान सम्बन्दर ने पांड्य राजा अरिकेसरी मारवर्मन् को
जो परम्परा के अनुसार नेडुमरन, सुन्दर पांड्य, और कूण पांड्य भी कह
इसके बाद स्वभावतः जैन धर्म को पांडच राजाओं का समर्थन मिलना बन्द हो

इस काल में जैन धर्म की जो तस्वीर हमें देखने को मिलती है, उस
कालों में मिलने वाली तस्वीर से विशेष फर्क नहीं है। जैन समाज मठवासी
और साधारण गृहस्थ अनुयायियों में बंटा था। विशेषतः मठवासियों या संघ

---

[1] देखिए, पृ० ३०० प. पृ.।

[2] Guerinot—Repertoire d' E'pigraphie Jaina, p. 4.

भी कई श्रेणियाँ थीं। मन्दिरों का निर्माण, संघों या मठों की स्थापना, जैन धर्म ओं की उपासना और सार्वजनिक रूप से बड़े बड़े धार्मिक उत्सव मनाना, ये ही धार्मिक जीवन के साधारण व्यापार थे। परिस्थिति-वश शायद कुछ जैन की आदतों में परिवर्तन आया था, ज़िससे चैत्यवासियों (चैत्यों में रहने वाले) वासियों (वनों में रहने वाले) जैनियों में फर्क हो गया था। चैत्यवासियों ने अधिक सुगठित संगठन का विकास किया, जिससे हर स्थानीय जैन समाज का धार्मिक नेता पैदा हो गया, जिसे भट्टारक कहते थे तथा जिसके उत्तरा- यों की सूचियाँ, जिन्हें पट्टावलियाँ कहते थे, अक्सर लम्बे काल तक के लिए बनायी थीं। इस जमाने के कई धार्मिक विवरणों में सल्लेखना की शपथ का पालन जिक्र आया है। यह आमरण अनशन की विशिष्ट जैन विधि थी, जिसका यति- न्यासी) और गृहस्थ धार्मिक (श्रावक) भी पालन करते थे। हम देखते हैं में लगातार ऐसे धर्म-स्थान या तीर्थ बनते चले गये, जहाँ अपने जीवन के दिनों में जैन मुनि और श्रावक दोनों ही चिन्तन-मनन या विश्राम का जीवन थे।

II जैन आगम

धर्म के वाह्य इतिहास से अधिक महत्त्वपूर्ण उसके धार्मिक संगठन का आन्त- हास है, जिसके अन्दर इस काल में बड़े बड़े परिवर्तन हुए। हम देख चुके हैं कि मृत्यु के दो शताब्दी बाद किस तरह पाटलिपुत्र में जैन धर्म के नेताओं की हुई थी, जो पवित्र धर्मग्रन्थों में दिये गये नियमों का पुनः सम्पादन करने में थी, हालांकि इस सभा को समूचे जैन सम्प्रदाय की मान्यता प्राप्त नहीं हुई घटना के बाद भी इन धर्मग्रन्थों का विकास नहीं रुका, बल्कि समय समय पर जैन आचार्यों की कृतियाँ जुड़ती ही गयीं। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी, जिसके साथ पुरानी सामग्री का महत्त्व बढ़ता गया। लेकिन वीर-निर्माण की नवीं (अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं सदी) ऐसा लगता है कि जैन धर्म के पवित्र किसी असामान्य खतरे का सामना करना पड़ा। परम्परा में बार-बार दुहराया के दीर्घकालीन अकाल और भुखमरी के कारण पवित्र ग्रन्थों के ज्ञान को सुरक्षित से कठिनतर होता गया। यह कठिनाई उन महान् आचार्यों की मृत्यु से बढ़ गयी थी, जिन्होंने इन रचनाओं को कंठस्थ कर रखा था। यह दोनों नजर आते हैं, और अर्ध-मागधी में रचे गये धर्म ग्रन्थों के इतिहास में परिवर्तन के लिए जिम्मेदार ठहराये जा सकते हैं। परम्परा के अनुसार की नवीं शताब्दी के आरम्भ में धर्मग्रन्थों के पुनरुद्धार के लिए दो प्रयत्न किये प्रयत्न मथुरा में स्थण्डिल ने किया, और दूसरा वलभी में नागार्जुन ने। इनकी यद्यपि सुरक्षित नहीं हैं, लेकिन बाद के टीकाकारों द्वारा दर्ज किये गये उनके मिलते हैं (विशेषकर नागार्जुन के नाम पर) जिनमें धर्मग्रन्थों या आगमों के निश्चित करने के उसके प्रयत्नों का कुछ आभास मिलता है।

आगमों के पाठ-निर्धारण के इन पूर्वकालीन प्रयत्नों से अधिक लाभदा
णाम वलभी में होने वाली दूसरी जैन-सभा के बाद निकले। यह सभा देव
कुशल निर्देशन में वीर-निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष बाद (सन् ५१२ या ५२
हुई थी। यह सुझाया[1] गया है कि यह सभा वलभी के मैत्रक राजवंश के राजा
प्रथम के शासनकाल में और सम्भवतः उसके संरक्षण में हुई थी। यह राजा
परम्परा में भी जैन मतावलम्बी के रूप में ही प्रदर्शित है। लेकिन सभा के साथ
का सम्बन्ध सन्दिग्ध है। वलभी के मैत्रक राजाओं के बहुत से अभिलेख उप
निश्चय ही उन दिनों वलभी में मैत्रकों का ही राज्य था। लेकिन उनके इन अभि
कहीं भी इस सभा का जिक्र नहीं है; न ही उनमें जैन-धर्म के प्रति किसी प्रकार
का संकेत मिलता है। स्वयं जैन-परम्परा भी इस घटना को किसी विशेष राजा
वंश के साथ सम्बद्ध नहीं करती। इन सारे तथ्यों से स्वभावतः यह अनुमान
सकता है कि जैन सम्प्रदाय को वलभी के राजाओं का विशेष आश्रय प्राप्त नहीं
यह भी कि दूसरी सभा का आयोजन मुख्यतः जैन धर्म-संघ ने ही किया था।
आरम्भ से ही जैन साहित्यिक क्रियाशीलता का केन्द्र रहा था, इसकी पुष्टि जैन
से होती है। हाल में ही नवीं शताब्दी के दिगम्बर सम्प्रदाय के जो ग्रन्थ मिले
धरसेन की प्राचीन कृतियाँ भी हैं, जिसने गिरिनगर (जूनागढ़) में रहने वाले अपने
पुष्पदन्त और भूतबलि—को धर्मग्रन्थों की शिक्षा दी थी। बाद में जिनभद्र
ने वलभी में बैठकर ही सन् ६०९ ई० में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ **विशेषावश्यकभाष्य**
था।

वलभी की दूसरी जैन-सभा में ही जैन आगमों को उनका वर्तमान रूप
था। यद्यपि इनकी अधिकांश सामग्री और इनके अधिकतर ग्रन्थों का बहुत
अस्तित्व था, और वे धर्मग्रन्थों के अभिन्न अंग माने जाते थे, लेकिन उनका
संयोजन और वर्गीकरण इस सभा ने ही किया था। आजकल जो संयोजन प्र
उसके अनुसार जैन आगमों को छह वर्गों में बाँटा गया है, जिनके नाम हैं: अं
प्रकीर्णक, छेदसूत्र, मूलसूत्र तथा छठा वर्ग नामहीन है। आगम साहित्य के अं
में इस वर्गीकरण के कुछ शीर्षकों को स्वीकार नहीं किया गया और वे अपने
में उनको सम्मिलित नहीं करते। इसका तात्पर्य है कि वे ग्रन्थों की रचना के
प्रक्षिप्त अंश की तरह जोड़े गये होंगे।

इनमें से केवल एक नाम, अर्थात् "अंग" ही प्राचीन है। पुराने वर्गीकर
आगमों के इस भाग का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान था, जितना अब है,
अंग-ग्रन्थों के नाम श्वेताम्बरों और दिगम्बरों दोनों के यहाँ सामान्य हैं। लेकि
यह अर्थ नहीं कि इन ग्रन्थों की विषय-वस्तु या संरचना में संशोधन-परि
सम्भावना नहीं रही थी। इसकी सबसे बड़ी मिसाल **पण्हावागरनाई** है, जिन

---

[1] कारपेंटियर, **उत्तराध्ययन** की भूमिका।

टीकाकारों की परम्परा तक स्वीकार करती है कि उसकी विषय-वस्तु में आमूल हो गया है; दरअसल पुराने ग्रन्थ की, जो नष्ट हो गया था, जगह एक बिलकुल ने ले ली है।

अन्य नामों में सबसे प्राचीन “उपांग” (अर्थात् गौण अंग) है। यह नाम के अन्तिम पाँच ग्रन्थों (८ से १२) की, जिन्हें सम्मिलित रूप से **निरयावलियाओ** भूमिका में आया है। इससे यह जाहिर होता है कि किसी समय इस वर्ग में अन्य ही थे, जो “अंग” वर्ग के सदृश ग्रन्थों से सम्बद्ध थे। इनसे तथा अन्य ग्रन्थों के सारे **अंग-बाहिर** अनुभाग में मिलते थे, एक नया वर्ग तैयार किया गया, ग्रन्थों के अनुरूप था और जिसमें १२ ग्रन्थ थे। इन दोनों वर्गों में एक ही का पालन किया गया है। पहले वे ग्रन्थ आते हैं, जिनमें सिद्धान्तों का विवेचन वे ग्रन्थ हैं, जिनमें वर्णनात्मक सामग्री है। दोनों में एक ही संख्या के ग्रन्थ होने यह कल्पना की गयी कि हर ‘उपांग’ अपने सदृश एक “अंग” से सम्बद्ध है।

दोनों वर्गों से विपरीत, जिनके ग्रन्थों की निश्चित संख्या है, प्रकीर्णकों के की संख्या अनिश्चित है, जैसा कि उनके नाम से ही सूचित होता है; लेकिन इन विभिन्न सूचियों से उनके निश्चित और स्थायी मूल ग्रन्थों को चुना जा सकता है, केवल वे प्रकीर्णक ही शामिल हैं, जो अनुशासन-व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। इन पुराने प्रकीर्णकों में नये प्रकीर्णक जोड़ दिये गये, ताकि दस की परम्परा-सम्मत मेल खा सके। अधिकांश प्रकीर्णक छन्दोबद्ध हैं, और परवर्ती काल में प्रचलित छन्द के प्रयोग और भाषा के आधुनिक रूप से सूचित होता है कि वे बहुत बाद की हैं।

कों से प्राचीन उस वर्ग के ग्रन्थ हैं, जिन्हें छेद-सूत्र कहते हैं। उनमें जैन के जीवन का नियमन करने वाले, विशेषकर जब वे चैत्यों में सम्मिलित रूप से हैं, अनुशासन-नियमों का सबसे प्राचीन रूप मिलता है। इनमें भी जो अधिक हैं वे गद्य में लिखे गये हैं और संघ-जीवन के नियमों का उल्लंघन करने वालों को प्रकार के दंड दिए जाने चाहिएँ, इसकी व्याख्या करते हैं। **आवश्यक निर्युक्ति**[1] का नाम छेयग्गन्थ के रूप में ज्ञात था, और निश्चय ही यह नाम उस प्रकार के हवाला देता है, जिसे **छेद** कहते थे, जिसके अनुसार जैनमुनियों का उनके विभिन्न के कारण पर्याय घटा दिया जाता था। भी कठोर दंड को “मूल” कहा जाता था, जिसके अनुसार जैनमुनि का छीन लिया जाता था। उन ग्रन्थों को, जिनमें जैन धर्म के बुनियादी सिद्धान्तों की गयी थी और जिन्होंने आगम-साहित्य के अध्ययन का सूत्रपात किया था, संकलित करके, मूल सूत्रों का नाम दिया गया। आमतौर पर इन ग्रन्थों की चार बतायी जाती है। अन्ततः दो और ग्रन्थ ‘नन्दी’ और ‘अनुयोगद्वार’,

---

[1] VIII, ५५।

धर्म विधान में जोड़े गये। वे एक प्रकार से आगम-साहित्य के अध्ययन को विवेचन करने वाली भूमिकाएँ हैं और इनका कोई सम्मिलित वर्ग-नाम नहीं है।

आगमों को रूप देने और सम्पादित करने की प्रक्रिया के साथ-साथ, के बीच साहित्यिक सरगर्मी भी पूरे उत्साह से जारी रही, जिसके परिणाम विशाल और समृद्ध साहित्य की रचना हुई, जो पर्याप्त उच्चकोटि का है। छन्दोबद्ध टीकाओं को, जिन्हें निरुक्तियाँ कहते थे, संघदास, जिनदास और विद्वानों ने नये सिरे से लिखकर और काफी परिवर्धित करके भाष्यों का इसके साथ ही अनेक महत्त्वपूर्ण धर्म ग्रन्थों (आगमों) की गद्य-टीकाएँ, जिन्हें कहते थे, प्राकृत भाषा में लिखी गयीं। हम यह भी देखते हैं कि जैन विद्वानों के स्थान पर संस्कृत भाषा में लिखने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी, क्योंकि विद्वानों से शास्त्रार्थ करने में संस्कृत अधिक उपयोगी सिद्ध होती थी और से प्रतिष्ठा भी अधिक मिलती थी। पुरानी प्राकृत टीकाओं की जगह जल्द में लिखी टीकाओं ने ले ली, और इस काल के अन्त में, हम देखते हैं, प्रसिद्ध हरिभद्र ने केवल संस्कृत में ही अपनी टीकाएँ लिखीं और इस प्रकार एक ऐसी प्रोत्साहन दिया, जो आगे चलकर अत्यन्त फलदायी सिद्ध हुई। इस काल में के तर्क-पक्ष के विकास पर अधिक जोर दिया गया। और हम जानते हैं कि अकलंक, पूज्यपाद जैसे सूक्ष्मद्रष्टा विद्वानों ने इस बीच जैन-सिद्धान्तों को अधिक और तर्कसंगत रूप देने, प्रतिद्वन्द्वी दार्शनिक सम्प्रदायों के मतों के विरुद्ध उनकी वकालत करने और स्याद्वाद और नयवाद के सिद्धान्तों का विकास करने में आश्चर्यजनक सूक्ष्मवत्ता और तर्क-कौशल का परिचय दिया था।

दक्षिण में दिगम्बर जैनों ने प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं का पूरे विकास किया। उनके पुराने लेखकों ने जिस प्राकृत बोली का प्रयोग किया आमतौर पर जैन शौरसेनी का नाम दिया जाता है, जो शौरसेनी प्राकृत की इसमें प्राप्त होने वाली कुछ विशेषताएँ अन्य जैन-प्राकृतों में भी सामान्य हैं। आगम-ग्रन्थों के नष्ट हो जाने के बाद दिगम्बरों को ऐसे प्रामाणिक धर्मग्रन्थों आवश्यकता महसूस हुई जो आगमों का स्थान ले सकें। इस आवश्यकता की दर्शन और जैन धर्म पर स्वतन्त्र प्रबन्धों की रचना करके की गयी। दिगम्बरों प्रसिद्ध लेखक कुंदकुंद हुआ है, जो ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में था। उसे अनेक ग्रन्थों का रचयिता होने का श्रेय प्राप्त है, जिनमें **पंचास्तिकाय** **सार, समयसार** और **षट्प्राभृत** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सारे ग्रन्थ प्रचलित गाथा छन्द में लिखे गये हैं। अन्य दिगम्बर लेखकों के, जिन्होंने प्राकृत है और जो अधिकतर इस काल में ही हुए थे, नाम इस प्रकार हैं: वट्टकेर, जो लेखक है, जिसमें जैन मुनियों के लिए आचरण-नियमों की व्याख्या की गयी है कार्त्तिकेय, जो **द्वादशानुप्रेक्षा** का लेखक है, जिसमें सांसारिक जीवन की बारह का विवेचन किया गया है; यतिवृषभ जो **तिलोयपण्णत्ति** का लेखक है, जिसमें

रचना का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया है। इनके अलावा पुष्पदन्त, भूतबलि जैसे जैन कुलपतियों ने सिद्धान्त-ग्रन्थों की रचना की। दिगम्बर विद्वानों में, स्कृत में लिखा, हम समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, मानतुंग आदि के नाम पेश हैं। यह ज्ञातव्य है कि दिगम्बरों में भी हम प्राकृत के ऊपर संस्कृत को तरजीह ति देखते हैं, विशेषकर दार्शनिक ग्रन्थों की रचना के क्षेत्र में, यद्यपि कुछ समय सिद्धान्त जैसे रूढ़ सिद्धान्त-विषय के प्रतिपादन के लिए प्राकृत का प्रयोग जारी

III मूर्ति-निर्माण कला

श्वर की खंडगिरि गुफाओं में परवर्ती गुप्त-काल और प्रारम्भिक मध्यकाल और बैठी स्थितियों वाली जिन-मूर्तियाँ वनी हुई हैं, जो मूर्ति-कला की दृष्टि से हैं। सबसे उत्तर की गुफा में, जिसे सातघरा या सातबखरा पुकारते हैं, पिछली र उत्कीर्ण मूर्तियों की दो पंक्तियाँ हैं। ऊपरवाली पंक्ति में सात तीर्थंकरों की वे सभी समाधि-मुद्रा में दिखायी गयी हैं और उनकी कमल-पीठिका के नीचे विशिष्ट व्यक्तिगत प्रतीक-चिह्नों से उनकी अलग-अलग पहचान की जाती ली पंक्ति में सात स्त्रियों की आकृतियाँ हैं, जिनका संरक्षण करते हुए गणेश या गया है। यह ब्राह्मणधर्मी सप्तमातृका का जैन रूपान्तर है, जिसमें गजानन रक्षक-दूत दिखाया गया है।[1] इस गुफा के एक दूसरे भाग में उत्कीर्ण आकृतियों तियां और हैं। ऊपर वाली पंक्ति में २४ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं और निचली २४ नारियों की आकृतियाँ हैं, जो सम्भवतः इन तीर्थंकरों की अनुकूल शासन-। जिनों की पहचान उनके अपने विशिष्ट प्रतीकों से होती है, जो धर्म ग्रन्थों के कित किये गये हैं, लेकिन यक्षिणियों की मूर्तियों में बहुत ज्यादा वैविध्य है; छ की आठ, दस, वारह यहाँ तक कि बीस भुजाएँ भी हैं। धर्म ग्रन्थों में उनके शायद ही मिलते हैं। खण्डगिरि गुफा में प्राप्त होने वाली इन मध्यकालीन भित्ति-मूर्तियों से यह पूरी तरह सिद्ध हो जाता है कि परवर्ती गुप्त और मध्ययुग काल में जैनों के वीच मूर्ति-कला का पर्याप्त विकास हो चुका था।

---

[1] इन नारी आकृतियों को विविध रूपों में अंकित किया गया है: दस–भुजाओं, चार भुजाओं वाली नारियों के रूप में। उनकी पहचान के लिए उनके साथ निम्न प्रतीक चिह्न अंकित ड़ और हंस, (२) हाथी (३) नन्दी (४) आकृति अस्पष्ट है (५) मोर, (६) कुम्भ (७) सिंह। हाथों में पकड़े चिन्हों से पहली पाँच आकृतियों का साम्य ब्राह्मी, वैष्णवी री और कुमारी से लगता है। छठी और सातवीं पद्मावती और अम्बिका जैसी महत्त्वपूर्ण सर्पदेवी मनसा और दुर्गा की जैन प्रतिरूप हैं), उनमें से कुछ (चौथी, पाँचवीं और सातवीं) एक शिशु है। पहली को छोड़कर, जो कमल-पीठिका पर बैठी है, बाकी सब अर्धपर्यंक या बैठी हैं। वी. सी. भट्टाचार्य ने पहली, दूसरी, तीसरी, पांचवीं, छठी और सातवीं की चक्रेश्वरी, ुंसारि या प्रज्ञप्ति, गौरी या मानवी, पद्मावती और अम्बिका के रूप में शिनाख्त की है। शिनाख्त नहीं कर पाये हैं।

(घ) वैष्णव धर्म

गुप्त-सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय भागवत धर्म का कट्टर अनुयायी था, धर्म का ही एक नाम है। उसने **परम-भागवत** की उपाधि ग्रहण की, जिसे बाद उत्तराधिकारी भी धारण करते रहे। यद्यपि समुद्रगुप्त के नाम के आगे यह उपाधि है, लेकिन यह ज्ञात है कि इस सम्राट ने गरुड़ध्वज को अपना राजचिह्न और अपने आपको "रहस्यमय देवता का अवतार" घोषित किया था, जो को सूचित करता है। इन तथ्यों से जाहिर है कि समुद्रगुप्त भी वैष्णव था, है, उसके धर्म और उसके परम-भागवत उत्तराधिकारियों के धर्म में थोड़ा सा अन्तर था।[1] वैष्णव धर्म को गुप्त सम्राटों ने जो संरक्षण और आश्रय दिया गुप्त काल में इस धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव का कारण हो सकता है, न कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि चौथी शताब्दी के अन्त से इस धर्म की लोकप्रियता में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और हम देखते हैं कि अन्य राज-परिवारों ने भी और कुछ ने तो **परम-वैष्णव** की उपाधियां भी ग्रहण कर लीं।

१. विष्णु के अवतार

गुप्तकाल में भागवतधर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग सर्वसाधारण द्वारा अर्थात् विष्णु के उत्तराधिकारियों या **अवतारों** की पूजा थी। इस काल के और साहित्यिक विवरण अवतारवाद के विकास पर प्रकाश डालते हैं, जिसके वैदिक साहित्य में ही पढ़े जा चुके थे। विष्णु से सम्बद्ध वामन अवतार की वराह, मत्स्य तथा कूर्म अवतारों की धारणा, जिसका तब तक विष्णु के नहीं जोड़ा गया था, **शतपथ** तथा अन्य **ब्राह्मण** ग्रन्थों में मिलती है। शतपथ देवताओं और असुरों के बीच यज्ञ-स्थान के चुनाव के प्रश्न पर हुए झगड़े दी गयी है, जिसमें असुरों ने वामन के आकार के बराबर जमीन देना स्वीकार विष्णुरूपी वामन को पृथ्वी पर लिटा दिया गया लेकिन आकार इतना बढ़ गया उसने सारी पृथ्वी नाप ली और इस प्रकार सारी पृथ्वी देवताओं को मिल ग्रन्थ के अनुसार "कूर्म का रूप धारण करके प्रजापति ने सन्तानोत्पत्ति की थी के रूप में उसने (प्रजापति ने) पृथ्वी को समुद्रतल से ऊपर उठाया था। **आरण्यक** के अनुसार पानी में से पृथ्वी को एक काले वराह ने ऊपर उठाया सौ भुजाएँ थीं। इसी ग्रन्थ में नृसिंह का भी संकेत है। **शतपथ ब्राह्मण** में प्रलय की कहानी में जिस मछली ने मनु की नाव को सुरक्षित किनारे पर उसे प्रजापति ब्रह्मा का अवतार बताया गया है और इस बात का समर्थन पुराण साहित्य में भी किया गया है। लेकिन परवर्ती पौराणिक कल्पना

---

[1] भा० वि०, VIII. १०९ प. पृ।

और कूर्म को प्रजापति ब्रह्मा का अवतार न कह कर विष्णु का अवतार कहा जो सभी देवताओं से अधिक कल्याणकारी है। गीता और महाभारत के भागों में विष्णु एक आदर्श देवता और सर्वशक्तिमान उद्धारक के रूप में है, जो मानवजाति के मोक्ष के लिए काम करते हैं और अपनी नैतिक अच्छाई आचरण से लोगों के हृदय को आनन्द देते हैं और समय समय पर मनुष्य के रूप में **अवतार** धारण करके संसार में धर्म की पुनःस्थापना करते हैं। महाभारत में अवतारवाद का सिद्धान्त विकास का केवल एक चरण प्रस्तुत है। महाभारत के शुरू के पर्वों में अवतारों की कोई सूची नहीं दी गयी। की संख्या के बारे में परम्पराओं में काफी अन्तर था और बाद में तैयार दस अवतारों की सूचियों में अक्सर उनके भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। है कि अवतारवाद का सिद्धान्त अपने विकास की कई मंजिलों से गुजरा लगता है कि यह सिद्धान्त ऐसे विचित्र पशुओं की प्राचीन कथाओं पर है, जिनमें मनुष्य की सहायता करने की रहस्यमय शक्तियाँ थीं। लेकिन अपने में इनमें से अधिकांश पशुओं का विष्णु से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रत्येक-बुद्ध अवधारणा ने, सम्भव है, अवतारवाद के सिद्धान्त के विकास को प्रभावित हो।

भारत के नारायणीय पर्व के अन्तिम भाग में केवल चार अवतारों, अर्थात् वामन, नृसिंह और वासुदेव कृष्ण का ही उल्लेख हुआ है। इसी पर्व के एक अन्य में देवत्व प्रदान करके राम भार्गव और राम दाशरथि के नाम भी इस सूची में गये हैं, जिससे कुल मिलाकर छह **अवतार** हो गये। फिर एक तीसरे श्लोक मत्स्य और कल्कि, ये चार नाम और जोड़ कर दस **अवतारों** की सूची दी गयी पुराण के अनुसार, जिसके अन्दर भी दस **अवतारों** की सूची है, तीन अलौकिक अवतार थे, अर्थात् नारायण, नरसिंह तथा वामन और सात मानव **अवतार** त्तात्रेय, मान्धातृ, जमदग्निपुत्र राम, दशरथ-पुत्र राम, वेदव्यास, बुद्ध और । वायु-पुराण में भी यही सूची दी गयी है, फर्क सिर्फ इतना है कि बुद्ध का नाम कृष्ण का नाम रख दिया गया है। **हरिवंश पुराण** में दस **अवतारों** की जो सूची है, उसमें से मत्स्य, कूर्म, दो रामों में से एक राम और बुद्ध को निकाल दिया गया कमल, दत्त (दत्तात्रेय), केशव और व्यास को सूची में जोड़ दिया गया है। पुराण में अवतारों की तीन सूचियाँ दी गयी हैं, लेकिन वे एक दूसरे से भिन्न हैं। में तो, जिसके अनुसार **अवतार** वास्तव में असंख्य हैं (देखिये, **गीता** का **अवतार**) २४ अवतारों के नाम गिनाये गये हैं। **अहिर्बुध्न्य** संहिता में, जो सम्भवतः सदी से पहले की रचना है, परमात्मा के ३९ **विभवों** (प्रकटीकरणों) का उल्लेख **विष्वक्सेन-संहिता** आदि अन्य पांचरात्र ग्रन्थों में बुद्ध, अर्जुन तथा अन्य लोगों को अवतारों में गिनाया गया है। कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र (सन् १०५० ई०) के **दशा-** चरित में और पूर्वी भारत के कवि जयदेव (सन् १२०० ई०) के **गीतगोविन्द**

में बुद्ध को एक अवतार स्वीकार किया गया है। जयदेव ने अपने गीतों में कृष्ण किया है, जो स्वयं विष्णु ही था, और उसके दस **अवतारों**, अर्थात् मत्स्य, नरसिंह, वामन, राम-भार्गव, राम दाशरथि, राम हलधर, बुद्ध और कल्कि का किया है। एक प्रसिद्ध पौराणिक श्लोक में भी दस अवतारों के ये नाम गिनाये जिसको लगभग आठवीं सदी के मामल्लपुरम् (मद्रास के निकट) वाले उद्धृत किया गया है। बेलाव अनुदान-पत्र (सन् ११२५ ई०) में कृष्ण को "आंशिक अवतार" कहा गया है।[2]

चौथी और आठवीं सदी के पुरालेखीय विवरणों में इस बात के मिलते हैं कि इनमें से कुछ अवतारों को पूजा जाता था। ईसा की दूसरी अभिलेख से सूचित होता है कि पश्चिमी भारत में परशुराम की पूजा होती यह सम्भव है कि इतने पहले उन्हें विष्णु का अवतार मानने की कल्पना शायद हुई थी। शक राजा ऋषभदत्त (सन् ११९-२४ ई०) के नासिक अभिलेख में का जिक्र है, जो **महाभारत** के अनुसार जमदग्नि के पुत्र राम का पवित्र निवास शूरपारक के निकट और वर्तमान बम्बई से उत्तर में था। यह सामान्य धारणा काल में दाशरथि राम की पूजा नहीं होती थी, गलत है। **अवतारवाद** के सिद्धान्त में यह स्मरण रखने की जरूरत है कि अवतारों का दैवीकरण करके उनकी पहले ही शुरू हो गयी थी और काफी बाद में चलकर विष्णु से उनकी अभिन्नता की गयी। कवि कालिदास (सन् ४०० ई०) ने रघुवंश के दसवें सर्ग में वर्णन कि किस प्रकार विष्णु ने, जो क्षीरसागर में शेषनाग की शैया पर लेटे हुए थे उनके पांव दबा रही थी, रावण का नाश करने के लिए दशरथ के पुत्र के लिया था। इसी जमाने में, सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की बेटी, वाकाटक रानी गुप्ता (पाँचवीं सदी), जो **अत्यन्तभगवद्भक्त** कहलाती थी, भगवत्-राम (रामगिरि अर्थात् नागपुर के निकट वर्तमान रामटेक) की जो दशरथ-पुत्र राम के अलावा और कोई नहीं हो सकता था। इस अनुमान कालिदास के **मेघदूत** में रामगिरि पर रघुपति (राम दाशरथि) के पदचिह्नों से होती है और इस बात से भी कि वर्तमान काल में भी रामटेक के मन्दिरों में सीता की पूजा होती है। छठी शताब्दी में इक्ष्वाकु वंश के राजा की पूजा

---

[1] मे. आ. स. इ., सं० २६, पृ. ५. दस **अवतारों** में बुद्ध का नाम आठवीं सदी सम्मिलित किया जाने लगा होगा। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में मत्स्य देवता की संकेत केवल मत्स्य-पुराण के नाम से ही नहीं मिलता (जो सबसे प्राचीन पुराणों में से है) संवत् २३ (सन् १०१ ई०) के मथुरा में मिले अभिलेख में उल्लिखित एक राजा मत्स्य-गुप्त के मिलता है। (देखिए ई. इ. XXVIII, पृ० ४३)।

[2] ई. इ., XII, ३७-४३ **महाभारत** में कृष्ण को सौ गोपियों के साथ रास भी दिखाया गया है।

[3] वै. शै., ४६-४७; अ. हि. वै. से., १७४।

संकेत वराहमिहिर ने भी दिया है, जिसने राम की मूर्तियाँ बनाने के नियम निर्धा-
किये थे। दक्षिण भारत का प्रसिद्ध संत कुलशेखर जो मलाबार तट पर स्थित केरल
राजा था, राम का उपासक था। गुप्त काल के पुरालेखीय विवरणों से तीसरे राम
बलराम-संकर्षण की उपासना की पुष्टि नहीं होती। वामन-अवतार विष्णु की
नामों—इन्द्रानुज (इन्द्र का छोटा भाई) और **उपेन्द्र** (गौण इन्द्र)—में ध्वनित है,
का प्रयोग पांचवीं सदी के बिहार के स्तम्भलेख और समुद्रगुप्त के जूनागढ़ वाले
लेख में विष्णु के सम्बन्ध में किया गया है, "जिसने देवताओं के राजा इन्द्र की खातिर
से धन और वैभव की देवी फिर छीन ली थी।" विष्णु के साथ कृष्ण की अभिन्नता
गोप' नाम में संकेतित है, जो चौथी सदी के प्रारम्भिक पल्लवों के परिवार में प्रचलित
उनके पुरालेखीय विवरणों में भी विष्णु की मधुप से तुलना की गयी है जो "जाम्बवती
कमलिनी पर बैठा है (तुशम का अभिलेख), और उसे "माधव" के नाम से पुकारा
जिसके चरणों का श्री (लक्ष्मी) ध्यान करती है और जो वासुदेव का पुत्र है"
नगर का अभिलेख)। पाँचवीं सदी में मौखरि राजा अनन्तवर्मन् ने बराबर पहाड़ी की
गुफा में कृष्ण की मूर्ति स्थापित की थी। सन् ७६६ई० के अलिन में मिले अनुदान-पत्र
सिंह अवतार का उल्लेख किया गया है। लेकिन सबसे अधिक महत्वशाली अवतार,
की पूजा गुप्तकाल में भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित थी, वराह था, जिसकी
ति शायद आरम्भ में महा-प्रलय की कहानी से सम्बद्ध रही होगी, जिसका
परवर्ती वैदिक साहित्य में मिलता है। एरन में वराह की एक प्रस्तर मूर्ति मिली
न पर हूण-राजा तोरमाण के समय (सन् ५०० ई०) का अभिलेख है, जिसमें
ह के रूप में नारायण" का मन्दिर निर्मित करने का विवरण अंकित है। बुधगुप्त के
एक अभिलेख में, जो दामोदरपुर में प्राप्त हुआ है, श्वेतवराहस्वामी और कोका-
नी नाम के देवताओं का जिक्र है, जो दोनों ही **वराह अवतार** का प्रतिनिधित्व
है और जिनके मन्दिर **हिमवच्छिखर** (हिमालय के शिखर) पर थे—सम्भवत:
में कौशिकी और कोका नदियों के संगम से लगे वराहछत्र (वराहक्षेत्र) पर्वत पर।
भारत के एक निवासी ने, जिसने, लगता है, हिमालय में कोकामुख तीर्थ या वराह-
की यात्रा की थी, लौटकर इसी नाम के दो देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित करने के
बंगाल के दिनाजपुर जिले के दामोदरपुर गाँव के पास जंगल में दो मन्दिर बनवाये
सुदूर दक्षिण में वराह अवतार की लोकप्रियता तगरे में मिले छठी सदी के एक
अभिलेख से सूचित होती है। आरम्भिक चालुक्यों का पारिवारिक राजचिह्न
था, जिसके बारे में कहा जाता था कि वह उन्हें नारायण से वरदान के रूप में प्राप्त
था। चालुक्यों और उनके सामन्तों के अधिकांश विवरण विष्णु के अवतार वराह
स्तुति से आरम्भ होते हैं।

गुप्तकाल के अभिलेखों में व्यूहों, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की स्वतन्त्र

---

1. देखिए, कालिदास का मेघदूत, छन्द १५।
2. इ. हि. क्वा. XXI. ५६ प. पृ.

रूप से पूजा होने का कोई हवाला नहीं मिलता, यद्यपि इस काल के पांचरात्र व्यूह बाद को काफी अधिक महत्त्व दिया गया है। श्रोदेर (Schroder) के इनमें से कुछ संहिताएँ चौथी और आठवीं सदी के बीच कश्मीर में रची **अमरकोश** में, जो आठवीं सदी से बहुत पहले लिखा गया था, सारे व्यूहों का है। लेकिन गुप्तकाल के साधारण उपासकों में यह सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं था। का किंचित् बदला हुआ रूप हमें बलदेव, कृष्ण और सुभद्रा या एकानंशा की, सुभद्रा से अभिन्न माना जाता है और कभी नन्दगोप की बेटी के रूप में देवी से, पूजा में दिखायी देता है। वराहमिहिर ने बलदेव और कृष्ण की संयुक्त मूर्ति किया है, जिनके बीच में एकानंशा को खड़ा दिखाया गया है। भुवनेश्वर के एक में, जो बाद के जमाने का है, बल, कृष्ण और सुभद्रा की सम्मिलित पूजा का कश्मीर में जो व्यूह-सम्प्रदाय का महान् केन्द्र था, विष्णु के वैकुंठ-चतुर्मुखी उपासना का विकास हुआ, जिसमें चार व्यूह थे। खजुराहो (सन् ९५४ ई०) के अभिलेख में इस वर्ग की एक मूर्ति का दिलचस्प इतिहास मिलता है। यह मूर्ति में कैलाश क्षेत्र (हिमालय का ऊपरी भाग) में प्राप्त हुई थी और बाद में कश्मीर के कीर देश में उसकी पूजा होने लगी। इन तथ्यों से तथा प्रसिद्ध श्वेतद्वीप और नर की परम्पराओं से, हिमालय-क्षेत्र के देशों में पांचरात्र मत की व्यापक लोकप्रि संकेत मिलता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार, भागवत-वाद और पांचरात्र, जो सम्भवतः में परस्पर सम्बन्धित थे, गुप्त काल में आकर एक दूसरे से एकदम भिन्न हो गये। भी सुझाया जाता है कि पांचरात्र से पूरी तरह सम्बद्ध व्यूहवाद सैद्धान्तिक अवतारवाद से भिन्न था। इनमें से पहले सुझाव को वर्तमान जानकारी के सिद्ध नहीं किया जा सकता, जबकि दूसरे को **अहिर्बुध्न्य** संहिता और विश्वक्सेन जैसे पाँचरात्र ग्रन्थों की साक्षी एकदम निर्मूल सिद्ध कर देती है। इसमें कोई कि व्यूह-वादी विचारक प्रथम पांचरात्र संहिता के समय से ही **अवतार** सिद्धान्त ज्यादा प्रभावित थे, जबकि लगभग इसी काल से वैष्णव साहित्य में भी कृष्ण और को **अवतार** माना गया था। लेकिन यह स्वीकार करना चाहिए कि गुप्त काल में के बीच कुछ सैद्धान्तिक मतभेद थे, जिनकी ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। भेद का ठीक ठीक स्वरूप क्या था, यह कहना तो मुश्किल है, लेकिन इसकी **हर्षचरित** के उस वर्णन में मिलती है, जहाँ भागवतों और पांचरात्रों का अलग उल्लेख किया गया है। टीकाकारों ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि लोग विष्णु-भक्त थे और पांचरात्र वैष्णव-भेद थे (विष्णु के उपासकों का एक यद्यपि **पद्म-तन्त्र** जैसे पांचरात्र ग्रन्थों में सूरि (देखिये ऋग्वेद जिसमें इस शब्द का उस वर्ग के लोगों के लिए किया गया है जो विष्णु को प्रिय हैं) सुहृत्, भागवत,

---

१. हि. ब. आर., ४०२; ज. रा. ए. सो. बं. ले. IX, २३२ प. पृ.।

वित्, ऐकान्तिक, तन्मय और पांचरात्रिक शब्दों का प्रयोग किया गया है । जैसा संकेत किया जा चुका है, ऐसा लगता है कि पांचरात्रिक लोग आरम्भ में दैवीकृत नारायण के और भागवत लोग दैवीकृत वृष्णि नायक वासुदेव के भक्त थे। बाद में और वासुदेव को अभिन्न बनाने की चेष्टा के फलस्वरूप दोनों सम्प्रदाय संयुक्त , लेकिन भागवत और वैष्णव नामों का प्रयोग कभी कभी सामान्य रूप से विष्णु- के लिए किया जाता था। भागवतवाद के आदिमजातीय रूप से, जो केवल देव-कुल के लोगों तक ही सीमित था, गुप्त-काल में नव्य-भागवतवाद का हुआ।

२. श्री या लक्ष्मी : विष्णु की पत्नी

गुप्तकाल में ही वैष्णव धर्म के अन्तर्गत लक्ष्मी या श्री के रूप में विष्णु की पत्नी कल्पना का विकास हुआ। लक्ष्मी के प्रारम्भिक इतिहास का विवेचन पहले किया जा है।[1] लेकिन उसको विष्णु की पत्नी मानने की धारणा बहुत बाद की है। स्कन्दगुप्त जूनागढ़ अभिलेख में विष्णु का लक्ष्मी के चिर आश्रय के रूप में उल्लेख किया गया है प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख में लक्ष्मी को वासुदेव की पत्नी कहा गया है। दित्यसेन के अफ्सद अभिलेख में दानवों की हत्या करने वाले दामोदर और वासुदेव माधव का उल्लेख है, जिसके चरणों का ध्यान श्री करती है। कुछ प्राचीन सिक्कों मूर्तियों में गजलक्ष्मी की जो आकृति मिलती है, उसको शरभपुर और समतट के राजाओं ने अपना राजचिह्न बना लिया था। सन् ५०० ई० का एक कदम्ब अभिलेख (भगवान्) के गुणगान से शुरू होता है, जिसके वक्ष पर लक्ष्मी विराजमान है और की नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा है। पृथ्वी को विष्णु की दूसरी पत्नी माना जाता । उसे कुछ पुरालेखों में, उदाहरण के लिए शरभपुर के राजाओं के विवरणों में, को कहा गया है। विष्णु को अपने **ध्यान** में **इन्दिरा-वसुमती-संशोभि-पार्श्वद्वय** कहा है, और आरम्भिक चालुक्य सम्राट और उनके उत्तराधिकारी, जो अपने आपको भागवत और साथ ही **श्री-पृथ्वी-वल्लभ** (श्री और पृथ्वी का स्वामी) कहते थे, तः विष्णु का अवतार होने का दावा करते थे।

श्री-लक्ष्मी की उपासना का सम्भवतः यूनानी देवियों की पूजा से विशेषकर अथीन से सम्बन्ध है, जिसकी पूजा इस देश में भारतीय-यूनानी राजाओं ने शुरू ई थी, जैसा ईसा-पूर्व दूसरी सदी के उनके सिक्कों से जाहिर होता है। यह सम्भव कि पुरुष और प्रकृति के सांख्य सिद्धान्त ने केवल विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की ही नहीं, शिव की पत्नी देवी की कल्पना को भी प्रभावित किया हो।

---

[1] जि. II, पृ० ४६९-७१ (अंग्रेजी संस्करण)।

३. पुरालेखीय अभिलेखों में विष्णु सम्बन्धी पुराण कथाएँ

अनेक पुरालेखीय अभिलेखों में, जिनमें कुमार-गुप्त प्रथम का गद्य औ
भी शामिल है, विष्णु को केवल भगवत् (भगवान) कहा गया है और उसके नाम (नि
का उल्लेख नहीं किया गया है। सन् ४८४ ई० के एरान अभिलेख में इस देवता
जनार्दन नाम से पुकारा गया है और उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह
भुजाओं वाला स्वामी है, जिसकी शैया चार महासागरों का विस्तार है, जो इस
का पालनकर्त्ता, स्रष्टा और संहारकर्त्ता है और जिसकी सवारी गरुड़ है।"
के एक कदम्ब अभिलेख में हरि को **जगत्प्रवृत्ति-संहार-सृष्टि-मायाधर** कहा गया
राजा मानदेव के सन् ४६४ ई० के अभिलेख से पहले नेपाल में दोलपर्वत के एक
में चांगु-नारायण अर्थात् चांगु या गरुड़ पर सवार नारायण की मूर्ति का अस्तित्व
विभिन्न विवरणों में इस देवता को पुण्यजन नामक दानव का दलन करने वाला,
भुवनों को स्तम्भ की तरह पीठ पर धारण करने वाला (वराह या कूर्म रूप में),
मुर की हत्या करने वाला, और चक्रधारी, गदाधारी, विषाण-चापधारी नन्दनक
खड्गधारी और कमल की माला पहनने वाला कहा गया है। सन् ४२३ ई० के
अभिलेख में संकेत किया गया है कि पावस ऋतु के चार महीने मधुसूदन
रहता है। सन् ७६६ ई० के अलिन अनुदान-पत्र में शायद **पारिजात-हरण** की
हवाला दिया गया है। स्कन्दगुप्त के भितारी अभिलेख में अपने दुश्मनों को
कृष्ण किस प्रकार अपनी मां देवकी के पास जाते हैं, यह कथानक वर्णित है।
एक अभिलेख में, जिसकी कालतिथि ४०४ ई० है, शायद शक्र-उत्सव का जिक्र है,
कृष्ण को बहुत प्रिय था। इसी अभिलेख में वासुदेव को ऐसा प्रभु बताया गया है जो
जगद्वास, अप्रमेय और **अज** है (मिलाइये, मौखरियों के जौनपुर अभिलेख में
से) और उसकी तुलना एक विशाल वृक्ष से की गयी है, जिसके फल देवता हैं,
स्वर्ग की अप्सराएँ हैं, शाखाएँ स्वर्गीय भवन और प्रासाद हैं और जिस पर होने
की बूंदें शहद की धाराएँ हैं। यहाँ पर हमें विष्णु के विश्वरूप का शायद एक
संकेत मिलता है।

विष्णु-सम्बन्धी मिथक कल्पना का प्रभाव भारत के विभिन्न भागों में पाये
वाले पुरातत्त्वीय अवशेषों में भी देखा जा सकता है। बादामि की नक्काशियों
चालुक्य-वंश के आरम्भिक राजाओं के काल की हैं, विष्णु को शेषनाग की शैया पर
हुए और लक्ष्मी को उनके पाँव दबाते हुए दिखाया गया है और साथ ही उसके
नरसिंह रूपों और हरि-हर को भी अंकित किया गया है। उदयगिरि और
की शैलकृत (शिलाओं को काटकर निर्मित) गुफाओं में बनी मूर्तियों में वराह,
और वामन अवतारों की मूर्तियाँ मिलती हैं। उत्तर प्रदेश के झांसी जिले में स्थित
के एक मन्दिर में, जो सम्भवतः छठी सदी का है, अनादि विष्णु को अनन्त के
हुए और सारे देवताओं को ऊपर से उन्हें देखते हुए प्रस्तुत किया गया है। वहाँ
नारायण की मूर्तियाँ भी हैं। मध्य भारत के पथरी स्थान की एक प्रतिमा में, जो

की ही है, अनुमानतः नवजात कृष्ण को अपनी मां की बगल में लेटे हुए दिखाया है, जहाँ पाँच सेविकाएँ खड़ी उन्हें देख रही हैं। मथुरा और सारनाथ की प्रतिमाओं गोवर्धन पहाड़ी उठाते हुए प्रदर्शित हैं। एलोरा के दशावतार और कैलाशनाथ रों में भी, जो आठवीं शताब्दी के माने जाते हैं, विष्णु देवकुल के **अवतारों** तथा अन्य ओं की मूर्तियाँ मिलती हैं।

४. वैष्णव धर्म तथा अन्य मत

कुछ लेखकों के अनुसार सन् ४४१ ई० का खोह अभिलेख, जिसमें भगवत् और भट्टारक के नाम भूमि-अनुदान का विवरण दिया गया है, पांचवीं सदी में ना से वैष्णव धर्म के सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। लेकिन यह अनुमान र है। इस अभिलेख की भाषा से ऐसा सूचित होने लगता है कि विष्णुनन्दी नाम व्यक्ति ने भगवान् का एक मन्दिर बनवाया था, और उसके राजा की ओर से के लिए आधा गाँव दिया गया था, जबकि शक्तिनाग, कुमारनाग और स्कन्द के तीन व्यापारियों को, जिन्होंने सूर्यदेवता का मन्दिर बनवाया था, बाकी का गाँव दिया गया था। ऐसा कोई सबूत नहीं मिलता कि एक ही व्यक्ति विष्णु और ता दोनों की पूजा करता था। पाँचवीं सदी में वैष्णव लोग सूर्य की उपासना नहीं इसका पता इस बात से लगता है कि वैष्णवों की दृष्टि में साम्ब को, जो सूर्य मत क था और जिसे अक्सर सूर्य-देवता से अभिन्न माना जाता, नीचा समझा जाता इसके अलावा सन् ४२३ ई० के गंगधर अभिलेख के २१-२२वें श्लोकों से भी इस र भावना की पुष्टि होती है। लेकिन इस विवरण में इस बात का भी उल्लेख विष्णु के एक भक्त ने एक मन्दिर बनवाया था, जो डाकिनियों की मूर्तियों से भरा था। यह मन्दिर उन दैवी माताओं के सम्मान में था, "जो हर्ष से गगनभेदी चीत्कार हैं और अपने धर्म के अनुसार जादू-टोने से भयंकर आंधियाँ पैदा करके सारे समुद्रों पैदा कर देती हैं। निस्संदेह इससे वैष्णवों पर मातृदेवियों के तान्त्रिक सम्प्रदाय की सूचना मिलती है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की जरूरत है कि पाँचवीं मौखरी राजा अनन्तवर्मन् ने नागार्जुनी पहाड़ी की एक गुफा में कृष्ण की मूर्ति की थी और साथ ही इसी पहाड़ी की एक और गुफा में भूतपति (शिव) और (दुर्गा) की मूर्तियाँ भी (या सम्भवतः उनकी युग्म-मूर्ति जो **अर्धनारीश्वर** के नाम से है) स्थापित की थीं। इसमें सन्देह नहीं कि यह तथ्य एक ओर वैष्णव धर्म और और शैव और शक्ति उपासना के बीच सम्पर्क के आरम्भिक दौर की सूचना देता है। के प्रारम्भिक चालुक्य भी, जो विष्णु के उपासक थे, कार्त्तिकेय (जो शिव से है) और सात मातृदेवियों की पूजा करते थे। इस सम्बन्ध में हरि-हर सम्प्रदाय और शिव की संयुक्त पूजा) का, नन्दगोप की बेटी के रूप में देवी की भूमिका पुराण, हरिवंश और **बाल-चरित** जिनका लेखक भास को बताया जाता है) और विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति कल्पना का उल्लेख भी जरूरी है। छठी सदी के एक

चालुक्य गुफा-मन्दिर में हरि-हर की मूर्ति मिलती है। पाँचवीं और छठी सदी के अ के अनेक अभिलेखों में हरि-हर हिरण्यगर्भ या हर-नारायण-ब्रह्मा की स्तुति की गयी है।

५. सुदूर दक्षिण में विष्णु-पूजा

इस बात का पहले ही जिक्र किया जा चुका है कि ईसा की दूसरी सदी के के चिन्न (कृष्णा जिला) में पाये गये एक अभिलेख में वासुदेव की स्तुति की गयी है। चौथी सदी के अभिलेखों में गुन्टूर जिले के एक नारायण मन्दिर और साथ ही एक राजा के नाम, विष्णु-गोप, का उल्लेख मिलता है। गुप्त काल के अभिलेखों में में सर्वत्र, उत्तर में नेपाल और व्यास के उत्तरी क्षेत्रों में, पूरव में बंगाल, पश्चिम में का वाड़ और दक्षिण में कृष्णा नदी से पार के क्षेत्र में, जहाँ शासन करने वाले आ पल्लव और आरम्भिक गंग राजा कट्टर भागवत थे, विष्णु-नारायण-वासुदेव के या ध्वज-दण्डों का उल्लेख मिलता है। आरम्भिक कदम्बों के राज्य में भी वि प्रचलित थी, लेकिन वहाँ शायद सबसे लोकप्रिय जैन धर्म था। आरम्भिक क कुछ राजा, जो अपने आपको **परम-ब्रह्मण्य** कहते थे, शायद वैष्णव रहे हों। दक्षिण के अनेक राजाओं ने, जो **कलियुग-दोषावसन्नधर्मोद्धरण-नित्य-सन्नद्ध** होने का करते थे, शायद ब्राह्मणवादी धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए बौद्ध और जैन जैसे धर्मों का दमन करने की कोशिश की थी, और शायद साथ ही, उत्तर के समुद्रगुप्त वे अपने आपको लोगों के सामने विष्णु का अवतार कहकर पेश करते थे, जो उसके रूप का कार्य सम्पन्न कर रहे थे। सुदूर दक्षिण में वैष्णवधर्मी ब्राह्मणवाद के प्र एक प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि पल्लवों और कदम्बों के कुछ अभिलेखों **ब्राह्मण** को ठीक उसी तरह विशेष महत्त्व दिया गया है, जिस प्रकार एरन के अभिलेखों में। **महाभारत** के अन्तिम भाग में विष्णु को गौ और ब्राह्मण का हि (देखिए, **गो-ब्राह्मण-हित**) बताया गया है। इससे केवल इतना ही सूचित नहीं है विष्णु-पूजा से ब्राह्मणों का गहरा सम्बन्ध था, बल्कि यह भी सूचित होता है कि विवेच्य-काल में समाज की दृष्टि में ब्राह्मणों का पद कितना ऊँचा उठ गया था।

आरम्भिक भागवत-मत के जन्म-स्थान मथुरा के नाम पर पाण्ड्यों की धानी का मदुरा नाम पड़ने का शायद इस बात से भी सम्बन्ध है कि यह तमि भागवत-धर्म का सबसे मजबूत गढ़ बन गया था और इसने तमिल में आळ्वा और उनके प्रसिद्ध कृष्ण भक्ति के गीतों को जन्म दिया था। गुप्तकाल के तमिल देश में कृष्ण और बलदेव की उपासना व्यापक रूप से प्रचलित थी, इसका तमिल साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। **शिलप्पदिकारम** में मदुरा, कावि तथा अन्य नगरों में स्थित इन दोनों देवताओं के मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। काविरिपट्टिनम के कवि करि-कन्नम् ने इन दोनों देवताओं का वर्णन करते हुए श्याम-वर्ण, चक्रधारी देवता और दूसरे को श्वेत-वर्ण देवता बताया है, जिसके तालवृक्ष या ताड़ की पंखियां (ध्वज) हैं।

दूर दक्षिण, विशेषकर तमिल देश में वैष्णव धर्म के प्रभाव का श्रेष्ठतम प्रमाण वार सन्तों के भक्ति-गीतों में मिलता है, जिनका संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा है।[1] उन्होंने अपने गीतों में नारायण और कृष्ण, राम और वामन **अवतारों** का गुण-किया है। वे गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं से भी परिचित थे। उनमें एक वयित्री अपने आपको कृष्ण की गोपी मानती थी और उसी भावना से अपने देवता को अपना निवेदन पहुँचाती थीं। वेदों में इन आळवार सन्तों की अपार थी और वे मुख्य पुराणों के भी ज्ञाता थे, लेकिन उन्होंने अपने देवता के नाम का जाप उसके विभिन्न रूपों का ध्यान करने और श्रीरंगम्, तिरुपति और अलगरकोइल न्दिरों में उसकी मूर्ति की पूजा करने पर जोर दिया। प्रत्यक्षत: आळवार संतों और उत्तराधिकारी वैष्णव आचार्यों की सफलता के कारण ही भागवत-पुराण में कहा कि इस कलियुग में जबकि भारत के अन्य भागों में वासुदेव-नारायण के भक्त विरल हो गये हैं, द्रविड़ देश में उनकी बहुत बड़ी संख्या मिलती है।

६. मूर्ति-निर्माण कला

इस काल में पूजा की मूर्तियों की संख्या और विविधता बढ़ती गयी। इन ों को तीन व्यापक वर्गों में बाँटा जा सकता है—मुख्य विष्णु-मूर्तियाँ (ध्रुवबेर) (उद्भूत या संभूत रूप), तथा **विभव** (अवतारी रूप)। इन मूर्तियों को गढ़ने के या तो उन्हें मन्दिर के मुख्य गर्भगृह में स्थापित किया जाता था, या संलग्न छोटे ों और उनके आलों में रखा जाता था। इनमें पहले (ध्रुवबेर) प्रकार की मूर्तियों का र्षकों के अन्तर्गत वर्गीकरण किया जा सकता है; **स्थानक** (खड़ी हुई) **आसन** हुई) और **शयन** (लेटी हुई)। इनमें से हरेक नमूने प्राप्त हुए हैं।[2] इनमें सबसे प्रकार की प्रतिमाएँ वे हैं, जिनके साथ उत्तर भारत में श्री और पुष्टि को और भारत में श्री और भूमि को सहकारी के रूप में दिखाया गया है। विष्णु की इन र्तियों के चार हाथों में चार प्रतीक, अर्थात् पद्म (विरले ही, प्राय: पद्म-चिह्न होता है) चक्र और शंख होते हैं। इन चारों प्रतीकों का विभिन्न हाथों में विभिन्न क्रम से अनुसार विष्णु के २४ रूप निर्धारित किये गये। इनमें से उसका त्रिविक्रम रूप सबसे लोकप्रिय था, जिसमें ये चारों प्रतीक क्रमश: नीचे के दाहिने, ऊपर के दाहिने, ऊपर और नीचे के वायें हाथों में धारण किए हुए दिखाये गये हैं। विष्णु की प्राचीनतम मूर्ति भोपाल राज्य में उदयगिरि के गुफा-मन्दिर के अग्रभाग पर उत्कीर्ण है, उसका उभार काफी टूट-फूट गया है, लेकिन उसमें इतना कुछ शेष है कि विष्णु के तीक, शंख और चक्र मूर्तिमान नजर आते हैं और विष्णु के पिछले हाथ इन आयुध-

---

[1] देखिए, पृ. ३७६ प. पृ०।

[2] विष्णु के ध्रुव-बेरों का विस्तृत **वैखानसागम** वर्गीकरण स्पष्टत: गुप्तकाल की मूर्तियों नहीं होता, यद्यपि यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि परवर्ती गुप्त काल तक इनमें से समूहों का निर्माण हो गया था।

पुरुषों के ऊपर अवस्थित हैं, जो सामान्यतः दोनों परिचारिकाओं, श्री और पु स्थान लिये हैं।

विष्णु की **आसन** कोटि की प्रतिमाएँ उतनी संख्या में नहीं मिलीं, जितनी कोटि की, जिनका हमने ऊपर जिक्र किया है; और इस कोटि की जो भी प्रतिमाएँ हैं, उनमें बहुत थोड़ी सी ही इतनी प्राचीन हैं कि गुप्त काल की हों। इनमें से प्राचीन प्रतिमा देवगढ़ के मन्दिर के गर्भगृह के मुख स्थान के केन्द्रीय भाग में उत्की इस मूर्ति में विष्णु को आदिशेष की कुंडली पर **अर्धपर्यंक** मुद्रा में बैठा हुआ दिखा है और उसकी दोनों पत्नियाँ उसकी सेवा में रत हैं, जिनमें से एक उसका चरण कर रही है। देवता के सिर पर एक चौकोर **किरीट** है और आदिशेष के सात फ सर पर छत्र की तरह फैले हैं। फूलों की मालाएँ लिए हुए विद्याधर दोनों दिशाओं में बद्ध उसकी ओर उड़कर आते हुए दिखाये गये हैं। इस रचना का संयोजन अत्य है और गुप्तकला की[1] विशिष्ट श्रेष्ठता प्रदर्शित करता है। लगता है, विष्णु की का यह रूप-प्रकार उसकी मूर्तियों के उन अन्य विविध प्रकारों का प्राक्-रूप था, जि **वैखानसागम** के पृष्ठों में वर्णन किया गया है।[2] गरुड़ासन विष्णु की सबसे प्रतिमा, जो संगतराशी का एक विशिष्ट नमूना है और जो ६ फुट ४ इंच और धूसर, काले रंग के पत्थर से बनी है, बंगाल के लक्ष्मनकाटि स्थान पर (बा जिला में) मिली है। इस प्रकार की मूर्ति की विशिष्टताओं का वर्णन किसी भी ज्ञात मूर्तिकला सम्बन्धी ग्रन्थ की सहायता से नहीं किया जा सकता। इनमें से कुछ विशि पर तो निश्चय ही महायान प्रभाव लक्षित है, और इस विशिष्टता तथा अन्य दृष्टि में रखकर इस मूर्ति को आठवीं सदी[3] की कृति मान सकते हैं। मथुरा के **म्यूजियम**[4] में रखी पांडुर-वर्णी बलुआ-पत्थर में उत्कीर्ण मूर्ति नं० डी-३७ से विष्णु के एक रोचक प्रकार का पता चलता है। उभार कर बनायी गयी सहायक आकृतियों से घिरी हुई है; जैसे तीन लघु मन्दिरों में त्रिमूर्ति, शंख, **गदा** के मानवीकृत रूप, **प्रभावली** के विभिन्न भागों में गंगा और यमुना दे गरुड़। केन्द्रीय आकृति **बद्धपद्मासन** की मुद्रा में है और उसके अगले हाथ हैं तथा पिछले दाहिने और बायें हाथों में वह क्रमशः **गदा** और **चक्र** थामे हुए हैं। रचना बड़ी निपुणता से उत्कीर्ण की गयी है और मुख्य देवता के सहायकों को बड़े व्यवस्थित और प्रशंसनीय ढंग से सजाया गया है।

---

[1] आ. स. क. X. प्लेट XXXVI; वत्स **दि गुप्ता टेम्पुल ऐट देवगढ़** स. इ. सं. ७०), पृ. १४ प्लेट X (बी).

[2] टी. ए. जी. राव **एलिमेंट्स आफ हिन्दू इकॉनॉग्राफी**, जिल्द I, पृ० प्लेट LXXVIII.

[3] इस मूर्ति के ब्यौरेवार वर्णन और उस पर टिप्पणी के लिए देखिए, हि. ब. आर. I, प्लेट LXI-१४९.

[4] फोगेल, कैट, मैनु., पृ. १०२-०३। उसका यह कहना कि यह मूर्ति 'बुद्ध रूप में गलत है। अग्रवाल का वर्णन अधिक संगत है।

र भारत में विष्णु की शयनमूर्ति अपेक्षया विरल है, लेकिन दक्षिण भारत मन्दिरों के मुख्य गर्भ-वक्ष में विष्णु की शयन-मूर्तियाँ ही प्रायः स्थापित की गयी न्हें रंगस्वामी या रंगनाथ का नाम दिया जाता है। आमतौर पर इस मूर्ति में ो आदिशेष पर लेटे हुए दिखाया जाता है, जहाँ उसकी एक या दोनों पत्नियाँ ेवा में संलग्न हैं और ब्रह्मा को कमल के फूल पर बैठा हुआ दिखाया गया है, नाल विष्णु की नाभि से निकलती है। उसके गिर्द अनेक सहायक देवताओं और ों भी दिखाया जाता है। इस शयनमूर्ति में अन्तर्निहित विचारधारा का मूल ग्वेद के दसवें मण्डल में खोजा जा सकता है और महाकाव्यों और पुराणों में ारायण के विश्व-रूप की कल्पना में इसका ही विकास लक्षित होता है। इस प्रकार ों में प्रलय की स्थिति की कल्पना की गयी है, जिसमें सृष्टि का बीज केवल एक ही ना में निहित रहता है, जिससे पुनः सृष्टि का निर्माण आरम्भ होता है। देवगढ़ तार मन्दिर (झांसी, मध्य भारत) के एक पार्श्ववर्ती आले में पत्थर पर उभार ों की गयी एक मूर्ति में इस कल्पना को साकार किया गया है। गुप्तकाल की ियों में इस मूर्ति के ही सबसे अधिक प्रतिरूप तैयार किये जाते हैं। वी० ए० ने इस मूर्ति के निर्माण पर स्टाकहोम के म्यूजियम में रखी यूनानी देवता न की मूर्ति का प्रभाव खोजने की जो चेष्टा की है, उसे युक्तिसंगत मानना है।[1]

ु की मूर्तियों के एक वर्ग में विष्णु के विभिन्न अवतारों को अंकित किया । इस प्रकार की मूर्तियाँ सारे भारत में मिलती हैं। ऐसी मूर्तियाँ अक्सर पत्थर िलों पर उत्कीर्ण हैं, जो वैष्णव मन्दिरों की सजावट के लिए लगायी जाती हैं, ो पूर्वी भारत में अक्सर चौकोर पत्थरों या धातु के विष्णु-पट्टों के उलटी तरफ ाती हैं। देवगढ़ मन्दिर के एक पार्श्ववर्ती आले में उभार-शैली में नर-नारायण ूबी से उत्कीर्ण मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि प्राचीन या मध्य भारत में इस अभिप्राय को व्यक्त करने वाली मूर्तियाँ बहुत कम थीं। इसमें मूर्ति नारायण की है, दो भुजाओं वाली मूर्ति नर की है और दोनों को प्रशान्त दिखाया गया है।[2] उदयगिरि (भोपाल राज्य), बादामि और मामल्लपुरम् के मन्दिरों में वराह, नर-सिंह और वामन की कुछ बहुत सुन्दर मूर्तियाँ मिलती हैं, ः गुप्त-काल, चालुक्य और पल्लव कालों की हैं।[3] वराह को अक्सर उसके पशु में अंकित किया गया है। नर-सिंह को, जैसा कि उनके नाम से ही सूचित है, हमेशा र सिंह के मिश्रित रूप में ही अंकित किया जाता था, और वामन को वामन और

---

[1] बनर्जी—डे. हि. इ., पृ० ३०२-०३.

[2] बा. बो., xii, पृ० ११६-२५; इ. हि. क्वा. xxvii, पृ० १९१-९६, फलक I; वत्स, १४ तथा फलक xi.

[3] उभार-शैली की उपर्युक्त मूर्ति के बारे में देखिए, टी० ए० जी० राव की पुस्तक आफ हिन्दू इकानॉग्राफी, I, पृ० १२८-८० तथा फलक xxxvi-liii.

विराट या त्रिविक्रम रूपों में प्रस्तुत किया जाता था। मत्स्य और कूर्म अवतारों आमतौर पर उनके पशु-रूपों में ही दिखाया जाता था, यद्यपि उनके मिश्रित रूप कभी प्रस्तुत किये जाते थे। विष्णु के पुराने मानव-अवतारों का, अर्थात् परशुराम दशरथ, बलराम तथा बुद्ध का कभी अतिदैवीकरण नहीं किया गया, उनकी में कभी दो से अधिक भुजाएँ नहीं जोड़ी गयीं। उनकी मूर्तियों की किस्में भी संख्या में हैं। भावी **अवतार** कल्कि को, जिसे खुली तलवार हाथ में उठाये सवार दिखाया गया है[1] हमेशा दशावतारों की मूर्ति में अन्तिम स्थान पर रखा कृष्ण की कथा को अंकित करने वाली अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं और मथुरा और की उन मूर्तियों को मिसाल के रूप में सामने रखा जा सकता है, जिनमें कृष्ण पर गोवर्धन पर्वत उठाये दिखाया गया है। मथुरा की मूर्ति में, जो लाल बलुआई पत्थर में उत्कीर्ण हैं, दो भुजाओं वाले देवता को **द्विभंग** मुद्रा में खड़ा गया है। उसका बायाँ हाथ **कटयवलम्बित** मुद्रा में है और उसने दाहिने हाथ पर पर्वत को उठा रखा है, जिसके नीचे ब्रज के लोग और पशु शरण लिए सारनाथ की मूर्ति का निचला भाग टूट-फूट गया है, लेकिन वह गुप्त कला का नमूना है और देवता के मुख पर झलकने वाले सुख और शान्ति के भाव से वह कितने सहज रूप से, बिना प्रयास किए ही, इतना भार उठाने का अतिमानवीय सम्पन्न कर रहा है। वासुदेव-विष्णु के चार व्यूह-रूपों, अर्थात् वासुदेव, और अनिरुद्ध को अक्सर विचित्र प्रकार से मिश्रित आकृतियों में प्रस्तुत किया जिनमें चार मुख और आठ हाथ दिखाये जाते हैं, तथा जिनमें वैष्णवों के सारे होते हैं। इनमें से केन्द्रीय मुख सौम्य, मानवी चेहरा होता है और अगर मूर्ति से गोलाकृति है तो उससे ठीक विपरीत चेहरा एक कुरूप दानव का होता है, तथा चेहरे सिंह और वराह के रहते हैं। कश्मीर के मध्यकालीन मन्दिरों के इस किस्म की मूर्तियाँ बड़ी तादाद में मिली हैं, और उन्हें विष्णु-चतुर्मूर्ति के जाता है। उनके अन्दर पांचरात्र मत के एक प्रमुख या आधारभूत सिद्धान्त प्रभावशाली ढंग से साकार किया गया है।

(ङ) शैव मत

१. उत्तर भारत और दक्षिणापथ

सन् ३२० ई० में गुप्तों के हाथ में सत्ता आ जाने से हिन्दू धर्म को प्रोत्साहन मिला। गुप्त सम्राटों में से अधिकतर विष्णु के उपासक थे, लेकिन दायिक नहीं थे और हिन्दू धर्म के अन्य रूपों की तरह उनके अन्तर्गत शैव मत फूलने लगा। उदाहरणार्थ लगता है कि कुमारगुप्त (सन् ४१५-४५५ ई०)

---

[1] अवतारों की विभिन्न मूर्तियों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए, टी० ए० जी० राव, पृ० ११९ प. पृ. तथा तत्समान फलक।

अनुयायी होने के बावजूद स्कन्द-सम्प्रदाय का समर्थक था और उसने अपने बेटे भी शायद इसीलिए 'स्कन्द' रखा था। संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटक- लिदास भी शिव का उपासक था और उसने स्कन्द के जन्म की पौराणिक कथा को हाकाव्य **कुमारसंभव** में सदा के लिए अमर कर दिया है। एक दूसरे श्रेष्ठ कवि वि, जो छठी शताब्दी में हुआ था, **किरातार्जुनीय** नाम का एक महाकाव्य रचा, एक आखेटक के वेश में शिव के साथ अर्जुन के युद्ध का वर्णन है, जिसका अन्त यह अर्जुन को भगवान शिव से वरदान प्राप्त हुए। शिव से सम्बन्धित दो पुराण और मत्स्य गुप्त-काल में ही रचे गये थे। एक बड़ी तादाद में शिव के मन्दिरों का इसी युग में हुआ इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

गर राजाओं और उनके राज-परिवारों के धार्मिक विश्वासों को किसी धार्मिक की लोकप्रियता का सूचक माना जा सकता है तो निश्चय ही इस काल में शैव मत पूर्व प्रसार हुआ होगा। विदेशी शासकों में तो इस मत की लोकप्रियता पूर्ववत् ही और आरम्भिक कुषाण राजाओं की तरह हूण राजा मिहिरकुल भी शिव र भक्त था। बंगाल का राजा शशांक, और कन्नौज के पुष्पभूतिराजवंश और के मैत्रक राजवंश के कुछ शासक भी शैव मत के अनुयायी थे।

क्षिणापथ में, बृहत्फलायन, आनन्द और विष्णुकुंडी राजवंशों के शासक के अनुयायी थे और वाकाटक, शालंकायन, कदम्ब और पश्चिमी गंग वंशों के राजा भी शिव के अनन्य भक्त थे।

२. दक्षिण भारत

क्षिण भारत में शैव मत जैन और बौद्ध दोनों धर्मों का महान् प्रतिद्वन्द्वी बनकर । क्योंकि किसी भी धर्म का भविष्य राजा को अपना समर्थक बना लेने पर निर्भर था, इसलिए विभिन्न धर्मों के प्रतिपादकों में राजा को अपने अपने धर्म का अनुयायी की होड़ लगी रहती थी। इस प्रकार पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् प्रथम (६००-६३० ई०) शुरू में तो जैन धर्म का अनुयायी था, लेकिन सन्त अप्पर के में आकर उसने शैव धर्म अपनाया और लगता है, वह जैन मत के विरुद्ध हो गया, उसके प्रमुख प्रतिपादक उसकी नजर से गिर गये। संस्कृत में लिखे **मत्तविलास-** में, जिसका लेखक महेन्द्र को बताया जाता है, बौद्ध भिक्षुओं का विद्रूप बनाया गया कापालिक और पशुपति जैसे शैव सम्प्रदायों का भी उल्लेख मिलता है। शैव धर्म ने के बाद महेन्द्र ने अपनी राजधानी कांची को इस धर्म का गढ़ बनाया। उसने राज्य में जगह जगह पर महान् शिव-मन्दिरों का निर्माण करवाया और उनमें शिव त्रिदेवों में से अन्य देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित कीं। उसके उत्तराधिकारियों ने व धर्म के उत्थान का कार्य पूरे जोश से जारी रखा।

शैव धर्म के प्रति लोगों में इतनी तेजी से आस्था पैदा होने का मुख्य कारण वह काव्य था, जो एक प्रबल धारा के रूप में उस युग के प्रमुख शैव सन्तों के कंठ से

फूट निकला था। तिरसठ **नायन्मारों** या **आडियारों** (शैव-धर्म के प्रतिपादक से अधिकतर इस काल में ही पैदा हुए थे। उनकी सर्वप्रसिद्ध साहित्यिक विवेचन ऊपर किया जा चुका है।[1] यहाँ पर हम इन सन्तों के बारे में चन्द पेश करेंगे और संक्षेप में सूचित करेंगे कि दक्षिण भारत में शैव मत के विकास क्या योगदान है।

अपने रहस्यात्मक अनुभवों की रोशनी में लिखा हुआ तिरुमूलर **मन्दिरम्** (या **तिरुमन्तिरम्**) शैव-सिद्धान्त की व्याख्या करने वाला काफी दुरूह ग्रन्थ है। लगता है कि इस ग्रन्थ की रचना में तिरुमूलर का उद्देश्य वेदों के अनुकूल बनाना था। क्योंकि उसने कहा कि, "वेदों की तरह आगम भी वाणी हैं; एक सामान्य है, दूसरा विशेष, यद्यपि कुछ लोग ईश्वर के इन शब्दों दो **अन्तसों** को, एक दूसरे से भिन्न मानते हैं।" तिरुमूलर ने अनेक वार इस सामासिक पद का प्रयोग इसी अर्थ में किया है कि वेद और शैव सिद्धान्तों एक ही चीज है। एक स्थान पर उसने घोषणा की है: "शिव वनना वेदान्त- बाकी चारों (अन्त, अर्थात् नादान्त, वोधान्त, योगान्त और कालान्त) व्यर्थ हैं। अगर सदाशिव, जो शिव बनता है, एकत्व सिद्धि कर लेता है तो वेदान्त स्वतः ही सिद्धान्त बन जाता है।" तिरुमूलर ने शैव धर्म के चार रूप वताये हैं: **अशुद्ध, मार्ग** और **कडुमशुद्ध**। शैव धर्म का **अशुद्ध** रूप वह है, जिसमें वेदान्त नहीं होता। इसके विपरीत, वेदान्त **शुद्ध-शैव-सिद्धान्त** है। जबकि अशुद्ध रूप की बाहरी बातों में ही खो जाता है, उसका **शुद्ध रूप** शैव धर्म के मूल तक में प्रवेश है। **मार्ग** शैव वे होते हैं, जो **सन्मार्ग** पर चलते हैं। यद्यपि वे शैव धर्म के वाह्य को धारण करते हैं, लेकिन वे यहीं पर रुक नहीं जाते। उनके लिए सच्चा मार्ग है। **साधना** के चार चरण हैं—**चर्या, क्रिया, योग** और **ज्ञान**। साधक जिस चरण में पहुँच जाता है, उस पर ईश्वर की कृपा से **शक्ति-निपात** होने लगता है मुक्त हो जाता है। तिरुमूलर की इस **शक्ति-निपात** वाली अवधारणा का आगे शैव-सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अन्तिम, **कडुम-शुद्ध**, वह वर्ग है, जिसे शैवों के बाह्य चिह्नों की जरूरत नहीं है, जिन्हें किसी वाहरी की जरूरत नहीं पड़ती उनकी पद्धति अद्वैत वेदान्त के **सदचो-मार्ग** से सहज अनुमेय है कि इस मार्ग में निपुण व्यक्ति विरल ही हो सकते हैं। तिरुमूलर अनुसार, लक्ष्य ईश्वर के साथ, जिसे वह नन्दी या शिव का नाम एकाकार होना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक के रूप में वह **मन्त्रोपासना** जैसे कुछ प्रचलित तरीकों को स्वीकार करता है, सिद्धान्त-सन्मार्ग को सर्वोपरि मान्यता देता है। तिरुमूलर के अनुसार जहां कुछ बाह्य प्रकार के हैं (**पुरच्चमय**) वहाँ कुछ आन्तरिक प्रकार के हैं (उट्चमय)।

---

[1] देखिए पृ० ३७५ और आगे।

मतों की स्पष्ट व्याख्या नहीं की। सम्भवतः आन्तरिक मत शैव मत की ही किस्में हैं, और उनमें से वेदान्त-सिद्धान्त (जिस अर्थ में तिरुमूलर इसका प्रयोग) सर्वोत्कृष्ट है। इस प्रकार यह आसानी से समझा जा सकता है कि तिरुमूलर ग्रंथ तिरुमन्दिरम् में दक्षिण भारत में प्रचलित शैव मत की स्थापना किस प्रकार है।

अप्पर, तिरु-ज्ञान-सम्बधर (या सम्बन्दर्), सुन्दर मूर्ति (या सुन्दरर) और वाचकर शैव मत के चार महान् प्रतिपादक हैं और क्रमशः चार भक्ति-मार्गों र्थात् **दास-मार्ग, सत्पुत्र-मार्ग, सखा-मार्ग** और **सन्मार्ग** या सच्चा मार्ग—पथ-शिक्षक हैं। चारों भक्ति से उत्प्रेरित सन्त थे, जिन्होंने अपने भक्तिगीतों की देश को आप्लावित कर दिया था और इस प्रकार लोगों के मन में आध्यात्मिकता अग्रसर होने की आकांक्षा जगा दी थी।

माणिक्कवाचकर ने मदुरा के निकट वादवूर में एक ब्राह्मण के घर में जन्म । अपने कस्बे के नाम पर उसे तिरुवादवूरर भी पुकारा जाता है। वह विलक्षण व्यक्ति था और उसने किशोरावस्था में ही सारे शास्त्रों में दक्षता प्राप्त कर । उसके एक महान् विद्वान् और निष्कलंक चरित्र का नौजवान होने की ख्याति राजा के कान तक पहुँची और उसने माणिक्कवाचकर को तुरन्त बुला भेजा। की बुद्धि और योग्यता के बारे में सन्तुष्ट हो जाने के वाद राजा ने उसको अपना मंत्री नियुक्त कर दिया। माणिक्कवाचकर ने बड़ी बुद्धिमानी और वफादारी से जा और पांड्य देश के लोगों की सेवा की। इसके बदले में उसे राजा का विश्वास मान प्राप्त हुआ। उसे एक राज-दरबार के सारे सुख-साधन उपलब्ध थे। उसका मन सुख और वैभव की वस्तुओं में नहीं लगता था। शैव मार्ग पर चलने उसमें तीव्र उत्कंठा पैदा हो गयी थी। प्राचीन काल के शाक्य राजकुमार की तरह, वाचकर भी सांसारिक वैभवों की व्यर्थता का अनुभव करने लगा। वह एक तलाश में था, "जो उसे "पंचाक्षरों" (शिवाय नमः) का रहस्य समझा सके मुक्ति का मार्ग" दिखा सके।" एक वहु-प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार उसकी इस की पूर्ति तिरुप्पेरुन्तुरइ में जाकर हुई, जहाँ वह राजा के लिए घोड़े खरीदने गया नगर के वाहर उसे एक गुरु मिला। अनुश्रुति के अनुसार, यह गुरु स्वयं भगवान , जो अपने भक्त के रक्षार्थ अपने दिव्यधाम (कैलाश) से उतर कर आये थे। दर्शन करते ही माणिक्कवाचकर का मन इस संसार से ऊपर उठकर भक्ति के लोक में पहुँच गया। घोड़े खरीदने के वजाय, माणिक्कवाचकर ने अपने साथ सारा धन गुरु के चरणों में रख दिया और उसके आदेश पर मदुरा लौटकर राजा से कि घोड़े कुछ दिनों में पहुँच जायेंगे। निश्चित दिन पर घोड़े आ गये, जिन्हें घोड़े सवार के वेश में स्वयं शिव लेकर आये थे। लेकिन घोड़े वास्तविक नहीं थे, वल्कि जादूगर (मायी) के जादू से घोड़ों के वेश में बदले हुए शृगाल थे। इसलिए जब रा हो गया, तो शृगाल रात में अपने असली रूप में आ गये और जंगल में भाग

गये। यह देखकर कि उसे धोखा दिया गया है, राजा को बड़ा क्रोध आया अपने प्रधानमंत्री को यंत्रणाएँ देने का आदेश दिया। लेकिन ये यंत्रणाएँ उस बिल्कुल महसूस नहीं हुईं। भगवान् का हाथ इन यन्त्रणाओं से उसकी रक्षा कर राजा को अपनी गलती महसूस हुई और उसने इस गायक को मुक्त कर दिया चाहे जाने की इजाजत दे दी। इन घटनाओं का संकेत स्वयं माणिक्कवाचकर के गीतों में मिलता है। सांसारिक सम्बन्धों से नाता तोड़ कर माणिक्कवाचकर ने बाकी जीवन आध्यात्मिक उपदेशों और अपने देवता की आराधना में व्यतीत वह पहले तिरुप्परुन्तुरइ गया, जहाँ उसे प्रकाश मिला था और वह उस समय स्वामी के साथ रहा, जब तक कि वह पुनः अपने दैवी निवास पर लौट कर इसके बाद उसने सारे दक्षिण भारत के मन्दिरों की तीर्थयात्रा की और हर उसने अपने भक्ति गीत गाये। अन्त में उसने चिदम्बरम् को अपना आश्रम इस स्थान पर ही उसकी लंका के कुछ बौद्ध शिक्षकों से भेंट हुई थी, जिनको शास्त्रार्थ में हराया था। और जब इस संसार में उसका कार्य पूरा हो गया तो जाता है, चिदम्बरम् के देवता ने उसे अपने से एकाकार कर लिया।

माणिक्कवाचकर के ग्रन्थ **तिरुवाचकम्** का तमिल के धर्म साहित्य में वही है, जो संस्कृत के धर्मग्रन्थों में उपनिषदों का है। अज्ञान के अन्धकार से निकलकर की आत्मा को दैवी ज्ञान के प्रकाश में पहुँचने के लिए किन किन मंजिलों को पार होता है, **तिरुवाचकम्** में इसका वर्णन अत्यन्त मार्मिक शब्दों में किया गया है। वाचकर के लिए सबसे बड़ा देवता शिव है, जो राजाओं का राजा और सब स्वामी है। इस सन्त ने शिव का वर्णन निम्न विशेषणों के द्वारा किया है: करुणा-नद तथा अन्तर्ज्योति। शिव केवल मन्दिर में ही निवास नहीं करता, वह है, हरेक प्राणी के हृदय में उसका निवास है। वह उन आत्माओं की रक्षा के के रूप में भी प्रकट होता है, जो उसकी अवस्था को प्राप्त करने के लिए तड़पते माणिक्कवाचकर का कहना है: "ऐ सर्वोच्च सत्य, तुम पृथ्वी पर आये और चरणों का दर्शन कराया और करुणा की साकार मूर्ति बन गये।" कवि और की हैसियत से उसका स्थान अमरों में है। उसका यह नाम (माणिक्कवाचकर अनुरूप ही है, क्योंकि इसका अर्थ है, "वह जिसके शब्द मणियाँ हैं।

अप्पर महान पल्लव राजा महेन्द्र-वर्मन् प्रथम (सन् ६००-६३०) समकालीन था। वह दक्षिण अर्काट के एक गाँव में एक धनी वल्लाल परिवार हुआ था और उसका नाम तिरुनावुक्करशु रखा गया था। जैन धर्म त्याग कर शैवधर्म कैसे अपनाया, इसके बारे में एक चमत्कार पूर्ण कहानी प्रचलित है। अप्पर ने तमिल देश के सभी मन्दिरों की तीर्थ-यात्रा की। उसके हाथ में एक था ताकि मन्दिरों में जमा कूड़े-कचरे को उठा कर फेंक सके। इस यात्रा में उसने जनसमूहों के सामने शिव की महत्ता पर व्याख्यान दिये। उसकी बढ़ती हुई से घबराकर जैन गुरुओं ने पल्लव राजा महेन्द्र प्रथम को उसे दंड देने के लिए

जा ने, जो स्वयं जैन था, सन्त अप्पर की कठोर से कठोर परीक्षाएँ लीं। शिव में रत और अटूट भक्ति के कारण अप्पर ने सहज भाव से सारी यातनाएँ झेल लीं। का एक बाल भी बाँका न हुआ। सन्त की उदात्त आध्यात्मिकता से राजा प्रभावित हुआ कि उसने शैवधर्म अपना लिया। इसके बाद अप्पर फिर अपनी यात्रा पर निकल पड़ा। चिदम्बरम् में उसने सुना कि बालक-सन्त सम्वन्दर को र शिव ने दर्शन दिया था। कुछ दिनों बाद, उसी स्थान पर दोनों सन्तों की उवकि सम्वन्दर ने अपने बड़े को प्यार से "अप्पा" (अर्थात् "पिता") कह कर किया। उस समय से तिरुनावुक्करशु के नाम के आगे सदा के लिए "अप्पर" गया। दोनों सन्तों ने साथ साथ यात्राएँ कीं। जहाँ जहाँ वे गये, भक्ति के गीतों से शिव की उपासना करते गये और एक दूसरे को अपने आध्यात्मिक से मालामाल करते गये। अप्पर ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष तिरुप्पुगलुर में परम्परा के अनुसार उसकी आयु इक्यासी वर्ष की थी, जब उसका देहान्त आ।

र के गीत ज्ञान और भक्ति से ओतप्रोत हैं। उनमें कवि के मन की प्रौढ़ता री धर्मनिष्ठा प्रतिबिम्बित है। उसे सिद्धान्त का पूरा ज्ञान था और उसने अन्य पद्धतियों का भी गम्भीर अध्ययन किया था। एक गीत में उसने कहा है कि तीस तत्त्वों (सांख्य के) से परे हैं। एक दूसरे गीत में उसने शैवमत के छियानवे उल्लेख किया है। उसके अनुसार शिव सर्वव्यापी और लोकोत्तर वास्तविकता शायद शिव के तीन रूप स्वीकार करता था: (१) सबसे निम्न रूप शिव है, जो में से एक है और जिसे विश्व का संहार करने का कार्य सौंपा गया है; (२) दूसरे वह **परापर** का नाम देता है। यह **परापर** शिव और शक्ति का सम्मिलित जिसे परंजोति भी कहा जाता है; (३) शिव का तीसरा और अन्तिम रूप **स्तम्भ** -स्तम्भ कहलाता है, जो पूर्ण (निरपेक्ष) चेतना है। दरअसल, इस रूप की कल्पना जा सकती, यह अवर्णनीय और अनिर्वचनीय है। इस रूप की प्राप्ति ही आध्या- जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसको प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग शिव का निरन्तर और उसके प्रति अटूट श्रद्धा है। अप्पर कहता है, "**कदम्ब** युवाओं के स्वामी के चरणों के दर्शन हो सकते हैं, अगर शरीर रूपी घर में रखे मन के दीपक में और ध्यान के घी से जलने वाली जीवन की बाती से उठी ज्ञान की लौ की रोशनी उसको ढूँढा जाए।" उपनिषदों के स्वर में इस सन्त का कथन है: "ईश की इस उपासना करने का हमने मार्ग दिखाया है, अपने शरीर को मन्दिर और मन को दास वनने दो; सत्य को पवित्रता (पूजा के लिए आवश्यक स्थिति) का मानदंड और लिंग को हृदय का माणिक, और प्रेम को ही घी, दूध और पानी बनाओ पूजा के लिए सहायक वस्तुएँ होती हैं)।" अप्पर शिव के नाम का निरन्तर जाप की आवश्यकता पर जोर देने से कभी थकता नहीं था। "ब्राह्मण के पास सबसे हीरा उसका वेद है, जिसकी व्याख्या करने वाले छह शास्त्र हैं, लेकिन हमारे

पास सबसे अद्वितीय हीरा **पंचाक्षर** है।" यद्यपि वह शिव मार्ग को सर्वोच्च था, लेकिन इतना संकीर्णमना भी नहीं था कि कहता कि और कोई मार्ग हो ही नहीं उसका कहना है कि शिव के चरण छह **समयों** के हर अनुयायी को सान्त्वना और प्रदान करने में समर्थ हैं।

सम्बन्दर अप्पर का समकालीन था। वह शीरकाळि (शियाळि) ब्राह्मण परिवार में पैदा हुआ था। कहते हैं कि उसके मां-बाप ने एक पुत्र पाने के लिए शिव की सच्ची लगन से आराधना की थी, जिसके फलस्वरूप उसे प्राप्त हुआ था। तीन साल की उम्र में वह एक बार अपने पिता के साथ निकट के तक गया। अनुश्रुति के अनुसार बाप जिस समय तालाब में नहा रहा था, बालक चीख पड़ा। इसी समय एक सोने के प्याले से शिव और पार्वती प्रकट हुए और बालक को ज्ञान का दूध पिलाया। तभी से वह एक "ज्ञान-सम्बन्ध", अर्थात् ज्ञान के द्वारा ईश्वर से सम्बन्धित है, हो गया, और भक्ति के उन्माद से अभिभूत वह अपने गीतों में विश्व-पिता और विश्व-माँ का गुणगान करने लगा। जब निष्ठावान् बाप को पता चला कि स्वयं पार्वती ने उसके पुत्र को अनुमन्त्रित किया वह खुशी से फूला नहीं समाया और अपने प्यारे बच्चे को कन्धे पर बैठाए एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ स्थान की यात्रा करने लगा। इस प्रकार सम्बन्दर ने विभिन्न मन्दिरों जाकर शिव की महानता के गीत गाये। जिस समय वह मदुरा नगर के पास ठहरा था, वहाँ की रानी मंगैयर्क्करशि और मन्त्री कुलच्चिचड़ै ने उसे बताया कि राजा पर का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। इस पर इस संत ने पाण्ड्य राजा को पुनः शैवधर्म यायी बना लिया। मदुरा में अपना शिक्षणकार्य पूरा करके वह फिर अपने चोल लौट आया और फिर उत्तर का दौरा करने के लिए निकल पड़ा। पुराण में सम्बन्दर अनेक चमत्कारों का विवरण दर्ज है। इस सन्त के जीवन की अन्तिम घटना चमत्कार के समान ही है। उस समय उसकी आयु सोलह वर्ष की थी और उसके का प्रस्ताव किया गया। वह इस प्रस्ताव पर राजी हो गया और उसके लिए एक चुन ली गयी। लेकिन विवाह की रस्म पूरी होने से पहले वह अपनी वाग्दत्ता को पेरुमणम् के मन्दिर में ले गया और उसकी प्रार्थना पर देवता की मूर्ति से एक निःसृत हुई और वे दोनों अपने अन्य साथियों समेत इस दीप्ति में समाहित हो इस प्रकार शीरकाळि के विख्यात बालक सन्त के गौरवशाली जीवन का समापन

तेवारम संग्रह में सम्बन्दर के **पदिगमों** (पदों) को प्रथम स्थान दिया और इससे जाहिर होता है कि शैव-धर्मोपासना में उसके भक्ति-गीतों को कितना स्थान दिया जाता है। इस सन्त के भक्ति-गीतों में एक लक्षण जो सबसे प्रमुख नजर है, वह जैनियों के प्रति उसकी घृणा है। लगता है कि वह ईमानदारी से विश्वास था कि जैनी साधारण जनता को गुमराह कर रहे थे। एक पद में उसने कहा है: तुम लोग जो जैनियों और बुद्धों के उपदेश सुनकर उद्विग्न हो जाते हो, आओ, पेरुमणम के स्वामी के चरणों की पूजा करने से तुम्हारे लिए **मोक्ष** प्राप्त करना

ा।" शैवधर्म के अन्य प्रतिपादकों की तरह, सम्बन्दर भी एक सन्देश लेकर पैदा था, और यह सन्देश नास्तिक धर्मों के विरुद्ध शैव ईश्वरवाद के धर्म सिद्धान्त का था। उसे तमिल देश में जैनधर्म के पतन का मुख्य कारण माना जाता है। सम्बन्दर शिव को सर्वोच्च देवता मानता है; सब प्राणियों एवं वस्तुओं का आदि, और अन्त। त्रि-देवों में से एक होने के कारण वह "प्रथम रूप" (**मुदल-उरु**) है। वास्तव में, वह अरूप है, जिसके कारण न ब्रह्मा और न विष्णु ही उसे देख सकते व चेतना और ज्योति है। सम्वन्दर का कहना है: "तुम **ज्योतियों** के अन्त हो, ों के अन्दर एक ज्योति।" शिवत्व की प्राप्ति ही **मोक्ष** है। आत्मा को **मल** या ा से मुक्त करना चाहिए। इसके लिए शिव की कृपा जरूरी है। उसकी कृपा के लिए पंचाक्षर ही सबसे प्रभावशाली साधन है, और इस प्रकार **शिव-मुक्ति** प्राप्त सकती है। सम्बन्दर का कहना है: "पंचाक्षर ही वह अन्तिम **मन्त्र** है, जिसका से शिव को प्राप्त किया जा सकता है।" इस सन्त के उपदेशों का सार यह है ना शिव की पूजा करो, रक्षित रहोगे।"

 विवेचित सन्तों में से अन्तिम, सन्त सुन्दरमूर्ति, दक्षिण अर्काट जिले के र के पुजारियों के परिवार में पैदा हुआ था। कहा जाता है कि उसके विवाह शिव एक बूढ़े ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने दावा किया कि वह उनका है। उन्होंने सुन्दरमूर्ति को उस अवस्था में विवाह करने से रोक दिया और साथ लेकर चले गये। फिर उन्होंने उसके आगे अपना शिव रूप प्रकट किया, ब्रह्माण्ड का सर्वोपरि स्वामी है। इस प्रकार सुन्दर को सन्तपद प्राप्त हो गया घूम-घूम कर अपने उद्धारक शिव का गुणगान करने लगा। उसने दो बार विवाह और अपनी आंखों की ज्योति गंवा दी और शिव की कृपा से भी वंचित हो गया। के वाद उसकी आंखों की ज्योति भी लौट आयी और शिव की कृपा भी मिल उसे केरल के राजा चेरमान पेरुमाल की मित्रता भी प्राप्त हुई। एक दिन जब राजा के साथ तिरुवंजिक्कलम में ठहरा हुआ था, वह देह त्याग कर ईश्वर के गया। सुन्दर के गीत **सखा-मार्ग** का स्पष्टीकरण करते हैं। लेकिन ईश्वर से निष्ठता ने उसके मन में अपने आराध्य के प्रति भक्ति और शिव की उपस्थिति उत्कंठा में कोई कमी नहीं आने दी थी। अपने युग के अन्य सन्तों के समान इस वात का श्रेय प्राप्त है कि उसने अपने भक्ति-गीतों से लोगों के मन में भावनाओं का उद्रेक किया था और शैवधर्म के नवजागरण के युग का सूत्रपात ।

३. मूर्ति-निर्माण कला

काल के शिवलिंगों से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार उनका वास्तविक धीरे-धीरे गौण होता जा रहा था, और कुमारगुप्त प्रथम के समय के उत्कीर्ण लिंग से रूढ़ीकरण की एक सजग चेष्टा सूचित होती है। लेकिन यह अनुमान

करना गलत होगा कि गुप्तकाल के शिवलिंगों से यथार्थवाद का बहिष्कार कर
गया था; भीटा में मिली अनेक मुहरों पर शिवलिंग अपने प्राचीन रूप में ही
है ।[1]

ऊपर शिव की मूर्तियों के एक विशिष्ट रूप, अर्थात् लिंगोद्भव मूर्तियों
मुखलिंगों के विकास का उल्लेख[2] किया जा चुका है । लिंगोद्भव मूर्तियां उस वर्ग
जिनमें एक साम्प्रदायिक पक्षपात लक्षित होता है । उनसे सम्बद्ध मिथक-कल्पना
कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु में इस दावे को लेकर झगड़ा हुआ कि विश्व का
कौन है, ब्रह्मा या विष्णु । इस झगड़े के दौरान किस प्रकार शिव उनके बीच एक
अग्नि-स्तम्भ के रूप में प्रकट हुए और किस प्रकार ब्रह्मा और विष्णु अग्नि-स्त
निचले या ऊपर वाले छोरों का पता लगाने में असमर्थ रहे । ब्रह्मा ने झूठ बोल दि
उसने इस अग्नि-स्तम्भ की चोटी का पता कर लिया है । इस पर शिव ने ब्रह्मा को
दिया कि उसके नाम पर कभी कोई मत नहीं चलेगा । लेकिन विष्णु ने ईमानद
स्वीकार कर लिया कि वह अग्नि-स्तम्भ का तला खोजने में असमर्थ रहा, इस पर
(शिव) ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि विष्णु के नाम पर मत चलेगा, जो
में केवल शिव के मत से ही द्वितीय होगा । एलोरा की दशावतार गुफा में इस
के सारांश को लिंगोद्भव-मूर्तियों में अंकित किया गया है । इसमें बगल से
निकलते स्तम्भ के सामने के भाग पर तीन-चौथाई अंश में शिव चन्द्रशेखर की मूर्ति
हुई दिखाई गयी है । बायें कोने में ब्रह्मा ऊपर की ओर उड़ते हुए प्रदर्शित हैं और
वराह के रूप में दाहिने कोने में जमीन में मुँह गड़ा कर ज़मीन खोदते हुए दिखाये
इन दोनों की आकृतियाँ अपने सहज रूप में बायीं और दायीं ओर अंजलि मुद्रा
दोहरयी गयी हैं । एक लगातार कहानी को एक ही फलक में आकृतियों को
दोहराकर अंकित करने की यह भारतीय शैली एलोरा के इस मूर्ति-शिल्प में
से व्यक्त हुई है । भारत के विभिन्न भागों में मिलने वाली उभारकर बनाई
मध्यकालीन मूर्तियों के अनेक नमूने हैं, जिनमें कथावस्तु का मूर्तिकरण इसी
किया गया है, यद्यपि कहीं कहीं कुछ परिवर्तन अवश्य किये गये हैं । शिव का स्त
रूप भी उल्लेखनीय है, क्योंकि मध्यकाल के अनेक शिवलिंग इसी प्रकार के हैं।

शिव के मानवीकृत रूपों में व्यामोहक वैविध्य मिलता है । कलकत्ते के
म्यूजियम के संग्रह में इस प्रकार की एक प्राचीन मूर्ति मिलती है, जो कोसम में मि
इस पर स्कन्दगुप्त के समय का एक उत्कीर्ण लेख भी है । इसमें शिव और उन
बगल खड़े हैं । "दोनों अपने अपने दाहिने हाथ उठाये हुए हैं, जिनकी खुली
सामने की ओर हैं । शिव के बायें हाथ में एक कमण्डल (जल-पात्र) है, जबकि
के बायें हाथ में त्रिशूल (?) है । पार्वती के शिरोवस्त्र की रचना अत्यन्त अलंकृत

---

[1] बनर्जी, डे. हि. इ., फलक, X, चित्र ४ ।

[2] जि. II, पृ० ४६०-६१ (अंग्रेजी संस्करण) ।

।" इस मूर्ति के बारे में ब्लाख (Bloch) ने कहा है : "इस प्राचीन मूर्ति के और रूढ़िगत निरूपण की तुलना मूर्तियों में व्यक्त दिव्य-दम्पति की भावपूर्ण े करना शिक्षाप्रद होगा।" "एलोरा की शैलकृत्त गुफाओं में, जो समग्र रूप से दी की हैं, उभार-शैली की कुछ बड़ी दिलचस्प मूर्तियाँ हैं, जिनमें शिव की त आकृति के विभिन्न रूप दिखाये गये हैं। एक दो फलकों में वहाँ शिव और को बैठे हुए दिखाया गया है, जिनके दोनों ओर अनुचरों का जमघट है, नीचे नन्दी णों से परिवृत है। इन मूर्तियों से बस एक कदम हटकर ही उमा-महेश्वर की हैं, जिनमें पार्वती अपने संगी की बाईं जांघ पर बैठी हुई है और वह अपने हाथों ी के अंगों को सहला रहा है। ब्लॉख (Bloch) ने इसी अभिव्यंजक या मुद्रा की ओर संकेत किया है, और पूर्वी भारत में इस प्रकार की भावपूर्ण मूर्तियों ायत का कारण निश्चय ही इस क्षेत्र में शक्ति-पूजा का व्यापक प्रचलन है। ुन्दरी के, जो उमा और पार्वती का ही दूसरा नाम है, तान्त्रिक उपासकों से यह ी जाती है कि वे देवी के उस रूप का ध्यान करें जिसमें वह महापद्मवन में शिव ं में बैठी है,[१] और ये मूर्तियाँ उनके विशेष **ध्यानयोग** में साधनों की तरह काम ीं। उपर्युक्त वर्ग की मूर्तियों में शिव और उमा को अलग अलग दिखाया जाता न अर्धनारीश्वर वर्ग की मूर्तियों में उन्हें एक दूसरे में समाहित दिखाया जाता है। क्त मूर्ति के दाहिने अर्ध-भाग में शिव की आकृति अंकित होती है और वायें अर्ध- ं उमा की। भीटा में मिली गुप्तकाल की एक मुहर में प्रस्तुत लेखक ने इस दिल- स्प की संयुक्त आकृति पहचानी थी। गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक की देश न्न भागों में मिलने वाली मूर्तियों में यह प्रसंग अंकित किया गया है, जो इस ग की देशव्यापी लोकप्रियता का सूचक है। बादामि के अर्धनारीश्वर की आकृतियों र-फलक को इस प्रकार की मूर्तियों का प्रतिनिधि मान सकते हैं, यद्यपि उसमें ेषताएं जोड़ी गयी हैं, जैसे इस उभयलिंगी देवता के कुदरती हाथों में एक **वीणा** गयी है, नन्दी को एक साँड के रूप में प्रस्तुत किया गया है और कृशकाय भृंगी -भाग के पास और एक सेविका को नारी-भाग के पास खड़ा दिखाया गया है; नेक गणों को नृत्य की तथा अन्य मुद्राओं में अंकित किया गया है। शिव की हरि-हर र्धमूर्तियाँ उतनी सामान्य नहीं थीं, जितनी उस वर्ग की मूर्तियाँ, जिनका अभी िया गया है। हरि-हर की सबसे प्राचीन और सबसे सुन्दर मूर्ति बादामि के निचले न्दिर के एक फलक में अंकित है। दाहिनी ओर, या केन्द्रीय मूर्ति के आधे हर-भाग के प्रतीक और चिह्न अंकित हैं और बाईं ओर, या मूर्ति के आधे हरि-भाग में मत के प्रतीक और चिह्न अंकित हैं। इस देवता के दायीं ओर पार्वती और बायीं क्ष्मी है, साथ ही नन्दी और गरुड़ के मुखों वाली मानव आकृतियाँ हैं। इस देवता

---

[१] सौन्दर्यलहरी —श्लोक ४० प. पृ०।

के नीचे बादामि की सामान्य शैव-मूर्तियों की तरह, अनेक गण नाचते और बाजे
हुए अंकित हैं।

(च) गौण धार्मिक सम्प्रदाय

१. ब्रह्मा

ब्राह्मणवादी धर्म में होने वाले उन व्यापक परिवर्तनों का पहले उल्लेख
जा चुका है, जिनके दौरान विष्णु और शिव को छोड़कर पुराने अन्य सारे देवता
स्थान गौण होता गया और वे इन दो देवताओं के अधीन हो गये। इस प्रकार
जिस बड़े देवता को उठानी पड़ी, वह ब्रह्मा था। वेदों के पूरक साहित्य में जिन
कारनामों का श्रेय ब्रह्मा को दिया गया था, वह सारा श्रेय धीरे धीरे विष्णु ने अपने
हथिया लिया। यद्यपि ब्रह्मा को स्वयंभू पुकारा जाता था, लेकिन अब उसे अंडे
हुआ या विष्णु की नाभि में उगे कमल से पैदा कल्पित किया जाने लगा, जिसको
ने मधु नाम के दानव से रक्षा की थी। ऋग्वेद में वर्णित अगम्यागमन की मिथक-
ब्रह्मा पर आरोपित कर दी गयी और दिखाया गया कि इस नैतिक पतन के लिए
ब्रह्मा को दंड दिया। इन अनुश्रुतियों से सूचित होता है कि लोगों के मन में ब्रह्मा
जो आस्था थी, उसका रुख बदल कर किस प्रकार त्रिदेवों में से बाकी दो देवताओं
मोड़ा गया। इसके बावजूद, ब्रह्मा के थोड़े से अनुयायी बाकी रह गये, और पद्म
में उसको पुनः सर्वोच्च देवता का गौरव प्रदान करने की कोशिश की गयी।
विवेच्य काल में ब्रह्मा का काफी महत्त्व था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा
है कि **बृहत्संहिता** और **विष्णुधर्मोत्तर**, इन दोनों ग्रन्थों में उसकी मूर्तियों के निर्माण
की विधि बतायी गयी है और बाद में रचित **पद्म-पुराण** में उसकी उपासना
भी निर्धारित की गयी है।

जब ब्रह्मा का महत्त्व घटने लगा, उस समय भी एक गौण देवता के रूप में
का उपास्य होने का उसका अधिकार स्वीकार किया गया और विष्णु और शिव के
में उसकी मूर्ति के लिए अलग से एक आला रखा जाने लगा। त्रिमूर्ति में भी
स्थान सुरक्षित रहा यद्यपि उसकी मूर्ति को कभी केन्द्रीय स्थान नहीं दिया गया।
स्थान हमेशा विष्णु या शिव के लिए ही सुरक्षित रहा। प्रयाग और पुष्कर जैसे कुछ
स्थान (तीर्थ) उसके नाम के साथ विशेषतया संबद्ध रहे। यद्यपि कालान्तर
के नाम का सम्प्रदाय-विशेष तो एकदम खत्म हो गया, पर उसकी पूजा का प्रचलन
बन्द नहीं हुआ। सिन्ध से लेकर बंगाल तक उसकी मूर्तियों की संख्या अधिक
और वे विविध प्रकार की भी नहीं हैं। इन मूर्तियों में ब्रह्मा को त्रिमुख (अधिकांश
उभार शैली की हैं, जिनमें चौथा मुख नहीं दिखाया जाता, केवल चन्द
मूर्तियों में ही चौथा मुख दिखाया गया है), तुन्दिल (बड़े पेट वाला), चतुर्भुज

वाला), हाथों में स्रुक्, स्रुव, **अक्षमाला** और **पुस्तक** धारण किए या तो खड़ा दिखाया है, या अपने वाहन हंस पर बैठा हुआ। ब्रह्मा की एक प्राचीनतम कांस्यमूर्ति, जो गोल है, सिंध के मीरपुर खास में प्राप्त हुई थी। यह मूर्ति कराँची के म्यूजियम है और मूर्ति-कला की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि वह इस देवता की र्तियों से बिल्कुल नहीं मिलती। इस मूर्ति में ब्रह्मा चार मुखों वाला है, लेकिन केवल दो ही भुजाएँ हैं; दाहिना हाथ झुका हुआ है, जिसकी हथेली अन्दर की ओर , मानो एक पुस्तक पकड़े हुए हो (ग्रन्थों में हाथ की इस मुद्रा का कहीं उल्लेख ता), बायें हाथ में वह या तो अक्षमाला या कमण्डलु (जल-पात्र) पकड़े है, जो खो गया है और (उसकी सिर्फ हत्थी ही मूर्ति के हाथ में रह गयी है), उसके सरों हुई बालों की लटें हैं और वह अपने शरीर पर शायद **उपवीती** ढंग से मृगछाला है। भारतीय धातु-विज्ञान कला का यह एक श्रेष्ठ मध्यकालीन नमूना है।[1]

ताओं ने जब अपनी पंच-देवता (**पंचायतन**) वाली कल्पना का विकास किया का रहा सहा महत्त्व भी खत्म हो गया और उसे एक सेवा-निवृत्त (या पेन्शन- देवता की कोटि में डाल दिया गया। आज सारे भारत में स्वतन्त्र रूप से ब्रह्मा आधे दर्जन मन्दिर ही शेष रहे हैं। उसे विष्णु और शिव, यहाँ तक कि कार्तिकेय रों के गर्भगृहों से निकाल कर बाहर, **परिवार-देवताओं** की पंक्ति में खड़ा कर या है। अगर उसे त्रि-देवों में रखा भी जाता है तो केवल औपचारिक रूप से पालन की खातिर; या दक्षिण भारत में केवल सूर्य के रूप में उसकी पूजा होती है, जाहिर होता है कि सूर्य-सम्प्रदाय ने भी कुछ क्षेत्रों में ब्रह्मा के प्रभाव की जड़ काटी थी।

२. सूर्य

के विपरीत, सूर्य ने अपना पद सुरक्षित ही नहीं रखा, बल्कि अपने प्रभाव- विस्तार भी कर लिया। सूर्य-सम्प्रदाय के उत्तर-भारतीय रूप की सूचना हमें पुराण से मिलती है, जिसमें इस सम्प्रदाय के जन्म की कहानी, सूर्य देवता और यक देवताओं, सूर्य के पुजारियों (भोजक, मग और सोभक आदि) और ों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार के विवरण **शाम्ब, वराह** तथा कुछ णों में भी मिलते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस काल के अधिकांश र पश्चिमी भारत में मिलते हैं, विशेषकर वर्तमान राजस्थान के दक्षिण में द्वीप ब्राह्मण बड़ी तादाद में आकर बस गये थे।[2] मूलस्थान या मुल्तान (आदि के नाम पर शाम्बपुर) के मन्दिर के अलावा, जहां सोने की मूर्तियों को देखकर आश्चर्य और समादर की भावना जगती थी, पुरालेखीय अभिलेखों में अन्य सूर्य-मन्दिरों का हवाला भी मिलता है। यहाँ कुमारगुप्त के काल के मन्दसौर का जिक्र किया जा सकता है, जिसमें इस बात का हवाला दिया गया है कि

---

[1] टी. ए. जी. राव—**एलिमेंट्स आफ हिन्दू इकानॉग्राफी,** II, पृ० ५०९-१०,

[2] जि० II, पृ० ४६५-६६ (अंगरेजी संस्करण)।

बुनकरों की श्रेणी ने सन् ४३६ ई० में एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था
४७३ ई० में उसकी मरम्मत करवायी थी। इन्दौर (मध्य प्रदेश) में मिले एक
में कहा गया है कि सन् ४६५ ई० में देवविष्णु ने सूर्य-मन्दिर में लगातार दीप
के खर्च के लिए भूमि का अनुदान किया था। सन् ५११ ई० के एक अनुदान-पत्र
और सूर्य-मन्दिर को भूमि देने का विवरण है और मिहिरकुल के राज्य-
पन्द्रहवें वर्ष में जारी हुए ग्वालियर अभिलेख में एक सूर्य-मन्दिर के नि
विवरण है। सूर्योपासना को राजाओं के समर्थन की भी कमी नहीं थी।
राज-परिवार तो कट्टर सूर्योपासक थे। हर्ष के अभिलेखों में उसके तीन पू
परमादित्य-भक्त कहा गया है। यद्यपि हर्ष आरम्भ में शैव था और बाद में
रूप से उसका झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति हो गया था, लेकिन उसने अपने
देवता का पूरी तरह परित्याग नहीं किया था, क्योंकि उस पंचवर्षीय सभा में
ह्वेन-त्सांग-सम्मिलित हुआ था, उसने बुद्ध और शिव की प्रतिमाओं के साथ
की प्रतिमा भी स्थापित की थी। आन्ध्रप्रदेश के शालंकायनों का एक अधिष्ठा
सूर्य (चित्ररथ) भी था, और वलभी का कम से कम एक राजा (पांच
सूर्योपासक था। यहाँ पर आदित्यसेन (सन् ६७२ ई०) के शाहपुर मूर्ति-
जीवितगुप्त के देव वरणार्क अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है। दोनों
पूजा का हवाला देते हैं। कश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर, जिसे मुक्तापीड या ल
ने बनवाया था, लगभग इसी काल की समाप्ति के समय का है। सूर्य-सम्प्र
किसी समय पश्चिमी भारत में ही प्रचलित था, जल्द ही पूर्वी भारत में भी फैल
इसकी पुष्टि बंगाल में मिलने वाली सूर्य की बहुसंख्यक मूर्तियों से होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर भारत में शाकद्वीपी ब्राह्मणों ने सूर्य-सम्प्र
प्रसार में बहुत बड़ा योग दिया था। इस बात का स्पष्टीकरण उत्तर भारत औ
भारत में प्रचलित दो भिन्न प्रकार की सूर्य-मूर्तियों से हो जाता है। उत्तर भारत
स्थानों पर मिली गुप्त-काल की सूर्य-प्रतिमाओं के नाक-नक्श और पहनावा, चाहे
मुद्रा में हों या मथुरा की मूर्तियों की तरह बैठी हुई मुद्रा में, विदेशी नजर आते हैं
के शिव मन्दिर की **चैत्य**-खिड़की के भीतरी पत्थर पर उभारी हुई सूर्य-प्रतिमा
लम्बा बेलनाकार शिरोवस्त्र धारण किये है और लम्बा लबादा पहने है, जिस
में गुलूबन्द लपेट कर बँधा हुआ है, उसकी टाँगें घुटनों तक के मुलायम-चमड़े
ढँकी हुई हैं और वह अपने हाथ में गुलाब की दो कलियाँ पकड़े हुए है। उसके सा
इसी लिबास में दो अनुचर हैं। सम्भवतः स्थानाभाव के कारण सूर्य देवता के
घोड़ों को नहीं दिखाया गया। इन अपेक्षया प्राचीन मूर्तियों में सूर्य और उसके
की पोशाकें हमें स्पष्टतः उत्कीर्ण कनिष्क की मूर्ति और कुषाण सम्राटों के पुतलों
दिलाती हैं, जो उनके सिक्कों की उलटी तरफ अंकित हैं। सूर्य की अन्य,
गुप्तकालीन मूर्तियों में रथ, घोड़े, तीर चलाती हुई देवियाँ, घोड़ों को हांकने
टांगों का अरुण आदि निरपवाद रूप से दिखाये गये हैं।

सूर्य की दक्षिण भारतीय प्रतिमाओं में टाँग और पैर हमेशा नंगे होते हैं और कोट की जगह केवल **उदरबन्ध** होता है। और भी अनेक छोटे-मोटे अन्तर, त में जाकर अधिक तीखेपन से उभरने लगे थे। उनका उल्लेख इस पुस्तक की जिल्द में किया जाएगा। सब पुराणों ने ईरानी प्रभाव ग्रहण नहीं किया और ने कुछ ने तो, जैसे कूर्म पुराण ने, केवल सूर्य के कार्य का वर्णन करने तक ही अपने त रखा है; अर्थात् एक नक्षत्र पिंड की हैसियत से वह किस प्रकार काल और का नियमन करता है, ग्रहों को अपनी कक्षा में बाँध रखता है, पेड़-पौधों और यों के जीवन की रक्षा करता है। इस पुराण में सूर्य-परिवार की ओर एक क संकेतमात्र है। **विष्णु-पुराण** आदि में सूर्यदेवता के पारिवारिक जीवन के में प्रवेश करने की कोशिश की गयी है, जबकि **मत्स्य-पुराण** में सूर्य देवता की का किस प्रकार निर्माण करना चाहिए, इसकी हिदायतें देते हुए कहा गया है कि र अदृश्य होने चाहिएँ। इस प्रकार उत्तर भारतीय सूर्य प्रतिमा का हमें पूरा मिल जाता है; यहाँ तक कि उसमें जरथुष्ट्र और ईरानी धार्मिक विश्वासों और -पद्धतियों का भी हवाला दिया गया है। लेकिन रूढ़िवादी परम्परा ने **शतपथ-** के आधार पर सूर्य-प्रतिमा के निर्देश की यह विधि बतायी है कि उसमें सौर मंडल कि एक सुनहरा चक्र हो और उपनिषद् के सिद्धान्त के अनुसार एक हिरण्यपुरुष। कार जिन लोगों का दार्शनिक झुकाव था, वे "लोहित" (आरक्त) देवता का ध्यान परमसत्तात्मक ब्रह्म का ध्यान करते थे, जिसकी सूर्य से अभिन्नता मानी जाती थी। र कूर्म-पुराण में आदेश है कि राजाओं को तो विष्णु और इन्द्र की पूजा करनी लेकिन ब्राह्मणों को विशेष रूप से अग्नि, आदित्य, ब्रह्मा और शिव की उपासना चाहिए। इस पुराण में ही वह "सूर्य हृदय स्तोत्र" भी मिलता है, जिसमें सूर्य की में कहा गया है कि वह परमेश्वर है, जिसमें अन्य सभी देवता समाहित हैं। ऐसा है कि कुछ समय तक ब्रह्मा, विष्णु और शिव के साथ सूर्य को शामिल करके देव- की एक कल्पना का प्रचलन रहा था, क्योंकि दान-भेंट सम्बन्धी अनेक अनुष्ठानों में नाम एक साथ लिया जाता है। परवर्ती काल की आश्मिक मूर्तियों में चारों को रूप से अंकित भी किया गया है, उदाहरणार्थ चिदम्बरम् के मन्दिर में और (उत्तरी गुजरात) के लिम्बोजी माता मन्दिर में। जब धीरे धीरे ब्रह्मा को उपा- क्षेत्र से वाहर कर दिया गया, तव केवल विष्णु-शिव-सूर्य की त्रिमूर्ति-कल्पना गयी। लेकिन यह कल्पना भी अधिक टिकाऊ सिद्ध नहीं हुई, क्योंकि शक्ति में सूर्य की एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्विनी जल्दी ही प्रकट हुई और एक साम्प्रदायिक का केन्द्र वन गयी।

३. शक्ति

न और शैव जैसे सर्वप्रमुख ब्राह्मणवादी सम्प्रदायों के बाद प्रमुख सम्प्रदाय का था, जो नारी का शक्ति-रूप सिद्धान्त है। इस देवी की धारणा कैसे पैदा हुई,

जो उमा, पार्वती, दुर्गा आदि विभिन्न नामों से प्रसिद्ध है, इसका विवेचन पह जा चुका है।[1] इस काल में किस प्रक्रिया से इस देवी ने इतना महत्त्वपूर्ण स्थान ग्र लिया, यह कहना कठिन है। साथ ही यह बताना भी कठिन है कि अन्ततः उसे के साथ क्यों सम्बद्ध किया गया। लेकिन कुछ महत्त्वपूर्ण कारणों पर ध्यान दिया जा है। सम्भवतः रुद्र और अग्नि की अभिन्नता स्थापित हो जाने के वाद, शक्ति को की जिह्वाओं से अभिन्न मान कर वैसा ही नाम रख दिया गया—संहारक रूप में दिये गये जैसे, काली (संहार), कराली (विकराल), भीमा (भयानक), चण्डी, या चामुण्डा (क्रुद्ध) आदि। दूसरा कारण है सरस्वती से उसकी अभिन्नता स्थापित क्योंकि सरस्वती और वाक् (वाणी) की अभिन्नता स्थापित की गयी थी, और ब्रा साहित्य में वाणी शक्ति का स्रोत मानी गयी है, इसलिए सर्वोच्च देवी स्वभावत का स्रोत बन गयी। किन्तु सरस्वती तो विद्या या ज्ञान एवं शिक्षा की देवी है, कि का प्रकाश भी करने वाली है। जब देवी की मुक्तिस्वरूपा सरस्वती से अभिन्नता कर ली गयी, तब उसका नाम केवल सरस्वती ही नहीं रहा, बल्कि सरस्वती **विरुद** भी उसी से जुड़ गये—जैसे, वेदमाता, सर्ववर्णा और छन्दसांमाता। यह नहीं है कि परवर्ती काल में जिन लोगों ने देवी को निगम साहित्य का रचयिता किया था, उनके ध्यान में देवी के ज्ञान की वह परम्परा थी, जो, मिसाल के लि **उपनिषद्** में अभिलिखित है, या फिर वे हर मामले में शिव के साथ देवी की मनवाना चाहते थे, यहाँ तक कि श्रुति-ज्ञान के मामले में भी। कुछ अमूर्त गु एवं शक्तियों की साकारता देवी में मान लेने से उसकी प्रतिष्ठा और भी अधिक ब

एक और प्रतिकारक, जिसने देवी को शक्तिसम्पन्न कर दिया, शा से आया। सांख्य-दर्शन ने इस विचार का प्रतिपादन किया था कि पुरुष स्वभावतः है और प्रकृति सक्रिय है (यद्यपि पुरुष के सहचर्य से ही)। अद्वैत दर्शन के रूप में ने भी अपनी इस अवधारणा का औपनिषदिक उद्भव बताया कि ब्रह्म दरअ के साहचर्य में ही स्रष्टा बनता है, जो बाद में ब्रह्म की **नित्या-शक्ति** (शाश्वत क्रिया एवं वृत्ति) मान ली गयी। कहीं यह न समझ लिया जाय कि यह शक्ति की सक्रिय चेष्टा के बिना ही काम करती है, अतः एक ईश्वरवादी सम्प्रदाय ने बात और जोड़ दी कि माया प्रकृति से अभिन्न ही है, जबकि मायिन् स्वयं मह अपने वैकल्पिक अर्थों में माया ही प्रज्ञा (अन्तर्दृष्टि) और स्वप्न (भ्रान्ति) करने लगी—और देवी, एक साथ ही, सरस्वती और मोहरात्रि बन गयी। सर्जनात्मक क्रिया के साथ शक्ति, ज्ञान और सम्मोहनकारी क्षमता जोड़ने से देवी की सम्मिश्रित कल्पना की गयी, जिसने महालक्ष्मी (जिसे वाद में चलकर साहित्य में शक्ति का नाम दिया गया) के रूप में देवताओं की भी सृष्टि की, दु में असुरों का संहार किया और देवी के रूप में शाक्त साहित्य को सिरजा तथा के रूप में सारी सृष्टि को सुलाया।

---

[1] जिल्द II, पृ. ४६६-६७ (अंगरेजी संस्करण)

हरिवंश पुराण में पहाड़ी और जंगली जन-जातियों द्वारा देवी-पूजा का सन्दर्भ सी पुराण में उसको विष्णु और इन्द्र की (कौशिकी रूप में) बहन भी बताया गया कि रामायण उसे उमा के नाम से ही पुकार कर सन्तोष कर लेती है, जो हिमवान् और गंगा की बहन थी। बाद के लेखकों ने इन दोनों को शिव की सपत्नियाँ भी । इसका हरिवंश पुराण में इस रूप में वर्णन है कि हिमवान् की तीन बेटियों में से नाम की) एक बेटी ने पति के रूप में महादेव को पाने के लिए कठोर तपस्या उसकी माँ मैना ने उसका नाम उमा रख दिया। महाभारत में दुर्गा को कभी तो कभी शिव की पत्नी कहा गया है। लेकिन बाद में उसका सम्बन्ध शिव से जाने लगा, यद्यपि पूरी तरह नहीं, क्योंकि **विष्णु पुराण** में आद्याशक्ति को महादेवी महालक्ष्मी ही माना गया है। अन्त तक पहाड़ी क्षेत्रों से उसके सम्बन्ध अधिक हो जाते हैं और उमा हेमवती (और बाद में, पार्वती, शैलपुत्री, गिरिजा आदि) (शिव) की विवाहिता पत्नी बन जाती है। इसीलिए शिव को उमापति और हेश्वरी, ईशानी, शर्वाणी, महादेवी, महाकाली, शिवा या शिवानी आदि कहते री जो मूलतः वरुण की पत्नी है और पार्वती की सहेली भी है, धीरे धीरे उमा से मान ली जाती है और इस प्रकार गिरीश गौरीश भी हो जाता है। महाभारत तों का सन्दर्भ है, जो शिव के सहचर हैं, और प्रेत, दानव और पिशाच रुद्र या शिव चर हैं। इनके अनुरूप ही उसकी पत्नी की परिचारिकाएँ भी हैं, या सम्भव है कि जंगली और पिशाच परिजनों के कारण ही उनके बीच विवाह सम्बन्ध स्थापित । यह कहना कठिन है कि भारत की पूर्व-वैदिक संस्कृति का, जिसका अब सिन्ध में पता चला है, माता-देवी की कल्पना के विकास में, जिसे अब हम शक्ति के जानते हैं, कितना योगदान है, लेकिन बाद के काल में उसके अन्दर जिन गुणों की ना की गयी, उनको ध्यान में रखते हुए इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता स्थानीय तथा आदिवासी लोगों के धार्मिक विश्वासों से ही मातादेवी की पूजा का हुआ। सम्भव है कि उसके साथ जो बहुत सी चण्डिकाएँ सम्बद्ध थीं, उन्होंने बाद देवियों के रूप में दक्षिण भारत में यत्र-तत्र अपनी प्रतिनिधि देवियाँ छोड़ दी थीं न्हें माताओं (मातरः) का तथाकथित नाम केवल उनके पैशाचिक स्वभाव पर डालने के लिए दिया गया था, जिसकी पुष्टि सप्तमातृका फलकों में विनायक और के साथ उनके सम्बन्ध से होती है। अन्धकासुर के शरीर से टपकते हुए रक्त की को बीच में ही चाट लेने के लिए (क्योंकि पृथ्वी पर हर बूँद के गिरने से अन्धक नव उत्पन्न हो जाते) शिव ने जिन चंडिकाओं की सृष्टि की थी, उनकी एक बड़ी और इन चंडिकाओं को काबू में रखने के लिए नर-सिंह से पैदा होने वाली चंडिकाओं की छोटी-सूची **मत्स्य पुराण** में दी गयी है।

स देवी को सर्वोच्च पद कैसे प्राप्त हुआ, इसका कारण **मार्कण्डेय पुराण** के म्बन्धी परिच्छेदों में वर्णित वे अद्भुत कारनामे थे, जिनका श्रेय लोक-वार्ता में दिया गया था। महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ और निशुम्भ, चण्ड और मुण्ड

आदि राक्षसों की संहारिका होने के नाते, वह दरअसल अपने बल पर ही प देवगणों की पंक्ति में आ बैठी, जिस प्रकार रुद्र ने दक्ष के यज्ञ को भंग करके देव पंक्ति में प्रवेश किया था। और इस देवी की इस प्रतिज्ञा से कि वह राक्षसों करने के लिए बार बार आती रहेगी, लोगों को हठात् कृष्ण की वह प्रतिज्ञा याद है, जो उन्होंने अर्जुन के सामने की थी।

यह कहना पर्याप्त होगा कि जब शैव और शक्ति सम्प्रदायों में एक बार सम्बन्ध स्थापित हो गये, तो दोनों मतों के एक दूसरे में समाहित होने में अधिक नहीं लगा। ऐसी कहानियाँ मिलती हैं कि शिव की पहली पत्नी (दक्ष की बेटी का किस प्रकार उमा के रूप में पुनर्जन्म हुआ, किस प्रकार उसने अपने पति प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या की और किस प्रकार शिव और पार्वती का विवाह और कैलाश पर्वत पर उनका दाम्पत्य जीवन कितना आनन्दमय था, और जो प्रणय-जीवन में झाँकने की कोशिश करता था, जिसका कला में चित्रण उमा उमालिंगन और अर्धनारीश्वर की मूर्तियों में हुआ है, तो उसको कैसे भयंकर भुगतने पड़ते थे। शिव-शक्ति सम्प्रदाय के भँवर में केवल गणेश और कार्त्तिकेय खिंच आये, जो आगे चलकर इस दम्पति से पुत्रों के रूप में प्रस्तुत किये जाने लगे तारा का सम्प्रदाय भी खिंच आया, जो सम्भवतः बौद्ध-धर्मी था। कालान्तर में धर्म अत्यन्त जटिल हो गया और अनेक निम्न कोटि के धार्मिक विश्वासों और का उसमें प्रवेश हो गया।

शिव और शक्ति के सम्प्रदायों के बारे में एक बात स्पष्ट नजर आती है कि और शक्ति दोनों ही अपने कृपालु और भयंकर दोनों रूपों में पूजे जाते थे, और दोनों में आसानी से रिश्ता कायम करने में सहायता मिली। शिव के आठ कुछ **घोर** (विकराल) हैं, और कुछ **अघोर, सौम्य** या दक्षिण (दयालु) हैं; देवी के उमा, गौरी, पार्वती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता आदि रूप सौम्य-कृपालु के हैं और चामुण्डा, दुर्गा, (परवर्ती काल की नौ प्रकार की दुर्गाओं में से तथा काली और रात्रि से अन्त होने वाले नाम, जिनमें चण्डा भी शामिल है, कात्यायनी, भैरवी आदि रूप उससे ठीक विपरीत हैं। हमेशा की तरह नाग-स भी शिव-भक्ति की उपासना-पद्धति में प्रवेश करके अपना स्थान बना लिया, हमें बताया गया है कि दुर्गा के वक्ष पर सर्प की केचुकी बंधी है, और रस्सी के वह भैंसासुर को बाँधती है, वह भी सर्प है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्भवतः कल्पना के अनुसार वह सारी शक्तियों (सप्त मातृकाओं) से मिलकर बनी एक या उस काल में जिन प्रमुख देवताओं की पूजा होती थी, उनकी शक्तियों (ब्राह्मी), महेश्वर (माहेश्वरी), कुमार (कौमारी), विष्णु (वैष्णवी), वराह (इन्द्र (इन्द्राणी) और यम (यमी या चामुण्डा) और साथ ही शिव (योगेश्वरी संयुक्त रूप थी, लेकिन परवर्ती कल्पना इससे बिलकुल उल्टी थी, क्योंकि यह किया जाने लगा कि वह अपने में ही इन सारे रूपों को समाहित करके अपना

रूप धारण करने में समर्थ थी, जिससे सारी सृष्टि में उसके पालन और प्रक्रियाएँ जारी होती हैं। इस विश्वास से तन्त्र-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जिसका अगली जिल्द में किया जायेगा।

श्वरी का पद प्राप्त कर लेने के बाद देवी या दुर्गा का विकराल रूप (जो उसके निर्माण की आदि सामग्री थी)——स्वयं अपने नारी-स्वभाव के कारण समाप्त हो गया। माता देवी (अम्बा) के पास, उसके दयालु स्वभाव और की तरह अपने पुत्रों का भरण-पोषण का प्रबन्ध करने के कारण, उसके आत्मविश्वास के साथ जाते हैं। इसलिए जब उसके कृपालु स्वभाव का बढ़ने लगा और इस देवी का रंगहीन, विकराल व्यक्तित्व, जिसके साथ केवल के लिए नारीत्व जोड़ा गया था, समाप्त हो गया, तो उसकी आकृति को अधिक से आवृत किया जाने लगा और उसे फौरन एक नर देवता के साथ उसकी रूप में सम्बद्ध कर दिया गया। और जब एक विवाहित नारी के रूप में उसकी कर ली गयी तो उसके मातृत्व की अवधारणा स्वाभाविक बात थी, और तथा गणेश उसके पुत्र मान लिये गये।

देवी के विभिन्न रूपों की मूर्तियाँ सारे भारत में मिली हैं। बंगाल, या आम- पूर्वीभारत, शक्ति सम्प्रदाय का गृह-प्रदेश था, इसलिए यह स्वाभाविक है कि में देवी के विभिन्न रूपों की मूर्तियाँ अधिक संख्या में प्राप्त होतीं। मिथक की दृष्टि से ये मूर्तियाँ मुख्यतः शिव से सम्बद्ध हैं, लेकिन उनमें कुछ वैष्णव-धर्मी वाली मूर्तियाँ भी हैं। उमा, हैमवती, पार्वती, अम्बिका आदि नामों से दुर्गा मुख्यतः शिव की संगिनी थी; लेकिन अपने कुछ रूपों में, जैसे एकानंशा या में, वह वासुदेव कृष्ण की बहन भी मानी जाती थी। हिन्दुओं के अनेक देवताओं, महेश्वर (शिव), विष्णु आदि की देव-कल्पनाओं के पीछे देवी एक संचालक के रूप में विद्यमान है और उसे सामूहिक रूप से दिव्य मातृकाएँ या "सप्तमातृकाएँ" जाता था, जिनके ब्रह्माणी आदि व्यक्तिगत नामों का ऊपर उल्लेख किया जा है। शिव की तरह उसकी मूर्तियों को भी दो वर्गों में बांटा जा सकता है——उग्र म्य। अपने उग्र रूप में वह मुख्यतः महिषासुरमर्दिनी के रूप में प्रसिद्ध है। इस के गिर्द एक बड़ी मिथक कल्पना गुंथती चली गयी और उसके विकराल रूप की मूर्तियों में पुराणों में वर्णित कहानी को रूपायित किया गया है। महिषासुर- की जो मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, उनमें से किसी को भी गुप्तकाल से पहले की तारीख खा जा सकता। भिटा में पत्थर की जो लघु-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें देवी के की सबसे प्राचीन मूर्तियाँ कहा जा सकता है। इनमें वह दो या चार भुजाओं और उसको बिना किसी अनुचर के, अकेले, महिषासुर से युद्ध करते हुए गया है। आगे चलकर उसकी मूर्तियों में एक सिंह भी दिखाया जाने लगा, र वह सवार होती है और जो भैंसे की टूटी हुई पीठ पर उभरते हुए सुर पर हमला करता हुआ दिखाया जाता है। साथ ही बाद की इन मूर्तियों में

विभिन्न प्रकार के हथियार (प्रहरण) पकड़े दुर्गा की भुजाओं की संख्या बढ़ी लेकिन भुजाओं में अभिवृद्धि करते जाने की यह कल्पना भी प्राचीन है, और उसकी की सबसे प्राचीन मूर्ति उदयगिरि के गुफा-मन्दिर के पुरोभाग पर मिलती है, उसकी बारह भुजाएँ हैं। इस प्रकार की साम्प्रदायिक मूर्तियों में भुजाओं की संख्या रूप से नहीं बढ़ायी जाती थी, इसका पता लक्षणा की सुन्दर कांस्य-मूर्ति की खुदे हुए लेख से लगता है, जो फोगेल (Vogel) को उत्तरी भारत के एक पहाड़ी चम्बा में मिली थी। इस मूर्ति में देवी को महिषासुर की गर्दन में त्रिशूल दिखाया गया है, जिसे देवी ने अपने एक पाँव के नीचे दबा रखा है और जिसकी अपने एक हाथ से पकड़ रखी है। इस मुद्रा का जो भिटा की एक उभार-मूर्ति में रूप से देखने को मिलती हैं, **चण्डी** (मार्कण्डेय पुराण के सात सौ श्लोकों में इस वर्णन करने वाली **दुर्गा-सप्तशती**) में हू-ब-हू इसी प्रकार वर्णन किया गया है: **सारूढा तं महासुरम्। पादेनाक्रम्य कंठे च शूलेनैनमताडयत्** अर्थात् (देवी) कूद कर उस विशाल दानव के शरीर पर चढ़ गयी और उसकी गर्दन में पाँव मारकर वहाँ अपना त्रिशूल भोंक दिया (या, एक पाँव के नीचे उसे दवाकर में त्रिशूल भोंक दिया)।[1] मामल्लपुरम् की उभार-मूर्तियों में देवी और असुर की विभिन्न अवस्थाओं को बड़े मार्मिक ढंग से अंकित किया गया है। उनमें एक मूर्ति में आठ भुजाओं वाली देवी, अपने अनेक अनुचरों के साथ (ये हू-ब-हू शिव शक्ल के हैं, ठिंगने, और बड़े पेट वाले) भैंसे के सिर वाले असुर और उसके से मल्ल-युद्ध करती हुई दिखाई गयी है। दूसरी उभार-मूर्तियों में देवी को असुर हुए सिर पर खड़ा दिखाया गया है, कुछ में उसके अनुचर साथ हैं, कुछ में वह और वह अपने आठों हाथों में युद्ध के विभिन्न अस्त्रशस्त्र पकड़े हुए है, जिनमें **शंख** भी हैं, जो वैष्णवी लक्षण दर्शाते हैं।

शिव की अपेक्षा देवी के उग्र रूप की मूर्तियाँ संख्या में बहुत कम हैं, लेकिन **सौम्य** रूप की मूर्तियाँ विविध प्रकार की हैं, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख उसकी एक प्राचीनतम **सौम्य** मूर्ति मामल्लपुरम् के एक फलक में देखने को जिसमें उसे एक छत्र के नीचे खड़ा दिखाया गया है। उसकी चार भुजाएँ हैं— हाथों में शंख और चक्र है तथा अगले हाथ **अभय** और **कटिहस्त** मुद्राओं में हैं— घेर कर **गण** खड़े हैं, साथ ही दो मानव आकृतियाँ बैठी हुई दिखायी गयी हैं, दाहिनी ओर की आकृति को अपना सिर काट कर उसको भेंट करने की मुद्रा में गया है। इस उभार-मूर्ति का यह विशिष्ट अंश बहुत दिलचस्प है, क्योंकि यहाँ मूर्ति में भी एक तान्त्रिक तत्त्व का प्रवेश दिखाई देता है।[2]

दुर्गा की लोकप्रियता का कुछ हिस्सा उसके दोनों पुत्रों, कार्त्तिकेय और

---

[1] मार्कण्डेय पुराण, ८३, ३७।

[2] टी. ए. जी. राव—**एलिमेंट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी**, I, प्लेट. सी.

प्राप्त हुआ। सन् ४१४ ई० के अभिलेख में कार्त्तिकेय के लिए बनाये गये एक में, जिसका नाम स्वामी महासेन था, एक गैलरी (प्रतोलि) जोड़ने का उल्लेख है। कदम्ब राजा इस देवता के परम भक्त थे, जबकि यौधेयों ने उसको **कलश** के प्रतीक प्रदान कर दिये थे, जो लक्ष्मी के स्मारक प्रतीक हैं। यह भी ध्यान बात है कि गुप्त-सम्राट कुमारगुप्त ने गरुड़ के स्थान पर मयूर के प्रतीक का किया था, जो उसके नामराशि देवता का वाहन है। दक्षिण भारत में कार्त्तिकेय सुब्रह्मण्य के नाम से होती थी। यह देवता प्रत्यक्षतः एक पुराने देवता ब्रह्मण्यदेव माना जाता है। दक्षिणापथ में कार्त्तिकेय की व्यापक लोकप्रियता का एकमात्र शिव के साथ उसका सम्बन्ध था और जिसके समान ही उसके अनुचर भी उपद्रवी विकृत आकृतियों वाले कुमारक थे, जो बच्चों को दुख और व्याधियाँ देते थे। के मन्दिर अक्सर पहाड़ी की चोटी पर होते थे और विभिन्न आयाम वाले नगरों उसकी मूर्तियाँ भी विभिन्न प्रकार की बतायी गयी हैं। उत्तर भारत में मिलने वाली गुप्तकाल और मध्ययुग की कार्त्तिकेय की मूर्तियों में अधिक वैविध्य नहीं मिलता। में उसको अक्सर दो हाथों वाला और अपने वाहन मयूर (शिखी परवाणी) दिखाया गया है, उसके एक हाथ में तुरंज (मातुलुंग) और दूसरे में भाला ?) होता है।[1] किसी किसी मूर्ति में उसको अपनी दोनों पत्नियों, देवसेना और के साथ दिखाया गया है और उसकी चार भुजाएँ हैं।

र्त्तिकेय से विपरीत, कालान्तर में गणेश का एक अपना सम्प्रदाय पैदा हो गया, णपत्य सम्प्रदाय कहते थे। इस काल में उसकी महत्ता बढ़ती गयी। यद्यपि **याज्ञ-** संहिता में प्रदत्त गणपतिप्रकरण की प्रामाणिकता पर कभी कभी सन्देह किया है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि गणेश का सम्प्रदाय उसके दोनों **गणेश्वर** और रूपों में **मानव-गृह्य-सूत्र** में प्रतिपादित किया गया था। वहाँ उसके चार नाम गये हैं—उस्मित, देवयजन, शालकटंकट और कूष्माण्डराजपुत्र—और इस उपद्रव करने वाले देवता को प्रसन्न रखने की सलाह दी गयी है। **याज्ञवल्क्यसंहिता** में नामों के स्थान पर मित और सम्मित नाम दिये गये हैं, और तीसरे और चौथे को दो-दो हिस्सों में बांट दिया गया है, अर्थात् शाल और कंटक, कूष्माण्ड और । **बृहत्संहिता** अभी भी उपद्रवी गणों और विनायकों से ही परिचित लगती है। चलकर गणेश एक अकेला व्यक्तित्व बन गया और रुद्र के उपद्रवी अनुयायियों) का नेता मान लिया गया। लेकिन उसके रूपों की अनेकता फिर भी प्रचलित बाद में उसके पचास रूपों का भी सन्दर्भ मिलता है। यह उसके सम्प्रदाय के का सूचक है। कहा जाता है कि अद्वैतवाद के महान् प्रतिपादक शंकराचार्य ने में उस मत के छह अनुभागों के समर्थकों को हराया था। ये लोग गणपति के

---

[1] भूमरा शिव-मन्दिर की "चैत्य खिड़की" में कार्त्तिकेय की बिलकुल ऐसी ही मूर्ति मिलती है। स. इ., १६, फ. xiii डी.)।

महा, हरिद्रा, स्वर्ण, सन्तान, नवनीत और उन्मत्त-उच्छिष्ट रूपों के उपासक थे। बाद के मूर्तिकला सम्बन्धी ग्रन्थों में इस गज-मुख और घटोदर-देवता के वि का वर्णन ही नहीं मिलता, बल्कि उनमें अनेक नये रूपों की सूची और उनका दिया गया है। लेकिन इनमें से अधिकांश मूर्ति-समूहों का केवल किताबी म क्योंकि उनमें से बहुत कम को ही कला में रूपायित किया गया है। गुप्त और गुप्त कालों की उपलब्ध गणेश-प्रतिमाओं को हम व्यापक रूप से तीन वर्गों में हैं; **स्थानक** (खड़ी हुई), **आसीन** (बैठी हुई) और **नृत्य** (नाचती हुई)। संख्या में, भारत के विभिन्न भागों में, मध्य युग के आरम्भिक और अन्तिम इनमें से एक या दूसरे वर्ग की, गणेश-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतिमा व्यापक लोकप्रियता का कारण यह था कि सारी बाधाएँ दूर करने और प्राप्त कराने वाले इस देवता की पूजा केवल ब्राह्मण-प्रधान सम्प्रदाय ही नहीं बल्कि बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक धर्मों के अनुयायी भी करते थे। दरअसल बौद्ध लम्बी ही इस देवता की मूर्ति को सुदूर पूर्व के देशों और हिन्देशिया में प्रचलित लिए जिम्मेदार थे। गणपति की प्राचीनतम मूर्तियों में मथुरा की वलुआई प्रतिमा है, जिसमें गणेश को नग्नावस्था में खड़ा दिखाया गया है। उसकी प्राचीन मूर्ति भीटरगाँव के ईटों वाले मन्दिर पर पक्की मिट्टी के फलक पर जिसमें उसे एक असामान्य मुद्रा में दिखाया गया है—हवा में उड़ते हुए, उसके से एक हाथ में मिठाइयों की हंडिया है, जिसमें उसकी सूंढ़ घुसी हुई है, जो उस आकृतिमूलक विशेषताओं की शिनाख्त में मदद करती है।[1] गणपति की ये दोनों गुप्तकाल के प्रारम्भिक जमाने की हैं और इन दोनों मूर्तियों से, छटी सदी ई० में गये भूमरा के शिव-मन्दिर के ध्वंसावशेषों में मिली गणपति की दो बैठी हुई प्र की, जिनमें से एक दो भुजाओं वाली और दूसरी चार-भुजाओं वाली है, तुलना होगी। इनमें से बाद वाली मूर्तियों में उनका सम्प्रदाय से सम्बन्ध साफ नजर जबकि पहले की मूर्तियों में उस पर कतई जोर नहीं दिया गया। दुर्भाग्य से ये बुरी तरह टूटी फूटी अवस्था में हैं।[2] गणेश की अनेक प्राचीन पत्थर, धातु और मिट्टी से बनी प्रतिमाएँ पाहारपुर में मिली हैं। उनमें से एक धूसर वलुआई मूर्ति गुप्तकाल के अन्तिम समय की है। उसमें गणेश को बैठे हुए दिखाया उसके चार हाथों में अलग अलग एक सुमिरनी, एक मूली, एक त्रिशूल और जनेऊ की तरह लिपटे एक साँप की पूंछ है। एक चूहे की आकृति, जो इस देव विचित्र वाहन है, बड़े फूहड़ ढंग से पीठिका पर बनायी गयी है और गणेश के पर लाजेन्ज की शक्ल के तिलक से उसकी तीसरी आँख का संकेत दिया गया है।[3]

---

[1] मथुरा और भीतरगांव की गणेश प्रतिमाओं के बारे में देखिए, ए. गेट्टी— आ. स. इ., १९०८-०९, चित्र. २।

[2] मे..आ. स. इ., १६, फ. xii (ए), xv (ए, वी)।

[3] मे. आ. स. इ., ५५, फ. xxxii (d)।

में लगे हुए प्रतीकों में कहीं कहीं अन्तर भी देखने को मिलता है, और उसके हाथों र लड्डुओं (मोदक) की हंडिया, पाण्डुलिपि, कलम, हाथी का टूटा हुआ दांत, ड़ी आदि भी होते हैं ।

४. वैष्णव देवता

दुर्गा, कार्त्तिक और गणेश जैसे नये देवताओं के पैदा हो जाने के बाद कुछ पुराने ताओं की प्रतिष्ठा खत्म हो गयी । इनमें से एक उल्लेखनीय मिसाल संकर्षण है । व्यवहारतः कृष्ण के भाई बलराम के साथ अभिन्न हो गया; और यद्यपि उसका कुछ महत्त्व बाकी रह गया था, लेकिन अब वह केवल विष्णु के एक अवतार या देव-कृष्ण की व्यूह-आकृतियों में ही दिखाया जाने लगा । इसके साथ ही प्रद्युम्न और रुद्ध को रखा जाता है, जो कृष्ण के बेटे और पोते थे और जिन्होंने आपस में वासुदेव णों को बांट लिया था ।[1]

पांचरात्र स्कूल के विकास के साथ साथ समुद्भूत देवताओं को भौतिक और आत्मिक जगत् की विकास-प्रक्रिया, यहाँ तक कि परमात्मा के विभिन्न अवतारों के सिलसिले में और अधिक व्यापक और जटिल कार्य सौंप दिये गये । इस योजना में लक्ष्मी लिए भी एक अलग स्थान सुरक्षित रखा गया, क्योंकि उसे विष्णु की शाश्वत संगिनी न लिया गया था, यद्यपि कभी कभी उसके साथ विष्णु की अन्य सपत्नियों, भूमि और ला को भी रखा जाता था, सृष्टि की योजना में जिनके अपने निश्चित कार्य थे । इसी कार बलदेव सृष्टि का सर्वव्यापी तत्त्व बन गया, जबकि वासुदेव एक लोकोत्तर देवता था, ऐसा कि जो हेगल के शब्दों में सृष्टि से पहले था । पुरुष सूक्त में यदि यह माना गया है कि परमात्मा में चार अंश हैं तो स्वाभाविक है कि दो अन्य अंशों को भी भर दिया जाय और शायद इसीलिए वासुदेव और संकर्षण के साथ प्रद्युम्न और अनिरुद्ध जोड़े गये । संकर्षण अब तापस सम्प्रदाय का देवता नहीं रहा, क्योंकि यह माना जाने लगा कि वह निरन्तर मतवालेपन की अवस्था में रहता है और इतने भयंकर क्रोधी स्वभाव का है कि उसने ब्राह्मण की हत्या का पाप कर डाला । **ताल** शायद इसीलिए बलराम के लिए चुना गया था, क्योंकि वह हमेशा मद्य के नशे में चूर रहता है; सम्भव है कि **ताल** के साथ सम्बन्धित होने के कारण उसे मद्यपायी माना गया हो । उसे पहले की तरह ही वासुदेव के साथ पेश किया जाता है; सिर्फ एक नयी बात हुई कि मूर्तियों में उसके साथ एक नारी को भी दिखाया जाने लगा । **बृहत्संहिता** में इस नारी को एकानंशा का नाम दिया गया है, और दोनों पुरुषों के साथ मिलाकर पुरी के मन्दिर की जगन्नाथ-सुभद्रा-बलराम वाली त्रिमूर्ति का मॉडल तैयार किया गया । लेकिन बलराम निश्चित रूप से धार्मिक क्षेत्र से गायब हो गया, और यद्यपि उत्तरी बंगाल के पाहारपुर की खुदाई में बलराम की बहुत सारी मूर्तियाँ मिली हैं, लेकिन वह देखने में देवता नहीं मालूम देता, सिर्फ कृष्ण

---

[1] ऊपर देखिए, जि. II, पृ. ४४७ प. पृ. (अंगरेजी संस्करण) ।

का भाई ही नजर आता है। वैसे पाल-वंश के जमाने तक उसे चार भुजाओं
दिखाया जाता था, जो शायद उसकी असाधारणता का सूचक था। इसके बाद
धर्मोत्तर पुराण में प्रतीकात्मकता पैदा करने की कोशिश की गयी, जहाँ वासुदेव,
प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को विष्णु के चार मुखों के रूप में प्रस्तुत किया गया और कहा
कि वे क्रमशः विष्णु के **बल, ज्ञान, ऐश्वर्य** और **शक्ति** के प्रतीक हैं। आगे चलकर
गया है कि बलराम के अस्त्र अर्थात् **लांगल** (हल) और **मूसल** क्रमशः काल और
का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस काल में आकर लक्ष्मी भी निश्चित रूप से एक साम्प्रदायिक देवी बन
यद्यपि उसके एक अमूर्त्त नाम **श्री** के कारण उसके नाम को अन्य अमूर्त्त गुणों की
रखने में सहायता मिली, जैसे ह्री (शील), मेधा (प्रतिभा), धृति (सन्तोष),
(विकास), क्षान्ति (क्षमा), लज्जा, कीर्ति, भूति (सम्पन्नता), रति (प्रेम)
यह कोई नयी चारित्रिक विशेषता नहीं थी, क्योंकि वेदों और महाकाव्यों में अमूर्त्त
का देवीकरण करने की प्रथा साधारण थी; लेकिन देवताओं और असुरों के नामकरण
लिए अमूर्त्त गुणों के प्रयोग की प्रथा ब्राह्मणों में उतनी हद तक प्रचलित नहीं हो
जितनी जरथुष्ट्र के अनुयायियों में थी, और श्री कभी भी उतनी अमूर्त्त नहीं बन
जितनी कि मिसाल के लिए श्रद्धा या उपर्युक्त अन्य देवियाँ थीं। राजाओं
संरक्षण-देवी (राजलक्ष्मी) नगरों की संरक्षक-देवी (नगरलक्ष्मी) और राज
(या कमला) की भूमिका व्यक्त करने वाले उसके रूप प्रचलित रहे, जैसा
और बसाढ़ की खुदाइयों, हिन्द शक (पखलवदि देवता) और गुप्त सम्राटों के
से जाहिर होता है।

कुछ देवियों को प्रमुख देवताओं की अनिवार्य पत्नी मानने की प्रवृत्ति का
यह हुआ कि श्री और सरस्वती जैसी देवियों के अनेक विवाह-सम्बन्ध कर डाले
जैसा ऊपर लिखा जा चुका है,[1] श्री और लक्ष्मी (दो अलग व्यक्तियों के रूप में मानने
वाजसेनयी संहिता में आदित्य की दो पत्नियों के रूप में सामने आती हैं। बाद की
में श्री और महाश्वेता को सूर्य की प्रतिमा की दूसरी तरफ उसकी दो पत्नियों के
दिखाया गया। इसके भी बाद, उत्तरी भारत ((विशेषकर बंगाल) में कल्पना की
कि लक्ष्मी और सरस्वती विष्णु की दो पत्नियाँ हैं, जिन्हें मूर्ति के अन्दर विष्णु की
के दोनों ओर दिखाया जाने लगा। दुर्गा, अम्बा, देवी या एकानंशा से भी लक्ष्मी
अभिन्नता स्थापित की गयी। यहाँ तक कि स्कन्द की पत्नी देवसेना का एक नाम
भी है और बाद में चलकर कुबेर ने भी दावा किया कि वह उसकी पत्नी है।
लोगों का आमतौर पर यही विश्वास था कि वह विष्णु की पत्नी है और कुछ पुरा
उसे विष्णु की सर्जनात्मक क्रिया भी माना गया। **विष्णुधर्मोत्तर** में कहा गया है कि
पर चढ़ाने के लिए भेंट केवल उसको ही देनी चाहिए जो पांचरात्र सिद्धान्त का पूर्ण

---

[1] जि० II, पृ० ४७० (अंगरेजी संस्करण)।

और एहोल में विष्णु-मन्दिरों की सरदलों (सोहावटियों) पर उसकी की गयी है और बाद में तो उसका पद इतना नीचे गिर जाता है कि में ब्रह्मा के मन्दिर में उसे **परिवार-देवताओं** की पंक्ति में खड़ा कर दिया अभी तक उसके प्रति पुरुषों की श्रद्धा कायम है तो इसलिए कि वह एक ऐसी नारी का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे अपने पति से गहरा प्रेम है और पति की सेवा में संलग्न रहती है; साथ ही, उसे ऐश्वर्य की देवी माना जाता प्राप्ति के लिए सभी धार्मिक सम्प्रदाय समान रूप से प्रयत्नशील रहते हैं।

५. अन्य फुटकल देवता

के विभिन्न भागों में फुटकर देवताओं की मूर्तियाँ, जो थोड़े बहुत रूप में सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं, काफी बड़ी तादाद में मिली हैं। उनमें से कुछ निस्सन्देह केवल क्षेत्रीय या स्थानीय हैं, लेकिन कुछ अखिल भारतीय कोटि जो अखिल भारतीय कोटि के देवता हैं, चार बड़ी और चार छोटी संरक्षक हैं। मामूली स्थान-भेद के साथ, इन दिक्पालों में पूर्व का संरक्षक इन्द्र, संरक्षक यम, पश्चिम का संरक्षक वरुण और उत्तर का संरक्षक कुबेर है तथा का संरक्षक अग्नि, दक्षिण-पश्चिम का संरक्षक निर्ऋति, उत्तर-पश्चिम का और उत्तर-पूरब का संरक्षक ईशान हैं। इन नामों पर एक नजर डालते ही कि कुबेर और ईशान के अलावा, जिनका वैदिक साहित्य के अन्तिम ही उल्लेख मिलता है, बाकी सारे प्रमुख वैदिक देवता हैं, जिन पर वैदिक अत्यधिक श्रद्धा थी। इन्द्र या शक्र की प्राचीनतम मूर्तियाँ मध्य-भारत, दक्षिणापथ और उत्तर-भारत के सीमान्त प्रदेश के बौद्ध-स्मारकों में । शुंग वंश के आरम्भ काल के भाजा-चैत्य के बरामदे में उत्कीर्ण एक हार की मूर्ति को, जिसके हाथ में कमल का फूल है और जो एक विशाल है, और जिसके साथ उसका चोबबरदार है, अधिकांश विद्वान् इन्द्र की सबसे मानते हैं। गन्धार प्रदेश के यूनानी शैली के इन्द्र के सिर पर एक विचित्र टोपी है (सम्भवतः वह भारतीय किरीट-मुकुट का विदेशी रूपान्तर एक हाथ में एक विचित्र प्रकार का वज्र है।[1] इन्द्र की मूर्तिगत विशेषताएँ में वज्र और उसका वाहन हाथी। **बृहत्संहिता** और **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** में विशेषता का वर्णन किया गया है—ललाट के बीच में रखी तीसरी आँख। मुख्य टीले के तहखाने में मिली धूसर पत्थर पर उभार-शैली में अंकित इन्द्र की है, जिसमें वह हाथी पर सवार है और उसकी विचित्र ढंग से मस्तक

की उभार-मूर्ति के लिए देखिए, हि. इ. इ. आ., फ. viii. लेकिन जॉन्स्टन का मूर्ति मार की है, जो अपने गिरिमेखल हाथी पर सवार है (ज. इ. सो.ओ. आ. vii, के शक्र या इन्द्र के लिए देखिए, **ग्रूनवेडेल ऐंड बर्गेस-बुधिस्ट आर्ट** चित्र-४०, ९।

के बीच में रखी तीसरी आँख भी बनी है। तहखाने की अन्य मूर्तियों में अग्नि, या कुबेर को भी आसानी से पहचाना जा सकता है। उन्हें अपनी मूर्तिगत वि के साथ दिखाया गया है, जिनकी आकृतियाँ परवर्ती काल में भी अधिक अच्छी अवस्था में सुरक्षित भारत के वैष्णव या शैव मन्दिरों में अष्टदिक्पालों के बाहरी दीवारों के विभिन्न भागों में उत्कीर्ण मिलती हैं।

यहां पर संक्षेप में भी उन असंख्य दूसरे देवताओं की मूर्तियों का सम्भव नहीं है, जो किसी न किसी रूप में ब्राह्मण प्रवर्तित देवकुल से इनमें से बहुत से देवताओं और देवियों की भरती जन-जातियों के लोक- गयी थी और यद्यपि उनको रूढ़िवादी दृष्टिकोण से व्यन्तर-देवता (अर्ध- जाता था, लेकिन इन मूर्तियों को भारत के अधिकांश लोग कम श्रद्धा और पूजते थे। यक्षों, नागों, गन्धर्वों, विद्याधरों और अप्सराओं की अपनी वि आकृतियाँ थीं और स्थापत्यकला में इनका विशिष्ट उपयोग था, अर्थात् धार्मि के विभिन्न भागों में उनको प्रदर्शित किया जाता था। यक्षों और नागों की पूर्व काल में या ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में बनायी जाती थीं, और प्रारम्भ में ये मूर्तियाँ ही एक वर्ग के भारतीयों की उपास्य वस्तुएँ थीं। लेकि देवकुल की तरह धीरे-धीरे यक्षों और नागों को भी मुख्य ब्राह्मण प्रधान देवताओं और देवियों के मातहत गौण देवता बना दिया गया। शैव मन्दिरों इस्तेमाल द्वारपालों के रूप में किया गया। नागों को एक या दो की जोड़ी के की सजावट के काम में लाया गया और एक नाग का विशेष रूप से की शैया के रूप में इस्तेमाल किया गया। गन्धर्वों, विद्याधरों और अप्सराओं मुख्य देवताओं की **प्रभावली** के ऊपर सुन्दर अलंकरण में किया गया। गुप्त तो नदी-देवियों, गंगा और यमुना, की आकृतियाँ गुप्त-विनिर्मित मन्दिरों के पर सबसे ऊपर उत्कीर्ण की जाती थीं, लेकिन बाद में उनको निचले भागों में लगा। लेकिन उनकी अलग मूर्तियाँ भी बनती थीं और पाहारपुर के तह यमुना की उभार-शैली की मूर्ति और ईश्वरीपुर और देवपारा में मि असाधारण मूर्तियों का सन्दर्भ यहाँ उल्लेखनीय है।[2] नागदेवी मनसा की मू गोद में एक बालक है और ऊपर सर्प-फनों का छत्र है; फूहड़ देवी ज्येष्ठा जिसके साथ उसके गोजातीय बेटे और काकध्वज हैं; लेटी हुई मातृदेवी की की मूर्तियां, जिसकी बगल में लेटा बच्चा उसका दूध पी रहा है और समूह ऊपर से दर्शक के रूप में देख रहा है, भारत के विभिन्न भागों में प्राप्त उनमें से अनेक को स्पष्टतः क्षेत्रीय किस्म की मूर्तियाँ कहा जा सकता है। अपनी उपास्य वस्तुओं को मूर्त्त रूप देने में हमेशा आनन्द का अनुभव

---

[1] हि. ब. आर., I, पृ० ४६२-६४ और फलक।

[2] वही, पृ० ४६१-६२ और फलक।

न के प्रति उनके मन में इतना गहरा प्रेम रहा है कि उन्होंने अपने देवताओं के शरण किए हुए प्रतीकों को भी मानवीरूप प्रदान कर दिया। लेकिन धार्मिक मूर्त के प्रति इस प्रेम को कोरी और पक्की मूर्ति-पूजा का नाम देना भारी गलती ब्राह्मणधर्मी हिन्दुओं और उनके बौद्ध और जैन भाइयों ने दरअसल अपनी और देवताओं की अनुभवगम्य और इन्द्रियगोचर मूर्तियाँ बनाकर तर्क-संगत कता का श्रेष्ठतम प्रयोग किया था।

(छ) पाश्चात्य देशों से आने वाले नये धार्मिक सम्प्रदाय

त्य जगत् के साथ भारत के अन्तरंग समागम का एक परिणाम यह भी था त्र से विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के लोग भारत में आकर बस गये। अन्य अनेक प्रवासियों से इन नये धर्मों के अनुयायियों में अन्तर यह है कि इन्होंने यहाँ बस गातार अपनी अलग हस्ती कायम रखी, जबकि पहले किस्म के विदेशी भारतीय पूरी तरह विलीन हो गये और उनके पूर्व-अस्तित्व का कोई चिह्न भी शेष नहीं ठवीं सदी से पहले ऐसे तीन समुदाय आकर भारत में बसे थे: सीरियाई ईसाई, और पारसी। इस जिल्द में जिस काल के इतिहास को समेटा गया है, पारसी के बाद ही बड़ी संख्या में आकर बसे थे। लेकिन सन् ७५० ई० से पहले ही र मुसलमान भारत की आबादी का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन चुके थे। इस उनकी प्रारम्भिक बस्तियों का संक्षिप्त विवरण दिया जाएगा और अगली ारसियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जाएगा।

१. मुसलमान

त्य काल में भारतीय जीवन में एक नये धार्मिक तत्त्व का प्रवेश हुआ। यह इस्लाम था, जिसका प्रवर्त्तन यद्यपि पैगम्बर मुहम्मद ने सन् ६१० ई० में किया अरब की भूमि में वह सन् ६३० ई० तक गहरी जड़ें नहीं पकड़ सका था। के प्रारम्भिक इतिहास में दो ऐसी विशेषताएँ थीं, जो उसको इतिहास में पैदा अन्य धर्मों से विशिष्ट बना देती हैं। पहली विशेषता तो स्वयं पैगम्बर का न-चरित है, जिन्हें अन्य धर्मों के संस्थापकों से विपरीत, कई बार अपने ही लोगों सैन्य अभियान चलाने पड़े थे, जब तक कि उन्होंने उनका धर्म स्वीकार नहीं । दूसरी विशेषता थी, अन्य तत्कालीन धर्मों के विरुद्ध उनकी घोर असहिष्णुता। में मक्का पर अन्तिम विजय प्राप्त करने के बाद उन्होंने उसके महान् मन्दिर किया और उसमें रखी सारी मूर्तियाँ तोड़ दीं, जिनकी संख्या तीन सौ साठ ाती है और चिल्लाकर कहा: "सच प्रकट हो गया और झूठ गायब हो गया।"[1]

---

[1] पी. के. हिट्टी, हिस्ट्री आफ दि अरब्स, पृ० ११८।

इस्लाम की (युयुत्सु) प्रवृत्ति और दूसरे धर्मों के प्रति, विशेषकर जिनमें मूर्तिपू है, उसकी घोर असहिष्णुता ने एक-एक कदम पर उसके परवर्ती इतिहास निर्धारित किया, खास तौर पर भारत में ।

खलीफाओं द्वारा—जैसा पैगम्बर के उत्तराधिकारियों को पुकारा जा चलाये गये विभिन्न युद्धों के कारणों का विवेचन करना या उनके औचित्य और वार्यता की चर्चा करना, इस पुस्तक की विषय-सीमा से वाहर है । लेकिन इ इनकार नहीं किया जा सकता कि इस्लाम का प्रसार कम से कम उसके प्रारम्भिक शताब्दियों में, अनिवार्यतः सैन्य विजयों के वाद ही हुआ था । ऐतिहासिक प्रमाणों का सम्बन्ध है, एशिया, अफ्रीका और योरप के देशों में इ अपने पाँव जमाने की जगह तभी मिल सकी, जब खलीफा की फौजों ने उन्हें प नीतिक रूप से जीत लिया, और इस सीमा से वाहर उसका प्रसार नहीं हो सका । यह क्षेत्र बहुत बड़ा था, लेकिन जो बात ध्यान देने की है वह यह कि अन्य धर्मों के जिनके इतिहास से हम परिचित हैं, इस्लाम का धर्मप्रचारकार्य प्रायः उस सारे फैला होता था, जिस पर वह सैन्य बल से अपना राजनीतिक आधिपत्य जमा ऐसा नहीं हुआ कि किसी देश में पहले धर्म-प्रचारक गये फिर फौजें गयी हों, व प्रचारक फौजों के पीछे पीछे गये । यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं भारत इसका अपवाद था ।[1]

जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बहुत प्राचीन काल से भारत और जगत् के बीच समुद्री मार्ग से समागम होता आया था, जिसमें अरब और फारस थे; और हमारे पास निश्चित प्रमाण मौजूद हैं कि इन देशों में इस्लाम के फै

---

[1] जनाव एम० ए० गनी ने यह दिखाने की कोशिश की है (प्रो. ओ. का., X मुसलमान भारत में सन् ६३७ ई० में ही आ गये थे, और एक वड़ी संख्या में आकर बस गये सैनिकों के रूप में नहीं, बल्कि व्यापारियों और धर्म प्रचारकों के रूप में । उनके अनुसार भा उनकी जीवन-पद्धति की पवित्रता, नये धर्म के प्रति उनके उत्साह और सारी दुनिया के लो इन्सारी बिरादरी कायम करने के सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने वड़ी तादाद और उत्सुकतापूर्वक नया धर्म अपना लिया था, हर साल लगभग पचास हजार लोग इस्लाम थे । आगे चलकर हम इस वात का हवाला देंगे कि सन् ७१२ ई० में सिन्ध की विजय के बा मन पर इस्लाम का क्या प्रभाव पड़ा था, और हमारे पास इस सम्वन्ध में निश्चित निष्कर्ष लिए पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं । रही इस घटना से पूर्ववर्ती काल की वात तो मिस्टर एम० ए० में मुसलमानों के उपनिवेशों की और हिन्दुस्तानियों के साथ उनके सुखद सम्वन्धों की एक तस्वीर खींची है । दुर्भाग्य से उन्होंने जिस विद्वान् की पुस्तक के आधार पर अपने प्रमाण बुजुर्ग बिन शहरयार की पुस्तक **अजायब-उल-हिन्द,** जो दसवीं सदी में लिखी गयी थी के विश्व-कोश (Encyclopaedia of Islam) के अनुसार मात्र एक जहाजी है, जिनमें "हैरतअंगेज अतिरंजना से काम लिया गया है, हालांकि उनमें कुछ-कुछ सच्चाई सकता है।" इस प्रकार की पुस्तक पर आधारित विवरण को विचारणीय नहीं माना-जा कुछ चुटकुले, जिनको मिस्टर गनी ने विश्वसनीय मान लिया है, निश्चय ही बहुत बाद के हैं ।

पुराने सम्बन्ध बरकरार रहे थे। इसलिए बहुत सम्भव है कि मुसलमान व्यापारी, त के समुद्र-तटीय क्षेत्रों में आते थे, वहाँ थोड़े या लम्बे अरसे के लिए ठहरते हों, नमें से कुछ शायद वहाँ स्थायी रूप से वस भी गये हों।[1] लेकिन इस कथन के लिए श्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता, जैसा कुछ लोगों का दावा है, कि मुसलमान बड़ी ं आकर सातवीं सदी में ही मलाबार के तट पर वस गये थे। इस प्रकार का अनु- रूप से दक्षिण भारत के मोपला, नवयत और लब्बे लोगों के बीच प्रचलित ओं पर आधारित है;[2] लेकिन ये परम्पराएँ उसी कोटि की हैं, जिस कोटि की उस क्षेत्र के ईसाइयों में प्रचलित हैं, जिन्हें इतिहास के लगभग सभी विद्यार्थियों ठहराया है।

वीं सदी के आरम्भ में पहुँच कर ही हमें सिन्ध में मुसलमानों के बड़ी तादाद के कुछ कुछ प्रमाण मिलते हैं। **चच-नामा** में कहा गया है कि राजा दाहर के अरब सैनिक थे। वे मुसलमान थे और कहा जाता है कि खलीफा के दण्ड से लिए भागकर भारत में आये थे।[3] यद्यपि **चच-नामा** के इस वक्तव्य की पुष्टि

---

[1] श्री लंका से हज्जाज के लिए जाने वाले जहाज में (ऊपर देखिए पृ० १९३) कुछ मुसलमान ां, उन व्यापारियों की वेटियाँ, जिनकी लंका में मृत्यु हो गयी थी। (**बलाधुरी, चच-नामा,**)।

[2] मोपलाओं की उत्पत्ति के बारे में परम्परागत विवरण परस्पर भिन्न हैं। उनमें से कुछ को, में पश्चिमी तट पर आकर बसे थे, उस हाशेम की सन्तान बताया जाता है, जिसे पैगम्बर निर्वासित कर दिया था। कहा जाता है कि मलिक मदीना नाम का एक मुसलमान व्यापारी, ों के साथ आकर, मंगलोर में वस गया था। नवयतों में एक कहानी प्रचलित है कि उनके पूर्वज के अन्त में ईरान के गवर्नर के जुल्मों से बचने के लिए फारस की खाड़ी से भाग कर आये थे। की रचना **तुहफत-उल-मुजाहिदीन** में क्रंगानोर के एक राजा के बारे में अनुश्रुति जिसने इस्लाम कवूल किया था फिर वह अरव गया था और वहीं पर उसका देहान्त हुआ था। है कि उसकी मौत के वाद मलावार के सभी हिस्सों में इस्लाम फैल गया, २०० हजिरा अर्थात् (एम० जे० रॉलैंडशन कृत अनुवाद, पृ० ४७)। ये सारी परम्पराएँ बहुत बाद के काल की हैं सिद्ध करने के लिए, कि सातवीं सदी में मलावार में मुसलमानों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ रूप में पेश नहीं किया जा सकता, जैसा कुछ विद्वानों ने **स्टराक, साउथ कनारा, मद्रास मैनुअल्स,** पृ० १८०-८१; डॉ० ताराचंद, **इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम ऑन इंडियन** ३२) किया है। फ्रांसिस डे की, जिसने मलावार में प्रचलित कुछ परम्पराओं को दर्ज किया लोगों के इतिहास का अध्ययन किया है, राय है कि वहाँ पर "नवीं शताब्दी से पहले पाँव नहीं जमा सके थे।" (**दि लैंड आफ दि पेरुमाल्स,** पृ० ३६५)

[3] **चच-नामा,** I, ५५-५६. यह ध्यान देना दिलचस्प होगा कि अरब सैनिकों की इस यद्यपि नियमित रूप से दाहर से वेतन मिलता था, लेकिन उन्होंने अपने समानधर्मी अरबों से इन्कार कर दिया था (वही, १२७)। दाहर के सचिव वजिल (वही ७१) को भी कुछ लोग मानते हैं (इ. हि. क्वा. xvi. ५९७), लेकिन यह पूरी तरह निश्चित नहीं है। कुछ विचार है कि अमीर-उद-दौला भी, जिसे चच ने सिक्क के किले का गवर्नर नियुक्त किया था, (Elliot) द्वारा अनूदित (हि. इ. ई. डा., I. १४२) **चच-नामा** के एक पैरा से जाहिर

करने वाले अन्य प्रमाणों के अभाव में उसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, कि
इसे अस्थायी रूप से स्वीकार किया जा सकता है और भारत में मुसलमानों के आक्र
का एक सबूत समझा जा सकता है।

सन् ७१२ ई० में दाहर की हार और मुहम्मद-इब्न-कासिम द्वारा सि
विजय ने, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है,[1] मानो भारत के इस सुदूर
मुसलमानी उपनिवेशीकरण के द्वार खोल दिये। चूंकि हमारे पास सिन्ध पर अ
इस विजय का कोई समकालीन इतिहास नहीं है, इसलिए बड़े पैमाने पर मुसलमा
पहली बस्तियाँ कायम होने की कोई निश्चित तस्वीर खींचना हमारे लिए सम्भव
लेकिन अल्-बलाधुरी के विवरण और चचनामा में जो इक्के-दुक्के तथ्य दर्ज हैं,
हम एक आम अन्दाज लगा सकते हैं।[2]

इन विवरणों के आधार पर तर्कसंगत अनुमान यही हो सकता है कि
सदी के आरम्भ में सिन्ध के अन्दर मुसलमान अगर बसे भी हुए थे तो उनकी तादा
थी। मुहम्मद-इब्न-कासिम के, सिन्ध में, एक सिरे से दूसरे सिरे तक चलने वा
अभियानों के दौरान कहीं भी वहाँ के निवासियों में मुसलमान तत्वों का जिक्र नहीं
हालांकि कुछ ऐसे व्यक्तियों और कई धार्मिक सम्प्रदायों का जिक्र आया है, जिन
और ब्राह्मण-प्रधान मत दोनों शामिल हैं, और जिन्होंने इन अरबी हमलावरों
की थी। इसी तरह उन्हीं विवरणों से यह भी स्पष्ट है कि विजेताओं की यह सुवि
नीति थी कि सिन्ध में बस्तियाँ बसाकर या लोगों का धर्म-परिवर्तन कर इस्लाम
पर दबदबे की ताकत बना दिया जाए। आरम्भ से ही ये दोनों प्रक्रियाएं काम क
दीख पड़ती हैं। बलाधुरी[3] ने यह तथ्य दर्ज किया है कि देबल पर कब्जा करने
मुहम्मद ने मुसलमानों के लिए एक स्थान चुना, जहाँ उसने एक मस्जिद बनवा
चार हजार मुसलमानों को बसा दिया।

मुसलमान विजेताओं ने जानबूझकर गैर-मुसलमानों को अपमानित और
कित करने की नीति अपनायी थी और साथ ही लोगों को नया मजहब स्वी

है, मुसलमान था। लेकिन इस पुस्तक में जिस कालानुक्रम का अनुसरण किया गया है उसके अ
हिजरी से २४ साल पहले गद्दी पर बैठा था, इसलिए यह संभव नहीं कि उसके यहाँ किसी
आकर नौकरी की हो। इसके अलावा, इसी पैरा के **फ्रेन्डुनबेग** द्वारा किये गये अधि
अनुवाद में (I. २८) कहा गया है कि "चच ने राज्य के सबसे बड़े सामन्त को" न कि अमीर
नाम के किसी शख्स को "सिक्क के किले का आरजी तौर पर गर्वनर नियुक्त किया था।'

[1] देखिए, पृ० १९४।

[2] इनके लिए तथा अन्य प्रामाणिक विवरणों के लिए देखिए, आर. सी. मजुमदार
अरब इन्वेजन इन इंडिया, परि. II बलाधुरी की पुस्तक एक ऐतिहासिक विवरण के रूप में
में लिखी गयी थी और उसे काफी विश्वसनीय माना जा सकता है। वर्तमान रूप में जो चचनामा
है, वह बारहवीं सदी की रचना है। इसमें सिन्ध का अधिक विस्तृत ब्यौरा दिया गया है, लेकिन
विश्वसनीय नहीं है। मैंने एफ. एफ. मरगाटेन द्वारा किये बलाधुरी के अनुवाद, जि. II का इस्ते

[3] II. २१८।

दरजा और आर्थिक स्थिति बेहतर बनाने का प्रलोभन भी दिया था; फलतः लोगों ने इस्लाम कबूल किया था। हमारे पास इसका तो कोई प्रमाण नहीं है भी वक्त या हालत में सिन्ध के विजित लोगों को 'तलवार' या 'कुरान' में से चुनने का विकल्प दिया गया था, लेकिन मुहम्मद के नाम हज्जाज के पत्र में, ल्लेख चच-नामा में किया गया है, यह भावना जरूर झलक पड़ती है। राओर की महान् विजय का समाचार पाकर हज्जाज ने उसको लिखा—"कुरान ताला ने फरमाया है : ऐ मोमिनो, अगर तुम्हारा काफिरों से मुकावला हो तो सिर काट दो। खुदा ताला का यह फरमान एक जबर्दस्त फरमान है और करना और इस पर अमल करना वहुत जरूरी है। तुम्हें रहम दिखाने का नहीं वनना चाहिए कि इस कौम की अच्छाई या नेकी ही खत्म हो जाये। किसी दुश्मन को माफ न करना और न किसी की जान वख्शना, नहीं तो तुम्हें कमजोर दिल का आदमी समझेंगे।"

वलाधुरी और **चच-नामा** से हमें पता चलता है कि मुहम्मद ने काफिरों प्रकार का रहम दिखाया था, जिसके लिए उसे हज्जाज ने इतनी सख्त डाँट थी। जव उसके सैनिक देवल के किले की दीवार पर चढ़ गये तो घिरे हुए ने किले का फाटक खोल दिया और रहम की फरियाद की। मुहम्मद ने कहा हर के एक भी आदमी को वख्श देने का हुक्म नहीं है, और इसलिए किसी को दी गयी और तीन दिनों तक वेरहमी से लोगों को जिबह किया गया। वहाँ भ्रष्ट किया गया और ७०० सुन्दर युवतियाँ जिन्होंने उस मन्दिर में शरण की सारी गिरफ्तार कर ली गयीं। राओर पर कब्जा करने के बाद भी दोहराया गया। मुहम्मद ने उस किले में मिले ६००० सैनिकों को कत्ल , और उनके अनुचरों, आश्रितों और साथ ही उनके बीवी-बच्चों को कैद ।[1] साठ हजार लोगों को गुलाम वनाकर, जिनमें शाही खून की ३० जवान थीं, दाहर के सर के साथ हज्जाज के पास भेज दिया गया। इससे हम अच्छी सकते हैं कि मुस्लिम फौजों के द्वारा किसी किले पर कब्जा होने के बाद जौहर रस्म क्यों अपनायी जाती थी (जिसमें स्त्रियाँ खुद आग जलाकर उसमें थीं)। **चच-नामा** में ही इसका सर्वप्रथम वृत्तान्त दर्ज किया हुआ मिलता है।[2] देने की वात है कि, इसी ग्रन्थ के अनुसार, सिन्ध में मुसलमान कैदियों ने— दोनों ने ही अपने आप मुहम्मद को सूचित किया कि जेल में उनके साथ

---

[1] मुहम्मद के कत्लो-गारद का जो विवरण **चच-नामा** में दिया गया है, अल वलाधुरी ने ष्टि की है। उपर्युक्त दो मिसालों के अलावा और भी कुछ मिसालें दी गयी हैं—ब्राह्मनाबाद जाने वालों की तादाद ६००० से २६,००० तक वतायी गयी है। **चच-नामा** के अनुसार) मुहम्मद "वहाँ गया जहाँ कैदियों को मौत की सजा दी जाने वाली थी, और उसने अपनी सैनिक वर्ग के तमाम लोगों के सिर तलवार से काटने का हुक्म दिया।"

[2] **चच-नामा** I. १५४, १६३।

बहुत अच्छा सलूक हुआ था। यह रिपोर्ट सुनने के बाद मुहम्मद ने उस व्यक्ति
इन कैदियों का इन्चार्ज था, एक ऊंचे पद पर तैनात करने का फैसला किया, पर
कि उसने इस्लाम कबूल किया।[1] आगे चलकर बताया गया है कि जब सिन्ध
ने वहाँ के मुसलमान शासक के विरुद्ध अपने विद्रोह में सफलता प्राप्त कर ली, तब
उसको तो मार डाला, लेकिन "मस्जिद को मुसलमानों के लिए जमा होकर
के लिए सुरक्षित छोड़ दिया।"[2] मन्दिरों को भ्रष्ट करने और कैदियों के
व्यवहार करने की मुसलमानों की नीति को यह कह कर क्षम्य नहीं माना जा
उन दिनों भारत में सर्वत्र यही प्रथा थी।[3]

उपलब्ध विवरणों पर दृष्टि डालने के बाद इस बात में कोई सन्देह नहीं
कि इस्लाम की सामान्य नीति और हज्जाज के आदेश के बावजूद मुहम्मद ने
मानववादी भावना से प्रेरित होकर ही सिन्ध के सारे काफिरों का कत्ल करने से
रोका था। शायद वक्त की जरूरत और व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण
इस्लामी कानून का अक्षरशः पालन नहीं कर पाया, लेकिन उसने उसकी
अनुसरण अवश्य किया था। ब्राह्मनावाद की विजय के सिलसिले में इस नीति का
स्पष्टीकरण किया गया है। विजित कौमों के साथ वर्ताव करने के इस्लामी
स्पष्ट वक्तव्य के रूप में, जो भारत में अरब विजेताओं की नीति का आधार बन
यह अंश ज्यों का त्यों उद्धृत किया जा सकता है। मुहम्मद-इब्न-कासिम ने किन
कुछ ब्राह्मणों को इस शर्त पर माफी देने का प्रस्ताव किया था कि वे उसके सामने
की रानी को पेश कर दें, **चच-नामा** का लेखक कहता है :—

"बाकी लोगों पर **जजिया** लगा दिया गया; शरियत के उन कानूनों के
जो अल्लाह के पाक पैगम्बर ने (वह और उसके वंशधर हमेशा खुदा के
जारी किए थे। जो इस्लाम की इज्जत कबूल कर लेता था और नव-मुसलमान
था उसे गुलामी और जजिया दोनों से बरी कर दिया जाता था। उसे कोई
नहीं दी जाती थी। लेकिन जो सच्चे मजहब को कबूल नहीं करते थे, उन्हें
पड़ता था। ऐसे लोगों को तीन वर्गों में बाँटा गया था। पहले और सर्वोच्च
को प्रति व्यक्ति ४८ **दिरमों** के वजन की चाँदी देनी पड़ती थी। दूसरे या
२४ दिरमों के वजन की चाँदी देनी पड़ती थी और निम्न वर्ग के लोगों को कुल
के वजन की।" उसने फिर इन शब्दों के साथ उनको बर्खास्त किया : "आज मैं
को बरी कर रहा हूं। तुम में से जो लोग मुसलमान बनकर इस्लाम की शरण में
मैं उनकी जजिया माफ करवा दूंगा, लेकिन जो लोग अपने मजहब पर
चाहेंगे, उन्हें अपने बाप-दादों के मजहब का पाबन्द रहने के लिए तकलीफें

---

[1] वही, ८४-८५ तथा पृ. १५७।

[2] बलाधुरी, II, २३३।

[3] योरप के कुछ ईसाई शासक भी दूसरे धर्मावलम्बियों के प्रति इतनी ही या
क्रूरता बरतने के गुनहगार कहे जाते हैं।

करनी पड़ेंगी और जजिया देना पड़ेगा ।” इस पर कुछ लोगों ने तो अपनी जन्म- रहने का फैसला किया, लेकिन बाकी अपने पूर्वजों के धर्म पर कायम रहने के वार छोड़कर भाग गये और उनके घोड़े, घर की चीजें और पालतू जानवर था सम्पत्ति जब्त करली गयी ।[१]

पेचीदा सवाल उठ खड़ा हुआ कि हिन्दुओं को अपने मन्दिर बनाने और भाल करने और पहले की ही तरह मन्दिरों में पूजा करने का हक है या नहीं। ने मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करने की प्रथा शुरू की थी ।[२] सारे सिन्ध पर उसका कब्जा हो गया, तो मन्दिरों के पुजारियों ने उसके सामने रखा। उन्होंने फरियाद की कि “मन्दिर उजाड़ और ध्वस्त हो गये हैं,” और रखास्त की कि “उन्हें मन्दिरों में जाने और वहाँ पहले की तरह पूजा करने की दी जाए ।” मुहम्मद ने इस सवाल के बारे में हज्जाज को लिखा, जिसका उसके पहले पत्रों की भावना से विपरीत, अधिक सहिष्णु भावना से प्रेरित था। ये लोग अब हमारे जिम्मी (संरक्षित प्रजा) बन गये हैं, इसलिए हमें उनकी या उनकी सम्पत्ति में दखल देने का कोई हक नहीं है। जिनकी वे पूजा करते हैं, न्दिर बनाने की इजाजत उन्हें दे दो। किसी को अपने मजहब का पालन करने जाए, न सजा दी जाए, और न किसी को ऐसा करने से रोको, ताकि वे लोग रों में सुखपूर्वक रह सकें ।”[३]

सामान्य नीति के अनुसार मुहम्मद ने सभी शासकों को पत्र लिखकर कि वे आत्मसमर्पण कर दें और इस्लाम कबूल कर लें ।[४] जिन्होंने नया मजहब या उनको उसने ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त कर दिया ।[५] मुहम्मद की मृत्यु के वह नीति बदस्तूर चालू रही। खलीफा उमर द्वितीय (सन् ७१७-७२० ई०) के राजाओं को पत्र लिखकर उन्हें मुसलमान बन जाने का न्योता दिया और इस रजामन्दी जाहिर की कि उस सूरत में उन्हें अपनी गद्दियों पर रहने दिया जायेगा न्हें वे सारे अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त रहेंगी, जो मुसलमानों को मिली हुई नेक राजाओं ने, जिनमें दाहर का बटा जयसिंह भी था, इस्लाम कबूल करके नाम रख लिए ।[६] इन लोगों ने माली फायदों के लिए नया मजहब अपनाया कि अपने जज़्बाती यक़ीन के कारण, यह बात इससे स्पष्ट है कि मुसलमान बनने

---

[१] चचनामा I, १६४-६५ ।

[२] वही, I. १०५ ।

[३] वही, I, १६८-६९ ।

[४] वही, I, १५७ ।

[५] वही, I. ८५, १५८ ।

[६] हि. इ. ई. डा., I. ४४० ।

के कुछ साल बाद ही जयसिंह ने सिन्ध के गवर्नर से झगड़ा करके इस्लाम त्याग उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी ।[1]

इस्लाम कबूल करने के लिए जिन कारणों ने राजाओं और पदाधि को प्रेरित किया था, अवश्य ही आम जनता को भी इस दिशा में प्रेरित करने कारणों का हाथ था । लेकिन यह नया धर्म, जिसे कबूल करने के लिए उन्हें मज गया था या फुसलाया गया था, उसका जज्बाती यकीन नहीं बन सका । उमय्य अन्तिम काल में, जब मुस्लिम सत्ता काफी कमजोर हो गयी थी, भारतीय मुस्लिम घुसपैठ का डट कर विरोध किया, "कस्साह के लोगों को छोड़कर (अर्थात् हिन्दुस्तान) के बाकी लोगों ने इस्लाम छोड़कर अपना पहला मजहब लिया ।[2] इस प्रकार सन् ७५० ई० तक सिन्ध में इस्लाम के पैर उखड़ गये ।

आठवीं सदी के पूर्वार्ध में सिन्ध में मुसलमानों के इतिहास को केवल महत्त्व का नहीं समझना चाहिए । सबसे पहले, इससे जाहिर होता है कि अन्य मुकाबले में, भारत के अन्दर इस्लाम की प्रगति कितनी धीमी गति से सम्भव दूसरे, इससे उस सामान्य नियम की सच्चाई स्पष्ट हो जाती है, जिसका ऊपर किया जा चुका है, कि इस्लाम के धर्म-प्रचार की सफलता लगभग पूरी तरह उन विजयों पर निर्भर थी । तीसरे, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में अगर बड़ी तादाद में धर्म-परिवर्तन करके इस्लाम कबूल किया था, तो केवल व्या मजबूरी से ही न कि स्वयं अपनी मरजी से, जिससे सिद्ध होता है कि इस्लाम के ने लोगों के मन और हृदय को कितना कम छुआ था । सिन्ध के लोगों ने अगर सत्ता कमजोर होते ही इस्लाम को त्याग कर अपना पहला धर्म स्वीकार कर तो यह विश्वास करना कठिन है कि सिन्ध में या भारत के किसी और भाग में ने लोगों के मन पर कोई गहरा प्रभाव डाला था ।

सिन्ध के मुस्लिम विजेताओं ने अपनी प्रजा के प्रति जो दृष्टिकोण अ परवर्ती युगों में वही दृष्टिकोण सामान्यतः अन्य मुसलमान विजेताओं ने भी प्रजा के प्रति अपनाया । इसमें सन्देह नहीं कि बहुत कुछ विभिन्न बादशाहों और की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर भी निर्भर करता था; उनमें से कुछ ने अधिक से काम लिया और कुछ ने कठोर और असहिष्णु नीति अपनायी । लेकिन कुल उनकी नीति का ढाँचा वही बना रहा, क्योंकि वह इस्लामी धर्म-तन्त्र के बुनियादी पर आधारित था । उनमें केवल एक ही धर्म, एक ही कौम और एक ही खुदा को जाता था । हिन्दू काफिर या एक खुदा में विश्वास न करने वाले होने के नागरिक के पूरे अधिकारों का दावा नहीं कर सकते थे । अधिक से अधिक के रूप में उन्हें सिर्फ बर्दाश्त किया जा सकता था । यह एक अपमानजनक

---

१. वही, I. ४४१ ।

२. बलाधुरी, II. २२८ ।

र्थ था राजनीतिक दृष्टि से निम्नकोटि का होना, एक नाबालिग की तरह भिभावक की देखरेख में रहना।

मी राज्य समस्त गैर-मुसलमानों को अपना दुश्मन मानता था, उनकी शक्ति को बढ़ने से रोकने में ही उसकी खास दिलचस्पी रहती थी। बड़े-बड़े हाकिम आदर्श का उपदेश देते थे, वह विधर्मियों को पूरी तरह नेस्तनाबूद करने का ा,[1] लेकिन व्यावहारिक रूप में ऐसा लगता है कि उन्होंने **कुरान**[2] में बताये गये मार्ग का अनुसरण किया था, जिसमें कहा गया है कि काफिरों से मुसलमानों य तक लड़ना चाहिए, जब तक वे विनम्रतापूर्वक **जजिया** देना कबूल न ।[3] यही वह कर (टैक्स) था, जो एक मुसलमान शासक के अन्तर्गत हिन्दुओं को ओं की भूमि या पुरखों के घरों में रहने की इजाजत के लिए देना पड़ता था। र जो कुछ कहा गया है, उससे यह जाहिर है कि मुहम्मद-इब्न-कासिम ने के साथ अपने बर्ताव में इस्लामी धर्म-तन्त्र के खास उसूलों को ही बरता था। ति का सिर्फ एक ही अच्छा पक्ष था कि उसने हिन्दुओं को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने ें पूजा करने की इजाजत दे दी थी। यह बात इसलिए और भी स्मरणीय है, के युगों में कई मुसलमान शासकों ने इस नीति की भी घोर उपेक्षा कर दी थी।

२. ईसाई बस्तियाँ

बात पहले ही लिखी जा चुकी है[4] कि ईसाई मिशनरी (धर्म-प्रचारक) शायद सरी शताब्दी में ही भारत आ गये थे और उन्होंने छोटी-छोटी ईसाई बस्तियाँ र ली थीं। **रोमांस हिस्टरी आफ अलेक्जांडर** के आधार पर यह मत भी पेश ा है कि अगली दो शताब्दियों में दक्षिण भारत में ईसाई चर्च खूब मजबूती से हो गया था।[5] लेकिन इस विषय में हमारी जानकारी अस्पष्ट और आकस्मिक

---

[1] इस आदर्श का उपदेश हज्जाज ने मुहम्मद के नाम अपने खत में दिया था, जिसका ऊपर ा चुका है। कुरान (ix. ५) में इस प्रसंग में कहा गया है: "और अब रमजान शरीफ र जाएँ तो तुम्हें जहाँ कहीं ऐसे लोग मिलें जो खुदा के साथ दूसरे देवताओं को मिलाते हों, र दो।" (जे. एम. रॉडवेल कृत अनुवाद **एवरी मैन्स लाइब्रेरी एडीसन**, पृ० ४७१)।

[2] IX. २९।

[3] "उन लोगों के खिलाफ...जो खुदा में यकीन नहीं करते...तब तक जंग करते जाओ जब तक या नहीं देते और हार नहीं मान लेते।" (वही, पृ०. ४७३) इसके अन्तिम पद की व्याख्या में है, लेकिन इसका सामान्य अर्थ बिलकुल स्पष्ट है (वही, पा. टि. ६ और ७)। कुरान के इस र मुहम्मद-इब्न-कासिम के उपर्युक्त वक्तव्य से इस मत का समर्थन नहीं होता कि जजिया, एक ज में भरती होने से जो बचना चाहता था, उस पर ही लगाया गया टैक्स था। (देखिए, सैयद की **हिस्टरी आफ दि सारासेन्स**; १९५१, पृ० ३३). इसी विषय पर और भी देखिए न **स्टैंडर्ड** के पूजा विशेषांक (१९५०) में प्रकाशित सर जदुनाथ सरकार का लेख।

[4] जि० II, पृ० ६२८ (अंगरेजी संस्करण)।

[5] यह वक्तव्य स्यूडोकालिस्थेनीज के **रोमांस हिस्टरी आफ अलेक्जांडर** में शामिल 'भारत षय पर पांचवीं सदी के एक पैम्फलेट पर आधारित है। लेखक का कहना है कि उसने दक्षिण

साक्षियों पर आधारित है, जिनकी प्रामाणिकता प्रायः सन्दिग्ध है। जो भी ऐसी कोई जानकारी नहीं है कि ये ईसाई-बस्तियाँ कहाँ थीं और क्या काम

भारत और श्रीलंका में ईसाई धर्म के अनुयायियों के बारे में सबसे पहली सूचना **कॉरमस इंडिकोप्ल्यूस्टस** के, जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, दो वक्तव्यों से मिलती है :

(१) "यहां तक कि टैब्रोबेन (अर्थात् श्रीलंका) में भी, जो सुदूर भारत द्वीप है, जहां भारत का सागर है, ईसाइयों का एक गिरजाघर है, जिसमें पादरी और मत के कुछ अनुयायी रहते हैं, लेकिन वहाँ से आगे के हिस्सों में ईसाई हैं या नहीं नहीं जानता। जिस प्रदेश को माले (मलाबार) कहा जाता है, जहाँ काली होती है, वहाँ भी एक गिरजाघर है, और कालियाना नाम के एक स्थान में भी है, जिसकी नियुक्ति फारस से हुई है।[1]

(२) उस द्वीप (श्रीलंका) में फारस के ईसाइयों का एक गिरजाघर भी वहाँ आकर बस गये हैं, फारस से नियुक्त एक **'प्रेसबाईस्टर'** और एक 'डीकन' सारी धार्मिक विधियाँ वहाँ सम्पन्न होती हैं। लेकिन स्थानीय लोग और मूर्तिपूजक हैं।[2]

उपर्युक्त वक्तव्यों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि "श्रीलंका और दक्षिण पश्चिमी समुद्रतट के गिरजाघरों का संविधान और कार्यक्षेत्र दोनों पारसीक थे। ऐसा लगता है कि "दोनों में से किसी ने अभी तक देश के मूलवासियों को चर्च की नहीं दी थी।[3] दरअसल मालूम होता है कि श्रीलंका के चर्च ने कभी भी ऐसा नहीं शायद इसी वजह से, उसका अस्तित्व कम ही दिनों तक कायम रह सका। इसके मलाबार के चर्च ने स्थानीय लोगों को शामिल कर अपनी सदस्य-संख्या में और शायद उसके स्थायी होने की भी यही वजह है; हालांकि, सम्भव है, अनेक दूसरे कारण भी रहे हों।[4]

भारत की यात्रा की थी। वहाँ पर वह अडचूल के विशप मौजेज का मेहमान था। (**इंटरकोर्स बिट्वीन इंडिया एंड दि वैस्टर्न वर्ल्ड**, पृ० १४७) मॅक्रिडल के "पैम्फलेट पैलेडियस के **दि लाजिएक्स हिस्टोरिक्स** का एक हिस्सा है, जो उसने सन् लगभग लिखा था।" **एंसिएंट इंडिया**, पृ० १७८) अगर हम इस तारीख को स्वीकारें तो इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते कि वह विशप एक नेस्टोरियन गिरजा का अध्यक्ष (

[1] मिस्र के पादरी कोज्मास की **द क्रिश्चियन टोपोग्राफी** में, जिसका अनुवाद मॅक्रिन्डल ने १८९७ में किया, पृ० ११८-१९ पर। कोष्ठक में दिये गये शब्द मूल-प्रति बल्कि पहचान के लिये जोड़े गये हैं।

[2] वही, पृ० ३६५।

[3] जी. एम. रे का **द सीरियन चर्च इन इंडिया**, पृ० ११७।

[4] वही।

स के वक्तव्य से छठी शताब्दी (ईसवी) के दूसरे चतुर्थांश में —जिस समय लिखी गयी थी—भारत में ईसाई धर्म की स्थिति का पता चलता है। स्पष्ट तीय समाज में ईसाई मत के अनुयायियों का महत्त्व वहुत कम था और इस कोई आधार नहीं कि कोज्मास के जमाने से पहले ईसाई धर्म की शक्ति अथवा धिक रही होगी। इस सम्बन्ध में कुछ उन तथ्यों का भी हवाला दिया है, जिनसे वहुतेरे विद्वानों ने इसके विपरीत निष्कर्ष निकाले हैं।

३२५ ईसवी में निकेआ की काउन्सिल में उन तीन सौ विशपों ने भाग लिया ईसाई जगत् के सभी धर्म-प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें से एक विशप मशहूर नहीं था, अपने दस्तखत यूं किये हैं "जॉन दि विशप आफ पर्शिया एंड " (फारस और बृहद् भारत का विशप जॉन)।" 'बृहद्' विशेषण, चर्च की पर ज्यादा लागू होता है, अतः हम सिवा इसके और कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सम्भवतः भारत के पश्चिमी तटवर्ती प्रदेशों में ईसाई सम्प्रदाय का अस्तित्व थी सदी ईसवी में थेयोफीलस और फ्रूमेन्टिअस की भारत-यात्रा की कहानियाँ य हैं, और सम्भवतः भारत से उनका कोई सम्वन्ध नहीं था।[2]

साफ जाहिर है कि छठी सदी (ईसवी) में भारत के पश्चिमी तटवर्ती ईसाई नेस्टोरियन थे, जो फारस के चर्च के अधीन थे। १५४७ में सेंट टामस प्राप्त सलीव से यह निष्कर्ष लगाया गया है कि कोरोमंडल समुद्र-तट पर स्थित में नेस्टोरियन ईसाईयों की एक बस्ती रही होगी। उस पर खुदे पहलवी से अनुमान लगाया गया है कि वह सातवीं या आठवीं सदी का है। इस का मतलब तो पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है, लेकिन कुछ इतिहासकारों का कहना का सामान्य अभिप्राय भारतीय नेस्टोरीवाद की विशेषता से सम्बन्धित है।[3] हमारा मत चाहे जो भी हो, इस सलीव और उत्तरी त्रावणकोर के कोट्टायम किस्म की अन्य सलीवों से स्पष्ट होता है कि आठवीं सदी ईसवी की समाप्ति

---

[1] श्री रे ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है (वही पृ० ७९ प. पृ.)।

[2] वही, परि. vii. मलावार की परम्पराएँ विशेषकर "रौरवं देवराज्यम्" और "भूवि-नेलानदेशम् प्राप" जैसे तिथि-वंध, जो दक्षिण-भारत में ईसाई धर्म से संबंधित महत्त्वपूर्ण क्रमशः सन् ३१७, ३४४ और ३४३ ई० की तारीखें सूचित करते हैं, किसी भी गंभीर इतिहास नहीं हो सकते। यही वात तिरुवांकुर (ट्रावनकोर) की उन परम्पराओं के बारे में कही है जिनके अनुसार सन् २९३ ई० में ईसाई क्विलोन में आकर वसे थे। इनमें से कुछ परम्पराओं ओं के लिए देखिए, इ. क. xii. १९।

[3] रे (पू. पु. १२१) का यह अनुमान वर्नेल के उस अनुवाद पर आधारित है. (इ ऐ. III, जो इस प्रकार है: "सलीव द्वारा दंड देने में यंत्रणा इस एक की (थी)। वह जो सच्चा र ईश्वर गॉड और पथ-प्रदर्शक, चिर-पवित्र।" लेकिन तिरुवांकुर (ट्रावनकोर) के मिस्टर ने मुझे सूचित किया है कि कैम्ब्रिज के प्रोफेसर डॉ० डब्ल्यू. वी. हर्निग ने एक पत्र (जिस पर १९४८ की तारीख है) में उनको निम्नलिखित अनुवाद पेश किया था: "मेरे स्वामी ईसामसीह, के बेटे चहरबख्त के वेटे आफ़स पर रहम कर, जिसने इसका आयोजन किया (या जिसने इसे ।' इस अनुवाद के अनुसार रे का अनुमान बिल्कुल निराधार मालूम हो सकता है।

से पहले दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप के पूर्वी तथा पश्चिमी तट पर कितनी है बस्तियाँ बसी हुई थीं ।

इस प्रदेश में बहुप्रचलित एक कहानी से संकेत मिलता है कि बगदाद, येरुजालेम से आये ईसाइयों ने नयी बस्तियाँ कायम की थीं । कहा कि ये लोग ७४५ ईसवी में व्यापारी टामस के साथ आये थे । मालूम होता है के इस टामस (कनये टामस) का स्थानीय लोगों पर इतना गहरा प्रभाव कुछ लोगों के अनुसार लोगों ने इसी टामस को सेंट टामस समझ कर सेंट अनुश्रुति चलायी थी । लेकिन इस कहानी का ऐतिहासिक मूल्य अनिश्चित है आधार पर कोई भी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालना असंगत होगा ।[1]

कोट्टायम् से प्राप्त वीरराघव चक्रवर्ती के ताम्रपत्र के आधार पर में ईसाई समुदाय के महत्त्व को सावित करने का प्रयत्न किया गया है । इस ताम्रपत्र त्रावणकोर में कोट्टायम् के सीरियन ईसाइयों के पास है । पूर्ववर्ती अनुसार "यह ७७४ ई० का है और इसमें राजा वीरराघव चक्रवर्ती द्वारा के ईरवी कोर्त्तन को दिया गया अनुदान दर्ज है, जिसके अनुसार उसे वहाँ के दाय के मुख्य प्रतिनिधि होने की हैसियत से मणिग्रामम् की छोटी सी जागीर गयी थी ।[2] लेकिन श्री वेन्कय्य,[3] जिन्होंने इस ताम्रपत्र का सम्पादन किया है, सदी ईसवी का बताते हैं और कहते हैं, "इस अनुदान-पत्र का ईसाई मत से नहीं है, सिवा इसके कि इन दिनों यह ताम्रपत्र जिनके पास है वे ईसाई हैं।" इस वात की ओर भी संकेत किया है कि मणिग्रामम् किसी रियासत का नाम एक व्यापारिक संघ का नाम था । इसलिए इस ताम्रपत्र द्वारा मलावार में दाय के बारे में किसी बात का सबूत नहीं मिलता । इस दृष्टिकोण से कोट्टयम-ताम्रपत्र का भी, जिसे बर्नेल ने बाद के काल का बताया है, महत्त्व नहीं है ।

ज. दर्शनशास्त्र का सामान्य विकास

दार्शनिक विकास का ब्यौरा पहले प्रस्तुत किया जा चुका है । बौद्ध वैष्णव और शैवमत के प्रसंग में भी इसका जिक्र आया है । दर्शनशास्त्र के का हवाला भी पन्द्रहवें परिच्छेद में दिया जा चुका है । यहाँ हम छह प्राचीन पद्धतियों का जिक्र करेंगे, जो तीन स्पष्ट युग्मों में विभक्त हैं, और जिनके उद् हम पहले कर चुके हैं ।[4]

---

[1] इस कहानी, तथा ऐसी ही अन्य कहानियों के लिए देखिए, रे, पू पु: (पृ०

[2] वही, पृ० १५५ ।

[3] ई. इ., iv. २९०. सन् ७७४ ई० की तारीख मूलतः बर्नेल ने सुझाई I, २२९), और भी देखिए इ. ए. xx. २८९; xxii. १३९ ।

[4] जि० II, पृ० ४७५ प. पृ. (अंगरेजी संस्करण) ।

I-II. न्याय-वैशेषिक

दोनों पद्धतियाँ अपक्व चिंतन के पुंज से एक साथ शुरू हुईं या एक दूसरे से रूप में, इस बारे में विद्वानों में मतभेद है। यह भी सम्भव है कि **वैशेषिक** दर्शन न्याय दर्शन से बहुत पहले हुआ हो। प्रोफेसर एस. एन. दासगुप्त का विचार आरम्भ में यह मीमांसा के प्रकार का दर्शन था, जिसका उद्देश्य अध्यात्मदर्शन के वेदों की प्रामाणिकता की पुष्टि करना था। इन दोनों धाराओं के उद्गम का स्रोत न रहा हो, किन्तु उनकी समानताएँ इतनी सुस्पष्ट हैं कि परम्परा में उन्हें संयुक्त रूप में देखा गया है।

विरोधी दार्शनिक पद्धतियों के विपरीत इन दोनों में ज्ञान के स्रोत का भी एक ही था (वेद ऐसे ही स्रोत हैं) और वे आत्मा, परमात्मा और बाह्य जगत् विकता में विश्वास करते थे।

दर्शन-पद्धति के अनुसार संसार ससीम तथा विभिन्न गुणधर्मी पदार्थों का । इन पदार्थों को सूक्ष्म से सूक्ष्म भागों में विभक्त किया जा सकता है, जिसमें सबसे रमाणु अथवा वस्तुओं के अविभाज्य अवयव हैं। जिन तत्त्वों के ये अवयवी हैं हर तत्त्व के अलग-अलग किस्म के परमाणु होते हैं। ये तत्त्व हैं; पृथ्वी, जल, वायु और आकाश। संसार अन्तरिक्ष और घटना-शृंखलाओं में फैलता रहता है। में होती हैं। अंतरिक्ष और काल को विचार में विभक्त किया जा सकता है, रमाणुओं में नहीं।

संसार की सारी वस्तुएँ स्वतः व्यष्टियाँ हैं। हर पदार्थ एक दूसरे से अपने उस गुण के कारण अलग है, जिसे विशेष कहते हैं। किन्तु इन गुणों की भी अलग श्रेणियाँ हैं। इन समान गुणवाली श्रेणियों या वर्गों को सामान्य कहा जाता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की तरह इन श्रेणियों में भी अन्तर होता है, उसे भी विशेष अथवा कहते हैं।

वस्तुजगत् में परिवर्तन होते हैं, एक घटना के बाद दूसरी घटना होती रहती है। तात्पर्य यह है कि इन घटनाओं के पीछे कारणता है, अर्थात् कुछ नया अस्तित्व करता है। ये वस्तुएँ उनके गुण, तथा काल और स्थान में उनके सारे सम्बन्ध हैं—इन्हीं से सारा संसार बना है।

इस संसार में, जो ज्ञेय है, आत्मा (स्व) ज्ञाता है। दुख और मुक्ति की चर्चा ती है। लेकिन जब कोई दुखी नहीं है तो फिर दुख का अस्तित्व कैसे हो सकता है, मुक्ति कैसे हो सकती है जब मुक्त होने के लिए कोई आत्मा नहीं है? एक आत्मा है जो जानता है, दुख झेलता है और जीवन की बुराइयों से छुटकारा चाहता है। इस दार्शनिक विचारधारा के अनुसार संसार का अस्तित्व है, जिसे जाना जा है, एक आत्मा है जो जानती है और इसका अनुभव करती है, किन्तु एक ऐसा भी है जिसने शाश्वत अस्तित्वशील परमाणुओं में से इस विश्व की रचना की है। के अस्तित्व का अनुमान विश्व के कारण रूप में करना पड़ता है। इस ईश्वर ने

न केवल विश्व की रचना की है, बल्कि वेदों को भी सिरजा है। इस तरह वेद
अच्युत स्रोत हैं। ईश्वर ने ही शब्दों को वह शक्ति दी है जिससे वह अभिप्रेत
कर पाते हैं।

न्याय दर्शन ने अपने ज्ञान-सिद्धान्त पर विशेष जोर दिया है, यहाँ तक
बिहार और बंगाल में, इस दर्शन के विचारकों का मुख्य, यदि एकमात्र नहीं तो,
यही रह गया था। ज्ञान के स्रोतों को महत्त्व देने के फलस्वरूप इस दार्शनिक
ने अनुमिति के लिए हेत्वनुमान पद्धति (Syllogism) का आविष्कार किया।
इस पद्धति का पूर्वाभास सुकरात के प्रवचनों में मिलता है, जिसका अन्तिम रूप
दर्शन में बना था। भारतीय चिन्तकों को इस बात का श्रेय अवश्य मिलना चाहि
उन्होंने शायद यूनानियों से पहले, और इसलिए स्वतन्त्र रूप से, हेत्वनुमान का
किया था। भारतीय हेत्वनुमान में पाँच तर्क-वाक्य होते हैं, जबकि यूनानी पद्धति में

शास्त्रीय भारतीय हेत्वनुमान इस प्रकार है:

**उस निचले पहाड़ में आग लगी है, क्योंकि वहाँ धुँआ उठ रहा है, जहाँ
होता है, वहाँ आग होती है, जैसे रसोईघर में, पहाड़ से धुँआं उठ
इसलिए वहाँ आग भी जरूर होगी।**

शास्त्रीय विचारकों ने स्वतन्त्र रूप से ही इस हेत्वनुमान का आविष्कार नहीं
जैन और बौद्ध चिन्तकों ने भी तर्कशास्त्र पर बहुत कुछ लिखा है और उसके
सहायता दी है।

अनुमिति का आधार हेत्वनुमान है। इस न्याय दर्शन के अनुसार
अतिरिक्त ज्ञान के तीन अन्य स्रोत भी हैं। वे हैं प्रत्यक्ष या सविकल्पप्रत्यक्ष,
या तुलना (उपमान) और आप्त वाक्य या आप्तप्रमाण (शब्द), विशेषकर
आप्तवचन। ज्ञान के इन स्रोतों पर हुए वाद-विवाद पर प्रचुर साहित्य लिखा

III-IV. सांख्य-योग

ये दोनों दार्शनिक विचारधाराएँ एक दूसरे की पूरक हैं। सांख्य से तत्त्व
मिलती है तो योग से उस मनस्तात्त्विक अनुशासन की रूपरेखा बनती है
दार्शनिक चिन्तन के निष्कर्षों को वास्तविक जीवन में प्राप्त किया जा सके।
का आधार-वाक्य है कि जीवन तीन प्रकार के कष्ट (पाप) एवं यातनाओं के
पहली तो मनुष्य की स्वयं अपनी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ, उपद्रवों और
से पैदा होती हैं। दूसरी किस्म की यातनाएँ पशुओं की हरकतों से पैदा होती हैं,
काटने से लेकर शेर के हमले तक, घर में चोरी हो जाने से लेकर सार्वजनिक
बहुत से तरीकों से जानवर और दूसरे मनुष्य हमें दुःख और पीड़ा पहुंचाते हैं:
की यातनाएँ भी हैं, जो प्राकृतिक शक्तियों, आग, हवा और पानी के प्रकोप से
आग लगने से मकान और सम्पत्ति नष्ट हो सकती है, तूफान में सारी चीजें उड़
और बाढ़ में मवेशियों को बहाकर ले जा सकती हैं। यह भी दुख का कारण है।
प्रकार जीवन में बहुत सी यातनाएँ हैं। लेकिन सच्चे ज्ञान से इन सबसे बचा जा

कौन सा सत्य है, जिसे जानने का हमें प्रयत्न करना चाहिए ? संसार की र उसमें मनुष्य का स्थान। संसार एक पुरातन सिद्धान्त से, शाश्वत नारीत्व कृति से, विकसित होता है। इसमें तीन गुण होते हैं : **सत्त्व, रज (रजस्)** और स्) जो एक साथ गुंथे हुए तीन सूत्र, एक में मिश्रित तीन गुण, एक साथ जुड़ी तत्वों का नाम है; इसे चाहे जिस ढंग से वर्णित करें, प्रकृति के ये तीनों अवयवी । आमतौर पर सृष्टि के साँचे में ये तीन गुण हैं जो हर चीज में व्याप्त हैं— शुओं, जड़-पदार्थों, यहाँ तक कि मनुष्य के कर्मों में भी। प्रकृति के अतिरिक्त विशिष्ट आत्माएँ अथवा पुरुष हैं जो क्रियाशील नहीं हैं, लेकिन कुछ परिस्थितियों भव करते हैं और विभ्रान्त होते हैं। **प्रकृति और पुरुष के संयोग से**—यह क्यों होता है, यह एक रहस्य है—विभिन्न अवस्थाओं : बुद्धि, आत्म-चेतना, मानसिक वा मनोयोग, संसार, पाँच ज्ञानेन्द्रियां और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच-तन्मात्राएँ अर्थात्, जल, पावक, गगन, समीर" तथा इन्हीं नामों से पुकारे जाने वाले अधिक स्थूल द्वारा संसार अपने आपको अनेक चरणों में उद्घाटित करने लगता है। इस प्रकार के प्रथम और **पुरुष** के अन्तिम तत्त्व को मिलाकर हमारे पास २५ तत्त्वों (या की सूची तैयार हो जाती है।

ष हमेशा निष्क्रिय होता है। प्रकृति उस समय सक्रिय हो जाती है, जब पुरुष में आती है। **प्रकृति** की तुलना नारी से की गयी है, जिसका स्वभाव ही निष्क्रिय अपने हाव-भाव से रिझाना होता है। प्रकृति की तुलना नर्तकी से भी की गयी है स्वामी को खुश करने के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करती है, और जैसे ही होता है कि अब उसकी जरूरत नहीं रही, अपना नृत्य बन्द कर देती है। र प्रकृति क्यों एक-दूसरे के संसर्ग में आते हैं, यह एक अव्याख्यात रहस्य है। यह है कि **प्रकृति**, जो सक्रिय है, अचेतन होती है, और पुरुष, जो चेतन है, वह है। वही वह महान् सत्य है, जिस पर मनन करके जीवन की बुराइयों से बचाव जा सकता है।

के लिये भी यही वह सत्य है जिसका मनुष्य को मनन करना चाहिए। योग में इस मनन के लिये अपेक्षित मानसिक प्रयत्न और शारीरिक अनुशासन विस्तार से वर्णन है। परवर्ती कालों में, योग का अर्थ अपेक्षया शारीरिक लगाया जाने लगा : किस आसन में व्यक्ति को बैठना चाहिए, किस ढंग से और पाँव रखने चाहिएँ, और विभिन्न प्रकार के आसन क्या हैं, श्वास पर नियन्त्रण विधियाँ आदि। इन आसनों और मुद्राओं के अभ्यास और विभिन्न प्रकार के अनेक असाधारण, यहाँ तक कि अलौकिक शक्तियाँ, प्राप्त की जा सकती हैं। इन शक्तियों का विवेचन भी किया गया है। लेकिन ये सब किसी साध्य के साधन- और साध्य हमेशा जीवन के कष्टों से छुटकारा पाना है।

कोई ईश्वर है, जिसके आशीर्वाद की याचना की जाए ? **सांख्य** कहता है, क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। **योग** केवल अप्रत्यक्ष

रूप से उसका जिक्र करता है, जो केवल मनन की वस्तु है, ताकि ध्यान करते को स्थिर रखा जा सके। ईश्वर दोनों में ही नहीं है। लेकिन योग उसका जिक्र में करता है, जैसे उसका अस्तित्व हो और जो मनुष्य से अत्यधिक श्रेष्ठ हो, क्योंकि जिन दुखों और बुराइयों से घिरा हुआ है, वे उसको नहीं छू पातीं। योग और अन्तर इसी बिन्दु पर है।

V-VI. मीमांसा-द्वय

सैद्धान्तिक समानताओं के आधार पर हमने न्याय-वैशेषिक और सांख्य- दो युग्मों के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन दोनों **मीमांसाएँ-पूर्व-मीमांसा** और वेदान्त न सिर्फ एक दूसरे से मिलते-जुलते दर्शन हैं, बल्कि व्यावहारिक रूप से एकात्म (एक ही दार्शनिक विचारधारा) के अंग हैं; केवल इस कारण ही नहीं कि उनके में समानता है, बल्कि इस कारण भी कि उनका मूल सैद्धान्तिक आधार एक दोनों में वेदों की व्याख्या करने की कोशिश की गयी थी——सम्पूर्ण वैदिक साहित्य जिसमें सारे वैदिक मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् शामिल हैं। वेदों की व्याख्या करने की कोशिश के रूप में, दोनों मीमांसाएँ मूलतः एक ही पद्धति का अंग मालूम हैं।[1] लेकिन उनकी दार्शनिक समानताएँ उतनी अधिक नहीं थीं, जितनी अन्य युग्म पद्धतियों में, और बाद में चलकर वे आसानी से दो विचारधाराओं में बँट सातवीं और आठवीं सदी के लगभग **पूर्व-मीमांसा** दो स्कूलों में विभक्त हो गयी; का प्रतिपादक प्रभाकर था, दूसरे का कुमारिल। वेदान्त या **उत्तर-मीमांसा** न्यूनाधिक महत्त्व के स्कूलों में बँट गयी। लेकिन आरम्भ में दोनों मीमांसाएँ विचारधारा या दार्शनिक पद्धति का प्रतिनिधित्व करती थीं।

दोनों दर्शनों का मूल आधार यह था कि ज्ञान के स्रोत के रूप में वेदों अकाट्य है, और इसलिए सच्चे दर्शन के आधार के रूप में भी। इस तर्क महत्त्वपूर्ण अभ्युक्तियाँ निकलती हैं: पहली यह कि शब्दों और उनके अर्थों का शाश्वत, स्थायी और अपरिवर्त्य है। वेद शब्दों का ऐसा समूह था, जो किसी दैवी लेखक के मस्तिष्क से नहीं उपजे थे, इसलिए वे शाश्वत थे। वे जिन अर्थों करते थे, वे भी शाश्वत और अपरिवर्त्य थे। दूसरा नियम यह था कि ज्ञान स्वयं प्रमाण है। अगर तुम किसी चीज को जानते हो, तो बस जानते हो, और कोई नहीं है कि तुम्हें उसके समर्थन में किसी और प्रमाण की जरूरत हो। वस्तुएँ आगे ज्ञान के मार्ग से प्रकट होती हैं, लेकिन हमारे पास यह सोचने का कोई कारण कि ज्ञान उनसे उत्पन्न होता है। अगर उसमें कोई त्रुटि है, तो वह हमारी मनःशक्ति में किसी तात्कालिक या स्थायी कमी के कारण हो सकती है। लेकिन

---

[1] झा, **पूर्व मीमांसा,** बनारस, १९४२, पृ० ४-१०; इ. हि. क्वा., १९२८, पृ०

ही संभावना ज्ञान की आत्म संपूर्णता और प्रामाण्य के लिए कोई चुनौती नहीं है। शब्द हमें ज्ञान प्रदान करते हैं और उनकी सच्चाई पर सन्देह करने का कोई नहीं है।

या वेद के पाठों में अर्थ-भेद नहीं मिलते? प्रत्यक्षतः कुछ पाठों में ऐसा सम्भव लेकिन सभी ईमानदार और निष्ठावान व्याख्याकारों का यह प्रयत्न होना चाहिए इन विभिन्न अर्थों में अनुकूलता और सामंजस्य लाएँ। जहां तक वेदों के **ब्राह्मण** या धार्मिक कर्मकांड के नियमों का सम्बन्ध है, **पूर्व-मीमांसा** ने ऐसा ही किया है, **उत्तर-मीमांसा** या **वेदान्त** ने यही बात वेदों के **उपनिषद्** भाग के सम्बन्ध में की है। जो परिणाम निकाला है, उसके अनुसार वेद एक ही स्वर में बोलते हैं, एक ही में बोलते हैं और एक ही सत्य बोलते हैं।

इस व्याख्या के परिणाम स्वरूप जो दार्शनिक सिद्धान्त सामने आते हैं, वे इस र हैं:

(i) एक आत्मा है। यह आत्मा शाश्वत और अन्ततः वास्तविक या यथार्थ है नहीं, यह प्रश्न अवान्तर है। लेकिन यज्ञ सम्पन्न करने के लिए एक अभिकर्ता जरूरी है, इन धार्मिक अनुष्ठानों के समादेश सम्बोधित किये जा सकें। यहाँ तक कि **मोक्ष-** था उपनिषदों के आदेशों की शिक्षा भी किसी न किसी को सम्बोधित करनी पड़ेगी। आत्मा है, अर्थात् एक व्यक्ति सत्ता है। आत्मा अवश्य ही है, जिसे मोक्ष-प्राप्ति ी है। आत्मा अज या असृष्ट संज्ञा है, और मोक्ष-प्राप्ति होने पर परमानन्द प्राप्त ी है। मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी आत्मा अपना विशिष्ट व्यक्तित्व कायम रख सकती नहीं, यह प्रश्न बाद के विचारकों में विवाद का विषय रहा है। आत्मा कार्य सकती है और करती है और अपने कार्यों का फल-भोग करती है। और प्रत्यक्षतः लोगों के अनुसार, पर वास्तव में **पूर्व-मीमांसा** के अनुसार, आत्मा एक ही नहीं ल्कि अनेक आत्माएँ हैं।

(ii) एक संसार भी है, वस्तुओं और गुणों का संसार जिसका अनुभव हम करते यह तथ्य कि हम एक संसार का अनुभव करते हैं, कोई झुठला नहीं सकता। लेकिन संसार वैसा ही है, जैसा हम जानते हैं या इसके बारे में हमारा ज्ञान केवल एक भ्रान्ति इस प्रश्न पर आगे चलकर **उत्तर-मीमांसा** या वेदान्त में काफी गरमागरम बहसें थीं।

(iii) लेकिन ईश्वर आवश्यक नहीं है, और इसलिए नहीं है। संसार परि-णामशील है, लेकिन इसकी सृष्टि नहीं की गयी थी। यहाँ तक कि शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध की भी सृष्टि नहीं की गयी। कर्म अपना फल स्वयं परिणाम के रूप लाता है, और इसके लिए किसी न्यायकर्त्ता की जरूरत नहीं—जो पुरस्कार और फैसला करे। फिर भी, वेदान्त के अनुसार एक परम तत्त्व है, जिससे हर वस्तु है, और वह परम तत्त्व ब्रह्म है।

(vi) **कर्म**—वेदों ने कुछ कर्म करने का आदेश दिया है। कर्म अनेक प्र के हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं, जो हर स्थिति में करने चाहिएँ। वे अनिवार्य आवश्यक हैं। कुछ दूसरे प्रकार के कर्म ऐसे हैं जो तभी करने चाहिएँ जब किसी वस्तु की हो और वे उसकी प्राप्ति के निमित्त ही किये जाएं। उदाहरणार्थ, अगर किसी व्यक्ति पुत्र की कामना हो तो उसे एक विशेष प्रकार का अनुष्ठान करना चाहिए। लेकिन कामना के अभाव में, वह ऐसा अनुष्ठान करने के लिए मजबूर नहीं है। फिर कुछ कर्म हैं जो कभी नहीं करने चाहिएँ, या जिनका करना पाप है। कर्म का एक चौथा है, जिसे वर्जित कर्म के पाप से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित स्वरूप करना चाहिए।

मीमांसा ने इस बात पर जोर दिया कि कोई भी व्यक्ति जिस वर्ण (जाति) **आश्रम** (जीवन की अवस्था) का है, उसके जो धर्म या कर्तव्य हैं, उनका पालन मृत्युपर्यन्त करते जाना चाहिए। लेकिन क्या इन धर्मों का पालन उस समय भी चाहिए जब मनुष्य ने संसार से संन्यास ग्रहण कर लिया हो और सत्य का ज्ञान प्राप्त लिया हो और मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर हो? समय के साथ यह प्रश्न उठकर प्रमुख गया और उसने अन्ततः **पूर्व-मीमांसा** और **उत्तर-मीमांसा** या वेदान्त की कुछ शाखाओं में विभेद पैदा कर दिया।

पूर्व-मीमांसा की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसने व्याख्या के नियमों विकास किया। क्रिया-पदों के काल और क्रियार्थ तथा ऐसी ही अन्य व्याकरणिक सूक्ष्म की ध्यानपूर्वक जांच-परख करके उसने किसी पाठ का अर्थ समझने के लिए नियमों एक विस्तृत संहिता का विकास किया। उसने जिन सामान्य सिद्धान्तों का कि किया था, उनका एक लम्बे अरसे तक कानूनी और धार्मिक ग्रन्थों के अर्थ-निर्णय के प्रयोग होता रहा। बल्कि आज भी हिन्दू न्याय-विधान और धर्म के आदेशों का निर्णय करने में ये नियम साधारणतया उपयोगी सिद्ध होते हैं।

सामान्य सन्दर्भ

(ख) VIII. पालि का व्याख्यात्मक साहित्य

गाइगेर, डब्ल्यू. **पालि लितरातूर उंद स्प्राखे**, स्त्रासवर्ग, १९१६ (बी. के. कृत अंगरेजी अनुवाद, कलकत्ता, १९४३)।

लॉ, बी. सी. **हिस्टरी आफ पालि लिटरेचर**, २ जिल्द, लन्दन, १९ **बुद्धघोष**, बम्बई १९४६।

मालालशेखर जी. पी. **पालि लिटरेचर आफ सीलोन**, लन्दन, १९२८ विंटरनित्स एम. **हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर** जिल्द II. कलकत्ता, १९३३ (श्रीमती एस० के कृत अंगरेजी अनुवाद)।

(ङ) शैवमत

१. अय्यर सी. वी. नारायण, ओरिजिन ऐंड अर्ली हिस्टरी आफ शैविज्म इन इंडिया, मद्रास, १९२१ ।

२. किंग्सबरी, पी. और फिलिप्स, जी. ई., हिम्न्स आफ दि तामिल शैवाइट कलकत्ता, १९२१ ।

३. पिल्लै, एस. सच्चिदानन्दम्, "दि शैव सेन्ट्स आफ सदर्न इंडिया", कल्च. (Cult. Heri) II पृ. २३५-४७ ।

४. पोप, जी. यु. तिरुवाचगम ।

५. शास्त्री के. ए. नीलकंठ "ए हिस्टारिकल रिसर्च आफ शैविज्म" कल्च. II, पृ० ८-३४ ।

(छ) १. मुसलमान

अध्याय १० अनुभाग १२ में दिये गये सन्दर्भ के अनुसार ।

परिच्छेद : १९

कला

क. वास्तुकला :

भारतीय वास्तुकला के इतिहास में ३२० ईसवी से ७५० ईसवी तक के का पुरानी परम्पराओं के स्थान पर नयी परम्पराएँ स्थापित की गयीं। एक दृष्टि से इस में पहले की वास्तु शैलियाँ, प्रवृत्तियाँ और गतिविधियाँ अपनी चरम सीमा तक गयीं तथा उनके और अधिक विकास की गुंजाइश नहीं रही। दूसरी दृष्टि से इसी एक नये युग का आरम्भ हुआ, जिसका मंदिरों के विकास और उत्थान से विशेष है। यह एक ऐसा सृजनात्मक और निर्माणात्मक युग है, जिसमें भविष्य के लिए सम्भावनाएँ निहित थीं और जिसमें भारतीय मन्दिर की प्रतिनिधि वास्तु शैली को रखी गयी।

I. गुफा वास्तुशिल्प

चट्टानों को काटकर खुदाई करना, भारतीय वास्तुशिल्प का एक ऐसा पह जो इससे पूर्वकालीन युग की विशेषता थी। निस्सन्देह यह पूर्ववर्ती शैली इसलिए रही, कि बहुत अरसे से लोग इस शैली से परिचित थे। इसके अलावा इस शैली संरचनात्मक समस्या नहीं पैदा होती थी। इस किस्म की अधिकांश गुफाएं बनवायी थीं, हालांकि ब्राह्मण-प्रधान तथा जैन प्रतिष्ठानों में भी यह शैली दुर्लभ

पूर्ववर्ती काल की तरह इस काल में भी चट्टान खोद कर बनायी गयी वास्तुकला की इमारतें दो परम्परागत किस्म की हैं—चैत्य हॉल, अर्थात् मुख्य स्थल, और **संघाराम** या **विहार** अर्थात् मठ। इनमें से सबसे अधिक विख्यात अजन्ता, एलोरा और औरंगाबाद में (जो पुराने हैदराबाद और आधुनिक आन्ध्र में हैं) तथा मध्यभारत (मध्य प्रदेश) के बाग नामक स्थान में हैं। इनमें अज इतिहास बहुत पुराना है। इसकी कुछ गुफाएँ ईसा पूर्व काल की हैं। अजन्ता की गुफाओं में से पाँच पूर्ववर्ती काल की हैं, और बाकी तेईस लगता है कि हमारे काल में ही खोदी गयी थीं। इनमें से दो, अर्थात् गुफा नम्बर १९ और २६, चैत्य हैं शेष विहार हैं।

१. चैत्य हॉल

गुफा नम्बर २९ इन दोनों चैत्य हालों से पूर्ववर्ती मालूम होती है। पुरानी गुफाओं, नम्बर ९ और १० से काफी बाद की होने के बावजूद, इसके नक्शे में प्रा

आदिरूपों की संरचना को कायम रखा गया है, लेकिन अग्रभाग के अलंकरणों के स्तम्भों के नमूनों में बहुत से परिवर्तन किये गये हैं। यह चैत्य बहुत से मठों था, जिनमें से गुफाएँ नम्बर १६ और १७ क्रमशः वाकाटक राजा हरिषेण[1] मन्त्री और एक सामन्त की भक्तिपूर्ण भेंट थीं। इसलिए इन गुफाओं का काल सदी के अन्त और छठी सदी के शुरू में निर्धारित किया जा सकता है।

नम्बर १९ (फ. I, १) आकार में सबसे छोटी है। इसमें एक समकोणिक हॉल है, जिसके अन्त में अर्धवृत्ताकार कक्ष है। चारों ओर हाल में नक्काशी की कतार है, जिन्होंने हॉल के मध्य भाग को, पार्श्वभागों से अलग कर दिया कतार अर्द्धवृत्ताकार कक्ष के अन्त में स्थित मन्नती चैत्य के गिर्द तक चली गयी स्तम्भों के ऊपर ब्रैकेट बने हैं, जो मध्यभाग तक फैले एक चौड़े और अलंकृत को सहारा देते हैं। इसके ऊपर गुम्बदाकार छत है, और प्रारम्भिक गुफाओं की पट्टियों की यहाँ पत्थर में नकल की गयी है। मन्नती **स्तूप** एक लम्बे का बना है, जिसकी आधारभूमि एक ऊपर उठा हुआ चबूतरा है, जो चौकोर है, लेकिन दोनों तरफ, बीच के हिस्से का सहारा लेकर बाहर की तरफ निकला है। उसके ऊपर और गढ़ंत द्वारा उससे पृथक्कृत स्तूप का ढोल या बेलनाकार पत्थर गया है, जिसपर बुद्ध की खड़ी हुई मुद्रा में आकृति उभारी गयी है, जो सामने की शक्ल के आले में बनी है। बेलनाकार ढोल के सिरे पर अलंकृत गढ़न है गुम्बद से इसे अलग करती है; बुद्ध की मूर्ति वाला वह आला या मेहराब में इसके मध्य भाग तक ही गया है। चौकोर हर्मिका के हर हिस्से के बीचोबीच है, जिस पर सीढ़ियों की शक्ल में एक उलटा पिरामिड बना है और उसके ऊपर का गोलाकार स्तम्भ है, जिसमें एक के ऊपर संकेन्द्रित तीन चक्र हैं, जो क्रमशः जाते हैं। अन्त में सबसे ऊपर एक कलश है।

मालूम होता है कि अजन्ता की गुफा नम्बर १९ में, मूल रूप से, भीतर दाखिल लिए एक आँगन का स्थान भी रखा गया था, जिसके दोनों तरफ उपप्रार्थनालय जाने वाले थे। हॉल में सिर्फ एक दरवाजा है, प्रवेश के लिए तंग ड्योढ़ी है, जिसकी छत के नीचे सहारा देने के लिए बड़े सुन्दर नमूने के स्तम्भ बने हैं।

अजन्ता की चैत्य गुफा नम्बर १६ (फ. I, २) का, जो कुछ बाद के काल की नक्शा, विन्यास और वास्तु-शिल्प गुफा नम्बर १९ जैसा है। लेकिन इसके अधिक समृद्ध और सूक्ष्म हैं, हालाँकि पहली गुफा की अपेक्षा ये खुरदुरे हैं और अनुपात और लयात्मक सन्तुलन का अभाव है। मन्नती स्तूप नक्काशी के काम से है। उसके सामने एक अलंकृत आले में **प्रलम्बपाद** आसन में बुद्ध की एक विशाल उभरी हुई है। मालूम होता है कि सामने की तरफ हाल की पूरी चौड़ाई तक एक चौड़ी ड्योढ़ी रही होगी, जिसमें तीन प्रवेश द्वार हैं, जबकि गुफा नम्बर १९ ही प्रवेश-द्वार है।

---

1. देखिए, ऊपर पृ० २१३।

अगर अजन्ता की गुफा नम्बर १९ और २६ की तुलना अजन्ता की ही अन्य स्थानों की गुफाओं से की जाए तो फौरन पता चल जाएगा कि हालाँकि आदि रूप, सामान्य विन्यास और नक्शे में अधिक अन्तर नहीं है, लेकिन अलंकरण शैलियों में गहरी असमानता है, जिससे पता चलता है कि जिन उपासकों के लिये बनायी गयी थीं, उनके दृष्टिकोण में बड़ा और महत्त्वपूर्ण अन्तर आ गया था। न नक्काशी और अलंकरणों के नमूनों और निर्माण में अधिक प्रचुरता है बल्कि उनके काम करने वाली चिन्तन-पद्धतियाँ भी अलग हैं। एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह दि देता है कि हालाँकि कुछ दृष्टियों से इन हालों के मूल काष्ठरूप अभी तक चले आ लेकिन काष्ठ की शैलियों और प्रविधि (तकनीक) पर इतना जोर नहीं रहा। ठोस चट्टान से इन गुफाओं की खुदाई की गयी थी, उनमें आकार, वजन और की सम्भावना थी। कारीगरों ने इसका पूरा फायदा उठाया। नक्काशी की सिर्फ सजावट के लिए नहीं, बल्कि पूरे ढांचे को उद्भासित करने के लिए है।

इन गुफाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नवीनता मूर्तियों की प्रचुरता है। सम्भव स्थान को, अग्रभाग तथा भीतरी भाग को, मूर्तियों से भरा गया प्रारम्भिक गुफाओं के वास्तुशिल्प में अपेक्षाकृत अधिक सादगी थी। लेकिन अग्रभा निस्सन्देह, प्रारम्भिक नमूनों का विकसित रूप दिखाई देता है। समूचे अग्रभा लम्बाई में फैली पटरी का नमूना छोड़ कर दोहरी गोल कॉर्निस दी गयी है, जि पूरी सतह में छोटे-छोटे चैत्य-गवाक्ष उभरे हुए हैं। इन गवाक्षों का आकार बहुत कर दिया गया है और ये सिर्फ सिर बाहर निकालने के लिए चौखटों का काम दे ऊपरी कॉर्निस पर बनी घोड़े के नाल के आकार की विशाल-चैत्य-खिड़की बहु पर्दे के आगे उभरी हुई है। इस सामान्य और परम्परागत विशिष्टता के सिवा अ का प्रारम्भिक गुफाओं की शैली से बहुत कम सम्बन्ध है। ऊपर और नीचे, और बायें, खुदाई किये गये प्रांगण (फ. I, १) में, गैलरी के वीथिका स्तम्भों बनी चित्रवल्लरी में (फ. III, ५), और अन्त में, जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मन्नती चैत्य में श्रद्धास्पद बुद्ध की प्रतिमाएँ खड़ी या बैठी मुद्रा में—उभार अंकित की गयी हैं। दरअसल इस प्रकार के पूर्ववर्ती चैत्यों से विपरीत, प्रतिमाएँ नहीं होती थीं, इन गुफाओं में प्रतिमाओं की भरमार है। इन गुफा बारे में फरगूसन ने ठीक ही लिखा है, "विशुद्ध अनीश्वरवाद से गुजर कर हम अ मूर्तिपूजा के युग में प्रवेश करते हैं।"[1]

एलोरा की गुफा नम्बर १० (फ. II, ३.४), जो विश्वकर्मा गुफा के ना प्रसिद्ध है, खोद कर बनाये गये चैत्य हॉल के नवीनतम नमूनों में से एक है। यह अजन्ता के उन दोनों चैत्यों से मिलता है, जिनका जिक्र हम अभी कर चुके हैं। भीत विन्यास करीब एक सा है, लेकिन नक्काशी के अलंकरणों में उतनी समृद्धि या प्रचु

---

[1] हि. इ. ई. आ. I, पृ. १५१।

कुछ दृष्टियों से यह चैत्य इस प्रकार के बौद्ध मन्दिरों में एक महत्त्वपूर्ण विकास प्रतिनिधित्व करता है। हाल के अर्द्धवृत्ताकार कक्ष का कोना पूरी तरह से ने घेर रखा है, जो आकार और रूप में दूसरे चैत्यों से भिन्न नहीं है, लेकिन की एक विशाल मूर्ति की स्थापना के लिए पूरी तरह से पृष्ठभूमि में डाल दिया इस मूर्ति में बुद्ध को दो खड़े हुए सेवकों के बीच प्रलम्बपाद आसन में दिखाया यह मूर्ति अग्रभाग का काम देती है और उपासना की मुख्य वस्तु है।

चैत्य की बाहरी अग्रभाग (फ. II, ३) में एक उल्लेखनीय परिवर्तन साफ ता है। यहाँ पर सामने के प्रांगण का अधिकांश भाग निकाल दिया गया है। भाग को भी दो अनुभागों में बाँट दिया गया है; निचला अनुभाग एक द्वार-मंडप) है, जिसमें स्तम्भ की पंक्ति है। ऊपर के अनुभाग में एक ऐसी-संरचना के है, जो इस सन्दर्भ में एकदम असामान्य है। घोड़े की नाल वाली आकृति का द्वार, जो इस प्रकार के चैत्यों के अग्रभाग को विशिष्टता प्रदान करता था, उसका पर पहली बार देखने को मिलता है। यह डिजाइन एकदम त्याग नहीं दी उसका आकार छोटा कर दिया है, और जैसा हम इस चैत्य के छोटे से, लगभग द्वार को देखकर अनुमान कर सकते हैं, इससे उसका विशिष्ट अर्थ ही नहीं बल्कि प्रत्यक्षत: उसका परम्परागत महत्त्व भी खत्म हो गया है। सम्भवत: आने वाले परिवर्तनों का पूर्वाभास है। प्रतिमा-प्रचलन और उसकी के बाद चैत्य पूर्ववर्ती कालों की तरह श्रद्धा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र नहीं था। अजन्ता और एलोरा में चैत्य की बेदी पर बुद्ध की प्रतिमाएं स्थापित इस बात का सूचक है कि अब चैत्य अपने आपमें इतना पुनीत नहीं माना जाता बौद्ध उपासकों की श्रद्धा और उपासना का केन्द्र बना रहता, जिनके दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे। चैत्य को यह पुनीत गौरव प्रदान करने "श्रद्धास्पद बुद्ध" की प्रतिमा की जरूरत पड़ गयी थी। एलोरा की विश्वकर्मा एक प्रकार से प्रतिमा की पृष्ठभूमि बन कर (फ. II, ४) अपनी पुरानी विशेषता पूरी तरह खो देता है। हालाँकि इस प्रक्रिया में काफी समय लग गया, प्रतिमा ने चैत्यों में प्रवेश पा लिया और बौद्ध उपासना में अपना सही स्थान बना इस प्रकार चैत्य की उपयोगिता समाप्त हो गयी और इसमें आश्चर्य की बात कालान्तर में भारतीय वास्तुशिल्प की दुनिया से इस प्रकार के मन्दिर जल्दी हो गये।

२. संघाराम

राम या विहार की योजना स्वभावत: बीच के प्रागंण के चारों ओर कोठरियों रों के रूप में होती थी। चट्टानों को खोदकर बनाये गये विहारों में यह प्रांगण य हाल का रूप धारण कर लेता था, जिसमें एक ओर भीतर जाने का रास्ता , और उसके तीनों तरफ कोठरियां होती थीं। अजन्ता की अनेक विहार-गुफाओं

में लगभग बीस विवेच्यकाल की हैं। गुफा नम्बर ११ सबसे बाद की मालूम हो और पूर्ववर्ती काल की १२ और १३ नम्बर की गुफाओं की तुलना में अधिक वास्तुशिल्प की सूचक है। पुरानी गुफाओं में केन्द्रीय हाल बिना स्तम्भों का है। गुफा नम्बर ११ का हाल १२ नम्बर की गुफा के मुकाबले में क्षेत्रफल में छोटा है, उसके बीच में चार स्तम्भ लगाये गये हैं (चित्र-१)। जाहिर है कि वे छत को संभालने के लिए हैं। हाल के गिर्द टेढ़ी-मेढ़ी शक्ल की कुछ कोठरियां हैं।

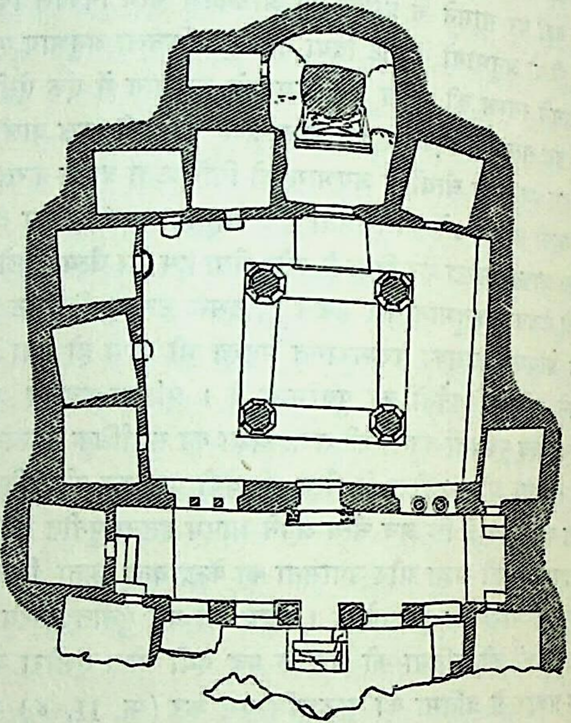

चित्र नं० १ अजन्ता

दाखिल होने से पहले एक बरामदा है, जिसमें स्तम्भों की एक कतार है और का अग्रभाग है। हाल की पिछली दीवार के पास तीन कोठरियों में से बीच की को काटकर बुद्ध की बैठी हुई प्रतिमा तराशी गयी है। यह मन्दिर सम्भवतः की खुदाई के बाद की तारीख का है। यह तारीख भी अनिश्चित है, लेकिन श्रीयज्ञ गुफा से तुलना करने पर ऐसा लगता है कि इसके लिए सन् ४०० ईसवी की निर्धारित करना बहुत गलत नहीं होगा।

गुफा नम्बर ११, शायद, चट्टान काटकर बनाये गये विहारों में स्तम्भों के की सबसे पुरानी मिसाल है, लेकिन ऐसा लगता है कि कुछ काल तक दुविधा और की स्थिति बनी रही। उसके बाद ही इस प्रणाली को पूरी तरह सुसम्बद्ध

जिससे उसमें रंजनकारी और उपयोगी तत्त्वों का सामंजस्य हो सका, और जिसने आन्तरिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि करके उसे प्रभावशाली बना दिया। गुफा में चार-चार स्तम्भों के दो समूह हैं, जो अगल-बगल में रखे गये हैं, जबकि गुफा की निचली मंजिल में, जो अजन्ता में दुमंजिली गुफा की एक मात्र मिसाल है, चार में हैं और फिर हाल के चारों ओर स्तम्भों की एक माला है। इन दोनों में की संयोजना सन्तोषजनक नहीं समझी गयी; पहली तो इसलिए कि हाल की योजना में वह अनुपयुक्त थी और दूसरी इसलिए कि स्तम्भों के दो समूहों के जो एक दूसरे के साथ लगे थे, सारा हाल अति संकुलित दिखाई देता था। लेकिन ों से अन्ततः हाल के चतुर्दिक् बनी स्तंभावलि का एक सामंजस्यपूर्ण और अभिकल्प (डिजाइन) बना, जैसा हमें गुफा नम्बर ६ की ऊपर वाली मंजिल बाद की सभी मिसालों में देखने को मिलता है। स्तम्भों के प्रयोग का यह अधिक था, क्योंकि छत को सहारा देने के साथ-साथ, वे आन्तरिक सजावट को भी बनाते थे। इन स्तम्भों के नियमित अभिकल्प (डिजाइन) और उन पर प्रचुर मात्रा में बनाये गये अलंकरण ने उनको अपार सौन्दर्य-वैभव प्रदान है, जो कुछ गुफाओं में भित्तिचित्रों के कारण और भी बढ़ गया है।

की अन्य विहार गुफाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण गुफाएं नम्बर १६, १७, हैं। इनमें से पहली दो वाकाटक राजा हरिषेण के शासन-काल में सन् ५०० ई० खोदी गयी थीं और अन्तिम दो, इससे लगभग एक शताब्दी बाद। इन गुफाओं शानदार भित्तिचित्रों के कारण भी अत्यधिक महत्त्व है। नम्बर १६ की गुफा हाल लगभग ६५ फुट लम्बा और ६५ फुट ही चौड़ा है, जिसमें चतुर्दिक् बीस स्तम्भावलि है, पृष्ठ-भाग में अन्दर की ओर खोद कर बनाये गये गर्भगृह में लम्बपाद आसन में प्रतिमा है और एक बरामदा है, जिसकी छत सामने के पाँच टिकी है। बरामदे और हाल की दोनों बगलों में खोद कर बनायी गई चौदह हैं, जबकि गर्भगृह के दोनों ओर भी एक-एक कोठरी है। इस प्रकार उसमें कोठरियाँ हैं। गुफा नम्बर १७ का अभिकल्प (डिजाइन) भी इससे बहुत -जुलता है। भित्ति चित्रों के अलावा ये गुफाएँ विभिन्न प्रकार की गढ़न के और उनके असाधारण सौंदर्य के लिए भी उल्लेखनीय हैं। हालांकि गढ़न में स्तम्भ दूसरे से नहीं मिलता, फिर भी, जैसा फर्गुसन (Fergusson) ने कहा "अभिकल्प (डिजाइन) और रूपाकार (फार्म) का एक व्यापक सामंजस्य वैविध्य को अप्रिय नहीं होने देता।"[1] गुफा नम्बर १६ की विशेषता उसके या सर्पिल लम्बी धारी वाले स्तम्भ हैं, जिनके शीर्ष गोलाकार हैं और उन पर पट्टियाँ बनी हुई हैं। गुफा नम्बर १७ के स्तम्भों के तले और शीर्ष आमतौर हैं और बीच में धारीदार हैं। आड़ी कड़ियों को थामने वाले ब्रैकटों की शक्ल

---

[1] हि. इ. ई. आ. I, पृ० १९१.

पल्थी मारकर बैठे वामनों की है, जिनके मुख नीचे की ओर हैं। यह डिजाइन लकड़ी में खुदाई किये गए डिजाइनों की याद दिलाती है, लेकिन अद्‌भुत रूप से साम पूर्ण और सन्तोषजनक है।

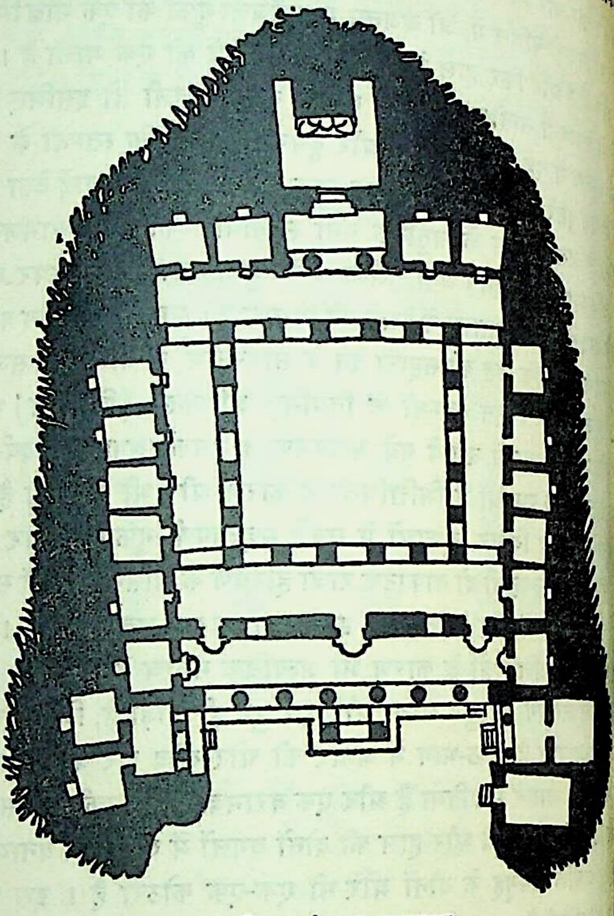

चित्र नं० २ अजन्ता

अजन्ता की गुफा नम्बर १ भी लगभग इतनी ही बड़ी है और बहु अभिकल्प (डिजाइन) पर खोदी गयी है (चित्र २)। उसका अग्रभाग (अपने वर्ग के स्थापत्य में सबसे अधिक अलंकृत और सुन्दर है। उसके खम्भों नक्काशी और मूर्तियों से बनी चित्रवल्लरियाँ उदात्त और भव्य प्रभाव उत्प हैं। गुफा नम्बर २ भी उतनी ही अलंकृत है, लेकिन उसके अभिकल्प (डि सम्मितता और एकरूपता होने के कारण स्थापत्य में एक उच्चतर धार (चित्र ३)। इन दोनों गुफाओं से, जो लगभग ६०० ई० की हैं, जाहिर होता है युग की कला की समृद्ध परम्परा, जो उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य के विघट ह्रासोन्मुखी हो चली थी, दक्षिणापथ में श्रेष्ठ कला के निर्माण में प्रेरक शक्ति कर रही थी।

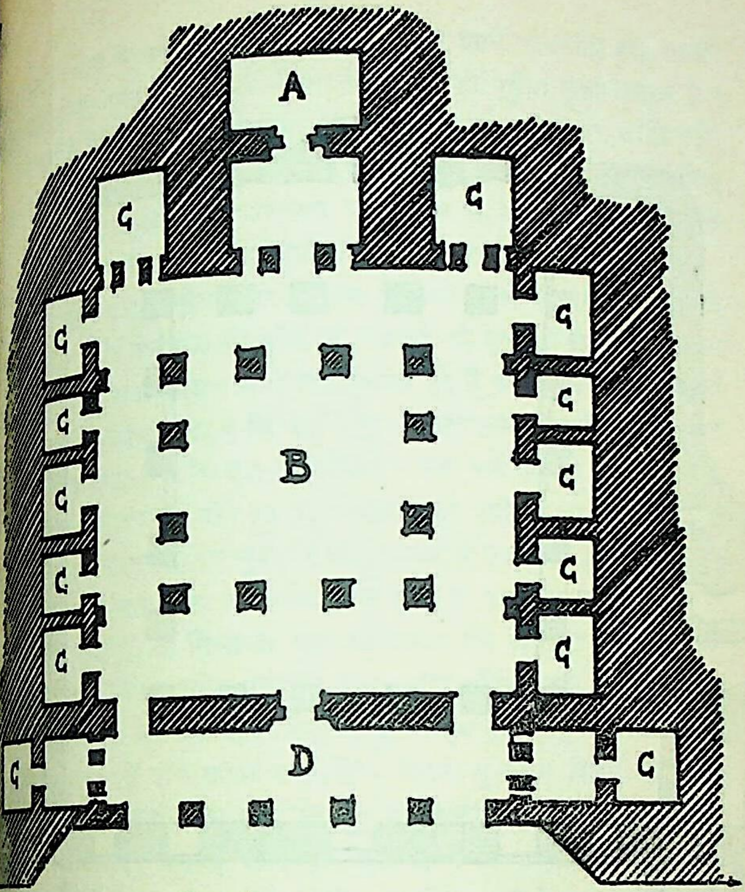

चित्र नं० ३ अजन्ता

म्बर १ और २ की गुफाएँ पूरी होने के बाद अजन्ता में कुछ और गुफाएँ खोदी ं, लेकिन ऐसा लगता है कि उनमें से कोई भी पूरी नहीं की जा सकी। इनमें गुफा और २४ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि अगर अपने अभिकल्प (डिजाइन) िक उनको पूरा करके अलंकृत किया गया होता तो वे अजन्ता की गुफाओं में ेष्ठ और सुन्दर होतीं। नम्बर ४ की गुफा का चौकोर हाल ८७ फुट लम्बा और है, अर्थात् अजन्ता की गुफाओं में सबसे बड़ा है। उसकी छत २८ स्तम्भों पर टिकी है। भिक्षुओं की कोठरियों को छोड़कर वैसे यह गुफा पूरी हो चुकी है। गुफा नम्बर त्र ४), जिसका हाल ७५ फुट लम्बा और चौड़ा था, और जिसमें शायद २० होंगे, बहुत अधवनी हालत में है, सिर्फ उसका बरामदा और उसके अग्रभाग के ही पूरे हो सके थे। दुर्भाग्य से एक को छोड़कर (फ. IV., ८) बाकी सारे स्तम्भ हो चुके हैं। लेकिन अभिकल्प (डिजाइन) की भव्यता और छत के प्रस्तरपादों से र शीर्षों की कुशल कारीगरी से अनुमान होता है कि इसे अजन्ता के विहारों में ुन्दर बनाने का इरादा रहा होगा। जो शीर्ष "कलश और पर्णावली" के नाम

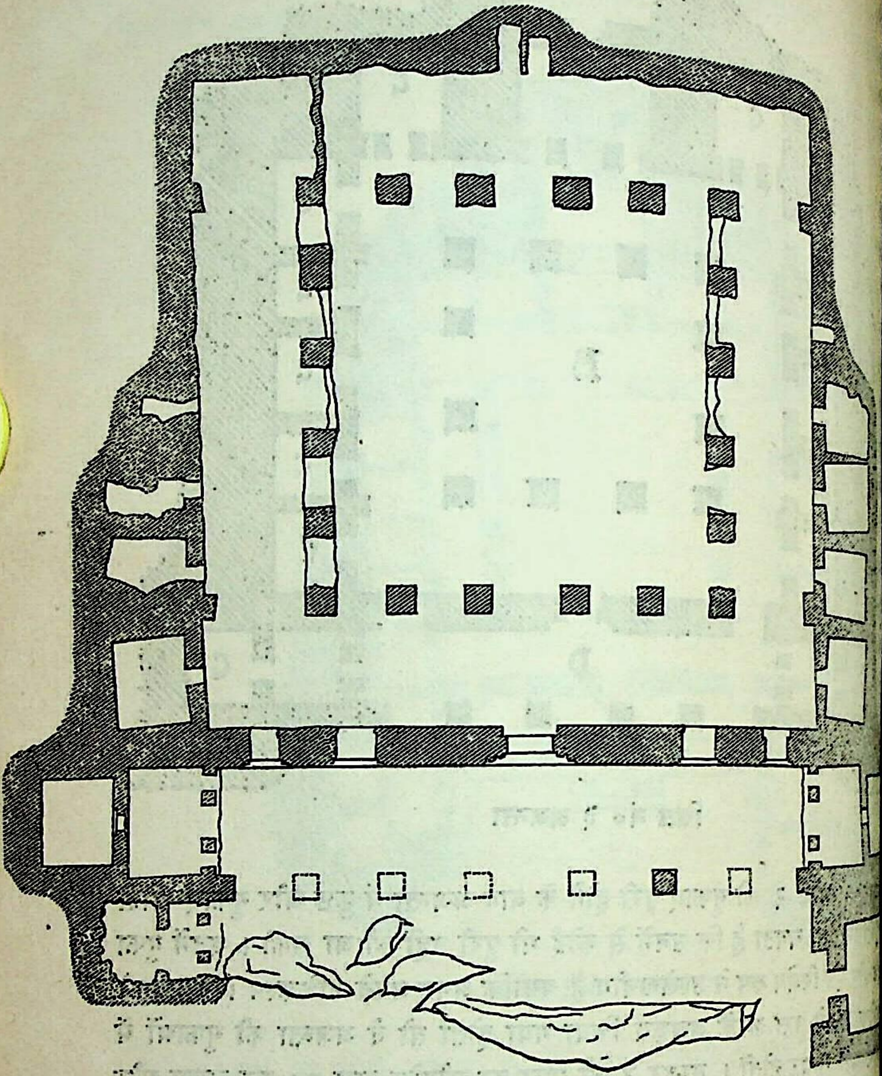

चित्र नं० ४ अजन्ता

हैं और जो बाद में चलकर भारतीय वास्तुकला में इतने लोकप्रिय हुए, उनका
अजन्ता की गुफा नम्बर २४ में अपनी पूर्णता को पहुँचा हुआ लगता है।
जा सकता है कि इसके द्वारा अजन्ता की परम्परा अन्य स्थानों पर जारी रही,
विद्वानों के अनुसार सन् ६४२ ई० में नरसिंह -वर्मन् पल्लव के हाथों पुलकेशिन्
पराजय और उसके परिणामस्वरूप दक्षिणापथ में अराजकता की स्थिति
ने के कारण अजन्ता में निर्माण-कार्य बन्द हो गया था।

न्ता से करीब १५० मील उत्तर-पश्चिम में, मध्य प्रदेश में, स्थित बाघ की
फाएँ योजना और संरचना की दृष्टि से अजन्ता की गुफाओं से निकट साम्य
। लेकिन वे अपेक्षया अधिक सीधे-सादे किस्म की हैं और अजंता से उनका
इस बात में नजर आता है कि वहाँ हाल के अन्तरतम भाग के अन्त में बने
अन्दर चैत्य होता है न कि बुद्ध की प्रतिमा। एक फर्क यह भी है कि बाघ के
विहार में एक शाला भी बनी हुई है, जिसका क्या प्रयोजन था, इसका ठीक
नहीं किया जा सकता। इन गुफाओं की बनावट में एक और दिलचस्प तत्त्व
बीच के हाल में सामान्यतः जो स्तम्भावलि होती है, उसके मध्य में एक और
खड़ी की गयी है, जो निस्सन्देह छत को सहारा देने के लिए जरूरी समझी
क्योंकि बाघ की शिला पर्याप्त मात्रा में समांग और बढ़िया नहीं है।

में नौ गुफाएँ हैं। अब तक प्राप्त प्रमाणों से जाहिर होता है कि ये गुफाएँ
और ६०० ई० के बीच खोदी गयी थीं। लेकिन मुलायम किस्म की शिला
कारण अधिकांश गुफाएँ ह्रास और स्खलन की शिकार हो गयी हैं। इनमें से
की गुफा (चित्र ५) अजन्ता की विहार गुफाओं से बिल्कुल मिलती है, सिर्फ
के बीच में भी चार स्तम्भ जोड़े गये हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण गुफा नम्बर ४ है,
विशाल विहार है और जिसका स्थानीय नाम रंगमहल है (चित्र ६)। इसका
करीब ९६ फुट लम्बा और चौड़ा है और अग्रभाग को छोड़कर बाकी तीनों
भिक्षुओं की कोठरियों की पाँत है। अजन्ता की गुफा नम्बर ४ की तरह इसे
स्तम्भों वाली गुफा कह सकते हैं, जिसके बीच में चार स्तम्भ और जोड़े गये
की गुफाओं की सामान्य विशेषता है। इस गुफा की सबसे दिलचस्प विशेषता
इसके आगे एक अत्यन्त अलंकृत नक्काशी से युक्त द्वारमंडप (पोर्च) है (फ.
)। एक विशाल प्रस्तर खंड बाहर निकला हुआ है, जो दो गोलाकार स्तम्भों पर
और सामने की बगल को छोड़कर दोनों बगलों के मध्य से अन्दर की ओर प्रक्षेपित
। विहार में ऐसा अलंकृत द्वारमंडप (पोर्च) इस गुफा की ही विशेषता है जो
नहीं मिलता। इसी से लगा हुआ एक समकोणिक हॉल है जो लगभग ९६
और ४४ फुट अन्दर की ओर चौड़ा है, जो २२० फुट लम्बे बरामदे (चित्र ७)
हले की गुफा से जुड़ा है। बरामदे की छत को सहारा देने वाले २० स्तम्भों की
ही बहुत शानदार लगती होगी, लेकिन उनमें से अधिकांश अब नष्ट हो
इस समकोणिक हाल को आमतौर पर शाला का नाम दिया गया है, जो मुख्य

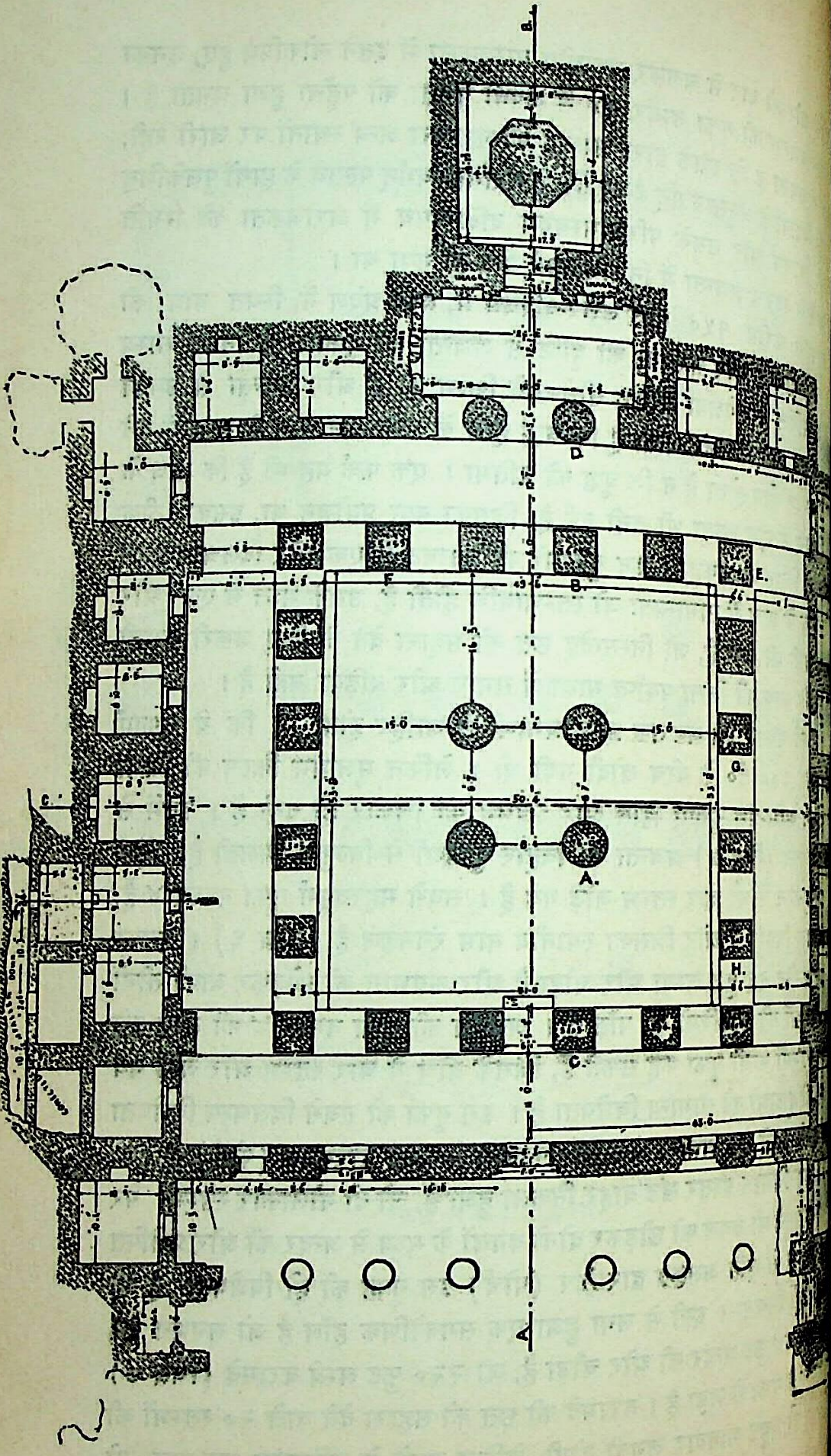
B.
D.
E.
F
B.
43.6
16.5
15.0
15.0
G.
C.
50.4
A.
H.
C.
65.0
10.0
A.

चित्र नं० ५ ग्राफ़ .

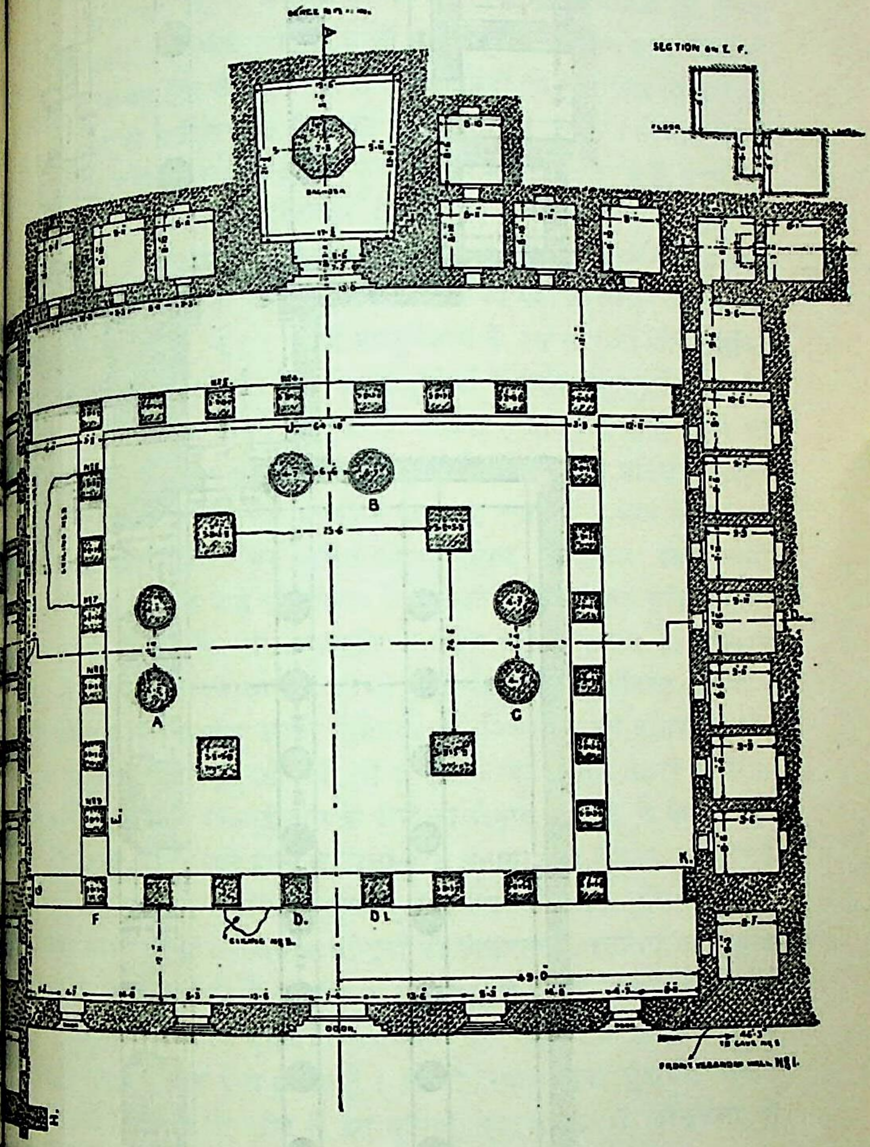
SECTION ON E. F.
FLOOR
DAGHOBA
7·3
13·6
64·10
25·6
26·6
A
B
C
D.
D1
F
K.
H.
49·0
DOOR
46·3
TO CAVE No.3
FRONT VERANDAH WALL No.1

चित्र नं० ६ बाघ

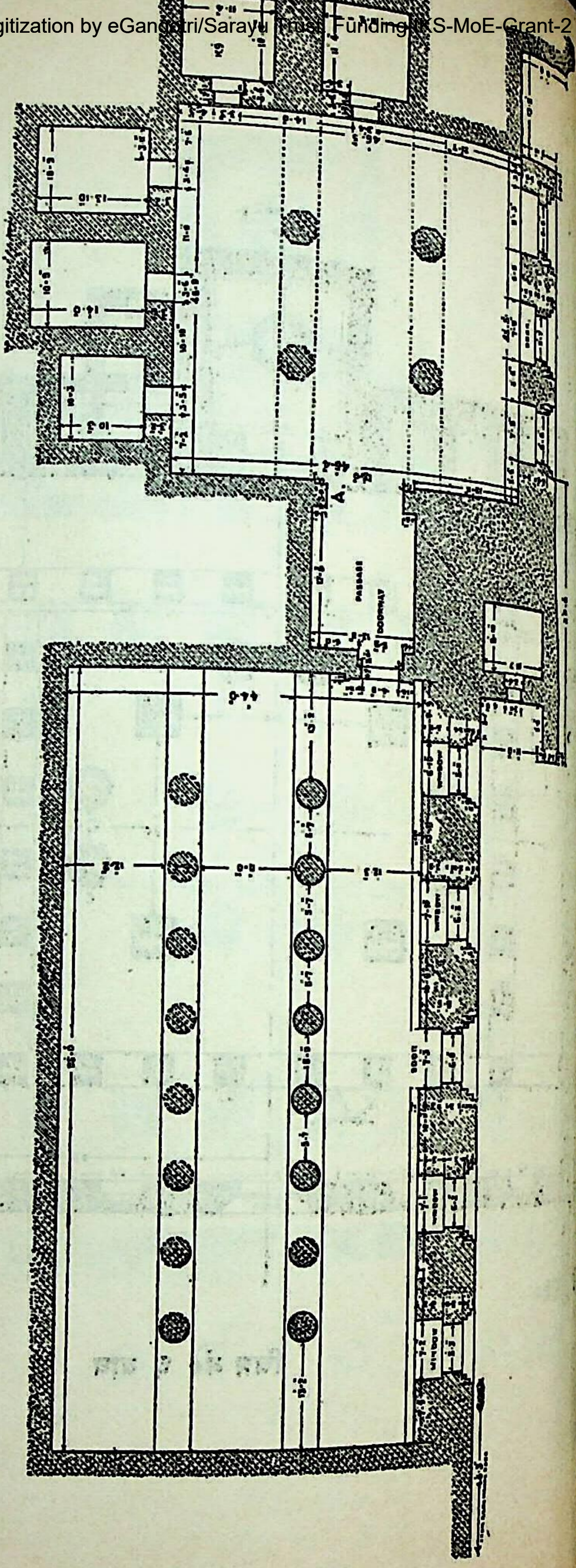
PASSAGE
DOORWAY
A

चित्र नं० ७ बाघ

र के साथ सम्बद्ध थी, और दोनों गुफाएँ कभी भित्ति-चित्रों से अजन्ता की तरह ही शायद उससे भी श्रेष्ठ चित्रों द्वारा सजायी गयी होंगी।

औरंगाबाद[1] के निकट शिला काटकर बनायी गई, तीन समूहों में बंटी हुई, बारह हैं। इनमें सिर्फ एक ही **चैत्य** गुफा है, बाकी सब विहार हैं। **चैत्य** गुफा की शैली नुमान होता है कि वह ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी की है, लेकिन विहारों को सी प्रकार ईसा की छठी सदी से पहले का नहीं माना जा सकता। सम्भावना इस ती है कि ये विहार सातवीं सदी के हैं और उनमें से जो अधिक महत्त्व के हैं, वे सातवीं के अन्तिम काल के हैं। उनके अभिकल्प (डिजाइन) और अलंकरण अजन्ता की बाद में खोदी हुई गुफाओं का स्मरण दिलाते हैं; यद्यपि यहाँ पर अजन्ता -अभिप्रायों की बड़ी कुशलता और सूक्ष्मता से नकल की गयी है, लेकिन वे यान्त्रिक निर्जीव हो गये हैं (फ. V. ६)। उनमें वास्तु-शिल्प के उस सन्तुलन और संसक्ति भाव है जो अजन्ता की विशेषता है। विहार-गुफाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण तीन और म्बर की गुफाएँ हैं। तीन नम्बर की गुफा की योजना (प्लान) सामान्य प्रकार की समें हॉल के अन्त में बने गर्भ-गृह के अन्दर बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा स्थापित इस प्रतिमा के आगे पुरुष और स्त्री भक्तों के दो समूह उपासना के भाव में झुके हुए ये गये हैं। इन आकृतियों में हर व्यक्ति का चारित्रिक वैशिष्ट्य इतनी खूबी अंकित किया गया है कि उन्हें औरंगाबाद के कलाकारों की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ माना है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-आकृति के तक्षण में औरंगाबाद के कलाकार थे। ये प्रतिमाएँ विशाल आकार की ही नहीं थीं, बल्कि निर्भीकता से उभारे और सजीवता का आभास उनकी विशेषता थी, विशेषकर उन प्रतिमाओं की, र्मिक रूढ़ियों में बंधकर नहीं गढ़ी गयी थीं। गुफा नम्बर ७ एक प्रकार से असा- डिजाइन की है। इसमें गर्भ-गृह हाल के पीछे की दीवार में कक्ष के रूप में नहीं प्रायः होता था, बल्कि उसे हाल के बीचों-बीच बनाया गया है और उसके गिर्द के लिए मार्ग रखा गया है और भिक्षुओं के कक्ष उसके गिर्द हैं। चूंकि ऐसा गर्भ- खोदकर बनाये गये ब्राह्मण-प्रधान मन्दिरों की विशेषता है, इसलिए यह सुझाव नहीं लगता कि बौद्ध चैत्य के निर्माण में यहाँ ब्राह्मण-प्रधान मन्दिरों की नकल है। इस गुफा में भी अनेक मूर्तियाँ तराशी गयी हैं, यहाँ तक कि गर्भगृह के भी मूर्तियों में नृत्य का एक दृश्य अंकित है। अपनी स्वाभाविक मुद्राओं, सुन्दर और उदात्त कल्पना की दृष्टि से इन मूर्तियों को भारत में बौद्धकला के नमूनों में गिना जा सकता है।

लोरा में खोदी हुई गुफाएँ एक नीची पहाड़ी के लगभग एक मील लम्बे भाग में हैं। इस पहाड़ी के आगे एक विशाल मैदान है। यहाँ तीन वर्ग की गुफाएँ हैं—बौद्ध -प्रधान और जैन धर्मावलम्बियों की। दक्षिणी कोने पर स्थित १२ गुफाएँ बौद्ध

---

[1] इ. आ. ले., xi, १९३७, पृ० १ प. पृ।

की हैं जिन्हें खोदने में दो सौ वर्ष लगे थे, सम्भवतः सन् ५५० से ७५० तक। इन गुफाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। नम्बर १ से लेकर ५ तक की गुफाएँ, पहाड़ी के बिलकुल दक्षिणी कोने में स्थित हैं, पहले के समय की हैं। नम्बर ५ की गु को छोड़कर, जो गहनवाड के नाम से ज्ञात है, बाकी चार गुफाएँ अजन्ता के चैत्यों से भिन्न नहीं हैं। वे सब सिर्फ एक मंजिल की हैं और उनमें एक केन्द्रीय हाल है, जिसमें के लिए बाहर के बरामदे से होकर जाना पड़ता है। भीतरी हाल की पिछली दीवार अन्दर की ओर खोदकर बनाये मन्दिर या गर्भ-गृह हैं और दोनों बगलों में भिक्षुओं लिए कोठरियाँ हैं। इनमें से गुफा नम्बर २ का विशेष रूप से उल्लेख जरूरी है, इसमें हाल की दोनों बगलों में खोद कर बनायी गई भिक्षुओं की कोठरियों के पर पार्श्वीय गैलरियाँ हैं, जो खानों में बंटी हुई हैं और हर खाने में बुद्ध की प्रतिमा तरह तराशी गयी है, जिस तरह हाल के अन्त में बने मुख्य गर्भ-गृह में।

गुफा नम्बर ५, अर्थात् महनवाड, एक असाधारण गुफा है। भारत के गुफा-मन्दिरों में उसकी कोई और मिसाल नहीं मिलती। विशाल आकार (दो गहरे

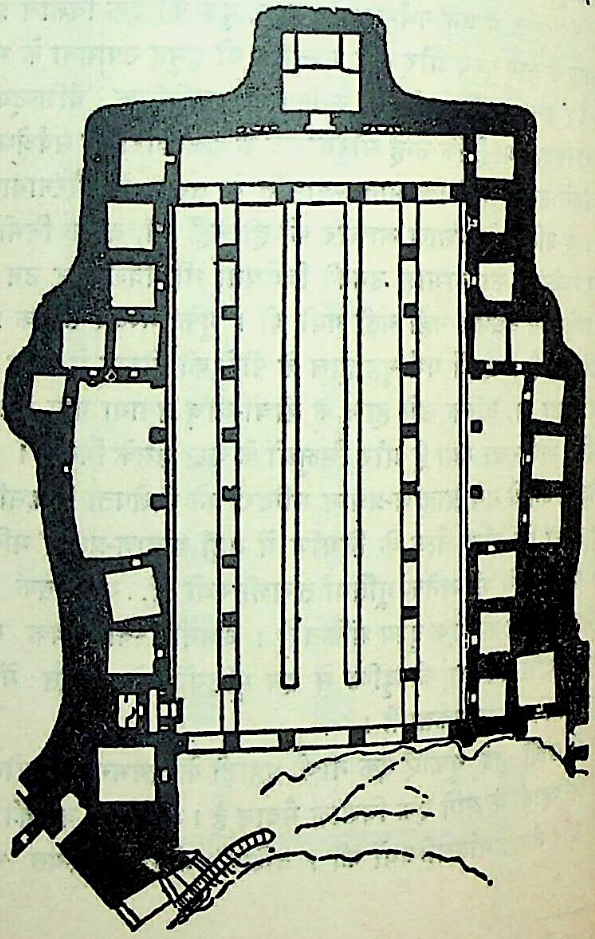

चित्र नं० ८ एलोरा

कोठरिकाओं के बीच ११७×७० फुट) की इस गुफा में एक लम्बा समकोणिक है। जो मध्यभाग और स्तम्भों की पंक्तियों से पार्श्व की गैलरियों में बंटा हुआ है जिसके अन्त में मन्दिर या गर्भ-गृह के कक्ष हैं, जिनके द्वार पार्श्वों की ओर से हैं ८)। मध्यभाग की लम्बाई में दो चबूतरे समानान्तर शुरू से अन्त तक बने हुए यह एक विशेषता है जो केवल कान्हेरि की दरबार-गुफा में ही मिलती है। इस कारण संरचना का ठीक-ठीक प्रयोजन निश्चित रूप से मालूम करना कठिन है। विद्वानों के अनुसार यह व्यवस्था शायद इसलिए की गयी थी कि इस हाल का प्रयोग भोज'[1] आदि के लिए भी किया जाता था, लेकिन सिक्किम की गुम्फाओं में लामाओं अर्चना-विधियों की मिसाल देकर दूसरे विद्वानों का कहना है कि यह व्यवस्था धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के विचार से की गयी होगी।[2]

दूसरे वर्ग में नम्बर ६ से १२ तक की गुफाएँ आती हैं। ये गुफाएँ अनुमानत: गुफाओं से बाद में खोदी गयी थीं, जिनका वर्णन अभी किया गया है। इनमें से विश्वकर्मा गुफा (नम्बर १०) एक चैत्य हाल है और उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। बाकी गुफाएँ भिक्षुओं के विहार हैं और अजन्ता के परवर्ती विहारों से मिलती-जुलती हैं। विश्वकर्मा के बगल की नम्बर ८ की गुफा इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसमें गर्भगृह स्वतन्त्र है और उसके गिर्द परिक्रमा का मार्ग बना है, (चित्र ९) जैसा औरंगाबाद कुछ गुफाओं में है।

लेकिन इस वर्ग की सबसे महत्त्वपूर्ण दो मंजिली गुफाएँ नम्बर ११ और १२ हैं, क्रमश: 'दोन थल' और 'तीन थल' के नामों से प्रसिद्ध हैं। ये दोनों गुफाएँ तीन-तीन मंजिलों की हैं; दोनों का नक्शा काफी कुछ एक जैसा है और उनके सामने बड़े-बड़े आँगन । दोन थल वास्तव में गलत नाम है, क्योंकि यह गुफा तीन मंजिलों की है। लेकिन इसकी पहली मंजिल लम्बे काल तक दृष्टि से ओझल रही, क्योंकि उसमें मलबा भरा हुआ था, और ऊपर की दो मंजिलें ही दिखाई देती थीं, जिससे शायद इसका दोन थल नाम पड़ गया था। इन दोनों गुफाओं में नम्बर १२ की गुफा अर्थात् तीन थल अपेक्षया अधिक विस्तृत है। शिला काट कर बनाये गये द्वार के भीतर एक खुला आँगन है, जिससे होकर गुफा का अग्रभाग तीन अलंकृत मंजिलों में सामने उभरता है (फ. vii, १३)। सामने से हर मंजिल पर आठ चकोर स्तम्भों वाला एक-एक बरामदा है, लेकिन भीतर की बनावट हर मंजिल की अलग-अलग है। निचली मंजिल का बरामदा तीन वीथियों बंटा हुआ है और उसमें से गुजर कर स्तम्भों वाले एक हाल में प्रवेश करते हैं जिसका गर्भगृह हाल की सबसे पीछे वाली दीवार में है और उसके दोनों ओर छोटे-छोटे चौकोर कक्ष बने हैं। एक कक्ष का ज़ीना दूसरी मंजिल पर जाता है। वहां भी स्तम्भों वाला विशाल हाल है (चित्र १०), जिसकी पिछली दीवार में खोदकर गर्भगृह बनाया गया है

---

[1] हि. इ. ई. आ. I, पृ० २०३।

[2] बा. इ. आ., पृ० ६९।

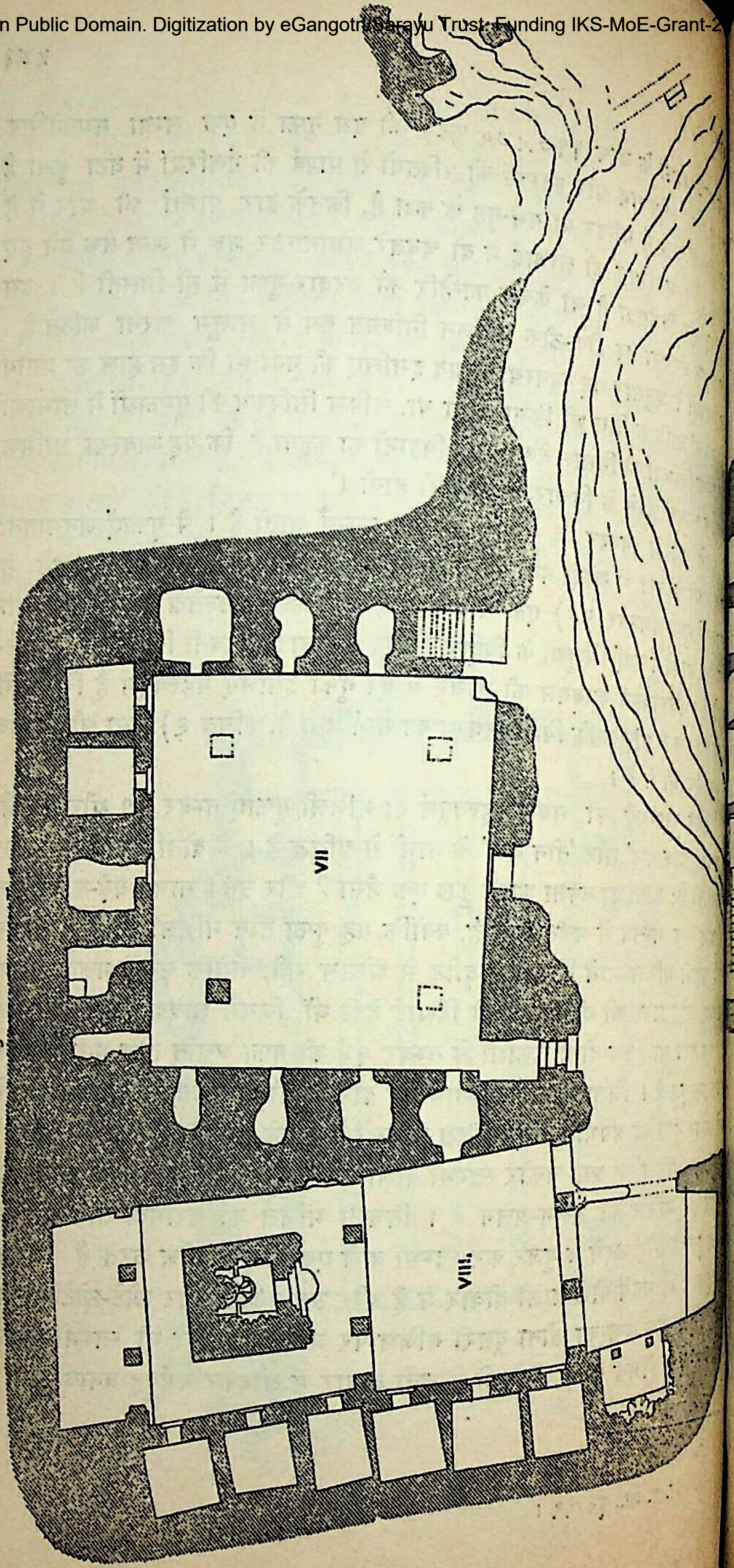
VII
VIII

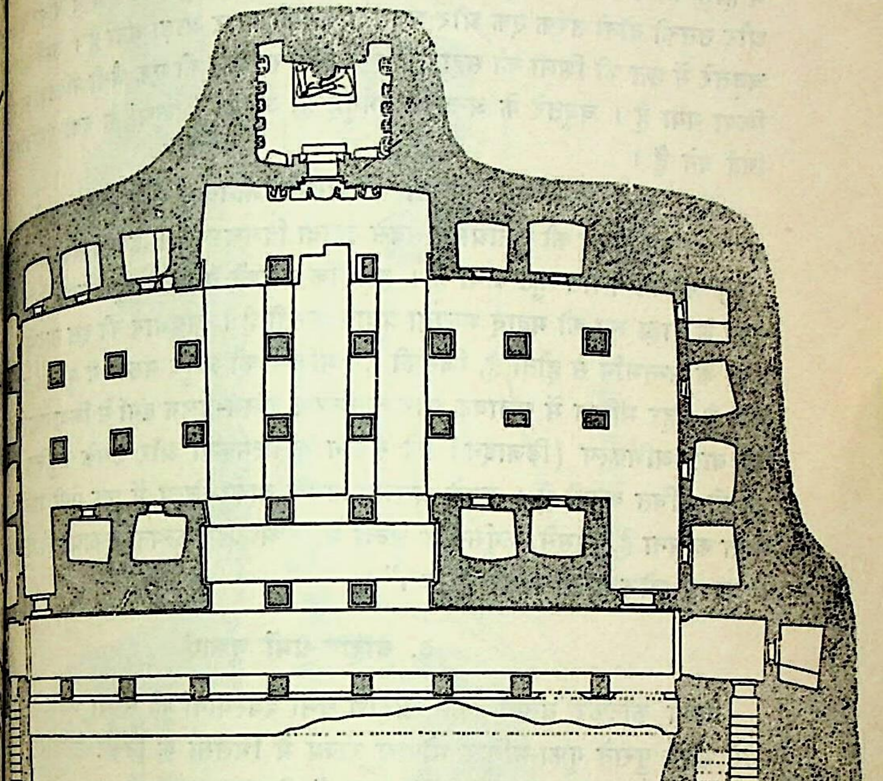

चित्र नं० १० एलोरा

और उसके दोनों तरफ मूर्तियों के लिए एक गैलरी बनी है जो प्रतिमा कक्ष का
देती है, जैसा हमने पहले वर्ग की गुफा नम्बर २ में देखा। सबसे ऊपर की तीसरी
में हाल का नक्शा सलीबनुमा है जिसमें अक्षीय रूप में चबूतरा शिला से जाकर
और उसकी दोनों तरफ एक और चबूतरा समकोण पर आड़ा बना है। लम्बे और
चबूतरे में छत की शिला को सहारा देने के लिए स्तम्भों की एक जैसी पंक्तियों का
किया गया है। चबूतरे के अन्त में गर्भगृह है, जबकि भिक्षुओं के कक्ष सलीबाकार
गिर्द बने हैं।

इन दोनों तिमंजिली गुफाओं में अधिक शानदार तीन थल गुफा है जो
भारत में इस किस्म की गुफाओं में सबसे ज्यादा दिलचस्प है। इसका अग्रभाग (फ.
१३) लगभग पचास फुट ऊंचा है। हालाँकि उसकी बनावट बहुत सादी है लेकिन
गुफा के बाह्य रूप को महान् भव्यता प्रदान करती है। अग्रभाग की इस सादगी की
गुफा के अन्तर्भाग से होती है, जिसकी हर मंजिल को प्रचुर संख्या में मूर्तियों से
गया है। हर मंजिल में सजावट और अलंकरण अलग-अलग ढंगों से किया गया है,
यह बात अभिकल्प (डिजाइन) की समान कलात्मकता और उसके संतुलित
को ही सूचित करती है। इसके अलावा उसके वास्तु-शिल्प में एक ऐसी शालीन
संयत कल्पना है, जिससे, फर्गूसन के शब्दों में,[1] "श्रेष्ठतर कल्पना गुफाओं की
में अन्यत्र खोज पाना कठिन होगा।"

३. ब्राह्मण-धर्मी गुफाएँ

शिला काटकर बनाये गये ब्राह्मण धर्मी देवस्थानों की संख्या भी कम नहीं
इनमें सबसे पुराने गुफा-मन्दिर भोपाल राज्य में भिलसा के निकट उदयगिरि[2]
उदयगिरि में इस प्रकार के अनेक देवस्थान हैं, जिनका कुछ भाग गुफा खोद कर
गया है और कुछ भाग पत्थरों से निर्मित है। इनमें से दो में चन्द्रगुप्त द्वितीय के
काल के अभिलेख उत्कीर्ण हैं। एक अभिलेख (गुप्त) संवत् ८२ का है, जो सन्
में पड़ेगा। इन देवस्थानों की, जो एक धार्मिक आन्दोलन का प्रतिनिधित्व
तारीख पाँचवीं सदी के आरम्भ में रखी जा सकती है।

इनमें सबसे पुराने देवस्थान की पहचान यह है कि वे "बनावटी गुफा" (नम्बर
पुकारे जाते हैं, क्योंकि एक कुदरती शिला-फलक के आगे खम्भेदार पोर्टिको
मन्दिर बना लिया गया है। बाकी मन्दिरों में भी इस बनावटी गुफा का
मिलता है। उनमें शिला के अन्दर सादे चौकोर गर्भगृह खोदकर उनके आगे
कम गहराई वाले बरामदे या पोर्टिको जोड़ दिये गये हैं। ये देवस्थान, जिनका
शिला खोदकर और कुछ भाग इमारती है, उस काल के इमारती मन्दिरों की
सम्बद्ध हैं, जिसका विवेचन बाद में किया जायेगा। नम्बर ६ की गुफा, जो

---

[1] हि. इ. ई. आ. ।, पृ० २०४.

[2] आ. स. क. —, ४१ प. पृ.

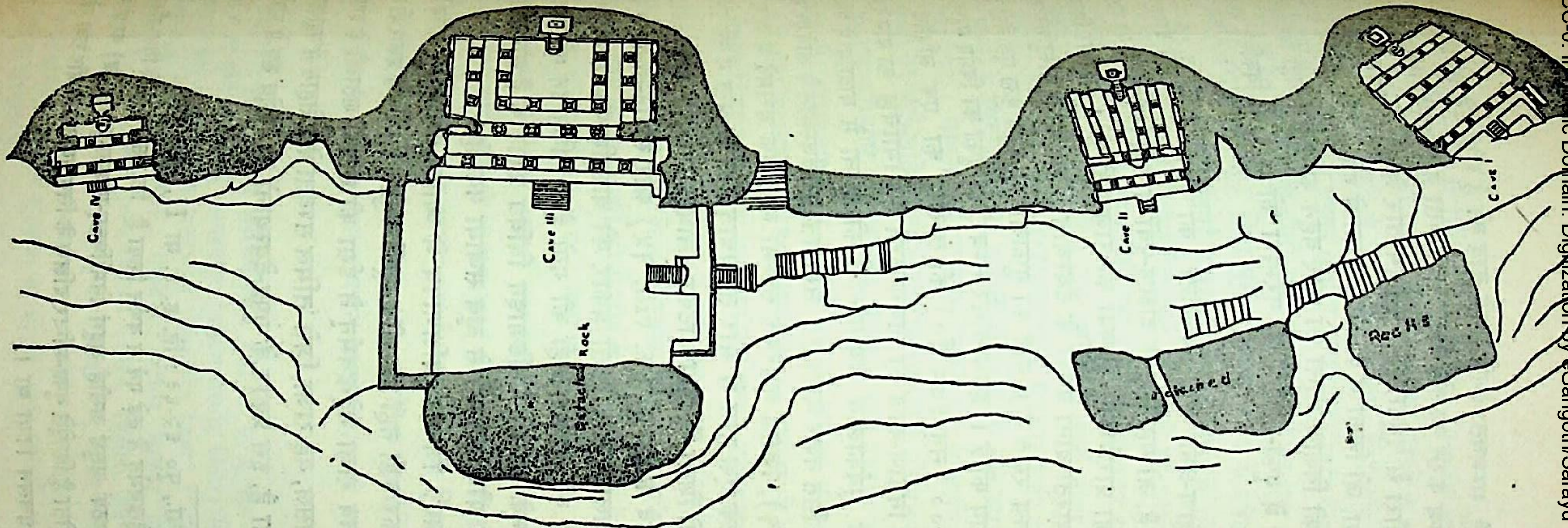
Cave IV
Cave III
Detached Rock
Cave II
Cave I
Detached
Rocks

चित्र नं० ११ बादामि

के नाम से प्रसिद्ध है, सम्भवतः इनमें सबसे बाद की है और उसे इस शैली के विक अगला चरण आरम्भ करने का श्रेय दिया जा सकता है। इसका गर्भगृह अपेक्षा बड़ा है, लगभग औरों से दुगुना, और इस विस्तार ने शायद चार स्तम्भों को आवश्यक बना दिया, जो शिला में से काटकर बनाये गये हैं और हाल के बीच में देवस्थान की छत की विशाल शिला का भार वहन करते हैं। यही विशेषता है परवर्ती शताब्दियों में गुफा-मन्दिरों की परम्परा को और भी विकसित करते दिया।

शैलकृत्त ब्राह्मण-धर्मी गुफा-देवस्थानों का दूसरा चरण हमें बीजापुर जि बादामि में मिलता है, जो महाराष्ट्र के दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित है। यह वाता प्राचीन स्थान है, जो प्रारम्भिक चालुक्यों की राजधानी था। यहाँ पर शिला का बनाये गये तथा इमारती दोनों प्रकार के देवस्थान हैं जो अपनी वास्तुशिल्पीय वि के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। यहाँ की गुफाओं[1] में बहुत कुछ एक जैसी तीन ब्राह्मण-धर्मी सम्प्रदाय की हैं। इनमें तीसरे नम्बर की गुफा का विशेष महत्त्व है इसमें शक संवत् ५०० (सन् ५७८ ई०) की तारीख का एक अभिलेख मि जो अन्य गुफाओं के निर्माण-काल का निर्णय करने में सीमाचिह्न का काम देता है

उदयगिरि के पूर्वकालीन देव-मन्दिरों की तुलना में बादामि में मन्दिर- की कला काफी विकसित नजर आती है। सम्भवतः हर देवस्थान के आगे एक खुला होता था (चित्र ११), जिससे गुजरकर स्तम्भों वाले एक बरामदे में पहुँचा जा फिर स्तम्भों पर टिके एक हाल में और तत्पश्चात् हाल के अन्त में उस छोटे गर्भगृह के सामने, जो शिला में गहरा काटकर बनाया जाता था। इनका अग्रभाग सादा है और बरामदे के स्तम्भों (फ. viii, १५) और सोपान-आधार पर बनी की चित्रावलि के अलावा और किसी प्रकार की वास्तुशिल्पीय या मूर्तिकृत प्रभाव उत्पन्न करने की कोशिश नहीं की गयी है। लेकिन इन मन्दिरों का बहुत समृद्ध है; इनके स्तम्भों के डिजाइन विविध प्रकार के हैं और बगल की दीवारों की मूर्तियों और नक्काशी से खूब सजाया गया है।

शैलकृत्त गुफाएँ, जिनका दक्षिणापथ में व्यापक प्रचलन था, द्रविड़ देश समुद्र तट को छोड़कर कहीं नहीं मिलतीं। पूर्वी समुद्र तट पर इस प्रकार की गुफा प्रचलन शायद पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् ने ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम में किया था।[2] दरअसल, यह राजा, जिसे 'तमिल सभ्यता के इतिहास में महानतम में से एक' कहा गया है, इस प्रकार के गुफा-देवस्थानों का विशेष रूप से शौकीन

---

[1] ब्रा. इ. आ., पृ० ६२-६३ : हि. इ. ई. या II, १२६-१२७।

[2] राजा महेन्द्रवर्मन् ने बड़े गर्व से वर्णन किया है कि उसके बनवाये शिला-मन्दिरों में का प्रयोग धातु या लकड़ी (अनिष्ठकं असुधं अलौहं अद्रुमं निर्मापितम्-मन्दपगत्तु अभिलेख) इस वक्तव्य से जाहिर होता है कि ऐसे गुफा-मन्दिर दक्षिण के लिए नवीनता थे और राजा महेन्द्र ने शायद वहाँ उनका प्रचलन किया था।

मुद्र-तट पर काफी संख्या में मिले हैं ।[1] ये गुफा देवस्थान आमतौर पर अत्यन्त कृत आद्यरूप के हैं, जिससे सूचित होता है कि शिला काटने के तरीकों और तकनीक क्षेत्र के कारीगर अपरिचित थे । इनमें से हर देवायतन में एक उथला-सा कार स्तम्भों वाला हाल या मण्डप है और अन्दर की दीवार में गहरे काट कर बनाये या दो कक्ष हैं । गर्भगृह के दोनों ओर के दरवाजों पर एक द्वारपाल की मूर्ति है ार शैली में तराशी गयी है । ऐसी मूर्तियाँ मण्डप हाल के प्रवेश द्वारों पर भी कहीं लती हैं । द्वारपाल की मूर्तियाँ बादामि की एक गुफा में भी हम देख चुके हैं । वर्तीकाल के ब्राह्मण-धर्मी गुफामन्दिरों में द्वारपालों की मूर्तियाँ सामान्यतः पायी हैं। गुफाओं के अग्रभाग में स्तम्भों की एक पंक्ति है, जो ऊपर और नीचे तो चौकोर उनका मध्य भाग अठपहलू है । इन स्तम्भों के शीर्ष टोडा की शक्ल के ब्रेकेटों जिन पर प्रस्तरपाद टिके हैं । आरम्भकालीन गुफाएं इतनी सादी और अनलंकृत उनमें स्तम्भों के ऊपर कपोत या कॉर्निस तक नहीं थे, जो ऊपर की शिला के खुर-को छिपा सकते । लेकिन बाद में एक उत्ताल ढंग के कार्निस बनाये जाने लगे, खिड़की जैसे छोटे-छोटे आलों में रखे मानव सिरों की मूर्तियों से अलंकृत किया था। इस कला-अभिप्राय को स्थानीय भाषा में कुडु पुकारा जाता है ।

हेन्द्रवर्मन् के शासन-काल के अन्त में एक से अधिक मंजिलों की गुफाओं की होने लगी, जैसा उन्दवल्ली और भैरवकोण्ड की गुफाओं से जाहिर है । लेकिन के बावजूद डिजाइन में कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ । वैसे, भैरवकोण्ड के अग्रभाग के स्तम्भों के डिजाइन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखायी देता है । स्तम्भ पतले और अठपहलू हैं, जिनके निचले भाग की आकृति बैठे हुए शेर की है । डिजाइन पल्लव वर्ग के स्तम्भों की है और वे **याली** स्तम्भों के पूर्वरूप हैं जो पूर्णतः द्रविड़ शैली के स्तम्भों का विशेष नाम है ।

न्द्रवर्मन् प्रथम के उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन् महामल्ल ने भी गुफा-मन्दिरों जारी रखा और साथ ही मामल्लपुरम् में कणात्मक गोलाश्मों में तराश कर खंडित और बिना सहारे के स्वतंत्र रूप से खड़े रथों का निर्माण करवाया । इस न्दरगाह के नगर को उसने ही बसाया था । इसमें सन्देह नहीं कि ये रथ इमारती ों की अनुकृति थे, इसलिए इनका वर्णन उनके साथ ही करना उचित होगा ।

---

[1] लॉंगहर्स्ट, ए. एच.; **पल्लव आर्चिटेक्चर** (मे. आ. स. इ. सं० १७ तथा ३३)। पूर्व-गुफाओं की यहाँ सूची दी गयी है :—दल्वनूर (दक्षिण आर्कोट जिला) त्रिचिनापल्ली का "गुफा न्दगपट्टु (दक्षिण आर्कोट जिला, मल्लवरम् (चिंगलपेट जिला) । मलचेरी (दक्षिण आर्कोट सिरुक्कलुक्कुन्रम् (चिंगलपेट जिला) । मलचेरी (दक्षिण आर्कोट जिला), बेजवाड (कृष्ण मोगलराजपुरम् (कृष्णा जिला), उन्दवल्ली (गुन्टूर जिला) तथा भैरवकोंड (वेलपोट ष्णा जिले में बेजवाड और मोगलराजपुरम् की गुफाओं और गुन्टूर जिले में उन्दवल्ली की को कुछ विद्वान् विष्णकुंडी वंश के राजाओं द्वारा बनवायी मानते हैं। लेकिन उनकी शैली से ता है कि उन्हें पल्लव राजाओं ने खुदवाया था और वे गुफा-मन्दिरों के निर्माण की दिशा में ों कोशिशों का परिणाम है ।

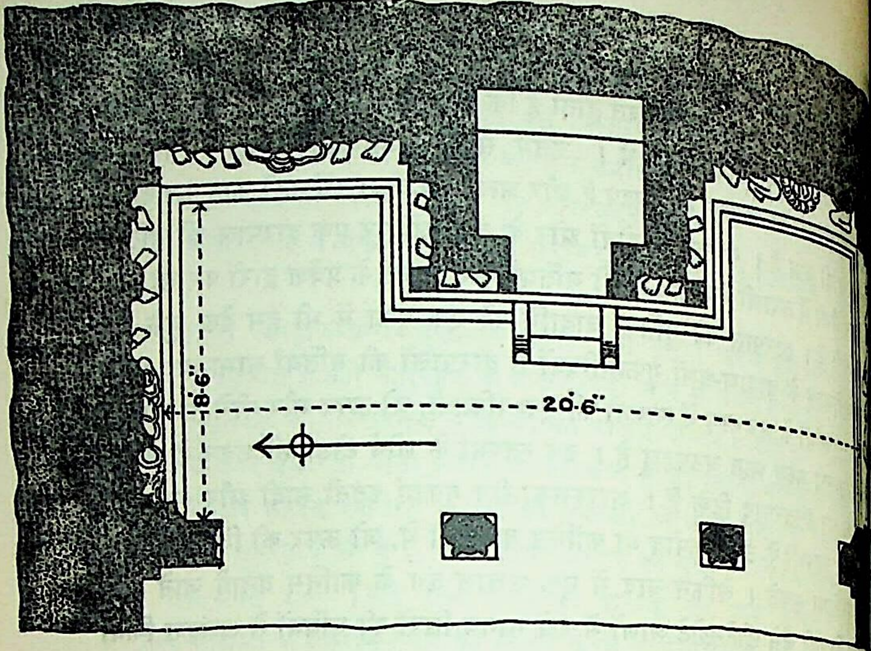

चित्र नं० १२ मामल्लपुरम्

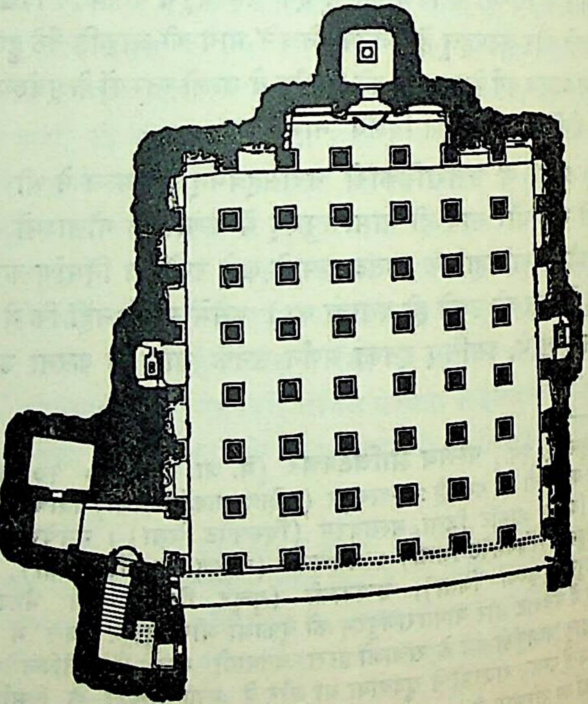

चित्र नं० १३ एलोरा

की गुफाओं में, जिनके नमूने मामल्लपुरम् में भी देखे जा सकते हैं, वराह १२), त्रिमूर्ति, महिषमर्दिनी और पांडव-मंडप सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। उनका वो महेन्द्र-ग्रुप की गुफाओं के जैसा ही है, लेकिन अग्रभाग आमतौर पर अधिक हैं, उनके स्तम्भों की डिजाइन और उनकी कार्निस दोनों ही अधिक सूक्ष्म कारी- परिचय देते हैं। इनमें पल्लव वर्ग के स्तम्भों का शिल्प अपनी पूर्णता को प्राप्त । उनकी बनावट बड़े सन्तुलित अनुपात में हुई है और वे देखने में अत्यन्त मनोहर । स्तम्भ बैठे हुए शेर के सिर पर टिका है और आमतौर पर अठपहलू या लंबी वाला है। स्तम्भों के शीर्ष प्राय: कन्दीय शक्ल के होते हैं और उन पर एक चौड़ा रहता है (स्थानीय भाषा में उसे **पलगइ** कहते हैं) जिनके साथ टोडा की शक्ल लगे होते हैं जो प्रस्तरपादों को थामते हैं। सूक्ष्म नक्काशी किये हुए दिलहों के इन स्तम्भों के लिए ही मामल्लपुरम् के **मण्डप** विशेष रूप से विख्यात हैं, और सुन्दर नमूने वराह और महिषमर्दिनी मंडपों में देखने को मिलते हैं।

की ब्राह्मण-धर्मी गुफाएँ, जो शिला के पश्चिमी भाग में स्थित हैं, लगभग ई० से बाद की हैं। यहाँ कुल सोलह गुफाएं हैं, जिनमें दशावतार (गुफा नम्बर रावन-का-खइ (नं० १४), रामेश्वर (नं० २१), धुमर लेण (नं० २९), और तक विख्यात कैलास (नं० १६) सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। यह कैलास गुफा एक प्रतिष्ठान है, जो कांचीपुरम् के प्रसिद्ध कैलासनाथ और राजसिंहेश्वर मन्दिरों की में पूरा का पूरा शिला काट कर बनाया गया है। इन गुफाओं को तीन भिन्न में बाँटा जा सकता है। पहली कोटि की गुफा में, जिसका सर्वश्रेष्ठ नमूना गुफा (चित्र १३) है, एक स्तम्भों वाला हाल है, जिसके अन्त में भीतर की ओर गर्भगृह बनाया गया है। इस गुफा का नमूना बौद्ध विहारों से मिलता जुलता इस स्थान पर वह ब्राह्मण धर्मी गुफाओं में सबसे पुरानी मालूम देती है। बौद्ध की तरह दोनों बगलों में भिक्षुओं के कक्षों की बजाय यहाँ पर मूर्ति-कक्ष[1] हैं, को बाँटकर बराबर बराबर दूरी पर पार्श्वीय गैलरियाँ बनायी गयी हैं, जिनमें स्तम्भों के बीच अन्दर को धंसे हुए विशाल फलकों पर उभार शैली में मूर्त्तियां गयी हैं। यद्यपि इस गुफा को बौद्ध विहार के नमूने के अनुसार बनाया गया है, गुफा के बाहर आँगन के बीच में खड़ी शिला को काट कर अलग से बनाये गये में स्पष्टतः ब्राह्मण धर्मी कला का स्पर्श नजर आता है।

री कोटि की गुफाएँ यद्यपि ऊपर वर्णित गुफाओं जैसी ही हैं, लेकिन उनके के वास्तविक देवस्थान की एक अलग हैसियत है जिसके चारों ओर परिक्रमा की बनी हुई है। गर्भगृह की कोठरी, जिसके चारों ओर मार्ग है, हाल के अन्त में के एक विशाल आयताकार टुकड़े में खोद कर बनायी गयी है। गर्भगृह की ऐसी

---

[1] बौद्ध विहारों में इसी प्रकार की संरचना के लिए देखिए एलोरा की गुफा नम्बर २ और तीन की दूसरी मंजिल।

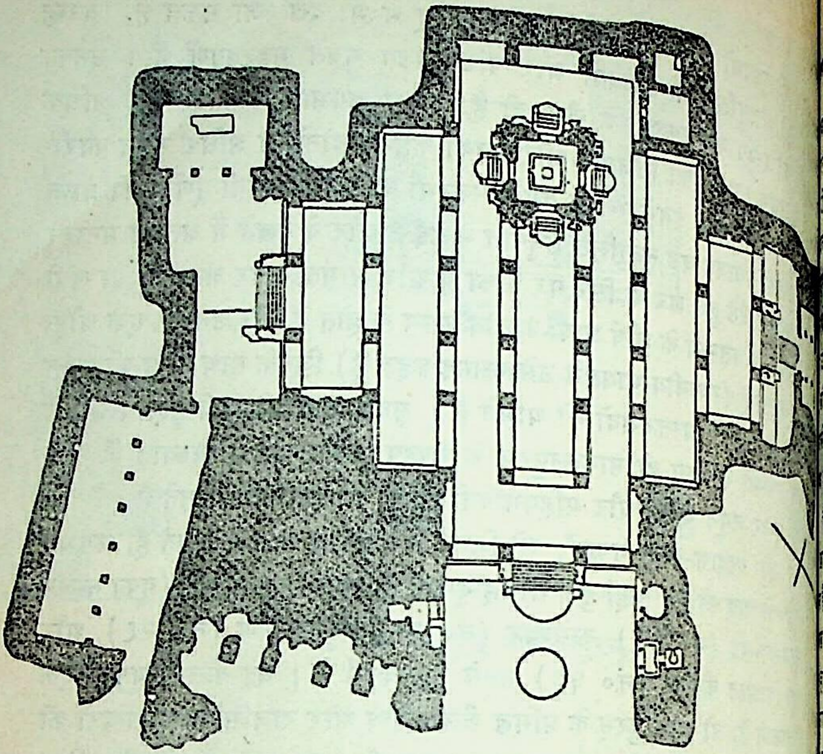

चित्र नं० १४ एलोरा

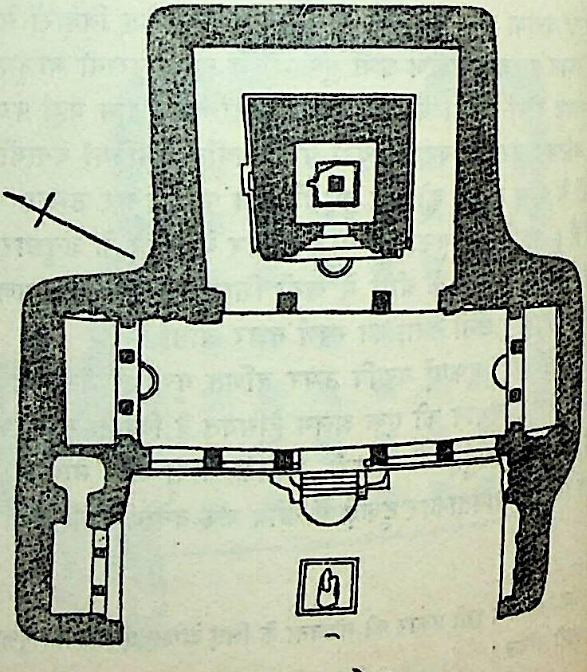

चित्र नं० १५ एलोरा

बौद्ध गुफाओं में भी कहीं कहीं मिलती है, जैसे एलोरा की गुफा नं० ८ में तथा की कुछ गुफाओं में, जिससे सूचित होता है कि बौद्ध और ब्राह्मणधर्मी गुफाओं समानान्तर रेखाओं में हुआ था। इस दूसरे टाइप की गुफाओं में सबसे श्रेष्ठ और रामेश्वर की गुफाएँ हैं (चित्र १४) जिनके गर्भगृहों की स्थिति दोनों स्थान पर है, लेकिन अन्य छोटे छोटे ब्यौरों में उनके अन्दर काफी फर्क है। निश्चय ही रामेश्वर की गुफा अधिक महत्त्वपूर्ण है, केवल इस कारण ही नहीं शिव के वाहन नन्दी का मन्दिर गुफा के द्वार पर, आँगन के बीचों बीच, स्थित इस कारण कि उसके सभी भागों में प्रचुर मात्रा में अत्यन्त शानदार मूर्तियां हैं और उसके विशाल स्तम्भों का डिजाइन अत्यन्त भव्य और कलात्मक है, उनके ब्रैकेटों पर अत्यन्त मनोहर आकृतियाँ खोदी गयी हैं (फ. viii, १६)। कोटि की गुफाओं की मिसाल, जो आठवीं सदी के बाद की है, एलोरा गुफाओं में सबसे अन्तिम धुमर लेणा की गुफा है। इसमें सलीबनुमा एक जिसमें प्रवेश के एक से अधिक द्वार और आँगन हैं और जिसके भीतर मन्दिर सबसे हुआ है (चित्र १५)। हाल की सलीबनुमा शक्ल कई हालों या आड़े कटे के मिलने से बनी है जिनको अनुप्रस्थ ढंग से संयोजित किया गया है, जिसकी नम्बर ६ की गुफा में या तीन थाल की सबसे ऊपर वाली मंजिल में पहले ही सकती है। आमतौर पर इनमें तीन प्रवेश-द्वार हैं, लेकिन मुख्य द्वार मन्दिर के और बाकी दोनों द्वार दोनों बगलों की तरफ से हैं। यह शैली गुफा-निर्माण में एक नये प्रकार की सूचक है और उसकी भव्यता में एक अपूर्व उत्कर्ष देती है। निश्चय ही इस प्रकार की संरचना उन शैलों पर निर्भर करती है, खोदी जाती हैं। लेकिन इस तथ्य से कि इस शैली की गुफाएँ अन्यत्र भी (एलिफेन्टा और सल्सेट्टी में) यह जाहिर होता है कि यह डिजाइन पहले से करके फिर उसके लिए स्थान और शैल का चुनाव किया गया था। यह सम्भव के गुफा मन्दिर कालानुक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक के दायरे में नहीं आते हम संक्षेप में उन पर विचार कर सकते हैं, ताकि इस किस्म के वास्तुशिल्प चित्र मिल सके।

की धुमर लेणा गुफा में एक सलीबनुमा शक्ल का हाल है जिसमें तीन हैं। इनमें से हर द्वार के आगे तीनों ओर आँगन है। मन्दिर हॉल की पिछली पास है और भीमकाय चट्टान पर स्थित है जिस पर चढ़ कर गर्भगृह तक पहुँचने चारों ओर से काटकर सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं। चारों ओर सीढ़ियों के रक्षकों के विशाल मूर्तियाँ खड़ी हैं। हाल की छत वाली शिला को भीमकाय स्तम्भों की थामे हुए हैं और तीनों ओर के चौड़े प्रवेश-द्वारों की स्तम्भ-पंक्तियाँ अन्तर्भाग को और मनोहर दृश्य का रूप देती हैं, जिसमें एकान्तर रूप से छायां और प्रकाश रहता है। स्तम्भ विराट आकार के हैं। तले में वे चकोर हैं लेकिन ऊपर गोल हैं तथा उनके शीर्ष धारीदार 'तोषक' की शैली के हैं। अपनी वास्तुकला की दृष्टि से और साथ ही भीमाकार स्तम्भों और मूर्तियों के कारण यह

गुफा ब्राह्मणधर्मी गुफाओं में सम्भवत: सर्वोत्कृष्ट है, केवल एलोरा में ही नहीं बल्कि स्थानों की गुफाओं की तुलना में भी।

बम्बई के निकट एलीफेन्टा के द्वीप पर स्थित ब्राह्मण धर्मी गुफा की यद्यपि धुमर लेणा की गुफा के समान है, लेकिन वह अपेक्षया छोटी है और उतना सम भी नहीं है (चित्र १६)। इसमें भी तीनों ओर से तीन प्रवेश-द्वार हैं आगे एक एक आँगन है। लेकिन अनुलग्न हालों की आड़ी व्यवस्था के बावजूद हाल की शक्ल धुमर लेणा की तरह स्पष्ट नहीं है। मुख्य हाल में यद्यपि लिंग का अलग है और किसी से जुड़ा हुआ नहीं है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि गुफा का गर्भगृह आड़े वाजू में स्थित है, जहाँ महेश के रूप में शिव की मूर्ति है, जो सारे मूर्तियों में सबसे सुन्दर मानी जाती है (फ. xxxv, ८५)। इस गुफा के शैली, आकार और व्यवस्था की दृष्टि से धुमर लेणा से मिलते हैं। दरअसल कहा जा सकता है कि "तोषक" शैली के स्तम्भशीर्षों ने, जिनका प्रयोग छठी होने लगा था, इन दोनों गुफाओं में अपने रूप-सौन्दर्य में कलात्मक पूर्णता प्राप्त कर धुमर लेणा की तरह इस गुफा में भी गर्भगृह के चारों ओर रक्षकों की विशाल हैं, और गुफा की सारी दीवारों को विशाल फलकों में बाँट कर उन पर मूर्तियाँ गयी हैं। सौन्दर्य और श्रेष्ठता की दृष्टि से एलीफेन्टा की ये मूर्तियाँ, जिन्हें प्लास्टि के अद्भुत नमूने कहा गया है, एलोरा की धुमर लेणा गुफा से श्रेष्ठतर हैं, क्योंकि शिल्प की दृष्टि से उनका निर्माण अधिक सन्तुलित और आंगिक कला का परिचाय

सलसेट्टि के द्वीप में जोगेश्वर के मन्दिर[1] को ब्राह्मण-धर्मी की गुफा-वास्तु सबसे बाद का उदाहरण माना जा सकता है। इसका वास्तुशिल्प अपेक्षया काफी का है। अब तक प्राप्त पुराने मन्दिरों के अवशेषों को देखते हुए कहा जा सक ब्राह्मण प्रधान धर्मों के अनुयायियों ने चौथी सदी ईसवी के अन्त या पाँचवीं आरम्भ में गुफाएँ खोदकर मन्दिरों का निर्माण करना शुरू किया था, लेकिन महत्त्व के ब्राह्मण-धर्मी देवस्थानों का छठी सदी के अन्त से लेकर आठवीं सदी निर्माण किया गया। इसके अलावा गुफाओं के अन्दर भी वास्तविक देवस्था संरचना में इमारती मन्दिरों की ही नकल की गयी है। गुफाएँ खोदकर मन्दिर की प्रथा ब्राह्मण-धर्मी उपासना के लिए अधिक उपयोगी नहीं थी, इसलिए इस जरा भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि भारत में मिलने वाले बारह सौ गुफा- से सिर्फ सौ गुफा-मन्दिर ही ब्राह्मण-धर्मी हैं। सम्भव है कि यह प्रथा बौद्धों की शुरू हुई हो। लेकिन ब्राह्मण प्रधान धर्मों की उपासना के लिए ऐसे गुफा-मन्दि अनुपयुक्तता उत्तरोत्तर अनुभव की जाने लगी। यह तथ्य इस बात से जाहिर है धीरे इमारती मन्दिरों की शक्ल पर ही गुफाओं के अन्दर भी एकाश्म शैलकृत भी अलग से बनाये जाने लगे थे।

---

[1] ब्रा. इ. आ., पृ० ८५-८६।

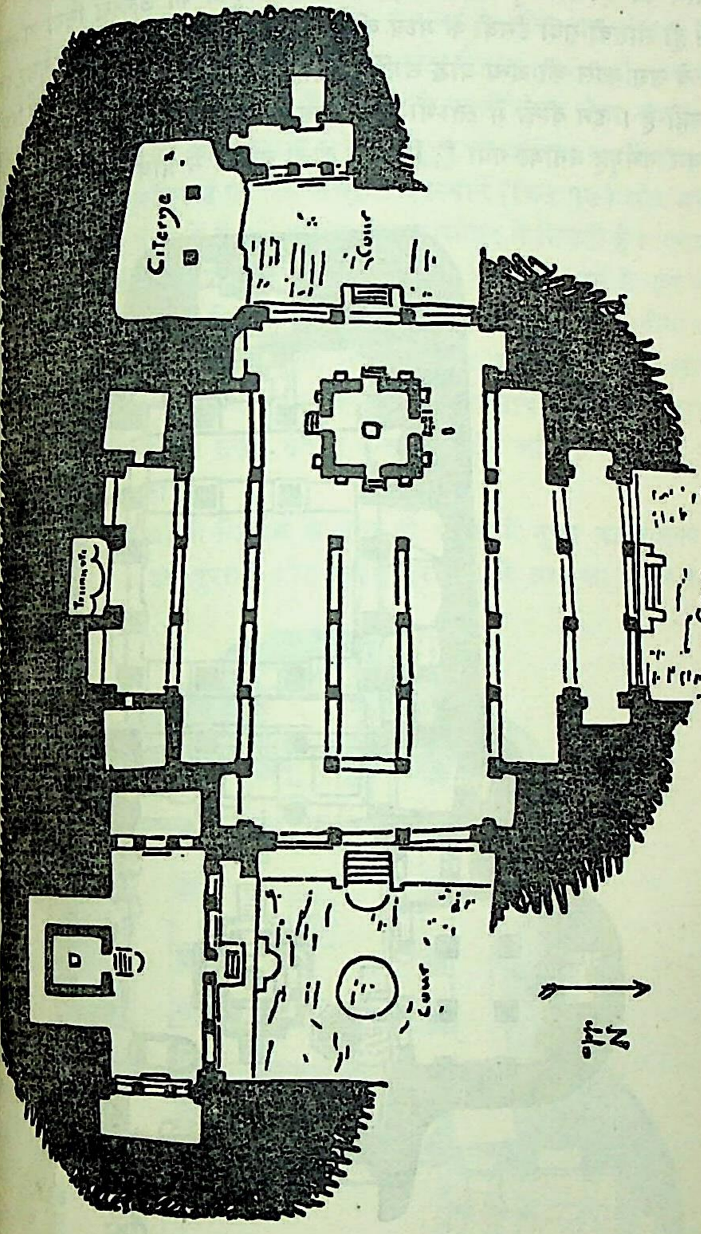
Citerne
Cour
Trimurti
Cour
Cour
N

चित्र नं० १६ एलीफेन्टा

४. जैन गुफाएं

विवेच्य-काल में खोदी गयी जैन-गुफाओं की संख्या बहुत थोड़ी है। बादामि की एक जैन-गुफा[१] और ऐहोल की जैन-गुफा का उल्लेख किया जा दोनों ही सातवीं सदी ईसवी के मध्य की प्रतीत होती हैं। उनका नक्शा मूलतः और वे उस काल की अन्य बौद्ध धर्मी या ब्राह्मण धर्मी गुफाओं से पूरी तरह की नहीं हैं। इन दोनों में स्तम्भों वाला एक चौकोर हाल है, जिसके अन्त में खोदकर गर्भगृह बनाया गया है, जिसकी दोनों बगलों में प्रार्थनालय बने हुए हैं।

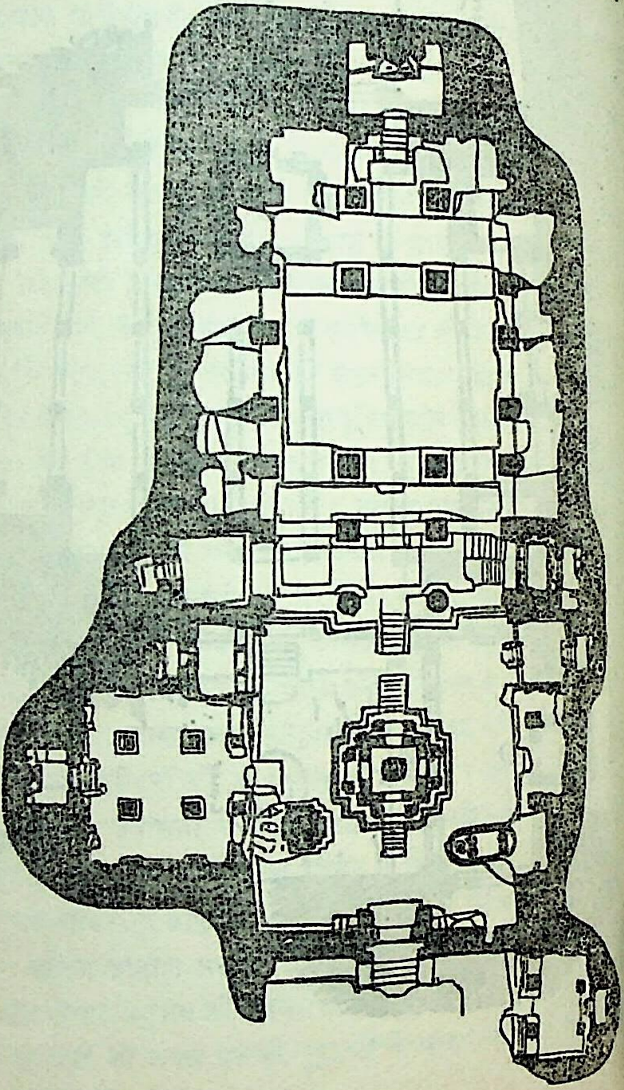

चित्र नं० १७ एलोरा

---

[१] वही, पृ. ६४।

गुफाओं में सबसे अधिक उल्लेखनीय गुफाएँ एलोरा में पहाड़ी के उत्तरी हैं। यद्यपि वे आठवीं सदी से पहले की नहीं हैं और इस प्रकार पुस्तक के प्रस्तुत सीमा से बाहर पड़ती हैं, लेकिन गुफाओं के वास्तुशिल्प का पूरा चित्र देने के पर उनका विवेचन किया जा सकता है। इस वर्ग के पाँच गुफा-मन्दिरों में से ही एक सीमा तक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके नाम छोटा कैलास (नं० ३०), इन्द्रसभा) और जगन्नाथ सभा (नं० ३३) हैं। इनमें से पहली गुफा, जैसा नाम से ही प्रसिद्ध कैलास गुफा का छोटा रूप है। दूसरी गुफा भी आंशिक रूप में इमारती ही अनुकृति है। आँगन में एकाश्म शैलकृत्त देवस्थान (चित्र १७) और आँगन मूलतः द्रविड़ शैली के हैं, जो प्रसिद्ध कैलास मन्दिर में मिलती है। एकाश्म के पीछे दो मंजिली गुफा का अग्रभाग है (फ. vii, १४)। इनमें से हर गुफा स्तम्भों वाला एक हाल है, जिसकी पिछली दीवार में गर्भगृह है और दोनों ओर पांत है। ऐलोरा की इन्द्रसभा गुफा, विशेष रूप से उसकी ऊपरवाली मंजिलें ८), इस स्थान के गुफा मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ हैं। जगन्नाथ सभा एक प्रकार से की ही नकल है, लेकिन उसमें उतना सन्तुलित और आंगिक कला का रूप-देखने को नहीं मिलता।

में जैन गुफाओं के निर्माण के साथ ही भारत में गुफा वास्तुशिल्प की का अंत हो गया। इस पुरानी और सुदीर्घ परम्परा के अन्त का पूर्वाभास तो

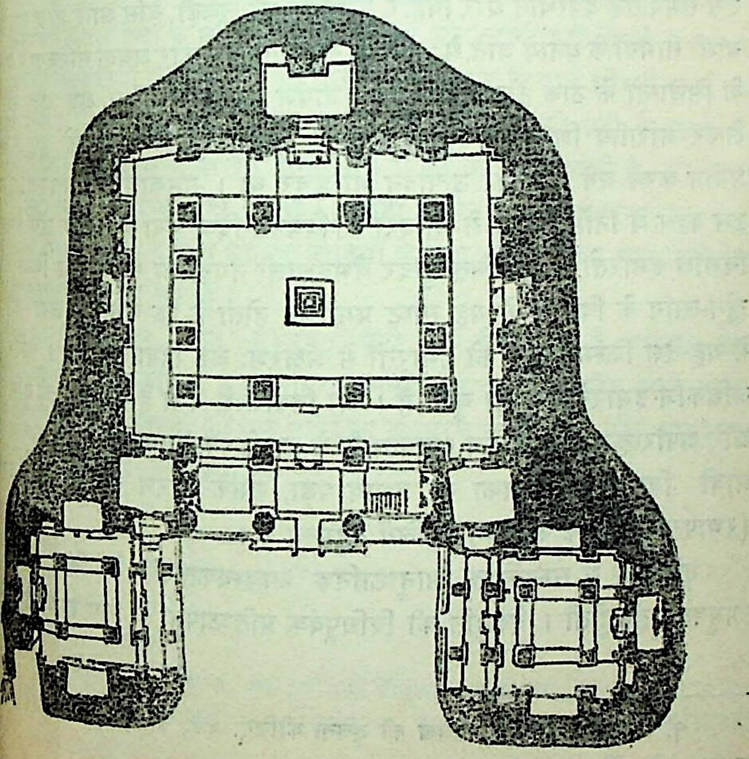

चित्र नं० १८ एलोरा

तभी से मिलने लगा था, जब से पहाड़ी के अन्दर अक्षीय रूप से हाल और मन्दिर कर बनाने की बजाय एकाश्म शैल को तराश कर संरचनात्मक (इमारती) शैली मन्दिर बनाने की प्रथा चल पड़ी थी, जिसकी परिणति मामल्लपुरम् के पल्लव शुरू होकर एलोरा के महान् कैलास मन्दिर में दिखाई पड़ती है। इस नयी प्र प्रचलन उत्तरोत्तर बढ़ता गया, जो इस बात का सूचक था कि शैलकृत्त गुफा-मन्दिर की तकनीक का, जिसकी परम्परा भारतीय वास्तु-शिल्प में इतनी पुरानी थी, अन्त था। संरचनात्मक (इमारती) शैली ने, अपनी विशाल सम्भावनाओं और कारण, उन निर्माताओं को सृजन का असीम क्षेत्र प्रदान किया जो शैल काट कर निर्माण की शैली की अपेक्षा इसके अधिक फायदों से परिचित थे। इसलिए, इसमें की कोई बात नहीं है कि इमारती भवन-निर्माण कला के तीव्र विकास के साथ ही गुफाएँ और देवायतन बनाने की शैली अन्ततः एक लम्बी परंपरा और विशेष सुविधा बावजूद, पुरानी पड़ गयी और अप्रचलित हो गयी।

II. इमारती भवन

१. मन्दिर

गुप्तकाल ने भारतीय वास्तु कला में एक नये युग का सूत्रपात कि उस समय तक देवस्थान और विहार आमतौर पर लकड़ी, बाँस आदि शीघ्र नष्ट वाली सामग्री के बनाये जाते थे; इस कारण इनके रूपाकार अथवा संयोजना में के सिद्धान्तों के ठीक ठीक प्रयोग की गुंजायश बहुत कम थी। अब एक लेकर भारतीय शिल्पकार स्थायी सामग्री, विशेष इंटों और तराशे हुए प प्रयोग करने लगे। उनका उत्पादन भी प्रचुर था। समकालीन शिलालेखों में इस काल में निर्मित बहुत से मन्दिरों का विवरण दिया गया है, बल्कि ऊँचे मन्दि विशाल इमारतों से सुशोभित सुन्दर वैभवशाली नगरों का भी उल्लेख किया ह्वेन-त्सांग के विवरण से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कैसे अपेक्षया क में यह देश किस्म-किस्म की इमारतों से अक्षरशः जड़ दिया गया था। लेकिन अधिकांश इमारतें नष्ट हो चुकी हैं। जो विनाश से बची हैं वे शिल्प की दृष्टि और अपरिष्कृत हैं। लेकिन स्थापत्य के ये प्रारम्भिक प्रयास भी कम दिलचस्प भावी विकास पर उनका जो प्रभाव पड़ा, उसके कारण वे भारतीय (स्थापत्यकला) के अध्ययन के लिये बहुमूल्य हैं।

मूर्तिपूजा से सम्बन्धित आनुष्ठानिक आवश्यकताओं के लिए शैलकृ उपयुक्त नहीं होतीं। देवमूर्ति की विधिपूर्वक प्रतिष्ठापना के लिए इमारती

---

१. मन्दसौर के शिलालेख की तुलना कीजिए, vv. १०-१२ (cii II III सरकार: सले. इंस्कि. २९१)।

ों की जरूरत पड़ती है इसलिए इस प्रकार के मन्दिर-निर्माण के लिए स्थापत्य की प्रवृत्ति में मंदिरों के सामान्य रूप-रंग और ढाँचे की दृष्टि से विविधता लाने की शैलियाँ अपनायी गयी हैं। रूपाकार और शैलियों के इसी वैविध्य के कारण इस की स्थापत्य कला विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस काल में अनेक शैलियों और परीक्षण हुए और अन्त में कुछ निश्चित शैलियों को चुनकर उनमें भी और अधिक तथा क्रिस्टलीकरण की चेष्टा की गयी। इस काल के मंदिरों को निम्न पित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है[1]—

१—चपटी छत वाले चौकोर मन्दिर—जिनके सामने एक संकरा द्वार-मण्डप ा है।

२—चपटी छत वाला चौकोर मन्दिर, जिसमें गर्भगृह के गिर्द ढंका हुआ पथ है और सामने की ओर एक द्वार-मंडप (पोर्च) है। कई बार ऐसी के मन्दिर दो मंजिले भी होते हैं।

३—चौकोर मन्दिर जिसके ऊपर एक झुका हुआ और नाटा **शिखर** होता है।

४—आयताकार मन्दिर, जिसका पिछला भाग अर्द्धवृत्ताकार है और ढोलका-छत है।

५—गोलाकार मन्दिर जिसके चारों दिशाबिन्दुओं में छोटे छोटे प्रक्षेपण हैं।

चौथी और पाँचवीं श्रेणी के मन्दिर प्रारम्भिक शैलियों के अवशेष रूप में पहचाने जाते हैं। चौथी श्रेणी विख्यात बौद्ध **चैत्य** शैली की और पाँचवीं श्रेणी **स्तूप** के नमूने हैं, विशेषकर इन श्रेणियों के मन्दिर दूसरी, तीसरी और चौथी सदी ईसवी में आन्ध्र के स्तूपों की अनुकृतियों जैसे हैं। तेर का मन्दिर[2] (शोलापुर जिला) और चेजार्ला का श्वर मन्दिर (कृष्णा जिला) (चित्र १९)[3], जो चौथी-पाँचवी सदी के लगते हैं, श्रेणी के मन्दिर हैं। अपेक्षया इन दोनों मन्दिरों की संरचनाएँ छोटी हैं, जो वास्तु की किसी खूबी का दावा नहीं करतीं। लगता है कि वे पहले संरचनात्मक चैत्य-हैं, जिन्हें बाद में प्रधान ब्राह्मण धार्मिक रीतियों के लिए हथिया लिया गया, इसीलिए तक सुरक्षित भी रह सके हैं।

होल का दुर्गा-मन्दिर,[4] जो सम्भवतः छठी सदी ईसवी का है, स्पष्टतः ऊपर श्रेणी के मन्दिरों से सम्बन्धित है। लेकिन उसकी छत चपटी है और उसके गर्भगृह पर एक शिखर है। स्तम्भों की एक परिरेखा अनुप्रस्थ मार्गों वाले ऊँचे आधार पर मन्दिर के चारों ओर बनी हुई है।

---

[1] ज. इ. सो. ओ. आ., viii, पृ० १४६-५८.।

[2] हि. इ. इ. आ. पृ० ४७।

[3] वही, चित्र १४७।

[4] वही। चित्र १५२ : कॉसेन्स, एच. : ऐंशिएंट टेम्पुल्स आफ ऐहोल (आ. स. इ. १९०७-०८, १८); कॉसेन्स, एच: : **चालुक्यान आर्चिटेक्चर आफ दि कनारीच डिस्ट्रिक्ट्स,** -४०, फलक ix-xi.

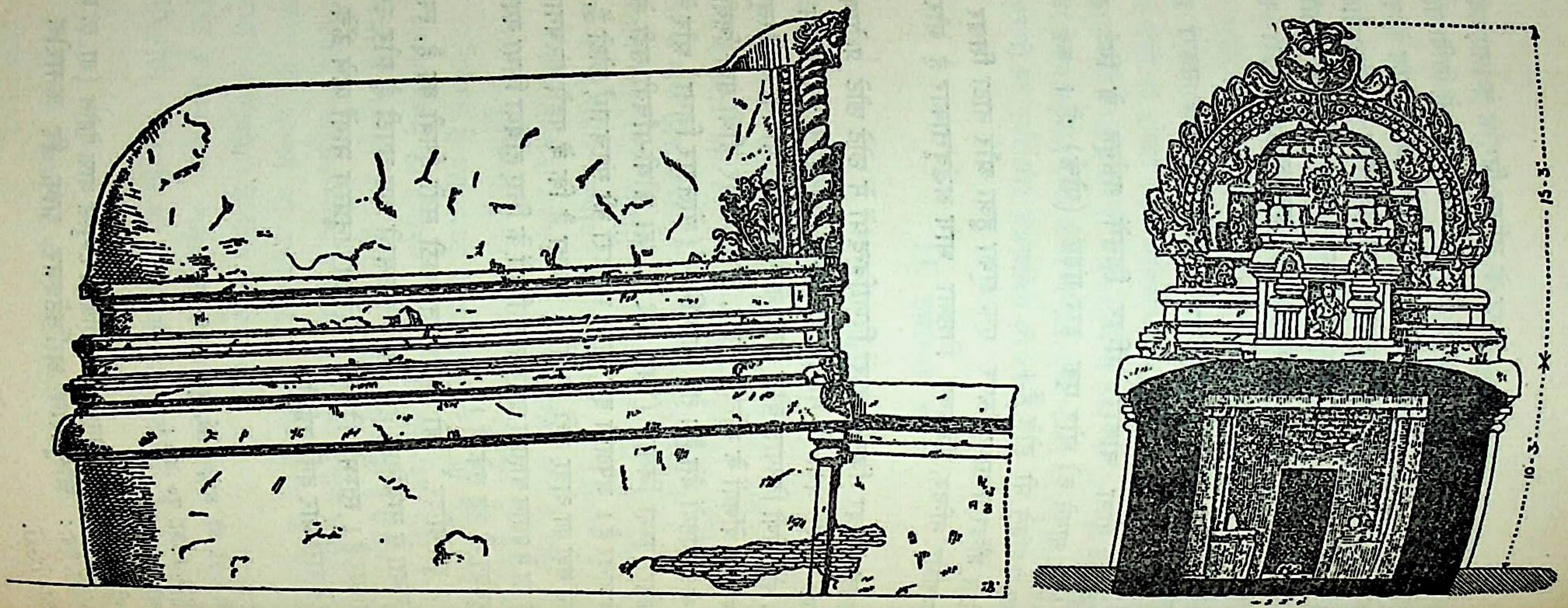

चित्र नं० १६ चेजार्ला

इसमें सन्देह नहीं कि ये इमारती मन्दिर बौद्धों के चैत्य-हालों की नकल पर ये थे, जो उन दिनों वास्तुकला का पूर्वकालीन नमूना था। लेकिन मूर्तियों की हुई लोकप्रियता के कारण मन्नती उपासना गृह के रूप में चैत्य-हाल का इस्तेमाल रे समाप्त हो गया।

ांचवीं श्रेणी के मन्दिर की मिसाल ईंटों की उस बेलनाकार इमारत में मिलती नियार मठ के नाम से प्रसिद्ध है—मनि नाग का देवस्थान जो राजगृह (राजगिर) ीन नगर के बीचोबीच स्थित है।[1] इस स्थान की सुव्यवस्थित खुदाई से पता चला हाँ पर कई युगों की सामग्री जमा होती रही है और उनमें से एक स्तर निश्चित हमारे विवेच्य काल का है। इस विशेष स्तर में एक वृत्ताकार दीवार है जिसमें खा-बिन्दुओं पर छोटे छोटे प्रक्षेपण हैं, जिन्हें चारों ओर आलों में बनी गचकारी र्तियों से सजाया गया है (फ. 'x, १९)। यह मन्दिर एक पूर्वकालीन इमारत पर हुआ है, जो खोखली बेलनाकार शक्ल की थी और आन्ध्रदेश के पूर्वकालीन स्तूपों क प्रक्षेपणों से काफी मिलती जुलती थी। उत्तर दिशा में इसका एक प्रवेश-द्वार र उसके गिर्द की दीवार, जो अब चौकोर है, लगता है कि आरम्भ में वृत्ताकार थी। काल की जो संरचना है, उसमें बेलनाकार शक्ल नीचे की पूर्वकालीन इमारत के न के अनुसरण से ही बन गयी है न कि जानबूझकर एक नये रूप का विकास करने की र उसे इस तरह वृत्ताकार बनाया गया है। चौथी और पाँचवीं श्रेणी के मन्दिरों के ों का, लगता है, परवर्ती वास्तुकला पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, यद्यपि इस के इक्के दुक्के मन्दिर बाद के कालों में भी बनते रहे।

) पहली श्रेणी के मन्दिर

केन इसी युग में बने अन्य तीन प्रकार के मन्दिरों को मध्यकालीन भारतीय शैलियों का अग्रगामी माना जा सकता है। पहली श्रेणी का मन्दिर, जिसकी छत र और सपाट होती थी, एक प्रकार से बुनियादी रूप प्रतीत होता है, जिसके परिष्कृत री और तीसरी श्रेणी के मन्दिर हैं। पहली श्रेणी के मन्दिर की एक प्रतिनिधि सांची के मन्दिर नं० १७ में मिलती है (फ. x, २०)[2] जो एक छोटा, सादा सा है, जिसमें एक छोटे से चौकोर कक्ष के अलावा, जिसके आगे एक स्तम्भों वाली है, और कुछ नहीं है (चित्र २०-२१)। यद्यपि यह मामूली आकार का देव-है, पर इसकी संरचनात्मक उपयुक्तता, प्रति साम्यता और आनुपातिक सुडौलपन, कों की खूबी और अलंकरण में संयमित सन्तुलन ग्रीस की शास्त्रीय वास्तुकला भी नमूने की तुलना में रखे जा सकते हैं। इस श्रेणी के अन्य मन्दिर तिगावा

---

[1] कुरैशी, एम. एच. तथा घोष : **ए गाइड टु राजगिर**, पृ२३-२४, फ-V।

[2] आ. स. क. X, ६०-६२; फलक XVI, XX; हि. इ. इ. आ., पृ० ७८, चित्र १५१; दे, **गाइड टु सांची**, पृ० ११७-११९, फ. VII।

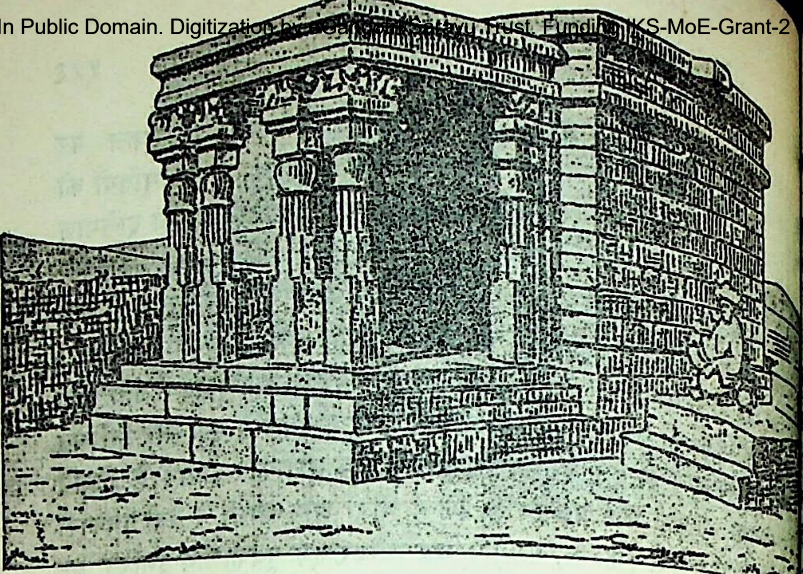

चित्र नं० २० सांची

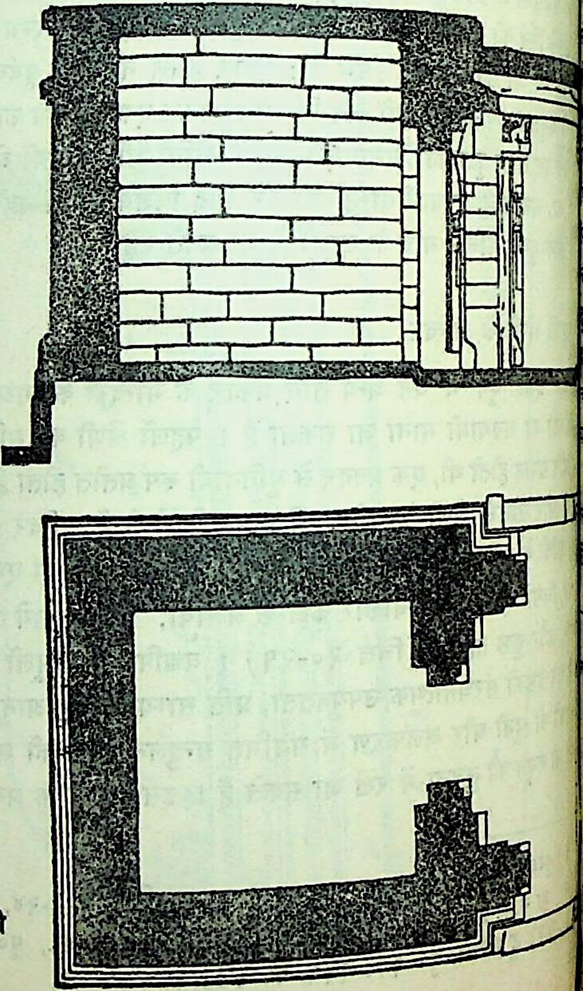

चित्र नं० २१ सांची

xi, २१)[1] और एरन[2] में मिलते हैं। एक बड़ी तादाद में इस काल की मूर्तियाँ और के अवशेष नाचना कुठारा[3], गढ़वा[4], बिल्सद,[5] खोह[6] आदि स्थानों पर मिले उनकी इमारतें, जो शायद ईंटों की थीं, बिल्कुल नष्ट हो चुकी हैं।

तिगावा और एरन के मन्दिर इस श्रेणी के मन्दिरों के सबसे सुरक्षित की मिसाल हैं। कनिंघम ने बहुत पहले ही प्रस्ताव किया था कि पोर्टिको के "घंटाकार" शीर्षों के व्यास और उनकी ऊँचाई के सापेक्ष अनुपात के आधार मन्दिरों का कालानुक्रम निश्चित करना चाहिए। यद्यपि इस बात के अनावश्यक में जाने की जरूरत नहीं है, फिर भी इस तथाकथित "घंटाकार शीर्ष" पर की से इन मन्दिरों की सापेक्ष तिथि का अनुमान किया जा सकता है। तिगावा में (फ. xi, २१) हमें उलटे हुए अलंकरण की कला का प्रारम्भिक रूप देखने है और नक्काशियों की रूढ़ शैली से जाहिर होता है कि यह मन्दिर एरन के पहले का है। सांची में हमें 'साँदे नरकुली घंटाकार' शीर्ष मिलते हैं, जिनमें कार के भी उलटे हुए अलंकरण नहीं हैं और इसलिए इसे इमारती किस्म का सबसे मन्दिर[7] कहना शायद ठीक ही हो। स्मिथ[8] ने तिगावा के मन्दिर को समुद्रगुप्त का बताया है। यह तारीख सम्भवतः बहुत गलत नहीं है। लेकिन यह दावा का विष्णु मन्दिर भी समुद्रगुप्त के काल का है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। शीर्ष की रूढ़ शैली के अतिरिक्त विष्णु मन्दिर के तीन मुखों के बीच में पुश्ता- से भी, जो सामने के मुख्य द्वार पर बनाये गये प्रक्षेपण से मिलते हैं, यही अनुमान चाहिए कि ये बाद की ईजाद हैं, क्योंकि यह मुख्य द्वार का प्रक्षेपण स्वयं बाद की है। सादी और नंगी दीवारों में इस प्रकार एक वैविध्य उत्पन्न कर दिया गया है। नकर मन्दिरों के वास्तुशिल्प में छाया और प्रकाश को बाँटने में इस प्रकार की ने, न केवल भारत में ही बल्कि भारत के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया में भी, महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।[9]

इस काल के मन्दिरों के विभिन्न वास्तु-रूपों में इस श्रेणी के मन्दिरों का विशिष्ट है, क्योंकि उन्हीं के आधार पर मन्दिरों की भावी वास्तु-कला का विकास हुआ। पर गर्भगृह का नक्शा आमतौर पर हमेशा ही वर्गाकार होता है, यद्यपि कहीं कहीं

---

[1] आ. स. क., ix, ४२, ४५-४६, फ. x. xi; बनर्जी, आर. डी.; ए. इ. गु., चित्र vi; नों: इंडि. आर्क्यो. बुद्धि. एंड हिन्दु, फ. xxxiv।

[2] आ. स. क. x, ८२-८९, फ xxv-xxx।

[3] प्रो. आ. स. इ., वे. स. १९१९, पृ० ६१।

[4] आ. स. क. x. १. १९. फ. vi-vii।

[5] वही, xi, १७-१८, फ. v-vi।

[6] वही, x, ६: प्री. आ. स. इ., वे. स. १९२०, पृ० १०५-०६ और फलक।

[7] आ. स. क. x, ६२।

[8] स्मिथ, वी० ए०: **इंडियन स्कल्प्चर ऑफ दि गुप्ता पीरियड,** (ओत्सा. III, ४)।

[9] आ. स. क. x, फल xxv।

आयताकार गर्भगृह भी मिलते हैं, जैसे एरन के विष्णु और वराह मंदिरों में। से पहले एक छोटा सा द्वार-मंडप (पोर्च) होता है, जिसके चार स्तम्भों पर छत के पाद टिके होते हैं। पार्श्व की बजाय मध्य का स्तम्भीकरण अपेक्षया अधिक है। इसे इस शैली की एक गौण विशेषता मानता है।[1] द्वारमण्डप (पोर्च) में सीढ़ियों जाना होता है। मन्दिर की दीवारें सपाट होती हैं, सिर्फ पोर्च की छत के प्रस्तर सीध में चारों ओर एक गढ़न होती है—कनिंघम के अनुसार यह भी इस शैली की विशेषता है। छत पत्थर की आयताकार पटियों से बनी होती है जो दीवारों पर दूसरे से सटाकर रखी जाती हैं और उनमें अक्सर खाँचे बने होते हैं, जैसा मन्दिर में देखा जा सकता है। बारिश का पानी निकालने के लिए सबसे ऊपर बने होते हैं। सपाट दीवारों की सादगी स्तम्भों और दरवाजों की चौखटों की नक्काशी की तुलना में आकर्षक वैषम्य प्रस्तुत करती है।

इमारती मन्दिरों के आद्य-रूप वाली श्रेणी में गर्भगृह, जिसका एक ही द्वार और मंडप होता है, पहली बार देखने को मिला। उदयगिरि में शिला बनाये गये हू-ब-हू एक जैसे मन्दिर नजर आते हैं, जिनके सामने संरचनात्मक (मंडप है। इनमें से दो मन्दिर, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, चन्द्रगुप्त के काल सम्भवतः इसी तरह के गुफा मन्दिर पहले भी रहे होंगे, और यह भी सम्भव है श्रेणी की आद्य इमारतों के प्रारम्भिक रूप पूर्वकाल के शैलकृत्त मन्दिरों के रूपान्तर मात्र हों। चपटी छत, सपाट चौकोर या आयताकार शक्ल और कठोर सादगी, इस अनुमान के सम्भावित आधार हैं। साँची, तिगावा, एरन, स्थानों के मन्दिरों का संरचनात्मक प्रकार और इसी काल में अंशतः गुफा खोदकर अंशतः इमारती ढंग पर बनाये गये उदयगिरि के मन्दिर भी इसी शैली की प्रतिध्वनियाँ मानी जा सकती हैं।

(२) दूसरी श्रेणी के मन्दिर

इस श्रेणी के उदाहरण नाचना कुठारा में स्थित तथाकथित पार्वती (चित्र २२),[2] भूमरा का शिवमन्दिर (चित्र २३),[3] एहोल[4] में लाद खान (चित्र

---

[1] वही, ix, ४५।

[2] वही, xxi, ९६-९७, फलक xxv-xxvi; प्रो. आ. स. इ, वे. स., १९१९- फ. xv-xvi; मा. रि. xlv, ५४-५६; ए. इ. गु., पृ. १३७-३९, फ. III।

[3] आर. डी. बनर्जी—**शिव टेम्पुल्स एट भूमरा** (मे. आ. सा. इ., मा. रि. xlv, ५७-५८; ए. इ. गु., पृ० १४२-४५, फ. II और iv।

[4] कॉजेन्स, एच : **ऐंशिएंट टेम्पुल्स आफ एहोल** (आ.स.इ. १९०७-०८, पृ० १९५-९६); कॉजेन्स, एच. **चालुक्यान आर्चिटेक्चर,** पृ० ३२-३८, २९-३२, फ. iv; हि. इ. इ. आ. ,पृ० ७९ चित्र १४८।

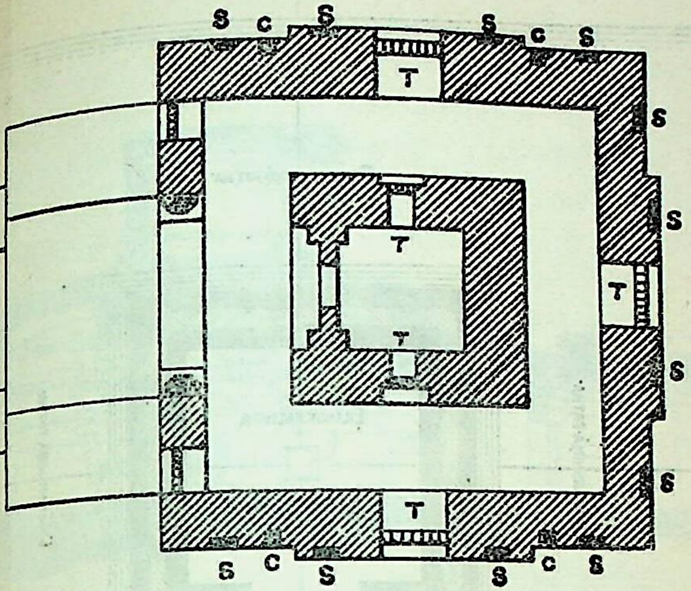

चित्र नं० २२ नाचना कुठारा

डि और मेगुती के मन्दिर हैं। इनमें से पहले दो मन्दिर मध्य भारत में हैं और बाकी में। वैग्राम (दिनाजपुर जिला, बंगाल)[1] में इंटों से बने मन्दिर के अवशेष सम्भवतः भगवान गोविन्दस्वामी का मन्दिर है और जिसे ४४७-४८ ईसवी का अनुदानपत्र दिया गया था, नक्शा भी इसी तरह का है और शायद यह भी श्रेणी का मन्दिर रहा होगा।

श्रेणी के मन्दिरों में समतल छत वाला वर्गाकार गर्भगृह वैसी ही छतों के के भीतर होता है।[2] इसलिए नक्शे के अन्दर गर्भ-गृह एक बड़े वर्ग के भीतर, गिर्द प्रदक्षिणा के लिए होता है, एक छोटा-सा वर्ग होता है। बड़े वर्ग से पहले और खुला, स्तम्भों वाला, आयताकार पोर्च होता है, जिसके आगे नीचे उतरने होती हैं। प्रदक्षिणा की बन्द गैलरी के अन्दर रोशनी के लिए तीनों बगलों में या जालियां बनी होती हैं और नाचना कुठारा के मन्दिर में तो अंधेरे गर्भगृह में रोशनी पहुँचाने के लिए पार्श्व की दो दीवारों में भी दो जालियाँ बनी हैं। की गैलरी और गर्भगृह तक पहुँचने के द्वार सामने एक सीध में होते हैं, बाहर आगे सीढ़ियाँ होती हैं। इस संरचना में एक भेद गर्भगृह पर दूसरी मंजिल बनाकर गया है, जैसा हम नाचना कुठारा (फ. xi, २२) के पार्वती मन्दिर में या

---

[1] आ. स. इ. १९३४-३५, पृ. ४२, फ. xix बी. सी. डी.।

[2] ये सारे मंदिर एक जैसे हैं, यद्यपि कुछ मामूली फर्क ब्योरों में देखे जा सकते हैं। लेकिन ये हैं जो इस श्रेणी के मन्दिरों के आम नक्शे या उनकी संरचना में किसी बुनियादी भेद के हैं।

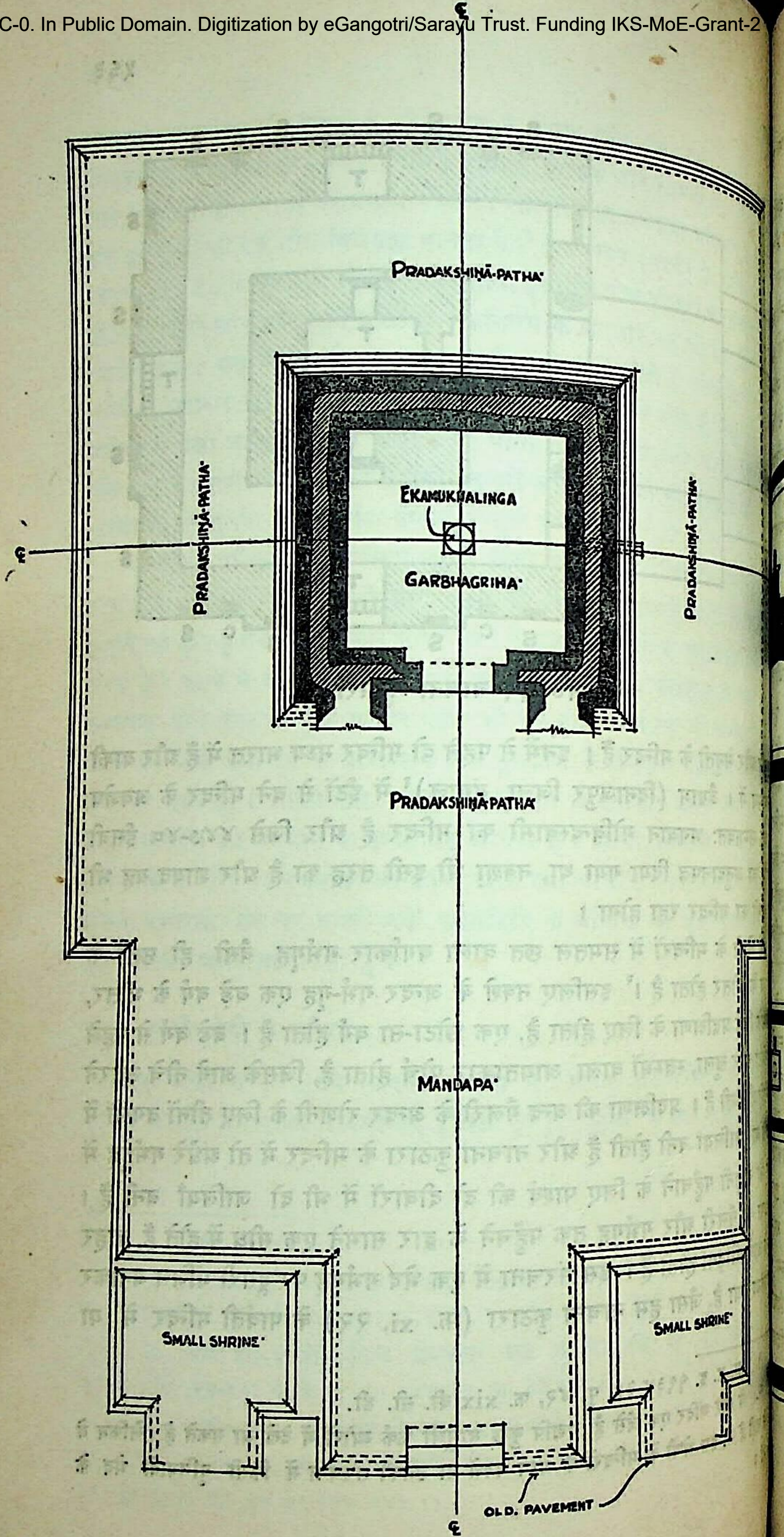
℄
PRADAKSHIṆĀ-PATHA
EKAMUKHALINGA
℄
PRADAKSHIṆĀ-PATHA
GARBHAGRIHA
PRADAKSHIṆĀ-PATHA
PRADAKSHIṆĀ-PATHA
MANDAPA
SMALL SHRINE
SMALL SHRINE
OLD. PAVEMENT
℄

चित्र नं० २३ भूमरा

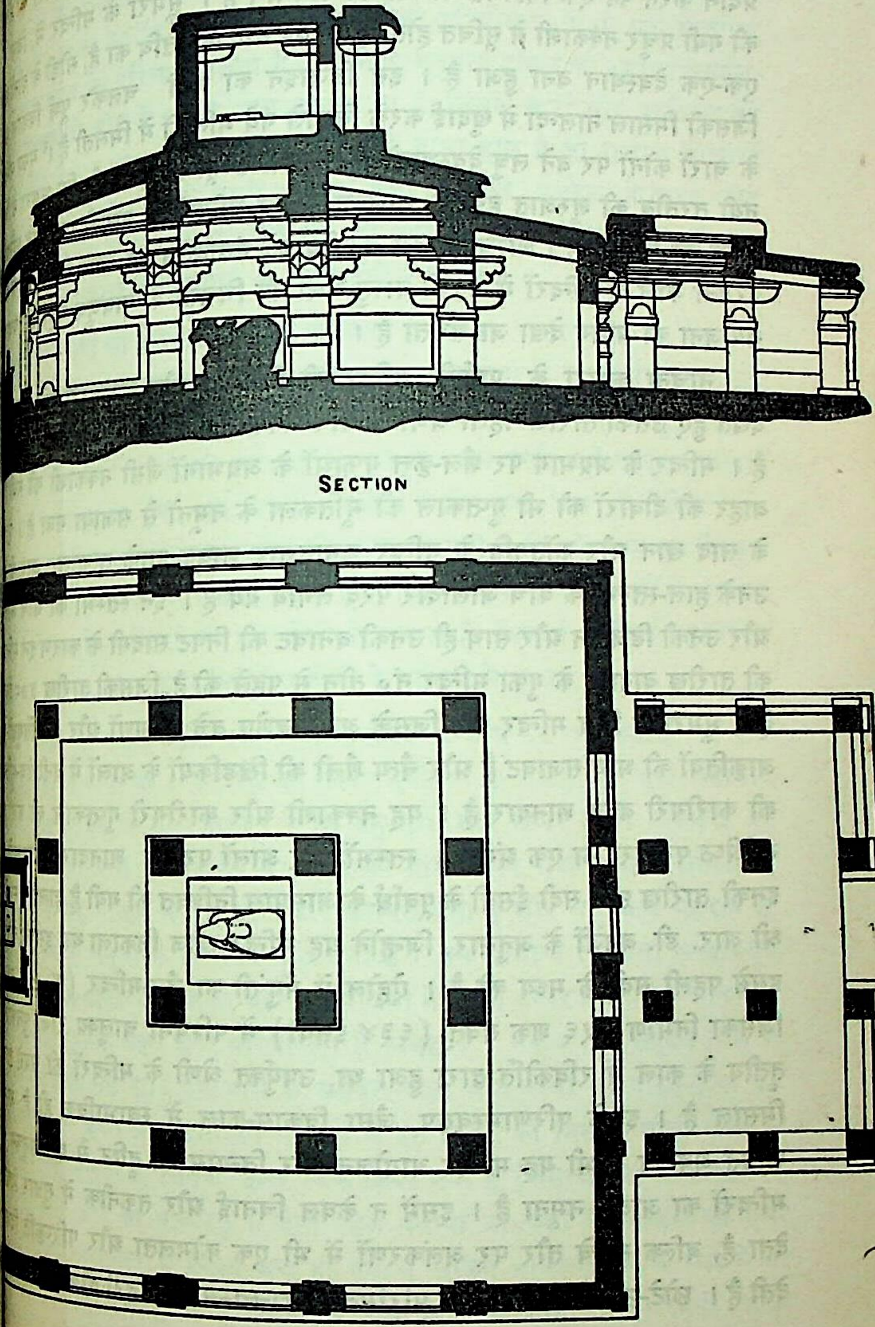

चित्र नं० २४ ऐहोल

ऐहोल के मन्दिरों में देखते हैं (फ. xii, २४) । दूसरी मंजिल चूंकि गर्भगृह पर जिससे वह अनिवार्यतः बाहर के बड़े वर्ग से पीछे हट कर है और ऐसे मन्दिरों प्रदान करने की एक निश्चित योजना का परिणाम है । भूमरा के मन्दिर में, की गयी प्रचुर नक्काशी से सूचित होता है कि वह बाद की तिथि का है, सीढ़ी के एक-एक देवस्थान बना हुआ है । इस डिजाइन का आगे चलकर पूर्ण विकास जिसकी मिसाल नालन्दा में खुदाई करके निकाले गये मन्दिरों में मिलती है।[1] मुख्य के चारों कोनों पर बने लघु देवस्थानों के अवशेषों से सूचित होता है कि भूमरा में नयी तरतीब की शुरुआत हुई थी, नालन्दा के इन मन्दिंरों में उसकी तर्कसंगत देखने को मिलती है । शास्त्रों में इस तरतीब को **पंचायतन** का नाम दिया गया है। परवर्ती काल के मन्दिरों में उनकी वास्तु-शैली की भिन्नता के बावजूद वहां इस संयोजना का प्रयोग देखा जा सकता है ।

नाचना कुठारा के पार्वती मन्दिर की डिजाइन और अलंकरण की साद देखते हुए उसकी तारीख पहली श्रेणी के आरम्भकालीन मन्दिरों के साथ रखी जा है । मन्दिर के अग्रभाग पर शैल-कृत्त गुफाओं के अग्रभागों जैसी नक्काशी की बाहर की दीवारों को भी गुप्तकाल की मूर्तिकला के नमूनों से सजाया गया है। के लाद खान और कोंतगुडि के मन्दिर क्रमानुसार शायद इसके तत्काल बाद के उनके हाल-स्तम्भों के बीच जालीदार परदे लगाये गये हैं । इन स्तम्भों का भीम और उनकी डिजाइन और साथ ही उनकी बनावट की निपट सादगी के कारण इन की तारीख बादामि के गुफा मन्दिर नं० तीन से पहले की है, जिसकी तारीख ५७ है । भूमरा के शिव मन्दिर पर, जिसके अब अवशेष बचे हैं, गणों और कीर्ति आकृतियों की भव्य सजावट है और चैत्य शैली की खिड़कियों के आलों में बनी दे की कारीगरी बहुत शानदार है । यह नक्काशी और कारीगरी गुप्तकाल की सर्वश्रेष्ठ परम्परा का एक अंग है । स्तम्भों और आलों पर बने शानदार अरद इनकी तारीख छठी सदी ईसवी के पूर्वार्ध के आसपास निश्चित की गयी है हालांकि श्री आर. डी. बनर्जी के अनुसार, जिन्होंने यह मन्दिर खोज निकाला था, इसकी इससे पहली सदी के मध्य की है । ऐहोल में मैगुंती का जैन-मन्दिर (फ. xiii जिसका निर्माण ५५६ शक संवत् (६३४ ईसवी) में पश्चिमी चालुक्य राजा पु तृतीय के काल में रविकीर्ति द्वारा हुआ था, उपर्युक्त श्रेणी के मन्दिरों की सबसे मिसाल है । इसके परिणामस्वरूप, जैसा विकास-काल में स्वाभाविक ही है, खंडित अवस्था में भी यह मन्दिर आयोजन और विन्यास की दृष्टि से इस अनुक्र मन्दिरों का आदर्श नमूना है । इसमें न केवल चिनाई और तकनीक में सुधार दि देता है, बल्कि समूचे तौर पर अलंकरणों में भी एक कोमलता और परिष्कृति देती है । छोटे-छोटे टेक शीर्षों वाले परिमित भित्ति-स्तम्भों से बाहरी दीवारों की

---

[1] घोष, ए.—**ए गाइड टु नालन्दा,** पृ० १७, नक्शा अन्त में दिया गया है।

भित्ति स्तम्भों के बीच के खाली स्थानों में मूर्तियाँ बनी हैं, या बनाये जाने का था, इसी प्रकार के पूर्व कालीन मन्दिरों में उस तरह की दीवारें बनाने की आद्य जारी थी, लेकिन इस मन्दिर से एक ऐसे परिपक्व मन का पता चलता है, जिसने ों और आलों का विकास किया । मन्दिर की परियोजना से भी एक सन्तुलित ांगिक दृष्टि का परिचय मिलता है । नक्शे के अनुसार मन्दिर की इमारत आयता- है, जिसके दो भाग हैं । एक भाग गर्भगृह का है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा की है और दूसरा भाग उसके आगे एक स्तम्भों वाला हाल है जो आरम्भ में चारों से खुला हुआ था । दोनों भागों को एक संकरी डचोढ़ी प्रकोष्ठ के द्वारा जोड़ जाता है । इस संयुक्त परियोजना का, जो पूर्वकालीन प्रयत्नों का संगत परिणाम रवर्ती वास्तु-कला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

होल में मेगुति का जैन मन्दिर जिस काल का है, लगभग उसी काल के मामल्ल- के रथ भी हैं । मद्रास से ३३ मील दक्षिण में पलार नदी के मुहाने पर इस समुद्री गाह के नगर को नरसिंह-वर्मन् महामल्ल ने बसाया था और वहाँ बालुई तट पर नेदार शैल-खंडों को तराश कर स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग खड़े एकाश्म मन्दिरों निर्माण करवाया था (फ. xiii, २५) । यद्यपि ये शैल-कृत्त 'रथ' हैं, लेकिन उनके में समसामयिक संरचनात्मक भवनों की नकल की गयी है, जिससे उनमें एक बिल्कुल प्रकार की अभिव्यंजना दिखाई पड़ती है । विभिन्न प्रकार के इन रथों में अन्यतम , विशेषरूप से, मन्दिरों की उस श्रेणी से सम्बद्ध है, जिसका विवेचन यहाँ किया है । दूसरा प्रकार ऊपर विवेचित श्रेणी के मन्दिरों से सम्बद्ध है ।

आठ रथों में सबसे छोटे रथ का नाम द्रौपदी के नाम पर रखा गया है, जो पाँच की संयुक्त पत्नी थी । इस रथ का नक्शा वर्गाकार है, जिस पर एक वर्गाकार छत है, जिससे साफ जाहिर है कि वह सीधे सादे छप्पर वाली संरचना की ति है । दूसरे रथों में आमतौर पर ऊपर की मंजिलों की परियोजना पिरामिड की की है । हर मंजिल में एक गोलाकार कार्निस बना है और लघु चैत्य मेहराबें हैं, में से हरेक में मनुष्य के सिर की मूर्ति बनी है । इस सामान्य विशेषता के बावजूद भी शैलकृत्त मन्दिरों की शक्ल और रूप-योजना में काफी अन्तर है, क्योंकि वे निचली के गर्भ-गृहों के नक्शे और परियोजना से निबद्ध हैं । नकुल और सहदेव नाम के की मेहराबी छतें और पृष्ठभाग के अर्धवृत्त-कक्ष, बौद्ध-चैत्यों की वास्तु-कला की ति प्रस्तुत करते हैं । इमारती मन्दिरों में इस प्रकार की मिसालें चौथी श्रेणी के मन्दिरों में मिलती हैं, जिनका ऊपर जिक्र किया गया है (जैसे चेज़र्ला में कपोतेश्वर मन्दिर और तेरा का मन्दिर) । जैसा पहले बताया जा चुका है, मन्दिरों की ऐसी जना का कालान्तर में प्रयोग बन्द हो गया । लेकिन मामल्लपुरम् के रथों में दो भी मिसालें मिलती हैं, जिन्होंने देश के इस भाग में परवर्ती काल तु-शिल्प की धारा को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है । भीम और नाम के रथों का नक्शा आयताकार है । इन दोनों में ऊपर की मंजिलें क्रमशः पीछे

की ओर झुकती जाती हैं, जिनके ऊपर की ढोकलनुमा मेहराबी छत दोनों ओर से है। अर्जुन और धर्मराज नाम के रथ (फ. viv, २७) चौकोर किन्तु इससे डिजाइन के हैं और उनका सबसे ऊपर का भाग गुम्बदाकार है, जिसे स्तूप या कहते हैं। यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि यहाँ पर हम जिस श्रेणी के मन्दिरों का विवेचन कर रहे हैं, रथों की यह रूप-योजना भी उनका ही दरअसल इन दोनों रथों और गुप्तकालीन मन्दिरों के वास्तुशिल्प का अन्तःसम्बन्ध स्पष्ट है कि उसे लक्षित किये विना नहीं रहा जा सकता। इसी शक्ल और के इमारती मन्दिर की मिसाल मामल्लपुरम् में ही समुद्रतट पर बने उस मन्दिर जा सकती है, जो नरसिंहवर्मन् के उत्तराधिकारी राजसिंह पल्लव के शासन है। इसके साथ ही इमारती या संरचनात्मक स्मारकों का एक अटूट सिलसिला हो जाता है, जो परवर्ती काल की दक्षिण भारतीय वास्तु-कला को आलोकित आयताकार किस्म के मन्दिरों का विकास भी आगे चलकर एक विशाल प्रवेश रूप में होता है, जिसे **गोपुरम्** कहते हैं और जो दक्षिण भारतीय मन्दिरों का और सम्भवतः सबसे शानदार अंग है। शिला काट कर वनाये गये इन रथों प्रयोग किये गये। अन्त में उन्होंने एक निश्चित चौकोर और आयताकार कर लिया। इन दोनों ने बाद में द्रविड़ देश के स्थापत्य पर वहुत गहरा प्रभाव इन रथों की किस्मों का विस्तृत विवरण हमने इस इतिहास के अगले भाग सुरक्षित रख छोड़ा है।

(३) तीसरी श्रेणी के मन्दिर

मालूम होता है कि तीसरी श्रेणी के मन्दिर पहली श्रेणी के मन्दिरों विस्तृत और अलंकृत रूप हैं। सामान्य योजना और विन्यास की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं है। लेकिन इसका अत्यधिक महत्त्व इस कारण है कि इसमें की नवीनता जोड़ी गयी है, जो गर्भगृह के ऊपर बनाया जाता है। धार्मिक वास्तु मूल में हमेशा एक ऊर्ध्वारोही आकांक्षा रहती है, और इसमें आश्चर्य की वात नहीं जल्द ही शिखरों का प्रचलन हो गया, जो पुराने ढंग के समतल छतों वाले मन्दि बिलकुल भिन्न थे। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पाँचवीं सदी ईसवी में ही भव्य शिखरों का निर्माण किया जाने लगा था और आलंकारिक भाषा में उनकी की तुलना कैलाश पर्वत[1] से की जाने लगी थी या उन्हें गगनचुम्बी कहा जाता था।

लेकिन जो भी प्राचीन स्मारक इस समय मौजूद हैं, उनमें से कोई शिखर सम्भवतः छठी शताब्दी से पहले का नहीं है। प्राचीन शिखर मंदिरों में सबसे

---

[1] यह स्पष्ट नहीं है कि इन पुरालेखीय वक्तव्यों में कहीं उस वर्ग की इमारतों का नहीं दिया गया, जिन्हें वराहमिहिर की **बृहत्संहिता** या **मत्स्यपुराण** आदि विभिन्न ग्रन्थों में का नाम दिया गया है।

और सबसे विख्यात मन्दिर देवगढ़ (झाँसी जिला, उत्तर प्रदेश) का दशावतार है।[1] इस प्रकार के अन्य मन्दिरों में नाचना कुठारा[2] के महादेव मन्दिर, पठारी[3] मन्दिर, भीतरगाँव (कानपुर जिला) के ईंटों के मन्दिर[4] और गया के महान् का उल्लेख किया जा सकता है, जिसे ह्वेन-त्सांग[5] ने देखा था । ऐहोल के और हुच्चिमल्लिगुडि[6] के मन्दिरों में गर्भ गृह की चपटी छत के ऊपर एक एक है, लेकिन इन मन्दिरों का नक्शा और दूसरी परियोजनाएँ उन मन्दिरों से बिलकुल जिनका जिक्र अभी किया गया है, और जो अपने आप में एक वर्ग हैं ।

इस वर्ग के विभिन्न मन्दिरों की मिसालों में देवगढ़ और भीतरगाँव के दो मन्दिरों ही काफी होगा, ये ही उनका प्रतिनिधित्व करते हैं । इनमें से पहला मन्दिर है और दूसरा ईंट का । देवगढ़ का दशावतार मन्दिर (फ. xiv, २८) एक और चौड़े चबूतरे पर बना हुआ है (चित्र २५) जिस पर चढ़ने के लिए हर ओर वीच बनी हुई हैं । मन्दिर का चबूतरा, जो वुलन्दी और भव्यता की आकांक्षाओं है, चारों ओर बने आलों में रखी मूर्तियों की माला से सजा हुआ है । गर्भगृह की सादगी के प्रभाव को भी तीन दिशाओं में बनी मूर्तियों से अंकित आलों किया गया है । हर आला दो भित्ति-स्तम्भों के वीच अन्दर की ओर दबा कर

---

[1] आ. स. क., x, १०५-१०, फ. xxxiv-xxxvi; हि. इ. इ. आ., पृ० ८०; मा. ९८-९९; ए. इ. गु. पृ. १४६-५२; वत्स **दि गुप्ता टेम्पुल एट देवघर,** (मे. आ. स. ई.,)।

[2] आ. स. क. xxi, ९८; प्रो. आ. स. इ. वे. स., १९१९, फ. xvi, ब; मा. रि. xlv, ६०; पृ. १५४-५५ ।

[3] आ. स. क. x, ७०-७१ ।

[4] वही, xi, ४०-५०; आ. स. इ. १९०८-०९, पृ. ६-१६, फ. i-v; हि. इ. इ. आ., इ. इ. गु., पृ. १३३-३५ ।

[5] हि. त्सा. वी. II, ११८ ।

[6] कॉज़ेन्स, एच. **ऐंशिएंट टेम्पुल्स आफ ऐहोल** (आ. स. इ. १९०७-०८, पृ. १९४,९६- कॉज़ेन्स, एच : **चालुक्यान आर्चिटेक्चर,** पृ० ३८-४१, फ. ix-xiii । जैसा पहले बताया जा दुर्गा मन्दिर का नक्शा आयताकार है, जिसके आखिर छोर अर्धवृत्ताकार हैं। और हुच्चिमल्लिगुडि के का नक्शा ऊपर वर्णित द्वितीय श्रेणी के मन्दिरों से मिलता-जुलता है । आर. डी. बनर्जी शंकरगढ़ को भी (प्रो० आ० स० इ० वे० स० १९२०, पृ. १०४, फ. xxvii; आ. इ. गु., पृ. १४६) वास्तुकला के नमूनों में ही शामिल करते हैं, लेकिन उनका विचार है कि उसका **शिखर** में जोड़ा गया था । लेकिन इस मन्दिर की चौखट पर की गयी नक्काशी तथा अलंकरण के अन्य का अध्ययन करने से, जो निश्चय ही वाद की तारीख के हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है के दोनों भाग, निचला और ऊपर वाला, एक साथ ही बनाये गये थे और वे दसवीं या ग्यारहवीं से पहले के हर्गिज नहीं हो सकते ।

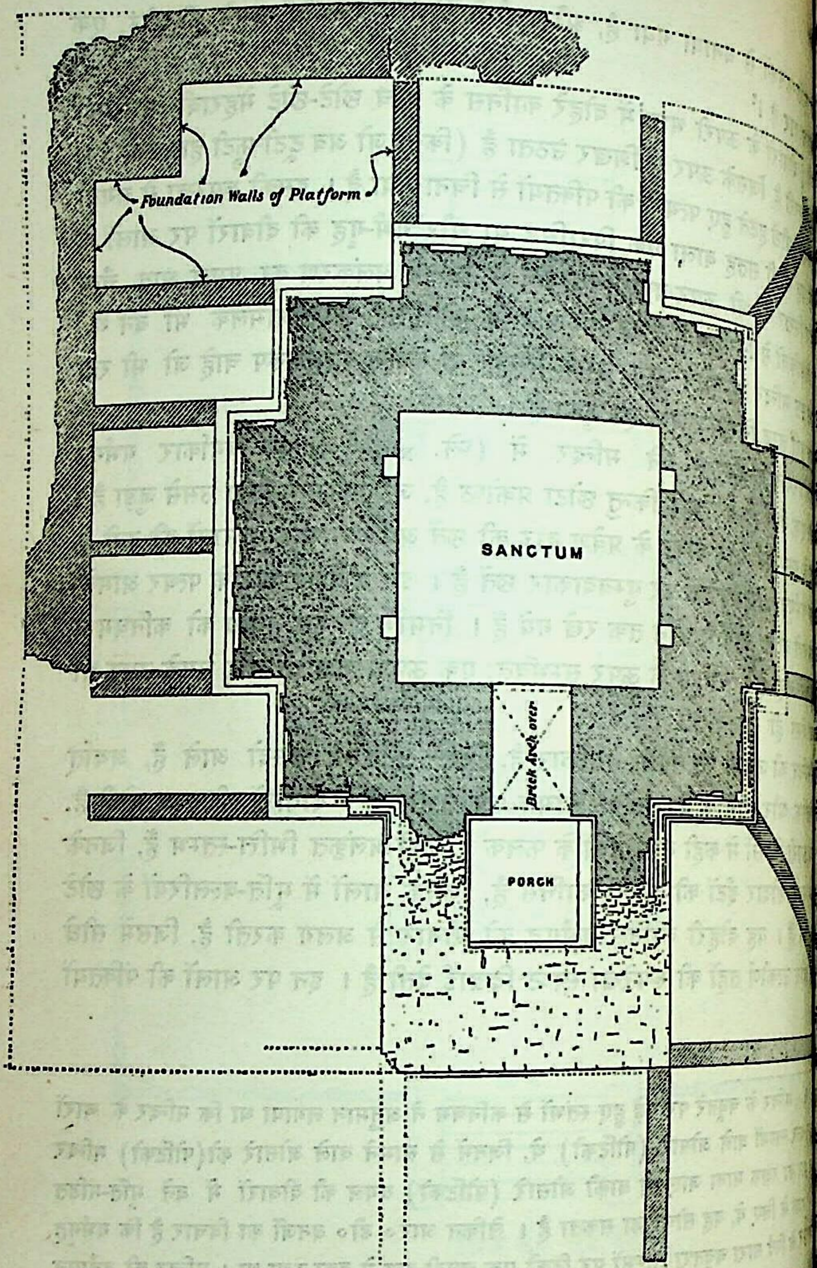
Foundation Walls of Platform
SANCTUM
Brick Arch over
PORCH

चित्र नं० २६ भीतरगांव

वट है, जिनमें आवक्ष प्रतिमाएँ, शीर्षभाग और पूरे आकार की प्रतिमाएँ हुई हैं। ज्यों-ज्यों तहें कई इंच कम होती जाती हैं, त्यों-त्यों धीरे धीरे मीनार का भाग छोटा होता जाता है। गर्भगृह का उभार मीनार तक चला गया है, लेकिन इसका ऊपरी हिस्सा गिर चुका है इसलिए इसके शीर्षभाग के बारे में निश्चित लगाना सम्भव नहीं है। यही स्थिति देवगढ़ के मन्दिर की है। जैसा हाल की से ज्ञात हुआ है, देवगढ़ और नाचना कुठारा के मन्दिरों की तरह यह मन्दिर भी शैली बुनियाद वाले एक ऊँचे चबूतरे पर बना था।

ार-शैली की मूर्तियों और नक्काशी की शैली के आधार पर देवगढ़ के मन्दिर सदी ई० में रख सकते हैं। लेकिन भीतरगांव के मन्दिर के बारे में विद्वानों में नहीं है। कर्निंघम का, जिसने सबसे पहले इस मन्दिर का वर्णन किया, यह मत इस मन्दिर को सातवीं या आठवीं सदी के बाद की तारीख में रखना सम्भव नहीं हो सकता है कि यह उससे भी पहले का हो। फ़ोगेल (Vogel) ने कसिया के मन्दिर से मिलते जुलते इसके भित्तिस्तम्भों और कार्निसों की मिसाल के पर इसे कर्निंघम की बतायी तारीख से कम से कम तीन शताब्दी पहले का बताया र. डी. बनर्जी का विचार है कि यह मन्दिर मध्यकाल से पहले का नहीं हो सकता। ों के फलकों पर जितनी भावपूर्ण और ओजस्वी नक्काशी की गयी है, और शिखर रूप है, उससे साफ जाहिर है कि यह मन्दिर दरअसल गुप्तकाल की कृति है, और फ़ोगेल की सुझाई तारीख जरूरत से ज्यादा पहले की मालूम पड़ सकती है, लेकिन वगढ़ के मन्दिर की निर्माण-तिथि से काफी निकट की है।

गया के महान् महाबोधि मन्दिर की इतनी बार मरम्मत और जीर्णोद्धार या है कि उसके मूल वास्तुरूप का निर्णय करना कठिन है। आज वह जिस रूप है, उसमें एक ऊँचा, सीधे किनारों वाला पिरामिडनुमा शिखर है जिसके ऊपर (hti) है जिसके नीचे एक धारीदार आमलकनुमा भाग है और साथ ही नारों पर कोणीय आमलक भी बने हैं, जो विभिन्न स्तरों का सीमांकन करते हैं। द्वार का मण्डप (पोर्च) जो प्रत्यक्षतः मूल मन्दिर के बाद का है, पूरब की दिशा में शिखर के चारों ओर की सतहों पर आलों की अनेक मंजिलें हैं, जिनमें से हरेक में शुरू में बौद्ध प्रतिमाएँ रही होंगी। शिखर के सामने वाली सतह में गर्भगृह को करने के लिए एक नोकदार मेहराब है। शिखर के मूल में, उसके चारों कोनों पर, कंगूरा है, जो मुख्य शिखर की हू-ब-हू लघु अनुकृति हैं। सातवीं सदी में ह्वेन-त्सांग गया के मन्दिर का महाबोधि विहार के नाम से विस्तार पूर्वक बड़ा सूक्ष्म किया था। चीनी यात्री ने मन्दिर की लम्बाई चौड़ाई और सामान्य आकृति का वरण दिया है, वह आज हमारे सामने जो मन्दिर मौजूद है, उससे बिलकुल मिलता यह सुझाव कि यह मन्दिर अपने वर्तमान रूप में सातवीं शताब्दी में भी मौजूद था, संगत है। इंटों की चिनाई करके निर्माण करने की टेकनीक, शिखर की सीधी , आगे की ओर खुलने वाली लम्बी नोकदार मेहराब, शिखर के चारों पार्श्वों में

बने हुए चैत्य आले, जिनमें ह्वेन-त्सांग के अनुसार बुद्ध की प्रतिमाएँ रखी हुई सबका भीतरगाँव के मन्दिर के वास्तु-शिल्प से निकट साम्य है, और दोनों ही लगभग एक ही समय के हैं। ह्वेन-त्सांग ने नालन्दा के उस महान् मन्दिर वर्णन किया है, जिसका निर्माण नरसिंह-गुप्त ने करवाया था। उसके अनुसार ३०० फुट ऊँचा था और इसका शिखर बोधगया के शिखर से मिलता था।[1] मन्दिर का अब केवल विशाल चबूतरा ही शेष रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्ण अवस्था में यह मन्दिर उस काल के शिखर मन्दिरों के समान ही रहा होगा।

इस श्रेणी के मन्दिरों की विशेषता उनका शिखर है, जो गर्भगृह के किया जाता है और इस प्रकार वह पूर्वकालीन मन्दिरों की नीची और सपाट बिलकुल भिन्न रूप है। ऐसे मन्दिरों में लगभग सभी के शिखर या तो बुरी तरह चुके हैं या बिलकुल ही नष्ट हो गये हैं, लेकिन जो मिसालें सुरक्षित रह गयी हैं परिरेखाओं से अनुमान होता है कि उनका विन्यास सीधे किनारे वाले पिरामिड में होता था, जो बोधगया के वर्तमान महाबोधि मन्दिर से अधिक भिन्न नहीं था। का शिखर मन्दिर, जो निकट के अवशेषों के आधार पर छठी सदी ईसवी के कहा जा सकता है, अपेक्षया अधिक सुरक्षित अवस्था में है। इसकी ऊंचाई चौड़ाई से ठीक दोगुनी है, जो कि वराहमिहिर द्वारा निर्धारित नियम के (यो विस्तारो भवेद् यस्य द्विगुणा तत् समुन्नतिः)[2] शिखर की सीधी परिरेखा में चोटी के समीप किंचित् अन्दर की ओर गोलाई के रूप में बदल गयी, नाचना कुठारा के महादेव मन्दिर में, जो सम्भवतः सातवीं सदी का है, और लक्षण मन्दिर में (फ. xvi, ३२), जो लगभग इसी काल का या किंचित् समय का है,[3] देख सकते हैं। महादेव के मन्दिर में, जो पूरी तरह सुरक्षित है **आमलक** बने हुए हैं, जो **शिखर** के विभिन्न स्तरों का सीमांकन करते हैं, और **आमलक** है जो शिखर का शीर्ष है। लक्ष्मण मन्दिर में, जो प्रारम्भिक शिखर एक सुन्दर उदाहरण है, ऐसे अन्य मन्दिरों की तरह एक चौकोर गर्भगृह है, बाहर की ओर निकला हुआ एक पोर्च या बरामदा है और सारा मन्दिर चबूतरे पर बना है। भीतरगाँव के मन्दिर के नक्शे में एक अन्तर यह है कि गृह के चारों ओर प्रक्षेपणों की तादाद अधिक है, और उसकी दीवारों के की ओर धंसे हुए हैं, जिन पर प्रकाश और छाया के आकर्षक प्रभाव पड़ते हैं। अलंकरण भी प्रचुर मात्रा में है और उनकी नक्काशी अधिक सूक्ष्म एवं जो वास्तुकला का विशाल अनुभव दरशाती है। गर्भ-गृह की तीनों दीवारों के गहरी धंसी, लेकिन कृत्रिम खिड़कियाँ इसकी मुख्य विशेषता हैं। दुर्भाग्य से

---

[1] हि. त्सा. बी., II, १६७ प. पृ.।

[2] बृहत्संहिता (वाराणसी संस्करण), परिच्छेद ५६।

[3] आ. इ. इ. आ. पृ. ९३-९४, चित्र १८६। हाल में ही इस मन्दिर को, पर्याप्त ही, नवीं सदी ई० में रखा गया है (आ. स. इ. १९२३-२४, पृ० २८)।

भाग गिर चुका है, पर निस्सन्देह इसका शीर्ष भाग नाचना कुठारा के महादेव जैसा रहा होगा। इसके विभिन्न अंगों का समन्वित विन्यास, अलंकरण की और लालित्य ने सिरपुर के इस छोटे से मन्दिर को शिखर शैली के भारतीय में एक अपूर्व स्थान प्रदान किया है।

नागर और द्रविड़ शैलियाँ

गुप्तकालीन मन्दिर, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, वास्तुकला की शैलियों के—नागर और द्रविड़—अग्रदूत कहे जा सकते हैं, जो मध्यकालीन मंदिरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जिनका वर्णन पुस्तक की अगली जिल्दों जाएगा। सलीबनुमा नक्शा और रेखा शिखर, जो नागर शैली की विशेषता है, और भीतरगाँव के मन्दिरों में इस काल में ही पैदा हो चुके थे। इसके कुछ समय नाचना कुठारा के महादेव मन्दिर और सिरपुर के लक्ष्मणमन्दिर में शिखर का रूप भी अस्तित्व में आ गया था। दशावतार मन्दिर में तीन दीवारों पर बनाये गये आले और भीतरगाँव के मन्दिर के प्रक्षेपण वर्गाकार मन्दिर की दीवारों के बीच वाले भाग को आगे की ओर निकाल कर बनाने की पद्धति का देते हैं, जो नागर शैली के मन्दिरों की विशेषता है।

इसी प्रकार दूसरी श्रेणी के गुप्तकालीन मन्दिरों में भी द्रविड़ शैली की अनेक एँ अपनायी गयी हैं। गर्भगृह के ऊपर एक दूसरी मंजिल उस छत का पूर्व संकेत जो क्रमश: पीछे की ओर हटती हुई मंजिलों से बनती है और उभार शैली की कुछ कालीन मूर्तियाँ तो और भी निकट साम्य की सूचक हैं। अन्दर के गर्भगृह का नक्शा, चारों ओर प्रदक्षिणा की छतदार गैलरी, दीवारों को भित्ति स्तम्भों और आलों की परियोजना, और गोल कार्निसों का प्रयोग, जिन पर चैत्य मेहराबनुमा नक्काशी की गयी है, ये सब जो हमें गुप्तकालीन मन्दिरों की इस श्रेणी में मिलते द्रविड़ शैली की ही विशेषता है।

इससे जाहिर होता है कि परवर्ती काल में नागर और द्रविड़ नाम से जो शैलियाँ हुईं, उनका विकास गुप्तकाल में ही हो चुका था। इस काल में भावी मन्दिरों की वास्तु-कला की बुनियाद रखी गयी थी, जिसका इतिहास इन दो नागर और शैलियों और उनके विभिन्न अलंकरणों और शाखा-प्रशाखाओं के विकास की है। इस दृष्टि से इस काल की वास्तु-कला की तस्वीर इस काल की मूर्ति कला और से विपरीत है। वास्तविक तथ्य यह है कि भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में में पूर्वकालीन धाराओं का पूर्ण प्रस्फुटन देखने को मिलता है। लेकिन वास्तुकला इतिहास में यह काल अभी उसके प्रारम्भिक विकास और उसकी रचनात्मक यात्रा विकास युग था, जिसके अन्दर भावी युगों में अपरिसीमित विकास और अलंकरण की नाएँ रूप ग्रहण कर रही थीं।

२. मठ और स्तूप

यद्यपि मन्दिर ही इस काल के सबसे महत्त्वपूर्ण स्मारक हैं पर स्तूपों और का भी संक्षिप्त हवाला देना जरूरी है, क्योंकि इस काल में उनका भी बड़ी निर्माण हुआ था। मठों या विहारों का, जो आमतौर पर इंटों से बनाये जाते थे, पहले की तरह ही, वर्गाकार होता था, जिसमें एक आन्तरिक प्रांगण के चारों ओर की पंक्तियाँ होती थीं, और सम्भवतः पिछली पंक्ति के बीच में मन्दिर होता था। तौर पर ये मठ या विहार प्रसिद्ध बौद्ध स्थानों से सम्बन्धित धार्मिक संस्थानों होते थे, लेकिन अब उनमें से अधिकांश नष्ट हो गये हैं। उनमें कुछ के खंडित खुदाई करके खोजे गये हैं, लेकिन उन पर विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं है।

इस काल में बने स्तूपों में कम-से-कम दो उल्लेखनीय हैं: एक मीरपुर (सिंध) का स्तूप[1] (प्ले. xv, २६) और दूसरा सारनाथ का धामेख स्तूप xvii, ३३)। मीरपुर खास का स्तूप इंटों से बनाया गया है, जिसके चबूतरे पर एक वृत्ताकार गुम्बद है। इसमें दिलचस्प बात यह है कि चबूतरे के भाग में तीन प्रार्थना-कक्ष बने हुए हैं (चित्र २७), जिनमें से बीच के विकिरणकारी सिद्धान्त पर बनी एक मेहराब है। अलंकरण-योजना के शैलीगत से इसके निर्माण का समय चौथी सदी के लगभग माना जा सकता है, जो किसी में पाँचवीं सदी के बाद का नहीं हो सकता और इस काल में सच्ची मेहराबों के यह स्पष्टतः संकेतित है कि भारतीयों को यह सिद्धान्त मुसलमानों के आगमन पहले से ज्ञात था।[3] सारनाथ का धामेख स्तूप तीन स्तरों पर ऊपर उठता है: ढोल और गुम्बद, जो सामान्यतः अर्धगोलाकार आकृति का न होकर बेलनाकार आधार-ठोस रूप में पत्थर का बना है और बाहर की ओर आठ प्रलम्बित पर उभरा हुआ है जिनमें से प्रत्येक में मूर्ति की प्रतिष्ठा के लिए (जो अब नहीं हैं आला बना हुआ है, तथा जिनपर उत्कृष्ट रूप में उत्कीर्ण ज्यामितिक और करण की चौड़ी पट्टी है (प्ले० xvii, ३४)। ऊपरी स्तर, वास्तविक गुम्बद का बना था, जो सम्भवतः मूलरूप में प्रस्तर-मंडित था। अलंकरण योजना की और ललित आकृतियाँ इस स्मारक का मुख्य सौन्दर्य है, जिसका बेलनाकार सम्भवतः इसकी तिथि छठी शताब्दी ईसवी के आसपास संकेतित करता है। "जरासन्ध की बैठक" के दो स्तूपों में एक इसी प्रकार की आकृति का है और

---

[1] आ० इ० आ०, पृ० ५२, प्ले. xxxii, ९।

[2] साहनी, डी० आर०, **गाइड टु दि बुद्धिस्ट रूयन्स आफ सारनाथ**, पृ०

[3] प्राक्-मुस्लिम काल की भारतीय वास्तुकला में सच्ची प्रस्तर-मेहराब के उदाहरण मिलते हैं। पिप्राव का उदाहरण (ज० रा० ए० सो०, १८९८, पृ० ५७३ प० पृ०) और मौर्यकाल का मेहराबी प्रस्तर (आ० स० इ०, १९२१-२२, प्ले. xxxvi) इसके उपरांत प्राचीनतम उदाहरण हैं।

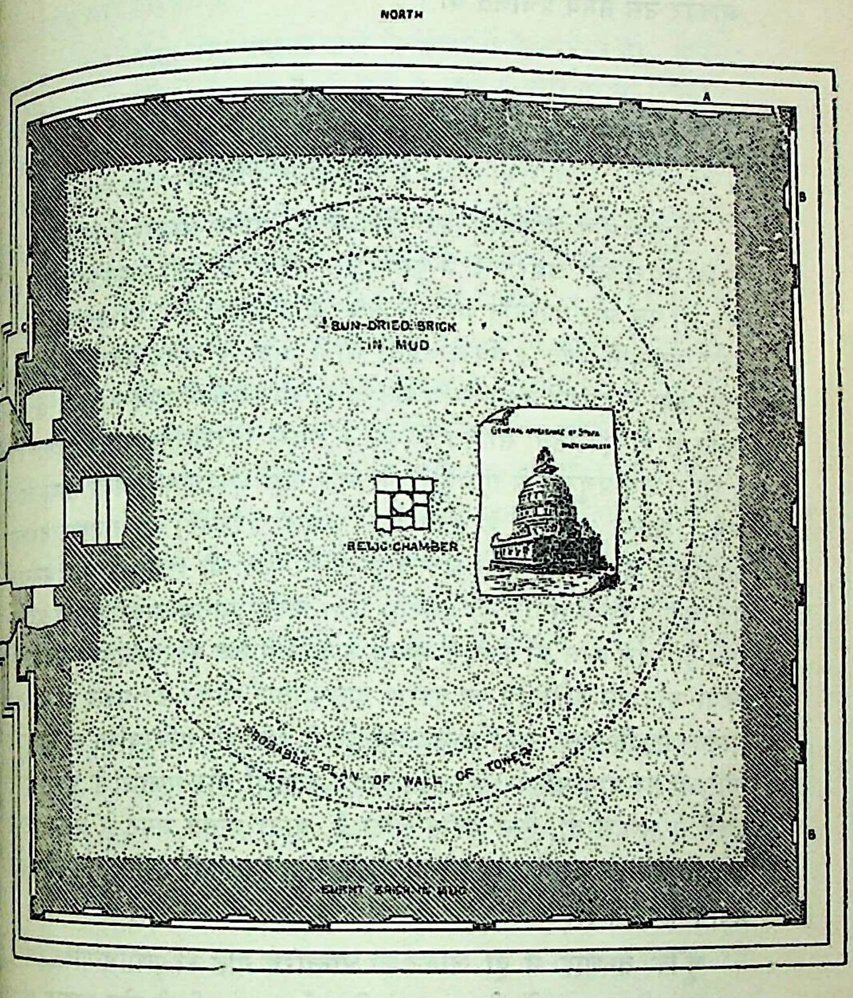
NORTH
A
B
C
SUN-DRIED BRICK IN MUD
GENERAL APPEARANCE OF STUPA WHEN COMPLETE
RELIC CHAMBER
PROBABLE PLAN OF WALL OF TOWER
B
BURNT BRICK IN MUD

चित्र नं० २७

इसी काल का है। अपने आकार के कारण वे बुर्ज (टावर) की तरह दीखते हैं चूंकि ह्वेन-त्सांग ने इस स्तूप को "बुर्ज" (टावर) कहा है अतः लगता है कि आकार उस समय प्रचलित था।

ख. मूर्तिकला

I मूलभूत विशेषताएँ

गुप्तकालीन मूर्तिकला का केन्द्र-बिन्दु मानव आकार है। पहले ही हम दे हैं कि मथुरा और अमरावती में पुरुषों और स्त्रियों की ऐसी आकृतियाँ अंकित की थीं, जो पशु और वनस्पति जगत् से अलग और स्वतंत्र हैं। भारहुत और सांची में और वनस्पति-जगत् से घिरी रहती थीं। अब पशु और वनस्पति के नमूने मूर्ति-कथा के हाशिये में या अलग फलकों पर अंकित किये जाने लगे, जहाँ वे अपने जगत् में ही एकान्ततः सीमित हो गये। गहरी तिरछी रेखाओं में तक्षित वन कुंडलित रूप प्रचुरता से एक दूसरे के साथ कहीं प्रकाश और कहीं छाया का लगे। लेकिन वनस्पति के इतने प्रचुर नमूनों (पैटर्नों) की सजावट दरअसल आकृतियों की महत्ता को रेखांकित करने के लिए थी। मथुरा और अमरावती देख चुके हैं कि वनस्पति की प्रचुरता किस प्रकार मानव-आकृतियों की प्रचुरता गयी है। इस काल की कला ने मानव आकृति में एक गुणात्मक और अर्थगर्भित किया और इस परिवर्तन का कारण वानस्पतिक जीवन का अंकन ही था। मानव-आकृति स्वयं उस निरन्तर प्रवाहमयी गति की अभिव्यक्ति या उसका गयी जो हर वानस्पतिक अंकन, विशेषकर लताओं और मृणालों के अंकन में नि इनमें से मृणाल तो, ऐसा प्रतीत होता है, मानो मानव जगत् से अलग हटकर आकृति को ही मोड़ों और गोलाइयों के रूप में अपनी सजीव लय और प्रदान कर गये।

चूँकि तरुणाई में ही जीवन की आन्तरिक गति की पूर्णाभिव्यक्ति होती है, इस काल के कलाकारों की कल्पना अनिवार्यतः तरुणाई की ओर आकृष्ट हुई और रूप-सौन्दर्य में ही रमती रही। उनकी कृतियों में शरीर अपनी चिकनाहट और की पारदर्शी दीप्ति से जैसे चमकता है। यद्यपि यह प्रदीप्ति, वास्तव में, कला कल्पना की वस्तु है, लेकिन इसे एक प्रतिमा-विधायकरूप की मदद से, जो अपनी और विरलता में भारतीय कला के इतिहास में बेमिसाल है, इन्द्रियगोचर ब गया है। इस युग में एक उदात्त और विशाल परिकल्पना मानव आकृति को ऐसे और शारीरिक अनुशासन से समृद्ध कर देती है, जो मथुरा की कला की मांसलता वेंगी की कला की ऐन्द्रियता को त्यागकर उसे एक सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभव बौद्धिक अनुभव अथवा अधिक सबल और जीवन्त अस्तित्व की अनुभूति के पर उठा देती है। इन मानव-आकृतियों के चेहरे उस अनुभूति से उद्भासित हैं

ध्यान' ही है। उनकी आँखें, जिनकी पलकें झुकी हुई हैं, बाहर के दृश्यमान जगत् के की बजाय, लगता है, जैसे अपने भीतर देख रही हैं, जहाँ हर वस्तु ध्यान-अवस्था में शान्त और निश्चल है।

ह बात न केवल बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के देवताओं के बारे में ही, बल्कि मर्त्य प्राणियों की मूर्तियों के बारे में भी सही है, चाहे वे पुरुष हों या स्त्रियाँ। ह प्रवृत्ति संयमित शरीर और विजित मन की उस धारणा से पैदा हुई थी, न्द्रियों से सजग शारीरिक और बौद्धिक चेष्टा द्वारा अनुशासित किया गया बार शारीरिक संयम प्राप्त कर लेने के बाद उन शारीरिक-स्नायविक तनावों के ई गुंजाइश नहीं रहती, जो भावोद्रेक से प्रतिबन्धित या शारीरिक ऊर्जा के निर्दे-ती है। इस अवस्था में शरीर, चाहे बैठी हुई स्थिति में हो या खड़ी या झुकी स्थिति में, न्दर एक सन्तुलन और सधापन आ जाता है और लगता है कि सम्बद्ध मांसपेशियाँ े नीचे निरन्तर प्रवाहित जीवन-शक्ति की धड़कन से प्रतिभासित हो रही हैं। का प्रतिमाविधायक मुहावरा इस धारणा के तीव्र शारीरिक अनुभव से ही पैदा ई। धीरे-धीरे इस सत्य का उद्घाटन हुआ कि अतिमानवीय शक्ति केवल विशाल और पुंजीभूत ऊर्जा में ही निहित नहीं होती, बल्कि स्वयं मन को जीतने में होती है। र खुली विस्फारित आँखें धीरे धीरे सघन पलकों के नीचे मूँदने लगीं और अन्दर र देखने लगीं, ओठ शान्त संकल्प और सुदृढ़ पूर्णता के भाव से जुड़ने लगे, शरीर ने के भाव से तनावहीन हो गया और उसका अन्दर से ही पूर्ण गोलाई के रूप में त होने लगा।

स्तित्व की ऐसी गहरी अनुभूति को, स्पष्ट है, प्रचुर वस्त्र-विन्यास या अलंकृत ों की आवश्यकता नहीं होती। और तथ्य यह है कि इस काल की कला में वस्त्रों लंकारों का न्यूनतम और विरल प्रयोग ही देखने को मिलता है। और जहाँ का प्रयोग किया गया है, वह प्रतिमाविधायक सतह पर सूक्ष्म दृष्टि रख कर ही, कि वस्त्र और अलंकार ऐसी अपरिहार्य फालतू चीजें हैं जो शरीर को, जो परम और आनन्द का नैसर्गिक पात्र है, ढँक लेती हैं और उसे अपने भार से दबा है।

और न इस कोटि की अनुभूति में, जिसका ऊपर वर्णन किया है, किसी प्रकार वनापूर्ण, शारीरिक या भावनात्मक, क्रिया या समूह के रूप में उत्कीर्ण आकृतियों ों की पारस्परिकता के विवाद के लिए ही गुंजाइश है। हर आकृति की, उसकी ो स्थिति या मुद्रा हो, अपनी एक स्वतंत्र हैसियत है, जो जीवन की अधिक गहरी से समृद्ध अस्तित्व की सूक्ष्म रूप से संघटित लय-ताल से एकात्म है। उन मुद्राओं पनों में भी, जहाँ दो आकृतियों को भावनात्मक रूप से परस्पर सम्बद्ध दिखाया है, वे जिस वातावरण में साँस लेते हैं, वह वातावरण पूर्ण निस्संगता का है, वे केवल क की सतह पर ही एक-दूसरे के सान्निध्य में अंकित हैं।

II. गुप्तकालीन मूर्तिकला का विकास

मथुरा और सारनाथ

गुप्त-काल के आरम्भिक दिनों की ऐसी मूर्तियाँ संख्या में बहुत थोड़ी
दूर स्थानों पर प्राप्त हुई हैं, जिनकी तारीखें निश्चित की जा चुकी हैं या
सकती हैं। लेकिन ऐसी जो भी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, उनसे हम, मोटे तौर पर ही
काल की प्रतिमाविधायक धारणाओं के आरम्भ और विकास का निर्धारण कर

अब तक के उपलब्ध नमूनों से अनुमान होता है कि गुप्तकालीन प्रतिमा-
कल्पना का जन्म मथुरा में हुआ था, जहाँ ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में
शक्ति और ऊर्जा के विशाल आकार वाले बोधिसत्त्वों का निर्माण किया गया था।
की प्रयोगशाला अपने यहाँ से प्रशिक्षित कलाकार श्रावस्ती, प्रयाग, सारनाथ
अन्य स्थानों को भी भेजा करती थी। यह प्रथा चौथी सदी में भी जारी
कसिया, बोधगया और सारनाथ में मथुरा के कलाकारों और अभिलेख
वाले कारीगरों को काम करते हुए पाते हैं। बोधगया का एक बोधिसत्व,[1]
महाराज त्रिकमल की ६४वीं साल का है (फ. xviii, ३५) शायद इस
की सबसे पुरानी कृति है, जिसे गुप्तों के सांस्कृतिक काल में रखा जा सकता है।
और मूर्ति-शिल्प की दृष्टि से यह कृति स्पष्टतः मथुरा की पहली और दूसरी
परम्परा की है, लेकिन इसमें पूर्वकाल की विशालता और भारीपन को एक
अनुशासित गढ़न के अनुसार तराशा गया है और एक स्पष्ट परिरेखा तथा
तिक संयोजना एक ओजस्वी और भरे-पूरे अंगोंवाले भीमाकार शरीर के
प्रतिबंध बन गयी है।

इस काल की बुद्ध या बोधिसत्त्वों की मूर्तियों में शरीर को अनुशासित
मन को जीतने की प्रतिमाविधायक कल्पना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। शरीर को
अनुशासन के अन्दर ले आया गया है, लेकिन अभी तक अन्तर्जगत् पर पूर्ण
प्राप्त की जा सकी। उन्हें अभी तक परमानन्द का अनुभव प्राप्त नहीं हुआ और
हीन अस्तित्व का उल्लास और दीप्ति ही। मथुरा की प्रतिमांकन-परम्परा के
के त्रिनेत्र-शिव के दो असाधारण सिर उपलब्ध हैं; एक मथुरा के म्यूजियम[2]
दूसरा लन्दन[3] की कल्मान गैलरी में (प्लेट. xix, ३८, ३९), जो अपेक्षया
कलात्मक कृति है।

लेकिन अगले एक सौ पचास वर्षों तक इस परमानन्द की अनुभूति
की शक्ल में मूर्त कलात्मक रूप देने का श्रेय सारनाथ को प्राप्त हुआ, जहाँ

---

[1] कन्निघम **महाबोधि,** फ. xxx; क्रा. इ. स्क., चित्र ५४.

[2] कै. आ. म्यू. म.

[3] ज. इ. सो. ओ. आ., vi, २०२, प्ले. xlix.

चक्र-प्रवर्त्तन किया था। बुद्ध और बोधिसत्त्व की असंख्य बैठी और खड़ी ं और कुछ ब्राह्मण प्रधान धर्मों की प्रतिमाओं में (उदाहरण के लिए भारत वद्, बनारस में रखी कार्त्तिकेय की मूर्ति) शरीर अपनी तमाम कड़ाई त्यागकर ई और कोमलता प्राप्त कर लेता है और वह पूर्ण शान्ति और नैसर्गिकता की र्ण करता है। यह उपलब्धि कोमल और सूक्ष्म प्रतिरूपण का परिणाम में पिघलती हुई, फिसलती हुई रेखा का मसृण प्रवाह और प्रतिमाविधायक करण का मितव्यय प्रयोग देखने को मिलता है। समय के साथ आकृति लम्बी ी, सिर अपेक्षया छोटा और हल्का होता गया, प्रतिमा-विधायक माध्यम का तर और संवेदनशील होता गया और इससे मूर्ति में एक ऐसी अतीन्द्रिय, अलौ- त भव्यता पैदा हो गयी मानो प्रतिरूपण और रेखा किसी कोमलतर संवेदना रही हो। मूर्तिकरण की ऐसी पूर्णता, परमानन्द के अनुभव से उत्पन्न हृदयोल्लास ीखी और मूर्त्त अभिव्यक्ति कल्पनातीत लगती है और इसका अर्थ है कि यह या तो धारा ही बदल देगी या निराकार में विलीन हो जायेगी। इसका एक सारनाथ से प्राप्त बुद्ध की वह प्रसिद्ध मूर्ति है जिसमें उन्हें **धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन** की दिखाया गया है (प्लेट. xviii, ३७)[1] लेकिन सारनाथ के म्यूजियम में नहीं तो इतनी ही श्रेष्ठ अन्य कई मूर्तियाँ हैं।

नाथ में ही बुद्ध ने अपना पहला उपदेश दिया था। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में को **धर्म चक्र प्रवर्त्तन** कहते हैं। इसमें बुद्ध को बैठी हुई मुद्रा में दिखाया गया है दोनों हाथों की उंगलियाँ एक विशेष मुद्रा में हैं। सारनाथ की यह मूर्ति ध्यान- करुणाकर बुद्ध की, जो प्रथम बार संसार को मुक्ति या निर्वाण का सन्देश दे र के माध्यम में एक अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति है। **चक्र** जो **धर्म** का पीठिका के मध्य में है और उसके दोनों ओर उनके पाँच शिष्यों की आकृतियाँ बुद्ध ने पहला उपदेश दिया था। एक शिशु के साथ स्त्री की आकृति, जो बायें सम्भवतः इस प्रतिमा की दाता थी। यह प्रतिमा प्राचीन भारत की मूर्तिकला नमूनों में से है।

काल में मथुरा भी इन सब अनुभवों के मध्य से गुजरी होगी, लेकिन वहाँ -विधायक परिकल्पनाएँ किंचित् भिन्न प्रकार की थीं। उनमें रूपाकार का काफी समय तक चलता रहा, और सारनाथ से सौन्दर्य-बोधी और प्रतिरूपण प्रभावों को ग्रहण करने के बावजूद आकृतियों के शरीर की सतह में वह मसृणता यी वरन् एक तरह की रुक्षता-सी बनी रही। वस्त्रों की तहों, भौहों और आँखों किनारेवाली पलकों का प्रतिरूपण भी परम्परागत मथुरा-शैली में ही हुआ है। कर देखा जाए तो बैठे हुए महावीर की सिरहीन प्रतिमा (सन् ४३२-३३ ई०) ी तारीखों की बनी बुद्धों (फ. xviii, ३६) और बोधिसत्त्वों की मथुरावाली

---

[1] हि. इ. इ. आ. चित्र १६१, फा. आ. स्मि, पृ. १६८-६९, प्लेट xxxviii.

प्रतिमाओं में वह अतीन्द्रियता, भव्यता, संवेदनशीलता और उच्चस्तरीय आ लक्षित नहीं होती, जो सारनाथ की प्रतिमाओं में है। मथुरा की परम्परा सुदूर स्थानों तक की कला में भी देखने को मिलता है, उदाहरण के लिए देखिये जिले के मुन्कुबार स्थान पर मिले सन् ४४८-४९ ई० की बैठे हुए बुद्ध की (प्लेट xx, ४३)[1] इस प्रतिमा का शिरोवस्त्र एक अनोखे प्रकार का है और जाली में लिपटा बुद्ध का हाथ भी विचित्र ढंग का है, जो बुद्ध का परम्परागत

III. मूर्ति-कला के प्रारम्भिक निकाय

(चौथी से सातवीं सदी)

१. उत्तर भारत

पाँचवीं और छठी शताब्दी के बीच मथुरा और सारनाथ मूर्ति-कला की जिस प्रक्रिया और अनुभव के बीच से गुजरे थे, अपनी स्थानीय परि जातीय, सामाजिक, धार्मिक—के अनुसार अन्य सांस्कृतिक केन्द्र भी, गहराई की भिन्न कोटियों में, उस अनुभव के बीच से गुजर रहे थे।

सारे आर्यावर्त (गंगा-जमुना की घाटी) और मालवा में सारनाथ जैसे उदात्त आध्यात्मिक अनुभव की कला के उदाहरण विरलता से ही मिलते छिटपुट मिसालें, जैसे कार्तिकेय की मूर्ति (प्लेट. xx, ४४), (भारत बनारस)[2], लोकेश्वर या शिव की मूर्ति (प्लेट. xxi, ४६) (सारनाथ ग्वालियर में मिली एक या दो मूर्तियाँ (प्ले. xxii, ५१)[4], नागोद स्थान से मिली एकमुख लिंग की मूर्ति (प्ले. xxi, ४८)[5] आदि, जो प्रतिमाविधायक परिकल्पना के निकट तक पहुंचती हैं, उनमें व्यक्त आध्यात्मि अपेक्षया झीने किस्म की है और इसीलिए उनका प्रतिरूपण भी किंचित् भिन्न है। आमतौर पर कह सकते हैं कि ये आकृतियाँ अपेक्षया अधिक भारी अधिक विस्तार घेरती हैं। उनका प्रतिरूपण अधिक संक्षिप्त और उनकी परि गतिहीन और परिष्कृत है, फिसलती और पिघलती नहीं है। बेसनगर की में बनी गंगा की मूर्ति (प्ले. xxii, ४९)[6], मूमरा की दुर्गा-महिषमर्दिनी की आवक्ष मूर्ति में सारनाथ की परम्परा का शान्त सन्तुलन तो है, लेकिन उन

---

१. फा. आ. स्मि., पृ. १७३, चित्र ११९.

२. हि. इ. इ. आ., चि. १७५.

३. वही, चि. १७१.

४. हि. इ. इ. आ., चि. १७३; क्रा. इ. स्क., चि. ६०.

५. मे. आ. स. इ. सं. १६, पृ. ५; प्रो. आ. स. इ., वे. स., १९२०, पृ. १०६-

६. हि. इ. इ. आ., चि. १७७.

भारी आकृति, संक्षिप्त प्रतिरूपण और मन्दगति परिरेखा के गुण मौजूद हैं। र्वती की अनन्तशायिनी मूर्तियाँ (प्लेट. xxii, ५०), जो दशावतार मन्दिर, में हैं और संभवतः कुछ बाद की तारीख की हैं, अपेक्षया और भी ज्यादा भारी-हैं; उनका प्रतिरूपण अर्थहीन ढंग से शिथिल है और उनकी परिरेखा तो इतनी है कि लगता है, आकृतियाँ अपनी ही शक्लों में बन्दी हो गयी हैं। इन सब उदा-में सम्भवतः अनुभव का अपेक्षया निम्न स्तर व्यक्त हुआ है—यद्यपि है वह उसी का—जो उनके सौन्दर्य-बोधी रूपायण और उपलब्धि में इस अन्तर के लिए दार है।

प्तकालीन कला के सामान्य स्वर इलाहाबाद के निकट गढ़वा की उभार शैली र्तियों (प्ले. xix, ४०-४२) पर अंकित हैं (लखनऊ म्यूजियम)। इन में जो सन्तुलन, अस्तित्व की सहजता, स्वाभाविकता, प्रतिरूपण की सूक्ष्मता और ता तथा आकृतियों में जिस गर्वपूर्ण किन्तु निस्संग और आत्म-संयमित भाव की व्यक्ति है वह मूलतः उस युग और स्थान की भावना की अभिव्यक्ति है, जिसमें वे गयी थीं। भले ही कुछ आकृतियों में वेंगी से सीखा हुआ प्रतिस्थापन का ग्रीक दिखाई देता हो या वस्त्र-विन्यास मथुरा से लिया गया हो।

लेकिन आर्यावर्त में भी कुछ दूसरी ही शक्तियाँ और परम्पराएँ काम कर रही थीं। कोसाम से प्राप्त शिव-पार्वती की उभार-शैली की मूर्ति (प्ले. xxiii,)[1] और दशावतार मन्दिर (देवगढ़ झांसी) के रामायण के प्रसंगों को अंकित करने फलक (प्लेट xxiii, ५२)[2] में वर्णनात्मक मूर्ति-अंकन की एक पुरानी परम्परा का हुआ है, और वे अपनी मूल अवधारणा और अभिव्यक्ति में सारनाथ की उभार की मूर्तियों से सर्वथा भिन्न हैं। जबकि सारनाथ की आकृतियाँ केवल संयोजनात्मक से ही एक-दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं, बल्कि भावनात्मक और आध्यात्मिक दृष्टियों एक दूसरे से निस्संग हैं, कोसाम और देवगढ़ की आकृतियाँ संयोजनात्मक रूप से दूसरे से जुड़ी हुई हैं, बल्कि उनमें एक प्रकार की अश्लीलता भी है, जो एक भिन्न स्तर सामाजिक अनुभव से पैदा होती है। निश्चित रूप से इन मूर्तियों में, सारनाथ की में, अपेक्षया बहुत कम शालीनता, भव्यता और आध्यात्मिकता है, अपेक्षया बहुत सूक्ष्म और प्रतिभासित रूप की अभिव्यक्ति है, यद्यपि उनमें अधिक घरेलूपन और यता है, जो शायद दैनंदिन जीवन से निकटतर सम्बन्ध के फलस्वरूप है।

सामाजिक-धार्मिक अनुभव की दृष्टि से इन मूर्तियों की सजातीय और इनकी ही वर्णनात्मक मूर्ति-अंकन की एक अन्य प्राचीन परम्परा का विकास करने वाली यों की मिसालें मन्दोर के कृष्ण-गोवर्धन-धारण वाले फलक (प्लेट xxi, ४७)[3]

---

[1] आ. स. इ. १९१३-१४, प्ले. lxxb.

[2] हि. इ. इ. आ., चि. १६७.

[3] हि. इ. इ. आ., चि. १६६.

और नागरी के द्वार-फलक[1] में मिलती हैं। ये दोनों स्थान राजपूताने में हैं और पाँचवीं सदी के आरम्भ की हैं। यद्यपि देवगढ़ और कोसाम की मूर्तियों की भाव और कोमलतर शरीर-तल के प्रतिरूपण में सारनाथ का प्रभाव लक्षित होता राजपूताने की इन मूर्तियों की कठोर परिरेखा, शरीर की वलिष्ठ, चौड़ी काठी, उभारों की अत्यन्त मुखर अभिव्यक्ति और आमतौर पर एक कठोर भावना कालीन मथुरा की मूर्तिकला की विरासत है। लेकिन इन दोनों स्थानों की जो शान्त सन्तुलन देखने को मिलता है, वह उस युग की देन है, जिसमें उनका हुआ था, जबकि उनमें व्यक्त घरेलू आत्मीयता का भाव और उनकी वलिष्ठता सामाजिक और धार्मिक अनुभव का परिणाम है, जो उस अनुभव से भिन्न था, सारनाथ की प्रतिभासित बौद्ध प्रतिमाओं का निर्माण किया था। यह वही अत्यन्त सूक्ष्म महायान-योगाचार दर्शन को पुराणों के घरेलू दर्शन से भिन्न यह अन्तर केवल प्रतिमा-विधायक संरचना और परिकल्पना में ही नहीं, उनकी विषय और कथा-वस्तुओं में भी प्रतिबिम्बित हुआ, जैसा उपर्युक्त स्पष्ट है।

बलिष्ठ और घरेलू शरीर-रचना का यह नमूना और उसकी कलात्मक —जो साँची के दिनों से विरासत के रूप में चली आ रही थी—मालवा में एक ही सन्दर्भ में ग्रहण की गयी। वहाँ बलिष्ठ शरीर-रचना को, जो अपेक्षया और चौड़ी और भरकम काठी की है, अधिक घनीभूत गोलाई और सख्त प्रतिमा- मुहावरे में व्यक्त किया गया। मालवा के विभिन्न स्थानों से प्राप्त स्त्रियों की मूर्तियों [गंगा की मूर्ति, वेसनगर (प्ले. xxii, ४६)[2], ग्वालियर म्यूज़ियम अप्सरा (प्ले. xxi, ४५)[3], पवाया के तोरणद्वार के लिंटल, ग्वालियर म्यूज़ि के साथ बनारस, राजगिर और तेजपुर की मूर्तियों से तुलना करने से यह बात हो जाती है। मालवा की मूर्तियाँ निरपवाद रूप से अधिक भारी-भरकम, गोल कठोर हैं, जबकि पूर्वी क्षेत्र की मूर्तियाँ अधिक कोमल, छरहरी और मृदु हैं। पर पुष्ट शरीर की भारी-भरकम एकरसता और सघन गोलाई जितनी उन मूर्तियों में हैं, जो सीधे शिला में उत्कीर्ण की गयी हैं, उतनी अन्यत्र नहीं मिलती, जैसा निकट उदयगिरि की गुफाओं में देखा जा सकता है। (उदाहरण के लिए गुफा में विष्णु की मूर्ति) अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति, वराहावतार मूर्ति-फलक में भूदेवी मूर्ति, मन्दसौर में खड़े शिव की मूर्ति, मन्दसौर में ही यशोधर्मन् के स्तम्भ पर

---

१. Ind. Sc., पृ. १७२, चि. ६१.

२. हि. इ. इ. आ. चि. १७७.

३. वही, चित्र १७५.

४. आ. स. इ. १९२४-२५, पृ. १६५, प्ले. xliii (c) तथा (d).

और ग्वालियर के म्यूजियम में रखी नरसिंह की मूर्ति) ।[1] यहाँ तक कि वाघ की की बौद्ध मूर्तियाँ भी इस भारी भरकम एकरसता तथा लम्बाई और गोलाई की के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकीं। यह शायद असम्भव नहीं है कि ये गुण एक परोक्ष रूप से हर स्थान के जातीय जीवन की परिस्थितियों से निर्धारित हुए हों और पौराणिक एकता की प्रवल सामाजिक विचारधारा से।

किन उदयगिरि का विराट वराहावतार मूर्ति-फलक (प्लेट xxiv, ५५) अपने एक बेजोड़ चीज है। यद्यपि उसमें उदयगिरि की मूर्तियों के सामान्यतः मा-विधायक गुण मौजूद हैं, लेकिन उसकी विराटता एक ओर तो उस ब्रह्माण्डीय ल्पना से उत्पन्न है, जिसको उसमें अभिव्यक्ति दी गयी है, दूसरी ओर वह उस शिलाखंड से भी उत्पन्न है, जिसने उसके धड़कते हुए, प्रभावशाली मूर्ति-पुंज को, गति की भारी भरकम और हृष्ट-पुष्ट आकृतियों में उत्कीर्ण है, गहन प्रभ- प्रदान कर दी है। मालवा में स्थित वराहावतार की यह मूर्ति (पाँचवीं सदी) एक हाथ परम्परागत और मनोवैज्ञानिक रूप से भाजा के सूर्य (ईसा पूर्व दूसरी की ओर वढ़ाती है तो दूसरा हाथ वादामि, एलोरा और एलिफेन्टा (छठी, सातवीं ठवीं सदियाँ) के भारी-भरकम किन्तु गत्यात्मक मूर्ति-पुंजों की ओर।

२. पूर्वी भारत

रनाथ का कोमल और सूक्ष्म संगीत पूर्वी भारत में पूरे मनोयोग से सुना गया। प्राच्य देश ने, जिसे विरासत में एक ऐसी संस्कृति और जातीय चरित्र मिला आर्यावर्त से भिन्न था, सारनाथ की सूक्ष्म कोमलता और आध्यात्मिक उदात्तता की गरमाई और ऐन्द्रिय आकर्षण भर दिया। यह न सिर्फ भागलुर के सुलतान- मिली खड़े वुद्ध की विशाल ताम्र-प्रतिमा (प्ले. xxv, ५८; वर्मिंघम न)[2] और नालन्दा से प्राप्त वुद्ध की विशाल धातु-प्रतिमा (नालन्दा म्यूजियम) जाहिर है वल्कि बिहारैल में मिली वुद्ध की प्रस्तर-मूर्ति (प्ले. xxx, ५७; म्यूजियम), मणियार मठ की गचकारी की उभारी हुई मूर्तियों (प्ले. xxx, और तेजपुर[3] के दहपरवतिया स्थान में मिली गंगा और यमुना की दो प्रस्तर (प्ले. xxvi, ६०, ६२) से भी स्पष्ट है। सुलतानगंज और नालन्दा की में अभी भी वस्त्रों की तहों और चुन्नटदार झालरों के रूप में मथुराशैली के प्रति व्यक्त होता है, लेकिन राजगिर, बिहारैल और तेजपुर की मूर्तियों में सारनाथ दृष्टि और मुहावरे का काफी हद तक अनुकरण किया गया है; इसके वावजूद सारनाथ के अलौकिक उदात्तीकरण में ऐसे आकर्षण और भाव-सौन्दर्य का

---

[1] हि. इ. इ. आ., चि. १७०; का. इ. स्क.

[2] हि. इ इ आ., चि. १६०.

[3] आ सा इ., १९२४-२५, पृ. ९८, प्ले. xxxii (a) तथा (b).

स्पर्श ला दिया है जो सर्वथा मानवीय है। मुखाकृति में सूक्ष्म रूपगत परिवर्तन शरीर के प्रतिरूपण में भी थोड़ा-सा अन्तर पैदा करके यह प्रभाव पैदा किया

चंडीमऊ से प्राप्त स्तम्भों पर की गयी ब्राह्मण-धर्मी देवमूर्तियों की (प्ले. xxiv, ५६) में, जो इसी काल की सारनाथ की नक्काशी की के मुकाबले में निश्चित रूप से अधिक घरेलू और वैविध्यपूर्ण ढंग की लगता है, जैसे एक बिल्कुल भिन्न प्रकार का सौन्दर्य बोध और सामाजिक काम कर रही हो। प्रतिमा-विधायक दृष्टि से आकृतियाँ ऊँचाई और घनीभूत हैं और उनमें यदि अलंकरण एक लययुक्त स्वेच्छाचारिता से वतुर्लाकार गति से बढ़ते हैं, तो आकृतियाँ भी एक सजीव और उत्साहभरी गति की गयी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उभारशैली की इन मूर्तियों में छाया और प्रदर्शन के प्रति, एक मनोरंजक और सजीव वर्णन के प्रति तथा एक आत्मीय वातावरण के प्रति विशेष अभिरुचि का परिचय मिलता है, जो सारनाथ की अज्ञात, या उपेक्षित है।

३. दक्षिणापथ

दक्षिणापथ में प्राचीन कला के ऐसे बहुत कम नमूने प्राप्त हुए हैं जिन्हें रूप से पाँचवीं सदी में रखा जा सके या जिन्हें उस काल की प्रवृत्तियों को समझने के लिए प्रतिनिधि माना जा सके। लेकिन छठी सदी में दक्षिणापथ ऐसी प्रवृत्तियाँ उभरीं जो अत्यन्त जीवन्त और वैविध्यपूर्ण थीं।

ऐंहोले की उभारशैली की मूर्तियाँ (प्ले. xxvii, ६३) आमतौर पर कोटि की हैं, संरचना और संयोजना की दृष्टि से भी और प्रतिरूपण से भी। उनमें एक झीनी-सी लयकारिता है, जो देवताओं और उनके उड़ते हुए में नारीसुलभ कान्ति पैदा कर देती है, जिसका दक्षिणापथ की समकालीन, बादामि, अजन्ता या कान्हेरी की मूर्ति-शैलियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मूर्तियों में अभिव्यक्त उदात्तीकरण, ऊर्जा, गहरे विवेक और आध्यात्मिक परिचय इन उभारी हुई मूर्तियों को है, लेकिन उन्होंने उनका अनुभव शायद कम किया है। फिर भी सारनाथ ने अपना शान्त सन्तुलन और मुलायम प्रतिमा-विधायक कला ऐंहोले के विलम्बित और लोचदार शरीरों में लेकिन यह लोच और लम्बाई दक्षिण भारतीय कला की देन है। इस प्रकार वे तो ऐंहोले को मूर्तिकला की आन्ध्र-पद्धति से सम्बद्ध कर देते हैं और दूसरी ओर पद्धति से भी।

कान्हेरी गुफाओं की समकालीन उभारी हुई बौद्ध-मूर्तियाँ (प्ले. ६४)[1] एक सीमा तक सारनाथ की प्रतिध्वनियां अंकित करती हैं, लेकिन

---

[1] हि. इ. इ. आ., चि. १६३.

ें और वह भी अन्त:प्रकाश के किसी भी चिह्न या प्रसुप्त ऊर्जा का संकेत दिये बिना कठोर मुद्रा और कठोर प्रतिरूपण आकृतियों को अपनी परिरेखाओं के अन्दर बांधे हैं, और लगता है, जैसे वे अपना भार मूक संवेदनहीनता से वहन कर रही हैं। नात्मक एवं संयोजनात्मक रूप से एक दूसरे से असम्बद्ध और मूल भाव या वाह्य-ें कोई आन्तरिक परस्परता न होने के कारण, आकृतियों की इस संवेदनहीन कठोरता ाहिर होता है कि जहाँ तक दक्षिणापथ में बौद्ध कला का सम्बन्ध है, उसके प्रवाहमय अन्तःप्रकाशी मूल विचार के अर्थ और महत्त्व को, जिसने गंगा-यमुना घाटी की मूर्तियों को जन्म दिया था, वहाँ न तो समझा गया और न अनुभव ही किया गया।

एक दूसरे रूप में यही बात बुद्ध की उन तमाम बैठी या खड़ी मूर्तियों (प्ले. iii, ६६) और अन्य दैवी आकृतियों में देखी जा सकती है, जो उस काल अजन्ता-गुफाओं की दीवारों और अग्रभागों को अलंकृत करती हैं। वहाँ पर आकृतियों म्बाई को संक्षिप्त कर दिया गया है और एक प्रकार की स्पंजी गोलाई उनकी सामान्य ता है। देखने में यद्यपि वे भारी वजनदार लगती हैं, लेकिन उनमें शारीरिक या आत्मिक ऊर्जा और शक्ति का न कोई संकेत मिलता है और न कोई भावना ही। सतह का अंकन उनमें अधिक संवेदनशील ढंग से किया गया है और मूर्तियों में शान्त-सन्तुलन है फिर भी वे मूक और निद्रालु सी नजर आती हैं। आध्यात्मिक प्रकाश से वे बिल्कुल अपरिचित हैं और उनके अन्दर जितना कुछ भी शारीरिक ाह है, वह लगता है कि एक उनींदी श्रान्ति के भार से विघटित होता जा रहा है।

युग के सामान्य मापदंड से, और विशेषकर उत्तर भारत के मापदंड से, हम ापथ की उपलब्धियों का मूल्यांकन नहीं कर सकते, क्योंकि लगता है कि जातीय भौगोलिक पूर्व-स्थितियों ने इस क्षेत्र को जैसे भारतीय कला में एक भिन्न प्रकार का, भिन्न दृष्टि और परिकल्पना का, एक भिन्न प्रकार की कला का विकास करने के लिए था, जिसके सामाजिक और मनोवैज्ञानिक मूल-स्रोत भिन्न थे और जिसकी संरचना प्रतिरूपण पद्धति भी भिन्न थी। जहाँ तक छठी सदी का सम्बन्ध है, इस वैशिष्ट्य स्थापित करने वाली कला के श्रेष्ठतर नमूने बादामि और परेल में मिलते हैं, जो भाजा कार्लि में काम करनेवाली प्रवृत्तियों और परम्पराओं के समकालीन विकसित हैं।

परेल के उभार शैली के शानदार मूर्ति-फलक (प्ले. xxviii, ६५)[1] की कृतियाँ विशाल और भारी-भरकम आकार और अनुपात की हैं। तीन खड़ी हुई र्तियाँ जैसे पृथ्वी के तल की निराकार ब्रह्माण्डीय गहराइयों से धीरे-धीरे ऊपर को उठ हों। तले में अंकित गणों की आकृतियों से इस निराकार के अवशेष अभी तक के हुए हैं। अपने परम ध्यान में गहरे भाव से मग्न ये आकृतियाँ अपनी गत्यात्मक, प्रसुप्त ऊर्जा और शक्ति से, जो पृथ्वी के श्वास का अंग है, जैसे भीतर से भारी

---

[1] का. इ. स्क., चि. ६६.

ठोसपन के साथ उठती हुई नजर आती हैं। अन्य गौण आकृतियाँ भी, जो एक गत्यात्मक संयोजना में प्रस्तुत की गयी हैं, और एक अन्त:सम्बन्ध से परस्पर गतिशील मुद्राओं में है, लेकिन फिर भी अत्यन्त गहरे ध्यान में डूबी हुई हैं, आकृतियों की तरह ही, जिनकी वे अभिव्यक्तियाँ हैं। वे अपनी गत्यात्मकता को अपने सीने में दबाकर रोके हुए हैं, जिससे उनके सीने चौड़ाई और गोलाई में लेकिन इससे शरीर के अन्य अंगों में भी आन्तरिक दवाव के कारण विस्तारण और वहाँ ठोस मांसपेशियाँ रूप धारण करने लगती हैं। इस सारे फुलाव को प्रवाहमयी परिरेखा के अन्तर्गत नियंत्रित किया गया है। इतनी सशक्त प्रतिमा-परिकल्पना और शरीर की सतह का तक्षण, इतनी अन्तर्भूत गत्यात्मकता और ऊर्जा का ऐसा विकिरण सारनाथ के समकालीन कलाकारों को अज्ञात था। और यह आश्चर्यजनक पहेली है, दोनों स्थानों की कला मन की अन्तरतम योग से उत्पन्न हुई थी।

इसी दृष्टि और रूप की परिकल्पना ने बादामि की गुफाओं की शिला में मूर्तियों और उनकी संयोजनाओं को जन्म दिया। परेल की मूर्तियों में, या बादामि गुफा नं० ३ की अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति में जो बात अन्तर्भुक्त है, वही बादामि गुफाओं की उभार शैली की मूर्तियों में सशक्त और गत्यात्मक मुद्राओं के रूप में पड़ी (प्ले. xxix, ६८-७१) है।[1] यहाँ पर भी मुख्य दैवी आकृतियों के अनुपात में भारी-भरकम और विशाल हैं, उनके अंग भरे हुए और ठोस हैं, लेकिन की तुलना में उनकी कला किंचित् अपरिष्कृत और अधिक साधारणीकृत है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ पर भी प्रतिमाविधायक परिकल्पना और प्रच्छन्न अन्तर्भूत किन्तु गत्यात्मक ऊर्जा पर विशेष जोर दिया गया है, जिसे शरीर के केन्द्रीभूत करने की चेष्टा की गयी है। यह ऊर्जा जीवन के अधिक गहरे और स्रोतों से उठती हुई नजर आती है। ये मुख्य आकृतियाँ जैसे अपने अपने मूर्ति-चित्रों आच्छादित हो जाती हैं। उनके शरीरों और अंगों की वास्तविक सीमा-रेखाएं गत्यात्मक विस्तरण की सूचक नहीं हैं। दरअसल, उनकी अन्तर्भुक्त गत्यात्मकता शरीर ही नहीं, पूरे फलक की सीमाओं से भी बाहर तक फैलती जाती है और सारी आकृतियों को भी अपने आलिंगन में लपेट लेती है। चूंकि ये गौण आकृतियाँ आकृतियों के महत्त्व में कोई अभिवृद्धि नहीं करतीं, इसलिए उन्हें अधिक मुक्तभाव और प्रचुर अलंकारिक ढंग से गढ़ा गया है। लेकिन गौण आकृतियाँ और मुख्य की प्रचुर वेश-भूषा, ये सब मुख्य आकृतियों की विशाल और विस्तरणशील के उपलक्ष्य मात्र हैं। उनके विशाल शरीरों का भरकमपन और उनमें घनीभूत ऊर्जा संयोजना के गत्यात्मक विस्तरण के साथ मिलकर बादामि के मूर्ति-को एक ऐसा अर्थ और महत्ता प्रदान कर देते हैं, जो सारनाथ की मूर्तियों में अज्ञात है

---

[1] आ. इ. स्क. चि० ६७.

जीवित शिला को अपनी परम मानवीय ऊर्जा और आदिम जीवनी शक्ति का बना दिया है ।

IV. मूर्ति-कला के परवर्ती निकाय

(सातवीं सदी)

१. मध्य और पूर्व भारत

सातवीं सदी की तिथियुक्त किसी मूर्ति का अभी तक पता नहीं चला है लेकिन तथा अन्य आधारों पर अनेक मूर्तियों को सातवीं सदी में रखा जा सकता है । सदी के पूर्वार्ध में पुष्यभूति साम्राज्य के अन्तर्गत एक प्रकार की शिथिल राजनीतिक मौजूद थी, लेकिन हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद राजनीतिक ताना-वाना विखर गया अनेक परस्पर-विरोधी और छोटी-छोटी स्वतन्त्र रियासतें पैदा हो गयीं और आठवीं के मध्य से पहले तक उत्तर भारत फिर से अपेक्षया अधिक सुरक्षित सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों में चैन की सांस नहीं ले सका । क्षेत्रीय मनोभावना में एक पूरी शताब्दी ने, जिसे राजनीतिक और भौगोलिक एकान्तिकता ने और भी हन दिया था, धीरे-धीरे स्थानीय रुचियों और पूर्वग्रहों को सामने लाने में मदद की क्षेत्रीय कोटि के सामाजिक और सौन्दर्यवोधी आदर्शों को धीरे धीरे कला में ग्रहण कर लेने का मौका दिया, और इस प्रकार कला के क्षेत्रीय स्कूलों का जन्म । यद्यपि यह प्रक्रिया सातवीं सदी से ही चालू हो गयी थी, लेकिन आठवीं सदी के ने पहले यह प्रवृत्ति विशेष मुखर नहीं हो पायी थी ।

गा यमुना की पूरी घाटी में, जिसका प्रतिनिधित्व सारनाथ करता था, तथा और विहार में पाँचवीं और छठी सदी की प्रतिमा-विधायिनी गुप्तकालीन परिकल्पना सुकुमारता और भव्यता की पुनरावृत्ति से थक कर अपने आप विघटित होने लगी । इस दिशा में नये प्रयोग और नये आविष्कार जैसे असंभव हो गये थे और एक पिघ-हुई परिरेखा तथा आश्चर्यजनक रूप से संवेदनशील प्रतिरूपण ने जिस कोमल और प्रवाही अन्तःप्रकाश को सँजोया था, वह निश्चित रूप से मिट रहा था । यह हुआ कि प्रतिरूपण में एक अपरिष्कृत गँवारुपन और अर्थहीन भारी-भरकमपन या ।

तवीं सदी के मध्यभारत की अधिक महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ मुख्यतः सारनाथ (प्ले. ों, ६७) और उसके आध्यात्मिक क्षेत्र में आने वाले नालन्दा में ही बनती । प का एक अर्थहीन भारी-भरकमपन और उनींदापन, जो एक पीढ़ी के अवशेषों लगातार निर्भर करने और उसका अनुकरण करने से पैदा हुआ था, सारी आकृतियों र वन जाता है । जो कभी एक सृजनात्मक प्रक्रिया थी वह अब फार्मूलों में बंध थी, जिसका कोई महत्त्व नहीं होता । प्रतिमा की सतह रुखड़ी और अपरिष्कृत गयी, जवकि परिरेखा ने अपना प्रवाही गुण खो दिया । फिर भी, अगली सदी में

नालन्दा में प्रतिरूपण पर विशेष ध्यान देकर और परिरेखा की स्पष्टता पर और
विघटन की प्रक्रिया पर रोक लगा दी। मूर्तियों का शारीरिक प्रारूप लगातार
आदर्श और गंगा-यमुना की घाटी की परम्परा की विरासत वना रहा। परवर्ती
क्या हुआ, उसकी यहाँ चर्चा व्यर्थ होगी, क्योंकि उसका पूर्वक्षेत्रीय स्कूल की
के प्रसंग में विवेचन पुस्तक की अगली जिल्द में किया जाएगा।

बंगाल से प्राप्त धातु की दो मूर्तियों से भी (रानी प्रभावती की 'सर्वाणी'
के म्यूजियम में[1] और शिव की कांस्य-मूर्ति, कलकत्ते में अजित घोष के संग्रह में)
सातवीं सदी में रखा जा सकता है, जाहिर होता है कि गुप्त-कला की पूर्वी
ज्वार भी उतार पर था और इन मूर्तियों में उस कला की परिष्कृत ऐन्द्रियता
संवेदनशील निस्संगता का लेश भी नहीं रहा था । सर्वाणी की कठोर और
परवर्ती काल की साम्प्रदायिक मूर्तियों की पूर्वगामिनी दिखायी देती है। लेकिन
पुर[2] से प्राप्त कुछ प्रस्तर मूर्तियाँ, जो मोटे तौर पर इसी काल की या कुछ
हैं, अभी भी सारनाथ की पूर्वी शैली की परम्परा से जुड़ी हुई हैं। पाहारपुर के
कथित राधा-कृष्ण की मूर्ति के प्रतिमाविधायक वैशिष्ट्य में (प्ले. xxx, ७२)
भागलपुर की उस नारी-मूर्ति में जिनके बाजू पर एक चिड़िया (प्ले. xxxi,
मनियार मठ (राजगिर)[3] की नारी नागिनी और दहपरवतिया[4] (तेजपुर)
और यमुना की मूर्ति की पूरी शालीनता, सन्तुलन, ऐन्द्रिय उष्णता और
सौन्दर्य-सम्मोहन है।

लेकिन पाहारपुर के इसी स्मारक से प्राप्त उभार शैली की अनेक दूसरी
मूर्तियों का (प्ले. xxx, ७३) बहुत गहरा सौन्दर्य-बोधी और सामाजिक
उभार-शैली की इन मूर्तियों में, जिनके भारी भरकम और रूक्ष अंग तथा
अनुपात के प्रति उदासीनता दिखाई देती है, परिष्कृत संवेदनशीलता या
बनावट का लेश भी नहीं है। ये सादी और गँवारु मूर्तियाँ बड़े निर्द्वन्द्व
खुले दिल से तराशी गयी हैं। उनका प्रतिमा-विधायक गुण उनकी गति,
संयोजना और सशक्त लय में है। फार्मूलों के बन्धनों से मुक्त इन मूर्तियों की
अपने चारों ओर के दैनन्दिन जीवन से प्रेरणा ग्रहण करती है। दैनन्दिन जीवन के
अनुभव की गत्यात्मकता और सोद्देश्य लय ही इन मूर्तियों में प्रतिबिम्बित
बेहद सजीव, सशक्त और मानवीय, ये मूर्तियाँ उस धारा का प्रतिनिधित्व करते
बंगाल के जन साधारण की प्रच्छन्न कला थी, जिसे उत्तर मध्यकाल से पहले
में आने का अवसर नहीं मिला था, जबकि साहित्य और कला में स्थानीय और
तत्त्वों को पुनः उभारने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा हो गयी थीं।

---

१. हि. ब. आर. चित्र १४७.
२. के. एन. दीक्षित, दिल्ली; मे. आ. स. इ., सं० ५५, १९३८, पृ० ३७-५५.
३. हि. इ. इ. आ., चित्र. १७६.
४. देखें, पृ. ५८५.

२. मालवा और राजपूताना

तवीं शताब्दी में मालवा और राजपूताना की कला का क्या हश्र हुआ, इसका पता नहीं चलता। कुछ ऐसी छिटपुट मिसालें[1] अवश्य मिलती हैं, जिन्हें शैली ार पर इस काल में रखा जा सकता है, लेकिन वे इतनी कम हैं कि उससे कोई नहीं निकाला जा सकता।

आमतौर पर कहा जा सकता है कि संक्षिप्त प्रतिरूपण, सघन गोलाई और सुगठित इस काल की मूर्तियों की विशेषता है। मिसाल के लिए साँची में (प्ले. xxxii, ये विशेषताएँ अनेक प्रस्तर-मूर्तियों में देखने को मिलती हैं, जो सातवीं और ीं सदी की हैं। दक्षिणापथ ने मालवा की कला के इस पहलू को किस सीमा तक किया था, यह कहना कठिन है, लेकिन एक न एक रूप में दक्षिणापथ की लीन कला की छाप उस पर अवश्य दिखाई देती है।

ालवा-राजपूताने की कला के इस प्रचलित व्यवहार के साथ हम शायद ब्रह्मोर र[2] की कुछ काष्ठ-मूर्तियों और चंबा[3] की कुछ बड़ी धातु-मूर्तियों को भी सम्बद्ध कते हैं, जो सातवीं या आठवीं सदी के आरम्भ में रखी जा सकती हैं। मालवा ला में विशेषतः मिलने वाली परिरेखा की वह दृढ़ता और रूपण की सहजता, ठोस शरीर को अपनी पकड़ में रखती हो, इन मूर्तियों में भी मिलती है और ो शालीनता आर्यावर्त के पूर्वकालीन आदर्श का स्मरण दिलाती है।

ातवीं सदी की नालन्दा, बंगाल और उड़ीसा की मूर्तियों से तुलना करने पर यह आश्चर्यजनक रूप से स्पष्ट हो जाता है कि सारे मध्य और पूर्वी भारत में प्रति- सम्बन्धी परिकल्पना में धीरे-धीरे किन्तु क्रमशः एक परिवर्तन हो रहा था।

३. दक्षिणापथ

जब कि आर्यावर्त एक पुरानी परम्परा के विघटन और नयी कला के जन्म की से गुजर रहा था, दक्षिणापथ उस समय भाजा और कार्लि, परेल और बादामि की ीन परम्परा को सृजनात्मकता में पूर्णता-प्राप्ति की लक्ष्य-पूर्ति में लगा था। इसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के परिणाम एलोरा, पट्टडकल, औरंगाबाद और एलिफेन्टा गुफाओं में देखे जा सकते हैं।

एलोरा की सातवीं सदी की मूर्तियाँ (रावण-क़-खइ, दशावतार, रामेश्वर और लेणा गुफाएँ (देखिए प्ले० xxxii, ७९; xxxiii, ८०; viii, १६ तथा ix, १७) सी तरह भारी-भरकम और चौड़ी काठी की हैं तथा उनमें ऐसी घनीभूत ऊर्जा

---

[1] देखिए, साँची की अवलोकितेश्वर की मूर्ति (प्ले० xxxii, ७७) और ग्वालियर की एक नारी-मूर्ति (प्ले० xxxi, ७५) और एक नारी-आकृति का अधोभाग (प्ले. xxxi, ७६)।

[2] फोगेल, ऐंटिक्विटीज आफ चम्बा स्टेट, पृ. ७, चित्र २।

[3] वही, देखिए, फथयपुर और कांगड़ा की बुद्ध की धातु मूर्तियाँ (प्ले. xxxii, ७८)।

और शक्ति है जो विकीर्ण होकर उन्हें शरीर की सीमाओं से ऊपर उठा देती है पूर्वकालीन पीढ़ी की बादामि की मूर्तियों में थी। लेकिन जबकि एक साधार प्रतिरूपण-पद्धति कुल ऊर्जा और शक्ति को शरीर के सभी अंगों में बिखेर थी, ऐलोरा में विशिष्टीकृत प्रतिरूपण-पद्धति बिखरी हुई ऊर्जा को शरीर के अंगों में, उसके आकुंचनों, मुद्राओं और हरकतों के अनुसार घनीभूत कर देती है वहीं पर वह संघनित और संकेन्द्रित हो जाती है। इस विशिष्टीकृत प्रतिरूप संघनित ऊर्जा में सामंजस्य रखने के लिए बादामि की स्पष्ट और प्रवाही परिरे जगह ऐसी परिरेखा का प्रयोग किया गया है जो विक्षुब्ध आत्म-संयम के बीच तना और संक्षिप्त है। बादामि और परेल में जो मूर्तियाँ गंभीरतम ध्यान और एकाग्र डूबी हुई थीं, और इस प्रकार अपने में अनन्त शक्ति और ऊर्जा का संग्रह कर रही वे अब यहाँ की मूर्तियों के रूप में जैसे प्रसरण और कर्म के आवेश में आ गयी जो आँखें एक समय बन्द और अन्दर की ओर देखती थीं, वे अब खुल गयी हैं आकृतियाँ जैसे धीरे धीरे बाहर निकल कर सर्जनात्मक मुद्राओं और गतियों के में आ गयी हैं। प्रतिरूपित मुद्राओं और शारीरिक गतियों से बादामि की अपरिचित नहीं थीं, लेकिन वहाँ ये मुद्राएँ और गतियाँ गम्भीर ध्यानावस्‌ निमग्न थीं।

गति, तनाव और विशिष्टीकरण के इस जीवन का धीरे धीरे उभर कर आना उभार-शैली के उन मूर्ति-फलकों के कारण भी सम्भव हो सका, जिनका प्रयोग किया गया है। ये उभार-शैली के मूर्ति-फलक निरपवाद रूप से गुफा के अंधेरे और निचले भागों में जमाये गये हैं, जहाँ से प्रतिमाओं को प्रकाश और की ओर किंचित् विकर्ण दिशा में वहिर्गमन करते हुए दिखाया गया है। उनके बाहर और गतिमान होने का भाव प्रक्षेपित भित्ति-स्तम्भों द्वारा तथा शरीर के अंगों को बगल की ओर आकुंचित करके और कन्धों को समस्तर रखकर रेखांकित गया है। मूर्तियों के प्रतिरूपित आयतन को इस प्रकार छाया और प्रकाश के खेल के लिए मौका मिलता है और आकाश की ओर विकर्ण दिशा में प्रतिमा-विधायक कल्पना और संरचना को अधिक गहन और व्यापक अर्थवत्ता हो गयी है। आकाश, जिसकी अवस्थिति अलग है, इस प्रकार मूर्त्ति-फलक का अन्तरंग भाग बन जाता है और उसके कला-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है।

आयतन और संरचनात्मक गति की यही परिकल्पना औरंगाबाद की की उभार-शैली की मूर्तियों (प्ले. xxxiii, ८१) में भी साकार हुई है, जहाँ विशिष्टीकृत प्रतिरूपण का आयतन दो भित्ति-स्तम्भों के बीच के अन्धकार और तथा असीम आकाश के प्रकाश का और भी भरपूर उपयोग करता है।

आठवीं सदी के मध्य के लगभग पट्टडकल के मन्दिरों में लगे उभार मूर्ति-फलकों पर मामल्लपुरम् (जिसे महाबलिपुरम् भी पुकारा जाता है) और पुरम् की दक्षिण भारतीय पल्लव-परम्परा की छाप दिखायी देती है, लेकिन

की विरासत और दक्षिण भारत की परम्परा का पूरी तरह रचनात्मक नहीं हो पाया है। आकृतियों में एक क्षीण सुनम्यता और लालित्य आ गया है, की पूर्वकालीन कला की विशेषता थी। सहज, मौन और लालित्यपूर्ण गति अधिकांश मूर्ति-फलकों को एक सौन्दर्य और वस्तु-शिल्पीय गरिमा प्रदान कर जो ऊँची उभार-शैली में उत्कीर्ण किये गये हैं। दरअसल, पट्टडकल के उभार मूर्ति-फलक इतनी उन्नत सुरुचि और सघन भावना का परिचय देते हैं कि वे हलकी और सूक्ष्म प्रतिमा-विधायक परिकल्पना को एक बहुत ही ऊँचे स्तर देते हैं।

एलोरा में आठवीं सदी के कैलाशनाथ मन्दिर के शानदार और शक्त मूर्ति- लम्बी पंक्ति में वह प्रक्रिया, जो पट्टडकल में काम कर रही थी, अपने और प्रौढ़त्व को प्राप्त हो गयी है। उनमें दक्षिणापथ की मूर्ति-कला की लालित्य और सुनम्यता रचनात्मक समन्वय में संयुक्त हो गयी है और इसके स्वरूप यहाँ की मूर्तियों में शक्तिशाली गति और उदात्त, गरिमामय लालित्य संयोग देखने को मिलता है। एलोरा की सातवीं सदी की मूर्तियों की मन्द मूर्तियों में तीव्र गति प्राप्त कर लेती है और सक्रियता के तीव्र क्षणों में फूट जिनमें शरीर और आत्मा उन्मुक्त हो जाते हैं। चिरवर्तमान ऊर्जा और शक्ति का केन्द्रीकरण उन्हें एक शक्तिशाली दिशा में स्फुटित कर देता है, आकृतियाँ विकर्णित होकर, आगे की ओर प्रचंड गति से बढ़ने की चेष्टा में, झुक जाती हैं (महिष-मर्दिनी मूर्ति-फलक, प्ले. xxxv, ८४)[1] या उन्हें एक और उत्कट आलिंगन में आबद्ध कर देती हैं (मिथुन मूर्ति-फलक) उन्हें हिंस्र मुद्राओं और प्रचंड क्रियाओं में भाग लेने के लिए प्रेरित[2] है (रावण द्वारा कैलाश को झकझोरने का दृश्य : प्ले. xxxiv, ८२) भी, जब ये आकृतियाँ आरामपूर्वक बैठी या खड़ी होती हैं, (शिव का दृश्य,[3] जल-देवियों के मूर्ति-फलक) उनके छरहरे शरीरों में एक आत्मनियंत्रण का भाव मुखर रहता है और भागते समय तो तेज जाने के लिए एक सक्रिय और सचेतन चेष्टा व्यक्त होती है।

सब प्रभाव पूरी निपुणता से आयतन के ब्यौरेवार और विशिष्टीकृत द्वारा सम्भव हुआ है। अंगों में स्थानीय तनावों और शक्ति के केन्द्री- सीमा स्वयं चेष्टा की गति और प्रबलता पर निर्भर करती है। आगे विकर्ण दिशा इसमें बहुत कारगर सिद्ध हुई है, और मुख्य तथा गौण में इस मुद्रा का सबसे मुखर रूप वहाँ देखने को मिलता है, जहाँ वे कमान

---

[1] का. इ. एक. चित्र ७५।

[2] वही, एक. चित्र ७८।

[3] हि. इ. इ. आ., चित्र १९३।

की तरह झुक जाते हैं। अनेक मूर्ति-फलकों में सारी आकृतियाँ इस विकर्ण दि बढ़ती हुई दिखायी गयी हैं, जिससे उनके वक्ष कुछ तिरछे मुड़े हुए हैं और प्रस्थ अवस्था में नजर आते हैं (शिव, विष्णु-नरसिंह, महिष-मर्दिनी आदि के दृश्य आदि)। प्रकाश और छाया के प्रभावों का भरपूर उपयोग किया गया है केवल खुले आकाश की ओर बढ़ने की गति के अनुपात में ही, वल्कि स्थान आवश्यकताओं और मंच पर कार्य करने वाले अभिनेताओं की मनोदशा के भी। ये प्रभाव मूर्ति-फलक में पीछे हटते हुए कटावों द्वारा क्रमिक ढाल पैदा गुफा की शिला में गहरी और अंधेरी कोटरिकाएँ खोदकर पैदा किये गये हैं।

अगर पट्टडकल और एलोरा क्रमशः भाजा, कार्लि, परेल और वादामि में शक्ति और ऊर्जा को शक्ति और आत्म-नियन्त्रण से भरी प्रवल और उत्कट गति में मुक्त कर देते हैं, तो एलिफेन्टा[1] में आदिम ऊर्जा की परिकल्पना साकार है, जो अपना ओज सृष्टि के मूल से प्राप्त करके हजारों वर्षों तक मानव ढाँचे के भीतर जमा करती आयी है, जिससे सघन आवेग और अन्तर्निहित श शरीर को फुला कर उन्हें विशाल आकार के सुडौल और ठोस रूपों में ढाल (प्ले. xxxv, ८५)। वहाँ यह ऊर्जा अपनी आदिम भव्यता में चिरकाल के लिए करती है और गहरे ध्यान में मग्न रहती है। वादामि में लम्वे और भारी मुकु पर प्रचुर नक्काशी की गयी थी, देवताओं के सिर पर नीचे को दवाने वाले है; लेकिन यहाँ पर मुकुट हल्के हैं और ऊपर की दिशा में उठने के भाव को मुखर तथा बालों की घुँघराली लटे और प्रचुर अलंकार, जो शक्तिशाली देवताओं के और निर्वैयक्तिक चेहरों को जैसे फ्रेम में जड़ देते हैं, सुन्दर और सारगर्भित प्रस्तुत करते हैं। आयतन की अत्यन्त सरल और प्रतिरूपण की साधारणीकृत उनको अद्वितीय शक्ति और गरिमा प्रदान कर देती है। केन्द्रित तथा अ शक्ति और ऊर्जा की दृष्टि से, गत्यात्मक चेष्टा की उदात्त चेतना की दृष्टि से रूपण में सन्तुलन और भव्यता की दृष्टि से, विशाल आकारों की दृष्टि से चना की शक्ति तथा सन्तुलन की दृष्टि से, एलिफेन्टा के मूर्ति-फलक शिला बनायी गयी दक्षिण की मूर्तिकला में सर्वश्रेष्ठ हैं। यहाँ पूर्णता की चरम सी कर ली गयी है और नयी खोज तथा प्रयोग के लिए कुछ भी बाकी नहीं रहा

सारनाथ के **धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन** बुद्ध (प्ले. xviii, ३७) और एलिफेन्टा मूर्ति-फलक अध्यात्म के क्षेत्र में भारत की खोज के दो चरम शिखरों और का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उसने प्रतिमाविधायक कल्पना और रूप की सा प्राप्त किये, जबकि तमिल देश की प्रतिभा ने परवर्तीकाल में कांस्य की जिस मूर्ति का निर्माण किया, वह तीसरे चरम शिखर की प्रतिनिधि है। लेकिन पह दूसरा शिखर ही वास्तविक अर्थों में शास्त्रीय है, और उनमें परम शास्त्रीय सर्वोच्च स्तर देखने को मिलता है।

---

[1] हि. इ. इ. आ., चित्र १९४-५।

न्ता के एक अभिलेख में, जो अनुमानतः पाँचवीं या छठी सदी का है, लेखक ने आत्म-प्रवंचित उल्लास के क्षण में दर्ज किया है कि बुद्ध के सिद्धान्त के प्रसार कृष्ण, शंकर और दूसरे देवता हड़वड़ा कर पीछे हट गये। छठी और सातवीं बौद्ध धर्म की दक्षिण में चाहे जो स्थिति रही हो, दक्षिणा-पथ में बौद्ध कला, प्रतिनिधित्व अजन्ता और कान्हेरि के नमूने करते हैं, स्पष्टतः इस समय तक और ह्रास के किनारे पहुँच चुकी थी। लोनद की लगभग इसी काल की बौद्ध के मूर्ति-फलकों में, जो बम्बई के निकट हैं, हमें प्रतिरूपण की एक निर्जीव नी शैली के दर्शन होते हैं, यद्यपि उनके शरीर भारी-भरकम और लालित्यपूर्ण न आठवीं सदी में नासिक के शैलकृत्त उभारवाले मूर्ति-फलकों में (गुफा) हमें ऐसी आकृतियाँ देखने को मिलती हैं, जिनकी प्रवाही और नियन्त्रित दुर्बल और बिखरे आयतन वाले शरीर में व्यर्थ ही सूक्ष्मता भरने की चेष्टा है। कुल मिलाकर अगर एलोरा, औरंगाबाद, पट्टडकल और एलिफेन्टा की ीन ब्राह्मण-धर्मी मूर्तियों से तुलना करके देखें, जो एक पुनर्जात संस्कृति की प्रबल और व्यक्त या अव्यक्त गत्यात्मकता से भरी हुई है, तो लगता है कि ये निर्जीव तियाँ अपनी सम्भावनाएँ समाप्त करके ह्रासोन्मुखी हो गयी हैं। हम देख चुके उत्तर में ह्रास की यह प्रक्रिया एक नयी परिकल्पना और जीवन-दृष्टि से हो जाने के कारण रुक गयी थी।

४. दक्षिण : मामल्लपुरम् और कांचीपुरम्

मल्लपुरम् की समुद्रतटवर्ती शिलाएँ सातवीं सदी में, महान् पल्लवों के शासन- ं एक शालीन और लालित्यपूर्ण पुष्पांजलि के रूप में प्रस्फुटित हो उठीं। इस र्यावर्त, मालवा और दक्षिणापथ के अनुभवों से सम्पन्न होकर उन्होंने आंध्र- शी विरासत को अधुनातन रूप दिया और उसके विकास में अपने युग के ज्ञान नुभव का योग दिया।

भार-शैली में उत्कीर्ण गंगावतरण (?) का[1] विशाल मूर्ति-फलक (प्ले. xxxiv, जिसे एक विराट पैमाने पर, विराट् किन्तु सरल और सीधे रूप में पूरे शिखर के र तराशा गया है, स्वयं शिला-खंड द्वारा प्रेरित है। उसकी कथावस्तु जैसे खंड का ही अन्तरंग भाग है और शिला की कुदरती बनावट, उसकी दरारों और रा, उसके आयताकार और गोलाकार फलकों का, उभार-शैली के प्रतिरूपण के स्तेमाल किया गया है। भाजा और उदयगिरि में भी ऐसे मूर्ति-फलक तराशने की की गयी थी लेकिन मामल्लपुरम् के अलावा और कहीं भी ये मूर्ति-फलक शिला के

---

[1] क., इ. स्क., चि. ७१. श्री रामचन्द्रन् ने हाल में ही मामल्लपुरम् के मूर्ति-फलकों की शिनाख्त नाया है कि उनमें महाकाव्यों और पुराणों में दी गयी अर्जुन और किरात (किरातार्जुनीयम्) के कहानी चित्रित की गयी है। देखिए ज. इ. सो. ओ. आ., XVIII, ५४ प. पृ.)।

साथ इस तरह अन्तरंग रूप से सम्बन्धित नहीं हैं । मूर्ति-फलक के विशाल और विस्तार के भीतर और आकाश से पृथ्वी पर उतरती हुई गंगा के दोनों ओर पशुओं, देवताओं, योगियों, सर्प-देवताओं और अर्धदैवी प्राणियों का एक पू उत्कीर्ण है । समस्त संवेदनशील प्राणियों के प्रति सहानुभूति और उनकी भावना अहसास तथा प्रकृति के प्रति गहरा और ताजा अनुराग, जो साँची के प्रारम्भिक में देखने को मिलता है, मामल्लपुरम् के इस मूर्ति-फलक में भी एकबार फि हुआ है, और सारे प्राणी अपने अस्तित्व के सबसे उल्लासपूर्ण और प्रेमोन्मत्त नदी की जीवनदायी धारा के गिर्द जमा हुए हैं । वह संन्यासिनी बिल्ली, जो यथार्थ और परिहासपूर्ण है, हिरनों की वह सजीव जोड़ी, जरावस्था से झुकी कमर वह जर्जर ब्राह्मण संन्यासी या साथ लगी हुई दूसरी शिला में उत्कीर्ण गाय वह अत्यन्त सजीव ग्रामीण दृश्य या एक वन्दर परिवार का दृश्य प्रस्तुत करने शैलखंड—ये सब सूचित करते हैं कि इस कला में जीवन के छोटे-छोटे छोटे-छोटे प्रसंगों के प्रति कितना गहरा लगाव था और उसमें प्रकृति के प्रति गहरा प्रेम और प्रकृति-निरीक्षण कितना सूक्ष्म था ।

यहाँ पर इस बात को स्वीकार करके कला की सृष्टि की गयी है कि अस्तित्व सुखमय और अनायास है । यहाँ पर हर चीज क्षीण, हल्की और और स्पष्ट बात तो यह है कि यहाँ किसी भी अतीन्द्रिय अथवा आध्यात्मिक चिन्ह नहीं मिलता । इन मूर्तियों को जो बात खूबी, सन्तुलन और गरिमा प्रदान है, वह है उनकी चेष्टाओं में व्यक्त आत्म-नियन्त्रण की भावना । ये आकृतियाँ में फूलों की तरह अनायास प्रस्फुटित होकर प्रकाश में प्रकट हो गयी हैं, और एक सपाट पृष्ठभूमि पर निवास करती हैं और एक भीड़-भाड़ वाले संसार में से टकराती रहती हैं, जहाँ न वनस्पति है और न किसी प्रकार की सजावट ही। ये सारी आकृतियाँ शिला की सपाट सतह पर अपने आमोद-प्रमोद में संलग्न गयी हैं, इसलिए प्रकाश और छाया की आँख-मिचौनी अनावश्यक हो गयी है। प्रकार यहाँ किसी प्रकार की रहस्यात्मकता या उत्कट कार्य-व्यापारों से भरा नाटक देखने को नहीं मिलता, जैसा हम एलोरा या बादामि में देखते हैं । यहाँ चीज स्पष्ट और प्रत्यक्ष है । एक सरल, स्पष्ट और निश्चित अनुभव, जिसके सुसंस्कृत निस्संगता और अनुशासित शक्ति से गुजरा जाता है, उसे अभिव्यक्ति लिए कल्पना और रूप की सूक्ष्मता और गहराई की अपेक्षा नहीं होती है।

मामल्लपुरम् में कुछ और भी उभार-शैली के मूर्ति-फलक हैं (प्ले. XXXVI, जो जिन्दा शिला में से काट कर बनाये गये मन्दिरों में लगे हुए हैं । आम तौर मूर्तियों को लम्ब रूप में जड़े, नीचे दबे आयताकार फलकों में से, जो भित्ति-स बीच जड़े हुए हैं और देखने में वास्तुशिल्पीय लगते हैं, बाहर निकलते हुए गया है । ये आकृतियाँ आन्ध्र-किस्म की लम्बे और छरहरे बदन की हैं, जिनका रूपण अपेक्षया अधिक सरल, साधारणीकृत, अनुशासित और संयमित है।

को भित्ति-स्तम्भों और फलकों की अनुलम्ब दिशा तथा उनकी लम्बी और हों, टाँगों और नुकीले, लम्बे मुकुट से रेखांकित किया गया है। आकांक्षित और सुचारुता की **भंगिमाओं** के बावजूद ये आकृतियाँ, नारी-आकृतियाँ तक, र भी अपना वास्तुशिल्पीय अनुशासन नहीं त्यागतीं। यह बात वहाँ भी देखने ती है जहाँ किसी प्रकार की वास्तुशिल्पीय टेकनीक का प्रयोग नहीं किया सा कि गंगावतरण शैलकृत्ति से जाहिर है।

लीकृत और साधारणीकृत प्रतिरूपण शैली के कारण आकृतियों से आन्ध्र-स्कूल की ता तो जैसे पिघलकर लुप्त हो गयी, लेकिन उसकी नम्यता सुरक्षित रही, जिसमें सुसंस्कृत भव्यता और निस्संगता के भाव की अभिवृद्धि हो गयी। अपनी क शक्ति की चेतना, जिसे पुरुष-आकृतियों के चौड़े कंधों ने और भी तीव्र है, और अनुशासित बल ने देवताओं और मनुष्यों के आचरण में एक उदात्त भिजात ढंग पैदा कर दिया है। देवताओं की आकृतियों का तो अनिवार्यतः बद्ध अंकन करना ही था, लेकिन राजा और रानियाँ—जैसा पुरालेखों में कहा कि वे समकालीन लोगों की प्रतिकृतियाँ हैं —यहाँ तक कि साधारण जनों की भी, अपनी शान्त मुद्राओं के बावजूद, अपने अभिजात और उदात्त तौर- की अभिव्यक्ति करने में नहीं चूकतीं। नारी-आकृतियाँ अपेक्षया अधिक पतले हरे बदन की हैं और उनके कंधे और सीने सँकरे हैं, उरोज छोटे हैं और उनके र कम से कम आभूषण और वस्त्र हैं तथा आमतौर पर उनके अन्दर अत्यधिक और विनम्रता का भाव है। अनिवार्यतः वे अपने संगी पुरुष की ओर स्वस्थ पर टिकी एक लालित्यपूर्ण भंगिमा में झुकी हुई, या उसका सहारा लिए हुई, ड़ी हैं। लेकिन चाहे पुरुष हो या नारी, देवता हो या राजा (अभिलेखों की के बिना उनमें अन्तर करना सम्भव नहीं है), दैवी पुरुष हो या साधारण मर्त्य, शासित और निस्संगभाव उन सबके मुख और शरीर पर लक्षित होता है। त, जैसे पहले संकेत किया जा चुका है, किसी आन्तरिक अनुभूति या मननशील या जीवन के गहरे अनुभव से नहीं उपजा है। इसमें केवल एक संस्कृत भिजात निस्संगता से जीवन की औपचारिक स्वीकृति का भाव है। दरअसल, या आर्यावर्त के अर्थ में अनुभव की सूक्ष्मता या गहराई के प्रति मामल्लपुरम् उदासीन है।

चीपुरम् के कैलासनाथ मन्दिर के आठवीं सदी के उभार-शैली के मूर्ति-फलकों पुरम् का पतला और हल्का प्रतिमाविधायक सन्दर्भ और भी पतला और हो गया है। लेकिन उत्तर भारत की तरह यहाँ भी पूर्ण विघटन और ह्रास अधिक सुस्पष्ट रूपरेखा द्वारा रोका जा सका है।

वानस्पतिक और ज्यामितीय सजावटी नक्काशी

काल की वानस्पतिक और ज्यामितिक ढँग की आलंकारिक नक्काशी के बारे शब्द कहना जरूरी है। इस ओर पहले संकेत किया जा चुका है कि मानव

आकृतियों ने सारे आलंकारिक नक्शों (पैटर्नों) को, चाहे वे पशु या वनस्पति लिये गये हों या शुद्ध अमूर्त ज्यामितिक डिजाइन हों, मूर्ति-फलकों से हटा कर पर अथवा मूर्ति-शिल्पीय और वास्तु-शिल्पीय पट्टियों या फलकों पर धकेल दि ये आलंकारिक पैटर्न अपनी ऐकान्तिकता में बन्द हो गये थे वहाँ वे अपनी उल्लास में सजीव, उर्वर और लबालब किन्तु हमेशा अकृत्रिम और लालित्य-पूर्ण देते हैं। सुस्पष्ट रेखाओं में खचित माणिक गुलाब, मनोहर वेलबूटों (अराबस्क) और दन्तावलियाँ, पूर्ण रूप से प्रतिरूपित वृन्त और वेल-बूटे, बंटी हुई रस्सी के डिजाइन, जिनमें मोतियों के फुंदके लटके हैं, एक दूसरे हुई लताएँ और **गणों** और पुरुषों, स्त्रियों और विलक्षण जीवों की आकृतियाँ पत्थर में गहरे और तिर्यक् ढंग से, स्पष्ट और सूक्ष्म रूप में तराशे गये हैं अपने लहरदार और स्वेच्छाचारी ढंग से आगे बढ़ते हैं तथा प्रकाश और छाया में डूबे रहते हैं। इनमें सर्वत्र उस युग की श्रेष्ठ कारीगरी और कल्पना की का परिचय मिलता है।

इन शानदार और प्रचुर वानस्पतिक नक्शों (पैटर्नों) के अलावा हमें और उनके साथ साथ, ज्यामितिक नक्शों (पैटर्नों) के अलंकरण भी मिलते हैं, जिनमें के लिए स्वस्तिक के मूल-भाव की आवृत्ति होती है या उसे अन्य नक्शों के प्रस्तुत किया गया है; हीरे की शक्ल के अलंकार मिलते हैं, जिन्हें समानान्तर को आड़े काट कर बनाया गया है; शतरंज के बोर्ड के पैटर्न आदि भी मिलते सब सपाट या कोणिक सतह पर उत्कीर्ण किये गये हैं। यह सजावटी नक्काशी ज्यादा सारनाथ के धार्मिक स्तूप में और उस काल के कुछ मन्दिरों के द्वार में मिलती है। यहाँ भी प्रकाश और छाया का अत्यन्त मनोहर प्रदर्शन होता है सामान्य प्रभाव अपेक्षया कम रंग-बिरंगा है। अब तक भारतीय कला में पैटर्न बहुत विरल थे। गुप्तकाल ने उनका प्रचलन करके उन्हें लोकप्रिय बना फिर इसके बाद, अर्थात् आठवीं शताब्दी से सम्पूर्ण उत्तर भारत में उनका बहु होने लगा।[१]

भौगोलिक सन्दर्भ में इस काल के इन आलंकारिक, वानस्पतिक और नक्शों (पैटर्नों) का अध्ययन करने से मालूम होता है कि गंगा-यमुना की घाटी प्राच्य देश में इन आलंकारिक नक्शों (पैटर्नों) का प्रचुर प्रयोग हुआ है। मा पहुँचते-पहुँचते उनका प्रयोग विरल हो जाता है, जबकि दक्षिणापथ और द शैलकृत्त उभार-शैली के मूर्ति-फलकों में तो जैसे उनका बहिष्कार ही कर दिया हो सकता है, कि मूलतः जातीय कारणों से ऐसा हुआ हो, लेकिन यह नामुम है कि यह उस काल की उन दो विचारधाराओं के कारण हुआ हो जिनका आर्यावर्त्त और दक्षिणापथ में क्रमशः प्रभुत्व था। आर्यावर्त्त की सूक्ष्म और

---

[१] फा. आ. स्मि., चि. ११५, प्ले. xxxvii.

क्रियाओं ने एक उदात्त और आध्यात्मिक कोटि की प्रतिमा-विधायक परिकल्पना रचना को जन्म दिया, जिसमें मानव-आकृति ही केन्द्रीय तत्त्व थी और काल्पनिक नमानी आलंकारिक नक्काशियों के लिए शायद ही कोई स्थान था। इसी लिए रिक नक्काशी को हाशियों में और वास्तुशिल्पीय फलकों पर स्थान खोजना और चूँकि वानस्पतिक सिद्धान्त स्वयं मानव-आकृति में जीवित और प्रभावी था, र वह तो वहाँ था ही, और उसे स्वयं अपने लिए अन्यत्र स्थान खोजना पड़ा। त्व में शैलकृत्त मूर्तियों द्वारा अभिव्यक्त कथा-वस्तुएँ स्वयं मौलिक गहराइयों ामों में प्रवेश करती हैं और ऐसे क्षितिजों में निवास करती हैं, जहाँ चिरन्तन र है; जहाँ न कोई वनस्पति है, न गति है, न प्रकाश है और न विशिष्टीकरण र कोई गुंजाइश है; न ही उत्तर-भारत की तरह वहाँ मानव आकृति की रचना में वानस्पतिक सिद्धान्त कहीं भी जीवित और सक्रिय है।

सामान्य समीक्षा

ँचवीं और छठी सदी के सारनाथ वाले बुद्ध और बोधिसत्त्व उस विधायिनी प्रक्रिया और एक अत्यन्त सूक्ष्म और रहस्यात्मक, प्रवाही और ी विचारधारा की अन्तिम उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो महायान-ार के नाम से प्रसिद्ध है और जिसे समकालीन बौद्ध विचारकों ने युगानुकूल र विकसित किया था। वे उस आध्यात्मिक खोज की अन्तिम परिणति हैं, जो न् की प्रारम्भिक शताब्दियों में शुरू हुई थी। इस समय के उपलब्ध नमूनों र है कि इस खोज के सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र मथुरा और सारनाथ थे, जो मोटे र गंगा-यमुना की घाटी का प्रतिनिधित्व करते हैं, यद्यपि मथुरा और सारनाथ ध्वनियाँ पूरब में आसाम से लेकर उत्तर-पश्चिम तक और कश्मीर से लेकर तल तक सुनायी देती थीं। इन शताब्दियों के बीच आर्यावर्त्त में हमें जो कुछ को मिलता है, वह, कम से कम जहाँ तक बौद्ध-धर्मी मूर्तिकला का सम्बन्ध है, इस खोज का ही प्रतिफलन था। समकालीन ब्राह्मण-प्रधान धर्मों की मूर्तियाँ भी, क्रम उनमें से काफी कुछ, और वे भी आर्यावर्त में ही, इस खोज से प्रेरित हैं। सिले में बनारस की कार्त्तिकेय की मूर्ति और नागोद राज्य में खोह के एकमुख की मूर्ति का हवाला देना पर्याप्त है। लेकिन अधिकांश ब्राह्मण-धर्मी मूर्तियों में, वे गुप्त-काल की सामान्य प्रतिमा-विधायक परिकल्पना के अन्तर्गत आती हैं, न विचार और खोज का संस्पर्श नहीं मिलता; एक शब्द में योगाचार के क दृष्टिकोण का उनमें अभाव है। इसके लिए पाठकों को रजोना, देवगढ़, गिरि, मन्दसौर और बेसनगर के मूर्ति-फलकों का हवाला देना ही पर्याप्त है।

इस काल के बौद्ध और ब्राह्मण दोनों के धार्मिक-दार्शनिक साहित्य का अध्ययन से ज्ञात होता है कि लगभग तीसरी चौथी सदियों से आर्यावर्त में एक महान् र-मन्थन चल रहा था और बड़े- बड़े दिमागों और विचारों की बड़े-बड़े दिमागों

और विचारों से टक्कर हो रही थी। अगली शताब्दियों में ये प्रतिद्वन्द्वी मोटे तौर दो पक्षों में बंट गये थे। एक पक्ष न गार्जुन, आर्यंदेव, असंग, वसुबन्धु दिङ्नाग प्रतिपादित विचारों का समर्थन और प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा पक्ष योगसूत्रों न्यायसूत्रों का था जिनका प्रतिनिधित्व वात्स्यायन, उद्योतकर और कुमारिल ने कि था। इस विचारोत्तेजना और हलचल ने एक ऐसे नव-ब्राह्मण वाद के विकास में दिया, जो क्रियाशीलता में दृढ़ और प्रबल था; जिसकी कल्पनाशक्ति पुष्ट प्रखर थी तथा जिसकी रचनाशक्ति अत्यन्त उर्वर और व्यापक रूप से जातीय से उत्पन्न थी। इस नव-ब्राह्मणवाद ने पुराणों और महाकाव्यों के सम्पादन-परि में लोकप्रिय अभिव्यक्ति प्राप्त की और इस प्रकार उसने सृष्टि के आरम्भ और के पालन और संहार के बारे में मूल भारतीय धारणाओं को युगानुकूल रूप इस काल के अधिक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण-धर्मी मूर्ति-फलक मुख्यतः इन धारणाओं उनकी मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति से ही सम्बन्धित हैं। जब कहा जाता है कि में, अन्य बातों के अलावा[1] अपने भौतिक कारणों से सृष्टि के आरम्भ और तथा प्रत्येक मन्वन्तर की समाप्ति पर जिन तत्त्वों में उसका विसर्जन हो जा उनसे उसकी पुनःसृष्टि की कथा दी जानी चाहिए तब हमें उस परिकल्पना और दृष्टि का कुछ-कुछ आभास दिखाई देने लगता है, जिसने मालवा में उदयगि गुफाओं या बदामि, एलोरा, औरंगाबाद और एलिफेन्टा, यहाँ तक कि एक नि मामल्लपुरम् में भी मूर्ति-फलकों के निर्माण की प्रेरणा जगायी थी। उस हमें पूरी तौर पर, और गहराई से, इन शानदार मूर्तियों की ध्यान-मग्न मुद्रा निहित, या उत्कट कर्म में व्यक्त, आन्तरिक शक्ति और आवेग के सच्चे अर्थ महत्त्व का अहसास होता हुआ मालूम देता है, या विविध मूर्त और साकार अभिव्यक्त उन तीन परम सत्यों की महत्ता का पता चलता है। यहाँ हम एक नये विचार और दृष्टिकोण को, दरअसल एक नयी संस्कृति और सभ्यता को लेते हुए देखते हैं।

दक्षिणापथ की समकालीन बौद्धकला, कुल मिलाकर, इस नयी दृष्टि और वि सम्पदा से अछूती रही और चूँकि जिन स्रोतों से उसने प्रेरणा ली थी, उनकी छानबीन हो चुकी थी और उनकी संभावनाएँ चूक गयी थीं, इसलिए धीरे-धीरे ह्रास हो गया। हम आगे चल कर देखेंगे कि समकालीन बौद्ध चित्रकला ने जीव अन्य शक्तिशाली स्रोतों से भी प्रेरणा ग्रहण की थी और उसकी अन् और जीवन्तता के कुछ अन्य कारण भी थे, जिससे वह अधिक दिनों तक रह सकी और उसमें लालित्य और ओज भी बना रहा, यद्यपि सृजन के ए स्तर पर।

लेकिन आर्यावर्त और प्राच्य भारत में अत्यन्त सूक्ष्म और रहस्यात्मक सम्पन्न पुरानी परिकल्पना और उसके अनुरूप मूर्तिकरण की परम्परा एक संक्षिप्त तक निष्क्रियता के दौर में रह कर नव-ब्राह्मणवाद की नयी दृष्टि और विचा

उसके अनुरूप उसकी कलात्मक अभिव्यंजन से एकाकार हो गयी। इस प्रकार शताब्दियों में एक नयी और समन्वित कला का जन्म हुआ, जिसका वर्णन इस की अगली जिल्द में किया जाएगा।

क. चित्रकला तथा अन्य कलाएँ

I. चित्रकला

विषय

१. क्षेत्र और स्वरूप

इन तमाम शताब्दियों में पत्थर में रूप की तलाश के दौरान कलाकारों ने गहरे ौलिक महत्त्व की विषय-वस्तुओं की अभिव्यक्ति में रुचि प्रकट की। चित्रकला की आकृतियों और मृण्मूर्तियों की तरह) का स्वरूप लोगों की माँग के फलस्वरूप की मूर्तिकला की अपेक्षा लौकिक होता गया। इस काल के रचनात्मक और साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि चित्रकला न केवल शहरी समाज वर्ग में, जिसमें प्रवीणता प्राप्त करना राजकुमारों, दरबार के सामन्तों और के लिए सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य समझा जाता था, बल्कि अनेक पेशेवर संघों में भी समादृत थी, और लोग शौकिया भी चित्र बनाते थे। वात्स्यायन के में चित्रकला को भी **चौंसठ कलाओं** अथवा ललित कलाओं में शामिल किया और बाद में यह बात अनेक कृतियों में दुहराई गयी है—कामशास्त्र में रंगों, और रेखांकन-फलकों को औसत नागरिक (नागरक) के निजी कक्ष का आवश्यक बताया गया है। यदि यशोधर द्वारा रचित वात्स्यायन की महान् कृति की टीका काल का सूचक माना जाए तो यह भी मानना पड़ेगा कि इस काल में और शौकिया चित्रकारों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मार्ग-दर्शन के लिए शुरु हो गये थे। यशोधर ने चित्रकला के **षडंगों** अथवा छह अंगों का उल्लेख है: अर्थात् **रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य** तथा **वर्णिक भंग** जो स्वामी के अनुसार किस्मों के भेद, आदर्श अनुपात, मनः स्थिति की अभिव्यक्ति, का मूर्त रूप, दृष्टिकोण (मुद्रा और स्थानम् के सन्दर्भ में), रंगों को तैयार (पीसना, घोंटना इत्यादि) हैं। यह व्याख्या विवादास्पद है, लेकिन इस बहस यहाँ नहीं छेड़ेंगे। **विष्णु-धर्मोत्तरम्** में, जो निस्सन्देह गुप्तकाल की कृति है, पर एक पूरा परिच्छेद है, और उसमें इनमें से बहुत से नियमों की चर्चा की है। बाद के कई ग्रन्थों, उदाहरण के लिए **शिल्परत्न** में भी इस पर विचार किया है। **विष्णु-धर्मोत्तरम्** में पहले से ही भित्तिचित्रों के लिए जमीन तैयार करने की विधि वज्रलेप, रंगों के निर्माण और प्रयोग, रेखाओं के आच्छादन, विशिष्टता, अंगों आकृतियों के संक्षिप्तीकरण, आयतन की अभिव्यक्ति, मनःस्थिति की अभिव्यक्ति

(**भावना**), संचलन (**चेतना**) और विषयवस्तु के अनुसार चित्रों को सत्य, **नागर**, तथा **मिश्र** में विभक्त करना सम्मिलित था । कुमारस्वामी ने इनका क्रमशः यथार्थवादी, गीतात्मक, लौकिक तथा मिश्रित किया है । इनसे और साहित्य से प्राप्त चित्रकला के अन्य उल्लेखों से मन में कोई सन्देह नहीं रह कि गुप्त सांस्कृतिक काल की बौद्धिक उत्तेजना के फलस्वरूप चित्रकला के सिद्धान्त तकनीक पर सविस्तार विचार किया गया और इसी काल में चित्रकला नियमों को प्रतिपादित किया गया था । इन नियमों का नृत्यकला के नियमों से निकट का सम्बन्ध था । इन दोनों कलाओं से सम्बन्धित मुद्राओं की भाषा, के नियमों (**भंग**), दृष्टिकोण (**स्थानम्**), और अनुपात (**प्रमाणानि**) इत्यादि का पादन किया गया । यह एक आश्चर्यजनक बात है कि चित्रकला के सिद्धान्त तकनीक का प्रतिमाविधायक कला के रूप में मूर्तिकला से कोई सम्बन्ध नहीं बहुत कम सम्बन्ध था । इसका कारण बताना कठिन है, लेकिन मालूम होता है चित्रकला तथा मृण्मूर्तियों को उच्चतम सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का उपयुक्त नहीं समझा जाता था । इनमें अपेक्षाकृत घटिया और कम टिकाऊ सामग्री का किया जाता था और इसे एक सामाजिक उपलब्धि समझा जाता था । इन कलाओं आमतौर पर अस्थाई मनःस्थितियाँ और चेष्टाएँ व्यक्त की जाती थीं । जीवन सबसे स्थाई मूल्यों और उच्चतम आकांक्षाओं को निबद्ध करने के लिए पत्थर को उपयुक्त माध्यम के रूप में सुरक्षित रखा गया था । इसके चाहे जो भी कारण इस काल के सर्वोत्कृष्ट चित्रों के अवशेष, जो बाघ, अजन्ता और वादामि में हैं, उत्तर, दक्षिण और दक्षिणापथ के चित्रों की अपेक्षा झीने और हल्के होते हैं ।

इस सन्दर्भ में भारतीय मानस में चित्रकला के मूलभूत स्वरूप का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा । बौद्ध और जैन, दोनों विचार धाराओं के अनुसार, की दृष्टि-क्षमता की उपज है, जो आँखों से देखने की प्रक्रिया के बिना ही देख है और जो इन्द्रियगोचर ज्ञान अथवा **परोक्ष** की बजाय **प्रत्यक्ष** अथवा सीधे का तरीका अपनाती है । इस प्रकार कहा जाता है कि चित्रकला ज्ञान-प्रक्रिया की मन की **दर्शन**-प्रक्रिया से पैदा होती है ।[1] भारतीय परिकल्पना के अनुसार "ज्ञान" अपेक्षा "दर्शन" का धरातल नीचा है ।

विष्णु-धर्मोत्तरम् में धार्मिक स्थानों, महलों और निजी मकानों के लिए अलग-अलग प्रकार के चित्रों का उल्लेख किया गया है । हमारे पास इस अवशेष नहीं, जिनके आधार पर हम निर्णय कर सकें कि दरबार में अथवा निजी में किस प्रकार के चित्र हुआ करते थे । सम्भवतः दोनों की विषय-वस्तु लौकिक थी, जबकि धार्मिक-स्थानों के चित्रों में पौरोहित्य का प्रभुत्व झलकता था ।

---

[1] क्राम्रिश : ज. इ. सो. ओ. आ. V. २२१-२२ कुमारस्वामी ईस्टर्न आर्ट, III, ट्रान्सफार्मेशन आफ् नेचर इन आर्ट, परि. V

बादामि तथा शिट्टण्णवाशल के चित्रों की विषयवस्तु धार्मिक है और धार्मिक से ही वे बनायी गयी थीं। लेकिन, भावना और आन्तरिक अर्थ, वातावरण और विन्यास में उनसे अधिक लौकिक दरबारी और परिष्कृत कोई कलाकृति नहीं अपनी विषयवस्तु के बावजूद वे मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ ता पैदा करते हैं; उनका आकर्षण लौकिक तथा सौन्दर्यपरक है जो बौद्धिक और त्मिक न होकर इन्द्रियग्राह्य अनुभूतियों पर आधारित है। केवल गुफा नम्बर १ लोकितेश्वर तथा पद्मपाणि और अजन्ता की गुफा नम्बर १९ में बुद्ध की कपिल- में वापसी के चित्र में चित्रकला तत्कालीन मूर्तिकला की ऊँचाइयों और गहराइयों सकी थी।

मकालीन साहित्य और महाकाव्यों से भी पता चलता है कि राजप्रासादों और के मकानों की चपटी दीवारों और छतों पर अलंकृत भित्ति-चित्रों की सजावट थी और उनमें चित्रों के लिए अलग कक्ष (**चित्रशालाएँ** अथवा **चित्रसद्म**) होते अनुमानतः इन चित्रवीथियों में चित्राकृतियों और चित्रफलकों के साथ-साथ चित्र के लिए लकड़ी के तख्ते भी होते थे, जिनका इस काल के संस्कृत नाटकों और आनों में उल्लेख है। भास द्वारा वर्णित **प्रतिमागृह** में सचमुच सीथियन कुषाण टों के देवकुल की तरह मूर्ति-चित्रवीथियाँ भी थीं। सम्भवतः **चित्रशालाएँ** इन मागृहों का चित्रित प्रतिरूप थीं। भित्तिचित्रों से सम्बन्धित बाण की एक आकस्मिक णी से लगता है कि महलों और घरों की छतों और दीवारों पर जिन चित्रों की ट हुआ करती थी, उनकी विषयवस्तु बहुत विस्तृत और व्यापक थी, जिसमें जीवन प्रकृति की सम्पूर्ण चित्रावलि शामिल थी (दर्शित विश्वरूप)। भास तथा अन्य लीन लेखक भी इन **भित्तिचित्रों** से परिचित थे। **मुद्राराक्षस** के लेखक विशाखदत्त सदी) ने चित्रकला की एक और किस्म का उल्लेख किया है जो लोकशैली और लोकप्रिय थी। इन चित्रों को **यमपट** कहते थे और ये कपड़े के लम्बे चीरकों बनाये जाते थे। उनका स्वरूप वर्णनात्मक होता था, जिसमें अगले संसार में कर्मों ल दिखाया जाता था। बुद्धघोष ने भी, जो विवेच्यकाल का विख्यात बौद्ध और धर्मतत्त्वज्ञ था, इस प्रकार के चित्रों का उल्लेख किया है, जिन्हें उसने चित्रों का नाम दिया है, जिनमें मृत्यु के बाद लोगों के अच्छे और बुरे भाग्य को त किया जाता है। ये चित्र सुवाह्य चित्रवीथियों में दिखाये जाते थे और उनके नाम-पत्र या वर्णन-पत्र लगाये जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि ये **यमपट** तथा चित्र ही रूप, अर्थ और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से उन पटचित्रों के पूर्वज थे, जो वीं सदी में भी पूर्वी भारत में बहु प्रचलित थे और आज भी प्रचलित हैं। वे जावा और बाली के पटचित्रों के भी पूर्वज हैं, जिन्हें **वयंग बेबर** कहते हैं। किसी , कमजोर चीज पर बना तत्कालीन यमपट अथवा **चरणचित्र** हमें नहीं मिलता। साफ जाहिर है कि इस लोककला का जातीय और धार्मिक महत्त्व था और जनता के लिए ये चलते-फिरते चित्र गहरा शिक्षात्मक महत्त्व रखते थे

विशाखदत्त ने जिस तरह **भित्तिचित्र** शब्द को साहित्यिक रूपक की तरह किया है (**संवेयं मम चित्रकर्म-रचना भित्तिं विना वर्तते**) उससे पता चलता है भित्तिचित्र एक लम्बे अर्से से चले आ रहे थे। लेकिन अपनी लोकप्रियता और के बावजूद ऐसा लगता है कि सर्जनात्मक कला के रूप में इनका दर्जा बहुत था। राजशेखर (सन् १००० ई०) ने **चित्र-लेप्य-कृत्** अथवा भित्ति-चित्र कलाकारों को (**लेख्य** चित्र बनाने वालों की तुलना में) **अपभ्रंश** कवियों की रखा है, अर्थात् वे प्राचीन संस्कृत कवियों की तरह सुसंस्कृत और ऊँचे बौद्धिक के लिए उनकी भाषा संस्कृत में लिखने के बजाय साधारण लोगों की लिखते थे।

२. वर्तमान अवशेष

इस काल के प्राचीन अवशेष संख्या में बहुत कम हैं। वेदसा की गुफाओं के अस्पष्ट चिह्न मिलते हैं, जिनका काल तीसरी सदी ईसवी निश्चित किया लेकिन संख्या में कम होने के कारण उनके आधार पर हम कोई निश्चित नहीं निकाल सकते। कान्हेरी की गुफाओं (गुफा नं० १४; छठी सदी) (गुफा नम्बर ३ और ६; छठी सदी) और पितलखोरा (छठी सदी की में भी चित्रों के अस्पष्ट चिह्न मिलते हैं जो दक्षिणापथ में हैं। इसी प्रकार लाईपुरम् के शैलकृत्त मन्दिर (दिगम्बर जैन सातवीं सदी) और मलया शैलकृत्त मन्दिर (वैष्णव, ७८८-८४० के बीच) में भी, जो दक्षिणापथ में है, अस्पष्ट चिह्न हैं। लेकिन बाघ (विशेषकर गुफा नम्बर ४, सन् ५०० ई०), (गुफा नम्बर १, २, १४, १७, तथा १९)[1] और बादामि में (गुफा नम्बर सदी), शिट्टण्णवाशल के जैन मन्दिर (सातवीं सदी) तथा कांचीपुरम् के शैव (कैलाशनाथ मन्दिर सातवीं सदी) में (ये दोनों दक्षिणापथ में हैं) अधिक सारवान् मिलते हैं। लंका में सिगिरी की गुफा (छठी सदी) में भी इन चित्रों के लेकिन ये चित्र चाहे उत्तर, दक्षिण अथवा दक्षिणापथ के हों, इनका मानक चित्रों में मिलता है। इस काल के सभी चित्र एक ही श्रेणी के हैं, सिर्फ एलोरा (आठवीं सदी) कुछ सीमा तक भिन्न हैं, जहाँ एक नयी परम्परा का दिखाई देता है। स्थानीय और प्रादेशिक शैलियों के बारे में अधिक कहना नहीं, क्योंकि वे कुछ शरीर-रचना सम्बन्धी रूढ़ियों और स्वभाव-वैशिष्ट्य से ही स्थानीय हैं। मध्यभारत में बाघ, दक्षिणापथ में शिट्टण्णवा कांचीपुरम्, लंका में सिगिरी की गुफाओं तथा अजन्ता की गुफाओं में कुछ विशेषताओं को छोड़कर और कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

---

[1] अजन्ता की तारीख और विवरण (तथा अन्य जानकारी) के लिए वास्तु- अनुभाग देखिए।

३. तकनीक

काल के चित्रों की तकनीक सम्बन्धी सबसे दिलचस्प विशेषता चित्रों के फलक री है। **विष्णु-धर्मोत्तरम्** में इसकी सम्पूर्ण विधि दी गयी है जिसे **वज्रलेप** का दिया गया है, लेकिन वर्तमान अवशेषों को देखने से पता चलता है कि यह विधि इस्तेमाल में नहीं लायी गयी। पिसा हुआ पत्थर, मिट्टी, गोबर, जिसमें कई या वनस्पतियों के रेशे, मूँग (मुद्ग) का काढ़ा या शीरा मिला कर एक लेप किया जाता था, जिसे पलस्तर की तरह चट्टान की सख्त और खुरदुरी सतह र लगा दिया जाता था। इसके बाद उसे खुरपी से चमका दिया जाता था और ही उसके ऊपर महीन सफेद चूने की हलकी सी तह जमा दी जाती थी, ताकि चूने को पकड़ सके। कुमारस्वामी का यह कथन सन्देहास्पद मालूम होता है के सूखने से पहले ही रंग तैयार कर लिये जाते थे। इस काल के भारतीय असली माने में भित्तिचित्र (Fresco buono) न होकर असम्बद्ध भित्ति-(Fresco secco) हैं। रंगों के इस्तेमाल के बाद चित्रित स्थान को थोड़ा-का दिया जाता था।

भरने और परिरेखाओं की पूर्ति से पहले चित्र का खाका खींचा जाता था। सुस्पष्ट होता था; पहले **धातुराग** अथवा सिन्दूर का प्रयोग किया जाता था ओं में एकरंगे लाल रंग के साथ मुलायम हरी मिट्टी (Terra verte) की रत का प्रयोग किया जाता था जिसके नीचे से लाल रंग दिखाई देता था। जगहों पर अलग-अलग रंग भरते वक्त हाशिये को खाकी, गहरे लाल या से भरा जाता था, सूक्ष्म या चौड़े बिन्दुओं अथवा आड़ी रेखाओं (पत्र) द्वारा छायाकरण किया जाता था और उसे तीन आयामों वाला प्रतिरूपित प्रदान किया जाता था। भारतीय रेखाओं का उद्देश्य सुलेख की सूक्ष्मता सुस्पष्ट और चक्राकार लचीलापन है। रेखा के शक्तिशाली प्रतिरूपण-तत्त्व में एक श्रेणी के चित्रों को छोड़कर) के साथ-साथ रंगों का प्रतिरूपण भी है, जिसके लिए न केवल रंगों के सामंजस्य और छायाकरण से काम लिया गया विभिन्न स्तरों अथवा **नतोन्नत** को व्यक्त करने के लिए विशिष्ट प्रकाश का भी किया गया। यह कथन सही नहीं है कि अजन्ता तथा इस काल के अन्य चित्रों प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया गया। कूची का प्रयोग उन्मुक्त और ढंग से हुआ है, विशेषकर सुदृढ़ खाकों में, जिनके कारण आरेखन इतना हो सका है। रंगों का प्रतिरूपण भी सम्पूर्ण ढँग से हुआ है, जिससे आकृतियाँ म्पूर्ण विस्तार और सुनम्य आयतन में प्रकट हुई हैं।

न मुख्य रंगों का प्रयोग किया गया उनमें गैरिक (धातुराग), चमकीला (कुमकुम अथवा सिन्दूर), पीला गैरिक (हरिताल), जम्बुकी नीला, रावट काजल जैसा काला, खड़िया मट्टी जैसा सफेद, गेरु मट्टी तथा हरा (हरताल,) भी शामिल हैं। बाणभट्ट ने मनःशिला से निकाले गये गहरे पीले रंग का

उल्लेख किया है। यह रंग संखिये का था। इस काल के चित्रों के अवशेषों में नहीं दिखायी देता। सिवा रावट रंग के, जो शायद जयपुर से या विदेश से जाता था, बाकी सारे रंग स्थानीय रूप से उपलब्ध थे। मिश्रित रंगों का किया गया है, मिसाल के लिए भूरे रंग का, लेकिन आमतौर पर नहीं। सब सब रंगों का इस्तेमाल नहीं किया गया, न ही सब जगह रंगों का गाढ़ापन जो विषयवस्तु और स्थानीय वातावरण पर निर्भर करता है। आमतौर पर शास्त्रीय चित्रकला का उद्देश्य किस्म-किस्म के रंगों का वैषम्य प्रस्तुत करना है, बल्कि ऊपरी सतह को तेज और सघन रंगों से संतृप्त करना है। मुख्यतः लाल और मिट्टी के रंग का अनगिनत रंगतों और घटाओं में प्रयोग किया यह पूरी तरह से प्रतिरूपित, आच्छादित और आवेशित संतृप्ति चित्रों की गरिमा को और भी बढ़ाती है।

४. अजन्ता : गुफा सं० १६, १७ और १९; गुफा सं० १ और २

अजन्ता की गुफाओं की लम्बी शृंखला में, जहाँ कभी सारे सपाट स्थान ढँके होंगे, बहुत कम अवशेष बचे हैं। लेकिन निश्चित रूप से यह सजीव और ताजी देवताओं और अर्द्ध-दैवी व्यक्तियों, अप्सराओं, किन्नरों, जिन्नों, विलक्षण प्रचुर और वैविध्यपूर्ण पेड़-पौधों, जलूसों और समारोहों, प्रेम और उल्लास, लावण्य, उत्कृष्टता और रुक्षता का एक संसार है जो एक ऊँची, बौद्धिक और सभ्यता के सौन्दर्य के कोमल प्रकाश से आलोकित है, लगता है जैसे अतीत (साँची की उभार शैली) की आनन्दमय नैसर्गिकता फिर लौट आयी है, लेकिन की सदियों में उसके रूप में बहुत से अन्तर भी आये हैं जो अधिकांशतः पर हावी विचारधारा की देन हैं। ये चित्र समकालीन जीवन की प्रचुरता, और जनता, सामन्तों और योद्धाओं, संतों और भिखारियों के जीवन का दृश्य प्रस्तुत करते हैं। ये सभी अलग-अलग जातियों और कौमों के हैं—इन शहरों और महलों, दरबारों और जंगलों, सड़कों और बागों के जीवन की हैं, इनमें एक स्वस्थ और प्रयास-रहित भौतिक जीवन का और स्वतन्त्रता झलकती है तथा अलंकृत वैभव के बीच शालीन, उदात्त और जीवन की अभिव्यक्ति है। मूर्त्त एवं सुनिरूपित कलाओं के पूरे इतिहास अत्यन्त सुसंस्कृत समाज की परिष्कृत भावनाओं और संवेदनशीलता की ऐसी किन्तु चित्रात्मक अभिव्यक्ति दुर्लभ है। इस अभिव्यक्ति को सूक्ष्म और अनुभव की गहराई द्वारा ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचाया गया है; इनमें का दृष्टिकोण स्पष्टतः मानववादी है और सृजन की प्रक्रिया में उदात्त एवं अनासक्ति से काम लिया गया है।

जीवन की यह अभिवृत्ति और दृष्टिकोण चेतना की सतह से विजन की आकृतियों को चट्टान की गहराई के अन्धकार से उसकी सतह के प्रकाश में

गया है। इस प्रक्रिया को क्रैमरिश ने "आसन्न दिशा" की अर्थपूर्ण संज्ञा दी है और घटनाओं की भीड़ से भरे इस संसार में, जो अपनी सघनता में सुसम्बद्ध है, हर पदार्थ का दिगन्त में अपना निर्धारित कार्य है। चेतना के इस चित्रमय में उसे गति की ऐसी दिशा प्राप्त होती है जो हमारी आँखों के सामने रुकती लूम होती है, लेकिन वास्तव में वह हमारे मन में अनवरत चलती रहती है। हर आकृति और हर कहानी की गति की लय दूसरी कहानी से जुड़ी हुई है रा चित्रित स्थान एक प्रकार की अनवरत लय और गति से भर गया है, जो के वर्णित दृश्यों को अनायास अस्तित्व का यथार्थ प्रदान करता है। ये आकृतियाँ में लचीली और हल्की हैं, वे सहजता और उन्मुक्त भाव से आगे बढ़ती हैं, पीछे झुकती हैं और नृत्यरत आकृतियों की तरह अनुशासित किन्तु सतर्कभाव लित होती हैं।

फा नम्बर १६ के चित्रों में, जिनकी विषयवस्तु अभी भी समझ में आ सकती है, द्ध हैं, एक सोई हुई स्त्री है, और **षडन्त जातक** की उत्तरकथा है जिसमें मरणा- जकुमारी दिखायी गयी है। (प्ले. xxxvi, ८९); गुफा नम्बर १७ में सात हलावदान, कारणचक्र, कपिलवस्तु में प्रत्यावर्तन, समर्पण समारोह, एक प्रेम महाहंस, मातृपोषक, रुरु, षडदन्त, शिबि, विश्वन्तर, नालगिरि जातक, गन्धर्व अप्सराएँ)प्ले. xxxix, ९२), हैं; गुफा नम्बर १९ में (जो कुछ बाद के काल) हम फिर कपिलवस्तु और बुद्धों में लौटते हैं। गुफा नम्बर १ के चित्रों में महान् त्त(प्ले. xxxviii, ९१), मारधर्षण (प्ले. xxxvii, ९०), **पंचिक कथा**, शिबि ग जातक, प्रेमक्रीड़ा आदि के दृश्य हैं। गुफा नम्बर २ में श्रावस्ती के र राजप्रासाद और इन्द्रलोक के दृश्य, **क्षान्तिवादिन्** तथा **मैत्रीबल जातक** दि हैं।

तिज पट्टियों में, जिनमें पहली अवस्था के चित्र (गुफाएँ ९ और १०) बनाये गये दीवारों के पूरे क्षेत्र में विस्तारित हैं। गुफा नम्बर १६ में कोठरियों के के चौड़े कुण्डलित हाशियों के अलावा और कोई चौखटा नहीं है, जिसके चित्रों की कथा अबाध रूप से सारी दीवारों पर फैल सकी है। यहाँ क्षैतिज घुल-सी गयी हैं। हालांकि गुफा नम्बर १७ में इस विन्यास के प्रच्छन्न संकेत हीं मिलते हैं। आमतौर पर एक ही कहानी अखंडित अविच्छिन्नरूप से दूसरी में विलीन हो जाती है और ये जनाकीर्ण चित्र-वृत्तान्त ऊपर और नीचे, क्षैतिज ऊर्ध्व दिशाओं में बढ़ते रहते हैं।

फा नम्बर १६ में इस आसन्न दिशा की सौन्दर्यपरक एवं तर्क-संगत सर्वश्रेष्ठ व्यक्त हुई है। बड़े-बड़े और सावधानी से चक्राकार प्रतिरूपित आयतन, जिनकी आच्छादित हैं चित्र में एकत्र किये गये हैं, अतः रूप-सौन्दर्य का शक्तिशाली पड़ता है (बुद्ध के जीवन और नन्द के बौद्धधर्म में दीक्षित होने के दृश्य—जो और वायीं दीवारों पर अंकित हैं।) सन्तुलन और संयम गतिशील प्रचुर

रेखाओं में एक प्रकार की शान्त शालीनता और निर्लिप्तता ला देते हैं। अन्य खण्डों में, जिनमें से अधिकांश पिछली दीवार पर अंकित हैं और जिनमें बुद्ध के के दृश्य दिखाये गये हैं, वैसा ही सन्तुलन और शालीन निर्लिप्तता नहीं है। प्रचुर रूपित रंग और गहरी आच्छादित रेखाओं से पता चलता है कि इनके चित्रकारों तकनीकी जानकारी और कौशल था पर इनसे आकृतियों का लालित्य और भावाभिव्यंजन बहुत कुछ नष्ट हो गया है।

गुफा नम्बर १७ में मानव आकृतियों का आकार छोटा हो गया है और अधिक सहजता और अतिरिक्त लालित्य आ गया है। इससे सारी जगह में संहति आ गयी है और आकृतियाँ लयात्मक लहरों से आन्दोलित हो उठी हैं। लय और आसन्न दिशा के विस्तार से **विश्वन्तर जातक** तथा **सिंहलावदान** के चित्र और सम्पूर्ण दृश्य अंकित हुए हैं जो अपनी परिपक्वता के बिन्दु तक पहुँच लेकिन ये आकृतियां भी संयोजन के उस शिखर तक नहीं पहुँच सकी हैं। ये कृश एवं सचेतरूप से लालित्यपूर्ण आकृतियाँ अपनी खुली आँखों के बावजूद सामने होती घटनाओं को पूरी तरह समझाने में असमर्थ हैं; वे संसार के उत्सवों उन्मुक्त और हर्षित भाव से सम्मिलित हैं: उनमें तीव्र संवेदनशीलता भी है (**शिबि** और **हंसजातक** के दृश्य)—और सूक्ष्म रेखाओं तथा प्रदीप्त, संवेदन रंगों से यह प्रभाव और भी मुखरित हो उठता है—लेकिन वे अस्तित्व के भी गहनतर रहस्य से बेखबर हैं।

गुफा नम्बर १९ में भी यही संयोजनात्मक शक्ति और शालीनता की दक्षता देती है (कपिलवस्तु में वापसी का दृश्य), लेकिन बहुसंख्यक बुद्ध गुफा नम्बर चित्रित बोधिसत्त्व-चित्रों का पूर्वाभास ही दे पाते हैं।

गुफा नम्बर १ के विशाल बोधिसत्त्व (प्ले. xxxviii, ९१) बाह्य और आन्त दृष्टि से अपने पूरे कद तक पहुँच गये हैं। विशाल आकार के होते हुए भी वे हैं। अपनी शरीर-रचना में सम्पूर्ण गोल-मटोल सुघड़ता के बावजूद वे करु द्रवित हो रहे हैं, वे आलोकित एवं उल्लासपूर्ण संसार में गतिशील तो लगते हैं मानो किसी महान् साक्षात्कार द्वारा मौन कर दिये गये हैं; पलकें नीचे किये वे ही गहराइयों में प्रत्यावर्तन कर चुके हैं (बोधिसत्त्व पद्मपाणि और अवलोकितेश्वर

सारे दृश्य इस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके हैं और न तकनीकी दृष्टि से ही स्वर एक है; कई चित्रों में भद्दापन, जड़ता और कुंठित भाव भी है, और वे नींद भरे प्रमाद में जकड़े मालूम होते हैं, रंग में ठोस प्रतिरूपण, रेखाओं का उभार और फैली हुई बाह्य रेखाएँ इस अवगुण को और भी बढ़ा देती हैं पद्मपाणि दृश्य के निचले बायें भाग से स्पष्ट है। लेकिन इसके ऊपर के दृश्य बनावट अधिक सूक्ष्म है, इसमें हल्की और छोटी आकृतियाँ अपने सजीव चेहरों आध्यात्मिक विनय और समर्पण का भाव व्यक्त करती हैं।

इनसे भी कहीं अधिक व्यापक कृति **महाजनक-जातक** का दृश्य है, जो

के विश्वन्तर जातक के दृश्य के बराबर है, पर इसका प्रतिरूपण उतना
नहीं और अभिव्यक्ति में एक प्रकार की कृत्रिमता भी आ गयी है। यह
मारधर्षण के दृश्य में भी झलकती है, जहाँ इसके साथ ही, प्रतिरूपण और
दोनों में एक भोंडापन आ गया है। **शिबिजातक** का दृश्य इस सामान्य
अन्तर्गत एक और ही पक्ष का प्रदर्शन करता है। यहाँ पर अंगों की प्रचुर
और प्रतिरूपण की सुघड़ता की जगह कोणों और भोंडे प्रतिमांकनों ने ले
। फलतः उनमें पतलापन और फीकापन आ गया है।

और प्रतिरूपण की दृष्टि से गुफा नम्बर २ के भित्ति-चित्रों ने आगे
प्रवृत्तियों की दिशा में सर्वोच्च पूर्णता प्राप्त की है। सच तो यह है कि इस
भित्ति-चित्रों में वे सारी सम्भावनाएँ चुक गयी हैं, जो रंगों के माध्यम से
और तीसरा आयाम चित्रित करने में हासिल की जा सकती हैं। कला के अन्य
दृष्टि से इस गुफा में चित्रित अधिकांश दृश्य गुफा नम्बर १ की तरह या तो
जातक के ढंग के हैं या **शिबि जातक** के ढंग के। साथ ही कुछ चित्रों में ह्रास
भी दिखायी देते हैं, विशेषतः जहाँ बड़ी लापरवाही से तूलिका का इस्तेमाल
ढ़िगत शैली का प्रयोग किया गया है।

तक आयतन के प्रतिरूपण का प्रश्न है, इन गुफाओं के चित्रों में चित्रकला
शिल्प का सर्वाधिक साम्य नजर आता है। भारत में शुरू से ही मूर्ति-शिल्प
त्मक परिकल्पना का मुख्य संवाहक माना गया है, जबकि चित्रकला अपने
से इसकी ऊँचाइयों को छूने का प्रयत्न करती है। लेकिन गुफा नं० १ और
और बादामि की गुफा नं० ३ में भी, लगता है कि चित्रकला अपने समकालीन
के समानान्तर विकास कर रही है। यहाँ पर, कम से कम एक बार ही
चित्रकला अपने समकालीन मूर्ति-शिल्प की क्लासिकी या **संस्कृत** ऊँचाई और
शिखर छू लेती है।

५. बाघ : गुफा सं० ४ और ३

की गुफा नं० ४ के भित्ति-चित्र अजन्ता की नं० १ और २ गुफाओं के समान
की गुफा नं० ४ में सम्भवतः अनेक चित्र थे, लेकिन अब थोड़े से सुरक्षित रह
। उनमें और अजन्ता के अन्तिम दौर के चित्रों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।
दृष्टि से भी ये दोनों एक ही कोटि के हैं। लेकिन एक सूक्ष्म अन्तर अवश्य
कोई सन्देह नहीं कि अजन्ता की तरह बाघ के चित्र भी बौद्ध-धर्म से
है—सम्भवतः उनमें जातक कथाओं का वर्णन किया गया है। लेकिन जहाँ
के चित्रों में, एक लौकिक, यहाँ तक कि हलके विधर्मी वातावरण के बावजूद,
में ऐसी धार्मिक भावना दीप्त है, जो चित्रों की पूरी सतह पर जाल की
आत्मोन्मुखी चेतना और निस्संग भावना में प्रकट होती है, वहीं बाघ के
तरह लौकिक हैं, जिनमें समकालीन जीवन को अभिव्यक्ति दी गयी है,

उसमें व्याप्त धार्मिक सम्बन्धों के समेत । अधिकांश आकृतियों में व्यक्त एक भरी उन्निद्रा, जो अर्ध-निमीलित पलकों में स्पष्ट जाहिर होती है तथा उनकी और ऐन्द्रिय प्रतिरूपण, शारीरिक थकान या गहरी आध्यात्मिक अनुभूति का नहीं है, बल्कि जीवन की उल्लासपूर्ण शोभायात्रा में पूरे उत्साह से भाग के परिणाम है । फिर भी मनोवेगों का अनुशासन और निस्संग परिदृष्टि उन्हें जीवन की नित्यता से ऊपर उठा देती है(प्ले. xl, ६३) ।

अजन्ता की तुलना में गुफा नं० ४ के बोधिसत्त्वों के चित्र भी अपेक्षा मानवीय और पार्थिव हैं । अजन्ता के चित्रों में बोधिसत्त्वों की अधिसांसारिक अत्यन्त ललित तथा द्रवित जीवन-दृष्टि (गुफा नं० १७) की अपेक्षा यहाँ तक औदात्य का स्पर्श महसूस होता है, जो अधिक कसावपूर्ण प्रतिरूपण और परिरेखा द्वारा लाया गया है । इन चित्रों को कोई भी अन्तर्दृष्टि आलोकित करती, लेकिन अभिजात मुद्रा और निस्संगता के भाव से, जिसमें करुणाभरी संयोग है, उन्हें इस ताजे और हरे-भरे, गतिमान और भरे-पूरे संसार में टिकने प्रेरणा मिलती है ।

गुफा नं० ३ में **चौरी** वाहिका दृश्य को अंकित करने वाले चित्र में सम्पूर्ण तकनीकी ज्ञान प्रयुक्त हुआ है । इसमें एक कोमल, तन्वंगी स्त्री, जिसके पूरी तरह विकसित हैं, अपने गोल और पुष्ट उरोजों के भार से झुकी हुई तीन पार्श्व चित्र के रूप में दिखाई गयी है । आयतन का कोमल और संवेदनशील प्रतिरूपण, रेखाओं का सूक्ष्म छायाकरण और आसन्न दिशा की अर्थवत्ता इसमें कलात्मकता से व्यक्त हुई है । सुमधुर और ऐन्द्रिय रूप से तन्द्रिल, किन्तु संयमित और निस्संग, इस आकृति में उत्कट सांसारिक अनुभव और आ निस्संगता का सुन्दर सामंजस्य हुआ है ।

६. बादामि : गुफा सं० ३ और २

अब तक ज्ञात सबसे प्राचीन ब्राह्मण-धर्मी चित्र बादामि की गुफा नं० ५७८ ई०) में, टूटे-फूटे अंशों के रूप में, प्राप्त हुए हैं । (गुफा नं० २ में भी के कुछ चिह्न मिलते हैं।) यह गुफा वैसे तो वैष्णव सम्प्रदाय की है, लेकिन प्रतीत होता है कि उनमें शैव सम्प्रदाय के विषय भी चित्रित हैं । इनमें सबसे और सबसे सुरक्षित हालत में शिव और पार्वती के तथाकथित वाग्दान है । (प्ले. xl, ६४) ।

एकरंगी भा-चित्र (फोटोग्राफ) में इन आकृतियों को देखकर ऐसा जैसे वे पूरी चट्टान से भरपूर लेकिन कोमल गोलाईदार आयतन में से बना हैं । उनमें एक संवेदनशील भराव, चुस्ती और ठोस कुट्टनीयता है । रंगों को गोलाई में प्रतिरूपित करके उनका निर्माण हुआ है । उनमें परिरेखाओं का है और चित्रित उभार जब अपने चरम बिन्दु पर पहुँचे हैं तो उन्हें प्रचुर

प्रदान की गयी है। इनमें भी अजन्ता और वाघ के तकनीक का प्रयोग है, लेकिन शैली उनसे मेल नहीं खाती, यहाँ तक कि अजन्ता के अन्तिम भी नहीं, जो इनका समकालीन कहा जाता है। अजन्ता की गुफा नम्बर १ प्रतिरूपण का संक्षेपण इतना ठोस है कि वह आकृतियों के गठन में एक कठोरता और कसाव ला देता है। परिरेखाओं का भी बहुत अधिक, और रतापूर्वक, छायाकरण किया गया है। इसके विपरीत वादामि की मूर्तियों की गठन और अभिव्यक्ति अधिक संवेदनशील है, परिरेखाओं में अधिक और लोच है। परिरेखाओं की शिथिलता के कारण इन आकृतियों में एक र्दिकता है। परिवेश और अनुभूति की ऐसी कोमलता अजन्ता के अन्तिम चरण खाई देती।

वादामि की कला भी शास्त्रीय भारतीय चित्रकला की कोटि में आती है, सम्भावनाओं को अपने ढंग से व्यक्त करती है। मूलतः यह आयतन का है, जिसका भरपूर और मांसल प्रतिरूपण किया गया है। आसन्न दिशा की प्रक्रिया विषय मन की दुनिया पर गहरा असर डालते हैं। इसके फलस्वरूप पैदा लता चित्रों को स्थायित्व प्रदान करती है। हर केन्द्र और चरण इस प्रवृत्ति ढंग से पूरा करता है। जहां तक उल्लासपूर्ण और ज्वलन्त प्रकृतिवादी चित्रण, मांसल सौन्दर्य और अनुशासित लालित्य, लौकिक अनुभव की तीव्रता, कोच, आध्यात्मिक अनासक्ति एवं आकृतियों के शारीरिक प्रतिमान का सम्बन्ध रे चित्र एक ऐसे युग की उपज हैं, जिसकी सभ्यता नागरिक, बौद्धिक और थी।

७. शिट्टण्णवाशल; कांचीपुरम्; तिरुमलयपुरम्

र वाघ, अजन्ता और बादामि उत्तर और दक्षिण भारत की श्रेण्य परम्परा स्तरों को व्यक्त करते हैं, तो शिट्टण्णवाशल तथा अन्य सजातीय चित्रों चलता है कि कैसे यह परम्परा दक्षिण तक व्याप्त थी। शिट्टण्णवाशल (अर्थात् अथवा जैन सिद्धों का निवास) के चित्रों का जैन विषय-वस्तु और प्रतीकों घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो चित्र अभी तक बचे हैं, और अपेक्षाकृत अच्छी हालत हें जैन मन्दिर की दीवारों, छतों और सामने के स्तम्भों वाले मंडप में देखा है। लगता है कि स्तम्भों पर भी शुरू में चित्र बनाये गये थे। आज वहाँ तीन चित्रफलक मौजूद हैं, जिनमें दो में नाचती हुई अप्सराएँ चित्रित हैं xli, ९६) और तीसरे में एक युग्म है जो पल्लवराज महेन्द्रवर्मन्-प्रथम और पत्नी का बताया जाता है। पत्नी के साथ एक आकृति और है। स्तम्भों की छत पर तीन कमलाकार चित्रफलक हैं, जिनमें से बीच वाले में, जो है, कमलपुष्पों से भरा एक सरोवर दिखाया गया है। हरे कमल, अथवा लों की संखाकार पत्तियों को श्वेत रंग की रेखाओं में चित्रित किया गया है,

जिनके किनारे काले रंग से आच्छादित हैं। ये रेखाएँ चित्रफलकों की
ताजगी को बढ़ाने में इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि लगता है ये सारे कमल इसी
से एकत्र किये गये हैं। मुख्य मन्दिर की छत को भी इसी तरह विभक्त
है। बीचोंबीच कमल सरोवर और पुष्प एवं कलियाँ हैं। मन्दिर की छत
अधिक बड़ी है और उसमें फूलों का चित्रण अधिक है। स्तम्भों वाले हाल
और हाथियों, हंसों, सारसों, मकरों और मानव आकृतियों की भरमार है।
आकृतियां सघन कमलदलों, डंठलों और पंखुरियों से गुँथी हुई हैं।
पर चित्रित कपड़े का चँदोवा बना है, जिसमें सलीव, वर्ग और त्रिशूल
बने हैं। आयताकार नमूनों के बीचोंबीच देवताओं और गौण देवताओं की
हैं। रेखाओं की तरलता, सामान्य नमूने और सूक्ष्म प्रतिरूपित रेखाओं और
के बावजूद चित्रित कपड़े के चँदोवे की सपाट अमूर्त ज्यामितिक परिकल्पना
सरोवर के बिल्कुल विपरीत है, जिसमें ताजे डंठल, पंखुरियाँ, खिले हुए कमल,
तथा पशुओं की आकृतियां अपनी समस्त गठन और गोलाइयों के साथ प्रति
मन्दिर में शास्त्रीय परम्परा दिखाई देती है। यद्यपि स्तम्भों वाले हाल में सपाट
अमूर्त सतहों और अनुरेखित नमूनों की मध्य-कालीन परम्परा भी शुरू हो जाती
यह परम्परा चित्रित कपड़े के चँदोवे में स्पष्ट दिखाई देती है, जिसमें मानव
सपाट और अनुरेखित ढंग से चित्रित की गयी हैं, उनकी आँखें विस्तारित
शरीर का संचालन कोणिक है। इनके मुकाबले में छत पर चित्रित कमल सरो
आकृतियाँ और स्तम्भों पर बनी अप्सराओं को (कमल, पशु इत्यादि भी)
भरपूर ढंग से प्रतिरूपित किया गया है, हालाँकि यह मानना पड़ेगा कि यहाँ भी
के अन्तिम चरणों के मुकाबले में प्रतिरूपण अधिक अमूर्त है, रेखांकन अधिक
रंग सपाट और विरल है। लेकिन इनमें अभी भी ताजे, सजीव और धड़कते
की परिकल्पना है। शारीरिक गठन की दृष्टि से शिट्टणवाशल की मानव
मामल्लपुरम् की उभरी आकृतियों से मिलती हैं।

सातवीं सदी के अन्तिम काल के चित्रों के अनिश्चित अवशेष काँची
कैलासनाथ मन्दिर में तथा मलयदीप्ति के शिला काट कर बनाये गये वैष्णव
में मिलते हैं। इन दोनों स्थानों पर चित्र समय और स्थान के अनुकूल
बनायी गयी उभरी आकृतियों के अनुकूल मालूम होते हैं।

तिरुमलयपुरम् के शैव गुफा मन्दिर के चित्रों के अवशेष अत्यन्त खंडित
मिलते हैं। हालाँकि ऐसा लगता है कि शुरू में सारी छत, दीवारें, फलक और
चित्रित थे। अब वहाँ सिर्फ कुमुदिनियों, कमलों, मरगोलों, मुर्गाबियों, नाचते
और ऐसी मानव आकृतियों के अवशेष बचे हैं, जो किसी संगीत अथवा नृत्य
दृश्य के अंश मालूम होते हैं। आकृतियों के भरपूर गठन के स्थान पर कोणिक
आकृतियाँ दिखाई देती हैं। काँची और मलयदीप्ति के मन्दिरों की तरह,
उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, काली परिरेखाओं में तीक्ष्णता और एक

आ गयी है, रंग झीने हो गये हैं, प्रतिरूपण हलका है; कुल मिलाकर अर्थ ग्रास की दृष्टि से चित्रों में एक झीनापन आ गया है। शास्त्रीय परम्परा रहती है, लेकिन उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अमूर्तीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से। में भी यह प्रक्रिया काम कर रही थी, इसका पता उन चन्द मानव आकृतियों है, जो कद और अनुपात में छोटी हैं, लेकिन उनके सर काफी बड़े हैं। शंखपाल और महाजनक जातक के दृश्य इसके उदाहरण हैं। यहाँ की तरह प्रतिरूपण का अपेक्षाकृत कम महत्त्व रहा और गतियाँ सापेक्षतः अधिक हो गयी हैं।

II. मृण्मूर्तियाँ

भारत के सभी स्थानों से खुदाई में प्राप्त उभार-शैली की असंख्य मृण्मूर्तियों जीवन के प्रति एक भिन्न दृष्टिकोण और कलात्मक परिकल्पना का उद्घाटन । ये मृण्मूर्तियाँ सबसे बड़ी संख्या में गंगा की घाटी और बंगाल में मिली हैं, नदीय मैदानों में उस आघातवर्ध्य मिट्टी और चिकनी-मिट्टी की अक्षय प्राप्ति जो साधारण जनों के लिए मूर्ति बनाने की एक मात्र सामग्री थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि दक्षिणापथ या दक्षिण में, जिन सारे स्थानों पर यों की खुदाई की गयी है, अभी तक इतनी तादाद में मृण्मूर्तियाँ नहीं मिलीं उल्लेख किया जाए, अधिकतर इन स्थानों से प्रस्तर मूर्तियाँ ही मिली हैं। तियाँ बहुत छोटे आकार की हैं और कामचलाऊ साँचों के जरिए बहुत बड़ी बनायी जाती थीं और आमतौर पर तपाने या जलाने से पहले और बाद उनका कुशलतापूर्वक परिष्करण किया जाता था और न रुखानी से छीला था। राजघाट (वाराणसी), अहिच्छत्र, भीटा तथा अन्य स्थानों से बड़ी तादाद मृण्मूर्तियों में रंग के निशानों से अनुमान होता है कि रंग की हुई मृण्मूर्तियाँ तौर पर प्रचलित थीं। इनमें अक्सर सफेद, पीले, लाल, गेरुआ और गुलाबी रंगों किया जाता था। अन्तिम रंग अक्सर मटियाले रंग की पट्टी पर लगाया । यह ध्यान देने लायक दिलचस्प बात है कि कालिदास ने अपने शकुन्तला मिट्टी के बने एक ऐसे मोर (चित्रित-मृत्तिका मयूर) का उल्लेख किया है।

काल के मृत्तिका-फलक और लघु-मूर्तियाँ अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं, जिनमें का हरवन भी है (अलंकृत ढली हुई ईंटों की टाइल, जिन पर अनेक और मानवीय अभिप्राय अंकित हैं); इसके अलावा पंजाब में सहरी, तख्त-ए वाही और जमालगढ़ी (अधिकतर बौद्ध विषयों से सम्बन्धित और की प्रतिकृतियाँ), सिन्ध में ब्राह्मणाबाद (अनेक डिजाइनों की अलंकृत ईंटें), खास (नक्काशी की हुई ईंटें, आकृतियों के सिर आदि—बुद्ध और दानी—xxvi, ८८), साहेठ-माहेठ (रामायण-फलक), कस्सिया (बुद्ध और आकृतियाँ), (ब्राह्मण-प्रधान धर्मों के देवी-देवताओं के उभार शैली के मूर्ति-फलक—

प्ले. xxxvi, ८६), भिटा (मोहरें और उभार शैली की लघु-मूर्तियाँ), और उभार-शैली की लघु-मूर्तियाँ), कोसाम (मृत्तिका की लघु-मूर्तियाँ, गये पशु और सिर, आदि), अहिच्छत्र (शिव से सम्बन्धित बड़े आकार की —प्ले. xlii, ९८), राजघाट (बड़ी तादाद में प्राप्त मृण्मूर्तियाँ, जिनमें मनुष्यों के सिर और आकृतियाँ, देवता आदि; मकर, हाथी, वराह, सिंह, मूर्तियाँ आदि), पवाया (उभार-शैली की आकृतियाँ), पटना (बंगाल में महास्थान और बांगढ (बड़े आकार के मूर्ति-फलक और —प्ले. xlii, ९७) आदि स्थान उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त स्थानों पर मिली मृण्मूर्तियों के निरीक्षण से पता चलता है कि (टेराकोटा) के फलक और मूर्तिफलक कई कामों के लिए इस्तेमाल किये ईंटों के बने हुए मन्दिरों और बौद्ध मठों में, उदाहरण के लिए महास्थान, भीतरगाँव, मीरपुर खास इत्यादि में, बाहरी सतह फलकों से ढँकी रहती थी, देवी-देवताओं, वीरगाथाओं, पुराणों के वर्णनात्मक दृश्यों, पशुओं और की आकृतियाँ बनी रहती थीं, जो कई बार मूर्तिशिल्प सम्बन्धी नियमों का भी करती थीं। उनमें अक्सर ऐसी विषयवस्तु की अभिव्यक्ति होती थी, साधारण लोगों की, अपने दैनिक जीवन में, दिलचस्पी रहती थी। रहने के की बाहरी दीवारें भी टिकाऊ सामग्री की नहीं बनी होती थीं, उनकी सजावट के देवी-देवताओं, पुराणों और वीरगाथाओं के वर्णनात्मक दृश्यों, पशुओं और की आकृतियों का प्रयोग किया जाता था। साधारण नागरिकों के घरों के आलों में चित्र-फलक बने रहते थे, जिनमें प्रेमी युगल, मानव आकृतियाँ, मानव और पशु-आकृतियाँ तथा सुन्दर स्त्रियों की लघु-मूर्तियाँ रहती थीं। पूजाओं और सामाजिक-धार्मिक उत्सवों के लिए अलग किस्म की मिट्टी की बनायी जाती थीं। बाण इस तथ्य का साक्षी है कि राज्यश्री के विवाह के मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने वाले बहुत से कलाकारों को मिट्टी के मंगलकारी जलचर और नारी आकृतियाँ बनाने के लिए नियुक्त किया गया था। आकृतियों के हाथों में सजावट के लिए मंगलकारी फल थे। अनेक आकार और प्रकार की मूर्तिकला की वस्तुएँ सजावट और उत्सवों प्रयुक्त होती थीं, यह सातवीं सदी के इस गद्यकाव्य-लेखक के बयान से स्पष्ट है, जब वह कहता है कि उसे ऐसा लग रहा था, जैसे चारों दिशाओं में सजावट हो गयी हो (पुस्तमय्य एव चकाशिरे कुकुभः)। हम तक जो है, उसे उस जमाने के उत्पादन का एक अंशमात्र समझना चाहिए। सिर्फ नहीं कि घरों और मन्दिरों की सजावटें धूल में मिल चुकी हैं, बल्कि पूजाओं और सामाजिक-धार्मिक उत्सवों के लिए बनायी गयी मृण्मूर्तियाँ प्रथा फौरन नदियों और सरोवरों में विसर्जित कर दी जाती थीं।

नर्म, लचीली और टूटने वाली सामग्री से बनी ये मृण्मूर्तियाँ भारतीय

कार को एक भिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती हैं। मूर्तिकला सम्बन्धी तिक तथा धार्मिक निर्देशों के भार से मुक्त ये मृण्मूर्तियों के कलाकार दृष्टि की र दिखाई देने वाली वस्तुओं में अधिक दिलचस्पी लेते हैं और अपने हाथों और ों की समस्त संवेदनशीलता, कल्पना और क्रिया की पूरी स्वतन्त्रता तथा क उल्लास के साथ इस कोमल और लचीले माध्यम से सृजन करते हैं। ा, और यहाँ तक कि चित्रकला, में भी जिन समकालीन रुचियों, मन की वाली वृत्तियों, फैशन (प्रचलन) और पूर्वग्रहों के लिए गुंजाइश नहीं है, वहाँ ां युग के इस लचीले दृष्टिकोण को व्यक्त कर सकती हैं। इस माध्यम में , रूप अथवा विषयवस्तु की दृष्टि से स्थायित्व का कोई दावा नहीं किया जा ा। हर विषयवस्तु को सशक्त क्रियाशीलता तथा क्रीड़ात्मक और भावनात्मक ता के साथ पेश किया जाता है। इनका लोगों के दैनिक जीवन से अन्तर्भूत होता है। बहुविध सम्बन्धों से युक्त दैनिक जीवन की जिस मूलभूत लय और ता को आभिजात्य और पौरोहित्य के प्रतिमान स्वीकृति नही देते, उनकी त्मक और मुक्त अभिव्यक्ति समकालीन विधा और सामाजिक जीवन के इस आविष्कार से होती है जो मूर्तिकला तथा चित्रकला के मुकाबले में कहीं अधिक र्ण भी रहती है। याजक देवी-देवताओं के चित्र अथवा मूर्तियाँ बनाते वक्त ारों को निश्चित रूपों और किस्मों का ध्यान रखना पड़ता था, लेकिन मृण्मूर्तियों ोटा) की नर और नारी-आकृतियों में, पशुओं तथा विविध आकृतियों की क्ति में, चाहे वे अकेली हों अथवा समूहों में, या किसी वर्णन का अंग हों, ी उन्मुक्त अभिव्यक्ति मिली है उतनी किसी अन्य माध्यम में नहीं। इनमें चाहे प्रकार की गति अथवा कार्यशीलता दिखाई गयी हो, मूलरूप से इसकी शैली स्थानों की समकालीन मूर्तिकला का अनुसरण करती है।

न मृण्मूर्तियों से युग की सांस्कृतिक और जातीय व्यवस्था का एक और संश्लिष्ट कट होता है। हर सामाजिक और आर्थिक स्तर के पुरुष और स्त्रियाँ इनमें ये गये हैं; अभिजात चाल-ढाल वाले कुलीन, उच्च वर्ग की फैशनेबल और राजसी ाट वाली महिलाएँ, संन्यासी और भिखारी, नर्तक-नर्तकियाँ, कलाबाज, सपेरे, के हर क्षेत्र के लोग, विदूषक, बौने, हाथी की सवारी करने वाले और साईस, ों; (बैक्ट्रियाई, यूनानी, पार्थियन, शक, कुषाण, हूण इत्यादि) हरवन, राजघाट, न, भीटा तथा पंजाब और उत्तरी पश्चिमी प्रदेश से मिले अवशेषों से इन सब ों के चेहरों की अलग-अलग गठन, वेषभूषा और केशविन्यास स्पष्ट पहचाने जाते ारतीय पुरुषों और महिलाओं, अधिकतर महिलाओं, के केशों में मनोहर सर्पिल हैं, या कसकर छोटे घूँघरदार बाल बनाये गये हैं। इन सर्पिल घुँघराले बालों कालीन कवियों और प्रेमाख्यान लेखकों ने सजीव वर्णन किया है। इन चित्रों नोहर और मांसल सौन्दर्यसम्पन्न महिलाओं का हमारी आँखों के सामने एक सिलसिला जारी रहता है और ये सब जीवन की एक सादी किन्तु यथार्थ और

सशक्त जीवन-पद्धति के स्वरूप के नमूने हैं—जिसमें अमूर्त अथवा प्रकृतवादी स्थानीय पशु-पक्षी, वनस्पतियां अपनी पूरी भूमिका अदा करती हैं।

अहिच्छत्र, राजघाट, पहारपुर और मैनामति की मृण्मूर्तियाँ सौन्दर्य और की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती हैं। अहिच्छत्र की मिट्टी की आदमकद आकृ पकाने में, जो उस काल में गंगा की घाटी में प्रचलित प्रतिमाविधायक शैली में गयी हैं—तकनीकी दृष्टि से काफी परेशानी हुई होगी। इस समस्या को इस कुम्हारों ने १० से १२ फुट गहरे बेलनाकार भट्ठे खोदकर सफलतापूर्वक हल था। सौन्दर्यपरक आकर्षण और अपने जमाने के सामाजिक जीवन के दस्ता रूप में राजघाट की मृण्मूर्ति आकृतियां, विशेषकर उनके शीर्षभाग, चेहरे की और विनोदशील कल्पना के उदाहरण हैं, जबकि पाहारपुर और मयना मूर्तियाँ प्रत्यक्ष शक्ति, सोद्देश्य लय और गतिपूर्ण क्रियाशीलता के दिलचस्प शास्त्रीय दस्तावेज हैं।

जिन मृण्मूर्तियों का समय विवेच्यकाल के तत्काल बाद की सदियां निर्धा गयी हैं वे बहुत कम स्थानों से प्राप्त हुई हैं। बेल्वा, गया और बनारस से प्रा नमूनों को मुस्लिम-पूर्व काल का बताया जा सकता है, लेकिन सामान्य तौर गुप्तकाल और उसके बाद की रुढ़िगत शैली के यांत्रिक और अश्मीकृत ह लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि तब मृण्मूर्तियाँ नहीं बनायी जाती थीं और बाद सृजनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति इस अत्यन्त सरल और नमनशील मा नहीं हुई। बल्कि ऐसा लगता है कि आराधना और सजावट के लिए बना फलक और मूर्तियाँ काल और प्रकृति के थपेड़े सहने के लिए छोड़ दी गयीं जो अन्य वस्तुओं की तरह ही नष्ट हो गयीं, जबकि उसके पूर्व-काल की कृतियां ज नीचे सुरक्षित पड़ी रहीं। हाल में उनकी खुदाई की गयी है। उदाहरण बंगाल, आसाम और दक्षिणी भारत में इस प्रकार की मृण्मूर्तियाँ बनाई जाती र पूरे मध्ययुग के दौरान उन्हें ईंटों से बने मन्दिरों को ढँकने के काम में लाया जाता लेकिन सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से उनकी अपनी अलग कहानी है; उनकी पर और गढ़ने के रीति-रिवाज अलग कोटि के हैं।

III. मिट्टी के बर्तन

मिट्टी के बर्तनों को सुखाने-पकाने, और रंगने की कला कितनी उन्नतशील में थी और ये कारीगर कितने निपुण थे, यह मृत्तिका मुहरों, फलकों, मूर्तियों से प्रमाणित होता है। विवेच्यकाल में कुम्हार के शिल्प के ऊँचे स्तर का चलता है। दुर्भाग्य से हमारी पुरातत्त्वसम्बन्धी खुदाइयां अभी तक ऐसी नहीं जिससे हम कला की इस महत्त्वपूर्ण शाखा के अध्ययन को समुचित वैज्ञानि कालक्रमानुसार सन्दर्भ में रख सकें। लेकिन अहिच्छत्र की खुदाइयों में वस्तुओं के आधार पर ऐसा करना सम्भव हो सका है और हम तीसरी सदी ई

प्रारम्भिक मध्यकाल (११वीं सदी ईसवी) तक इस काल का अध्ययन हैं। पंजाब और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश से, सिन्ध में ब्राह्मणावाद से, जयपुर में सांभर (प्राचीन शाकम्भरी) से, और बनारस के निकट राजघाट से इस मिट्टी के बर्तनों के महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं। अहिच्छत्र से मिली पूरे उत्तरी भारत, विशेषकर गंगा-जमुना की घाटी और पूर्वी भारत में कला-शैलियों की प्रतीक हैं। दक्षिणापथ अथवा दक्षिण भारत से प्राप्त किसी सामग्री को इस काल के साथ नहीं जोड़ा जा सकता है।

काल के मिट्टी के बर्तनों की मुख्य किस्में और उनके रूप-भेदों में थोड़ा-अन्तर है लेकिन वे एक बड़े और लम्बे सिलसिले के अंग हैं। आमतौर पर पर बनाये जाते थे लेकिन सांचों में बने बर्तनों की संख्या भी काफी है। इस काल को साँचे के तकनीक की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझना । शुंगकाल, मौर्यकाल तथा प्राक्मौर्यकाल के भूरे रंग के और पालिश किये गये काल में पूरी तरह लुप्त हो जाते हैं। इस काल के अधिकांश पात्र मामूली लाल हैं जिनमें मामूली, लाल या कत्थई रंग की मिट्टी है। इनमें मामूली मिट्टी का किया गया है, लेकिन खास किस्म के बर्तनों के लिए कई बार मिट्टी में अभ्रक मिलाकर उसकी सतह चिकनी-चमकीली और धातु जैसी बनायी गयी है। ये बर्तन किसी भी किस्म के हों—तश्तरियाँ, प्याले, मर्तबान, ढक्कन, हौज, मंजूषा आदि—के सभी बर्तनों की गढ़न आकर्षक है और उनका परिष्करण बहुत अच्छा है। गुलाबों के गुच्छे, वनस्पतियों के छोटे नमूने, सरलरेखीय अथवा वक्ररेखीय ज्यामि-नूने, चक्करदार, घुमावदार, सर्पित, टेढ़े-मेढ़े, घेरावदार, पंखाकार अथवा अलंकृत लटकने वाले नमूने आदि को या तो भोथरे औजारों से तराशा गया है या और मुद्रांकन से उनमें उभार पैदा किये गये हैं। कई चित्रित नमूने भी हैं, जिनमें संकरी रेखाएँ लाल जमीन पर काले रंग से खींची गयी हैं। अहिच्छत्र, राज-शाकम्भरी तथा अन्य स्थानों से जो मिट्टी के टोंटीदार बर्तन प्राप्त हुए हैं वे बड़े शानदार हैं; अधिकांशत: उन्हें वराह, हाथी, शेर, मकर आदि की शक्लों में गया है। इसमें सन्देह नहीं कि टोटियाँ, पकड़ने वाली हत्थियाँ, खाना पकाने दिरापात्रों को पकड़ने की मूठें आदि पहले से प्रचलित नमूनों के आधार पर थोड़े वर्तनों के साथ, बनायी गयी थीं। इस काल में सिर्फ एक नयी ईजाद हुई थी; खाना बनाने के बर्तनों के किनारों पर बने अविरल दाँतेदार नमूने। एक अत्यन्त और कल्पनाशील नमूने में देवी गंगा को मदिरापात्रों के हैंडिलों पर दिखाया है। साँचे में बने सज्जित मर्तबान और प्याले मृण्पात्र-शिल्प के शानदार नमूने हैं। पर दो या तीन घेरों में हाशिये या मेंड बनाकर चमकायी हुई लाल सतह पर डाली गयी हैं, अलंकृत धारियों में मोती अथवा मछली के काँटों के नमूने उभरे । इस काल में विदेशी वस्तुओं से भी लोग अपरिचित नहीं थे। हमें कम से कम वाला एक मर्तबान, रस्से की तरह बटी हुई हत्थी, पालिस की हुई काले रंग

की सतह और काले सारभाग वाला एक पात्र भी मिला है जो शायद भूमध्य श्रेणी के पात्रों में से हैं ।

अहिच्छत्र की खुदाई की गुप्तकाल की तह में से प्राप्त लम्बे-चौड़े, वेलनाकार से ज्ञात होता है कि बढ़िया किस्म के पात्रों और टाइलों के बने अलंकृत सुखाने-पकाने के लिए वे भट्ठे बनाये गये थे । विवेच्यकाल में भी यह प्रवृत्ति रही, जब सुन्दर नमूनों वाली, मीनाकारी के काम की टाइलों, ईंटों और पात्रों की बहुत माँग थी ।

IV. सिक्के और मुहरें आदि

गुप्त साम्राज्य के सोने और चाँदी के सिक्के वहुत सुन्दर और परिष्कृत प्रारम्भिक भारतीय मुद्राओं की उत्कृष्टता के प्रतीक हैं । उनकी किस्म या मूल्य हो, उनके नमूने और अक्षर सुन्दर हैं, आकार सुव्यवस्थित हैं तथा उनसे परिष्कृत और सुस्पष्टता झलकती है । लेकिन साम्राज्य की सत्ता के शिथिल होने के तथा सजातीय सिक्कों में अन्तर्भूत मूल्य और कलात्मक उत्कृष्टता की ह्रास हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप विवेच्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते यह के गर्त में पहुँच गयी जिससे उठना उसके लिए लगभग असम्भवप्राय हो गया।

कलकत्ता के सरस्वती-संग्रह में, अन्य वस्तुओं के साथ, ताँवे की मुहरें भी हैं । ये दोनों राजघाट से प्राप्त हुए हैं । एक पर नन्दी या साँड की आकृति एक अभिलेख भी है (**श्रीजयवर्मा**), दूसरे में एक वैठे हुए शेर की आकृति और लेख (श्रीभद्रस्य) उत्कीर्ण है (प्ले० xliii, ९९-१०२) । लिपिविज्ञान और आधार पर उन्हें चौथी और पाँचवीं सदी ईसवी का वताया गया है। गुप्त सिक्कों की किस्में, उभरी हुई आकृतियों के प्रतिरूपण की परिकल्पना आकृतियाँ, वसरा से प्राप्त मिट्टी की पकाई हुई मुहरों जैसी हैं । शेर के यूनानी असर शेष है, लेकिन साँड ठेठ भारतीय साँड है और समकालीन विधायक शैली के अनुरूप है ।

भिटा, बसाढ़ (प्ले० xliii, १०३-५) और कोसाम से प्राप्त मिट्टी खुद में बड़ी दिलचस्प हैं । मानव आकृतियाँ और उनका कलात्मक रूप गुप्तकाल की प्रस्तर मूर्तिकला तथा गंगा-जमुना घाटी की मृण्मूर्तियों जैसी हैं पशु आकृतियाँ और प्रतिमाविधायक शैली का अपेक्षाकृत गुप्तकाल के सिक्कों घनिष्ठ सम्वन्ध है । बसाढ़ से प्राप्त प्रचुर नमूनों में से मिट्टी की दो मुहरों विशेष ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है, जिनका संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण लम्बे और सूक्ष्म निरीक्षण को प्रमाणित करता है; इसमें थोड़े से स्थान में दो आकृतियाँ सामने से दिखायी गयी हैं ।[1]

---

[1] ए. एस. आर., १९१३-१४, प्ले. I, चित्र ६८५-७९८ ।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक गुप्तकाल के सोने और चाँदी के सिक्के, शैली, और नमूने में यूनानी और शक कुषाण सिक्कों से विकसित हुए थे । राजाओं में सीथियाई-कुषाण विशिष्टताएँ स्कन्दगुप्त के काल तक सभी राजकीय में मौजूद हैं । सिक्कों का प्रतिमाविधान और परिरेखाएँ यूनानी हैं, विशेषकर आकृतियाँ, लेकिन नारी आकृतियों में भी, कुछ कम अंश में, यह तत्त्व मौजूद यहाँ तक कि यूनानी प्रतिस्थापन, जो गढ़वा की उभरी आकृतियों में दिखाई देता भी मौजूद है । लेकिन मानव आकृतियों की भारतीय परिकल्पना बढ़ती जाती की स्पष्ट मिसाल अर्दोच्शो किस्म के कुषाण सिक्कों का, रूप और अभिवृत्ति में, लक्ष्मी रूप में क्रमिक रूपान्तरण है ।

V. अन्य कलाएँ

पुरातत्व सम्बन्धी खुदाइयों में अभी हमें सोने, चाँदी तथा अन्य मूल्यवान धातुओं प्राप्त नहीं हुए हैं, जिनका सम्बन्ध हम इस काल से जोड़ सकें; न ही हाथी- की कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु प्राप्त हो सकी है । कीमती पत्थर और मनके मिलते हैं, उनके आधार पर इस काल के आभूषणों की कला का वर्णन नहीं हो सकता । यह एक विचित्र बात है, क्योंकि चित्रित, नक्काशीदार और साँचे में ढली सामग्री समकालीन साहित्य के विस्तृत और सजीव वर्णनों के आधार पर हमें ज्ञात है जौहरी तथा स्वर्णकार की कला इससे कई सदियों पहले बहुत ऊँचे शिखर तक चुकी थी, और इस काल की प्रवृत्ति के अनुसार उसमें सादगी और परिष्कृति का ऊँचा स्तर पैदा हो गया था। इस काल के मूर्ति अलंकरणों का बहुत बड़ा अंश एवं स्वर्णकार के शिल्प से उत्पन्न और प्रेरित हुआ है; उदाहरण के लिए की झालरें, रस्सी की तरह गुँथी हुई मालाएँ, धातु के नमूने, कुंडल, केयूर, इत्यादि । गुप्तकाल के सिक्कों के ऊँचे अन्तर्निहित मूल्य और सौन्दर्यबोध इस सूचक हैं कि सोने-चाँदी के आभूषणों की कला भी बनावट और नमूने की दृष्टि ऊँचे स्तर की रही होगी।

बढ़ईगीरी के शिल्प की श्रेष्ठता की भी कल्पना की जा सकती है। दुर्ग, राज- वस्तुतः उच्चवर्ग की सारी नागरिक इमारतें, अभी तक लकड़ी से ही बनती उनकी बनावट की सादगी और सुन्दरता, डिजाइन, अलंकरण और सजावट, साथ घरेलू फर्नीचर अजन्ता की गुफाओं के चित्रों तथा इस काल के कुछ उभारे हुए फलकों में देखे जा सकते हैं ।

परिच्छेद : २०

सामाजिक स्थिति

. भूमिका

गुप्तकाल के आरम्भ में बौद्ध और जैन मत सरीखे प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के विरुद्ध ब्राह्मणों की जबरदस्त प्रतिक्रिया शुरू हो गयी थी। सामाजिक जीवन आन्दोलन की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप चार मूल वर्णों के विभाजन की प्रवृत्ति अधिक तेजी आ गयी जिसके साथ ही ब्राह्मणों का प्रभुत्व भी बढ़ गया। यह हुआ कि कम से कम भारत की सीमाओं के भीतर बौद्ध और जैन धर्म के द्वारा चलाये गये सुधार-आन्दोलन बहुत हद तक शिथिल पड़ गये, जबकि विरोधी ब्राह्मण-आन्दोलन इतना शक्तिशाली हो गया जिसकी उपेक्षा नहीं सकती थी। इस परिवर्तन के साथ ही इस बात के सफल प्रयत्न किये गये कि पहले देश के पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भागों में बहुत बड़ी तादाद में विदेशियों ने जो जटिल सामाजिक समस्याएँ खड़ी कर दी थीं, उनका कोई निकाला जाए। इन बर्बरों ने धीरे-धीरे स्थानीय लोगों के धर्म, भाषा और रिवाज अपना लिये थे, यहाँ तक कि रूढ़िवादी ब्राह्मण समाज के विधायकों ने क्षत्रियों का मूल दर्जा देकर उनके साथ समझौता कर लिया था।[1] इसी काल में और व्यापार के असाधारण विकास के फलस्वरूप दौलत और सम्पन्नता के रहन-सहन के स्तर में भी वृद्धि हुई थी और कम से कम उच्च वर्ग में शहरी की अभिरुचि बढ़ गयी थी। देश के उत्तरी भागों में गुप्त राजाओं ने और उनके समकालीन राजाओं ने शान्ति का जो लम्बा सिलसिला प्रदान किया जिसे उनके पतन के बाद राज्यों के नवीन संगठन द्वारा बनाये रखने का प्रयत्न गया था, उसने पूर्ववर्ती युग की सामाजिक प्रवृत्तियों को दृढ़तापूर्वक जड़ अवसर प्रदान किया।

II. सामाजिक विभाजन

१. चतुर्वर्ण

समाज को चार वर्णों में विभाजित करने का युगों पुराना सिद्धान्त सामाजिक व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है। इन चारों वर्णों के पारस्परिक

---

[1] जिल्द II, पृ. १०३, १२२, ५४६ (अंगरेजी संस्करण)।

ों से संबंधित नियमों का पालन गुप्तकाल में भी सामान्य रूप से होता था, न्देह करने का कोई कारण हमारे पास नहीं है। प्रमाण के तौर पर हिउएन-का हवाला दिया जा सकता है, जो एक दूसरे धर्म का अनुयायी होने के साथ-बुद्धिमान विदेशी था। उसने न सिर्फ भारतीय समाज के चार वंशगत वर्णों और उनके पेशों का हवाला दिया है, बल्कि साथ-साथ यह भी लिखा है कि एक जाति अपनी जाति में[1] ही शादी-ब्याह करते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[2] की तरह मिहिर ने बृहत्-संहिता में शहर के अलग-अलग भागों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों शूद्रों के निवास-स्थान निर्धारित किये हैं। वराहमिहिर ने उस विभाजन में यह ताया है कि चारों वर्णों के पास क्रमशः कितने मकान, चौरियाँ और छाते होने ।[3] इसके बावजूद पहले जमाने की तरह गुप्तकाल में भी निःसन्देह स्मृतियों के नियमों का उल्लंघन हुआ था। यह उन प्रामाणिक दृष्टान्तों से सिद्ध है, जिनके र ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपने से नीच जातियों के, और वैश्यों तथा शूद्रों ने जातियों के पेशे अपनाये।[4] पाँचवीं सदी ईसवी के एक अभिलेख में उत्तरी गंगा टी में रहने वाले दो क्षत्रिय व्यापारियों का हवाला दिया गया है। इसी सदी के सरे अभिलेख में गुजरात के जुलाहों का जिक्र है, जिन्होंने मालवा में बसने के सरे पेशे अपना लिये थे। सातवीं सदी में तक्क प्रदेश में डाकुओं के एक गिरोह ने के बाद, हिउएनत्सांग और उसके साथियों की एक ब्राह्मण से भेंट हुई थी जो अपने हाथों से हल चला रहा था।[5] दशकुमारचरित में, जो इसी काल का गद्य न है, ब्राह्मण डाकुओं की बस्ती का जिक्र है। ये लोग विन्ध्य प्रदेश के जंगलों गतों का पेशा अपनाये हुए थे।

के बाद गुप्तकाल में हमें विभिन्न वर्णों के अन्तरजातीय विवाहों के प्रामाणिक भी मिलते हैं। ये न केवल अनुलोम विवाहों के उदाहरण हैं, बल्कि प्रतिलोम

---

[1] या, ट्रै. वा., I, १६८।

[2] कौटिल्य II. ४, उत्तरी, पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी भाग क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों द्रों के लिए हैं।

[3] बृहत्संहिता LIII, ७०, ९१; LXXII, ४, LIII, ८४ में बताया गया है कि नगरों, और मकानों के कोने नीच जातियों और चांडालों के लिए उपयुक्त हैं, और दूसरी जातियों के नुपयुक्त।

[4] ऐतिहासिक हवाले—(क) मयूर शर्मा (पृ. ३०६) स्वेच्छा से ब्राह्मण का पेशा त्याग र योद्धा बन गया और अन्त में उसने कदम्ब वंश की नींव डाली; (ख) कॉ. इ. इ. III, ८९ मातृविष्णु, जो ब्राह्मण सन्त इन्द्रविष्णु, का प्रपौत्र था); (ग) या. ट्रै. वा. II, २५०-५१ के काल में उज्जयिनी, जिझोटी और महेश्वरपुर के राजा); (घ) ई. इ. XIV, ३०६ (महासामन्त प्रदोष शर्मा कट्टर पुरातनपंथी ब्राह्मण कुल का वंशज था); (ङ) या. ट्रै. वा. , ३४३, (थानेश्वर और पारयात्र के वैश्य राजा); (च) या. ट्रै. वा. I, ३२२; II २५२; बील पुर और सिन्ध के शूद्र राजा)।

[5] का. इ. इ., III, ७०-७१, ८१-४, बील ७३।

श्रेणी के भी ।[1] समकालीन संस्कृत नाटकों और गद्य प्रेमाख्यानों में हम देखते ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने गणिकाओं[2] की दासियों और पुत्रियों से भी शादियाँ थीं । उपर्युक्त तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि गुप्तकाल में हालाँकि आमतौर पर स्मृतियों के विधानों का पालन करते थे, लेकिन उनमें उतनी कट्टरता नहीं थी, बाद के काल में आ गयी । दूसरी तरफ चीनी बौद्ध यात्रियों के प्रामाणिक विवरणों अनुसार ब्राह्मणों की सामाजिक प्रतिष्ठा उसी तरह कायम थी, जैसी उन्हें स्मृतियों प्रदान की गई थी ।[3] प्राचीन स्मृतियों के विधान में ब्राह्मण अपराधी के लिए से ज्यादा सजा निर्वासन थी; उसे न मृत्युदण्ड दिया जा सकता था, न ही जमीन-जायदाद पर कब्जा किया जा सकता था । कात्यायन स्मृति में भी इसी को दुहराया गया है । इस काल के नाटकों और गद्य प्रेमाख्यानों के स्पष्ट पता चलता है कि ये नियम उस काल में भी लागू थे ।[4]

२. निम्न जातियाँ

पहले जमाने की तरह इस जमाने में भी वहुत सी वर्णसंकर जातियाँ थीं। चाण्डालों और इसी तरह की अन्य जातियों के वारे में जानते हैं, जिनका

---

१. देखिए उपर्युक्त परि. ११ (चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती-गुप्ता का विवाह वाकाटक राजवंश के रुद्रसेन से हुआ था); ई. इ., VIII, २४(ब्राह्मण कदम्ब राजवंश के की पुत्रियों का विवाह गुप्तवंश के तथा अन्य राजाओं से हुआ था); आ. स. वे. इ. IV, (वाकाटक राजा देवसेन के मन्त्री के पूर्वज ब्राह्मण सोम ने ब्राह्मण और क्षत्रिय कन्याओं किया था); ई. इ., XV. ३०१ (लोकनाथ के मातृपक्ष का पूर्वज ब्राह्मण था, लेकिन उसका एक पुत्र पैदा हुआ था); या. ट्रै. वा. II, २४६ (थानेश्वर के हर्ष की वेटी लेकिन वह वलभी के क्षत्रिय राजा की पत्नी थी) हर्ष. I. (वाण के पिता ने एक शूद्र स्त्री की थी, जिससे दो पुत्र पैदा हुए थे) ।

२. देखिए **मृच्छकटिक** में ब्राह्मण चारुदत्त का विवाह वसन्तसेना से, और ब्राह्मण विवाह वसन्तसेना की दासी मदनिका से हुआ था । **दशकुमारचरित** में चम्पा की एक छोटी पुत्री से एक राजकुमार के विवाह की कहानी मिलती है । प्राचीन कामसूत्र के अनुसार ऐसे विवाहों की अनुमति है । (पा. टि. १, पृ. ५६५) ।

३. हिउएनत्सांग (या, ट्रै. वा. I, १४०) का कहना है कि देश के विभिन्न कबीलों में ब्राह्मण सवसे अधिक पवित्र और प्रतिष्ठित समझे जाते थे । ई-त्सिंग (रिकार्ड, पृ. १८२) भारत के चारों कोनों में ब्राह्मणों को सवसे अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता था ।

४. कात्यायन, श्लो. ४८३ (ब्राह्मणों की निरापदता); मृच्छकटिक, अंक ४ (हालाँकि ने चारुदत्त को हत्या का अपराधी घोषित किया था लेकिन जन्म से ब्राह्मण होने के कारण न देने की सिफारिश स्वयं न्यायाधीश ने की थी); दशकुमारचरित, पृ. १३१ (नि. सा. प्रे. पृ. १८१) (राजद्रोह के अपराध में मृत्युदंड देने के स्थान पर न्यायाधीश ने आज्ञा दी कि की आँखें निकाल ली जाएँ ।

५. या. ट्रै. वा. I, १६८, ५०० ई. पू. से १,००० ई. तक स्मृतियों के आधार पर जातियों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए का. हि. ध. शा., II, १६९ प. पृ. ।

ों की श्रेणी में सबसे नीचा स्थान था। स्मृतियों के विधान के अनुसार चाण्डाल निकृष्ट कोटि का काम करने के लिये बाध्य थे, उदाहरण के लिए लावारिस लाशें और अपराधियों को फाँसी देना। रात के समय उन्हें नगरों और गाँवों में चलने- की आज्ञा नहीं थी, यहाँ तक कि दिन के समय भी उन्हें राजा द्वारा निर्धारित लेकर चलना पड़ता था, ताकि आसानी से उनकी पहचान हो सके। दरअसल गाँव से बाहर रहने का हुक्म था। उनके सम्पर्क से दूसरी जातियों के लोग भ्रष्ट जाएँ, इसके लिए कठोर नियम बनाये गये थे।[1] समकालीन चीनी यात्रियों के ों से पता चलता है कि गुप्तकाल में इन नियमों का पालन होता था। फा-हिएन हता है[2] कि पाँचवीं सदी के आरम्भ में मध्यदेश के चाण्डालों को शहरों और ों की सीमाओं से बाहर रहना पड़ता था। जब वे इन स्थानों के नजदीक आते उन्हें लकड़ी के एक टुकड़े से आवाज करके चेतावनी देनी पड़ती थी, ताकि लोग उनके स्पर्श से बच सकें। उनके लिए शिकारी और मछुआरे के पेशे सुर- थे। हिउएन-त्सांग के[3] अनुसार, कसाई, जल्लाद और भंगी वगैरह के (जो चांडालों इसी तरह की दूसरी जातियों जैसे थे) मकान शहर से बाहर होते थे और उन पर प्रकार के चिह्न अंकित किये जाते थे। गुप्तकाल के साहित्य के हवाले इन विवरणों की पुष्टि करते हैं। उनसे पता चलता है कि चांडालों से, जो पक्के मांस- थे, हमेशा जल्लादों का काम लिया जाता था और उन्हें अस्पृश्य माना जाता था।[4]

३. आदिवासी जनजातियाँ

ारतीय-आर्यों के समाज की परिधि में चांडाल तथा ऐसी अन्य जातियों से दूर हट ादिवासी कबीले थे (पुलिन्द, शबर, किरात, इत्यादि) जो विन्ध्याचल के जंगलों

---

[1] देखिए VI, XVI, ११, १४; मनुस्मृति X, ५१-५६; बृ. पृ. ९६, श्लो. १८. (चाण्डालों ताएं) मनु. श्लो. ८५, बृ., पृ. ३५९, श्लो. ८; **पराशर** III, २४, च्यवन और देवल , विज्ञा. द्वारा, यजुर्वेद III, ३० (चांडाल का स्पर्श होने पर ब्राह्मण नहाकर अपने को शुद्ध ।

[2] गाइल्स, २१।

[3] वा. ट्रै. वा. I १४७, ई-त्सिंग ने चांडालों का नाम लेकर हवाला नहीं दिया, लेकिन उसका है (रेकार्ड, पृ. १३९) कि गन्दगी साफ करने वालों को डंडे बजाकर अपने आने की सूचना देनी थी और अगर कोई गलती से उन्हें छू लेता था तो वह नहाता था और अपने कपड़े धोता था।

[4] देखिए **मृच्छकटिक** तथा **मुद्राराक्षस** VII. (दो चांडालों को आज्ञा मिलती है कि वे ियों को फांसी के सार्वजनिक स्थल पर ले जाएँ।); मुद्रा, पू. ले. (चांडाल के स्पर्श से दूषित दूसरों को नहीं छू सकता था।); **लंकावतार** पृ. २४६ (डोम, चांडाल और कैवर्त्त मांसभक्षियों हैं); **कादम्बरी** पृ. २१ (चांडाल कन्या राजदरबार में ध्यान आकर्षित करने के लिए बार बांस की छड़ी से आवाज करती है)।

ग्रौर पहाड़ों में रहते थे। **दशकुमारचरित, हर्षचरित, कादम्बरी** तथा परवर्ती काल की अन्य कृतियों में इन जनजातियों की वेशभूषा, उनकी धार्मिक प्रथाओं सामाजिक रीति-रिवाजों की सजीव झाँकी मिलती है। हमें पता चलता है कि सदी में विन्ध्यप्रदेश के जंगलों में रहने वाले शबर नरबलि जैसी घृणित और प्रथाग्रों के आदी थे। वे शिकार से गुजारा करते थे, मांस ग्रौर शराब का सेवन थे ग्रौर विवाह के लिए स्त्रियों का अपहरण करते थे।[1]

४. दास

गुप्तकाल के स्मृति-विधान ने पहले से चले आये नियमों का कुछ दिशा विकास किया।[2] कात्यायन ने याज्ञवल्क्य ग्रौर नारद के विधान को दोहराते हुए को दास बनाने का निषेध किया, ग्रौर स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि ब्राह्मण कभी दास नहीं बनाया जा सकता ग्रौर ब्राह्मण स्त्रियों के क्रय-विक्रय को बंद क जाए। ब्राह्मण अपराधी को अधिक से अधिक निर्वासन का दंड मिल सकता कात्यायन[3] ने एक नयी धारा जोड़कर नियम बनाया कि दास से विवाह करने मुक्त स्त्री दासी बन जाएगी, लेकिन अगर कोई दासी ग्रपने मालिक की सन्तान करती है तो उसे फौरन दासत्व से मुक्ति मिल जायेगी।

गुप्तकाल के नाटक **मृच्छकटिक** में दिये गये उल्लेख उपर्युक्त तथ्यों की करने के साथ-साथ उनके पूरक भी हैं। नारद ने स्वेच्छा से अपने को बेचने वाले का जिक्र किया है। स्थावरक ग्रौर मदनिका नाम के दासों का जो हश्र हुआ, पता चलता है कि दासों से अच्छा व्यवहार करना या न करना मालिकों के स्व निर्भर करता था। मदनिका की मालकिन ऊँचे विचारों वाली स्त्री है; वह को अपनी सखी ग्रौर विश्वास-पात्र समझती है, लेकिन स्थावरक का निर्दयी उसे हथकड़ियाँ पहनाता है ग्रौर पीटता है। मदनिका की मालकिन अपनी दा मुक्त कर देती है, ताकि वह अपने प्रेमी के पास जा सके, लेकिन स्थावरक को मुक्ति के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक उसका मालिक से च्युत नहीं हो जाता ग्रौर नया राजा हुक्म जारी नहीं करता।

III. विवाह

प्राचीन स्मृतियों[4] में दिये गये विवाह संबंधी नियमों में, गुप्तकाल के दौरा मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ लेकिन लड़कियों के विवाह की उम्र की सीमा

---

[1] कादम्बरी, ५९, प. पृ.।

[2] जिल्द II, पृ. ५७० प. पृ. (अँगरेजी संस्करण)।

[3] श्लो.: ७१५ प. पृ.।

[4] जिल्द II, पृ. ५५८ प. पृ. (अंगरेजी संस्करण)।

प्रवृत्ति दिखाई देती है। कुछ धर्म-ग्रन्थों ने अभिभावकों के लिए अनिवार्य कर कि वे रजस्वला होने से पहले ही लड़की का विवाह कर दें। विष्णु पुराण के वर की आयु वधू से तिगुनी होनी चाहिए, लेकिन अंगिरस के अनुसार, वर-आयु में कम अन्तर होना चाहिए।[1] लड़कियों के विवाह की उपयुक्त आयु के वात्स्यायन का मत, जो तत्कालीन रिवाजों को व्यक्त करता है, स्मृतियों से है। एक स्थान पर उसने बिना नाम दिए आपस्तम्ब के गृह्य-सूत्र[2] का दिया है, जिसमें रजस्वला हो जाने के बाद लड़की से विवाह करने की मनाही है। किन्तु उसने प्रणय-निवेदन या विवाह के तुरन्त बाद काम-संबंधों के आरंभ विस्तृत नियमों द्वारा इस प्रमाण में किंचित् परिवर्तन कर दिया है। इन नियमों को ऐसा लगता है कि लड़कियों के विवाह रजस्वला होने से पहले और बाद, दोनों में होते थे। अन्यत्र लेखक ने अपनी सम्मति देते हुए लिखा है कि वह किसी द्वारा अपने से तीन बरस या ज्यादा छोटी लड़की से विवाह करने के पक्ष में है।[3] एन-त्सांग के बयान[4] से मालूम होता है कि पूर्ववर्ती काल की तरह इस काल में श्रेणियों के रिश्तों में विवाह-संबध वर्जित था, और स्वजातीय विवाह को ही किया जाता था। वात्स्यायन ने **कामसूत्र** में कहा है कि व्यक्ति अपने वर्ण की विधिपूर्वक और प्रेमपूर्वक विवाह करके ही सन्तान, ख्याति और प्रशंसा पा है। अपने से ऊँचे वर्णों अथवा विवाहित स्त्रियों के साथ प्रेम-सम्बन्ध रखने की है। निम्न-वर्णों की स्त्रियों, वेश्याओं और पुनर्विवाहित विधवाओं (पुनर्भू) के जिनमें इतनी पवित्रता है कि खाने के बाद जिनके बर्तन फेंके नहीं जाते, प्रेम-रखने का न समर्थन किया गया है न निषेध, क्योंकि ऐसे सम्बन्धों का उद्देश्य विलास है।[5] इससे यह सिद्ध होता है कि वात्स्यायन के समय, विभिन्न वर्णों के

---

[1] विष्णु पुराण, III, १०, १६, **स्मृतिमुक्ताफल**, भाग I. १२५ में अंगिरस का उद्धरण से २, ३, ५ बरस या ज्यादा छोटी होनी चाहिए।); विवाह की उम्र के संबंध में स्मृति के विस्तृत विवरण के लिए देखिए का. हि. ध. शा., II, १, ४३८-४५।

[2] १, ३ ११।

[3] कामसूत्र, III १, २ (लड़की की अवस्था तीन बरस छोटी हो।), वही, १२ (रजस्वला कन्या). टीकाकार द्वारा उद्धृत अंश के दूसरे अनुच्छेद में स्पष्ट कहा गया है कि अपने से बरस छोटी लड़की से शादी करनी चाहिए, आयु इससे न कम न ज्यादा हो।)

[4] वा. ट्रै. वा. १६८।

[5] कामसूत्र, I, ५, १-३, इसी संदर्भ में वात्स्यायन ने कामशास्त्र के तीन प्राचीन विद्वानों का हवाला दिया है (वही ५-२६) जिन्होंने विशेष परिस्थितियों में विवाहित स्त्री, गणिका की स्वतन्त्र पुत्री अथवा दासी और उच्च वंश की बड़ी आयु की कन्या के साथ की आज्ञा दी है। अन्त में वात्स्यायन ने इन लेखकों के साथ अपनी सहमति प्रकट की है। के विवाहों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण इस बयान से जाहिर होता है कि ऊँचे वर्ण की स्त्री संबंध रखने में, जो स्वेच्छाचारिणी (स्वैरिणी) के रूप में प्रसिद्ध हो, धर्म का उल्लंघन नहीं कि वेश्या से संबंध रखने में धर्म का उल्लंघन नहीं होता।

विवाह-सम्बन्धों पर लगाये गये प्रतिबन्ध स्मृतियों के नियमों से भी अधिक
क्योंकि वात्स्यायन के अनुसार प्रतिलोम कोटि के विवाहों पर न केवल पूरी
है, बल्कि अनुलोम विवाह को भी वेश्यागमन के निम्न-स्तर पर रखा गया है।

स्मृतियों की तरह वात्स्यायन के विचार में भी विवाह वर और वधू के
(अथवा अन्य अभिभावकों) द्वारा ही निश्चित किया जाना चाहिए।
वात्स्यायन ने वधू के चुनाव के तरीकों का विस्तृत विवरण दिया है, जो उसके
में प्रचलित थे। वर के माँ-बाप, रिश्तेदार और उसके दोस्तों को, जिन्हें
का पता है, इस मामले में कदम उठाने चाहिएँ। जिन लड़कियों में दोष हों या
नामों में दोष हो, उनसे विवाह नहीं करना चाहिए। लेकिन एक पुरानी
प्रमाण[1] के अनुसार, जिसका हवाला वात्स्यायन के बिना नाम लिये दिया है,
के चुनाव से विवाह में सुख मिलता है, जिस पर वर की दृष्टि लगी है और
उसका हृदय चाहता है, अन्य किसी से नहीं। इसलिए लड़कियों के
सलाह दी गयी है कि कन्यादान के समय वे उन्हें रंगीन भड़कीली पोशाक
उत्सवों आदि के अवसर पर उन्हें लोगों के सामने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करें।
के चुनाव की रस्म विवाह की चार श्रेणियों के अनुसार होती है: अर्थात् ब्राह्म,
पत्य, आर्ष और दैव विवाह।[2]

वात्स्यायन के प्रमाण से यह भी स्पष्ट होता है कि इच्छा होने पर,
स्थितियों में, कोई युवक, प्रणय-याचना से, यहाँ तक कि धोखे और हिंसा
अपनी पसन्द की लड़की का दिल जीत सकता था। इस प्रणय-निवेदन के
हो सकते हैं। यह इस बात पर निर्भर है कि प्रेयसी बालिका है, अथवा
बड़ी उम्र की औरत। प्रणय-निवेदन की सफलता के बाद लड़की का
करने के प्रयत्न होने चाहिएँ।[3]

वात्स्यायन के विवरण का महत्त्व इसलिए भी है, क्योंकि उससे
नियम का दृष्टान्त मिलता है कि कुछ परिस्थितियों में लड़की अपना पति
सकती है।[4] ऐसी युवती को चाहिए कि वह किसी ऐसे सुन्दर, सच्चरित्र और
से प्रणय-निवेदन करे जिसे वह बचपन से ही चाहती हो, या किसी ऐसे युवक
उससे इतना प्रेम करता है कि अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध भी उससे
के लिए तैयार है। प्रणय-निवेदन के तरीकों में भी मानव-प्रकृति के ज्ञान को
प्रकट किया गया है, जिनका हवाला यहाँ देने की जरूरत नहीं। दरअसल
आदमी से विवाह करना चाहिए, जिसमें उसे सुख का आश्रय मिल सके और जो

---

१. आपस्तम्ब, गृह्य-सूत्र I, ३०,२०, प. पृ.।

२. कामसूत्र, III, १,४-२१, देखिए जिल्द II, पृ. ५५९ (अंगरेजी संस्करण)।

३. का. सू. III, ३, १-४४।

४. जिल्द II, पृ. ५६१ (अँगरेजी संस्करण)।

प्रति समर्पित हो। ऐसे सच्चरित्र पति की बजाय, जिसके प्रेम में बहुत से ीदार हों, ऐसा पति कहीं बेहतर है जो चाहे गरीब हो और खुद अपनी गुजारा करता हो लेकिन जो उसके प्रति समर्पित हो। निम्न जाति के, अथवा वाले, जुआ खेलने के आदी व्यक्ति से या ऐसे व्यक्ति से जिसकी पहले से र बच्चे हों, विवाह नहीं करना चाहिए। समान रूप से इष्ट विवाहेच्छु सर्वोत्तम वही है, जिसके साथ प्रेम का आदान-प्रदान हो।[1]

-निवेदन के उपर्युक्त वर्णन ने सहज ही वात्स्यायन को भी विवाह की उन -विज्ञात विधियों के (जो निश्चय ही जीवन के अनुभवों से भी ली गयी हैं) लिए प्रेरित किया, जिनके नाम गांधर्व, पैशाच और राक्षस हैं।[2] गांधर्व और भी अधिक विवरण दिया गया है। जब प्रेमाकांक्षी युवक अपनी से एकान्त में न मिल सके तो उसे अपनी धाय की लड़की से दूती का काम हिए और प्रेयसी पर जोर डालना चाहिए। जब प्रियतमा मिलन के लिए राजी तो उसे किसी निश्चित समय और स्थान पर अपने प्रेमी से मिलना चाहिए। म्पन्न करने के लिए लड़की को पवित्र अग्नि की तीन बार परिक्रमा करनी। अग्नि किसी श्रोत्रिय के घर से लाकर, स्मृतियों में दी गयी विधि के अनुसार आहुतियाँ डालनी चाहिएँ। इसके बाद माता-पिता को सूचना देनी चाहिए, शास्त्रकारों के अनुसार अग्नि की साक्षी में किया गया विवाह कभी अवैध नहीं ता। विवाह के समापन के बाद सब रिश्तेदारों को सूचित किया जाए, ताकि वे दण्ड और सामाजिक बदनामी के भय से विधिपूर्वक लड़की को विदा कर सकें। विवाह की तरह पैशाच और राक्षस विवाहों में धार्मिक रस्मों की कोई ता नहीं, केवल समापन के बाद रिश्तेदारों को सूचित करना, और उन्हें की विदाई के लिए प्रेरित करना ही काफी है। विवाह की अनेक श्रेणियों और गुणों के बारे में वात्स्यायन का मत ही बहुत सी स्मृतियों से भिन्न है। ही उसने कहा है कि पैशाच विवाह राक्षस-विवाह से उत्कृष्ट है बशर्ते कि र के शब्दों में) उसमें हिंसा न हो, हालांकि दोनों किस्म के विवाह अनुचित वह गान्धर्व विवाह को सबसे अधिक प्रतिष्ठित और उत्कृष्ट बताता है, क्योंकि सुखकर है, उसमें मुसीबतें नहीं उठानी पड़तीं और मोल तोल नहीं करना था वह पारस्परिक सहमति के परिणामस्वरूप होता है।[3]

काल के साहित्य में प्रमुख पात्रों के बीच गांधर्व विवाह के बारम्बार उल्लेख है। लेकिन आमतौर पर ये प्राचीन राजाओं, शूरवीर नायकों अथवा काल्पनिक

---

[1] कामसूत्र, III. ४. ३६-५९।

[2] जिल्द II. पृ. ५५९ (अँगरेजी संस्करण)।

[3] कामसूत्र, III. ५, १-३०, मनु., के विपरीत III. ३४ (**पैशाच** विवाह सबसे अधिक और पापपूर्ण है), देखिए, बौधायन, I, ११-१६ (गंधर्व विवाह सबसे श्रेष्ठ है)।

राजकुमारों और सामन्तों से संबंधित हैं। इस बारे में बुद्धिमती मठवासिनी काम ने **मालतीमाधव** की प्रेम-विह्वला नायिका से कहा कि आमतौर से पिता या भाग्य को कन्याओं का जीवन निर्देशित करने का अधिकार है। शकुन्तला का दुष्यन्त से, उ का पुरूरवा से और वासवदत्ता का उदयन से विवाह इस नियम के अपवाद हैं अविवेकपूर्ण हैं, इसलिए उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए। थानेश्वर की राजकु राज्यश्री के पिता राजा प्रभाकरवर्धन ने उसका विवाह तय किया था। राज्यश्री ने नम्रभाव से इस चुनाव को यह कहकर शिरोधार्य किया कि "पिता को इस बा फैसला करने का पूरा अधिकार है कि वह अपनी बेटी किसे सौंपे।" गुप्तका साहित्यिक कृतियों में भी इस तरह के उदाहरण हैं कि बच्चों के जन्म से पहले उनके माता-पिता ने यह सोचकर कि एक दम्पति के घर पुत्र पैदा होगा और के घर पुत्री होगी उनके विवाह निश्चित कर दिये थे। ये दृष्टान्त इस बात को करते हैं कि अभिजातवर्ग की युवतियाँ प्रेम से व्याकुल होने पर भी स्वेच्छा से पति चुनना नापसन्द करती थीं।[1]

IV. स्त्रियों की स्थिति

१. स्त्री-शिक्षा

गुप्तकाल से बहुत पहले ब्राह्मण प्रधान धर्मशास्त्रों में स्त्रियों को वेदों के से वंचित किया गया था और संस्कारों के अवसर पर उन्हें वैदिक मंत्रों के उच्चा की मनाही थी।[2] इसके बावजूद यह विश्वास करने का पर्याप्त आधार है कि परिवारों की लड़कियों को साधारण शिक्षा में निपुणता प्राप्त करने के पर्याप्त मिलते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में उन राजकुमारियों और सामन्त कन्याओं उल्लेख मिलता है, जिनकी बुद्धि शास्त्रज्ञान के कारण कुशाग्र हो गयी थी। वात्स्या ने विशेष तौर पर हमें ज्ञान की चौंसठ उपशाखाओं (अंगविद्या) की लम्बी सूची है, जिन्हें स्त्रियाँ सीखती थीं। इनमें शब्दों की पहेलियाँ बूझना, पुस्तकों के का पाठ करना, अधूरे पद्यों को पूरा करना, छन्दों और निघंटु का ज्ञान सम्मिलित था। वात्स्यायन ने अच्छी पत्नी का चित्र प्रस्तुत करते हुए दिखाया है

---

[1] शाकुन्तलम्. III (राजाओं द्वारा ऋषियों की अनेक पुत्रियों के साथ उनके पिताओं सम्मति से गान्धर्व विवाह करने के उल्लेख हैं।); **मालतीमाधव,** अंक II (कामन्दकी की हर्ष-चरित. IV (राज्यश्री का विवाह); **दशकुमारचरित,** पृ. १०६, १३६ (नि. सा. प्रे., पृ. १४८, १८८) (बच्चे के जन्म से पहले उनके विवाह निश्चित होना); **कादम्बरी** २४ तथा **मालतीमाधव,** अंक II तथा IV (अभिजात कुल की कन्याओं में अपने पतियों के प्रति अरुचि)।

[2] जिल्द II, पृ. ५६४ (अंगरेजी संस्करण)।

शिक्षिता जरूर होनी चाहिए कि घर का वार्षिक बजट बना सके और उसके र के खर्च की व्यवस्था कर सके ।[1] गुप्तकाल के साहित्य के प्रमाणों से पता कि उच्च परिवारों की, और आश्रमों में रहने वाली, कन्याएँ प्राचीन इतिहास क कथाएँ पढ़ती थीं, और इतनी शिक्षित थीं कि वे कविता समझ सकती यरचना कर सकती थीं । इसके अतिरिक्त उच्च परिवारों की, विशेषकर रों की, कन्याओं को, संगीत, नृत्य आदि बालाओं की शिक्षा दी जाती थी ।[2] णों से ऐसा आभास मिलता है कि इस प्रकार की नियमित संस्थाएँ जिनमें लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी । अक्सर पुरुष विद्यार्थी भी उनके प्राप्त करते थे ।[3] अन्त में इस तथ्य का जिक्र भी किया जा सकता है ' में जो गुप्तकाल की कृति है, ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका गुरु (उपाध्याया और उपाध्यायी) और वैदिक मंत्रों की शिक्षिका ।

२. आदर्श पत्नी

न द्वारा चित्रित आदर्श पत्नी, स्मृतियों में वर्णित पत्नी का ब्योरेवार इसे हम यथार्थ जीवन का प्रामाणिक प्रतिविम्ब मान सकते हैं । इसमें

सूत्र, I. ३, १२ (राजकुमारियों इत्यादि द्वारा शास्त्रों का ज्ञान आदि) वही १६ का ज्ञान); वही IV. १. ३२. (पत्नी द्वारा पारिवारिक वजट वनाना)।

सिक उल्लेख : **हर्षचरित** IV, (राजकुमारी राज्यश्री नृत्य, संगीत तथा अन्य न प्राप्त करती हुई वड़ी हुई ।) ; अन्य उल्लेख—शाकुन्तल I. (अनसूया का **इतिहास** के प्रेम-सन्देश को छन्दवद्ध करके कमलपत्र पर लिखना), वही IV. (अनसूया का आलेखन का ज्ञान); मेघदूत, I, २३ (निर्वासित यक्ष की पत्नी का बाँसुरी वजाना); निमित्र, II, (मालविका को राजदरवार से वेतन पाने वाले नाट्य-शिक्षक से शिक्षा र वह संगीत और नृत्य की प्रतियोगिता में अपनी दक्षता का प्रदर्शन करती है, जिसमें यक वनती है); वही I-II (देवी शर्मिष्ठा द्वारा संयोजित **छलिक** नृत्य); II (सागरिका अपने राजकुमार प्रेमी का चित्र वनाती है); **प्रियदर्शिका,** III (एक में आरण्यका गीत के साथ बाँसुरी वजाती है; **मालतीमाधव,** II (मालती अपने बनाती है और प्रेमी द्वारा उत्तर में लिखे गये कठिन संस्कृत पद को समझ लेती है ।); में कहा गया है कि अभिजातकुल की कन्या को संगीत, नृत्य और वाद्ययंत्रों की शिक्षा ।

दम्बरी, २७० (राजकुमारी कादम्बरी और देवी महाश्वेता ने यौवनकाल में एक साथ था अन्य कलाएँ सीखीं थीं ।); मालतीमाधव, I (कामन्दकी नायक के माता-पिता तथा वाली लड़कियों के साथ किसी गुरु के चरणों मे बैठी थी); **उत्तररामचरित,** II ये वाल्मीकि के आश्रम में तापस बालकों, लव और कुश के साथ शिक्षा प्राप्त करने के तथा अन्य गुरुओं से वेदान्त की शिक्षा प्राप्त करने के लिए दण्डक वन में चली गयी न, सम्भव है, तत्कालीन जीवन से लिये गये हों ।

II. ६, १४।

सेवाभाव, आत्मसंयम तथा गृह-कार्यों में कुशलता के गुणों का उल्लेख है, जो आज हिन्दू पत्नियों की पहचान है। जहाँ पति की दूसरी पत्नियाँ नहीं हैं, वहाँ, लेखक कहना है, पत्नी पति को देवता समझकर उसकी आराधना करे। वह स्वयं हाथ से उसे भोजन कराए, घर लौटने पर उसका स्वागत करे, इत्यादि। वह पति उपवासों में और प्रतिज्ञाओं में हिस्सा लेती है, पति का कहना कभी नहीं टालती पति की आज्ञा से समारोहों, सामाजिक उत्सवों, यज्ञों और धार्मिक जुलूसों में लेती है; पति अगर अनुमति दे तो खेलकूद में भाग लेती है। पति उसे दोष इसलिए वह बदनाम औरतों से बचकर रहती है। पति के सामने अपनी ना नहीं दिखाती, घर से बाहर नहीं घूमती, न ही ज्यादा देर एकान्त स्थान पर रहती सम्पन्नता से उसे अहंकार नहीं चढ़ता, बिना पति को वताये, वह किसी को दान देती। पति के मित्रों का समुचित आदर करती है, उन्हें फूल मालाएँ, उबटन प्रसाधन-सामग्री भेंट करती है। अपने सास-ससुर की सेवा करती है और आज्ञा का पालन करती है। उनके सामने जवाव नहीं देती, कम मीठे शब्द वोलती है। जोर से नहीं हँसती। नौकरों से सही ढंग से काम है और खुशी के मौकों पर भेंट देकर उनका सत्कार करती है। सबसे बड़ी यह कि पति के विदेश जाने के बाद वह सादगी और संयम का जीवन करती है, सुहाग चिह्नों को छोड़कर बाकी सारे आभूषण उतार देती है। ध अनुष्ठानों और उपवासों में लगी रहती है। अपने से वड़ों की आज्ञा में रहती खुशी-गमी के अलावा अपने मायके के रिश्तेदारों से मिलने नहीं जाती। जाती भी है तो ससुराल के लोगों के साथ, थोड़े दिनों के लिए, जाती है। प लौटने पर वह सादी पोशाक में उसका स्वागत करती है, फिर देवताओं का पूजन है और दान देती है।

पति, सास-ससुर और अन्य रिश्तेदारों तथा पति के मित्रों की देखभाल के वह पूरी तरह से घर की जिम्मेदारी सँभालती है। वह घर को विल्कुल साफ रख उसे फूलों के तोरणों से सजाती है और फर्श को रगड़कर चमकीला वना देती है में स्थापित देवताओं की मूर्तियों की पूजा की देखभाल करती है और दिन में वार बलि नैवेद्य चढ़ाती है। घर के बाग में वह अनेक किस्म की सब्जियों, पौधों, और जड़ी-बूटियों के लिए क्यारियाँ बनाती है। वह कई किस्म की सब्जियों, फलों दवाइयों के बीज भी इकट्ठा करती है और सही मौसम आने पर वोती है। भंडार में वह वहुत सी सामग्री जमा रखती है। उसे बुनाई और कताई आती है खेतीबाड़ी, पशुपालन और बोझा ढोने वाले पशुओं की, पति के पालतू पशुओं की, देखभाल करना जानती है। वह घर का वार्षिक वजट वनाती है और उ अनुसार खर्च करती है। वह रोजाना खर्च का हिसाब रखती है और शाम को जोड़ करती है। पति की अनुपस्थिति में वह परिश्रम करती है, ताकि पति के काम को नुकसान न पहुँचे, आमदनी बढ़े और यथाशक्ति खर्च कम हो। यदि घर में सौ

को अपनी छोटी बहन समझती है; अगर वह उम्र में छोटी हो और सौत बड़ी उसे अपनी माँ के समान समझती है।[1]

पत्नी के जीवन के उपर्युक्त नियम स्मृतियों और कामशास्त्र से लिये गये होता है कि गुप्तकाल में आमतौर पर इन नियमों का पालन होता था। स्मृतियों का अनुसरण करते हुए कात्यायन ने घोषित किया कि पत्नी कभी से अलग न रहे, सदा पति की सेवा करे, गृहाग्नि की पूजा करे। पति के में उसकी सेवा करे और पति की मृत्यु के बाद भी अपने पतिव्रत धर्म को । कात्यायन और वेदव्यास का कहना है कि सब धार्मिक कृत्यों में पत्नी पति है, लेकिन पति की रजामन्दी के बगैर पत्नी द्वारा किये गये धार्मिक अनुष्ठान प्राचीन स्मृतियों के नियमों के अनुसार **मत्स्यपुराण** का आदेश है कि पति जानकर पूजा जाए। वेदव्यास का आदेश है कि पति के परदेस जाने के बाद काया को क्षीण करे और शृंगार से बचे।[2] **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** में ऋषि शिष्य द्वारा की गयी राजा की भर्त्सना में भी स्मृतियों के नियमों की प्रतिध्वनि अनुसार स्त्री के अधिक दिनों तक मायके में रहने की भर्त्सना की गयी है पर पति के पूर्ण अधिकार को स्वीकार किया गया है। शकुन्तला के जाने के समय कण्व ने संक्षेप में पत्नी के जिन कर्तव्यों का उपदेश दिया था, तथा **कामसूत्र** के उपर्युक्त नियमों पर आधारित हैं।[3]

ने मनु तथा अन्य उपर्युक्त ग्रंथों के प्रमाणों के आधार पर कहा है कि पत्नी पोषण पति द्वारा होना चाहिए; वृहत्संहिता[4] ने भी आपस्तंब के उस नियम है कि पतिव्रता स्त्री को त्यागने वाले पति को किस तरह पश्चात्ताप करना । **मृच्छकटिक** के नायक की पत्नी धूता स्मृतियों में वर्णित आदर्श पत्नी का । महाभारत तथा अन्य ग्रंथों के अनुसार पतिव्रता स्त्री के चरित्र में असाधारण है। **दशकुमारचरित** की एक कहानी इसका दृष्टान्त है। इसी कृति में की स्त्रियों के दृष्टिकोण का भी एक उदाहरण है, जहाँ एक परित्यक्ता स्त्री कि उच्चकुल की स्त्रियों के लिए अपने पतियों की घृणा का पात्र बनना जीवित समान है; क्योंकि इन स्त्रियों के लिए पति ही एकमात्र देवता है। एक दूसरी

कामसूत्र, IV, १, १-५५; IV, २, १-३८।

कात्यायन, श्लो. ८३५-३७; वेद-व्यास II, १२, १६; **मत्स्यपुराण**, २१०-१८; वेदव्यास ।

शाकुन्तलम् IV, V इससे पहले अंक में कण्व ने अपनी पोष्य पुत्री को उपदेश दिया था की सेवा करे, सौतों के साथ मित्रता का व्यवहार करे। पति का दोष हो तब भी क्रोध न के प्रति कृपालु हो, अहंकारी न हो, इस तरह स्त्रियाँ गृहस्वामिनी के पद की अधिकारिणी है।

II, ३६।

LXXIV, १३।

कहानी से पता चलता है कि पत्नी के पातिव्रत्य और मितव्ययिता को कितना अ महत्त्व दिया जाता था।[1]

३. कुलटा पत्नी

पूर्ववर्त्ती काल की तरह दाम्पत्य प्रेम और वफादारी के आदर्श-चित्रों के साथ-असंख्य दुःखी और कुलटा पत्नियों के भी उल्लेख मिलते हैं। वात्स्यायन का प्र स्मृतियों की तरह बहुपत्नी प्रथा के प्रचलन की पुष्टि करता है। बहुपत्नीप्रथा के राजाओं तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि अन्य लोगों में भी फैली हुई थी। दरअ ऐसा लगता है, कि आमतौर पर धनी पुरुषों की बहुत-सी पत्नियाँ होती थीं, जो से सम्पन्नता के उपभोग से सुखी मालूम होती थीं, लेकिन मन ही मन दुखी रहती दुर्भाग्य से अगर कोई स्त्री मूर्ख, व्यभिचारिणी या बाँझ होती थी, अथवा पुत्रियाँ ही पैदा करती थी, या जिसका पति स्वभाव से बेवफा होता था, तो उसे सौत मुसीबत झेलनी पड़ती थी।[2] कामशास्त्र में विवाहिता स्त्रियों के साथ अवैध संबंधों एक अलग परिच्छेद है और **कामसूत्र** तथा **बृहत्संहिता**[3] दोनों में ऐसे बहुत से अव का वर्णन है जब कुलटा पत्नियाँ अपने प्रेमियों से मुलाकात कर सकती हैं। ले तत्कालीन कथा-साहित्य और नीति-कथाओं में विवाहित स्त्रियों को चरित्रभ्रष्ट के दृष्टान्तों की संख्या बहुत कम है।[4]

स्मृतियों के विधान के अनुसार परपुरुषगमन अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण अप **(उपपातकों)** में से है। समुचित पश्चात्ताप द्वारा इसका निवारण हो सकता है। तक अपराधी पत्नी पश्चात्ताप नहीं करती, तब तक जानबूझकर उसकी अवहेलना तिरस्कार करना चाहिए, उसे बहुत कम खाना देना चाहिए। लेकिन पश्चात्ताप बाद (अथवा कुछ संहिताकारों के अनुसार जब उसका मासिक स्राव खत्म हो ज वह पवित्र हो जाती है और उसके सारे अधिकार उसे वापस मिल जाते हैं। अत्यन्त उत्कट परिस्थितियों में, जब वह किसी शूद्र या नीची जाति के आदमी साथ व्यभिचार करे, गर्भवती हो जाए, सन्तान को जन्म दे, या पति की हत्या कोशिश करे तो उसका एकदम परित्याग कर देना चाहिए। गुप्तकाल के अभिलेखों इस बात के संकेत मिलते हैं कि उपर्युक्त विचार और प्रथाएँ इस काल में जारी थीं। वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य के उदार विचारों को प्रतिध्वनित करते हुए वेदव्य अत्रि और देवल ने घोषित किया है कि किसी दूसरे वर्ण के पुरुष से गर्भवती

---

[1] दशकुमारचरित, १६४, प. पृ., १५९ प. पृ. (नि. सा. प्रे., १९५१, पृ. २२७ प. २२० प. पृ.)।

[2] कामसूत्र III, ४, ५५-६; IV, २, १; IV, ४, ७२-९०।

[3] कामसूत्र I, ५, ३३-४; बृ. सं. LXXVIII, १०-११।

[4] दशकुमारचरित, पृ. १०२ प. पृ., १६७ प. पृ. (नि. सा. प्रे., १९५१, पृ. १३६ प. **तंत्राख्यायिका** (कारीगर और उसकी कुलटा स्त्री की कथा)।

प्रसवकाल और अगले मासिक स्राव तक अपवित्र रहती है। बाद में वह पुन: पवित्रता प्राप्त कर लेती है।

४. विधवा

ाल से पूर्व के स्मृति-विधानों के अनुसार सामान्य तौर पर विधवा को आत्मसंयम र ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, हालाँकि बृहस्पति[1] के अनुसार दूसरा रास्ता विधवा अपने पति के साथ सती हो जाए। गुप्तकाल की स्मृतियों ने, प्राचीन तरह, विधवा को तप, उपवास और त्याग का जीवन व्यतीत करने के लिए और उसे अपने पति की जायदाद के उत्तराधिकार का अधिकार दिया न शंख, अंगिरस और हारीत सती प्रथा का दृढ़ समर्थन करते हैं। पैठीनसी, ाघ्रपाद, और उशनस् ने ब्राह्मण विधवाओं के सती होने की पूरी मनाही कुछ शर्तों पर सती होने की आज्ञा दी है; जबकि वेदव्यास ने इसे वैकल्पिक । ऐसे साहित्यिक संदर्भ भी हैं जिनसे यह जाहिर होता है कि सती प्रथा खकों ने बहुत अधिक महत्त्व दे दिया था। लेकिन गुप्तकाल में कुछ लेखकों प्रबल भर्त्सना भी की है।[4] तत्कालीन इतिहास और कथा-साहित्य में उन यों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने अपने पतियों की मृत्यु से फौरन पहले कर लिया या करने की कोशिश की।[5] लेकिन सतर्क चीनी यात्रियों के स बारे में बिल्कुल मौन हैं। स्मृति तथा दूसरे साहित्य में भी विधवाओं का ल्लेख हुआ है, जिससे प्रमाणित होता है कि गुप्तकाल में यह प्रथा लित नहीं थी। कुल मिलाकर सामान्य आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल पूर्वकाल की तरह स्मृतिकाल में भी विधवाएँ, स्मृतियों द्वारा विहित सादा जीवन व्यतीत करती थीं।

धीरे-धीरे विधवाओं तथा अन्य स्त्रियों[6] के पुनर्विवाह को बुरा समझा । फिर भी ऐसे विवाह पूरी तरह से वर्जित नहीं थे। हिउएनत्सांग के विवरण

क ४८३-४।

ात्यायन ६२६-२७; पाराशर IV, ३१; **वृद्ध हारीत** IX, २०५-१० (विधवा का वृद्ध मनु तथा **वृद्ध विष्णु** विज्ञानेश्वर का **याज्ञवल्क्य** स्मृति से हवाला II, १३५- द्वारा पति की जायदाद का उत्तराधिकार प्राप्त करना)।

. सं. LXXXIV, १६।

ादम्बरी, ६४, **मृच्छकटिक** X।

ासिक उल्लेख (क) गोपराज की विधवा (पृ. ३७); (ख) रानी राज्यवती रानी यशोमती (पृ. ११२); अन्य उल्लेख हैं (क) दशकुमारचरित, पृ. १३२ , १९५१, j १८२ प. पृ.) (ख) प्रियदर्शिका I।

II, पृ. ५६५ (अँगरेजी संस्करण)।

में स्त्रियों के पुनर्विवाह के विरुद्ध प्रमाण मिलते हैं,[1] लेकिन अमरकोश[2] में न पुनर्भू (पुनर्विवाहित विधवा)[3] और उनके पति के पर्यायवाची शब्द मिलते बल्कि द्विज जाति के उस पुरुष के लिए भी विशेष शब्द है, जिसकी मुख्य पत्नी पु हो। कात्यायन[4] ने ऐसी विधवा का उल्लेख भी किया है, जो बालिग या नाबालिग के होते हुए भी दूसरे पति का वरण करती है और ऐसी स्त्री की भी चर्चा है जो नपुंसक पति को छोड़कर दूसरे पुरुष के पास चली जाती है; जायदाद के और उत्तराधिकार के नियम के अनुसार ऐसी स्त्री के लड़के के हिस्से का उल्लेख वक्त यह प्रसंग आया है।

जहाँ तक पुनर्भू की स्थिति का सम्बन्ध है, वात्स्यायन का दृष्टिकोण अलग उसके अनुसार पुनर्भू ऐसी विधवा है जो प्रेम से विह्वल होकर अथवा अपनी ला पर संयम रखने की असमर्थता से विवश होकर आनन्द प्राप्त करने के लिए गुणवान पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करती है। वह अपने इच्छानुसार अपने का चुनाव करती है। विवाहित स्त्री की तुलना में वह अधिक स्वतन्त्र है। वह प्रेमी को मदिरापान की गोष्ठियों या उद्यान गोष्ठियों पर पैसा खर्च करने के प्रेरित करती है। प्रेमी के घर में वह मालकिन की भूमिका अदा करती है, नौकर प्रति सहृदयता दिखाती है, अपनी सखियों के साथ मैत्रीभाव रखती है। विवाहित की अपेक्षा वह काम-कला में अधिक निपुण है, जिसका एकान्त में अपने प्रेमी साथ अभ्यास करती है। वह उत्सवों, मदिरापान और उद्यान की गोष्ठियों में, अन्य क्रीड़ाओं में भाग लेती है। विवाहित पत्नी की तरह **पुनर्भू** का सम्बन्ध स नहीं होता। अगर वह अपनी मर्जी से प्रेमी के घर से चली जाती है तो प्रेम से उपहारों को छोड़कर उसे बाकी सारे उपहार प्रेमी को वापस करने पड़े लेकिन अगर उसका प्रेमी उसका परित्याग करता है तो उसे कुछ भी करने की जरूरत नहीं। कुछ अन्य अनुच्छेदों में **पुनर्भू** की सामाजिक पदवी कु (कन्या) और वेश्या के बीच और रानियों (देवी) और वेश्या (गणिका) के की बतायी गयी है।[5] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वात्स्यायन के काल में कोई विधवा अपनी पसन्द के किसी पुरुष के साथ रहती थी तो उसमें जनमत विरोध नहीं होता था, लेकिन उसे विवाहित पत्नी का सामाजिक दर्जा कभी मिला।

---

१. या. ट्रै. वा. I, १६८।

२. II, ६, २३।

३. देखिए, जि. II, पृ. ५६५ (अँगरेजी संस्करण)।

४. श्लो. ५६२, ५७१, ५७४-७७, ८६०।

५. कामसूत्र, IV. २, ३९-५९; I, ५, ४; IV, ७५-७८।

५. वेश्या (गणिका)

त्स्यायन के कामसूत्र[1] से ज्ञात होता है कि अपनी लुभावनी अदाओं, गुणों और र के कारण प्राचीनकाल[2] की तरह वेश्याओं के एक वर्ग को ऊँचा सामाजिक त था। अन्य तत्कालीन कृतियों से पता चलता है कि वे अपनी सुन्दरता, ा, धन और विलास के लिए विख्यात थीं। **मृच्छकटिक** की वसन्तसेना तथा ारचरित की रागमंजरी और चन्द्रसेना जैसी ऊँचे दर्जे की वेश्याएँ भी थीं, स्वेच्छा से अपना पेशा छोड़ दिया था और सामाजिक अत्याचार सहकर भी ी पसन्द के गुणवान पुरुषों के साथ रहने लगी थीं। लेकिन आमतौर पर अपने लोभ और मक्कारी के लिए बदनाम थीं। **दशकुमारचरित** में, जिसका र उल्लेख कर चुके हैं, वेश्याओं के लालन-पालन का सजीव चित्रण मिलता श्चय ही यह वास्तविक जीवन पर आधारित होगा। उनकी शिक्षा का एकमात्र ुरुषों को मूर्ख बनाकर पैसा हड़पना था।[3] वेश्याओं के साथ-साथ बड़े मन्दिरों ा के लिए कुमारियाँ (देवदासियाँ) रखने की प्रथा प्रचलित थी। कालिदास के ं उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में और हिउएनत्सांग के समय में सिंध के पूर्वी ं एक शहर में सूर्य-देवता के मन्दिर में भी ऐसी कुमारियां (देवदासियाँ) रखी ीं।[4]

६. स्त्रियों की सामान्य स्थिति

ंकाल में स्त्रियों को जो नीची हैसियत दी गयी थी और उन पर जो प्रतिबन्ध ये थे, वे कुछ हद तक गुप्तकाल में भी जारी रहे। इस काल का सबसे र्ण परिवर्तन कात्यायन द्वारा स्त्रियों के सम्पत्ति-अधिकार को मान्यता प्रदान

---

[1] कामसूत्र, १, ३, २०-२१।

[2] देखिए, जि. II, पृ. ५६८-७० (अंगरेजी संस्करण)।

[3] देखिए **मृच्छकटिक** I तथा IV (अभिनय, संगीत, नृत्य और चित्रकला में निपुण वसन्तसेना के घर के भीतरी आँगन में जाने की आज्ञा नहीं है); **दशकुमारचरित**, पृ. ६५, प. पृ., ं. १९५१, पृ. ७८ प. पृ. (रागमंजरी ने सार्वजनिक स्थान पर नागरिकों के सम्मुख संगीत-स्तुत किया था। रागमंजरी की वड़ी वहन काममंजरी के रूप में साधारण गणिका का चित्र किया गया है।); गणिका की शिक्षा-दीक्षा, **दशकुमारचरित** (पृ. ६६-६८, नि. सा. प्रे., १९५१): पैदा होने के वाद से ही माँ उसका स्नेहपूर्वक पालन करे; उसे संगीत, नृत्य, अभिनय, , पाकशास्त्र, सुगन्धियाँ वनाने, पढ़ने-लिखने, वाक्पटुता, व्याकरण, तर्कशास्त्र और ज्योतिष की दी जाए। कामशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाए, सार्वजनिक उत्सवों पर वह अपनी बहुत-ियों के साथ प्रस्तुत हो, उसके गुणों और विशेषताओं का नगरवासियों में प्रचार किया जाए और इच्छा प्राप्त करने के लिए ऊँची कीमत निश्चित की जाए।

[4] मेघदूत, I, ३६ या. ट्रै. वा. II, २५४।

करना था। अत्रि और देवल ने घोषित किया कि अगर डाकू या अन्य लोग स्त्री साथ बलात्कार करते हैं तो उसके बाद स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा बनी चाहिए।[1] गुप्तकाल में स्त्रियों द्वारा सार्वजनिक अधिकारों के प्रयोग में कोई रुका नहीं थी, यह तथ्य चन्द्रगुप्त-द्वितीय की पुत्री रानी प्रभावती-गुप्ता[2] के उदाहरण प्रमाणित होता है, जो चौथी सदी में अपने नाबालिग पुत्र की ओर से वाकाट राज्य की व्यवस्था संभालती थी। सातवीं सदी की राजकुमारी विजयभट्टारिका[3] उदाहरण भी हमारे सामने है जो वातापी के चालुक्य वंश के विक्रमादित्य प्रथम अन्तर्गत प्रान्तीय शासक थी।

ईसवी सदी से निकट-पूर्व और बाद के सामान्य और पारिभाषिक ग्रन्थों में मिल वाले उल्लेखों से मालूम होता है कि ऊँचे कुलों की विवाहिता स्त्रियाँ आमतौर बिना पर्दे के लोगों के सामने नहीं आती थीं। शायद गुप्तकाल में भी यह प्रथा जा रही।[4] लेकिन ह्वेनत्सांग और ई-त्सिंग इस विषय पर मौन हैं, जो इस बात सूचक है कि आमतौर पर औरतें पर्दे में बन्द नहीं रहती थीं। अवश्य ही पर्दे की प्र उन दोनों के लिए नयी और विलक्षण थी। अतः अगर यह प्रथा बड़े पैमाने प्रचलित होती तो जरूर इसकी तरफ उनका ध्यान जाता। इसके अलावा, जैसा ऊ कहा जा चुका है,[5] नारी मूर्तियों में निश्चित रूप से पर्दे का कहीं संकेत नहीं है।

V. जन-जीवन

१. सामान्य स्वरूप

भारत जैसे विशाल देश में विभिन्न स्थानों और वर्गों के लोगों के चरित्र में वैवि रहा होगा। वात्स्यायन ने देश के विभिन्न प्रदेशों के लोगों के स्वभाव और आदतों

---

[1] कात्यायन, श्लो. ९२१-२७; अत्रि., १९७-९८; देवल ४८-४९।

[2] देखिए परि. ११।

[3] देखिए पृ. २७४।

[4] पुराने हवाले: पाणिनि III, २. ३६ (रानियों के लिए **असूर्यम्पश्या** शब्द का प्रयोग); **रामायण**, अयोध्याकाण्ड, ११६, २८ (विपत्तियों, मुसीबतों, युद्धों, स्वयंवर, यज्ञ और विवाह अवसर पर स्त्रियों के लिए सब लोगों के सामने आने में कोई हर्ज नहीं); **प्रतिमानाटक**, I (विवा स्त्री को सिर्फ विवाहों, आपत्तियों और वन-गमन के समय बाहर निकलना चाहिए); बाद के हवाले **शकुन्तलानाटक** V (शकुन्तला राजदरबार में पर्दे में आती है, लेकिन जब उस पर जोर डाला जा है कि वह अपने परिचय का प्रमाण दे तो वह पर्दा हटा देती है): हर्षचरित, III (अभिजातकुल स्त्रियाँ पर्दा करती हैं); वही (राजकुमारी राज्यश्री अपने दूल्हे के सामने लाल रेशमी कपड़े से ढं आती है); मृच्छकटिक (विधिवत् विवाहित पत्नी की हैसियत होने पर नायिका से पर्दा कर जाता है)।

[5] जि. II, पृ. ५७३ (अंगरेजी संस्करण)।

ते आश्चर्यजनक अन्तर को अंकित किया है।[1] सातवीं सदी में विवेकशील ी हिउएनत्सांग ने सुदूर दक्षिण के सिवा भारत के हर हिस्से में भ्रमण किया हर प्रदेश के लोगों के चरित्र के बारे में अपना मत लिखा है। उसके यात्रा- पता चलता है कि गंगा और ब्रह्मपुत्र की घाटी के निवासी आमतौर ईमानदारी, साहस, विद्याप्रेम आदि के लिए मशहूर थे, जवकि उत्तर-पश्चिमी क्षिण के पठार, और सुदूर उत्तर, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण के लोग इसके थे।[2] उसके कथनानुसार आमतौर पर लोगों के चरित्र में वहुत अधिक ी थी। विशेष रूप से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के जीवन में सादगी और पवित्रता रतवासियों की परोपकारशीलता और दानप्रियता का प्रमाण चीनी यात्रियों ों में बार-बार मिलता है। उन्होंने साधारण नागरिकों और राजाओं द्वारा ों तथा रोगियों की सेवा के लिए मुफ्त भोजन तथा औषधियाँ और ऐसी ों के वितरण के लिए धन राशि का उल्लेख किया है।[4]

२. जीवन-स्तर

काल के साहित्य में सदियों से चले आये रहन-सहन के उच्च स्तर का संकेत है। बृहत्संहिता, जो पहले के विद्वानों की कृतियों का सार-संग्रह होने का दावा के प्रमाणानुसार छड़ियाँ, छाते, अंकुश, वल्लम, कमान, छत्र, फरसा, ध्वज,

---

सूत्र II, ५, २१-३३; II, ७, २४-२८।

हिउएनत्सांग ने जिनकी प्रशंसा की है उनमें नगर, तक्षशिला, पुंछ, शतद्रु, श्रुघ्न, मतिपुर, हिच्छत्र, कान्यकुब्ज, अ-यु-तो, अ-ये-मु-का, प्रयाग, कौशाम्बी, विशोक, वाराणसी, चान-चू, , ईरानपर्वत, कजंगल, पुंड्वर्धन, कामरूप, कर्णसुवर्ण, द्रविड़, महाराष्ट्र, मा-ला-पो, वलभी पुर के लोग हैं। उसने लंपा, गन्धार, सिंहपुर, टक्क, जालन्धर, पारयात्र, ब्रह्मपुर, नेपाल, , चोल, मलकूट, भँड़ोच, सूरत, कुचे-लो, उज्जयिनी और महेश्वरपुर के लोगों की भर्त्सना , कश्मीर, ताम्रलिप्ति, ओट, काङ्गोद, कलिंग और सिंध के लोगों में अच्छे-बुरे गुणों ाया है।

त के सामान्य वृत्तान्त सें भारतवासियों के चरित्र का बयान हिउएनत्सांग ने इस प्रकार ट्र. वा., I, १७१) : वे जल्दवाज और ढुलमुल स्वभाव के हैं, लेकिन ऊंचे नैतिक सिद्धान्तों ते हैं। वे अनधिकार किसी चीज को नहीं हथियाते, और देने के मामले में जरूरत से हैं। वे अगले जन्मों में मिलने वाले पापों के फल से डरते हैं। इस जीवन में आचरण के प्रति लापरवाह हैं। वे धोखा नहीं देते और अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं। अन्यत्र १६८) वह कहता है कि ब्राह्मण सब जातियों से अधिक पवित्र है। वह ब्राह्मणों के संयम- और क्षत्रियों के परोपकारी और करुणामय उद्देश्यों की प्रशंसा करता है। एक और संदर्भ) उसका कहना है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दिखावे से रहित, पवित्र, सादा, मितव्ययी जीवन व्यतीत करते हैं।

, ४७-४८, या. ट्र. वा. I, २८६, ३२८; II, २८६।

और **चौरियाँ** साधारण इस्तेमाल की चीजें थीं।[1] स्वाभाविक तौर पर इनमें से स
अधिक बहुमूल्य वस्तुएँ राजपरिवार के लोगों और अधिकारियों के लिए सुरक्षि
थीं।[2] इसी कृति से पता चलता है कि परम्परानुसार राजाओं, रानियों और रा
दरबारों के अधिकारियों के लिए पाँच प्रासादों का विधान था; चारों वर्णों के लि
क्रमशः चार, तीन, दो और एक मकान की अनुमति थी।[3] अन्य प्रमाणों से भी
काल के लोगों की सम्पन्नता और विलासिता का पता लगता है। मृच्छकटि
उज्जयिनी में वसन्तसेना के महल के वैभव के वर्णन से हमें इस वर्ग की महिलाओं
वास्तविक जीवन की शान-शौकत और प्रचुरता का पता लगता है।[4] राजा औ
सामन्त बहुत कीमती पोशाकें पहनते थे और बड़ी शानशौकत से रहते थे, बाकी लो
उनका अनुसरण करते थे। **शिक्षासमुच्चय** में, जो शायद सातवीं सदी ईसवी की महाय
बौद्ध-कृति है, लेखक ने तत्कालीन समाज में प्रचलित राजाओं के वैभवशाली जीवन
वर्णन किया है।[5] अन्य कृतियों से पानी से घिरे ग्रीष्मआवासों (**समुद्रगृह**), फव्वा
(**धारागृह**)[6] आदि की सूचना मिलती है। **कादम्बरी** में राजा के स्नान और प्रसा
का सजीव वर्णन मिलता है।[7] साहित्यिक प्रमाणों से पता चलता है कि न केवल रा

---

१. वृ. सं. LXXII, (विभिन्न वर्णों के अलग-अलग रंगों के गदा या मुद्गर आदि मंगल
बताये गये हैं); वही LXXIX, ८-९ (क्रमशः छोटे आकार के) काउच (पलंग) और
आसनों को राजाओं, राजकुमारों, मंत्रियों, सेनापतियों और पुरोहितों के लिए उपयुक्त बताया गया

२. वृ. सं. LXXII, ३ [राजा की **चौरी** (चँवर) उत्तम लकड़ी की हो, सोने-चांदी से
हो, और उसमें हीरे जवाहरात जड़े हों]; वही, LXXIII, १, ४ (राजा का छाता सफेद रं
हो, पंखों से या रेशमी कपड़े से मढ़ा हो, उसमें मोती जड़े हों, मूठ स्फटिक की हो, दंड खालिस
का हो और रत्नजड़ित हो। अन्य लोगों के छातों के ऊपर सोने के फीतों, मालाओं और मणियों
सजावट हो और वे मोरपंख के बने हों।

३. वृ. सं. LIII, ४-१३।

४. मृच्छकटिक, अंक IV (ऊँचे प्रवेशद्वार पर हाथीदाँत के फाटक थे, महल के दरवाजे
के थे, जिनमें हीरे जड़े थे, आठ प्रांगण थे। पहले में कमरों की कतारें थीं, रत्नजड़ित जीने और स्
की खिड़कियाँ थीं, तीसरे में जुए की मेज थी, जवाहरात के बने पासे थे, छठे में सोने और रत्
जड़ी पोशाकों में नौकरों की भीड़भाड़ रहती थी। आठवें में वसन्तसेना का भाई और माँ त
वेशभूषा में रहते थे।)

५. शिक्षासमुच्चय, पृ. २०८।

६. कामसूत्र, V, ५, १७; **स्वप्नवासवदत्त**, V, १९४ के (**समुद्रगृह**); रघुवं
XVI. १९; मेघदूत (धारागृह), I, ६१ **ऋतुसंहार** I, २ (जलयंत्रमंदिर, अर्थात् ग्रीष्मगृह
फव्वारों का गर्मियों में इस्तेमाल होने वाला कमरा)।

७. कादम्बरी, ३१-३३. महल के व्यायामगृह (**व्यायामभूमि**) में व्यायाम करने के
राजा स्नान के कमरे (**स्नानभूमि**) में गया, जिस पर एक सफेद चँदोवा तना था और सुवा
पानी से भरे घड़े रखे थे। सुवासित **आमलक** फल से मालिश करवाने के बाद राजा पानी के
में दाखिल होता था, फिर उठकर स्फटिक की चौकी पर बैठता था। जहाँ वेश्याएँ हाथों में

लोगों को, बल्कि उनके सेवकों को भी, आभूषण पहनने की आदत थी।[1] में न केवल राजा-रानियों के लिए, बल्कि धार्मिक अनुष्ठान करने वालों के आभूषण पहनने का विधान है।[2] **अमरकोश** में वालों, कान, गर्दन, बाहों, उंगलियों, कमर (पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए) और टाँगों में पहनने की लम्बी सूची है। इसी ग्रन्थ में न केवल ऊपरी और अधोवस्त्रों के नाम दिये गये हैं, बल्कि स्त्रियों की चोटियों, पेटीकोटों, सर्दी में पहने और पैरों तक लम्बे एक लबादे का जिक्र भी किया गया है। कालिदास और कृतियों में स्त्रियों की पोशाकों के कई प्रकार के नामों का जिक्र है।[3]

तक में (जिसके लेखक कालिदास समझे जाते हैं और जो स्पष्टत: पहले है) अलग-अलग मौसमों में लोगों की जीवनचर्या के वर्णन से उस युग पर प्रकाश पड़ता है। वसन्त ऋतु में लोग कोयल के संगीत से गूँजते (लता-मंडपों) का आनन्द लेते थे, और वे सामाजिक समारोहों (गोष्ठी) थे, जिनमें अच्छे कवि भी भाग लेते थे।[4] गर्मियों में लड़कियाँ हथेलियों न्दन का लेप करती थीं, लोग फव्वारों के गिर्द इकट्ठे होते थे, हवेलियों के का इस्तेमाल करने के लिए सफाई की जाती थी, पतले कपड़े पहने जाते पर अत्यन्त सुवासित चन्दन का लेप किया जाता था।[5] पतझड़ के मौसम रात में देर तक मदिरापान करने में आनन्द मिलता था। हेमन्त के मौसम से रंगे कपड़े पहनते थे और शरीर पर चन्दन का गाढ़ा लेप करते थे।[6] के प्रमाण से साबित होता है कि सातवीं सदी में न सिर्फ राजा और गद्दों आदि का प्रयोग करते थे, बल्कि उनकी देखा-देखी धनी भी इन चीजों का प्रयोग करता था। पोशाकें रेशम, मलमल, छींट, क्षौम की बढ़िया ऊन से बनी होती थीं। खासतौर पर तक्क प्रदेश में (सिन्धु

और सोने के पात्र लेकर उसे स्नान करवाती थीं। स्नान के बाद वह सफेद रंग की था। और रेशमी कपड़ा सर पर बाँधता था। फिर वह प्रसाधन कक्ष (विलेपभूमि) , जहाँ उसके शरीर पर चन्दन मला जाता था, कस्तूरी, काफूर और केसर छिड़का के बाद वह भोजन करता था और सुवासित धूम्रपान के बाद पान चबाता हुआ विश्राम- जाता था।

, हर्षचरित, I, II, IV, VII, तथा **मालतीमाधव**, VI।

., LXXX, ११, १७; LXXXIII, १; VLIX, २-३।

कोश, II, ६, १०२-९ (आभूषणों के लिए शब्द); ११५-१९ (कपड़ों के लिए शब्द); IV, १६, V, ८ (**कूर्पासक**); **हर्षचरित** I तथा III (**चंडातक, गात्रिक,**

संहार (I, ४-७, II, १९-२५, III, १९-२०, २५, IV, २-४, V, ८, VI, ४-६, स्त्रियों द्वारा अलग अलग मौसमों में पहनी जानेवाली पोशाकों का जिक्र है।

शृंगारशतक, V, २८।

गारशतक, श्लो. ३१-३२।

, श्लोक ४०-४१।

और ब्यास के बीच का इलाका) लोग रेशम और मलमल के चमकदार सफेद
पहनते थे। कान्यकुब्ज के लोग चमकीला रेशम पहनते थे। इसी सदी में ई-त्सिग
कहना है कि कई बार बौद्ध भिक्षुओं के उपकरणों में रेशमी कपड़े का टुकड़ा भी शा
होता था।[1] विदिशा के राजा के दरबार के वैभव का वर्णन करते हुए बाण ने लिख
कि राजा पूरी शानशौकत से प्रजा को दर्शन देता था।[2] राजाओं, राजकुमारों
कुलीन महिलाओं के जुलूस भी इतने ही वैभवशाली होते थे।[3]

३. प्रसाधन तथा व्यक्तिगत स्वास्थ्य

पुराने समय से चला आ रहा आराम और सफाई का ऊँचा स्तर गुप्तकाल में
बना रहा। अमरकोश[4] में शरीर के अलंकरणों के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। बृहत्सं
में बताया गया है कि अलग-अलग वृक्षों के दातुनों में कितने गुण (या अवगुण)
हैं। इससे प्रमाणित होता है कि दातुन का प्रयोग कितने विस्तृत पैमाने पर होता
इसी कृति में बालों को रंगने, कई किस्म के लोबान, सुगन्धित केश तेल, लोशन
अन्य सुगन्धियाँ बनाने के नुस्खे दिये गये हैं।[5] टेराकोटा (पकायी मिट्टी) की
मूर्तियाँ केशविन्यास की विभिन्न शैलियों के उदाहरण हैं।[6] मृच्छकटिक में भी इ
प्रभावशाली वर्णन है।[7] इस काल के साहित्य में बार-बार चन्दन के पानी, कपूर के
और शमनकारी गुणों का वर्णन है। पान में कपूर डालने और अगरु द्वारा पी
पानी को सुवासित करने का भी जिक्र है।[8] सातवीं सदी के पहले भाग में हिउएन
ने भारत के सामान्य वर्णन के सिलसिले में, भारतवासियों द्वारा व्यक्तिगत स्वास्
सिद्धान्तों के पालन और उबटनों तथा फूलों के सामान्य प्रयोग के बारे में लिखा
सातवीं सदी के अन्तिम भाग में ई-त्सिग ने लोगों की स्वच्छता की आदतों और व्य
गत सुख-सुविधाओं का विस्तृत विवरण दिया है।[9]

---

[1] या. ट्रै. वा. I. १४७, १४८, १५१, २८७, ३४०; रेकर्ड, पृ. ६७-६८।

[2] कादम्बरी, १८ प. पृ.।

[3] ऐतिहासिक हवाले :—हर्ष (राजकुमार गृहवर्मन् की बारात); अन्य हवाले, हर्षच
(राजकुमार दधीच का अपने पिता के आश्रम में जाना); **मालतीमाधव,** अंक १ (मालती
के उद्यान में जाना): वही VI, (मालती का मन्दिर में जाना)।

[4] II, ६, १२९-३६।

[5] बृ. सं., LXXXV, १-७; LXXXVII, १-३७।

[6] देखिए, आ. स. इ., १९०३-४ (वसाढ़ की मृण्मूर्तियाँ); ज यू. पी. हि. सो. (१९
१-८, ज. इ. सो. ओ. आ. IX (१९४१), ७-१० (राजघाट की मृण्मूर्तियाँ)।

[7] अंक, IX।

[8] **रघुवंश,** VI, ६०; **कुमारसंभव,** V, ६९; **दशकुमारचरित,** पृ. ४१, ४
(नि. सा. प्रे. १९५१, पृ. ४४, ४८, ५२); **ऋतुसंहार,** I, ६; II, २१, २४; III, १९
५ इत्यादि **कादम्बरी** २४५, ३२०।

[9] या. ट्रै. वा. I, १४७ (भारतीय घरों के फर्शों को गोबर से पवित्र किया जाता
मौसम के फूल उन पर बिखेरे जाते थे); I, १४८ (भारतीय सर पर मालाएँ पहनते हैं): I, १९

४. खान-पान

तथा इस काल के दूसरे साहित्य में खान-पान के वर्णन में अधिक परि- नहीं देता ।[1] लंकावतारसूत्र[2] में स्वीकृत खाद्य-पदार्थों की एक सूची है चावल, गेहूँ, जौ, तीन प्रकार की दालें, घी, तेल, गुड़ और शक्कर लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि लोग माँस-मछली खाते थे और मदिरा थे । यह आश्चर्यजनक बात है कि तत्कालीन नाटकों और गद्य प्रेमा- कुल की महिलाओं, यहाँ तक रानियों, को भी मदिरा-सेवन करते हुए है ।[1] चीनी बौद्ध यात्रियों के निष्पक्ष वृत्तान्तों में हमें उस काल के लोगों संबंधी आदतों का सबसे प्रामाणिक वर्णन मिलता है । चौथी सदी में, कहना है (हो सकता है कि इसमें थोड़ी अतिरंजना भी हो) कि पूरे में पशुवध, मदिरापान, प्याज और लहसुन के प्रयोग का नामोनिशान नहीं सदी के पूर्वार्द्ध का हिउएनत्सांग का वृत्तान्त अधिक ब्योरेवार और सही सामान्य वर्णन में वह कहता है कि रोटी, भुने हुए अनाज, दूध, शक्कर से और सरसों का तेल आमतौर पर खाये जाते थे । माँस-मछली का इस्तेमाल होता था और कुछ किस्म के माँस वर्जित थे । प्याज और लहसुन खाने से जाती थी । दूसरी तरफ अलग-अलग जाति के लोगों के लिए अलग-अलग शराबें और पेय पदार्थ सुरक्षित थे । अंगूर और गन्ने का रस ब्राह्मण और पीते थे, अंगूर और गन्ने की शराब क्षत्रिय पीते थे । वैश्य तेज शराबें पीते जातियों के और वर्णसंकर लोगों के पेय पदार्थों के नाम नहीं लिखे गये । के उत्तरार्द्ध में ई-त्सिंग ने इस वृत्तान्त के समर्थन में कुछ पूरक बातें कही

भारतीय नहाते हैं, बर्तनों को फेंक देते हैं या रगड़कर साफ करते हैं—खाने के बाद दातुन पर चन्दन और केसर का उबटन लगाते हैं ।): रिकार्ड, IV-VI (खाने के बाद बर्तनों नाल नहीं किया जाता, खाने के बाद दातुन किया जाता है, खाने से पहले और बाद जाता है, पीने के लिए पानी मिट्टी के घड़ों या चीनी के बर्तनों में रखा जाता है । पानी ताँबे या लोहे के गागर में रखा जाता है; VIII (रोज सुबह दातुन का XVIII (दैनिक व्यक्तिगत स्वच्छता), XX (सही वक्त पर स्नान); XXII का लेप, तकियों पर रेशम या लिनन के गिलाफ, तकियों में ऊन, सन, रुई वगैरह मौसम के मुताबिक उनका बड़ा या छोटा होना) ।

ानेश्वर द्वारा **याज्ञ.** का हवाला, III. २५३ (मदिरापान पर प्रतिबन्ध); बृ. सं. (पितरों को माँस की भेंट); **उत्तररामचरित** IV. (गृहस्थ श्रोत्रिय अतिथि को बड़ा बकरा भेंट करें) ।

वतारसूत्र, पृ. २५० ।

विकाग्निमित्र, अंक III. (रानी इरावती का मदिरापान) । **कुमारसंभव** VII.६२; II. ११, IX. ३६; **ऋतुसंहार** V. १०, VI, १०-१२; **नागानंद**, अंक III; १३६, १४९ ।

हैं। उसका कहना है कि भारतीय प्याज नहीं खाते थे, और "दक्षिण समुद्री द्वीपों बौद्ध भिक्षुओं के विपरीत भारत के बौद्ध भिक्षु उपोसथ (साप्ताहिक विश्राम के दिन भी तीन प्रकार के पवित्र माँसों का सेवन नहीं करते थे।[1]

५. प्रचलित अन्धविश्वास

भारतीय साहित्य में अथर्ववेद संहिता के काल से जादू के मंत्रों और स की परम्परा चली आ रही थी। बाद में लोगों की आस्था सम्मोहन, टोने- ज्योतिष और शकुनों में इतनी बढ़ गयी कि इन विषयों पर तकनीकी ग्रंथ रचे ग में जिनका प्रयोग वराहमिहिर के **बृहद्-जातक** और **बृहत्-संहिता** नामक सार-सं हुआ था। चौथी सदी ईसवी में महायान बौद्ध धर्म के भीतर **धारणी** (रक्षक मंत्र) की कृतियों का जन्म हुआ और जल्द ही वे न केवल भारत में बल्कि भारतीय से प्रभावित अन्य देशों में भी फैल गये।[2] गुप्तकाल के साहित्य में बार-बार हर के लोगों में प्रचलित शकुनों, अपशकुनों के उल्लेख हैं।[3] साधारण जनता की इन विश्वासों में गहरी आस्था थी, जिसकी प्रतिक्रिया विवेकशील लोगों में होनी भावी थी। गुप्तकाल के साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि राजा और राज अक्सर जनता में प्रचलित अंधविश्वासों से ऊपर उठ गये थे।[4] इसके अलावा, धूर्त अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इनसे फायदा उठाते थे।[5]

६. नगर-जीवन

अन्त में हम शहर में रहने वाले शौकीन आदमी की, जिसे नागरिक कहते ठेठ तस्वीर प्रस्तुत करना चाहते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति गुप्तकाल के लिए

---

[1] गाइल्स, २१, या. ट्रै. बा. I, १७८; रेकार्ड, पृ. ४६।

[2] देखिए विंटरनिट्ज, हि. इ. लि., II. ३८०-८७ (**धारणी** साहित्य के सर्वश्रेष्ठ वर्णन के लिए)।

[3] देखिए, **मृच्छकटिक** IX (ज्योतिषी द्वारा ग्वाले के राजा बनने की भविष्यवाणी); IV. (रानी को दो पुत्रों और एक पुत्री के जन्म की स्वप्न में पूर्वसूचना मिलना, और द्वारा हर्ष के जन्म पर उसकी महानता की भविष्यवाणी करना।); **वही**, V, (राजकुमार स्वप्न में राजा की मृत्यु की पूर्वसूचना मिलना, महल में राजा की इस आपत्ति को टालने **महामयूरी** मंत्रों का जाप, राजा की मृत्यु के समय बड़े पैमाने पर अपशकुन); वही. VI. (की हत्या से पूर्व हर्ष का स्वप्न, हर्ष की दिग्विजय से पहले शत्रु राजाओं के दरबारों में वही. VII. (हर्ष की विजय-यात्रा के लिए शुभ दिन निश्चित किया जाना)।

[4] देखिए, **हर्षचरित** VII (हर्ष ने अपने दरबारियों को डाँटा, क्योंकि हर्ष के हाथ से की मोहर नीचे गिर गयी थी, जिसे अपशकुन समझा गया था।)

[5] **दशकुमारचरित**, पृ. ३९ प. पृ., ८२ प. पृ., ११६ प. पृ., १७८ प. पृ., २०४ इत्यादि (नि. सा. प्रे., १९५१, पृ. ४२ प. पृ., १०६ प. पृ., १५८ प. पृ., २४३ प. पृ., इत्यादि)।

था, क्योंकि पाणिनि ने भी इसकी परिभाषा[1] इस प्रकार दी है : नागरिक है जो कलाओं के साथ-साथ धूर्तता में भी निपुण हो; बड़े नगर का यह है। वात्स्यायन के कामसूत्र में न केवल नागरिक की जीवन-पद्धति का वर्णन किया गया है वल्कि उसे एक आदर्श व्यक्ति के रूप में चित्रित किया इस चित्र में प्रचुर धन और अवकाश-सम्पन्न एक प्रतिभाशाली युवक का किया गया है, जो सुसंस्कृत और विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करता का कहना है कि शिक्षा समाप्त करने के वाद जब आदमी पैतृक सम्पत्ति या ाई से गृहस्थ वनता है तो उसे किसी वड़े या छोटे नगर में जाना पड़ता है, से अच्छे लोग बसते हैं। वहाँ जाकर वह नागरिक का जीवन अपनाता है। वह एक मकान वनाता है, और उसे सुरुचिपूर्ण, सुन्दर ढंग से सजाता है। हिस्से होते हैं। वाहरी हिस्सा उसके प्रणय कलापों के लिए सुरक्षित रहता तरी हिस्से में उसकी पत्नी रहती है। उसके घर के उद्यान में पेड़ों की छाया झूला होता है और वैठने के लिए ऊँचे स्थान बनाये जाते हैं, जिन पर फूल ते हैं। घर के वाहरी हिस्से में दो पलंग होते हैं, जिन पर सफेद चादरें और विछाये जाते हैं। पलंग के सिरहाने देवता की मूर्ति के लिए एक चौकी उसके पास ही एक ऊँची चौकी पर नागरिक के सुवह के प्रसाधन (उवटन, मक्खियों के मोम से भरी डिव्वियाँ, सुगन्धियाँ, तुरंज के छिलके और पान) हैं। दीवारगीर में उसकी वाँसुरी, चित्रपटल, और तूलिकाएँ, पुस्तक और हार के फूलों की एक माला रखी रहती है। पलंग के पास ही फर्श पर ठा रहता है, जिस पर तकिये, शतरंज और पाँसे के तख्ते रखे रहते हैं। बाहर उसके पालतू पक्षियों के पिंजरे होते हैं और किसी एकान्त स्थान पर छेनी आदि औजार रखे रहते हैं, जिनसे वह अपना शौक पूरा करता है रंजन करता है। नागरिक का दैनिक जीवन भी उपर्युक्त सामग्री के अनुकूल सुवह उठकर वह शौचादि से निवृत्त होकर प्रसाधन करता है। वह उबटन करता है और अगरु के धुएँ से अपने कपड़ों को सुवासित करता है और गले पहनता है। वह आँखों में सुरमा डालता है और होठों पर लाख का बना ता है। वह आईने में अपनी शक्ल देखता है और सुवासित पान चबाता है; करने के वाद वह रोज स्नान करता है, हर तीसरे दिन मालिश करवाता है के झाग का प्रयोग करता है। हर चौथे दिन हजामत वनाता है और पाँचवें दिन वाल कटवाता है। दिन में वह दो वार भोजन करता है, तड़के और समय (एक प्राचीन प्रमाण के अनुसार शाम के समय); भोजन के वाद वह

---

[1] VI. २, १२८।

हरण के लिए ऐसा व्यक्ति जिसका न कोई मित्र हो न साथी, जिसका धन समाप्त हो और जो अपने पेशे से मजवूर होकर गाँव में रहता हो।

कई तरीकों से अपना मनोरंजन करता है। (उदाहरण के लिए तोतों की बातें सु तीतर, बटेरों, मेढ़ों की लड़ाई देखना, कलात्मक दक्षता का प्रदर्शन करना, और से वार्तालाप करना।) या वह दोपहर को आराम करता है। तीसरे पहर पूरी पो पहनकर वह सामाजिक समारोहों (गोष्ठी) में सम्मिलित होने के लिए जाता है। को वह संगीत का आनन्द लेता है, या दूती भेजकर अपनी प्रेयसियों को बुलवात या स्वयं उनके पास जाता है।

इन विलासिताओं के अतिरिक्त नागरिक के मनोरंजन के लिए समय-समय **समाज** और **घटा** (देवताओं की पूजा से सम्बन्धित समारोह), गोष्ठी (सामा सम्मेलन), **आपानक** (मदिरापान की दावत), उद्यानयात्रा (उद्यान पार्टी), सम क्रीड़ा (सार्वजनिक खेलकूद) का आयोजन होता है। हर पन्द्रहवें दिन समाज का निश्चित होता है; उस दिन **नागरिक** द्वारा बुलाये गये अभिनेता देवी सरस्व मन्दिर में एकत्र होते हैं जो विद्या और कलाओं की देवी है। इन अवसरों पर बाह आये अभिनेता भी अपने कौशल का प्रदर्शन करते हैं और पुरस्कार पाते हैं। अवसरों पर दोनों श्रेणियों के अभिनेता पारस्परिक सहयोग करते हैं और नागरिक **गण** (शिल्पी-संघ अथवा क्लब) अतिथियों का सत्कार करता है। गोष्ठी का आयो उस अवसर पर होता है जब नागरिक अपने हम-उम्र, समान हैसियत, शिक्षा स्वभाव वाले युवकों के साथ किसी वेश्या के निवास-स्थान या सार्वजनिक स्थान गपशप के लिए इकट्ठा होता है। वहाँ इन युवकों में काव्य-प्रतियोगिता होती है, कल का अभ्यास होता है और अन्त में वे लोग एक दूसरे को बढ़िया चमकीली पो इत्यादि भेंट करते हैं। गोष्ठी में संस्कृत या स्थानीय बोली का अत्यधिक प्रयोग अनु समझा जाता था। बुद्धिमान नागरिक उन गोष्ठियों में जाने से बचते थे, जिनसे घृणा करते थे या जो हानिप्रद थीं, या जहाँ हुड़दंग मचता था। वे लोग उन्हीं गोष्ठि में जाते थे जो मनोरंजक और शिक्षाप्रद होती थीं। नागरिक एक दूसरे के घरों में मिलते थे, जहाँ मदिरापान की गोष्ठियाँ होती थीं; जहाँ वेश्याएँ उन्हें कई तरह मदिराएं पेश करती थीं और बाद में खुद पीती थीं। इसी तरह के दृश्य गर्मी के मौ में उद्यान समारोहों और जलक्रीड़ाओं में भी दिखाई देते थे। इन अवसरों पर व और आभूषणों से सजे हुए नागरिक दोपहर के पहले वेश्याओं और सेवकों के साथ दि कई किस्म के मनोरंजनों में समय गुजार कर शाम को उन मनोरंजनों की कोई नि लेकर घर लौटते थे। अन्त में नागरिक देश के विभिन्न भागों में होनेवाले उत्सवों साधारण जनता के साथ भाग लेते थे और इन अवसरों पर अधिकतम प्रतिष्ठा पदक जीतने का प्रयत्न करते थे।

मृच्छकटिक में चारुदत्त एक आदर्श नागरिक है। उसके घर के भीतरी हिस्से उसकी पतिव्रता पत्नी रहती है, और वह खुद दिन-रात अपने साथियों और से के साथ घर के बाहरी हिस्से में रहता है, जिसके साथ एक बाग भी सटा हुआ बाहरी घर के अल्प सामान में एक बड़ा और एक छोटा ढोल (मृदंग और पण

(सु'र), वीणा, नरकुल की वीन (वंश) और पाण्डुलिपियाँ शामिल थीं। जाने पर भी वह सुगन्धित ऊर्ध्व वस्त्र पहनता था। वह शाम को संगीत गोष्ठी था और मन में गीतों और संगीत की मधुर स्मृतियाँ लेकर शाम को घर। हालाँकि वह खुद घोड़े पर सवार होकर साथियों के साथ जाने में असमर्थ वह प्रेयसी को ढँकी हुई वैलगाड़ी में वैठाकर भेजता था, ताकि वह शहर बाग में उससे मुलाकात कर सके। गुप्तकालीन साहित्य की कृतियों में विलासपूर्ण जीवन के अनेक संकेत मिलते हैं।[1] इस काल के कवियों और ने हमें अपने युग के विख्यात नगरों के वैभव और शानशौकत के प्रशंसापूर्ण हैं।[2] हम सतर्क चीनी यात्रियों के वस्तुपरक बयानों से इन व्योरों का कर सकते हैं। इन सम्मिलित प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल भारत ऐसे नगरों से भरा पड़ा था, जिन्होंने धन और सम्पन्नता का उँचा कर लिया था। नगर की सव इमारतों की अपेक्षा राजमहल सबसे अधिक था। इस काल और पूर्वकाल की साहित्यिक कृतियों के उल्लेखों से पता महल में कई आश्चर्यजनक स्थान थे: जैसे रत्नगृह (**मणिभूमि**), जिसके के बने होते थे (**प्रवालकुट्टिम**), अंगूरों की बेलों से आच्छादित मंडप), ग्रीष्मगृह, फव्वारों का स्थान (**धारागृह**), **संगीतशाला** अथवा **प्रेक्षा-** शाला। वाण द्वारा थानेश्वर में बने प्रभाकरवर्धन के महल के वर्णन से पता कि महल का क्षेत्र विस्तृत था, तथा उसमें कई सभाभवन और साज-सामानों थे।[3]

में नागरिक संस्कृति का स्तर ऊँचा था। इस युग में शृंगार और सामग्रियों के प्रयोग की सुसंस्कृत और लालित्यपूर्ण कला का परिष्कार किया

मेघदूत I, २३, (वीर युवकों की साथ वाली पहाड़ी पर पत्थरों के बने मकानों में विदिशा ाओं के साथ प्रेमक्रीडाएँ); **कुमारसंभव,** IV, ११ (रात को अपने प्रेमियों से मिलने); **मुद्राराक्षस,** अंक III (राजा द्वारा घोषित उत्सव के अवसर पर राजधानी वेश्याओं की भीड़ इकट्ठी होने की आशा); कादम्बरी पृ. २५२ (सड़कों पर एकत्र के हाथ प्रेम-सन्देश भेजना और रेशमी कपड़ों में लिपटी लड़कियों का चाँदनी रात में से मिलने जाना)।

इ. इ. III, ७४ प. पृ., ८१ प. पृ.; **मेघदूत,** I, २४, ३१; **कादम्बरी,** ८४ प. पृ.; व, IX।

फाटक से दाखिल होकर राजकुमार हर्ष तीसरे प्रांगण में पहुँचा जहाँ श्वेतगृह था। , मदिराशाला, चन्द्रकक्ष, महिलाओं के लिए ढँके हुए छज्जे, राजा की बीमारी के दिनों कक्ष, (जिसका फर्श मणिजड़ित था) थे। (**हर्षचरित**) सम्राट् हर्ष की छावनी में फाटक पर हाथियों, घोड़ों और ऊँटों के झुण्ड खड़े देखे, और बारी-वारी से तीन प्रांगणों के वाद उसे चौथे प्रांगण में ले जाया गया, जहाँ सम्राट् अपने परिजनों के साथ राजसी था।

गया । वात्स्यायन के आदर्श नागरिक, तथा इस काल के नाटकों और प्रेमाख्यानों परिष्कृत प्रसाधनों का सजीव वर्णन किया गया है । न केवल स्त्रियाँ बल्कि पुरुष लम्बे नाखून रँगते थे; शरीर, चेहरे और बालों को अगरु के सुवासित धुएँ, और लेपों से सुगन्धित रखते थे । बालों को घूंघरदार बनाने और केशविन्यास के तरीके अपनाये जाते थे । राजाओं, सामन्तों और सम्पन्न परिवारों में प्रसाधिकाएँ अंगमर्दक काम करते थे, जो प्रसाधन कला में निपुण थे । दरअसल इस काल में और आत्मा को सुन्दर बनाने के हर तरीके की ललितकला के स्तर पर पहुंचाया था, जिसके मुख्य गुण सादगी, सुकुमारता और लालित्य थे ।

परिच्छेद : २१

शिक्षा

१. सामान्य पर्यवेक्षण

ल में पूर्वकाल से चली आ रही शिक्षा-पद्धति में कोई विशेष अन्तर नहीं किन कुछ तत्कालीन विवरणों से इस विषय पर मनोरंजक प्रकाश पड़ता त्सांग और ई-त्सिंग (सातवीं सदी) के विवरणों से पता चलता है कि ब्राह्मण अध्ययन करते थे। हिउएनत्सांग के अनुसार तेरहवें वर्ष के वाद उनके विद्यार्थी अवधि समाप्त होती थी। उसने ब्राह्मण अध्यापकों के ज्ञान और उत्साह प्रशंसा की है; पर्यटक गुरुओं का भी वर्णन किया है जो पठन-पाठन के आजीवन निर्धन रहने की शपथ लेते थे।[2] युवा ब्राह्मण अपने गुरुओं के साथ यन करते थे। यह तथ्य **हर्षचरित** के विख्यात लेखक वाण के प्रारम्भिक जीवन टना से प्रकट होता है। वाण ने लिखा है कि वह चौदह बरस की उम्र में के घर से लौटा था। हम ऊपर देख चुके हैं[3] कि किस तरह कदम्ब राजवंश क ब्राह्मण मयूरशर्मा योद्धा बनने से पहले विद्याध्ययन के लिए काँची की में दाखिल हुआ था। शायद यहाँ घटिका का अर्थ है, किसी बड़े सामन्त या संस्थापित पाठशाला।[4]

२. गुरु और शिष्य

अनुशासन पर लिखे गये बौद्ध ग्रंथों में गुरु (उपाध्याय) और शिष्य के संबंधों ब्राह्मण ग्रंथों में दिये गये नियमों से बहुत कुछ मिलते हैं। ई-त्सिंग के प्रमाणा- वीं सदी के उत्तरार्द्ध में, बौद्ध विहारों में गुरु और शिष्य इन नियमों का पूरी लन करते थे।

ग ने गुरु की सेवारत शिष्य का वर्णन इस प्रकार किया है "वह अपने दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर में जाता है . . . गुरु की देह दबाता है,

---

जिल्द II, परिच्छेद, २२ (अँगरेजी संस्करण)।

इं. वा. I, १५९-६१

पृ. ३०७।

दृष्टिकोण के लिए देखिए ऊपर, पृ. ३०७।

ाई, पृ. ११७-२०।

कपड़े तहकर रखता है, कमरा और आँगन बुहारता है, पानी का निरीक्षण कर कि उसमें कीड़े-मकोड़े तो नहीं हैं, इस पानी को वह गुरु को पीने के लिए देता अपने गुरुजनों के प्रति आदर प्रदर्शित करने का यह तरीका है। दूसरी तरफ जब शिष्य बीमार पड़ता है तो गुरु स्वयं उसकी शुश्रूषा करता है, आवश्यक औष जुटाता है और पुत्रवत् उसकी देखभाल करता है।" एक अन्य प्रसंग में ई-त्सि बताया है कि विनय नियमों के अनुसार शिष्य प्रतिदिन सुबह अपने गुरु के स्वास्थ बारे में पूछता है, और बड़ों के कमरों में जाकर उन्हें अभिवादन करता है, ग्रंथों का अध्ययन करता है, और भोजन करने के लिए गुरु की अनुमति की प्र करता है।

इसी सम्बन्ध में आगे चलकर ई-त्सिग कहता है : "गुरु उसे आराम से बैठ आदेश देता है। **त्रिपिटकों** में से कुछ अंश निकालकर वह परिस्थितियों के अ पाठ पढ़ाता है और किसी भी तथ्य या सिद्धान्त को बिना समझाये नहीं छोड़ता। शिष्य के नैतिक चरित्र का निरीक्षण करता है और उसकी गलतियों और अति के बारे में चेतावनी देता है। जब भी वह अपने शिष्य की कोई गलती पकड़ता है उसका निदान ढूंढ़ने और प्रायश्चित्त करने के लिए कहता है। एक और प्रसंग में ई ने कहा है कि हर रोज सुबह गुरुजनों को प्रणाम करने के बाद शिष्य धर्म सि का एक अंश पढ़ता है और उस पर मनन करता है। इस प्रकार शिक्षा श्रमसाध्य थी तथा धार्मिक नियमों के अध्ययन के साथ-साथ नैतिक अनुशासन पर भी दिया जाता था।

इसी प्रमाण के अनुसार शिष्य पाँच बरस में जब **विनय** पर अधिकार कर था तो वह गुरु से अलग रह सकता था। लेकिन जहाँ भी वह जाता था, किसी गु निरीक्षण में रहता था। दस बरस बाद उसके विद्यार्थीकाल की अवधि समाप्त हो थी, अगर अब भी वह **विनय** पर अधिकार नहीं कर पाता था तो उसे जीवन किसी गुरु या उपगुरु के निरीक्षण में रहना पड़ता था।[1]

इस अतिरिक्त जानकारी के लिए हम ई-त्सिग के ऋणी हैं कि मठों के विद्या में नवदीक्षितों के अलावा साधारण विद्यार्थियों के भी दो वर्ग थे। पहले वर्ग को मा (बच्चे) कहते थे, जो भविष्य में भिक्षु बनने के लिए बौद्ध धर्मग्रंथों का अध्य करते थे। दूसरे वर्ग के विद्यार्थी ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) कहलाते थे, जो संसार त्या की इच्छा के बगैर केवल लौकिक ग्रंथों का अध्ययन करते थे। नवदीक्षितों के र सहन का खर्च संघ की निधि में से उठाया जाता था; साधारण विद्यार्थी अपना स्वयं उठाते थे।

---

[1] रेकार्ड पृ. १०५-१०६, विकल्पस्वरूप साधारण विद्यार्थी काम के बदले में मठ से पाते थे।

३. उच्च शिक्षा केन्द्र

काल के अन्तिम चरण में नालन्दा और मगध सबसे अधिक विख्यात बौद्ध ये दोनों अपने वैभवशाली संस्थानों, अध्यापकों और विषयों की नैतिक और त्कृष्टता के कारण प्रसिद्ध थे । गुप्त राजाओं की छह पीढ़ियों की लगातार के फलस्वरूप यहाँ कई हजार लोग रहते थे, जिनका खर्च चलाने के लिए से सौ गाँवों का राजस्व निश्चित किया गया था । मठ में रहनेवाले की ख्याति न केवल उनकी विद्वत्ता के कारण थी, बल्कि ऊँचे चरित्र के कारण एनत्सांग के कथनानुसार, वे सारे भारत में आदर्श माने जाते थे । अपनी के कारण विदेशों से भी विद्यार्थी नालन्दा की तरफ आकृष्ट होते थे, लेकिन के लिए इतनी कड़ी परीक्षा होती थी कि दस में सिर्फ दो विद्यार्थी ही उत्तीर्ण । मठ के भिक्षु, अपना सारा समय अध्ययन और वाद-विवाद में लगाते थे । प्रसिद्ध लोग नालन्दा के छात्र रह चुके थे ।[1] कुछ समय पूर्व की खुदाई से प्राप्त मठ खंडहर, उसके वैभव के साक्षी हैं और चीनी यात्रियों के विवरण की सच्चाई करते हैं । सातवीं सदी में केवल काठियावाड़ का वलभी मठ विद्या के केन्द्र नालन्दा का मुकाबला कर सकता था । ई-त्सिग के विवरण के अनुसार भारत दा और वलभी ही ऐसे दो स्थान थे, जहाँ उच्च अध्ययन पूरा करने के लिए जाते थे । इन स्थानों में एकत्र विख्यात विद्वानों की भीड़ सम्भव और असम्भव पर वाद-विवाद करती थी, और बुद्धिमान लोगों द्वारा जब उनके विचार र जाँचे जाते थे तो उसके उपरान्त वे अपनी बुद्धिमत्ता के लिए प्रसिद्ध हो ।[2]

---

[1] ा. ट्रै. वा., II, १६४-६५; बील ११०-११३; ई-त्सिग, रेकार्ड, पृ. ६५, १५४-५५; -९८, (सातवीं सदी में नालन्दा के मठ की अवस्था); ई. इ. XX, ४३ । महत्त्व और सातवीं सदी के मध्य में वहाँ के विद्वानों की गुणसम्पन्नता); हिउएनत्सांग नालन्दा को लगातार अनुदान देने वाले राजाओं के नाम (पू. ले.) हैं: शक्रादित्य, उसका उसका उत्तराधिकारी तथागतगुप्त, उसका उत्तराधिकारी बालादित्य, उसका पुत्र वज्र तथा था एक अनाम राजा । हिउएनत्सांग के अनुसार (बील, ११२) मठ में १०००० भिक्षु ई-त्सिग (पू. ले.) का विवरण अधिक यथार्थ मालूम होता है । उसके अनुसार ज्यादा या साढ़े तीन हजार भिक्षु थे (संस्मरण ६७); हिउएनत्सांग के अनुसार मठ की इमारत विद्यालय के अतिरिक्त ८ हॉल थे (बील III), ३०० कमरे थे (ई-त्सिग, रिकार्ड पृ. १५४) । हिउएनत्सांग के अनुसार करीब १०० गाँवों की मालगुजारी स्थानीय राजाओं द्वारा बाँधी ई-त्सिग (बील ११२) के अनुसार २०० से अधिक गाँवों की मालगुजारी भूतपूर्व राजाओं गयी थी । हिउएनत्सांग ने नालन्दा के विख्यात प्राध्यापकों के नाम दिये हैं (या. ट्रै. वा. ; ई-त्सिग (रेकार्ड पृ. १८४) के अनुसार वाद के अध्यापकों के नाम थे—चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव (विंटरनित्स, हि. इं. लि., ३६३, ३६६, ३७५) हिउएनत्सांग ने यह अपूर्व तथ्य भी नोट नालन्दा की स्थापना के बाद से वहाँ एक बार भी अनुशासनहीनता नहीं हुई थी ।)

ई-त्सिग, रेकार्ड पृ. १७७, सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत आये । ६० विदेशी बौद्ध तीर्थ- बहुत से बौद्ध ग्रन्थों के उच्च अध्ययन के लिए नालन्दा में रुक गये (संस्मरण १७-१८

४. पाठ्य-क्रम

पहले[1] आध्यात्मिक और लौकिक विद्याओं के ज्ञान सम्बन्धी अध्ययन की लम्बी दी जा चुकी है, जिसमें चार वेदों से लेकर इतिहास, पुराण, सर्पों के वशीकरण, संगी नृत्य और प्रसाधन सामग्री तैयार करने की विद्याएँ शामिल हैं। वाद के प्रमाणों अनुसार इन विद्याओं की संख्या चौदह थी, कुछ के अनुसार इनकी संख्या अठारह ज्ञान की अठारह शाखाओं में चार वेद, छह वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्म धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र शामिल थे।[2] गुप्तकाल के विवरणों से पता है कि चौदह (या अठारह) विद्याओं के ज्ञान को एक विद्वान् ब्राह्मण की उप से बाहर नहीं समझा जाता था।[3] वृहस्पति ने विद्यार्थी के लिए विद्याओं की एक सूची दी है और यह भी बताया है कि किस वरस कौन-सी विद्या शुरू करनी चाहिए हो सकता है कि वृहस्पति, जिनके उद्धरण वार-बार प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जाते स्मृतियों के रचयिता न हों। इस सूची में अभिनय, चित्रकला, भविष्यवाणी, कुक्कुट, और हस्तिपालन, राजनीति, खगोल, व्याकरण, गणित, ब्रह्मविद्या इत्यादि शामिल गये हैं।[4] सातवीं सदी के चीनी बौद्ध यात्रियों के विवरणों ने बौद्ध तथा ब्राह्मण संस्था के पाठ्यक्रम पर बहुमूल्य प्रकाश डाला है। भारत के सामान्य विवरण में हिउएनत्सांग ने लिखा है कि 'द्वादश अध्याय' नामक रचना को खत्म करने के वाद, सातवें वरस पाँच विद्वानों से विद्यार्थी का परिचय करवाया जाता है; (१) ध्वनिशास्त्र अ व्याकरण, (२) कला और दस्तकारियाँ, (३) चिकित्सा विज्ञान (४) तर्क वि (५) आत्म-ज्ञान। हिउएनत्सांग ने हर जगह जिक्र किया है कि उस काल में प्रच व्याकरण के ग्रन्थों में पाणिनि के सूत्र (८००० श्लोकों में) नाम के एक ग्रन्थ का सं दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण ने किया था (२५०० श्लोकों में); इससे भी

२९-३०, ३२, ३४, ४०, १३७, १४५ इत्यादि)। ई-त्सिंग खुद अध्ययन करने के लिए १० साल नालन्दा में रहा था। परवर्ती काल में वलभी का जिक्र "कथासरित्सागर" में हुआ है, (३२, ४३) जिसमें वताया गया है कि किस प्रकार अंतर्वेदी देश (गंगा और यमुना के बीच का इला का एक ब्राह्मण सोलह बरस की उम्र पार करने के वाद शिक्षा प्राप्त करने के लिए वलभी नगर की तैयारियाँ कर रहा था।

[1] जि. II, पृ ५८५-५८९ (अँगरेजी संस्करण)।

[2] **छांद. उप.** VII. १, २; वही, ४; वही ७, १ (विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा सीखी गयी वि **वायुपुराण** १. ६१-७०; **गरुडपुराण** CCXXIII. २०, **नैषधचरित** १, ४ (१४ और विद्याएँ)।

[3] **रघुवंश** V, २१ (ब्राह्मण गुरु वरतन्तु द्वारा १४ विद्याओं का ज्ञान देना); तंत्रवार्ति ३, ६, (धर्म के ज्ञान के लिए १४ अथवा १८ **विद्यास्थान** प्रामाणिक माने गये हैं); ई. इ. VI २८७ (५१७-१८ ई. के अभिलेखों में राजा संक्षोभ के ब्राह्मण पूर्वज को १४ विद्यास्थानों अधिकार था)।

[4] वृहस्पति, पृ. २६४।

हस (१०००० श्लोकों में) उपलब्ध था और मण्डक (?) उणादि और नाम के विशेष ग्रन्थ थे। हिउएनत्सांग के कनिष्ठ समकालीन बौद्ध यात्री इस बारे में सम्पूर्ण और सही विवरण दिया है। उसका कहना है कि छह आयु में बच्चे "सिद्ध-कृति" (जिसे 'सिद्धिरस्तु' कहते हैं) पढ़ते हैं और छह ही उसमें पारंगत हो जाते हैं। आठवें बरस में वे पाणिनि के सूत्र और पढ़ना शुरू करते हैं, जिसे वे आठ महीनों में खत्म कर लेते हैं। दसवें बरस में खिल (अर्थात् (१) अष्टधातु, जिसमें संज्ञाओं की संख्याओं, कालों, क्रियापदों त्तियों का अध्ययन होता है, (२) मंड (अथवा मुंड) और (३) उणादि, यामूलों के प्रत्ययों का अध्ययन होता है) पढ़ते हैं। पन्द्रहवें बरस में णिनि के व्याकरण पर लिखी काशिकावृत्ति पढ़ता था, जिसे वह पाँच बरसों र देता था। व्याकरण में पारंगत होने के लिए भिक्षु और साधारण विद्यार्थी ग्रंथ भी पढ़ते थे। ये थे (१) चूर्णी (जिसे पतंजलि का महाभाष्य भी कहा), (२) चूर्णी पर भर्तृहरि की टीका, (३) उसका वाक्यपदीय, और (४) कृति पेइ-ना, जिसकी पहचान नहीं हो सकी है। ई-त्सिंग के अनुसार वृत्ति खत्म करने के बाद विद्यार्थी हेतुविद्या (तर्कशास्त्र), अभिधर्म (आध्यात्म इत्यादि का अध्ययन करते थे, और भिक्षु इन कृतियों के अतिरिक्त सम्पूर्ण तियाँ, सूत्र और शास्त्रों का ज्ञान भी प्राप्त करते थे।[2]

नत्सांग के संक्षिप्त रेखाचित्र से भी अधिक ई-त्सिंग के विस्तृत विवरण से होता है कि सातवीं सदी के भारत में व्याकरण को पाठ्यक्रम में सबसे थान प्राप्त था। इसी काल में मगध स्थित नालन्दा और काठियावाड़ स्थित न विद्या के केन्द्र थे। नालन्दा के पाठ्यक्रम में, हिउएनत्सांग के कथनानुसार, अठारह शाखाओं की कृतियों के साथ-साथ वेदों, हेतुविद्या (तर्कशास्त्र), (व्याकरण), चिकित्साविद्या, अथर्वविद्या तथा सांख्य भी शामिल थे।[3]

क्त व्यापक पाठ्यक्रम स्पष्टतः उच्च बौद्धिक वर्गों के लिए था। कृषक और वर्ग का पाठ्यक्रम भी कम व्यापक नहीं था। प्रारम्भिक काल में भी उनके पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया था। मनु[4] के अनुसार वैश्य को जवाहरात, वालों, धातुओं, कपड़ों, सुगन्धियों और मसालों के मूल्यांकन का, बीज बोने

ा. टू. वा. I, १५४ प. पृ., वील १२२, 'द्वादश अध्याय' नामक ग्रन्थ, जिसका हिउएन-
क किया है, वाटर्ज के कथनानुसार संस्कृत की पहेली आयी थी, जिसमें वर्णमाला के साथ-
अनेक संधियाँ भी थीं।

देखिए रेकार्ड, पृ. १७० प. पृ., तककुसु की टिप्पणी के साथ। ई-त्सिंग द्वारा वर्णित "सिद्ध-
हिउएनत्सांग द्वारा वर्णित 'द्वादश परिच्छेद' एक ही चीज हैं।

ील, ११२।

IX, ३२९-३३२।

का, धरती के गुणों का, नाप-जोख और तौलने का, व्यापारिक वस्तुओं की किस्मों तथा उनके व्यापार से होने वाले अनुमानित हानि-लाभ का, पशुपालन सेवकों के वेतनों का, विभिन्न देशों और उनकी भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक बौद्ध कहानियों के संकलन **दिव्यावदान** की, जो शायद चौथी सदी ईसवी की रचना दो कहानियों में बताया गया है कि उस काल के धनी व्यापारियों के पुत्रों ने कौन- से विषयों का अध्ययन किया। इस सूची में लेखन, गणित, मुद्राओं, कर्ज, अमा जवाहरात और मकानों का, हाथियों, घोड़ों, युवकों और युवतियों का निरीक्षण इत्या भी शामिल था।[1] दुर्भाग्य से हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं कि गुप्तक में वैश्य विद्या की किन शाखाओं की शिक्षा प्राप्त करते थे।

अर्थशास्त्र के विकास के साथ ही, प्रारम्भिक काल से ही, राजकुमार की शिक्षा तरफ सबसे अधिक ध्यान दिया जाने लगा, क्योंकि उसे राजनीतिक मेहराब की बुनि समझा जाता था। राजकुमार के विविध दायित्वों को देखते हुए स्मृतियों अर्थशास्त्र ने उसके लिए बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ नैतिक अनुशासन का पाठ्य निर्धारित किया था।[2] दुर्भाग्य से गुप्तकाल में राजकुमारों की शिक्षा के संबंध में सीधी जानकारी नहीं मिलती। गुप्तकाल के अन्तिम चरण के गद्य प्रेमाख्यानों कभी-कभी युवा राजकुमार की शिक्षा-दीक्षा की झलक हमें मिल जाती है। लेकिन विवरण इतने अतिरंजित हैं कि बेतुके मालूम होते हैं।[3] लेकिन इस काल के प्रसि राजाओं की विख्यात साहित्यिक और कलात्मक उपलब्धियों से हम कुछ निष्कर्ष निक सकते हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रशस्तिकार का कहना है कि सम्राट् कुशल गीतक

---

[1] **दिव्यावदान**, २६, ९९-१००।

[2] देखिए, जिल्द II, पृ. ५८६ (अँगरेजी संस्करण)।

[3] **दशकुमारचरित**, पृ. २१-२२ (नि. सा. प्रे., १९५१, पृ. २३-२४) के अनुसार राजवाहन के दरबार में सभी राजकुमारों को सभी लिपियाँ और भाषाएं, वेद और वेदांग, कविता, ना कला, कानून, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, **मीमांसा,** राजनीतिशास्त्र, संगीत, काव्यशास्त्र, रण और (सबसे विचित्र विषय) द्यूतक्रीड़ा, चौर्यकला और अन्य कुटिलतापूर्ण कलाएं सीखनी पड़ती **कादम्बरी** १२५ प. पृ. में राजकुमार चन्द्रापीड़ को छह बरस की उम्र में उसके पिता द्वारा विद्यालय (विद्यामंदिर) में भेजा गया, जो शहर से बाहर था और जिस पर कड़ा पहरा था। वहाँ विभिन्न विद्याओं में प्रवीण अध्यापकों की देखरेख में १० बरस तक रहा। लेकिन लेखक का यह अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम होता है कि इस अवधि में राजकुमार "व्याकरण, मीमांसा, तर्कशास्त्र, का राजनीतिशास्त्र की विभिन्न शाखाओं . . . . . .सभी कठिन अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग . . . .कई के वाद्ययन्त्र बनाने . . . .देश की सब भाषाओं की वर्णमालाओं और बोलियों, सब यन्त्रकलाओं, तथा अन्य कठिन विषयों में निष्णात हो गया था।"

तिकार था, अपनी काव्यप्रतिभा के फलस्वरूप उसने कवि सम्राट् की उपाधि थी। प्रवरसेन, हर्ष, महेन्द्रवर्मन्, यशोवर्मन् और मृच्छकटिक का रहस्यमय शूद्रक, ये सब बाद के काल के हैं जो राजा होने के साथ-साथ कवि भी थे।[1]

---

[1] देखिए, उपर्युक्त क्रमश: परि. ११ वाका०, १३२ प. पृ. तथा १४६ प. पृ.; शूद्रक के लिए .II, पृ. २६४ प. पृ. (अँगरेजी संस्करण); यहाँ वाकाटक राजा सर्वसेन का हवाला भी ता है (ल. ३३६-३५५ ई.) जिसे प्राकृत रचना **काव्यहरविजय** (इ. हि. क्वा., XXI का लेखक मान लिया गया है। यह तथ्य विश्वसनीय मालूम होता है। देखिए उपर्युक्त

परिच्छेद : २२

आर्थिक परिस्थितियाँ

इस पुस्तक की पूर्ववर्ती जिल्दों में यह दिखाया जा चुका है कि गुप्त साम्राज्
उदय से बहुत पहले भारत में कृषि, उद्योग और व्यापार की व्यवस्था विकसित हो
थी। यह विकास गुप्तकाल में भी बना रहा। समुद्रगुप्त द्वारा सारी गंगा घाटी
विजय तथा उसके पुत्र और उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त-द्वितीय द्वारा मालवा, गुजरात
काठियावाड़ की विजय के फलस्वरूप भारत के सर्वाधिक जनसंख्या वाले इला
शक्तिशाली और सुसंगठित शासन का वरदान प्राप्त हुआ। समुद्रगुप्त के सम
नवस्थापित साम्राज्य की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी कि स्थानीय शासकों से लेकर
और पश्चिम में भारत की प्राकृतिक सीमाओं तक साम्राज्य की सत्ता का
होने लगा। छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में जब गुप्त साम्राज्य का ह्रास और पतन हु
इस संकट के प्रतिक्रियास्वरूप स्थिति का बिगड़ना अवश्यंभावी था। लेकिन
उत्तर भारत में एक के बाद एक सुयोग्य शासक पैदा होते गये और भारत के तीन
भौगोलिक क्षेत्रों को—उत्तर भारत, दक्षिणापथ और दक्षिण भारत—कुशल एवं
प्रशासन का वरदान प्राप्त हुआ।

१. कृषि

विवेच्यकाल में कृषि का विकास परम्परागत ढंग से जारी रहा।[1] भूमि की उ
और पानी की प्रचुरता के बावजूद युगों से भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर थी। यह
छठी सदी की कृति **बृहत्संहिता** में व्यक्त हुआ है। इसके लेखक वराहमिहिर ने वर्षा
वर्षा के पानी का, विशेष रूप से खगोलशास्त्र और मौसमविज्ञान के तथ्यों के प्रका
और शकुनों तथा पूर्वसूचनाओं के निरीक्षण के आधार पर, अतिवृष्टि और अल
की भविष्यवाणियों के बहुत से हवाले प्रस्तुत किये हैं। इस सिलसिले में वराहमिहि
प्रचलित पैमानों (द्रोण) में वर्षा के परिमाण के आँकड़े भी दिये हैं, और वर्षा

---

[1] इससे पूर्व के काल की कृषि की अवस्था जानने के लिए देखिए आर्थिक परिस्थिति
(मौर्यकाल के पश्चात्) परिच्छेद १४, प्रस्तुत लेखक की कृति 'ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी आफ
जि. III, (ओरिएंट लौंगमैन्स, १९५६) में।

मानक पैमाने का जिक्र भी किया है।[1] शासन द्वारा कृषि की देखभाल का जूनागढ़ के शिलालेख से मिलता है, जो सन् ४५५-५८ ईसवी का, सम्राट् के काल का है। इसमें स्कन्दगुप्त के स्थानीय गवर्नर द्वारा गिरनार की सुदर्शन झील की मरम्मत का व्यौरा अंकित है।[2] छठी सदी ईसवी अमरकोश में हल और उसके अवयवों, जमीन पोली करने का हेंगा, कुदाल के पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। बृहत्संहिता से हमें आगे जाकर यह भी ता है कि उस काल में दो मुख्य फसलें हुआ करती थीं; गर्मी की फसल और फसल; इसके अलावा वसन्त काल में भी एक छोटी-सी फसल हुआ थी।[3]

काल की तरह इस काल में भी वृक्षों और पौधों की फसलें कई किस्मों की हुआ । अमरकोश और बृहत्संहिता में कई किस्म के चावलों, (एक किस्म ६० दिन तैयार हो जाती थी), गेहूँ, जौ, मटर, दालों, कई प्रकार के तेल निकालने के तिल, अलसी और सरसों), अदरक तथा दूसरी सब्जियों का, मिर्च तथा लों का, चिकित्सा में काम आने वाली और दूसरी जड़ी-बूटियों का जिक्र किया । शक्कर और चीनी बनाने के लिए गन्ना उगाया जाता था।[4] बृहत्संहिता में चिकित्सा (वृक्षायुर्वेद) पर एक अलग परिच्छेद (नम्बर ५५) है जिससे पेड़ उगाने के प्रति गहरी दिलचस्पी का पता चलता है। यह विज्ञान काफी ; कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका जिक्र हुआ है। इस परिच्छेद में वराह- मीन की तैयारी, एक पेड़ की कलम दूसरे पेड़ पर लगाने और सही मौसम में पानी देने का उल्लेख करता है। कितनी दूरी पर पेड़ लगाने चाहिएँ, पेड़ों की की चिकित्सा, फूलों, फलों, लताओं और झाड़ियों को बड़ा करने के तरीकों जिक्र किया गया है। बीजों को संसाधित करने और उन्हें जमीन में गड्ढा ने के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश दिये गये हैं। धर्मनिष्ठा के साथ-साथ सुन्दरता भी पेड़ लगाये जाते थे। हमें बताया गया है कि चश्मों के किनारों पर बाग चाहिएं क्योंकि बिना पेड़ों की छाया के वे सुन्दर नहीं लगेंगे। मंगलमय वृक्ष घरों और बागों में लगाने चाहिएँ।

हम इस काल के मुख्य कृषि-क्षेत्रों और उनकी पैदावार का निरीक्षण भी हैं। रघुवंश के अनुसार सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेशों में केसर पैदा होता था, अमरकोश में स्पष्ट रूप से कश्मीर को केसर की जन्मभूमि बताया गया है।

---

[1] देखिए वृहत्-संहिता, इंगलिश इंडेक्स, s.v. वर्षा, वृष्टि, वर्षा-ऋतु। वही XXI, ३२, ; XXIII, ६-९ (वर्षा के आँकड़े); XXIII, २ (वर्षा-मापक)।

[2] फ्लीट, कॉ. इ. इ., III, पृ. ५६।

[3] अमरकोश II, ९, ६ प. पृ. वृ. सं. श्लो. २१ प.पृ., IX, ४२; X, १८; XXV, २; , १ और XI।

[4] अमरकोश III, ९, ६ प. पृ.; वृ. सं. इंग्लिश इंडेक्स s.v.।

अमरकोश में मलय को (पश्चिमी घाटों के दक्षिण में कावेरी के नीचे का प्रदेश) च की लकड़ी का घर बताया गया है। रघुवंश के हवाले से हमें पता चलता है कालिदास के समय में पाण्डव प्रदेश की मलय पहाड़ियों में काली मिर्चें, इलाय और चन्दन की लकड़ी पैदा होती थी।[1] सातवीं सदी के प्रारम्भिक उत्तरार्ध भारत की उपज का सामान्य विवरण देते हुए हिउएनत्सांग ने कहा है कि गेहूँ अ चावल बहुत मिक़दार में पैदा होता था; अदरक, सरसों और कद्दू भी उगाये जाते फलों में सबसे ज्यादा आम, खरबूजे, नारियल, कटहल, इमली, कठवेल के साथ-स अनार और सन्तरों की कद्र की जाती थी। अनार और सन्तरे सब स्थानों पर उ जाते थे। इस साधारण विवरण की पूर्ति करने के लिए यात्री ने विभिन्न प्रदेशों विस्तृत विवरण भी दिया है, जहाँ वह गया था। उद्यान, दरेल और कश्मीर में पैदा होती थी, कश्मीर और कुलूत में औषधीय जड़ी-बूटियाँ पैदा होती थीं। पुंछ मथुरा में घरों से सटे बागों में फल उगाये जाते थे। पारियात्र (वैरत) में एक किस्म का चावल होता था जो साठ दिनों में कटने के लिए तैयार हो जाता मगध में लम्बे दानों और असाधारण सुगन्ध वाला चावल पैदा होता था, “शौकीनों का चावल” कहते थे। “ओड़ा” (ओड्रा) के फल अन्य प्रदेशों के मुकाबले बड़े होते थे। चन्दन की लकड़ी, काफूर और अन्य (सुगंधित) वृक्ष मलय पर्वत उगते थे, जो समुद्रतट के पास मलकूट (पांडच प्रदेश) में हैं।[2]

हिउएनत्सांग के समकालीन कनिष्ठ यात्री ई-त्सिग ने कुछ सीमा तक हिउएन के विवरणों की पुष्टि और पूर्ति की है। ई-त्सिग के विवरण से पता चलता है अलसदार चावल, मीठे खरबूजे, गन्ने और कन्द की देश में बहुतायत थी, फलों संख्या भी बयान से बाहर थी, लेकिन बाजरे का अभाव था। यह भी पता चलता कि उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में गेहूँ के आटे की बहुतायत थी, पश्चिमी प्रदेशों में जौ था और मगध में चावल पैदा होता था। जहाँ तक स्थाण्वीश्वर के इलाके का सम्ब है, बाण का ब्यौरेवार विवरण हिउएनत्सांग के संक्षिप्त विवरण का पूरक है, भले वह काव्यात्मक है। श्रीकण्ठ प्रदेश में, (जिसमें स्थाण्वीश्वर का इलाका शामिल बाण के कथनानुसार, चावल, गेहूँ, पुंड्र किस्म का गन्ना, नाना प्रकार की फलि अंगूर की लताएँ और अनार पैदा होते थे। लेखक के इस कथन से कि अंगूर अनार फलों के बगीचों में लगाये जाते थे, कृषि-विज्ञान की तकनीकी प्रगति झलक मिलती है। जीरे के खेतों में रहट से सिंचाई की जाती थी।[3]

---

[1] रघुवंश IV, ६, अमरकोश II. ६ प. पृ. १२४ (केसर); अमरकोश II, ६ रघुवंश IX, ४६-४८; VI, ६४ (काली मिर्चें इत्यादि)।

[2] या. ट्रै. वा. I. १७७-७८ (भारत का सामान्य कृषि उत्पादन); वही २६१, (कश्मीर आदि की वस्तुएँ): वही, I. २८३. ३०१ (पुंछ और मथुरा); वही I. ३००, II, (मगध तथा पारियात्र; वही II. १९३, २२८ (मलकूट)।

[3] रेकार्ड, पृ. ४३-४४: हर्षचरित, III।

बाद के स्मृति-नियमों में से कृषि को प्रोत्साहन देने से सम्बद्ध धाराओं को देख । कृषि के औजारों, बाँधों, पौधों की जड़ों, फूलों और फलों को नुकसान पहुँचाने नों की भारी राशि का दंड देना पड़ता था। नहरों के पानी के वहाव में रुकावट र इससे थोड़ी कम राशि दंडस्वरूप देनी पड़ती थी। जमीन पट्टे पर लेकर नान कृषि में लापरवाही दिखाते थे तो उन्हें उसी हिसाब से जुर्माना देना । दूसरी ओर अगर कोई आदमी ऊसर जमीन को उपजाऊ वनाता था, या ऐसी होता था, जिसका मालिक खेती करने में असमर्थ होता था, या मर चुका या लापता होता था तो वह सात या आठ बरस तक उसकी उपज का होता था (आठवाँ भाग कम करने के वाद)।[1]

२. उद्योग

न्देह पहले की तरह इस काल में भी उद्योगों की विभिन्न शाखाओं का ऊँचा रहा, क्योंकि कच्चे माल, कारीगरों के हुनर और उद्यम की प्रचुरता थी। की साहित्यिक कृतियों में वहुत प्रकार के कपड़ों का जिक्र किया गया है जिनमें ऊन, क्षौम और वृक्षों की छाल शामिल हैं।[2] इन तथ्यों के समर्थन में सातवीं कालीन लेखकों के प्रमाण उपलब्ध हैं। वाण के **हर्षचरित** में वताया गया कुमारी राज्यश्री के विवाह के अवसर पर जिन वस्त्रों का प्रदर्शन किया गया क्षौम (लिनन), **बदर** (सूती), **दुकूल** (छाल का रेशम), **लालातन्तु** (मकड़ी ?),[3] **अंशुक** (मलमल) और **नेत्र** (धारीदार रेशम) शामिल थे। भारत विवरण में हिउएनत्सांग ने भारतवासियों के वस्त्रों को रेशमी, सूती, क्षौम, करी के वालों (?) की श्रेणियों में वाँटा है। इसकी पुष्टि में उसने देश के गों के लोगों की पोशाकों पर विस्तृत टिप्पणियाँ की हैं।[4]

कई चीजों से वनते थे। **अमरकोश** से हमें पता चलता है कि कपड़े की महीन किस्मों के लिए अलग-अलग शब्द इस्तेमाल किये जाते थे। विरंजित रंजित रेशम आदि के लिए भी अलग शब्द थे। **हर्षचरित** में **पुलकबन्ध** रंगीन कपड़े) और **पुष्पपट्ट** (फूलदार रेशम) का और संन्यासियों के वल्कल उल्लेख है। अजन्ता के भित्तिचित्रों के सूक्ष्म निरीक्षण से चार किस्म की

नारद XIV, ४; **बृहस्पति**, I, २३५ (वाँध को हानि पहुंचाने के जुर्माने); **बृहस्पति** २५ (जोताई के प्रति लापरवाही) **कात्यायन**, श्लो. ७६४-६७ (सात या आठ बरस

अमरकोश II, ६, ११०-११ (वृक्षों की छाल, रूई, रेशम के कीड़ों और जानवरों के कपड़े)।

लाला का अर्थ थूक या लार है, मकड़ी नहीं। ककून एक तरह के सैलिवा से ही नु. जै.।

हर्षचरित, I, या. ट्रै. वा. I, १४८; II, १५१,२८७, ३४० इत्यादि।

बुनाइयों की विधियों का पता चला है; अर्थात् रुपहली या सुनहली किमखाव, 'क का काम', ताने और वाने को अलग-अलग रंग कर की गयी बुनाई और चित्रों मलमल ।[1]

इस काल के अभिलेखों से हम कपड़ा-उद्योग के कुछ प्रसिद्ध केन्द्रों का अनुमान सकते हैं। शान्तिदेव के **शिक्षा-समुच्चय** (सातवीं सदी की कृति) के एक अनुच्छेद हमें पता चलता है कि सर्वोत्तम रेशमी कपड़े तैयार करने के लिए वनारस (वारा की ख्याति वनी हुई थी । **हर्षचरित** के एक सामान्य उल्लेख से प्रमाणित होता है पुण्ड्र प्रदेश का क्षौम कपड़ा इतना मशहूर था कि लेखक के गाँव के घर में भी प्रयोग होता था। हिउएनत्सांग ने हमें विशेष रूप से वताया है कि उसके काल मथुरा में वढ़िया धारीदार कपड़ा तैयार किया जाता था । **हर्षचरित** में कामरू राजा द्वारा हर्ष को भेजे गये उपहारों के विवरण से इस तथ्य का परोक्ष प्रमाण मि है कि उस काल में कामरूप का कपड़ा-उद्योग कितना विकसित था । इस सूची में **जातीपट्टिका** (वुना हुआ रेशम) और चित्रपट (चित्रित) कपड़ों के वंडल शा थे ।[2]

पशुजनित उद्योगों में से दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । **अमरकोश** में चम वने पंखों, तेल रखने के लिए चमड़े की बोतलों, चमड़े के जूतों और वूटों के पर्यायवाची शब्द मिलते हैं । समकालीन चित्रों और मूर्तियों में चमड़े के जूतों बूटों पर मानव और दैवीय आकृतियाँ मिलती हैं । जहाँ तक हाथी दाँत के काम सवाल है, इस काल की साहित्यिक कृतियों में वार-वार लोगों द्वारा हाथी दाँत बनी चीजों के प्रयोग के उल्लेख मिलते हैं । यह बहुत से कामों में आता था। इलाह के पास भिट स्थान की खुदाई में गुप्तकाल से सम्वन्धित स्तर से हाथी दाँत की प्राप्त हुई हैं ।

तथाकथित गुप्तकाल में धातुओं की आपूर्ति कहाँ से होती थी, इसके वारे में बहुत कम संकेत मिलते हैं । ऐसा मालूम होता है कि पूर्ववर्ती काल की तरह इस में भी ताँबा, और शायद रांगा तथा सीसा भी, दूसरे देशों से मँगवाया जाता निर्यात की भारतीय वस्तुओं के बदले में बैजयन्तियाई (बाईजनटाईन) सम्राटों से हुई स्वर्ण-मुद्राओं से ही शायद प्रचुर परिमाण में वह सोना प्राप्त हुआ था, गुप्तकाल की शाही मुद्राएँ बनी थीं । इसके विपरीत हमारे सामने हिउएनत्सां कृति में वे सामान्य और विशिष्ट उल्लेख हैं, जिनमें खानों की खुदाई से धातुएं

---

[1] **अमरकोश** II, ६, ११५-१६; **हर्षचरित** I; अजन्ता भित्ति-चित्रों के कपड़ों देखिए के. डी. कोडिंगटन का निबन्ध इ. ऐ. १९३०, पृ. १६२-६९; पुलकबन्ध का अनुवाद के ज. इ. सो. ओ. आ., XII, पृ. १४ से लिया गया है।

[2] **शिक्षासमुच्चय**, पृ. २०८ (बनारसी रेशम); हर्षचरित IV (पुंड्र प्रदेश का क्षौ कामरूप के वस्त्र); या. ट्रै. वा. I (मथुरा वस्त्र) ।

ज़िक्र किया गया है। भारत के सामान्य विवरण में हिउएनत्सांग ने वताया और चाँदी इसी देश में उपलब्ध थे और प्रचुर परिमाण में पाये जाते थे। विस्तार टिप्पणियों से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के दरेल इलाकों में, व्यास, सिन्ध और सतलज के बीच के टक्क प्रदेश में सोना मिलती थी। व्यास और सतलज के बीच के उपर्युक्त प्रदेश में ताँबा और मिलता था। नेपाल और कुलूत (कुल्लू प्रदेश) में भी ताँबा मिलता था।[1] इस प्रदेश में उन खानों का स्थान-निर्धारण नहीं किया जा सकता।

सदियों की तरह इस काल में भी धातुओं के निर्माण में तकनीकी विज्ञान किया जाता था। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में दी गयी चौंसठ ललित कलाओं) में **रूपरत्नपरीक्षा, धातुवाद** और **मणिराग-कारज्ञानम्** (शायद कीमती पत्थरों की परख, धातुओं को पिघलाना और जवाहरात की क्रिया-दि है) हिउएनत्सांग की साक्षी के अनुसार देश में वहुत वड़े पैमाने पर तु-शी) तैयार किया जाता था। अपनी यात्रा के समय हिउएनत्सांग ने ताँबे एक विशाल प्रतिमा, जिसे कहा जाता है कि राजा पूर्णवर्मन् ने वनवाया था, पीतल (तू-सी) का मन्दिर जो उस समय राजा शिलादित्य (हर्ष) द्वारा जा रहा था, नालन्दा में देखे थे। ताँबे की प्रतिमा ८० फुट से भी ज्यादा और मन्दिर १०० फुट से भी ज्यादा ऊँचा वनाया जाने वाला था। आधुनिक भागलपुर जिले के सुलतानगंज स्थान से प्राप्त हुई साढ़े सात फुट ऊँची बुद्ध भी इसी काल की है। अब यह वर्मिंघम संग्रहालय में सुरक्षित है। सदियों की मार का सामना करने पर भी पुरानी दिल्ली में महरौली में गड़े सम्राट द्रगुप्त द्वितीय ?) के स्तम्भ में, जिसकी ऊँचाई २३ फुट और व्यास १ फुट जंग नहीं लग सका है। एक अधिकारी विद्वान् ने अजन्ता के भित्तिचित्रों में आईने भी खोज निकाले हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल की कृतियों में लोगों द्वारा सोने और चाँदी के आभूषण पहनने के बहुत से हवाले हैं।[2]

जमाने की तरह आभूषण वनाने की कला विकसित अवस्था में थी। के एक परिच्छेद (सं० ८०) में कम से कम बाईस प्रकार के रत्नों का

मरकोश II, ९, ९७ (म्लेच्छ देशों से सोने की प्राप्ति); या. ट्रै. वा. I' १७८, २२५, , २०१ (सोना और चाँदी); वही, I, २८०, २९८; II, ८३ (ताँबा)।

कामसूत्र १, ३, १६, (चौंसठ कलाएं) या. ट्रै. वा. I, १७८ (तू-सी) : वही १७१ , ११९, (नालन्दा में ताँबे की मूर्ति और पीतल का मन्दिर); फ्लीट, कॉ. इ. इ. III, रौली स्तम्भ का अभिलेख); आ. स. इ. १९११ -१२ पृ. ८९-९३, (भिट); इ. ऐं., १३२ में के. डी. वी. कोडिंगटन (अजन्ता के भित्तिचित्रों में धातु के आईने); राजघाट की के लिए देखिए उपर्युक्त पृ. ६१३; लाउफर ने तू-सी का अनुवाद पीतल किया है। सिनो-पृ. २११-१२।

जिक्र किया गया है। इस सूची में हीरा, नीलम, पन्ना, माणिक, वैदूर्य, श्रेष्ठ बिल्लौर, चन्द्रमणि, नीलमणि, पुखराज दूधिया, मोती, प्रवाल के अलावा जम्बु (अकीक) और शंख जैसे कम कीमती पत्थर भी शामिल हैं। अमरकोश में पन्नों, मो प्रवाल और शंख के पर्यायवाची शब्द मिलते हैं।[1] जवाहरात के आभू बनाने के लिए रत्नपरीक्षा की प्रक्रिया का प्रयोग होता था (जवाहरात को का विज्ञान) वात्स्यायन ने कामसूत्र में इसे चौसठ कलाओं में शामिल किया जबकि वराहमिहिर के उपर्युक्त परिच्छेद (सं० ८१) का शीर्षक भी यही है। और आगामी दो परिच्छेदों में वराहमिहिर ने क्रमशः हीरा, मोती, और माणिक कई किस्मों का जिक्र किया है। इस सिलसिले में वराहमिहिर द्वारा वर्णित हीरे सातों खानों के नाम भारतीय हैं, जो पूर्वकाल में टोलेमी द्वारा दिये गये हीरों की के नामों से मिलते हैं।[2] वराहमिहिर द्वारा उल्लिखित मोतियों के प्राप्ति-स्थानों सूची में लंका, ईरान और पांड्य प्रदेश के विख्यात माहीगीरी के नाम मिलते सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिउएनत्सांग ने लिखा था कि भारत में पैदा होने चीजों में सफेद संगयशब और बिल्लोरी शीशों की प्रचुरता थी।[3] आगे जाकर लिखता है कि द्रविड़ में बहुमूल्य पत्थर इत्यादि मिलते हैं। साहित्यिक प्रमाणों से होता है कि उस काल में रत्नों के कई प्रयोजन होते थे—सोने के आभूषणों मुहरों में रत्न जड़े जाते थे; पोशाकों की सजावट, चौकियों, गद्देदार पलंगों, बा और लैम्पों की सजावट के लिए, दरवाजों पर और मकानों की फर्शों में जड़ने के इस्तेमाल होते थे। मंगलकारी चिह्नों के रूप में भी रत्न पहने जाते थे।[4] इस का कवि रत्नों के गुणों से अच्छी तरह परिचित थे, क्योंकि उन्होंने उपमाएँ देते जवाहरातों के नामों का प्रयोग किया है। । **मृच्छकटिक** नाटक में नायिका के मह आभूषणकारों को काम करते हुए दिखाया गया है। इस प्रसिद्ध वर्णन से धनी परि के जीवन की सजीव झाँकी मिलती है।[5]

---

[1] बृ. सं. ८०, ४-५; अमरकोश II, ९, ९२ प. पृ.।

[2] टोलेमी का कोश (VI, १, १७) यह स्थान, जिसकी शिनाख्त वारा नदी के पास की गयी है, बृ. सं. ८१. ३१ प. पृ. के कोसल अथवा महाकोसल से मिलता है। टोलमी की एक का मुहाना (पू. ले.) बृ. सं. के कलिंग से मिलता है।

[3] या. ट्रै. वा. I, १७८, II, २२६।

[4] **शाकुन्तलम्**, अंक V; **रघुवंश** XVI, ४३; XVII, १३; **दशकुमारचरि** १ (नि. सा. प्रे. १९५१ पृ., ४३ प. पृ.); **हर्षचरित** IV; **कादम्बरी** २९६, ३१३; बृ. स. XL २५-६ (अलंकार के लिए जवाहरात का प्रयोग); बृ. स. LXXX, २. १५-१७; LXXI LXXXII, ६; LXXXIII, (मंगलकारी हीरे, मोती, पन्ने और माणिक)।

[5] **रघुवंश**, XVIII, ३२ (पुखराज); वही, ४२ (नीलमणि); वही XIII, ४८, XVI, ६९; **मेघदूत** १४७ (नीलमणि से जड़ा हुआ मोतियों का हार); **कुमारसंभव** III, (माणिक, सोने और मोतियों के आभूषण); **रघुवंश** XII, १३ (प्रवाल)।

काल में औद्योगिक सफलता की दृष्टि से मोतियों के कारीगर का महत्त्व क है। **बृहत्संहिता** में (कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** की तरह) मोतियों की मालाओं अलग किस्मों के नामों की लम्बी सूची दी गयी है, जिनमें एक लड़ी से लेकर आठ लड़ियों के हार शामिल थे। कई ऐसी किस्में भी थीं, जिनमें बीचोंबीच या सोने की गोलिकाएँ लगाई जाती थीं। **अमरकोश** में प्रदत्त सूची अपेक्षा- है। एक लड़ी वाले हार (एकावली) और सत्ताईस लड़ियों वाले हार ाला) जैसी किस्मों का नाम इस काल की महान साहित्यिक कृतियों में है। आभूषणों, तलवारों की मूठों, मदिरापात्रों और महिलाओं की पोशाकों को लिए मोतियों का जड़ाऊ काम किया जाता था।[1]

मूल्यवान् पत्थरों के शिल्प का काम प्रागैतिहासिक सिन्धु संस्कृति के दिनों से रहा था। बसरा और भिट की खुदाइयों में गुप्तकाल की तहों में से सूर्यकान्त, (इन्द्रगोप) स्फटिक और लाजवर्द के मनके और अन्य छोटी-छोटी चीजें हैं।[2]

३. अन्तर्देशीय व्यापार

कि इस सिलसिले में वहुत कम प्रमाण मिलते हैं, लेकिन हम इस परिणाम सकते हैं कि समूचे उत्तर भारत में गुप्त राजाओं द्वारा दृढ़ शान्ति और स्थापित किये जाने से अन्तर्देशीय व्यापार के प्रसार में अवश्य प्रोत्साहन मिला म्राटों द्वारा श्रेष्ठतम किस्म के सोने और चाँदी के सिक्के जारी करने से के विकास को और अधिक सहायता मिली होगी। व्यापारी विख्यात जल भागों से यात्रा करते होंगे। **अमरकोश** में न केवल बाजारों और दूकानों के, ओं द्वारा यात्रा करने वाले व्यापारियों के भी, पर्यायवाची शब्द हैं। भिट की गुप्तकाल की तहों से दूकानों की पंक्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिन्हें क" और "बगल वाली सड़क" कहा गया है।[3]

काल के विवरणों में जिन बन्दरगाहों का उल्लेख किया गया है वे देश के ों से आने वाली वस्तुओं के आयात और निर्यात-व्यापार के लिए उपयोगी रहे ठी सदी के शुरू में कोज्मास ने अनेक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों का उल्लेख है। इस सूची में 'सिन्दू' "ओरोथा" (जिसकी शिनाख्त नहीं हो सकी है) ना," "सिवोर" के अलावा पश्चिमी तट पर 'मले' (मलाबार) के पाँच

बृ. सं. LXXXI, ३१-३६; **अमरकोश** II, ६. १०५-१०६ (मुक्ताहारों की सूचियाँ); IV तथा VIII; **कादम्बरी** १४२; **मालतीमाधव** अंक I (नक्षत्रमाला तथा एकावली) II, IV तथा VII (मोतियों के प्रयोग)।

आ. स. इ. १९०३-०४ पृ. ९९-१००; वही, १९११-१२, पृ. ९४।

अमरकोश II, २०, २; आ.स. इ. ऐ. आर., १९११-१२, पृ. ३८।

बाजारों तथा तटवर्ती 'मरल्लो' (जिसकी शिनाख्त नहीं हो सकी है) और "को का उल्लेख है।[1] इस काल के अन्य समृद्ध बन्दरगाहों में गंगा के मुहाने पर सि ताम्रलिप्ति का उल्लेख किया जा सकता है। जैसा हिउएनत्सांग ने कहा था, वा लिप्ति जल और स्थल मार्गों के संगम पर स्थित था, इसलिए अपनी सौभाग्यशा भौगोलिक स्थिति के कारण यह पूर्वीय भारत के समुद्री व्यापार का वाणिज्य कें बन गया। यह प्राचीन लेखकों द्वारा चर्चित गंगा और तमालितिस का सच्चा उत्त धिकारी था। चीन, इंडोनेशिया और लंका से आने-जाने वाले जहाज यहाँ रुकते भीतरी प्रदेशों के साथ इस बन्दरगाह के द्वारा होने वाले व्यापार के प्रचुर मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद हैं। ई-त्सिंग की ताम्रलिप्ति से बोधगया तक की यात्रा में कै व्यापारी उसके साथ थे। आठवीं सदी के उदयमान के अभिलेख में सुदूर अयोध्या ताम्रलिप्ति तक आने वाले व्यापारियों की यात्राएँ दर्ज हैं। हिउएनत्सांग के अनु औड्र प्रदेश में चारित्र नामक मशहूर बन्दरगाह था, और समुद्री व्यापार के का कोन्गोद (वर्तमान गंजाम जिले में) बहुत सम्पन्न नगर बन गया था। ताम्रलिप्ति व्यापार में अधिकांश हिस्सा गंगा (डेल्टा) के लोगों का था, इसके प्रमाण रघु और **दशकुमारचरित** में इन लोगों की समुद्री गतिविधियों के संस्मरण हैं।[2]

बाद की स्मृतियों में, उदाहरणस्वरूप मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों व्यापारियों से सम्बन्धित कुछ धाराओं के शीर्षक इस प्रकार हैं: 'विना स्वामित्व विक्रय,' 'क्रय और विक्रय के बाद पश्चात्ताप'। इन धाराओं की तुलना की जाए आश्चर्यजनक अन्तर दिखाई देता है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा समय-समय पर चीजों के दाम निर्धारित करने चाहिएँ। मनु ने तो यह भी कहा है नाप-तौल के पैमानों और बटखरों पर राजकीय मुहरें लगनी चाहिएं और समय-स पर उनका निरीक्षण किया जाना चाहिएँ। लेकिन नारद और उसके बाद के लेख की कृतियों में ये धाराएँ नहीं मिलतीं। इसके विपरीत कात्यायन स्मृति में हमें ए आसाधारण धारा मिलती है जिसके अनुसार समझदार और ईमानदार पड़ौसियों द्वा निर्धारित मूल्य को ही असली मूल्य घोषित किया गया है। इसके बाद जोरदार श में घोषित किया गया है कि इस मूल्य के आठवें हिस्से के बराबर भी अगर गड़बड़ हो

---

[1] कोज्मास, ३६६-६७ (भारतीय बन्दरगाहों की सूची); इसमें सिन्धु स्पष्टतः सि मुहाने का बन्दरगाह है, कालियाना, बम्बई के बन्दरगाह के पूर्वी तट पर स्थित कल्यान है, चि बम्बई से २५ मील दक्षिण में चौल है। कावेर कावेरी नदी के मुहाने पर स्थित कावेरीपट्टिनम है पेरिप्लस और टोलमी के भूगोल में दी गई सूचियों के लिए देखिए "ए कम्प्रिहेंसिव हिस्टरी ऑ इंडिया", जि. II, पृ. ४३८।

[2] १९०, १९४, १९६ (ताम्रलिप्ति, चारित्र, और कङ्गोद) ई. इ. II, ९५ (उदयमान अभिलेख) रघुवंश IV (सुह्म के लोगों की समुद्री गतिविधियाँ), दशकुमारचरित (नि. सा. प्रे., सं. प वृ. २१५ प. पृ. (राजकुमार सुह्म और यवन पोत से मगध के एक राजकुमार का समुद्र में युद्ध)।

चित मूल्य पर बेची गयी चीज सौ बरस के बाद भी रद्द हो सकती है ।[1] यह अशक्त प्रतिक्रिया का एक दूसरा रूप है जो पहली सदियों में व्यवस्था के के विरुद्ध हुई थी । बाकी मामलों में बाद की स्मृतियों की धाराओं में धाराओं को दुहराया गया है । "बिना स्वामित्व के विक्रय" शीर्षक धारा पड़ते हैं कि मालिक के अलावा अगर कोई दूसरा व्यक्ति किसी जायदाद को तो यह विक्रय रद्द कर देना चाहिए और असली मालिक को वह जायदाद नी चाहिए । "क्रय और विक्रय के बाद पश्चात्ताप" शीर्षक धारा में हमें या है कि क्रय और विक्रय करने वाले दोनों पक्षों को चीजों के निरीक्षण के चित अवधि देनी चाहिए ताकि अगर उन्हें सौदे के बाद खेद हो तो वे अपनी पिस ले सकें ।[2]

४. विदेशी व्यापार

काल में दक्षिण-पूर्व एशिया के आर्थिक इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना, के तीसरे दशक में समुद्री व्यापार का विकास है जो चीन से लेकर या और भारत के पूर्वी तट से लेकर लंका तक होता था, तथा वहीं से भारत शी तट के साथ-साथ ईरान (फारस), होमराईट प्रदेश (अरब में) और एडूले पियन राज्य की राजधानी अस्सुम के बन्दरगाह) तक फैला हुआ था । कोज्मास से पता चलता है कि चीन, इंडोनेशिया और दक्षिण भारत का सामान लंका या जाता था, जहाँ से उपर्युक्त पश्चिमी प्रदेशों में उसका निर्यात किया जाता लगता है कि इस व्यापार में भारत का काफी हिस्सा था, क्योंकि हमें या है कि भारत, ईरान, और इथिओपिया के सभी बन्दरगाहों से काफी ंका में आते-जाते थे । रेशम के व्यापार पर ईरानियों का एकाधिकार मालूम वे ईरान (फारस) से रेशमी माल का बाईजिनटाईन साम्राज्य में निर्यात । फा-हिएन और उसके बाद आने वाले चीनी यात्रियों ने ताम्रलिप्ति के र्ग का इस्तेमाल आते या जाते वक्त, या दोनों तरफ से, किया था । उपर्युक्त र्गों के अलावा चीन और भारत अनेक स्थल मार्गों से भी जुड़े हुए थे । और हिउएनत्सांग के यात्राक्रमों से पता चलता है कि मध्य एशिया और से एक विशाल उत्तर-पश्चिमी मार्ग सुलेमान पर्वतमाला के दर्रों से होता रत के अन्दरुनी हिस्सों से जा मिलता था । चीन और भारत के बीच एक रास्ता काराकुर्रम पर्वतमाला और कश्मीर को लाँघकर भी जाता था, लेकिन

---

[1] कात्यायन ७०५-०६, तुलना करें, मनुस्मृति VIII ४०१-०३ तथा याज्ञवल्क्य II, १५१।

[2] बृहत्संहिता, १, १२, ३, प. पृ. तथा **कात्यायन** ६१२ प. पृ.; **मनुस्मृति** VIII, तथा II, १६८।

यह अधिक दुर्गम था। उत्तर पूर्व में टोंकिन से पुंड्रवर्धन (उत्तर बंगाल) होता एक रास्ता कामरूप, मगध और उससे भी आगे के प्रदेशों में जाता था।[1]

५. व्यापार की वस्तुएं

शुरू में हम इस काल में बाहर की दुनिया के साथ होने वाले भारत के व्या की मुख्य वस्तुओं की सूची का अवलोकन करें। कृषि की वस्तुओं में सबसे मुख्य मसालों का था। कोज्मास के विवरण से पता चलता है कि अन्य वस्तुओं के सिन्धु प्रदेश से (निस्सन्देह हिमालय के ऊपरी भागों से) जटामासी निर्यात के इकट्ठी की जाती थी और मलाबार के कम से कम पाँच बन्दरगाहों से मिर्च निर्यात किया जाता था। सम्राट् जस्टीनियन ने जिन चीजों पर आयात-कर ल था, उनमें भारत के ठेठ मसाले, दालचीनी, लम्बी मिर्च, सफेद मिर्च, कूठ (कॉस्ट इलायची तथा अन्य सुगन्धित मसाले थे। कोज्मास के अनुसार कल्याण के बन्दरगाह निर्यात किये जाने वाले उपयोगी और सुगन्धित वृक्षों में चन्दन की लकड़ी शा थी। **'एनाल्स ऑफ दि तांग डाइनेस्टी'** में बताया गया है कि भारत से चन्दन की ल और केसर रोम के पूर्वी प्रदेशों (तात्सीन), फू-नान (कम्बोदिया के राज्य का पूर्व नाम) और कियाओची (जिसकी शिनाख्त नहीं हो सकी है) में निर्यात किये थे। पूर्वी देशों में भारतीय वस्तुएँ कितनी मूल्यवान् समझी जाती थीं, इसका प्र इस बात से मिलता है कि फू-नान के राजा रुद्रवर्मन् ने ५१६ ईसवी में के सम्राट् के पास एक प्रतिनिधि-मंडल के हाथ भारतीय चन्दन की लकड़ी की बनी की प्रतिमा उपहार में भेजी थी। **अमरकोश** से पता चलता है **माषपर्णि** नाम की वनस्पति, जो औषधियाँ बनाने के काम आती थी, गान्धार से भी आगे सुदूर कम्बो के उत्तर-पश्चिमी इलाके से आती थी, और **सिलह्क** (एक प्रकार का लोबान) हींग तुरुष्क, बाह्लीक और रमठ (पश्चिमी एशिया के प्रदेश) से प्राप्त किये जाते यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अगरु, लौंग और चन्दन की लकड़ी कोज्मास द्वारा उन वस्तुओं में से है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया से कोरोमंडल के बन्दरगाहों के श्रीलंका भेजी जाती थी।[2]

---

[1] कोज्मास, ३६५-६६ (समुद्री व्यापार); फाहिएन और हिउएनत्सांग के यात्राक्रमों के के लिए देखिए क्रमश: लेग्गे और या. ट्रै. वा.; टोंकिन से मगध होते हुए कामरूप पहुंचने वाले के लिए देखिए पेलियॉट, बु. ल. फ्रा. द. ओ. IV, १३१ प. पृ.।

[2] कोज्मास, ३६६-६७ (भारतीय बन्दरगाहों से होने वाले निर्यात के माल की सूची); कॉर्पस जुरिस सिविलिस जिल्द I, पृ. ६०६ (जस्टीनियन की सूची); लाऊफर, सिनो-इरानिका, ४५, (रोम के पूर्वी प्रदेशों को निर्यात की जाने वाली भारतीय वस्तुएं); बु. ल. फ्रा. द. ओ., ७१ (रुद्रवर्मन् द्वारा चीन को भेजा गया दौत्यमंडल); अमरकोश II, ४. १३८ (माषपर्णि); II, ६, १२८; II ३, ६. (सिल्ह तथा सिल्हक); वही II, ९, ४० (हिंगु)।

तक पशुओं के व्यापार का सम्बन्ध है, पहले की तरह, सर्वश्रेष्ठ नस्ल के घोड़े न और वर्तमान अफगानिस्तान से मँगवाये जाते थे । लेकिन हिउएनत्सांग र में स्थानीय नस्ल के घोड़े भी देखे थे, जो ड्रैगन की नस्ल के कहे जाते थे । ओं से प्राप्त वस्तुओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुएं मोती, प्रवाल, रेशम दांत थे । कालिदास के काल में जिस स्थान पर ताम्रपर्णी नदी समुद्र में है, वहाँ के मोती पांड्य देश की सबसे अधिक बहुमूल्य वस्तुओं में से थे । ग ने भी इस प्रदेश को (झलकूट नाम से) समुद्र के मोतियों का भंडार है। गुप्तकाल में बार-बार मोतियों के प्रयोग के उल्लेखों के आधार पर हम कह कि उस काल के पांड्य प्रदेश में मोतियों का व्यापार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा स्टीनियन द्वारा निर्मित आयात के माल की सूची में मोती, कच्चा रेशम, च्छे और रेशमी वस्त्र शामिल थे । कालिदास के **रघुवंशम्** के एक हवाले के का और भारत के बीच के समुद्र से प्रवाल निकाले जाते थे । गुप्तकाल के में कहीं-कहीं चीनी रेशम का जिक्र आता है । कोज्मास ने रेशम का जिक्र न की उत्पादन-वस्तुओं में किया है, बल्कि इसे इंडोनेशिया (हिन्देशिया) और र्वी तट से लंका में भेजी जाने वाली निर्यात-वस्तुओं की सूची में भी शामिल । लंका से ये वस्तुएं पश्चिमी देशों में भेजी जाती थीं । इसी प्रकार चीनी रेशम न मार्गों के जरिए मध्य एशिया तक भी पहुँचाया जाता होगा । कोज्मास में ईथिओपिया भारत में हाथीदाँत का निर्यात करता था । कोज्मास ने लिखा ओपिया में हाथियों की संख्या बहुत ज्यादा थी और वहाँ के हाथियों के दाँत के हाथियों की अपेक्षा ज्यादा लम्बे होते थे । व्यापार की एक और वस्तु , जो कोज्मास के अनुसार निर्यात के लिए सिन्ध (निस्संदेह हिमालय के ों) से प्राप्त होती थी ।[1]

तक खनिज पदार्थों के व्यापार का सम्बन्ध है, **अमरकोश** के अनुसार ताँबा (पश्चिमी भूमध्यसागर के गिर्द) से प्राप्त होता था । जैसा कोज्मास है, कल्याण के बन्दरगाह से लोहे का निर्यात होता था और शायद विदेशों से होता था, क्योंकि इस काल में कल्याण पश्चिमी भारत के मुख्य व्यापार था । कोज्मास के प्रमाण के अनुसार भारत में लंका से नीलम का आयात , और ईथिओपियावासी ब्लेमीज (नूबिया के लोगों से) पन्ने प्राप्त किया । जस्टीनियन द्वारा निर्मित आयात वस्तुओं की सूची में, जिनका जिक्र हम चुके हैं, वह "भारतीय लोहा भी था जिसमें जंग नहीं लगता" (भारतीय

अमरकोश II, ८, ४५; **रघुवंश** IV, ७०; **हर्षचरित** II; **रघुवंश** IV, ५०; या. , ३२८ (मोती); **रघुवंश** ३, (प्रवाल) ; **शाकुन्तलम्**, अंक I, **कुमारसंभव**, VII, माधव, अंक VI; **दशकुमारचरित**, पृ. १२९ (चीनी रेशम); कोज्मास, ३६६

इस्पात ?) । भारत से रोमन साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों में, फू-नान और किया में भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में हीरे भी शामिल थे। एनाल्स आफ तांग डाइनेस्टी के, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, एक पैराग्राफ में यह दर्ज है।[1]

कोज्मास ने बताया है कि पोशाकों का कपड़ा कल्याण से निर्यात किया था। प्रामाणिक चीनी ग्रन्थों में जिक्र किया गया है कि **पो-ताई** (सूती किमखाब या वस्तुएं) भारत की बनी होती थीं और ये हो-लो-तान अथवा जावा से चीन को जाती थीं।[2]

६. पूंजी और श्रम

यह बताना अनावश्यक है कि इस काल में परम्परागत आन्तरिक व्यवस्था साथ-साथ उत्पादन और वितरण की पूंजीवादी परिपाटी भी चल रही थी। पूंजी के उग्र रूप में बेगार और दासों का श्रम सम्मिलित था। पहले की तरह अब केवल शासन ही लोगों से बेगार ले सकता था। अधिकांशतः लोग घरों में दासों काम लेते थे।[3] बाद की स्मृतियों ने भी अपवित्र काम गिनवाये हैं जो केवल दासों लिए सुरक्षित थे। पवित्र काम वेतनभोगी मजदूर करते थे।[4]

कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यापार और घरेलू काम के लिए मजदूरों से काम लिया जाता था। बाद के स्मृतिकारों ने वेतनभोगी मजदूरों की हैसियत निम्नलिखित शीर्षकों के अनुसार दी है :—

(i) मजदूरी सम्बन्धी कानून

वेतनभोगी श्रम को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था। पहली श्रेणी में सैनि दूसरी में कृषक, तीसरी में भारवाहक और घरेलू नौकर-चाकर थे। काम की शर्तें और पाबन्दियाँ थीं। मजदूरों को दैनिक, पखवाड़े, तिमाही, छमाही या आधार पर काम दिया जाता था। नारद के अनुसार अनाज की पैदावार का हिस्सा कृषि मजदूर को मिलना चाहिए। बृहस्पति की एक अपेक्षाकृत उदार अनुसार मजदूर को पाँचवाँ हिस्सा अनाज, और खाना-कपड़ा मिलना चाहिए।

---

[1] **अमरकोश** II, ९, ६७; कोज्मास, ३६४, ३६६-७१, पा. टि. २९, के अन्तर्गत में भी देखिए।

[2] कोज्मास, ३६६, लाउफर, सिनो-इरानिका में पृ. ४९०-९१ पो-ताई का अनुवाद के अनुसार है।

[3] स्मृतियों में तीन धाराओं के अन्तर्गत दास-प्रथा का उल्लेख है, **वेतनस्यानपा** **अभ्युपेत्याशुश्रूषा** तथा **स्वामिपालविवाद** (वेतन न देना, सेवा न करना, स्वामी और के बीच के झगड़े); इन विषयों के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए काणे— हिस्टरी **धर्मशास्त्र**, जि. III, परि. XX।

[4] **नारद**, श्लो. ५-७; **बृहस्पति** I, १५, १६-१८ (दासों के लिए काम)।

ौर फसल का तीसरा हिस्सा कृषि मजदूर को मिलना चाहिए। सातवीं सदी ें, यह बताने के बाद कि भारत के बौद्ध मठों में किस प्रकार कृषि मजदूर े हैं, ई-त्सिंग ने लिखा है कि संघ खेती के लिए जमीन और बैल देता था और र इसके बदले में फसल का छठा भाग लेता था। मौसमों के अनुसार ये या ज्यादा कर दिये जाते थे। ऐसा लगता है कि बँटाई पर काम करने वालों मठों की ओर से फसल का पाँच बटा छह हिस्सा तक मिल जाता था।[१]

(ii) श्रम और पूंजी के पारस्परिक सम्बन्धों का कानून

ी स्मृतियों ने मनु और याज्ञवल्क्य का अनुसरण करते हुए मालिक और पारस्परिक सम्बन्ध विषयक धाराएं बनायी थीं। अगर नौकर अपने मालिक र्तव्य पूरा करने में तनिक भी विश्वासघात करता था तो उनका वेतन जब्त था और कचहरी में उस पर मुकदमा चल सकता था। वेतन लेकर अगर र अपना काम करने में असमर्थ रहता था, तो उसे राजा को अपने वेतन से हर्जाने के रूप में भरनी पड़ती थी और वेतन भी वापस करना पड़ता था। ी उठाने के बाद अगर कोई अपना काम पूरा न करे, या असफल हो, तो उसे र्माना अदा करना पड़ता था। दूसरी तरफ अगर काम समाप्त होने पर मालिक देता था तो राजा उसे वेतन देने के लिए बाध्य करता था। इसके अलावा नुपात में उसे जुर्माना भी भरना होता था। कात्यायन का कहना है कि कर के पास से मालिक की कोई चीज चोरी चली जाती है, जल जाती है या जाती है तो नौकर उसका हर्जाना देने के लिए बाध्य नहीं है। अगर कोई पने बीमार नौकर को सड़क पर छोड़कर चला जाए तो उस पर जुर्माना ा है।[२]

७. जमानत और बिना जमानत के कर्ज

की स्मृतियों ने मनु तथा याज्ञवल्क्य की कर्ज सम्बन्धी धाराओं को विकसित ।[१] उनके विवरण संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(i) कर्ज की किस्में

स्मृति ग्रन्थों की तरह कर्जों की कई किस्में मानी गयी हैं; जैसे बगैर , जमानत के साथ (प्रतिभू) तथा जमानत या गिरवी के साथ (आधि)।

बृहस्पति I, १५, १५-१६; **कात्यायन** ६५७ प. पृ. १७३ प. पृ.; रेकार्ड, पृ. ६१ प. पृ.

बृहस्पति I, १५, ३-७, ६-११ और **कात्यायन** ६५७-६०; **मनुस्मृति** VIII, २१५ II, १९३।

देखिए कांणे, पू. पू., पृ. ४१८ प. पृ.।

बृहस्पति तथा कात्यायन ने गिरवी की भी चार श्रेणियाँ बतायी हैं। नारद ने पाँच किस्म की जमानतों का उल्लेख किया है। साथ में गिरवी और जमानत सम्ब कानून के विस्तृत वर्णन भी हैं। लेकिन यहाँ पूरे विस्तार में जाना सम्भव नहीं है।

(ii) ब्याज सम्बन्धी कानून

नारद और बृहस्पति ने अनेक प्रकार के ब्याजों का उल्लेख किया है; लेनदार द्वारा अपने किसी प्रयोग में लाया जाने वाला, समय-समय पर चुकाया वाला, ब्याज पर ब्याज (अर्थात् चक्रवृद्धि ब्याज), अनुवन्धित ब्याज, दैनिक ब्याज आबन्ध ब्याज। अन्य दृष्टियों से ब्याज की दरों के मामले में वाद के स्मृतिग्रन्थ वर्ती स्मृतिग्रन्थों का अनुसरण करते हैं। मनु और याज्ञवल्क्य ने वैध ब्याज की सवा प्रतिशत प्रति मास बतायी है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में अतिरिक्त दर गुंजाइश भी रखी है। नारद और कात्यायन के अनुसार मित्रता अथवा अनुबन्ध बगैर दिये गये कर्जों पर ब्याज नहीं लगता और अगर माँगने पर भी कोई कर्ज रकम न लौटाए तो ब्याज की दर ५ प्रतिशत हो सकती है। ब्याज के अनुसार जमा गिरवी और बगैर जमानत पर दिये गये कर्जे के ब्याज की दर क्रमशः 1¼ प्रतिशत, प्रतिशत और २ प्रतिशत प्रति माह होनी चाहिए। बृहस्पति और कात्यायन का क है कि अगर कर्ज लेने वाले ने मुसीबत के समय कर्ज लिया है तो उसे इन वैध द ऊँची दर पर ब्याज देना होगा। साधारण परिस्थितियों में लिये गये कर्ज पर ब्याज दर यही रहेगी। बाद की स्मृतियों ने भी सूदखोरी के विरुद्ध इसी तरह के नियम ब थे। मनु और याज्ञवल्क्य ने यह सामान्य नियम वनाया कि किसी भी लम्बे अर्से में हो गयी सूद की राशि का जोड़ कर्ज की रकम से ज्यादा नहीं होना चाहिए। लें कुछ चुनी हुई वस्तुओं के कर्ज पर अतिरिक्त सूद की अनुमति दी गयी थी। बाद स्मृतियों ने भी इसी तरह की धाराएँ बनायी थीं। सोना, अनाज, कपड़ों, और द्र पर सूद की दर २, ३, ४ और ८ गुनी थी (नारद); ताम्वे की वनी और कुछ वस्तुओं पर ४ गुनी थी। जेवरात, मोती, प्रवाल, सोना, चाँदी, फल, रेशमी ऊनी कपड़े पर दुगुनी थी। सोना और चाँदी के सिवा दूसरी धातुओं पर ५ गुनी, मदिराओं, घी, गुड़, नमक और जमीन पर आठ गुनी; (कात्यायन)। उपर्युक्त अ स्पष्टतः उपभोग की अनेक वस्तुओं की माँग और आपूर्ति के सम्वन्धों के परिवर्तनों सूचित करते हैं।[2]

---

[1] बृहस्पति I, १०, ३८ प. पृ.; वही ७३, कात्यायन ५१६ प. पृ., ५३० प. पृ.।

[2] नारद I ६८; बृहस्पति I, १०, ४ प. पृ.; कात्यायन ५०५ प. पृ. और शूलपाणि उद्धृत याज्ञवल्क्य में व्यास II, ३७।

(iii) ऋणदाता और ऋणी के सम्बन्ध

की स्मृतियों में ऋणदाता के स्वत्व को पूरी तरह सुरक्षित रखा गया है। के अनुसार ऋणदाता को पर्याप्त जमानत लेकर अथवा लिखित दस्तावेज पर हस्ताक्षर लेकर कर्ज देना चाहिए। बृहस्पति ने भी मौखिक गवाही की अपेक्षा लिखित प्रमाण-पत्र को अधिक प्रामाणिक माना है। कात्यायन ने कई प्रकार यों की अयोग्यता, लिखित दस्तावेजों की अनिवार्यता, गवाहों की योग्यता यता के विस्तृत विवरण दिये हैं।[1] बृहस्पति और कात्यायन ने कर्जदार से या वसूल करने की प्रक्रिया सम्बन्धी पुरानी धाराओं को दुहराया है। प्रपंच, काम निकलवाना, सार्वजनिक दबाव और मुकदमा, ये सब तरीके न्यायसंगत हैं। साथ ही एक बचाव-खंड भी दिया गया है; वह यह कि अगर कोई लय द्वारा जाँच चाहता हो और ऋणदाता (उत्तमर्ण) उसे तंग करना तो वह कर्ज की रक्म वापस पाने का हकदार नहीं रहेगा और उतनी ही र्माना भरेगा।[2]

८. शिल्पी-संघ और साझेदारी

दो अन्य आर्थिक संगठनों, शिल्पी-संघों और साझेदारियों के सम्बन्ध में विचार रह गया है। मनु तथा बाद की सभी स्मृतियों में "अनुबन्धों का उल्लंघन" तिक्रम) अथवा अनुबन्धों का पालन न करना (**समयानपाक्रम**)[3] शीर्षक है जिसका सम्बन्ध समुदायों (समूहों अथवा वर्गों) से है। वर्गों में **श्रेणी**, गम भी सम्मिलित हैं। शिल्पियों और व्यापारियों के संगठनों को प्रारम्भिक के काल से ही **श्रेणी** का नाम दिया गया है। अलग-अलग लेखकों ने की अलग-अलग परिभाषा दी है, लेकिन कात्यायन के अनुसार व्यापारियों आदि को **पूग** कहते हैं। कात्यायन के अनुसार एक ही नगर के बहुत से के लिए फीका सा शब्द है, **नैगम**। लेकिन **अमरकोश** में इस शब्द का प्रयोग के लिए किया गया है।[4] बाद की स्मृतियों में शिल्पी-संघों और सम्बद्ध

हस्पति I. १०, ५ प. पृ.; तथा **कात्यायन**, ११४ प. पृ. (गवाहों की अयोग्यताएँ); २१५ प. पृ. (लिखित दस्तावेजों की आवश्यकताएँ); वही ५४९ प. पृ. (गवाहों की र अयोग्यताएँ)।

हस्पति I. १०, ९ प. पृ. तथा **कात्यायन**, ४७७, ५८०, (कर्ज की रक्म वसूल करने)।

ग्रेजी संस्करण में यह संभवत: **समयानुपक्रम** के स्थान पर गलत छप गया है।

त्यायन ६७८-७९ (**पूग** तथा **निगम**); **अमरकोश** II ९, ९८ (**नैगम**)। **समूहों** यों के विस्तृत नियमों की जानकारी के लिए देखिए काणे, पू. पु., परिच्छेद XVIII ।

संस्थाओं की प्रतिष्ठा बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। हम निम्नलि शीर्षकों के अन्तर्गत इस पर चर्चा कर सकते हैं :—

(i) शिल्पी-संघों का संगठन-विधान
(ii) उनकी प्रथाओं और समझौतों का पालन
(iii) सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य

(i) शिल्पी-संघों का संगठन-विधान

बाद की स्मृतियों के अनुसार **श्रेणियों** और अन्य संस्थाओं के मुखिया उच्चाधि होने चाहिएँ (**अध्यक्ष** अथवा **मुख्य**) जिनकी सहायता के लिए दो, तीन या सलाहकारों की समिति होनी चाहिए जो सार्वजनिक हित के लिए (**समूहहितवादी**) सार्वजनिक कार्य के लिए (**कार्य-चिन्तक**) काम करें। कार्यकारी अधिकारियों से स धाराओं में प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण के लिए बहुत स्थान रखा गया है और साम सदस्यों को भी कई अधिकार दिये गये हैं। बृहस्पति के अनुसार अध्यक्ष को इस का पूरा अधिकार है कि वह गलत काम करने वालों की भर्त्सना करे और उन्हें पद या जातिच्युत कर दे। कर्तव्यपालन के सिलसिले में उनके फैसले राजाओं द्वारा मान्य होंगे। क्योंकि लेखक के शब्दों में "ऋषियों की दृष्टि में ये अधिकार उन्हें गये हैं।" नारद के विचार में शिल्पी-संघों और ऐसी संस्थाओं को सलाहकारों के पर चलना चाहिए। दूसरी ओर मुख्य कार्यकारी अधिकारियों और अन्य संस्थाओं बीच उठने वाले विवादों का निपटारा राजा द्वारा होना चाहिए।[1]

(ii) शिल्पी-संघों की रूढ़ियाँ या संविदाएं

नारद और बृहस्पति ने विभिन्न संस्थाओं द्वारा किये गये आपसी समझौतों के दृष्टान्त दिये हैं। कात्यायन ने इन समझौतों को **स्थितिपत्र** का नाम दिया है। इ परिभाषा के अनुसार अपनी प्रथाओं को बनाये रखने के लिए **श्रेणियां** अथवा अ संस्थाएं समझौतों के जो दस्तावेज तैयार करती हैं, उन्हें **स्थितिपत्र** कहते हैं। बृहस् ने इन्हें **संवित्पत्र** कहा है। नारद का कहना है कि **नैगमों, श्रेणियों,** पूगों तथा अ संस्थाओं के आपसी समझौते राजा द्वारा लागू किये जाने चाहिएँ, सिवा समझौतों के जो राजा के और जनता के हितों के विरुद्ध हों या जिन्हें ज नापसन्द करती हो। कात्यायन के अनुसार संस्थाओं के सदस्य हर काम में अपनी सं के नियमों और समझौतों का अपने व्यक्तिगत कर्तव्यों को (शास्त्रों के नियमों अनुसार) पूरा करते हुए और अगर राजा के आदेश इन नियमों के विरुद्ध नहीं तो, पालन करने के लिए बाध्य हैं। जो व्यक्ति समर्थ होते हुए भी प्रथा पालन नहीं करता, बृहस्पति के अनुसार उसकी जायदाद जब्त की जा सकती है उसे देश निकाले का कठोर दंड दिया जा सकता है।

---

[1] **बृहस्पति,** पृ. १५१, श्लो. ८ ए।

(iii) शिल्पी-संघ के सदस्यों के अधिकार तथा कर्तव्य

ने विभिन्न दलों द्वारा अवैध सम्मिलन, झगड़ों और अवैध ढंग के शस्त्र ने पर पाबन्दी लगायी है ।[1] जो सामूहिक हित को हानि पहुँचाता है या नों का अनादर करता है, उसके लिए बृहस्पति ने देश निकाले के कठोर दंड की है। कात्यायन के अनुसार जघन्य अपराध करने वाले को, फूट डालने या संस्थाओं की सम्पत्ति को हानि पहुँचाने वाले को राजा के सामने दोषी के "नष्ट" कर देना चाहिए। दूसरी ओर बृहस्पति ने कहा है कि सलाहकारों द्वारा प्राप्त राशि या सम्पत्ति, राजा की कृपा से प्राप्त सम्पत्ति अथवा हित के लिए लिये गये कर्ज में सारे सदस्य भागीदार हैं।[2]

की स्मृतियों में दिये गये शिल्पी-संघों के सम्बन्धित नियमों का आंशिक मिट्टी की मुहरों से होता है जो बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) तथा भिट के निकट) की खुदाई में गुप्तकाल के अवशेषों से मिली हैं। इन मुहरों तिपि (भिट) की **निगम** प्रशस्ति, विशेषकर **श्रेणीकुलिक**—निगम तथा **श्रेणी कुलिक-निगम** (बसाढ़) की प्रशस्तियाँ अंकित हैं। इन नामों को अक्सर कुछ के साथ जोड़ा जाता है।[3] यहाँ सम्भवतः उन प्रथाओं या समझौतों का हवाला है जो स्थानीय औद्योगिक और व्यापारी समूहों ने व्यक्तियों अथवा सदस्यों से रूप से किये थे। इन दस्तावेजों को बाद की स्मृतियों के पारिभाषिक शब्दों त्र अथवा **संवित्पत्र** कहेंगे।

बाद गुप्त सम्राटों के काल में शिल्पी-संघ की कार्यप्रणाली के ठोस उदाहरण सकते हैं। इन्दौर से प्राप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त[4] के ताम्रपत्र में एक ब्राह्मण दानी सूर्य मन्दिर के लिए (रोजाना) तेल के निश्चित परिमाण के लिए तेलियों के शिल्पी-संघ के लिए स्थायी निधि (चिरस्थायी दान) की रकम दर्ज है। शिल्पी-संघ ने यह राशि अपने या किसी और व्यापार में लगा दी होगी, ताकि से यह खर्च निकाला जा सके। गुप्तकाल का यह दस्तावेज पूर्वकाल के हासिक अभिलेखों की श्रेणी में है जिनमें राजकुमारों और निजी व्यक्तियों अथवा धार्मिक अनुष्ठानों के नियमित पालन के लिए शिल्पी-संघों को दिये

नारद X, ३-४, ७; **बृहस्पति**, पृ. १५०, श्लो. ५ प. पृ. **कात्यायन** ६६८-७० ।

नारद X, ५-६; **बृहस्पति**, पृ. १५४, श्लो. २३ प. पृ. **कात्यायन** ६७१-७२, ६७७ ।

हवाले के लिए देखिए आ. स. इ. १९०३-४, पृ. १०१ प. पृ. और ताम्रपट (टी. ब्लाख की खुदाई में प्राप्त); वही ११०-११, पृ. ५६ प. पृ. (सर जॉन मार्शल द्वारा भिट की स्तुत लेखक का "गुप्तकाल की ग्राम सभाओं, आर्थिक शिल्पी-संगठनों और धार्मिक तथा ओं की कार्यप्रणाली" शीर्षक लेख (जर्नल ऑफ दि एसियाटिक सोसाइटी, भाग-१, १९५९, भी देखें।

का. इ. इ., पृ. ७० प. पृ. ।

गये अनुदान के विवरण दर्ज हैं। उपर्युक्त उदाहरण से पता चलता है कि शिल्पी धर्मार्थ न्यासों के लिए बैंक का काम भी करते थे और अनुदान की रकम भी लेते

स्मृतियों में **सम्भूयसमुत्थान** (व्यापार में साझेदारी) शीर्षक से एक अलग खंड दिया गया है। इस विषय पर पुरानी स्मृतियों का दृष्टिकोण अपनाया गया सबसे पहले देयादेय पर विचार करते हुए लिखा गया है कि हर सदस्य की समझौते अथवा उसके हिस्से के अनुपात में होनी चाहिए। कात्यायन के साझेदारों को समझौते की शर्तों के अनुसार माल की कीमत, खुराक, तथा अन्य हानि, माल का भाड़ा और बहुमूल्य सम्पत्ति की देखभाल के खर्च में हिस्सा चाहिए। नकदी (सोना), अनाज अथवा द्रव्य पदार्थों के साझेदारों के हिस्से पूंजी में उनके हिस्सों के अनुसार होंगे। जाहिर है कि कारीगरों के लिए अलग होंगे, क्योंकि हर साझेदार से अलग-अलग किस्म के हुनर की उम्मीद की जाती बृहस्पति और कात्यायन के अनुसार चार प्रकार के शिल्पी, अर्थात् नौ (शिक्षक), ऊँची कक्षा के विद्यार्थी (अभिज्ञ), विशेषज्ञ (कुशल) और (आचार्य) लाभ को १ : २ : ३ : ४ के अनुपात में बाँटें। इन्हीं स्मृतिकारों का है कि महल बनाने वाले राजगीरों में, मुख्य वास्तुकार को लाभ के दो भाग चाहिएँ। साझेदारों के अधिकार और कर्तव्य सम्बन्धी कानूनों में हम पढ़ते हैं सम्पत्ति का दसवाँ हिस्सा उस व्यक्ति को मिलना चाहिए, जिसने उसे खतरे से हो, बाकी सम्पत्ति सब साझेदारों में बंटनी चाहिए। अगर कोई साझेदार साझेदारों की मर्जी से कोई सम्पत्ति देता है या दस्तावेज बनाता है तो वह सर्वमान्य दूसरी तरफ अगर किसी साझेदार की लापरवाही से या दूसरों की स्वीकृति के कोई कार्यवाई करने से नुकसान होता है तो उसे उसका हर्जाना भरना पड़ेगा। और विक्रय के मामले में अगर किसी साझेदार ने धोखे से काम लिया है तो उसे से मुक्त होने के लिए शपथ उठानी पड़ेगी। अगर धोखे का सन्देह हो तो स्वयं गवाही दे सकते हैं और मामले की जांच कर सकते हैं बशर्ते अभियुक्त के उनके मन में पूर्वग्रह न हो। अगर कोई साझेदार किसी काम को खुद नहीं कर तो वह किसी प्रतिनिधि से वह काम करवा सकता है, लेकिन अगर वह व्यवहार करता है तो उसे उसके लाभ से वंचित करके साझेदारी से देना चाहिए।[1]

लोगों की सामान्य आर्थिक अवस्था

उच्च जीवन-स्तर तथा नागरिक जीवन की विलासिता, जिसकी साक्षी की साहित्यिक कृतियाँ हैं, कम-से-कम उच्च वर्ग की आर्थिक सम्पन्नता की सूचक है

---

[1] **नारद** VI, १ प. पृ.; **बृहस्पति** I, १३, १-३९; **कात्यायन** ६२४ प. पृ., विषय के लिए देखिए काणें, पू. पु. II, पृ. ४६६-७०।

चीनी यात्रियों के तथ्यात्मक विवरणों में भारतीय जनता की आर्थिक स्थिति चलता है। फा-हिएन के अनुसार पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में "मध्यवर्ती राज्य" सुखी और सम्पन्न थे। फा-हिएन ने विशेष रूप से सांकाश्य और ों की सम्पन्नता का हवाला दिया है। हिउएनत्सांग के अनुसार सातवीं सदी में गान्धार के नगर और गाँव (निस्सन्देह पहली सदी में हूणों द्वारा की गई के कारण) उजाड़ पड़े थे। नेपाल के पहाड़ों के नीचे का पूरा प्रदेश, जिसमें कपिलवस्तु, रामग्राम और कुशीनगर सम्मिलित थे, उजाड़ पड़े थे—उस लुटेरों और जंगली जानवरों का वास था। पूर्वी तटवर्ती इलाकों की, जिसमें नकटक और चोल सम्मिलित थे, आबादी बहुत कम थी। चोल प्रदेश में जंगल थे। टक्क के पूर्व से लेकर महाराष्ट्र तक जंगलों का फैलाव था। लेकिन देश का बहुत बड़ा इलाका सम्पन्न था। इसका परोक्ष प्रमाण चीनी यात्रियों से मिलता है, जिनमें उन्होंने कुछ इलाके के लोगों की कीमती और भड़कीली और दूसरे प्रदेशों में धनी परिवारों की संख्या का हवाला दिया है। यह की प्रत्यक्ष साक्षी से भी सिद्ध होता है जिसमें उसने बहुत से इलाकों के सम्पन्नता का उल्लेख किया है।[1] इससे भी ज्यादा इस काल के समाज की शान्ति और सम्पन्नता का स्पष्ट प्रमाण स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला के नमूनों से मिलता है जिनका उल्लेख उन्नीसवें परिच्छेद में किया गया है।

---

[1] ा. ट्रै. वा., I २८६, ३४० (टक्क और कान्यकुब्ज के लोगों की शानदार पोशाकें); (स्थाण्वीश्वर के धनी परिवार); वही I, २६६, २९९, ३३०, ३४०; वही, II, ४७, १९०, १९१, २००, २४३, २४५-५० (जालन्धर, शतद्रु, ब्रह्मपुत्र, गोविषाण, कान्यकुब्ज, चान-चू, पुण्ड्रवर्धन, ताम्रलिप्ति, कर्णसुवर्ण, दक्षिण कोसल, आ-ता-ती, कच्छ, वलभी, गुर्जर तथा उज्जयिनी की सम्पन्नता); ताम्रलिप्ति के लोगों के धनवैभव के लिए तक्कुसु की सामान्य भूमिका, पृ. xxxiv।

परिच्छेद : २३

बाहरी दुनिया से सम्पर्क

१. चीन—तांग काल तक

पहले के एक परिच्छेद[1] में बताया जा चुका है कि ईसवी सन् की पहली सदियों में कैसे भारतीय संस्कृति के साथ-साथ बौद्धधर्म मध्य एशिया में फैल गया और निश्चितरूप से चीन में उसने कदम जमा लिये थे। शताब्दियों के बीतने के साथ चीन में बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ता गया और पहले की तरह मध्य एशिया विविध कौमों के बौद्ध भिक्षुओं ने धर्मप्रचार में भाग लिया था।

चौथी सदी ईसवी से कुचि के भिक्षु चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने में रहे थे। उनमें सबसे महान् कुमारजीव था जिसका जीवन इस काल की अद्भुत धार्मि और सांस्कृतिक अन्तरराष्ट्रीयता का उदाहरण है।

कुमारजीव के पिता कुमारायण, एक भारतीय रियासत के पुश्तैनी मन्त्रियों परिवार में पैदा हुए थे। लेकिन वे इस उच्च पद का अधिकार अपने रिश्तेदारों को कर कुचि चले गये। कुचि के राजा ने उनका हार्दिक स्वागत किया और जल्द ही तरक्की करके राजगुरु के ओहदे पर पहुँच गये। उन्होंने राजकुल की एक राजकुमा जीवा से विवाह किया, जो उनसे प्रेम करती थी। अपने पुत्र कुमारजीव के जन्म के जीवा बौद्ध भिक्षुणी बन गयी और जब कुमारजीव नौ बरस का हो गया तो उसे अपने साथ कश्मीर ले गयी। यहाँ आकर कुमारजीव ने बन्धुदत्त नाम के से बौद्ध साहित्य तथा दर्शन पढ़ा और वह बहुत से विषयों में पारंगत हो अध्ययन समाप्त करने के बाद कुमारजीव अपनी माँ के साथ मध्य एशिया की विख्यात बौद्ध संस्थाएँ देखने गया, और उसने एक बौद्ध विद्वान् के रूप में अर्जित की। फिर वह कुचि लौट आया। कुछ समय बाद ही कुचि और चीन लड़ाई छिड़ गयी। चीनी सेना ने कुचि को घेर लिया और बहादुरी से लड़ने के कुचि ने आत्मसमर्पण कर दिया। उस जमाने की प्रथा के अनुसार, विजयी सेनापति, विख्यात विद्वान् कुमारजीव को अपने साथ चीन लेता गया। यह घटना ई सन् ३८३ की है। कुमारजीव कू-त्सांग के शासक के साथ कान-सू में करीब बरस तक रहा। बार-बार चीन के सम्राट् ने उसे निमंत्रित किया और वह

---

१. जिल्द II, परि. २५ (अँगरेजी संस्करण)।

चीन की राजधानी के लिए रवाना हो गया। तबसे लेकर ४१२ ईसवी तक ने चीन की राजधानी में रहकर काम किया। उसने बौद्ध पुस्तकों के था बौद्ध धर्म और दर्शन की व्याख्या में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उसने करीब सौ पुस्तकों का अनुवाद किया। चीन में महायान दर्शन की व्याख्या वह पहला व्यक्ति था। उसे संस्कृत और चीनी भाषा पर अधिकार था दार्शनिक विषयों का विद्वान् होने के नाते वह इस काम के लिए सर्वथा था। चीन के विभिन्न प्रदेशों के विद्वान् उसके शिष्य बन गये थे। यह योक्ति नहीं होगी कि वह चीन में बौद्ध धर्म के इतिहास में एक नये युग था।

जीव की माँ उसे कुचि से सुदूर कश्मीर में शिक्षा दिलाने के लिए ले गयी तथ्य से स्पष्ट होता है कि उस काल के बौद्ध संसार में कश्मीर की स्थिति त्त्वपूर्ण थी। इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि कश्मीर के विद्वान चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार में आगे बढ़कर भाग लेते। कहा जाता है कि वीं और छठी सदी ईसवी में कश्मीर से चीन जाने वाले बौद्ध विद्वानों की त के अन्य भागों से गये विद्वानों की कुल संख्या से भी अधिक थी। इन विद्वानों में संघभूति (३८१-३८४ ई०)[1] गौतम संघदेव (३८४-३९७ ई०), (४०४ ई०), विमलाक्ष (४०६-४१३ ई०), बुद्धजीव (४२३ ई०), धर्ममित्र ४२ ई०) तथा धर्मयश (४००-४२४ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ने पुण्यत्रात और विमलाक्ष ने कुमारजीव की सहायता की थी और धर्मयश का शिष्य था। ये सब बौद्ध ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद करने और बौद्ध-ख्या में जुटे रहे। उन्हें जनता और अधिकारियों से बहुत सम्मान प्राप्त ।

अन्य कश्मीरी विद्वान् बुद्धयश का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। वह एक ब्राह्मण में पैदा हुआ था, लेकिन बौद्ध भिक्षु बन गया था। अध्ययन समाप्त करने के बाद एशिया चला गया। काशगर के राजा ने एक धार्मिक अनुष्ठान में तीन हजार क्षुओं को निमन्त्रित किया था, और बुद्धयश उन्हीं के साथ गया था। राजा प्रभावित हुआ और उसने बुद्धयश को महल में रहने का निमंत्रण दिया। रजीव उसे मिला और उसके साथ उसने पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन किया। के वापस लौटने के बाद जब कुचि पर चीनियों ने हमला किया तो ने काशगर के राजा से सहायता की प्रार्थना की। बुद्धजीव के देखभाल की

---

[1] कोष्ठकों के भीतर दी गयी तारीखें चीन में उसके ज्ञात निवासकाल की हैं। भारतीय और चारकों और चीन में बौद्ध धर्म की प्रगति का विवरण डॉ. पी. सी. बागची की पुस्तक ड चाइना" तथा "सिनो-इंडियन स्टडीज", जि. I, पृ. १-१७, ६५-८४ में छपे उनके धारित हैं। अन्य स्रोतों का हवाला अलग से दिया गया है।

जिम्मेदारी युवा राजकुमार पर छोड़कर काशगर का राजा सेना लेकर कुचि के लि पड़ा । कुचि के आत्मसमर्पण और कुमारजीव के निर्वासन की खबर सुनकर बहुत दुःखी हुआ । वह दस बरस और काशगर में रहा और फिर कुचि चला एक साल बाद वह चीन चला गया और कुमारजीव के साथ काम करने कुमारजीव की मृत्यु के बाद वह कश्मीर लौट आया । वह अपने सिद्धान्तों का पावन्द था कि उसने किसी से, यहाँ तक कि सम्राट से भी, कोई भेंट स्वीकार की, क्योंकि उसके विचार में भिक्षु के लिए यह अशोभनीय था ।

एक अन्य महान् कश्मीरी गुणवर्मन् का उल्लेख करना जरूरी है । वह परिवार में पैदा हुआ था, लेकिन बौद्ध भिक्षु बन गया था । जब वह तीस वर्ष था, तो कश्मीर के राजा की मृत्यु हो गयी और मन्त्रियों ने उसे सिंहासन पर का निमन्त्रण दिया । गुणवर्मन् ने इनकार कर दिया और वह जंगल में जाकर लगा । इसके बाद वह श्रीलंका जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने लगा । बाद उसने जावा जाकर राजा और राजमाता को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी । इसी जावा पर विरोधी सेनाओं ने हमला किया । राजा ने गुणवर्मन् से पूछा कि दुश्मन के खिलाफ लड़ना बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है ? गुणवर्मन् ने जवाब कि लुटेरों से लड़ना हर आदमी का कर्तव्य है । धीरे-धीरे गुणवर्मन् के प्रयत्नों के स्वरूप बौद्धधर्म सारे जावा में फैल गया । गुणवर्मन् का नाम और ख्याति अब बौद्ध जगत् में फैल चुकी थी । ४२४ ईसवीं में नानकिंग के चीनी भिक्षुओं ने सम्राट् से निवेदन करके गुणवर्मन् को चीन आने का निमन्त्रण भिजवाया । सम्राट् ने तदनुसार गुणवर्मन् तथा जावा के राजा के पास दूत भेजे । गुणवर्मन् नाम के हिन्दू व्यापारी के जलपोत पर सवार हुआ और रास्ते में कई जगह रुकता ४३१ ई० में नानकिंग पहुँच गया । चीनी सम्राट् स्वयं उसका स्वागत करने के आया था । उसे जेतवन विहार नामक मठ में ठहराया गया, जिसका नाम श्रावस्ती विख्यात मठ के अनुकरण पर रखा गया था । श्रावस्ती का सम्बन्ध बुद्ध की पावन से था । एक साल के भीतर ही गुणवर्मन् का देहान्त हो गया, लेकिन उसने अधिक परिश्रम किया था इस अल्प अवधि के दौरान उसने कम से कम ग्यारह ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर लिया था ।

भारत के अन्य भागों से भी अनेक विद्वान् बौद्ध भिक्षु धर्मप्रचार के लिए गये थे । इनमें से मध्य प्रदेश (मध्यभारत) के गुणभद्र (ई० ४३५-४६८), वारा के प्रज्ञारुचि (ई० ५१६-५४३), उज्जयिनी के उपशून्य (छठी सदी) और पूर्वी (अर्थात् बंगाल और आसाम) के तीन भिक्षु ज्ञानभद्र, जिनयशस् और यशोगुप्त (सदी) के नाम उल्लेखनीय हैं । तीन अन्य भिक्षु बुद्धभद्र, विमोक्षसेन तथा जिनगुप्त पश्चिमी सीमा प्रदेश के रहने वाले थे । इनमें से प्रथम दो भिक्षु कपिलवस्तु के शाक्य के थे । कहा जाता है कि जब कोसल के राजा विडूडभ[1] ने कपिलवस्तु पर हमला कि

---

[1] देखिए, जि. II, पृ. ६ (अंगरेजी संस्करण) ।

कुल के चार सदस्यों ने बुद्ध के अहिंसा सिद्धान्त का उल्लंघन किया और वे लड़े। इस अपराध के लिए उन्हें निकाल दिया गया और उनमें से दो पश्चिम चले गये जहाँ वे उड्डीयान (स्वात घाटी) और वामियान (काबुल के के शासक बन गये। विमोक्षसेन अपने को पहले का वंशज बताता था, और उसका जन्म नगरहार (जलालाबाद) में हुआ था, शायद दूसरे का वंशज था। काश्मीर में था, तो एक चीनी भिक्षु, जो फाहिएन के साथ भारत आया आया और उसने वहाँ के बौद्ध समाज से निवेदन किया कि वे किसी विद्वान् भेजें। इस काम के लिए बुद्धभद्र को चुना गया और वह बर्मा और टोन्किन चीन पहुंचा जहाँ उसने कुमारजीव के साथ मिलकर काम किया।[१]

भिक्षु जिनगुप्त गान्धार में पैदा हुआ था और वह ज्ञानभद्र और जिनयशस् का जिनका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। वे चांग-न्यान पहुँचे (ईसवी ५५९ में) के विशेष आदेश से उनके लिए एक मठ का निर्माण किया गया। राजनैतिक कारण उन्हें चीन छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा (सन् ५७२ ई०)। स्वदेश-समय वे रास्ते में तुर्कों के राजा के आग्रह पर तुर्कों के देश में रुके थे। के गुरुओं का वहीं देहान्त हो गया, लेकिन वह ५८१ ईसवी तक वहाँ रह चार करता रहा और बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करता रहा। ५८५ ईसवी में लौट गया और ६०० ईसवी में उसका देहान्त हो गया।

कुछ दूसरे भारतीय भिक्षुओं का भी सविस्तार उल्लेख कर सकते हैं जिन्होंने प्रचार किया था। उनके जीवन विशेष रूप से दिलचस्प हैं।

का जन्म मध्य भारत में हुआ था। वह कुचि से पश्चिमी चीन पहुँचा जो एक स्वतन्त्र राज्य था। ४१४ ईसवी से ४३२ ईसवी तक वहाँ रहकर न्थों का अनुवाद करता रहा। फिर उसके मन में भारत लौटने की हुई, लेकिन स्थानीय शासक ने उसे वाहर जाने की आज्ञा देने से इनकार क्योंकि उसे डर था कि कहीं वह अन्य चीनी राज्यों में न चला जाए। लेकिन इस आदेश का उल्लंघन किया और वह यात्रा पर चला गया। निर्दयी राजा ३३ ईसवी में मरवा डाला। वह बौद्धधर्मपरायणता से हटकर बर्बरतापूर्ण एकमात्र और विचित्र उदाहरण है।

से चीन जाने वाले भिक्षुओं में भारत में सबसे अधिक विख्यात परमार्थ उज्जयिनी में पैदा हुआ था। बौद्ध ज्ञान के हर क्षेत्र में पारंगत होकर शायद पुत्र में जा बसा था। उस काल में सम्राट् वू द्वारा भेजा गया एक प्रतिनिधि-के राजा के पास आया और उन्होंने राजा से किसी विख्यात बौद्ध भिक्षु भेजने की याचना की। उस समय सम्भवतः अंतिम गुप्त शासक विष्णुगुप्त

---

[१] की के अनुसार बुद्धभद्र ३९८ ईसवी में चीन पहुँचा था, अर्थात् फाहिएन के भारत में से दो बरस पहले। (ज. रा. ए. सो. १९०३, पृ. ३६८)।

का राज्य था। उसने इस काम के लिए परमार्थ को चुना जो अपने साथ बड़ी में बौद्ध ग्रन्थ लेता गया और ५४६ ईसवी में चीन पहुँचा। हालांकि राजनैतिक झग कारण ५५७ ईसवी में उसके काम में रुकावट पड़ गयी थी, फिर भी वह ५६९ तक, जब तक उसका देहान्त नहीं हुआ, वहीं रहा और उसने पूरे ७० बौद्ध ग्रन्थों अनुवाद किया।

एक और प्रसिद्ध भिक्षु धर्मगुप्त का जन्म लाट (दक्षिणी गुजरात) में हुआ उसने कन्नौज के कौमुदी संघाराम के विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की थी। वह (उत्तरी पंजाब) के देवविहार नामक राज-मठ में कुछ दिन रहने के बाद चीन गया। उसने अफगानिस्तान के रास्ते स्थलमार्ग से यात्रा की और रास्ते में वह (काफिरिस्तान), बदख्शाँ, बखाँ, और ताश कुरघाँ में भी ठहरा। दो बरस काशगर के राज-मठ में रहा, फिर उत्तरी रास्ते से आगे चल पड़ा। वह अग्निदेश, (कारा शहर), तूर्फा और हमी से गुजरा। ये सब स्थान बौद्ध मत थे और यहाँ के भिक्षु भारतीय भिक्षु की विद्या से लाभ उठाना चाहते थे। हर स्थान पर एक या दो बरस गुजारने के बाद धर्मगुप्त ५९० ईसवी में चां पहुँचा। बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के अलावा, कहा जाता है कि उसने उन सभी का सूक्ष्म भौगोलिक विवरण भी दिया जिनकी उसने यात्रा की, यहाँ तक कि उन दे शासन-व्यवस्था, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति का, जिनमें खान-पान, शिक्षा और रीति-रिवाज भी शामिल हैं, इस ग्रन्थ में जिक्र किया। भारतीय का यह ग्रन्थ एक अपूर्व साहित्यिक कृति रही होगी, लेकिन दुर्भाग्य से इसकी प्रति नहीं बची है।

जिस भिक्षु को चीन में सबसे अधिक ख्याति प्राप्त हुई थी, वह था बोधिधर्म एक भारतीय राजा का (शायद काँची के पल्लव राजा का) तीसरा पुत्र था। एक प्रकार से अर्ध-मिथक व्यक्ति है। कहा जाता है कि उसने बहुत से चमत्कार थे। सम्राट् वू ने उसका स्वागत किया। चीन में ध्यानपरायण महायान बौद्ध धर्म का श्रेय इसी को प्राप्त है। वह छठी सदी ईसवी के दूसरे चतुर्थांश में चीन गया यहाँ विनतिरुचि का उल्लेख भी अपेक्षित है जो दक्षिण भारत का एक ब्राह्मण था ५८२ ईसवी में चीन की राजधानी में पहुँचा था। उसने चीनी भाषा में दो का अनुवाद किया। इसके बाद वह टोन्किन चला गया, जहाँ उसने ध्यान-मार्ग स्थापना की।[1]

चौथी-पाँचवी सदी ईसवीं में, चीन में, भारतीय धर्म-प्रचारकों की जिन विधियों का विवरण हम ऊपर दे चुके हैं, उनका चीन-निवासियों पर गहरा

---

[1] डॉ. पी. सी. बागची के अनुसार विनीतरुचि उड्डियान का बौद्ध भिक्षु था। (इंडि चाइना पृ. २२८); देखिए बु. ल. फ्रा. द. ओ. XXXII, २३५ जिसमें टोन्किन में उसके का विवरण है। चीन जाने वाले अन्य धर्मप्रचारकों के, विशेषकर लंका के प्रचारकों के, विवरण देखिए ज. रा. ए. सो. १९०३, पृ. ३६८-७०।

सबसे पहले तो चीनियों में बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रति दिलचस्पी उसके बाद बौद्ध धर्म का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करके, भारत में जाने और भारतीय के सम्पर्क में आने की उनकी रुचि और भी बढ़ गयी।

चौथी सदी ईसवी के उत्तरार्ध में महान् चीनी विद्वान् ताओ-न्गन के जीवनवृत्त से इस नयी प्रवृत्ति का पता चलता है। ताओ का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ चीनी क्लासिकी ग्रन्थों के विद्वान्, और कन्फ्यूशसवाद के भक्त थे। ताओ न्गन बौद्ध बन गया और उसने योग्य शिक्षकों की सहायता से बौद्ध साहित्य का किया। उसने बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवादों को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ा, त्रुटियाँ दूर कीं और बौद्ध दर्शन और सिद्धान्तों का सच्चा अर्थ समझाने के लिए टीकाएँ लिखीं। उसकी विद्वत्ता और पवित्र ग्रन्थों पर अधिकार से आकर्षित सारे चीन से लोग उसके पास आते थे। वह उन्हें पूर्णतः प्रशिक्षित करके बौद्ध-प्रचार करने के लिए देश के विभिन्न भागों में भेजता था।

ताओ-न्गन ने भारत पर एक पुस्तक भी लिखी, ताकि चीन के बौद्ध भिक्षुओं को पुनीत भूमि की यात्रा के लिए प्रेरणा मिले। इसके फलस्वरूप बहुत से और जोखिमभरी यात्रा पर चल पड़े। उनका मुख्य उद्देश्य न केवल बौद्ध सिद्धान्तों तथा भिक्षुओं और साधारण लोगों द्वारा आचरण के सही का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना था, बल्कि वे बौद्ध ग्रन्थ, पवित्र स्मृतिशेषों को करके और बुद्ध से संबंधित पवित्र स्थानों की यात्रा करके पुण्य अर्जित करना है।

सदी ईसवी में फा-हिएन के नेतृत्व में पाँच भिक्षु भारत के लिए रवाना की सीमा पर उन्हें पाँच और भिक्षुओं का दल मिला जो कुछ पहले चल पड़े समय के लिए ये लोग एक साथ यात्रा करते रहे। तुन्हवांग के जिला ने उन्हें यात्रा जारी रखने के लिए साज-सामान दिया। खुशकिस्मती से ने अपनी यात्राओं का विस्तृत विवरण छोड़ा है, जिससे हमें उन लोगों की उद्देश्य की, मार्ग में मिलनेवाली कठिनाइयों की, तथा मध्य एशिया में और भारतीय संस्कृति की गहरी जानकारी मिलती है। इस यात्रा के बारे में हम पहले बता चुके हैं। रास्ते की कठिनाइयों के बारे में हम अंश उद्धृत कर सकते हैं, जिसमें रेगिस्तान के खतरों का सजीव वर्णन है: "जो भी (यात्री) इन खतरों का मुकाबला करते हैं, वे खत्म हो जाते हवा में एक भी पक्षी नहीं दिखाई देता, न ही जमीन पर कोई जानवर है। आप बड़ी संजीदगी से अपने आसपास देखते हैं कि रेगिस्तान को से पार किया जाए, लेकिन आपकी समझ में नहीं आता; एकमात्र संकेत मरे हुए यात्रियों की हड्डियाँ होती हैं (रेत पर छोड़ी हुई)।" जाकर बताया गया है कि "रास्ते में आने वाली नदियाँ पार करने में उन्हें कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं और उन्होंने जो जो तकलीफें रास्ते में झेलीं वे मानव-के इतिहास में अपूर्व थीं।"

फा-हिएन कश्मीर के रास्ते से भारत में दाखिल हुआ और उसने सारे भारत में भ्रमण किया। वह तीन बरस तक पाटलिपुत्र में रुका रहा, वहाँ संस्कृत सीखी। उसने संस्कृत की पुस्तकों का अध्ययन किया, और वह विनय-नि को लिखता रहा। फिर ताम्रलिप्ति में दो बरस रहकर उसने अपने सूत्र लिखे प्रतिमाओं के रेखाचित्र बनाये।

फा-हिएन के साथियों में से एक रास्ते में मर गया और कई यात्रा के प्रारंभि दौर में ही चीन लौट गये। एक साथी भारतीय भिक्षुओं के शालीन आचरण से प्रभावित हुआ कि उसने भारत में रुकने का फैसला कर लिया। 'उसने बड़े उदा से चीन के भिक्षुओं की त्रुटियों को याद किया और प्रार्थना की कि भावी जन्मों में सिर्फ भारत में जन्म ले।'

फा-हिएन, जिसका असली उद्देश्य चीन में सम्पूर्ण विनय-नियमों को पहुँचाना अकेला ही चीन वापस पहुँचा। ताम्रलिप्ति से वह एक बड़े व्यापारी जहाज में हुआ और चौदह दिनों बाद श्रीलंका पहुँचा। वहाँ दो बरस रुककर उसने अनेक की पुस्तकें इकट्ठी कीं जो चीन में उपलब्ध नहीं थीं, फिर वह चीन जाने वाले व्यापारी जहाज में चला गया। फा-हिएन ने समुद्र के खतरों का सजीव वर्णन है और बताया है कि वह किस तरह समुद्र के मुँह में जाने से बच गया था। आखिर ४१४ ईसवी में वह चीन पहुँच गया।

चीन लौटने के बाद फा-हिएन ने भारतीय भिक्षु बुद्धभद्र के साथ मिलकर ग्रन्थों का अनुवाद किया जिन्हें वह भारत से लाया था। बुद्धभद्र का जिक्र हम कर चुके हैं। ८८ बरस की आयु में उसका देहान्त हो गया।

फा-हिएन के अन्य साथी भिक्षुओं में से, पाओ-युन ने भारत में रहकर सीखी और चीन लौटकर संस्कृत के बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

फा-हिएन और पाओ-युन के फौरन बाद चे-मोंग के नेतृत्व में पन्द्रह भिक्षुओं एक और दल ४०४ ईसवी में भारत के लिए रवाना हुआ। इनमें से नौ तो पामी ही लौट गये, एक की थकान से मृत्यु हो गयी, बाकी पाँच ने भारत पहुँचकर ग्रन्थ इकट्ठे किये। वापसी की यात्रा में तीन का देहान्त हो गया और ५२४ ईसवी सिर्फ चे-मोंग एक साथी के साथी चीन पहुँचा।

४२० ईसवी में फा-योंग २५ चीनी भिक्षुओं के साथ मध्य एशिया के उत्तरी से होता हुआ काश्मीर के मार्ग से भारत पहुँचा। सारे उत्तरी भारत में भ्रमण करने बाद ये लोग समुद्री मार्ग से वापस लौट गये।

इस काल में भारत आनेवाने कई अन्य चीनी भिक्षुओं के नाम भी इतिहास सुरक्षित हैं, लेकिन उनके विवरण ज्ञात नहीं हैं।

भारत की यात्रा के उत्साह के साथ-साथ इस काल में बौद्ध विद्वानों को चीन निमंत्रित करने की प्रथा भी बढ़ गयी थी। इस मामले में भी ताओन्गन ने, जो चीन के नये आन्दोलन का नेता था, पहल की थी। उसने मध्य एशिया से बड़ी संख्या

को निमन्त्रित किया। उसकी देखादेखी दूसरे लोगों ने भी ऐसा ही किया। पहले देख चुके हैं कि सम्राटों ने भी दूत और विधिपूर्वक निमन्त्रण भेजकर और गुणवर्मन् जैसे प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों को भारत से चीन बुलाया था। पर हम उन दो सम्राटों का विशेष रूप से उल्लेख करेंगे, जिन्होंने बौद्ध धर्म में दिलचस्पी ली थी। ५१८ ई० में महान् वाई वंश की विधवा सम्राज्ञी ने बौद्ध र्जित करने के लिए अपने दूत सुंग युन को एक चीनी भिक्षु के साथ देशों में भेजा था। सौभाग्य से हमें इन दूतों के विवरण प्राप्त हैं। वे मध्य होते हुए हूण राज्य से गुजरे और उद्यान और गांधार भी गये। उन्होंने पुस्तकें इकट्ठी कीं, जो महायान सम्प्रदाय की प्रामाणिक पुस्तकें थीं। वंश के सम्राट् यांग (६०५-६१७) ने भी मध्य एशिया और भारत में दूत थे।

युक्त तथ्यों तथा सम्राट् से लेकर साधारण जनता द्वारा भारतीय आचार्यों के ये गये सम्मान से पता चलता है कि बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का चीन गहरा असर था।

चीन में बौद्ध धर्म के विकास की जितनी जानकारी है, उससे भी इस तथ्य की ती है। अपने पूर्ववर्ती राजाओं की तरह पूर्वी त्सिन वंश के राजा भी बौद्ध धर्म थे। उनमें से दो ने चार बड़े मठ बनवाये, जिनमें से हरेक में एक-एक हजार थे। इस वंश के राज्यकाल (३१७-४२० ईसवी) के दौरान सारे चीन में छोटी और बड़ी बौद्ध संस्थाएँ स्थापित की गयीं और २६३ बौद्ध ग्रन्थों का में अनुवाद किया गया। विदेशी वाई वंश के काल में, जिसने ३८६ ईसवी ईसवी तक चीन के उत्तरी भाग पर राज्य किया, बौद्ध धर्म ने बहुत जल्दी । इस काल से पहले भी उनके एक राजा ने ३३५ ईसवी में एक फरमान था, जिसमें कहा गया था कि चूँकि बुद्ध एक विदेशी देवता है, इसलिए उचित है कि मैं उसकी आराधना करूं। जब कोई चीज सम्पूर्ण और दोष- तो फिर हम क्यों पुराने वंशों के रीति रिवाजों पर कायम रहें? मेरी प्रजा कहा जाता है। मैं उन्हें बुद्ध की आराधना करने और अगर वे चाहें तो अपनाने की आज्ञा प्रदान करता हूँ।

रिवार के इस दृष्टिकोण से बौद्ध मत को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक । वाई वंश के बहुत से राजा स्वयं धर्मपरायण बौद्ध थे और वे बौद्ध ग्रन्थों की तैयार करते थे, उन्हें गाते थे और उनकी व्याख्या करते थे। कहते हैं कि के पहले राजा वू-ती (३८६-४०७) ने १५ चैत्य और दो मठ तथा १००० प्रतिमाएँ बनवायी थीं और हर महीने एक धार्मिक सभा में वह ३००० भिक्षुओं का सत्कार करता था। वाई सम्राटों ने कुल ४७ बड़े मठ बनवाये थे के शासनकाल में कई परिवारों ने व्यक्तिगत रूप से ३०,००० मन्दिर थे। भिक्षु और भिक्षुणियों की संख्या बीस लाख से अधिक थी।

वाई वंश के बाद ५५० ईसवी में त्सी राजवंश की स्थापना हुई। इस वं शासक भी बौद्ध धर्म के महान् संरक्षक थे। इनमें से एक ने अपने हाथ से १२ ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं और नियमित रूप से ३,००० भिक्षुओं का उठाया। एक दूसरे शासक ने सोने का एक चैत्य बनवाया। एक अन्य शासक ५७५ ईसवी में संस्कृत की पुस्तकें खोजने के लिए पाश्चात्य देशों में एक बौद्ध प्रतिनि मंडल भेजा जो अपने साथ २६० ग्रन्थ लेकर लौटा, हालांकि उस वक्त तक राजवंश का तख्ता उलट गया था। इसी वंश के शासनकाल में तुर्कों में बौद्धधर्म का प्र किया गया। एक चीनी भिक्षु ने पश्चिमी तुर्की के शासक तो पो कागान (५७२-५ ईसवी) के पास जाकर यह कहने का साहस किया कि बौद्धधर्म अपनाने के कारण चीन शक्तिशाली और सम्पन्न बना है। अपने आचार्यों की कृपा से कागान बौद्धध दीक्षित हो गया और विनय-नियमों का पालन करने लगा। वह नियमित रूप से की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) किया करता था। उसने एक मठ वनवाया और बौद्ध प्राप्त करने के लिए एक राजदूत को त्सी सम्राट के पास भेजा। उसके अनुरोध एक चीनी विद्वान् ने **महापरिनिर्वाणसूत्र** का तुर्की भाषा में अनुवाद किया था।

दक्षिणी चीन के राजवंशों के शासकों ने भी बौद्ध धर्म के प्रति इसी तरह सम्मान दिखाया था। ये वंश थे सोंग (४२०-४७९ ई०) त्सी (४७९-५०२ ई०) और आंग (५०२-५५७ ई०)। चीन के राजकीय इतिहास में अनेक शासकों के व्यक्तिगत का ब्योरा दिया गया है, जिन्होंने संस्कृत के ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं, व्याख्या की, भिक्षुओं के रहने के लिए मठों की स्थापना की और सोने की प्रति बनवायीं। एक शासक स्वयं भी भिक्षु की तरह रहता था, और उसने भोजन और के लिए पशुओं के वध पर पावन्दी लगा दी थी। हमेशा की तरह इस काल में भारतीय विद्वानों की सहायता से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद होता र

चीन में बौद्ध धर्म के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना ताओ-न्गन के शिष्य युआन द्वारा लू-शान में एक मठ की स्थापना थी। इसमें सारे चीन से बौद्ध आते कहा जाता है कि उनकी संख्या एक हजार से ज्यादा थी। हुई-युआन ने १७ को चुना, जिनमें दो भारतीय विद्वान्, बुद्धयशस् और बुद्धभद्र भी थे, और " कमल" सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने "अमिताभ की उपासना" चलायी जो महा दर्शन पर आधारित थी। इस नये सिद्धान्त ने सुदूर पूर्व देशों में प्रचलित आधुनि बौद्धमत के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। लू-शान सम्प्रदाय ने बौद्धमत विकास में रचनात्मक योगदान किया, जो इसी काल से चीनी जीवन और संस्कृति जीवन्त शक्ति रही है।

जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, बोधिधर्म ने चीन में महायान की ध्यानपद्ध आरम्भ की थी। उसके एक शिष्य ची-काई ने तीएन-तई नाम का नया सम्प्रद चलाया था, जिसका नाम उसके निवास स्थान के नाम पर रखा गया था। उसने बु के उपदेशों और साहित्य का नये ढंग से वर्गीकरण किया और बौद्धधर्म के विभि

का समन्वय करने का प्रयत्न किया। उसके विचार सबने मान लिये और उसके चीनी हीनयान और महायान दोनों का आदर और अध्ययन करने लगे। दोनों में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं दिखाई देता था। ची-काई की शिक्षा यान में भी बहुत सफलता मिली। जापानी उसके द्वारा समन्वित बौद्ध धर्म को भी मानते हैं।

ई वंश के शासनकाल में (३८६-५३४ ई०), जिनके द्वारा प्रदत्त बौद्धमत के का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, चीनी सम्राट् के दरबार में भारत के उत्तर-भाग से कम से कम आठ बार राजदूत भेजे गये थे। राजकीय चीनी इतिहास सूची इस प्रकार दी है :

देश	दूतावास की तिथि ईसवी
कि-पिन	४५१, ५०२, ५०८, ५१७
किया-पि-सा (कपिशा)	५०३
पु-लीऊ-शा (पुरुषपुर अथवा पेशावर)	५११
कन-ता (गन्धार)	५११
किया-शीह्मी (कश्मीर)	५११

कि-पिन की शिनाख्त के बारे में विद्वानों में मतभेद है। एस० लेवी के मत की करते हुए पेलियो (Pelliot) ने कहा कि ६०० ईसवी से पहले कि-पिन से कश्मीर का था, इसके बाद यह कपिशा के लिए प्रयुक्त होने लगा। रैंपसन pson) और स्टेन कोनो (Sten Konow) के मत के अनुसार यह कपिशा के प्रयुक्त हुआ था। डाक्टर पी० सी० बागची ने इस समस्या पर ब्योरेवार विचार है और इस विषय पर पूर्वलिखित रचनाओं का हवाला देते हुए पेलियो के मत र्थन किया है। इस विषय के नवीनतम विद्वान् डाक्टर एल० पेटेक (L. ch) के विचार में चीनी इतिहासकार आरम्भ से ही कपिशा तथा राजनैतिक दृष्टि के पड़ोसी इलाकों के लिए कि-पिन शब्द का प्रयोग करते आये थे, हालांकि बौद्धों ने दूसरी सदी से लेकर सातवीं सदी ईसवी तक कश्मीर के लिए इस का प्रयोग किया था। उनके मतानुसार "ये दोनों परम्पराएँ सदियों तक बहुत एक दूसरे की अवहेलना करती हुई समानान्तर चलती रहीं।"[1]

अगर कि-पिन का अभिप्राय कश्मीर से था, तो फिर दोनों देशों का जिक्र अलग कैसे किया गया, यह समझना कठिन है। अगर इसका अभिप्राय कपिशा तो उपर्युक्त सूची में इसके दूसरे नाम को लेकर एक समस्या खड़ी हो जाती है। और चौथा नाम भी इसी राजनैतिक क्षेत्र का सूचक है। पेटेक का मत है कि

---

[1] देखिए, बागची, सिनो इंडियन स्टडीज, II, ४२; एल. पेटेक, **नार्दर्न इंडिया एकार्डिंग टु** -चिंग-चू (रोम, १९५०) पृ. ६३ प. पृ. वाई काल के दूतावासों की सूची इस कृति के पृ. ७४ दी है।

“शायद स्थानीय गवर्नरों अथवा उनके मातहत सामन्त राजाओं ने अपनी तरफ से दूत भेजे हों।”

भारत के अन्य भागों से भी दूत भेजे गये थे। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत के एक राजा ने ५००-५१७ ई० के बीच चीन में एक राजदूत भेजा था।[1]

२. चीन-तांग काल

तांग वंश ने ६१८ ई० से ९०७ ई० तक चीन पर शासन किया था। यह चीन के इतिहास में सबसे अधिक गौरवमय कालों में से एक है। सारा चीन राजनीतिक दृष्टि से एक ही सत्ता के अधीन आ गया था, जिसकी शक्ति एक बार फिर मध्य एशिया तक फैल गयी थी। इस बीच भारत के साथ सम्पर्क, बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का प्रभाव भी सर्वोच्च शिखर तक पहुँच गया था। चीन के मुख्य शहरों में हजारों भारतीय धर्मप्रचारक, व्यापारी तथा अन्य लोग जमा हो गये थे। जितने चीनी भिक्षु और सम्राटों की तरफ से दूतावास सातवीं सदी में भारत भेजे गये उतने और किसी काल में नहीं आये थे।

इस काल में नालन्दा विश्वविद्यालय[2] की ख्याति अपने शिखर पर थी, और वह बौद्ध मत का महान् अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गया था, जहाँ सारे एशिया से बौद्ध भिक्षु आते थे। चीनी बौद्धों ने भी नालन्दा के प्रति उत्साह दिखाया, न केवल बौद्ध दर्शन और साहित्य की खातिर बल्कि इसलिए भी कि वहाँ ब्राह्मण-दर्शन तथा साहित्य, गणित, खगोलशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र पढ़ाये जाते थे। नालन्दा जाने वाले विद्यार्थियों को चीनी सम्राट् यात्रा की पूरी सुविधाएँ देते थे।

इस काल में भारत आने वाला सर्वप्रथम भिक्षु हिउएनत्सांग था, जिसने चीन में बौद्धधर्म की स्थापना को ठोस रूप देने में तथा भारत और चीन के सांस्कृतिक संबंध बढ़ाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका पूरी की थी। उसका जन्म ७०९ ईसवी में कन्फ्यूशस मत माननेवाले एक पुरातनपन्थी परिवार में हुआ था। बीस बरस की उम्र में यह बौद्ध भिक्षु बन गया। चीनी भाषा में उपलब्ध बौद्धग्रन्थों से वह असन्तुष्ट था, इसलिए उसने भारत जाने का निश्चय किया। ६२९ ईसवी में वह मध्य एशिया से जानेवाले उत्तरी मार्ग से रवाना हुआ। ७३० ईसवी में वह कपिशा (काफिरिस्तान) पहुँच गया और अगले चौदह बरस उसने सारे भारत में भ्रमण किया। वह दो बरस कश्मीर में रहा और इससे कुछ कम समय तक अन्य स्थानों पर बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के लिए रुका। कई मौकों पर, वह कुल मिलाकर दो बरस नालन्दा में रहा, जहाँ उसने वहाँ के विख्यात भिक्षु प्रधानाचार्य शीलभद्र से योगाचार पद्धति सीखी। जैसा हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, भारत के सम्राट् हर्षवर्धन और भास्करवर्मन् ने उसका बहुत आदर-सत्कार

---

[1] शास्त्री, फॉरेन नोटिसेज, ८३।

[2] देखिए, पृ. ६४९ प. पृ.।

[1]६४४ ई० के शुरू में बहुत से ग्रन्थ और मूर्त्तियाँ लेकर, मध्य एशिया के दक्षिणी होता हुआ, वह ६४५ ईसवी में चीन लौटा था।

हिउएनत्सांग अपने पीछे अपनी यात्रा का विवरण छोड़ गया है, जिसमें उसने उन राज्यों का विस्तृत वर्णन किया है, जिनमें वह गया था। यह पुस्तक प्राचीन भारतीय इतिहास का बहुमूल्य स्रोत ग्रन्थ है। प्रस्तुत पुस्तक में इस ग्रन्थ का हवाला दिया गया है। इसमें भारत तथा भारत के बाहर के उन लाकों में, जिनसे हिउएनत्सांग गुजरा था, बौद्ध धर्म की अवस्था का, सजीव चित्रण गया है।

रत से विदा होते समय हिउएनत्सांग का एक माने में शाही जलूस निकला हर्षवर्धन ने उसे एक बड़ा हाथी और सफर के खर्च के लिए ३००० सोने के और ०० चाँदी के सिक्के भेंट किये थे। उसकी बेशुमार पुस्तकों और मूर्त्तियों को रत के एक राजा उधित के सैनिक अनुरक्षण में सौंपा गया था। रास्ते में उसका गया और अपनी पुस्तकें ले जाने के लिए उसे कोई सवारी न मिल सकी, वह खोतान में रुक गया और उसने चीनी सम्राट् को स्मरण-पत्र भेजा। ०० ली से अधिक की यात्रा की कठिनाईयों का हवाला देने के बाद उसने कि अपनी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के बाद वह सन्तुष्ट मन लेकर लौटा है। "मैंने पर्वत के दर्शन किये हैं। मैंने बोधिवृक्ष की उपासना की है। ऐसे स्मृतिचिह्न जो पहले कभी नहीं देखे थे, ऐसे पुनीत शब्द सुने हैं जो पहले कभी नहीं सुने आत्मिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को देखा है, जो प्रकृति की सभी चीजों से उद्भूत हैं।" याचिका के इस पैराग्राफ से पता चलता है कि बौद्धधर्म और से संबंधित हर चीज के प्रति हिउएनत्सांग के मन में कितनी गहरी आस्था

सम्राट् ने कृपालुतापूर्ण उत्तर दिया, "मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम जल्दी लौटो, फिर एक दूसरे को देख सकें।" सम्राट् ने खोतान तथा रास्ते के अन्य स्थानों कारियों को आदेश भेजा कि वे मार्गप्रदर्शक और सवारियाँ देकर हिउएनत्सांग में सहायता करें। जब हिउएनत्सांग चीन की सीमा के नजदीक पहुँचा तो ने अपने पश्चिमी प्रान्त के गवर्नर को आदेश भेजा कि हिउएनत्सांग के स्वागत अपने विशेष अफसर भेजे। हिउएनत्सांग एक नहर के रास्ते से नौका द्वारा वहां और उसका अपूर्व स्वागत हुआ। उसके आने की खबर बहुत जल्द फैल गयी बड़ी संख्या में लोग उसके दर्शन करने और आदर प्रदर्शित करने के लिए हुए। सड़कों पर इतनी भीड़ जमा हो गयी कि नौका से उतरना उसके लिए हो गया। उसे रात नहर में ही गुजारनी पड़ी।

हिउएनत्सांग राजधानी में पहुँचा तो सम्राट् की तरफ से उसका जय-जयकार उसकी जीवनी के लेखक के अनुसार "सम्राट् और उसके दरबारियों ने, अफसरों,

---

[1] देखिए, पृ. १३५ प. पृ., १५९ प. पृ.।

व्यापारियों और सारी जनता ने, छुट्टी मनायी। सड़कों पर उत्सुक पुरुषों और स्त्रि की भीड़ थी, जो रंगीन झंडियों और आनन्दमय संगीत द्वारा अपने हर्षोल्लास व्यक्त कर रहे थे। आमतौर पर भारी सैनिक जीत से लौटने पर राजाओं सेनापतियों का ऐसा स्वागत होता है। भारत के लम्बे भ्रमण के वाद हिउएनत्सांग इतने बड़े सम्मान का अधिकारी समझा गया, इस तथ्य से न केवल बौद्ध धर्म के चीनवासियों की गहरी आस्था का पता चलता है, बल्कि भारतीय संस्कृति के सम्पर्क आकर चीनियों को जो नयी दृष्टि मिली उसके प्रति चीनवासियों की आदरभावना आभास भी मिलता है।

हिउएनत्सांग ने अपनी आयु का बाकी हिस्सा बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद तथा विद्या को प्रशिक्षित करने में लगाया। उसने चीन में बौद्ध दर्शन की एक नयी धारा चला जो उसकी मृत्यु के बाद भी चलती रही। उसकी पुस्तक **सी-यू-की** अथवा "पाश्च देशों का विवरण" ने भारतीय संस्कृति के प्रति चीनवासियों के प्रेम को प्रोत्साहि किया। सम्राट् के साथ उसके व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण सम्भवत: चीन ने भार शासकों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की नयी नीति अपनायी।

हिउएनत्सांग ने कुल मिलाकर ७४ विभिन्न कृतियों का अनुवाद किया, जि १,३३५ परिच्छेद थे। इसके अतिरिक्त उसने अपने हाथों से बहुत से रेखाचित्र ब थे और अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं। ६६४ ई० में उसकी मृत्यु और उसे पश्चिमी प्रदेश की राजधानी में दफनाया गया। ६६९ ईसवी में सम्राट् आदेश से उसके अवशेष एक दूसरे स्थान पर ले जाये गये, जहाँ उसकी स्मृति में मीनार बनायी गयी।

हिउएनत्सांग के उदात्त उदाहरण से प्रेरित होकर चीनी भिक्षु बहुत वड़ी सं में भारत आने लगे। चीनी ग्रन्थों में साठ ऐसे भिक्षुओं के जीवन-वृत्तान्त दर्ज है सातवीं सदी ईसवी के उत्तरार्ध में भारत आये थे। बाद में आने वालों में सबसे ई-त्सिग था। वह ६७१ ईसवी में समुद्री रास्ते से भारत के लिए रवाना हुआ। बरस श्री-विजय में गुजारने के बाद, जो सुमात्रा में उन दिनों बौद्ध ज्ञान का महत्त्व केन्द्र था, वह ६७३ ई० में बंगाल के ताम्रलिप्ति बन्दरगाह पर पहुँचा। वह दस ब तक (६७५-६८५ ईसवी) नालन्दा में रहकर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन और प्रतिलि तैयार करता रहा। वह अपने साथ संस्कृत की ४०० हस्तलिखित कृतियाँ लेकर ची लौटा, जिनमें ५०,००० से अधिक श्लोक थे। उसने बहुत-से ग्रन्थों का अनुवाद कि और एक संस्कृत-चीनी कोश भी तैयार किया। खुशकिस्मती से उसकी "भारत और मलय-द्वीपसमूह में बौद्ध धर्म का विवरण" शीर्षक पुस्तक आज भी मिलती है। पुस्तक में उसने मठों के नियमों का सविस्तार वर्णन किया है। साफ जाहिर है कि विषय में उसकी गहरी दिलचस्पी थी। उसने साठ ऐसे भिक्षुओं का जीवन-चरित लिखा है, जो भारत आये थे। उनमें से लगभग सभी चीन से सम्बन्धित थे, हालां कुछ कोरिया, समरकन्द और तुषार (तुर्क) देश के रहने वाले थे। इस पुस्तक

में बौद्ध धर्म की अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा और कोरिया जैसे सुदूर देशों में बौद्ध धर्म का विवरण दिया गया है। एक ही पीढ़ी में करीब साठ बौद्ध भिक्षु चीन से आये, इस तथ्य से पता चलता है कि उन दिनों लोग ऐसी यात्राओं पर अक्सर करते थे, हालाँकि उनमें से अधिकांश यात्राओं के विवरण शायद दर्ज नहीं हैं।

वीं सदी में जहाँ प्रतिष्ठित भिक्षु भारत आये थे, वहाँ कई प्रसिद्ध भारतीय चीन गये थे। सबसे पहले नालन्दा का प्रसिद्ध विद्वान् प्रभाकरमित्र गया था। न्म मध्य भारत के एक राजवंश में हुआ था। बौद्ध भिक्षु बनकर वह में अध्ययन करने लगा। बाद में वह वहाँ प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुआ आने पर उसके शिष्य भी विख्यात विद्वान् बने। दस शिष्यों को साथ लेकर मी तुर्की के देश में पहुँचा, जहाँ उन्होंने उनके सरदार को बौद्ध धर्म का ज्ञान र्की राजदरबार में नियुक्त चीनी राजदूत ने उसे चीन आने का निमन्त्रण किन तुर्की का सरदार उसे वहाँ से कहीं भी भेजने के लिए राजी नहीं हुआ। र चीनी सम्राट् के निवेदन पर तुर्की के शासक ने प्रभाकरमित्र को आज्ञा दे दी और वह ६२२ ईसवी में चीन चला गया, जहाँ रहकर वह बौद्ध अनुवाद करता रहा। चीनी राजदरबार की तरफ से उसकी सहायता के लिए नियुक्त किये गये। कुछ ने चीनी भाषा में उसके शब्दों का अनुवाद किया, अनुवाद की जाँच की, कुछ इसे लिखते रहे। एक और दल प्रतिलिपियाँ काम करता रहा और सम्राट् की आज्ञा से उच्च अधिकारियों की देखरेख में न्तिम संशोधित रूप को पूरा किया गया। प्रभाकरमित्र की मृत्यु ६३३ हुई।

ईसवी में एक चीनी राजदूत के आग्रह पर, जो शायद किसी चालुक्य राजा में नियुक्त था, एक अन्य भारतीय विद्वान् बोधिरुचि चीन गया। बौद्ध अनुवाद में बोधिरुचि की सहायता के लिए बाकायदा एक बोर्ड स्थापित किया में चीन और भारत, दोनों देशों के विद्वान् शामिल थे। भारतीय विद्वानों में के राजा का राजदूत ब्रह्मा और पूर्वी भारत का एक मुखिया ईश्वर भी । अनुवाद के समय कई बार सम्राट् स्वयं उपस्थित रहता था और अपने टिप्पणियाँ लिखता था। कई बार सम्राज्ञी, महल की अन्य महिलाएँ और र के उच्च अधिकारी भी इस अवसर पर उपस्थित रहते थे। बोधिरुचि ने यों का अनुवाद किया और ७२७ ईसवी में उसकी मृत्यु हो गयी।

भारत के राजा ईशानवर्मन् का पुत्र वज्रबोधि नालन्दा का विख्यात विद्वान् था। समय तक काँची में पल्लव राजा नरसिंहवर्मन् द्वितीय[1] का अध्यापक रह चुका फिर लंका चला गया था। लंका के राजा ने सम्राट् को एक पवित्र बौद्ध अन्य वस्तुएँ भेंट करने के लिए एक प्रतिनिधिमंडल चीन भेजा था। वज्रबोधि

---

[1] देखिए, पृ. ३१७ प. पृ.।

ने बौद्ध मत में तन्त्रयान नामक रहस्यवादी सिद्धान्त का प्रचार किया था और इस से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया था। इसका बहुत प्रभाव हुआ और सम्प्रदाय चीन में लोकप्रिय हुआ। वज्रबोधि की मृत्यु ७३२ ईसवी में हुई। शिष्य अमोघवज्र ने, जो उसके साथ चीन में था, उसका काम जारी रखा। ७३६ ई अमोघवज्र लंका वापस लौट आया लेकिन दस बरस बाद वह ५०० ग्रन्थ लेकर चीन चला गया। ७४६ और ७७१ ईसवी के बीच वहाँ उसने ७७ ग्रन्थों का अनु किया। ७७४ ईसवी में उसकी मृत्यु हुई।[1]

अन्य भिक्षुओं की यात्राओं का ब्योरेवार विवरण देने की यहाँ आवश्यकता है। अब हम भारत और चीन के बीच राजनीतिक सम्वन्धों के विकास की चर्चा दोनों देशों के राजदरबारों में राजदूतों का आदान-प्रदान इसका प्रमाण है। हम ६४१ ई० में हर्षवर्धन द्वारा चीन भेजे गये दूतमंडल तथा चीन द्वारा भारत भेजे तीन दूतमंडलों का उल्लेख कर चुके हैं; पहला लिआंग-होआई-किंग के अन्तर्गत, ६४३ ई० में ली-य-पिआओ और वांग-हिउएनत्से के अन्तर्गत और तीसरा ६४ में वांग-हिउएन-त्से के अन्तर्गत। वांग-हिउएन-त्से को तीसरी बार ६५७ ईसवी में राजदूत बनाकर भेजा गया था। एक ब्राह्मण ऐन्द्रजालिक (शायद नारायण नामक तान्त्रिक) ने दावा किया था कि उसके पास जीवन को दीर्घायु बनाने का गुप्त नुस्खा है। एक भारतीय राजा ने चीनी सम्राट् के अनुरोध पर उसे चीन भेजा चूँकि सम्राट् उसकी निपुणता से सतुष्ट नहीं हुआ इसलिए उसे वांग-हिउ-एनत्से के भारत वापस भेज दिया गया। राजदूत के हाथ सम्राट् ने भारत के विभिन्न बौद्ध के लिए उपहार भी भेजे थे। वांग-हिउएनत्से को चौथी बार फिर ६६४ ई० में चीनी तीर्थयात्री को, जिसके साथ पहले उसकी भेंट हुई थी, वापस लाने के लिए भेजा गया। उसने भारत में अपनी यात्राओं का एक विवरण लिखा था, लेकिन पुस्तक गुम हो गयी है, केवल अन्य कृतियों में उसके कुछ उल्लेख सुरक्षित रह गये हैं

यशोवर्मन् द्वारा चीन भेजे गये दूतमंडल का उल्लेख हम पहले कर चुके चीन और कश्मीर के बीच राजदूतों के आदान-प्रदान का विवरण भी ऊपर जा चुका है।[4]

तांग इतिहास में कई अन्य दूतों का भी उल्लेख मिलता है। इस इतिहास में के विभिन्न भागों के साथ चीन के राजनीतिक सम्बन्धों का सिलसिलेवार विवरण है। इसका सारांश इस प्रकार है।[5]

---

१. इससे भिन्न विवरण के लिए देखिए, शास्त्री, पू. पु., पृ. १७।

२. देखिए, पृ. १३६, १४१ प. पृ.।

३. बागची के मतानुसार यह ब्राह्मण ऐन्द्रजालिक ६४८ ईसवी में वांग-हिउएनत्से के साथ गया था। वह "सम्राट् को दीर्घायु प्रदान करने में असमर्थ रहा। सम्राट् की मृत्यु ६४६ ईसवी में इसलिए नये सम्राट् ने उसे वापस भारत भेज दिया। (**सिनो इंडियन स्टडीज, I, ६९**)।

४. देखिए, पृ. १४८, १५१ प. पृ.।

५. यह सारांश शह्वान्न के **दकुमाँ स्युल तुकीन (तुर्क) ऑक्सिदाँत** पर आधारित साथ में देखिए डॉ. पी. सी. बागची का विवरण **सिनो इंडियन स्टडीज, I, ६९**।

१७ ईसवी में सम्राट् ने स्थानीय सामन्त सु-फू-शो-ली-चे-ली-नी (शुभश्री) को का राजा (बोलोर)" की उपाधि प्रदान की। ७१९ में बोलोर के राजा ने एक दूत भेजकर इस उपाधि के लिए सम्राट् के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की। में सम्राट् द्वारा "बोलोर का राजा" की उपाधि स्थानीय सामन्त सु-लीन-तो-ई-चे दित्य ?) को प्रदान की गयी। ७३१ में "लघु बोलोर (यासीन) का राजा" न-नी को प्रदान की गयी। ७३३ में लघु बोलोर के राजा मो-किन-मांग ओ-ना-से-मो-मो-शेंग नामक सामन्त को इस उपाधि के लिए कृतज्ञता प्रदर्शित के निमित्त सम्राट् के पास भेजा। ७४१ में "लघु बोलोर का राजा" की उपाधि -लाई को प्रदान की गयी। ७४५ में लघु बोलोर के राजा ने किया-लो-मी-तो त्र) नामक बौद्ध शिक्षक को आदर प्रदर्शित करने के लिए सम्राट् के जा।

काल में कपिशा, गान्धार और उड्डियान की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी। और गान्धार निश्चितरूप से कश्मीर पर आश्रित थे। चीन के राजकीय से हमें पता चलता है कि सम्राट् ने ७२० में "वू-चांग (उड्डियान) का राजा" धि एक स्थानीय सरदार को दी थी। गान्धार के राजा ने ७५८ ई० में सम्राट् उपहार के साथ एक राजदूत चीन भेजा था। कपिशा के सरदार को ७२० न" की उपाधि दी गयी थी।

शा के राजा ने ७१० और ७५० ईसवी में अपने दूत चीन भेजे। ७५१ ईसवी सम्राट् ने वू-कोंग के नेतृत्व में एक दूतमंडल कपिशा से भारतीय राजदूत के अनुरक्षण में वापस लाने के लिए भेजा था। भारत में आकर वू-कोंग में दीक्षित हो गया था। उसने कई बरस कश्मीर में बिताये; तीर्थ स्थानों के वाद वह ७९० ईसवी में चीन लौट गया। ६१९ तथा ७५० ईसवी के पिन से कम से कम छह दूतमंडल चीन भेजे गये थे। कि-पिन को कपिशा ीर दोनों बताया गया है।[1] लेकिन जैसा हम ऊपर बता चुके हैं[2] सातवीं ों के वाद से कि-पिन शब्द कपिशा के लिए प्रयुक्त होता आया है।

२ ई० में मध्य भारत के राजा ति-पो-सी-न (देवसेन) का एक प्रतिनिधि के पास आदर प्रदर्शित करने के लिए आया था। यह प्रतिनिधि अवश्य ही ब्रह्म) था, जिसने ६९३ में बोधिरुचि के अनुवाद कार्य में सहायता की थी। ४४१ में का एक राजपुत्र चीन के राजदरबार में आया था; उसे चीनी नाम ली- से सम्वोधित किया गया।

---

[1] े.ए., १८९५, पृ ३७६।

[2] देखिए, पृ. ६८३।

६९२ ई० में पूर्वी भारत के राजा मो-लो-पा-मो (मालवर्मन् ?) और प भारत के राजा शा-लो-यी-तो (शीलादित्य) के प्रतिनिधि चीनी सम्राट् के प्रति प्रदर्शित करने के लिए आये थे। मालवर्मन् कौन था, यह तो हम नहीं जानते दूसरा राजा निश्चितरूप से वलभी का शीलादित्य तृतीय था, जो सातवीं सदी के में शासन कर रहा था। ६९२ ई० में उत्तर भारत के राजा, न-न और मध्य के राजा ति-मो-सी-न, तथा दक्षिण भारत के राजा चे-लु-की-पा-लो (चालुक्य ने चीनी सम्राट् के पास राजदूत भेजे थे।[1] सन् ६९२ ई० में चालुक्य विनयादित्य का शासन था। राजा शा-ली-ना-लो-सेंग-किआ-पा-तो-पा-मो (श्री न पोतवर्मन्) ने ७२० ईसवी में सम्राट् को सुझाव दिया कि वह अरबों और तिब् से लड़ने के लिए हाथी और तोपखाना भेजे। नरसिंह पोतवर्मन् काँची का पल्लव था। उसने ७१० तथा ७२० ईसवी में दो राजदूत चीन भेजे थे। ७२० में चीनी ने भी अपना राजदूत भेजा था। इन दूतमंडलों के विवरणों से पता चलता है कि देशों के सम्बन्ध कितने मैत्रीपूर्ण थे।[2]

चीनी इतिवृत्तों से पता चलता है कि हर्षवर्धन द्वारा ६४१ ईसवी में राजनीतिक प्रतिनिधिमंडल भेजे जाने के बाद चीन ने कपिशा, उड्डियान, और मगध से एक सदी से भी अधिक काल तक दौत्य-सम्बन्ध स्थापित रखे थे। तथा इन राज्यों द्वारा अनेक दूत भेजे गये थे, लेकिन इन सबके ब्योरेवार वि सुरक्षित नहीं हैं। यहाँ तक कि सन् ७८७ ई० में भी चीनी सम्राट् ने तिब्बति के विरुद्ध भारतीय नरेशों से मैत्री की थी।

भारत से सम्पर्क बढ़ने के स्वाभाविक परिणामस्वरूप चीन में बौद्ध मत अधिक फला फूला। इस काल को हम देश का सबसे अधिक वैभवशाली काल सकते हैं। इस नये धर्म की इतनी शीघ्र अभिवृद्धि से देश के पुरातनपंथी भयभीत उठे। इन लोगों ने पूरे तांग काल के दौरान बौद्धमत के विरुद्ध सक्रिय और श शाली अभियान चला रखा था। ६२४ ईसवी में सम्राट् को पेश किये गये स पत्र में इस अभियान के नेता ने कहा कि देश की सभी कमजोरियों और बीमारियों कारण बौद्ध धर्म है। विदेशियों के हमले, सरकार द्वारा अत्याचार, मन्त्रियों विश्वासघात, ये सब बौद्ध धर्म के परिणाम हैं। लेकिन इनसे कुछ ज्यादा शिकायतें भी थीं। धार्मिक बलियों के प्रति लापरवाही के अतिरिक्त नीतिवादियों अनुसार बौद्ध धर्म के कारण सामाजिक जीवन में भी गिरावट आ गयी थी।

---

[1] मा-त्वान-लिन के अनुसार पाँच भारतीय (अथवा भारत के पाँच राज्यों) ने सम्राट् दरबार में ६६७ ईसवी में राजदूत भेजे थे (शास्त्री, पू. पु. पृ. ११७)। शायद मा-त्वान-लिन ने दूतमंडलों की तरफ संकेत किया है, जिनका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं, और उसने ठीक से निर्धारित नहीं की, या फिर हमें मान लेना पड़ेगा कि इन पाँच भारतीय राजाओं ने, ६६९ ईसवी में भी दूत भेजे थे।

[2] शास्त्री, पू. पु., ११६-१७।

में सम्राट् का ध्यान आकर्षित किया गया था, इसके परिणामस्वरूप भिक्षु क्षुणियों की संख्या दसियों हजार तक जा पहुँची है। मैं आपसे अनुरोध करता आप इन भिक्षु और भिक्षुणियों की शादियाँ करवा दीजिये ताकि देश में परिवार हो जाएँ। फिर ये लोग बच्चे पैदा करेंगे और पालेंगे जो आपकी संख्या बढ़ाएँगे।

में इस आन्दोलन को कुछ सफलता मिली और कुछ समय के लिए सम्राट् ने को संरक्षण देना बन्द कर दिया। लेकिन उसकी व्यक्तिगत भावनाएँ चाहे रही हों, दरअसल इस मामले के तय होने के पीछे राजनीतिक कारण महत्त्वपूर्ण, शक्तिशाली देशों और चीन के आसपास के छोटे राज्यों, तुर्कों, ओं और मध्य एशिया की अनेक कौमों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था स्थापित तांग साम्राज्य में इतना साहस नहीं था कि वह अब एशिया में जो अन्तरराष्ट्रीय शक्ति बन गया था, उसका विरोध करता रहता। तदनुसार, अन्तराल के बाद तांग सम्राटों ने फिर बौद्ध-समर्थक नीति अपना ली, इस नये धर्म की विजय निश्चित हो गयी।

हुएनत्सांग द्वारा भारत से स्थापित सम्पर्क इस नीति के परिवर्तन का एक कारण था। चीन में बौद्ध धर्म को अभूतपूर्ण सफलता मिली। सब महत्त्वपूर्ण नये मठ स्थापित किये गये, और बौद्धधर्म के प्रति आकर्षित होने वाले लोगों बढ़ती गयी। बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया गया और जैसा हम चुके हैं, अनुवाद-कार्य को संगठित करने और उसकी गति बढ़ाने के लिए परिषदें की गयीं।[1] बड़े पैमाने पर संगठित इस अनुवाद-कार्य की बदौलत, संस्कृत साहित्य की विशाल निधि, जो भारत में बिल्कुल लुप्त हो चुकी है, चीनी में अभी तक सुरक्षित है। इस साहित्य की प्रचुरता का अनुमान चीन में समय संकलित किये जाने वाले सूचीपत्रों से लगाया जा सकता है। सबसे पुराना या सूचीपत्र छठी सदी ईसवी में एक चीनी विद्वान् ने संकलित किया था। २,२१३ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। इस काल में सम्राट् के आदेश पर किये गये सरकारी सूचीपत्र में ५४०० बौद्ध ग्रन्थों की सूची गयी थी। तांग काल धर्मशास्त्रों के एक प्रामाणिक सूचीपत्र में उल्लेख किया गया है कि पहले भाग कृतियाँ और ८४७६ मूलिकाएँ हैं, दूसरे भाग में ३३६४ मूलिकाएँ और कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से दूसरे सूचीपत्र भी थे, जिनका विस्तृत देना सम्भव नहीं है। लकड़ी के ठप्पों द्वारा इन कृतियों की छपाई ९७२ में शुरू हो चुकी थी।

हुएनत्सांग ने, जिसने चीन में बौद्ध साहित्य के लिए इतना काम किया, बौद्ध धर्म के दायों की—योगाचार अथवा विज्ञानवाद तथा सर्वास्तिवाद—भी चीन में स्थापना

---

[1] विस्तृत विवरण के लिए देखिए, बी. सी. लॉ. वॉल्यूम, I, ६६ प. पृ.।

की । योगाचार महायानी सम्प्रदाय था और विज्ञानवाद हीनयानी । इससे की समन्वयवादी भावना का पता चलता है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हिउएनत्सांग के एक शिष्य ने विनय शाखा (विचारधारा) की नींव डाली । रहस्यवादी या तांत्रिक सम्प्रदाय, जिसकी स्थापना आठवीं सदी में वज्रबोधि ने की थी, भारत तरह चीन में भी बौद्ध धर्म के ह्रास या अवनति का कारण वन गया था ।[1]

इसके बाद चीन में बौद्धधर्म के इतिहास में जाने की हमें आवश्यकता नहीं लेकिन हम इस विवेचन को भारतीय संस्कृति के उन और पहलुओं के संक्षिप्त उल्ले से समाप्त करेंगे जो बौद्धमत के साथ ही चीन में आये थे । इनमें सबसे महत्त्व भारतीय कला थी, जिसने चीन की देशीय परम्परा पर गहरा असर डाला था कला की एक नयी धारा को जन्म दिया था, जिसे हम भारतीय-चीनी धारा का दे सकते हैं । वाई काल में इस कला का वहुत विकास हुआ । तुन्हवांग, युन-कांग लौंग-मेंन में शैलकृत्त गुफाएँ, ६० और ७० फुट ऊँची बौद्ध की विशाल प्रतिमाएँ, गुफाओं की दीवारों पर बने भित्तिचित्र इस कला के उदाहरण हैं । इसकी प्रेरणा केवल बौद्ध भिक्षुओं (भारतीय और चीनी दोनों) द्वारा भारत से आई थी, प्रतिमाओं चित्रों, विवरणों और नमूनों से मिली थी, बल्कि चीन जाने वाले भारतीय कलाकारों से भी । हमें कम से कम तीन भारतीय चित्रकारों, शाक्यबुद्ध, वुद्धकीर्ति और कुमारबो के नाम मालूम हैं, जिन्होंने वाई काल में ही चीन में काम किया । भारत में मूर्तिकला की विभिन्न प्रारम्भिक शैलियों को, जैसे गान्धार, मथुरा और गुप्त, चीनी कलाकृतियों में स्थान मिला है । वाई काल की सर्वोत्तम प्रतिमाएँ, जिनकी आधुनिक यूरोपीय विद्वानों ने ठीक ही भूरि-भूरि प्रशंसा की है, अजन्ता और सारनाथ की सुन्दर बौ प्रतिमाओं की याद दिलाती हैं ।

तांग काल में इस कला में और अधिक विकास हुआ । तुन्हवांग में गुफा-मंदि का निर्माण जारी रहा । इनका सामूहिक नाम 'हजार बुद्धों की गुफाएँ' है, क्यों इनमें बुद्ध की एक हजार प्रतिमाएँ थीं । बाद की गुफाएँ तांग काल की सर्वश्रेष्ठ क के नमूने हैं, "जिसमें क्रमशः गान्धार, गुप्त और ईरानी शैलियों के नमूनों को अपना गया है।" धीरे-धीरे चीनी कलाकारों ने भारतीय परम्परा को आत्मसात् कर लि और उसके चीनी रूप में वृद्धि होने लगी । मूर्तियों, चित्रों और शैलकृत्त गुफाओं अतिरिक्त भारतीय प्रभाव उन विशेष ढंग के मन्दिरों में भी दिखाई देता है, जि कई मंजिलें अध्यारोपित की गयी हैं । दरअसल सोंग काल में मंदिरों की एक श्रेणी "भारतीय शैली" का नाम भी दिया गया था । यह शैली शन-सी प्रान्त में ब लोकप्रिय थी, और वहाँ से जापान पहुँची थी ।

ललित कलाओं में, चीन पर भारतीय संगीत का प्रभाव भी दिखाई देता है । प्रभाव कु-चि में बसे भारतीय संगीतकारों के कारण हुआ । और जल्द ही यह बहुत लोकप्रिय हो गयी । ५८१ ईसवी में संगीतकारों का एक दल भारत से चीन ग

---

[1] देखिए, पृ. ६८७-६८८.

म्राट् काम्रोत्सु (५८१-५९५) में राज्यादेश जारी करके उन पर पावन्दी लगाने प्रयत्न किया, लेकिन उसके उत्तराधिकारी ने इन संगीतकारों को प्रोत्साहन र कई नई धुनों की रचना करवायी। प्राचीन काल में जापान में प्रचलित ों के अनुसार बोधि नामक भारतीय ब्राह्मण संगीत की दो मुख्य शैलियाँ और भैरो लेकर चीन से तांग काल में जापान गया था।

तीय खगोलशास्त्र, गणित और चिकित्साशास्त्र भी चीन में लोकप्रिय थे। ार करने के लिए निर्मित सरकारी समितियों में भारतीय खगोलशास्त्रियों नियुक्ति की गयी थी। सातवीं सदी में चीन की राजधानी में भारतीय ज्योतिष द्धतियाँ प्रचलित थीं, जो गौतम, कश्यप, और कुमार नामों से प्रचलित थीं। ज्योतिष के ग्रन्थ **नवग्रहसिद्धान्त** का अनुवाद अभी तक मिलता है। इससे णित और ज्योतिष सम्बन्धी अनेक भारतीय कृतियों का अनुवाद हुआ था, कृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं।

में भारतीय चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थ भी वहुत लोकप्रिय थे। ४५५ ईसवी में चीनी कृति या तो किसी संस्कृत कृति का अनुवाद है, अथवा अनेक संस्कृत संकलन है। चीनी वौद्ध संकलनों में वहुत से चिकित्साशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ ारहवीं सदी में शिशु रोगों की चिकित्सा सम्बन्धी संस्कृत ग्रंथ **रावण-कुमार-** अनुवाद किया गया था।

सम्राट् और सामन्त उन भारतीय ऐन्द्रजालिकों को वहुत पसन्द करते थे, करते थे कि वे मनुष्य को दीर्घजीवी वना सकते हैं। कई वार सम्राट् षधियाँ जमा करने के लिए राज्य अधिकारी को भारत भेजा करते थे।

काल में भारत और चीन के वीच समुद्री व्यापार में भी विकास हुआ। ई० में लिखे गये अनेक विवरणों में भारत के **पोलोमैन** अर्थात् ब्राह्मणों के पोतों का कैन्टन दरिया में आने का उल्लेख है। इसी विवरण में कैन्टन के मठों का उल्लेख है, जिनमें ब्राह्मण रहते थे। साफ जाहिर है कि हिन्दू वड़ी संख्या में इस चीनी वन्दरगाह पर आया करते थे, और वहाँ निवास में उन्होंने देवपूजार्थ मन्दिर वनवाये थे। **हर्षचरित** के अनुसार हर्ष के चीन से वने हुए कवचों का प्रयोग करते थे।[1] दक्षिण भारत से प्राप्त तांग के सिक्के भी इस काल में भारत और चीन के व्यापारिक सम्बन्धों के दिलचस्प हैं।[2]

में आने वाले विदेशी जलपोत ६० से ७० फुट गहरे हुआ करते थे। एक अन्य में लिखा है कि कैन्टन में आने वाले विदेशी जहाज इतने बड़े और पानी तने ऊँचे होते थे कि दसियों फुट ऊँची सीढ़ियाँ चढ़कर ही उन जलपोतों जा सकता था।”

---

[1] र्षचरित, पृ. २०२।

[2] नो-इंडियन स्टडीज, I, ६०।

३. मध्य एशिया

उपर्युक्त विवरण में चीन के बारे में जो कुछ बताया गया है उससे स्पष्ट है कि मध्य एशिया भारतीय संस्कृति और प्रभाव का इतना शक्तिशाली केन्द्र रहा कि उसे बृहत्तर-भारत कहना उचित होगा। पूर्वकाल की तरह यहाँ प्राचीन स्तू मन्दिरों, मठों, मूर्तियों और चित्रों के अवशेष मिलते हैं। खुशकिस्मती से इस क्षेत्र इतिहास और संस्कृति के सूत्रों को जोड़ने के लिए हमें केवल पुरातत्त्व अवशेषों ही निर्भर नहीं करना पड़ता, क्योंकि भारत में आने वाले चीनी यात्रियों के, विशेष फा-हिएन और हिउएनत्सांग के विस्तृत विवरणों ने इस विषय पर बहुत प्रक डाला है।

चीन से रवाना होने के बाद फा-हिएन सबसे पहले शेन-शेन राज्य में पहुँचा जो मध्य एशिया के सुदूरपूर्व में लोप-नोर के नजदीक स्थित है। वहाँ का बौद्ध था और उस देश में चार हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। फा-हिएन ने इस में भारतीय संस्कृति की जीवन-शक्ति के सबसे अधिक सशक्त वर्णन शेन-शेन का करते हुए इस प्रकार किया है :

"इस राज्य के तथा अन्य राज्यों के साधारण लोग तथा श्रमण (भिक्षु) भारत के कायदा-कानूनों का पालन करते हैं। बल्कि श्रमण इनका अधिक कठोरता पालन करते हैं, साधारण लोग तो फिर भी कुछ ढिलाई बरतते हैं। यहाँ से पश्चि जाते समय हम (यात्रियों) ने सभी राज्यों में यही देखा, फर्क इतना था कि हर की अपनी विशेष बर्बर भाषा थी, लेकिन सारे भिक्षु भारतीय पुस्तकों और भार भाषा का अध्ययन करते थे।"

फा-हिएन भारत पहुँचने से पहले इन दो राज्यों से गुजरा था। इस साधा वर्णन का समर्थन उसके विस्तृत विवरण में भी मिलता है। हिउएनत्सांग ने (क़ारु शहर), कुचि, मरुक (अक्सू), काशगर, खोतान और एक या दो अन्य का विवरण दिया है, जिनकी शिनाख्त नहीं हो सकी हैं। इन सब स्थानों पर बौद्ध का बोलबाला था और यहाँ भारतीय लिपियों और पुस्तकों का प्रयोग होता इसी इलाके के सुदूर पूर्वी भाग तुरफान में भी बौद्ध धर्म फलफूल रहा था। काशगर सैकड़ों मठ थे। पूर्ववर्ती काल की तरह तरिम की घाटी में स्थित भारतीय संस्कृ शक्तिशाली केन्द्रों में खोतान और कुचि प्रमुख थे।

फा-हिएन और हिउएनत्सांग दोनों ने खोतान में उन्नतशील बौद्धधर्म का प्रशंसा शब्दों में उल्लेख किया है। फा-हिएन के समय में भिक्षुओं की संख्या लाखों तक गयी थी, जो अनुशासन के नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करते थे और औचित्य और शालीनता की उच्च भावना प्रबल थी। यहाँ का राजपरिवार तथा लोग सब बौद्ध थे और हर घर के सामने एक छोटा स्तूप था। छोटे से छोटे स्तूप ऊँचाई बीस हाथ होती थी। यहाँ चार बड़े मठ थे, जिनमें गोमती-विहार सबसे अ प्रसिद्ध था। इसमें तीन हजार भिक्षु रहते थे। हर साल यहाँ ऊँचे रथों पर प्रतिमा

जुलूस निकाले जाते थे (आधुनिक भारत में, रथयात्रा के जुलूसों की इनमें भी भिक्षुगण अग्रणी रहते थे। इन जुलूसों का विस्तृत विवरण दिया है। ये जुलूस चौदह दिनों तक निकलते रहते थे। इनमें राजा और रानी भी होते थे। हर मठ निश्चित दिन पर अलग से अपने रथ पर जुलूस निकालता फा-हिएन ने एक दूसरे मठ का निम्नलिखित विवरण दिया है :—

राजा का नया मठ, जिसके निर्माण में आठ बरस लगे थे, और जो तीन राज- चलता रहा था, २५० हाथ (क्यूबिट) ऊँचा है, इसमें नक्काशी और जड़ाऊ सुन्दर है। ऊपर से यह सोने और चाँदी से मढ़ा है। बुद्ध का कक्ष बहुत और सुन्दर है; शहतीर, स्तम्भ, झिलमिलीदार दरवाजे और खिड़कियाँ सभी मढ़े गये हैं। भिक्षुओं के कक्षों की सजावट इतनी सुन्दर और शानदार है कि में नहीं बयान किया जा सकता है।" फा-हिएन का कहना है कि पूर्वी के छह राजाओं ने अपनी सारी मूल्यवान चीजें इस मठ को दान कर दी थीं, थोड़ी-सी चीजें अपने इस्तेमाल के लिए रखी थीं।

हिउएनत्सांग ने भी खोतान के विभिन्न पवित्र स्थानों और मन्दिरों का और उनसे परम्पराओं का उल्लेख किया है।

इससे पहले विजित-कीर्ति के राज्यकाल तक खोतान के राज-परिवार के विवरण का हवाला दे चुके हैं। इसके बाद भी दस या ग्यारह पीढ़ियों तक, में खोतान विदेशियों के अधिकार में रहा, हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। वह तु-यू-हुन (४४५ ईसवी), जुआन-जुआन (ल० ४७० ईसवी) हेफ्थलाइट् -५५६) तथा पश्चिमी तुर्की (५६५-६३१ ई०) के काल से सम्बन्धित है। ने खोतान पर विजय प्राप्त की थी।

बाद हमारा परिचय राजा विजित-संग्राम से होता है, जिसने तुर्कों से इस देश किया। सन् ६३२ ईसवी में उसने चीन के राजदरबार में एक राजदूत और तीन अपने पुत्र को भेजा। अगले राजा विजित सिह ने भी ६४८ ईसवी में अपने चीन भेजा और इसके बाद वह स्वयं भी वहाँ गया। शायद इसी के शासनकाल यात्रा से लौटते समय, हिउएनत्सांग खोतान में ठहरा था। कम से कम एक तक इस राजवंश का शासन रहा। तिब्बती इतिवृत्तों में विजित-कीर्ति, संग्राम, विजित-विक्रम, विजित-धर्म, विजित-संभव और विजित-बोहन ?) का उल्लेख है। इनमें से अन्तिम राजा का शासनकाल आठवीं सदी ईसवी में था, और शायद यही वह विश्ववाहम् था जिसका नाम, मध्य-एशिया दो दस्तावेजों में आता है। इन दस्तावेजों की भाषा ईरानी है किन्तु लिपि है।

खोतान की तरह कुचि भी बौद्धमत का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जैसा हम ऊपर बता

चुके हैं।[1] कुचि के लोग भारत-योरोपीय परिवार की भाषा बोलते थे। (जिसे कुचि
तुखारी, अर्सी इत्यादि नाम दिये गये हैं।) भारत और कुचि के अंतरंग सम्बन्ध चौ
सदी ईसवी में भी थे, यह कुमारजीव[2] की कहानी से स्पष्ट होता है। चीनी अभिले
के अनुसार चौथी और पाँचवीं सदी ईसवी के आरम्भ में इस राज्य में करीब १०,०
स्तूप और मन्दिर थे। चौथी और पाँचवीं सदी में पहले त्सिन राजवंश के इतिहास
कुचि में बौद्ध धर्म की स्थिति का विस्तृत विवरण दिया गया है। यहाँ अनेक मठ
भिक्षुणियों के लिए संघाराम थे। इनमें से चार मठ और तीन संघाराम कुमार
के आचार्य बुद्धस्वामी की देखरेख में काम कर रहे थे। इन मठों में रहनेवा
अधिकांश भिक्षुणियाँ राजाओं और राजकुमारों की पत्नियाँ और पुत्रियाँ थीं।
नियमित रूप से शिक्षा दी जाती थी और वे अनुशासन और शालीनता के कठोर नि
का पालन करती थीं।

हिउएनत्सांग के काल में भी कुचि में बौद्धधर्म ही फलफूल रहा था। यहाँ
सौ मठ थे, जिनमें पाँच हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। वे भारतीय सिद्धान्तों
अनुशासन के नियमों का पालन और मूल भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करते
राजधानी के बाहर ९० फुट ऊँची बुद्ध की दो प्रतिमाएँ थीं, जिनके सामने हर
बरस बाद दस दिनों के लिए एक धार्मिक सभा का आयोजन किया जाता था।
दिनों सार्वजनिक छुट्टी रहती थी, राजा तथा अन्य श्रेणियों के लोग इस सभा में
होते थे। खोतान की तरह यहाँ भी धार्मिक जुलूस निकलते थे।

हिउएनत्सांग के अनुसार कुचि के लोग वीणा और बाँसुरी-वादन में निपुण
अन्य चीनी स्रोतों से हमें और अधिक मनोरंजक जानकारी मिलती है।
कुचिवासियों की संगीत-दक्षता का कारण भारतीय प्रभाव था। वहाँ न
भारतीय संगीत-प्रणाली ही फैली, बल्कि भारतीय संगीतकार भी सचमुच गये थे
उनमें से कुछ तो वहाँ बसे भी थे। चीनी इतिवृत्तों में कुचि के त्साओ (झा
उपाध्याय) नाम के ब्राह्मण परिवार का उल्लेख है, जो खानदानी संगीतकार थे।
और ५७७ ईसवी के बीच इस परिवार का एक सदस्य चीन गया था। सुजीव
का एक अन्य संगीतकार भी इसी काल में कुचि से चीन गया था। ये भारतीय
संगीतकार इतने निपुण थे कि किसी भी धुन को केवल एक बार सुनने के
उसकी नकल कर सकते थे। चीनी वृत्तान्तों को पढ़ने के बाद इस विश्वास में
सन्देह नहीं रहता कि कुचि में प्रचलित संगीत-प्रणाली मूलतः भारतीय थी और
राजदरबार में इसे दीर्घ काल तक पसन्द किया गया था। संगीत के अलावा
में अन्य भारतीय कलाएँ और ज्ञान-विज्ञान भी फलते फूलते रहे। कुचि के
प्राप्त प्रसिद्ध बांवेर हस्तलिपि में सात ग्रन्थ हैं जिनमें से तीन चिकित्सा

---

[1] जि. II, पृ. ६४१ (अँगरेजी संस्करण)।

[2] देखिए, ६७४ प. पृ।

हैं। यह हस्तलिपि गुप्तकालीन लिपि में है। इसकी भाषा संस्कृत है, जिसमें अनेक शब्दों का मिश्रण है। इन ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि कुचि में चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन होता था। यहाँ हजार बुद्धों वाली उन हवाला भी दिया जा सकता है जो तिएन शन पर्वतों की दक्षिणी ढलानों से प्राप्त हुई हैं। इन्हें भित्ति चित्रों से सजाया गया था, जो सातवीं से ईसवी के हैं। इनमें कुछ संस्कृत ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त

घाटी के पश्चिमी प्रदेश में भारतीय संस्कृति के प्रभाव के सम्बन्ध में और भी अधिक सीमित है। इसमें सन्देह नहीं कि तरिम घाटी और उत्तरी घाटी के बीच में स्थित पहाड़ी क्षेत्र में बौद्ध धर्म फैला हुआ था। जो खोतान और उत्तर-पश्चिमी भारत के बीच के छोटे और सीधे रास्ते था, लिखा है कि वह जिस क्षेत्र से गुजरा था, वहाँ बौद्ध धर्म की प्रमुखता एनत्सांग के काल में भी स्थिति बहुत कुछ इसी तरह की थी। आमून दरिया लेकर हिन्दूकुश के सारे रास्ते में, आते और लौटते वक्त हिउएनत्सांग ने के प्रसार के लक्षण देखे। बल्ख (प्राचीन बैक्ट्रिआना) से लेकर आमून दरिया भाग तक का इलाका बौद्ध धर्म का बड़ा केन्द्र था। इस क्षेत्र की राजधानी राजगृह कहा जाता था। साफ जाहिर है कि प्राचीन भारत के प्रसिद्ध शहर पर यह नाम रखा गया था। इसमें एक सौ मठ थे, जिनमें तीन सौ भिक्षु। हिउएनत्सांग को यहाँ बुद्ध के अनेक अवशेष और पुराने पवित्र स्थान दिखाई। नवसंघाराम नामक मठ एक प्रसिद्ध बौद्ध संस्थान था।

इतिवृत्तों से पता चलता है कि खलीफा अलमंसूर का वजीर खालिद एक त् बल्ख के बौद्ध-मठ "नाँबहर" के प्रधान भिक्षु का पुत्र था। स्पष्ट है कि नवविहार अर्थात् नवसंघाराम का अरबी रूप है। बल्ख के अरब विजेता ने में खालिद की माँ को कैद कर लिया था। उसके पुत्र को इस्लाम की गयी और उसने विख्यात बर्मकी खानदान की नींव डाली। खलीफा के में खालिद-इब्न-बर्मक को सबसे ऊँचा ओहदा मिला था। ७८६ ईसवी से ८०३ एक प्रकार से उसके पुत्र और दो पौत्रों ने ही अब्बासी साम्राज्य पर था। उन्हीं के माध्यम से अरबों का परिचय भारतीय ज्योतिषशास्त्र, चिकित्सा विज्ञान तथा अन्य ज्ञान-विज्ञानों से हुआ था।

एनत्सांग के समय में जिन और स्थानों पर बौद्ध धर्म फलफूल रहा था, उनमें (गजनी), हबोह (कुन्दुज) तथा बदख्शाँ और काशगर के बीच के कई स्थान से दो स्थानों के शासकों के बारे में कहा जाता था कि वे कपिलवस्तु के के थे। इनमें कई स्थानों पर, विशेषकर अन-ता-लो-पो (अन्दरब) में धर्म भी फलफूल रहे थे।

आमू और सीर दरिया के बीच के इलाके में बौद्ध धर्म का प्रभाव काफी

कम हो चुका था। भारत आते समय हिउएनत्सांग इस इलाके के बहुत से स्थानों गुजरा था। ईसिक कोल झील (तरिमघाटी के ठीक आगे के पहाड़ी दर्रों के पार) आमू दरिया के बीच के विशाल क्षेत्र में उसे बौद्ध धर्म का कोई निशान नहीं दिया। यहाँ के लोग अग्नि-पूजक थे और बौद्ध धर्म का उन पर कोई असर नहीं था। लेकिन बौद्ध धर्म का असर वहाँ एकदम नहीं था, ऐसा भी नहीं कहा जा पश्चिमी तुर्कों का महान खान, जो ईसिक कोल के पश्चिम में रहता था, बौद्ध धर्म बहुत आदर करता था। उसने हिउएनत्सांग का बहुत अच्छा सत्कार किया और बौद्धधर्म की व्याख्या करने के लिए भी कहा था। व्याख्या की समाप्ति पर "खान ने उठाकर नमस्कार किया और बौद्धधर्म के उपदेशों को सहर्ष 'स्वीकार किया।" हिउएनत्सांग को रोक लिया और स्थायीरूप से वहीं रहने के लिए आग्रह किया। जब वह हिउएनत्सांग को अपनी यात्रा जारी रखने से न रोक सका तो अफ़गानिस्तान तक अपना एक विश्वस्त मार्गदर्शक उसके साथ भेजा। जैसा हम बता चुके हैं, नालन्दा के भारतीय भिक्षु प्रभाकर मित्र ने तुर्की सरदार के पास उसे बौद्धधर्म की शिक्षा दी थी। इसका तुर्की सरदार पर गहरा असर पड़ा होगा इसी से हिउएनत्सांग के स्वागत का मार्ग प्रशस्त हुआ होगा। इस प्रकार पश्चिमी पर, जो इस इलाके की प्रमुख शक्ति थे, बौद्ध धर्म का प्रभाव शुरू हुआ। आठवीं ईसवी से कुछ पहले एक तुर्की राजा अपनी रानी और राजकुमार के साथ भारत था। उसने दो मन्दिर कश्मीर में और दो गान्धार में बनवाये थे। संघवर्मन्, समरकन्द का निवासी था, बौद्ध भिक्षु बना और गया के महाबोधि मन्दिर यात्रा की। ईत्सिंग ने तुर्किस्तान पर बौद्ध प्रभाव और भारत के साथ तुर्किस्तान सम्बन्ध पर प्रासंगिक प्रकाश डाला है। उसने तुखार (तुर्क) के लोगों द्वारा भिक्षुओं के लिए भारत में बनाये गये बौद्ध मन्दिर का हवाला दिया है; "यह बहुत समृद्ध और सम्पन्न है, दान और सुव्यवस्था की दृष्टि से इसने दूसरे मन्दिरों मात दे रखी है।" आगे चलकर बताया गया है कि "जब उत्तरी देशों के भारत आते हैं तो वे अपने मन्दिर में ठहरते हैं, उन्हें उस मन्दिर का समझा जाता है।" ई-त्सिंग ने एक और स्थान पर बताया है कि विहारस्वामियों बिरादरी का मन्दिर की सम्पत्ति पर साझे का अधिकार होता था।[1]

४. अफ़गानिस्तान

फा-हिएन और हिउएनत्सांग के प्रमाणों से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उस में भी अफ़गानिस्तान का काफी बड़ा भाग भारत का अंग समझा जाता था। अथवा स्वात नदी की घाटी का हवाला देते हुए फा-हिएन ने लिखा है, "सचमुच उत्तरी भारत का एक भाग है। सब लोग मध्य-भारत की भाषा का प्रयोग करते लोगों का खानपान और पौशाक भी मध्य-भारत के लोगों जैसी है। बौद्ध धर्म

---

[1] ज. बि. ए. सी., XXXVIII, पृ. ४११।

। हिउएनत्सांग ने लंघन, जलालाबाद और सुदूर पूर्वी प्रदेशों को, जिनमें स्वात शामिल है, भारत में गिनाया है ।

न हिउएनत्सांग ने यह भी देखा कि बमियन और कपिशा के लोगों पर तुर्कों सभ्यता का प्रभाव था । बमियन के लोगों की लिखित भाषा, सार्वजनिक ान और सिक्के तोखार लोगों जैसे थे, उनकी शक्ल-सूरत भी तोखार लोगों े, लेकिन उनकी बोलने की भाषा अलग थी । उनके तौरतरीके अपरिष्कृत थे, वे ईमानदार लोग थे । कपिशा की लिखित भाषा भी तोखारी भाषा से जुलती थी, लेकिन इसमें कई दूसरे अन्तर थे । लोग उजड्ड और थे । इस अन्तर के कारण निश्चय ही पाँचवीं और छठी सदी ईसवी में हूणों आक्रमणकारियों का इस प्रदेश में आना था । इसके बावजूद इन दोनों स्थानों धर्म फलफूल रहा था ।

मियन घाटी हिन्दूकुश पर्वतों के नीचे बिछी है । इसके आसपास पहाड़ियाँ हैं वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण दर्रा है, जो काबुल को बल्ख (बैक्ट्रिया) से है। भारत से पश्चिम जाने वाले खुश्की के रास्ते पर यह महत्त्वपूर्ण पड़ाव था । परम्पराओं के अनुसार, यहाँ का राजपरिवार कपिलवस्तु से आया था । यह था गलत, लेकिन बमियन बहुत शुरू से ही बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा आसपास की पहाड़ियों की चट्टानें काट कर भिक्षुओं के रहने तथा बौद्ध ग्रन्थों के लिए स्थान बनाये गये थे । इन गुफाओं से प्राप्त ग्रन्थ कुषाण और गुप्त-में लिखित हैं ।

एनत्सांग के जमाने में बमियन में बौद्धधर्म बहुत शक्तिशाली था । वहाँ अनेक जिनमें हजारों भिक्षु रहते थे और अनेक पवित्र स्मृति चिह्न थे । वहाँ का बौद्ध था और वह भी हर्षवर्धन की तरह पाँच साल बाद उत्सव करता था । एनत्सांग ने बहुत-सी गुफाएँ और बुद्ध की विशालकाय प्रतिमाएँ, जो पहाड़ी पर राशकर बनी थीं, देखी थीं, जो अभी भी वहाँ मौजूद हैं ।

पिशा (काफिरिस्तान) एक बड़ा और शक्तिशाली राज्य था, जिसकी सत्ता फैले हुए दस पड़ोसी राज्यों पर छाई हुई थी । वहाँ का राजा जाति का था, और बड़ा निष्ठावान बौद्ध था । यहाँ १०० मठ थे, जिनमें ६००० भिक्षु । यहाँ बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक इतिहास से सम्बद्ध कई पवित्र स्थान और चिह्न भी थे । कुछ ब्राह्मण मन्दिर भी थे । ई-त्सिंग ने लिखा है कि बोधगया "कपिशा मन्दिर" भी था, जहाँ उत्तर से आये पुजारी रहते थे ।

में हुई पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाइयों से पता चला है कि सारे अफ़गानिस्तान रतीय संस्कृति का कितना गहरा असर था । यह असर हिन्दूकुश तक फैला था । इन खुदाइयों से प्राप्त कलात्मक अवशेषों से पता चलता है कि भारतीय परम्पराओं का पूर्ण विकास खोतान, कुचि, तुरफन, तुन्हवांग और मध्य एशिया भारतीय उपनिवेशों में हुआ था । हद्दा के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जहाँ

फा-हिएन और हिउएनत्सांग दोनों गये थे। खुदाई में ५३१ स्तूपों के अवशेष औ ५००० मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें अधिकांश बालू और चूने के बने शीर्षभाग हैं। आकृतियों से बहुत उत्कृष्ट कलात्मक भावना झलकती है। बमियन का महत्व स्थल भी खोज निकाला गया है जहाँ अनेक मूल्यवान् भित्तिचित्र और संस्कृत ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। बुद्ध की विशालकाय मूर्तियों और अ प्रसिद्ध गुफाओं के साथ-साथ कुछ पुरानी गुफाएँ और आलंकारिक चित्र भी प्रकाश आये हैं। इन चित्रों पर कुछ ईरानी प्रभाव भी है। काबुल के उत्तर-पश्चिम में खानेह की पहाड़ी पर सूर्य की एक मूर्त्ति और गुप्त शैली के मन्दिर के अवशेष मि हैं। कापिशि के एक स्थल बेग्राम में हाथीदाँत की बहुत-सी वस्तुएँ, जिनके न कुषाण काल में मथुरा की कला-शैली की याद दिलाते हैं, प्राप्त हुई हैं। इससे दूर पूर्व के एक स्थल से मिट्टी की आकृतियाँ और गुप्त तथा पाल कालों की शैली मिलते-जुलते भित्तिचित्र भी प्राप्त हुए हैं।

५. तिब्बत

मध्ययुग के तिब्बती इतिवृत्तों के अनुसार तिब्वत के राजवंश का संस्थापक ए भारतीय राजा का पुत्र था। लद्दाख और पश्चिमी तिब्बत के राजा भी अपने भारत के शाक्य वंश के वंशज वताते थे। ये परम्पराएँ तिब्बत के इतिहास औ संस्कृति पर भारत के शक्तिशाली प्रभाव का प्रमाण हैं, लेकिन उन्हें ऐतिहासिक त नहीं माना जा सकता।

छठी सदी ईसवी से पहले भारत और तिब्बत के पारस्परिक सम्पर्क के वारे में ह कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती। इस सदी के अन्तिम दो दशकों को एक स्थानी सरदार ने, जो अब तक तिब्वत के विभिन्न भागों पर शासन करता आया था, बा हिस्सों को अपने अधीन करके एक शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। इस राजा क नाम ग्नाम-री-स्रोड-ब्तसान[1] था। कहा जाता है कि उसने मध्य भारत पर भी हम किया था, जिसमें उसे सफलता मिली थी।[2] इस वर्णन की प्रामाणिकता में सन्देह है लेकिन निस्सन्देह उसके राज्य की सीमाएँ भारत की सीमाओं से मिलती थीं, और ह सकता है कि कुछ सीमावर्ती राज्यों से उसके सम्बन्ध रहे हों।

इस राजा का पुत्र और उत्तराधिकारी प्रसिद्ध स्रोङ-ब्त्सन-स्गम-पो था ज सातवीं सदी ईसवी के पूर्वार्द्ध में तिब्बत के सिंहासन पर बैठा था। कहा जाता है कि उसने आसाम और नेपाल को जीता था और आधे जम्बू-द्वीप (भारत) पर उसकी सत्त

---

[1] अलग-अलग इतिहासकारों ने तिब्बती नामों को अलग-अलग ढंग से लिखा है। इस पुस्त में हमने फ्रांके (ऐंटिक्विटीज ऑफ इंडियन टिबेट) की दी हुई प्रणाली अपनायी है।

[2] चीनी स्रोतों के अनुसार जो लेवी (नेपाल, II, १४७) का आधार है। लेकिन क्रॉनिकल्स ऑफ लदाख में लिखा है "भारत के पश्चिमी भाग के कुछ राजाओं को जीता गया (फ्रांके, पृ. दो पृ. ८२)। देखिए पेटेख पू. पु., पृ. ३५-३६।

स्पष्ट अतिरंजनाओं के बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि इस तिब्बती शासक का और शायद आसाम तथा अन्य प्रदेशों पर भी आधिपत्य था।[1]

त्सन-स्गाम-पो के साथ ही बौद्ध धर्म का प्रभाव शुरू होता है, जिसने जल्द त की समूची संस्कृति को बदल दिया। उसने नेपाल के राजा अंशुवर्मन् की था एक चीनी राजकुमारी के साथ विवाह किया। ये दोनों रानियाँ धर्मनिष्ठ और उनके प्रभाव के कारण राजा ने भी बौद्धधर्म अपना लिया। उसने और मठ बनवाये, और बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करवाया। भारत से बहुत सी मूर्तियाँ और पवित्र स्मृति चिह्न लाये गये।

न तिब्बत के सांस्कृतिक विकास में इस राजा का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान भाषा तथा भारतीय लेखन-पद्धति को तिब्बत में लाना है। निम्नलिखित वर्णन स्रोतों से एकत्र किया गया है।[2]

जा ने देखा कि धर्म की स्थापना के लिए, विशेषकर लोगों की भलाई के लिए, ने के वास्ते लिखित भाषा का होना बहुत आवश्यक है। इसलिए उसने थियों के साथ संभोट को संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए भेजा, ताकि रा भारतीय बौद्धों के पवित्र ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। उसने भी आदेश दिया कि वे तिब्बती बोली की स्वनिक विशेषताओं को ध्यान में संस्कृत वर्णमाला को अपनाकर तिब्बत के लिए एक लिखित भाषा तैयार ने आचार्यों को उपहार देने के लिए प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों को सोने के सिक्के दिये।”

भोट और उसके साथियों ने भारत जाकर संस्कृत भाषा, बौद्ध धर्म-ग्रन्थों और लिपियों का पूरा ज्ञान प्राप्त किया। तिब्बत लौटकर उन्होंने तिब्बती और व्याकरण की एक पुस्तक तैयार की। राजा ने आदेश दिया कि वाले सभी लोगों को लिखना और पढ़ना सिखाया जाए और बौद्ध ग्रन्थों से तिब्बती में अनुवाद किया जाए। फिर उसने राजाज्ञा जारी की कि द्वारा बताये गये दस सद्गुणों का और सोलह नैतिक नियमों का रें।”

विवरण के बारे में हम जो भी चाहे सोचें, इसमें सन्देह नहीं कि तिब्बती ईसा की पाँचवीं से सातवीं सदी के बीच प्रचलित गुप्तकाल की लिपि से है। संभोट द्वारा बनाया गया व्याकरण बहुत कुछ आज के तिब्बती स्कूलों में व्याकरण जैसा है।[3]

---

[1] देखिए ऊपर पृ. ९७-९८, १६०।

[2] ज. ए. सो. ब., १८८१, पृ. २१८-१९।

[3] के, पू. पु., पृ. ८४।

इस प्रकार तिब्बत में बौद्ध धर्म की नींव रखी गयी और भारत के निर्देशन में सांस्कृतिक विकास किया। इस आन्दोलन की शुरुआत स्रोङ्-व्स्तन-साम-पो ने की बाद में जब बौद्ध धर्म तिब्बत में शक्तिशाली हो गया तो लोगों की दृष्टि में व्यक्ति का ऊपर उठना स्वाभाविक था। यहाँ तक कि उसे वोधिसत्त्व अवलोकि अवतार समझा जाने लगा, और उसकी नेपाली रानी को भृकुटि का तथा चीनी को तारा का अवतार माना जाने लगा। कहा जाता है कि इस राजा ने कम ९०० मठ बनवाये, जिसमें रा-मो-चे का प्रसिद्ध मठ भी शामिल था। उसने दरबार में भारतीय आचार्य कुमार, नेपाली आचार्य शीलमंजु, कश्मीरी आचार्य और गनुत, ब्राह्मण लीब्यीन और चीनी आचार्य ह-शान-महादेव को भी बुलाया

करीब ६५० ईसवी में स्रोङ-व्त्सन-स्गम-पो का देहान्त हुआ। इसके बाद सदी तक हमें नये धर्म या भारत के साथ तिब्वत के सम्वन्धों के बारे में कोई नहीं मिलती। ७०२ ईसवी के करीब नेपाल तथा भारत के उत्तर पूर्व में सीमावर्ती राज्यों ने तिब्बती जुए को उतार फेंका और इसके विरुद्ध अभियान में का राजा मारा गया (७०४ ईसवी में)। नये राजा का नाम ख्री-ल्दे-व्सुग-ब्रत जो अपने कुलनाम मेस-अग-त्शोम्स (७०५-५५ ई०) से प्रसिद्ध है। ७०४ ईसवी हार का बदला लेने के लिए वह अक्सर भारत पर धावा बोलता रहा था। अक्सर वाले इन हमलों से ललितादित्य और यशोवर्मन् इतने परेशान हो गये, कि उन्होंने से सहायता के लिए निवेदन किया।[2]

भारत से पुनः सम्वन्ध तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास में सहायक सिद्ध नये राजा ने मन्दिर और मठ बनवाये, तथा पवित्र ग्रन्थों का अनुवाद लेकिन इसके वाद जल्द ही इसकी प्रतिक्रिया हुई। ७४०-४१ की महामारी के दौरान देवताओं को प्रसन्न करने के लिए सारे विदेशी भिक्षुओं को देश से निकाल दिया इस तरह हम देखते हैं कि ७५५ ईसवी में मेस-अग-त्शोम्स के देहान्त के समय, में बौद्ध धर्म के विकास की सम्भावना वहुत उज्ज्वल नहीं थी।[3]

६. सुदूर पूर्व के अन्य देश

बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति मध्य एशिया, चीन और तिब्बत उत्तरी तथा पूर्वी एशिया के अन्य भागों में फैली। जिन देशों में इसका प्रभाव उनमें मंगोलिया, कोरिया और जापान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इसमें सन्देह कि कोरिया और जापान पर चीनी बौद्धों का वहुत प्रभाव पड़ा था, और

---

[1] टॉमस, पू. पु., पृ. ६२, ८३, ८४।

[2] शास्त्री, फॉरेन नोटिसेज, पृ. ११७; देखिए ऊपर पृ. १४८, १५२।

[3] क्रॉनिकल्स ऑफ लद्दाख के एक पाठान्तर के अनुसार बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया इलाके में शुरु हुई थी (फ्रांके, पू. पु., पृ. ८६)।

ी बौद्धधर्म के प्रचार का, विशेषकर मंगोलिया में, महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया त और इनमें से कुछ देशों के बीच सीधे सम्पर्क के प्रमाण भी मिलते हैं। तक कोरिया का सम्बन्ध है, ई-त्सिंग के विवरण से पता चलता है कि सातवीं में पाँच कोरियाई भिक्षु भारत आये थे। इनमें से दो ६३८ ईसवी में रवाना वे नालन्दा में रहे थे और वहीं उनकी मृत्यु भी हुई थी। एक तीसरा भिक्षु तिब्बत और नेपाल के रास्ते से ६५० ईसवी में आया था। चौथा भिक्षु भारत में दस बरस तक ठहरा था। एक अन्य कोरियाई भिक्षु की भारत में ी, और दो और भिक्षुओं की, जो भारत आ रहे थे, रास्ते में मृत्यु हो ।

त और जापान के बीच भी सीधा सम्पर्क था। इस सिलसिले में सबसे अधिक भिक्षु बोधिसेन था, जिसका इतिहास जापानी इतिवृत्तों[1] में सुरक्षित है। बोधिसेन ब्राह्मण था और उसका कुलनाम बरचि (भारद्वाज गोत्र ?) था। वह से चीन के लिए रवाना हुआ, रास्ते में उसकी मुलाकात चम्पा के एक तेसु से हुई, जिसका जहाज दुर्घटना में डूब गया था। दोनों एक साथ ७३३ चीन पहुँचे।

में बोधिसेन मंजुश्री से मिलने गया जिसके बारे में भारत में प्रचलित विश्वास चीन में रहता था। बोधिसेन उसे वहाँ नहीं ढूंढ़ सका। उसे बताया गया कि जापान के लिए रवाना हो चुका है। चीन के दरबार में, जापान के सम्राट् के ो स्वदेश जा रहा था, बोधिसेन को अपने साथ चलने का निमंत्रण दिया । और बुत्तेत्सु दोनों उसके साथ चल पड़े और ७३६ ईसवी में जापान पहुँच वा (ओसाका) के बन्दरगाह पर पहुँचने पर सम्राट के एक दूत, मुख्य था उसके साथ आये सौ व्यक्तियों, विधिनायकों, गायकों-वादकों और विदेश उच्च अधिकारियों ने उनका स्वागत किया ।

होता है कि जापान में बौद्धमत और संस्कृत पहले से ही विख्यात हो चुके बोधिसेन ने जापानी पुरोहित से "संस्कृत और जापानी" दोनों भाषाओं में वातंचीत की थी, जैसे दोनों पुराने मित्र हों। उसे एक बौद्ध मठ में या था। सम्राट् के दरबार की तरफ से उसे कपड़े तथा दूसरी जरूरी चीजें थीं।

में जब बुद्ध वैरोचन की एक विशालकाय मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी तो को इसके अभिषेक के लिए निमन्त्रण दिया गया। बुत्तेत्सु ने संगीत के की देखभाल की थी।

ईसवी में बोधिसेन को जापान के बौद्धों का मुखिया नियुक्त किया गया। वह बरामोन सोजो (ब्राह्मण धर्माध्यक्ष) के नाम से विख्यात हुआ। वह तीन

---

[1] ज. रा. ए. सो. द. ओ., XXVIII, २४-२६।

अलग-अलग मठों में संस्कृत और गंडव्यूह महायान सिद्धान्त की शिक्षा देता सन् ७६० में ५७ वर्ष की आयु में उसका देहान्त हो गया । उसके अस्थि के ऊपर एक स्तूप का निर्माण हुआ और उसके एक शिष्य ने इस स्तूप के लिए ईसवी में अभिलेख लिखा ।

कुछ जापानी विद्वानों का कहना है कि बोधिसेन ने जापानी अक्षरमाला को वर्णमाला के आधार पर पचास स्वनिक स्वरों में बाँटा था, हालांकि कुछ इसे परवर्ती मानते हैं । जापान में भारतीय वर्णमाला का प्रयोग शायद इससे भी से होता था । यह ज्ञातव्य है कि जापान के कुछ मठों से प्राप्त ताड़पत्रों की हस्तलि के कुछ अंश, चौथी सदी ईसवी की भारतीय लिपि में लिखे गये हैं ।[1] इस बात भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि होरीऊर्जा मठ से प्राप्त ताड़पत्र की हस्तलिपि, जो ईसवी में जापान लायी गयी थी, छठी सदी ईसवी से अधिक पुरानी नहीं हो सकती

विद्वान् होने के साथ-साथ बुत्तेत्सु संगीत और नृत्य में भी निपुण था । जापान के नारा विश्वविद्यालय में कई साल बिताये थे, जहाँ वह भारतीय संगीत नृत्य की शिक्षा देने के साथ-साथ इन कलाओं का प्रदर्शन भी किया करता था । स्वरों वाली संगीत पद्धति (षड्ज, ऋषभ इत्यादि) धार्मिक गोष्ठियां राजदर में बहुत पसन्द की जाती थी । बुत्तेत्सु संस्कृत का शिक्षक था और संस्कृत पढ़ाने लिए उसने एक नियमावली भी लिखी थी ।

७. पाश्चात्य देश[3]

(I) व्यापारिक और राजनीतिक सम्पर्क

हालांकि तीसरी सदी ईसवी के बाद भारत और रोमन साम्राज्य के व्यापार बहुत कमी आ गयी थी, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि यह व्यापार कम से कम दो तीन सौ बरस और चलता रहा था । दक्षिण भारत से उपलब्ध रोमन सिक्के प्रमाण हैं । उदाहरण के लिए मदुरा में पूरब के सम्राट् आर्केडियस (३६५-४०८ और पश्चिम के सम्राट् ओनोरियास (३६५-४२३ ई०) के तांबे के सिक्के, नियम द्वितीय (३३७-३६१), थिओडोसियस द्वितीय (४०८-४५०), जेनो

---

[1] इ. ऐ., १८८५, पृ. २२८-९ ।

[2] एनोक्डोटा ओक्सोनिएंसिया—आर्यन सीरीज, जि. I, भाग III, पृ. ६४ ।

[3] इस प्रसंग में निम्नलिखित सन्दर्भ-ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है :

(क) रॉलिसन : **इंटरकोर्स बिट्वीन इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड** ।

(ख) एम. हमिदुल्ला : ऐंशिएंट इंडिया फ्रॉम दि अरबिक सोर्सेज (प्रो. इ. हि. का. V. ४८ ।

(ग) पी. के. हिट्टी : **हिस्टरी ऑफ दि अरब्स** ।

और अनेस्टेटियस (४९१-५१८) के एक-एक सोने के सिक्के प्राप्त हुए हैं। र से थियोडोसियस द्वितीय, मार्सियन (४५०-४५७), लियो (४५६-४७४), नेस्टेटियस और जस्टीनियस-प्रथम (५१८-५२७) के सिक्के प्राप्त हुए हैं। नियस प्रथम (३७९-३९५), बालेन्टीनियन (३६४-३७५) और युडोक्सिया ४०४) के सिक्के दक्षिणी भारत के कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के और रा रोमन सम्राटों को भेजे गये दूतमंडल, जिनका जिक्र पहले किया गया है, के प्रमाण हैं कि छठी सदी ईसवी के आरम्भ तक भारत और रोम में क व्यापारिक सम्वन्ध थे।[1] इस प्रचुर व्यापार का एक और प्रमाण इस तथ्य ता है कि अलैरिक ने "४०८ सदी ईसवी में रोम को नष्ट न करने की कीमत ार पाउंड काली मिर्च की शक्ल में माँगी थी।"[2]

न जिल्द में वर्णित पूरे काल में पश्चिमी एशिया के साथ भी भारत के सम्वन्ध नते रहे थे। हमें एमियानस मार्सेलीनस[3] के हवाले से ज्ञात होता है कि चौथी ी के उत्तरार्ध में फरात नदी के किनारे के निकटस्थ व्यापारिक केन्द्र के ेले में भारत से भी सामान भेजा गया था। चीनी इतिवृत्तों में अरव और ने पश्चिमी देशों के साथ चीन के व्यापार का उल्लेख किया गया है। यह अवश्य भारत के रास्ते से होता होगा और इस तरह भारत और पश्चिमी देशों के पुराने व्यापारिक सम्बन्ध वने रहे होंगे। अरब और ईरानी चीन को जहाज जो भारतीय वन्दरगाहों से गुजरते थे। ई-त्सिंग चीन से एक ईरानी समुद्री में भारत आया था।[4] हमें ७२० सदी ईसवी में वज्रबोधि के यात्रा-विवरण से ता है कि जव वह लंका के एक बन्दरगाह में पहुँचा था तो उसे वहाँ पैंतीस जलपोत दिखाई दिये थे।

लाम-पूर्व काल में भी भारत और अरव के बीच व्यापारिक सम्पर्क था। इस्पात की वनी तलवार का हवाला अरवी साहित्य में मिलता है।[5] अदन ल्प-उद्योग का केन्द्र बताया गया है, जिसकी बिक्री सिन्ध, हिन्द और के सब भागों में होती थी। अरव में भारतीय मसालों का बहुत बड़ी मात्रा त होता था और करनफुल (कर्णफुल) जैसे शब्द भारतीय शब्द से निकले हैं। व साहित्य से पता चलता है कि इस्लाम से पहले ढवा का शहर अरब के दो न्दरगाहों में से था। यह अरव के दक्षिण-पूर्वी कोने पर ओमन में स्थित था। ढवा

जि. II, पृ. ६२५ (अँगरेजी संस्करण)।

ज. रा. ए. सो., १९०४, पृ. ३०७ प. पृ.।

XIV, ३, ३३।

इ. रे. त., पृ. XXVIII।

ऑफ: पेरिप्लस, ७०-७१।

में हर साल एक मेला लगता था, जिसमें सिन्ध, हिन्द, चीन और यूनान—संसार हर कोने से व्यापारी आते थे।

भारत और ईरान के वीच घनिष्ठ व्यापारिक सम्वन्धों का एक दिलचस्प प्र ईरानी इतिहासकार—टवरी (८३८-९२३ ईसवी) की कृति में सुरक्षित है, जि खुशरू द्वितीय के देहान्त के तत्काल वाद लिखित एक पहलवी कृति का प्रमाण गया है। उसके विवरण से पता चलता है कि खुशरू के राज्य काल (५९०-६ ईसवी के ३६ वर्ष में, भारत के एक राजा ने अपने वेटों और राजदूतों को राजा के लिए खत और उपहार देकर भेजा था। एक राजकुमार के लिए भेजे गए पर लिखा था "निजी" और उसमें एक जानकारी—एक प्रकार की भविष्यवाणी— कि वह दो वरस वाद वादशाह वन जाएगा। कहा गया है कि वह भारतीय पुलकेशिन् द्वितीय था और अजन्ता की गुफा नम्बर १ की छत पर वने एक चित्र न केवल वादशाह खुशरू द्वितीय और उसकी मशहूर मलिका शीरी को दिखाया है वल्कि राजा पुलकेशिन् के दरवार में ईरानी दूतमंडल का दृश्य भी प्रस्तुत गया है। इस चित्र की व्याख्या और टवरी द्वारा इस राजा की पुलकेशिन् शिनाख्त—इन दोनों विचारों पर सवाल उठाये गये हैं।[1] लेकिन इसमें सन्देह नहीं कहानी और चित्र दोनों से भारत और ईरान के वीच के घनिष्ठ सम्वन्ध सिद्ध हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वाणभट्ट के **हर्षचरित** के अनुसार सम्राट् हर्ष का अस्तवल ईरानी घोड़ों से भरा था। इसी प्रमाण से मालूम होता है कि हर्ष राजदरवार ईरान तथा अन्य पश्चिमी राज्यों से परिचित था। हर्ष के सेनापतियों गर्वोक्तियों में निम्नलिखित पंक्ति भी आती है "वीरों के लिए तुरुष्कों का देश एक हाथ बरावर है, फारस या ईरान केवल एक वालिश्त के वरावर है, शकस्था खरगोश के पदचिह्न के वरावर है।"[2]

एक पहलवी कृति से पता चलता है कि हर्ष और पुलकेशिन् से पहले एक भारतीय राजा देवसरम (देवशर्मा ?) ने ईरानी वादशाह खुशरू प्रथम के एक दूतमंडल के हाथ कीमती उपहार और शतरंज के मोहरे और वोर्ड भेजा था।[3]

---

१. विभिन्न मतों का हवाला देते हुए इस प्रश्न पर शास्त्री ने विचार किया है। फॉरेन नोटि (पृ. ९)और वी. घोष (ज. वि. रि. सो., XXX, १ प. पृ.) और भी देखिए लेखक का लेख 'पुलके और, खुशरू द्वितीय" (ज. इ. हि., जिल्द IV, भाग II)।

२. ह. च., २१०।

३. फारसी कवि फिरदौसी ने **शाहनामा** में कहा है कि हिन्द के वादशाह के राजदूत खु प्रथम (अनूशीर्वान) के पास एक शतरंज लेकर आये थे और उन्होंने उसे खेल का भेद बूझने के कहा था। दूसरे फारसी और अरव लेखकों ने कहा है कि शतरंज का खेल (जो संस्कृत के चतुरंग से बना है) भारत से ईरान पहुँचा था। इस विषय पर सवकी यही धारणा है, इसलिए सन्देह गुंजाइश नहीं। यह खेल हिन्दुओं से ईरानियों तक पहुँचा। वहाँ से अरवों के पास (सातवीं सदी होता हुआ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कव यूरोप पहुँचा इसका काल-निर्धारण कठिन है, लेकिन दसवीं सदी में या इससे कुछ पहले हुआ होगा।

ुक्त इतिहासकार टवरी की कृति में अनेक ऐसे किस्से सुरक्षित हैं जो और पश्चिमी एशिया के देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों का संकेत देते हैं, उनका क मूल्य चाहे कुछ भी हो। उसके अनुसार अनूशीरवां ने भारत में एक दल भेजा था, जिसने कुछ प्रान्त जीत लिये थे, लेकिन इस किस्से की सचाई है।[1]

लम्बे किस्से में सविस्तार बताया गया है कि कैसे एक हिन्दुस्तानी बादशाह बहुत बड़ी फौज लेकर, जिसमें तुर्की और ईरान के अधीन राज्य भी थे, न पर हमला किया था। फिलिस्तीन के बादशाह पर ईश्वर की कृपा होने के हिन्दुस्तानी बादशाह एक लाख सिपाहियों के साथ समुद्र के किनारे भाग उन लोगों ने नावों में बैठकर भागने की कोशिश की लेकिन भूमध्यसागर में ने के कारण सारी सेना नष्ट हो गयी।

हासिक काल में भी भारतीय नौसेना का जिक्र आया है। उन दिनों बसरा के उबुल्ला नामक स्थान "भारत का प्रवेशद्वार" नाम से जाना जाता था। ता था कि वहाँ के गवर्नर को "हमेशा जमीन पर अरब बद्दूओं से और भारतीय नौसेना से लड़ना पड़ता था।"

जाता है कि वहुत से पश्चिमी देशों के राजा भारत आये थे, और उनमें से भारत के विभिन्न प्रदेश जीते थे या उनसे खिराज ली थी।

II. पश्चिम पर भारत का प्रभाव

रे पास इस वात के निश्चित प्रमाण हैं कि विवेच्यकाल में भारतीय साहित्य ज्ञान ने पश्चिमी देशों पर वहुत प्रभाव डाला था।

देशों में भारतीय साहित्य की वहुत कद्र की जाती थी, और वहाँ के लोगों का कितना गहरा प्रभाव था, इसका अनुमान केवल एक कृति **पंचतंत्र**[2] के से लगाया जा सकता है, जिसमें पशु-पक्षियों सम्बन्धी कहानियों के जरिए पूर्ण सूत्र वताये गये हैं। छठी सदी ईसवी में इस कृति का अनुवाद संस्कृत वी में हुआ था, फिर पहलवी से अरवी और सीरियाई[3] भाषा में । अरवी में होने के वाद यह पुस्तक सारे पश्चिमी जगत में विख्यात हो गयी और फारसी, टिन, स्पेनिश, इतालवी तथा यूरोप और एशिया की अन्य भाषाओं में इसका किया गया। मैक्स मूलर के कथनानुसार **पंचतन्त्र** में संकलित कहानियों से

र पर्सी साइक्स : **हिस्टरी ऑफ पर्सिया**, पृ. ४५६।

र देखिए पृ. ३५५।

विंटरनित्ज : गे. इ. लि., III, २९४ प. पृ. हिट्टी के अनुसार (पू. पु. ४०४) **थाउजेंड** नाइट (एक हजार एक रातें) का आधार एक ईरानी कृति थी, जिसमें अनेक ऐसी कहानियाँ मूलतः भारतीय थीं।

भी अधिक आश्चर्यजनक और शिक्षात्मक तथ्य इस कृति का भारत से पश्चिमी तक पहुँचना है। अन्य भारतीय लोक कथाएँ भी यूरोप तक पहुँचीं जिनका प्रभाव युग के **गोस्ता रोमानोरम** तथा बोकाचिओ, स्त्रापरोला, चाँसर तथा ला फोन्तेन कहानियों में देखा जा सकता है। जातक-कथाएँ और बुद्ध की परम्परागत कथाएँ पश्चिमी देशों में प्रचलित थीं। दमिश्क के सन्त जॉन (आठवीं सदी ईसवी) **बर्लाम और जोसाफत** नामक कृति लिखी जिसमें अनेक बौद्ध किवदंतियाँ सं थीं और बुद्ध के जीवन को एक धर्मनिष्ठ ईसाई सन्त के रूप में अंकित किया था। इसके फलस्वरूप, बोद्धिसत्त्व गौतम को संत जोज़ाफ़त के रूप में तेरहवें (१५८२)[1] द्वारा निर्मित शहीदों की सूची में शामिल किया गया था।

हिन्दू साहित्य की तरह हिन्दू विज्ञान की, विशेषकर चिकित्साशास्त्र और की, पश्चिमी देशों में बहुत कद्र थी। अनेक विद्वानों का मत है कि वाद के काल यूनानी चिकित्सक हिन्दुओं के चिकित्सा-ग्रन्थों से परिचित थे। भारत के निक देशों में ईरान भी चिकित्साविज्ञान तथा अन्य विषयों के ज्ञान के लिए भारत आभारी था। यह तथ्य इतिहास में दर्ज हो चुका है कि ससानी वादशाह अनूशी (अनूशीरवाँ) (खुशरू प्रथम, ५३१-५७६) ई० के राज्य का वार्ज़ूह्ये नामक भारतीय चिकित्साशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों में निपुणता प्राप्त करने के लिए आया था।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य और विज्ञान का इन देशों पर प्रभाव पड़ा और इस पूरे काल के दौरान भारत के सांस्कृतिक सम्पर्क पश्चिमी देशों से वने रहे धार्मिक प्रभाव भी नगण्य नहीं था। हिउएनत्सांग ने लिखा है कि भारत के पश्चिम लंग-की-लो नामक देश में, जो फारस (ईरान) के अधीन था, १०० से अधिक और ६००० भिक्षु थे। यहाँ कई सौ देव (ब्राह्मणधर्मी) मन्दिर भी थे, जिनमें अधिकांश पाशुपत सम्प्रदाय के थे। इसी चीनी प्रमाण के अनुसार फारस तक में दो तीन बौद्ध मठ और अनेक देव-मन्दिर थे।

इस सम्बन्ध में हम यहाँ चीनी तुर्किस्तान के दन्दनुलिक स्थान से प्राप्त एक चित्र हवाला दे सकते हैं। इसमें चार भुजाओं वाले बौद्ध सन्त अथवा बोधिसत्त्व को फा या ईरानी रूप में दिखाया गया है। इसके चेहरे पर काली दाढ़ी और गलमुच्छे बायें हाथ में एक वज्र है। चित्र में भारतीय कला-शैली की विशेषताएँ स्पष्ट दि देती हैं लेकिन यह उस बौद्ध कला की उपज है जो फारस (ईरान) में विकसित हो पूर्व तक पहुँची थी। इसका काल आठवीं सदी ईसवी निर्धारित किया जा सकता इससे प्रमाणित होता है कि छठी या सातवीं सदी ईसवी तक बौद्धधर्म फारस (ईरा में शक्तिशाली था और उसका सम्पर्क भारत तथा एशिया के अन्य बौद्ध केन्द्रों से अजन्ता के चित्रों में फारसी (ईरानी) आकृतियों का आगमन, जिसका उल्लेख पहले कर चुके हैं, और ये चित्र, कुछ विद्वानों के मतानुसार, सातवीं सदी ईसवी

---

[1] रॉलिंसन : पू. पु., १४२, १८० ।

फारसी (ईरानी) और मध्य एशिया की ललितकलाओं के पारस्परिक गहरे को प्रमाणित करते हैं ।[1]

सामान्य सन्दर्भ

एस० सी० दास, **इंडियन पंडित्स इन दि लैंड ऑफ स्नो**

वही कंट्रीब्यूशंस आँन दि रेलीजन, हिस्टरी एटसेट्रा ऑफ तिब्वत (ज० ए० सो० ब० १८८१, पृ० १८७ प० पृ०; १८८२ पृ० १ प० पृ०)

ए० एच० फ्रैंके, **ऐंटीक्विटीज ऑफ इंडियन तिब्बत, खंड II**

एल० पेटेख (Petech), **ए स्टडी ऑफ दि क्रॉनिक्लिस आंफ लदाख**

एस० लेवी, **ल नेपाल,** जिल्द II, पृ० १४७, १५३-४

एस० डब्लू, टामस, **तिब्बतन लिटरेरी टेक्सट्स ऐंड डॉकुमेन्ट्स कंसर्निंग चाइनीज तुर्किस्तान**

---

[1] ध. भा. स्मि. ३१० ।

परिच्छेद : २४

दक्षिण-पूर्व एशिया में सांस्कृतिक और औपनिवेशिक विस्तार

I. दक्षिण-पूर्व की समुद्र-यात्रा

एक व्यक्ति दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी साहसपूर्ण समुद्र-यात्रा का आँखों रोमांचकारी वृत्तान्त हमारे लिए छोड़ गया है। वह व्यक्ति चीनी तीर्थ-यात्री फा-हि था, जिसका उल्लेख कई बार हम ऊपर कर चुके हैं। उसने यह यात्रा ४१४ ई में की थी। वह ताम्रलिप्ति (बंगाल के तामलुक) से एक बड़े जलपोत में सवार हो चौदह दिन की दिन-रात की लगातार यात्रा के बाद श्रीलंका द्वीप पहुँचा था। वहाँ बरस गुजारने के बाद वह चीन के लिए रवाना हो गया। इस यात्रा का वृत्तान्त अपने शब्दों में इस प्रकार है :

“फा-हिएन एक बड़े जलपोत पर सवार हुआ जिसमें दो सौ से अधिक सवारि थीं और इसके साथ रस्सी से एक छोटा पोत बँधा था, ताकि समुद्र-यात्रा के खतरों कारणवश बड़े जलपोत को नुकसान पहुँचे तो लोग उसमें जा सकें। अनुकूल हवा पर वे तीन दिन तक पूर्व दिशा में यात्रा करते रहे, फिर उन्हें एक तूफान का सा करना पड़ा। उनके जलपोत में छेद हो गया और उसमें पानी भरने लगा। व्या छोटे पोत में जाना चाहते थे, लेकिन छोटे पोत में सवार लोगों को डर था कि वहाँ बहुत ज्यादा लोग न आ जाएँ, इसलिए उन्होंने बीच का रस्सा काट दि व्यापारी बहुत भयभीत हो उठे; उन्हें भय था कि वे तत्काल मौत के मुंह में जाएँगे। इस डर से कि कहीं जलपोत में पानी न भर जाए, उन्होंने अपना सामान उठाकर समुद्र में फेंकना शुरू कर दिया।

“इस तरह तूफान दिन-रात जारी रहा। तेरहवें दिन जलपोत एक द्वीप के कि जा लगा। ज्वार उतरने पर छेद का पता चल गया—छेद को बन्द करने के बाद यात्रा शुरू हुई। समुद्र में बहुत से समुद्री डाकुओं से पाला पड़ता है। उनसे सा करने का अर्थ है तत्काल मृत्यु। विशाल समुद्र का कहीं ओर-छोर नहीं दिखाई दे पूर्व कहाँ है और पश्चिम कहाँ है, इसका कुछ पता नहीं चलता। सिर्फ सूरज, और सितारों को देखकर आगे बढ़ना सम्भव है। अगर मौसम खराब हो और बा हो रही हो तो जहाज बिना किसी निश्चित रास्ते के हवा के रुख के साथ-चलता है। रात के अंधेरे में, सिर्फ विशाल लहरें एक दूसरे से टकराती हुई दि

CC-0. In Public Domain. Digitized by ... Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनमें से आग जैसी चमक निकलती है । आसपास बड़े-बड़े कछुए और विशाल-जानवर दिखाई देते हैं । व्यापारी भयभीत हो गये थे, उन्हें नहीं मालूम था तरफ जा रहे थे । समुद्र गहरा और अथाह था । कहीं रुकने या लंगर डालने नहीं थी । लेकिन जब आसमान साफ हुआ तो उन्हें पूर्व और पश्चिम दिशा भी होने लगी । जहाज फिर सही दिशा में चलने लगा । अगर वह छिपी हुई चट्टान से टकरा जाता तो बचने का कोई रास्ता नहीं था । इस तरह यात्रा करने के बाद वे लोग जव-द्वीप (जावा)[1] नामक देश में पहुँचे ।"

विवरण में समुद्र-यात्रा के उन खतरों और जोखिमों का वर्णन है जिनका भारतीय उपनिवेशिकों को करना पड़ता था । इसके बावजूद इस क्षेत्र में, चर्चित दौरान, भारतीय उपनिवेशों का तेजी से विकास होता रहा । अन्नाम और के हिन्दू राज्य, जिनकी स्थापना पहली सदी ईसवी[2] में हुई थी, फलते-हे । अन्य औपनिवेशिक राज्य भी अस्तित्व में आये । हमें इस समूचे विशाल और जीवन के हर क्षेत्र में हिन्दू-संस्कृति की विजय के और भी प्रभावशाली मिलते हैं ।

II. हिन्द-चीन

१. कम्बोदिया

वीं सदी ईसवी के पूर्वार्द्ध में फू-नान के राज्य को अनेक राजनीतिक संकटों ना पड़ा । सिंहासन के अनेक दावेदारों में से चीनियों ने चान-तान नामक एक उल्लेख भी किया है, जिसने अपने नाम के साथ फू-नान के राजा की उपाधि थी और ३५७ ईसवी में एक दूत-मंडल चीन भेजा था । इस नाम का भारतीय न चन्दन अथवा चन्द्र होगा ।

थी सदी के अन्त या पाँचवीं सदी के आरम्भ में एक और भारतीय कौण्डिन्य नान के लोगों द्वारा राजा चुना गया था । वह ब्राह्मण था और सीधे भारत से । शायद वह भारतीय प्रभाव की नयी धारा का प्रतिनिधि था जिसने इस देश तरह से ब्राह्मणीकरण किया था ।

इतिवृत्तों में कौण्डिन्य के वंशज जयवर्मन् नाम के एक दूसरे राजा का विवरण दिया गया है । जयवर्मन् ने कुछ व्यापारियों को व्यापार के सिलसिले भेजा था । भारतीय भिक्षु नागसेन वहाँ उनसे जा मिला था, लेकिन लौटते वक्त के कारण उन्हें चम्पा में उतरना पड़ा । चम्पावासियों ने उनका सारा माल या, लेकिन नागसेन सही-सलामत फू-नान लौट आया । जयवर्मन् को चम्पा के और भी कई शिकायतें थीं । उसकी प्रजा के एक विद्रोही ने चम्पा के सिंहासन

---

[1] प्र. ई. ले., III प. पृ. ।

[2] वि. II. पृ. ६५६-८ (अँगरेजी संस्करण) ।

पर अधिकार कर लिया था और जयवर्मन् के प्रति उसका रवैया विरोधपूर्ण हो था। इसलिए जयवर्मन् ने नागसेन को चीन के दरवार में एक याचना-पत्र देकर भे था, जिसमें चम्पा के राजा के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की गयी थी। नाग ४८४ ईसवी में चीन पहुँचा था और उसने सम्राट् की सेवा में एक कवि प्रस्तुत की थी, जिसमें महेश्वर देवता, बुद्ध और चीनी सम्राट की प्रशस्ति थी, सम्र ने महेश्वर की प्रशंसा की, जो फू-नान का मुख्य देवता था। उसने चम्पा के राजा भर्त्सना की, लेकिन उसके विरुद्ध किसी प्रकार की सक्रिय सहायता नहीं भेजी ५०३ ईसवी में जयवर्मन् ने फिर सम्राट् के दरवार में अनेक उपहार देकर एक भेजा। उपहारों में प्रवाल की बनी बुद्ध की एक प्रतिमा भी थी। ५११ तथा ५ ईसवी में उसने दो और दूत भेजे। फू-नान के दो वौद्ध भिक्षु चीन में वस गये उन्होंने वौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया।

जयवर्मन् की रानी का नाम कुल-प्रभावती था और उनका गुणवर्मन् नाम का पुत्र था। गुणवर्मन् और उसकी माता के नाम से दो संस्कृत अभिलेख मिले हैं। गुणव अपने पिता के वाद गद्दी पर नहीं वैठ सका। जयवर्मन् के वड़े भाई का वेटा रुद्रव जो उसकी रखेल से पैदा हुआ था, अपने छोटे भाई की, जो उसके पिता की वैध प से पैदा हुआ था, हत्या करके गद्दी पर वैठा।

रुद्रवर्मन् का भी एक संस्कृत अभिलेख मिलता है। उसने सन् ५१७ और ५३ बीच छह दूतमंडल चीन भेजे थे। उसके राज्यकाल के दौरान या फौरन वाद फूना पर कम्बुज के शासकों ने हमला किया था। कम्बुज मूलतः फू-नान का अधिकृत प्र था, लेकिन कुछ काल पूर्व उसने फू-नान का जुआ उतार फेंका था। कुछ काल तक संघर्ष जारी रहा, लेकिन सातवीं सदी के अन्त तक फू-नान पर पूरी तरह से अधि कर लिया गया।

कम्बुज का राज्य उत्तर-पूर्वी कम्वोदिया में स्थित था। वाद की अनुश्रुतियों अनुसार इस राज्य का नाम इसके संस्थापक आर्यदेश (भारत) के राजा कंवु स्वायंभुव नाम पर रखा गया था। इस राज्य के प्रारम्भिक काल के दो राजाओं, श्रुतवर्मन् उसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन् के नाम हमें ज्ञात हैं। श्रुतवर्मन् ने फू-नान का जुआ उतार था और स्वतन्त्र राज्य का नाम उसके नाम पर श्रेष्ठपुर रखा गया था। यह ला में वसाक के नजदीक वतफू पहाड़ी के काफी निकट था। इस पहाड़ी की चोटी प जिसे लिंग पर्वत कहते हैं, राजवंश के कुलदेवता भद्रेश्वर शिव का मन्दिर था।

भववर्मन् ने, जो छठी सदी ईसवी के आखिर में कम्बुज के राजसिंहासन पर बै था, एक नये राजवंश की स्थापना की थी।[1] वह अपनी राजधानी भावपुर में ले ग था। वह एक महान् विजेता था और उसने अपने राज्य का विस्तार किया था। सिंहास

---

[1] कुछ विद्वानों के मतानुसार भाववर्मन् फू-नान के राजवंश का था, और कम्बुज की रा कुमारी से विवाह करने के वाद वहाँ का राजा वन गया था। (कोदे, लजेतात, पृ. ११६)।

ने के बाद उसके भाई चित्रसेन ने फू-नान पर हमला करके करीब-करीब सारा जीत लिया था। ६१६ ईसवी से कुछ पहले उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र न अथवा ईशानवर्मन् सिंहासन पर बैठा। नये राजा ने भी फू-नान के विरुद्ध जारी रखा और सम्भवतः ६३० ईसवी में उसे पूरी तौर से जीत लिया। उसका विस्तृत था, जिसमें पूरा कम्बोदिया, कोचीन-चीन और दांग्रेक पर्वतों के उत्तर में मून नदी की घाटी शामिल थी। उसने अपने नाम पर एक नयी राजधानी पुर बसायी। उसने चीन में अपना राजदूत भेजा और सम्भवतः भारत के साथ के राजनयिक सम्बन्ध थे। चम्पा के इतिहास में भी उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका ी, जिसका जिक्र हम बाद में करेंगे।

शानवर्मन् की मृत्यु करीब ६३५ ईसवी में हुई। उसके बाद के दो राजाओं, मन् द्वितीय और जयवर्मन् प्रथम के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं है। मन् ने कम से कम ६८१ ईसवी तक राज्य किया। वह भाववर्मन् वंश का अन्तिम राजा थां।

म्बुज राज्य के पहले सौ वर्षों का इतिहास स्पष्ट है, इसका वर्णन हम अगली में करेंगे।

भाववर्मन् के राजवंश ने कम्बुज की छोटी रियासत को एक बड़े राज्य की शक्ल दी। धीरे-धीरे फू-नान विस्मृति के गर्भ में डूबता गया और कम्बुज ने प्रमुख राज्य का प्राप्त कर लिया। उसने शक्तिशाली राज्य की स्थापना की, जिसमें पूरे कम्बो- कोचीन-चीन के साथ-साथ लाओस का एक हिस्सा भी शामिल था। समय-समय य के उलटफेरों के बावजूद कम्बुज का शानदार इतिहास करीब सात सौ बरसों जारी रहा और उसने गौरव और ख्याति के ऐसे शिखर छू लिये जो इससे पहले या में हिन्द-चीन के किसी राज्य को नसीब नहीं हुए थे।

२. चम्पा

३३६ ईसवी में फान-की मृत्यु के बाद उसके सेनापति फान-वेन ने चम्पा के सिंहासन धिकार कब्जा कर लिया। वह एक योग्य शासक और कुशल सेनापति था। फैसला किया कि वह हुत-नाम (आधुनिक थुआ-थिन), क्वांग त्री और क्वांग बिन्ह) के चीनी प्रदेश को जीतकर, उत्तर में चम्पा की सीमा को होअन सोह्न पहाड़ों विस्तृत करेगा। जब राजनीतिक वार्ताओं द्वारा वह अपनी उद्देश्यपूर्ति में असफल तो उसने एक सैनिक अभियान-दल भेजकर ३४७ ईसवी में इस प्रान्त को जीत । दो बरस बाद उसने एक विशाल चीनी सेना को हराया, लेकिन युद्ध में घायल के बाद ३४९ ईसवी में उसका देहान्त हो गया।

फान-वेन चम्पा की सीमा को सुदूर उत्तर तक ले जाने में सफल हो गया, लेकिन की आक्रामक नीतियों के फलस्वरूप उसके पुत्र और प्रपौत्र को पचास बरस तक तार (३४९-४१३ ईसवी) चीन के साथ युद्ध करना पड़ा। दोनों पक्ष यदाकदा

सफलता और सम्पूर्ण विजय की घोषणाएँ करते रहे, लेकिन इस युद्ध का कोई निश्चयात्म परिणाम नहीं निकल सका ।

फान वेन के पौत्र को चीनी फान-हु-ता के नाम से पुकारा जाता है, लेकिन शायद वे चम्पा के संस्कृत अभिलेखों में वर्णित भद्रवर्मन् है ।[1] वह एक महान् सेनापति था औ उसने चीनियों के विरुद्ध कुछ सफलताएँ प्राप्त की थीं । सम्भवत: उसके राज्य चम्पा के तीनों प्रान्त, अर्थात् अमरावती (उत्तर), विजया (केन्द्रीय) तथा पाण्डु (दक्षिणी) शामिल थे । वह महान् विद्वान् था और उत्कीर्ण लेखों के अनुसार चारों वे का अध्येता था । उसने माइसोन में एक शिव-मन्दिर बनवाया था जिसका नाम उसे नाम पर भद्रेश्वर-स्वामी रखा गया था । यह मन्दिर चम्पा का राष्ट्रीय प्रतिष्ठान ब गया । बाद के राजाओं ने भी उसी की परम्परा में देवताओं की मूर्तियाँ बनवा अपने नामों पर उनके नाम रखे ।

भद्रवर्मन् के बाद उसका पुत्र गंगाराज गद्दी पर बैठा । उसने अपनी आयु के अन्ति दिन भारत में गंगा के तट पर बिताने के लिए सिंहासन त्याग दिया । राजा के जाने के बाद चम्पा में अराजकता फैल गयी और गृहयुद्ध शुरू हो गया, जिसकी समा ४२० ई० में फान-यांग-माई के सिंहासनारूढ़ होने पर हुई, जिसने एक नये राजवंश नींव रखी थी ।

फान-यांग-माई के बाद, इसी नाम के उसके पुत्र के राज्यकाल में भी चीन युद्ध जारी रहा । एक अस्थायी विजय के हर्षोल्लास से उन्मत्त होकर फान-यांग-मा द्वितीय ने हर बरस टोन्किन के खिलाफ अभियान-दल भेजना शुरू कर दिया । इस चीनी सम्राट् ने इस उपद्रवी राजा को कुचलने का फैसला किया । तीन बरस लम्बी-चौड़ी तैयारी के बाद ४४६ ईसवी में चीनी सेना ने चम्पा पर आक्रमण क दिया । यांग-माई की करारी हार हुई और वह वहाँ से भाग गया । चीनियों ने विजेता के रूप में राजधानी चम्पा में प्रवेश किया और मन्दिरों की लूटमार से प्राप्त मूर्ति को गलाकर उन्होंने १,००,००० पौंड शुद्ध सोना हासिल किया ।

चीनी सेना के लौटने के बाद यांग-माई द्वितीय अपनी राजधानी में लौट आ लेकिन उसका दिल टूट गया था । ४४६ ईसवी में उसका देहान्त हो गया । उसके बा उसका पुत्र और पौत्र गद्दी पर बैठे । उसके पौत्र ने ४५५, ४५८, ४७२ ईसवी में खिरा के रूप में कीमती चीजें भेजकर चीनी सम्राट् को शान्त किया ।

इस राजा के देहान्त के बाद संकटों का दौर शुरू हुआ, जिसके बीच फू-नान एक व्यक्ति (कुछ विवरणों के अनुसार फू-नान के राजा जयवर्मन् के पुत्र) ने रा पर अनधिकार कब्जा कर लिया, जैसा हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं । लेकिन उसे हटाक यांग-माई के वंश ने पुन: राज्य सिंहासन प्राप्त कर लिया । इस वंश के अन्तिम रा विजयवर्मन् ने ५२६ तथा ५२७ ईसवी में दो राजदूत चीन भेजे थे ।

---

[1] कुछ विद्वानों ने भद्रवर्मन् को फान-को बताया है जो फान-हू-ता का पिता था (कोर् लजेतात, पृ. ८४) ।

यवर्मन् के बाद रुद्रवर्मन् ने राज्य किया। वह एक ब्रह्म-क्षत्रिय था और जा गंगाराज का वंशज होने का दावा किया, जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं सिंहासन छोड़कर गंगावास के लिए चला गया था। ५३० ईसवी में रुद्रवर्मन् को खिराज के विनिमय में प्रतिष्ठापन या सनद मिली थी। उसने ५३४ ईसवी में न के सम्राट् को खिराज भेजा था।

वर्मन् के बाद उसका पुत्र प्रशस-धर्म सिंहासन पर बैठा। अभिषेक के समय म्भुवर्मन् नाम ग्रहण किया। चेन राजवंश की कमजोरी का फायदा उठाकर खिराज भेजना बन्द कर दिया। हालाँकि ५९५ में सुई वंश की स्थापना पर उसने राज भेजना शुरू कर दिया था, लेकिन सम्राट् ने उसे सबक सिखाने का फैसला ६०५ ईसवी में चीनी सेना ने चम्पा पर आक्रमण किया। शम्भुवर्मन् हारकर भाग गया। चीनियों ने चम्पा शहर को बर्बाद कर दिया और लूट में बहुत-सा गये, जिनमें चम्पा के १८ राजाओं के स्वर्णपट्ट और १,३५० बौद्ध कृतियाँ भी थीं। कहा जाता है कि उन्होंने युद्ध में बन्दी बनाये गये १०,००० चमों या (चम्पा-वासियों) के बायें कान भी काट लिये थे।

र्मन् के बाद ६२९ ईसवी में उसका पुत्र कन्दर्पधर्म सिंहासन पर बैठा। नियमित खिराज देकर उसने चीन के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे। उसके राज्यकाल न्ति बनी रही। लेकिन उसकी मृत्यु के फौरन बाद ही आन्तरिक उपद्रव उठ खड़े त्यकौशिक-स्वामी नाम का एक व्यक्ति, जो अपनी माँ के वंश से राजपरिवार था, सिंहासन का दावेदार बन बैठा, लेकिन असफल होकर उसने कम्बुज के में पनाह पायी। कन्दर्पधर्म के बाद जब उसका पुत्र प्रभासधर्म सिंहासन पर बैठा उसके विरुद्ध षड्यन्त्र शुरू हो गया। वंश के सारे मर्दों और लड़कों समेत उसे ला गया (६४५ ईसवी)। कम्बुज के राजा महेन्द्रवर्मन् और ईशानवर्मन् इस राज्य पर अपना असर बनाये रखने के लिए छिपकर साजिश करते रहे। उनका श्य पूरा हो गया। सत्यकौशिक-स्वामी चम्पा के सिंहासन पर बैठा (ईसवी)। उसके पौत्र जगद्धर्म का विवाह ईशानवर्मन् की पुत्री शर्वाणी से हुआ था। शिक-स्वामी की मृत्यु के फौरन बाद (६५३ ईसवी में) जगद्धर्म और शर्वाणी प्रकाशधर्म, विक्रान्तवर्मन् (६५७ ई०) नाम से सिंहासन पर बैठा।[1] चम्पा ले सौ सालों के इतिहास के बारे में हमें अधिक जानकारी नहीं है। इस वंश का ज्ञात राजा रुद्रवर्मन् द्वितीय था जिसने ७४९ ईसवी में चीन को खिराज भेजा ५७ ईसवी में उसका देहान्त हो गया।

३. बर्मा और स्याम

लांकि हमारे पास किसी दूसरे औपनिवेशिक राज्य का अविच्छिन्न इतिहास नहीं है, लेकिन यह मालूम है कि चर्चित काल में अनेक ऐसे राज्यों का अस्तित्व

---

[1] यह काल बहुत धुंधला है। इससे भिन्न विवरण के लिए देखिए कोएडे : लजेंतात पृ. ।

था। हिउएन-त्सांग ने हिन्द-चीन के अनेक ऐसे राज्यों का उल्लेख किया है जिन हिन्दूकरण हो चुका था ; उदाहरण के लिए श्रीक्षेत्र, जिसकी राजधानी प्रोम थी (का निचला भाग), द्वारवती जिसमें स्याम का वड़ा हिस्सा शामिल था, ईशान (कम्बुज) तथा महाचम्पा (चम्पा)। इसके अतिरिक्त दो अन्य राज्यों का भी है जिनकी शिनाख्त नहीं हो सकी है। हिउएनत्सांग ने वंगाल में इन राज्यों के ना सुने थे। वह स्वयं इन स्थानों पर नहीं गया था। उसने कम्वुज के लिए ईशानपुर का प्रयोग किया है, जो उसके एक समकालीन राजा का नाम था। इस तथ्य से चलता है कि भारत तथा इन देशों में घनिष्ठ सम्बन्ध था। द्वारवती में मौन या रहते थे, जिन्होंने हिन्दू संस्कृति अपना ली थी। हिन्दू संस्कृति अपनाकर मौन लोग के निचले भाग में समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में रहते थे, जिसे रमन्नदेश के नाम से जाना है। मौन प्रदेश में आने वाले हिन्दू औपनिवेशिकों ने उत्तरी स्याम और लाओस दुर्गम प्रदेशों में अपनी शक्ति और प्रभाव फैलाया था। अनेक पालि विवरणों में द्वारा स्थापित स्थानीय रियासतों के उल्लेख सुरक्षित मिलते हैं। इनमें के नामों की लम्बी सूचियाँ (जिनमें से अधिकांश के रूप भारतीय हैं) और मठों पवित्र स्थापना के उल्लेख हैं। बौद्ध मूर्तियाँ और अभिलेख इन विवरणों में दी तस्वीर का पूरी तरह से समर्थन करते हैं।

और उत्तर में थाई लोगों के प्रदेश में भी हिन्दू उपनिवेश कायम किये गये थे। लोग देश के दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी भाग में रहते थे। यह भाग अब चीन में है। एक ओर बर्मा और दक्षिण में स्याम था। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य यूनान था, जो गान्धार के नाम से विख्यात था। उसके एक भाग का नाम राज्य भी था।

बर्मा के निचले भाग में बसे मौनों के उत्तर में प्यू नाम का एक कबीला था। हिन्दू औपनिवेशिक जाकर उनमें बस गये और उन्होंने एक राज्य की स्थापना की, जिसकी राजधानी श्रीक्षेत्र (प्रोम) थी। स्थानीय विवरणों के अनुसार तार्गोंग हिन्दू राजवंश ने इसकी स्थापना की थी।[1] सम्भवत: बर्मा के ऊपरी भाग में बसे ही इरावती के साथ-साथ दक्षिणी भागों तक फैल गये हों। यह भी असम्भव नहीं है उपनिवेशिकों के अलग-अलग दल अराकान अथवा समुद्री रास्ते से प्रोम पहुँचे हों। प्रदेश में संस्कृत और प्यू भाषा में अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनकी लिपि भारत है। सातवीं सदी ईसवी की एक बौद्ध प्रतिमा के चबूतरे पर खुदे हुए संस्कृत के अभिले में राजा जयचन्द्रवर्मन् का उल्लेख मिलता है। तीन अन्य राजाओं हरि-विक्रम, सिंह विक्रम और सूर्य-विक्रम ने इससे पूर्वकाल में श्रीक्षेत्र पर राज किया था।

श्री धर्मराजानुज-वंश नामक एक हिन्दु राजवंश का विवरण हमारे पास है, जिस ६०० से १,००० ईसवी तक अराकान में राज किया था। इन राजाओं के नामों के

---

[1] जिल्द II, पृ. ६५५ (अँगरेजी संस्करण)।

शब्द लगता था, जैसे बालचन्द्र, देवचन्द्र इत्यादि। इस काल के सिक्कों में वीरचन्द्र नाम के राजाओं के नाम सुरक्षित हैं। स्थानीय इतिवृत्तों के अनुसार चन्द्रवंश ने अराकान में राज किया था। उनकी राजधानी वैशाली थी। पहली नियों के नाम रामावती और धन्यावती थे। वैशाली के अवशेष (आजकल इसका वेथली है जो म्रोहोंग से आठ मील उत्तर-पश्चिम में है) इसकी पूर्वकालीन के साक्षी हैं। महामुनि नाम की विशाल बुद्ध प्रतिमा समूचे ऐतिहासिक काल कान का आराध्य देवता थी।

४. मलय प्रायद्वीप

भौगोलिक स्थिति के कारण मलय प्रायद्वीप भारत और सुदूरपूर्व के बीच व्यापार का केन्द्र बन गया था। तक्कोल (आधुनिक तकुआ-पा)[1] भारतीय और औपनिवेशिकों के उतरने का पहला बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह से पर्वतमाला पार करके पूर्वी तट के उपजाऊ मैदान में पहुँचे और बन्दोन की के गिर्द होते हुए जमीन या समुद्र के रास्ते से स्याम, कम्बोदिया, अन्नाम या उससे पूर्वी स्थानों पर पहुँचे थे। कुछ लोग मलाक्का के जलडमरूमध्य के रास्ते से करते थे। मन्दिर, मूर्तियाँ, संस्कृत के अभिलेख तथा भारतीय उपनिवेशों के अवशेष तकुआ-पा में, बंदोन की खाड़ी तक पूरे प्रायद्वीप में और वेलेज्ले प्रान्त में हैं। इससे प्रमाणित होता है कि चौथी और पाँचवीं सदी ईसवी में भी पूरे में हिन्दू उपनिवेश थे। वेलेज्ले प्रान्त के उत्तरी भाग में मिले एक अभिलेख मृत्तिका के वासी महान् नाविक बुद्धगुप्त की सफल यात्रा की कामना की गयी अनुदान दर्ज है। कुछ लोगों के मतानुसार यह स्थान बंगाल में मुर्शिदाबाद से में १२ मील दूर रांगामाटी है।[2] इस दिलचस्प अभिलेख में शायद भारत के विक का नाम और स्मृति सुरक्षित है, जो औपनिवेशिकों पथप्रदर्शकों को बंगाल के पार ले गये थे।

औपनिवेशिकों ने मलय प्रायद्वीप में बहुत से राज्य स्थापित किये। इनके कुछ चीनी इतिवृत्तों में सुरक्षित हैं। दुर्भाग्य से उनमें से कइयों की निश्चित रूप से नहीं की जा सकती। अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग पहचान बतायी है, सामूहिक रूप से देखने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस प्रायद्वीप में हिन्दू राज्य थे। चीनी विवरणों से इन राज्यों के भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों चलता है। लंग-किआ-सू रियासत के बारे में, जो शायद लिगोर के इस्थमस बताया गया है कि जब राजा के एक रिश्तेदार को राज्य से निकाल दिया गया

---

[1] सामान्य मत यही है, लेकिन कुछ विद्वान् तक्कोल को थोड़ा और दक्षिण में, तंत्र के स्थान बताते हैं (ज. म. ब्रा. रा. ए. सो., XXII, २५)।

[2] कुछ विद्वान् इसे स्याम की खाड़ी पर पतांलुंग प्रदेश में बताते हैं (कोएदे, लजेतात,

तो उसने भारत जाकर एक राजकुमारी से शादी कर ली। जब अकस्मात् लंग-कि के राजा का देहान्त हो गया तो राज्य के उच्चाधिकारियों ने राजकुमार को भार बुलवा भेजा और उसे राजा बना दिया। २० बरस राज्य करने के बाद उसका देह हो गया। उसके बाद उसका पुत्र भगदतो (भगदत्त ?) गद्दी पर बैठा, जिसने आदि नामक राजदूत के हाथ ५१५ ईसवी में चीन के सम्राट् के पास एक खत भेजा। ची विवरण में यह भी लिखा है कि ४०० से भी अधिक साल पहले "अर्थात् पहली दूसरी सदी" में इस राज्य की स्थापना हुई थी।

पन-पन (बान्दौन) एक और राज्य के दरबार में ब्राह्मण लोग अक्सर आया-जा करते थे। वे राजा की उदारता से लाभान्वित होने के लिए भारत से आये थे। रा ब्राह्मणों का बहुत आदर करता था।

चीनी स्रोतों से अनेक दूसरे राज्यों और उनके राजाओं (गौतम, सुभद्र, वि वर्मन् आदि) के नामों का पता चलता है। भारतीय साहित्य में कलसपुर औ कर्मरंग के राज्यों का उल्लेख है, जो शायद मलय प्रायद्वीप अथवा बर्मा के नि भाग में स्थित थे।

मलय प्रायद्वीप में हुई पुरातत्त्वावशेषों की खोजों ने इस क्षेत्र में हिन्दू उपनिवे पर बहुत प्रकाश डाला है। इस विषय पर दो विख्यात पुरातत्त्ववेत्ताओं के विच संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

"इन उपनिवेशों की संख्या काफी अधिक थी और ये दूर-दूर के केन्द्रों, जैसे पू तट पर स्थित चुम्फोन, कैया, बांदोन नदी की घाटी, नखोन श्री धम्मरत (लिगोर), यल (पतनी के निकट), सैलेनसिंग (पहांग में) और पश्चिमी तटवर्ती प्रदेश स्थि मलक्का, वेलेज्ले प्रान्त, तकुआ-पा, लन्या और तेनेसेरिम नदियों का साझा डेल्टा।

"इनमें निस्सन्देह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नखोन श्री धम्मर (लिगोर) था। मूलतः बौद्ध उपनिवेश था, जिसने शायद नखोन श्री धम्मरत का विशाल स्तूप त उसके आसपास के पचास मन्दिरों में से कुछ मन्दिर बनवाये थे। इसके कुछ उत्तर कैया का उपनिवेश था। मालूम होता है शुरू में यह ब्राह्मणधर्मी था, बाद में बौ धर्मी बन गया था। ये दोनों उपनिवेश मुख्यतः कृषिप्रधान थे। सेले-सिंग, पंगा, पु और तकुआ-पा के औपनिवेशिकों की सम्पन्नता का कारण वहाँ की सोने और रां की खानें थीं।

"प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान सही है कि बन्दोन की खाड़ी के आ पास का क्षेत्र सुदूरपूर्वी संस्कृति का जन्मस्थान था। इसे पश्चिमी रास्ते से आने वा भारतीय प्रभाव से प्रोत्साहन मिलता था। साथ ही तकुआ-पा के निकट पश्चि तटवर्ती प्रदेश में लोगों की शक्ल-सूरतें भी भारतीयों जैसी हैं। भारतीय मूल ब्राह्मणों की कई बस्तियाँ अभी भी नखोनश्री धम्मरत तथा पतलुंग में मौजूद है उनका कहना है कि उनके पूर्वज जमीन के रास्ते से भारत से मलय प्रायद्वीप पहुँचे थे"।

III. ईस्ट इण्डीज

इण्डीज के अनेक द्वीपों में भी, जिन्हें सामूहिक रूप से सुवर्णद्वीप नाम से पुकारा था, बहुत से हिन्दू औपनिवेशिक राज्य स्थापित किये गये थे। यहाँ हम उनमें से महत्त्वपूर्ण उपनिवेशों का उल्लेख करेंगे।

१. सुमात्रा

सुमात्रा का सबसे पहला ज्ञात हिन्दू राज्य श्रीविजय (पलेम्बंग) था। चौथी उससे पहले इसकी स्थापना हुई थी। सातवीं सदी के अन्त में यह ख्याति के पर पहुँच गया था। इस काल तक सुमात्रा ने एक और हिन्दू राज्य मलायु जंबी). जीत लिया था और पड़ोसी द्वीप बंक पर राजनीतिक सत्ता जमा ली ८४ ईसवी में श्री जयनाश (अथवा जयनाग) नामक बौद्ध राजा ने इस पर किया था। ६८६ ईसवी में इस राजा (अथवा उसके उत्तराधिकारी) ने जावा एक अभियान-दल भेजा था और एक दिलचस्प घोषणा जारी की थी, जिसकी पर खुदी दो प्रतियाँ प्राप्त होती हैं।

आरम्भ "श्रीविजय राज्य की रक्षा वाले देवताओं" की स्तुति से होता है। श्रीविजय के अधिकृत देशों को चेतावनी दी गयी है कि अगर उन्होंने विद्रोह तो उन्हें कठोर दण्ड दिया जाएगा; न केवल विद्रोहियों को, बल्कि विद्रोह का मन में लाने वालों को, अधिराज्य सत्ता के विरुद्ध विद्रोह में सहायता देने वाले उनके परिवारों, यहाँ तक कि उनके पूरे कुल को दंड दिया जायेगा। के शासन के प्रति वफादारी दिखाने वाले अपने परिवारों और कुलों समेत शीर्वाद प्राप्त करेंगे।

ने लिखा है कि दक्षिणी समुद्र के द्वीपों में श्रीविजय बौद्ध ज्ञान का केन्द्र था श्रीविजय के राजा के व्यापारिक जलपोत भारत और श्रीविजय के बीच आते थे। ईत्सिंग के संस्मरणों से हमें यह भी पता चलता है कि श्रीविजय नगर व्यापार का मुख्य केन्द्र था और श्रीविजय तथा क्वान-तुंग के बीच नियमित जहाज आते-जाते थे।

(मलय प्रायद्वीप) से प्राप्त एक अभिलेख से साफ जाहिर होता है कि एक महत्त्वपूर्ण नौसैनिक और व्यापारिक शक्ति के रूप में विकसित हो रहा अभिलेख पर शक संवत् ६९७ (७७५ ईसवी) अंकित है, जिसमें श्रीविजय के शक्ति और पराक्रम का उल्लेख किया गया है। उसे उन सब पड़ोसी राज्यों बताया गया है जिनके राजा उसका सम्मान करते थे। इससे पता चलता श्रीविजय के बौद्ध राजा ने अपना राजनीतिक प्रभुत्व मलय प्रायद्वीप में ७७५ कम से कम बंदोन की खाड़ी तक जमा लिया था।

बृ. क. आ. इ १९०९, पृ. १८४-८५; इ. आ. ले. IX, १-३१।

इन अभिलेखों से ६७५-७७५ ईसवी के दौरान श्रीविजय राज्य की आक्रामक की सामान्य रूपरेखा का स्पष्ट संकेत मिलता है। ६८६ ईसवी तक इसने पड़ोसी रा मलायु को भी अपने में मिला लिया था, पड़ोसी द्वीप वंक को जीत लिया था जावा के शक्तिशाली राज्य में एक सैनिक अभियानदल भेजा था। एक सदी के दौरान पहले ही हम देखते हैं कि मलय प्रायद्वीप में श्रीविजय की शक्ति पूरी तरह से स्थापि हो चुकी थी। चीनी इतिवृत्तों का कहना है कि ६७० और ७४१ के बीच अनेक मंडल श्रीविजय से चीन आये थे।

२. जावा

जावा में अनेक हिन्दू राज्य थे। इनमें से दो जिनका नाम चीनियों के अनुसार और हो-लो-तन है, नियमित रूप से पाँचवीं सदी में चीन में अपने दूत भेजते रहे इन दोनों देशों के राजाओं के नाम के अन्त में वर्मन् था।

पश्चिमी जावा के बटेविया प्रान्त से प्राप्त चार संस्कृत अभिलेखों में पूर्ण नामक राजा का उल्लेख मिलता है। उनमें से एक में, जिसे राजा ने अपने राज्यकाल बाईसवें वर्ष में खुदवाया था, राजा ने अपने पितामह को **राजर्षि** कहा है, और एक पूर्वज को जो शायद उसका पिता था, **राजाधिराज** (राजाओं का राजा) कहा है। जाता है कि इस राजा ने चन्द्रभागा (नहर अथवा नदी) खुदवाई थी जो राजधानी होती हुई समुद्र में जाकर गिरती थी। खुद पूर्णवर्मन् ने भी इसी तरह की एक न खुदवाई थी जिसका नाम गोमती नदी था। उसने ब्राह्मणों को एक हजार गायें दान दी थीं। पूर्णवर्मन् की राजधानी का नाम तारुमा रखा गया था और उसने छठी में शासन किया था।

इस सदी में और इसके बाद की सदी में जावा में अनेक दूसरे राज्य भी थे। काल (५८९-६१८) की दो ऐतिहासिक चीनी कृतियों के अनुसार जावा में दस राज्य तांग काल (६१८-७०६) के इतिहास में २८ सामन्त राजाओं का उल्लेख है, जिन्ह जावा के राजा का आधिपत्य मान लिया था।

तांगकाल में जावा के सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य का नाम हो-लिंग था। आमतौर हो-लिंग को कलिंग का चीनी रूप स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार जावा के प्रमुख राज्य का नाम भारत के पूर्वी तट के विख्यात प्रान्त के नाम पर रखा था। यह अनुमान सर्वथा तर्कसंगत होगा कि कलिंग से गये, औपनिवेशिकों का जावा पर या कम से कम एक भाग पर शासन रहा था। हो सकता है, इस काल में क से नये प्रवासी आकर बसे हों। लेकिन यह सोचना गलत नहीं होगा कि इससे भी प से जावा के एक प्रान्त या राज्य का नाम कलिंग रहा हो, हालाँकि तांग काल से प इस क्षेत्र को अधिक महत्त्व नहीं मिला था। जो भी हो, कलिंग नाम और यह परम्प कि जावा के मूल औपनिवेशिक कलिंग[1] से आये थे, जावा और कलिंग प्रदेश के घनि सम्बन्ध का संकेत देते हैं।

---

[1] जिल्द II, पृ. ६५५ (अंगरेजी संस्करण)।

संभव है कि हो-लो-तान और हो-लिंग की रियासतें, जिनका उल्लेख चीनी में मिलता है, क्रमशः पश्चिमी और मध्य जावा में स्थित रही हों। पश्चिमी ें भारतीय सभ्यता का दौर-दौरा था, इसका प्रमाण पूर्णवर्मन् के उन संस्कृत ों से मिलता है, जिनका ऊपर जिक्र हो चुका है। सम्भवतः सातवीं सदी के एक ता के अभिलेख से जाहिर होता है कि इस क्षेत्र पर भी भारतीय संस्कृति का प्रभाव था।

३. बोर्नियो

बोर्नियो में हिन्दुओं के उपनिवेशीकरण का प्रमाण उन सात संस्कृत अभिलेखों है, जो महकम दरिया के किनारे मुअरा कमन से प्राप्त हुए हैं। प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण वन्दरगाह था। इन अभिलेखों में अश्ववर्मन् के पुत्र और राजा पौत्र मूलवर्मन् का उल्लेख किया गया है। मूलवर्मन् ने वहुसुवर्णक नामक यज्ञ (जिसका शाब्दिक अर्थ है सोने का प्रचुर परिमाण) और वप्रकेश्वर के पवित्र ब्राह्मणों को २०,००० सोने की गायें प्रदान की थीं।[1] ये अभिलेख लगभग ४०० खुदवाये गये थे। इसलिए हम कह सकते हैं कि अधिक से अधिक चौथी सदी के अन्त तक हिन्दू औपनिवेशिकों ने बोर्नियो में राज्य स्थापित कर लिये होंगे। व बोर्नियो में ब्राह्मणों तथा हिन्दू संस्कृति की सत्ता के प्रमाण हैं।

र्मन् के पितामह का नाम कुडंग वताया गया है, जो कौडिन्य[2] का रूप है। पहले ही देख चुके हैं कि इस नाम का एक भारतीय ब्राह्मण चौथी सदी ईसवी के फू-नान का राजा चुना गया था। यही मूलवर्मन् का पितामह था या नहीं, यह नहीं, लेकिन ऐसा होना असम्भव भी नहीं है।

औपनिवेशिक महकम नदी के साथ-साथ पूर्वी बोर्नियो के भीतरी भागों में। कोम्बेंग से वहुत-सी बौद्ध और ब्राह्मणधर्मी मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। शायद वे दी की घाटी में स्थित एक या अनेक मन्दिरों में स्थापित रही होंगी। इसी ुआस नदी के किनारे से प्राप्त पुरातत्त्व अवशेषों से पता चलता है कि हिन्दुओं ने बोर्नियो को भी अपना उपनिवेश बनाया था और इस नदी की घाटी में वस्तियाँ वसायी थीं।[3]

इन अभिलेखों में अन्य यज्ञों और महादान नामक अनुष्ठानों, जैसे कल्पवृक्ष, भूमिदान, गो-धेनु, घृत-धेनु, तिल-दान तथा कपिलदान का हवाला दिया गया है, (ज. ग्रे. इ. सो.,)।

लेकिन छावड़ा ने इसका खंडन किया है। सही संस्कृत में लिखे अभिलेख में इस शब्द के भ्रष्ट को आखिर क्या आवश्यकता थी? छावड़ा ने प्रश्न किया है। अनेक विद्वानों ने अनुमान कि कुंडुंगा तमिल नाम है। लेकिन एन. एल. राव ने इस मत का खंडन किया है ा. रा. ए. सो. XV, भाग III, पृ. ११८)।

म्पस से खड़े वुद्ध की दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो गुप्त शैली की हैं। कहा गया है कि में वर्णित वर्हिण द्वीप दरअसल बोर्नियो था। (शास्त्री **श्री विजय**, पृ. २३)।

४. बाली

हिन्दुओं ने बाली द्वीप को अपना उपनिवेश बनाया था और छठी सदी ईसवी पहले वहाँ एक राज्य स्थापित किया था। लेआंग राजवंश के चीनी इति (५०२-५५७ ईसवी) में बाली का निम्नलिखित दिलचस्प विवरण दिया है: "राजा के वंश का नाम कौण्डिन्य है। जब उससे उसके पूर्वजों के बारे में गया तो वह उनके नाम नहीं बता सका, लेकिन उसने कहा कि शुद्धोदन की उसके देश की पुत्री थी।" ५१८ ईसवी में राजा ने चीन में एक राजदूत भेजा

कौण्डिन्य नाम बहुत दिलचस्प है, और इससे पता चलता है कि सुवर्णद्वीप सभी हिन्दू बस्तियों पर इस परिवार का कितना प्रभाव था। चीनी लेखक ने इस के दरबार के रीति-रिवाजों और शान-शौकत का विस्तृत विवरण दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि छठी सदी ईसवी में बाली द्वीप एक सम्पन्न और सभ्य राज्य का केन्द्र जिस पर बौद्धधर्म के अनुयायी हिन्दू औपनिवेशिकों का शासन था। ईत्सिंग ने भी किया है कि बाली द्वीप में बौद्धधर्म का बोलवाला था।

IV. दक्षिण-पूर्वी एशिया में हिन्दू सभ्यता

अभी तक हमने हिन्द-चीन तथा ईस्ट इण्डीज के विभिन्न द्वीपों में स्थापित औपनिवेशिक राज्यों के इतिहास पर विचार किया है। इनमें चम्पा और कम्बु राज्य अधिक विख्यात हैं। इस काल के अभिलेखों, मन्दिरों, मूर्तियों और अन्य पु त्वावशेषों की प्रचुरता को देखते हुए इस बात में कोई शक नहीं रह जाता कि इन की संस्कृति का स्वरूप सम्पूर्ण रूप से हिन्दू था। ऊपर हम जिन औपनिवेशिक राज्यों चर्चा कर चुके हैं, उनमें से कई दूसरे राज्यों के बारे में इस तरह के प्रमाण मि हैं, भले ही वे संख्या में कम हैं। अतः हम दक्षिण-पूर्वी एशिया में सम्पूर्ण रूप में सभ्यता की सामान्य विशेषताओं का संक्षिप्त सिंहावलोकन करेंगे।

हिन्दू औपनिवेशिकों के सबसे महत्त्वपूर्ण अवशेष भारतीय लिपियों में लिखे उनके संस्कृत अभिलेख हैं। इन लिपियों का स्वरूप अभी तक वही है या उनमें थोड़ा परिवर्तन आया है। ये पूरे इलाके, बर्मा, स्याम, मलय प्रायद्वीप, अ कम्बोदिया, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो से प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों के अध्य से पता चलता है कि भारत की भाषा, साहित्य, धर्म, राजनीतिक और सामाजि प्रणाली इन सुदूर देशों पर छा गयी थी और बहुत दूर तक स्थानीय तत्त्वों को तो समाप्त कर दिया था या उन्हें अपने भीतर समाहित कर लिया था। स्था लोगों की सभ्यता अधिकांशतः अविकसित थी। उनमें एक ऊँची सभ्यता का प्र करना भारतीय औपनिवेशिकों का गौरवशाली लक्ष्य था। इस काम में उन्हें सफलता मिली थी।

शुद्ध संस्कृत में लिखे ये अभिलेख इस तथ्य के सूचक हैं कि यह भाषा ब विकसित थी और राजदरबार तथा सुसंस्कृत समाज में इसका प्रयोग होता था। अभिलेख हमारे सामने ऐसी सभ्यता का चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो भारतीय सं

जिसमें पूरी तरह भारतीय तत्त्वों का समावेश था। हमें वहाँ हिन्दू दार्शनिक तों, वैदिक धर्म, पौराणिक और महाकाव्यों की मिथक कथाएँ और किंवदंतियाँ, ब्राह्मणधर्मी और बौद्ध देवता तथा उनसे सम्बद्ध विचार, भारतीय महीनों के नाम, और नापजोख की प्रणाली के दर्शन होते हैं। औपनिवेशिकों द्वारा अपने स्थानों के नामों के प्रयोग की जानी-पहचानी आदत भी हमें दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी जहाँ औपनिवेशिकों ने न केवल और अशोक से सम्बन्धित स्थानों के नाम देकर, जानबूझकर, एक नया भारत बसाने शिश की, बल्कि बौद्धधर्म और बुद्ध के पूर्वावतारों, तथा बौद्ध-साहित्य में वर्णित पुरुषों और बौद्ध इतिहास की भी पुनः सृष्टि करने की कोशिश की। वर्मा से भी हमें न केवल द्वारवती, चम्पा, अमरावती, गान्धार, विदेह, कम्बोज और जैसे नाम मिलते हैं, बल्कि गोमती, चन्द्रभागा और सम्भवतः गंगा नदियों के नाम लते हैं।

इस सारे विशाल इलाके से प्राप्त देवियों और देवताओं की बहुत सी मूर्तियाँ, की ही तरह, इस बात की साक्षी हैं कि यहाँ ब्राह्मणधर्म तथा बौद्धधर्म दोनों नेवाला था। ये मूर्तियाँ और मन्दिरों के अवशेष यह भी प्रमाणित करते हैं कि भारतीय कला का प्रभाव कितना गहरा और सम्पूर्ण था।

चीनी इतिवृत्त भी इस क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के आधिपत्य का समर्थन करते हैं। न्' की कहानी से जावा में बौद्धधर्म के क्रमिक विकास का पता चलता है। ने इस क्षेत्र में बौद्ध प्रभाव के अनेक विवरण दिये हैं। भारत आते और भारत ते समय यह तीर्थयात्री श्रीविजय में ठहरा था, और बाद में वह यहाँ बौद्धमत अध्ययन करने के लिए आया था। उसने लिखा है, "श्रीविजय के किलेबन्द नगर में से अधिक बौद्ध भिक्षु थे, जो भारत की तरह यहाँ भी सभी विषयों का अध्ययन थे। राजनीतिक दृष्टि से सबल और बौद्धमत का शक्तिशाली केन्द्र होने के कारण को इस क्षेत्र में महायान सम्प्रदाय का सबसे प्रारम्भिक केन्द्र कहा जा सकता बाद में पूरे स्वर्णद्वीप में इस सम्प्रदाय को महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी थी। भारत से अनेक प्रमुख बौद्ध आये थे, जैसे कांची का धर्मपाल——जो नालन्दा (सातवीं में प्राध्यापक था और वज्रबोधि (आठवीं सदी)।[2]

दूसरी तरफ हमें इस बात के प्रमाण भी मिलते हैं कि औपनिवेशिकों ने भारत से सम्पर्क बनाये रखे। हम पहले ही उन राजाओं का उल्लेख कर चुके हैं, जो आयु के अन्तिम दिन गंगा के तट पर बिताने के लिए अथवा सुरक्षा के लिए से भागकर भारत आये थे। कहा जाता है कि उनमें से एक ने तो एक भारतीय कुमारी से विवाह भी किया था।

---

[1] ऊपर देखिए पृ. ६७६।

[2] देखिए ऊपर, पृ. ४३५; ६८७-८८।

इन उपनिवेशों में सामाजिक व्यवस्था तथा शासन-तन्त्र किस प्रकार का था, इ निर्धारण के लिए बहुत कम सामग्री प्राप्त होती है। लेकिन उपलब्ध जानकारी आधार पर हम कह सकते हैं कि इन पर निश्चित रूप से भारतीय प्रभाव था इसमें कोई सन्देह नहीं कि समुद्र पार एक नये भारत ने जन्म लिया था।

सामान्य सन्दर्भ

आर० सी० मजुमदार, ऐंसिएंट इंडियन कॉलोनीज इन दि फार ईस्ट
जिल्द I, चम्पा, लाहौर, १९२७
जिल्द, II, सुवर्णद्वीप, खंड I और II, ढाका, १९२७, १९३८
बी०आर० चटर्जी, इंडियन कल्चरल इन्फलुएंस इन कम्बोडिया, कलकत्ता, १९
आर०सी० मजुमदार, कम्बुज-प्रदेश, मद्रास, १९४४
आर०सी० मजुमदार, हिन्दू कालोनीज इन दि फार ईस्ट, कलकत्ता, १९४४
कोएद्जी० ल एता, इन्दुइजे देंदोशीन एदेंदोनेसो, पेरिस, १९४८
के०ए०एन० शास्त्री, हिस्टरी ऑफ़ श्रीविजय, मद्रास, १९४९
के०ए०एन० शास्त्री, साउथ इंडियन इन्फलुएन्स, इन दि फार ईस्ट, वम्वई, १९४९

ग्रन्थ-सूचियों की तालिका

सामान्य ग्रन्थ-सूची

स्रोत : साहित्यिक मूल ग्रन्थ और अनुवाद

१. भारतीय स्रोत

(क) ब्राह्मण ग्रन्थ

- महाकाव्य
- पुराण
- दर्शन
  - (१) मीमांसा
  - (२) न्याय
  - (३) सांख्य
  - (४) वैशेषिक
  - (५) वेदान्त
  - (६) योग
- धर्मशास्त्र
- ऐतिहासिक ग्रन्थ
- राज्यतन्त्र
- कामशास्त्र
- शब्दकोश
- ज्योतिष
- चिकित्सा
- ललित साहित्य

(ख) बौद्ध ग्रन्थ

- पालि
- संस्कृत

(ग) जैन

(घ) मुस्लिम

२. भारतीयेतर स्रोत

(क) चीनी (ख) तिब्बती

II. मूल स्रोत :

(१) अभिलेख

(२) सिक्के

III. आधुनिक कृतियाँ :

(१) उस काल के इतिहास

(२) साहित्येतिहास

(३) धर्म और दर्शन

ग्रन्थ सूची —

परिच्छेद : १-६

परिच्छेद : ७

"

"

"

"

परिच्छेद : २४

सामान्य ग्रन्थ सूची

I. मूल स्रोत

मूल पाठ और अनुवाद

१. भारतीय स्रोत

(क) ब्राह्मण ग्रन्थ :

(I) महाकाव्य

महाभारत

(बम्बई संस्करण) नीलकंठ की टीका के साथ, आर. किंजवडकर द्वा सम्पादित, पूना, १९२९-३३

(कलकत्ता संस्करण) एन. शिरोमणि और सहयोगियों द्वारा सम्पादित, वि. कलकत्ता, १९३४-३९

(कुम्भकोनम् सम्पा.) टी. आर. कृष्णाचार्य और टी. आर. व्यासाचार्य द्वा सम्पादित, बम्बई, १९०५-१०

(दक्षिणी पाठशोध) पी०पी०एस० शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रा १९३१ प. पृ.

(आलोचनात्मक सम्पादन) I. आदिपर्वन्, बी०एस० सुकथंकर द्वारा सम्पादि पूना, १९२७-३३

भापर्वन्, एफ. एडगर्टन द्वारा सम्पादित, पूना, १९४३-४४
रण्यपर्वन्, वी. एस. सुकथंकर द्वारा सम्पादित, पूना, १९४१-४२
विराटपर्वन्, रघुवीर द्वारा सम्पादित, पूना १९३६
द्योगपर्वन्, एस. के. डे द्वारा सम्पादित, पूना, १९३७-४०
ीष्मपर्वन्, एस. के. बेलवलकर द्वारा सम्पादित, पूना १९४५-४७
ान्तिपर्वन्, एस. के. बेलवलकर द्वारा सम्पादित, राजधर्म, पूना, १९५९-५०
, १९५१-५३
ी अनुवाद, के. एस. गांगुली कृत. पी. सी. राय द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता,
-९६; नया संस्करण, कलकत्ता, १९२६-३२
ी अनुवाद, एम०एन० दत्त कृत, कलकत्ता, १८९५-१९०५.

(बंगाल पाठशोध). जी. गोरेसिओ द्वारा सम्पादित, तुरिन, १८४३-६७.
(उत्तरी-पश्चिमी भारतीय). पं० राम लभाया (Rama Labhaya) और सहयोगियों द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९२३ प. पृ.
(उत्तर और दक्षिण) बम्बई, १९०२.
(दक्षिण) मद्रास, १९३३.
(आलोचनात्मक सं०) रघुवीर द्वारा सम्पादित.
प्रथम अनुप्रति (First Fasc), लाहौर, १९३८
ी अनुवाद, एम०एन० दत्त कृत, कलकत्ता, १८९२-९४.
ी पद्यानुवाद, आर०टी० एच० ग्रिफिथ द्वारा, बनारस, १९१५.

(II) पुराण

पुराण

आर० मित्रा द्वारा सम्पादित, बि. इ. कलकत्ता, १८७३-७९.
आ०सं०सी० में सम्पादित, पूना, १९००.
एम०एन० दत्त द्वारा अंग० अनु०, कलकत्ता, १९०१.

पुराण

प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१०.

ुराण

आ० सं० सी० द्वारा सम्पादित, पूना, १८९५.

पुराण

प्रकाश वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१३.

आर० किंजवडेकर द्वारा सम्पादित, पूना, १९३६.

मार्कण्डेयपुराण

के०एन० बनर्जी द्वारा सम्पादित, बि० इ०, कलकत्ता, १८६२.
अंगरेजी अनुवाद, एफ० ई० पार्जीटर कृत, कलकत्ता, १९०४.

मत्स्यपुराण

आ०सं०सी० द्वारा सम्पादित, पूना, १९०७.
अंगरेजी अनुवाद, अवध के किसी ताल्लुकेदार द्वारा कृत, से०बु०हि०, २ जि
इलाहाबाद, १९१६-१७.

पद्मपुराण

वी०एन० मांडलिक द्वारा सम्पादित, आ०सं०सी०, ४ जिल्दें, पूना, १८९
प्रकाशक—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८९५.

पार्जीटर, एफ०ई०, दि पुराण टेक्स्ट आफ दि डाइनेस्टीज ऑफ दि कलि
ऑक्सफोर्ड, १९१३.

वायुपुराण

आर० मित्र द्वारा सम्पादित, बि० इ०, २ जिल्दें, कलकत्ता, १८८०-
आ०सं०सी० सम्पादित, पूना, १९०५.

विष्णुपुराण बम्बई, १८८९

अंग० अनु०, एच०एच० विल्सन कृत, ५ जिल्दें लन्दन, १८६४-७०.
अंग० अनु०, एम०एन० दत्त कृत, कलकत्ता, १८९४.

(III) दर्शन

(१) मीमांसा

शबरस्वामी के मीमांसा-सूत्र-भाष्य पर भट्ट प्रभाकर मिश्र की बृहती, शालिक
की ऋजुविमलपञ्चिका टीका के साथ.
ए० चिन्नास्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास, १९२७-३३.
एस०के० रामनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास, १९३४-३६.

प्रकरणपञ्चिका शालिकनाथ कृत, बनारस, १९०४.

श्लोकवार्त्तिक

कुमारिलभट्ट कृत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस द्वारा सम्पा०, १८९८-
पंडित में सम्पादित, एन०एस०, जिल्द ३-४.
अंगरेजी अनु०, जी० झा० कृत, बि० इ०, कलकत्ता, १९०० प. पृ०.

तन्त्रवार्त्तिक

कुमारिलभट्ट कृत, बनारस सं० सी० में सम्पा०, बनारस, १८९०.
अंग० अनु०, जी झा कृत, बि० इ०, कलकत्ता, १९०३ प. पृ०.

का

कुमारिलभट्ट कृत, बनारस सं०सी० में सम्पा०, बनारस, १९०३.

विवेक

मण्डन मिश्र कृत
सम्पा० पंडित, एन०एस० XXV-XXVIII

) न्याय

भाष्य

गौतम के न्याय सूत्रों पर पक्षिल स्वामी वात्स्यायन कृत भाष्य,
ज०ए०सो० बं०, १९१०.
जी०झा० कृत अंग अनु०, इलाहाबाद, १९१५

बिन्दु

धर्मकीर्ति कृत
वि० इ० में सम्पा०, कलकत्ता १८९९

प्रवेश

दिङ्नाग कृत
ए०बी० ध्रुव द्वारा सम्पा०, बड़ौदा, १९३०

वार्त्तिक

उद्योतकर भारद्वाज कृत
वि०इ० में सम्पा०, कलकत्ता, १९०७
जी०झा० कृत अंग० अनु०, से०बु०हि०, इलाहाबाद, १९१५

) सांख्य

कारिका, ईश्वरकृष्ण कृत

वनारस सं० सी० में सम्पा०, बनारस, १८८३
एस०एस० सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा सम्पा०, परिचयात्मक टिप्पणियों और अंग० अनु०, के साथ, मद्रास, १९४८.
अंग० अनु०, टा० कोलब्रुक कृत, लन्दन, १८३७.
अंग० अनु० जे० डेविस कृत, लन्दन, १८८१.
अंग० अनु०, एन०एल० सिन्हा कृत, से०बु०हि०, इलाहाबाद, १९१५.
गौड़पाद कृत सांख्यकारिका पर भाष्य, पूना, १९३३.
अंग० अनु० विल्सन कृत, लन्दन, १८३७.

(४) वैशेषिक

पदार्थधर्मसंग्रह, प्रशस्तपाद कृत

विजयनगरम् सं०सी० में सम्पा०, बनारस, १८९५.

अंग० अनु०, जी० झा कृत, पंडित, एन०एस० XXV-XXXIV.

वैशेषिक सूत्र कणाद कृत

बनारस सं०सी० में सम्पादित, बनारस, १८८५ प. पृ०;

बि० इ० कलकत्ता, १८६१.

अंग० अनु० गो (Gough) कृत, बनारस, १८७३.

अंग० अनु० एन०एल० सिन्हा कृत, से०बु०हि०, इलाहाबाद, १९२३.

(५) वेदान्त

आगमशास्त्र, गौड़पाद कृत

म० म० वी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पा०, लिप्यन्तरित-पाठ, अंग० अनु०, भूमिका और टिप्पणियों के साथ, कलकत्ता, १८४३.

म० म० वी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पा०, संस्कृत टीका और विस्तृत भूमिका साथ, कलकत्ता, १९५०

ब्रह्मसूत्र या (वेदान्त सूत्र) बादरायण कृत, शंकराचार्य की टीका सहित

आ०सं०सी० में सम्पा० पूना, १९००-१९०३.

अंग० अनु० (वेदान्त सूत्र, शंकराचार्य और रामानुज की टीकाओं के साथ) जी. थिबाउ (Thibaut) कृत, से०बु०ई०, ऑक्सफोर्ड, १८९०-१९०४.

गौड़पादकारिका गौड़पाद कृत

आ०सं०सी० में सम्पा०, पूना, १९११.

आर०डी० करमरकर द्वारा सम्पा०, भूमिका, टिप्पणियाँ, अंगरेजी अनु० साथ, पूना, १९५३.

द्विवेदी कृत अंग० अनु०, बम्बई, १९०९.

पी० ड्वायस्सेन कृत जर्मन अनु० (जेखत्सिग उपनिषद्स डेस वेदा, पृ० ५३ प. पृ०) लाइप्त्सिग, १९२१.

(६) योग

योगसूत्र, पतंजलि कृत, व्यास की टीका और वाचस्पति के भाष्य के साथ, आर बोडा द्वारा सम्पा०, बं०सं०सी०, बम्बई, १८९२.

जे०एच० वुड्स कृत अंग० अनु०, हा०ओ०सी०,कैम्ब्रिज (मेसाचुसेट्स), १९१४

राम प्रसाद कृत अंग० अनु०, से०बु०हि०, इलाहाबाद, १९१०.

(IV) धर्मशास्त्र

स्मृति ए० फुट्टरेर द्वारा सम्पा०, लाइप्सिग, १८७९.
जे० जॉली कृत अंग० अनु०, से०बु०ई०, आक्सफोर्ड, १८८९.
के०वी० रंगास्वामी आयंगार द्वारा पुनः संशोधित, गा०ओसी०, बड़ौदा, १९४१.

संग्रह जे० विद्यासागर द्वारा सम्पा०, २ जिल्द, कलकत्ता, १८७६.

स्मृति एन०सी० बन्द्योपाध्याय द्वारा सम्पा०, कलकत्ता, १९२७.

के०वी० रंगास्वामी आयंगर रचित
अतिरिक्त श्लोक, पी०वी० काणे कमेमोरेशन वाल्यूम, १९४१

स्मृति सारोद्धार (व्यवहार, विधि और कार्यप्रणाली पर कात्यायन-स्मृति) पी०वी० काणे द्वारा सम्पा० पुनर्निर्मित पाठ, अनुवाद, टिप्पणियों और भूमिका के साथ, बम्बई १९३३.

मनुसंहिता भावस्वामी की टीका के साथ
टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पा०, त्रि०सं०सी०, त्रिवेन्द्रम, १९२९.

स्मृति संक्षिप्त संस्करण, जे. जाली कृत
अनु० १८७६; बृहत्तर संस्करण, जे० जाली द्वारा नेपाल पाण्डुलिपि से दो अतिरिक्त अध्यायों के साथ सम्पादित, बि०इ०, १८७६.
जे० जाली कृत अनु०, से०बु०ई०, जिल्द LIII, १८८९.

धर्मसंहिता या पराशर-स्मृति, सायण माधवाचार्य की टीका के साथ, ले० वामन शास्त्री, इसलामपुरकर, बम्बई, १८९३.

समुच्चय : आ०सं०सी० में सम्पा०, पूना, १९०५.

सन्दर्भ, जिल्द I-II, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९५२.

स्मृति
धर्मशास्त्र संग्रह II, पृ० ३२१-४२, आ०सं०सी० में सम्पा०, ३५७-७१.

स्मृति (व्यवहार अध्याय) बी०के० घोष द्वारा सम्पा, इ०क०, IX, पृ० ६५-९८.

(V) ऐतिहासिक कृतियाँ

हर्षचरित

ए० फुहरेर द्वारा सम्पा०, बम्बई, १९०९.
जे० विद्यासागर द्वारा सम्पा०, कलकत्ता, १८९२.
पी०के० काणे द्वारा सम्पा०, बम्बई १११८.
ई०वी० कॉवेल और एफ०डब्ल्यू० थॉमस कृत अंग० अनु०, लन्दन, १८९७.

कादम्बरी
पी० पेटर्सन द्वारा सम्पा०, बम्बई , १९००.

के०पी० परब द्वारा सम्पा०, बम्बई, १८९६.
सी०एम० राइडिंग कृत अंग० अनु०, लन्दन, १८९६.

दंडी **दशकुमारचरित**

जी० बुह्लर और पी० पेटर्सन द्वारा सम्पा०, ब०सं०सी० बम्बई, १८
१८९१; द्वितीय सं०.
जी०जे० अगाशे (Agashe) द्वारा सम्पा०, बम्बई, १९१९.
एम०आर० काले द्वारा भूमिका, टिप्पणियों और अंग० अनु० के साथ सम्पा
तृतीय सं०, बम्बई, १९२८.
नारायण आचार्य द्वारा सम्पा०, नि०सा०प्रो० बम्बई, १९५१.
ए० डब्ल्यू० राइडर कृत अंग०अनु०, शिकागो, १९२७.
एच० फोश (Fauche) कृत फ्रेंच अनुवाद, पेरिस, १८६२.
जे० हर्टेल कृत जर्मन अनुवाद, लाइप्त्सिग, १९२२.
जे०जे० मेयर कृत जर्मन अनुवाद, लाइप्त्सिग, १९०२.

कल्हण **राजतरंगिणी**

दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८९२.
एम०ए० स्टाइन कृत अंगरेजी अनु०, लन्दन, १९००.
आर०एस० पंडित कृत अंग० अनु०, इलाहाबाद, १९३५.

वाक्पति **गौडवहो**

एस०पी० पंडित द्वारा सम्पा०, बं०सं०सी०, बम्बई, १८८७; द्वितीय
एनबी० उत्गोकर कृत, पूना, १९२७

(VI) राज्यतन्त्र

बार्हस्पत्यसूत्रम्

एफ० डब्ल्यू० थॉमस द्वारा सम्पा० और अनु० (लम्युजों) भगवद् दत्त द्वा
देवनागरी अक्षरों में पुनर्मुद्रित, १९२१.

कामन्दकीय नीतिसार

आर० मित्रा द्वारा सम्पा०, बि० इ०, कलकत्ता, १८८४.
टी० गणपति शास्त्री द्वारा शंकराचार्य के भाष्य के साथ सम्पा०, त्रि०सं०सी०
त्रिवेन्द्रम, १९१२.
वी०वी० देशपांडे द्वारा सम्पा० शंकराचार्य की जयमंगला और वाराणसी के
सांगवेद विद्यालय के पंडितों द्वारा लिखित उपाध्याय निरपेक्ष तथा भूमिका के
साथ, जिल्द I, पूना आनन्दाश्रम प्रेस, १९५८.

नीतिवाक्यामृतम्

पं० पन्नालाल सोनी द्वारा सम्पा०, किसी अज्ञात लेखक कृत टीका के साथ बम्बई, वे०शे०, १९३९.

(VII) कामशास्त्र

(Kokkoka) रतिरहस्य, बनारस, १९२२

कामसूत्र जयमंगला टीका के साथ,

साहित्याचार्य डी० एल० गोस्वामी द्वारा सम्पा० बनारस, १९२९.

के०आर० आयंगर द्वारा अंग० अनु०, लाहौर, १९२१.

डॉ०बी०एन० वसु कृत अंग० अनु०, आर० एल० घोष द्वारा संशोधित और डॉ० पी०सी० बागची लिखित प्राक्कथन के साथ, पांचवाँ सं०, कलकत्ता १९४४

(VII) शब्दकोश

अमरकोश क्षीरस्वामी और वन्द्यघटीय सर्वानन्द की टीकाओं के साथ. टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पा०, ४ भाग, त्रिवेन्द्रम, १९१४-१७.

अभिधानरत्नमाला थॉ आउफरेख्त (Th. Aufrecht) द्वारा सम्पा०, लन्दन, १८६१.

कल्पद्रुकोश रामावतार शर्मा द्वारा सम्पादित, गा०ओ०सी०, बड़ौदा, १९२८.

(IX) ज्योतिष

आर्यभटीय, परमादीश्वर की भट्टदीपिका टीका के साथ एच० केर्न द्वारा सम्पा०, लीडेन; १८७४.

पी०सी० सेनगुप्त कृत अंग० अनु०, ज०डि०ले०, XVI.

गार्गी संहिता

एफ० ई० हॉल और बी०डी० शास्त्री द्वारा सम्पा०, बि०इ०, कलकत्ता १८५९; दूसरा संस्करण, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सुधावर्षिणी टीका के साथ सम्पा०, कलकत्ता, १९२५.

ई० बर्गेस कृत अंग० अनु० टिप्पणियों और परिशिष्ट के साथ न्यू हेव्हेन (Haven), १८६०; पुनर्मुद्रण, कलकत्ता, १९३६.

बृहज्जातक

वी० सुब्रह्मण्य शास्त्री कृत अंग० अनु० और टिप्पणियों के साथ, मैसूर १९२९.

सीताराम झा द्वारा सम्पा०, भट्टोत्पल की टीका के साथ, बनारस, १९३४.

बृहत्संहिता

एच० केर्न द्वारा सम्पा०, बि० इ०, कलकत्ता, १८६५.

एच० केर्न कृत अंग० अनु०, ज०रा०ए०सो०, १८७०-१८७५; भाग १- लन्दन,१८७०-७३.

बी० सुब्रह्मण्य शास्त्री और एम० रामकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पा०, अंग० अनु और टिप्पणियों के साथ, २ जिल्द, बंगलोर, १९४७.

होराशास्त्र

सी० अय्यर कृत अंग० अनु०, मद्रास, १८८५.

पञ्चसिद्धान्तिका जी० थिबाउ और एस० द्विवेदी द्वारा सम्पा०, बनार १८८९.

योगयात्रा एच० केर्न द्वारा सम्पा० और अनूदित, जगदीश लाल शास्त्र द्वारा सम्पा०, लाहौर, १९४४.

(X) चिकित्सा

अष्टाँगहृदय वाग्भट कृत

ए० एम० कुंटे द्वारा सम्पा०, बम्बई, १८९१.

चरकसंहिता जे० विद्यासागर द्वारा सम्पा०, तृतीय सं०, कलकत्ता, १८९६.

सुश्रुतसंहिता जे० विद्यासागर द्वारा सम्पा०, तृतीय सं०, कलकत्ता, १८८९.

(XI) ललित साहित्य

टिप्पणी : यहाँ संस्कृत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियों के ही निर्देश दिये हैं। पूर्ण विवरण डे और दास गुप्त, कीथ, कृष्णमचारियर, विंटरनित्स आदि संस्कृत साहित्य के इतिहासों में प्राप्त होगा।)

भारवि किरातार्जुनीय

मल्लिनाथ की टीका के साथ, कलकत्ता, १९१५.

जे० विद्यासागर द्वारा सम्पा०, कलकत्ता, १८७५.

सी० काप्पेलेर द्वारा जर्मन में अनु० और व्याख्या, हा०ओ०सी० जिल्द १ कैम्ब्रिज, मेसा, १९१२.

भट्टनारायण वेणीसंहार

सम्पा० जे० ग्रिल, लाइपत्सिंग, १८७१.

एस०एम० टैगोर कृत अंग० अनु०, कलकत्ता, १८८०.

भवभूति महावीरचरित

टोडरमल कृत आलोचनात्मक संस्करण, मैकडोनल द्वारा संशोधि लाहौर, १९२८.

जे० पिकफोर्ड कृत अंग० अनु०, लन्दन, १८९२.

मालतीमाधव जगद्धर की टीका के साथ

आर०जी० भंडारकर द्वारा आलोचनात्मक रूप में सम्पा०, बं०सं०सी०, बम्बई, १८७६.

उत्तररामचरित

एस.के. बेलवलकर द्वारा भूमिका और अंग० अनु० के साथ सम्पा०, हा०ओ०सी० पाठ: पूना, १९२१; अनु० और भूमिका: कैम्ब्रिज, मेसा, १९१५.

सी०एच० टॉनी कृत अंग० अनु०, कलकत्ता, १८७१.

अवन्तिसुन्दरीकथा ऐंड अवन्तिसुन्दरीकथासार

एम०आर० कवि द्वारा सम्पा०, मद्रास, १९२४.

काव्यादर्श

आ० रेड्डी द्वारा मूल टीका के साथ सम्पादित, पूना, १९३८.

एस०के० बेलवलकर द्वारा अंग० अनु० के साथ सम्पा०, पूना, १९२४.

नागानन्द

जी०वी० ब्रम्हे और एस०एम परांजपे द्वारा सम्पा०, पूना, १८९३;

टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पा०, त्रि०सं०सी०, त्रिवेन्द्रम्, १९१७.

पी० व्वायड द्वारा अंग० अनु०, लन्दन, १८७२;

एच० वार्थम कृत अंग० अनु०, लन्दन और न्यूयार्क, १९११.

प्रियदर्शिका

वी०डी० गदरे द्वारा सम्पा०, बम्बई, १८८४.

जी० के० नरिमन, ए०व्ही० विलियम जैक्शन और सी० जे ऑग्डेन कृत अंग० अनु०, न्यूयार्क, १९२३.

रत्नावली

के० पी० परब द्वारा सम्पा०, नि०सा०प्रे०, बम्बई, १८९५; के० न्यायपंचानन द्वारा सम्पा०, कलकत्ता, १८६४.

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

(i) देवनागरी सं०, एम० विलियम्स द्वारा सम्पा०, द्वि०सं० आक्सफोर्ड, १८७६;

(ii) बंगाली सं०, आर० पिशेल द्वारा सम्पा० सी० कैप्पेलर द्वारा संशोधित, हा०ओ०सी, कैम्ब्रिज, मेसा, १९२२;

(iii) दक्षिण भारत सं०, वाणी विलास प्रेस द्वारा सम्पादित, श्रीरंगम्, १९१७;

(iv) कश्मीरी सं०, के० बर्खर्ड द्वारा सम्पा०, वीन (Wien), १८८४.

प्राचीनतम अंग० अनु०, विलियम जोन्स कृत, लन्दन, १७९०.

कुमारसम्भव

ए०एफ० स्टेन्ज्लर द्वारा लैटिन अनु० के साथ सम्पा०, लन्दन, १८३८; नि०सा०प्रे०, बम्बई, १९२७ (दसवाँ सं०).

आर०टी०एच० ग्रिफिथ कृत अंग० अनु०, द्वि०सं०, लन्दन, १८७०.

मालविकाग्निमित्र

एस० पंडित द्वारा काटयवेम (Kāṭayavema) की टीका के साथ सम्पा०, बं०सं०सी०, द्वि० सं०, बम्बई, १८८९.

सी०एच० टॉनी कृत अंग० अनु०, लन्दन, १८९१.

मेघदूत

ई० हूल्त्स द्वारा सम्पा०, लन्दन, १९११; नि०सा०प्रे० चतुर्थ सं०, १८८१ भी; त्रिवेन्द्रम, १९१९; बनारस, १८३१; गोंडाल, १९५३ आदि.

एच०एच० विल्सन द्वारा अंगरेजी छन्दोनुवाद के साथ सम्पा०, कलकत्ता, १८१३; सी० किंग कृत अंग० अनु०, लन्दन, १९३०.

रघुवंश

एस०पी० पंडित द्वारा सम्पा०, तीन जिल्द, बं०सं०सी०, बम्बई, १८६९-७४; जी०आर० नन्दरगीकर द्वारा अंग० अनु० के साथ सम्पा०, तृतीय सं०, बम्बई, १८९७.

ऋतुसंहार

सम्पा०, नि०सा०प्रे०, षष्ठ सं०, बम्बई, १९२२.

ई०पी० मैथर्स कृत अंग० अनु० लन्दन, १९२९.

विक्रमोर्वशीयम्

एस०पी० पंडित द्वारा सम्पा०, तृतीय सं०, बी० आर० आर्टे० द्वारा संशोधित, बं०सं०सी०, बम्बई, १९०१.

ई०बी० कॉवेल कृत अंग० अनु०, हर्टफोर्ड, १८५१.

माघ **शिशुपालवध**

सम्पा०, नि०सा०प्रे०, नवम सं०, बम्बई, १९२७.

विज्जका **कौमुदीमहोत्सव**

एम०आर कवि और एस०के० रामनाथ द्वारा सम्पा०, मद्रास, १९२९.

शकुन्तला राव शास्त्री द्वारा भूमिका, अंग०अनु० आदि के साथ सम्पा०, बम्बई, १९५२.

मुद्राराक्षस

सम्पा॰ के॰टी॰ तेलंग, बं॰सं॰ सी॰, तृतीय संशोधित सं॰, बम्बई, १९००;

सम्पा॰ ए॰ हिलब्रांट, ब्रेस्लाउ, १९१२.

के॰एच॰ ध्रुव द्वारा अंग॰ अनु॰ के साथ, सम्पा॰, द्वितीय सं॰, पूना, १९२३.

(ब) बौद्ध

(I) पालि

(टिप्पणी : यहाँ केवल महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ दिये गये हैं। और ब्योरे गीगर, लॉ, विन्टरनित्स आदि में प्राप्त होंगे जो नीचे साहित्य के इतिहास में दिये गये हैं।)

अभिधम्मत्थसंगह

राइस डेविड्स द्वारा सम्पा॰, ज॰पा॰टे॰सो॰ १८९४, पृ॰ १ प. पृ॰

एस॰जे॰ ओंग॰ कृत अनु॰, सम्पा॰ श्रीमती राइस डेविड्स पा॰टे॰सो॰, लन्दन, १९१०.

अट्ठसालिनी

मूलर द्वारा सम्पा॰, पा॰टे॰सी॰, लन्दन, १८९७.

माउंग टिन कृत अंग॰ अनु॰, श्रीमती राइस डेविड्स द्वारा संशोधित और सम्पा॰, १९२०-२१.

धम्मपदट्ठकथा

एच॰सी नार्मन द्वारा सम्पा॰, ४ जिल्द, पा॰टे॰सो॰, लन्दन, १९०६-१४.

जातकट्ठवण्णना

जातक में टीका के साथ व्ही फाउसबोएल द्वारा सम्पा॰, लन्दन, १८७७-९६.

कथावत्थुप्पकरण—अट्ठकथा

जे॰पी॰ मिनायेफ्फ द्वारा सम्पा॰, ज॰पा॰टे॰सो॰, १८८९.

मनोरथ-पूरणी, I माक्स वालेजेर द्वारा सम्पा॰, १९२४.

पपंचसूदनी जे॰एच॰ वूड्स और डी॰ कोसाम्बी द्वारा सम्पा॰, १९२२.

परमत्थ-जोतिका, I एच॰ स्मिथ द्वारा सम्पा॰, १९१५ II १९१६-१८.

पुग्गलपन्नत्ति-अट्ठकथा

जो॰ लेंड्सवर्ग और श्रीमती राइस डेविड्स द्वारा सम्पा॰, ज॰पा॰ टे॰सो॰, १९१३-१४, पृ॰ १७० प॰ पृ॰.

समन्तपासादिका

जे॰ तकाकासु द्वारा सम्पा॰, २ जिल्द, पा॰ टे॰ सो॰, लन्दन, १९२४, २७.

सम्मोहविनोदिनी

एपी० बुद्धदत्त थेर द्वारा सम्पा०, पा०टे०सो०, लन्दन, १९२३.

सुमंगलविलासिनी, टी० डब्ल्यू० राइस डेविड्स और जे०ई० कारपेन्टर द्वा सम्पा०, पा०टे०सो०, लन्दन, १८८६.

विसुद्धिमग्ग, सी०एम०एफ० राइस डेविड्स द्वारा सम्पा०, २ जिल्द, पा०टे०सो लन्दन, १९२०-२१; डी० कोसाम्बी द्वारा, बम्बई, १९४०; एच०सी० वा द्वारा सम्पादित और डी० कोसाम्बी द्वारा संशोधित, हा०ओ०सी०, कैम्ब्रि मेसा, १९५०.

यमकप्पकरण-अट्ठकथा, श्रीमती राइस डेविड्स द्वारा सम्पा०, ज०पा०टे०सो १९१०-१२, पृ० ५१ प० पृ०.

धम्मपाल परमत्थदीपनी

पेतवत्थु पर, ई० हार्डी द्वारा सम्पा०, पा०टे०सी० लन्दन, १८९४.

थेरीगाथा पर, ई० मूलर द्वारा सम्पा०, पा०टे०सी० लन्दन, १८९३.

विमानवत्थु पर, ई० हार्डी द्वारा सम्पा०, पा०टे० सो० लन्दन, १९०१.

उदान पर, एफ०एल० वूडवर्ड द्वारा सम्पा०, पा०टे०सो० लन्दन, १९२६.

धम्मसिरि **खुद्दकसिक्खा** (और महासामिन कृत **मूलसिक्खा**), ई० मूलर द्वारा सम्पा ज०पा० टे०सो०, १८८३, पृ० ८६ प०पृ०.

दीपवंस एच० ओल्डेनबर्ग द्वारा सम्पा० और अनू०, लन्दन, १८७९.

गीगर, डब्ल्यू० **दीपवंस उंड महावंस**, लाइपत्सिग, १९०५.

कच्चायन कच्चायन-व्याकरण, विद्याभूषण द्वारा सम्पा० और अनू०, कलकत्ता, १८९

कस्सप अनागतवंशः जे०पी० मिनायेफ्फ द्वारा सम्पा०, ज०पा०टे०सो० १८८ पृ० ३३ प०पृ०.

महानामा महावंश

डब्ल्यू० गीगर द्वारा सम्पा०, पा०टे०सो०, लन्दन, १९०८; डब्ल्यू गीगर द्वा मैबेल एच० बोडे के सहयोग से प्रस्तुत, अंग० अनु०, लन्दन, १९१२. रोम अक्षरों में पाठ और अनुवाद आदि, भाग १ (परि० १-३६), प्रस्तुतकर्ता जी० टर्नर, कोलम्बो, १८८७; भाग-२ (परि० ३७-१००), एल०सी० वि सिंह द्वारा अनू० कोलम्बो, १९०९.

महासामिन "धम्मसिरि" शीर्षक के अन्तर्गत ऊपर देखें।

उपतिस्स महाबोधिवंश, एस०ए० स्ट्रौंग द्वारा सम्पा०, पा०टे०सो० लन्दन, १८९१.

(ii) संस्कृत

अभिधर्मकोश भाष्य के साथ, बी० प्रधान द्वारा सम्पा०, शान्तिनिकेतन (निर्माणाधीन).

अभिधर्मकोश व्याख्या, परि० I-II, एस० लेवी और था० शेरबात्स्की (Th. Stcherbatsky) द्वारा सम्पा०, बि०बु० १९१८-१९३०, सम्पूर्ण रोमनीकृत पाठ, पृ०

ओधिहारा (U. Voghihara) द्वारा सम्पा०, टोकियो, १९३२-३६.
एल० दल वेले पोशें कृत फ्रेंच अनु० पेरिस, १९२३, ५० पृ.

समुच्चय, पी० प्रधान द्वारा सम्पा०, विश्वभारती सीरीज, शान्तिनिकेतन.

वतार मंगोली पाठ, वी.जी. व्लाडिमिरजोव द्वारा सम्पा०, वि०वु०, लेनिनग्राद, १९२८. पंजिका के साथ एल० दल वेले पोशों द्वारा सम्पा०, बि. हि., कलकत्ता १९०२-१४. फ्रेंच अनु० पेरिस, १९०७.

र बन्यियु नान्जियो (Bungiu Nanjio) द्वारा सम्पा०, क्योटो, १९२३.
डी० टी० सुजकि कृत भूमिका के साथ अंग० अनु०, लन्दन, १९३२.

ु ई० सेनार्ट द्वारा सम्पा०, पेरिस, १८८७-९७.

संग्रह ई० लामू द्वारा टीका के साथ सम्पा०, लाउबेन, १९३८-३९.

न्दु तिब्बती अनु० टीका के साथ, L. de la Vallee poussin,) कलकत्ता, १९०८-१३.

रमितापिण्डार्थ
जी० टुच्ची द्वारा सम्पा० जा०रा०ए०सो०, १९४७.

ोष तिब्बती पाठ, एम० बोलेजैर, कलकत्ता, १९१४.

मुच्चय अध्याय-I, तिब्बती पुनरुद्धार, एच. आर. आर. आयंगर द्वारा सम्पा० मैसूर, १९३०.

राजसूत्र सम्पा. गिलगिट मैनु०, जिल्द II (परि. I-XVI) कलकत्ता, १९१४.
तीन अध्याय, के० रेगमी (Regamy)द्वारा सम्पा०: वारशा, १९३९.

च्चय देखें, ए. सी. बनर्जी, इ. हि. क्वा० XVII, पृ. १२१-२६.

क आर्यदेव कृत टीका के साथ पाठ के कुछ अंश हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, MASB III, सं० ८, कलकत्ता, १९१४.
विधुशेखर भट्टाचार्य और पी. एल. वैद्य कृत चुने हुए अध्यायों के संस्करण।

माला आर्यसूर कृत, एच. कर्न द्वारा सम्पा०, बोस्टन, १८९१. स्पेयर कृत अनु० लन्दन, १८९५.

(ग) जैन

(यहाँ केवल महत्त्वपूर्ण लेखकों और उनकी कृतियों की ही सूची दी गयी है। पूर्ण विवरण के लिए द्र० विन्टरनित्स कृत हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर जिल्द II और वेलंकर कृत जिनरत्नकोश, पूना, १९४४)

ग्रन्थत्रय एम. के. शास्त्री द्वारा सम्पा०, सि. जे. सी, अहमदाबाद, १९३९.
न्यायविनिश्चय
तत्त्वार्थराजवार्त्तिक
सर्वार्थसिद्धि

धर्मदास उबएसमाला, एल. पी. टेस्सिटरी द्वारा सम्पा०, गि. सी. ए. ए., (१९१२) पृ. १९२-२९७.
वसुदेवहिण्डि, भावनगर, १९३०.

हरिभद्र **अनेकार्थजयपताका**, बड़ौदा, १९४०.
धर्मबिन्दु, बि. इ कलकत्ता, १९१२.
धूर्ताख्यान, सि. जै. सी., बम्बई, १९४४.
समराइच्चकहा, बि. इ. कलकत्ता, १९२६.
षड्दर्शनसमुच्चय, कलकत्ता, १९१५.
योगबिन्दु, सम्पा० एल० सुआली, भावनगर, १९११.
योगदृष्टिसमुच्चय, सम्पा० एल० सुआली, अहमदाबाद, १९१२.

जिनदास **विशेषचूर्णि**

मानतुंग **भक्तामरस्तोत्र**, एच. जैकोबी द्वारा सम्पा. और अनू० ई. स्टु, XIV, ३९५प. पृ०; एच आर. कपाडिया द्वारा टीका के साथ सम्पा०, वम्बई १९

माणिक्यनन्दी **परीक्षामुखसूत्र**, बम्वई, १९०५; कलकत्ता, १९०९.

पादलिप्त **तरंगवतीकथा**

प्रभाचन्द्र **प्रमेय-कमल-मार्तण्ड**, वंशीधर द्वारा सम्पा०, बम्बई, १९१२.

समन्तभद्र **आप्तमीमांसा**, बम्बई, १९०५.

सिद्धसेन दिवाकर **कल्याण मन्दिर-स्तोत्र**, के. एम. VII; एच. जैकोबी द्वारा सम्
और अनू., ई. स्टु. XIV, पृ० ३७६ प. पृ० **न्यायावतार**, टीका आदि के
एस. सी. विद्याभूषण द्वारा सम्पा०, कलकत्ता, १९०४.
सम्मतितर्क, डी माल्वनिया द्वारा सम्पा०, बम्बई, १९३९.

स्वयम्भू **स्वयम्भूच्छन्दस्** एच, डी. वेलंकर द्वारा सम्पा०., ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो
१९३५, ज. यु. बं., नवं., १९३६.

विद्यानन्द **आप्तपरीक्षा और पत्रपरीक्षा**, बनारस, १९१३.
अष्टसाहस्री, बम्बई, १९१५.

विमलसूरि पउमचरियम् एच. जैकोबी द्वारा सम्पा., भावनगर, १९१४.

(घ) मुस्लिम

चचनामा मुहम्मद अली- इ हमीद-इ अब् बक्र कूफी कृत,
मिर्जा कलिच बेग फ्रेदुनबेग द्वारा अनू०, दो जिल्द, कराची, १९००.
कुछ अंशों के अनुवाद, हि. इ. ई. डा., I, पृ० १३१-२११.

हबीब-उस्-सेयर खोंद मिर कृत, बम्बई, १८५७.

उल-हिन्द और आथारुल-बाकिया, अल-बीरुनी कृत ई. सी सचाउ (Sachau) कृत अंग. अनु. (अलबेरुनी इंडिया), लन्दन, १९२४.

फुतूह अल बुलदान, अहमद इब्न याहिया इब्न-जाबिर अल-बलधुरी कृत पी. के. हिट्टी और एफ. सी. मरगांटेन कृत अंग. अनु.

ल-जहब अल-मसूदी
पाठ और फ्रेंच अनुवाद बार्बिए द मेनाद, पेरिस, १८६१.
फुटकर अंशों के अनु०, हि. इ. ई. डा., पृ० १९-२५.

उस-सफा, मीर खोन्ड कृत

ए-अकबरी निजामुद्दीन कृत
बी. डे. कृत अनु०, बि. इ. कलकत्ता, १९१३.

ए-नासिरी मिनहाज-उद्दीन कृत
एच. जी. रावेर्टी कृत अनु०, लन्दन, १८८१.

ल-मआसिर हसन निजामी कृत

ए-फरिश्ता लखनऊ, १९०५, जे. ब्रिग्स, कृत अंग० अनु० (राइज आफ दि महोमडन पावर इन इंडिया), जिल्द I-IV. लन्दन १८२९.

इ-यमीनी, अली उत्बी कृत.
अली द्वारा सम्पा. जे. रेनाल्ड्स कृत अनु., लन्दन.
कुछ अंशों के अनुवाद, हि. इ. ई. डा. II, पृ० १४-५४.

, सर एच. एम. और डाउसन, जॉन हिस्टरी आफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, ८ जिल्द, लन्दन, १८६६-७७, जिल्द II. अलीगढ़, १९५२.

२. भारतीयेतर स्रोत

(क) चीनी

स. सि. यु. को. **बुद्धिस्ट रेकार्डस आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड**, हिउएन-त्सांग के चीनी विवरण से अनु०, २ जिल्द, लन्दन, १९०६.
लाइफ आफ हिउन-त्सांग, शमन हवुई-ली कृत, लन्दन १९११.

न, ई. मेम्वा कम्पोजे अलपोक द ल ग्राँद दिनेस्तितांग स्यु ल रिलीजो एमिनाँ कि एले शर्शे अल्वा दाँ ल पे दौक्सिदाँ पा-इ-त्सिंग, पेरिस, १८९४. (बील के लाइफ की भूमिका में इस कृति का अंगरेजी में सारांश दिया हुआ है।)

, एच ए. **दि ट्रैवेल्स आफ फा-हिएन और रेकार्ड आफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स**, कैम्ब्रिज, १९२३.

जुलीन, एस. **मेम्बा स्यु ल कान्तुम आक्सिदांताल.** हिउएन-त्सांग का अनु०, पेरिस, १८५७-५८.

लेग्गे, जे. एच, **रेकर्ड आफ दि बुद्धिस्टिक किंग्डम्स,** चीनी भिक्षु फा-हिएन का

विवरण, आक्सफोर्ड, १८८६.

तकाकासु, जे. ए. **रेकर्ड आफ दि बुद्धिस्टिक रेलीजन ऐज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐं**

मलय आर्कीपेलागो बाइ ई-त्सिग, आक्सफोर्ड, १८९६.

वाट्टर्स, टी. **आन युवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया,** टी. डब्ल्यू. राइस डेविड्स

एस. डब्ल्यू. बुशेल द्वारा सम्पा०, २ जिल्द, लन्दन, १९०४, १९०५.

(ख) तिब्बती

तारनाथ एफ. ए. फ़ांन शीफ्नर कृत जर्मन अनुवाद (गेशिख्ते डेस बुद्धिस्मु

इंडीन), सेंटपीट्र्सवर्ग, १८६९.

II. मौलिक स्रोत

(1) अभिलेख

अय्यर, के. वी. सुब्रमण्य, **साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस.** २ जिल्द (आ. स. इ., न्यु इम्पी

रियल सीरीज, जिल्द ५२,५३), मद्रास, १९२३, १९३३.

भंडारकर, डी०आर० "लिस्ट आफ इंस्क्रिप्शंस आफ नार्दर्न इंडिया''ए.इ. XIX-XXI

का परिशिष्ट

फ्लीट, जे. एफ. **इंस्क्रिप्शंस आफ दि अर्ली गुप्ता किंग्स ऐंड देयर सक्सेसर्स.** का. इ. I

कलकत्ता, १८८८.

हुल्त्श, ई. **साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस,** ३ जिल्द (आ. सा. इस. (न्यू. इं.

जिल्द ९, १० और २९) मद्रास, १८९०-१९२९.

कृष्णमचर्लु **बाम्बे कर्नाटक इंस्क्रिप्शंस** मद्रास, १९४०.

रेनीरो ग्नोली **नेपालीज इंस्क्रिप्शंस इन गुप्ता कैरेक्टर्स,** रोम, १९५६.

रंगाचार्य, वी. **इंस्क्रिप्शंस आफ दि मद्रास प्रेसिडेन्सी,** ३ जिल्द, मद्रास, १९१९.

राइसः लीविस **मद्रास ऐंड कूर्ग फ्राम इंस्क्रिप्शंस,** लन्दन, १९०९

शास्त्री, एच. कृष्ण **साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस,** २ जिल्द (आ. स. इ. न्यू. इं. सी.

जिल्द ४४, ४९), मद्रास, १९२४, २९.

सेवेल, आर० और आयंगर, कृष्णास्वामी एस. **हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शंस आफ स**

इंडिया, मद्रास, १९३२.

डी. सी. सलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग ऑन इंडियन हिस्टरी ऐंड सिविलाइजेशन जिल्द I, कलकत्ता, १९४२.

(एपिग्राफिया इंडिका भी. जिल्द I-XXVIII आदि

(२) सिक्के

कैटलग आफ दि क्वायंस आफ एंसिएँट इंडिया (ब्रिटिश म्युजियम में) लन्दन, १८३६. कैटलग आफ दि क्वायंस आफ दि गुप्ता डाइनेस्टीज एँड आफ शशांक किंग आफ गौड़ (ब्रिटिश म्युजियम में), लन्दन, १९१४.

आर. डी. प्राचीन मुद्रा (बंगला), कलकत्ता, १३२२ बं सं.

सी. जे. केटलग आफ क्वायंस इन दि गुप्ताज, मौखरीज एटसेट्रा इन दि प्रांविन्सियल म्युजियम, लखनऊ, इलाहाबाद, १७२०.

क्वायंस आफ इंडिया, कलकत्ता, १९२२.

ए. क्वायंस आफ ऐंसिएंट एंडिया फ्राम दि अर्लिएस्ट टाइम्स डाउन टु दि सेवेन्थ सेन्चुरी ए. डी., लन्दन, १८९१

क्वायंस आफ दि इंडो-सीथियंस, नुमिस्मैटिक क्रॉनिक्कल से पुनर्मुद्रित, लन्दन, १८८८-९२.

क्वायंस आफ मेडीवल इंडिया फ्राम दि सेवेन्थ सेन्चुरी डाउन टु दि मुहम्मडन कन्क्वेस्ट लन्दन, १८९४.

लेटर इंडो-सीथियंस, नुमिस्मैटिक क्रानिकल से पुनर्मुद्रित, लन्दन, १८९३-९५.

ई. जे. क्वायंस आफ सदर्न इंडिया, लन्दन, १८९६.

ई. जे. इंडियन क्वायंस, स्ट्रास्सवर्ग, १८९७.

ई. जे. कैटेलग आफ दि क्वायंस आफ दि आन्ध्र डाइनेस्टी, दि बेस्टर्न, क्षत्रपास् दि त्रैकूटक डाइनेस्टी ऐंड दि बोधि डाइनेस्टी (कैट. आफ इंडियन क्वायंस इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, जिल्द IV) लन्दन, १९०८.

सी. आर. बिब्लियोग्राफी आफ इंडियन क्वायंस, बम्बई, १९५०.

ह्वी॰ ए. कैटलग आफ दि क्वायंस इन दि इंडियन म्युजियम, कलकत्ता, इन्क्लुडिग दि कैबिनेट आफ दि एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, जिल्द, II, आक्सफोर्ड, १९०६.

III आधुनिक कृतियाँ

(1) इस काल के इतिहास-ग्रन्थ

एस. कृष्णस्वामी ऐंसिएंट इंडिया, २ जिल्द, पूना, १९४१.

आर॰ जी॰ हिस्टरी आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया, कलकत्ता, १९३४.

भंडारकर, आर० जी० ए पीप इन टु दि अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया, वम्बई १९

चट्टोपाध्याय, सुधाकर, अर्ली हिस्टरी आफ नार्थ इंडिया, कलकत्ता, १९५८.

जायसवाल, के० पी० हिस्टरी आफ इंडिया १५० ए. डी. टु ३५० ए. डी. लाहौ
१९३३, इंपीरियल हिस्टरी आफ इंडिया, लाहौर, १९३४.

जुव्हो दुब्रिउ, जी०, ऐंसिएंट हिस्टरी आफ दि डेक्कन (वी०एस० स्वामिनाथन दीक्षि
द्वारा फ्रेंच से अनूदित), पांडिचेरी, १९२०.

मजुमदार, आर०सी० और अल्टेकर, ए. एस. (सम्पा.) ए न्यु हिस्टरी आफ
इंडियन पीपुल, जिल्द VI : दि वाकाटक-गुप्त एज, लाहौर, १९४६.

मेसों उर्से, पी. ऐंसिएंट इंडिया ऐंड इंडियन सिविलाइजेशन, लन्दन, १९३४.

बिरजी कृष्णकुमारी, जे० ऐंसिएंट हिस्टरी आफ सौराष्ट्र, बम्बई, १९५२.

राय, एच. सी. डाइनेस्टिक हिस्टरी आफ नार्दर्न इंडिया, २ जिल्द, कलकत्ता, १९
१९३६.

रायचौधरी, एच. सी. पोलिटिकल हिस्टरी आफ ऐंसिएंट इंडिया, चतुर्थ संस्क
कलकत्ता, १९३८; पंचम सं० कलकत्ता, १९५०.

सिनहा, बी०पी० दि डिक्लाइन आफ दि किंग्डम आफ मगध, पटना, १९५४.

स्मिथ, व्ही. ए. अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया, चतुर्थ सं, आक्सफोर्ड, १९२४.

वैद्य, सी० वी० हिस्टरी आफ मेडीवल हिन्दू इंडिया. ३ जिल्द, पूना, १९२१-१९२

२. साहित्येतिहास

दास गुप्त, एस० एन. (सम्पा.) ए हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, क्लासिकल पीरि
जिल्द 1, कलकत्ता, १९४७.

डे, एस. के. संस्कृत पोएटिक्स, २ जिल्द, लन्दन, १९२३, १९२५.

फ्रेजर, आर. डब्ल्यू. लिटरेरी हिस्टरी आफ इंडिया, लन्दन, १८९८.

गाइगेर पालि लितरातुर उँद स्प्राखे, स्त्रासबुर्ग, १९१६.
बी०के० घोष कृत अंग० अनु० (पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज), कलक
१९४३.

गोवेन, एच. एच. हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर, न्यूयार्क, १९३१.

काणे, पी०बी० हिस्टरी आफ अलंकार लिटरेचर, द्वितीय सं०, बम्बई, १९२३; हिस्ट
आफ संस्कृत पोएटिक्स, तृतीय संस्करण, बम्बई, १९५१.

कीथ, ए.बी. सस्कृत ड्रामा, ऑक्सफोर्ड, १९२४.
हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, १९२८.

लॉ, बी०सी० हिस्टरी आफ पालि लिटरेचर, २ जिल्द, लन्दन, १९३३.

कृष्णमचारियर एम. हिस्टरी आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, १९३७.

मैकडोनल, ए.ए. हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, १९००.

र्नित्स, एम. हिस्टरी ऑफ इंडियन लिटरेचर (श्रीमती एस० केतकर कृत अंग० अनु०) जिल्द १ और २, कलकत्ता, १९२७, १९३३.

गेशिख्ते देर इंडिशेन लितरातुर बैंड III, लाइपत्सिग, १९२०.

(३) धर्म और दर्शन

रकर, आर. जी. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड अदर माइनर रेलिजस सिस्टम्स, स्ट्रासबुर्ग १९१३; इंडियन एडीशन, पूना, १९३८.

गुप्ता, एस. एन. हिस्टरी आफ इंडियन फिलासोफी ४ जिल्द, कैम्ब्रिज, १९३२-४९.

र, जे. इन. ऐन आउटलाइन आफ दि रेलीजस लिटरेचर आफ इंडिया, आक्सफोर्ड १९२०.

, पी. वी. हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, ३ जिल्द, पूना, १९३०-४६.

कृष्णन, एस. इंडियन फिलासोफी, २ जिल्द, लन्दन, १९२३, १९२७.

भूषण, एस०सी हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक, कलकत्ता, १९२१.

ग्रन्थ-सूची

(टिप्पणी : विभिन्न परिच्छेदों से सम्बद्ध ग्रन्थ-सूचियों में पूर्वोल्लिखित मौलिक स्रोत-सामग्री और आधुनिक कृतियों का समावेश, अपवादों को छोड़कर, नहीं किया गया है।)

परिच्छेद I-VI

साम्राज्यी गुप्त

I. मूल स्रोत-सामग्री

(क) पाठ और अनुवाद

न्जुश्रीमूलकल्प
टी. गणपति शास्त्री द्वारा सम्पा०, जिल्द III, त्रि. सं. सी., त्रिवेन्द्रम, १९२५.

न्द्रगुप्त विशाखदत्त कृत.

गराजवृत्तान्त, देखें, हि. क्ला. सं. लि., भूमिका, पृ० liv-lvi.

महोत्सव विज्जक कृत
एम. आर. कवि और एस. के. रामनाथ शास्त्री, मद्रास १९२९; शकुन्तला राव शास्त्री द्वारा भूमिका, अंग. अनु. आदि के साथ सम्पा., बम्बई, १९५२.

पुराण टेक्स्ट ऑफ दि डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज
एफ. ई. पार्जिटर कृत ऑक्सफोर्ड, १९१३.

चीनी विवरणों के लिए देखें सामान्य ग्रन्थ-सूची १ (क) २.

(ख) अभिलेख

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में फ्लीट और सरकार देखें)

गुप्त अभिलेखों की पूर्ण सूची " ए न्यु हिस्टरी आफ दि इंडियन पीपुल, जिल्द vi के पृ. ४८०-२ पर दी हुई है। यहाँ नीचे गुप्त अभिलेखों और समकालीन शासकों के अभिलेखों की अद्यतन सूची दी जा रही है।

गुप्त-अभिलेखों की सूची

संकेत चिह्न: गु=गुफा. (Cave)
जैं. —जैन प्रतिमा (Jain Image)
ता. प.—ताम्र पत्र (Copper Plate)
बौ. —बौद्ध प्रतिमा (Buddhist Image)
ब्रा. —ब्राह्मण प्रतिमा (Brahmanical Image)
शि. —शिला (Stone)
स्त —स्तम्भ (Pillar)

(यदि कुछ दूसरा न लिखा गया हो तो दिये गये वर्ष गुप्तकाल के समझे जाएं। जिस पदार्थ पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं उसका उल्लेख प्राप्ति स्थान के बाद किया गया है।)

समुद्रगुप्त

क्र०सं०	वर्ष	प्राप्ति स्थान	सन्दर्भ
१	५	नालन्दा ता. प.	ए. इ. xxv, ५०; xxvi, १३५.
२	९	गया—ता. प.	का. इ. इ. iii, २५४; इ. क. x. ७७; xi २२५.
३	—	इलाहाबाद—स्त.	का. इ. इ. iii, १; इ. हि. क्वा. i, २५०; ज. ओ. रि. सो. xviii, २०७; ज. रा. ए. सो. १९३५ पृ. ६९७; ए. इ. xxii, ३५.
४	—	एरन—शि.	का. इ. इ. iii, १८; ज. इ. हि. xiv, २७; xix, २७.

चन्द्रगुप्त II

६१	मथुरा—स्त.	ए. इ. xxi, १; इ. हि. क्वा. xviii, २७१; ए. भ. ओ. रि. इ. xviii, १६६.
८२	उदयगिरि—गु.	का. इ. इ. iii. २१.
८८	गढ्वा—शि.	का. इ. इ. iii, ३६.
९३	साँची—शि०	का. इ. इ. iii, २९.
—	मथुरा—शि.	का. इ. इ. iii, २५.
—	उदयगिरि—गु.	का. इ. इ. iii, ३४.
—	बसाढ़ की मिट्टी की मुहरें (गोविन्द गुप्त)	ASR, १९०३-४, पृ० १०७.

कुमार गुप्त I

९६	बिलसाड—स्त	का. इ. इ. iii, ४२.
९८	गढ्वा—शि.	का. इ. इ. iii, ४०; पृ० २६४, २६७, भी देखें।
१०६	उदयगिरि—गु.	का. इ. इ. iii, २५८.
११३	धनेदह—ता. प.	ए. इ. xvii, ३४७.
११३	मथुरा—जे.	ए. इ. ii, २१०.
११६	तुमैन—शि.	ए. इ. xvvi, ११५; ज. ओ. रि. xvii, २०५.
११७	करमदंडा—ब्रा.	इ. इ. u, ७१.
१२०	कुलैकुरी—ता. पा.	इ. इ. क्वा. xix, १२.
१२४	दामोदरपुर—ता.पा.	ए. इ. xv, १२९.
१२८	,, ,,	ए. इ. xv, १३२; xvij, १९३.
१२८	बेग्राम—ता. पा.	ए. इ. xxv, ७८.
१२९	मनकुआर—बौ.	का. इ. इ. iii, ४५.
१२९	गढ्वा—शि.	का. इ. इ. iii, ३९.
—	बसाढ़ मृत्ति का मुद्राएँ (घटोत्कच गुप्त)	(आ. स. रि.) ASY १९०३-४ पृ० १०७.

स्कन्दगुप्त

२६	१३६—८	जनागढ़शि.	का. इ. इ. iii, ५६.
२७	१४१	कहौम—स्त.	का. इ. इ. iii, ६५, इ. हि. क्वा. xxviii, २९८.
२८	१४१	रीवाँ—स्त.	प्रो० ओ०का० xii, जिल्द iii, पृ० ५८७.
२९	१४६	इन्दौर—ता. प.	का. इ. इ. iii, ६८.
३०	—	भिटारी—स्त.	का. इ. इ. iii, ५२.

गोविन्द गुप्त और प्रभाकर

३१	वि० सं० ५२४ (४६७ ई०)	मन्दसौर फोर्ट वाल	ए. ए. xxvii, १२.

नरसिंह गुप्त

३२		नालन्दा मृत्ति का मुद्रा	मे. आ. स. इ., सं० ६६, पृ० ६

कुमारगुप्त II (या III)

३३	१५४	सारनाथ—बो.	आ. सा. रि. १९१४-५, पृ० १२४.
३४	—	भिटारी सील	ज. ए. सो. बं., lviii, ८९.
३५	—	नालन्दा सील	मे. आ. सा. इ. सं०६६ पृ० ६६-६ इ. ए. xix, २२५.
३६	१५७	सारनाथ—बो. (अनुलिपि)	आ. स. रि. १९१४-५, पृ० १२५
३७	१५९	पहाड़पुर—ता. पा.	ए. इ xx, ६१.
३८	१५९	बनारस (राजघाट)	ज. रा. ए. सो. ब. ले, xv, ५.
३९	१६३	दामोदरपुर—ता.प.	ए. इ. xv, १३४.
४०	१६५	एरन—स्त.	का. इ. इ. iii, ८८.
४१	—	दामोदरपुर—ता.प.	ए. इ., xv, १३८; इ. क. v, ४३२.
४२	—	नालन्दा मुद्रा	मे. आ. स. इ., सं० ६६, पृ० ६४. इ. हि. क्वा, xix, ११९, २७२.

अन्य गुप्त राजे

	राजा का नाम		
—	(पुरुगुप्त का उत्तराधिकारी)	विहार—स्त.	का. इ. इ. iii, ४७; ज. वि. ओ. सो., xix, ३७७; इ. क. x, १७०.
१६९	—	नन्दनपुर—ता.प.	ए. इ. xxiii, ५२.
—	विष्णुगुप्त	नालन्दा मुद्रा	ए. इ. xxvi, २३५. इ. हि. क्वा xix, ११९.
१८८	वैन्यगुप्त	गुनैघर—ता.प.	इ. हि. क्वा., vi, ४०.
—	वैन्यगुप्त	नालन्दा मुद्रा	मे. आ. स. इ. सं० ६६, पृ० ६७; इ. हि. क्वा· xix, २७५.
१९१	भानुगुप्त	एरन—स्त.	का इ. इ. iii, ९१; ए. इ. xxii, १६; इ. हि. क्वा. xix, १४३.
२२४	भानुगुप्त	दामोदरपुर—ता.प.	ए. इ. xv, १४२; १९३, पा. टि. १.

समकालीन शासकों और राजवंशों के अभिलेख

४६१ (वि.सं०)	नर-वर्मन्	मन्दसौर—शि.	ए. इ. xii, ३१५; xiv, ३७१.
४७४ (वि.सं०)	नर-वर्मन्	विहार कोत्रा —शि.	ए. इ. xxvi, १३०; ज. वि. ओ. रि. सो. vxix, १२७.
४८० (वि०स०)	विश्व-वर्मन्	गंगधर—शि०	का. इ. इ. iii, ७२.
४९३ और ५२८ (वि.सं.)	बन्धु-वर्मन्	मंदसौर—शि.	का. इ. इ. iii, ७९; . क. iii, ३७९; iv, ११०, २६२, ३६१, vi, ११०, ३६९, एस. के. आयंगर कमे. वाल्यूम, पृ. ६९.
१५६	हस्तिन्	खोह—ता.पा.	का. इ. इ. iii, ९३.
१५८	लक्ष्मण	सिंगरौली ता.प.	आ. स. इ. १९३६-७ पृ० ८८
१५८	लक्ष्मण	पालि—ता. प.	ए. इ. ii, ३६४.

५७	१६३	हस्तिन्	खोह—ता. प.	का. इ. इ. iii, १००.
५८	१६७	सुबन्धु	वरवनी—ता.प.	ए. इ. xix, २६२; इ. हि. क्वा. xxi, ८१.
५९	१९१	हस्तिन्	मझगवाँ—ता.प.	का. इ. इ. iii, १०६.
६०	१९८	हस्तिन्	नवग्राम—ता.प.	ए. इ. xiv, १२४.
६१	१९८	संक्षोभ	बेतुल—ता. पा.	इ. इ. iii, २८४.
६२	२०९	संक्षोभ	खोह—ता. प.	का. इ. इ. iii, ११२.
६३	—	हस्तिन् और सर्वनाथ	भूमर—ता. प.	का. इ. इ. iii, ११०, इ. हि. क्वा. xxi, १३७.
६४	१७४	जयनाथ	कारीतलाय—ता.प.	का. इ. इ. iii, ११७.
६५	१७७	जयनाथ	खोह—ता.प.	का. इ. इ. iii, १२१.
६६	१९१	सर्वनाथ	सोहावल—ता.प.	ए. ए. xix, १२९.
६७	१९३	,,	खोह—ता.प.	का. इ. इ. iii, १२५.
६८	१९७	,,	,,	का. इ. इ. iii, १३२.
६९	२१४	,,	,,	का. इ. इ. iii, १३५.
७०	—	,,	,,	का. इ. इ. iii, १२९.
७१	१५०	पृथ्वीविग्रह	सुमंडल—ता.प.	इ. हि. क्वा. xxvi, ७१; ओडिसा हिस्ट. रिस. जर्नल, १. ६६.

(६४-६९ सं० के लिए प्रयुक्त सन् के लिए देखें ए. इ. xxiii, १७१; भं० लि. पृ० १५९ पा. टि.)

७२	—	चन्द्र	महरौली—लौह	का. इ. इ. iii १३९.
७३	१ (शासकीय)	तोरमाण	एरन—शि.	का. इ. इ. iii, १५९.
७४	१५ (शासकीय)	मिहिरकुल	ग्वालियर—शि.	का. इ. इ. iii, १६२.
७५	—	यशोधर्मन्	मंदसौर—स्त.	का. इ. इ. iii, १४२. १५०; इ. ए. vviii,
७६	५८९ (वि०सं०)	यशोधर्मन्	मंदसौर—शि.	२१९; xx, १८८

देश के दो अभिलेखों के लिए, जिन्हें सन्दिग्ध रूप में गुप्त काल का माना जाता है, ए. इ. xv, २८६, २९१; इ. हि. क्वा. xxi, ८२; xxii, ६४; xxiii. १५६; ७१; ए. भ. ओ. रि. इ. xx. ५५६; प्रो० इ. हि. का., vii. ६२.

(ग) सिक्के

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में एलन, ब्रउन और रैप्सन देखें)

कर, ए. एस. "अश्वमेध क्वायंस आफ समुद्रगुप्त" **भारत इतिहास संशोधक मंडल क्वार्टर्ली, विशेष अंक**, १९४८ पृ० १-७. "एट्रिब्यूशन आफ चन्द्रगुप्त कुमारदेवी टाइप" **नुमै, सप्लि.** vlii, पृ० १०५ प. पृ० **कैटेलग आफ दि गुप्ता गोल्ड क्वायंस इन दि बयाना होर्ड**, बम्बई १९५४.

हर ई. सी. "नोट्स आॅन गुप्ता क्वायंस" इ. इ. पृ० ५७-८.

ली, एन. के. 'नोट्स ऑन गुप्ता क्वायंस' 'ज. ए. सो. ब. NS. xxxviii पृ० ५४-६४

पी. एल. "दि क्वायंस ऑफ रामगुप्त", ज. नु. सो. इ., xii, पृ० १०३-१११.

र्जी, आर. के. "सम कंसिडरेशंस ऑन गुप्ता क्वायनेज" **बी. सी. लॉ वॉल्यूम I**, पृ० १६४-९.

ण, ए. के. 'बुद्धगुप्त ऐंड हिज गोल्ड क्वायंस" ज. नु. सो. इ., xii, पृ० ११२-५.

ली, एस. के. "ए गोल्ड क्वायंन आफ बुद्धगुप्त" इ. क., l, पृ० ६९१-२.

ी हीरानन्द "दि अश्वमेध क्वायंस आफ समुद्रगुप्त" ज० ए० सो० ब०, NS, xi पृ० ४४७-४७८.

वी० पी० "बियरिंग आफ नुमिस्मैटिक्स आॅन दि हिस्टरी आफ दि लेटर इम्पीरियल गुप्ताज" ज. बि. रि. सो., xxxiv, ३-४, पृ० १८-२६.

व्ही. ए. "दि क्वायनेज आफ दि अर्ली और इम्पीरियल गुप्ता डाइनेस्टी", ज. रा. ए. सो., १८८९, पृ० १-१४१.
"ऑब्जर्वेशंस ऑन गुप्ता क्वायनेज" ज. रा. ए. सो., १८९३, पृ०७७-१४८.

II. आधुनिक कृतियाँ

(क) पुस्तकें

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में बसाक, जायसवाल, रायचौधरी और स्मिथ देखें।)

र, एस. कृष्णस्वामी **स्टडीज इन गुप्ता हिस्टरी**, मद्रास, १९२८.

आर. डी. **दि एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज**, बनारस, १९३३.

र, आर. एन. **ए हिस्टरी आफ दि गुप्ताज**, पूना, १९४१.

मेहता, जी. पी. **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** (हिन्दी में), इलाहाबाद, १९३२

मुखर्जी, आर. के. **दि गुप्ता एम्पायर,** बम्बई १९४८.

सेलेटोर आर. एन. **लाइफ इन दि गुप्ता एज,** बम्बई, १९४३.

शास्त्री, रघुनन्दन **गुप्तवंश का इतिहास** (हिन्दी में) लाहौर, १९३२.

शेम्बावनेकर के० एम० **दि ग्लैमर एबाउट दि गुप्ताज,** बम्बई, १९५३.

उपाध्याय, एस. बी. **गुप्त साम्राज्य का इतिहास** (हिन्दी में), २ जिल्द, इलाहाबा
१९३९.

(ख) विशेष लेख

आयंगर, एस. कृष्णस्वामी, "दि हूण प्राब्लेम इन इंडियन हिस्टरी" इ. ए. xlv
पृ० ६५-७६.
"विक्रमादित्य" आ. मे. वा. I x, पृ० १४३-६३.

अल्टेकर, ए. एस. "ए न्यू गुप्ता किंग" ज. बि. ओ. रि. सो., xiv, पृ० २२३-५३.
"फर्दर डिस्कशन एबाउट रामगुप्त" ज. वि. रि.सो., xv, पृ० १४१-१८१.

बनर्जी, आर. डी. "क्रोनोलॉजी आफ दि लेट इम्पीरियल गुप्ताज", ए. भ. ओ. रि. इ
x, पृ० ६७-८०.

भंडारकर, डी. आर. "गोविन्दगुप्त ऐंड पुरुगुप्त", इ. क., xi, पृ० २३१.
"आइडेंटिफिकेशन आफ दि प्रिंसेज ऐंड टेरिटरीज मेन्शन्ड इन दि इलाहाबा
पिलर इन्सक्रिप्शन आफ समुद्रगुप्त" इ. हि. क्वा. x पृ० २५० प. पृ.
न्यू लाइट ऑन दि अर्ली गुप्ता हिस्टरी" मालवीय कमे० वाल्यू
पृ० १८९-२११.

भट्टाचार्य बी. "न्यू लाइट आन दि हिस्टरी आफ दि इम्पीरियल गुप्ता डाइनेस्टी" ज
बि. रि. सो. xxx, १-४६.

बोस, एस. के. "ए स्टडीज इन गुप्ता पैलियोग्राफी" इ. क. vi, पृ० १८१ प. पृ
३२५ प. पृ०

छाबड़ा, बी. सीएच. "इलाहाबाद इंस्क्रिप्शन आफ समुद्रगुप्त इज नाट पोस्थम
इ. हि. क्वा., xxiv, पृ० १०४-१३.

दासगुप्ता, एन. एन. "काच प्राब्लेम" ई. हि. क्वा. xv, पृ० ३५१-३.
"आन दि सक्सेशर्स आफ कुमारगुप्त" वी० सी० लॉ वाल्यूम I, पृ
६१७-२५.

गाँगुली, डी०सी० "अर्ली होम आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज", इ. हि. क्वा. xiv, पृ
५३२ प. पृ० "दि ओरिजिनल होम आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज" इ. हि
क्वा. xviii, पृ० ३८६ प. पृ०.

कौमुदी II, पृ० १०८३-८

"आइडेन्टिफिकेशन आफ बुधगुप्त विद पूरुगुप्त" भा० वि, VI, पृ० २३५-३६.

"कलियुगराजवृत्तान्त ऐंड दि इम्पीरियल गुप्ताज" ज.वि.रि.सो., XXXI, पृ० २८-३३.

वाल, के. पी. "कल्कि", इ. ए. XLV पृ० १४५ प. पृ०, "रामगुप्त" ज. वि. ओ. रि. सो. XVIII, पृ० ३५-३६.

नारायण, एल. "ए नोट आन दि आइडेन्टिटी आफ पूरुगुप्त ऐंड स्कन्दगुप्त" प्रो० इ. हि. का, VI, पृ० ८६-८९.

दार. आर. सी. "बिहार स्टोन पिलर इंस्क्रिप्शन्स आफ स्कन्दगुप्त" इ. क. X पृ० १७०-७३.

"फोर्ज्ड पुराण टेक्स्ट आन दि इम्पीरियल गुप्ताज", इ. हि. क्वा XX, पृ० ३४५-५०.

"गया ऐंड नालन्दा प्लेट्स आँफ समुद्रगुप्त", इ. क., XI, पृ० २२५-३०.

"ओरिजिनल होम ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज", ज. वि. रि. सो. XXXVIII, ४१०.

"रिवाइज्ड क्रोनोलॉजी ऑफ दि लास्ट गुप्ता इम्परर्स", इ. ए. XLVII, पृ० १६१-७.

"सील आफ वेन्य गुप्त" इ. हि. क्वा. XXIV, पृ० ६७.

"सक्सेसर्स आफ कुमारगुप्त" ज. ए. सो. व., NS, XVII पृ० २४९-५५.

"दि सक्सेसर्स आफ स्कन्दगुप्त" ज. यु. पी. हि. सो. XVIII, पृ० ७० प. पृ०.

गी, वी. वी. "वेयर दि महाराजाज् आफ खानदेश दि फ्यूडेटरीज ऑफ दि गुप्ताज" इ. हि. क्वा., XXIII, पृ० १५६ प. पृ०

जे. जे. "अर्ली हिस्टरी ऑफ दि हूणाज" ज. व. ब्रा. ए. सो., XXIV, पृ० ५८९-९५.

लाल "डेट्स आफ स्कन्दगुप्त ऐंड हिज सक्सेसर्स" हिन्दुस्तान रिव्यू, जन. १९१८.

के. वी. "न्यु लाइट आन गुप्ता एरा ऐंड मिहिरकुल" इ. ए., XLVI पृ० २८७ प. पृ०; XLVII पृ० १७ प. पृ०

चौधरी, एच. सी. "दि सक्सेसर्स आफ कुमारगुप्त-I" इ. हि. क्वा. VIII, पृ० ३५२.

टोर, वी. ए. समुद्रगुप्ताज कन्क्वेस्ट आफ कोट्टूर" ए. भ. ओ. रि. इ. XXVI १२०-१४१.

गुप्त, पी. सी. "गुप्ता एरा" ज. रा. ए. सो. व. (ले.) VIII, पृ० ४१ प. पृ०

डी. "दि शक राइव्हल आफ रामगुप्त" इ. क. पृ० ३२८-३०.

सिनहा, बी. पी. वियरिंग आफ नुमिस्मैटिक्स आन दि हिस्टरी आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज" ज. बि. रि. सो. XXXIV, खंड III-IV.

"कुमारगुप्त. III " ज. वि. रि. सो. XXXVI, खंड III-IV.

सरकार, डी. सी. "गुप्ता रूल इन ओडिसा" इ. हि. क्वा. XXVI, पृ० ७५ प. पृ०

परिच्छेद VII

गुप्त साम्राज्य के समय उत्तर भारत में गौण राज्य

१. मौलिक स्रोत सामग्री

(१) साहित्यिक

(सामान्य ग्रन्थसूची में पार्जिटर देखें)

(२) अभिलेख

हेर्त्सफेल्ड, ई. **पैकुली : मोनुमेंट ऐंड इंस्क्रिप्शन आफ दि अर्ली हिस्टरी आफ दि सस्सानियन इम्पायर,** २ जिल्द, बर्लिन १९२४.

शास्त्री, हीरानन्द "नालन्दा स्टोन इंस्क्रिप्शन आफ यशोवर्मदेव" ए. इ. XX, पृ० ३७-४६.

(३) सिक्के

(सामान्य ग्रन्थसूची में कन्निंघम, रैप्सन और स्मिथ देखें।)

आचार्य, जी. वी. होर्ड्स आफ दि क्वायंस आफ दि वेस्टर्न क्षत्रपाज" नु. सप्ली. (ज. रा. ए. सो. ब.) XLVII पृ० ९५ प. पृ०.

बनर्जी, आर. डी. "नोट्स ऑन इन्डो-सीथियन क्वायनेज" ज. ए. सो. व. N.S.IV, पृ० ८१-९६.

हेर्त्सफेल्ड, ई. **कुशानो-सस्सानियन क्वायन्स,** मे. आ. स. इ., नं. ३८, कलकत्ता, १९३०.

मार्टिन, एम. एफ. सी. "क्वायन्स आफ दि किदार कुषाणाज" नुमिस्मैटिक सप्ली. (ज. रा. ए. सो. व.) XLVII, पृ० २३-५०.

परूक्क, एफ. डी. जे. **सस्सानियन क्वायन्स,** बम्बई, १९२४.

ह्वाइटहेड, आर. बी. **कैटलाग आफ क्वायन्स इन दि पंजाब म्युजियम,** लाहौर, जिल्द १, ऑक्सफोर्ड, १९१४.

२ आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थसूची में जायसवाल, मजुमदार और अल्टेकर देखें)

केनेडी, जे. "दि लेटर कुशानाज" ज. रा. ए. सो., १९१३, पृ० १०५४ प. पृ०

मदार, आर. सी. "कुषान क्रोनोलॉजी", ज. डि. ले., १९२०

कार, डी. सी. "रुद्रदेव ऐंड नागदत्त आफ दि इलाहाबाद पिलर इंस्क्रिप्शन". फ्रे. इ. हि. का. VII पृ० ७८-८१.

व्य, व्ही. ए. "हिस्टरी आफ दि सिटी आफ कन्नौज ऐंड आफ किंग यशोवर्मन्" ज. रा. ए. सो., १९०८ पृ० ७६५-९३.

इनवेज़न आफ दि पंजाब बाइ अर्दशिर पपकन परशियन किंग, ज. रा.ए. सो. १९२०, पृ० २२१ प. पृ०

पाठी, आर. एस. हिस्टरी आफ कन्नौज, बनारस, १९३७.

परिच्छेद VIII और X

उत्तरी भारत

(१) वलभी

मौलिक स्रोत : अभिलेख

डारकर की सूची, सं० १७, १२८९-१३७५, ए. इ. और इ. ए. में प्रदत्त अभिलेख

भी, खरग्रह का विर्दी ताम्रपत्रदान, प्रो. ओ. का., VII, पृ० ६५९ प. पृ०

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में राय, स्मिथ और वैद्य के इतिहास देखें)

बे गजेटियर जिल्द १, खंड १ परि. VIII.

राय "अर्ली हिस्टरी आफ दि मैत्रकाज आफ वलभी" इ. क., V पृ० ४०७-१४.

, एन. आर. "मैत्रकाज आफ वलभी", इ. हि. क्वा., IV, पृ० ४५३-७४.

कलिया, एच. डी. **आर्क्योलॉजी ऑफ गुजरात** (पृ० २८-३२) बम्बई, १९४१.

वां, के. जे. **ऐन्सिएन्ट हिस्टरी आफ सौराष्ट्र,** बम्बई, १९५२.

(२) राजपुताना और गुजरात

मौलिक स्रोत : अभिलेख

(१) गुहिलोतों के अभिलेख

अटपुर इंस्क्रि. ऑफ शक्तिकुमार. ज. प्रो. ए. सो. बं., VIII, पृ० ६३ प. पृ०

चस्तु इंस्क्रि. ऑफ बालादित्य ए. इ., XII, पृ० १० प. पृ०

धोद इंस्क्रि. ऑफ धवलप्पदेव ऐंड धनिक, गु. सं. ४०७

(जिसे भूल से एच. २०७ पढ़ा गया था) ए. इ. XX, पृ० १२२ प. पृ०

नागर इंस्क्रि. ऑफ धनिक, वि. सं. ७४१ **भारतकौमुदी,** पृ० २६७ प. पृ०

नग्दा इंस्क्रि. ऑफ अपराजित, वि. सं. ७१८, ए. इ. IV, पृ० ३१ प. पृ०

समोली इंस्क्रि. ऑफ शीलादित्य I, वि. सं. ७०३, ए. इ. XX, पृ० ९७ प. पृ०

(२) **गुर्जरों के अभिलेख**

फाइव घटियाला इस्क्रि. ऑफ कक्कुक, ज. रा. ए. सो., १८९५, पृ० ५१३ प. पृ०

ए. इ. IX, पृ० २७७ प. पृ० (इनमें से तीन की तिथियां वि. सं. ९१८ है)

ग्वालियर इंस्क्रि. ऑफ भोज, ए. इ. XVIII, पृ० ११ प. पृ०

जोधपुर इंस्क्रि. आफ बाउक, वि. सं. ८९४. ए. इ. XVIII पृ० ८७ प. पृ०

नवसारी, प्लेट्स आफ दि गुजरात चालुक्य पुलकेशिराज, क. ४९० (K 490) (भंडारकर-सूची, सं. १२२०)

भड़ोच के गुर्जरों के अभिलेखों के लिए देखें भंडारकर की सूची, सं. १२०९-१३, १२१८-१९ और देखें ए. इ. XXIII, पृ० १४७ प. पृ०; XXV पृ० २९२ प. पृ०

पाठ और अनुवाद

(नीचे परि० XV की ग्रन्थ-सूची में, राजशेखर)

विक्रमार्जुनविजय (या **पम्प भारत**) बी. एल. राइस द्वारा सम्पा. बंगलोर, १८९८.

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य-ग्रन्थ सूची में राय, स्मिथ, वैद्य के इतिहास ग्रन्थ देखें)

बनर्जी, ए. सी. **राजपूत स्टडीज** (परि. १) कलकत्ता, १९४४

बम्बे गजेटियर जिल्द १, खंड १

भंडारकर, डी. आर. "गुहिलोत्स", ज. प्रो. ए. सो. ब., १९०९, पृ० १६७ प. पृ०
"गुर्जराज" ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो., XXI, पृ० ४०५ प. पृ०

हॉर्नली, ए. एफ. आर. "सम प्रोब्लेम्स ऑफ ऐन्सिएन्ट इंडियन हिस्टरी", ज. रा. ए. सो., १९०४, पृ० ६३९ प. पृ०; १९०५, पृ० १ प. पृ०

गांगुली, डी. सी. "दि गुर्जराज इन दि राष्ट्रकूट इंस्क्रिप्शंस" प्रो. इ. हि. का. III, पृ० ५१३-१५.
"हिस्टरी आफ दि गुर्जर कंट्री" इ. हि. क्वा. X, पृ० ६१३-६२३.
"ओरिजिन ऑफ दि प्रतीहार डाइनेस्टी" इ. हि. क्वा. X पृ० ३३७-४३,
"(ए रिप्लाइ)", इ. हि. क्वा. X, पृ० ७६२, XI पृ० १६७-६८.
"दि प्रतीहाराज ऐंड दि गुर्जराज" ज. बि. ओ. रि. सो. XXIV, पृ० २२१-३०.

घोष, कुमारी भ्रमर "ओरिजिन ऑफ दि प्रतीहाराज", इ. क. १, पृ० ५१०-१२.

दर, आर. आर. "दि गुहिला किंग्स ऑफ मेवाड़", इ. ए. १९२७, पृ० १६६ प. पृ०.

"हू वेयर दि इम्पीरियल प्रतीहाराज ?" इ. ए., LVII, पृ० १८१-८४.

मदार, आर. सी. "दि गुर्जर प्रतीहाराज", ज. डी. ले., X, पृ० १-७६.

"सम प्रॉब्लेम्स कन्सर्निंग गुर्जर प्रतीहाराज", **मुंशी डायमंड जुबिली वाल्यूम,** खंड II (भा. वि., X) पृ० १-१८.

(इन दोनों लेखों में इस विषय से सम्वद्ध पूर्ववर्ती साहित्य का पूरा निर्देश दिया हुआ है।)

द, डी. आर. "ओरिजिन ऑफ दि प्रतीहाराज" इ. हि. क्वा. X, पृ० ५८४.

शी, के. एम. **"दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश, खंड III.**

दि इम्पीरियल गुर्जराज, वम्वई, १९४४.

झा, पंडित जी. एच. **हिस्टरी ऑफ राजपुताना** (हिन्दी में), अजमेर, १९३६ प. पृ०

चौधरी, जी. सी. "गुहिलोत ओरिजिन्स" **डी० आर. भंडारकर वाल्यूम,** पृ० ३११-१६.

"ए नोट ऑन दि अर्ली होम आफ दि गुहिलोत्स" इ. क. III, पृ० २१६-२२.

"ए नोट ऑन दि राइज ऑफ दि गुहिलोत्स इन चित्तौर ऐंड इट्स नेवरहुड", प्रो. इ. हि. का., III पृ० ८१३-७.

र्मा, दशरथ "डॉ० गांगुली ऑन दि गुर्जराज ऐंड गुर्जरत्रा" इ. क., IV, पृ० ११३-१५.

"दि इम्पीरियल प्रतीहाराज—ए रिवाइज्ड स्टडी" ज. इ. हि. XXII, पृ० ९३-१०५.

"ओरिजन ऑफ दि प्रतीहार डाइनेस्टी" इ. हि. क्वा. X, पृ० ५८२-८४.

थ, व्ही. ए. "दि गुर्जराज आफ राजपुताना ऐंड कन्नौज" ज. रा. ए. सो., १९०९, पृ० ५३ प. पृ०; २४७ प. पृ०

ड, जेम्स **एनॉल्स ऐंड ऐन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान,** विलियम क्रूक द्वारा सम्पा० आक्सफोर्ड, १९२०.

(३) मौखरी

मौलिक स्रोत

साहित्यिक

(बाण का हर्षचरित सामान्य ग्रन्थ-सूची में)

अभिलेख

फ्लीट जे. एफ. का. इ. इ. III, सं० ४७-५१.

हरह इंस्क्रि. ए. इ. XIV, पृ० ११०-२०.

नालन्दा सील ए. इ. XXIV, पृ० २२४.

सिक्के

विद्याविनोद, बी. बी. **सप्लिमेन्टरी कैटेलॉग ऑफ दि क्वायन्स इन दि म्युजियम,** कलकत्ता (नान-मुहमडन सीरीज) जिल्द १, कलकत्ता, १९२३ (पृ० ३६-३७).

बर्न, आर. "सम क्वायन्स ऑफ दि मोखरीज ऐंड आफ दि थानेसर लाइन" ज. रा. ए. सो., १९०६, पृ० ४५३ प. पृ०.

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में वसाक, स्मिथ, वैद्य देखें)

अरवमुथन, टी. जी. **दि कावेरी, दि मौखरीज ऐंड दि संगम एज,** मद्रास, १९३५,

जगन्नाथ "न्यू लाइट ऑन मौखरीज जेनेलॉजी" **वुल्नर कमे. वाल्यूम,** पृ० ११६-१८.

कटारे, एस. एल. "साइडलाइट ऑन दि हिस्टरी ऑफ दि मौखरीज", प्रो० ऑ. का., VII, पृ० ५६९-७३.

पायर्स, ई. दि मौखरीज, मद्रास, १९३४.

सैलेटोर, आर. एस. "रेमिनिसेन्सेज ऑफ मौखरी रूल इन कर्नाटक", न्यू इ.ए. II, पृ० ३५४-५८.

त्रिपाठी, आर. एस. **हिस्टरी आफ कन्नौज,** वनारस, १९३७.

(परि. II)" दि मौखरीज ऑफ कन्नौज", ज. वि. ओ. रि. सो. XX, पृ० ४९-७९.

(४) परवर्ती गुप्त

मौलिक स्रोत

अभिलेख

अफसद इंस्क्रिप्शन का. इ. इं., III, सं० ४२, पृ० २००-८.

देव बरनार्क इंस्क्रिप्शन का. इ. इ. III, सं० ४६, पृ० २१३-१८.

गुनैघर ताम्रपत्र दान इ. हि. क्वा., VI पृ० ४५-६०.

मंगराँव इंस्क्रि. ए. इ. XXVI, पृ० २४१ प. पृ०.

सिक्के

(सामान्य ग्रन्थ सूची में एलेन, ब्राउन देखें)

आधुनिक कृतियाँ

(परि. I-VI में उल्लिखित कृतियाँ देखें)

बनर्जी, आर. डी. "लेटर गुप्ताज ऑफ मगध" ज. बि. ओ. रि. सो. XIV, पृ० २५४-६५.

टोपाध्याय, के. सी. दामोदरगुप्त : डिड ही डाइ इन बैटल ?" डी. आर. भंडारकर वाल्यूम, पृ० १८०-८२.

ती, डी. सी. "मालवा इन दि सिक्स्थ ऐंड सेवेन्थ सेन्चुरीज ए. डी.", ज. बि. ओ. रि. सो., XIX, पृ० ३९९-४१२.

र्जी, आर. के. "लेटर गुप्ताज ऑफ मगध" ज. बि. ओ. रि. सो. XV, पृ० २५१-६२.

, एच. सी. "दि लाइन आफ कृष्णगुप्त", इ. क. VIII, १३३-३६.

चौधरी, एच. सी. "दि गुप्ता एम्पायर इन दि सिक्स्थ ऐंड सेवेन्थ सेन्चुरीज, ए. डी"., ज. प्रो. ए. सो. ब., १९२०, पृ० ३१३-२६.

"ए नोट ऑन दि लेटर गुप्ताज" ज. बि. ओ. रि. सो., XV, पृ० ६५१-५४.

ार, डी. सी. "दि मौखरीज ऐंड दि लेटर गुप्ताज" ज. रा. ए. सो. ब., XI, पृ० ६९-७४.

(५) बंगाल

मौलिक स्रोत

अभिलेख

पाँच दामोदर पुर ताम्रपत्र अभि. ए. इ., XV, पृ० ११३-१४५.

हटी ता. प. अभि. ज. ए. सो. ब., NS VI, पृ० ४२९ प. पृ०; ए. इ., XVIII पृ० ७४-८६.

ादित्य का दान; इ. ए. XXXIX, पृ० १९३-२१६

ादित्य का द्वितीय दान;

न्द्र का दान

ारदेव का कुर्पल (Kurpal) ता. प., वर्ष ७ (अप्रकाशित);

ारदेव की नालन्दा मुहर—में आ. स. इ. सं. ६६ प्र० ३१.

न्द्र का मल्लसरुल ता. प. ए. इ. XXIII, पृ० १५५-६१.

ापुर से प्राप्त शशांक के दो ता. प. ज. रा. ए. सो. बं. (ले.) XI, पृ० १-९.

साहित्यिक स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में गौडवहो, हर्षचरित, मंजुश्रीमूलकल्प बील देखें)

मदार, आर. सी. (सम्पा.) हिस्टरी आफ बंगाल, जिल्द १, ढाका, १९४३, परि. IV और V तथा उनमें दिये गये सन्दर्भ.

हा, वी. पी. "शशांक", ज. बि. रि. सो., XXXV, पृ० १११-१५३.

(६) नेपाल

मूल स्रोत

बेन्डल, सी. **कैटलॉग ग्राफ बुद्धिस्ट संस्कृत मैनु० ऐट कैम्ब्रिज**, कैम्ब्रिज, १८८३.
हिस्टॉरिकल इन्ट्रोडक्शन एच. पी. शास्त्रीज "**कैटलॉग ग्रॉफ पाम-ली**
ऐंड सलेक्टेड पेपर मैनु. बिलांगिग टु दि दरबार लाइब्रेरी, नेपाल
कलकत्ता, १९०५.

जर्नी इन नेपाल ऐंड नॉर्दर्न इंडिया, कैम्ब्रिज, १८८६
"ग्रान सम नेपालीज क्वायन्स इन दि लाइब्रेरी ग्रॉफ दि जर्मन ग्रोरियन्टल सोसा
इटी", त्सा ड्वा, मो. गे. XXXVI, पृ० ६५१-५२.

भगवानलाल इन्द्र जी "इंस्क्रिप्शंस फ्रॉम नेपाल" इ. ए., १८८०, पृ० १६३-१६
लेवी, एस. एन्सिएन ऐंस्क्रिप्टिसयों टु नेपाल, ज. ए., १९०७, IX, पृ० ४६-११
ल नेपाल, जिल्द III, पेरिस, १९०८.

शास्त्री, एच. पी. **कैटलांग ग्रॉफ पाम-लीफ ऐंड सेलेक्टेड पेपर मैनु० विलांगिग टु**
दरबार लाइब्रेरी, नेपाल, कलकत्ता १९०५.

वाल्श, इ. एच. "दि क्वायनेज ग्रॉफ नेपाल" ज. रा. ए. सो., १९०८, पृ० ६६९-७०५;
११२२-३६.

राइट, डी. **हिस्टरी ग्रॉफ नेपाल** (पार्वतीय से ग्रनुवाद), कैम्ब्रिज, १८७७.

ग्राधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में बसाक, राय, तारनाथ देखें)

बुलर, जी. "भगवानलाल इन्द्रजी'ज सम कंसिडरेशन्स ग्रॉन दि हिस्टरी ग्रॉफ नेपाल",
इ. ए. XIII, पृ० ४११-२८.

फ्लीट, जे. एफ. "क्रोनोलॉजी ग्रॉफ दि ग्रर्ली रूलर्स ग्रॉफ नेपाल" इ. ए. XIV,
पृ० ३४२ प. पृ०

किर्कपेट्रिक, कर्नल, **ऐन एकाउंट ऑफ दि किंगडम ऑफ नेपाल, लन्दन**, १८११

लैन्डन, पर्सीवल **नेपाल**, २ जिल्द, लन्दन, १९२८

लेवी. एस. "ल मिस्यों द वांग ह्वेन-त्से दाँ लेंद" ज. ए., १९००, XV.
"नो स्यु ल क्रोनोलाजी टु नेपाल" ज. ए. १८९४, IV, पृ० ५५-७२.
ल नेपाल, जिल्द I, II

मजुमदार, ग्रार. सी. "क्रोनोलॉजी ग्रॉफ दि ग्रर्ली किंग्स ग्रॉफ नेपाल" बी. सी. लॉ
वाल्यूम १, पृ० ६२६-४१.

(७) कामरूप

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में बील, हर्षचरित वाट्टर्स देखें)

भट्टाचार्य, पद्मनाथ **कामरूपशासनावली** (बंगला में) रंगपुर, १९३१.

रो न्यॉली **नेपालीज इंस्क्रिप्शन्स इन गुप्ता कैरेक्टर्स,** रोम, १९५६.

ताम्रपत्र अभि. ज. आ. रि. सो. XII, १६.

न्दा सील्स मे. आ. स. इ., सं. ६६; ज. बि. ओ. रि. सो., V, पृ० ३०२-४, VI, पृ० १५१-५२.

पुर ता. प. अभि. ए. इ., XII, पृ० ६५-६९, XIX, पृ० ११५ प. पृ०

आधुनिक कृतियाँ

, बी० एम० "कामन एन्सेस्ट्री ऑफ दि प्रि-आहोम रूलर्स एट्स्ट्रा", इ. हि. क्वा. XXIII, पृ० २००-२२०.

, के. एल. **हिस्टरी ऑफ कामरूप,** जिल्द १, शिलांग, १९३३.

नाली, एन. के. "न्यू लाइट ऑन दि हिस्टरी आफ असम", इ. हि. क्वा. XXI, पृ० १९-२८, १४३ प. पृ० XXII, पृ० १ प. पृ०, ११२ प. पृ० २४५ प. पृ०.

, के. "न्यू लाइट ऑन दि अर्ली हिस्टरी आफ असम" प्रो० इ. हि. का. XII, पृ० १५४ प. पृ०

, इ. ए. **हिस्टरी ऑफ असम,** द्वितीय संस्करण, कलकत्ता १९२६.

कार, डी. सी. "हर्ष ऐंड भास्करवर्मन्" प्रो इ. हि. का. VI, पृ० ४८-५१.

"गौड कामरूप स्ट्रगल इन दि सिक्स्थ ऐंड सेवेन्थ सेन्चुरीज" इ. हि. क्वा. XXVI, पृ० २४१-२४६.

(८) ओडिसा

मूल स्रोत

ालाल, **डिस्क्रिप्टिव लिस्ट्स ऑफ इंस्क्रिप्शंस इन दि सी. पी. ऐंड बरार,** नागपुर, १९१६.

मुमदार, ज. आ. हि.रि. सो., X, पृ० १-१५ में अभिलेखों की एक सूची दी हुई है। उसमें नीचे दिये गयें दो अभिलेख जोड़ दें :—)

१. माधववर्मन् सैन्यभीत का पुरी ताम्रपत्र, वर्ष १३, ए. इ. XXIII, पृ० १२२-३१ (तिथि का सुधार ए. इ. XXIV, पृ० १४९ टि.१ में किया गया है।)

२. माधववर्मन् का कटक म्युजियम प्लेट, वर्ष ५०, ए. इ. XXIV, पृ० १४८-५३.

३. अयशोभीत मध्यमराज का बानपुर ताम्रपत्र, ए. इ. XXIX, ३३.

४. सैन्यभीत माधववर्मन II श्रीनिवास का पुरुषोत्तमपुर ताम्रपत्र, वर्ष १३, ए. इ. XXX, २६४.

५. मानभीत धर्मराज का चंडेश्वर ताम्रपत्र, वर्ष १८, ए. इ. XX
२६६.

६. मानभीत धर्मराज का बानपुर ताम्रपत्र, ए. इ. XXIX, ३८.

७. पृथ्वीविग्रह का समन्दल अभि. ए. इ. XXVIII, ७६.

८. सुभकर का खदिपद अभि. ए. इ. XXVI, २४७.

९. सीताबिन्जी से प्राप्त अभिलेख, ज. आ. हि. रि. सो., XIX, १९१.

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में बसाक, राय देखें)

बनर्जी, आर. डी. हिस्टरी ऑफ ओरिसा, २ जिल्द, कलकत्ता, १९३०-३१.

चक्रवर्ती, एम. एम. "क्रोनोलॉजी आफ दि ईस्टर्न गंग किंग्स ऑफ ओरिसा" ज. ए. सो. ब., १९०३, पृ० ९७-१४७.

दास, एम. एन. **ग्लिम्प्सेज ऑफ कलिंग हिस्टरी,** कलकत्ता, १९४९.

महताब. एच. **दि हिस्टरी ऑफ ओरिसा,** लखनऊ १९४९.

मजुमदार, आर. सी. "शैलोद्भव डाइनेस्टी" ज. आ. हि. रि. सो., X, पृ० १-१ (इसमें अधिकारी लेखकों और अभिलेखों का पूरा निर्देश दिय हुआ है।)

मजुमदार, वी. सी. **ओरिसा इन दि मेकिंग,** कलकत्ता, १९२५, "स्केच ऑफ दि हिस्ट ऑफ ओरिसा" ज. बि. ओ. रि. सो., VI पृ० ३४८-६०.

मिश्रा, बी. **ओरिसा अंडर दि भौम किंग्स,** कलकत्ता, १९३४.
डाइनेस्टीज ऑफ मेडीवल ओरिसा, कलकत्ता, १९३३.

मित्रा, आर. एल. **ऐन्टिक्विटीज ऑफ ओरिसा,** २ जिल्द, कलकत्ता, १८७५-८०.

रामदास, जी. "सूर्यवंशी किंग्स ऑफ ओरिसा" ज. बि. रि. सो., XXXI, पृ० १७२-९४.

सरकार, डी. सी. "गुप्ता रूल इन ओरिसा" इ. हि. क्वा. XXVI, पृ० ७५-७६.

(९) कन्नौज-यशोवर्मन्

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में **गौडवहो, राजतरंगिणी** देखें)

शास्त्री, हीरानन्द "नालन्दा स्टोन इंस्क्रि. ऑफ यशोवर्मदेव" ए. इ. XX, पृ० ३७-४६.

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थसूची में वसाक, स्मिथ, त्रिपाठी देखें)

आर. सी. "नालन्दा स्टोन इंस्क्रि. ऑफ यशोवर्मदेव", इ. हि. क्वा. VII, पृ० ६६४-६८; VIII, पृ० ३७१-७३.

वी. वी. "ए नोट आन वज्रट", इ. हि. क्वा. XX, पृ० ३५३-५६.

ए. के. "नालन्दा स्टोन इंस्क्रि. ऑफ यशोवर्मदेव".इ. हि. क्वा., VII, पृ० २२८-३०; VIII, पृ० ६१५-१७.

नय्या, एन. "वज्रट" इ. हि. क्वा. XX, पृ० १८१-८८.

(१०) चीनी आक्रमण

(सामान्य ग्रन्थसूची में बील, वाट्टर्स देखें)

पी. सी. "सिनो-इंडियन रिलेशंस" सि. इ. स्ट, १, पृ० ६५-८४.

एदुवर्द **दक्युमां स्यु ल तु-कीन (टर्क्स) आस्सिदांतो** सेंट पीट्सबर्ग, १६०३.

एस. "ल मिस्यो द वांग ह्वेन-त्से दांलेंद" ज. ए., १६००, XV, पृ० ४०१-६८.

आर. सी. "वांग हिउएन-त्से'ज इंडियन कैम्पेन" ज. ए. सो. ब. ले. XIX. ३७.

एम. ए. **ऐन्सिएन्ट खोतान,** आक्सफोर्ड, १६०७

(११) काश्मीर

(सामान्य ग्रन्थसूची में **गौडवहो, राजतरंगिणी** देखें)

ए. **ऐन्सिएन्ट क्वायनेज ऑफ काश्मीर,** लन्दन, १८४३.

एन. "डेट ऑफ ललितादित्य मुक्तापीड" इ. क. XIV, पृ० ११ प. पृ०

यू. एन. "डाइनेस्टिक क्रॉनिकल्स ऑफ काश्मीर" इ. हि. क्वा. XVIII, पृ० १६५-२०७; ३०२-३४१; XIX, पृ० २७-३८; १५६-७२.

एच. "कन्क्वेस्ट ऑफ इंडिया बाइ ललितादित्य मुक्तापीड" ज. ब. बा. रा. ए. सो., XXVII (१६५२) पृ० ४३ प. पृ०.

एम. ए. "नोट्स आन दि मोनेटरी सिस्टम ऑफ ऐन्सिएन्ट काश्मीर" न्यूमिस्मैटिक क्रानिकल XIX, पृ० १२५-७४.

(१२) सिन्धी और अरब आक्रमण

(सामान्य ग्रन्थसूची में बील, वाट्टर्स, **राजतरंगिणी** तथा मुस्लिम स्रोत देखें)

सिलात उत-तवारीख सुलेमान कृत

अंशों के अनुवाद, हि. इ. ई. डा. में १, पृ० १-७.

तारीख -इ - मासूमी, अंशानुवाद, हि. इ. ई. डा., १ में पृ० २१२-५२.

तुह्फत उल. किराम अली शीर कानी कृत, हि. इ. ई. डा., १ में अंशानु पृ० ३२७, प. पृ०; ज. ए. सो. ब. १८४५, पृ० ७८ प. पृ० में भी.

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थसूची में राय और वैद्य देखें)

आर्नल्ड, सर थॉमस **दि केलिफेट,** आक्सफोर्ड, १९२४.

कार्टर **ए शार्ट हिस्टरी आफ सिन्ध,** करांची, १९२६.

धर, एस. एन. "दि अरब कन्क्वेस्ट ऑफ सिन्ध" इ. हि. क्वा., XVI, पृ० ५१६-६

ग़नी, एम. ए. "दी एडव्हेन्ट ऑफ दि अरब्स इन हिन्दुस्तान, देयर रिलेशन्स विद हिन्दुज; ऐंड दि ऑक्कुपेशन ऑफ सिन्ध" प्रो० ओ. का. X, पृ० ४०३-

गिब्ब, एच. ए. आर. **अरब कन्क्वेस्ट इन सेन्ट्रल एशिया,** लन्दन १९२३.
"चाइनीज रेकॉर्डस आफ दि अरब्स इन सेन्ट्रल एसिया" वी.एस.ओ.ए II, पृ० ६१३-२२.

मजुमदार, आर. सी. "दि अरब इनव्हेजन ऑफ इंडिया" ज. इ. हि. X, खंड परिशिष्टांक.

(इसमें अधिकारी लेखकों का पूर्ण निर्देश दिया हुआ है।)

म्यूर, सर विलियम **"एनाल्स आफ दि अर्ली केलिफेट"** लन्दन, १८८३.
कैलिफेट, इट्स राइज, डिक्लाइन ऐंड फाल, टी. एच. वेयर द्वारा संशो एडिनबर्ग, १९१५.

रवेर्टी, मेजर एच. जी. **नोटस आन अफगानिस्तान,** लन्दन, १८८८.

ले स्ट्रेन्ज, जी. **दि लैंडस आफ दि ईस्टर्न कैलिफेट,** १९३०.

टॉड, ले. कर्नल जेम्स एनॉल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान, विलियम क्रूक द्वा सम्पादित, आक्सफोर्ड, १९२०.

परिच्छेद IX

हर्षवर्धन और उसका युग

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में **गौडवहो, हर्षचरित** बील, वाट्टर्स देखें)

अभिलेख

बंसखेरा ताम्रपत्र ए. इ. IV, पृ० २०८-११.

मधुवन ताम्रपत्र ए. इ. I. पृ० ६७-७५.

मुहरें ए. इ. XXI, पृ० ७४-७६.

मुहरें का. इ. इ. III, सं० ५२.

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थसूची में बसाक, राय, स्मिथ, वैद्य देखें)

वी. एस. **हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन** (हिन्दी में), पटना १९५३.

ए. सी. "दि एम्पायर ऑफ हर्ष" ज. आ. हि. रि. सो., VI, पृ० १४७-४८.

आर. जी. **शशाँक**, इ. हि. क्वा. VIII, पृ० १-२०.

गौरीशंकर **हर्षवर्धन** (हिन्दी में) इलाहाबाद, १९३८.

न, एम० एल० **हर्षवर्धन : एम्पेरिड एट पोएट** पेरिस, १९०६.

डी. सी. "राज्यवर्धन ऐंड शशांक" इ. हि. क्वा. XXIII, पृ० ५१-५५.

आर. सी. हर्षवर्धन : ए क्रिटिकल स्टडी", ज. बि. ओ. रि. सो. IX, पृ० ३११-२५.

दि हर्ष एरा" इ. हि. क्वा., XXVII, पृ० १८३-९०, XXVIII, पृ० २८० प. पृ०.

आर. के. **हर्ष**, आक्सफोर्ड, १९२६.

के. एम. **श्रीहर्ष आफ कन्नौज**, बम्बई, १९२२.

आर. "हर्षवर्धन शिलादित्य—ए रिवाइज्ड स्टडी", इ. हि. क्वा. III, पृ० ७६९-९३.

द सम्राट् हर्षवर्धन (हिन्दी में) बम्बई, वि०सं० १९७७.

डी. सी. एविडेन्स ऑफ दि नालन्दा सील्स" इ. हि. क्वा. XIX, पृ० २७२-८१.

"हर्षज एक्सेशन ऐंड दि हर्ष एरा" इ. हि. क्वा., XXVII, पृ० ३२१ प. पृ०.

आर. एस. "हर्ष ऐज आथर ऐंड पेट्रन ऑफ लेटर्स" ज. ब. रि. यु. I, पृ० २३१-४२.

हिस्टरी आफ कन्नौज टु दि मुस्लिम कान्क्वेस्ट, बनारस, १९३७.

वी. "हर्ष ऐंड हिज टाइम्स" ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो., XXIV, पृ० २३६-७६.

परिच्छेद XI

गुप्त युग में दक्कन

मूल स्रोत

ामान्य ग्रन्थसूची में एलन, फ्लीट, भंडारकर सूची देखें)

वाकाटकों के अभिलेखों के लिए न्यु हि. इ. पी. VI, पृ० ४७६-७७ देखें।

अलटेकर ए. एस. "सम एलेज्ड नाग ऐंड वाकाटक क्वायंस" ज. नुसो. इ., V,
१११-३४.

कृष्णा, एम. एच. **मैसूर आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट,** १९२९ पृ० १९७ प. पृ०

मिराशी. वी. वी. वाकाटक इंस्क्रिप्शंस इन केव XVI ऐट अजन्ता" (हैदरा
आर्क्योलॉजिकल सर्वे, XIV) हैदराबाद, १९४१.

मिराशी, वी. वी. और डी. वी. महाजन "बसिम प्लेट्स ऑफ वाकाटक विन्ध्यश
II" ए. इ. XXVI, पृ० १३७-१५५.

पार्जिटर, एफ. ई. **पुराण टेक्स्ट ऑफ दि डाइनेस्टीज ऑफ दि कलि एज,** आक्सफो
१९१३.

बालाघाट फलक ए. इ. XXII, पृ० २०७-२१२.

कोथुरक ग्रान्ट ए. इ. XXVI, पृ० १५५-१६१.

रिद्धपुर फलक ए. इ. XIX, पृ० १००-१०४.

आधुनिक कृतियाँ

(सामान्य ग्रन्थसूची में जायसवाल, जुव्हो दुब्रिउ, मजुमदार और अलटेकर, रायचौध
और स्मिथ देखें)

आयंगार, एस. के. "दि वाकाटकाज ऐंड देयर प्लेस इन दि हिस्टरी ऑफ इंडिया
ए. भ. ओ. रि. इ., V, पृ० ३१-५४.

"दि वाकाटकाज इन गुप्ता हिस्टरी" क्यू. जे. एम. एस. XV, पृ० १५३-६

अलटेकर, ए. एस. "वेयर दि वाकाटकाज डिफीटेड बाइ दि गुप्ताज इन सी. ३५
ए.डी. ?" इ. क. IX, पृ० ९९-१०६.

गोपालाचारी, के. **अर्ली हिस्टरी ऑफ दि आन्ध्र कन्ट्री,** मद्रास, १९४१.

मजुमदार, आर. सी. "नोट ऑन दि जेनेलॉजी ऐंड क्रोनोलॉजी ऑफ दि वाकाटकाज
ज. रा. ए. सो. ब. (ले.) XII, पृ० १-५.

"दि वाकाटकाज क्वीन प्रभावती गुप्ता" प्रो० ओ. का. XIII, पृ० ४२३-२

मिराशी, वी. वी. "हिस्टॉरिकल डाटा इन दि दशकुमारचरित" ए. भ. ओ. रि. इ.
XXVI, पृ० २०-३१.

"सम रॉयल पोएट्स ऑफ दि वाकाटक एज" इ. हि. क्वा. XXI, पृ० १९३-
२०१.

"दि वाकाटक क्रोनोलॉजी", इ. हि. क्वा. XXIV, पृ० १४८-५५.

"दि वाकाटक डाइनेस्टी आफ दि सेन्ट्रल प्राविन्सेज ऐंड बरार", एनुअल बुलेटिन
आफ दि नागपुर युनिवर्सिटी हिस्टारिकल सोसाइटी, सं० १, पृ० ८-३७.

जी. "जेनेलॉजी ऐंड क्रोनोलॉजी ऑफ दि वाकाटकाज" ज. इ. हि. XIV, पृ० १-२६, १६५-२०४.

वी. कालिदासा'ज "कुन्तलेश्वरदौत्य", "बी०सी० लॉ वाल्यूम, पृ० १९१-९७.

वी. कृष्ण **हिस्टरी आफ दि अर्ली डाइनेस्टीज ऑफ आन्ध्रदेश सी.२००-६२५ ए.डी.,** मद्रास, १९४२.

डी० सी० "ए नोट आन दि वाकाटकाज" ज. रा. ए. सो. ब. (ले) XII, पृ० ७१-७३.

"फर्दर नोट्स ऑन दि वाकाटकाज", ज. रा. ए. सो. ब. (ले), XIII, पृ० ७५-७८.

सक्सेसर्स ऑफ सातवाहनाज इन लोअर डेक्कन, कलकत्ता, १९३९.

डी. ए. "दि वाकाटक डाइनेस्टी ऑफ बरार इन दि फोर्थ ऐंड फिफ्थ सेन्चुरीज" ज. रा. ए. सो., १९१४, पृ० ३१७-३८.

के. आर. **बुद्धिस्ट रीमेन्स इन आन्ध्र ऐंड दि हिस्टरी आफ आन्ध्र बिटवीन २२५ ऐंड ६१० ए.डी.,** मद्रास, १९३२.

(ख) पश्चिमी दक्कन

मूल स्रोत

राष्ट्रौढवंश, गा. ओ. सी., वड़ौदा, १९१७.

आधुनिक कृतियाँ

ए. एस. **राष्ट्रकूटाज ऐंड देयर टाइम्स,** पूना, १९३४.

"वाज देयर ए राष्ट्रकूट एम्पायर इन दि सिक्स्थ सेन्चुरी ए.डी. ?" ए. भं. ओ. रि. इ., XXIV, पृ० १४९-५५.

एस. "ऑन दि डेट ऑफ दि एलोरा प्लेट्स ऑफ दन्तिदुर्ग" इ. हि. क्वा., XXVII, पृ० ७९-८२.

एच. "दि अर्ली राष्ट्रकूटाज ऑफ दि सिक्स्थ सेन्चुरी ए.डी." प्रो. इ. हि. का., VII, पृ० ७०-७७.

वी.वी. "राष्ट्रकूटाज ऑफ मानपुर" ए. भं. ओ. रि. इ., XXV, पृ० ३९-५०.

"ए नोट ऑन दि तिवारखेड प्लेट्स ऑफ नन्नराज" इ. हि. क्वा., XXV, पृ० १३८-४३.

"दि डेट ऑफ दि एलोरा प्लेट्स ऑफ दन्तिदुर्ग". ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो. NS २६, पृ० १६३-६७.

रिउ बी. एन. "दि राष्ट्रकूटाज ऐंड दि गाहड़वाल्स" ज. रा. ए. सो. १९३० १११ प. पृ०.

सान्याल. एन० बी० "दि प्रेडिसेसर्स ऑफ दि गाहड़वाल्स ऑफ कन्नौज", ज. ए. सो. बं., १९२५, पृ० १०३-६.

(ग) पूर्वी दक्कन

आधुनिक कृतियाँ

छाबड़ा, बी. सी. एच. "किंग्डम ऑफ मेकला", **भारतकौमुदी**, पृ० २१५-९.

घोष, ए. "डेट ऑफ दि पांडव किंग्स ऑफ सदर्न कोसल" ए. इ., XXV, २६६-७०.

मजुमदार, आर. सी. "आउटलाइन ऑफ दि हिस्टरी ऑफ कलिंग", **ढाका युनिवर्सि स्टडीज**, II, २, प० १ प. पृ०.

"दि शैलोद्भव डाइनेस्टी", ज. आ. हि. रि. सो., X, पृ० १-१५.

मिराशी, वी. वी "नोट आन दि डेट ऑफ दि सोमवंशी किंग्स ऑफ सदर्न कोसल" ए. इ. XXVI, पृ० २२७-३०.

"दि डेट ऑफ तिवरदेव", **झा कमे. वाल्यूम**, पृ० २२३-३४.

रामचन्द्रमूर्ति, वी. एस. "जेनेलॉजी ऑफ दि विष्णुकुंडिन्स", ज. आ. हि. रि. सो., पृ० १८७-९३.

सरकार, डी. सी. "एविडेन्स ऑफ दि नालन्दा सील्स", इ. हि. क्वा. XIX, २७२-८१.

"जेनेलॉजी ऐंड क्रोनोलॉजी ऑफ दि विष्णुकुंडिन्स", क्यू. जे. एम. एस. XXV पृ० २९९-३०१.

जेनेलॉजी ऑफ दि सालंकायनाज, इ. हि. क्वा., IX, पृ० २०८-१४.

"ए नोट ऑन दि क्रोनोलॉजी ऑफ दि शैलोद्भवाज" इ. हि. क्वा. XXVII पृ० १६६-६९.

"ए नोट ऑन दि जेनेलॉजी ऑफ दि सोमवंशीज" इ. हि. क्वा. XX, ७६-८२.

"विष्णुकुंडिन्स ऐंड मिस्टर एस. वी. विश्वनाथ" क्यू. जे. एम. एस. XXVI, पृ० २३१-३३.

सुब्बाराव, आर. "अर्ली हिस्टरी ऑफ नार्थ-ईस्ट डेक्कन फ्रॉम ओरिजिनल सोर्सेज" प्रो. ओ. का. V, खंड १, पृ० ४९२-५२४.

के. एस. "हिस्टरी आफ दि विष्णुकुंडिन्स" क्यू. जे. एम. एस., XXX; पृ० ३०८-३३१; XXXI, पृ० १३-२४.

एस. वी. "विष्णुकुंडिन्स", क्यू. जे. एम. एस. XXV, पृ० ७५-८६; XXVI, पृ० १४२-४.

परिच्छेद XII

चालुक्य

मूल स्रोत

वी. इन्स्क्रिप्शंस ऑफ दि मद्रास प्रेसिडेन्सी, ३ जिल्द, मद्रास, १९१९.

आर. हिस्टॉरिकल इंस्क्रिप्शंस ऑफ सदर्न इंडिया.

आधुनिक कृतियाँ

जे. एफ. "डाइनेस्टीज ऑफ दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, ब. ग., I, खंड २.

"क्रोनोलॉजी ऑफ दि ईस्टर्न चालुक्य किंग्स" इ. ए., XX-XXI.

डी. सी. दि. ईस्टर्न चालुक्याज, बनारस, १९३७.

आर. हिस्टरी ऑफ दि पल्लवाज आफ कांची, मद्रास, १९२८.

वी. वी. कृष्ण, "ओरिजिन ऐंड अर्ली हिस्टरी आफ दि चालुक्याज" प्रो. इ. हि. का., III, पृ० ३८६-४१०.

"रिवाइज्ड क्रोनोलॉजी ऑफ दि ईस्टर्न चालुक्य किंग्स", ज. आ. हि. रि. सो., IX, पृ० १-३२.

एम. सोमशेखर "दि क्रोनोलॉजी ऑफ दि ईस्टर्न चालुक्याज", ज. ओ. रि., IX, पृ० १७-४५.

डी. सी. सक्सेसर्स आफ दि सातवाहन्स इन दि लोवर डेक्कन, कलकत्ता, १९३९.

आर. एस. हिस्टरी आफ कन्नौज, बनारस, १९३७.

एन. दि ईस्टर्न चालुक्याज आफ वेंगी, मद्रास, १९५०.

परिच्छेद XIII

दक्षिण भारत के राजवंश

मूल स्रोत

वी. वेंकटसुब्बा, साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस, जिल्द XII, मद्रास, १९४३.

आधुनिक कृतियाँ

पी. टी. एस. हिस्टरी आफ दि तामिल्स टु ६०० ए. डी., मद्रास, १९२९.

आयंगर, एस. कृष्णस्वामी **सम कंट्रिब्यूशन आफ साउथ इंडियन कल्चर,** कलकत्ता १९२३.

अय्यर, के. जी. शेष **चेर किंग्स आफ दि संगम पीरियड,** लन्दन, १९३७.

अय्यर, के. वी. सुब्रह्मण्य **हिस्टॉरिकल स्केचेज आफ ऐन्सिएन्ट डेक्कन,** मद्रास, १९१७.

दीक्षितार, वी. आर. आर. **स्टडीज इन तामिल लिटरेचर ऐंड हिस्टरी,** लन्दन, १९३

गोपालन, आर. **हिस्टरी आफ दि पल्लवाज आफ कांची,** मद्रास, १९२८.

हेरास, एच. ओरिजिन आफ दि पल्लवाज, ज. यु. ब., १९३६.

दि पल्लव जेनेलाजी, बम्बई १९३१.

स्टडीज इन दि पल्लव हिस्टरी, मद्रास, १९३३.

जायसवाल, के.पी. **हिस्टरी आफ इंडिया,** लाहौर, १९३३.

जुव्हो दुब्रिउ, जी. **ऐन्सिएन्ट हिस्टरी आफ दि डेक्कन** (वी. एस. स्वामिनन्द दीक्षित द्वारा फ्रेंच से अनूदित) पांडिचेरी १९२०

पल्लवाज (वी. एस. स्वामिनन्द दीक्षितर द्वारा फ्रेंच से अनूदित) पांडिचेरी १९१७.

महालिंगम्, टी. वी. **दि बाणाज इन साउथ इंडियन हिस्टरी,** मद्रास, १९५२.

मीनाक्षी, सी. **ऐडमिनिस्ट्रेशन ऐंड सोशल लाइफ अंडर दि पल्लवाज,** मद्रास, १९३

मोरेस, जी. एम., **दि कदम्ब कुल,** बम्बई, १९३१.

पे, एम. गोविन्द "क्रोनोलॉजी, आफ दि अर्ली कदम्बाज" ज. इ. हि. XII, पृ० ३५४-७३; XIII पृ० १८-३४; १३२-७३.

राव, वी. वी. कृष्ण **ए हिस्टरी आफ दि अर्ली डाइनेस्टीज आफ आन्ध्रदेश,** मद्रास, १९४२.

राव, एम. वी. कृष्ण **दि गंगाज आफ तलकड,** मद्रास, १९३६.

सैलेटोर बी. ए. **ऐन्सिएन्ट कर्नाटक,** जिल्द १, पूना १९३६.

शास्त्री, के. ए. एन. **दि कोलाज,** जिल्द I, II १ मद्रास, १९२५-३७.

हिस्टरी आफ साउथ इंडिया, बम्बई, १९५२.

दि पांड्यन किंगडम, लन्दन, १९२९.

स्टडीज इन चोल हिस्टरीज ऐंड एडमिनिस्ट्रेशन, लन्दन, १९३२.

सैथियानाथियर, आर. **स्टडीज इन दि ऐन्सिएन्ट हिस्टरी आफ तोंडमंडलम्,** मद्रास, १९४४.

सरकार, डी.सी. **दि अर्ली पल्लवाज,** लाहौर, १९३५.

दि सक्सेसर्स आफ दि सातवाहनाज इन दि लोवर डेक्कन, कलकत्ता, १९३६.

परिच्छेद XIV

श्रीलंका

मूल स्रोत

(I) पालि

(सामान्य ग्रन्थसूची में दीपवंश और महावंश देखें)

वंश बी. सी. लॉ द्वारा सम्पा० और अनू०, लाहौर, १९२५.

गल्लविहार वंश जेम्स द'अलवी (d'Alwis) द्वारा सम्पादित.

(II) सिंहली

नुवंश एम. कुमारणतुंग द्वारा सम्पा०, कोलम्बो, बी. ई. २४६६.

पूजावलिय के. एम. परेरा द्वारा सम्पा., कोलम्बो, १८९३.

र्तिरित ई. एस. राजशेखर द्वारा सम्पा., कोलम्बो, १९२०.

यसंग्रह डी. एम. डि. जे. विक्रमसिंघे द्वारा सम्पा. कोलम्बो, १८९०, सी. एम. फर्नान्डो द्वारा अनूदित, डब्ल्यू. एफ. गुणवर्धन लिखित भूमिका के साथ, १९०८.

वलिय परि. ३४. एम. मेधांकर थेर द्वारा सम्पा., बी. गुणशेखर कृत अंग. अनु. (ए कंट्रिब्युशन टु दि हिस्टरी आफ सीलोन) कोलम्बो, १८९५.

लाकर सिमन डि सिल्वा द्वारा सम्पा. कोलम्बो, १९०७.

वलिय वी. गुणशेखर द्वारा सम्पा. कोलम्बो, १९११. इन्हीं द्वारा प्रस्तुत अंग. अनु. कोलम्बो, १९००.

आधुनिक कृतियाँ

(परि० XIII में शास्त्री देखें)

गटन, एच. डब्ल्यू. **हिस्टरी आफ सीलोन**, लन्दन, १९२६.

स्वामी, ए. के. **हिस्टरी आफ इंडियन ऐंड इन्डोनेसियन आर्ट**, लन्दन, १९२७.

न, आर. **दि पल्लवाज आफ कांची**, मद्रास, १९२८.

ई. "कन्ट्रीब्युशंस टु सिंहलीज क्रोनोलॉजी" ज. रा. ए. सो., १९१३, पृ० ५१७ प. पृ०.

जी. सी. **अर्ली हिस्टरी आफ सीलोन**, कलकत्ता, १९३८.

व्ही. ए. **हिस्टरी आफ फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन**, द्वितीय संस्करण,'. के डी. बी. कार्डिंगटन द्वारा संशोधित, ऑक्सफोर्ड, १९३०.

जी. **ऐन एपिटोम आफ दि हिस्टरी आफ सीलोन**, १८३६.

विक्रमसिंघे आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ सीलोन, जिल्द १.

विजेसिंह, एल. सी. महावंश, खंड १ (जिसके अन्त में प्रथम खंड का १८३७ में प्रकाशि जी. टर्नर कृत अंग० अनुवाद जुड़ा हुआ है।) कोलम्बो, १९०९.

परिच्छेद XV

भाषा और साहित्य

(टिप्पणी : सामान्य ग्रन्थसूची में संस्कृत, पालि और अर्धमागधी के महत्त्वपूर्ण मूल ग्रन्थों की एक विशिष्ट सूची दी गयी है। अलग-अलग मूल ग्रन्थों और ग्रन्थसूची विषयक सम्पूर्ण सामग्री का पूरा विवरण ऊपर, सामान्य ग्रन्थसूची में, साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत उल्लिखित दासगुप्ता और डे, कीथ, कृष्णमचारियर, विन्टरनित्स और अन्य ग्रन्थों में मिलेगा।)

आल्सडोर्फ, ए. **अपभ्रंश स्टुडियन,** लाइप्त्सिग, १९३७.

वेलवलकर एस. के. (सम्पा.) **झा कमेमोरेशन वाल्यूम,** पूना, १९३७. **पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम,** पूना, १९३४.

बेलवेलकर, एस. के. **सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर,** पूना, १९१५.

भंडारकर, डी. आर. और सहयोगी (संपा.) **बी. सी. लॉ वाल्यूम** खंड १ और २, कलकत्ता, १९४५; पूना, १९४६.

भंडारकर, आर. जी. **कलेक्टेड वर्क्स,** जिल्द IV, पूना, १९२७-१९३३.

चित्राभ, एस. वी. **मध्ययुगीन चरितकोश** (मध्यकालीन भारत का जीवनी कोश), (मराठी में), पूना, १९३७.

दासगुप्ता, एस. एन. (सम्पा०) **हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर,** जिल्द I, कलकत्ता, १९४७.

डे, एस. के. **हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स,** २ जिल्द, लन्दन, १९२३, १९२५.

देवस्थली, जी. वी. **डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत ऐंड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ दि युनिवर्सिटी आफ बम्बे,** बम्बे, १९४४.

दीक्षित. एस. बी. **भारतीय ज्योतिष शास्त्र** (भारतीय ज्योतिष का इतिहास) मराठी में), द्वितीय संस्करण, पूना, १९३१.

दीक्षितार, वी. आर. आर. **दि पुराज इन्डेक्स,** २ जिल्द, मद्रास, १९५१, १९५२.

दत्त, बी. बी. और सिंह, ए. एन. **दि हिस्टरी आफ हिन्दू मैथेमेटिक्स,** लाहौर, १९३५.

फिल्योज, जे. **ल दॉक्त्रे क्लासीक द ल मेदिसें ऐंदिएन-से ओरिजें ए से-पारालेल ग्रेक,** पेरिस, १९४९.

गौडपाद **आगमशास्त्र** विधुशेखर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, अनूदित और व्याख्यात, **दशरूपक,** १९४३.

चन्द्रभान **दि इंडियन थियेटर**, १९५४.

जी. **दशरूपक**, न्यूयार्क, १९१२.

आर. सी. **स्टडीज इन दि पुराणिक रेकर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स ऐंड कस्टम्स** ढाका, १९४०.

ए. एफ. आर. **बोअर मैनुस्क्रिप्ट**, कलकत्ता, १८९३-१९१२.
स्टडीज इन दि मेडिसिन आफ ऐंसिएंट इंडिया, आक्सफोर्ड, १९०७.

जे. **मेडिसिन**, स्त्रास, १९०१ (सी. वी. काशिकार कृत अंगरेजी अनुवाद, "इंडियन मेडिसिन्स" पूना, १९५१)

पी. वी. **हिस्टरी आफ अलंकार लिटरेचर** (साहित्यदर्पण की भूमिका, द्वि० सं०) वम्बई, १९२३; **हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स** (साहित्यदर्पण की भूमिका, तृतीय संस्करण), वम्बई १९५१.
हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, जिल्द १, पूना १९३०.

जी.आर. **बख्शाली मैनुस्क्रिप्ट**, कलकत्ता, १९२७.
हिन्दू एस्ट्रोनोमी, कलकत्ता, १९२४.
हिन्दू मैथेमेटिक्स, लाहौर, १८८९.

(केशव) कल्पद्रुकोश, रामावतार शर्मा द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९२८.

स्टेन· **दस इन्डिशे ड्रामा**, बर्लिन उन्द लाइप्त्सिग, १९२०

एस. **ल थिएटर इन्दीन**, पेरिस, १८२०.

पी. **ए फोर्थ रिपोर्ट आफ आपरेशन्स इन सर्च आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट इन दि बाम्बे सर्किल, एप्रिल १८८६-मार्च १८९२** वम्बई १८९४ (ज. व. ब्रा. रा. ए. सो. XVIII एक्स्ट्रा नम्बर)

सेतुबन्ध, श्रीरामदास भूपति की टीका के साथ पं० शिवदत्त और के० पी० परब द्वारा सम्पा०, द्वि० सं०, वम्बई, १९६५.

काव्यमीमांसा, सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित, तृतीय सं० बड़ौदा, १९२४.

पी.सी. **हिस्टरी आफ हिन्दू कैमिस्ट्री, एट्सेट्रा**, कलकत्ता, १८८७.

एम० **बिब्लियोग्राफी आफ दि संस्कृत ड्रामा**, न्यूयार्क, १९०६.

जी० **आस्ट्रोनोमी, आस्ट्रोलोजी उन्द मैथेमेटिक**, स्त्रा, १८८९.

एच.डी. **जिनरत्नकोश** (जैन कृतियों और लेखकों की वर्णक्रमानुसार पंजी) जिल्द १, पूना, १९४४.

(ख) तमिल

एम. श्रीनिवास **तमिल स्टडीज**, मद्रास, १९१४.

आयंगर, एस. कृष्णस्वामी ऐन्सिएन्ट इंडिया ऐंड साउथ इंडियन हिस्टरी II, पूना १९४१.

आयंगर, पी.टी.एस. हिस्टरी आफ दि तमिल्स फ्रॉम दि अर्लिएस्ट टाइम्स टु ६० ए०डी०, १९२९.

अय्यर, सी.वी. नारायण ओरिजिन ऐंड अर्ली हिस्टरी आफ शैविज्म इन साउ इंडिया मद्रास, १९३६.

दीक्षितार, वी.आर.आर. स्टडीज इन तमिल लिटरेचर ऐंड हिस्टरी, द्वि०सं० मद्रास, १९३६.

हूपर, जे०एस०एम० हिम्न्स आफ दि आलवार्स, कलकत्ता, १९२९.

किंग्सबरी ऐंड फिलिप्स अप्पर हिम्न्स (अंग०अनु०) हिम्न्स ऑफ दि तमिल सेन्ट्स कलकत्ता, १९२०. नन-सम्वधर हिम्न्स, अंगरेजी अनुवाद.

नाम्लवार उनके जीवन और उपदेशों का एक स्केच (नटेसन)

पिल्लै, के.एन. शिवराज दि क्रोनलॉजी आफ अर्ली तमिल्स मद्रास, १९३२.

पिल्लै, एम.एस. पूर्णलिंगम् तमिल लिटरेचर, तिनेवेल्ली, १९२९.

पिल्लै नल्लस्वामी सेन्ट अप्पर, मद्रास, १९१०.

शिवज्ञानबोधम्, मद्रास, १८९५.

स्टडीज इन शैव सिद्धान्त, मद्रास, १९११.

पिल्लै सुन्दरम् सम माइल स्टोन्स इन तमिल लिटरेचर

पोप, जी०यु. दि तिरूवसगम और 'सेक्रेड अटरेन्सेज', आक्सफोर्ड, १९००.

परिच्छेद XVI

राजनीति सिद्धान्त और प्रशासनिक संगठन

मूल स्रोत

(I साहित्यिक)

(सामान्य ग्रन्थसूची में बाणकृत हर्षचरित, कामन्दकरचित नीतिसार, फाहियान की यात्राएं, वाट्टर्स कृत 'आन युवान च्वांग', 'लाइफ आफ हिउएन-त्सांग' देखें। धर्मसूत्र, पुराण, राज्यतन्त्र, ऐतिहासिक कृतियां और ललित साहित्य शीर्षकों के अन्तर्गत प्रदत्त सामान्य ग्रन्थसूची देखें।)

कात्यायन-स्मृति एन०सी० वन्द्योपाध्याय द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १९२७.

कात्यायन-स्मृति-सारोद्धार

(या व्यवहार पर कात्यायन-स्मृति) पी.वी. काणे द्वारा सम्पा., बम्बई, १९३३.

(II अभिलेख)

II (१) के अन्तर्गत देखें

(III) सिक्के II (२) के अन्तर्गत देखें

आधुनिक कृतियाँ

ुनिक कृतियाँ और उस काल के इतिहास शीर्षकों के अन्तर्गत सामान्य ग्रन्थसूची देखें)

र, के.वी.आर. **सम आस्पेक्ट्स आफ ऐन्सिएन्ट इंडियन पॉलिटी** द्वि० सं०, मद्रास, १९३५.

र, ए.एस. **स्टेट ऐंड गवर्नमेंट इन ऐन्सिएन्ट** द्वि० सं०, वाराणसी

प्रसाद **दि स्टेट इन ऐन्सिएन्ट इंडिया**, इलाहाबाद, १९२८.

थियोरी आफ गवर्नमेंट इन ऐन्सिएन्ट इंडिया इलाहाबाद, १९२७.

ार, वी.आर.आर. **हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिच्यूशन्स**, मद्रास, १९२९.

गुप्ता पालिटी, मद्रास, १९५२.

, यु.एन. **ए हिस्टरी आफ इंडियन पोलिटिकल आइडियाज**, बम्बई, १९५९.

वाल, के.पी. **हिन्दू पालिटी**, कलकत्ता, १९२४, तृतीय संस्क०, बंगलौर, १९५५.

, आर.एस. **हिस्टरी आफ कन्नौज, बनारस**, १९३७.

र, एस.वी. **इंडियन कल्चर थ्रू दि एजेज**, जिल्द II मैसूर, १९३२.

परिच्छेद XVII

विधि और विधिविषयक संस्थाएँ

मूल स्रोत

(साहित्यिक)

ामान्य ग्रन्थसूची में धर्मशास्त्र और राज्यतन्त्र तथा ऊपर परिच्छेद-१६ में कात्या-
ृति देखें) व्यवहार पर कात्यायन के अतिरिक्त श्लोक, के०वी०रंगास्वामी आयंगर
ेस्तश्रिफत काने, पृ० ७-१७इ.

कमेन्टरी आन नारद-स्मृति, बि० इ० कलकत्ता, १८८५.

व्यास-स्मृति (व्यवहार परिच्छेद) बी०के० घोष द्वारा सम्पा०, इ०क० IX, पृ० ६५-९८.

आधुनिक कृतियाँ

जायसवाल, के.पी. **मनु ऐंड याज्ञवल्क्य : ए कम्पेरिजन ऐंड ए कन्ट्रास्ट**, कलक
१९३०.

जॉली, जे. रेख्त उन्द सिट्टे, स्त्रासवर्ग, १८९६. (वी०के० घोषकृत अंगरेजी ग्र
हिन्दू ला ऐंड कस्टम, कलकत्ता, १९२८.

काणे, पी०वी० हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, जिल्द II-III पूना, १९४१, १९४६.

परिच्छेद XVIII

धर्म और दर्शन

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में मूल स्रोत के अन्तर्गत महाकाव्य, पुराण, दर्शन, धर्मशा बौद्ध, जैन और चीनी तथा आधुनिक कृतियाँ शीर्षक के अन्तर्गत धर्म और दर्शन देखें)

(क) सामान्य

आधुनिक कृतियाँ

वार्नेट, एल.डी. **हिन्दू गॉड्स ऐंड हीरोज**, लन्दन, १९२३.

बार्थ, ए. दि रेलिजन्स आफ इंडिया (जे० वुड कृत प्रामाणिक अंग०अनु०, लन्द
१८८२)

भंडारकर, आर०जी० **वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम**, स्त्रास
१९१३; भारतीय संस्करण, पूना, १९२८.

कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया रामकृष्ण मिशन इंस्टिच्यूट आफ कलकत्ता द्वारा प्रक
शित कलकत्ता, १९३७, १९५३ आदि।

इलियट, सर चार्ल्स **हिन्दुइज्म ऐंड बुद्धिज्म**, ३ जिल्द, लन्दन, १९२१.

फर्कुहर, जे. एन. **आउटलाइन आफ दि रेलिजस लिटरेचर आफ इंडिया**, आक्स
फोर्ड, १९२०.

हापकिन्स, ई. डब्ल्यू. **एपिक माइथोलॉजी**, स्ट्रासबूरी, १९१५.
दि रेलीजन्स आफ इंडिया, बोस्टन, १८९५.

गोस्वामी, के.जी. "रेलीजस टॉलरेशन इन दि गुप्ता पीरियड" इ. हि. क्वा.
XIII, पृ० ३२३-८.

करमरकर, ए.पी. **दि रेलीजन्स आफ इंडिया**, लोनावाला, १९५०.

मोनियर विलियम्स, एम. रेलीजस थॉट ऐंड लाइफ इन इंडिया, चतुर्थ संस्करण
लंदन, १८९१.

हिन्दुइज्म, लन्दन, १९०६.

पाठी, आर.एस. "रेलीजस टॉलरेशन अन्डर दि इम्पीरियल गुप्ताज" इ०हि०क्वा० XV, पृ० १-१२.

बौद्ध धर्म

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में मूल स्रोत के अन्तर्गत बौद्ध और चीनी तथा आधुनिक कृतियों अन्तर्गत धर्म और दर्शन देखें। पालि साहित्य के लिए साहित्य का इतिहास के अन्तर्गत खें।)

र्मपुंडरीक एच. कर्न और बुन्यू नान्जियो द्वारा सम्पा० **विविलियोथिका बुद्धिका,** X, सेंट पीट्र्सवर्ग, १९०८ प. पृ०; एच० कर्न कृत अंगरेजी अनु०, से०बु०ई० XXI, आक्सफोर्ड, १८८४।

र्णप्रभास एस. सी.दास. और एस. सी. शास्त्री द्वारा सम्पा. कलकत्ता, १८९८.
बून्यू नान्जियो द्वारा, सम्पा०, क्योटो, १९३१.
जे. नोबेल, लाइप्त्सिग, १९३७.

आधुनिक कृतियाँ

कुमार स्वामी, ए. के. **बुद्ध ऐंड दि गोस्पेल आफ बुद्धिज्म,** लन्दन, १९२८.
लिविंग थाट्स ऑफ गौतम दि बुद्ध, लन्दन, १९४८.

ल्के, पी. **बुद्धिज्म ऐंड इट्स प्लेस इन दि मेन्टल लाइफ आफ मैनकाइंड,** लन्दन, १९२७.

विड-नील अलेक्जांड्र **ल बुद्धिज्म से दाक्त्रें ए से मेतॉद** एच०एन०एम० हार्डी और बर्नार्ड मियाल कृत अंगरेजी अनु० **बुद्धिज्म, इट्स डाक्ट्रिन्स ऐंड मेथड्स,** लन्दन, १९३९.

त्त, एन. **आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म ऐंड इट्स रिलेशन टु हीनयान,** लन्दन, १९३०.
अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, २ जिल्द, कलकत्ता.

कीथ, ए. बी. **बुद्धिस्ट फिलॉसॉफी इन इंडिया ऐंड सीलोन,** आक्सफोर्ड, १९२३.

र्न, एच. **मैनुअल आफ इंडियन बुद्धिज्म,** स्त्रासबर्ग, १८९६.
इस्त्वा दु बुद्धिज्म दाँ लैंद, पेरिस, १९०१.

ॉ, बी.सी. **ऑन दि पालि क्रानिकल्स आफ सीलोन,** कलकत्ता, १९४७. **बुद्धघोष,** बम्बई, १९४६.

मेकगवर्न, डब्ल्यू.एम. **ए मैनुअल आफ बुद्धिस्ट फिलॉसफी** लन्दन, १९२३

ओबेरमिलर, ई. **हिस्टरी आफ बुद्धिज्म,** हाइडेलबर्ग, १९३१.

राइस डेविस, श्रीमती सी.ए.एफ. **बुद्धिज्म : इट्स बर्थ ऐंड डिस्पर्सल,** लन्दन, १९३४.

राइस डेविस, टी.डब्ल्यू. **हिस्टरी आफ इंडियन बुद्धिज्म,** लन्दन, १८९७.

अर्ली बुद्धिज्म, लन्दन, १९०८.

बुद्धिज्म, इट्स हिस्टरी ऐंड लिटरेचर, लन्दन, १९२६.

सुज़ूकी, बी.एल. **आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म,** लन्दन, १९०७.

महायान बुद्धिज्म, लन्दन, १९३८.

तकाकासु, जे. **एसेन्शियल्स आफ बुद्धिस्ट फिलॉसॉफी,** होनोलुलू, १९४७.

(देखें–एड्रिए मेजन्युग्ह द्वारा प्रकाशित, **बिब्लियोग्राफी बुद्धीक,** पेरिस, १९३७)

(ग) जैन धर्म

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में "मूल स्रोत" शीर्षक के अन्तर्गत 'जैन' और 'चीनी' तथा 'आधुनिक कृतियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत 'धर्म और दर्शन' देखें।)

आधुनिक कृतियाँ

आयंगर, एम. एस. रामास्वामी और राव, बी. शेषगिरि **स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म,** मद्रास, १९२२.

बरौदिया, यु.डी. **हिस्टरी ऐंड लिटरेचर आफ जैनिज्म,** वम्बई, १९०९.

बूलर, जी० **उबेर डी इंडिशे सेक्टे डेर जैनाज,** वियना, १८८७, जे. बर्गेस द्वारा अंग अनु०, **दि इंडियन सेक्ट आफ दि जैनाज,** लन्दन, १९०३।

ग्लासेनाप्प, एच० **डेर जैनिस्मुस,** र्बालन, १९२६.

गेरिनो, ए. **एस्से द बिब्लियोग्राफी जैन,** पेरिस, १९०६.

"नोट्स डी बिब्लियोग्राफी जैन" ज०ए०, XIV.

पृ० ४८-१४८, **रेपर्त्वा द एपिग्राफी जैन,** पेरिस, १९०८.

ल रेलिज्यों जैन, पेरिस, १९२६.

हयवदनराव, सी० **मैसूर गजेटियर,** जिल्द II.

जगन्नाथ "जैनिज्म इन दि गुप्ता एज", जैन विद्या, जिल्द I, सं० ६.

जैनी, जे. एल. **आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म** एफ.डब्ल्यू. थामस द्वारा सम्पा. केम्ब्रिज, १९१६.

कपाडिया, एच. आर. **जैन रेलीजन ऐंड लिटरेचर,** जिल्द १, खंड १, लाहौर, १९४४.

नरसिंहाचार्य, आर. **एपिग्राफिया कर्नाटिका** II भूमिका.

शुब्रिंग, डब्ल्यू. **डी लेहरे डेर जैनाज,** १९३३. **डी जैनाज,** तुबिंगेन, १९२७.

सेन, ए.सी. **स्कूल्स ऐंड सेक्ट्स इन जैन लिटरेचर,** कलकत्ता, १९३१.

सी.पी. **जैनिज्म इन नॉर्दर्न इंडिया**, बम्बई, १९३२.

एच. डब्ल्यू. "वेबर्स सेक्रेड लिटरेचर आफ दि जैनाज" इ० ए०, XVII-XXI

स्टेवेन्सन, श्रीमती एस० **दि हार्ट आफ जैनिज्म**, आक्सफोर्ड, १९१५.

(घ) वैष्णव धर्म

मूल स्रोत

ामान्य ग्रन्थसूची में "मूल स्रोत" शीर्षक के अन्तर्गत "महाकाव्य" और 'पुराण' आधुनिक कृतियां' शीर्षक के अन्तर्गत 'धर्म और दर्शन' देखें।)

आधुनिक कृतियाँ

र, एस.के. **अर्ली हिस्टरी आफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया**, लन्दन, १९२०.

आर.पी. **आर्क्योलॉजी ऐंड वैष्णव ट्रैडीशन**, मे०आ०स०इ० कलकत्ता, १९२०.

टी.ए.जी. **हिस्टरी आफ श्री वैष्णवाज**, मद्रास, १९२३.

ौधरी, एच.सी. **मेटीरियल्स फार दि स्टडी आफ दि अर्ली हिस्टरी आफ दि वैष्णव सेक्ट**, द्वितीय संस्क०, कलकत्ता. १९३६.

(ङ) शैव धर्म

मूल स्रोत

(ऊपर वैष्णव धर्म में जैसा दिया गया है।)

पुराण सम्पा० जे० विद्यासागर, कलकत्ता, १८८५.

ारी, पी. और फिलिप्स जी.ई. **हिम्न्स आफ दि तमिल शैवाइट सेन्ट्स**, कलकत्ता, १९२१.

जी.यु. **दि तिरूवाचगम्**, आक्सफोर्ड, १९००.

र, एस०के० **कन्ट्रिब्युशन्स आफ साउथ इंडिया टु इंडियन कल्चर** कलकत्ता, १९२५.

र, सी०वी० नारायण ओरिजिन ऐंड हिस्टरी आफ शैविज्म इन साउथ इंडिया, मद्रास, १९३६.

, एस० सच्चिदानन्द "दि शैव सेन्ट्स आफ सदर्न इंडिया" कल्च०हेरि० II, पृ० पृ० २३५-२४७.

, के. ए.एन. "ए हिस्टारिकल स्केच आफ शैविज्म, कल्च० हेरि० II, पृ० १८-३४.

सुन्दरम्, एस. **दि शैव स्कूल आफ हिन्दुइज्म**, लन्दन, १९३४.

सुब्रह्मन्यम, के.आर. **ओरिजिन आफ शैविज्म ऐंड इट्स हिस्टरी इन दि तमिल** लैंड, मद्रास, १९४१.

(च) गौण धार्मिक सम्प्रदाय

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में 'मूल स्रोत' शीर्षक के अन्तर्गत 'महाकाव्य' और 'पुराण' देखें तथा 'आधुनिक कृतियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत 'धर्म और दर्शन' देखें।)

कूर्मपुराण एन० मुखोपाध्याय द्वारा सम्पा., इ. कलकत्ता, १८९०.

विष्णुधर्मोत्तर पुराण वम्बई, १९१२.

आधुनिक कृतियाँ

भंडारकर, आर.जी. **वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रेलीजस सेक्ट्स,** स्त्रासबर्ग, १९१३, पूना, १९२८.

फर्कुहर, जे.एन. **आउटलाइन आफ दि रेलीजस लिटरेचर आफ इंडिया,** आक्सफोर्ड, १९२०.

मैकनिकोल, निकोल **इंडियन थेइज्म,** लन्दन, १९१५.

पायनी ई.ए. **दि शाक्ताज,** कलकत्ता, १९३३.

वूड्रोफे, सर जे. **शक्ति ऐंड शाक्त,** मद्रास, १९२९.

(छ) दर्शन

मूल स्रोत

(सामान्य ग्रन्थसूची में "मूल स्रोत" शीर्षक के अन्तर्गत 'महाकाव्य', 'पुराण' और 'दर्शन' तथा 'आधुनिक कृतियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत 'धर्म और दर्शन' देखें।)

आधुनिक कृतियाँ

दासगुप्ता, एस.एन. **हिस्टरी आफ इंडियन फिलॉसॉफी,** ४ जिल्द, कैम्ब्रिज, १९३२ प. पृ०

गार्वे, आर. **फिलॉसोफी आफ ऐन्सिएन्ट इंडिया,** शिकागो, १८९७.

ग्राउसे, रैने **ल फिलॉसोफी इंडीने,** पेरिस, १९३१.

झा, जी. **पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेज,** बनारस, १९४२.

मैसां-उर्से, पी. **ले फिलोसोफी एन ओरिएँ,** पेरिस, १९३८.

मैक्समूलर, एफ० **सिक्स सिस्टम्स आफ इंडियन फिलॉसोफी,** लन्दन, १८८९.

राधाकृष्णन् एस० **इंडियन फिलॉसोफी,** २. जिल्द, लन्दन, १९२३, १९२७.

, ओटो इन्डिशे फिलॉसोफी, मुंखेन, १९२५.

(ज) प्रतिमा विज्ञान

आधुनिक कृतियाँ

जे.एन. डेवलपमेंट आफ हिन्दू इकोनोग्राफी, कलकत्ता, १९४१.

र्य, बी०सी० इंडियन इमेजेज, जिल्द १, ब्राह्मनिक इकॉनोग्राफी. कलकत्ता, १९३१; जिल्द II, जैन इकोनोग्राफी, लाहौर, १९३९.

र्य, बी. इंडियन बुद्धिस्ट, इकोनोग्राफी, आक्सफोर्ड, १९२४.

वामी, ए. के. एलिमेन्ट्स आफ बुद्धिस्ट इकॉनोग्राफी, हारवर्ड, १९३५.

ए. ल इकोनोग्राफी बाउद्धिके द ल इंडे, २ जिल्द, पेरिस, १९००, १९०५.

, ई० एच० "टू बुद्धिस्ट सीन्स एट भज" ज०इं०सो०ओ०आ०, VII, पृ० १-७.

विड, जी. इकॉनोग्राफी आफ सदर्न इंडिया (ए०सी० मार्टिन द्वारा फ्रेंच से अनु०) पेरिस, १९३७.

.ए. एलिमेन्ट्स आफ हिन्दू इकॉनोग्राफी २ जिल्द, मद्रास, १९१४, १९१६.

बी.सी. "आइडेन्टिफिकेशन आफ ए रिलीफ बिलांगिंग टु दि गुप्ता टेम्पुल ऐट देवगढ़", आ० ओ०, XII पृ० ११७-१२५.

०एस० दि गुप्ता टेम्पुल ऐट देवगढ़, मे०आ०स०इ०, सं० ७०, दिल्ली, १९५२.

परिच्छेद XIX

कला

(क) वास्तुकला

आधुनिक कृतियाँ

वी.एस. गुप्ता आर्ट, लखनऊ, १९४७.

आर.डी. एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, १९३३.

र्सी इंडियन आर्चिटेक्चर (बुद्धिस्ट ऐंड हिन्दू) द्वितीय सं०, बम्बई, १९४९.

ऐंसिएन्ट मोनुमेन्टस, टेम्पुल्स ऐंड स्कल्प्चर्स आफ इंडिया, २ जिल्द, लन्दन, १८९७.

वामी, ए०के० हिस्टरी आफ इंडियन ऐंड इंडोनेसियन आर्ट, लन्दन, १९२७.

अर्ली इंडियन आर्चिटेक्चर I सिटीज, सिटी गेट्स, एट्सेट्रा" ईस्टर्न आर्ट, II, पृ० २०९-२५.

"अर्ली इंडियन आर्चिटेक्चर : III पैलेसेज" **ईस्टर्न आर्ट,** III, पृ० १८१-२१७

काउसेन्स, हेनरी "ऐन्सिएन्ट टेम्पुल्स आफ एहोल" (आ.स.इ., १९०७-८)

चालुक्यन आर्चिटेक्चर आफ दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, कलकत्ता, १९२६.

कन्निघम, सर ए. **आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स** जिल्द IX, X, XI और XXI

डे, एम. सी. **माइ पिलग्रिमेज टु अजन्ता ऐंड बाघ,** लन्दन, १९२५.

फर्गुसन, जेम्स **हिस्टरी आफ इंडियन ऐंड ईस्टर्न आर्चिटेक्चर,** द्वितीय संस्करण, ज बर्गेस और आर. पी. स्पीयर्स द्वारा संशोधित और सम्पादित, २ जिल्द, लन्दन, १९१०.

फर्गुसन, जेम्स और बर्गेस, जेम्स **केव्ह टेम्पुल्स आफ इंडिया,** लन्दन, १८८०.

हलदार, ए. के. "बुद्धिस्ट केव्स आफ बाघ" **बर्लिंग्टन मैगजिन,** १९१०-११.

हैवेल, ई.बी. **ऐन्शिएन्ट ऐंड मेडीवल आर्चिटेक्चर आफ इंडिया,** लन्दन, १९१५.

जुव्हो दुब्रिड, जी. **आर्क्योलॉजी द स्युद द लैंद,** पेरिस, १९१४.

लौंगर्स्ट, ए. एच. **पल्लव आर्चिटेक्चर,** मे०आ०स०इ०, सं० १७ और ३३, १९२४, १९२८.

लुअर्ड, सी.ई. बुद्धिस्ट केव्स आफ सेन्ट्रल इंडिया : बाघ", इ०ए०, १९१०.

री, ए. पल्लव आर्चिटेक्चर, मद्रास, १९०९.

सरस्वती, एस.के. टेम्पुल आर्चिटेक्चर इन दि गुप्ता एज", ज० इ० सो० ओ० आ०, ——, पृ० १४६-१५८.

शास्त्री, हीरानन्द गाइड टु एलिफैन्टा, दिल्ली १९३४.

फोगेल, जे.पी.एच. टेम्पुल आफ भीतरगांव" (आ०सं०इ०, १९०८-९)

वाउचोप, आर.एस. **बुद्धिस्ट केव्ह टेम्पुल्स आफ इंडिया,** कलकत्ता, १९३३.

यजदानी, जी. **अजन्ता,** ३ खंड, लन्दन, १९३०, ३३, ४६.

रॉक ह्यू न टेम्पुल्स आफ औरंगाबाद", इ०आ०ले०, —, १९३७.

(ख) मूर्तिकला और अन्य कलाएं

(कलकत्ता, दिल्ली, ग्वालियर, लाहौर, लखनऊ, मद्रास, मथुरा, पटना, पेशावर, सांची और सारनाथ स्थित संग्रहालयों की सूचियां और मार्गनिर्देशिकाएं। विवेच्य कालीन उत्तरी भारत की मृण्मूर्तियों के लिए देखें—आ०स०इ०, १९०८-०९, १९०९-१०, पृ० ८०, प्लेट XXXVIII, १९१०-११, प्लेट III, XXXIV १९१७-१८, प्लेट XII-XIII, १९१८-१९ प्लेट XI; १९२४-२५ प्लेट XXXII, कनिंघम रिपोर्ट, XI प्लेट XIV-XVIII

अग्रवाल, वी०एस० "आर्ट इन दि गुप्ता पीरियड", न्यु० हि. इ. पी., —, पृ० ४४६-७१।

गुप्ता आर्ट, लखनऊ, १९४७.

"राजघाट टेराकोट्टाज" ज. इ. सो. ओ. आ., IX, पृ० ७ प. पृ०

"राजघाट टेराकोट्टाज" ज. यु. पी. हि. सो., जुलाई, १९४१, पृ० १-८.

आर. डी. **दि एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज** बनारस, १९३३ परि० V और प्लेट. XV-XLI.

दि टेम्पुल्स आफ शिव ऐट भूमर, मे. आ. स. इ., सं० १६, १९२४.

"सम स्कल्प्चर्स फ्रॉम कोसाम" (आ. स. इ., १९१३-१४)

"फोर स्कल्प्चर्स फ्रॉम चंडीमऊ (राजौना)" (आ.स.इ., १९११-१२)

बास-रीलीफ्स फ्रॉम बादामि, मे. आ. स. इ., सं० २५, १९२८.

"थ्री स्कल्प्चर्स इन दि लखनऊ म्यूजियम" (आ. स. इ., १९०९-१०)

आर. पी. "दि मथुरा स्कूल आफ स्कल्प्चर" (आ. स. इ., १९२२-२३)

पी. डी. "अर्ली स्कल्प्चर्स आफ आसाम" ज. आ. रि. सो., XI, पृ० ३२-४०.

डब्ल्यू० इंडिशे प्लास्टिक, बर्लिन, १९२१.

के. डी. बी. **ऐंन्शिएन्ट इंडिया**, लन्दन, १९२६.

वामी, ए.के. **विश्वकर्मा**, लन्दन, १९१४ (केवल प्लेटों के लिए)

वामी, ए.के. **कैटलाग आफ इंडियन कलेक्शन्स इन दि म्यूजियम आफ फाइन आर्टस**, बोस्टन, सं० २, मूर्तिकला, १९२३.

"चित्र लक्षण" आ. मे. वा., I, पृ० ४६-६१.

हिस्टरी आफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, लन्दन, १९२७.

"एन अर्ली पैसेज आन इंडियन पेन्टिंग" **ईस्टर्न आर्ट**. III, पृ० २१८ प. पृ०

"आभास" जे.ए.ओ. स., ५२, पृ० २१० प. पृ०.

दि मिरर आफ गेस्चर (जी०के० डुग्गिरल के साथ) कैम्ब्रिज, मेसा. १९१७.

ट्रांसफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट, हारवर्ड, १९३४.

, एच. दि ऐन्शिएन्ट टेम्पुल्स ऐट एहोल" (आ.स.इ., १९०७-०८)

महाबोधि, ऑर दि ग्रेट बुद्धिस्ट टेम्पुल ऐट बोधगया, लन्दन, १८९२.

०सी० **माइ पिलग्रिमेज टु अजन्ता ऐंड बाघ**, लन्दन, १९२५.

, के.एन. "आर्क्योलॉजिकल रीमेन्स आफ दि गुप्ता पीरियड", न्यु०हि.इ.पी., VI, पृ० ४२३-४४१.

"एक्सकेवेशन्स ऐट पहाड़पुर" मे.आ.सो.इ., सं० ५५, दिल्ली १९३८.

ए. "प्रेलिमिनरी रिपोर्ट आन दि इन्टरप्रिटेशन आफ दि पेंटिंग्स ऐंड स्कल्प्चर्स आफ अजन्ता", **जर्नल आफ दि हैदराबाद आर्क्योलॉजिकल सोसाइटी**, ५, १९१९-२०.

फाउशे., ए. "लेत्र द अजन्ता", ज.ए. ११वीं सीरीज

गार्दे, एम.बी. "द साइट आफ पदुमावती" (आ. स. इ. १९१४-१५) **आर्क्योलॉजी इन ग्वालियर**, ग्वालियर, १९३४.

घोष ए. और पाणिग्रही, के. सी. पॉटरी आफ अहिच्छत्र", **ऐन्सिएन्ट इंडिया**, सं० १, जन. १९४६, पृ० ३७ प. पृ०

गोलोब्यु, व्ही. "ल देते द ल गंगा स्यु त्यार" आर्स एसियाटिका, III (पेरिस, १९२१)

ग्रिफिथ्स, जे० **दि पेंटिंग्स इन दि बुद्धिस्ट केव्ह टेम्पुल्स आफ अजन्ता**, लन्दन, १८९६-९७.

ग्राउस्सेट्स, आर. **सिविलाइजेशन आफ दि ईस्ट**, द्वितीय संस्करण, जिल्द II, इंडिया-. लन्दन, १९३२.

हलदर, ए.के. "दि पेंटिंग्स आफ दि बाघ केव्स", रूपम्, सं० ८, १९२१.
"दि बुद्धिस्ट केव्स आफ बाघ" **बर्लिंग्टन मैगजिन**, १९१०-११.

हारग्रीव्स, एच. एक्सकेव्हेशंस ऐट सारनाथ" (आ.स.इ. १९१४-१५)

हैवेल, ई. बी. **इंडियन स्कल्प्चर ऐंड पेंटिंग**, लन्दन, १९०८.

हेरिंघम, लेडी **अजन्ता फ्रेस्कोज**, लन्दन, १९१५.

इंडिया सोसाइटी **दि बाघ केव्स**, लन्दन, १९२७.

जायसवाल, के.पी. नोट आन ए टेराकोट्टा रामायन पैनेल" **माडर्न रिव्यू** १९३२, पृ० १४८.

जुव्हो दुब्रिड, जी. "ल देसें द गंगा" **अत्युद दा ओरिएन्तलिज्म**, II.
"पल्लव पेंटिंग", इ. ए., LII, पृ० ४५-४७. **ल ऐंतिकिती दलापोक पल्लव** पांडिचेरी, १९१६. **दि पल्लव पेंटिंग**, पुडुकोटटइ, १९२०.

कर, आर. सी. **एन्सिएन्ट मोनुमेन्टस आफ कश्मीर** (प्लेट XVI-XLVII) लन्दन, १९३३.

कर, सी० **क्लासिकल इंडियन स्कल्प्चर**, लन्दन, १९५०.

क्राम्रिश, स्टेला **इंडियन स्कल्प्चर**, कलकत्ता, १९३३.

ए सर्वे आफ पेंटिंस इन दि डेक्कन, लन्दन, १९३७.

ग्रुंडत्सुगे डेर इन्डिशेन कुन्स्ट हेल्लाराउ, १९२४.

विष्णुधर्मोत्तरम्, खंड III (भारतीय चित्रकला का विवेचन) कलकत्ता, १९२४.

"डी फिगुरे प्लास्टिक डेर गुप्ता त्साइट" **वीनेर बाइट्रागे त्सुर कुन्स्ट उंड कुल्तुरगेशिख्ते एजीन्स.** V.

"इंडियन टेराकोट्टाज", ज. इ. सो. ओ. आ. VII, पृ० ८९ प. पृ०

पेंटिंग्स ऐट बादामि", ज. इ. सो. ओ. आ. IV, पृ० ५७ प. पृ०

दक्षिण-चित्र", ज. इ. सो. ओ. आ. V, पृ० २१८-२३७.

नोट्स", ज. इ. सो. ओ. आ., VI, पृ० २०० प. पृ०

ए. एच. **पल्लव आर्चिटक्चर**, मे. आ. स. इ., सं० १७ और ३३, १९२४, १९२८.

महाबलिपुरम् स्कल्प्चर्स, मे. आ. स. इ., सं० ४०, १९३०.

दि सिरिगिरिया फ्रेस्कोज" ज. इ. सो. ओ. आ. V, पृ० १७७ प. पृ०

र जे. टी. "एक्सकेव्हेशंस ऐट सहेथ-महेथ" (आ. स. इ. १९१०-११)

एक्सकेव्हेशंस ऐट भीटा" (आ. स. इ., १९११-१२)

गाइड टु सांची, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९३६.

गाइड टु टैक्सिला, तृतीय संस्करण, दिल्ली, १९३६.

र जे. एच. और कोनो, स्टेन "एक्सकेव्हेशंस ऐट सारनाथ" (आ. स. इ. १९०७-१९०८)

र जे.टी.और साहनी, डी.आर. "एक्सकेव्हेशंस ऐट मंडोर" (आ. स. इ. १९०९-१०)

, एस. "ऐन इन्व्हेस्टिगेशन इन टु दि मेथड्स आफ म्मूरल पेंटिंग्स". ज़. इ. सो. ओ. आ. VII, पृ० १८ प. पृ०

टी.एन. "केव्ह टेम्पुल्स नियर तिरुम्मलमपुरम् ऐंड देयर पेंटिंग्स" ज. इ. सो. ओ. आ., IV, पृ० ६५-७१.

ल्लव पेन्टिंग्स" **ओझा कमे. वाल्यूम**

आर्क्योलॉजिकल फाइंड्स ऐट मयनमति" **बी०सी०ला० वाल्यूम**, II पृ० २१९-२३१.

कुमार स्वामी, ए., हैवेल, ई. बी. एट गोलोव्यु **स्कल्प्चर्स सिवेंटे** (civaite) रिस और ब्रुसेल्स, १९२१.

. "दक्षिण चित्र", ज. इ. सो. ओ. आ. VI, पृ० १९५-१९६.

, सी० "नोट आन पेन्टिंग्स ऐट तिरुमलयपुरम्" ज. इ. सो. ओ. आ. V, पृ० ७२-७४ और प्लेट.

गउथ इंडियन आर्ट" न्यु. हि. इ. पी., VI, पृ० ४४२-४६.

ए. **हिस्टरी आफ फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन**, द्वितीय सं०, आक्सफोर्ड, १९३०.

टलाग आफ क्वायन इन दि इंडियन म्युजियम, कलकत्ता, जिल्द I, आक्सफोर्ड, १९०६.

"इंडियन स्कल्प्चर आफ दि गुप्ता पीरियड" (**ओस्टाजियातिशे त्साइटशि**
III, १९१५)

स्पूनर, डी०बी० "एक्सकेव्हेशंस ऐट बसढ़" (आ. स. इ. १९१३-१४)

फोगेल, जे.पीएच. **ऐन्टिक्विटीज आफ छम्ब,** कलकत्ता, १९११.

कैटलग आफ दि आर्क्योलॉजिकल म्युजियम ऐट मथुरा, इलाहाबाद, १९

"दि टेम्पुल ऐट भीतरगांव" (आ. स. इ. १९०८-९)

"एक्सकेव्हेशंस ऐट सहेथ-महेथ" (आ. स. इ., १९०७-०८)

"दि मथुरा स्कूल ऑफ स्कल्प्चर्स" (आ० स० इ., १९०६-०७ और १९
१०)

'नोट्स आन एक्सकेव्हेशंस ऐट कसिया" (आ. स. इ., १९०४-०५ और १९
०६)

"बुद्धिस्ट स्कल्प्चर्स फ्रॉम बनारस" (आ. स. इ. १९०३-०४)

"ल स्कल्प्चर डि मथुरा" पेरिस और ब्रुसेल्स, १९३०.

"दि डिस्कवरी आफ फ्रेस्कोज इन साउथ इंडियन टेम्पुल्स" ऐनुअल बिब्लि
ग्राफी आफ इंडियन आर्क्योलॉजी, १९३१, पृ० १६ प. पृ०

फोगेल, जे० पीएच. और साहनी डी. आर. **कैटेलग आफ दि म्यूजियम
आर्क्योलॉजी ऐट सारनाथ,** कलकत्ता, १९१४.

यजदानी, जी० **अजन्ता,** पाठ और प्लेट, ३ खंड, लन्दन, १९३०, ३३, ४६.

त्सिमेर, एच. **कुन्स्टफोर्म उंड योग इन इंडिशेन कुंस्टबिल्ड,** बर्लिन, १९२६.

परिच्छेद XX-XXI-XXII

सामाजिक स्थिति, शिक्षा और आर्थिक स्थिति

मूल स्रोत

साहित्यिक

(i) भारतीय

(सामान्य ग्रन्थसूची में महाकाव्य, पुराण, कामशास्त्र, ललित साहित्य, बौद्ध
मुस्लिम शीर्षकों में देखें।)

धर्मकोश व्यवहारकाण्डम् जिल्द १, खंड I-III, वाई, १९३७-३९.

लंकावतारसूत्र बन्यिउ नान्जियो द्वारा सम्पा. क्योटो, १९२३.

राष्ट्रपालपरिपृच्छा सम्पा० एल० फिनॉट, सेंट पीटर्सबर्ग, १९०१.

समाधिराजसूत्र गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट, जिल्द II, कलकत्ता, १९४१.

नुक्रम सी०बेन्डाल द्वारा सम्पा०, सेंट पीटर्सबर्ग, १९०२ सी० बेन्डाल और डब्ल्यू. एच. डी. राउजे कृत अंग० अनु०, लन्दन, १९२२.

(ii) भारतीयेतर

(सामान्य ग्रन्थ-सूची में 'चीनी' और 'तिब्बती' शीर्षकों के अन्तर्गत देखें)

मार्सेलिनुस **रेस गेस्ती**

(मूल पाठ और अनुवाद, लुब क्लासिकल लाइब्रेरी में, सं० १-३), कैम्ब्रिज, मेसा. १९३५, १९३७, १९३९.

न्दिकोप्ल्युत्सेस **क्रिश्चियन टोपोग्राफी** (जे. डब्ल्यू. मैक क्रिन्डल कृत अंगरेजी अनुवाद, **ऐन्सिएन्ट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर** वेस्ट-मिनिस्टर, १९०१)

पुरातात्त्विक

(सामान्य ग्रन्थसूची में 'अभिलेख' देखें।)

ग्रा. स. इ., १९०३-०४ बसाढ़ की खुदाई

ग्रा. स. इ., १९११-१२ भीटा की खुदाई

इ. सो. ओ. आ., १९४१; राजघाट की मृण्मूर्तियां

यु. पी. हि. सो., १९४१.

आधुनिक कृतियाँ

के.वी. रंगास्वामी **आस्पेक्टस आफ ऐन्शिएन्ट इंडियन एकॉनॉमिक थॉट,** नारस, १९३४.

इव्होल्यूशन आफ हिन्दू मोरल आइडियल्स, कल. युनि. १९३५.

ए. एस. **एजूकेशन इन एन्शिएन्ट इंडिया,** चतुर्थ सं०, बनारस, १९५१.

जीशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस १९३८.

हिन्दू ला ऑफ मैरेज ऐंड स्त्रीधन, टेगोर लॉ लेक्चर्स, कलकत्ता, १८९६.

एच.सी. **सोशल लाइफ इन ऐन्शिएन्ट इंडिया,** कलकत्ता, १९२९.

के. **एजूकेशनल सिस्टम आफ दि ऐन्शिएन्ट हिन्दूज,** कलकत्ता, १९३०.

कॉनॉमिक **हिस्टरी आफ ऐन्शिएन्ट इंडिया,** कलकत्ता, १९२५.

ई.डब्ल्यू. **एथिक्स आफ इंडिया,** लन्दन, १९२५.

स्टेट्स **आफ वुमेन इन ऐन्शिएन्ट इंडिया,** लाहौर १९४०.

कॉन्ट्रिब्युशंस **टु दि हिस्टरी आफ दि हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम,** कलकत्ता, १९२९.

दि एग्रेरियन **सिस्टम इन ऐन्शिएन्ट इंडिया,** कलकत्ता, १९३०.

जैन, जे.सी. **लाइफ इन ऐन्शिएन्ट इंडिया ऐज डेपिक्टेड इन दि जैन कैनन्स,** बम्
१९४७.

झा, गंगानाथ **हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज,** जिल्द १, इलाहाबाद, १९३०.

काणे, पी.वी. **हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र,** जिल्द II, खंड १ और २ तथा जिल्द I
पूना, १९४१, १९४६.

मैकेन्जी, जे. **हिन्दू एथिक्स** (रेलीजस क्वेस्ट आफ इंडिया सीरीज, आक्सफोर्ड यू
वर्सिटी) लन्दन, १९२२.

मजुमदार, आर.सी. **कारपोरेट लाइफ इन ऐन्शिएन्ट इंडिया,** द्वितीय सं०, कलक
१९२२.

मुकर्जी, आर.के. **लोकल गवर्नमेन्ट इन ऐन्शिएन्ट इंडिया,** आक्सफोर्ड, १९१
ऐन्शिएन्ट इंडियन एजुकेशन, लन्दन, १९४७.

मुंशी, के.एम. "गोल्डेन एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज", भा०वि०, III,
११३-१२५.

पाटिल, डी.आर. **कल्चरल हिस्टरी फ्राम दि वायु पुराण,** पूना, १९४६.

प्राण नाथ **ए स्टडी इन दि एकॉनॉमिक कंडीशन आफ ऐन्शिएन्ट इंडिया,** लन्
१९२९.

सैलेटोर, आर.एन. **लाइफ इन गुप्ता एज,** बम्बई, १९४३.

संकालिया, एच.डी. **दि युनिवर्सिटी आफ नालन्दा,** मद्रास, १९३४.

सिद्धांत, एन.के. **दि हिरोइक एज आफ इंडिया,** लन्दन, १९२९.

वैद्य, सी.वी. **एपिक इंडिया,** बम्बई, १९०७.

वेंकटेश्वर, एस.वी. **इंडियन कल्चर थ्रू दि एजेज,** २ जिल्द, लन्दन, १९२८, १९३

सुब्बाराओ, एन.एस. **एकॉनॉमिक ऐंड पोलिटिकल कंडीशन्स इन ऐन्शिएन्ट इंडि**
मैसूर, १९११

वारमिंग्टन, ई.एच. **दि कामर्स बिटवीन दि रोमन इम्पायर ऐंड इंडिया,** कैम्ब्रि
१९२८.

बागची, पी०सी० **ल केनो बुदीक आंशीन,** २ जिल्द, पेरिस, १९२७, १९३८.
इंडिया ऐंड चाइना, कलकत्ता, १९४४.
द्वितीय संस्करण, बम्बई, १९५०.

परिच्छेद XXIII

बाहरी दुनिया से सम्पर्क

आधुनिक कृतियाँ

बागची पी० सी० **इंडिया ऐंड चाइना,** कलकत्ता, १९४४; द्वितीय सं०, बम्बई, १९५
"कि-पिन ऐंड काश्मीर", सि०इ०. स्ट०, , II पृ० ४२-५३.

ी.एन. हेलिनिज्म इन ऐन्शिएन्ट इंडिया, कलकत्ता, १९२०.

इंडिया ऐज नोन टु दि एन्शिएन्ट वर्ल्ड, कलकत्ता, १९२१.

, आर. दि वाल-पेंटिंग्स आफ इंडिया, सेन्ट्रल एशिया ऐंड सीलोन
—ए कम्पेरेटिव स्टडी, बोस्टन, १९३८.

वारमिंगटन दि ऐन्शिएन्ट एक्सप्लोरर्स

, एम.पी. ट्रेड-रूट ऐंड कॉमर्स आफ दि रोमन इम्पायर, कैम्ब्रिज १९२१.

. सी. इंडियन पंडित्स इन दि लैंड आफ स्नो- एन०सी० दास द्वारा सम्पादित,
कलकत्ता, १८९३.

कंट्रिब्यूशंस आन दि रेलीजन, हिस्टरी ऐंड कल्चर आफ तिब्बत", ज०ए०
सो. ब०, १८८१, पृ० १८७ प. पृ० १८८२, पृ० १ प. पृ०; ८७ प. पृ०

.एच. एन्टिक्वीटीज आफ इंडियन तिब्बत, कलकत्ता, १९१४-२६.

ी.एफ. अरब सीफेर्यारिंग इन दि इंडियन ओशेन इन ऐन्शिएन्ट ऐंड अर्ली
मेडीवल टाइम्स (प्रिन्सटन युनि० प्रेस, १९५१)

"अर्ली कामर्स विथ बेबीलोन" ज० रा. ए. सो., १८९८, पृ० २५० प.
पृ०

डब्ल्यू. एफ. कॉमर्स ऐंड सोसाइटी, आक्सफोर्ड, १९३६.

ो डि लेसी अरबिया बिफोर मुहम्मद

. ए स्टडी आफ दि क्रानिकल्स आफ लदाख (इ.हि.क्वा. XIII-XIV
का पूरक) कलकत्ता, १९३९।

र्दर्न इंडिया एकार्डिग टु दि शुइ-चिंग-चु, रोम, १९५०.

० इंडिया इन ग्रीस, लन्दन, १८५२.

आसमन्द इंडियन ट्रेव्हेल्स आफ एपोलोनियस आफ टाईना ऐंड दि इंडियन

र ब्युव्हियो इम्बेसीज टु रोम, लन्दन, १८७३.

एच.जी. "फारेन इन्फलुएन्सेज इन दि सिविलाइजेशन आफ ऐन्शिएन्ट
डिया" ज. ब. ब्रा. रा. ए. सो., XXIII, पृ २१७ प. पृ०

टरकोर्स बिटवीन इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, कैंब्रिज, १९१६.

ए.एन. फॉरेन नोटिसेज आफ साउथ इंडिया, मद्रास, १९३९.

ए. ग्रीको-रोमन इन्फलुएन्स आन दि सिविलाइजेशन आफ ऐन्शिएन्ट
डिया", ज०ए०सो०ब० LVIII, पृ० १०७ पं. पृ०

. डब्ल्यू. हेलेनिस्टिक सिविलाइजेशन, लन्दन, १९३०.

.डब्ल्यू. तिबतन लिटरेरी टेक्स्ट्स ऐंड डाकुमेन्टस कन्सर्निंग चाइनीज

तुर्किस्तान, जिल्द १, लन्दन, १९३५.

वार्मिग्टन, ई. एच. **दि कामर्स बिटवीन दि रोमन इम्पायर ऐंड इंडिया,** कैम्ब्रि १९२८.

परिच्छेद XXIV

दक्षिणी-पूर्वी एशिया में औपनिवेशिक और सांस्कृतिक विस्तार

बोस, पी. **दि इंडियन कालोनी आफ चम्पा,** अड्यार, १९२६.

दि हिन्दू कालोनी आफ कम्बोडिया, अड्यार, १९२७.

चटर्जी, बी०आर० **इंडियन कल्चरल इन्फलुएन्स इन कम्बोडिया,** कलकत्ता, १९२

कोएद, जी० **इंडिया ऐंड जावा,** कलकत्ता, १९३३.

ल एता इन्दुइजे दैंदोशीन ए दैंदोनेसी, पेरिस १९४८. इंस्क्रिप्शंस टु कम्बो जिल्द IV, पेरिस.

मजुमदार, आर.सी. **ऐन्शिएन्ट इंडियन कोलोनीज इन दि फार ईस्ट,** जिल्द चम्पा, लाहौर, १९२७; जिल्द — सुवर्णद्वीप, खंड १ और २ ढाका, १९ १९३८. **कम्बुजदेश,** मद्रास, १९४४.

हिन्दू कॉलोनीज इन दि फार ईस्ट, कलकत्ता, १९४४. इंस्क्रिप्शंस आफ कम् (As. Soc. monograph) ए.सी.सो. मोनोग्राफ, कलकत्ता, १९५३.

मे, आर.ली. **ए चाइनीज हिस्टरी आफ बुद्धिस्ट आर्ट इन स्याम** कैम्ब्रिज, १९३

मुखर्जी, पी.के. **इंडियन लिटरेचर इन चाइना ऐंड दि फार ईस्ट,** कलकत्ता, १९३

पार्मेन्तिए, एच. **लात आर्शित्येक्त्युराल ऐंदु ए ऐं ऐंक्स्त्रेमओरियाँ,** पेरिस, १९

फिलिप्स, सी.ए. (रेने ग्राउसे की पुस्तक का अंग०अनु०) **"दि सिविलाइजेशन** **दि ईस्ट इंडिया,** लन्दन, १९३२.

शास्त्री, के. ए. एन. **साउथ इंडियन ईन्फलुएन्सेज इन दि फार ईस्ट,** बम्बई, १९ हिस्टरी और श्रीविजय, मद्रास, १९४९.

फोगेल, जे.पीएच. **बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, सीलोन ऐंड जावा,** आक्सफोर्ड, १९३

वेल्स, एच.जी.क्यू. **दि मेकिंग आफ ग्रेटर इंडिया,** लन्दन, १९५१.

तिथिक्रम

टालेमी की ज्योग्राफी (पृ० २३३, ३११)
द्वितीय हान राजवंश (पृ० ५७)
आर्देशिर (पृ० ६१)
पो-शियाओ (? वासुदेव) महान् कुषाण राजा ने चीनी दरबार में राजदूत-मंडल भेजा। (पृ० ६२)
शपुर I (पृ० ५९)
त्रैकूटक संवत् का प्रारम्भिक वर्ष
बहराम द्वितीय (पृ० ५९)
होरमज्द ने अपने भाई बहराम IIके खिलाफ विद्रोह का झंडा उठाया (पृ० ५६, ६२)
सशानिद बादशाह होरमज्द (पृ० ६२)
रुद्रसिंह II ने वैध उत्तराधिकारी को हटाकर पश्चिमी क्षत्रपों की राजगद्दी पर कब्जा किया। (पृ० ५२)
रुद्रसिंह II और उसका पुत्र यशोदामन् II (पृ० ५२)
श्रीधरवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। (पृ० ५३)
शपुर II (पृ० ६२)
पर्सीपोलिस (Persepolis) अभिलेख (पृ० ६२)
चीन का पूर्वी त्सिन राजवंश (पृ० ६८२)
गुप्त वंश का आरम्भ (पृ० ३)
निचाइ की सभा (पृ० ५१७)
श्रीलंका का महासेन (पृ० ३२२)
फान-यी की मृत्यु के बाद उसके सेनापति फान-वेन ने चम्पा की राजगद्दी हथिया ली (पृ० ७१३)
कन्स्टैन्सियस् II (पृ० ७०४)
मयूरशर्मन्, कदम्ब (पृ० ३०८)
फान वेन ने न्हुत नाम के चीनी प्रदेश को जीत लिया (पृ० ७१३)
महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसेन III का राज्यारोहण (पृ० ५३)
फान वेन की मृत्यु (पृ० ७१३)
चम्पा और चीन के बीच दीर्घकालिक युद्ध (पृ० ७१३)
कामरूप के पुण्यवर्मन् का राज्यारोहण (पृ० १००)

जनजातीय आन्दोलन के फलस्वरूप शपुर II अपनी पूर्वी राज्य-सीमा की ओर बढ़ा (पृ० ६५)

ल. ३५०-७५	विष्णुगोप, पल्लव, (पृ० २९२)
ल. ३५०-४००	कोंगुनि-वर्मन् (माधव I), पश्चिमी गंग (पृ० ३०४)
ल. ३५२-७९	श्रीलंका का मेघवर्ण (पृ० १२)
३५७	फु-नान के राजा चान-तान (चन्दन या चन्द्र) ने चीन में राजदू मंडल भेजा (पृ० ७११)
३५८	शपुर ने कुषाणों और चियोनाइट्स के साथ सन्धि पूरी की (पृ ६५)
३६७-६८	फाउस्टस के अनुसार शपुर ने कुषाणों को हराया (पृ० ६५)
ल. ३६२	श्रीलंका के महासेन की मृत्यु (पृ० ४५७)
३६४-७५	व्हैलेन्टिनियन (पृ० ७०५)
३७०-९५	कंग-वर्मन् (या स्कन्दवर्मन्) कदम्ब, (पृ० ३०८)
३७६-४१४	चन्द्रगुप्त II (पृ० २०५, टि. १)
३७९-८३	अर्दशिर II (पृ० ६६)
३७९-९५	थियोडोसियस I (पृ० ७०४, ७०५)
३८१-८४	चीन में काश्मीर का संघभूमि नामक बौद्धभिक्षु (पृ० ६७५
३८३	चीनी सेनापति कुमारजीव को चीन ले गया (पृ० ६७४)
३८३-८८	शपुर III (पृ० ६६)
३८४-९७	चीन में गौतम संघदेव (पृ० ६७५)
३८६-५५६	वाइ राजवंश (पृ० ६३)
ल. ३८८	सत्यसिंह, पश्चिमी क्षत्रप (पृ० २९२)
३८८-९९	बहराम IV (पृ० ६७)
३९५-४०८	पूर्व का सम्राट् आर्केडियस (पृ० ७०४)
३९५-४२३	पश्चिम का सम्राट् ओनोरियास (पृ० ७०४)
ल. ३९५-४२०	भगीरथ, कदम्ब (पृ० ३०८)
३९९	फा-हिएन ने भारत के लिए प्रस्थान किया (पृ० ६८०)
ल. ४००	वाकाटक रुद्रसेन की मृत्यु (पृ० १८०)
ल. ४००-११	फा-हिएन ने समस्त भारत का भ्रमण किया (पृ० २४)
ल. ४००-२४	धर्मयश, चीन में (पृ० ६७५)
ल. ४००-३५	माधव II पश्चिमी गंग (पृ० ३०४)
४०१	कुमारजीव ने चीन की राजधानी के लिए प्रस्थान किया। (पृ ६७४-६७५)
४०१-०४	युडोक्सिया (पृ० ७०५)
४०४	पुण्यत्रात चीन गया (पृ० ६७५)
४०४	चे-मोंग पन्द्रह भिक्षुओं के दल के साथ भारत चला (पृ० ६८०
ल. ४०५-३५	काकुत्स्थवर्मन्, कदम्ब (पृ० २१०; पृ० ३०८ देखें)

विमलाक्ष चीन में (पृ० ६७५)
थियोडोसियस II (पृ० ७०४)
श्रीलंका का महानामन् (पृ० ३२३-४४९)
फा-हिएन श्रीलंका में रुका (पृ० ३२३)
फा-हिएन चीन में उतरा (पृ० ६८०)
धर्मक्षेम ने पश्चिमी चीन में बौद्ध धर्मग्रन्थों का अनुवाद किया (पृ० ६७७)
कुमारगुप्त I (पृ० २५, ४८२)
चम्पा में फान यांग माय का राज्यारोहण और एक नये राजवंश की स्थापना (पृ० ७१४)
रघु, कदम्ब (पृ० ३०८)
चीन का सोंग राजवंश (पृ० ६८२)
तकाकासु के अनुसार वसुबन्धु का काल (पृ० १५, टि. २)
बुद्धजीव चीन गया (पृ० ६७५)
धर्ममित्र चीन में (पृ० ६७५)
का-पी-ली (? डवाक) ने चीन में अपना राजदूत-मंडल भेजा (पृ० १०२)
चीनी स्रोतों के अनुसार श्रीलंका के महानामन् ने चीनी सम्राट् के दरबार में एक पत्र भेजा (पृ० ३२३)
काकुत्स्थवर्मन्, कदम्ब (पृ० ३०८:पृ० १८३ देखें)
गुणवर्मन् नानकिंग पहुँचा (पृ० ६७६)
पश्चिमी चीन के शासक द्वारा धर्मक्षेम की हत्या (पृ० ६७७)
श्रीलंका की राजगद्दी पर पाण्ड्य और उसके पांच दमिल उत्तराधिकारी (पृ० ३२४)
बौद्ध धर्मप्रचारक गुणभद्र चीन में (पृ० ६७६)
सिंहवर्मन् I, पल्लव का राज्यारोहण (पृ० २९२)
अनूप क्षेत्र का राजा रुद्रदास (पृ० २२२)
सिंहवर्मन्, पल्लव (पृ० ३१२, ३१५)
सिल्क बुनकरों के शिल्पिसंघ ने दशपुर में एक मन्दिर का निर्माण कराया (पृ० ४९४)
माधववर्मन् I, विष्णुकुंडिन् (पृ० २५४)
तू-यू-हून ने खोतान जीता (पृ० ६९५)
चीनियों ने चम्पा पर आक्रमण किया, फान-यांग माई II को हराया (जो भाग गया) और राजधानी को लूटा (पृ० ७१४)
यांग माई II की मृत्यु (पृ० ७१४)

ल. ४५०-६०	हरिवर्मन्, पश्चिमी गंग (पृ० ३०४)
ल. ४५०-७५	शान्तिवर्मन्, कदम्ब (पृ० ३०८)
४५३	हूणों के नेता अत्तिल की मृत्यु (पृ० २९)
४५५	सुदर्शन झील का फटना (पृ० ७०)
४५५	त्रैकूटक दहरसेन का आम्रका अनुदान (पृ० २२०)
ल. ४५५	कुमारगुप्त की मृत्यु (पृ० २७)
४५५-५६	पर्णदत्त सौराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त हुआ (पृ० ६९)
४५५-६७	स्कन्दगुप्त (पृ० २७, ३१)
४५७-७४	लियो (पृ० ७०५)
४५८	सर्वनन्दी ने अपने प्राकृत ग्रन्थ **लोकविभाग** की रचना की। (पृ० ४६४)
ल. ४६०	श्वेत हूणों ने गन्धार में एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। (पृ० ३९)
ल. ४६०	स्कन्दगुप्त ने श्वेत हूणों को करारी हार दी। (पृ० ३९)
४६०-७८	श्रीलंका का धातुसेन (पृ० ३२४)
४६०-८०	विष्णुकुण्डी विक्रमेंद्रवर्मन् I (पृ० २५४)
ल. ४६०-५००	पश्चिमी गंग माधव III पृ० ३०४)
ल. ४६०-५००	नेपाल का मानदेव (पृ० ९३)
ल. ४६५-७५	मैत्रकों का भटार्क (पृ० ६९)
ल. ४६७	स्कन्दगुप्त की मृत्यु (पृ० ३१)
ल. ४७०	जुआन जुआन ने खोतान पर विजय प्राप्त की। (पृ० ६९५)
४७३	सिल्क बुनकरों के शिल्पिसंघ ने दशपुर के सूर्यमन्दिर का पुनरुद्धार किया। (पृ० ४९४)
४७४	कुमारगुप्त II (पृ० ३२)
४७४-९१	जैनो (पृ० ७०५)
ल. ४७५	कुमारवर्मन् (कदम्ब) ने उच्चंगी पर शासन किया। (पृ० ३०८)
ल. ४७५-८५	अनुज कदम्ब कृष्णवर्मन् (पृ० ३०८).
ल. ४७५-९०	मृगेशवर्मन् कदम्ब (पृ० ३०८)
ल. ४७५-९५	बुधगुप्त (पृ० ३३, ३५)
४७५-५१७	परिव्राजक महाराज हस्तिन् (पृ० ३३)
४७८-४६	श्रीलंका का काश्यप (पृ० ३२४)
४७९-५०२	चीन का त्सी राजवंश (पृ० ६८२)
४८०-५१५	विष्णुकुंडी इन्द्र (भट्टारक) (पृ० २५४, पृ० २३९ देखें)
४८४	हूणों ने फारस के राजा को हराया और मार डाला। (पृ० ३९)

जयवर्मन् ने चम्पा के राजा के खिलाफ सहायता के लिए चीन के राजदरबार में नागसेन को भेजा। (पृ० ७१२)

अनुज कदम्ब विष्णुवर्मन् (पृ० ३०८)

त्रैकूटक महाराज व्याघ्रसेन (पृ० २२०)

मान्धातृवर्मन्, कदम्ब (पृ० ३०८)

अनेस्टेसियम् (पृ० ७०५)

उच्चकल्प का राजा जयनाथ (पृ० ३३)

गंग युग का आरम्भिक वर्ष (पृ० २४५)

श्रीलंका का मौद्गल्यायन (पृ० ३२४)

पूर्वी गंग, इन्द्रवर्मन्, (पृ० २४५)

रविवर्मन्, कदम्ब (पृ० ३०८)

छोटा कदम्ब सिंहवर्मन्, (पृ० ३०९)

बुधगुप्त की मृत्यु (पृ० ३५)

विष्णुकुंडी विक्रमेन्द्र (पृ० २३६)

अविनीत, पश्चिमी गंग (पृ० ३०५)

नरसिंहगुप्त और उसके दो उत्तराधिकारी (पृ० ३७)

हेफ्थलाइटों ने खोतान पर विजय प्राप्त की। (पृ० ६९५)

थानेश्वर के प्रथम तीन राजे नरवर्धन, राज्यवर्धन और आदित्यवर्धन (पृ० ११०)

महाराज द्रोणसिंह द्वारा जारी किया गया मैत्रकों का प्राचीनतम भू-दानपत्र, (पृ० ६९)

लीयांग राजवंश (पृ० ६८२, ७२२)

वैन्यगुप्त का तिप्पेरा दानपत्र (पृ० ३८)

भानुगुप्त का एरन अभिलेख (पृ० ३७)

नेपाल के वसन्तसेन (?) का भूमिदान-पत्र (पृ० ९६)

श्रीलंका का कुमारदास (पृ० ३२४)

मलय प्रायद्वीप के भगदतो (?. भगदत्त) ने चीन के सम्राट् के पास एक दूत भेजा। (पृ० ७१८)

मिहिरकुल (पृ० ४०)

विष्णुकुंडिन् विक्रमेन्द्रवर्मन् II (पृ० २५४)

बनारस का बौद्ध भिक्षु प्रज्ञारुचि, चीन में (पृ० ६७६)

फू-नान के रुद्रवर्मन् ने चीन में छह राजदूत भेजे (पृ० ७१२)

महान् वाइ राजवंश की सम्राज्ञी दोबागेर ने बौद्ध ग्रन्थों की प्राप्ति के लिए सुंग युन को राजदूत के रूप में पश्चिमी देशों में भेजा। (पृ० ६८१)

५१८	बाली के राजा ने चीन के पास एक दूत भेजा (पृ० ७२२)
५२२-२४	श्रीलंका का उपतिष्य (पृ० ३२५)
५२४-३७	श्रीलंका का शिलाकाल (पृ० ३२५)
ल. ५२५-४५	वलभी का ध्रुवसेन I (पृ० ७२)
ल. ५२५-७५	बंगाल का गोपचन्द्र और उसके तीन उत्तराधिकारी (पृ० ८७)
ल. ५२६-२७	यांग माई राजवंश के अन्तिम राजा, विजयवर्मन् ने चीन के पास दो राजदूत-मंडल भेजे। (पृ० ७१४)
५३०	चम्पा के रुद्रवर्मन् ने चीन से उपहार देकर मानाभिषेक प्राप्त किया। (पृ० ७१५)
५३०-५४०	यशोधर्मन् का उत्थान और पतन (पृ० ४५)
५३१-२९	सस्सानिद राजा, अनूशीरवाँ (पृ० ७०८)
५३५-४७	कस्मस लिखित **क्रिस्चियन टोपोग्राफी** (पृ० ४१)
५३५-५६	विष्णुकुंडिन् गोविन्दवर्मन्, (पृ० २५४)
ल. ५३५-६६	चालुक्य, पुलकेशिन् I (पृ० २६२)
५३५-७०	कुमारगुप्त III और विष्णुगुप्त (पृ० ४९)
ल. ५३५-८५	विष्णुकुंडिन्, माधववर्मन् I (पृ० २५०, २८५)
ल. ५३७-४७	हरिवर्मन्, कदम्ब (पृ० ३०९)
५३७-५६	श्रीलंका का मौद्गल्यायन द्वितीय (पृ० ३२५)
ल. ५४०-६५	अनुज कदम्ब, कृष्णवर्मन् II (पृ० ३०९)
ल. ५४०-६००	प० गंग, दुर्विनीत (पृ० ३०५)
५४३	पुलकेशिन् I का बादामि अभिलेख (पृ० २६२)
५४६	पाटलिपुत्र का परमार्थ चीन पहुंचा (पृ० ६७८)
ल. ५५०	शैलोद्भव रणभीत (पृ० १६५)
ल. ५५०-७५	पल्लव सिंहवर्मन् (पृ० ३१९)
ल. ५५०-७६	मौखरि ईशानवर्मन् (पृ० ८०)
५५०-७७	उत्तरी त्सी राजवंश (पृ० ६८२)
ल. ५५०-६४०	हरिश्चन्द्र और उसके तीन उत्तराधिकारी (पृ० ७४)
५५१-५२	गया जिले का नालन्दा भूमि-दानपत्र (पृ० ४९)
५५३	मौखरि राजकुमार सूर्य-वर्मन् (पृ० २५०)
५५६-५९	श्रीलंका का महानाग (पृ० ३२५)
५५६ (या ५५९)	वलभी गुहसेन की ज्ञात तिथियां (पृ० ७०)
५५६-६१६	विष्णुकुंडिन् माधववर्मन् III (पृ० २५४)
५५९	जिनगुप्त और उसके गुरु ज्ञानभद्र और जिनयशस् चांगन्गान पहुंचे (पृ० ६७७)

श्रीलंका का अग्रबोधि (पृ० ३२५)
तुर्कों और पारसीकों की सम्मिलित सेनाओं ने हूणों की केन्द्रीय सत्ता को ओक्सस के पास करारी शिकस्त दी (पृ० ४३)
अनुज कदम्ब अज-वर्मन् (पृ० ३०९)
पश्चिमी तुर्कों ने खोतान पर विजय प्राप्त की। (पृ० ६९५)
चालुक्य कीर्तिवर्मन् (पृ० ८४, I २१६)
परमार्थ का निधन (पृ० ६७८)
वलभी धरसेन II की ज्ञात तिथियां (पृ० ७१)
राजनीतिक उपद्रव के कारण जिनगुप्त और उसके गुरु चीन छोड़ने को बाध्य हुए। (पृ० ६७७)
वलभी धरसेन II के एक सामन्त सिंहादित्य का दानपत्र (पृ० ७१)
शैलोद्भव सैन्यभीत I माधवराज I (पृ० १६५)
पल्लवसिंह विष्णु (पृ० ३२१)
मौखरि सर्ववर्मन् (पृ० ७९)
प्रभाकरवर्धन का सिंहासनारोहण (पृ० ११०)
मौखरि अवन्तिवर्मन् (पृ० ७९)
तिब्बत का ग्नामरि-स्रोङ व्त्सान (पृ० ९८)
शम्भुयशस् ने ओडिसा पर शासन किया (पृ० ८९, ९३)
थानेश्वर का प्रभाकरवर्धन (पृ० ११०)
एक संगीत-दल भारत से सीधे चीन गया (पृ० ६९२-६९३)
जिनगुप्त ने धर्मप्रचार और बौद्धग्रन्थों का अनुवाद करते हुए तुर्कों के देश में निवास किया। (पृ० ६७७)
सम्राट् काओत्सु (पृ० ६९३)
दक्षिण भारत का एक ब्राह्मण विनीतरुचि चीन की राजधानी पहुंचा। (पृ० ६७८)
पू० गंग इन्द्रवर्मन् II की ज्ञात तिथियां (पृ० २४५)
जिनगुप्त चीन को लौट गया (पृ० ६७७)
वराहमिहिर की मृत्यु (पृ० ३५९)
सुइ काल (पृ० ७२०)
बौद्धभिक्षु धर्मगुप्त चांग-नान पहुंचा (पृ० ६७८)
विष्णुकुंडिन् इन्द्र (भट्टारक) वर्मन् (पृ० २३९; देखें पृ० २५४)
कडुंगोंणपांड्य (पृ० ३०१, ३०२)
पारसीक राजा खुसरू (पृ० ७०६)
श्रीलंका का अग्रबोधि II (पृ० ३२६)
लेवी के अनुसार एक तिब्बती युग का आरम्भ (पृ० ९८)

५९५	उज्जयिनी कलचुरी राजा शंकरगण के अधिकार में (पृ० ८४ २२३)
५९५	चम्पा के शम्भुवर्मन् ने चीन के सम्राट् के पास उपहार भेजा। (पृ० ७१५)
५९७-९८	चालुक्य कीर्तिवर्मन् I की मृत्यु (पृ० २६४)
५९७-९८ से ६१०-११ तक	चालुक्य मंगलेश (पृ० २२३, २६४, २८४)
६००	जिनगुप्त की मृत्यु ६७७
ल. ६००	शैलोद्भव अयशोभीत - (पृ० १६५)
ल. ६००	**शाबरभाष्य** पर प्रभाकर लिखित **भारती** शीर्षक टीका (पृ० ३४१)
६००	हिउएनत्सांग का जन्म (पृ० ६८४)
ल. ६००-३०	पल्लव महेन्द्र वर्मन् - **विचित्रचित्त** (पृ० २६९, २९३, ३२०, ४८३)
६०२	**चचनामा** के अनुसार सिन्ध की गद्दी पर चच का आरोहण (पृ० १८९)
६०२-०८	श्रीलंका का मौद्गल्यायन III (पृ० ३२५)
६०५	चीनी सेना ने चम्पा पर आक्रमण किया (पृ० ७१५)
६०५-१७	सुयी राजवंश का सम्राट् यांग (पृ० ६८१)
ल. ६०६-१०	अनुज कदम्ब भोगी वर्मन् (पृ० ३०९)
६०६-१२	वलभी शीलादित्य II की ज्ञात तिथियाँ (पृ० ७१)
६०६-४७	हर्षवर्धन (पृ० १०८, १२८, १३५)
६०८	कलचुरि बुद्धराज का बादनेर दानपत्र (पृ० २२४)
६०८-१७	श्रीलंका का शिलामेघवर्ण (पृ० ३२९)
६०९	होरिऊर्जा विहार की तालपत्र पाण्डुलिपि जो जापान लायी गयी (पृ० ७०४)
६१०-११	रेवती द्वीप के सत्याश्रय-ध्रुवराज-इन्द्रवर्मन् का गोवा दानपत्र (पृ० २६७, २८४)
६१०-११;–६४२	चालुक्य पुलकेशिन् II (पृ० २६६)
ल. ६१५-१९	शैलोद्भव सैन्यभीत II माधवराज II (पृ० १६५)
६१५-३३, ६२४-४१,६३३-५०	विभिन्न मतों के अनुसार पू० चालुक्य विष्णुवर्धन (पृ० २८३)
६१६	वलभी का खरग्रह (पृ० ११७)
६१६	श्वेतक के गंग राजा जयवर्मन् का गंजाम दानपत्र (पृ० २४७)
६१७-३२	श्रीलंका का अग्रबोधि III (पृ० ३२६)
६१८-४०७	तांग राजवंश (पृ० ६८४)
६१९	शशांक की अन्तिम ज्ञात तिथि (पृ० १२१)

कि-पिन से चीन को भेजे गये छह राजदूत-मंडल (पृ० ६८६)
विष्णुकुंडिन् विक्रमेन्द्रवर्मन् III (पृ० २४०)
पांड्य मार-वर्मन् अवनिशूलामणि (पृ० ३०२)
वलभी का धरसेन III (पृ० ११७)
पू० गंग इन्द्रवर्मन् (पृ० २४०)
कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्वी चालुक्य राजवंश की स्थापना (पृ० २८४)
टबरी (Tabari) के अनुसार पुलकेशिन् II (?) का राजदूत-मंडल फारस के राजा खुसरू के यहां पहुंचा (पृ० २७१)
नालन्दा का प्रभाकरमिश्र चीन पहुंचा (पृ० ६८७)
काश्मीर में कर्कोट राजवंश के संस्थापक दुर्लभवर्धन का सिंहासनारोहण (पृ० १५०)
ब्रह्मगुप्त का संरक्षक छाप राजा व्याघ्रमुख (पृ० १८३)
ब्रह्मसिद्धान्त की रचनातिथि (पृ० ३६६)
हिउएनत्सांग ने भारत के लिए प्रस्थान किया (पृ० ६८४)
कन्दर्पधर्म अपने पिता शम्भुवर्मन् (चम्पा) के बाद गद्दी पर बैठा (पृ० ७१५)
गुर्जर दद्द II, प्रशान्तराग (पृ० ६६, २६८)
कम्बुज के ईशानसेन (या ईशानवर्मन्) ने फू-नान पर विजय प्राप्त की (पृ० ७१३)
हिउएन-त्सांग ने भारत भ्रमण किया (पृ० ११४)
पल्लव महामल्ल नरसिंहवर्मन् I (पृ० २६५)
पुलकेशिन् II ने पू० चालुक्य पृथिवी युवराज (विष्णुवर्धन) को वाइसराय नियुक्त किया (पृ० २३९)
पैगम्बर मुहम्मद साहब की मृत्यु (पृ० १९०)
खोतान के विजितसंग्राम ने चीन के दरबार में एक दूत भेजा (पृ० ६९५)
श्रीलंका का काश्यप II (पृ० ३२७)
हुल्त्श के अनुसार पू० गंग इन्द्रवर्मन् IV का प्राचीनतम दानपत्र (पृ० २४६)
नालन्दा के भिक्षु प्रभाकर मिश्र की मृत्यु (पृ० ६८७)
पू० चालुक्य जयसिंह I (पृ० २३७, २८५)
पुलकेशिन् II की ऐहोल प्रशस्ति (पृ० २३६, २६७)
उमर का खलीफा पद (पृ० २७८ पा० टि०)
कम्बुज के ईशानवर्मन् की मृत्यु (पृ० ७१३)

६३७	कैंडेसिया का युद्ध जिसमें मुसलमानों ने फारस साम्राज्य को नीचा दिखाया (पृ० १९०)
६३७	भारत (थाना) के विरुद्ध पहला अरबी नौसेना अभियान (पृ० १९०)
६३८	दो कोरियाई भिक्षुओं ने भारत के लिए प्रस्थान किया (पृ० ७०३)
६३८-५१	नेपाल का अंशुवर्मन् (पृ० ९७)
६४०	वलभी का ध्रुवसेन II (पृ० ७२)
ल. ६४०	सिंहली राजकुमार मानवर्मा का भागकर काँची पहुँचना (पृ० २९५)
६४०-७०९	मुसलमानों ने उत्तरी अफ्रीका पर विजय प्राप्त की (पृ० १९०)
६४०-७२०	गुर्जरों का राजा टाट और उसके तीन उत्तराधिकारी (पृ० १७५)
६४१	हर्ष ने चीनी सम्राट् के पास एक दूत भेजा जिसके जवाब में उसने भी अपना दूत भेजा (पृ० १३६)
६४१	मा-त्वान-लिन के अनुसार शीलादित्य ने 'मगध के राजा' की उपाधि धारण की (पृ० १२१)
६४१-६४२	हर्ष ने मगध, ओडिसा और कोंगोद पर विजय प्राप्त की (पृ० १२५)
६४१-५०	श्रीलंका का हस्तदंष्ट्र (या दंष्ट्रोपतिष्य II) (पृ० ३२७)
ल. ६४२	पल्लवों ने पुलकेशिन् II को हराया और बादामि पर कब्जा कर लिया;—पुलकेशिन् II की मृत्यु (पृ० २७२, २८५, २९५)
६४३	चालुक्य विजयराज का कैरा दानपत्र (पृ० २६७)
६४३	हर्ष ने बौद्ध सभा बुलाई (पृ० ११७)
६४३	नेपाल को भेजे गये चीनी राजदूत मंडल ने वहां गद्दी पर नरेन्द्रदेव को आसीन पाया। (पृ० ९६, १५५)
६४३	मगध को भेजा गया दूसरा चीनी राजदूत मंडल (पृ० १३६)
ल. ६४३	हर्ष ने उत्कल और कोंगोद पर विजय प्राप्त की।(पृ० १०८)
ल. ६४३	सिन्ध पर पहला अरब आक्रमण (पृ० १९२)
ल. ६४४	वलभी धरसेन IV का सिंहासनारोहण (पृ० १६७)
६४५	हिउएन त्सांग चीन लौटा (पृ० १३७, ६८५)
६४५-७भ	पांड्य शेन्दन (पृ० ३०२)
६४६	वांग हिउएनत्से के नेतृत्व में भारत में तीसरा चीनी राजदूत-मंडल (पृ० १३७)
ल. ६४६-४७	हर्ष की मृत्यु (पृ० १३७)
६४६-५०	वलभी धरसेन IV की ज्ञात तिथियाँ (पृ० ११७)
६४७-४८	वांग-हिउएन-त्से की भारत में शिष्ट-यात्रा (पृ० १५३)

वलभी के राजाओं ने गुर्जर राज्य नन्दिपुरी पर विजय प्राप्त की। (पृ० १६७)

खोतान के विजित सिंह ने अपने पुत्र को चीनी दरबार में भेजा। (पृ० ६९५)

वांग-हिउएन-त्से चीन लौटा (पृ० १४२)

अरबी साम्राज्य की उत्तरी सीमाएँ ओक्सस तक पहुँच गयीं। (पृ० १९०)

कोरियाई भिक्षु सर्वज्ञदेव तिब्बत और नेपाल होता हुआ भारत पहुँचा। (पृ० ७०३)

गुणसागर चालुक्यों के अधीन वनवासी का गर्वनर (पृ० ३१०)

तिब्बत के स्रोंत्सान-स्गाम-पो की मृत्यु (पृ० ७०२)

पू० गंग इन्द्रवर्मन् IV की अन्तिम ज्ञात तिथि (पृ० २४६)

काशिकावृत्ति (पृ० ३५२, ३६२)

श्रीलंका का अग्रबोधि VI (पृ० ३२७)

नेपाल के नरेन्द्रदेव ने चीनी सम्राट् के दरबार में एक शिष्टमंडल भेजा। (पृ० १५५)

वलभी का ध्रुवसेन III (पृ० १६९)

सेन्द्रक प्रमुख पृथ्वीवल्लभ निकुम्भाल्लशक्ति का बगुम्रद दानपत्र (पृ० २६७)

चालुक्य विक्रमादित्य I (पृ० २७२)

वलभी का खरग्रह II धर्मादित्य (पृ० १६८)

चम्पा के प्रकाशधर्म (विक्रान्तवर्मन्) का सिंहासनारोहण (पृ० ७१५)

भारत में वांग हिउएन-त्से का तीसरा राजदूत-मंडल (पृ० ६८८)

भारत के विरुद्ध महान् अरब अभियान (पृ० १९२)

मुवाविया का खलीफा पद (पृ० १९०)

वलभी का शीलादित्य II (पृ० १६९, २७७)

किकान (सिन्ध) के लोगों ने मुस्लिम सेना को समूल नष्ट कर दिया और अधिकतर मुस्लिम सेना को उनके नेताओं के साथ मार डाला (पृ० १९३)

पू० चालुक्य इन्द्रवर्मन् (पृ० २८५)

पू० चालुक्य विष्णुवर्धन् II (पृ० २८६)

भारत में वांग-हिउएन-त्से का चतुर्थ राजदूत-मंडल (पृ० ६८८)

हिउएनत्सांग की मृत्यु (पृ० ६८६)

श्रीलंका का दत्त (पृ० ३२८)

६६८	श्रीलंका का हस्तदंष्ट्र II (पृ० ३२७)
ल. ६६८-७०	पल्लव महेन्द्रवर्मन् II (पृ० २९६)
६६८-७०३	श्रीलंका का मानवर्मन् (पृ० ३२७)
६७०-९२	युवराज श्रीश्राश्रय शीलादित्य (पृ० २७७)
ल. ६७०-९५	पल्लव परमेश्वरवर्मन् I (पृ० २९६)
६७०-७१०	पांड्य श्ररिकेसरी मारवर्मन् (पृ० ३०३)
६७०-७१३	पं० गंग शिवमार I (पृ० ३०५)
६७०-७४१	श्रीविजय ने चीन को कई राजदूत-मंडल भेजे। (पृ० ७२०)
६७१-९५	इ-त्सिंग की भारत-यात्रा (पृ० २)
६७१	इत्सिंग ने समुद्र मार्ग से भारत के लिए प्रस्थान किया (६८६)
ल. ६७२-९६	पू० चालुक्य मांगी युवराज (पृ० २८६)
ल. ६७५-७००	श्रालूपों का चित्रवाहन I (पृ० ३१०)
६७६	वलभी शीलादित्य III का दानपत्र (पृ० १६९)
६७६	गाइगेर के श्रनुसार मानवर्मन् का सिंहासनारोहण (पृ० ३२ टि. १)
१७९-९१	कलिंग के देववर्मन् की ज्ञात तिथियाँ (पृ० २४६)
६८१	श्वेतक के गंग राजा सामन्तवर्मन् का चिदिविलस (Chidi lasa) दानपत्र (पृ० २४७)
६८१-९६	चालुक्य विनयादित्य (पृ० २२५-२७७)
६८३	काबुल का श्ररबों के खिलाफ विद्रोह (पृ० १९०)
६८४	श्री जयनाश (जयनाग) ने सुमात्रा पर शासन किया (पृ० ७१
६८४	गुहिलोत धनिक का चत्सु श्रभिलेख (पृ० १८२)
६८५	वलभी के राजाश्रों ने गुर्जर राज्य नन्दिपुरी पर विजय प्राप्त (पृ० १६९)
६८५	श्ररबों ने युद्ध में जाबुल के राजा को मार डाला श्रौर उसकी को तितर बितर कर दिया (पृ० १९१)
६९०-७३५	श्रचलपुर का राष्ट्रकूट नन्न (पृ० २३०)
६९३	बोधिरुचि नाम का एक भारतीय पंडित चीन गया (पृ० ६८
ल. ६९५	चालुक्य विनयादित्य का "उत्तर के प्रभु" (? यशोवर्मन्) साथ युद्ध (पृ० १४७)
६९५	श्रल हज्जाज इराक का गवर्नर बना (पृ० १९१)
ल. ६९५-७२२	पल्लव नरसिंह वर्मन् II राजसिंह (पृ० २९७, ३१८)
ल. ६९६-७०९	पू० चालुक्य जयसिंह II (पृ० २८३)
६९६-७३३	चालुक्य विजयादित्य (पृ० २७८)

अब्दुर्रहमान ने जाबुल पर आक्रमण किया, राजा को हराया और प्रदेश का विध्वंस किया (पृ० १६०)
पू० गंग अनन्तवर्मन् का पर्लाकिमेडी (Parlakimedi) दानपत्र (पृ० २४६)
कन्नौज का यशोवर्मन् (पृ० १४९)
नेपाल ने तिब्बत के खिलाफ बगावत की। (पृ० १५३)
श्रीलंका का अग्रबोधि V (पृ० ३२८)
तिब्बत का मेसाग-त्शोम्स (पृ० ७०२)
राष्ट्रकूट नन्नराज का मुल्ताइ दानपत्र (पृ० २३०)
पृथ्वीचन्द्र भोगशक्ति का अंजनेरी (Añjaneri) दानपत्र (पृ० २२३)
श्रीलंका का काश्यप III (पृ० ३२८)
पू० चालुक्य विष्णुवर्धन III (पृ० २८३)
पल्लव नरसिंह वर्मन् ने चीन में एक राजदूत-मंडल भेजा (पृ० ३९०)
कपिशा के राजा ने चीन में एक राजदूत-मंडल भेजा (पृ० ६८९)
पांड्य कोच्चडैयन (Kochchdaiyan) रणधीर (पृ० ३०३)
मुहम्मद-इब्न-कासिम द्वारा सिन्ध पर विजय (पृ० ५१०)
चित्तौर के राजा मान का अभिलेख (पृ० १८४)
मुसलमानों द्वारा स्पेन का अधीनीकरण (पृ० १९०)
काश्मीर के चन्द्रापीड़ ने चीनी सम्राट् के पास दूत भेजा (पृ० १५१)
नेपाल का शिवदेव (पृ० १५३)
अल हज्जाज की मृत्यु (पृ० १९५)
श्रीलंका का महेन्द्र (पृ० ३२८)
पू० गंग नन्दनवर्मन् का सान्ता बोम्माली (Santa Bomamal) दानपत्र (पृ० २४६)
उमर II का खलीफा पद (पृ० १९६, ५१३)
श्रीलंका का अग्रबोधि VI (पृ० ३२९)
नालन्दा का वज्रबोधि चीन पहुंचा (पृ० ६८७)
पल्लव नरसिंहवर्मन् और चीनी सम्राट् के बीच राजदूत-मंडलों का आदान प्रदान (पृ० ३१७, ३९०)
पल्लव परमेश्वरवर्मन् II (पृ० ३१८, ३१७)
सिन्ध राजपूताना, गुजरात और काठियावाड़ पर अरबों के हमले (पृ० १९७)
हिशाम का खलीफा पद (पृ० १९६)

ल. ७२४-६०	ललितादित्य मुक्तापीड़ (पृ० १५२)
ल. ७२५	चालुक्यों ने कुछ समय के लिए गुजरात के खेटक पर कब्जा लिया। (पृ० १७८)
७२५-३५	यशोवर्मन् ने पूर्वी और पश्चिमी बंगाल को जीत लिया। (पृ० १६३)
७२५-८८	प० गंग श्रीपुरुष (पृ० ३०६, ३१८)
७२७	भारतीय पंडित बोधिरुचि की मृत्यु (पृ० ६८७)
७२८ (या ७३४)	चित्तौर पर बप्पा का कब्जा (पृ० १८०)
७३०-ल. ८००	नन्दिवर्मन् II पल्लवमल्ल (पृ० २९७)
७३१	इ-शा-फु-मोसे (? यशोवर्मन्) के ने चीन को संघभद्र नामक दूत भेजा (पृ० १४८)
७३२	वज्रबोधि की मृत्यु (पृ० ६८८)
७३३	भारत से बोधिसेन और चम्पा से बुत्तेत्सु (Buttetsu) चीन (पृ० ७०२)
७३३-३४; -४६	चालुक्य विक्रमादित्य II (पृ० २२५)
७३५	नन्दिपुरी के गुर्जर वंश का अन्तिम राजा जयभट्ट IV (पृ० १
७३५	कहा जाता है कि पारसी प्रवासियों का पहला उपनिवेश संजा स्थापित हुआ (पृ० २७८, टि. १)
७३६	ललितादित्य ने चीन को एक राजदूत-मंडल भेजा। (पृ० १
७३६	बोधिसेन और बुत्तेत्सु (Buttetsu) जापान पहुँचे (पृ० ७
७३६	वज्रबोधि का शिष्य अमोघवज्र श्रीलंका लौटा। (पृ० ६
ल. ७४०	चालुक्य विक्रमादित्य II ने कांची पर कब्जा कर लिया। (पृ० २
७४०-६५	पांड्य माधववर्मन् राजसिंह (पृ० ३०२)
ल. ७४२-५७	राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग (पृ० २६६)
७४४-४५; -५७	चालुक्य कीर्तिवर्मन् (पृ० २८०)
७४६	गुजरात के इतिवृत्तों (chronicles) के अनुसार चापोत्कट बनराज ने अनहिल पाटक की स्थापना की। (पृ० १८३)
७४६-६४	पू० चालुक्य विजयादित्य I (पृ० ६८८)
७४६-७१	अमोघवज्र ने ७७ पोथियों का अनुवाद किया (पृ० ६८८)
७४७-५०	पू० गंग देवेन्द्रवर्मन् (पृ० २४६)
७४९	चम्पा के रुद्रवर्मन् II ने चीन को उपहार भेजे। (पृ० ७
७४९	जापान में बुद्ध वैरोचन की एक विशाल प्रतिमा स्थापित की (पृ० ७०३)
७५०	बोधिसेन जापान में बौद्ध संघ का प्रधान नियुक्त हुआ (पृ० ७
ल. ७५०	कपिशा के राजा ने चीन में राजदूत-मंडल भेजा (पृ० ६८

चीनी सम्राट् ने कपिशा के भारतीय राजदूत की वापसी पर उसके साथ बू कौंग के नेतृत्व में एक शिष्टमंडल भेजा (पृ०६८९)

बप्पा ने गद्दी त्याग दी (पृ० १८०)

बी०व्ही०के०राव के अनुसार विजयादित्य I (पृ० २८७, टि० २)

चालुक्य कीर्तिवर्मन् II का वक्कालेरी दानपत्र (पृ० २८२)

चम्पा के रुद्रवर्मन् II की मृत्यु (पृ० ७१५)

खलीफा मंसूर ने अमरु-बिन-जमाल को एक नौसेना के साथ बरादा (Barada) पहाड़ियों को भेजा (पृ० १७३)

ललितादित्य की मृत्यु (पृ० १५४)

बोधिसेन की मृत्यु (पृ० ७०४)

पांड्य नेडुंजडैयन (पृ० ३००)

वलभी का शीलादित्य VII (पृ० १७१)

अमोघवज्र की मृत्यु (पृ० ६८८)

सौराष्ट्र का शासक वराह (या जयवराह) (पृ० १७२)

राष्ट्रकूट गोविन्द III (पृ० २५२)

फारसी इतिहासकार टबरी (Tabari) (पृ० ७०३)

अम्म II, राजमहेन्द्र (पृ० २८४)

वंशावली

१. गुप्त सम्राट्

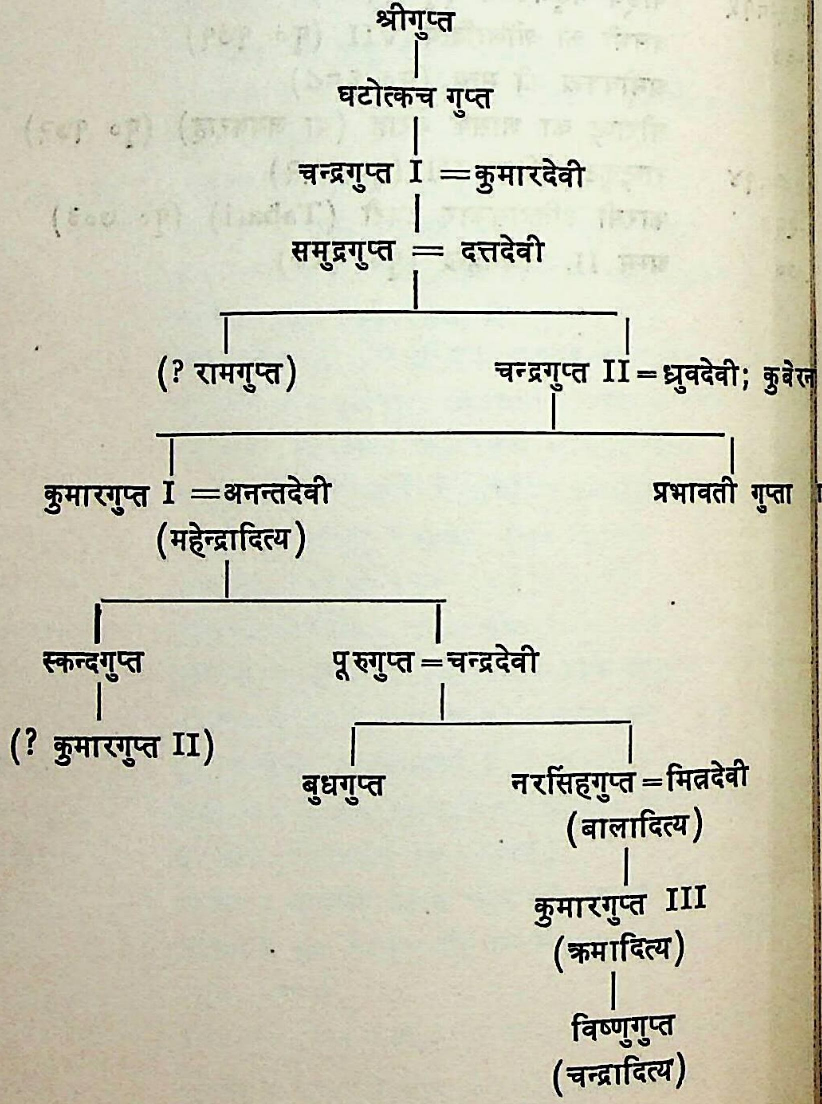
श्रीगुप्त
घटोत्कच गुप्त
चन्द्रगुप्त I =कुमारदेवी
समुद्रगुप्त = दत्तदेवी
(? रामगुप्त)
चन्द्रगुप्त II=ध्रुवदेवी; कुवेरन
कुमारगुप्त I =अनन्तदेवी
(महेन्द्रादित्य)
प्रभावती गुप्ता
स्कन्दगुप्त
(? कुमारगुप्त II)
पूरुगुप्त=चन्द्रदेवी
बुधगुप्त
नरसिंहगुप्त=मित्रदेवी
(बालादित्य)
कुमारगुप्त III
(क्रमादित्य)
विष्णुगुप्त
(चन्द्रादित्य)

१. कृष्णगुप्त
२. हर्षगुप्त
३. जीवितगुप्त
४. कुमारगुप्त
५. दामोदरगुप्त
६. महासेनगुप्त

. माधवगुप्त   कुमारगुप्त

८. आदित्यसेन
९. देवगुप्त
१०. विष्णुगुप्त
११. जीवितगुप्त

(क)

१. यज्ञवर्मन्
२. शार्दूलवर्मन्
३. अनन्तवर्मन्

(ख)

१. महाराज हरिवर्मन्
२. ,, आदित्यवर्मन्
३. ,, ईश्वरवर्मन्
४. महाराजाधिराज ईशानवर्मन्

५. महाराजाधिराज सर्ववर्मन्

६. ,, अवन्तिवर्मन्

ग्रहवर्मन् सुव (?)

४. बंगाल

१. गोपचन्द्र
२. धर्मादित्य
३. समाचारदेव
(नरेन्द्रादित्य)

५. बंगाल का खड्ग राजवंश

१. खड्गोद्यम
२. जातखड्ग
३. देवखड्ग
४. राजराजभट

६. नेपाल के लिच्छवी

वृषदेव
शंकरदेव
धर्मदेव
मानदेव
महीदेव
वसन्तसेन (वसन्तदेव)
शिवदेव I

अंशुवर्मन्
जिष्णुगुप्त
नरेन्द्रदेव
शिवदेव II
जयदेव

१. पुष्यवर्मन्
२. समुद्रवर्मन्
३. बलवर्मन्
४. कल्याणवर्मन्
५. गणपतिवर्मन्
६. महेन्द्रवर्मन्
७. नारायणवर्मन्
८. भूति (महाभूति) वर्मन्
९. चन्द्रमुखवर्मन्
१०. स्थित (स्थिति) वर्मन्
११. सुस्थित (सुस्थिर) वर्मन्

१२. सुप्रतिष्ठितवर्मन् १३. भास्करवर्मन्

८. शैलोद्भव राजे

रणभीत

सैन्यभीत I माधवराज I

अयशोभीत I

सैन्यभीत II माधवराज II

अयशोभीत II

सैन्यभीत III माधववर्मन् (श्रीनिवास)

अयशोभीत III मध्यमराज I

मानभीत धर्मराज

मध्यमराज II रणक्षोभ

अल्लवराज

मध्यमराज III

९. पुष्पभूति

महाराज नरवर्धन

महाराज राज्यवर्धन

महाराज आदित्यवर्धन

परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्धन

परमभट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्धन

परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्धन

१०. कार्कोट

दुर्लभवर्धन

दुर्लभक

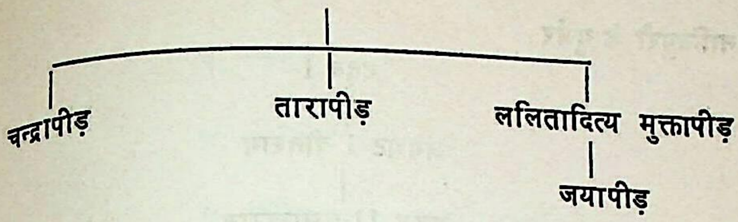
चन्द्रापीड़
तारापीड़
ललितादित्य मुक्तापीड़
जयापीड़

वलभी के मैत्रक

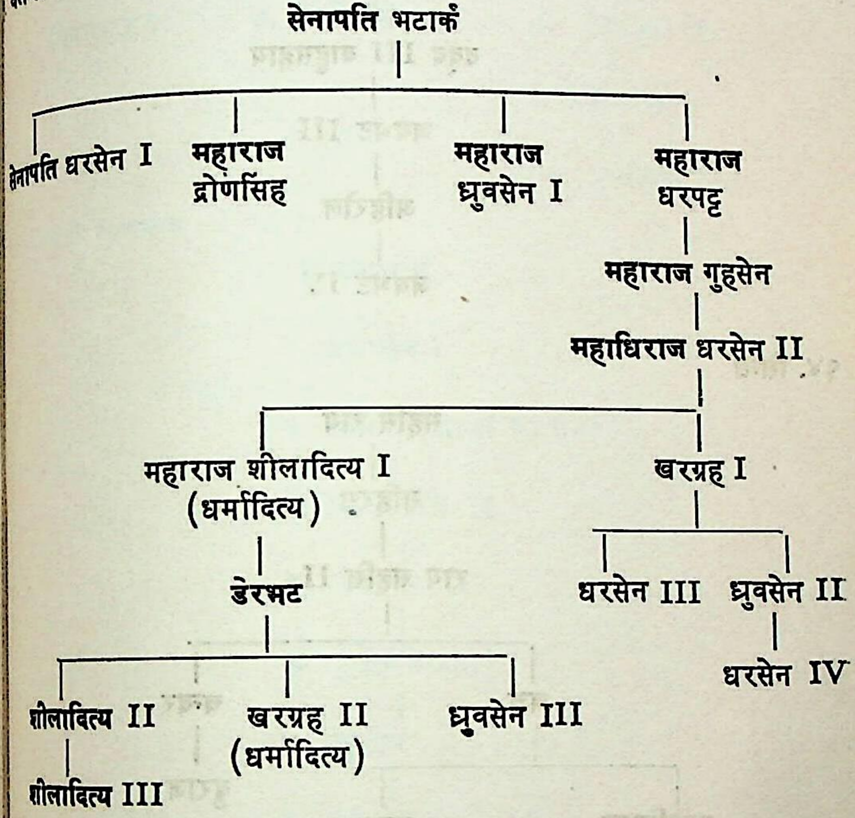
सेनापति भटार्क
सेनापति धरसेन I
महाराज द्रोणसिंह
महाराज ध्रुवसेन I
महाराज धरपट्ट
महाराज गुहसेन
महाधिराज धरसेन II
महाराज शीलादित्य I (धर्मादित्य)
खरग्रह I
डेरभट
धरसेन III
ध्रुवसेन II
धरसेन IV
शीलादित्य II
खरग्रह II (धर्मादित्य)
ध्रुवसेन III
शीलादित्य III

राजपुताना के गुर्जर

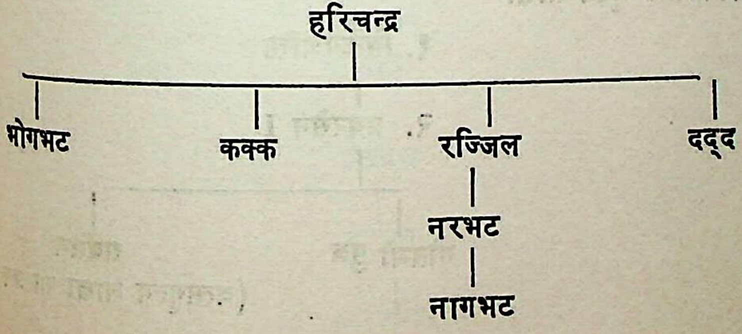
हरिचन्द्र
भोगभट
कक्क
रज्जिल
दद्द
नरभट
नागभट

१३. नान्दिपुरी के गुर्जर

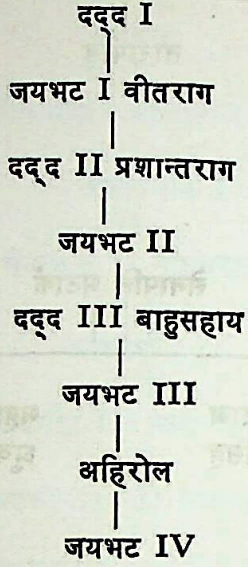
दद्द I
जयभट I वीतराग
दद्द II प्रशान्तराग
जयभट II
दद्द III बाहुसहाय
जयभट III
अहिरोल
जयभट IV

१४. सिन्ध

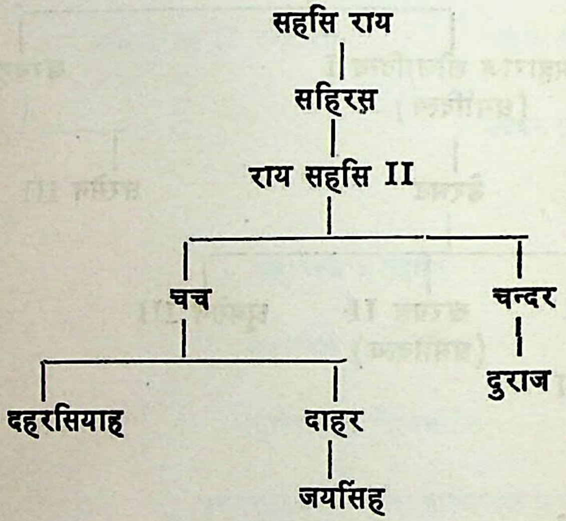
सहसि राय
सहिरस
राय सहसि II
चच
चन्दर
दहरसियाह
दाहर
दुराज
जयसिंह

१५. वाकाटक : मुख्य शाखा

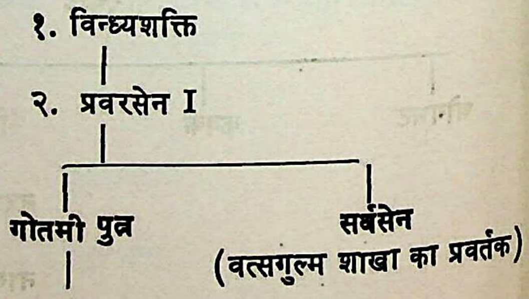
१. विन्ध्यशक्ति
२. प्रवरसेन I
गोतमी पुत्र
सर्वसेन
(वत्सगुल्म शाखा का प्रवर्तक)

३. रुद्रसेन I
४. पृथ्वीषेण I
५. रुद्रसेन II=प्रभावती गुप्ता

६. दिवाकरसेन
७. दामोदरसेन
८. प्रवरसेन II
९. नरेन्द्रसेन
१०. पृथ्वीषेण II

वत्सगुल्म के वाकाटक

विन्ध्यशक्ति
प्रवरसेन I
१. सर्वसेन (शाखा का प्रवर्तक)
२. विन्ध्यशक्ति II
३. प्रवरसेन II
४. (नाम अज्ञात)
५. देवसेन
६. हरिषेण

नल

भवत्त (? भवदत्त) वर्मन्
? स्कन्दवर्मन्
अर्थपति

कूटक

इन्द्रदत्त
दहरसेन
व्याघ्रसेन

१९. कलचुरि

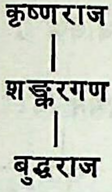
कृष्णराज
शङ्करगण
बुद्धराज

२०. मानपुर के राष्ट्रकूट

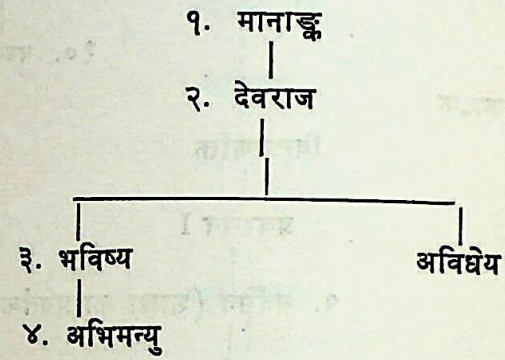
१. मानाङ्क
२. देवराज
३. भविष्य
अविधेय
४. अभिमन्यु

२१. अचलपुर के राष्ट्रकूट

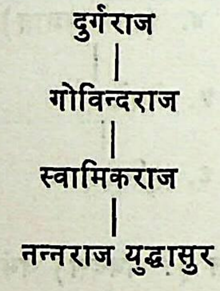
दुर्गराज
गोविन्दराज
स्वामिकराज
नन्नराज युद्धासुर

२२. वासिष्ठ

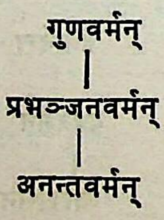
गुणवर्मन्
प्रभञ्जनवर्मन्
अनन्तवर्मन्

२३. शालङ्कायन

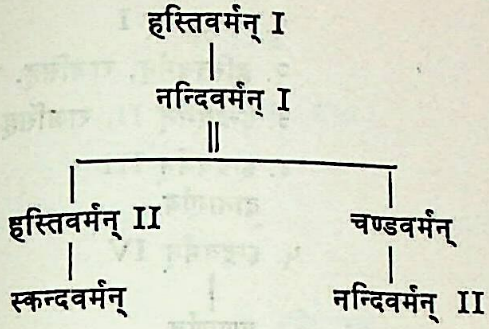

हस्तिवर्मन् I

नन्दिवर्मन् I

हस्तिवर्मन् II

स्कन्दवर्मन्

चण्डवर्मन्

नन्दिवर्मन् II

उमावर्मन्
चण्डवर्मन्
नन्दप्रभञ्जनवर्मन्

रणदुर्जय
विक्रमेन्द्र
पृथ्वी महाराज

१. विक्रमहेन्द्र (विक्रमेन्द्रवर्मन्)
२. गोविन्दवर्मन् विक्रमाश्रय
३. माधववर्मन् I जनाश्रय

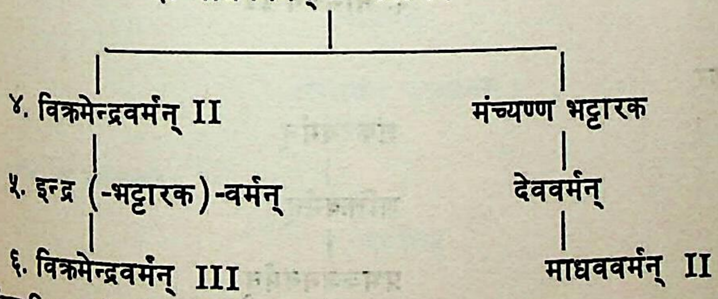

४. विक्रमेन्द्रवर्मन् II

५. इन्द्र (-भट्टारक)-वर्मन्

६. विक्रमेन्द्रवर्मन् III

मंच्यण्ण भट्टारक

देववर्मन्

माधववर्मन् II

(भिन्न विचार के लिए देखें पृ० २५४)

२७. पूर्वी गंग

१. इन्द्रवर्मन् I
२. हस्तिवर्मन्, राजसिंह, रणभीत
३. इन्द्रवर्मन् II, राजसिंह
४. इन्द्रवर्मन् III
दानार्णव
५. इन्द्रवर्मन् IV
गुणार्णव
६. देवेन्द्रवर्मन्
७. अनन्तवर्मन्
८. नन्दवर्मन् (इन्द्रवर्मन्)   ९. देवेन्द्रवर्मन् II

२८. दक्षिण कोसल (उत्तरी भाग)

१. सूर
२. दयित I
३. विभीषण
४. भीमसेन I
५. दयितवर्मन् II
६. भीमसेन II

२९. मठर

शंकरवर्मन्
शक्तिवर्मन्
प्रभञ्जनवर्मन्
अनन्तशक्तिवर्मन्

शरभपुरीय

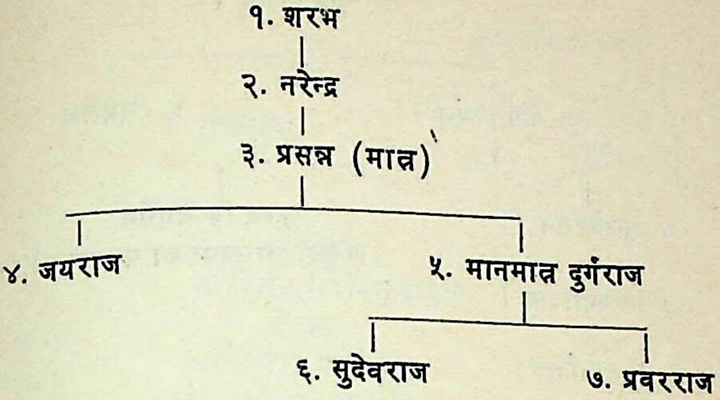
१. शरभ
२. नरेन्द्र
३. प्रसन्न (मात्र)
४. जयराज
५. मानमात्र दुर्गराज
६. सुदेवराज
७. प्रवरराज

१. दक्षिण कोशल के पाण्डुवंशी

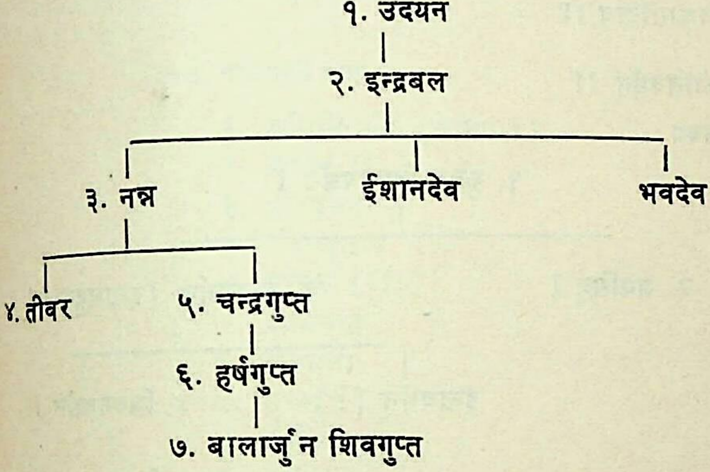
१. उदयन
२. इन्द्रबल
३. नन्न
ईशानदेव
भवदेव
४. तीवर
५. चन्द्रगुप्त
६. हर्षगुप्त
७. बालार्जुन शिवगुप्त

२. मेकल के पाण्डुवंशी

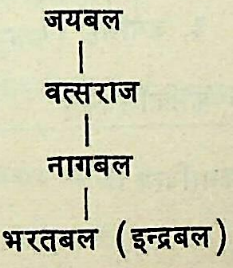
जयबल
वत्सराज
नागबल
भरतबल (इन्द्रबल)

३. वातापि के चालुक्य

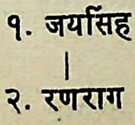
१. जयसिंह
२. रणराग

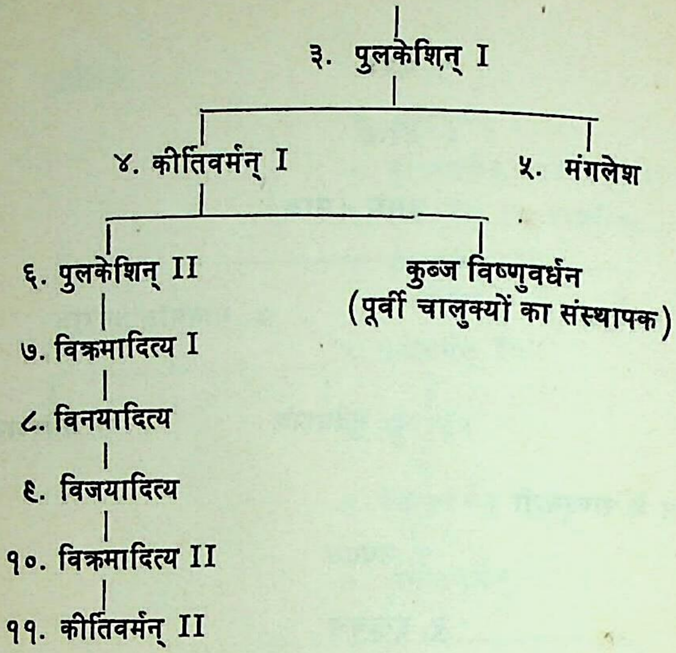
३. पुलकेशिन् I
४. कीर्तिवर्मन् I
५. मंगलेश
६. पुलकेशिन् II
कुब्ज विष्णुवर्धन
(पूर्वी चालुक्यों का संस्थापक)
७. विक्रमादित्य I
८. विनयादित्य
९. विजयादित्य
१०. विक्रमादित्य II
११. कीर्तिवर्मन् II

३४. पूर्वी चालुक्य

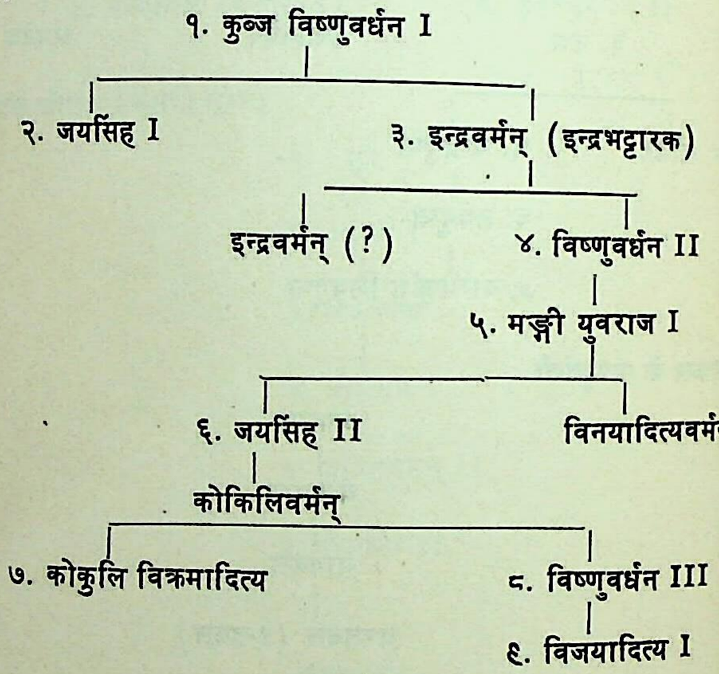
१. कुब्ज विष्णुवर्धन I
२. जयसिंह I
३. इन्द्रवर्मन् (इन्द्रभट्टारक)
इन्द्रवर्मन् (?)
४. विष्णुवर्धन II
५. मङ्गी युवराज I
६. जयसिंह II
विनयादित्यवर्मन्
कोकिलिवर्मन्
७. कोकुलि विक्रमादित्य
८. विष्णुवर्धन III
९. विजयादित्य I

३५. रेनाण्डु के चोल

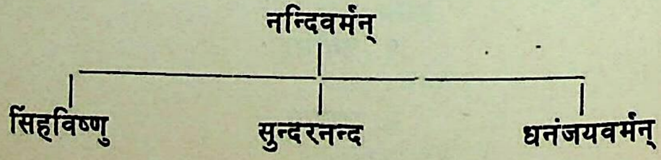
नन्दिवर्मन्
सिंहविष्णु
सुन्दरनन्द
धनंजयवर्मन्

महेन्द्रविक्रमवर्मन्

गुणमुदित

पुण्यकुमार

३६. पांड्य

कडुङ्गोण

मारवर्मन् अवनिशूलामणि

शेन्दन

अरिकेसरी मारवर्मन्

कोच्चडैयन रणधीर

मारवर्मन् राजसिंह I

नेडुञ्जडैयन

३७. पश्चिमी गंग

१. कोंगुनिवर्मन् (माधव I)

२. माधव II

३. हरिवर्मन्

३.क विष्णुगोप

४. माधव III

५. अविनीत

६. दुर्विनीत

७. मुष्कर

८. श्रीविक्रम

९. भूविक्रम

१०. शिवमार I

११. (नाम अज्ञात)

१२. श्री पुरुष

त्र मत के लिए देखें एस. एस. शास्त्री लिखित **तलकाद के पूर्वी गंग**, पृ० २२)

३८. कदम्ब (अग्रज शाखा)

१. मयूरशर्मन्

२. कंगवर्मन् (या स्कन्दवर्मन्)

३. भगीरथ

४. रघु

५. काकुत्स्थवर्मन्

६. शान्तिवर्मन् — कुमारवर्मन् — कृष्णवर्मन् (अनुज शाखा के प्रवर्तक)

६. शान्तिवर्मन्
७. मृगेशवर्मन्
९. रविवर्मन्
१०. हरिवर्मन्

कुमारवर्मन्
८. मान्धातृवर्मन्

३९. कदम्ब (अनुज शाखा)

१. कृष्णवर्मन् I
२. विष्णुवर्मन्
३. सिंहवर्मन्
४. कृष्णवर्मन् II
५. अजवर्मन्
६. भोगिवर्मन्

४०. पल्लव

(देखें पृ. (३१९–३२१)

४१. श्रीलंका

१. महासेन
२. श्रीमेघवर्ण
३. ज्येष्ठतिष्य II (२ का भाई या भतीजा)
४. बुद्धदास
५. उपतिष्य I
६. महानामन् (५ का भाई)
७. मित्रसेन
८-१३. पाण्डय और पाँच दमिल उत्तराधिकारी
१४. धातुसेन
१५. काश्यप I
१६. मौद्गल्यायन I (१५ का भाई)

१७. कुमारदास
१८. कीर्तिसेन
१९. शिव (१८ का मामा)
२०. उपतिष्य II (१६ का बहनोई)
२१. शिलाकाल
२२. दंष्ट्रप्रभूति
२३. मौद्गल्यायन II (२१ का पुत्र)
२४. कीर्ति श्रीमेघ
२५. महानाग
२६. अग्रबोधि I (२५ का भांजा)
२७. अग्रबोधि II (२६ का भांजा)
२८. संघतिष्य (? २७ का भाई)
२९. मौद्गल्यायन III
३०. शिलामेघवर्ण
३१. अग्रबोधि III, श्रीसंघबोधि
३२. ज्येष्ठतिष्य III (२८ का पुत्र)
३३. अग्रबोधि III (पुनः)
३४. दंष्ट्रोपतिष्य I
३५. काश्यप II (३१ का भाई)
३६. दप्पुल (३५ का बहनोई)
३७. हस्तदंष्ट्र I या दंष्ट्रोपतिष्य II (३४ का भांजा)
३८. अग्रबोधि IV (३७ का भाई)
३९. दत्त
४०. हस्तदंष्ट्र II
४१. मान या मानवर्मन् (३५ का पुत्र)
४२. अग्रबोधि V
४३. काश्यप III (४२ का भाई)
४४. महेन्द्र (४३ का भाई)
४५. अग्रबोधि VI

अनुक्रमणिका

०.
६३३.
निकाय ४५१.
९५-९८, ११५, १४२,
१५४-५६, ६२१, ७०१.
४६८-६९.
३३१-३२, ४९५-९६, ५०
५१९.
३४२-४३.
३४६.
यज्ञ २६३.
३२५-२७, द्वितीय— ३२६,
३२६-२७, चतुर्थ— ३२७—२८,
३२९.
२६२.
विक्रांत २९०, ३००, ३०१.
२१२-१४, २५५, २७२,
-२९, ५३१-३५, ५३९-४१,
-८७, ५९२, ६०२-०६,
-१३, ६१९, ६५७, ६५९, ६९२,
७०८.
३०९.
९२.
-डल-हिन्द ५०८.
घोष ५९०.
१०६.
वी ४६९.
भट्टारिका २१०.
४५४, ४५६.
२९३.
२३१-३२.
३३६,—संहिता ६४२.
२९३.
र्शन ४९६, वाद— ३३४, ३४१,
, वेदान्त— ४८४.
मायण ३३४.

अनंगहर्ष मात्रराज ३५२.
अनन्त वर्मन् (अवंतिवर्मा) ७७-८०, ११५, २४३, २४६, ४७३, ४७७.
अनन्त-शक्ति-वर्मन् २४२-४३.
अनहिलवाड २५९.
अनागतवंस-अट्ठकथा ४५५.
अनिरुद्ध ४७३, ४८२, ४०३-०४.
अनिरुद्धवर्मन् २२०.
अनिर्जितवर्मन् २१९.
अनिवारिताचार्य २७९.
अनुयोगद्वार ३६८, ४६७.
अनुलग्न ५६२.
अनुसूया (अनसूया) ३४४, ६२९.
अनेसकी ६७७.
अनेसेज्जेय-बसादि २७९.
अनेस्टेटियस ७०५.
अन्तक (यम) ३९५.
अन्धकासुर ४९७.
अन्नम ७११, ७१७, ७२२.
अन्नपूर्णा ४९८.
अपदान ४५०.
अपर्णा ४९७.
अपस्तंब ३३६.
अपरार्क ३३९.
अप्पर (संत) २९४, ३७०-७३, ३७७, ६६४, ४८६-८७.
अप्सरा (ग्वालियर म्यूजियम) ५८४, ६०६-०७, ६१२.
अप्सरादेवी १०९.
अफजल खान १३९.
अब्द-अर-रहमान १९१.
अब्बासिद १९८.
अभयदत्त ४००.
अभिधम्म ४५१, ४५६.
अभिधर्म कोश ३८७, ४३२, ४३९ पिटक— ४४४, समुच्चय— ४३८-३९.

अभिनव बाण (वामन भट्ट बाण) ३५८.
अभिमन्यु २२७, २२९, २६१.
अभिसमयालंकारिका ४३८.
अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६३१.
अमर ३३०, ३५५, ३६०.
अमरकंटक २५२.
अमरकोश ३६०-६१, ४७४, ६२९, ६३४, ६३९-४०, ६५५-५८, ६६०-६१, ६६४-६६, ६६९.
अमरावती ३१२, ४३१, ५६८, ७१४, ७२३.
अमरु ३५४.
अमलनादिप्पिरान ३८३.
अमिताभ ४२७, ४३५, ४४७, ६८२.
अमीदा ६४.
अमीर अली ५१५.
अमीर-उद्-दौला ५०९-१०.
अमृत गुफा ९, ५४४.
अमोघवर्ण २५२.
अम्मा द्वितीय (राजमहेन्द्र) २८४.
अम्मिआनस ६४.
अम्बा ५०४.
अल्-बालाधुरी ५१०-११.
अल्-हज्जाज १९१-९६.
अयशोभीत (माधवराज प्रथम) १०७, १६४-६५, (द्वितीय) १६५.
अयोध्या ६९, १०६, १४७, २२६, २६१, ४०३, ४३२, ४३४, ४३८.
अय्यण-महादेवी (रानी) २८३, २८६.
अय्यर, सी.बी.एन. ३७१, ३८५, ५२५.
अय्यवर्मन् १०२.
अरस्तू ५२०.
अरब सागर २१, २६, ३०, ३५.
अराकान ७१६-१७.
अरावुथन, टी.जी. ७८.
अरुणाश्व १४२.
अर्जुन २२६, २६१, ३५२, ४७१, ४८३, ४९८, ५६८, ५९५, कार्त्तवीर्य— ३५३.
अर्जुनदत्त २४२.
अर्थपति भट्टारक २१६-१७.
अर्थशास्त्र ९२, २८९, ३९२-९६ ६५०, ६५२, ६५७, ६६१, ६६५.
अर्धदेवता ६१४.
अर्बुद १८६.
अर्हद्बलि ४६४.
अलबेरूनी १३०-३१, १७२-७४, ३३५, ३३८.
अलमसूर (खलीफा) ६९७.
अलात-चक्र ३४१.
अलैरिक ७०५.
अल्टेकर, अ.स. १९, ५०, २५७ २६३, ३२१.
अलूप १६६.
अवतारवाद ४७४.
अवदान ४२४.
अवध ५, ५०.
अवन्ति सुन्दरी कथा ३५७, कथासार- २८२.
अवन्ती (अवन्ति) ६०, ७५, १७१ १७६, १७८-७९, २१३–१४.
अवलोकितेश्वर ४२८-२९, ४४१, ४४७, ५९१, ६०३, ६०८, बोधि- सत्त्व— ११४.
अविनीतकोंगणि २६७, ३०५, ४६२.
अविधेय २२८-२९.
अशोक ७, १६-१७, २०९, २१८ २४७, २८९, २९७, ३१०-११ ३९६-९७, ३९९, ७२३.
अशोकराज खानदान १२१, १८४.
अश्मक २१४.
अश्वघोष ३३०, ३४३, ४३४, ४३८.
अश्वत्थामा २९१, ३११, ३९४.
अश्वपति ७६.
अश्वमेघ यज्ञ १४, १६, २५, १०३ १६६, २२०, २३५, २३७, २५४-५५, २६२-६३, २८७, २९०, २९२, २९८, ३०९, ३१५, ४२०, ४६२.
अश्ववर्मन् ७२१.
अष्टदिक्पाल ५०६.
अष्टधातु ६५१.
अश्वशास्त्र ३६३.
अष्टांग संग्रह ३६३, हृदय संहिता-

आर, ए.एस. ६१८.
आर्केडियस (सम्राट) ७०४.
आर्देशिर ५५, ५८, ६१, ६५-६६.
आर्यदेव २९३, ३८६, ३९२, ३३४-३५, ६००, देश– ७१२.
आर्यभट्ट ३३०, ३६४.
आर्यभटीयदशगीतिकासूत्र ३६४.
आर्यशूर ३८६, ३९१-९२.
आर्यमंजूश्रीकल्प २३८.
आर्या ३६०.
आर्यावर्त (गंगा यमुना की घाटी) ५५, २०४-०५, ५८२-८३, ५८५, ५९१, ५९५, ५९७-९९, ६००.
आर्यगीति ३६०.
आर्यभट्टीय ३६५.
आलवार ३७०-७१, ३७६-७७, ३८२-८४ ४६४ ४७८-७९ कुलशेखर– ३७६-७७, तिरुंगमय– ३७१, ३७६, तिरुमंगई– ३८३-८४, तिरुमलिगई– ३७१, तिरुप्पान– ३७६, पोइकइ– ३७६, वैष्णव– ३६९, ३७६.
आलुपराज (आलुपरशर) ३१८.
आलुवों (आलुपों) २७७, ३१०.
आसाम ९८, ६१६.
आत्रेयी ६२९.

इडइक्काडर ३८४.
इड़यैनार ३८४.
इतालवी ७०७.
इन्द्रजी, भगवान लाल ७५, ९३-९४, ९९, १००, १५७, १८३.
इन्द्र २२९, २३९, २४५, २५९, ३३२, ३९०, ३९३, ३९५, ४१९, ४७३, ४९५, ४९७.
इन्द्रदत्त २२०.
इन्द्रद्युम्न ३३४.
इन्द्रवर्मन् (इन्द्रभट्टारक) २३६, २३९-४०, २४५, २५४-५६, २६५, २८४-८५, द्वितीय– २४५-४६, तृतीय– २४५-४६, चतुर्थ– २४६.
इन्द्रसभा (चित्र) ५३५, ५५५.
इलाहाबाद ६, १३, १५, ५५, ६५,

१०२, २३३, २४१, ३३०, ३९५, ४४७, ५८२-८३, ६५८, ६७१.
इस्थमस ७१७.
इस्लाम १८९, १९५-९६, १९८, ५०८, ५११-१२, ५१४, ६९७, पूर्व– ७०५.
इस्लामी ५१५.
इक्ष्वाकु २१५, २३३, २४७, २९०, ३०३, ३१२-१३, ३२७, ३९६, ४७२.

ईत्सिंग २, ५, ११३, १६२, ३५०, ३६२, ४२४-२५, ४२९, ४३५, ४४०-४१, ४४५, ६२२, ६३६, ६४०-४१, ६४७, ६४९-५१, ६५६, ६६२, ६६७, ६८६, ६९९, ७०३, ७०५, ७१९, ७२२-२३.
ईरवी कोर्त्तन ५१८.
ईरान ३९, ५४, ५८.
ईलियट ५०९.
ईशान ५०५, देव– २५१.
ईशान वर्मन् ७६-८०, ८२-८३, ९०, ११०, २३८, २५०, २५२, ६८७, ७१५.
ईश्वरवादी ३३७, ४१९.
ईसा मसीह ५१७.
ईसाई ५१२, ५१५-१६, ५१८, सीरियन– ५१८, –मत ५१६.
इसिक कोल झील ६९८.
ईस्ट इण्डीज ७१९, ७२२.

उग्रसेन १०, २९२.
उच्चकल्प ३३, २०५.
उज्जयिनी २२३, ४३०, ४३९, ६२१, ६३५, ६७३, ६७६-७७.
उज्जैन २९, १२७, १९६, ३४२-४३.
उत्गीकर, एन.बी. १४६.
उत्तरगीता ३४१.
उत्तररामचरित ३४९-५०, ३६७, ६२९, ६४१.
उत्तरापथ १११, ११९, २६८, २७८.
उत्पलिनी ३६०.
उथ्मान (खलीफा) १९२.
उदयगिरि ४६०, ५४४, ५४६, ५८४-८५, ५९५, ५९९, ६००.
उदयचन्द्र २८७, २९८, ३०३.
उदयदेव १५५.
उदयन ३४, २५१, २६१, ६२८.
उदयमान १०६, २५८, ६६२.
उदात्त राघव ३५२.
उदुम्बर ३४८.
उद्योतकर ६००.
उद्योतन ४६१.
उधित ६८५.
उन्मत्त केसरिन् २४७.
उन्क्ष्वल्ती ५४७.
उपगुप्त ७६.
उपतिष्य ३२३, ३२५.
उपनिषद् ४८६–८७, ५११, ४९५-९६.
उपशून्य ६७६.
उपसेन ४५५.
उपाध्ये ४५९.
उपालि ४२९.
उबेदुल्ला १९३.
उभार शैली ५७३, ५८२, ५८७.
उमर (खलीफा) १९०, १९२, द्वितीय १९६, ५१३.

उमवर्मन् २४१.
उमा ३३४, ४९१, ४९६, ४९८-९९.
उमापति ३७६.
उमा माहेश्वर ४९१.
उमा हेमवती ४९७.
उमैयद १९७-९८.
उम्मयद वंश ५१४.
उम्बेक ३४८.
उर्वशी ३४५, ६२८.
उशनस् ६३३.
उषादि ६५१.

ऋग्वेद ४७४, ४८१, ४९२.
ऋजुविमला ३४१.
ऋतुसंहार ६३८-४१.
ऋत्विक् ४१६.

कंडुगोन ३०१-०२.

कणाद ३४१, ५२२, ६००.

कण्व ३४४, ६३१.

कथा ३५६, ३५८, साहित्य— ६३२-३३.

कथावत्थु ४५१, ४५७.

कथासरित्सागर २९, ३५६, ६५०.

कदम्ब २३, २१०, २१२, २१४, २२८-२९, २५९, २६२-६४, २६६-६८, २९४, ३०४, ३०६, ३०८-०९, ३११, ३१६, ३४२-४३, ४०८, ४६२, ४७३, ४७५-७६, ४७८, ४८३, ४८७, ५०१, ६२१-२२.

कनिंघम ६१, ६५, ५६१, ५७१, ५७३.

कनिष्क ५७, ६०, १५०, ४४२, द्वितीय— ६०, ६१.

कन्नड़ २९९.

कनौज ५६, ६७, ८५, ९०, ११२, ११४-११७, १२८-३१, १३४-३५, १३८, १४२, १४५, १८८, १९७-९९, २६८, २९०, २९५, ३४९, ३५१, ४२१, ४३०, ४८३, ६७८.

कन्फ्यूशस ६८४, वाद— ६७९.

कपिशा ६७८, ६८३, ६८९-९०, ६९९.

कपिल ३३२, ३३५.

कपिलवस्तु ४०५, ४४२, ६०३, ६०७-०८, ६७३, ६७६, ६९७, ६९९.

कपुआस ७२१.

कपोतेश्वर ५६७, मंदिर— ५५७.

कंबुज (कंबोज) १५२-५३, ७१२, ७१५-१६, ७२३.

कम्बोदिया ६६४, ७११, ७१३, ७१७, ७२२.

करतोया (नदी) १०४.

करवंश २४७.

करवा वितरणी ४५०.

कराली (विकराल) ४९६.

करिकन्नम् ४७८.

कलभ्र २८०, २९३, २९८-३०३, ४६४.

कलिका ३५८.

कलि (कलियुग) ९२, ३००, ३३२, ३८८, ४२७.

कलिंग ४६, ४९-५०, १०५, १०८, १५२, १५७, १६७, २१३-१४, २४०-४४, २४६-४७, २५५-५६, २६९, २८६, ३०४, ३२३, ३२६, ४२५, ४४४, ४५९, ६३७, ६७३, ७२०, ७२३, राजमहेंद्री– ४३१.

कल्कि ४७१-७२, ४८२, पुराण– ३३५.

कल्मान गैलरी (लंदन) ५८०.

कल्याण मंदिर स्तोत्र ३५४.

कल्याण वर्मन् १०१, ४३७.

कल्ल १७२.

कल्हण १४९-५४, १६३, २००, ३४८, ३५३.

कसिया ५८०.

कस्स्प ४५५.

कह्नदास ४५३.

कांस्टेनियम (द्वितीय) ७०४.

काओत्सु ६९३.

काकध्वज ५०६.

काकुलि (कोकिलिवर्मन्) २८६.

काकुत्स्थवर्मन् २३, २१०, ३०६, ३०८, ६२२.

काडुवेट्टि ३०५-०६.

कॉड्रिंगटन, एच.डब्ल्यू. ३२९.

कांणे, पी.वी. ३४८, ३५९, ४११, ४१३, ६६७, ६६९.

काण्वायन (गोत्र) ३०४.

कात्यायन २०९, ३३८-३९, ३६०, ३८४, ३८९-९०, ४०९-१७, ६२४, ६३१, ६३३-३६, ६५७, ६६३, ६६७-७२, प्रकरण– ३६८, स्मृति– ६६२.

कात्यायनी ४९८, पुत्र– ४३१.

कादम्बरी ७८, ३५६, ३५८, ३९२-९३, ६२३-२४, ६२८-२९, ६३३, ६३८, ६४०-४१, ६४५, ६५२, ६६०-६१.

कॉन-सू ६७४.

कान्यकुब्ज ६४०, ६७३.

कान्हेरि ५४१, ६०४.

कापालिक ४८३.

कापालिवर्मन् २१९.

कापिश (कापिशि) १८७, ७००.

कामन्दक ३३९, ३८६, ३९३-९४.

कामन्दकी ६२८-२९.

कामन्दकीयनीतिसार ३९१.

कामरूप ६३७, ६५८, ६६४.

कामशास्त्र ३४३, ६३१-३२.

कामसूत्र २११-१२, ३४३, ३६ ६७, ६०१, ६२२, ६२५-२ ६३१-३२, ६३४-३५, ६३७, ६४ ६५९-६०.

कारकोटक ६७, १५०.

कारपेंटियर ४६६.

काराकुर्रम ६६३.

कार्तिकेय २५, ३३४, ४९३, ४९ ५००-०१, ५८१-८२, ५९९, स्वामी ४६८, ४७७, कुमार– २६२, ३४५- कारिकाल चोल– २९१, २९९.

कार्ति ५८९, ५९१, ५९४.

कालभोज १८०.

कालमित्र (किया-लो-मी-तो) ६८९.

कालांत ४८४.

कालंजर ३४.

कॉलिन्स ३५६.

कालिदास २१, २०९–१०, २१ २२०, २६६, ३०८, ३३०, ३४४-४ ३५०, ३५२, ३५४, ३६०, ३६२, ३६ ३६९, ३८६, ४७२-७३, ४८३, ६१ ६३५, ६३९, ६५६, ६६५.

काली (संहार) ४९६.

कावेरी १५२, २७०, २७६, २९ २९६, २९९, ३०३-०४, ४५३, ६६२

कॉवेल ८०-८१, ८३, १०१, ११ १३९, ३५०, ४०२.

काव्यप्रकाश ३४९.

काव्यमीमांसा २०९.

काव्यशास्त्र ३०५.

काव्यादर्श २१४, ३५६-५७, ३५९.

(सूत्र) ३५६, ३५९.
वृत्ति ३२५, ३५२, ३६२,
४५८, ६५१.
सी.जी. ३६३.
(कश्यप) ३२४, ३२८, ६९३-
द्वितीय– ३२७-२८, तृतीय–
एच. ५५७, ५५९, ५६२,
इन्दिकोप्ल्यूस्तीज ३११,
पी. ५२५.
४-६७.
०६.
८५.
६६६.
१९७.
६५.
३५२, ६२१, ६२३.
२८३, २९३, ३०५, ३९२,
५९५.
९८-९९.
१२०, २०९-११, २१३-१४,
२२८-२९, २९०, ३०६.
६४, ६६८.
४-७८, ६९२, ६९४-९७, ६९९.
३५०, ३५२.
२९९.
५७, २७७.
२१.
५०४-०५.
१९, २२.
८२-८३, ८६, ११४, २०७,
४६०, ४८२, ४९३, ४९६, ५०१,
२५-२८, ३२-३५, ४७६, ४८९
३२, ४९, तृतीय– ४९.
४३५, ६७४-७७, ६९६.
(कुमारधातुसेन) ३२४-२५, ५५३.
३-७, १७.
४७७.
४३४.

कुमारवर्मन् ३०८.
कुमारविष्णु २९३, २९९, ३१२, ३१५, ३२०, प्रथम– ३१४, ३१९, द्वितीय– ३१३-१४, ३१९.
कुमार स्वामी ६०१-०२, ६०५.
कुमार बोधि ६९२.
कुमार संभव ४८३, ६४०-४१, ६४५, ६६०, ६६५.
कुमारिल ३४१, ५२२, ६००, गौड़पाद– ३३०, भट्ट– ३४८, ४४०-४१.
कुरान ५११, ५१५.
कुरु ९२.
कुरुद २५८, ६२१-२२, ६३७.
कुरुनाडु ३०३.
कुरुक्षेत्र १४७.
कुलच्चिड़ै ४८८.
कुलशेखर ३७७, ३८२, ४७३.
कुवलयमालाकहा ४६०.
कुवालश्व ३९१.
कुश ६२९.
कुशल ६७.
कुशीनगर ६७३.
कुषाण १, ११, १२-१३, २२-२३, २५, ३९, ५२, ५७-६६, ७३, ३१२, ३३७, ३९६, ४८३, ४९४, ६०३, ६१५, ६१९, ६९९, सिथियाई– ६१९, काल– ५८४.
कुसेनी ६४.
कू–त्संग ६७४.
कूणपांड्य ३०३.
कूर्चक ४६२.
कूर्म ३३१, ४७०-७२, ४८२, पुराण– ३३४-३५.
कूष्माण्डराजपुत्र ५०१.
कृत ३८८.
कृतवीर्य ६७, २२२.
कृत्य रत्नाकर ३८८.
कृष्ण (हरि, वासुदेव) २७, ११०, २२६, २२९, २३१, ३३२, ३८१-८२, ४७१-७२, ४७४, ४७६-७९, ४८२, ४९८, ५०३, ५९५, रंगनाथ– ३८३, वेण्णा– २४०, २४३, गोवर्धन– ४७७, ५५३, प्रथम– २८२, ३०६, द्वितीय– २०७, २२७, २२९.

कृष्णवर्मन् प्रथम ३०९, द्वितीय– ३०८-०९.
कृष्णगुप्त ८२, ८७.
कृष्णदेवराय २३८.
कृष्णमाचारी ३५७-५८.
कृष्णराज, ए.वी. २२२-२४, ३०५.
कृष्णराव, बी.वी. २५४, २८५.
केतकर, एस. श्रीमती ५२४.
केरल २७७, २८०-८१, २८९.
केशव ४७१.
केसरी सिंह ३००.
कैया ७१८.
कैलाशकूट ९६.
कैलाशनाथ मंदिर ५९३, ५९७, ६०४, ६१२.
कोंगुनिवर्मन् (माधव प्रथम) ३०४.
कोंडीवर्मन् २०९, २८५.
कोंतमुडि (कौतुगुडि) ५६३, ५६६.
कोएडे ७१४-१५, ७१७.
कोकमुखस्वामी ४७३.
कोका ४७३.
कोच्चडैयन २७६.
कोडुम्बालूर ३०३-०४.
कोज्मास ५१६-१७, ६६१-६६.
कोदइ ३८१.
कोंम्बेंग ७२१.
कोभग्रहराज (क्षोभग्रहराज) २२१.
कोरोमण्डल (समुद्रतट) ५१७.
कोशकला ३६०.
कोषभाष्य ४३४.
कोशाम्बी २९, ४३०.
कोसल (छत्तीसगढ़) ३४-३५, १०५, १५७, २१३, २१७, २३७, २४५, २४७-४८, २५०-५३, २६९, ६७३, ६७६.
कोसाम ५८४, ६१४-१५, ६१८.
कोसाम्बी, धर्मानन्द ४४९.
कोस्मस ४१-४२.
कौटिल्य ९२, २८९, ३९२-९५, ६२१, ६५५, ६६१.
कौण्डिन्य ७११, ७२२.
कौमुदी महोत्सव ६, ३५२.
कौशाम्बी ६३७.
कौशिकी ४७३.
क्रियासंग्रह पंजिका ४२५.
क्रैमरिश ६०७.
क्लिम ३४९.
क्वांगची ७१३.
क्विलोन ५१७.
क्षत्रप १८२, २१९-२०, २९२, ३४२.
क्षत्रिय २५८, ३११, ६२१-२२, ६३७.
क्षमिल ३२७.
क्षात्रविद्या ३९२.
क्षीरस्वामी ३६०-६१.
क्षेमुक २६१.
क्षेमेन्द्र २०९, ३५३, ४००.

खजुराहो ४७४.
खड्गवंश १६२.
खड़गोद्यम १६२.
खण्डरवाद्य ३६६.
खरग्रह ११७, प्रथम– १६८-६९, द्वितीय
(धर्मादित्य) १६८-६९.
खलीफा ३०८.
खान ६९८.
खारवेल २१८.
खालिद–इब्न–वर्मक ६९७.
खुद्दनिकाय ४५४.
खुद्दक ४५१, पाठ– ४५०.
खुदसिक्खा ४५६.
खुम्माण प्रथम १८०-८१.
खैरखानेह ७००.
खैबर दर्रा १९८.
गंग १०२, १४७, १६७, १७७, २३९, २
-४५, २५५, २६६-६७, २६
वशी–२७३, २७६-७७, २८३, २९२, २९
३०३-०६, ३०८-१२, ३१६-१८, ४६
४८३, महादेवी– २७३, वर्ष– २४५-४
गंगधर ४७०, ४७७.
गंगा २९, १३३, १५९, २७८, ४०३, ४४
४८०, ४९७, ५०६, ५८२, ५८५, ५८
५८९-९०, ५९६, ५९८-९९, ६१
६१८, ६२१, ६३७, ६५०, ६५८, ६६
७१४-१५, ७२३, मूर्ति– (बेसनग
५८४.
गंगाराज ७१४-१५.
गंगावतरण ५९७.

मुना २६२.
ी ९४.
(महायान सिद्धांत) ७०४.
वर्मन् १०१.
(गंधवंस) ४५०, ४५५-५६.
डी.सी. ८५, २०२.
(गंधर्व) ५०६-०७, ६२७, वेद— ६५०.
५२१.
मी ४७५.
६१-६२, ६४-६५.
९६.
नाग ८.
वर्मन् १०१.
महोदधि.
३३२-३४, ४९९, ५००-०१, ५०३,
६७.
एम.ए. २०२, २०८.
७०२.
९, ६१६.
४६४.
२४, २७, ३३१, ३९१, पुराण— ३३४,
५०.
५४६-४७, ५५१, ५६२-६३, ५६६-
९, ५७१, ५७४-७५, ५८३.
, डब्ल्यू. ५२४.
६२३, ६३७, ६४२.
(गंधार) २९, ३९-४१, ४३, ६१, ६३,
, ६७, १११, १२६, १८७, ४३३,
४, ५०५, ६३७, ६७३, ६७७, ६८१,
९-९०, ६९२, ६९८.
७१.
६३९.
३०.
३६१.
३९, ५७.
१५७.
५१७.
२२-२३, ३२५, ३२७, ३२९, ४५२-
, ४५७.
द ४७१.
२०, ४६९, ४७१.
४३३, ४४४.
४६९.

गुणमति ४३९.
गुणमुदित ३००.
गुणवर्मन् २४३, २४६, ६८१, ७१२, ७२३.
गुण सागर ३१०.
गुणाढ्य ३६८.
गुप्तकाल (गुप्त युग) २०३, २४३, ३९९, ४२२, ४४२, ४४५-४७, ४६०, ४६९, ४७३-७५, ४७८, ४८०-८१, ४८३, ४९०-९१, ४९४, ४९९, ५०२, ५०६, ५९९, ६०१, ६१६, ६१८, ६२०-२१, ६२३-२४, ६२७-२९, ६३१-३३, ६३५-३७, ६४२, ६४५, ६४८, ६५०, ६५२, ६५४, ६५८, ६६१, ६६५, ६७१-७२, ७००-०१.
गुप्तपरिवार ८२-८३, ८७, ९०, ४०५, साम्राज्य २५३, ३९८, ६१८ गुप्तकालीन साहित्य— ६४५, लिपि— ६९७.
गुप्तकला ४८२, ५९०.
गुर्जर ६८, ७२-७६, १११, ११८, १२०, १२४, १६७-७२, १७५-७९, १८३, १८७, २५८, २६८-६९.
गुहिल १८१, १८४-८५.
गुहिलौत १७४, १७९-८४, २०१.
गृह्यसूत्र ६२५.
गृहवर्मन् (ग्रहवर्मन्) ८०-८१, ९०, ११२, ११५-१६, १३८, ६४०.
गेट्टी, ए. ४४८.
गेहलेति ६९.
गोडे, पी.के. ३६१-६२.
गोदावरी १०, २१४, २३३-३४, २३९-४० २५४, २५६.
गोनंद वंश १५०.
गोपचन्द्र ८७-८८.
गोपराज ३७-३८, ५३, २४९, ६३३.
गोपाल (ग्वाल) ९२.
गोपालन, आर. ३१०.
गोमती १४५, ४२९, ७२०, ७२३, विहार— ६९४.
गोविंद २२६, २६६, २६८, तृतीय— २२६, २५२.
गोविंदगुप्त २५, ८६.
गोविंदचन्द्र १६३.

गोविन्दवर्मन् (विक्रमाश्रय) २३६-३७, २४४-४५, २५४-५५.
गोविन्दराज २७०, २८०.
गोविन्दस्वामी ५६३.
गोस्ता रोमानोरम ७०८.
गौड़ ७७, ८६, ८८-९१, ११२-१३, ११७, १३७-३८, १४५, १४७, १५२, १५४, १५७, १६२-६३, २२४, २६९.
गौड़पाद ३४०-४१.
गौड़वहो १४५-४७, १४९, १५४, १६३, ३४८, ३६८-६९.
गौडोफरीज ६०.
गौतम ३३९, ४०९, ४५७, ६९३, ७०८.
गौतमीपुत्र २०३-०४, २१५.
गौरी ४६९, ४९७-९८.
ग्रे ३५८.
ग्रेगरी (तेरहवें) ७०८.
ग्वालियर ८, ४१.

घटकर्पर ३५३.
घटोत्कचगुप्त १-३, ५, ६, २८, २१३.
घोष, ए. ५६६.
घोष, बी.के. ५२४, ७०६.
घोषक ४३२.

चण्ड ३१२, ३६८, ४९७.
चण्डवर्मन् २३३-३४, २४१, २४७.
चण्डार्क ६३९.
चण्डी माहात्म्य ३३८.
चण्डी शतक ३३८, ३५८.
चन्देल ७३.
चन्द्र ३३०, ३४१, ७११.
चन्द्रकीर्ति ४३६-३७, ४४१.
चन्द्रगर्भ परिपृच्छा २९.
चन्द्रगुप्त १, ३-५, २०, २२-२४, ५६, ६५, २०६, २५२, ५६२, प्रथम– ३-७, ९५, ३९४, द्वितीय– ३, १९, २०-२५, ३६, ५६-५७, ८७, २०५-०६, २०९-१०, ३०८, ३४२, ३९८, ४७०-७२, ५४४, ६२२, ६३६, ६५४, ६५९.
चन्द्रगुप्त मौर्य ३०, १३२.
चन्द्र गोभी ३६१-६२.
चन्द्रदीप ४४१.
चन्द्रभागा (चिनाब) ४०, ४६०, ७२०, ७२३.
चन्द्रमुख वर्मन् १०१.
चन्द्र वर्मन् २१८-१९.
चन्द्रवल्लि २१२-२२०.
चन्द्रवंश ९२, १६३, २२६, ७१७.
चन्द्रशेखर ४९०.
चन्द्रसेना ६३५.
चन्द्रराजवंश ३३१.
चन्द्राचार्य ३६२.
चन्द्रादित्य २७४, ३५२.
चन्द्रापीड़ १५१-५२.
चम्पा ४४४, ६२२, ७१२-१५, ७२३.
चक्रपाणि (विष्णु) २०६.
चक्रपालित ३०, ३९९.
चक्रवर्ती, एन.पी. १६३-६४.
चक्रवर्ती, वीर राघव ५१८.
चच १८७-८९, नाम– १९२-९३, १९५-९७, ५११, नामा– ५०९-१०, ५१३.
चटगांव १४.
चटर्जी, बी.आर. ७२४.
चट्टोपाध्याय, के.सी. ८३.
चतु:शतक ३९२.
चम्बा ५००, ५९१.
चाउ, डब्ल्यू.टी. ४३३.
चान–चू ६३७.
चाप वंश १७२, १७५, १८३-८४.
चामुण्डा ४९६, ४९८.
चापोत्कच १७४, १८३, वंश– ४६१.
चारिया पिटक ४४९, ४५६.
चारुदत्त ३५७, ४४६, ६२२.
चालुक्य ७६, ८४-८५, ८८, ११९, १३०, १४७-४९, १६९-७२, १७६, १७८, १८३ १९७, १९९, २०३, २१४, २१६-१७, २२२-२७, २२९-३०, २३७, २४०, २४४, २५२, २५४, २५७-६०, २६४-६७, २७५-८२, २८४-८५, २८७-८८, २९४-९८, ३००-०१, ३०५, ३०९-१०, ३१६, ३२६, ४०६, ४६२-६३, ४७३, ४७५-७८ ४८१, ५६६, ६३६, ६८७, पूर्वी– २४५.
    चालुक्यगिरि २६२.
चावोटक १९७.
चाहमान १७४, १७८, वंश १७२, १८५-८

ला विद्या ६५१.
८.
ठ २७६.
ला ६०१-०३, ६४९.
य २९७-९८.
व स्वामी २३४.
न् २०६.
हत ३१०.
त ७१३.
ड्ट्स ६४-६५.
ई ६८२-८३.
ी-ची-लो (श्रीशिला) ३२९.
ी-श्री ३२९.
त ७१६.
ग ४५१.
लतिगंध ४५८.
ा ३०६.
३५८.
ा ३२२-२३, ४५७.
ल्या-फान-चे १५५.
ं ५५८, ५६७.
ं ६८०.
जवंश ७१५.
९९, ३०३.
२३, ४४०, ४४३, ४४८, ४९४, ५२६-
९, ५४०-४१, ५४७, ५५९, ५६६-६७,
७१, ५७४-७५, ६८१-८२, गुफा— ५३९,
०४, हाल— ५२६.
स्वामी ४६५.
स्त्र ३५९.
र्चित ३५७.
ा, डॉ, ३, ७, ७२१.
त् ४६७.
न ९८.
ाल ३२२.
र्मा ७१५.
मल्ल (मल्लदेव) ३०५.
प्रो. २, २५.
सभा ५५५.
५१२-१३, ५१५.
र्मन् ३०२.

जनमेजय २६१.
जमदग्नि ४७२.
जमालगढ़ी ६१३.
जमुना २७८, ६१८.
जयगुप्त ४४४.
जयचन्दवर्मन् ७१६.
जयदेव ९३, ९९, १५६-५७, १६०, ३६०, ४३७, ४७१-७२.
जयनन्दि वर्मन् ३१०.
जयनाग (जयनाश) १६२, ७१९.
जयनाथ ३३-३४, ४०१.
जयबल २५३.
जयभट प्रथम ४६१, द्वितीय— १७७, तृतीय— १, १७७, २६८, चतुर्थ— १७१, १७७-७९, १८५, १९७.
जयमंगला ३६७.
जयादित्य ३६२.
जयराज २४८.
जयवर्धन प्रथम १६७, द्वितीय १६७.
जयवर्मन् २४७, ७११-१४.
जयसिंह १९३, १९५-९६, २२९, २६१, ५१३-१४, प्रथम— २३७, २५४, २८५-८६, द्वितीय- २८६.
जयसिंह वर्मन् २७६-७८.
जयसिंह बल्लभ २६०, २६२, २७३.
जयसेन १३२.
जयस्कंधावार १०८.
जयस्वामिनी ७६.
जयापीड़ १५४, १६३.
जरथुष्ट्र ३३३, ४९५, ५०४.
जल ५१९, ५२१.
जलदेवी ५९३.
जवद्वीप ७११.
जस्टीनियस ६६४-६५, ७०५.
ज्वायसा, डी. ४५५.
ज्येष्ठातिष्य तृतीय ३२७.
ज्योतिषकरण्डक ३६८.
ज्योतिषशास्त्र ३४३.
जाईक (जाईकदेव) १७१, १७४.
जाट १९४, १९८.
जातक ३९६, ४२४, ४५१, ४५६, ६०७, कथाएं— ७०८, माला— ३९१, ३९३, सूत्र— ३६६.

जातकट्ठवण्णना ४४८, ४५१-५२.
जातखड्ग १६२.
जातुकर्णी ३४८.
जॉन (संत) ७०८.
जानकीहरण ३२४, ३५३.
जान्स्टन ५०५.
जाम्बवती ४७३.
जायसवाल, के.पी. ६, १९, २९०.
जावा ७२०, ७२२.
जितेन्द्र बुद्धि ३६२.
जिनगुप्त ६७६-७७.
जिनदास ३६८.
जिन्न ६०६.
जिनभद्र ३५७, क्षमाश्रमण— ४६६.
जिनयशस् ६७६-७७.
जिनसेन ४६४.
जिनालंकार ४५३.
जिनेन्द्र ४६८.
जिष्णु गुप्त १५५.
जीवदामन् ५२.
जीवधारण १६३.
जीववर्मन् १४५.
जीवा ६७४.
जीविक चिन्तामणि ४६३.
जीवितगुप्त ८२, १४५, द्वितीय— ४०५.
जुआन—जुआन ६४, ६६, ६९५.
जुनैद १९६-९९.
जूबोदूब्रियो २९०-२९२.
जेठव १७३.
जेनो ७०४-०५.
जैक्सन १८३, ३३६.
जैन २५९, २६६, २७९, २९९, ३०३-०५, ३०८, ३४०, ३५५, ३६९-७२, ३७८, ३८५, ४१८, ४२०, ४४६, ४५९-६०, ४६२-६४, ४८७-८८, ५०२, ५०७, ५२०, ५३९, ५५४-५५, ६०२, ६२०, दर्शन— ३१८, ४६८, धर्म— ४०१, ४२१, ४६५, ४७८-८३, ४८६, ४८९, मत— ५१८, मंदिर— ५६६-६७, ६०४, मुनि— ४६७-६८, सिद्ध ६११.
जैनेन्द्र २६६, ३६२.
जैमिनि ३४१.
जैसलमेर १७५.
टबरी २७१, ७०३, ७०६.
टाड, कर्नल जे. १८०, १८४, २०१.
टॉमस ८०-८१, ८३, १०१, १३९, ४०२, ५१८, ७०२.
टामस, एफ.डब्ल्यू. ४३५.
टामस, एस. डब्ल्यू. ७०९.
टीका सर्वस्व ३६१.
टेराकोटा ६१५.
टोटम (गण) ३११.
टोलेमी २३३, ३१०-११, ६६२, ६६९.

डुब्रिडल, जे. ११.
डेविड्स, साइस ४५१, ४५६.

तकाकासु १५, ४३३, ४३६, ४४५, ६५१.
तकाकुसु, प्रो. ४३२, ४३४, ३४७-३८.
तक्कोल ७१७.
तक्षशिला १२६, १५०, ४३१, ४३४, ४४४, ४६०, ६३७.
तकुआ—पा ७१७-१८.
तख्त—ए—बाही ६१३.
तत्त्व संग्रह ४४१.
तत्त्वसंदेशशास्त्र ४४४.
तत्त्वाचार्य ४६१.
तत्त्ववैशारदी ३४०.
तथागत गुप्त ४४३, ६४९.
तंत्राख्यायिका ३५५, ६३२.
तंत्रसंप्रदाय ४९९.
तंत्रवार्तिका ३४१.
तबुत ७०२.
तमस ४२१.
तमालितिस ६६२.
तरंगवती कथा ३६८.
तरल स्वामी २२५.
तर्कज्वाला ३४१.
तर्क विज्ञान ४४०.
तस्यांग चेउचेन १३७.
ता—ई—त्सोंग १४२.
तांगवंश ६८४, ६९०, काल— ६९३.
ताओन्गन ६७९-८०, ६८२.
तागोंग ७१६.
ताजिक (अरब) १७१.

पुराण ३३१.
ग्रह–ची ६३.
सुर ३४५.
(प्रज्ञा) ४२८, ४४१.
न्द, डा ५०९.
य १६३, ४३३, ४३५-३७, ४४०,
४३.
ड १५०.
ाधना शतक ४४२.
क ६६.
ी ५८.
क ११४.
ा ५६१.
न ३०१.
-फु–ति १४१.
ो–सी–न (देवसेन) ६८९-९०.
न ९७-९८, १४२.
ी ८४, ९७, १४३, १४८, १५२-५३,
१५५-५६, १६३.
वुक्काशु ४८६-८७.
लि ३८३.
लांडु ३८१.
यान ३७७.
ान ३८३.
ावइ ३८१.
ाईकल्ल ३७७.
न्दरम् ३७१.
लयपुरम् ६४, ६०४, ६१२.
लिशइ आलवार ३७६-७८.
ल ३७७.
लइ ३८३.
ुय ३७५.
र ३७०-७१.
ल ३७७.
ल ३८१, मच्चियार– ३८१.
, पेरूमाल ३८३.
चकम् जी.यु. (पोप) ३८५.
चकम् ३७४, ४८६.
त्तम ३८०.
लियाउल पुराणम् ३७४.
वतियार ३७६.
णाति ४६८.

त्रिपाठी, आर.एस. ७८, ८१, ८५, ११४, ११६, ११८, १२३-२५, १२८, १३०, १३२, १४०, ४००.
तीवर देव ३४, १६६, २३७, २५०-५२, २५६
तीएन–तई ६८२.
त्यांग–होअई–किंग १३६.
त्रिकाण्ड ३६०.
त्रिकूट पर्वत २३१.
त्रिपिटक ४३३.
त्रिमूर्ति ५४९.
त्रिलोचन २६१-६२.
त्रिवर (राजा) १६६.
त्रिविक्रम ४७९.
त्रिंशिका ४३९.
त्रेता ३८८.
त्रैकूटक २१९-२१.
त्रैलोकेश्वर (मंदिर) २८०.
त्वेष्टृ १८५-८६.
त्सिमेर ३६३.
त्सेचुआन ९८.
तुंगभद्रा २७२, २८७.
तुन्हवांग ६७९, ६९२, ६९९.
तु–यू–हुन ६९५.
तुरुष्क ४४३.
तुर्क ४३, १५२-५३, ६७७.
तुलाभार (महादान) ३०३.
तेजपुर ५८४.
तेवाराम ३७२, ३७४.
तेरेसा ३८१.
तेरमंदिर ५५७, ५६७.
तैत्तिरीय आरण्यक ४७०.
तोण्डरदिप्पोडि ३८३, आलवार– ३७६-७७.
तोपो कागान ६८२.
तोरमाण ३८-४१, ४३-४४, ६७, ६९, १५०, ४००, ४४३, ४६१, ४७३.
तोल्काप्पियम ४६३.
तोषक ५५१-५२.
तोसली १०७.

थाई ७१६.
थियोडोसियस प्रथम ७०५, द्वितीय–७०४-०५
थेयोफिलस ५१७.

थेरवाद ४४९.
थेरवादी निकाय ४२२.
थेर धम्मकित्ति ४५७.
थेरापंथी भिक्खु २९६.

दंडकारण्य ४३९.
दंडभुक्ति १०७.
दंतपुर (कलिंग) ४३६.
दंष्ट्राशिव ३२७.
दंष्ट्रोपतिष्य ३२७.
दंष्ट्राप्रभूति ३२५.
दक्ष ६३१.
दक्षिणा पथ २०३, २०५, २१४, २१८, २२७, २२९-३१, २४१, २४८, २५८-५९, २६१-६२, २९२, ३०७-०८, ४०५, ४५९, ४६१, ४८२-८३, ५०१, ५३२, ५३६, ५४६, ५६३, ५८६, ५८७, ५९१, ५९३, ५९५, ५९७, ५९९, ६००, ६०२, ६०४, ६१३, ६१७, ६५४.
दत्त, एस.ई. २०२, ३२८, ३६५.
दत्त, एन. ४२४, ४३२, ४३८.
दत्त (दत्तात्रेय) ४७१.
दत्तदेवी १८, १०१-०२.
दत्तक सर्वाश्रिय ३५२.
दद्द प्रथम ७४-७६, ११९, १२४, १७७, द्वितीय– ७४, ११८-१९, १६७, १७७, २६८-६९, तृतीय– १७७-७८.
दधीच ६४०.
दण्डक ६२९.
दण्डी २१४, २९७, ३३०, ३५५-५६, ३५९, ३६७, ४६०.
दन्तिदुर्ग १७८, २३०, २८१-८२, २६६, २९८.
दन्तिवर्मन् प्रथम २३०, द्वितीय–२३१, २८१, पल्लवं– २९८.
दमन १०.
दमिल (तमिल) ३२४, ३२४.
दमिश्क ७०८.
दरद १५२-५३, ४३०.
दरबार गुफा ५४१.
दरेल ६५९.
दर्शनशास्त्र ५१८.
दशपदार्थ शास्त्र ३४१.
दशभूमिक सूत्र ४३८, ४४२.
दमित्रियस २९०.
दशारूपक ३५१.
दशाकुमार चरित ३५६-५८, ४४६, ४६०, ६२१-२२, ६२४, ६३२-३३, ६३५, ६४०, ६४२, ६५२, ६६०, ६६२.
दशरथ २४७, ४८२.
दशावतार ४८१-८२, ४९०, ५४९, ५६८, ५९१, चरित–४७१, का मंदिर–५७५.

दहनज १९६.
दाण्डेकर, आर.एन. ५१.
दानार्णव २४६.
दामोदर गुप्त ७८, ८३, ३५०, ३५२.
दामोदरवर्मन् २३१-३२.
दामोदर सेन २०६, २०८.
दासगुप्त, एन. १९, ३२, ३५९, ५१९.
दास, एस.सी. ७०९.
दासमार्ग ४८५.
दाहर १८९, १९३-९६, १९९, ५०९, ५११, ५१३.
दिगम्बर ३६८, ४५६, ४५९-६०, ४६२, ४६४, जैन– २९६, ३६७, ४४४, ४४६, ४६३, ६०४, संप्रदाय– ४६६.
दिङ्नाग २९३, ३४०, ४३९-४१, ४३६, ६००.
दिलीप २६२.
दिवपाल ५०५.
दिवर पति ४००.
दिवाकर २१४, ३४०, ३४९, ३८४.
दिवाकरसेन २०६-०७, २१४.
दिवेकर, एच.आर. २६.
दिव्यावदान ६५२.
दीक्षित, के.एन.एन. ५९०.
दीघ निकाय ३२७, ४५१.
दीपवंस ४५६-५८.
दुट्ठगमनी ४५७.
दुराज १८९.
दुरितारि ४६९.
दुर्गगण १८४.
दुर्गराज २३०, २५०.

३३, ४६९, ४९६-९७, ५०४, मंदिर
६९, महिषमर्दिनी– ५८२, सप्तशती–
४१, ५००.
वंशा २८३.
३५१.
१५१.
२६२.
र्धन १५०-५१.
३४४.
२७३, २७६, २८३, ३०५, ४६२,
णिबद्ध– २६७.
२६१, ३४४, ६२८.
२२०-२१.
३४४.
(बंदरगाह) १९०.
१६९.
८५, ८६, ९०, १११, १३७-३८,
४४-४५, २०६, २२४, ४६१.
७१७.
१८६.
२७, ४७६.
४४८-४९.
१६२.
५७०, ५७३, ५७५, ५८४, ५९९,
३.
३६२.
१०१.
५०१.
१७५, २१८, २२७-२९.
४६६.
२३, ६३२, ६३६.
ति ३३९.
२३४, २३६, २५४-५५.
१६२.
४९४.
५०१, ५०४.
८, ५०३-०४, शतक– ३५४.
र्मन् द्वितीय २४६.
पी.वी. २१९.
प्रथम २४८, द्वितीय– २४८.
६८, शैली– ५४७, ५५५, ५७५.
३३, ६९.

द्रोणभट्टारिका २५३.
द्रौपदी ३५१, ३६७.
द्वादशानुप्रेक्षा ४६८.
द्वापर ३८८.
द्वारका १५२.
द्वारावती ७१६, ७२३.
द्विसंधान काव्य ३५७.
द्वैतवाद ४३९.

धनंजयवर्मन् ३००.
धनकटक ६७३.
धनिक १८२, १८४.
धनुर्वेद ६५०.
धन्यविष्णु ४००.
धन्यावती ७१७.
धन्वन्तरि ३६०.
धमपदट्ठकथा ४५२.
धमेख स्तूप ५७६.
धम्मपद ४५०, ४५२.
धम्मपाल ४५४-५५, ४५८.
धम्मसिरि ४५६.
धर, एस.एन. २०२.
धरणि वराह १७२, १८३.
धरपट्ट ७०.
धरसेन ३३, ६९, ७१, १६८, द्वितीय– ७१, १६८, २६८-६९, तृतीय– ११७, चतुर्थ– ११७, १२४, १६७-६९.
धर्मकीर्ति ३४०, ४४०.
धर्मक्षेम ६७७.
धर्मगुप्त ६७८.
धर्मचन्द्र ७१७.
धर्मदास ३६७, ४३९.
धर्मदेव ९३, ९५.
धर्मपाल २९३, ४३९-४१, ४३७, ७२३.
धर्ममित्र ६७५.
धर्मयश ६७५.
धर्मराज १६६, ५६८.
धर्मराजानुजवंश ७१६.
धर्मशास्त्र २६२, ३४३, ६५०.
धर्मादित्य ८७-८८.
धर्मोत्तर ३४०, ४३२.
धवगर्त्रा १८२.

धवल १८२, १८४.
धवलप्पदेव १८२, १८४-८५.
धातुकथा ४५७.
धातुसेन ३२४.
धाराश्रय १६९-७० (देखिए जयसिंह).
धावक ३५०.
धीरनाग ३४९.
धुमरलेण २४९, २५१, गुफाएं— ३९१.
धुरसेन ४६६.
ध्रुव ३३२.
ध्रुवदेव १५५.
ध्रुवदेवी १९-२०, २५, ५६.
ध्रुवभट्ट ११७, १७०, ४५१.
ध्रुवबेर ४७९.
ध्रुवसेन ६९-७०, १२४, ४६६, द्वितीय— ७२, ११७, १२४, १६८, तृतीय— १६९.
ध्यानगर्भ ३६६.
ध्वन्यालोक ३५१.

नक्कीरा ३७०.
नगर्धन (नगवर्धन) २०७.
नगाऊ १०२.
नटराजमूर्ति ५९४.
नन्द ६०७, वंश— २४२.
नन्दगोप ४७४, ४७७.
नन्दन ४७.
नन्द—प्रभंजन वर्मन् २४१-४२, २४४.
नन्दागौरी २६२.
नन्दिगण ४६४.
नन्दिन् ८.
नन्दिपुर २१४.
नन्दिपुरी १९७, २०१.
नन्दिपोतवर्मन् ३१८.
नन्दिवर्धन (नान्दीवर्धन) २०७-०८, २१३, २१५.
नन्दिवर्मन् (पल्लवमल्ल) २३३, २५१, २८०, २८७, ३००-०३, ३०६, ३१०, ३१५-१६, ३१८-१९, ३२१, प्रथम— २३३-३४, ४९७, द्वितीय— २३३, २३९, २८१, २८७, २९७-९८, ३१८, तृतीय— २९९.
नन्दी ९३, ४६७, ५५१, ६२२, (सांड)— ६१८, ६७८.
नन्नदेव (नन्न) २२५, २५०-५१, द्वितीय— २५२.
नन्नराज (युद्धासुर) २३०.
नम्मालवार ३७१, ३७६-८०, ३८५-८५.
नम्बि—आंडार—नम्बि ३७०.
नयनदेवी १०१.
नयवाद ४६८.
नरकासुर १००.
नरकुट ३६०.
नरवर्धन १०९.
नरवाहन २६१.
नरसिंह ४७२, ४७६, मूर्ति— ५८५.
नरसिंह गुप्त ३२, ३७-३८, ४२, ४७-४९.
नरसिंह वर्मा ४३.
नरसिंह वर्मन् प्रथम (नरसिंह विष्णु ईश्वर पोतराज) २७२, २७५, २९५-९६ ३०१, ३१०, ३१६, ३१९-२०; ३२८ द्वितीय— ३१६-१७, ६८७, पल्लवमल्ल— ५३५, महामल्ल— २९५, ५४७, ५६७.
नरसिंह अवतार ४७३.
नरेन्द्र गुप्त ८९.
नरेन्द्र २४९.
नरेन्द्रदेव ९६, १५५-५६.
नरेन्द्रनाथ १५५.
नरेन्द्रवर्धन ३५२.
नरेन्द्रसेन ३५, २१०-११, २१३, २५३.
नरेन्द्र चरितावलोकन—प्रदीपिका ३२२.
नरेन्द्रादित्य ८८.
नर्मदा २६, ३५, १४६, १६९, १७८, १८५ २१८, २२२, २६२, २७७, २८७, ३३५ ४००.
नलचम्पू ३५८.
नलवंश २११, २१५-१७, २५२, २६१ २६३-६४.
नलोदय ३५४.
नवमीदास.
नवग्रह सिद्धांत ६९३.
नाग २३, ७५, १८७, २०४, २९०, ३०६ ५०६, कुल— ३११, जातक— ६०७ लोक— १८५, वल— ३४, २५३, वंश— २२, ६७, १५०, २०६.
नागदत्त ८.

७५, १७२, १७५-७६, प्रथम– १७८,
द्वितीय– १९७.
४३५.
ली ५७५.
५८५.
२७४.
८, ७११-१२.
१३२, ३४९-५०, ३५३, ६४१.
२४८, ३४०, ४३४, ४३६-३७,
५, ६००.
कोंडा २५९, ३०१.
कुठारा ५७३, ५६६.
-लक्षण–रत्नकोश ३५१.
र्पण ३५१.
स्त्र २४३.
३६६.
३७०.
४८४.
१६७, १७६-७८.
७५.
नुशासन ३६०.
२०९.
(जेनरल शिड्तोंड) २९५, ३७७, ४६४
३७०.
प्रबन्धम् ३७१, ३७९, ३८४.
३१, ३८६-८७, ३९०, ४०९-१३,
१७, ६२४, ६५७, ६६२, ६६६,
७०-७२, पुराण– ३३२, स्मृति–
९, ३८९, ४०९.
श्वविद्यालय ७०४.
४७५-७६, ४७९, ४८१.
४७१.
वर्मन् १०३.
शर्मा ३६१.
-स्वामी ६८८.
संग्रह ३२२.
६०.
२५२.
-कथा ४४८.
१००.
१८.
१२.

नियोग ३८८.
निरुक्त ४४४.
निरुक्तशास्त्री ४५५.
निर्ऋति ५०५
निर्वाणं (निब्बान) ४२७, ४५३.
निषाद २८७.
निष्ठुरराज २२१.
नीतिकथा ३५५.
नीतिशतक ३५४.
नीति साहित्य ६३२.
नीतिसार ३८६, ३९१.
नीमआजाद क्षत्रप.
नीलकंठशास्त्री, के.ए. ३४८.
नीलकेसि ४६३.
नीलगिरि ६०७.
नीलराज १०.
नीला ५०३.
नृत्यकला ६०२.
नृसिंह ४७१.
नेडमरि २७४.
नेडुंजड्य्यन पांड्य ३००, ३०२.
नेति ४५४.
नेपाल ४, ९२, ९५, ९७-१००, ११५, १२६,
  १२८, १५४-५७, १६०, १६३-६४,
  ७०१.
नेपाली १४३.
नेरुन १९९.
नेलवेलि (निन्नैवेल्लि) ३०३.
नेवारी ९९.
नेस्टोरियन ५१७.
नैतिक सूक्तियां ४१९.
नैमिषारण्य ३३१.
नैयायिक ३४०.
नैषधचरित ६५०.
न्याय ३४८, ६५०.
न्यायदर्शन ५१९-२०.
न्याय प्रवेश ४४०.
न्याय वैशेषिक (युग्म) ५१२.
न्यायशास्त्र ४०९, ४४१, ४४४, ४६१.
न्यायावतार ३४०, ३५४.
न्यायसूत्र ३४०, ६००.

पंचतंत्र ३५५, ३५८, ७०७.
पंचमुखी, आर.सी. २१९.
पंचसिद्धांतिका ३६५.
पंचास्तिकाय ४६८.
पंचाक्षर ४८८.
पंचिककथा ६०७.
पंडित, एस.पी. १४६.
पक्षिल स्वामिन् वात्स्यायन ३४०.
पट्टडकल ५९१-९४, ६०३, ६०८.
पटवर्धिनी २८३.
पठारी मंदिर ५६९.
पण्णहावागरनाई ४६६.
पट्ठान ४५१.
पणिक्कर, के.एम. १२७, १४०.
पंतजलि (पांतजलि) २९१, ३४०, ३६२, ६५१.

पतलुंग (पातलुंग) ७१८.
पदनाम शाहि १८७.
पदार्थधर्म संग्रह ३४०.
पदिगमों ४८८.
पद्म ३३१, तंत्र– ४७४, पुराण– ३३२, ३३५ ४९२.
पद्मचूडामणि ३५३.
पद्मसंधि ३५८.
पद्मपाणि ६०३, ६०८.
पद्मावती ८, ४६९.
पपंचसूदनी ४५०-५१, ४५४.
पन–पन (बांदौन) ७१८.
पन्नालाल ३२.
परदन (पारदस) ५९.
परमत्कथा ४५०.
परमत्थदीपनी ४५४.
परमत्मंजूषा ४५४.
परमार १८४.
परमार्थ ४३२, ६७७-७८, ६८७.
परमार्थ–सप्तति ४३२.
परमेश्वर वर्मन् २७९, २९६-९७, प्रथम– २७५-७६, २८०, २९५-९६, ३१०, ३२१, ३२८; द्वितीय– २८०, २९७, ३१७-१८, ३२१.
परमेश्वरी ४९८.
परशुराम १८२, ४७२, ४८२.
परांतक ३०२.
पराशर (पाराशर) ३३९, ३८८, ४०९, ६२३ स्मृति– ३३९.
परार्थवादी सिद्धांत ४२२.
परिनिर्वाण मंदिर (कसिया) ५६९.
परिब्राजक ३३, ४३१.
परीक्षामुख सूत्र ३४०.
परेल ५८६-८८, ५९१-९२, ५९४.
पर्णदत्त ३०, ६९.
पल्किराष्ट्र २५५.
पल्लव १०, १३, १२०, १२०, १७०, २० २३१-३४, २४०, २५१, २६१-६ २६९-७०, २७२-७३, २७५-७ २७९-८१, २८७, २८७-८९, ३० ३०८-१३, ३१५-२०, ३२८, ३५ ३५६, ३७२, ३७७, ४०७-०८, ४६ ४७३, ४७८, ४८१, ४८३, ४८६, ५४ ४७, ५४९, ५५६, ५९२, ५९५, ६७ ६९०, पद्धति– ५८६.
पशुपति ४८३, मंदिर– ९६, ९९, १५
पह्लव २८९-९०.
पह्लवी कृति ७०६.
पंचरात्र ४७४, –ग्रंथ ४७१, मत– ४८ स्कूल– ५०३.
पाटलिपुत्र ९३, २४२, २९४, ४३०, ४६ ६७७, ६८०.
पाण्डव (पाण्डु) ५०७, ६५६, वंश– २५ ५२, २७५-७७, २८०-८१, वंशी– २११, २१६-१७, २३७.
पाण्ड्य २७०, २८९, २९७-३०३, ३० ३११, ३२४, ४६४, ४७८; ४८५, ६५ ६६०, ६६५, कण्डुगोण ३०१.
पाण्ड्यनाड् ३७७.
पार्णिनि ७६, ३५३, ३६०-६२, ३६८, ४ ६३६, ६४३, ६५०.
पायर्स, ई. ८१, ४०५.
पारसी २७८, ५०७.
पारसीक (फारसी) १४६, १४८, २७७.
पार्जिटर २१८, ३३३, ३३५.
पार्थियन ५८, २९०, ३३७, ६१५.
पार्वती ३४६, ४८८, ४९०-९१, ४९६, ४९ मंदिर– ५६३, ५६६, परिणय– ३५८.

७००.
१२, ५०४.
३८४.
ती) ३३२, ५२४, साहित्य– ४४९.
३४०, संप्रदाय– ७०४.
६१४, ६१६.
२९.
३८४.
५५०.
वंश २४१-४२.
५, ६६.
६५.
एम.एस. पूर्णलिंगम् ३८५.
एस. सच्चिदानन्दम् ५२५.
३५०, ३५६.
१८.
पति ४५१.
४७६.
लवेण्वामालइ ३८५.
-सिन (बुद्धसेन) १४८.
३१, शून्यता– ४३८.
३४.
२३९.
८, २५२, २६२, ३३१, ३३४-३५,
, ३९१, ४१९-२०, ४७९, ४८१,
, ४९३, ४९५, ४९९, ६१४, ६५०,
– ३८६, ४७०.
३७६.
२८, ३२-३३, ३५, ३७.
२६१, ३३२, ३४२, ३४५, ६२८.
३५, ५२१, सूक्त– ५०३.
७५, १२०, १२३-२५, १३०,
, २६३, २६७-७०, २७२, २७४,
, २५७, २८०-८१, ४६३, प्रथम–
-६३, ३०९, ३११, ४६२, द्वितीय–
-२०, १४७, १६९, २२४, २३०,
, २५६, २५८, २६५-७४, २७८-
२८२-८३, २८५, २९४-९५,
-१०, ३१६, ३२६, ३५२, ४०४,
, ५३५, ७०६, तृतीय– ५६६.
१७६, १७८, १९७.

पुलस्त्य ६२३.
पुलिन्दवंशी २९१.
पुल्लि ३०१.
पु–लीऊ–शा (पेशावर) ६८३.
पुण्ड्र ६५८.
पुण्ड्रवर्द्धन १६३, ४३१, ४४४, ६३७, ६६४.
पुष्पदन्त ४६६, ४६९.
पुष्यकुमार ३००.
पुष्यभूति ८१, ९०, १०९, १३७, १८७, २२४,
  राजवंश– ४८३, ५८९.
पुष्यमित्र २६.
पुष्यवर्मन् १००-०२, १६०.
पुस्तकुष्ठ ३२७-२८.
पूर्णवर्मा १२१, १४४, १८४, ६५९, ७२०-
  २१.
पूजावलीय ३२२, ४५२.
पृथिवीषेण २०६-०७, प्रथम– २०५-०६,
  २१२, द्वितीय– २०५, २११, २१३-२१६.

पृथिवी महाराज २५६.
पृथिवी मल्लवर्मन् २०९, २१९.
पृथिवीचन्द्र भोगशक्ति २२३.
पृथिवी व्याघ्र २८७.
पृथिवी बल्लभ २५९-६०, २६२, २६४-६५
  पृथ्वीराज– २१७.
  पृथुवीर ८८.
पृथु व्यास ३६६.
पृथुवर्धन १६७, १७७, ४६०, ६७३.
पेटर्सन ३६८.
पेटेक, एल.के. ६८३, ७०९.
पेत्तणि सत्यांक १७०, २७७.
पेयालवार ३७६-७८.
पेरय ६१, ६५.
पेरय तिरुभोलि ३७७.
पेरियालवार ३७१, ३७६-७७, ३८१.
पेरियपुराणम् ३७५-७६.
पेरी, एम. १५.
पेरुन्देवनार ३८४.
पेरुमाल (चेरमान) ४८९.
पेरुम्बिड्गुमुत्तरय्यन द्वितीय ३०२.
पेशवा २२६.
पैगम्बर ५०८, ५१२.

पैठीनसी ६३३.
पैत्तणी सत्यांक १२०, २४०.
पैशाच ६२७.
पो, स्रोण बत्सन स्मग ८४, ८८, ९८, १४२, १६०.
पोयकइ ३७७-७८.
पोलियो ६८३.
पोशियाओ ६२.
पौराणिक ४७२, ५८५, ७२३, कथा– ४८३.
प्रकटादित्य ४७५.
प्रकरण पंजिका ३४१.
प्रकाश ६७.
प्रकाशादित्य २८.
प्रतापमल्ल ९९.
प्रतिमा नाटक ६३६.
प्रतिहार १२९, १७१-७२, १७४, १७६-७७, १८३, १९७, १९९, २०१, २२६, २९०.
प्रदीपमालाशास्त्र ४४२.
प्रद्युम्न ३६४, ४७३, ४८२, ५०३-०४.
प्रभंजनवर्मन् २४२-४३.
प्रभाकर २४०, ३३०, ५२२, मित्र– ६९८.
प्रभाकरवर्धन ८०, ८५, ९०, १०९-१०, ११२, ११८, १२०, ६२८, ६४५.
प्रभामण्डल ४४८.
प्रभावती ५९०, ७१२, गुप्ता– ३, २२, २०३, २०६-०७, ४०६, ४७२, ६२२, ६३६.
प्रमाणवार्तिक ४४१.
प्रमाण सामुच्चय ४४०.
प्रयाग (इलाहाबाद) ४, ८३, ११७, १३१, १३३, २१५, ३०२-०७, ४३०, ५८०, ६३७.
प्रवचनसार ४६८.
प्रवरसेन ५५, २०९, २१३, ३४३, ३६८-६९, ६५३, प्रथम– २०३-०५, २१२, ४०५, द्वितीय– २०६, २०८-१०, २१३-१५, ३६९.
प्रशसधर्म (शम्भुवर्मन्) ७१५.
प्रशस्तपाद ३४०-४१.
प्रसन्नपदा ४३६.
प्रह्लाद ३३२.
प्रज्ञाकार गुप्त ४४१.
प्रज्ञा पारमिता पिण्डार्थ ४४०.
प्रज्ञापारविता (तारा) ४२९, ४३७, ४४२.
प्रज्ञा प्रदीप ४३०.
प्राकृत प्रकाश ३६८.
प्राकृत लक्षण ३६८.
प्रियदर्शिका १३२, २४९-५०, ६२९, ६३
प्रेमाख्यान ३५५.

फरात नदी ७०५
फर्गुसन ५३७, ५४४
फाउसब्योल ४५१
फाङ्–ची ११६
फान ७१३, –यांग–माई ७१४, –यांग द्वितीय ७१४, –वेन ७१३–१४, –हु ७१४
फारस २९–३०, १३२, १८८–९०, २९ ४३१, ५०८–०९, ५१६–१७, ६६ ७०६
फारसी ४४३, ७०७–०९
फा–हि–एन २४, ६६, १२६, ३२३, ३९ ९९, ४४२, ६२३, ६४१, ६६३– ६७३, ६७९, ६७९–८०, ६९४– ६९८, ७००, ७१०
फाह्यान ४०४, ४२९, ४३१
फाहियान ४५९
फिलिप्स, जी.ई. ५२५
फिरदौसी ७०६
फू–नान ६६४, ६६६, ७११–१४, ७२१
फोगेल ५००, ५७३, ५९१
फ्लीट, जे.एफ. ८, १०, २६, ५०, ६८– ७८, ८१, ८३, ९४, १००, १२३, २८ ३२१–२२, ३९६, ४५७, ६५५, ६५
फ्रेंक, ए.एच. ७००, ७०९.

बंक ७१९–२०
बंगाल की खाड़ी २७
बगदर ५९
बगदाद ५१८
बनर्जी, ए.सी. १९, ५०, ५३, ६०–६१, ६ १६३, १८०–८१, ५६१–६२, ५६ ५६९, ५७१, ५७३
बनारस (वाराणसी) ९०, २२१, ४६०, ५२ ५८१–८२, ५८४, ५९९, ६१६–१ ६५८

६७४
२०९
३७, –रावल १७९–८२, १८४–८६
घाटी ६९९, ७००
३०३
३२
म्यूजियम ५८५, ६५९
१८, २२८, २३०, –शैली २१४
५७१
३३, ७२३
४५२
१७५
४७४
४८२, ५०३
८, १०१, १६०, १७२.
३३
१८, ६६१, ७०७
चीन बैक्ट्रिआना) ३९, ६९७
आर.जी. ५०, ८१, ८३, ९४, ९८, १००,
१५७, १६२, १६५, २००, ७१२
१४, ६१८, ६४०, ६७१
६१३
१७५, ३३०, ३६५–६६
४४, ६३७, ६७५, –नदी ८३, ८६
पुराण ३, ३१, ३३३
३३१, ३३५
२६१, २९१, २९४, ३८७–८८,
४२१, ४४६, ४७०, ४७५, ४७७,
४८९–९०, ४९२–९३, ४९५,
५०५
पुराण ३३६, ३३८, ३८६–८७
इन ६६३
सी. १३६, १४१, १४८, १५२,
६७८, ६८३, ६८८
गुफा ५८५, –चित्र ५३६–३८,
–०४, ६०९, ६११
२१८, २९३, ३०४–०७, ३०९–
३३०, ३३८, ३४९–५०, ३५४–
५७–५९, ३६७, ३८६, ३९२–९३,
४६०, ६०३, ६१४, ६२२, ६४०,
६५६–५७, अभिनव ३५८
८०, ८९–९२, १०९–१०,

११२, ११६, १२०–२२, १२५, १२८, १३१, १३७–३९ १५७, ६०५, ६३९
बादामि २२२, २२६–२७, २२९–३०, २५८–५९, २६२–६७, २६९–७४, २८०–८४, २८८, ३०९, ३१६, ३१८, ४६२–६३, ४७६–७७, ४८१, ४९१, ५०५, ५४३, ५४६–४७, ५५४, ५८५, ५८७–८८, ५९१–९२, ५९४, ५९६, ६००, ६०२–०४, ६०९–११
बालरामायण ३५०
बालादित्य ४२–४३, ४८, १५०, ४४३, ६४९, युवराज–४३२
बालार्जुन २५२
बाली द्वीप ७२२
बालाधुरी ५०९, ५१२, ५१४
बालेन्टीनियन ७०५
बाल्टीमोर ३६३
बार्नेट ४०६
ब्राउन, पर्सी ५६१ (पर्सी ब्राउन भी देखें)
ब्राह्मण ३०५, ५२२, ६२१, –दर्शन ६८४, धर्म ४२८, ७२३, –पुराण ३३७–३८
ब्राह्मणवाद १९५–९६, ६१३, ६१७, नव–६००
ब्राह्मी ४६९
बिल्हण २५९
बिशफ ५१७
बिहारस्वामी ६९४
बील २, १२१, १२३, १३१, १३९, ४०३, ६२१, ६५१
बुन्देल १९३
बुधगुप्त ३२–३५, ३९, ६९, ७७, ४४३, ४५१, ४७३, ६४९, ७१७
बुद्ध, गौतम ४, १५३, १७५, ३३२, ४२४, ४२७, ४४७, ४५६
बुद्ध २६१, २६४, २२५–२६, २५३, ४२१, ४२३–२४, ४२८, ४३०, ४४१, ४४९–५०, ४५५, ४७१–७२, ४८२, ४८८, ४९४, ५२७–२८ ५३०–३१, ५३५, ५४०, ५७४, ५८१–८२, ५८५, ५९१, ५९४, ५९९, ६०३, ६०७–०८, ६७६–७७, ६८१, ६९५–९७, ७००, ७०८,

७१२, ७२३, –कीर्ति ६९२, –जीवन ६७५–७७, ६८०, ६८२, –प्रतिभा ४४७, –ध्यानी ४४८, –शयान ४४६, –बेश ४४९, ४५५–५६

बुद्धघोष ३२५, ३५३, ३६८, ३८६–८७, ४४९–५८, ५२४

बुद्धदत्त (पालिका लेखक) २९९, ४५३–५४

बुद्धदास ३२३, ४४४

बुद्धपालित ४३६, ४४१

बुद्धमित्र ४५४

बुद्धयंकुर ३१३, ३१६, ३१९

बुद्धराज ७५, २२२, २२४, २६९

बुद्धवर्मन् २८३, ३१२–१४, ३१९

बुद्धस्वामी ६९६

बूलर, जी. ७५, ९९, १२९, १७१, ३४६, ३५०, ४४०–४१

बृहदारण्यक ३३६

बृहत्कथा ३०५, ३४५, ३६८, –मंजरी ३५५

बृहत्फलायन ४०७, ४८३

बृहज्जातक ३५९, ६४२

बृहत्संहिता ३५९, ३६५, ४९२, ५०१, ५०३, ५०५, ५६८, ५७४, ६२१, ६३१–३२, ६३७, ६३९–४०, ६४२, ६५४–५५, ६५९, ६६१, ६६३

बृहस्पति ३८६–९०, ४०९–११, ६३३, ६५०, ६५७, ६६६–७२

बेदसा ६०४

बेल्बा ६१६

बेल्वाल्कर, एस.के. ३६१

बेसनगर ५८४, ५९९

बैकुण्ठ चतुर्मुखी ४७४

बैक्ट्रियाई ६१५

बोकाचियो ७०८

बोधगया १२, ४३१, ४५५, ५७३–७४, ५८०

बोधायन ६२७

बोधि ४२७, ६९३, –चर्यावतार ४२४, ४३७, –प्रस्थान ४२३, –चित्र ४२३, ४२५, ४२७, –धर्म ६७८, –वृक्ष ४४९, ६८५, –पक्षिय धर्म ४२९, –वंस ४५५, –सत्त्व ११५, ३१०, ४२३–२४, ४२७–३०, ४३६, ४४७–४९, ५८०–८१, ५९९, ६०८, ६१०, ६९३

बोधिसत्त्व जीमूत वाहन १३३, ३५०.

बोधिसत्त्व प्रतिमोक्षसूत्र ४२४

बोधि सेन ७०३–०४

बौद्ध १९४, १९९, २१३, २५१, २९६, २९
३०२, ३०४–०५, ३१७, ३२२–२
३४१–४२, ३५०, ३५३, ३६०, ३६
३६९, ३७८, ३८६, ३९१, ४१८, ४२
४२४–२५, ४३१–३२, ४३५, ४४२
४३, ४४५–४६, ४५२, ४५६, ४६
४७१, ४८६, ४९८, ५०२, ५०७, ५२०
२६, ५२९, ५४०, ५४९, ५५१–५
५५९, ५७३, ५७६, ५७९, ५८४–८
५९९, ६०२, ६१३, ६१६, ६२०, ६२
६३८, ६४०–४२, ६४७, ६४९–५
६६७, ६७७, ६७९, ६८९, ६९२–९
६९९, ७०१, ७१५, ७१८–१९, ७२
–कला ५३९, ५८७, –ग्रंथ ३६७, ६८
७०१, –चैत्य ४४९, –मत ५१८, ६७
६८२–८३, ६८८, ६९०, ६९२, ६९

बौद्ध धर्म २३२, २९३, ४२२, ४३७, ४४
४४८, ४५८, ४८३, ६०७, ६०९, ६७
७५, ६७९, ६८२–८४, ६८६–८
६९०–९२, ६९६–९९, ७०१–०
७०८, ७२२–२३

ब्लाख, टी. ३९६, ३९८, ४९१, ६७१

भक्तामर-स्तोत्र ३५४.

भगदत्त (भगदत्तो) १००, ७१८

भगीरथ ३०८

भट्टाचार्य, बी.टी. ४४८, ४६९

भटार्क ३३, ६८–६९, ७१

भट्टसलि, एन.के. १०३

भट्टि १६८, १७५–७६, ३५३, ३५९

भट्टिकाव्य ३५३

भण्डारकर, डी.आर. ८, १९, २५, ८३, १८०
८२, २०१, ३३३

भद्रवर्मन् ७१२, ७१४.

भर्तृवद्द १८५, –द्वितीय १८५, १८७

भर्तृहरि ३३०, ३४२, ३५३–५४, ३५९, ३६

भवदत्त वर्मन् २११, २१५, २१६–१७

भवभूति ३३०, ३३८, ३४९–५१

भविष्यपुराण (भविष्यत् पुराण) ३३३, ३३
४९३

४५, १०४, १५७, १६०–६१, १६३
ी १२२
३७–३८, ४८, २४९
ौमुदी ३४, १८२
३१३, ३१६
३३०, ४४६–४७, ६०३
वर्मन् १००-०४, ११३, १२१-२२,
–३०, १३३, १४२, १४४, १५८–
४०३–०४, ४८४
(विष्णु) २०८, २६४, ३३१, ३७५,
४७०, –पुराण ३३२, ३३८, ३४५,
४७९, –मत ४७८, –वाद ४७४–
–धर्म २१०
३३०, ३५२, ३५६, ३५९
(महाभारत) २६२
२६६, २८३, २९३, ३५०, ३५२–५३,
३, ४८३
५८, ६६१, ६७१
१४, ६१८
२६, २८
१, २०, ८५
ाल १८३
ालकाचार्य १७५.
ांव ५६९, ५७१–७५, ६१३
८५, ३५१
३६२
प्रथम २४८, –द्वितीय २४८, २५१
ु २९७
(भीमा) २८२, ३०५, ४९६
देव १५५
४६६, ४६९
१०१, १०३–०४
३०५
ना ३६६
ड ५४७
१९८
४१८
११५, १४४, १५४, ३०९
५, १८५, २०९, २१८–१९, २२९,
, ३५७, ३६१
म १८२
४९३

मंगलेश ८५, २२४, २६३, २६५, २८४
मंजुश्री ९२, ४२८, ४३७, ४४७, ७०३,
  –मूलकल्प ८१, ९१, १२२, १६१, ४४३
मंजूषा पद्धति ३५८
मण्डनमिश्र ३४८
मकर ५०७
मकुरान (मकुरन) ५९, ६२, १८७–९०, १९३, १९८
मगध २–६, ४२, ४७–४८, ८३–८४, ८६, ९०–९१, १०६, ११७, १२१–२३, १२५, १२९, १३२, १३६–३७, १४३–४७, १५२, १५५, १६३, १८४, ३२३, ३९९, ४०५, ४३०, ४३७, ४४३, ६३७, ६५१, ६५६, ६६२, ६६४, ६७३, ६७७, ६९०
मजुमदार, एन.जी. ५३, १६४
मजुमदार, आर.सी. ३२, ५०, १००, २००–०२, २४०, ५१०, ७२४
मज्झिमनिकाय ४५१
मणिमेखलइ ४६३
मत्स्यपुराण (मत्स्य) ४०, ३३१, ३३४–३६, ३३८, ४७०–७२, ४८२–८३, ४९५, ४९७, ५६८, ६३१
मत्स्येन्द्रनाथ १५५
मथुरा ८, १३०, ४३१, ४३३, ४४६–४७, ४५९–६०, ४६५, ४७७–७८, ४८२, ४९४, ५०२, ५७८, ५८०–८४, ५९९, ६५६, ६५८, ६९२, –शैली ५८५
मदनिका ६२२
मदीना ५०९
मदुरा ७०३
मधु (मधुसूदन) ४७६, ४९२
मधुरकवि ३७६–८०
मध्यान्तविभाग ४३८–३९
मध्व ४३९
मनिनाग ५५९
मनु २६२, ३३८–३९, ३८६, ३८८, ४१४, ६२३, ६२७, ६३१; ६३३, ६६२, ६६७
मनुराज १७९, १८४
मनुसंहिता ४, ९२
मनुस्मृति ६२२, ६६३, ६६७
मन्दसौर ३५, ४४, ३४२, ४७६, ४९३,

५५६, ५८४, ५९९
मन्दार १४५
मन्दरपर्वत १४७
मन्वन्तर ३३२, ६००
मयूरशतक ३५४
मयूरशर्मन् २२०, ३०४, ३०६–०८, ३१०
मयूर १२०, १३२, ३४९, ५०१
मयूर शर्मा ४६२, ६२१
मराठा १३९
मलयदीप्ति ६१२
मलयपर्वत १४६
मलय प्रायद्वीप ७१७–१८, ७२२
मल्ल ९२, ९४
मल्लिनाथ ३४५, ३६२
मल्लनाग (वात्स्यायन) ३६६
मल्लवादिन् ३४०
महाकूट (प्राचीन मंदिर) २७९
महाकूटेश्वर २६३.
महाजन जातक ६०८–०९, ६१३
महादेवी २७९
महानदी १६६, २४०, २४३
महानाग ३२२–२३
महानिद्देस ४५५
महानिरुत्तगंध ४५८
महाबोधि ५६९, –मंदिर (बोधगया) ५७४, –संघाराम ४२५
महाभाष्य ३६२
महाभारत ७६, १४७, २११, ३३४, ३३६, ३४२–४४, ३५१–५२, ३९४, ४७१–७२, ४७८, ६३१, –तमिल ३८४, ४९७
महामल्ल २७२, २९६
मंहायान ३४०, ४२०, ४२२–२४, ४२७, ४३०, ४३३, ४३६, ४३८–३९, ४४२, ४४४, ४४७, ५९९, ६३६, ६४२, ६७८, ६८२-८३, –संप्रदाय ३४०, ६९२, ७२३, –संग्रह ४३८, –व्रजयान ४४८
महायानी ४२५, ४२८, ४२६, ४३०
महालक्ष्मी ४९६
महावीर ४१८, ४६५, ५८१, –चरित ३४८
महाशिवगुप्त १६६
महाश्वेता ५०४, ६२९
महासामि ४५६
महासेन (स्कन्द कार्तिकेय) २१५, ४५७ गुप्त ८२–८३, ८५–८६, ८८–८९ १०४, ११०, १४३–४४
महिषासुर ४९७, ४९९, ५००
महीदेव ९५–९६
महेन्द्र १०, २९, १०१, १२०, १७०, २४८ २६९, २७०, ३२४, ५४६–४७ ५४९, –पंचम ३२२, –प्रथम ३२२ ५४७
महेन्द्रगिरि ८९, १०६, २४१, २४४
महेन्द्रवर्मन् प्रथम (पल्लवराज) १२०, २६९, २७२, २९३–९५, ३१४–१६, ३२० ४८३, ४८६, ६११, –द्वितीय १२० १७०, २७५, २७७, २९६, ३१६, ३२० –तृतीय २८७
महेन्द्रादित्य २९
महेश्वर १८५, २४६, ३६१, ४३५
महेश्वरपुर ६३७
माण्डूक्य ३४०, –उपनिषद् ३४१, –उपनिषद् कारिका ३४१
मागधी ३५९
माघ १८६, ३५३, ३६२, २६७, ३८६ ३९३
माघनन्दी ४६४
माणिक्कवाचकर ३७०–७१, ३७४–७५ ४८६
मातंग दिवाकर ३५४
मातृगुप्त ३५३
मातृचेत ४३५
मा–त्वान–लिन ५७, ६३, ६६, १२१, १२३ ६९०
माधव १६६, ३४९, ४७३, ४७५
माधवगुप्त ८२–८३, ८६, १४३–४४
माधवराज १०७, –द्वितीय १०७
माधवसेन १४३
माधववमंन् २३५-३७, २३९, २५६-५७, २५० –प्रथम (जनाश्रय) २३६–३९, २५४–५५, २८५, –द्वितीय २३५–३६ २५४–५५, –तृतीय २५४–५५
माध्यमिक ४३१, ४३८, –दर्शन ४३४

हृदय ४३६
१८५–८६, ३२७
व ३५४
९३–९७, ४७६, –विहार ९५
ता ८९, १०६, १०७
गृह्य सूत्र ५०१
वर्मन् २७२, २७८, ३१६, ३२८
त्र २२८, २५०, –दुर्गराज २४९
२१४, २२८, २४९
ता ३९१
तु ४७१
पुरम् (महाबली पुरम्) ५४८–४९,
५६–५८, ५९५–९६, ५९९, ६१२
मन् ४६४
डेय ३३१, –पुराण ३३७–३८, ३९१,
९७
, एम.एफ.सी. ५७, ६३–६७
, चार्ल्स १८९
, जे. ३९६, ५५९, ६७१
न ७०५
नीमाधव ३३८, ३४९, ६२८–२९,
३९–४०, ६४५, ६६१, ६६५

१११, ११८–२०, १३७–३८, १४४,
९१, २०६, २११, २२४, २५३,
६७–६८, ४३१
३३, ४२, ४४, ४६, ५३, ५९, ६०,
२,

, ८३, ८५, ८६, ९१, ११२, १२७, १८२,
९६, २१३, २२२–२३, २२६, ४००,
९९–६०, ५८४–८५, ५९०, ५९५–
००, ६२१, ६५४
का ३४४, ६२९
काग्निमित्र ३४४–४५, ३५०, ६२९,
३१
शेखर, जी.पी. ४५१–५३, ४५५, ५२४
३६६
वर १८६
(मही) ७४, ८५, १२७, १६९, २७७
ती ३४, १८५, २२२
मन् (मित्रवर्मन्) २३९, २४५.
मूर्तिफलक ५९३

मिराशी, वी.वी. १९, ३४, ५३, २०४, २१६, २२२, २२५, २२८–२९, २५१, ३४५
मिश्र, पार्थसारथी ४४०
मिश्रा, बी. २५७
मिस्र १९०, ५१६
मिहिर कुल ३८, ४०–४५, ४८, ५०, ६७–६९, ७४, १५०, ४४३, ४८३, ४९४
मित्रसेन ५९, ४४४
मीनराज जातक ३६६
मीमांसा ३४८, ५१९, ५२४, ६५०, ६५२, –द्वय ५२२, –पूर्व ५२२-२४, –उत्तर ५२२–२४ –सूत्र ३४१
मीरपुर खास ६१३–१४
मीरपुर सक्रो १९४
मीरा ३८१
मुकर्जी, आर. १४०
मुखर्जी, राधाकुमुद १५
मुकुटताड़ितक ३५९
मुगल ५०
मुदिवेगु २६२
मुगल ५०
मुदिवेगु २६२
मुद्गलपुत्र ४२९
मुद्राराक्षस ३९२, ६०३, ६२३, ६४५
मुंशी, के.एम. ७३, २०१
मूर, सी.ए. ४३३, ४७६
मुरारि मिश्र ३४१
मुर्शिदाबाद ८९.
मुसलमान १९७, ५०९, ५०८, ५१०, ५१४, ५२५, ५७६
मुस्लिम १३९, मुस्लिम पूर्व ६१६.
मुहम्मद १९४–९६, १९८, ५११–१३, ५१५, –पैगंबर ५०७, –इब्न कासिम १५१, १९३, १९५–९७, ५१०, ५१२, ५१५
मूलमध्यकारिका ४३४
मूलमध्यक सूत्र ४३६
मूलवर्मन् ७२१
मूलाचार ४६८
मूलसंघ ४६४
मूलसिक्खा ४५६

मृगांक १०४
मृच्छकटिक ३५७, ४४४, ६२२–२४, ६३१, ६३३, ६३५–३६, ६३८, ६४०, ६४४, ६५३, ६६०
मेगुती ५६१, ५६७
मेघदूत २१०, ३४५, ३४७, ३५४, ३६२, ४७३, ६२९, ६३५, ६३८, ६४५, ६५०
मेघवर्ण १२, ३२२–२३
मेघाचार्य २७५
मेधातिथि ३३९.
मेण्डिस, जी.सी. ३२९
मेवाड़ (मेदपाट) १८०
मेस–अग–त्शोम्स ७०२
मेसोपोटामिया ६४
मैकक्रिंडिल, जे.डब्ल्यू ४१
मैक्समूलर ७०७
मैंगुति ५६६
मैत्रक ३३, ६८, ७०–७१, १७२–७४, १६७–६९, २७७, ४००–०२, ४२१, ४६६, ४८३
मैत्रेय ४२८, ४३८, ४४६–४७, ४५५
मोपला ५०९
मोहविच्छेदनी ४५५–५६
मो–किन–मांग ६८९
मौखरी ४३, ४५, ४९, ६८, ७६–७८, ८१–८३, ८०–९०, ११०, ११२, ११५, १३८, १४४, १५६, २२४, २३७, २५०, २५२, ४३७, ४७७
मौर्य १८३, १८६, १९७, २१४, २१९, २२१–२२, २२९, २६१, २६३–६४, २६७–६८, २९१–९२, ३९९
मौर्यकाल ५७६, ६१७, ६५४, –प्राक् ६१७
मौर्यकालीन ७६
मौद्गल्यायन ३२४–२६, ३२९, –द्वितीय ३२५, –तृतीय ३२८
मौजेज ५१६
मौन (तेलंग) ७१६

यजुर्वेद ६२३
यज्ञ ५०६, – गुफा ५३०
यज्ञवती १०१
यज्ञवर्मन् ७६.
यतिवृषभ ४६८
यदु (यादव) २१८, २२६–२७
यमुना १०, ३५, ११२, १२६, १२८, १३३ १३३, १४७, ४००, ४८०, ५०६ ५८५, ५८७, ५८९–९०, ५९८– ९९, ६५०
ययाति २६, २६२, ३३४
यवन २९, ३३७, ४६१, –जातक ३६६
यशोगुप्त ६७६
यशोदामन् ५२, –द्वितीय ५४
यशोधर ३६७, ६०१, –काव्य ४६३
यशोधर्मन् ४२, ४४, ४५–४८, ५०, ६९, ७४, ५८४
यशोमती देवी ११०, ६३३
यशोवर्धन ४००
यशोवर्मन् १४५–४९, १५२, १६३, १९७–९८ ३४८, ३५१, ३६९, ६५३, ६८८, ७०२
यांग ६८१
याजक ६१५
याज्ञवल्क्य ३३४, ३३८, ४१४–१५, ६२४, ६३२–३३, ६६२–६३, ६६७–६८, –संहिता ५०१.
यीशु ५१७
युडोक्सिया ७०५
युधिष्ठिर २०४
युन–कांग ६९२
यूनान ७०६, ७१६
यूनानी ६१५, ६१८–१९, –पद्धति ५२०
यूरोप ७०६–०७
यूह–ची ३९
यू–हुआन ५८
येरुजोलम ५१९
योग ५२२, ५८८, –दर्शन ३४३, ५२०–२१, –सिद्धांत ३४०, –सूत्र ३४०
योगनिद्रा ४९६
योगान्त ४८४
योगयात्रा ३६५
योगाचार ४३१, ४३९, –दर्शन ४३७–

४४०
रवाद ६९१
२८, ३४७, ५१२, ५२०
(रंगस्वामी) ४८१
तिका ७१७
न्त्र ४९७
३०८
२१८, ३४५–४७, ४७२, ६३८, ६४०–४१, ६५०, ६५५–५६, ६६०, ६६२, ६६५
त ७४–७५
(राष्ट्रकूट) २२७, २६१
जय २४४
ीर ३०२–०३
ीत (अरणभीत) १०७, १६५, २४५
ग २६०, २६२
पाल १६०
गिरि २६५, २८०
वती १०१
वर्मन् (राजवर्मन्)
संभव ४२७
वली १३२, ३४९–५१, ६२९
कीर्ति २६६, ४६३, ५६६
गुप्त ४३७
वर्मन् ३०८, ३१६
नाटी ८९
, डी. ९९
, बी. एल. २८९
न ६२७
मंजरी ६३५
३५३
गार ५८५
घाट (वाराणसी) ६१४–१८, ६५९
ल, जे.एम. ५१५
तरंगिणी ४०, १४८–५०, १५३–५४, १६३, २००, ३४८, ३५३
त्नाकर ३२२, ३२५
राजभट्ट १६२
वर्मा २९७
वाहन ६५२
शास्त्र ३९२
राजशेखर २०९, २९०, ३५३, ३६१, ६०४
राजसिंह २४५, २९१, २९८, ३०२, –प्रथम ३०५, –पल्लव ५६८
राजा, के.सी. ३४३
राज्यमती १५३, १६१
राज्यवती ९३, ६३३
राज्यवर्धन २८, ८३–८६, ९०–९२, १०९, १११–१२, ११४, १३७–३९, १४४, ४०२, ६४२
राज्यश्री ४४, ७८, ८१, ९०–९१, ११०–११३, ११५, १३८, ६१४, ६२८–२९, ६३६, ६५७
राज्ञी त्रैलोक्य महादेवी २८०
राम ९२, १८१, २६२, ३३२, ३३४, ३४९, ४७१–७३, ४७९, ४८२, –जमदग्नि–पुत्र ४७१
रामगिरि २१०
रामचन्द्रन ५९५
रामचन्द्रमूर्ति, बी.एस. २३६
रामतीर्थ ४७२
रामदास २०९
रामगिरिस्वामी २०७
रामगुप्त १८–२१, ५६
रामदेव ९६
रामसेतु प्रदीप २०९
रामायण ३३४, ३४६, ३४८–४९, ३५२, ४९७, ५८३, ६३६
रामावती ७१७
रामेश्वर ५४९, ५५१, ५५९, –तीर्थ २८१
राय, एन.आर. २००
राय, एच.सी. २००–०१
रायचौधरी, एच.सी. ५, ४८, ५१, ८५, २०१, २०५
रॉलिन्सन ५१६, ७०४, ७०८
रॉलैण्डसन ५१९
रावण ३५३, ५९३, –वध २५९
रावणकुमार चरित ६९३
रावणार्जुनीय ३५३
रावन–का–खाई ५४९, ५५१, ५९१
राव, वी.वे.के. २८७, २८९
राव, टी.ए.जी. ४८०–८२, ४९३, ५००

राव एम.एल. २१९
राव एन.एल. ७२१
रावी ९
राष्ट्रकूट १७१, १७८, २०७, २१४, २२६–३१, २४९, २५२, २५८, २६०–६२, २६६, २७०, २७७, २७९, २८१–८२, २८८, २९०–९२, २९८, ३०६, ३०८, –सूत्र ४३९
राहुल ४२९
राहुलभद्र ४३५, ४४३
रीवा ३, ३४
रुद्र ३५८, ४९६, ४९८, ५०१
रुद्रदत्त २४१
रुद्रदामन् ८, ३०, –प्रथम २९०, –द्वितीय ५४
रुद्रदास २२२
रुद्रदेव ८
रुद्रवर्मन् ६६४, ७१२, ७१५, –द्वितीय ७१५
रुद्रशर्मा २३७
रुद्रसिंह द्वितीय ५२–५४, तृतीय ५६
रुद्रसेन २१२, –प्रथम २१२, २०४, –द्वितीय २२, २०६–०७, २१२, –तृतीय ५४–५५, –चतुर्थ ५६
रेवा २९८
रैपसन (रैप्सन) ५२, ५४, ५५, १८८, २१८, ६८३
रोमन (साम्राज्य) २९, ३९, ३११, ६६६, ७०४

लंका (श्रीलंका) २७२, २९०, २९५, ३१६, ३२२–२९, ३४२, ३६८, ४२५, ४३०, ४५५, ४८६, ५०९, ५१६, ६०४, ६६०, ६६२, ६७८, ७०५
लंकावतार–सूत्र ४२५, ४३८, ६४१
लंग–किआ–सू ७१७–१८
लक्ष्मण ३४, ३८४
लक्ष्मी (श्री) ४७३, ४९१, ५०३–०४, ६१९
लक्ष्मीवती ७६
लमनिर्सिगाना ३२२, ३२५
ललितकला ६०१
ललितचन्द्र १६३
ललिता ४९८
ललितादित्य १४८–४९, १५२–५४, १६३, १९७–९८, ७०२, –तारापीड़ १५१, –मुक्तापीड़ ३४८, ४९४
ललित साहित्य ३६७
ला. बी.सी. ४५०–५२, ६९१
लाअफर, सिनो इरानिका ६६४
लाइप्तिसंग ३६८
लाइफ ऑफ हिउएनत्सांग २१, १२१, १२६, १३२, १३९
लाओस ७१२–१३
लादरवान ५६५
ला–फोन्तेन ७०८
लाट १११, ११८, १२०, १७८, १९७, २२४, २६७–६८, २७८–७९, २८१, ३६४, ६७८
लिआंग ६८२
ली–ई–पिआओ (ली–पिआओ) १३६, १५५
लिंग ४८७, –पर्वत ७१२
ली–चेंग–न्गान ६८९
लिच्छवी २, ६, ९२, ९३, ९५, ९६, १५५–५६
लीनवत्थवण्णना ४५४
लीब्यिन ७०२
लियांग–होआई–किंग १३६, ६८८
लुच्चि ३८३
लू–शान ६८२
लेआंग राजवंश ७२२
लेगे ६६, ३९८
एस. लेवी १९, ९६–१००, १२८, १४१, १५५, १५७, १६०, ६८३, ७०९
लैटिन ७०७
लोक प्रकाश २५३
लोकमहादेवी २८०
लोकेश्वर (शिवमूर्ति) ५६२
लौंग–मैन ६९२
लौंगहर्स्ट, ए.एच. ५४७

वंग ४६, ८८
वजरट (वज्रट) २७, १६९–७०, २८१
वज्रबोधि ३२९, ४६४, ६८७–८८, ७०५, ७२३
वज्रभट्ट सत्याश्रय १८६.
वज्रयान ४२०, ४४७

त्व ४४८
गुल्म २११–१२, २१७, २२८
देवी १४४, १५६
राज २५३, ३५२
भट्टि ३३०, ३५३, ३५९
१७२, २१७, ३३१, ४७१–७३, ४७६,
४८१, ४९०, ४९३, ४९८,
७८,
४९, ६१७, –अवतार २५९, ५८४–८५,
–देव २१३, –दास (प्रथम) ७१,
–दास (द्वितीय) ७१, –पुराण
३३, ३३५
मिहिर ३३०, ३५९, ३६४–६५, ४७३–
७४, ५०८, ५७४, ६२१, ६४२,
५४–५५, ६६०
३९५, ४९७, ५०५–०६
ान ३६१
३३, ४७, ४९, ६८–७२, ११७–२०,
२४–२५, १२७, १३०, १६७–
६८, १७०–७४, १७७–७९, १९७,
००, २६७–६९, २७७, ३५३,
६८, ४००, ४०२, ४३०–३१,
३९, ४४५, ४६५–६६, ४८३,
९४, ६२२, ६३७, ६५९–६१
३३, ६९०
ष्ठ (वसिष्ठ) ३३३, ४०९, ६३२
सेना ६२२, ६३५–३६
मित्र ४३२
-हिउएन–त्से १३६–३७, १४१–४३,
५६, १६०, ३२३, ६८८
क २, ३, २२, २३, ३५, ४४, ५४, ५५,
०३–०७, २०९–१८, २२८–२९,
८–३९, २५३, २५५, २९०, ३४३,
०५–०६, ४७२, ४८३, ५२७,
३१, ६२२, ६३६, ६५३
पदीय ३६२
प्रदीप ३४२, ३५४, ३६२, ३५१
३६२–६३
ति ३४०, ३६०
(वातापी) २६२–६३, २७२, ४०६,
३६
यन २११, ३०४, ३४३, ६००, ६०८,
२५–२९, ६३२–३६, ६४३, ६४६,
५९–६०

वामन ३३०–३१, ३६२, ४७१–७२, ४७९, ४८१, ५४९
वायुपुराण ३३२, ३३६–३९, ३८६–८७, ३९०, ४७१, ६५०, ७२१
वाराणसी ४३१, ५७४, ६३७, ६७३, ६७६
वाल्मीकि ६२९
वासवदत्ता ३५७–५८, ६२८
वासुदेव ५७, ५९–६१, ६३, १८८, ४७३, ४७५–७६, ४७८, ५०४, –द्वितीय ६१, –तृतीय ६१–६२
वाल्हिक २२
विक्रमशिला ४३०
विक्रमसिंघे ४५५
विक्रमादित्य १६, २१, ३९–४०, ९७, १३१, २०८, २७२–७४, २७९, ३६०, ४०६, ४३२, ४६३, –प्रथम २१७–१८, २७५–७७, ३०१, ३०५, ३०९–१०, ३१६, ३५२, –द्वितीय २२५, २२७, २३०, २७९–८०, ३०१, ३१७–१८, –पंचम २६०, –पष्ठ २५९–६१
विक्रमांक १६
'विक्रमांक देव चरित' २५९
विक्रमेन्द्रवर्मन् २५६-५६, –प्रथम २३६-३७, २४४, २५४–५५, –द्वितीय २४८, –तृतीय २३६, २४०, २६९
'विक्रमोर्वशीयम्' ३४२, ३४४-४५.
विचित्रवीर्य २६१
विजयकीर्ति ३०५, ४६२
विजयनन्दी ३६४
विजय भट्टारिका २७४, ३५२, ६३६
विजय महादेवी २८७
विजयराज २६७
विजयसेन ८७
विजयादित्य १४७–४८, २६२, २७७–७९, २८६–८७, ३१७–१८
विजयेश्वर (मंदिर) २७९
विजय वर्मन् ७१४-१५.
विजित–वोहन ६९५
विजित–सिंह ६९५
विंटरनित्स, एम. १९, ३३४, ३३६, ३४९, ३५१,

३६०, ३६९, ४५०, ४५२–५३, ४५५, ४५७, ५२४, ६४२, ६४९, ७०७
विदर्भ २१०, २१२, २१४, २१८, २२८, ३४८, ४०५, ४३१
विदिशा ८, २२३, ६४०
विदेह ७२३
विद्याधर ५०६
विद्यापति २५६
विद्यालंकार, मधुरेश ३६१
विधिशास्त्र ४०९
विनय ४२९, ४५६
विनयादित्य (युद्धमल्ल) १४७–४९, २७५–७९, २२५, ४६३, ६९०
विनीत रुचि ६७८
विन्ध्यवासिनी देवी १४६
विन्ध्याचल पर्वत १९, १४६, २६७, ४५७
विन्ध्यशक्ति २०३, २०५, –प्रथम २१२, –द्वितीय २०५, २१२
विन्ध्यसेन वाकाटक ३०८
विभव ४७१
विभीषण २४८
विमलास ६७५
विमुक्तसेन ४३९
विमोक्षसेन ६७६–७७
विरहांक ३६०
विरूपाक्ष २१७
विरोचन भद्र ४४१
विलासतुंग २१७
विल्सन ३५१
विशाखदत्त १८, ३८६, ३९२, ६०३–०४
विशाख वर्मन् २४३.
विशेषावश्यक भाष्य ४६६
विश्वकर्मा ५०५, ५२८–२९, ५४१
विश्वक्सेन संहिता ४७१, ४७४
विश्वनाथ ३५६
विश्वन्तरजातक ६०७–०९
विष्णु २३, २४, ४९, ७७, १००, २१६–१७, २५२, २६०–६१, २६३, २६६, २९४, ३३२–३७, ३४५, ३७०, ३७९–८१, ३९०–९१, ४१४, ४१८–१९, ४२१, ४४६, ४७०, ४७२–८२, ४८९–९०, ४९२–९३, ४९८–९९, ५०३–०५, ५६१–६२, ५८४, ५८८, –वृद्ध ६३३
विष्णुकुण्डी २३१, २३४–४०, २४५, २५०, २५३–५७, २८१, २८३, २८५, ३००, ४०७, ४८३, ५४७
विष्णुगुप्त ४९, १४५, १५५, ६७७
विष्णुगोप १०, २०७, २९२, ३०४, ३१२–१३, ३१५, ३१९–२०, ४७३, ४७८, –द्वितीय ३१५, ३२०
विष्णुधर्मोत्तर कृष्ण ४९९, ५०३
विष्णुधर्मोत्तर पुराण ५०४–०५
विष्णुनन्दी ४७७
विष्णु नरसिंह ५९४
विष्णुपुराण २६, २२६, ३३६, ३८६, ३९१, ४९५, ६२५
विष्णु स्वामी १५४
विष्णुवर्धन २४०, २६२, २७४, २८२, २८४–८६, ४००, –तृतीय २८६–८७
विष्णुवर्मन् ३०८–०९
विसुद्धिमग्ग ३८७, ४५०–५२, ४५४
वीरकूर्च वर्मन् २९०, २९२, ३११, ३२०.
वीरचन्द्र ७१७
वीरदत्त श्री २४८
वीरनारायण (कृष्ण) २२७
वीर–निर्वाण ४६५
वीरभद्र ४६१, ४९७
वीर वर्मन् ३१५, –प्रथम ३२०
वीरशर्मा ३०६
"वी–शू" (वी वंश) ६३
वीरसेन २०
वृत्तजाति समुच्चय ३६०
वृत्रासुर ३९३
वेंकट रमणम् २८५, २८७
वेंकट रामणय्या ३२१
वेंगी ५७८, ५८३
वेजेल्ले (प्रांत) ७१७–१८
वेणीसंहार ३५१
वेद ३४८, ३८७–८९, ४१३, ४१९, ४३३, ४३५, ४७९, ४८७, ४९२, ५१९–२०, ५२२–२४, ६५०, ६५२, ६७१, ७१४

ाय ४७१, ६३१-३३.
३४८, ४९६, ५२२–२४, –दर्शन
३४१, –सिद्धांत ४८४–८५
मैक्स ३५८
त ३५८
शीति २१०, २१४
काल ३९५, ४२०, –कर्मकाण्ड ३७७,
२०, –धर्म ७२३, –यज्ञ ४०५,
४९६, –संहिता ४१८, –साहित्य ३३१,
३३६, ४७३
पी.एल. ३४०, ३५०
गुप्त ३७–३८, ४५, ८७
शतक ३५४
जी ९२, ३९८, ४४४, ७१७
क दर्शन ५१९, –सूत्र ३४०
२१०, २२०, २५०, २५२, २६३,
९०–९९, ३०४–०५, ३३५, ३३७,
३७०–७१, ३७७–७८, ४१८, ४२०,
६४, ४७०, ४७५, ४७७, ४९५,
०६, ५१८, ६०४, –धर्म ३६९,
धर्मी ४९९, –भक्त ३८०, ३८२,
मत ४९१, –मंदिर ६१२, –संप्रदाय
१०, –धर्मी सात्विक पुराण ३३१
(नदी) ३९
३३२
३४३, ३४८
१७५, १८३
२०५, २२०
३३५, ३३९–४०, ४०९–११, ४७८,
१०, ६५९
२२, ११२
३६०
७३

३४१–४२, ५९५
ण ७५, २२२–२५, २६४
९३
मन् २४२.
चार्य ५०१
स्वामी ४४०
६१३
(संगम) युग ३०२, ३११
भाष्य ४३१

शांडिल्य गोत्र (मृगराज) ३५१
शक ५, १२–१३, १८, २०–२५, ३९–४०, ५२, ५४–५५, ५९, ६२, १९२, १९४–९५, २०६, २८०, २९०, ३३७, ३४२, ४७२, ६१५, ६१९, –नन्द ५३, –संवत् ५४६
शकस्थान ७०६
शकुन्तलाराव ३५२
शकुन्तला ३३२, ३४३–४४, ६१३, ६२८, ६३१, ६३६
शकुन २९
शक्ति ४९५
शक्तिकुमार १७९
शक्तिनाग ४७७
शक्ति वर्मन् २४२–४३
शक्ति–संप्रदाय ४९९
शक्र–उत्सव ४७६
शक्रादित्य ६४९
शतद्रु ६४७, ६७३
शतपंचाशिका ३६६
शतपथ ब्राह्मण ३४५, ४७०, ४९५
शतानीक २६१
शत्रुघ्नराज २०९
शपुर प्रथम ५९, ६३, –द्वितीय ६२–६५, –तृतीय ६६
शम्भु २१०, ४९७
शबर ३४१, २५१, ६२३, –नरबलि ६२४
शब्दविद्या ६५१
शब्दावतार ३०५
शब्हान्न ३८, ६६, १४१, १४८, १५२, ६८८
शरभपुरीयवंश २८८, २४९-५०, २५३.
शरियत ५१२
शर्मा, आर. ३६१, ४६२
शर्मिष्ठा ६२९
शर्ववर्मन् (शर्ववर्मा) ४३, ७७–८०, ३६१, ४५८
शशांक ८५–८६, ८८–९२, १०४, १०७–०८, ११२–१३, ११६, १२१–२२, १३०, १३७–३९, १४४, १५८–६३, १६५, २६९, ४२१, ४८३
शहरयार ५०८
शाक ५९, ६४
शाक द्वीप ४९३

शाकलेटन, डी.आर. ४३५
शाकुन्तल ३४४, ३५३, ३६७, ६२९
शाकुन्तलम् ६२८, ६६०, ६६५
शाक्य ४८५, ६७७, –बुद्ध ६९२, –वंश ६७२, ६९७, ७००
शान्तनु २६१
शान्तरक्षित ४४१, ६४९
शांतिकर द्वितीय १०६
शान्तिदेव (शान्तिवर्मन्) ३०८, ३१४, ४३७, ६४९, ६५८
शाम्ब ४९३
शार्दूल वर्मन् ७६.
शालकंटक ५०१.
शालंकायन ४०८, ४८३, ४९४ (शालकैजाई) २३३–३४, २५४, (नन्दिवर्मन्) ४०७
शालस्तम्भ १६०
शालिक नाथ ३४१
शावक ४२८, ४६५
शाश्वत ३६१
शास्त्री, नीलकंठ, २१२, २३५–३६, ५२५, ६८४, ६८८, ६९०, ७०२, ७०६
शास्त्री, पी. शेषाद्रि ३२१
शास्त्री पी.पी.एस. ३४८
शास्त्री एस.एस. ३०५
शास्त्री, श्रीविजय ७१९–२१, ७२३
शाहनामा ७०६
शाहि तगिन १८८
शिक्षा समुच्चय ४२४, ४३७, ६३८
शिट्ठण्ण ६०३–०४, ६११–१२
शिवगुप्त बालार्जुन २१७, महाशिव गुप्त २५२
शिव २२२, २२९, २७९–८०, २९६, ३०५, ३१०, ३१२–१३, ३३२, ३३४, ३३६–३७, ३४६, ३५२, ३७०, ४१९, ४२१, ४४५–४६, ४८३, ४८५, ४८७–८८, ४९१–९३, ४९५–९६, ५०१, ५५१, ५८२,५८४, ५९३–९४
शिवचन्द्र ४६१
शिवदेव ९५–९६, १४४, १५६, –द्वितीय ११५,
शिवनन्दी २५२
शिव और पार्वती ४९८
शिव पुराण ३३२
शिवमंदिर (भूमरा) ५५६, ५६४, –(पठार का ५७४, ७१४
शिवमल्लिकार्जुन २०६, २३५
शिवमार ४६२, –प्रथम ३०५
शिवराज (राष्ट्रकूट) २२७, २३०, २८०
शिवलिंग ४८९
शिववर्मा २३७
शिवस्कन्ध वर्मन् २९२, ३१२–१३, ३१ ४०७, –(पल्लव) २९१
शिवाजी १३९
शिवि ६०७–०८, –जातक ६०९
शिलाकाल ३२४–२५
शिलादित्य प्रथम ६७, ७१–७२, ११७, १६
शिलामेघ वर्ण ३२६
शिल्प रत्न ६०१
शिष्यलेख ४४२
शिशुपाल वध ३५२, ३६२, ३९३
शीलभद्र ५९, ८५, १५८, ४४०–४१, ६८
शीलादित्य ७१–७२, ११४, ११७, १२०–२२, १३३, १३६–३७, १७०, १७ –हर्ष ३५०, –द्वितीय १६९, –तृती १६८–७०, २७७, –चतुर्थ १७० –पंचमं १७०, १७४, षष्ठ १७० –सप्तम १७१, –श्री आश्रय १७० २७७–७९
शीलुक १७५–७७
शुंग १, –काल ६१७, –वंश ३०५
शुद्धोदन ७२२
शूद्र २८३, ४३५, ६२१–२२
शूद्रक ६५३
शूर २२१, २४८–४९
शूलपाणि ६६८
शूलिक ७७
शूल्कि २५०
शेक्किलार ३७६
शेम्बनेकर, के.एम. ३४३
शेर ६१७–१८
श्यामादेवी (ध्रुवलक्ष्मी) १०१
श्वेतराह स्वामी ४७३
श्वेताम्बर जैन ३६८, ४४४
श्वेतपट ४६२
शैलवंश १६२, १६७, १७७

भव ८९, ९१, १०६–०७, १६३,
६६–६७
र्मी ३३, ३६९, ४८४, ४८९.
१३३, २०४, २०४, २१०, २२९, २३४,
२४, २९४, २९९, ३०३, ३३३,
२४, ३७०, ३७५, ३७८, ४१८,
३७, ४६४, ४८२. ४९४–९५, ५०६,
२०, –मंदिर ६०४, –अलंकृत मंदिर
१२, –मत ३७२, ४८३–८५, ४८७,
०४, ५१८, ५२५, –शक्ति संप्रदाय
९१, –संत ३७१, –संप्रदाय ६१०
९८,
नी ४६८
नी ५५०, ६७३, ६७६
१, ३
वर्मा ५३
सेन ३५२
मान् १०६
वासन, के.आर. २९४
२४९–५०
२९८, ३०५, ३०६, ३१७–१८, ४६२
द्वितीय १६७
(सिहल) १२, १९७, २७७–७८, ४४८–
, ६७६, ६८०, ७१०
क्रम ३०५
२०६
र्मन् ७१२
११९, –ज्ञान ४९६
तिलक ३५४.
प्रकाश २०९, ३५१, ३५७.
शतक ३५४, ६३९.
र्मन् ७१२.
डागम ३६८
न ६०७, –जातक ६०७
मृत ४६८
र्ग ४७३, ५०४
युग २८९
साहित्य ३०१
सिंह २२१, २२४
३६७, ४३९, ४६७
मोचन सूत्र ४३८
४४९
६७५

संघवर्मन् ६९८
संघाराम ४३७, ४४८, ५२९
संयुक्त निकाय ४५१
संवरविंशक ४४२
संवर्धन १६७
संहिता ४७४
सतियपुत्र ३११
सद्धर्मपुण्डरीक ४२६, ४२८
सनातनधर्म ४१८, ४२०
सत्यकौशिक स्वामी ७१५
सत्यसभा मल्ल २३२
सत्यसिद्धि ४३४
सत्यसिंह २९२
सत्यसेन २९२, ३१२
सत्याश्रय २६१
सप्तदशभूमिशास्त्र ४३८
सप्तमातृ ४६९
समन्त भद्र ४२८, ४६३, ४६९
समयसार ४६८
समाचारदेव ८७–८८
समाधि राज ४४२
समीर ५२१
समुद्रगुप्त ३–२०, २२, २४–२५, ३६, ५२,
    ५४–५५, ६५, ९५, १०२, १०५,
    २०४–०६, २२३, २३३–३४, २४०–
    ४१, २९२, ३०४, ३०७–०८, ३१२–१३,
    ३२३, ३३०, ३९५, ३९८–९९, ४७०,
    ४७३, ४७८, ५०१, ६५२, ६५४–५५
समुद्र मंथन ३३२
समुद्रवर्मन् १०१–०२
सम्बन्दर ३०३, ३७०-७१, ३७३-७४, ४८९.
सम्मत्ति तर्कसूत्र ३६८
सरकार, डी.सी. ८, ५०, ५५, ११८, २५४, २५७,
    ३२१
सरस्वतीकण्ठाभरण २०९
सरकार, सर यदुनाथ ५१५
सरस्वती, आर. ५०४
सर्वदर्शन संग्रह ४३१
सर्वनन्दी ४६४
सर्वयश ६७
सर्वसेन २०३, २१२, २१४, ६५३
सर्वज्ञदेव ७०३
सर्वज्ञमित्र ४३७

सर्वास्तित्ववाद ४३०, ४३८–३९
सर्वास्तित्ववादी निकाय ४२२
सर्वेश्वरवाद ३३६
सलसेट्टि ५५२
सशानिद पहलवी १८८
सहसि राय १८८, –द्वितीय १८८
सहिरस १८७
सांकलिया, एच.डी. १७३, १८३, २००
सांकृत्यायन, राहुल ४३५, ४४१
सांख्य ४८७, ५२०–२२, ६५१, –कारिका ३३९, –दर्शन ३३२, ३३९, ३४३, ४४१, ४९६, –योग ५२२, –शास्त्र ४३२
सांची २०, ५३, २०५, २२१, ५५९, ५६०, ५६१–६२, ५७८, ५८४, ५९१, ६०६
साइक्स, सरपर्सी ७०७
साकल (स्यालकोट) ४०
साकेत (अवध) ४, ४३१
साहनी, डी.आर. ५७६
सातकर्णि, गौतमीपुत्र २१८–२४८
सातवाहन १, २३३, २४८, २८९–९१, ३०१, ३०६, ३११–१२, ३९६, ४०७–०८
साथियानैयर, आर. ८, १०
साधिया, आर. ३०७
सांभर (प्राचीन शाकम्भरी) ६१७
सारनाथ ४४७, ४७५, ४७७, ४८२, ५८०–८६, ५८८–९०, ५९४, ५९८, ६९२
सारिपुत्र ४२९
साहित्यदर्पण ३५१, ३५६
सिंध ४०, १११, १२६, १३०, १३२, १७२–७३, १८७–९०, १९२–९३, १९५–९९, २८९, ४४५, ५०९–१४, ६१३, ६१७, ६२१, ६३७, ६५९, ६६५, ७०५–०६
सिंधु २२, १७८, १९०, ६३९, ६५५, ६६२, ६६४, ६९७
सिद्धसेन ३६८
सिद्धसेन दिवाकर ३४०, ३५४
सिद्धिनारायण ९९
सिनो–इरानिका ६६६
सिरपुर (लक्ष्मण मंदिर) ५७५
सिंह, ए. ३६४–६५
सिंह नन्दि ३०४
सिंहली ३२२
सिंहलावदान ६०८
सिंहवर्मन् १०२, २३४, २९२–९३, ३०९–१०
३१२–१३, ३१५, ३१९–२०, ४०४
–प्रथम २९३, ३०४, ३१०
सिंहविष्णु (नरसिंह वर्मन् प्रथम) २७२
२८२, २९७, ३०१, –(पल्लव) ३०१
–(अवनि सिंह) २९३
सिंह सेन ५५–५६
सीता ३५३, ३८४
सुंग–युन ४०–४२, ६८१
सुई–काल ७२०, –वंश ७१५
सुदेवराज २२८, २३३, २५०–५१
सुत्तनिपात ४५०.
सुधन्यादित्य ८८
सुप्रतिष्ठित वर्मन् १०१, १०४
सुप्रभदेव ३५२
सुबन्धु ३४, २२२, ३३०, ३५७, ३६७
सुभद्रा ४७४
सुभूति ३६५
सुमात्रा ७२२
सुरेन्द्रादित्य ६८९
सुवर्णप्रभास ४२८
सुस्थित (सुस्थिर) वर्मन् ८३, १०१
सूर्य ४९४–९५, ५०४, –संप्रदाय ४९३
सूर्यघोष २५१
सूर्यदेवता २३२–३४
सूर्यवंश ९२, १८१, ३३१, ३४६, –वंशी
२२६, –विक्रम ७१६, –राजवंश
३३१
सूर्यवर्मन् ८०, २५०, २५२
सूर्यशतक ३५४
सूत्र–समुच्चय ४३७
सेतुबंध २०९, २१०, २१४, ३६९, –रावण
२६८
सेन गण ४६४
सेन्द्रक २७, २६३, २७८
सेवेल, आर. ३२१
सैन्यभीत १०७, १६३, १६५, –प्रथम १६३,
१६५, –द्वितीय १०७, १६५, –तृतीय
१६५
सोफोक्लीज ३७२
सोमदत्त १०७

देव २९, २३८
वंशी १६६, २१७, २५०, २५२
की २५९
-त्सन स्मग-पो ८४, ८८, ९८, १४२, १६०
र्यलहरी ४९१
न्तिक ४३१, ४३३
ढ़ १९७
गुप्त २६–३३, ३५, ३९, ४८, ६९, ३६२, ३९९, ४६०, ४७५–७६, ४९०, ६१९, ६७१
पुराण ३३३–३४
वर्मन् २१६-१७, २३३-३४, ३१२-१३, ३१९, –प्रथम ३१०–२०, –द्वितीय ३१५–१६, ३१९–२०
महासेन (कार्तिकेय) २५९
संप्रदाय ४८२
न, एम.ए. ७३, १४८, २००
४३५, ४४०
र निकाय ४२५
रवाद ४३०–३१
मति ४३६, ४३९, ४४१
थ, वी.ए. ३–५, ८, १५, ५०, ५८, ६१, ६४, १२०, १२७, १३१, १८८, २०१, ४८१, ५६१
त ३८७, ३८९–९०, ४१०, ४१५, ४१७, ६२३, ६२५–२६, ६२९, ६३२, ६६७, ६७०
चन्द्रिका ३८८–८९
-विधान ६२४, ६३३
वासवदत्तम् ६३८
श ७०७
७२२

ज ५११–१३, ५१५
ग, डब्ल्यू.बी. ५१७
दुल्ला, एम. ७०४
द्र ३४०, ४४१, ४६१, ४६८
वंश ३३४, ४७७, –पुराण ४७१, ४९७
वर्मन् ७६, २९२, ३०४, ३०८–१०, ३१८, ३३४
ग ७, २११, २१३, ५२७, ५३१, –द्वितीय २५५
हरिश्चंद्र १११, १७४–७५
हलदार, आर.आर. १८२, २०२
हर्ष ११०, ११२–१३, ११६–१७, ११९–३५, १३९, १४१, १४३, १५७–५८, १६१, १६३, १६६–६७, २६७–७०, २७२, ३५३, ३५८, ४०२–०५, ४४६, ४७७, ४९६, ६२२, ६४०, ६४२, ६४५, ६५३, ६९३, ७०६, –गुप्त ७६, ८२, २५२
हर्षचरित ५६, ७८–८०, ८३, ८५, ८६, ९०, १०१, १०४, १२२, १३९, १४४, २०९, ३३८, ३५६, ३५८, ३६८, ४०२, ४६०, ४७४, ६२४, ६२९, ६३६, ६३९–४०, ६४२, ६४५, ६४७, ६५६–५८, ६६०–६१, ६६५, ७०६
हर्षदेव ११८, १५७, १६०
हर्षवर्धन (शीलादित्य) २९, ७९, ८१, ८३, ८५, ८६, ९०–९२, ९७–९८, १०२, १०४, १०८–१५, ११८, १२२, १३७, १४२, १४४, १४६, १५५, १५८–६०, १६६, १६९–७०, १७४, १८७–८८, २६७, २८१, २९५, ३३२, ३४९, ३५६, ४०१, ४२१, ४३०, ४३३, ४४१, ४४४–४५, ५८९, ६८४–८५, ६८८–९०, ६९३, ६९९, ७०६
हस्तिवर्मन् २३३–३४, २४५,. –प्रथम २३४, –द्वितीय २३३–३४
हाजरा, डा. ३३७–३८
हार्नली, ए.एफ.आर. २०१, ४३५
हिजरी ५१०
हिट्टी, पी.के. ५०७, ७०४, ७०७
हिन्दूकुश २९, ३९, ५८, ६३, १२६, १८७, १९०, ६९७, ६९९
हिन्दूधर्म ३३६
हिन्दूवाद ४५९
हिमालय १०, ४२, ४४, ८२, १११–१२, १२७–२८, १४३, १४७, १६२, ६६५
हिरण्यपुरुष ४९५
हिरण्यगर्भ महादान २३२, २३५, २३७, २५६, २६२, ३०३, –यज्ञ २३२
हिरण्य वर्मन् २९७

हिले ब्रांट ३४५–४६
हीनयान ४२४, ४३०–३१, ४३३, ४३९, ४४४, ६८३, –शाखा ४२२
हूण २७–३१, ३५, ३७–४०, ४२–४५, ४८, ६१, ६६–६७, ६९, ७३, ११०, २११, ३६२, ४००, ४६१, ४७३, ६१५, ६७३, ६९९
हेगल ५०३
हेतु विद्या (तर्कशास्त्र) ६५१
हेफ्थलाइट ६९५
हेमचन्द्र ३६०
हेर्त्सफेल्ड ५८–६०, ६३–६४
हेलमन्द १८७, १९०
हैहय (कलचुरि) २१८, २२२, २२५–२६, २७७, २७९
होअन सोहन ७१३
होरमज्द ५८, ६२
हो–लिंग ७२०–२१
हो–लो–तान ७२०–२१
हेनत्सांग १२, ४०, ४२, ४३, ४८, ४९, ७१, ७२, ७९, ८८, ८९, ९१, ९२, ९७, १०७–०८, ११२, ११४–३९, १५०, १५७–५९, १६१, १७४–७५, १८३–८४, १८६–८९, १९२, २३८, २४८, २६९–७१, २९६, ३००, ३०२, ४०१–०५, ४२४–२५, ४२९–३४, ४३६, ४४०, ४४२–४५, ४५४, ४६०, ४६४, ४९४, ५५६, ५५९, ५७३, ५७८, ६२१–२२, ६२५, ६३३, ६३६–३७, ६३९–४१, ६४७, ६४९–५१, ६५६–६०, ६६२–६५, ६७३, ६८४–८६, ६९१, ४९४–७००, ७०८, ७१६

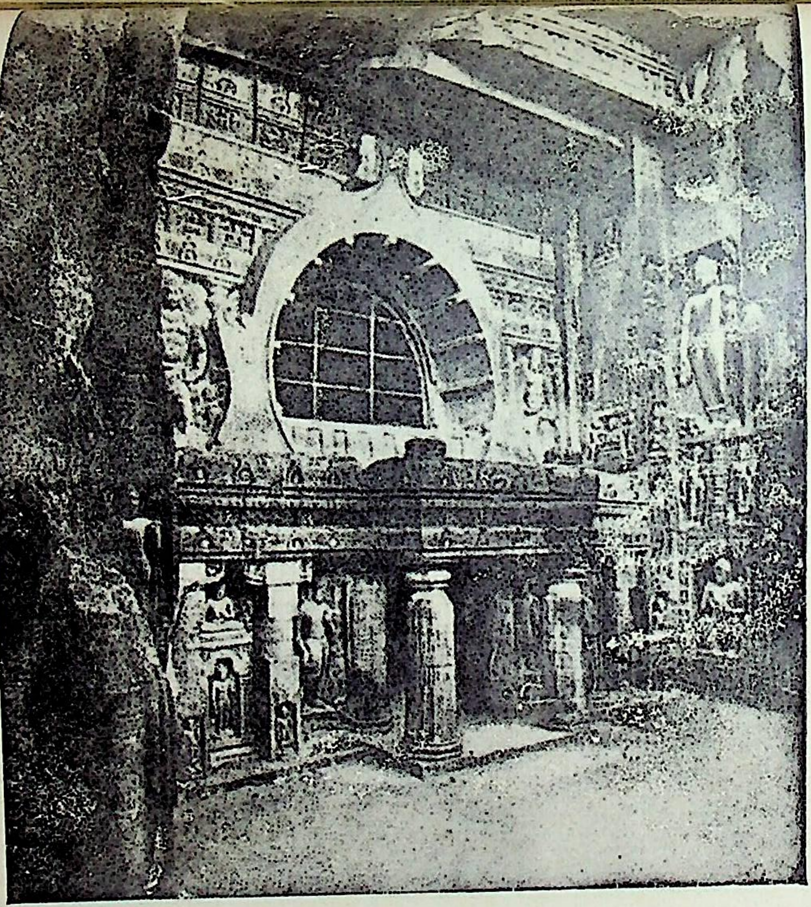

आकृति 1. अजंता, गुफा XIX : अग्रभाग

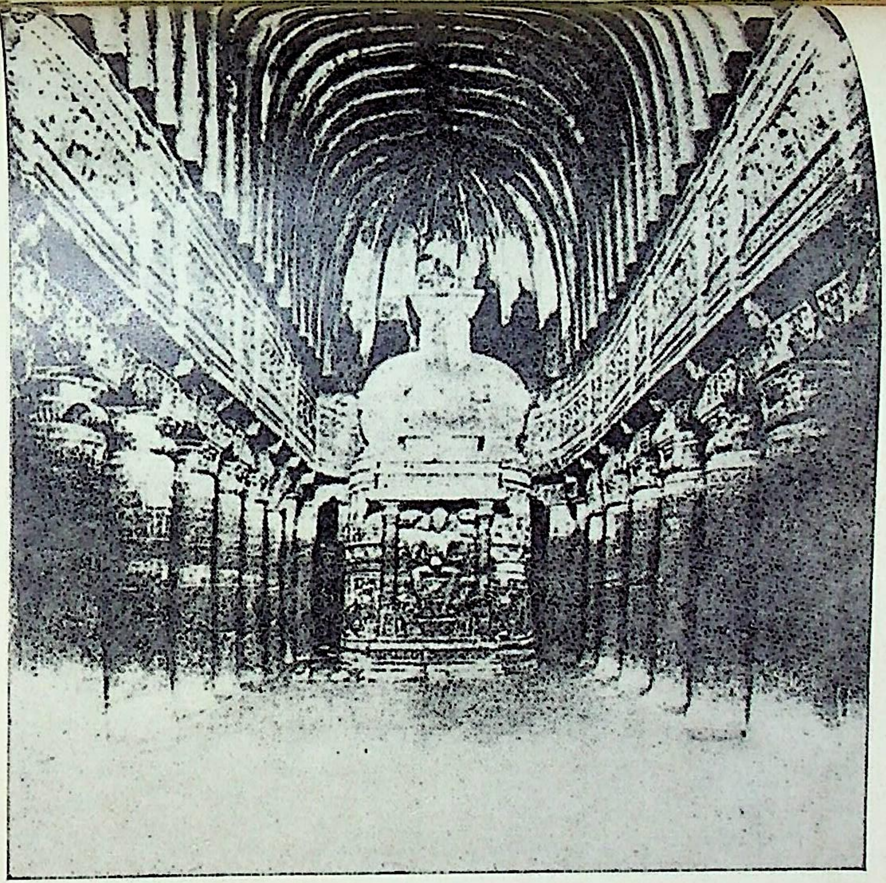

आकृति 2. अजंता, गुफा XXVI : भीतरी हिस्सा [प्लेट i

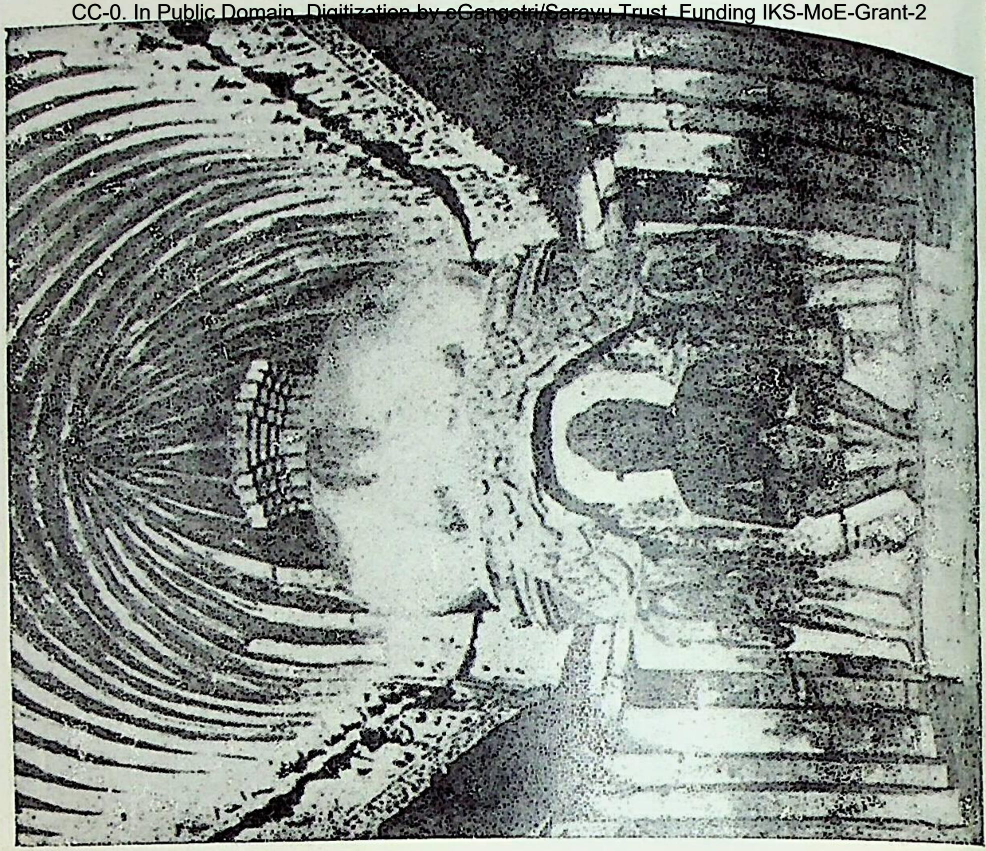

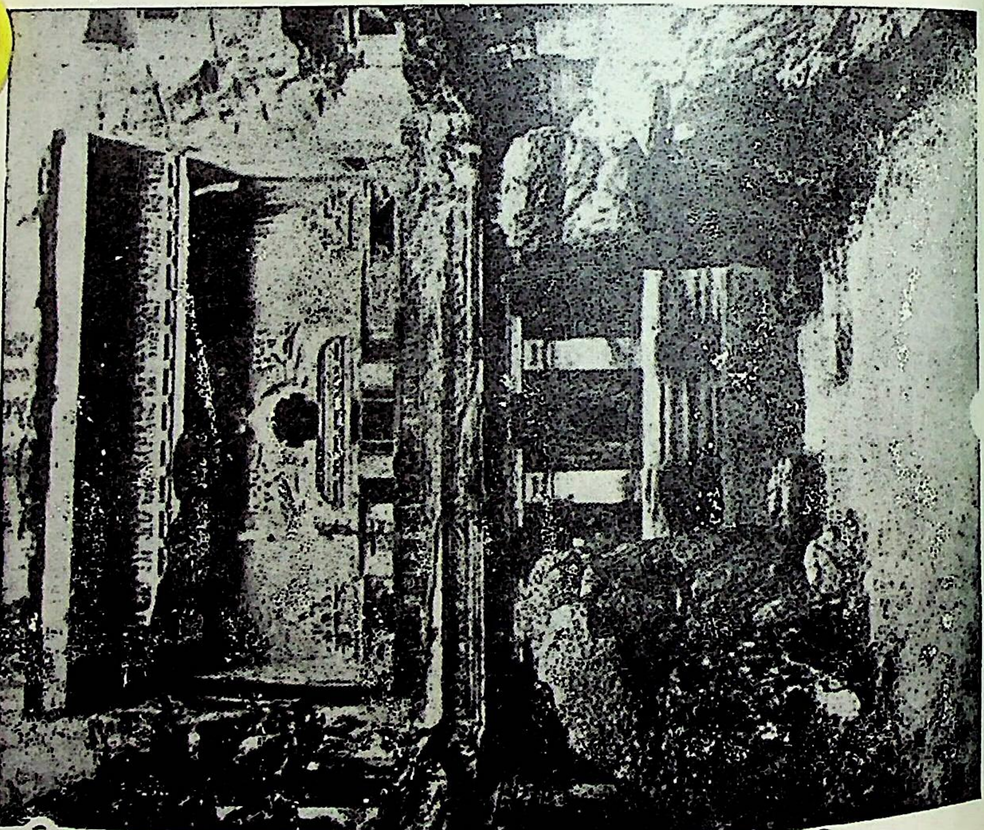

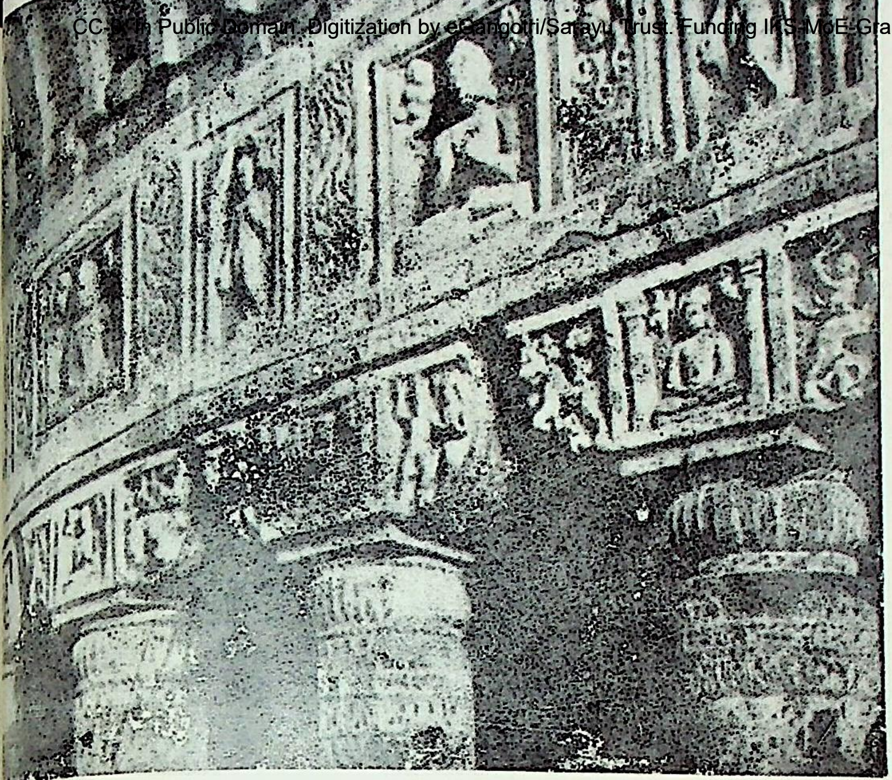

आकृति 5. अजंता, गुफा XIX : भीतरे हिस्से का ब्योरा

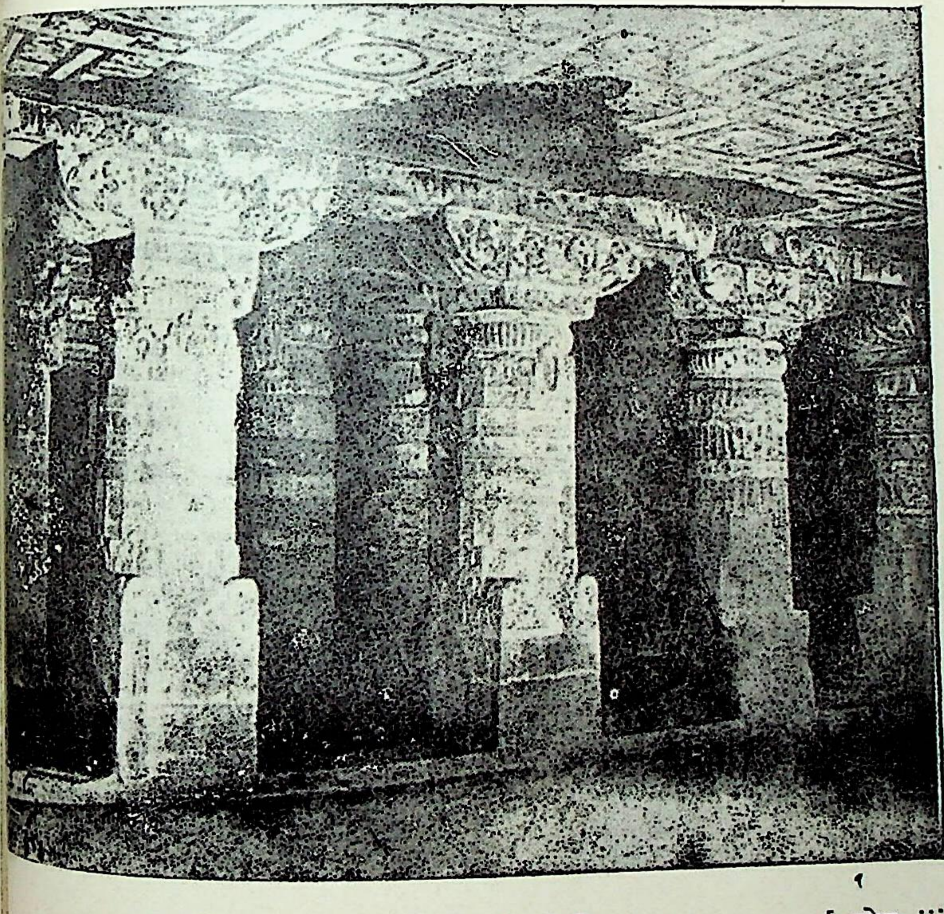

१

आकृति 6. अजंता, गुफा I : भीतरी हिस्सा

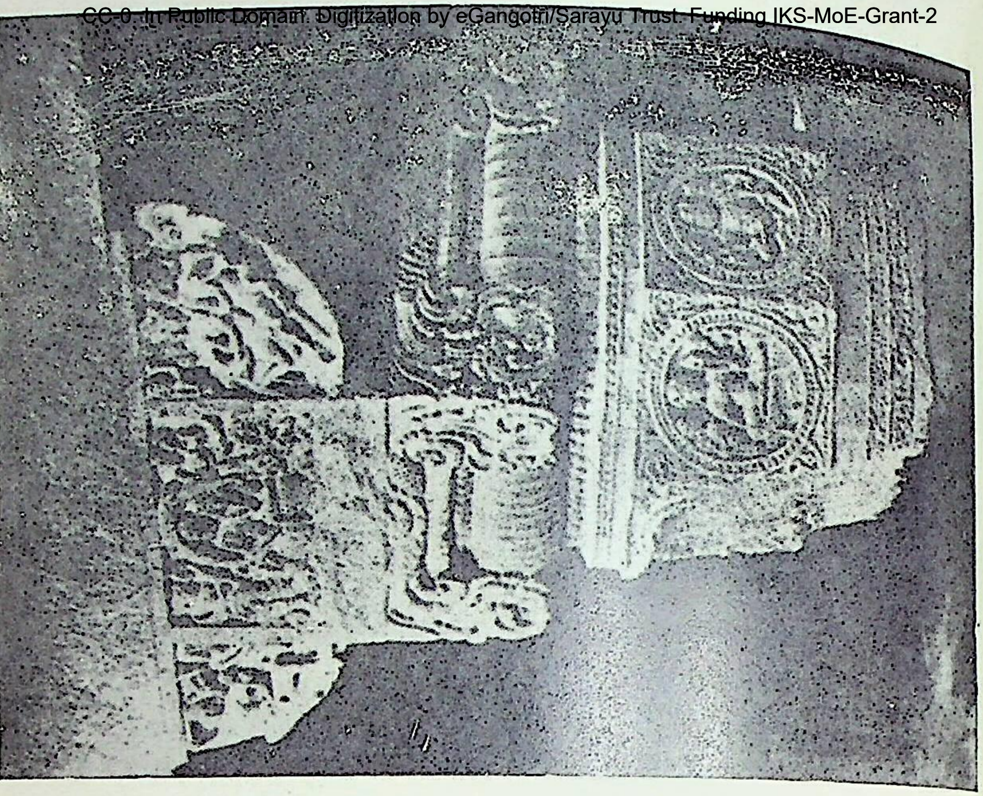

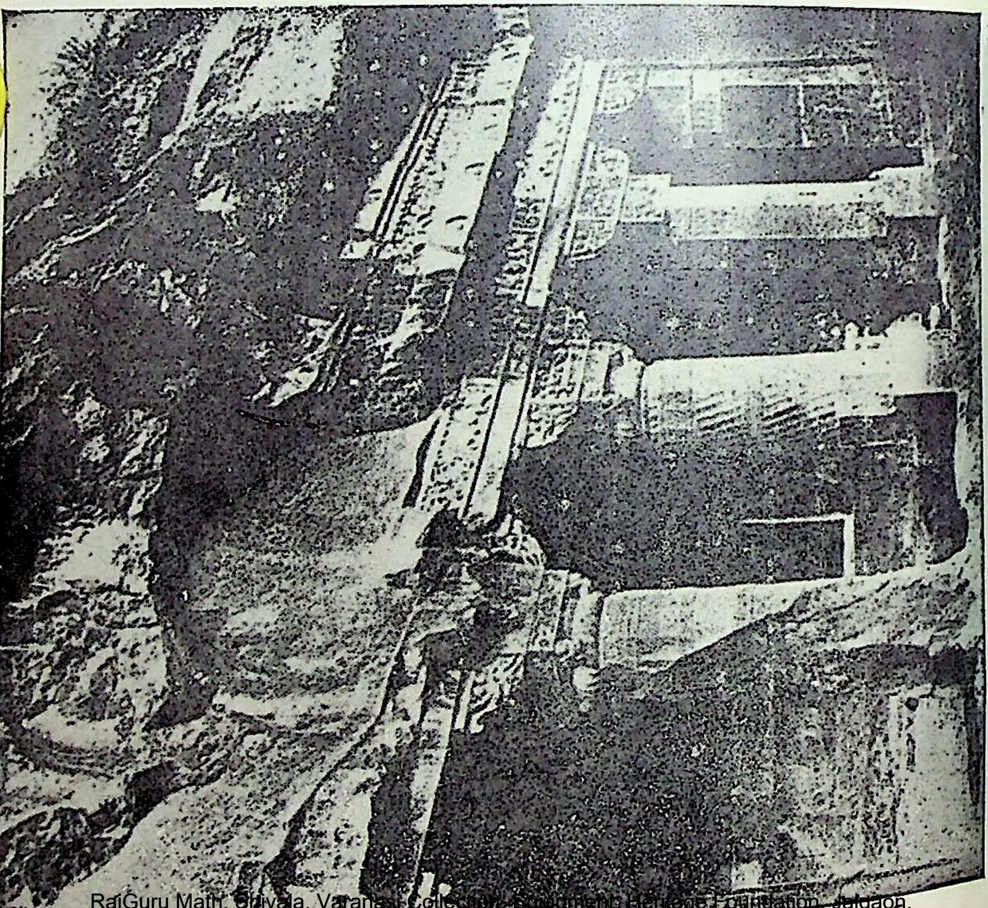

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Digitized by Heritage Foundation, Jalgaon.

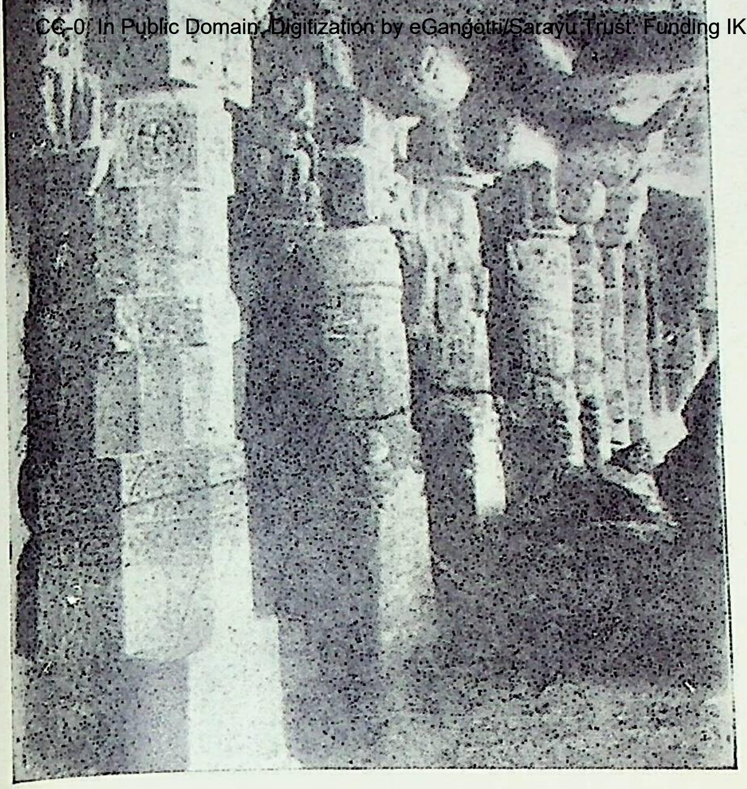

आकृति 9. औरंगाबाद, गुफा I : भीतरी हिस्सा

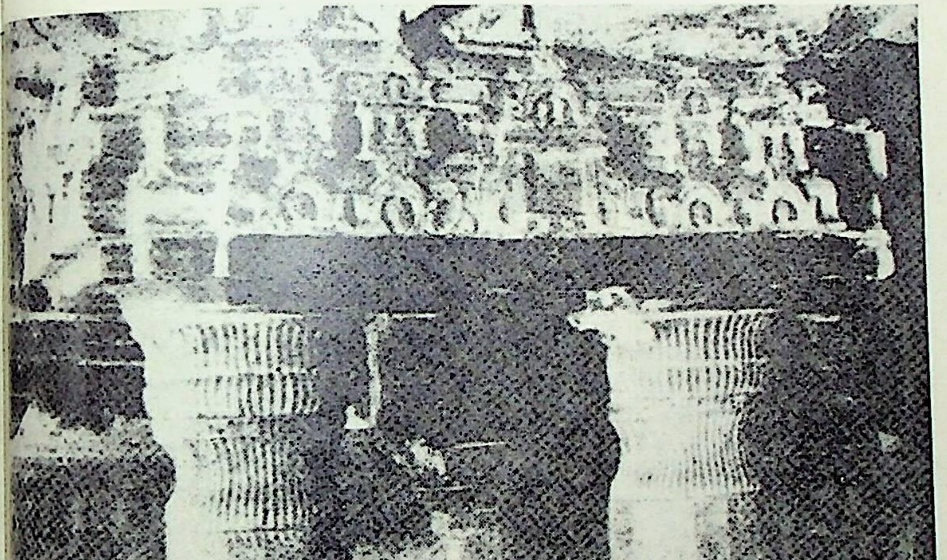

आकृति 10. बाग, गुफा IV : भीतरी हिस्सा

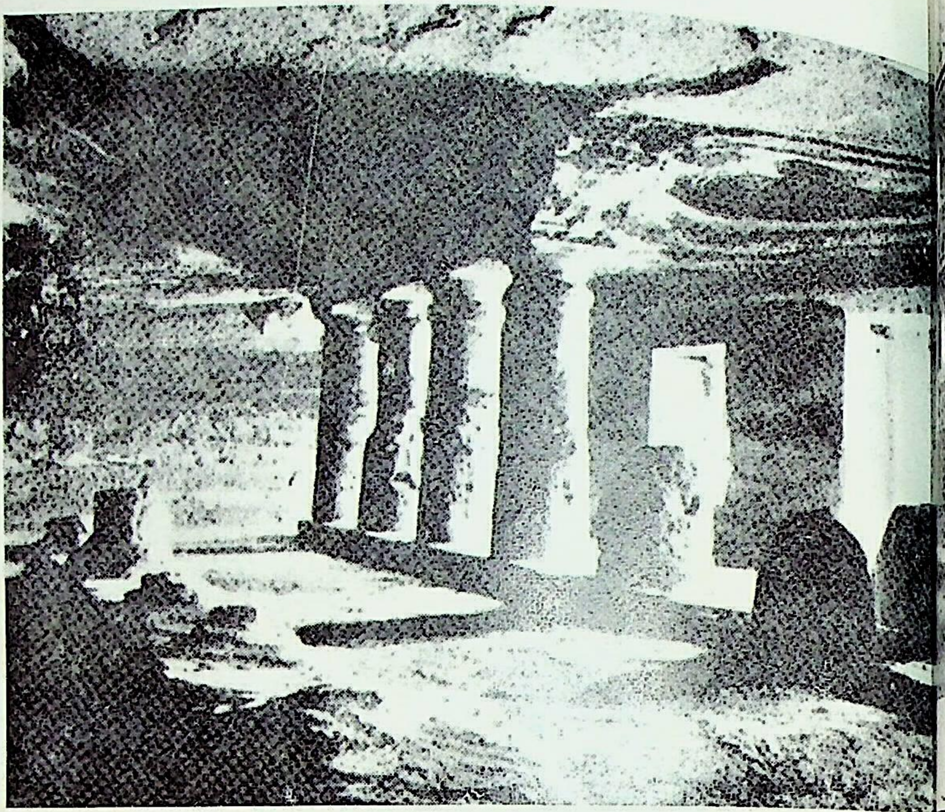

आकृति 11. बाग, गुफा V : भीतरी हिस्सा

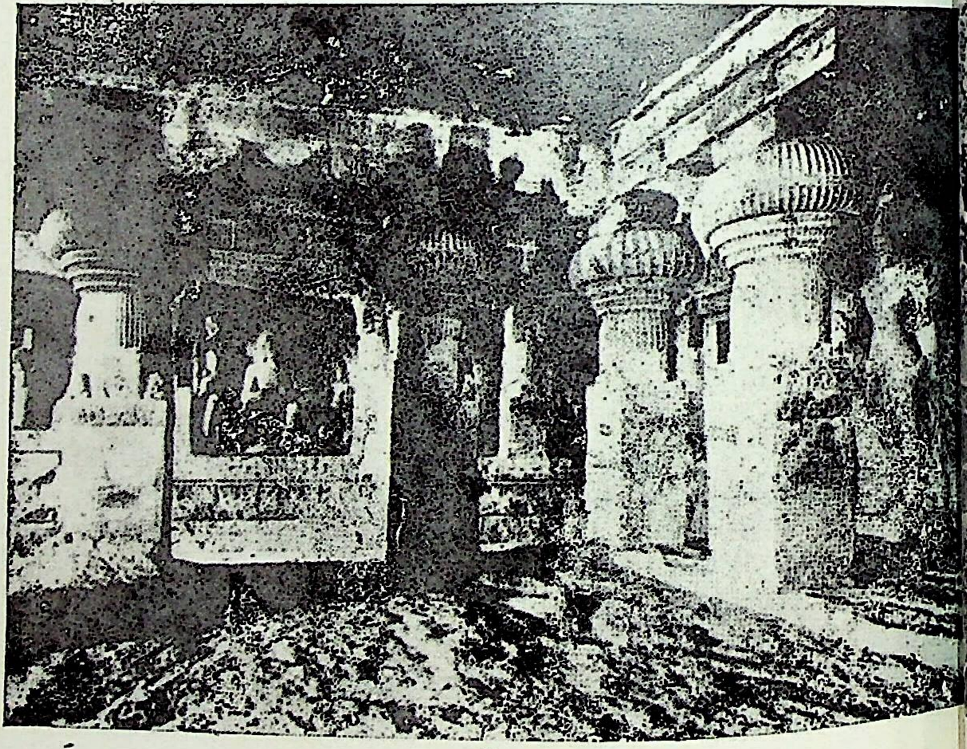

आकृति 12. एलोरा, गुफा II : भीतरी हिस्सा

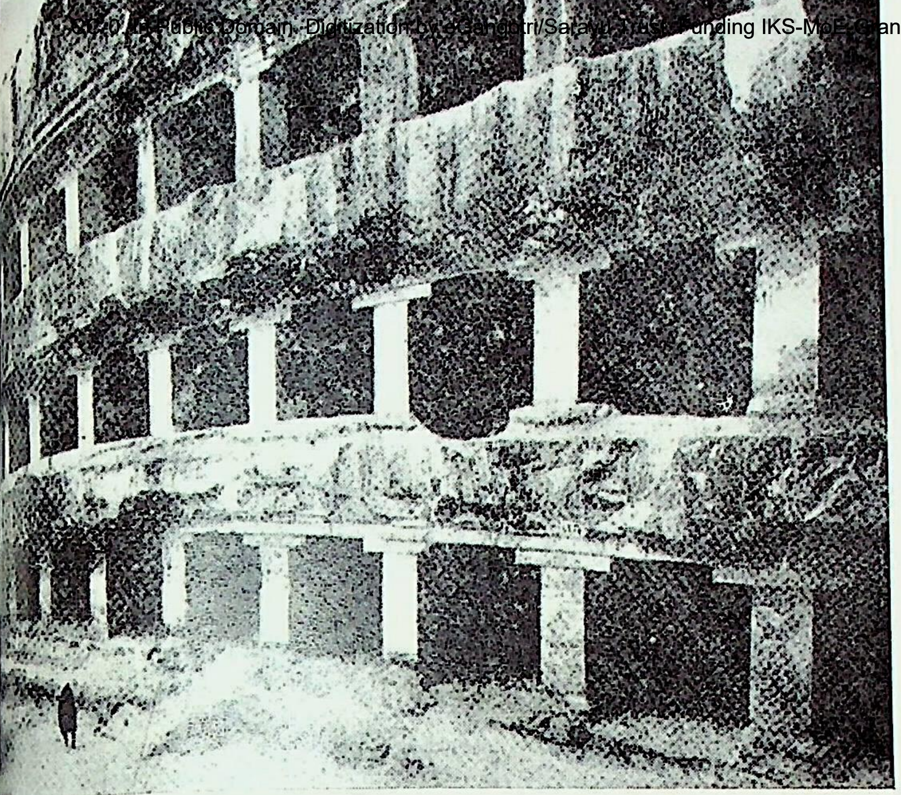

आकृति 13. एलोरा, टिन थाल गुफा : अग्रभाग

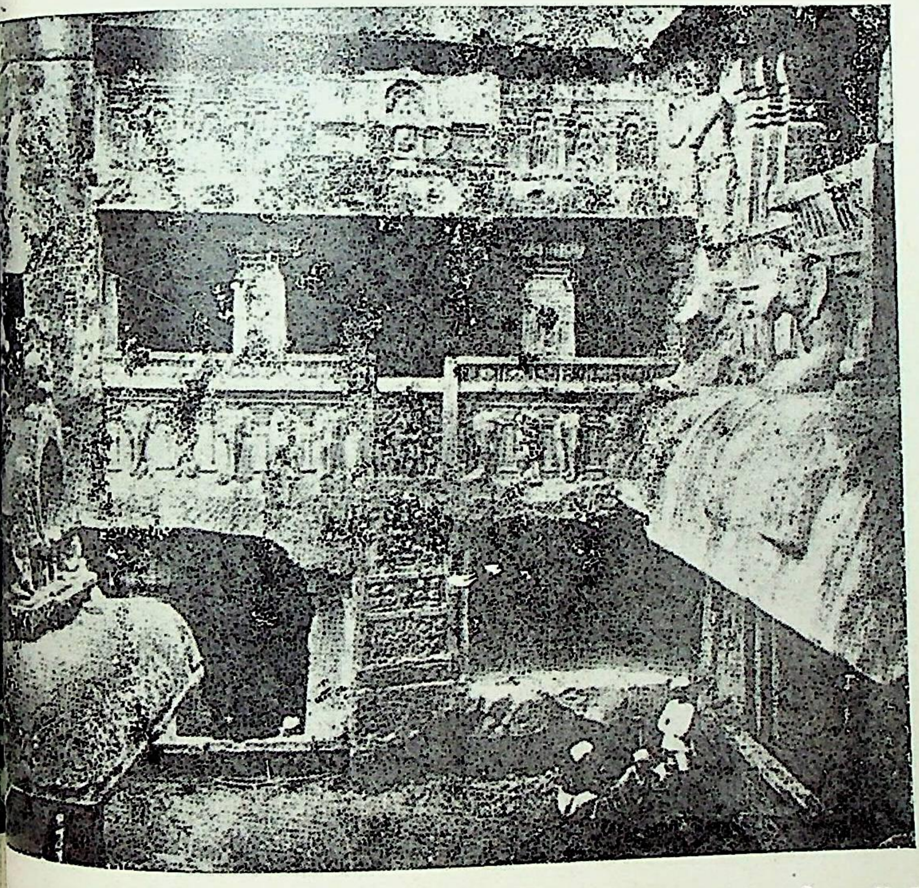

आकृति 14. एलोरा, इन्द्रसभा गुफा : अग्रभाग

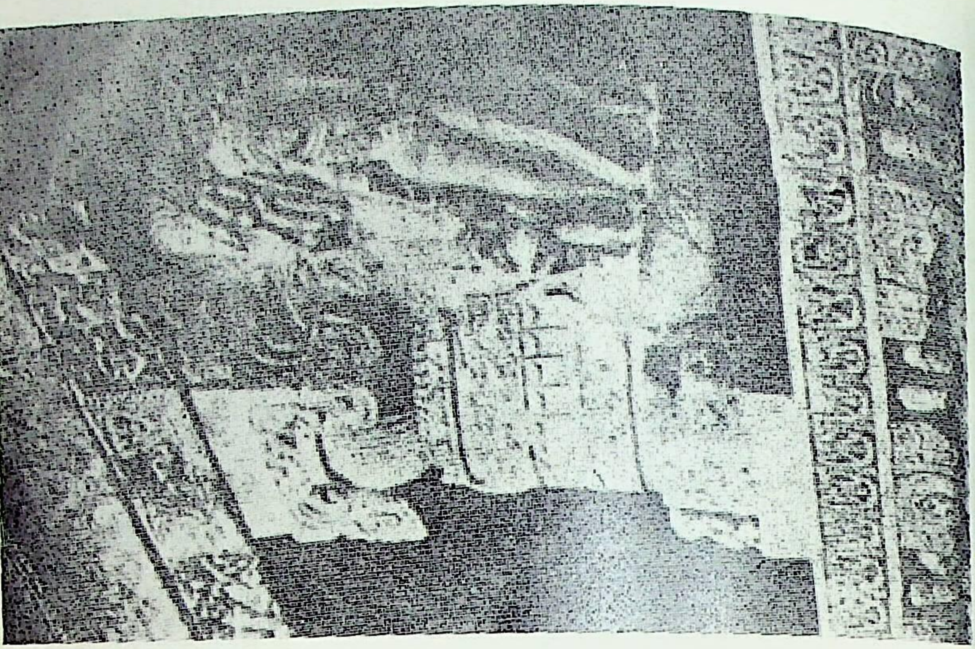

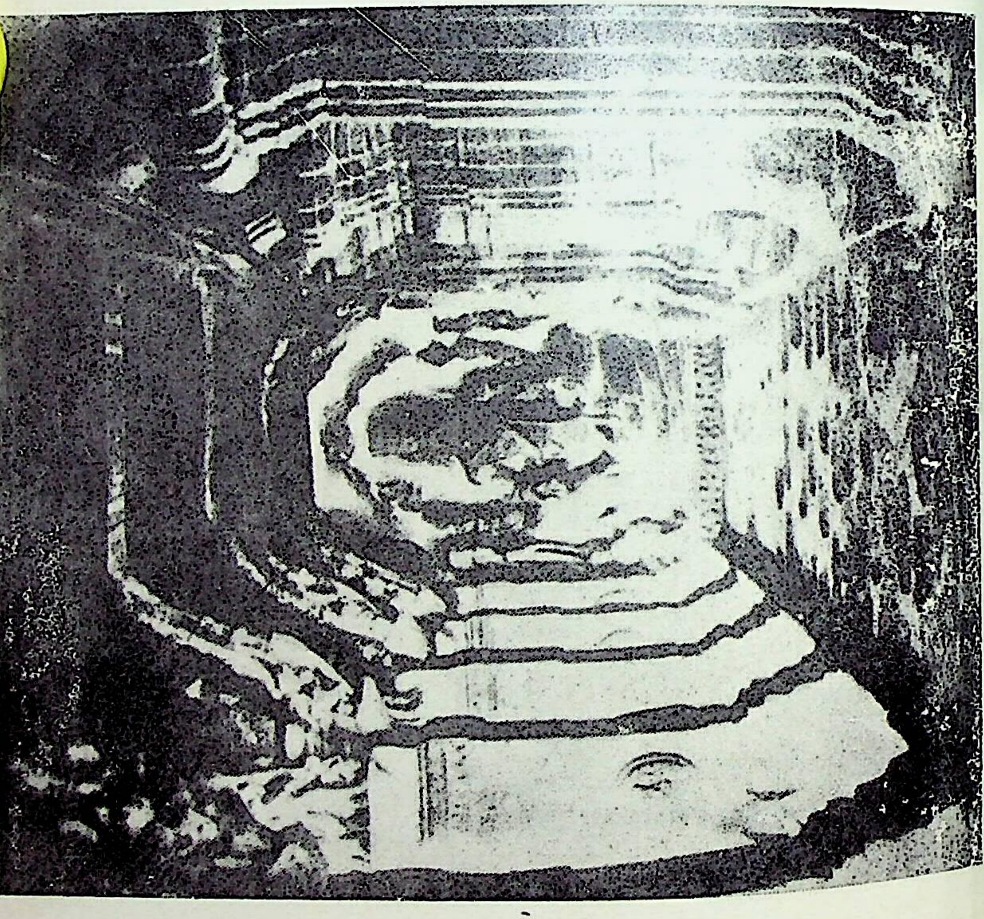

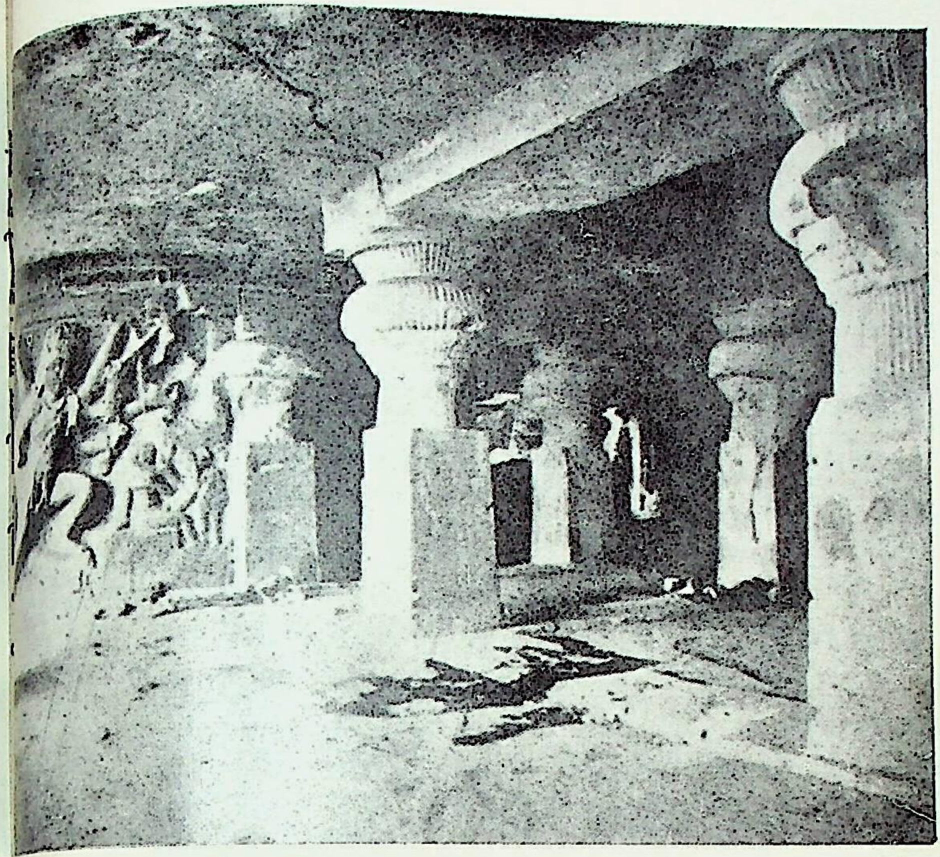

आकृति 17. धूमर लेणा गुफा : भीतरी हिस्सा

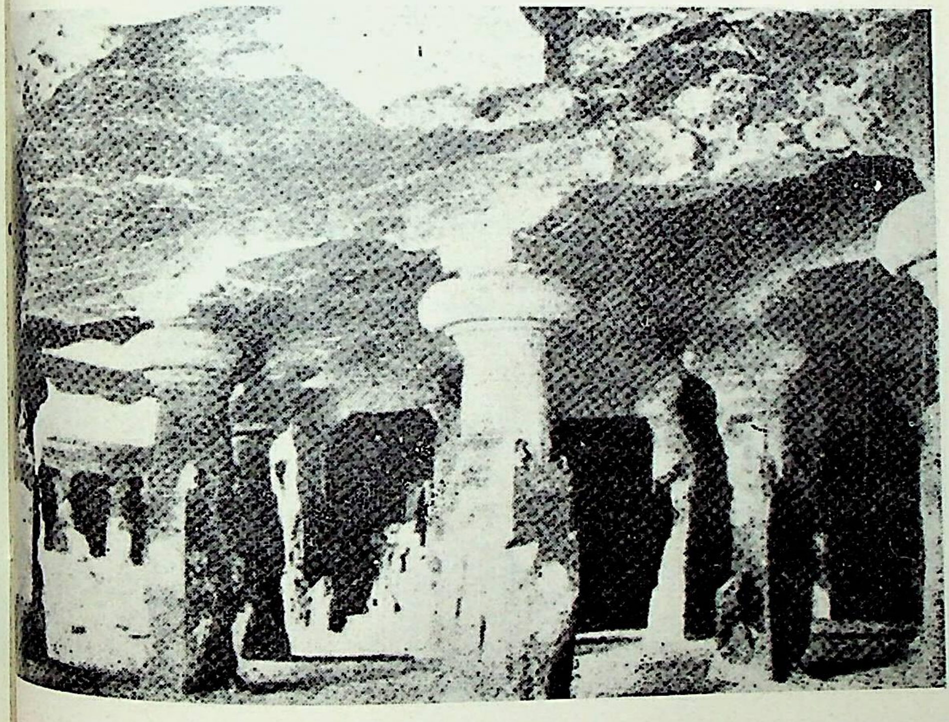

आकृति 18. एलीफेन्टा, गुफा : भीतरी हिस्सा

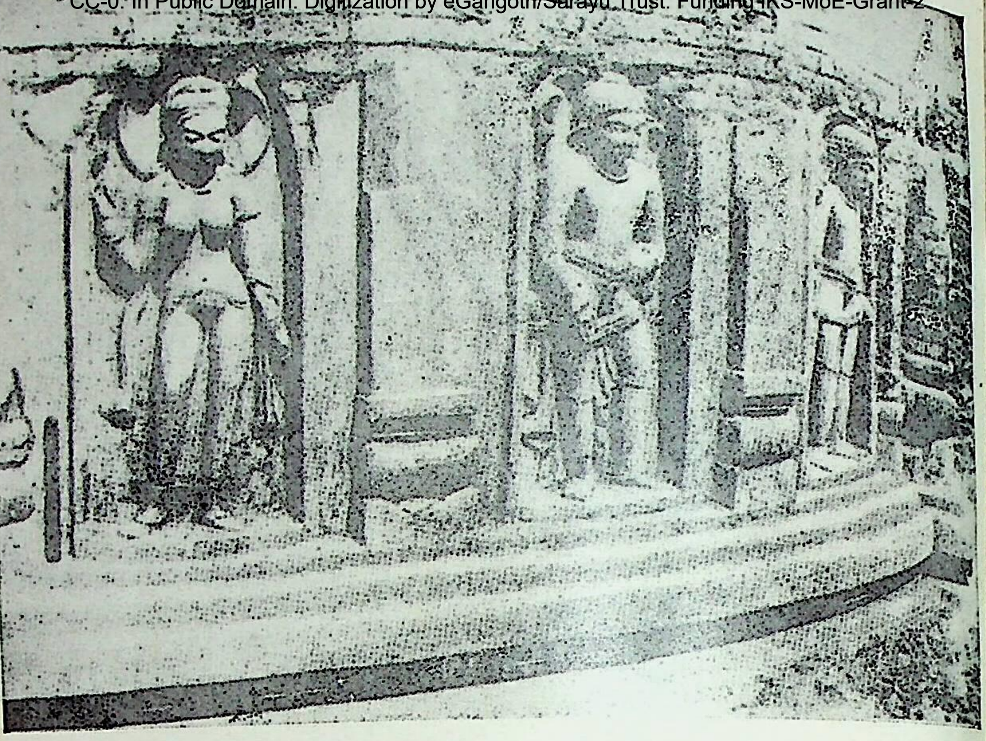

आकृति 19. राजगीर, मणियार मठ : वृत्ताकार वेदी का एक हिस्सा

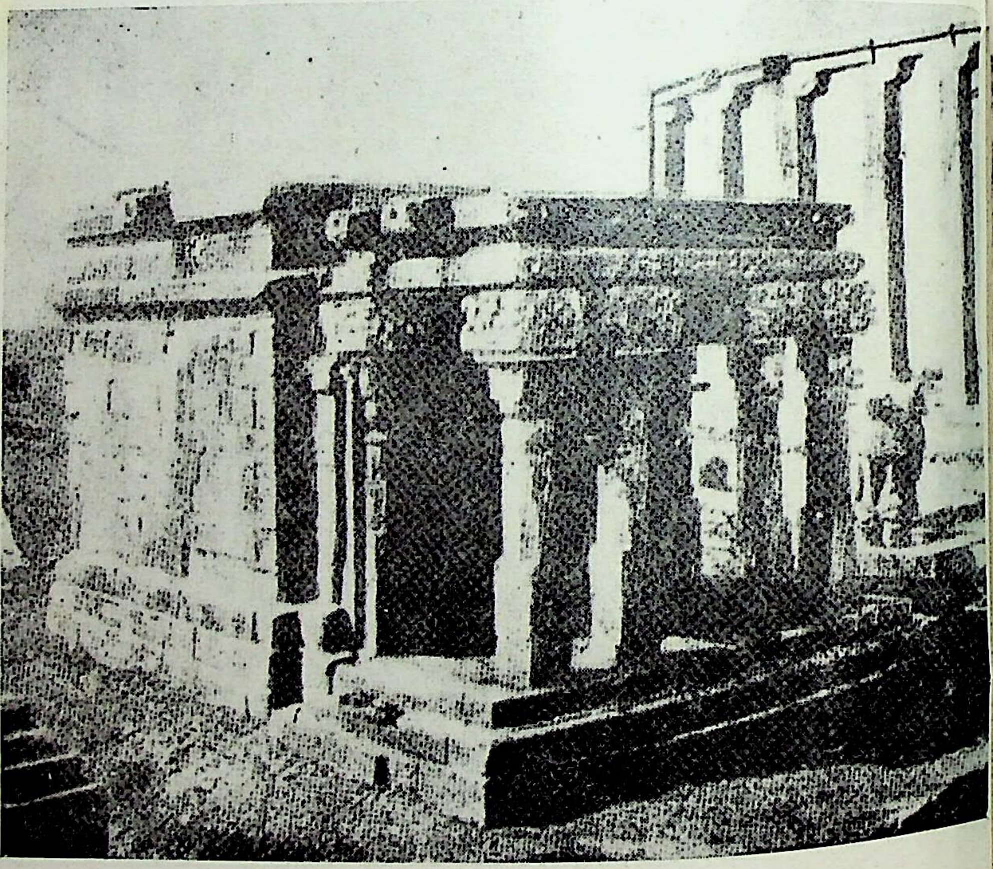

आकृति 20. सांची, मन्दिर XVII : निकट से देखने पर

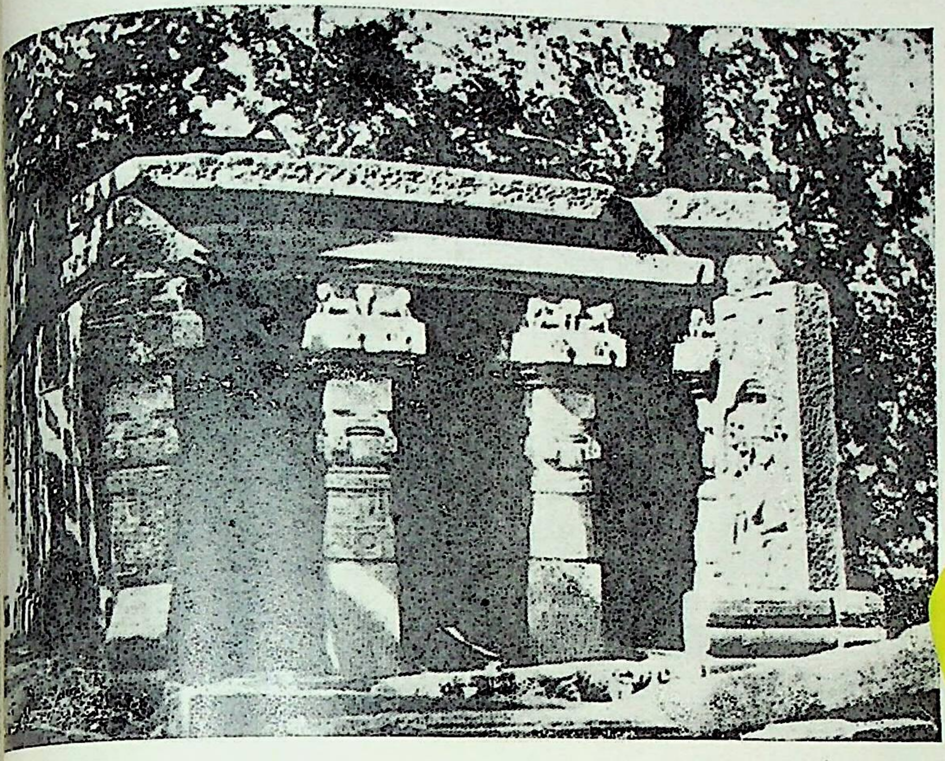

आकृति 21. तिगावा, कंकाली देवी मंदिर : सामने का दृश्य

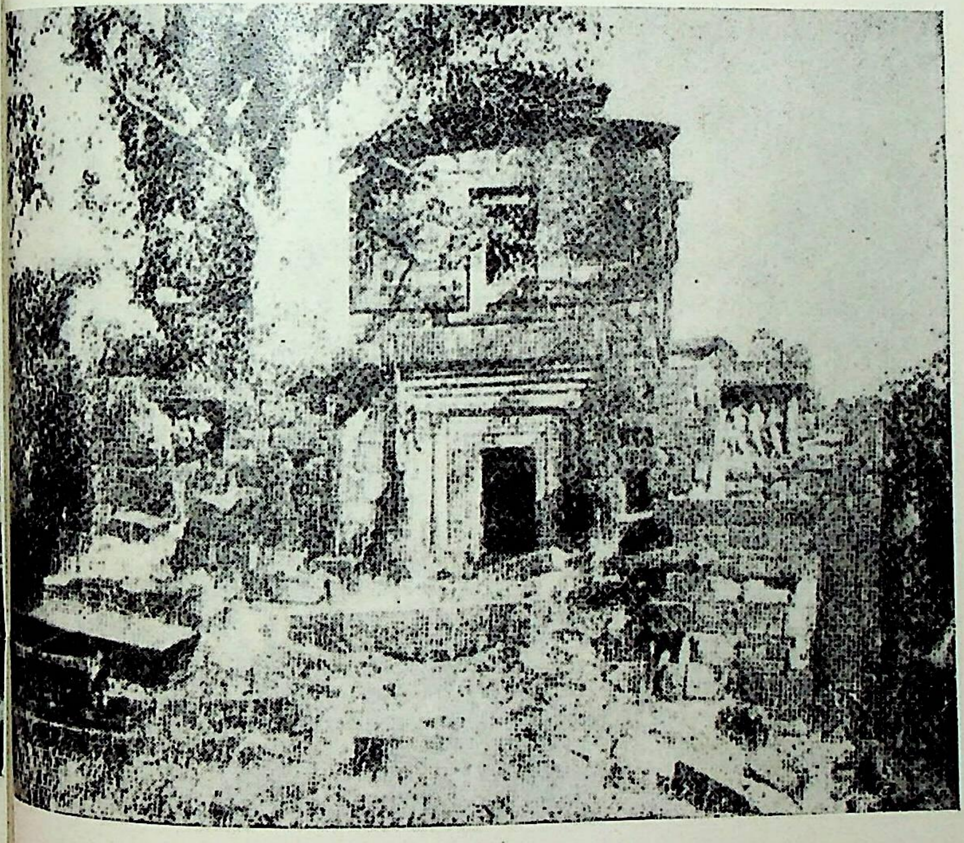

आकृति 22. नाचना कुठारा, पार्वती मन्दिर : सामने का दृश्य

CC-0. In Publi S-MoE-Grant-2

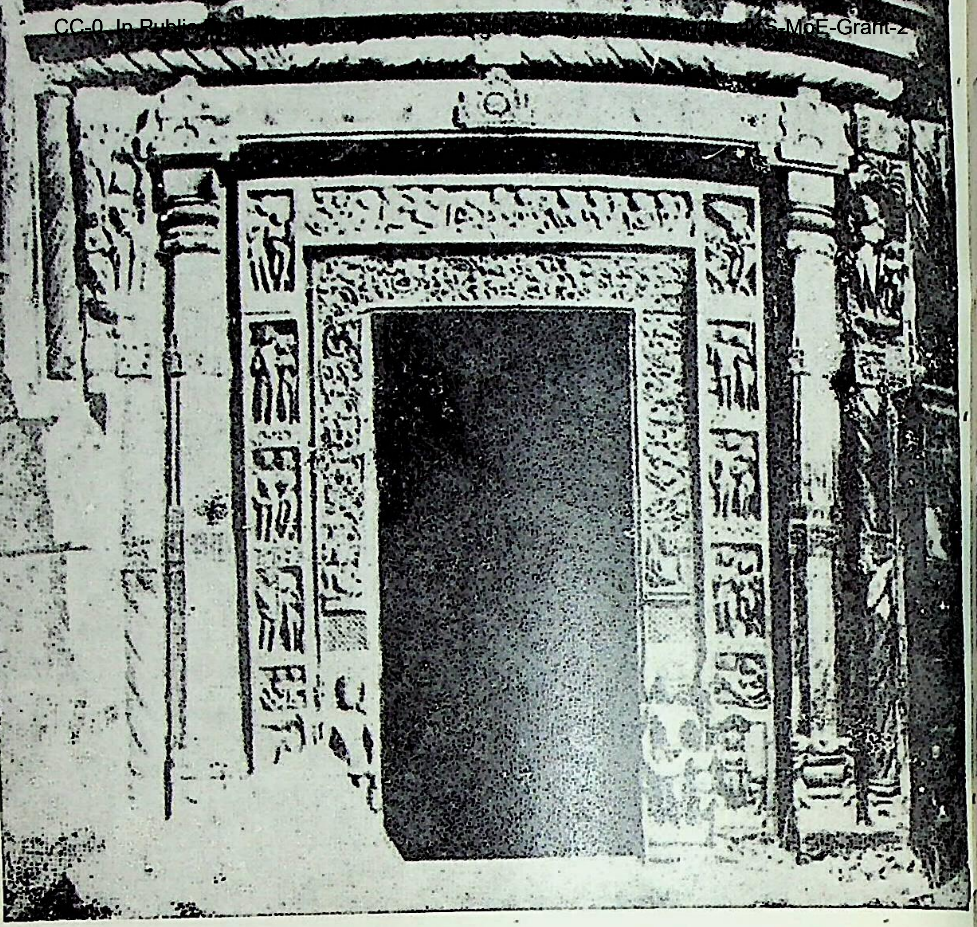

आकृति 23. नाचना कुठारा, पार्वती मन्दिर : द्वार

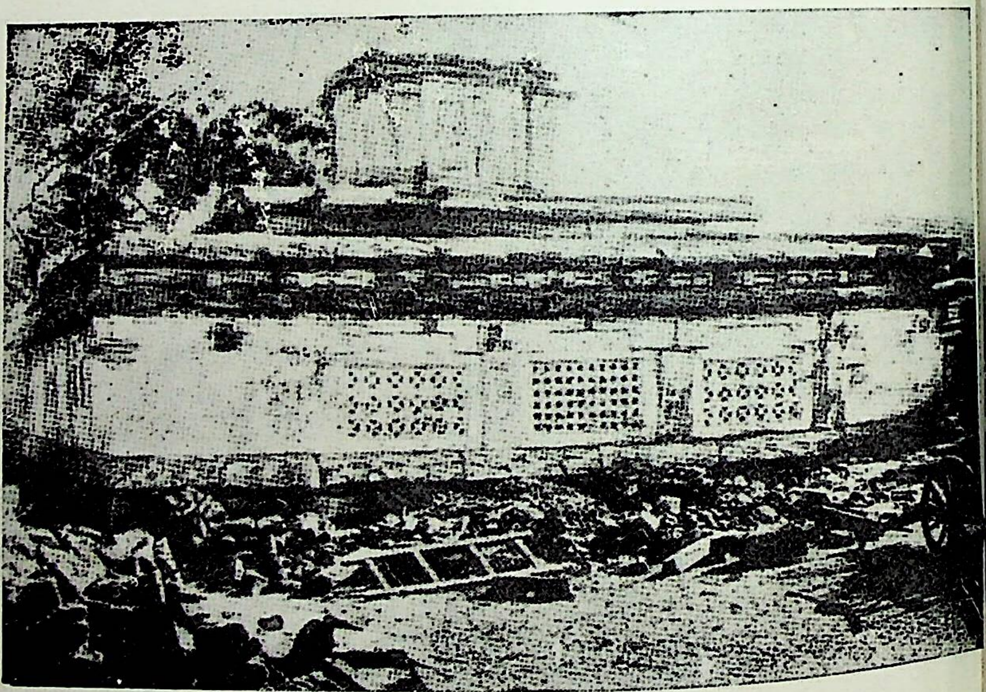

आकृति 24. ऐहोले, लाडखान मन्दिर : एक तरफ से देखने पर

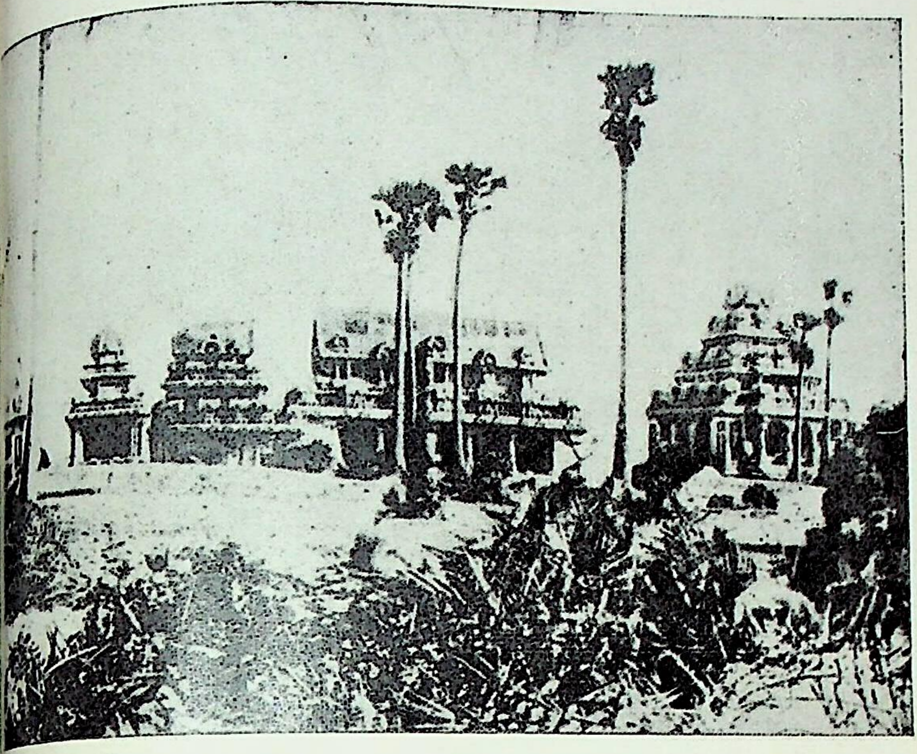

आकृति 25. मामल्लपुरम् : शिला काटकर बनाए गए रथ

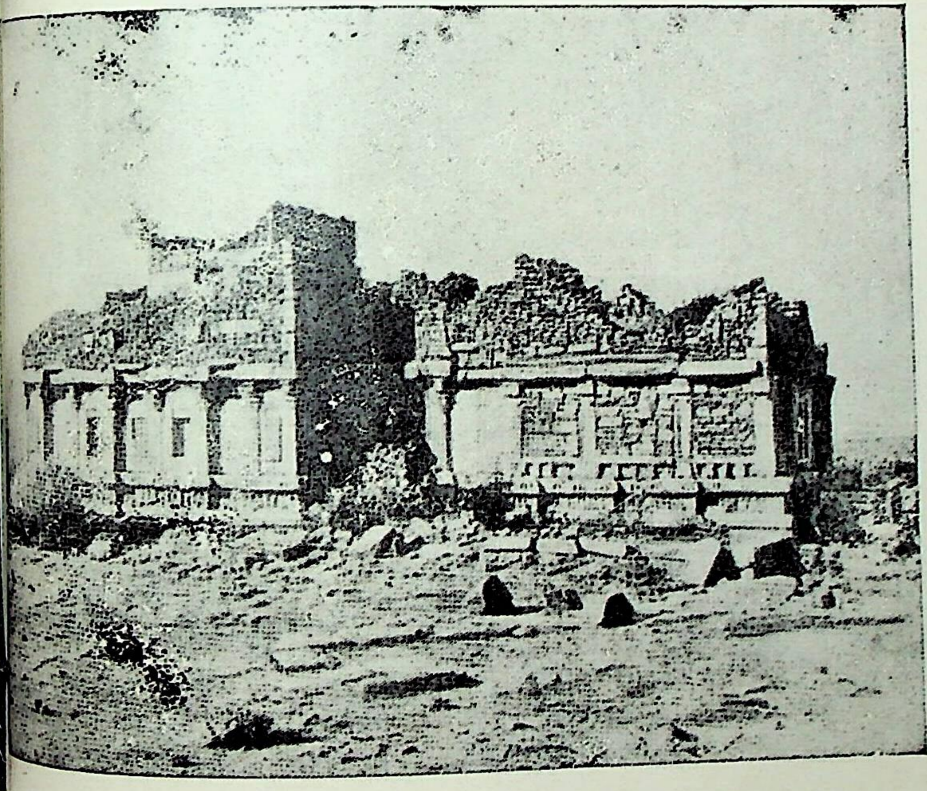

आकृति 26: ऐहोले, मेगुति मंदिर : एक कोने से

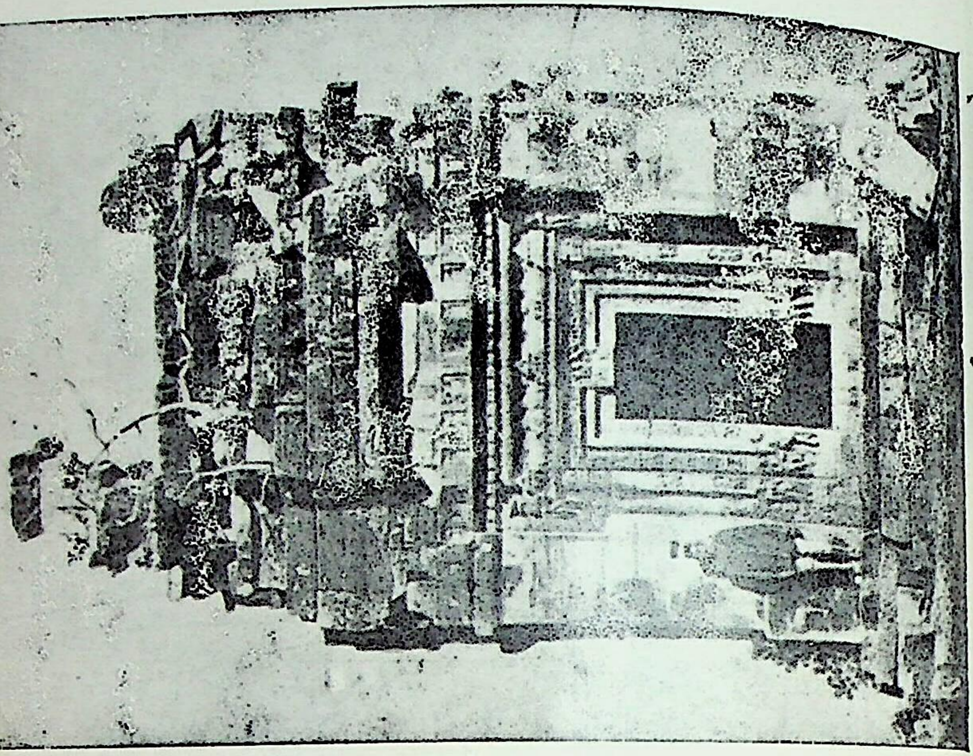

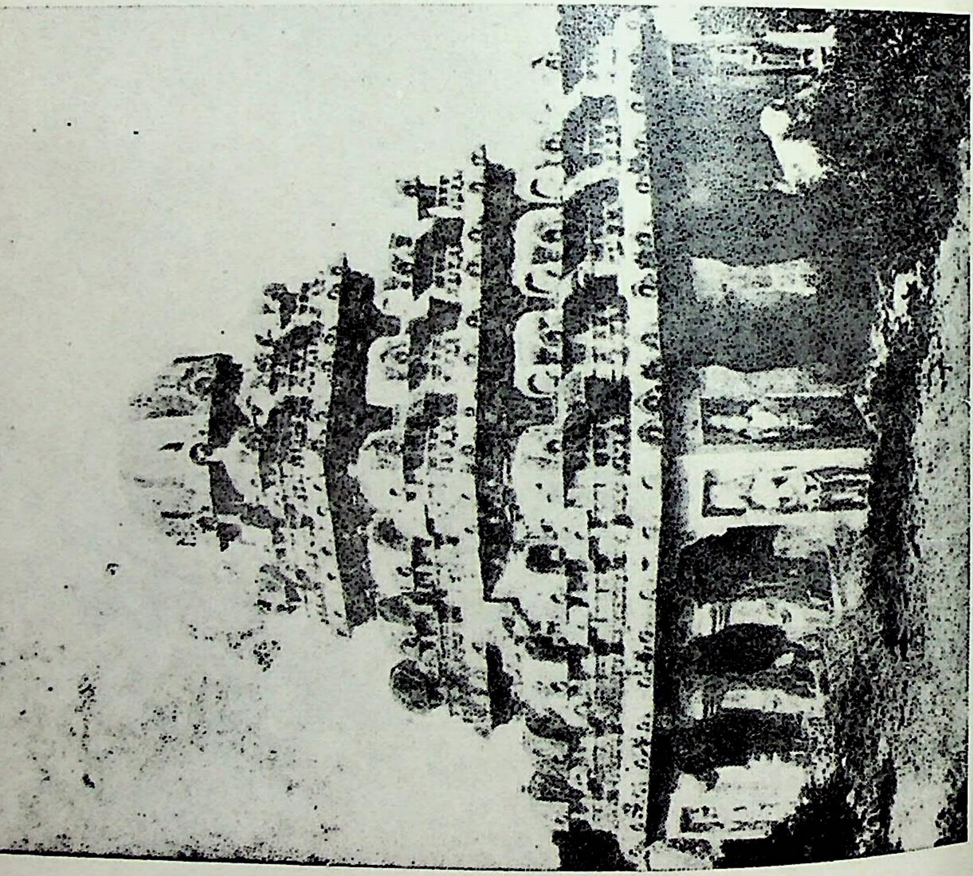

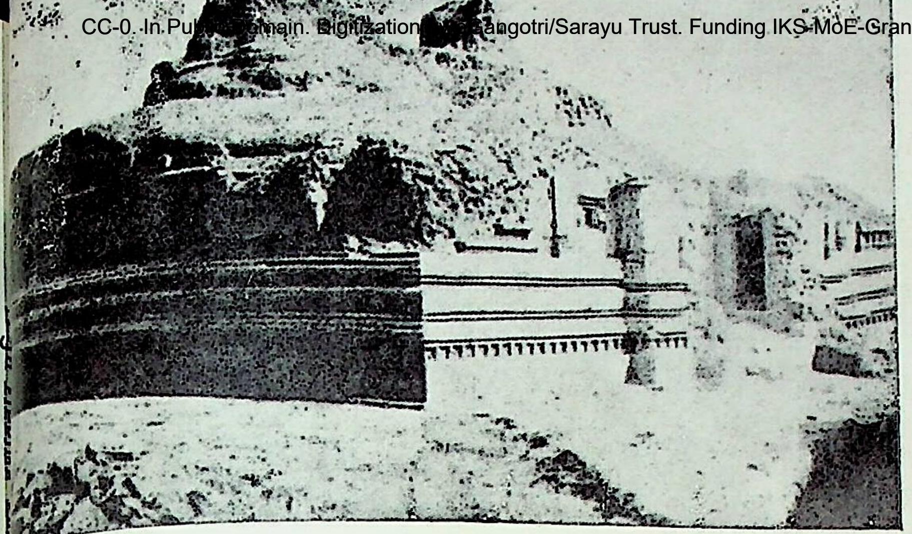

↑ आकृति 29. मीरपुर खास : दक्षिण-पश्चिम से देखने पर

कृति 30. भीतर गांव, ईंट निर्मित मन्दिर : निकट से लिया गया चित्र [प्लेट xv

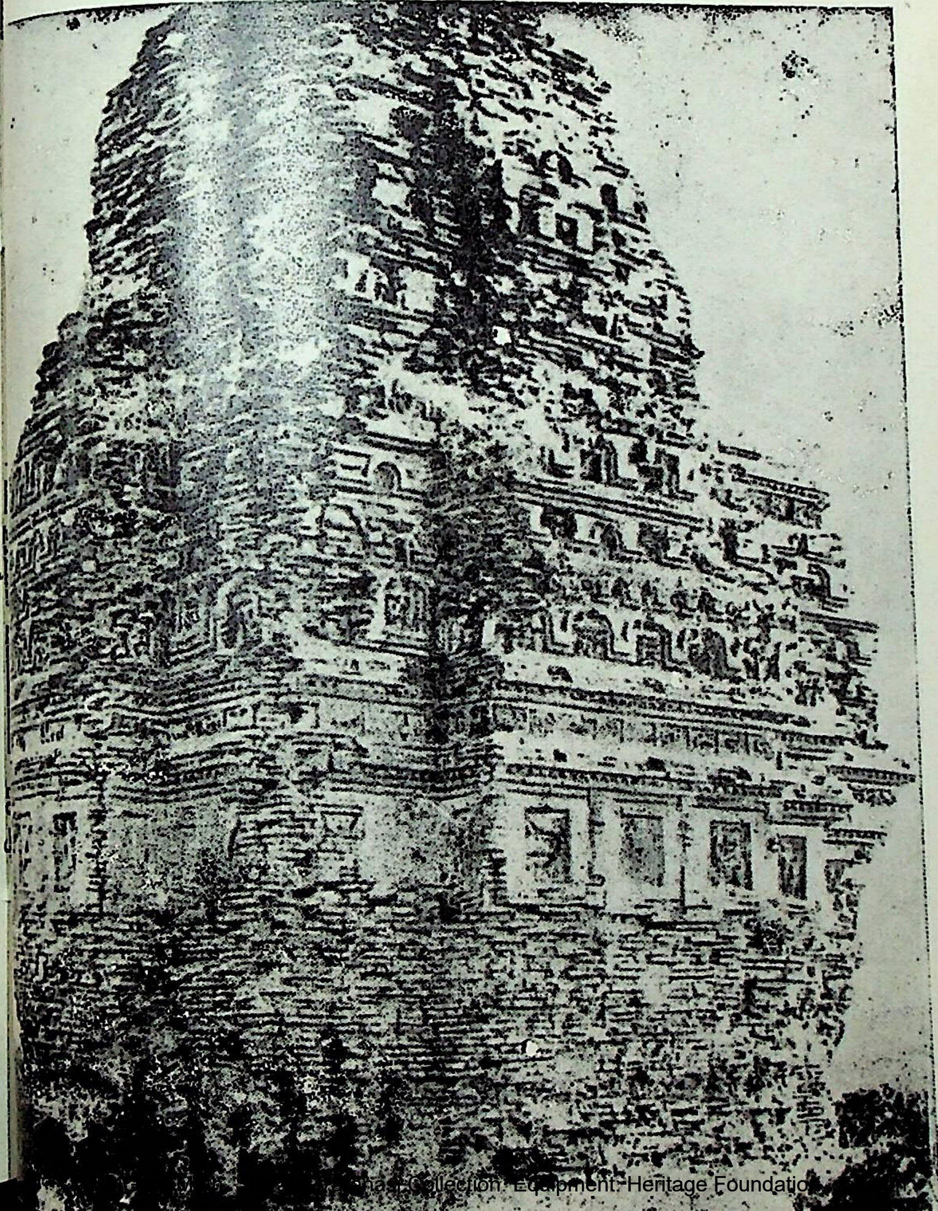

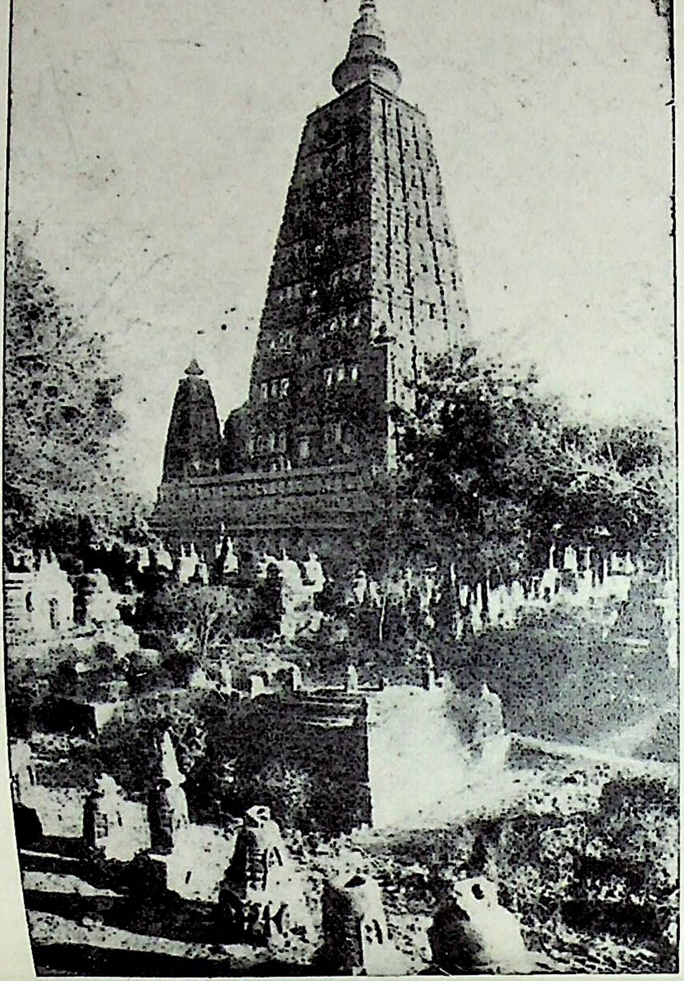

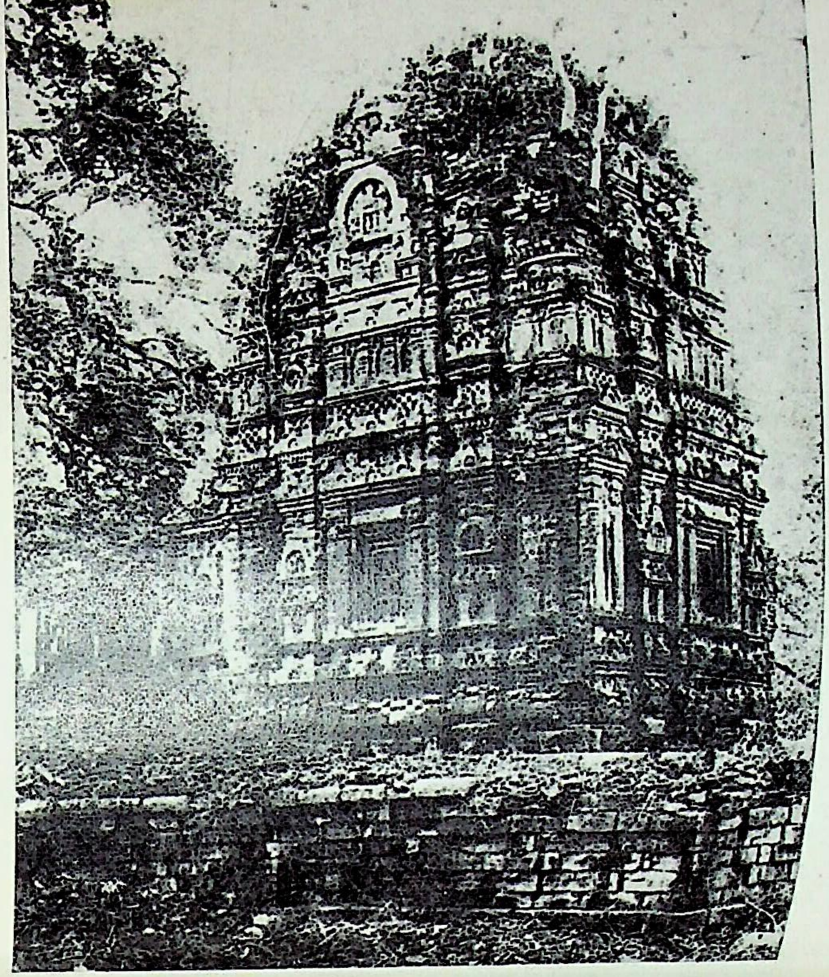

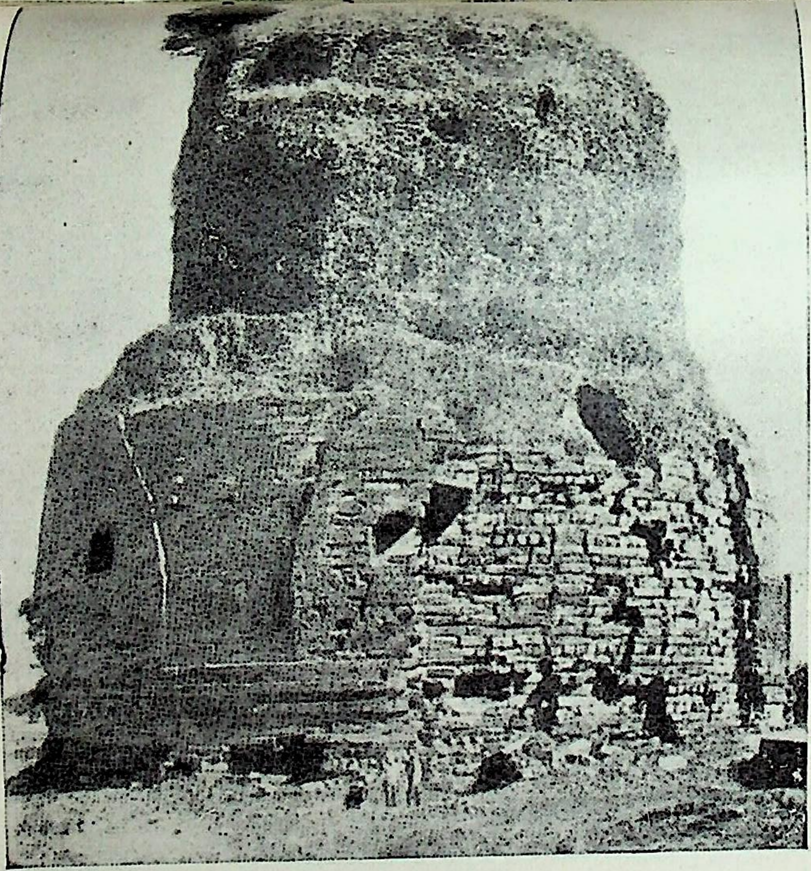

आकृति 33. सारनाथ, धामेख स्तूप : निकट से लिया गया चित्र

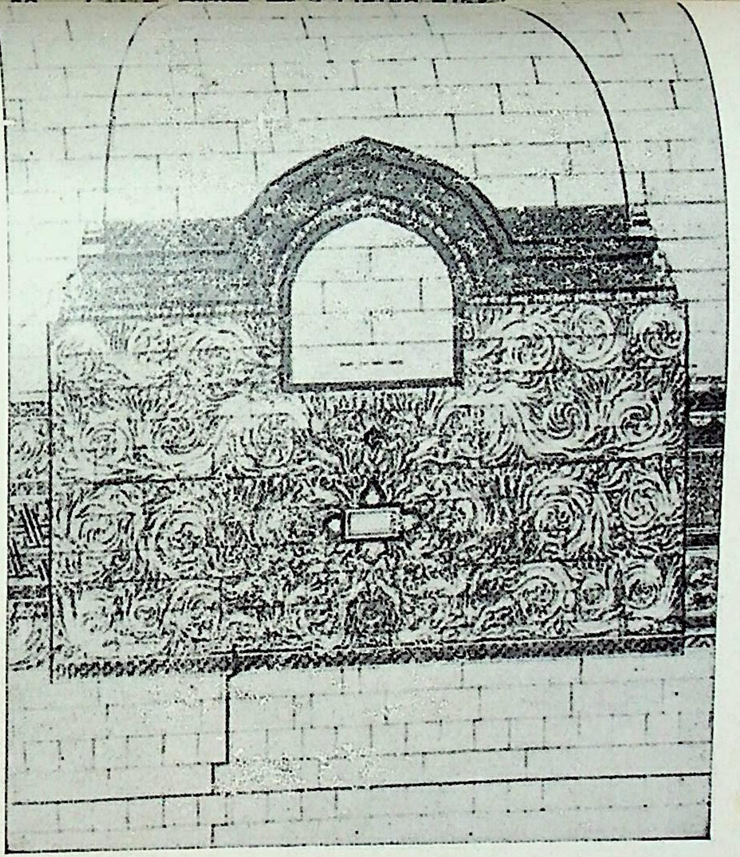

आकृति 34. सारनाथ, धामेख स्तूप : अलंकरण के ब्योरे

[प्लेट xvii

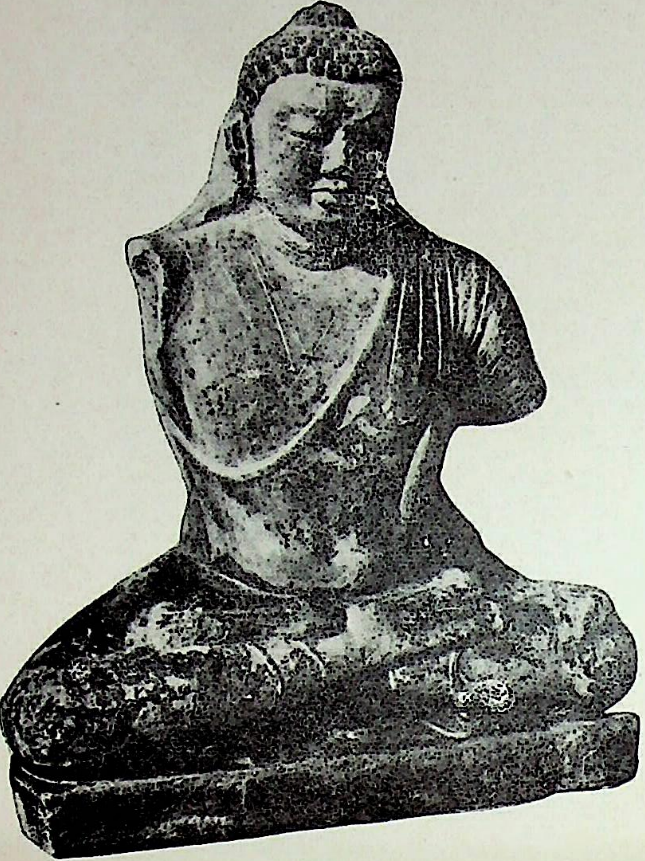

आकृति 35. बोध गया : बोधिसत्त्व.

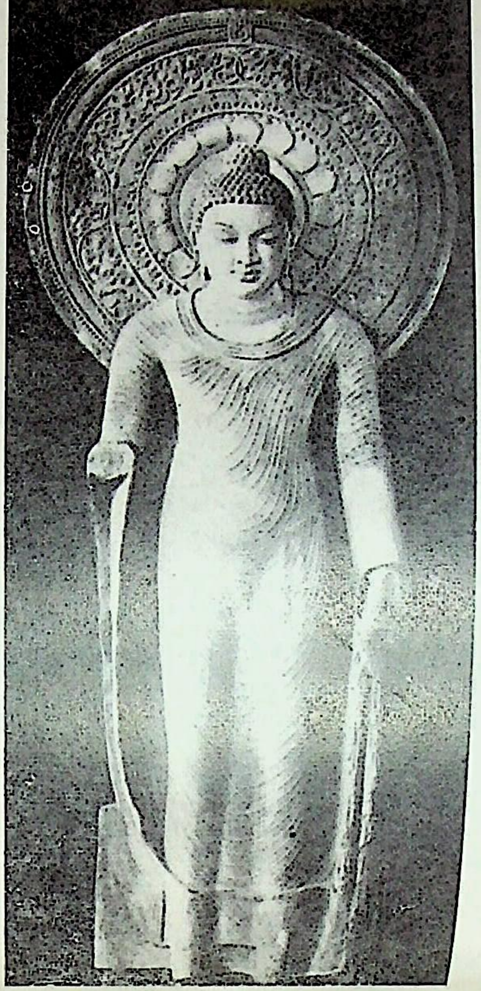

आकृति 36. मथुरा : बुद्ध

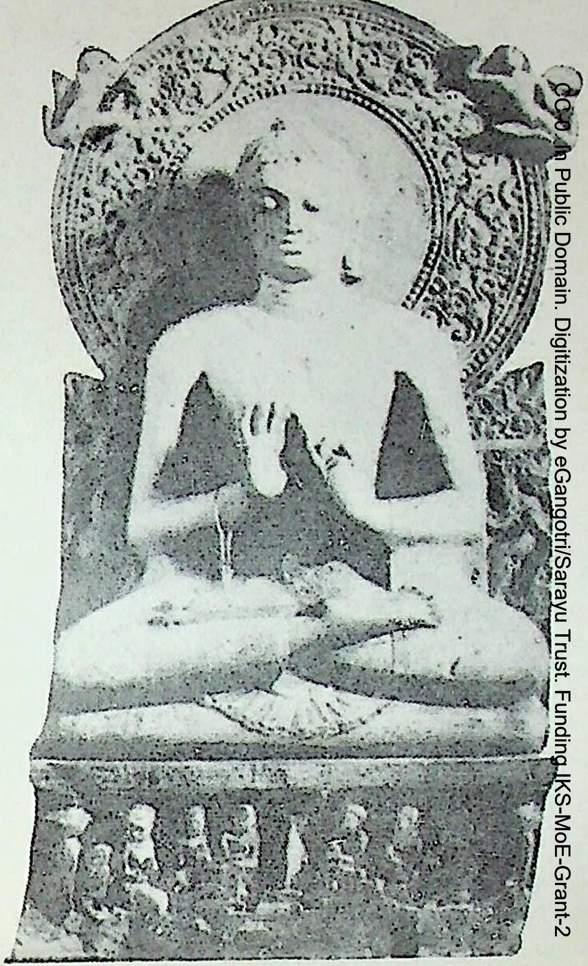

आकृति 37. सारनाथ : धर्मचक्र

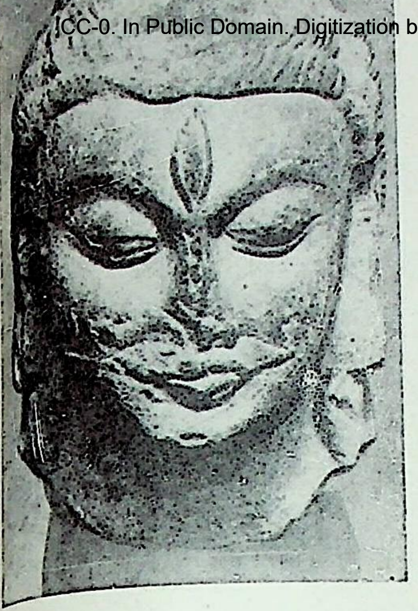

आकृति 38. मथुरा : शिव का सिर

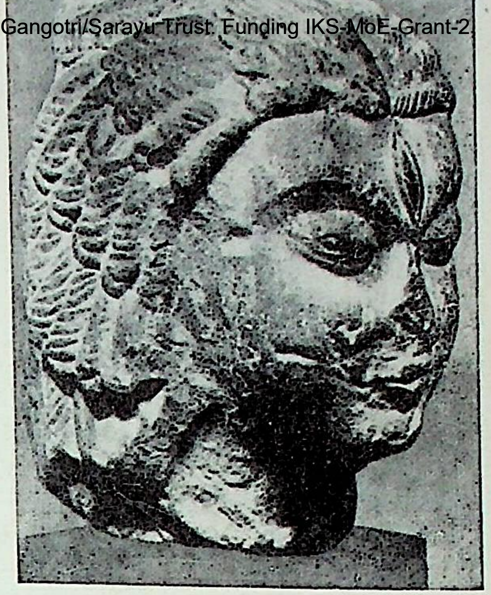

आकृति 39. मथुरा : शिव का सिर

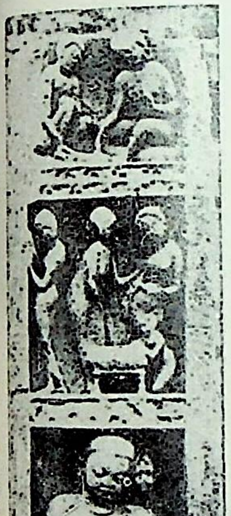

आकृति 40.
गढ़वा : स्तम्भ

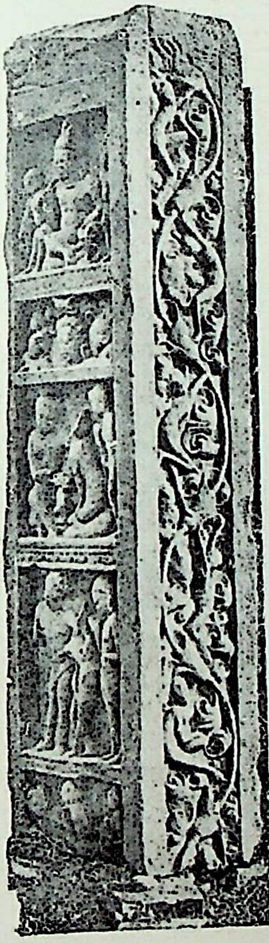

आकृति 41.
गढ़वा : स्तम्भ

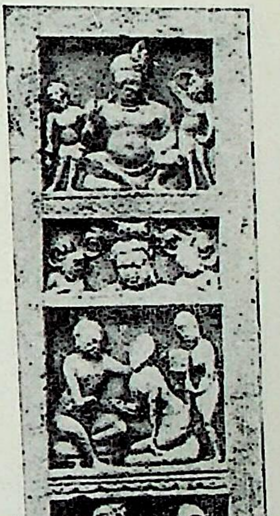

आकृति 42.
गढ़वा : स्तम्भ

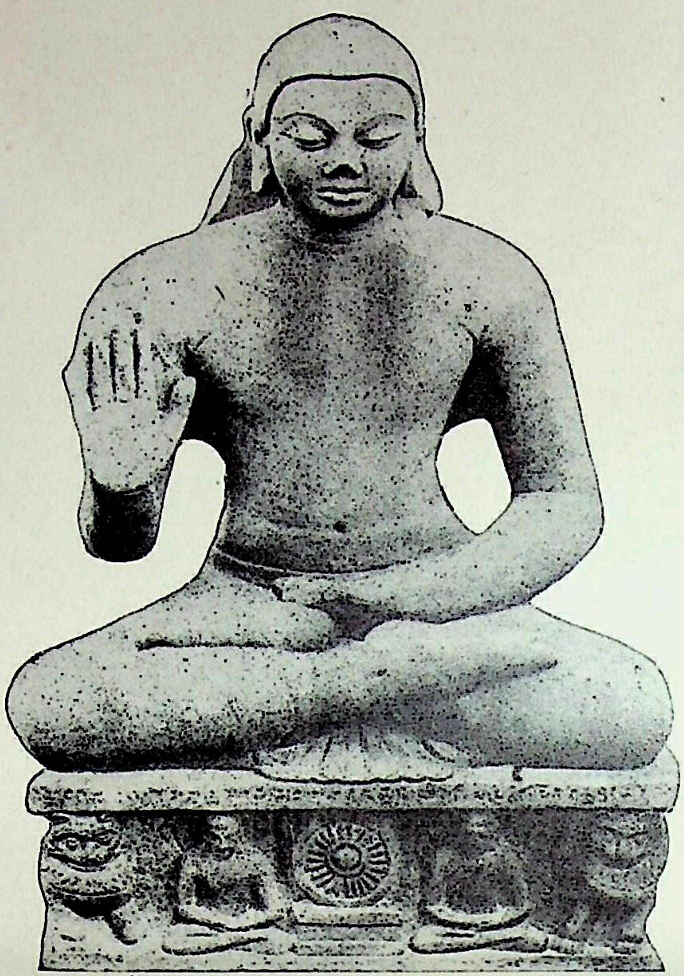

प्लेट । आकृति 43. मनकुमार: बुद्ध

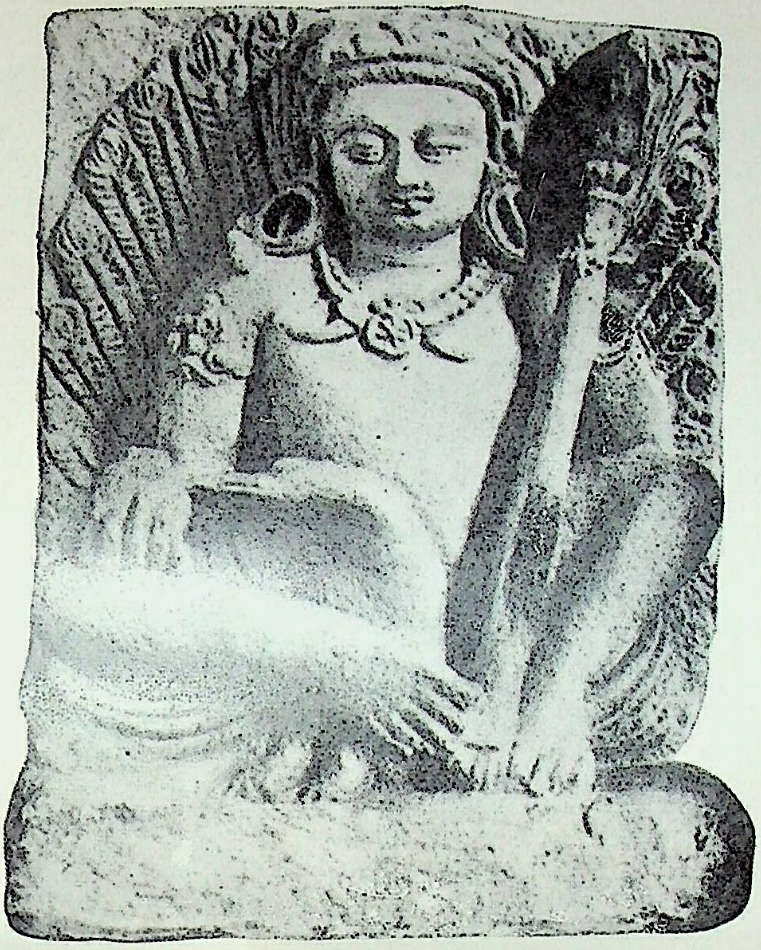

आकृति 44. वाराणसी, भारतकला भवन: कार्त्तिकेय

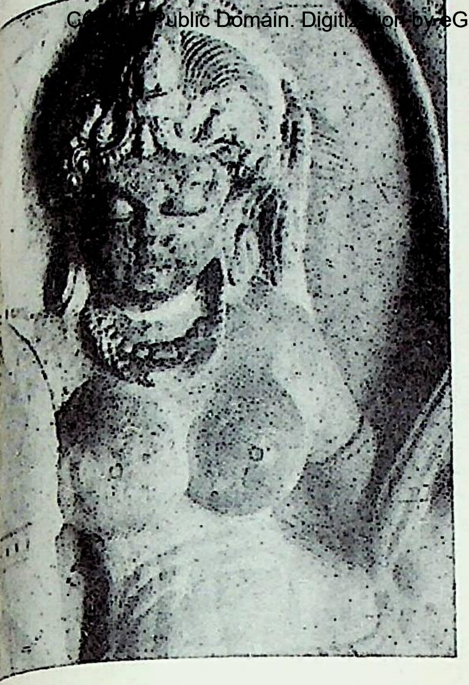

आकृति 45. ग्वालियर : अप्सरा

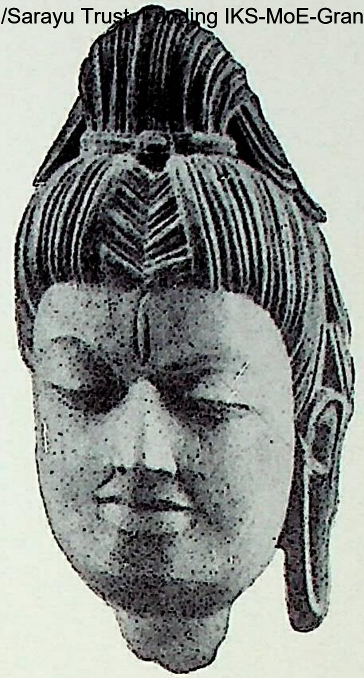

आकृति 46. सारनाथ : शिव का सिर

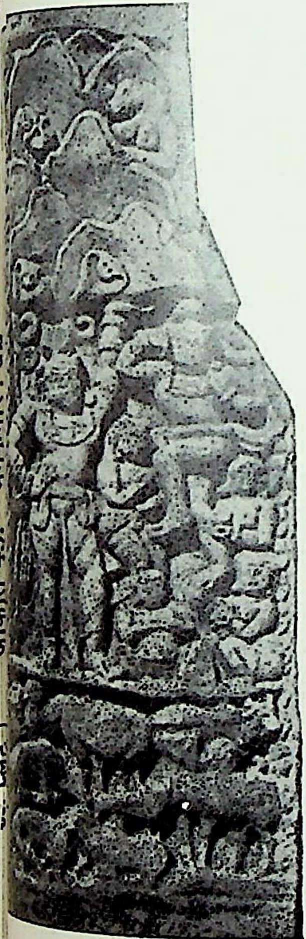

आकृति 47.
मन्दोर : गोवर्धनधर कृष्ण

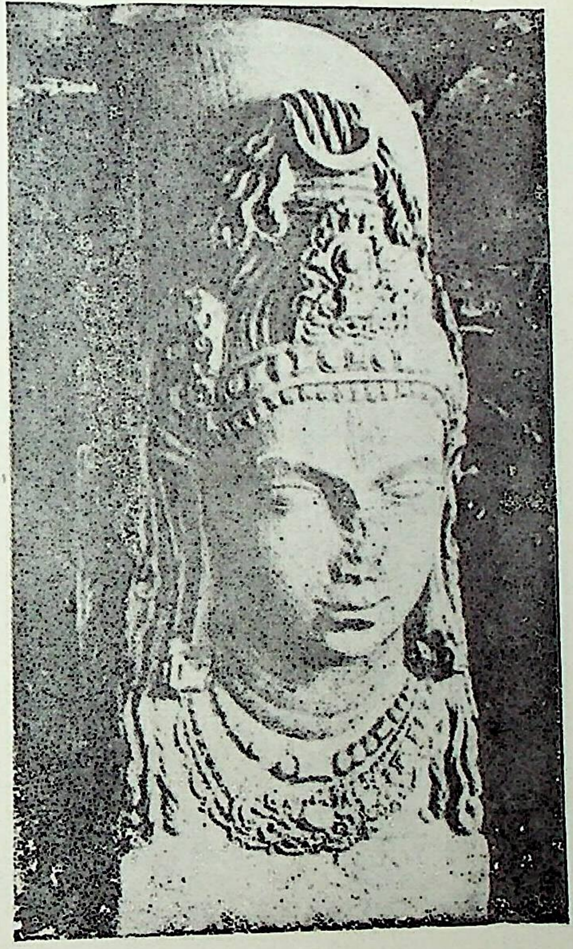

आकृति 48. खोहः मुखलिंग

[प्लेट xxi

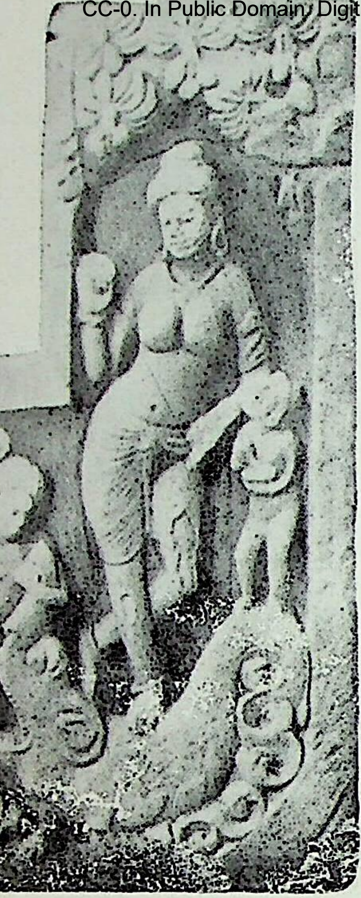

आकृति 49. बेसनगर : गंगा

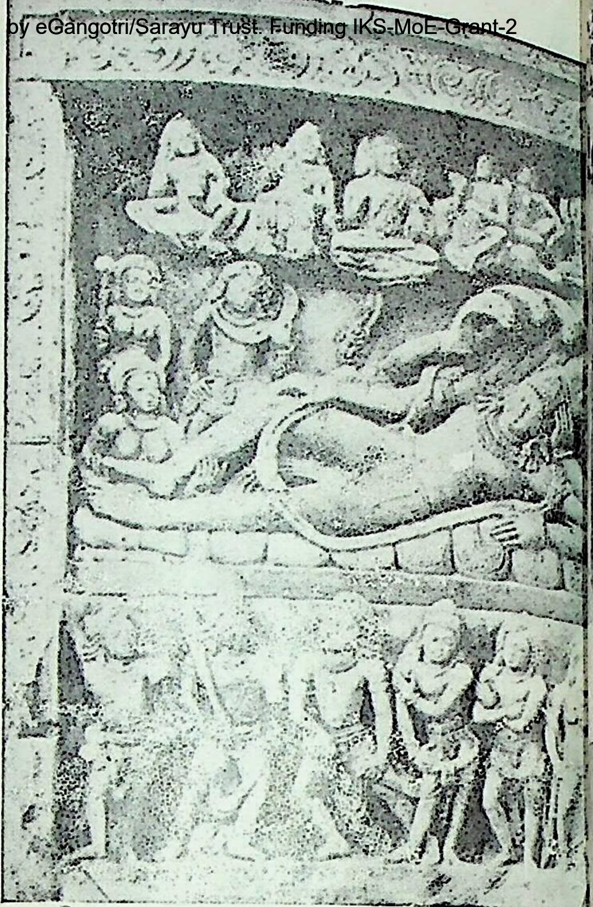

आकृति 50· देवगढ़ : अनन्तशायी विष्णु

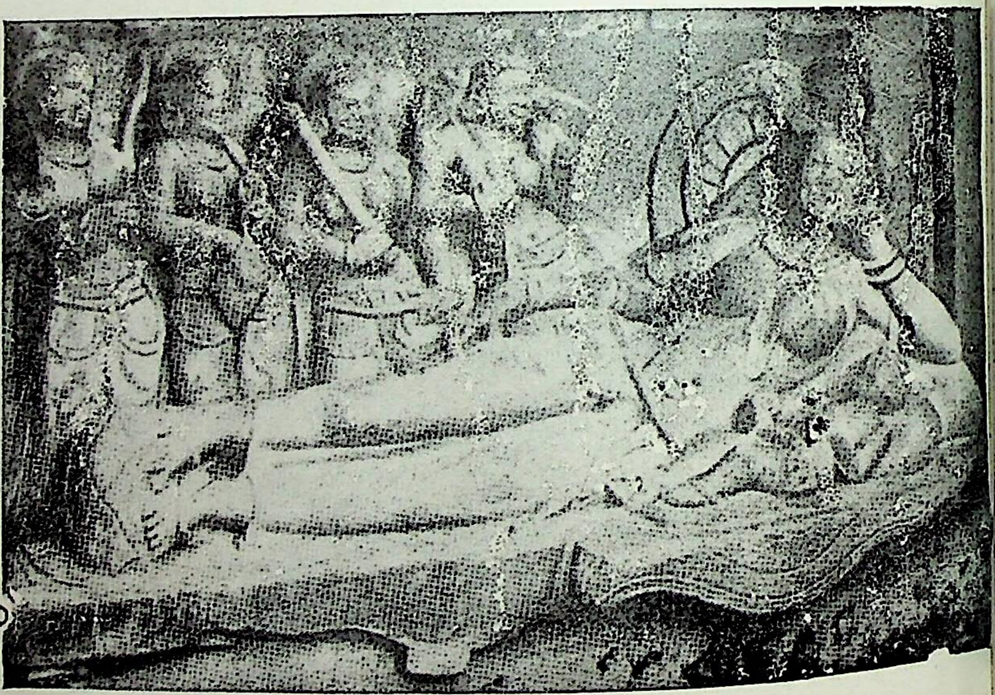

आकृति 51· पठारि : कृष्ण, सूतिका-गृह में

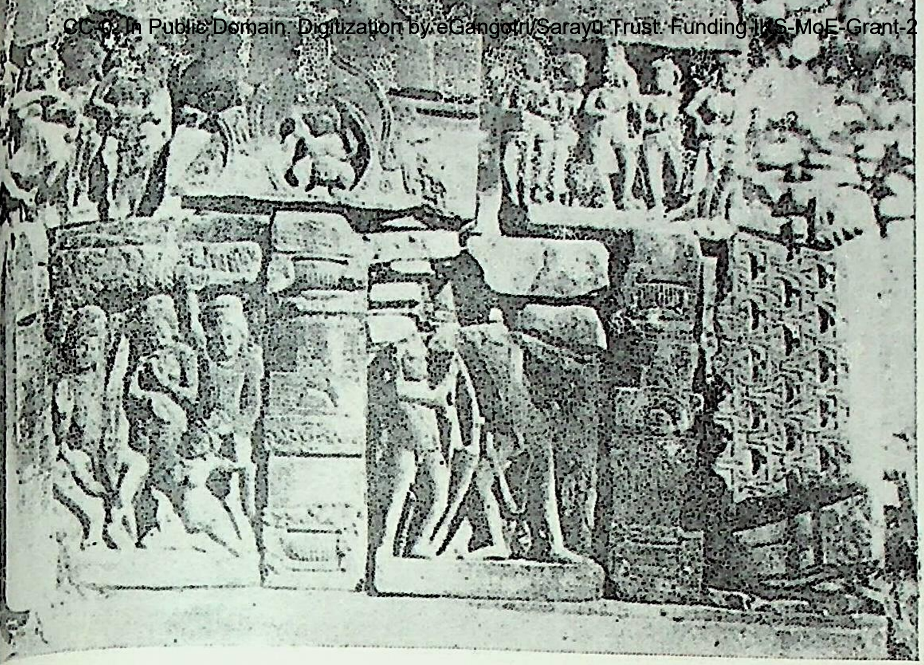

आकृति 52. देवगढ़ : दशावतार मन्दिर : पीठिका पर मूर्त्तियां

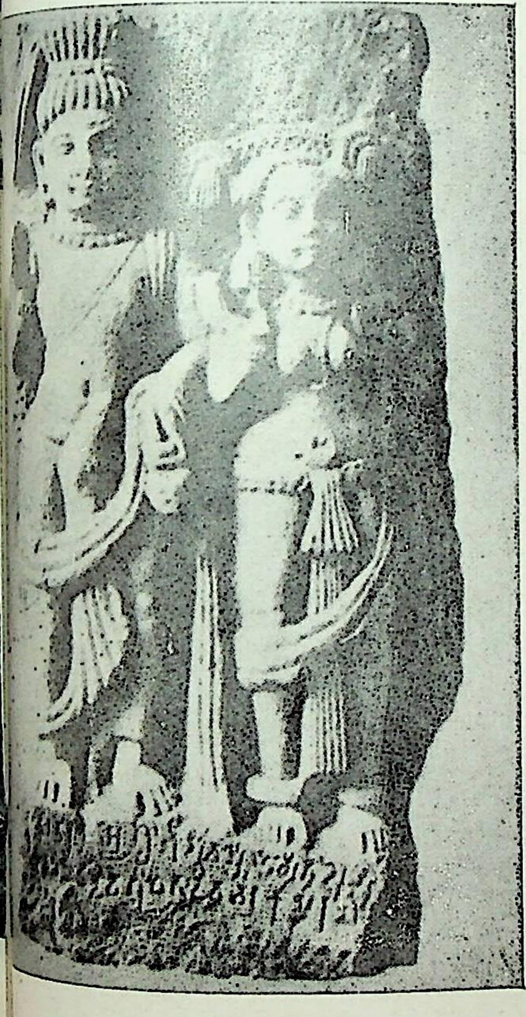

आकृति 53. कोसाम : शिव-पार्वती

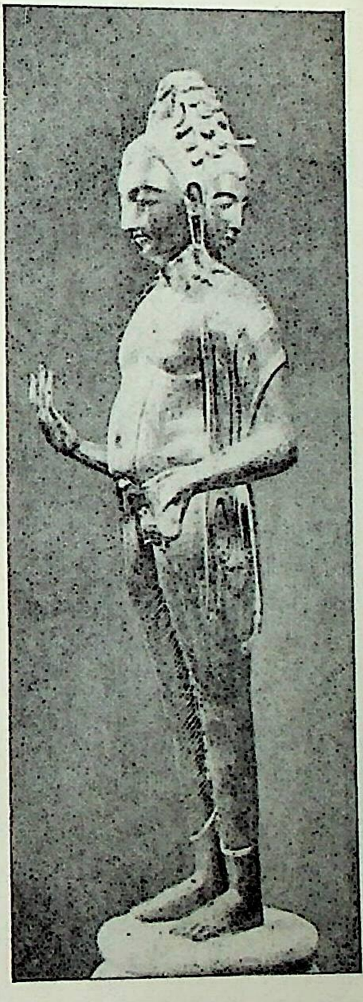

आकृति 54. मीरपुर खास : ब्रह्मा

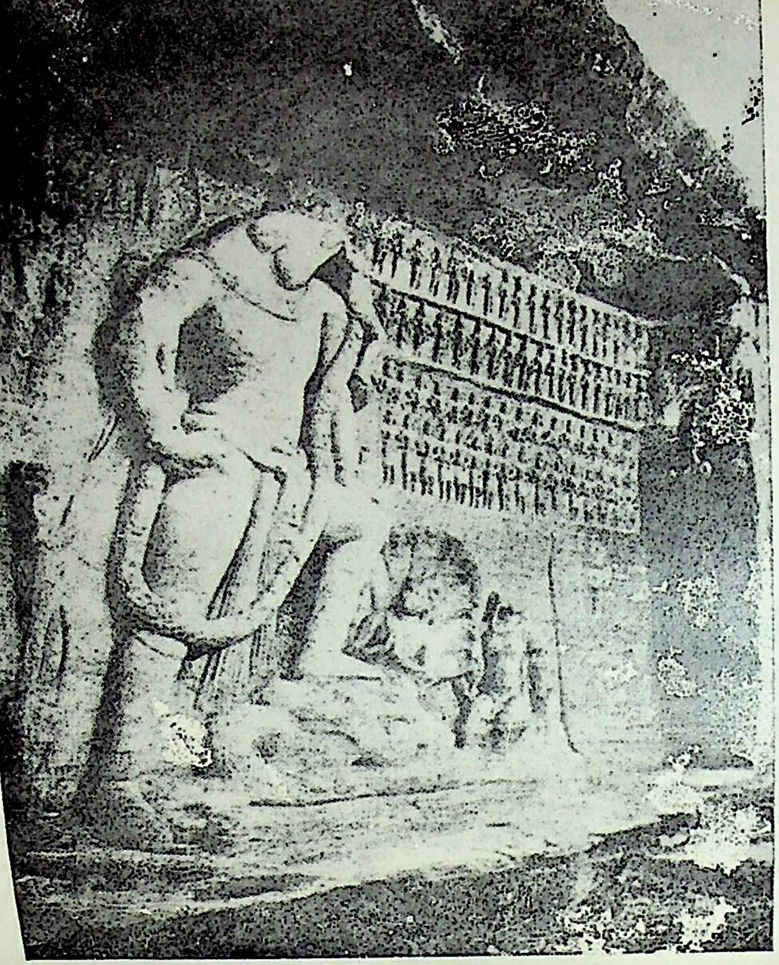

आकृति 55. उदयगिरि : वराह

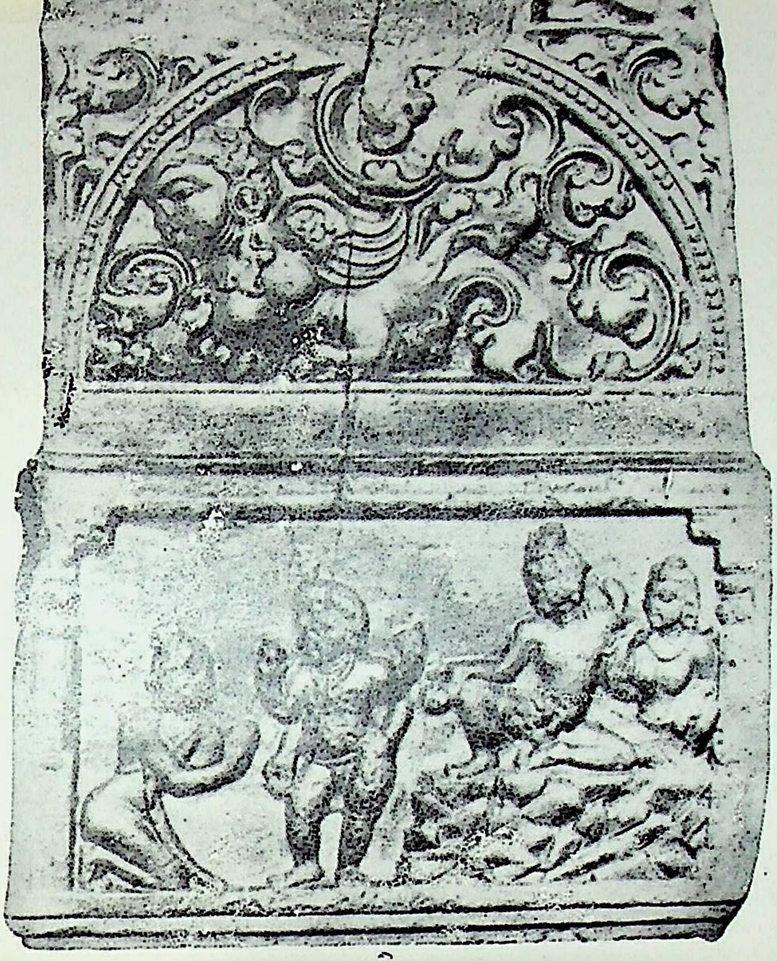

आकृति 56. चंडीमऊ : किरातार्जुनीय-दृश्य-मंडित स्तम्भ का अंश

आकृति 55. उदयगिरि : वराह

आकृति 56. चंडीमऊ : किरातार्जुनीय-दृश्य-मंडित स्तम्भ का अंश

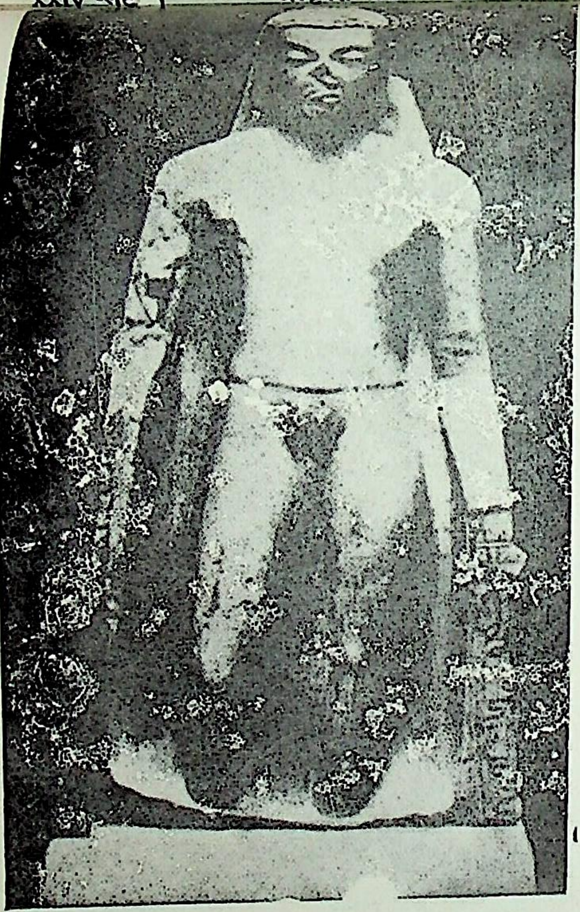

आकृति 57. विहारैल : बुद्ध

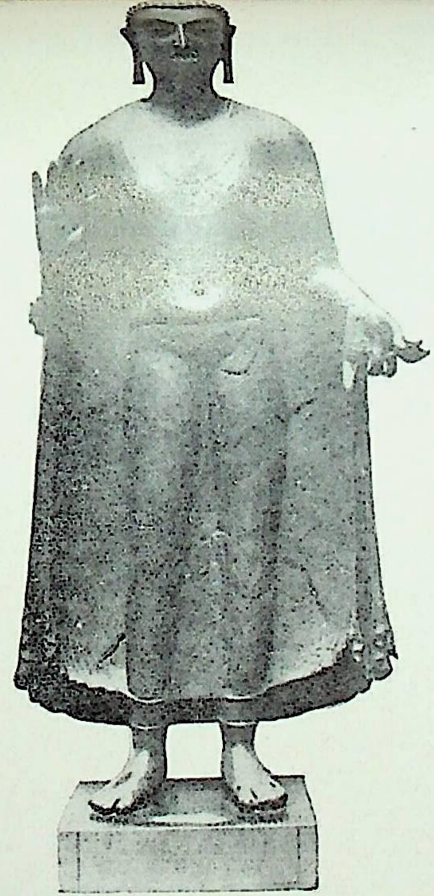

आकृति 58. सुल्तानगंज : बुद्ध

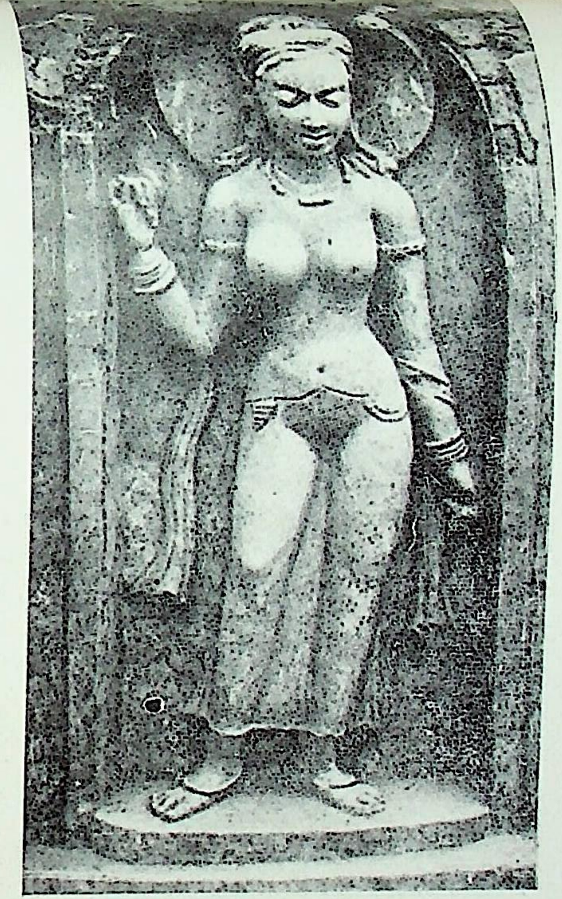

आकृति 59. राजगीर, मणियार मठ : नागिनी

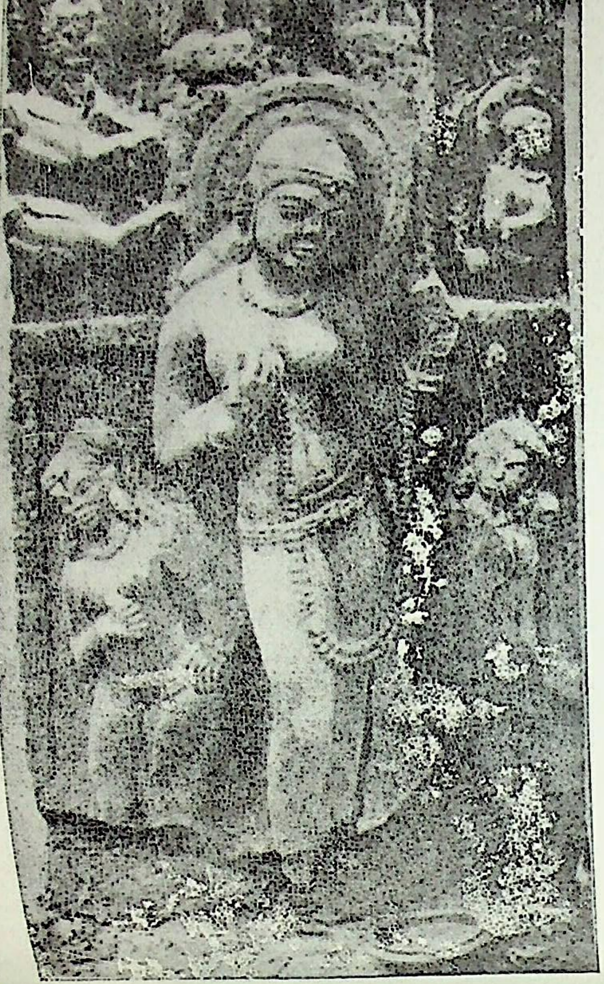

आकृति 6 दहपर्वतिया : नदी देवी

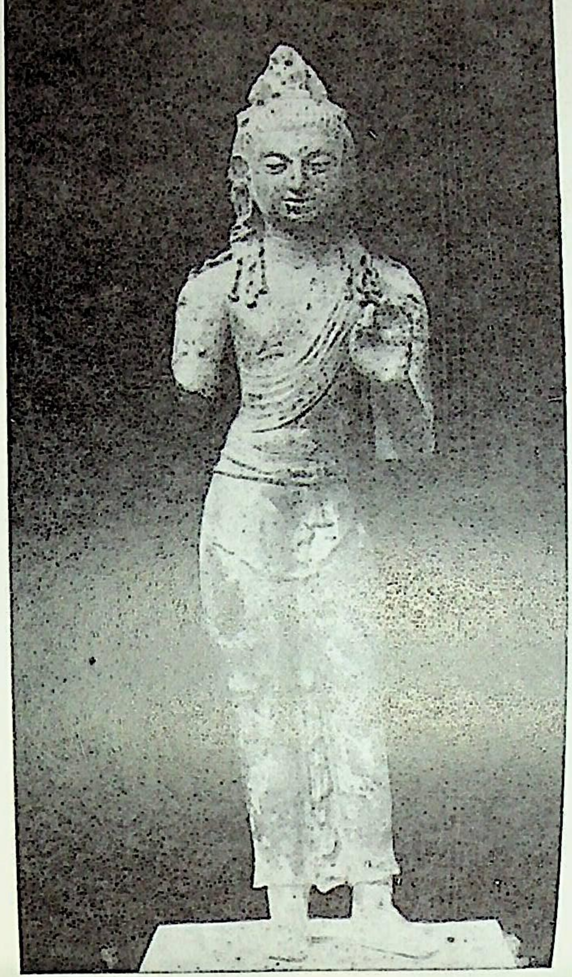

आकृति 61. मध्यस्थान : मंजश्री

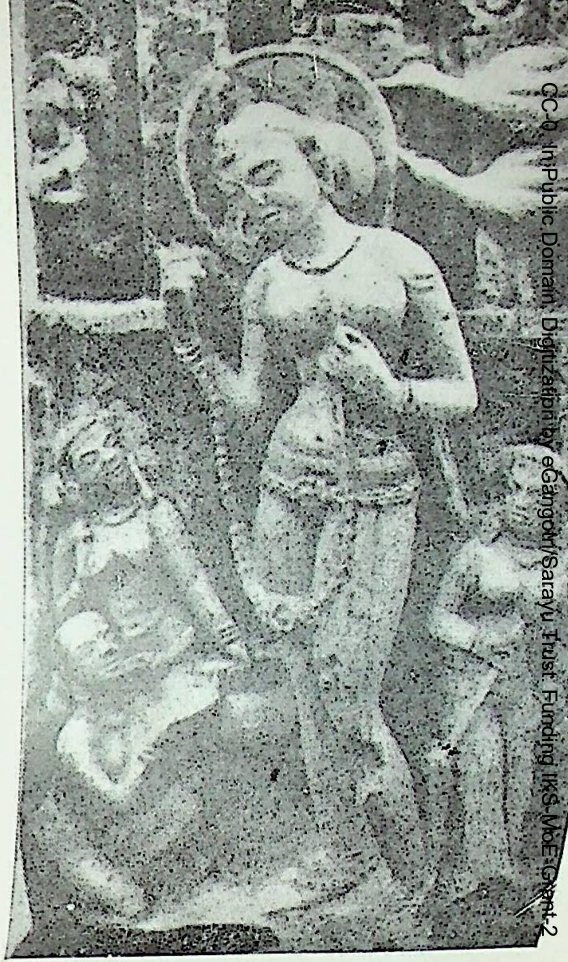

आकृति 62. दहपर्वतिया : नदी देवी

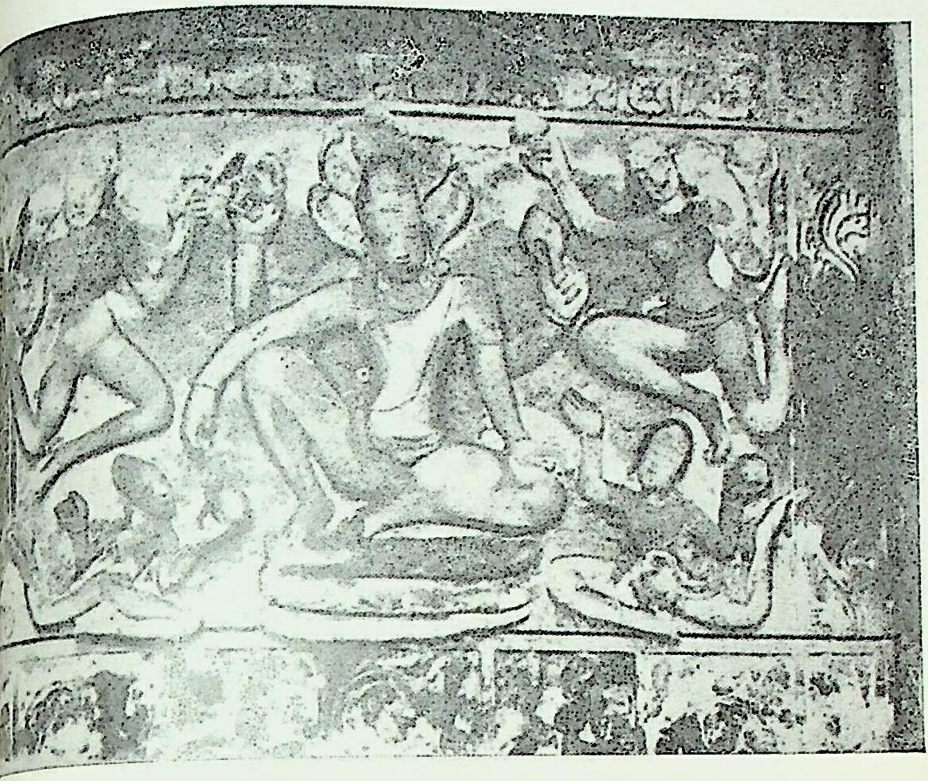

आकृति 63. ऐहोले : अनन्त विष्णु उभार

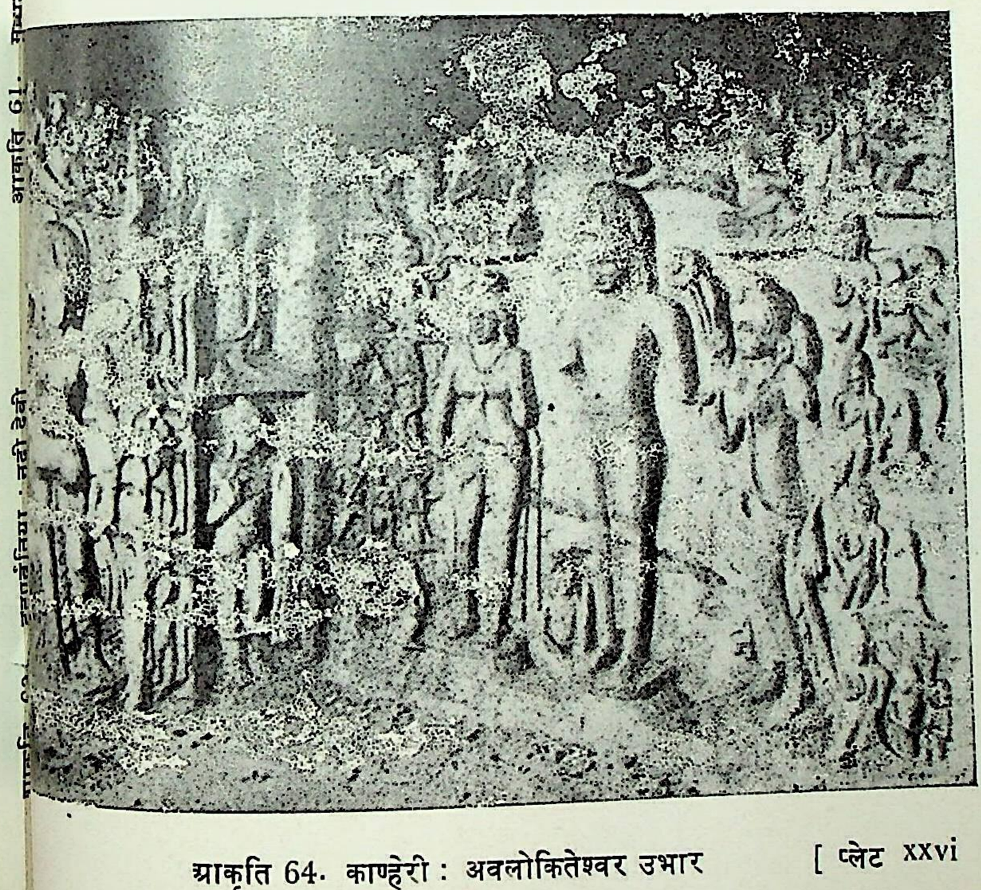

आकृति 64. काण्हेरी : अवलोकितेश्वर उभार

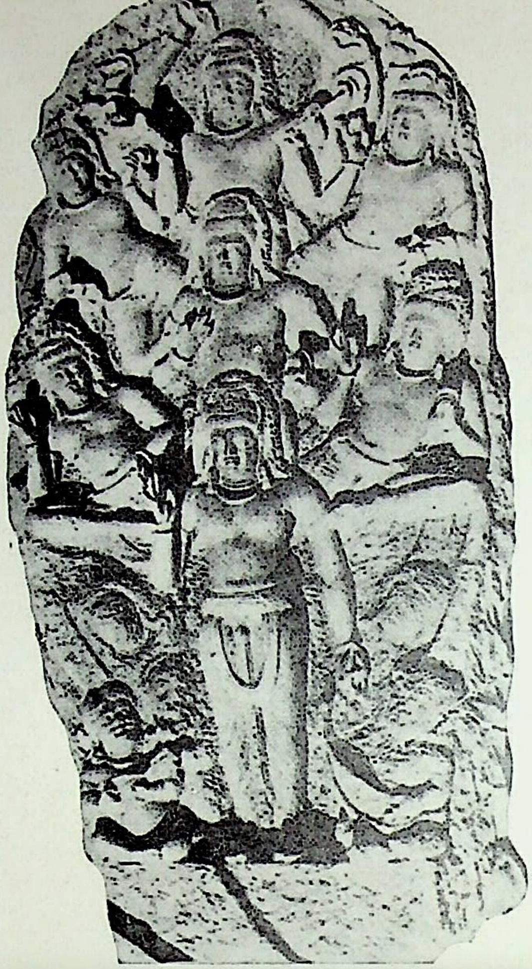

आकृति 65. परेल : शिवमूर्त्ति

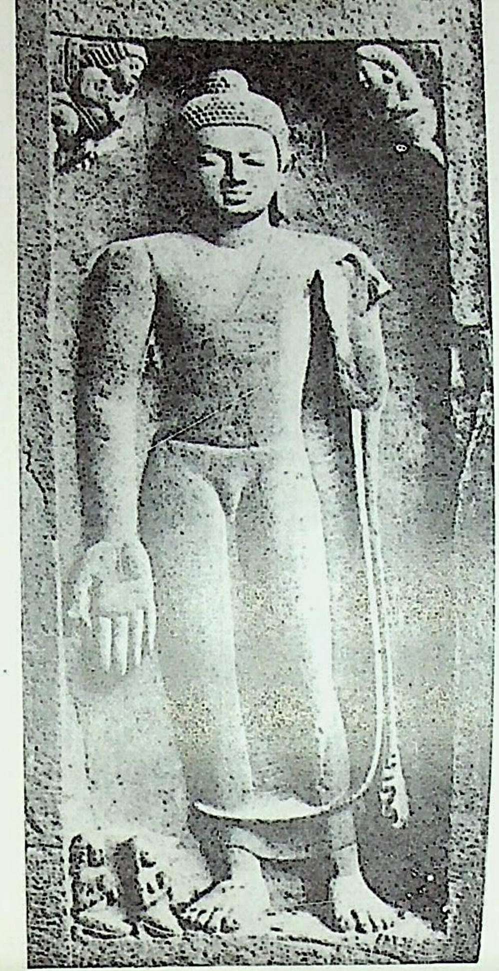

आकृति 66. अजन्ता : शिला काटकर

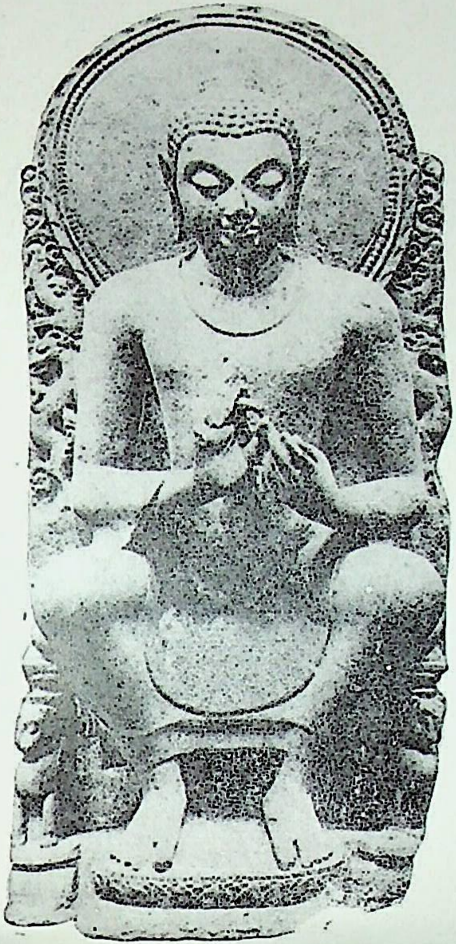

आकृति 67. सारनाथ : प्रलम्बपाद

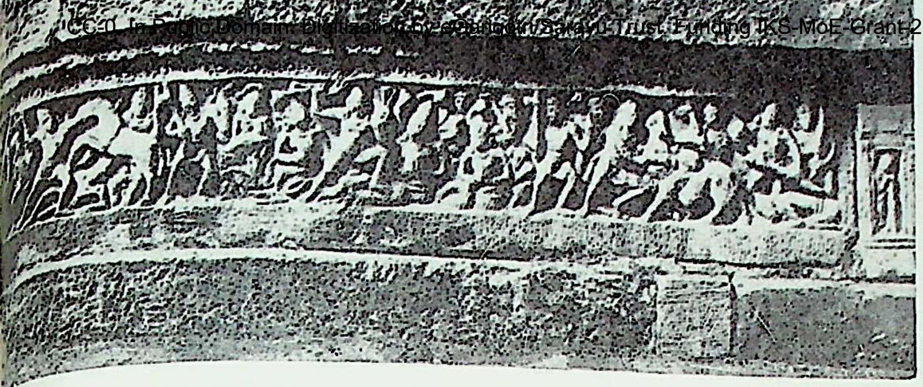

आकृति 68. बादामि : मूर्त्तियों की वल्लरी

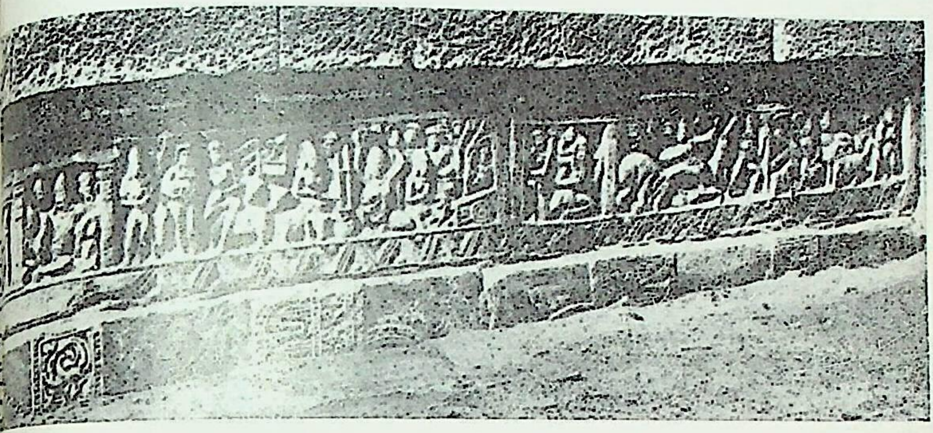

आकृति 69. बादामि : मूर्त्तियों की वल्लरी

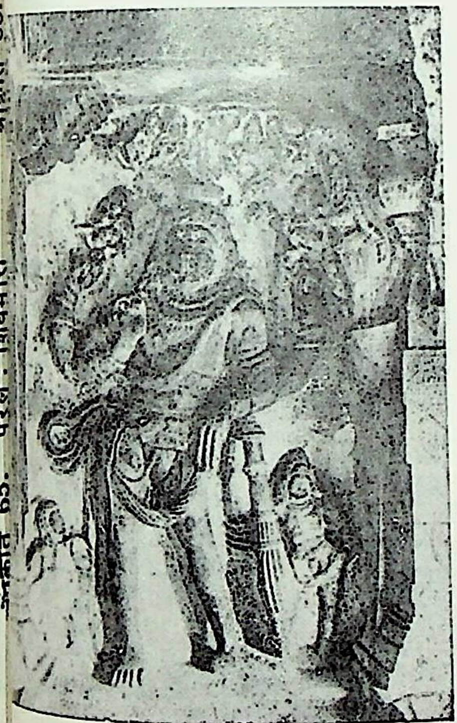

आकृति 70. बादामि : नरसिंह

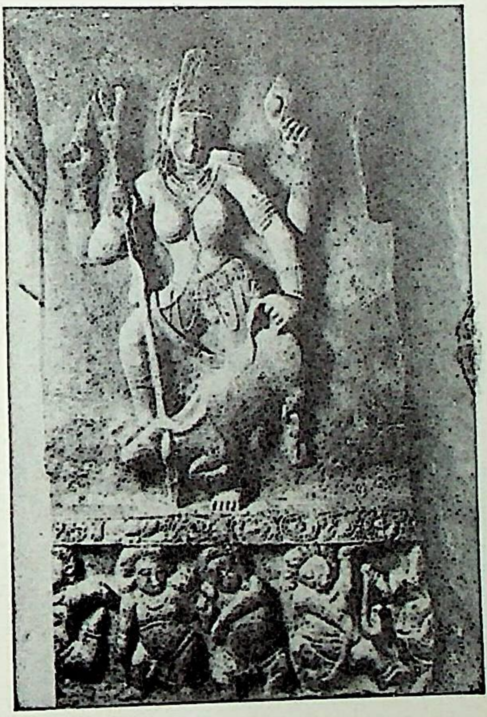

आकृति 71. बादामि : महिषमर्दिनी

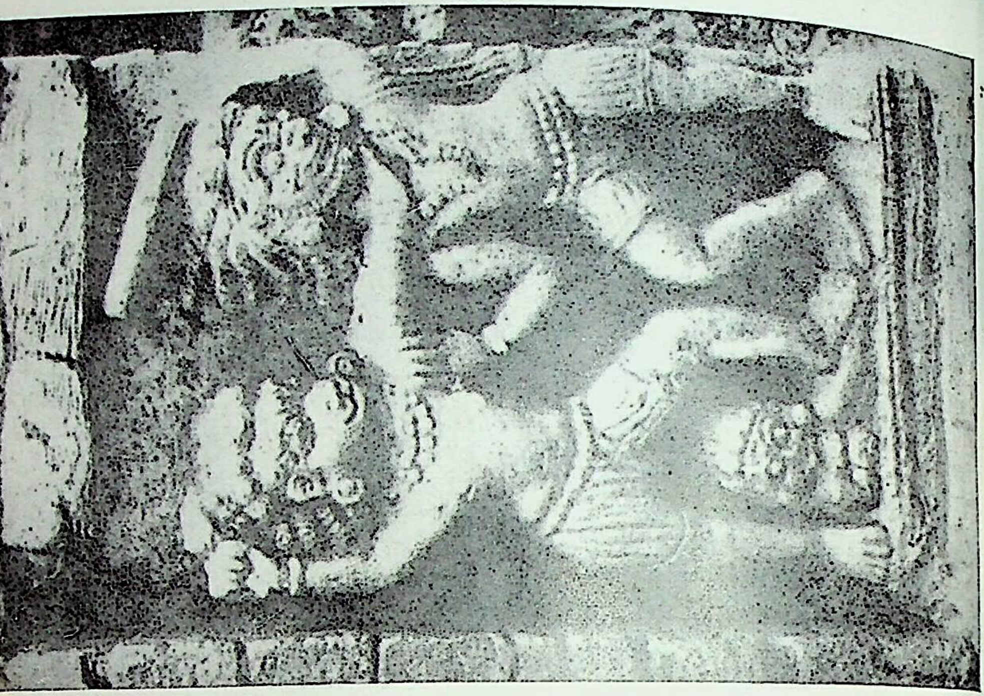

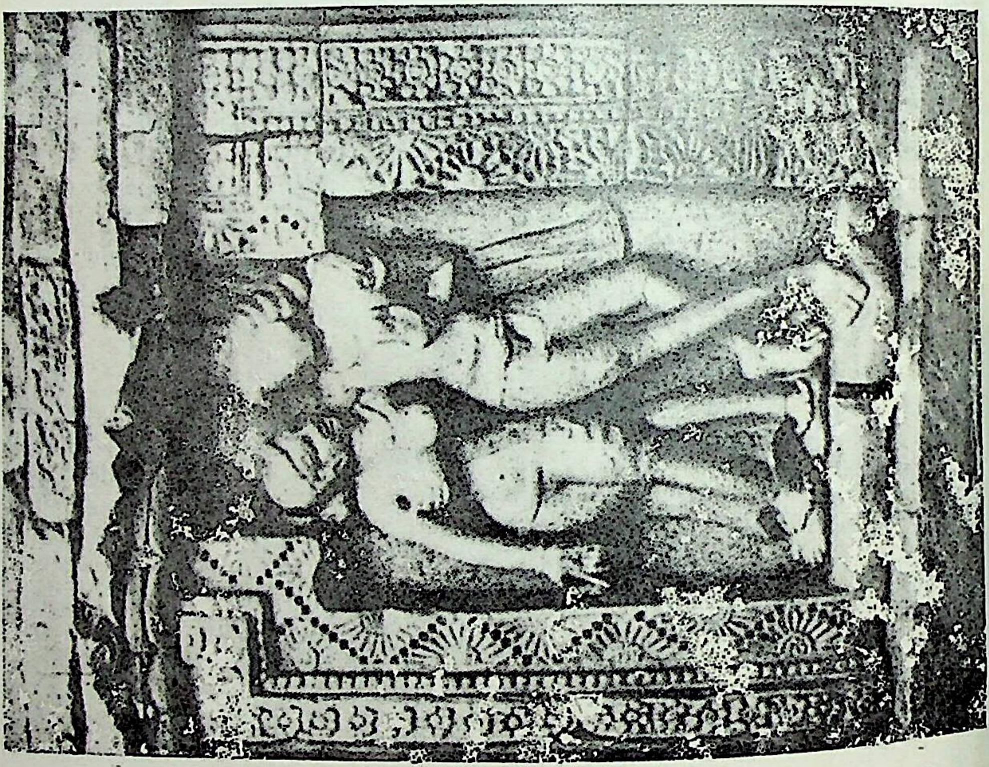

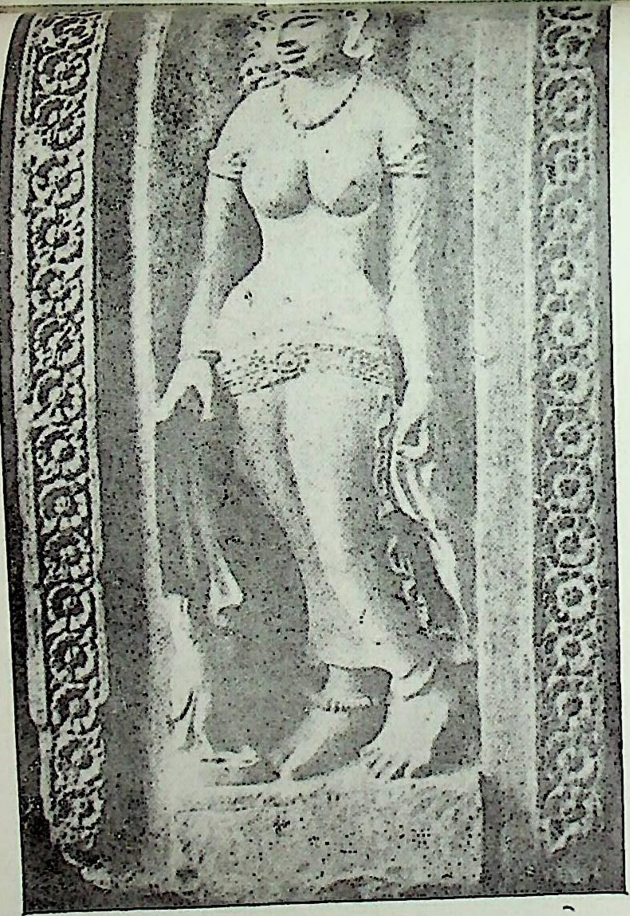

आकृति 74. भागलपुर : स्त्री और क्रीड़ा पक्षी

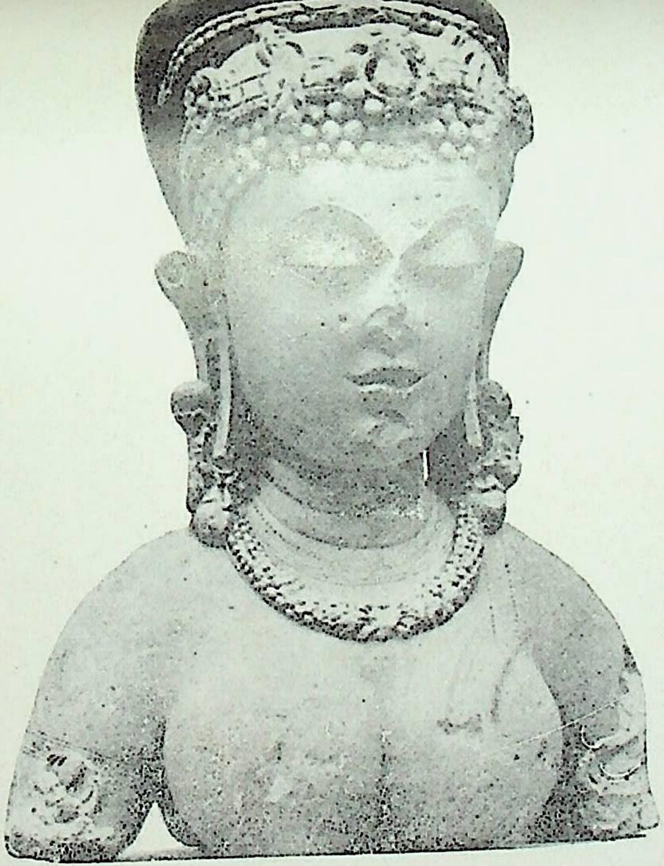

आकृति 75. ग्वालियर : स्त्री की आवक्ष मूर्त्ति

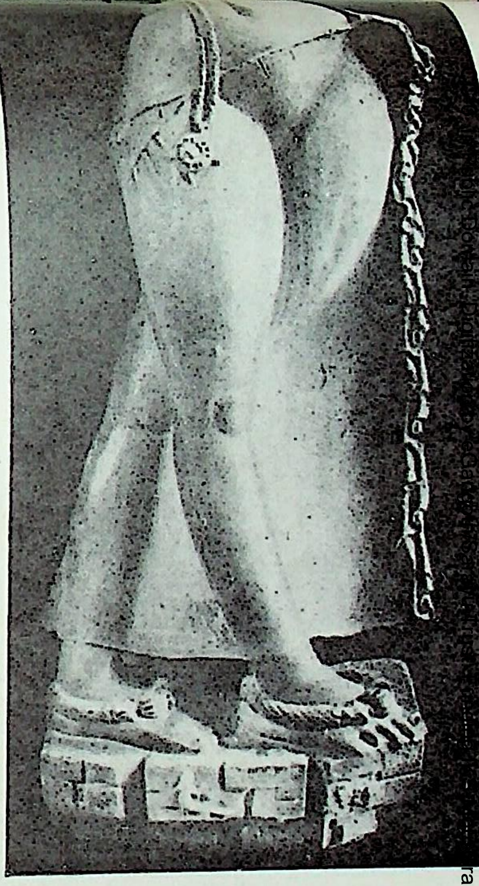

आकृति 76. मध्यभारत : एक स्त्री की आकृति का निचला भाग [प्लेट xxxi

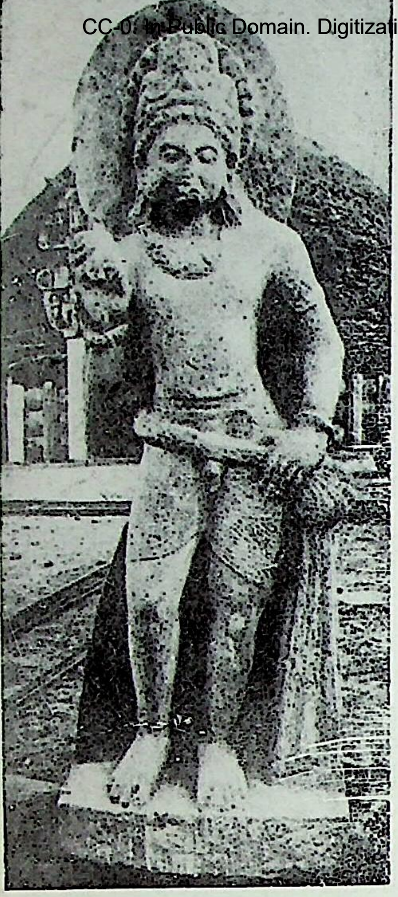

ाकृति 77. सांची : अवलोकितेश्वर

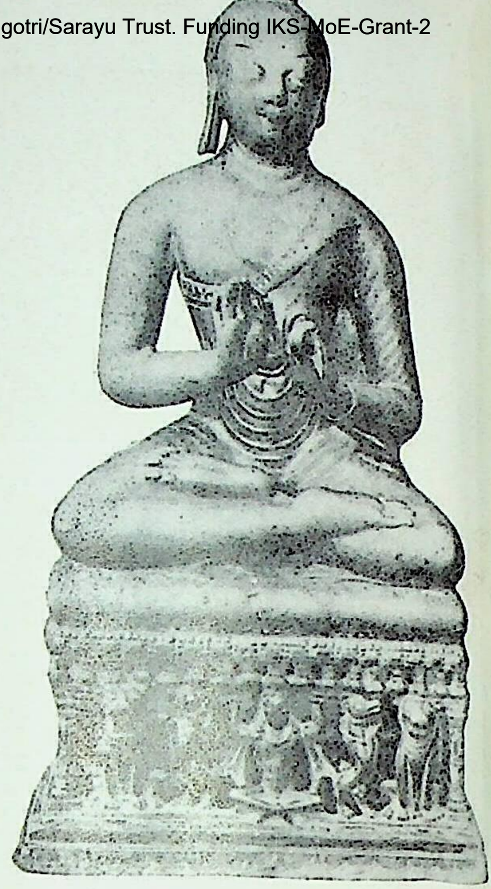

आकृति 78. फतहपुर (कांगड़ा) : बुद्ध

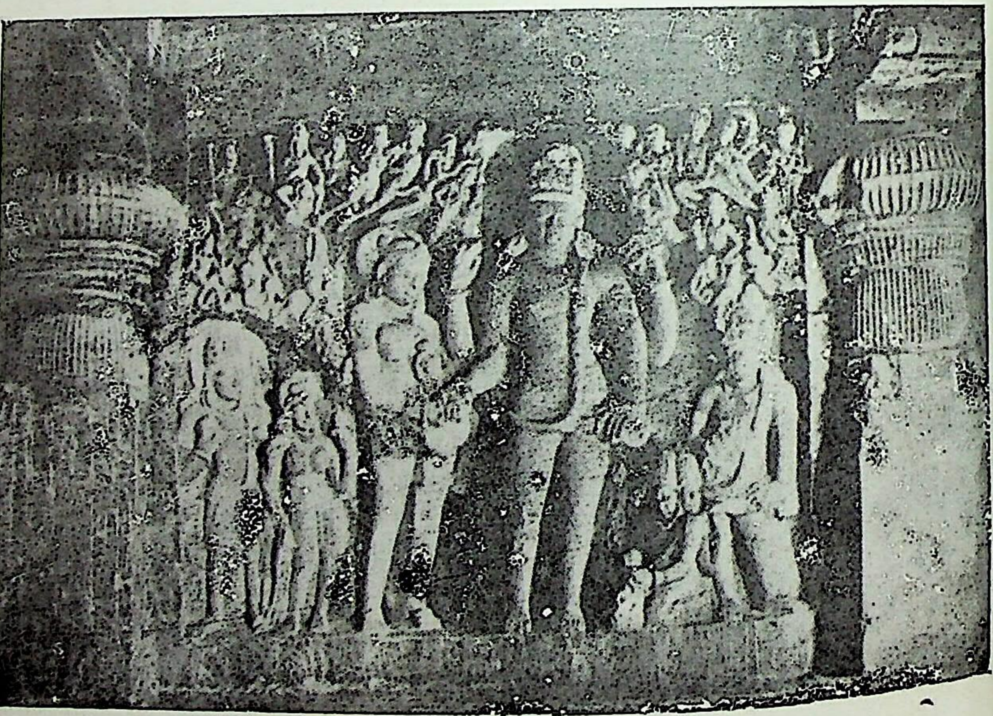

आकृति 79. एलोरा : कल्याण सुन्दर

आकृति 80. एलोरा : नरसिंह

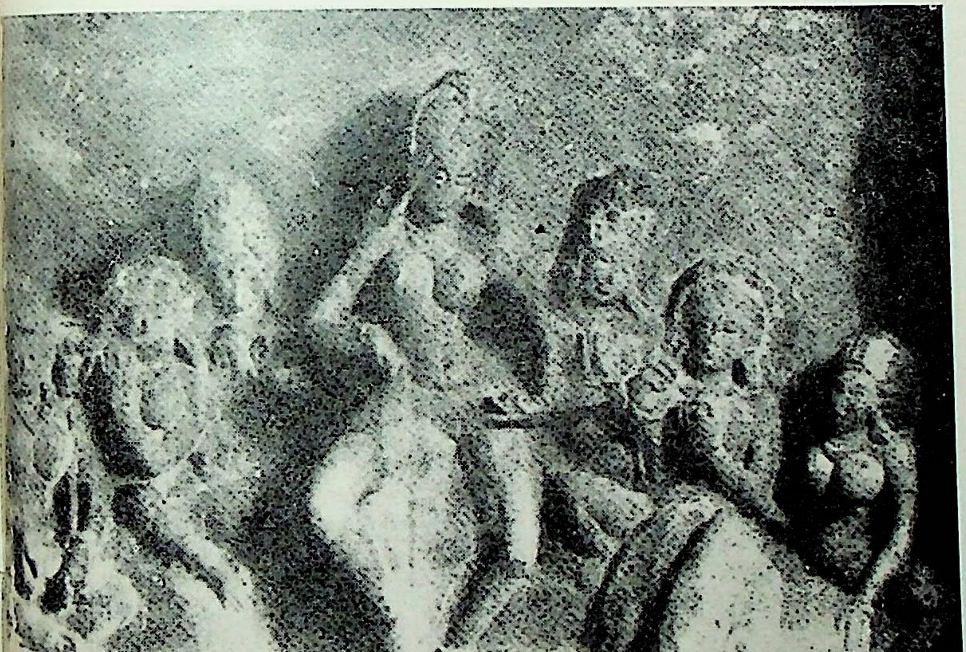

आकृति 81. औरंगाबाद, गुफा IX : नृत्य का दृश्य

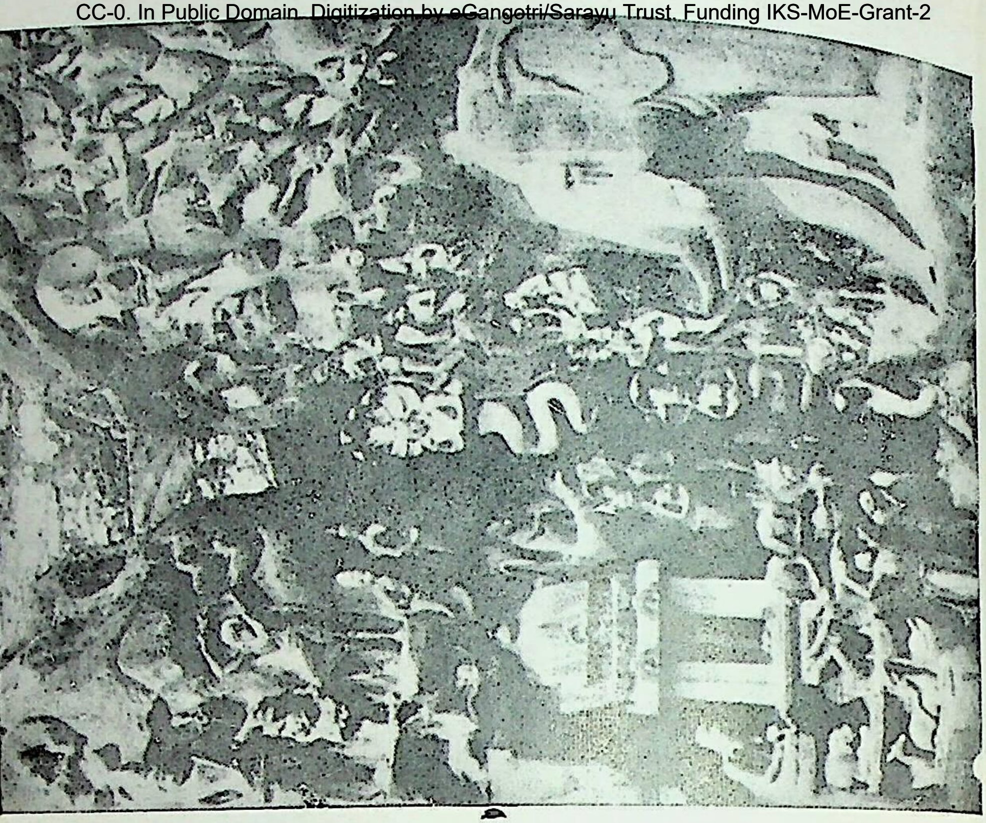

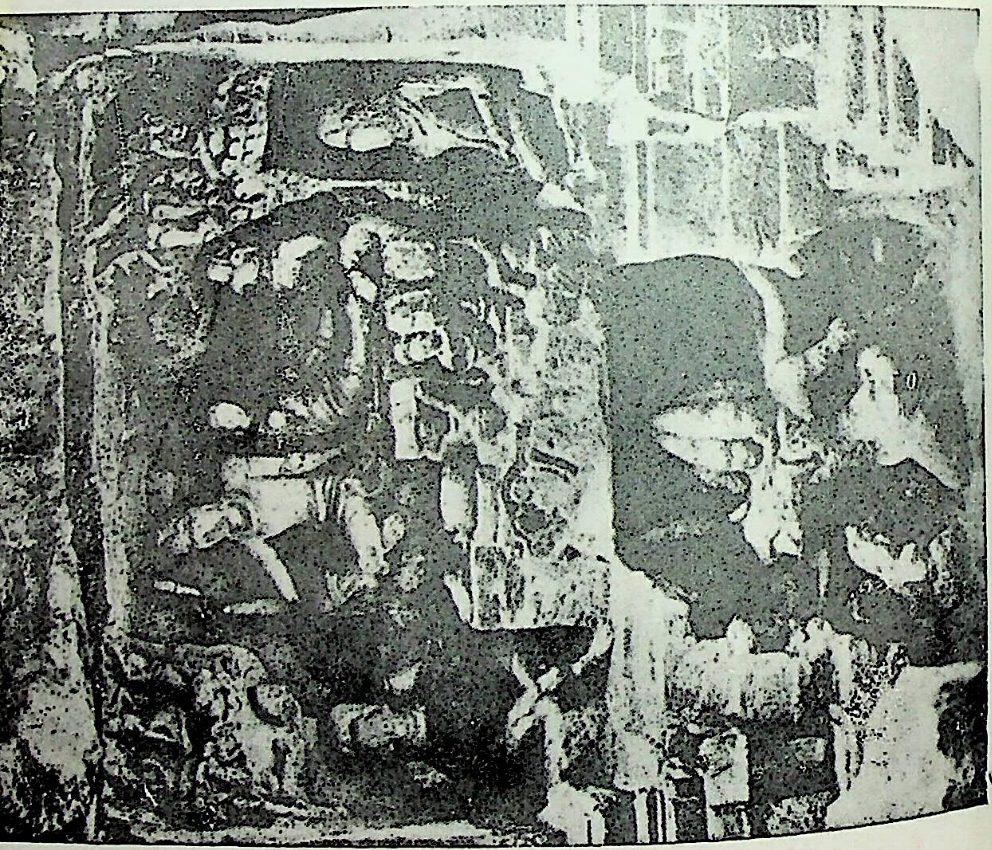

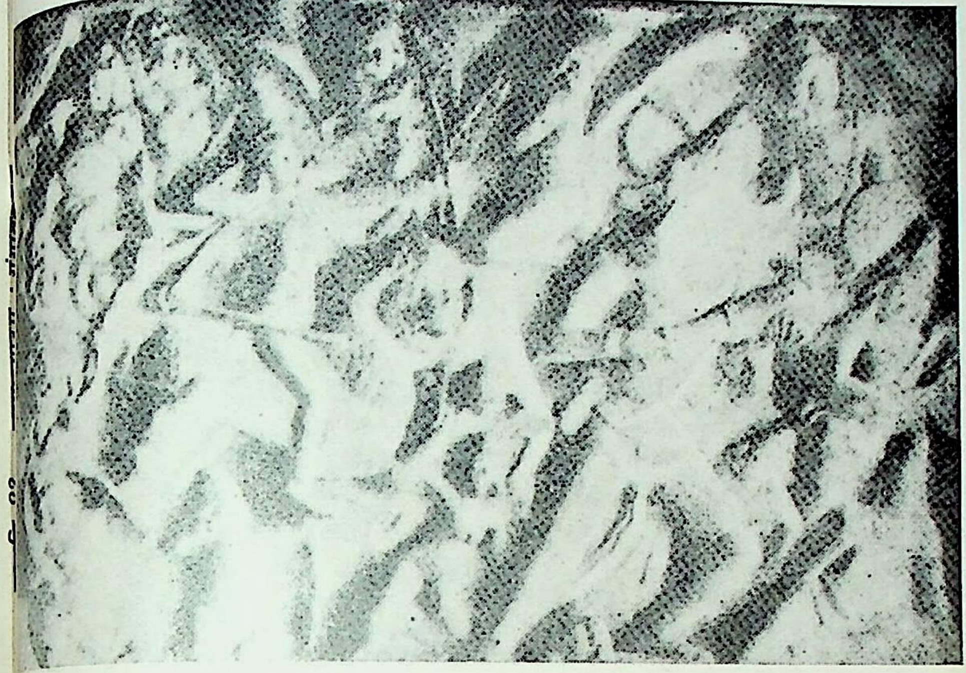

आकृति 84. मामल्लपुरम् : महिषमर्दिनी

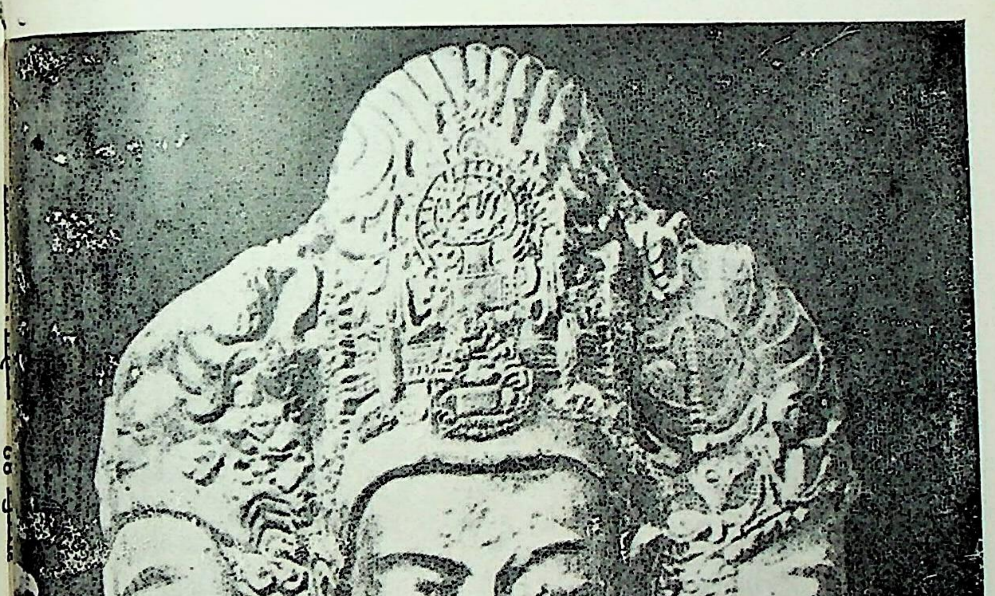

आकृति 85 एलीफैन्टा : महेशमूर्त्ति

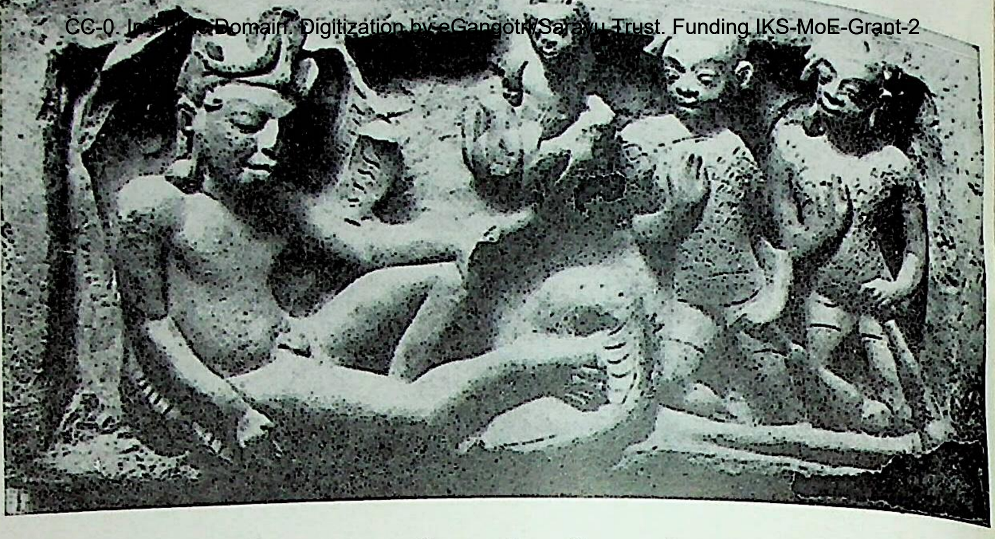

आकृति 86. भीतरगांव : अनन्त विष्णु को प्रदर्शित करनेवाली मृण्मूर्तियों का फलक

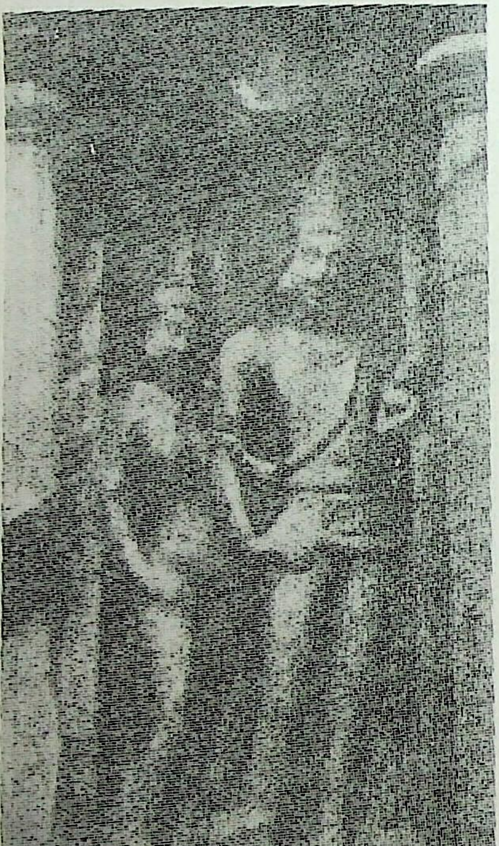

आकृति 87. मामल्लपुरम् : रथ पर एक मूर्त्ति-फलक

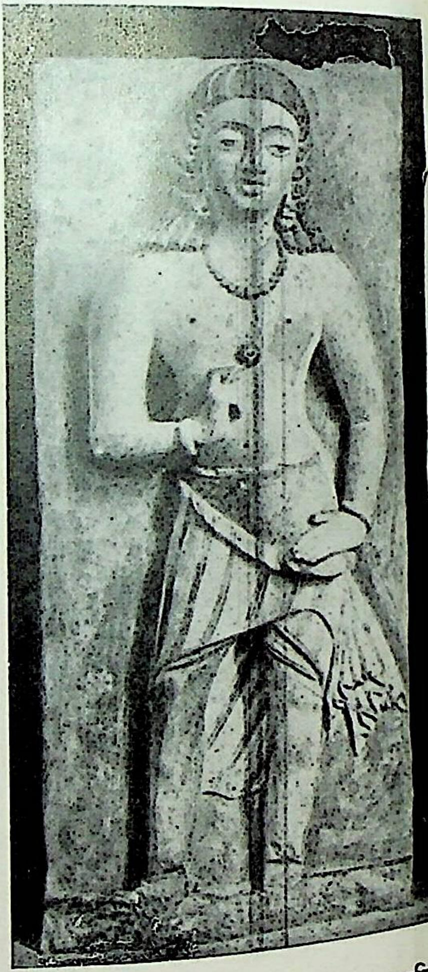

आकृति 88. मीरपुर खास : पुरुष आकृति प्रदर्शित करनेवाला मृण्मूर्त्ति का एक फल

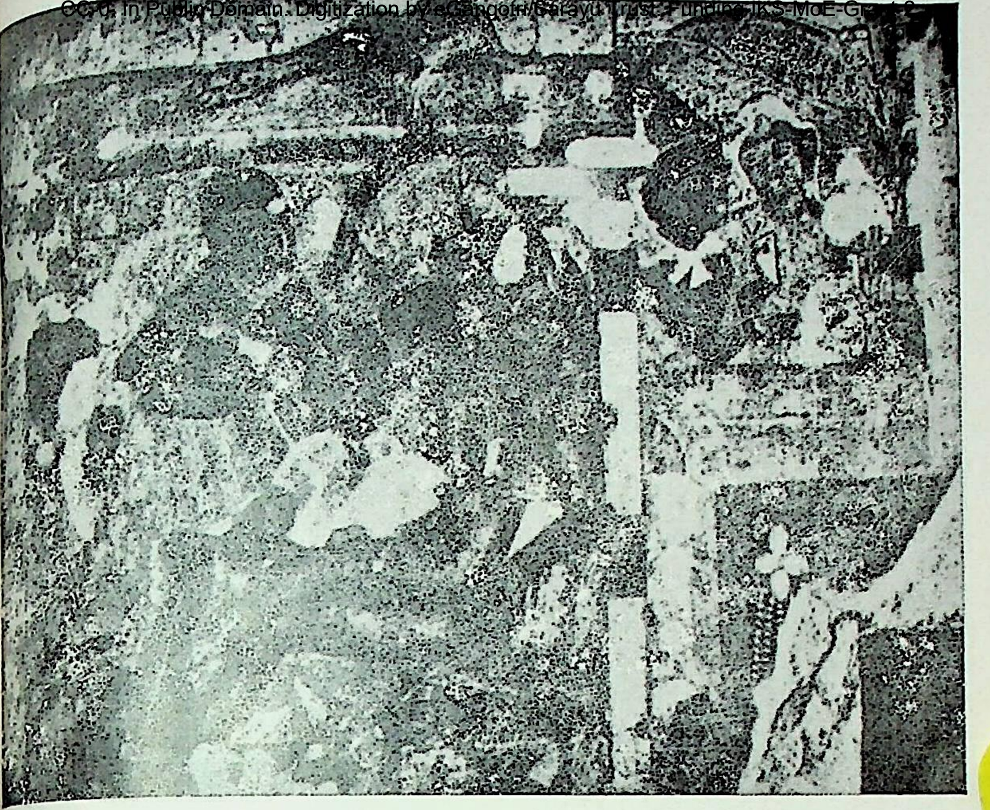

आकृति 89. अजन्ता, गुफा XVI : मरणासन्न राजकुमारी

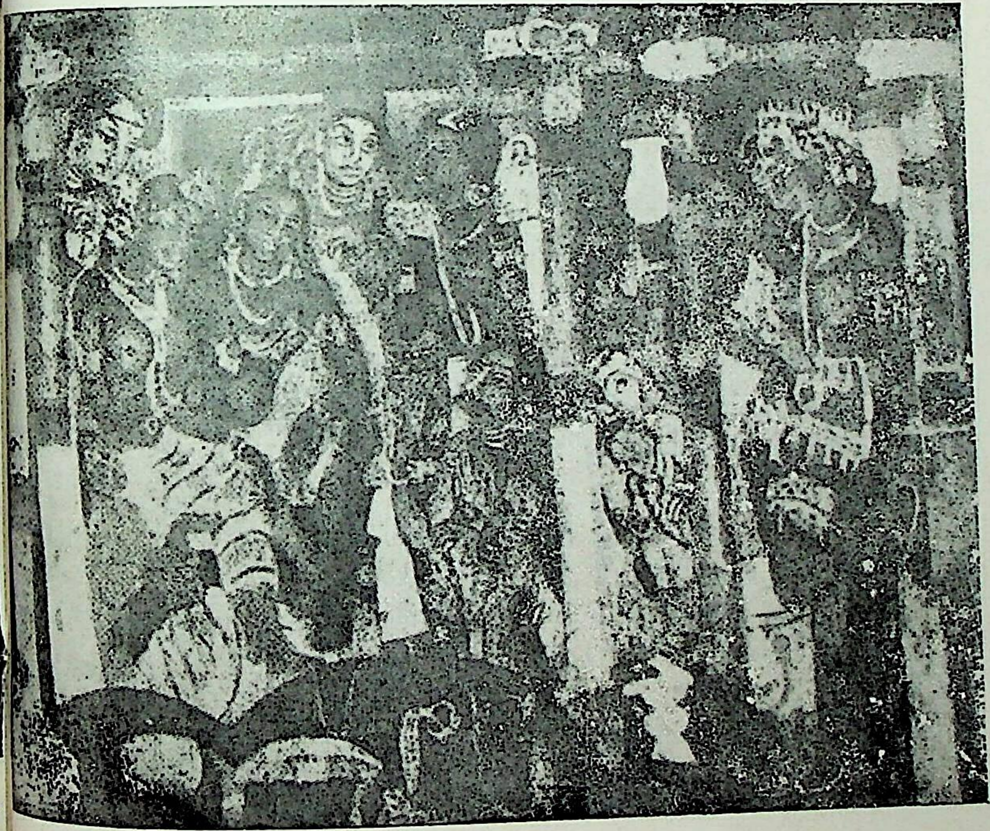

आकृति 90. अजन्ता, गुफा II : राजमहल का दृश्य

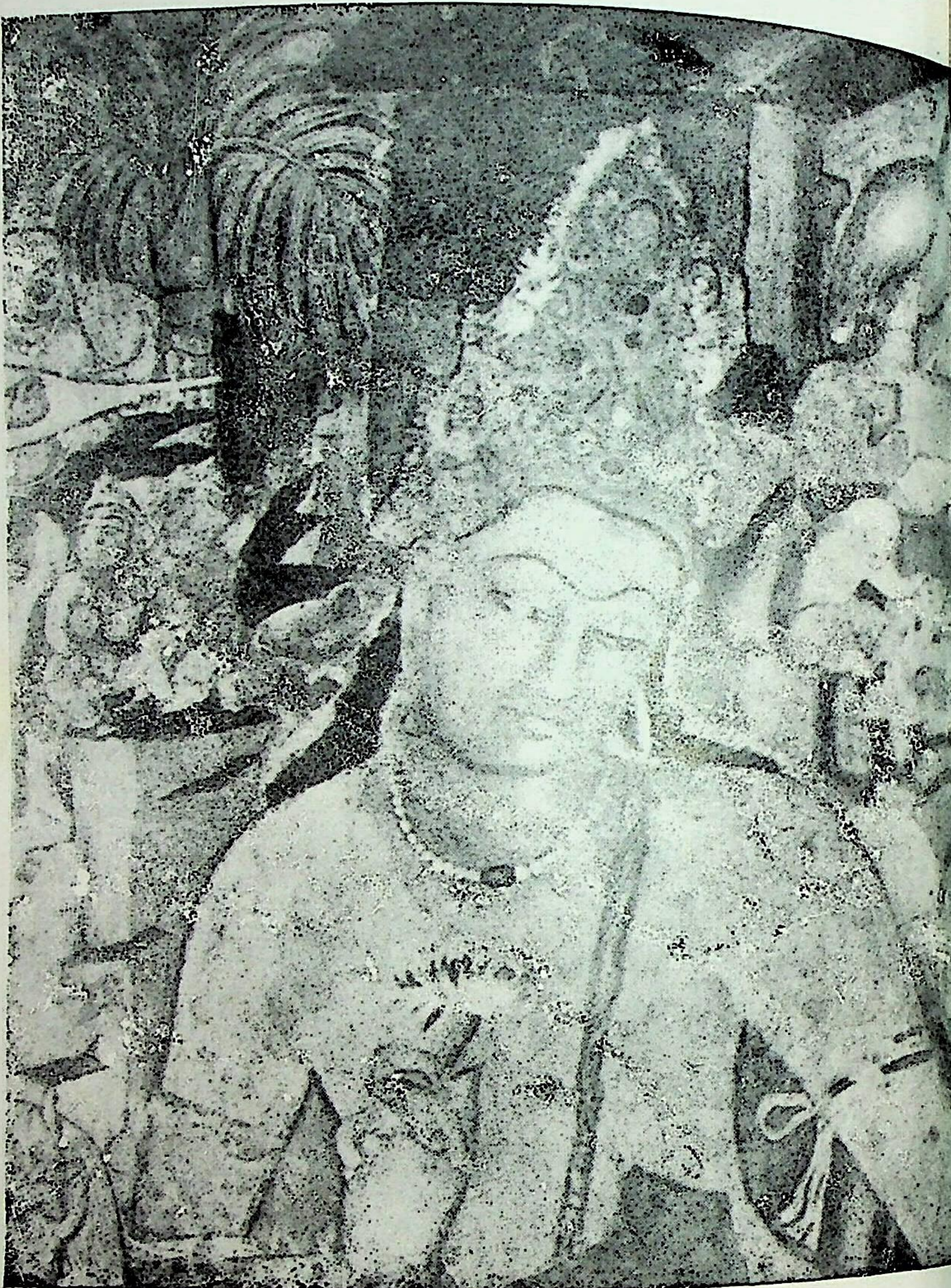

आकृति 91. अजन्ता, गुफा I : महान् बोधिसत्त्व

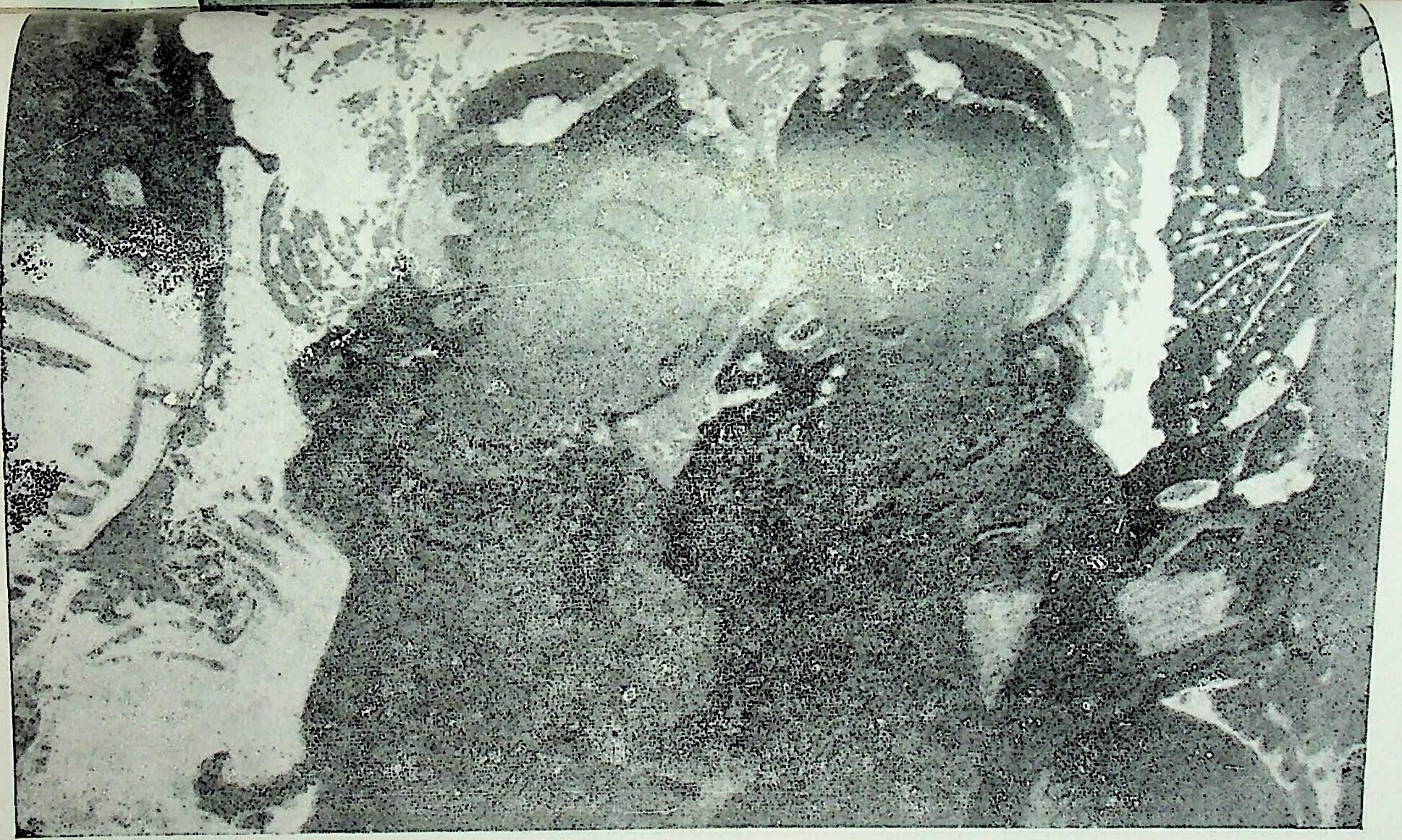

आकृति 92. अजन्ता, गुफा XVII : अप्सराएँ

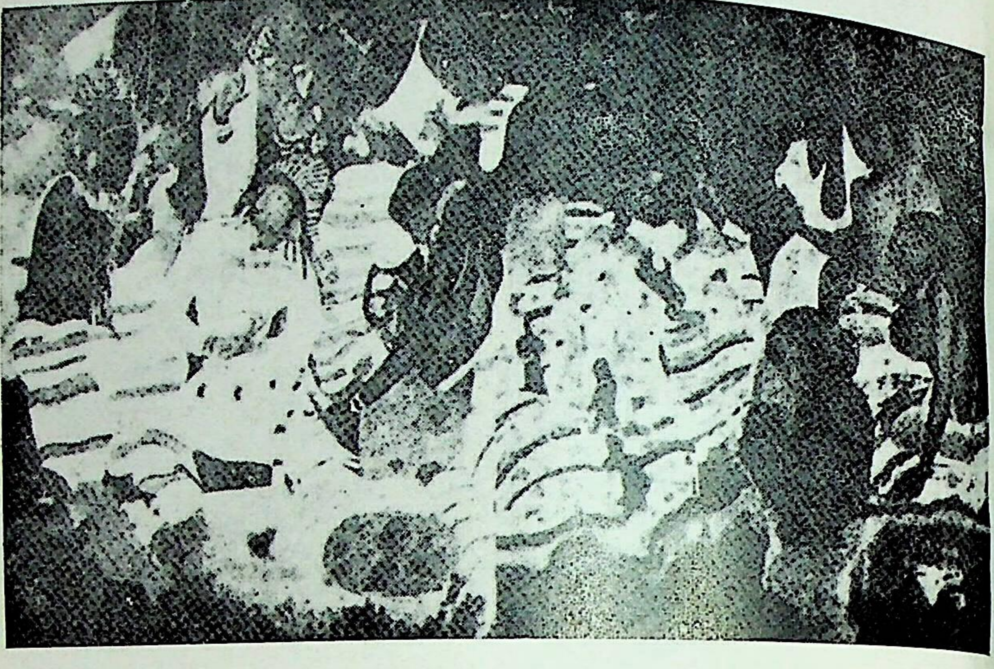

आकृति 93. बाग : गायक-वृन्द

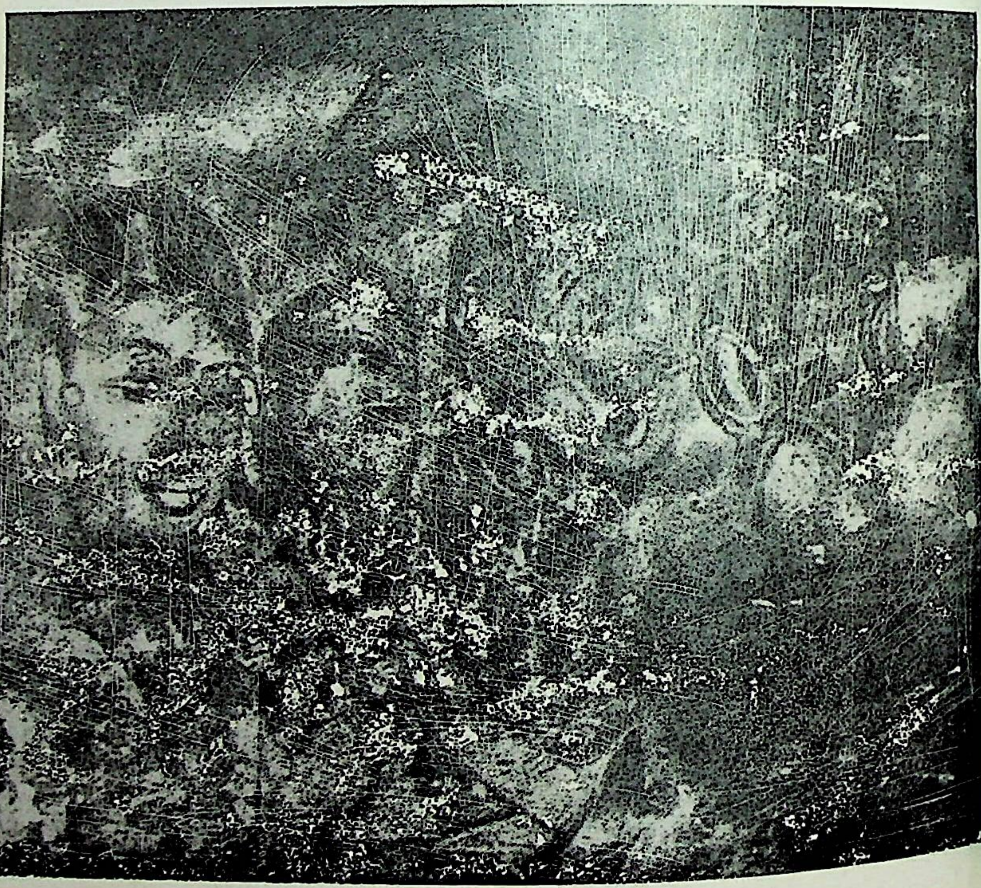

आकृति 94. बादामि, गुफा III : शिव-पार्वती

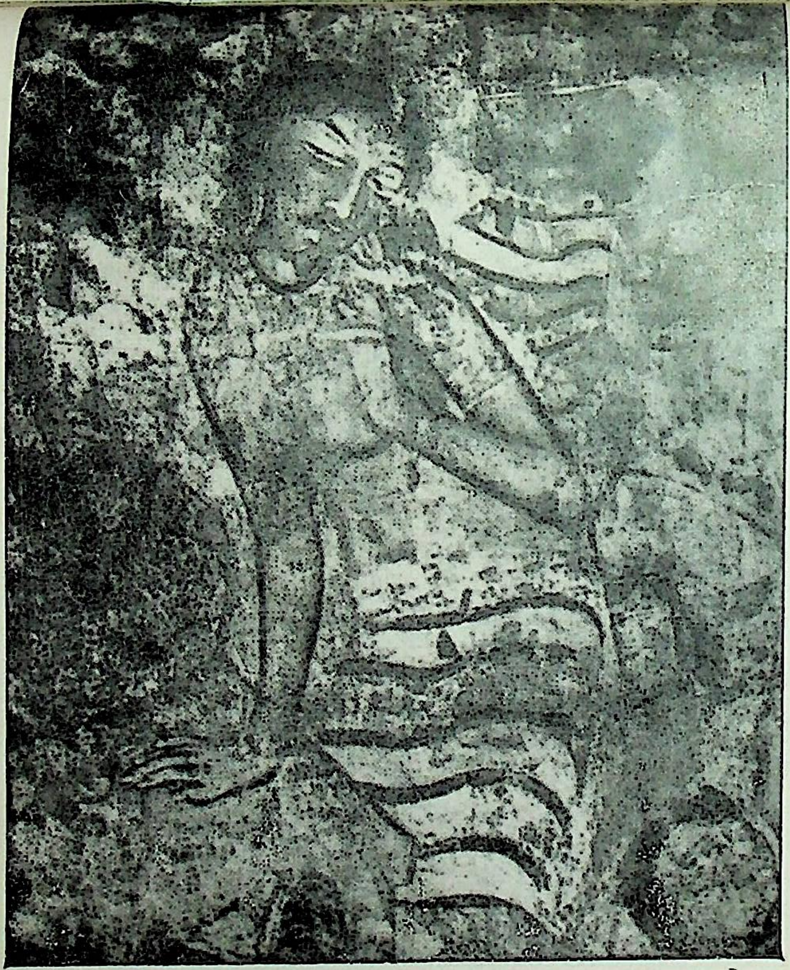

आकृति 95. अजन्ता, गुफा I : मारकन्या

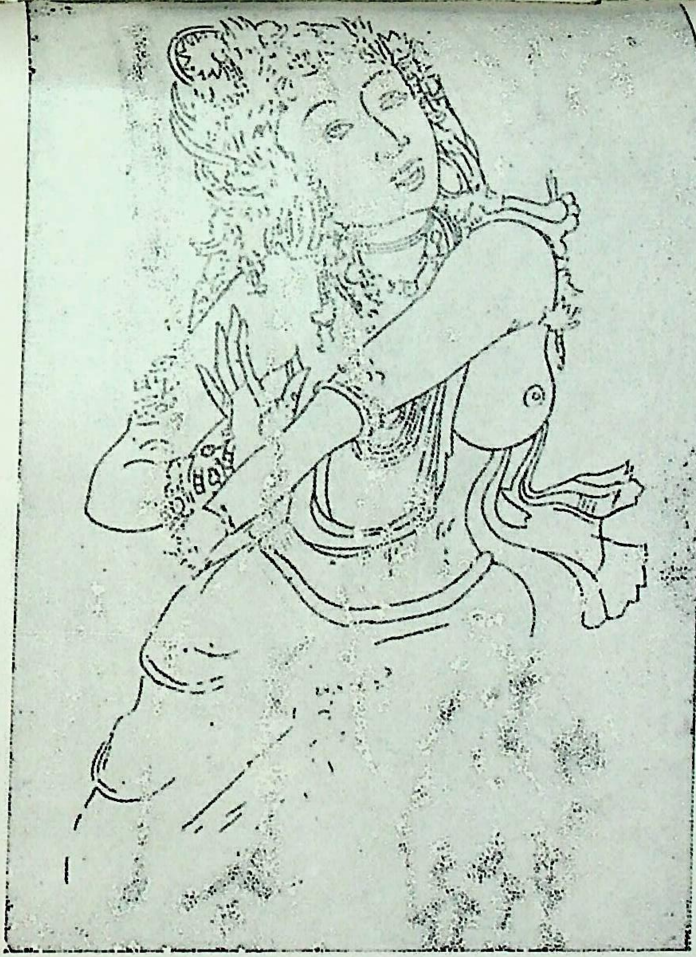

आकृति 96. शिट्टणवासल : नृत्यरत अप्सरा [प्लेट xli

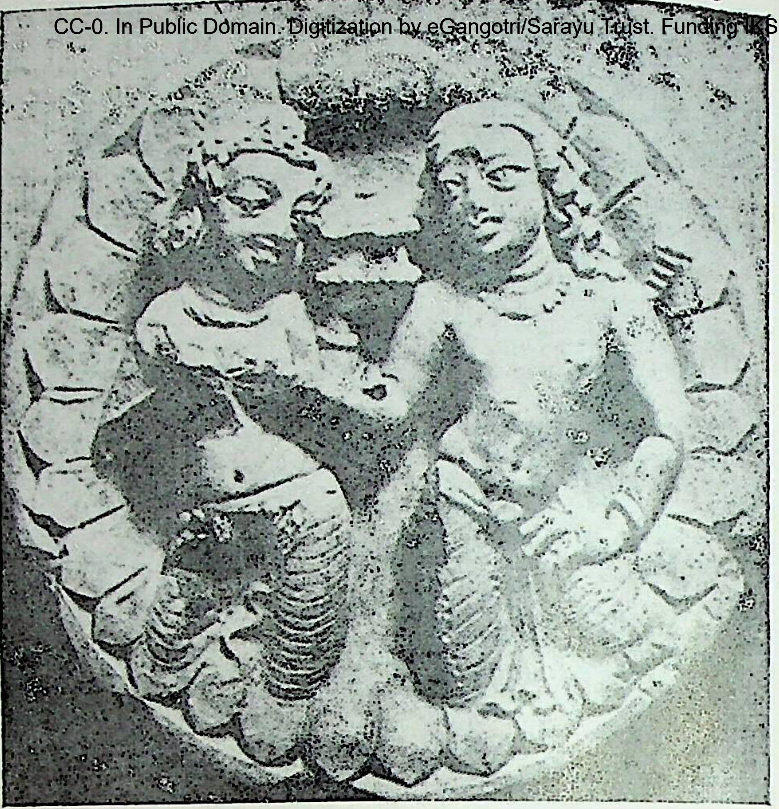

आकृति 97. महास्थान : मिथुन, गोल मृण्मूर्त्ति फलक

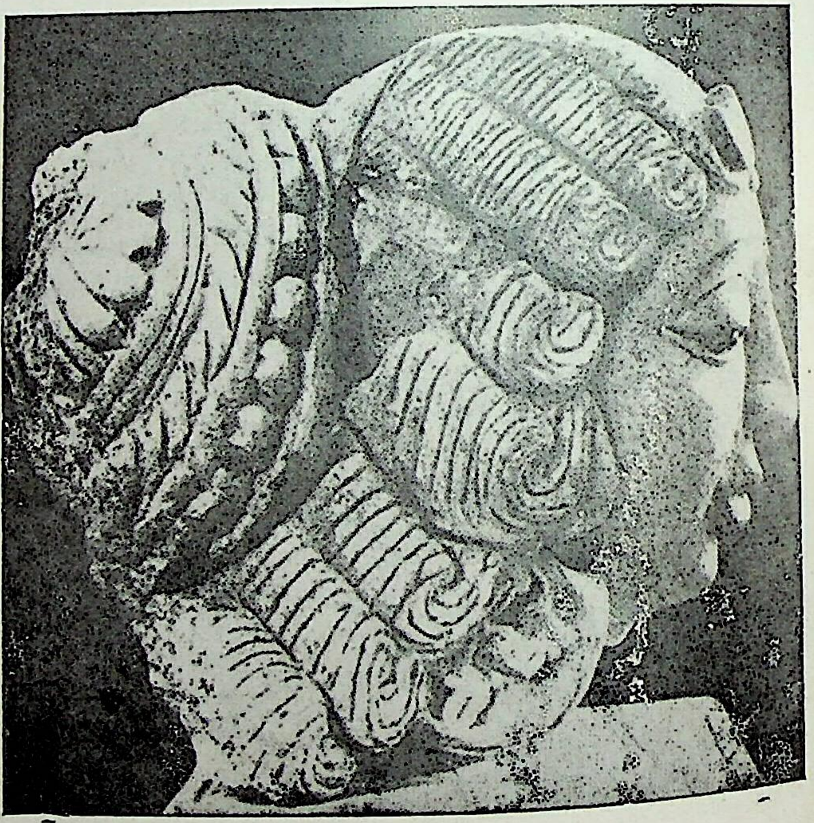

आकृति 98. अहिच्छत्र : पार्वती का सिर

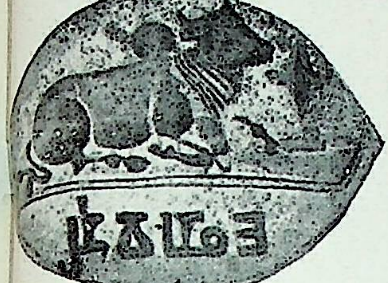

कृति 99. राजघाट : सांड़ की आकृति और अभिलेख-युक्तताम्र मुद्रा सांचा

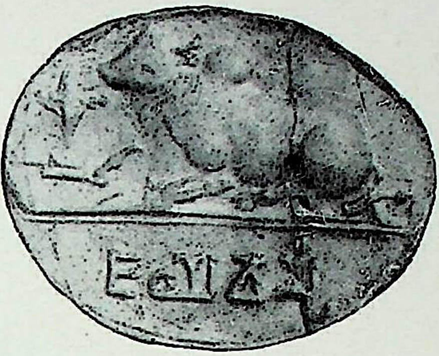

आकृति 100. उपर्युक्त सांचे से निर्मित प्लास्टर आफ पेरिस

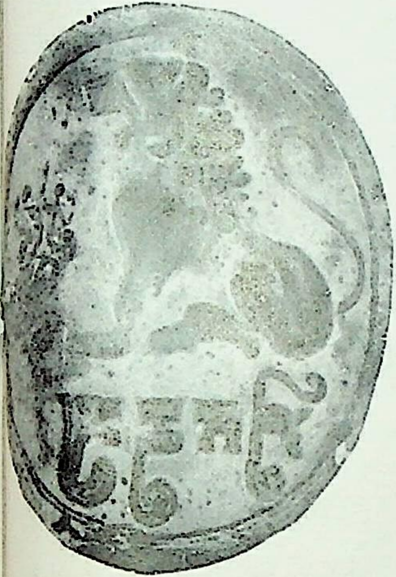

कृति 101. राजघाट : सिंह की आकृति और अभिलेख-युक्त मुद्रासांचा

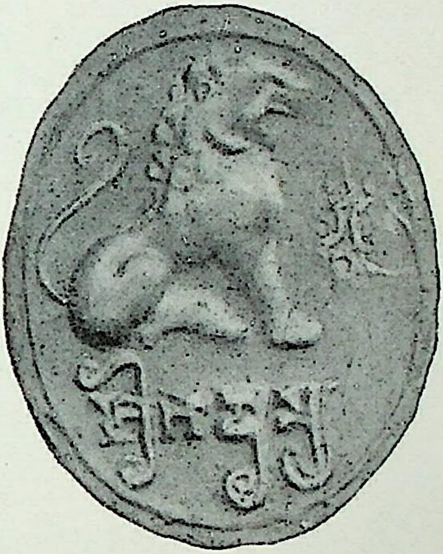

आकृति 102. उपर्युक्त सांचे से निर्मित प्लास्टर आफ पेरिस

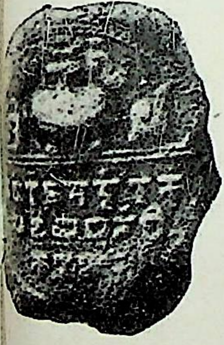

आकृति 103.
ढ़ : अभिलेख-युक्त मिट्टी की मुद्रा

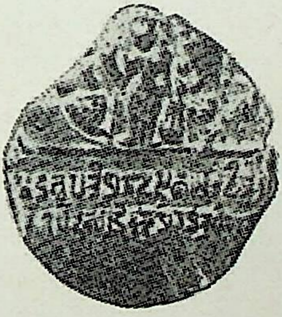

आकृति 104.
भीटा : अभिलेख-युक्त मिट्टी की मुद्रा

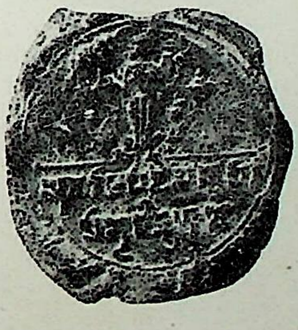

आकृति 105.
बसाढ़ : अभिलेख-युक्त मिट्टी की मुद्रा

[प्लेट xliii

MAP 1

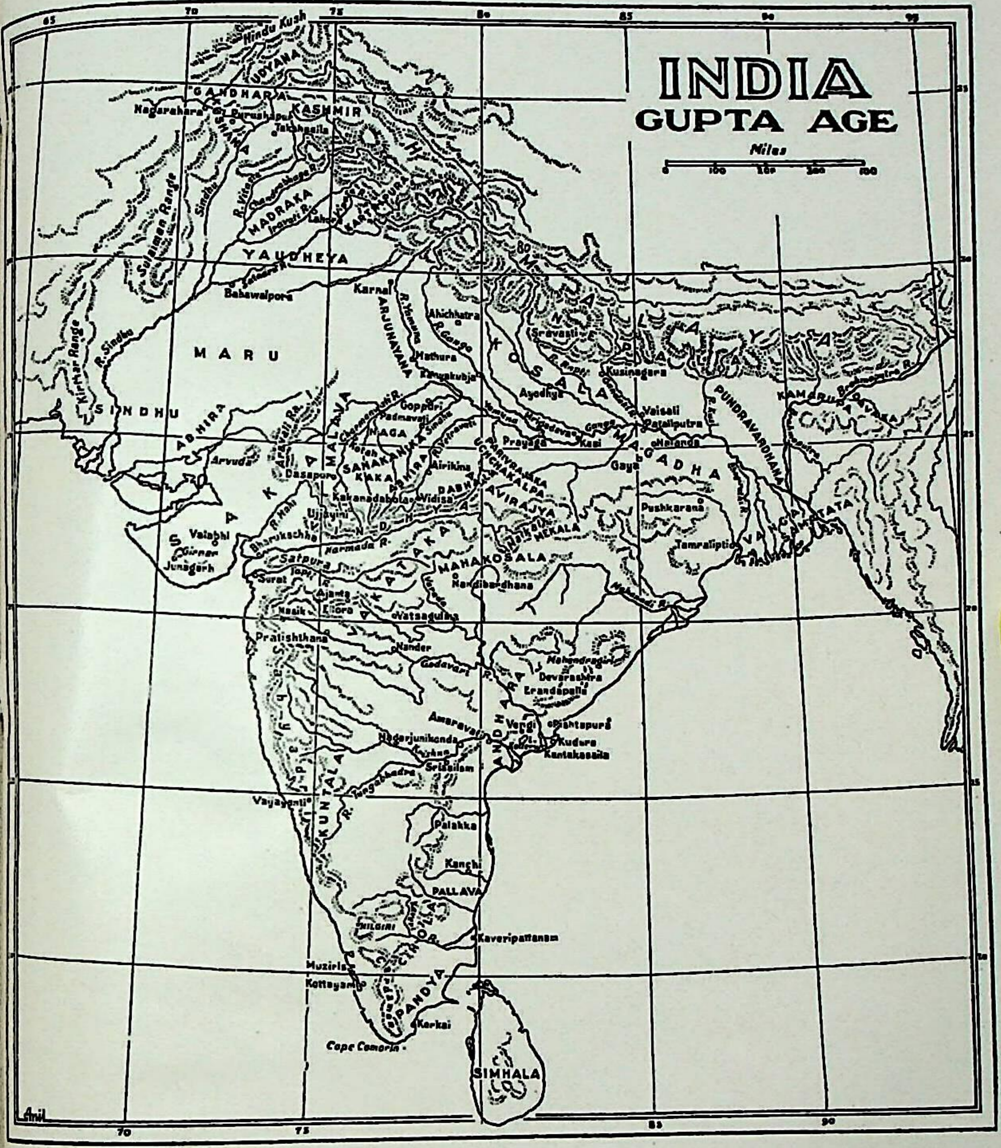
INDIA
GUPTA AGE
Miles
0
100
200
300
400
Hindu Kush
UDYANA
GANDHARA
KASHMIR
Nagarahara
Purushapura
Takshasila
Sindhu
R. Vitasta
Chandrabhaga R.
MADRAKA
Iravati R.
Lahore
Suleiman Range
YAUDHEYA
Satadru R.
Bahawalpore
Karnal
R. Yamuna
ARJUNAYANA
Ahichhatra
R. Ganga
Mathura
Kanyakubja
KOSALA
Sravasti
Kusinagara
Ayodhya
Kirthar Range
R. Sindhu
MARU
SINDHU
ABHIRA
Aravalli Ra.
MALAVA
Arvuda
Dasapura
NAGA
Padmavati
Goppuri
SANAKANIKA
KAKA
ABHIRA
Airikina
Vidisa
Kakanadabota
Ujjayini
Prayaga
Kasi
Vaisali
Pataliputra
Nalanda
Gaya
MAGADHA
PUNDRAVARDHANA
KAMARUPA
DAVAKA
Brahmaputra R.
NEPALA
SAMATATA
VANGA
Pushkarana
Tamralipti
Valabhi
Girnar
Junagarh
Bharukachha
R. Mahi
Narmada R.
Satpura
Surat
Tapti R.
MAHAKOSALA
MEKALA
UCHCHAKALPA
DABHALA
AVIRAJYA
Nandibardhana
Ajanta
Ellora
Nasik
Vatsagulma
VAKATAKA
Pratishthana
Nander
Godavari R.
Mahendragiri
Devarashtra
Erandapalla
Vengi
Pishtapura
Kudura
Kantakasaila
Amaravati
Nagarjunikonda
Krishna R.
Sriasilam
Tungabhadra R.
Vayayanti
KUNTALA
ANDHRA
Palakka
Kanchi
PALLAVA
NILGIRI
CHOLA
Kaveripattanam
Muziris
Kottayam
PANDYA
Korkai
Cape Comorin
SIMHALA
Anil
65
70
75
80
85
90
95

MAP 2

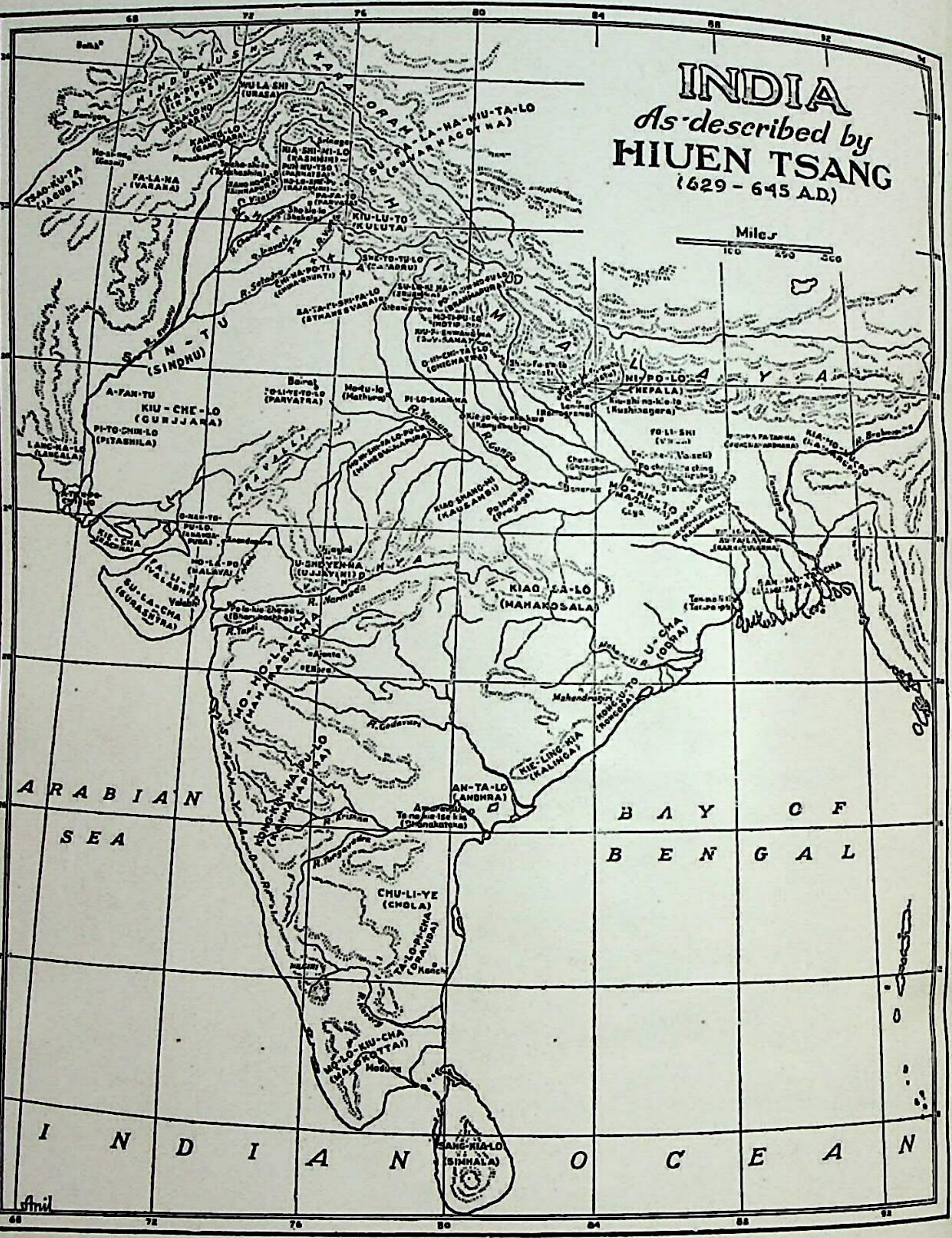
INDIA
As-described by
HIUEN TSANG
(629 - 645 A.D.)
Miles
100
200
300
HINDU KUSH
KA-PI-SHIH (KAPISI)
WU-LA-SHI (URASA)
FA-LA-NA (VARANA)
TSAO-KU-TA (JAGUDA)
KIA-SHI-MI-LO (KASHMIR)
SU-FA-LA-NA-KIU-TA-LO (SUVARNAGOTRA)
KIU-LU-TO (KULUTA)
SA-TA-NI-SHI-FA-LO (STHANESVARA)
SIN-TU (SINDHU)
A-FAN-TU
KIU-CHE-LO (GURJJARA)
PI-TO-SHIH-LO (PITASHILA)
LANG-KA-LO (LANGALA)
PO-LI-YE-TO-LO (PARYATRA)
Mo-tu-lo (Mathura)
PI-LO-SHAN-NA
R. Yamuna
R. Ganga
NI-PO-LO (NEPALA)
HIMALAYA
KIAO-SHANG-MI (KAUSAMBI)
MO-KIE-TO (MAGADHA)
Gaya
KIE-CHA
FA-LA-PI (VALABHI)
SU-LA-CHA (SURASHTRA)
MO-LA-PO (MALAVA)
U-SHE-YEN-NA (UJJAYENI)
R. Narmada
KIAO-SA-LO (MAHAKOSALA)
U-CHA (ODRA)
R. Tapti
MO-HO-LA-CHA (MAHARASHTRA)
R. Godavari
Mahendragiri
KONG-U-TO (KONGODA)
KIE-LING-KIA (KALINGA)
AN-TA-LO (ANDHRA)
Amaravati
R. Krishna
KONG-KIN-NA-PU-LO
R. Tungabhadra
CHU-LI-YE (CHOLA)
TA-LO-PI-CHA (DRAVIDA)
Kanchi
R. Kaveri
MO-LO-KIU-CHA (MALAKOTTA)
Madura
SANG-KIA-LO (SIMHALA)
ARABIAN SEA
BAY OF BENGAL
INDIAN OCEAN
68
72
76
80
84
88
92
Anil

MAP 3

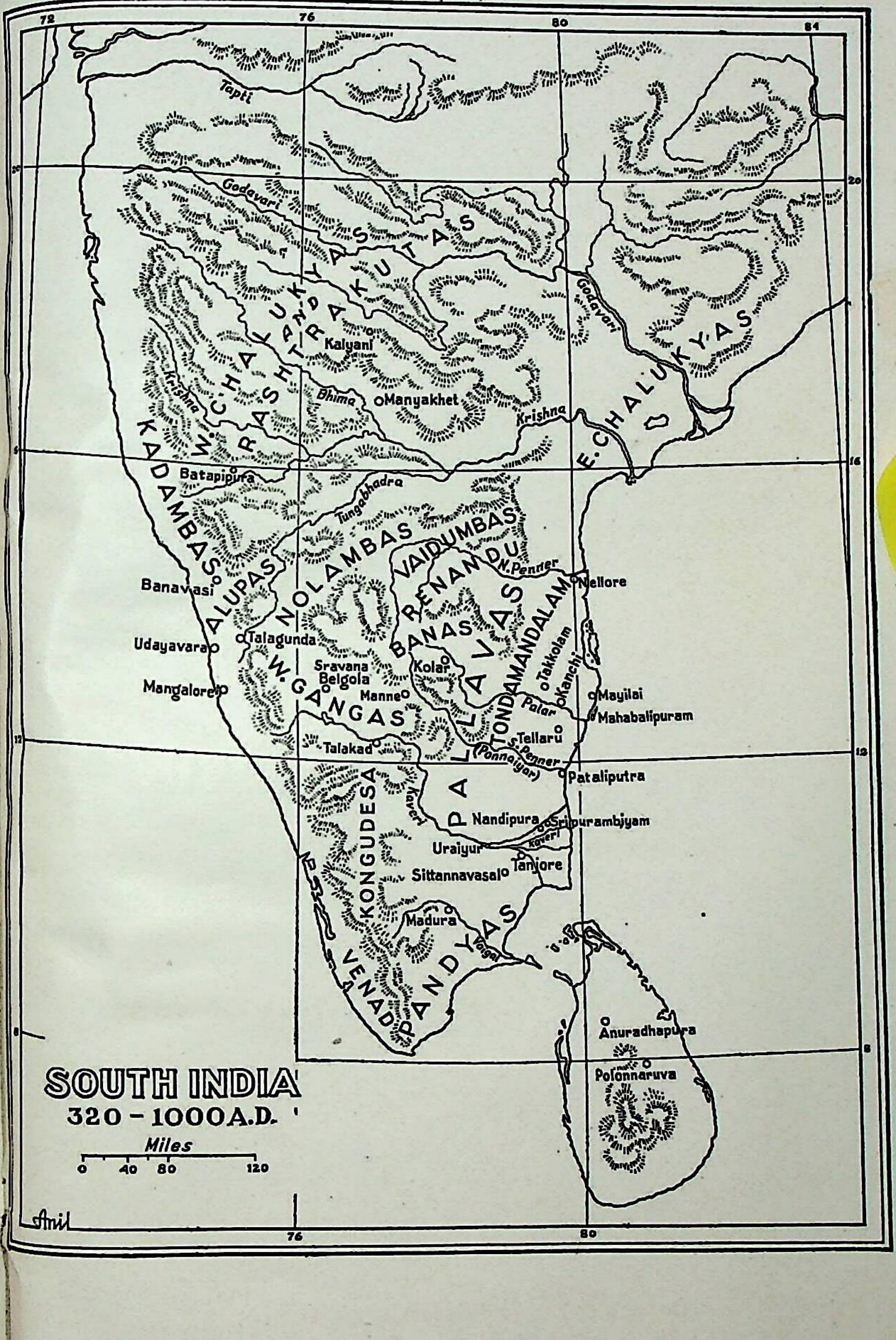
SOUTH INDIA
320 – 1000 A.D.
Miles
0
40
80
120
72
76
80
84
20
16
12
8
Tapti
Godavari
W. CHALUKYAS
RASHTRAKUTAS
Kalyani
Bhima
Manyakhet
Krishna
KADAMBAS
Batapipura
Tungabhadra
E. CHALUKYAS
NOLAMBAS
VAIDUMBAS
RENANDU
N. Penner
Nellore
Banavasi
ALUPAS
BANAS
PALLAVAS
TONDAMANDALAM
Takkolam
Kanchi
Udayavara
Talagunda
Sravana Belgola
Kolar
Mangalore
Manne
W. GANGAS
Mayilai
Palar
Mahabalipuram
Tellaru
S. Penner
(Ponnaiyar)
Talakad
Pataliputra
KONGUDESA
Kaveri
Nandipura
Sripurambiyam
Uraiyur
Kaveri
Tanjore
Sittannavasal
Madura
Vaigai
VENAD
PANDYAS
Anuradhapura
Polonnaruva
Anil

MAP 4

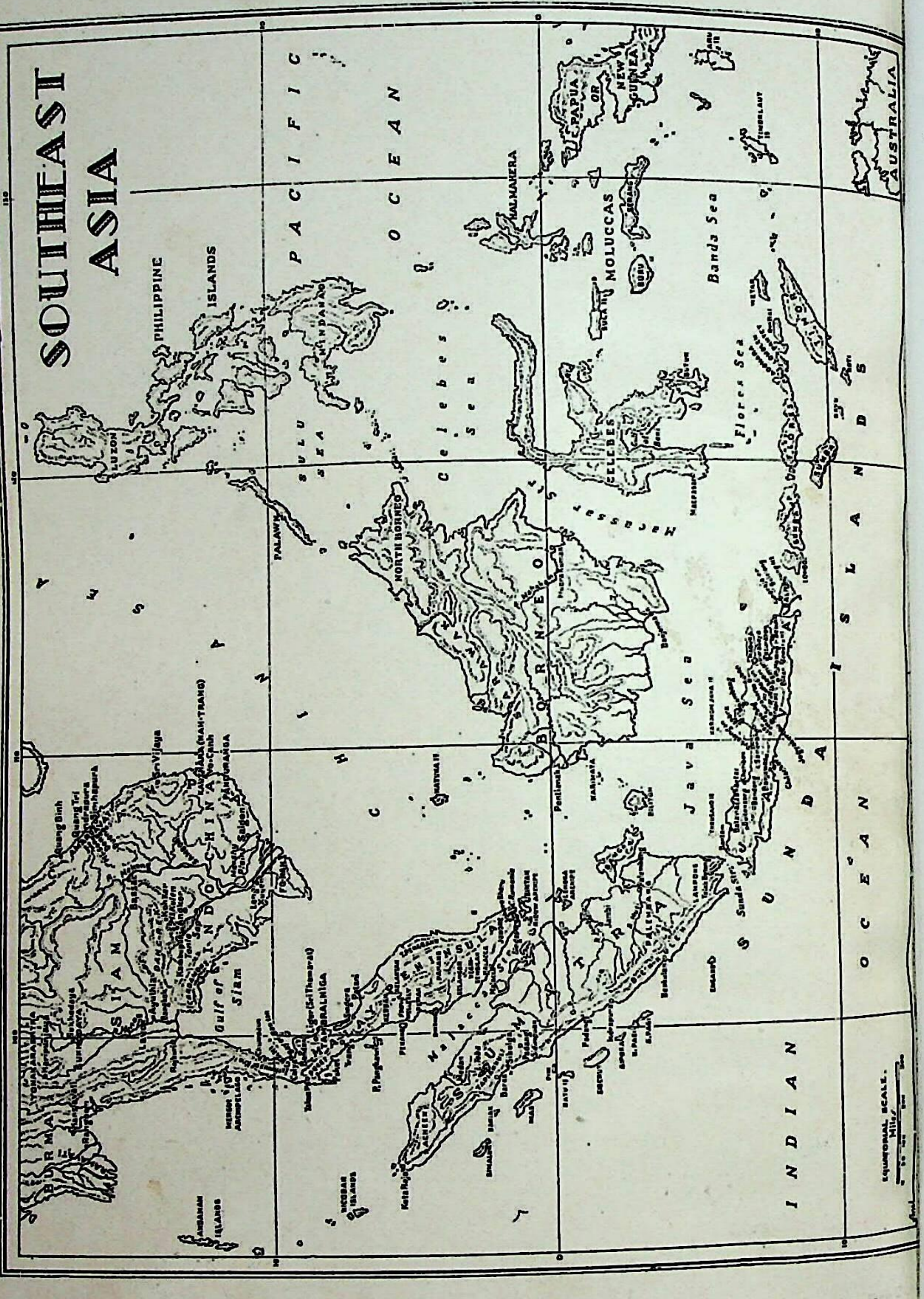
SOUTHEAST ASIA
PHILIPPINE ISLANDS
LUZON
MINDANAO
PALAWAN
SULU SEA
PACIFIC OCEAN
Celebes Sea
HALMAHERA
MOLUCCAS
BURU
Banda Sea
PAPUA OR NEW GUINEA
AUSTRALIA
TIMOR
Flores Sea
CELEBES
Macassar Str.
NORTH BORNEO
BORNEO
SOUTH CHINA SEA
Java Sea
JAVA
Sunda Str.
SUNDA ISLANDS
INDIAN OCEAN
SUMATRA
Malacca Str.
MALAY PENINSULA
Gulf of Siam
SIAM
INDO-CHINA
BURMA
ANDAMAN ISLANDS
NICOBAR ISLANDS
MERGUI ARCHIPELAGO
ACHEEN
NIAS
EQUATORIAL SCALE.
Miles